कल्याण

वर्ष ३० संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मारीच-सुबाहुपर कृपा-कोप
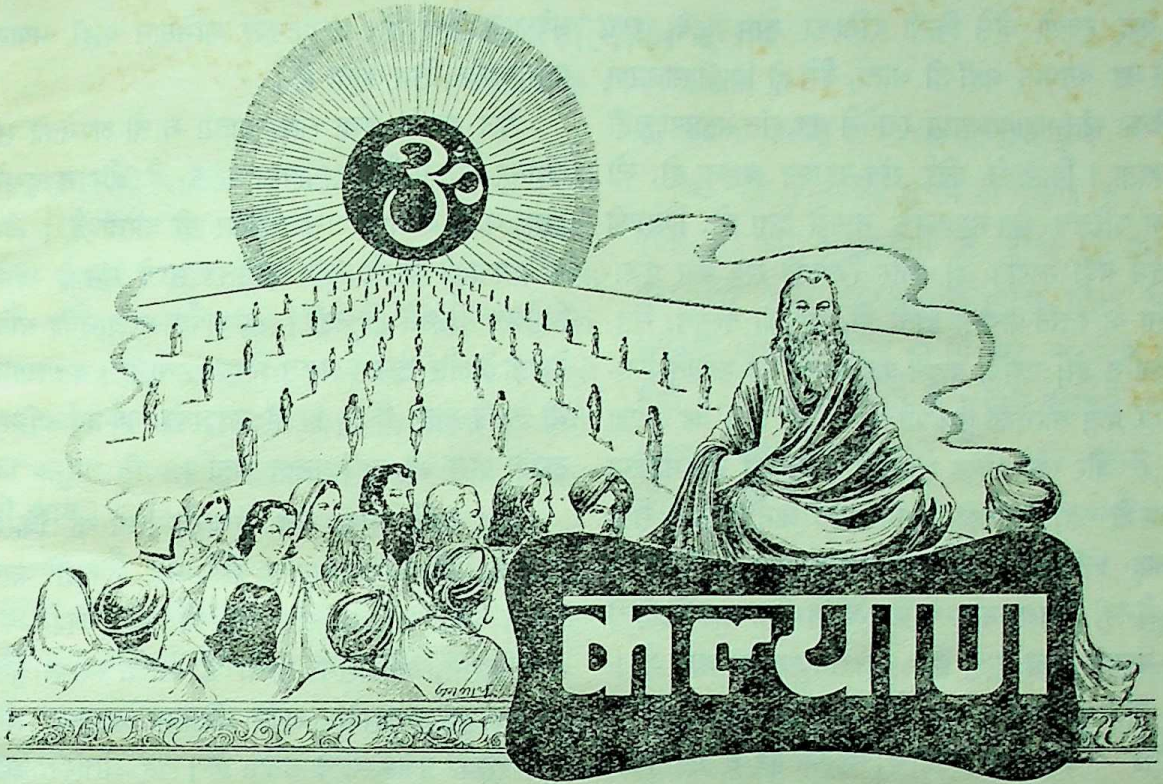
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६ | संख्या २ पूर्ण संख्या ३५१

मुनि-यज्ञ-रक्षा

राम-लखन नृप सुअन दोउ राजत कौसिक संग ।
रूप-सुधा-सौंदर्य-निधि उमगत अंग सुअंग ॥
दामिनि-वारिद-बर बरन, तेज-पुंज रस-रंग ।
नखसिख सुंदर निरखि छबि मोहे अमित अनंग ॥
धनु-सर कर, केहरि-ठवनि, कटि पटपीत-निषंग ।
मुनि मख-राखन, भय-हरन, बिरमत सदा असंग ॥
बिकट कुटिल मारीच मति नीच सुबाहु भुअंग ।
उभय जीति, मुनि जग्य कौं सफल कर्‌यो सब अंग ॥

याद रक्खो--जैसे किसी दरिद्रका नाम कुबेर रख देनेसे वह धनवान् नहीं हो जाता, वैसे ही किसी साधारण व्यक्तिका संत-महात्मा नाम रखनेसे वह संत-महात्मा नहीं हो जाता। किसीको कोई संत-महात्मा कहता हो, जो अपना परिचय संत-महात्माके नामसे देता हो, जिसकी जगत्में बड़ी ख्याति हो और जिसकी सब ओर पूजा-प्रशंसा या स्तुति-प्रार्थना होती हो, पर जो वस्तुतः संत-महात्मा न हो; उसके कहने-कहलानेका या ख्याति-पूजा-प्रार्थना प्राप्त करनेका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह धोखा देता है और स्वयं धोखा खाता है। इसलिये संत-महात्मा कहलाओ मत, अपनेको संत-महात्मा मानो मत—संत-महात्मा बनो। जो जगत्में प्रशंसा-पूजा पानेके लिये भोग-वैभव, मान-सम्मान या यश-कीर्ति प्राप्त करनेके लिये संत-महात्मा बना हुआ है, वह संत-महात्मा नहीं है।

याद रक्खो—संत वह है जो सब जगह सर्वदा सत्को—भगवान्को देखता है, महात्मा वह है जो समस्त चराचरमें वासुदेवके दर्शन करता है; जो स्वयं भगवद्-भावको प्राप्त है, जगत्में भगवद्भाव देखता है और सबको भगवद्भाव प्रदान करता है।

याद रक्खो—जो अपने भगवद्भावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्भाव ला देता है, उनके अंदर सोये हुए भगवान्को जगा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बड़ी सेवा करता है। इसके विपरीत, जो अपने आसुरीभावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्विरोधी असुरभावको उत्पन्न कर देता है, उनके अंदर सोये हुए शैतानको प्रबुद्ध कर उसे बढ़ा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। इसलिये सदा-सर्वदा अपनेको भगवद्भावसे युक्त रक्खो और संसारमें पद-पदपर भगवान्को प्रबुद्ध करते रहो। तभी संत-महात्मा बन सकोगे।

याद रक्खो—संत-महात्मामें अभिमान या गर्व होता ही नहीं, जो संत-महात्मापनका—पारमार्थिकता या आध्यात्मिकताका गर्व करता है, वह सच्चे परमार्थ और अध्यात्मसे बहुत दूर है। धन और अधिकारके अभिमानकी अपेक्षा परमार्थ और अध्यात्मका अभिमान कहीं भयानक पतनकारक सिद्ध होता है।

याद रक्खो—सच्चा संत-महात्मा न तो अपनेको संत-महात्मा मानता है, न घोषित करता है और न दूसरेके द्वारा कहे जानेपर उसे स्वीकार ही करता है। विनय या नम्रताकी दृष्टिसे नहीं, वस्तुतः सच्चे संतको अपनेमें विशेषता दीखती ही नहीं। वह सर्वत्र भगवान्की महिमा देखता है और उसीमें सहज स्थित रहता है। वह त्यागका भी त्यागी होता है। किसी प्रकारका गर्व-दर्प-अभिमान उसके पास भी नहीं फटक पाता।

याद रक्खो—सच्चा संत प्रचारके लिये या किसीके उद्धारके लिये अभिमानपूर्वक कोई प्रयास नहीं करता, विचार भी नहीं करता। वह तो सदा अपने-आपमें रमण करता, आत्माराम रहता है अथवा स्वान्तःसुखाय उसके द्वारा उसके अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीति-सुधा-रसका प्रवाह बहने लगता है। वह संसारके उद्धार-के लिये कोई आग्रह या प्रयत्न नहीं करता, उसका वह आत्मरमण अथवा उसकी वह स्वतः प्रवाहित प्रियतमकी प्रीति-सुधा-रसकी मधुर धारा संसारके सम्पूर्ण दुःख-दावानलको, सारी मृत्युकी विभीषिकाको, समस्त ज्वाला-यन्त्रणाको हरकर उसे सच्चे सुखके शुभ दर्शन करवाकर आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि करा देता है। इसीमें संतका सहज संतपन है, यही महात्माका माहात्म्य और महत्त्व है।

याद रक्खो—सच्चे संत-महात्मा वासना, कामना, ममता, आसक्ति एवं दर्प-अभिमानसे सर्वथा रहित होते हैं, इससे न तो उन्हें स्वयं अपने संतपनका स्मरण रहता है और न वे दूसरोंको ही इसकी स्मृति दिलाते हैं। अतः उनके द्वारा ऐसा कुछ कार्य होता ही नहीं, जिसमें संत कहलानेकी उनकी छिपी वासना भी हो। कहलाना वही चाहते हैं, जो हैं नहीं; जो हैं, वे तो हैं ही। अतएव इन सच्चे संत-महात्माओंका आदर्श सामने रख-कर तुम सच्चे संत-महात्मा बनो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(वर्ष २९ पृष्ठ १४५० से आगे)

(६३)

साधकको चाहिये कि किसी भी कालमें और किसी भी परिस्थितिमें उस अनन्तकी कृपा-शक्तिके आश्रयका त्याग न करे। इसके लिये साधक जो कुछ कर सके करे अर्थात् उनकी कृपासे जो कुछ विवेक, शक्ति और योग्यता प्राप्त है, उसका सदुपयोग करनेमें अपनी ओरसे असावधानी न करे। उसके बाद जब अपनी कमजोरीका अनुभव हो, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाय।

वास्तवमें कृपाशक्तिका आश्रय अपनी कमजोरीका अनुभव होनेपर ही लिया जाता है। पुरुषार्थका बल रहते हुए कोई कृपा-शक्तिका आश्रय नहीं ले पाता।

कभी-कभी पुरुषार्थ और कृपाशक्तिके आश्रयमें द्वन्द्व प्रतीत होता है। जब पुरुषार्थ करते हैं और उसमें सफलताका दर्शन होता है, तब न तो कृपा-शक्तिकी ओर दृष्टि जाती है और न अपनी असमर्थता ही दीखती है। एवं जब असफलता सामने आती है, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेते हैं। पर वास्तवमें इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य भी उनकी कृपाका ही फल है और उसके बाद कृपा-शक्तिका आश्रय है, अतः महिमा सब कृपाशक्तिकी ही है। तथापि साधारण मनुष्य इस रहस्यको नहीं समझते। इसीसे उनको विरोध-सा प्रतीत होता है।

विचार करनेपर प्रतीत होता है कि मनुष्यके जीवनके सुखकालमें प्रभु-कृपाका अनुभव, अपने भाग्यका महत्त्व या पुरुषार्थके फलका उपभोग—ये तीन बातें आती हैं।

जो मनुष्य सुखमें अपने पुरुषार्थका फल मानता है वह यदि दुःखमें अपनेको अपराधी मानकर दुखी होता है तो उसकी यह मान्यता एक प्रकारसे ठीक है। इसी प्रकार जो सुखको अपने भाग्यका फल मानता है वह यदि दुःखमें भी अपने भाग्यकी निन्दा करता है, अपनेको अभागा मानता है तो वह भी ठीक है।

पर यदि किसीको सुखमें तो प्रभुकी कृपा मालूम होती हो और दुःखकालमें न होती हो, उस समय पुरुषार्थकी कमी मानकर या अन्य किसी कारणसे अपनेको अपराधी मानता हो तो यह मानसिक संतुलन नहीं है, द्वन्द्वात्मक स्थिति है। ऐसी हालतमें साधकको समझना चाहिये कि सुखमें तो प्रभुकी कृपा मानना और दुःखमें उनकी कृपा न मानकर अपनेको अपराधी मानना—इसका यह अर्थ है कि भीतरसे तो मुझे अपने पुरुषार्थका भरोसा है और ऊपर-ऊपरसे मैं प्रभु-कृपाका नाम लेता हूँ। यही भूल है; क्योंकि यदि सचमुच प्रभु-कृपाका भरोसा होता तो दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन होता।

जो सुखकालमें पुरुषार्थका या भाग्यका फल मानता है, उसे दुःखकालमें भी उनको ही हेतु मानना चाहिये और जो सुखकालमें प्रभु-कृपा मानता है उसे दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन करना चाहिये। सुखमें एक बात और दुःखमें दूसरी बात मानना चित्तकी अशुद्धिका प्रमाण है। अतः साधकको सुख और दुःख दोनोंमें ही एक बात माननी चाहिये। भाव यह कि हरेक परिस्थितिमें हर समय प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करते रहना चाहिये; क्योंकि सुखकी अपेक्षा दुःखकी परिस्थिति लाख गुना महत्त्वकी है।

दुःखके दो भेद हैं—एक दुःख तो सजीव होता है और दूसरा निर्जीव होता है। सजीव दुःख तो वह है जो परिस्थिति-ज्ञानसे होता है और निर्जीव दुःख वह है जो मनकी बात पूरी न होनेपर होता है। सजीव दुःखसे साधक परिस्थितियोंसे असङ्ग होता है और निर्जीवसे साधारण व्यक्तियोंके चित्तमें क्रोध, भय और क्षोभ आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं।

अतः साधकके जीवनमें निर्जीव दुःख नहीं होना चाहिये ।

सजीव दुःख तभी होता है, जब मान्यतामें द्वन्द्व नहीं रहता । एक अंशमें भाग्यवादी होना और दूसरे अंशमें भाग्यवादी न होना, एक अंशमें आस्तिकवाद और दूसरे अंशमें भौतिकवादकी मान्यता—यही मान्यताका द्वन्द्व है । इस द्वन्द्वके रहते चित्त अशुद्ध रहता है; क्योंकि इस प्रकारका द्वन्द्व चित्त-अशुद्धिका कारण है ।

अतः साधकको चाहिये कि दुःख और सुख दोनोंको ही प्रभुकी कृपा समझे ।

यदि कोई कहे कि दुःखको प्रभुकी कृपा कैसे समझें तो कहना होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो परिवर्तनशील हैं, वे तो जैसे आती हैं वैसे ही चली जाती हैं, पर दुःख साधकको परिस्थितिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान कराता है । यही उनकी कृपा-शक्तिका प्रभाव है ।

साधकको समझना चाहिये कि रोगके मूलमें किसी-न-किसी प्रकारका राग (आसक्ति) है ।

राग करुणा आदि गुणोंसे और स्वार्थ तथा अवगुणोंसे भी होता है, अर्थात् इन दोनोंसे ही रागका सम्बन्ध है ।

जब गुणोंके आघातसे राग होता है, तब तो मनुष्य शान्त और अन्तर्मुख होता है; पर जब दोषोंके प्रभावके आघातसे राग होता है, तब वह क्रोधी और ईर्ष्यालु बन जाता है ।

अतः मनुष्यको सुख और दुःखका कारण एकको ही मानना चाहिये ।

जो दोनोंका कारण प्रारब्धको मानता है वह सुख और दुःख दोनोंको भोगकर मिटा देता है, सुख-दुःखकी चाह नहीं करता; क्योंकि उसकी मान्यताके अनुसार जो कुछ प्रारब्धके फलरूपमें होना है, वही होगा । चाह करनेसे कोई परिवर्तन नहीं होगा । यह समझकर वह चाहरहित हो जाता है ।

जो पुरुषार्थको दोनोंका कारण मानता है वह भी समझता है कि चाहसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा । अतः वह जाने हुए दोषको सहन नहीं कर सकेगा, उसे मिटानेके लिये पुरुषार्थ करेगा ।

आस्तिककी मान्यतामें दुःख और सुख दोनों ही साधन सामग्री हैं, जो कि प्रभुकी अहैतुकी कृपाका पुरस्कार है । अतः वह दोनोंका ही प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सदुपयोग करेगा, इसीलिये हर हालतमें उसकी दृष्टिमें आनन्द-ही-आनन्द है ।

साधकको चाहिये कि दुःखकी परिस्थिति आते ही आश्चर्यान्वित होकर देखे कि मेरा प्रियतम इस परिस्थितिके द्वारा मुझे कौन-सी नयी चीज देना चाहते हैं और सुखमें यह देखना कि वे कौन-सी वस्तुका अपनी प्रसन्नताके लिये मुझसे उपयोग कराना चाहते हैं । इस प्रकार विचार करनेपर जैसी प्रेरणा मिले वैसा ही करना चाहिये और निरन्तर अपनेको उनकी गोदमें स्थित देखकर निश्चिन्त और निर्भय रहना चाहिये ।

दुःखके कालमें आस्तिक साधकके चित्तमें तीन प्रकारके विचार उसकी साधनाके अनुसार हुआ करते हैं—

(१) दुःखके स्वरूपमें हमारे प्रियतम ही आये हैं ।

(२) दुःख हमारे प्यारेका भेजा हुआ पुरस्कार है ।

(३) दुःखमें हमारा कल्याण भरा है ।

पहला भाव सबसे ऊँचे साधकका होता है जो कि कृपा-शक्तिकी सिद्धावस्थाका परिचायक है, दूसरा कृपा-शक्तिपर निर्भरताका लक्षण है और तीसरा कृपा-शक्तिके साधनके प्रारम्भकालका भाव है । इन सबका फल है अपने प्रीतमके प्रेमका अधिकारी हो जाना ।

धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्कामभावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं। वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते। अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये। धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएँ धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। उन्नतिके कई प्रकार हैं। उनमें शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक—ये प्रधान हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना चाहिये। ऐसा भोजन क्या है? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिस्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मोसम्बी, नासपाती, सेब आदि फल; आलू, अरवी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं, शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्रायः सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं। इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमितरूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है। इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अतः उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, घरकी सफाई करना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना, अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है। इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीके द्वारा वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्ट सिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंके दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको बुरी दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर

देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं ।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये। मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है । किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेपदोष है । अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है । निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है । ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गंभीरता बढ़ती है तथा विषयोंमें वैराग्य और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है । इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है ।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्‌ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(१७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।' इस मानस-तपके आचरणसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है ।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये । बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं । अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये । सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीता अ० १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

'पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये । बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं ।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये । हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थत्याग, निष्कामभाव, उदारता और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका हित हो । व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये । वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये । इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, ब्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये । बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न

तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों। व्यवसायके समय परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी छोड़ना, विनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशन करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची है, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, उसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रक्खें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिकरूपसे आदर्श हितकर सत् शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रक्खा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगका अधिक-से-अधिक हित करें तथा अधिकारियोंके प्रति सदा सद्भाव रक्खें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और

मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रक्खें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये बिना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न बिना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पञ्च बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्च पदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी तथा अन्यान्य सरकारी अफसरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम धर्म है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

'१ धैर्य रखना, २ क्षमा करना, ३ मनको वशमें रखना, ४ चोरी न करना, ५ बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६ इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७ सात्त्विक बुद्धि, ८ सात्त्विक ज्ञान, ९ सत्य वचन बोलना और १० क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारु रूपसे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२वेंसे ४४वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८वेंसे ९१वें श्लोकतक किया गया है, उसे देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। (देखिये महाभारत महाप्रास्थानिकपर्व अ० ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका

त्याग नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा, बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी नीति, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जाके मन माहीं। ता कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
(गीता १२।४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्कामभावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थसिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

पहले अमृत-सा, पीछे जहर-सा

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई देसाई)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८।३७)

इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिये जगत्में सुख क्या है यह जानना चाहिये। सुख दो प्रकारका है। एक भोगसुख है यानी प्राणी-पदार्थके संसर्गसे मिलनेवाला सुख और दूसरा सुख है आत्मसुख। अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' इस भावनासे मिलनेवाला सुख।

भोगसुखमें भोक्ता अपनेको अपूर्ण मानता है और जिस वस्तु या प्राणीसे अपनेको सुख होता है, वह समझता है कि उसके बिना वह रङ्क है, उसके बिना वह दीन और दुखी है। वह उसके परतन्त्र है, उसके अधीन रहता है। भोगसुखकी इच्छा करनेवाले सदा पराधीन हैं। उसकी सुख-शान्ति या आनन्द दूसरेके हाथ है। उसको कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। जिसका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, वह पराधीन है। 'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।' मनुष्यको सुख और आनन्दकी पल-पलमें जरूरत है। प्राणी पानी, भोजन और कपड़ेके बिना कुछ समय गुजार सकता है और वह भी स्वसंतोष और आनन्दसे। हवा बिना भी कुछ मिनट निभा लेता है, परंतु प्राणिमात्रका आनन्दके बिना, सुखेच्छाके बिना काम नहीं चलता।

प्राणिमात्र यह इच्छा करता है कि सुख और आनन्द मुझसे एक पलके लिये भी अलग न हों। सुख और आनन्द प्राणीका जीवन है। अपना सर्वस्व देकर भी

प्राणी सुखकी इच्छा करता है। ऐसा सुख प्राणी-पदार्थसे मिलता है। इस विश्वासपर जिसको जीना हो, उसको प्राणी-पदार्थको अपने अधीन करने और अपने वशवर्ती बनानेके लिये श्रम और चिन्ता रहेगी ही। अतएव इस प्रकार सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेमें उसका नाश ही होता है। ऐसा प्राणी-पदार्थ, जिससे सुख पानेकी जीव कल्पना करता है, वह देखा भी जा सकता है और भोगा भी जा सकता है। वैसे प्राणी-पदार्थकी प्राप्तिमें श्रम है। उसकी रक्षा करनेमें श्रम और दुःख है। परंतु उसको देखना, जानना, भोगना—इन्द्रियोंसे और मनसे होता है। इसलिये उनसे प्राप्त होनेवाला सुख इन्द्रियगम्य माना जाता है। यह प्राणी-पदार्थसे प्राप्त होनेवाला सुख भोगते समय अमृतके तुल्य लगता है। उसमें जीव लीन हो जाता है। इसके भोगकालमें जीवको विचित्र शान्ति और आनन्द प्रतीत होता है। परंतु उस भोगके अनुभवकालके पूर्व और पश्चात् तो श्रम, दुःख, चिन्ता और क्लेश ही रहते हैं। वह प्राणी-पदार्थ भोगके एक क्षणके लिये तो सुख देता है और भोगके पहलेके और पीछेके अनन्त क्षणोंके लिये, दीर्घकालके लिये अखण्ड दुःख देता है। इसलिये इन्द्रिय और मनके भोग पहले अमृत-जैसे और पीछे विष-जैसे हो जाते हैं। जैसे विष मिठाईमें मिले रहनेसे खानेमें मीठा लगता है और पचाने—हजम करनेमें दुष्कर तथा मृत्युदाता हो जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगकालमें अमृत-जैसे और परिणाममें विष-जैसे होते हैं। विष जीवनका नाश करता है। खूब विचार करने और अनुभव करनेसे जान पड़ता है कि प्रत्येक भोग जीवनका ही नाश करता है।

यह बात इस प्रकार समझमें नहीं आती। अन्तिम भोगका उदाहरण लीजिये। विषयभोग अति मात्रामें मिलनेपर उससे क्षय हो जाता है और रोगी मरता है। जो फल अति मात्रामें है, वह अल्पसे भी अल्प मात्रामें है। प्रत्येक विषयभोग शक्ति और प्राणका नाश करता है। यही बात दूसरे भोगोंकी भी है। भोगमात्र आयु और शक्तिका नाश करते हैं। यानी भोग विषवत् हैं। इसीसे भोग भोगकालमें अमृतवत् आनन्द देनेवाले जान पड़ते हैं और परिणाममें जीवन हरनेवाले विषरूप होते हैं। संसारमें जितने सब रोग हैं, संसारमें जितने सब दुःख, क्लेश, झगड़े हैं, उन सबके माँ-बाप ये भोग हैं। भोगोंका त्याग किये बिना अखण्ड सुख होता ही नहीं। भोगसुखके विषयमें अखा भगतने एक सरस दृष्टान्त दिया है—

अखा माया करे फजेत । खाताँ खाँड ने चाबताँ रेत ॥

'अखा भगत कहते हैं कि माया फजीहत करती है। भोगते समय तो चीनीके समान मीठी लगती है, परंतु चबाते समय अनुभव होता है कि मैं रेत चबा रहा हूँ।

इससे विपरीत आत्मसुख है, जो पहले विषके सदृश लगता है; परंतु परिणाममें अमृतके समान जान पड़ता है।

आत्मसुख वह है कि जिसमें पहले लगता है कि इसमें क्या है। परंतु जैसे-जैसे उसका रस चक्खा जाता है, वैसे-वैसे आनन्द मिलता है। भोगसुख शुरूमें अमृतरूप और परिणाममें विषरूप कैसे है? इसको अखा भगतने उपर्युक्त दोहेमें समझा दिया है।

अब आत्मसुख शुरूमें विषवत् और परिणाममें अमृत किस प्रकार होता है, यह बात इस लौकिक दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है। कन्या माँ-बापके घरसे जब पहले-पहल अपने पतिके घर जाती है, तब पतिके घरका सुख उसे पहले विषवत् लगता है, पर जैसे-जैसे वह वहाँ रहने लगती है वैसे-वैसे ही पतिसुख छोड़नेका मन नहीं होता। सहवास बढ़नेपर पिताके घरका सुख विष-जैसा और पतिके घरका सुख उसको अमृत-जैसा लगता है।

चित्तका आत्मा पति है और विषय नैहर है। मैं आत्मा हूँ, यह भावना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही चित्त आनन्दकी लहरोंमें स्नान करता है। यह आनन्द एक

अद्भुत आनन्द है। हठयोगकी समाधिका आनन्द तो कुछ भी नहीं है । जीते-जागते, जिसको दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान और अनुभव होता है कि मैं नित्य आत्मस्वरूप असङ्ग चेतन हूँ, उसको जो अपार आनन्द होता है, उस आनन्दको वही जानता है ।

जब आत्मबुद्धि होती है, तब वह स्वतन्त्र होता है। वह ब्रह्माण्डके किसी भी प्राणी-पदार्थके परतन्त्र, दीन, अधीन नहीं होता । स्वयं सुखस्वरूप है । इसलिये वह किसीसे सुखकी इच्छा नहीं करता ।

गरीब, धनवान्, महाराजा, राजा, सम्राट्, देव, इन्द्र आदि चाहे जितने ऐश्वर्यसम्पन्न हों, यदि वे रात-दिन प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी इच्छा करते हैं तो उनके हृदयमें सदा अशान्ति और संताप होता है । ब्रह्माण्डमें कोई प्राणी-पदार्थ ऐसे नहीं हैं कि जिनके मिल जानेपर दूसरी किसी वस्तुका मिलना बाकी न रह जाता हो और जबतक किसी वस्तुका प्राप्त करना बाकी रहता है, तबतक अशान्ति और असुख ही रहता है । जिसको कुछ प्राप्त करना नहीं है, वह सदा आनन्दमें रहता है । शरीरबुद्धि या जीवबुद्धिमें प्राप्त करना रहता है । आत्मबुद्धिमें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्ण है और उससे अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसे सुख प्रदान करे । आत्मा अविनाशी है, अविकारी है और इस कारण जगत्के असंख्य विनाशी और विकारी पदार्थोंसे असंख्य गुना अमूल्य और सर्वथा विलक्षण है । पत्थरकी स्त्रीकी पुतलीकी अपेक्षा जैसे सच्ची स्त्री असंख्य गुना मूल्यकी और सर्वथा विलक्षण होती है, उसी प्रकार सारे विनाशी ब्रह्माण्डकी अपेक्षा हमारा अविनाशी आत्मा अनन्त मूल्यवान् और विलक्षण है । जैसे पीपलको जितना ही घोंटा जाता है, वह उतनी ही गुणप्रद होती है, इसी प्रकार मैं आत्मा, असङ्ग, चेतन हूँ—यह जैसे-जैसे निश्चय होता जाता है, वैसे-वैसे ही आनन्दका अनुभव होता जाता है । हरिः ॐ तत्सत्

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(८३)

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे । ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया; उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ । इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं । अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे । श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी । अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता । दूसरे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं । किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्यौछावर हों । वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही ।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो ! अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें ! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट

नहीं होता । जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता । इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है । अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं । किंतु प्रपञ्चके जीवो ! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं । उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना । देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है ?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती । किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हृत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है । स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी । देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे; धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे; इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते । किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं । मर्यादा टूट जाती है, सुमाग छूट जाता है और निर्बाध स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे । अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं । वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है । ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता, पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं, विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं । नीलसुन्दरके विहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरण-नखचन्द्रको ही । किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे !—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता । उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता ॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराई । देह, गेह, धन, संपति पाई ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरीतिमा लहलह कर रही है । कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है । फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं । इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों । वास्तवमें बात भी ऐसी ही है । विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । ११)

बुढ़ी लुढ़ी जु हरित भई धरनी । उच्छिलींध्र छबि फबि हिय हरनी ॥

जनु कोउ भूपति उतर्यौ आइ । छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ ॥

× × ×

त्रन अंकुर संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं ।
जिमि सुकृतिन के पुन्य पुराकृत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं ॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै ।
जिमि नरनाह राजसी राजति सुंदर सुखमा साजै ॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है । उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है; व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है । क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं । वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं । वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा । और उनका अधिपति है कंस । जहाँ उसकी छत्र-छाया है, वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १२)

निपजे छेत्र कागुनी धान । तिनहिं निरखि हरखे जु किसान ॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं । दैवाधीन सु जानत नाहीं ॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं । सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही । कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं । संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर-थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं । पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था ? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं ? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्ण-चन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है । यह तारतम्य भले कोई कर ले । हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्के जलज-स्थलज प्राणियो ! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो । संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो । बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको । फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा । देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रिताप-संतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होता ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १३)

जलके, थलके बासी जिते । जल-सोभा करि सोभित तिते ।
जैसें हरि-सेवा करि कोई । रुचिररूप अति राजत सोई ॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किधर किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठ रही हैं ? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टिसे देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे सङ्गमित हो जाता है । फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है । सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है । आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग जो पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुरकी धराके राशि-राशि रजकण बटोरकर, रविनन्दिनी ले आयी हैं । सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है—वह निधि जिसके लिये पितामह तरसते

रहते हैं। स्वयं यमुना जब इन रजकणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियों-को, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुर-वासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छ्वलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके; व्रजाङ्गनाओं-के चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका। इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है! अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमा-को तो तुम्हें भी भान होता—यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयङ्गम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्यागकर, यथायोग्य साधनानुष्ठान-में संलग्न होते तो क्रमशः इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधना-नुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा। इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। कहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छविको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके सङ्गम-की ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु। उमगि ऊरमी, ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक जोगी चित धाइ। विषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥

मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी

(लेखक—परशुरामपुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीश्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

राधापते ! नन्दतनूज ! कृष्ण !
गोविन्द ! गोपाल ! मुकुन्द ! मित्र !
गोपीश ! वृन्दावनरासलासिन् !
जिह्वात आर्तस्वरतस्स्फुरत्वम् ॥
(श्रीऔदुम्बराचार्यजी)

आजसे हजारों वर्ष पूर्वका वृत्तान्त है जब कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सच्चिदानन्दघन, दिव्यमङ्गल-विग्रह, आनन्दकन्द नन्दनन्दन, श्रीश्यामसुन्दरके परम-प्रिय आयुध कोटिसूर्यसमप्रभ चक्रराज श्रीसुदर्शन श्रीप्रभुसे समादिष्ट हो भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यके रूपमें इस अवनितल-पर अवतरित होकर सद्धर्मका प्रचार-प्रसार कर रहे थे ।

इन्हीं भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अभिनव वपु चक्रावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्रके अनेकों शिष्योंमेंसे प्रमुख दो शिष्य थे—प्रथम पाञ्चजन्य शङ्खावतार भाष्यकार श्री-निवासाचार्यजी तथा द्वितीय मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी। श्रीनिम्बार्क भगवान्के अन्तर्हित होनेपर आचार्य-पदपर भाष्यप्रणेता श्रीनिवासाचार्यजी अभिषिक्त हुए और ये औदुम्बराचार्यजी अपना अधिक समय तीर्थ-सेवन, भगवदाराधन तथा सनातन धर्मके विपुल प्रचारमें लगा-कर श्रीभगवत्संनिधिको प्राप्त हुए ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जीवनगाथा बड़ी ही विलक्षण, चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयोत्पादक है । ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे, अन्य प्राणियोंकी भाँति इनका उत्पत्ति-वृत्तान्त नहीं मिलता, ये उदुम्बर (गूलर) वृक्षके फलसे प्रकट हुए थे, इसीसे औदुम्बराचार्य नामसे विख्यात हुए । इनके प्रकट होनेकी यह पुण्यप्रद गाथा बड़ी ही सुन्दर उत्कृष्ट तथा इनकी विलक्षणताको अभिव्यक्त करनेवाली है ।

एक समय सनातनधर्म-प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए किसी एकान्त स्थलमें श्रीभगवदाराधनमें स्थित श्रीनिम्बार्क भगवान्पर अविद्याग्रसित खलसमूहने आकर उपद्रव करना आरम्भ किया । उनके चारों ओर उन दुष्टोंने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, पर श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र तनिक भी भयाकुल नहीं हुए । वे उस समय उस गूलर वृक्षके नीचे श्रीसनकादि महर्षियों-द्वारा परिसेवित अतिप्राचीन गुञ्जाफल-सदृश अतिसूक्ष्म श्रीशालिग्रामविग्रह श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी सेवामें तल्लीन थे । अकस्मात् जिस गूलर वृक्षके नीचे आप विराजमान थे, उसका एक परिपक्व फल श्रीआचार्यचरणोंके संनिकट आ गिरा और आपके पावनतम चरणनखका स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्याकृति तथा अमित प्रभावपूर्ण श्रीनिम्बार्काचार्यजीके सदृश ही गुण-रूपवान् परम सुन्दर पुरुषके रूपमें प्रादुर्भूत हो गया । इस परम विलक्षण चमत्कारको देखकर खलसमूह भयभीत हो तुरंत ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे कि सूर्यके उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजी प्रकट होकर श्रीनिम्बार्क भगवान्के अनिर्वचनीय दिव्यस्वरूपका दर्शन कर उनके अद्भुत प्रभावका अनुभव करने लगे । श्रीनिम्बार्क भगवान्ने इनको भ्रमण-कालमें अपने साथ ही रक्खा । कुछ दिनों बाद जब ये अपनी परम प्रिय व्रजधाम श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी तरेटी (निम्बग्राम) तपस्थलीमें, जहाँ तपश्चर्या करते थे, औदुम्बरमुनिसहित पधार आये, तब मुनिवर भी उनकी सेवामें यहीं रहने लगे ।

इस उपर्युक्त पुण्यगाथाका संक्षिप्त उल्लेख स्वयं श्रीऔदुम्बराचार्यजीने स्वरचित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति' नामक ग्रन्थमें भी इस प्रकार किया है—

यत्स्पृष्ट आत्मीयसखो बभूव
ह्यौदुम्बरो जन्तुरिवात्मरूपः ।
कृष्णस्य यद्वत्कृकलासखर्पौ
गन्धर्वमुख्यावतिचित्ररूपौ ॥
श्रीधर्मसूनोरिव सर्पराजो
रामस्य यद्वच्च शिला त्वहल्या ।

देदीप्यमाना सुविमानविष्टा
तस्मै नमस्ते समरूपदात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ९०-९१)

'जिस प्रकार भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंके संस्पर्शसे गिरगिट और सर्प—ये दोनों क्रमपूर्वक नृपति एवं गन्धर्व बनकर सम्मुख स्थित होकर स्तुति करने लगे थे तथा महाराज युधिष्ठिरके चरणस्पर्शसे सर्प और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणारविन्दकी परमपावनी रजके स्पर्शसे शिला—ये दोनों क्रमशः दिव्याकृति मनुष्य तथा ऋषि-पत्नी अहल्याके रूपमें प्रादुर्भूत हो स्तुति कर विमानोंमें स्थित होकर दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार ऊपरसे पड़ा हुआ गूलरका फल आपके पादपद्मोंका स्पर्श होते ही अपने ही रूप और आकृतिके समान रूप तथा आकृतिमान्, आपका कृपापात्र औदुम्बराचार्य (मैं ग्रन्थप्रणेता) अकस्मात् आविर्भूत हुआ। इस साधारण तुच्छ जड पदार्थको अपने ही सदृश स्वरूप-प्रतिभादि प्रदान करनेवाले आपके पादपद्मोंमें मैं नमस्कार करता हूँ।'

यद्यपि श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जन्मतिथि, मास, वर्ष एवं आयु और उनके पावनतम जीवन-चरित्रका विशेष वृत्त समुपलब्ध नहीं है; क्योंकि आचार्य-उत्सव उन्हीं आचार्यचरणोंका मनाया जाता है, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यपीठासीन होते आये हैं। श्रीऔदुम्बराचार्यजी आचार्य पीठारूढ़ नहीं हुए थे, इसीलिये उनके जन्मोत्सव आदिका पूरा वृत्त आजतक प्राप्त नहीं हो सका है तथापि उनके निजनिर्मित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' ग्रन्थसे यह अवश्य निश्चयात्मक रूपसे ज्ञात होता है कि ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे तथा उन्हीं सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान्के तेजःपुञ्ज-विशेषांश थे, अतएव बिना ही अध्ययन किये निखिल निगमागमके पूर्ण ज्ञाता, आत्म-परमात्म आदि तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले उद्भट विद्वान् थे।

ये औदुम्बराचार्य जिस प्रकार सहसा प्रकट हुए उसी प्रकार तत्क्षण ही तिरोहित नहीं हुए, इन्होंने बहुत समयतक श्रीनिम्बार्क भगवान्की सेवामें रहकर तथा भारतके अनेक पुनीत स्थलोंपर परिभ्रमणकर सनातन धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरायी, बहुत-से स्थानोंपर तो प्रतिमापूजन-प्रणालीकी सुदृढ़ताके लिये बड़े-बड़े भव्य मन्दिरोंका निर्माण करवाकर श्रीभगवत्प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करायी। इन्होंने जिन मन्दिरोंका निर्माण करवाया था, वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुरुक्षेत्रके सन्निकट 'पपनावा' नामक ग्राममें एक मन्दिर अद्यावधि भी विद्यमान है। यदि अन्वेषण किया जाय तो इनके द्वारा निर्माण कराये गये मन्दिर तथा इनका विशद जीवन-चरित्र भी सम्भवतः प्राप्त हो सकता है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है। 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' 'श्रीऔदुम्बरसंहिता' आदि ग्रन्थ तो सम्प्राप्त हैं। प्रथम ग्रन्थमें इन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्यामसुन्दरकी जो बड़ी ही सुन्दर रसमयी वन्दना की है, उसे यहाँ उद्धृत करते हुए इस चरित्रको यहीं समाप्त करते हैं—

मत्स्याय कूर्माय वराहभासे
श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्षाय रामाय रघूत्तमाय
भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय ॥
बुद्धाय वै कल्किन एवमादि-
नानावतारौघधराय नित्यम्।
सच्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने
कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ५-६)

'श्रीमत्स्य, श्रीकूर्म, श्रीवाराह, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीपरशुराम, श्रीदाशरथि राम, श्रीबलराम, श्रीबुद्ध, श्रीकल्कि आदि अवतारोंके उद्गमस्थान तथा बुधजन-विचिन्त्य निज अद्भुत अनिर्वचनीय शक्तिसे परम गूढ़ महिमावाले एवं समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके करनेवाले ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीनन्दनन्दनको बारंबार प्रणाम है।'

सात्त्विकी बुद्धि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे बहुत लोग श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन, पठन तथा श्रवण करते हैं, यह बड़े ही आनन्दकी बात है; पर उसके श्लोकोंका हम मनन करें और इस बातको समझें कि हमारे जीवनके साथ किस श्लोकका क्या सम्बन्ध है और हम अपने जीवनको वर्तमानमें ही किस प्रकार भगवान्‌के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं, तब उसका हम पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी भावसे प्रेरित होकर मैं आपसमें इस प्रकार विचार-विनिमय करनेके रूपमें एक श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ। आशा है कि गीतास्वाध्यायी सज्जनगण इसके उत्तरमें अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करेंगे और मेरी गलतियोंको क्षमाकर उनका सुधार करनेके लिये उचित परामर्श देंगे । मेरा अनुमान है कि इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमयसे साधकोंको लाभ होगा। श्लोक इस प्रकार है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

(गीता १८ । ३०)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कार्य और अकार्यको, भय और अभयको एवं बन्धन और मोक्षको जानती है, वह सात्त्विकी है।'

इस श्लोकमें चार युग्मोंमें आठ बातें जानने योग्य बतलायी गयी हैं और इनको जाननेवाली बुद्धिको सात्त्विकी कहा गया है। विषयके आरम्भमें यह बात भी भगवान्‌ने कह दी है कि बुद्धिके भेद मैं तुम्हें अशेषतासे अर्थात् पूर्णतासे कहूँगा, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन संक्षिप्त है।

इससे यह मान लेना होगा कि सात्त्विकी बुद्धिके द्वारा जो कुछ जानना चाहिये और जो कुछ भी जाना जा सकता है, वह इन्हीं आठ भेदोंके अन्तर्गत आ जाना चाहिये। इस दृष्टिसे तो इस श्लोकके भावकी व्यापकता बहुत अधिक हो जाती है, पर मैं अपने विचार संक्षेपमें ही प्रकट करता हूँ। पाठकगण इन्हें संकेतमात्र मानकर समझनेकी चेष्टा करें, यही मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है। पहला युग्म है—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

हरेक व्यक्तिके जीवनमें कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति प्रतिदिन होती रहती है। किसी कार्यमें लगे रहना प्रवृत्ति है और कोई काम न करना ही निवृत्ति है, यह सभी जानते हैं; किंतु इन दोनोंका जो सात्त्विकी बुद्धिद्वारा जानना है, वह ऐसा जानना नहीं है। वह है इन दोनोंका सदुपयोग करके अपने जीवनको हरेक अवस्थामें साधनसम्पन्न बनाये रखना अर्थात् इनका यथार्थ जानना। अतः हमें जानना चाहिये कि प्रवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार अपने जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है और निवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार ?

साधारण व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति किसी-न-किसी कामनाकी पूर्तिके लिये ही हुआ करती है। उसके अन्तमें शक्तिका ह्रास होता है, मिलता कुछ भी नहीं; क्योंकि अभावका अभाव नहीं होता। प्रवृत्तिमें आसक्ति होनेके कारण परतन्त्रता और जडताकी अनुभूति होती है। उस कामनायुक्त प्रवृत्तिके अन्तमें जो स्वाभाविक निवृत्ति आती है, उससे शक्तिका संचय तो होता है, पर उसके होते ही प्राणी आसक्तिके कारण या तो परिस्थितिके चिन्तनमें या पूर्ववत् प्रवृत्तिमें लग जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिका चक्र चलता रहता है। इसके परिणाममें शान्ति नहीं मिलती। इस अनुभूतिका आदर करनेसे साधकके मनमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे अतीतके जीवनकी आवश्यकता और उसे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् होती है। उसकी पूर्तिके लिये साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका सदुपयोग करके उन दोनोंके रागका अन्त कर दे।

विचार करनेपर जान पड़ता है कि अपनी-अपनी योग्यता, विश्वास और साधननिष्ठाके अनुसार इनके सदुपयोगमें अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं, पर यह सभीको मान्य होगा कि साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति उसे अपने साध्यकी ओर ले जानेवाली, प्रवृत्तिकी आसक्तिको मिटानेवाली और सर्वहितकारी होनी चाहिये। ऐसी किसी भी प्रवृत्तिके लिये साधकके जीवनमें स्थान नहीं है जिससे कर्म करनेकी आसक्ति बढ़े, जो किसी भी अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिविषयक या प्रतिकूल

परिस्थितिकी निवृत्तिविषयक किसी प्रकारकी भोगवासनाको बढ़ानेवाली हो अथवा जिसमें किसीका अहित भरा हो। अतः प्रवृत्तिका सदुपयोग करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जब साधकके मनमें कोई काम करनेका संकल्प उठे, तब तत्काल यह विचार करे कि मेरी जो मान्यता है, जिस वर्ण, आश्रम, विचारधारा और धर्मको मैंने स्वीकार किया है, जिन व्यक्तियोंके साथ इस कर्मका सम्बन्ध है उनसे मैंने जो सम्बन्ध स्वीकार कर रक्खा है, मेरी उस स्वीकृतिके अनुरूप मेरे लिये जो विधान है उसमें इस कर्मके लिये स्थान है या नहीं। विचार करनेपर यदि यह निर्णय हो जाय कि यह कर्तव्य है, इसमें किसीका अहित नहीं है अपितु दूसरोंके अधिकारकी रक्षा है तो उस कामको प्राप्त विवेकके प्रकाशमें बड़ी सावधानीके साथ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी दी हुई सामर्थ्य-सामग्रीसे उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार पूरा करके रागसे रहित हो जाय। उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा या कामना न करे तथा किसी प्रकारके अभिमानको भी स्थान न दे। इस प्रकार किये हुए कर्मका स्वरूप बाहरी दृष्टिसे प्रवृत्ति होनेपर भी उसका परिणाम वही होगा, जो अच्छी-से-अच्छी वासनारहित निवृत्तिके सदुपयोगसे होना चाहिये।

इसी प्रकार जब साधक कर्तव्यकर्मसे निवृत्त हो, जब उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं हो, उस समय न तो मनमें व्यर्थ संकल्पोंका उदय होने दे और न बुरे संकल्पोंका ही। जो संकल्प उठें, उनमें जो उस समय पूरा करनेका हो उसे तो पूरा करके मिटा दे, जो भविष्यमें करने योग्य हो उसको नोट करके मिटा दे और जो व्यर्थ हो उसे विचार-के द्वारा मिटा दे। इसके अतिरिक्त जो बुरे संकल्प हैं, जिनमें किसीके भी अहितकी भावना है उनके लिये तो साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। उनकी तो उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिये। भावकी शुद्धिसे व्यर्थ और बुरे संकल्प अपने आप मिट जाते हैं। अतः साधकको अपना भाव शुद्ध करना चाहिये। अनावश्यक, व्यर्थ और बुरे संकल्प मिटते ही अपने इष्टकी स्वाभाविक मधुर स्मृति या सहज शान्ति प्राप्त होगी। उस निवृत्तिजनित सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टकी स्मृति उसकी प्रीतिके रूपमें और शान्ति परम उपरतिके रूपमें बदलकर अपने इष्टसे मिला देगी। यही प्रवृत्ति और निवृत्तिको वास्तविक जानना है और यही उनका सदुपयोग है। दूसरा युग्म है—

कार्य और अकार्य

जो करने योग्य है, जिसके करनेका विधान है वह कार्य है और जो करने योग्य नहीं है, विधानमें जिसका निषेध है वह अकार्य है। यह कार्य और अकार्यका साधारण अर्थ है।

अब विचार यह करना है कि साधकके लिये कौन-सा कर्म करने योग्य है और उसे किस भावनासे करना चाहिये तथा कौन कर्म करने योग्य नहीं है और उसको किस भावसे नहीं करना चाहिये। विचार करनेपर विदित होता है कि जो कुछ किया जाय, वह प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकके प्रकाशमें किया जाना चाहिये। प्राप्त विवेकका अनादर कभी किसी भी परिस्थितिमें नहीं करना चाहिये। प्राप्त विवेक हमें यह सिखाता है कि हम जो कुछ अपने प्रति दूसरोंसे करवाना चाहते हैं, वही हमें दूसरोंके साथ करना चाहिये और जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते, वह हमें भी किसीके साथ नहीं करना चाहिये। जैसे हम सम्मान चाहते हैं, तो हमें दूसरोंका सम्मान करना चाहिये, किसी-का भी अपमान नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक विषयमें समझ लेना चाहिये। यह नियम है कि दूसरोंके प्रति की हुई भलाई ही अपने प्रति कई गुनी अधिक होकर आती है और दूसरोंके प्रति की हुई बुराई ही अपने प्रति कई गुनी बुराई होकर आती है। दूसरोंके हितमें ही अपना हित निहित है; अतः ऐसा कोई भी काम किसी भी परिस्थितिमें साधकके लिये करने योग्य नहीं है जिसमें किसीका भी अहित होता हो। इस दृष्टिसे करने योग्य कर्म वही है जो हमारी मान्यताके अनुरूप, विधानके अनुसार हमारा कर्तव्य हो, जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमें प्राप्त हो और जिसके करनेकी वर्तमानमें ही आवश्यकता हो तथा जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो। भाव यह कि प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता आदिका सदुपयोग ही कार्य अर्थात् कर्तव्य है। जैसे वाणीको प्रिय, हितकर और सत्य भाषणमें तथा प्रभुके नाम-जप, कीर्तन, उनके गुणोंके और चरित्रोंके वर्णन करनेमें लगाना, शरीरको दुखियोंकी सेवामें लगाना, मनको प्रभुके स्मरणमें लगाना और बुद्धिको दृश्यसे असङ्ग होनेमें और भगवान्पर विश्वास करनेमें लगाना। इसी प्रकार हरेक इन्द्रियोंका, वस्तुका और योग्यता आदिका यथायोग्य उपयोग करना ही कार्य है। इन सब कामोंको भी निष्कामभावसे अर्थात् उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुखभोगकी इच्छा न रखकर प्रभुकी प्रसन्नताके

लिये उत्साह और धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये; अवहेलनापूर्वक या उतावलेपनसे नहीं। इस प्रकार किया हुआ कर्तव्यपालन क्रियाशक्तिके वेगको तथा करनेकी आसक्तिको नाश करके साधकके चित्तको शुद्ध कर देता है। उसमें नवीन राग अङ्कुरित नहीं होने देता, अतः कालान्तरमें उस विषयके संकल्प नहीं उठते।

इसी प्रकार न करने योग्य कर्म वह है जो हमारी मान्यताके अनुसार हमारा कर्तव्य न हो। या जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमारे पास न हो अथवा करना आवश्यक न हो और जिससे किसीका अहित होता हो। ऐसे कामका त्याग भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होना चाहिये। उसमें न तो अपनेमें किसी गुणके अभिमान-को स्थान देना चाहिये, न द्वेषको तथा न सुखके लालचको या दुःखके भयको ही; क्योंकि अभिमान और द्वेषपूर्वक किये हुए त्यागके संस्कार भी अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाले और कर्ताको सुख-दुःखके जालमें आबद्ध करनेवाले ही होते हैं।

उपर्युक्त रहस्यको समझना ही कार्य और अकार्यको समझना है; क्योंकि इसीमें बुद्धिकी सार्थकता है। तीसरा युग्म है—

भय और अभय

अब विचार करना है कि 'भय' किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कहाँसे होती है और उसका नाश कैसे हो तथा 'अभय' क्या है, वह कब और किस प्रकार प्राप्त होता है; क्योंकि भय किसीको भी अभीष्ट नहीं है और अभय मानव-मात्रकी स्वाभाविक आवश्यकता है।

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि अनुकूल परिस्थितिके वियोगकी और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेकी शङ्का होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है उसको भय कहते हैं। इसकी उत्पत्तिका कारण भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर और वर्तमान परिस्थितिका दुरुपयोग ही है। या यों समझो कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुख-भोगकी आशा करना, उनको अपना मानना और उनके संयोग या वियोगकी इच्छा करना है। जब मनुष्य विवेकका अनादर करके शरीर-में 'मैं' भाव कर लेता है, शरीरको ही अपना स्वरूप मान लेता है, जो विचार करनेपर सर्वथा अपनेसे भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, तभी वस्तु, व्यक्ति और अवस्था आदिके संयोग और वियोगमें सुखकी आशा और दुःखका भय उत्पन्न होता है। प्राप्त विवेकके प्रकाशमें विचार करनेपर यह सहज ही समझमें आ सकता है कि बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और इनका समूह यह शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सभी परिवर्तनशील हैं और मैं नित्य हूँ। ये सब जाननेमें आनेवाले और परप्रकाश्य हैं, मैं इनको जाननेवाला और स्वप्रकाश हूँ। ये जड हैं और मैं चेतन हूँ। ये विनाशशील हैं और मैं अविनाशी हूँ। अतः न तो शरीरके साथ मेरे स्वरूपकी एकता है और न जातिकी ही। इस कारण इसका और मेरा किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यह न तो मैं हो सकता हूँ और न यह मेरा ही हो सकता है। जब शरीर ही मेरा नहीं हो सकता, तब अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिसे मेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है।

इस विवेकका आदर करनेपर जब साधक इन सबसे सर्वथा निराश हो जाता है। इनपर जो अविवेकपूर्वक विश्वास कर लिया था, इनको अपना मान लिया था, वह नष्ट हो जाता है, तब उसका अपने नित्य साथी परम सुहृद् भयहारी भगवान्‌पर संदेहरहित अविचल विश्वास हो जाता है। विश्वास होते ही सब प्रकारके भयका सदाके लिये नाश हो जाता है; क्योंकि जो अपना नित्य साथी है, जिसके साथ साधककी जातीय और स्वरूपकी एकता है, उसके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेपर, उसको अपना मान लेनेपर प्रेमका प्राकट्य हो जाता है। फिर साधकको हरेकमें अपना प्रेमास्पद ही दिखायी देने लगता है, तब भय किससे और कैसे हो।

भयके अभावका ही नाम अभय है। साधारणतया मनुष्य प्राप्तबलके द्वारा भयका नाश करनेकी आशा और चेष्टा करता है, पर वास्तवमें सफल नहीं हो सकता। तथापि यह अभिमान कर लेता है कि 'मैं अभय हो गया हूँ, मुझे अमुक सामर्थ्य प्राप्त है। अतः मुझे किसीसे भी कोई भय नहीं है।' उस समय वह यह नहीं सोच सकता कि उस अभिमानके रहते हुए मैं अभय कैसे हो सकता हूँ जो भयका मूल है। यह भी नहीं समझता कि जिन वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्बन्धसे भय उत्पन्न हुआ है एवं जिनका वियोग अनिवार्य है उनके बलपर भला कोई अभय हो ही कैसे सकता है। अतः वह न तो भयहारी प्रभुका आश्रय ले पाता है और न निर्भय ही हो पाता है।

अतः साधकको चाहिये कि उस भयहारी भगवान्‌का आश्रय लेकर भयका समूल नाश कर दे और अपनेमें किसी प्रकार भी ऐसे अभिमानको स्थान न दे कि मैं अभय हो गया। यही भय और अभयका यथार्थ जानना है।

यदि यह प्रश्न उठे कि भयका सदुपयोग क्या है तो

इसका यह उत्तर हो सकता है कि 'मुझसे किसी भी प्राणीका अहित न हो जाय। मैं भूलसे भी किसीके प्रतिकूल व्यवहार न कर बैठूँ'—इस बातको लेकर डरता रहे अर्थात् सावधान रहे। किसीको भयभीत करना अर्थात् भय देना ही मानो भयका बीज बोना है जिसका फल भय होना अनिवार्य है। प्राणिमात्रको अभयदान देनेवाला स्वयं अभय हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है और यह भी नियम है कि निर्भयताका अभिमानी दूसरोंके लिये भयप्रद होता है। अतः वह कभी निर्भय नहीं हो सकता। इसलिये साधकके जीवनमें कभी किसी भी परिस्थितिमें निर्भयताका अभिमान नहीं होना चाहिये। भाव यह कि जीवनमें निर्भयता तो अचल और अखण्ड हो, पर 'मैं अभय हो गया हूँ' ऐसा भास न हो प्रत्युत निर्भयता स्वभाव हो जाय। इसीमें अभयकी अर्थात् भय-रहित होनेकी सार्थकता है। चौथा युग्म है—

बन्ध और मोक्ष

अब विचार यह करना है 'कि बन्धन क्या है, वह क्यों हुआ, उसका कारण क्या है तथा उसका नाश कैसे हो और मोक्ष किसको कहते हैं, उसकी प्राप्तिका क्या महत्त्व है ?'

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि हमें जो करना चाहिये वह नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिये उसे छोड़ नहीं सकते। दुःख भोगना नहीं चाहते; किंतु भोगना पड़ता है। सुख भोगना चाहते हैं; किंतु मिलता नहीं। इस प्रकार-की जो पराधीनता है यही बन्धन है, जिसके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिलती। सदैव क्रोध, लोभ और मोह आदिके आक्रमणोंसे आक्रान्त रहते हैं। इस बन्धनका एकमात्र कारण असावधानी यानी प्राप्त विवेकका अनादर और प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग है। दूसरे शब्दोंमें इसीको अज्ञान या अविवेक भी कहा जा सकता है। यह बन्धन कहीं बाहरसे नहीं आया है, हमने स्वयं ही शरीर, वस्तु और व्यक्ति आदिमें अहंता, ममता करके अपनेको वासनाओंके जालमें जकड़ रक्खा है। अतः इस बन्धनका नाश भी हम स्वयं ही कर सकते हैं और वर्तमानमें ही कर सकते हैं।

प्राप्तका सदुपयोग ही इसके नाशका सहज उपाय है जिसके करनेमें किसी प्रकार भी हम पराधीन या असमर्थ नहीं हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'हमें प्राप्त क्या है, और उसका सदुपयोग करना क्या है ?' तो विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका समूह यह शरीर तथा वस्तु, व्यक्ति और योग्यता आदि जिनको हमने अपना मान रक्खा है, ये सभी प्राप्तके अन्तर्गत हैं। ये सब वास्तवमें उसी अनन्तके हैं जिसका यह समस्त विश्व है। तथापि हमने इनको अपना मान लिया है, अतः इनको वापस लौटा देनेपर अर्थात् इनका सदुपयोग करके इनसे असङ्ग हो जानेपर और इनमें ममतारहित होनेपर ही हम इनके बन्धनसे छूट सकते हैं। ये सब जिसके हैं उसीकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उसीकी प्रसन्नताके लिये इन्हें लगा देना ही इन सबका सदुपयोग है, जिसका विस्तृत विवरण 'कर्तव्य'के विवेचनमें आ गया है।

यह नियम है कि हम जिनकी सेवा करते हैं उनकी ममता छूट जाती है। यद्यपि साधारण व्यवहारकी दृष्टिसे यह प्रतीत होता है कि सेवा करनेसे ममता बढ़ती है, घटती या छूटती नहीं; पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर अनुभवमें आ सकता है कि ममता बढ़नेका कारण उनसे सुख-भोगकी आशा करना अर्थात् उन्हें सुख-भोगकी वस्तु मानकर उनकी रक्षा और पोषण करना है, सेवा करना नहीं। सेवा तो वह है कि जिसकी सेवा की जाय उसके हितमें रति हो, उसे सुन्दर और निर्मल बनानेका भाव हो। इस दृष्टिसे शरीर और इन्द्रियोंकी सेवा श्रम, संयम और सदाचारमें, मनकी सेवा शुभ संकल्पोंमें और उसे विकल्परहित बनानेमें, बुद्धिकी सेवा उसे सम बनानेमें और अहंकी सेवा समर्पण भावमें निहित है; क्योंकि ऐसा करनेसे ही शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ, सुन्दर और निर्मल रह सकती हैं तथा मन भी शुद्ध और शान्त हो जाता है। बुद्धि स्थिर और वास्तविक निश्चय तथा निर्णय करनेमें समर्थ हो जाती है। फिर इन सबसे ममता नहीं रहती। इसी प्रकार जिन-जिन व्यक्तियोंको हम अपना मानते हैं, उनकी सेवा करनेसे और उनको सुखोपभोगका साधन न बनानेसे उनमें भी ममता नहीं रहती; क्योंकि सेवामें देना-ही-देना है, लेना नहीं है। किसीके अधिकारकी रक्षाके लिये तथा सुख देने और सम्मान देनेके लिये जो लेना है, वह देना ही है। अतः वह सेवा ही है। पर जो मान, बड़ाई या अन्य किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशासे तथा अधिकार, लालसा और अभिमानपूर्वक दिया जाता है वह देना भी लेना ही है, अतः वह सेवा नहीं है। इस कारण उससे ममताका नाश नहीं होता, अपितु ममता और आसक्ति बढ़ती है तथा बन्धन दृढ़ होता रहता है। जो यह समझते हैं कि सेवासे ममता बढ़ती है वे सुख-भोगको सुरक्षित रखनेके लिये किये जानेवाले कर्मका ही नाम सेवा रख लेते हैं।

कर्तव्यपालन अर्थात् प्राप्तका सदुपयोग जब सुख-भोगकी आशाका सर्वथा त्याग करके किया जाता है, तभी सेवा होती है। उससे ममताका बन्धन टूट जाता है। ममताका नाश होते ही राग और द्वेषका अन्त हो चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

चित्त शुद्ध होते ही संसारका सम्बन्ध छूटकर भगवान्से नित्य सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे सब प्रकारके विश्वास नष्ट होकर एकमात्र प्रभुपर ही अटल और संदेहरहित विश्वास हो जाता है, जिससे अहं गलकर उनके प्रेमके रूपमें बदल जाता है।

बन्धनसे छूट जाना ही मोक्ष है और इसके भी सुख-भोगकी आशा न करना मोक्षका सदुपयोग है। इसीको गीतामें मोक्षसंन्यास कहा है। इसका फल विशुद्ध प्रेम है।

मोक्षकी प्राप्तिका महत्त्व यही है कि उसके होते ही साधक अपने साध्यको पा लेता है, अर्थात् सीमित अहंभाव गलकर उस अनन्तमें मिल जाता है, जिसके किसी एक अंशमें यह समस्त विश्व है।

इस प्रकार गीताके श्लोकोंका मनन करके यदि साधक अपना साधन निश्चित कर ले और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो सहजमें ही सब प्रकारके बन्धनोंका नाश हो सकता है। साधकको चाहिये कि साधनमें सफलता देखकर न तो किसी प्रकारका अभिमान करे और न उसके सुखमें रमण ही करे; क्योंकि साधनजनित सुखमें रमण करनेसे साधनमें शिथिलता आ जाती है, साधनमें प्रगति नहीं होती और अभिमानसे अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होने लगती है। जिससे चित्त शुद्ध नहीं हो पाता तथा लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। इस कारण साधकको चाहिये कि सफलताको उस परम दयालु, परम हितैषी प्रभुकी कृपा समझकर उनका कृतज्ञ होता रहे। बार-बार अपने दोषोंकी ओर देखकर प्रभुकी महिमाकी ओर आकर्षित हो मनमें समझे कि उस प्रभुका कैसा मृदुल स्वभाव है जो कि मुझ-जैसे अधमपर भी वे इतनी कृपा करते हैं।

ऐसा करनेसे हृदयमें प्रेमकी लहर उमड़ेगी। हृदय पिघलेगा और निर्मल होकर प्रभुके प्रेमसे भरा रहेगा। जीवनकी सफलता इसीमें है कि शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदयमें प्रेमकी गङ्गा लहराती रहे और स्वयं अभिमानशून्य हो जाय। अर्थात् अपनेमें अपना कुछ न रहे।

श्रीराधिका-वन्दना

(रचयिता—श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराणतीर्थ)

वन्दौं श्रीवृषभानु किसोरी।
रूप शील लावण्य खानि गुन नागर नटवर चन्द्र चकोरी।
नेति नेति जेहि वदति सतत श्रुति गिरिधर अधर सुधारस बोरी॥
विकसित कनक कुसुम दल शत दुति रतिपति विरति निरख तन गोरी।
मृगमद बिंदु-भाल मधि भ्राजत नील निचोल अरुण सिर खोरी॥
शिव शुक अज सनकादिक दुर्लभ हरिरस सिन्धु मगन मन भोरी।
अभिनव गौर रमणि मणि मंडित राधारमण मनोहर जोरी॥

प्रार्थना

(रचयिता—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०)

प्रभो, दिखाओ अपना धाम।
जहाँ नहीं है क्रोध, लोभ, मद, ममता, मत्सर, काम॥
जहाँ नहीं है क्षुधा, पिपासा, स्वेद, शीत औ घाम।
जहाँ नहीं है काल-संकलित रात्रि, दिवस औ याम॥
जन्म-मरणके सतत भ्रमणसे जहाँ मिलै विश्राम।
जहाँ मुक्त जन गाया करते दिव्य गुणोंका ग्राम॥
जहाँ एकरस अक्षय धन है देव! तुम्हारा नाम।
जहाँ तुम्हारे दर्शनका सुख नाथ सदा उद्दाम॥

शान्तिकी शक्ति

(संत श्रीविनोबाजीका आंध्रमें एक प्रवचन)

आंध्रदेशके निवासियोंके हृदयमें कितनी शक्ति पड़ी है इसका भान हमें रोजकी प्रार्थनासे होता है। हर रोज बच्चे, बड़े सब पाँच मिनटतक अत्यन्त शान्तिसे मौन चिन्तन करते हैं। यह एक बड़ी शक्ति है। अपने खुदपर काबू रखनेकी शक्तिसे बढ़कर दुनियामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। दुनियाको जीतनेवाले बड़े बहादुर कहलाये गये; लेकिन अपनी इन्द्रियाँ तथा मन आदिको जीतनेवाले, उनको वशमें करनेवाले वीर नहीं बल्कि महावीर होते हैं। यह जमाना ऐसा आया है कि इसमें इन्द्रियनिग्रह और मनःसंयमका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आज अगर हम अपनी कृतिको काबूमें रखते हैं और ठीक विचारसे काम करते हैं तो सारी दुनियाकी सेवा कर सकते हैं। आज दुनियाके देशोंके बीच परस्पर सम्बन्ध इतना दृढ़ हो गया है कि किसी देशके मनुष्यकी अच्छी कृति सीमित नहीं रहेगी, बल्कि देश-देशमें फैल जायगी और अगर हम अपनेपर काबू नहीं रख सकेंगे, कुछ गलत काम कर लेंगे तो वह गलती और वह पाप भी सीमित नहीं रहेगा, व्यापक हो जायगा। ऐसी हालतमें हरेक देशके नागरिकोंपर और ग्रामीणोंपर व्यक्तिगत और सामूहिक तौरपर बड़ी भारी जिम्मेवारी आती है।

खास करके हिंदुस्थानके नागरिकों और ग्रामीणोंपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी आती है। इस देशकी प्रसिद्धि है कि इसके इतिहासभरमें जिस प्रकारकी वृत्ति दीखती है उसके परिणामस्वरूप यहाँपर जो आजादीकी लड़ाई लड़ी गयी, वह भी एक विशेष ढंगसे लड़ी गयी। और उसके बाद हमारे नेताओंने विश्वशान्तिके लिये सतत प्रयत्न किया। इस तरह भारतका विशेष प्रकारका इतिहास, आजादीकी अहिंसात्मक लड़ाई और स्वराज्यप्राप्तिके बाद इस देशका विश्वशान्ति और हरेक देशकी आजादीके पक्षमें आवाज उठाना—ये तीनों चीजें हमारी जिम्मेवारी बढ़ाती हैं और उसके कारण हमारे देशमें बड़ी ताकत बढ़ेगी बशर्ते कि हम इस महिमाको समझ सकें। इसलिये हम अपने भाइयोंसे बार-बार कहते हैं कि आप छोटे नागरिक नहीं हैं, आप विश्वनागरिक हैं। वैसे हिंदुस्थान स्वयं कोई छोटा देश नहीं है। यह तो एक विश्व-समाज है, विश्वमें जितनी विविधताएँ मौजूद हैं उतनी भारतमें मौजूद हैं। तो इतनी विविधताओंके साथ अगर हमने ठीक कदम उठाया जिससे कि हमारा समाज शान्तिके तरीकेसे उन्नति प्राप्त कर सके तो उसका दुनियापर बहुत असर होगा। दुनियापर भला या बुरा, दोनों प्रकारका असर डालनेकी शक्ति आज हिंदुस्थानमें है। यह भी कबूल करना पड़ेगा कि यद्यपि हम विश्वशान्तिकी आवाज उठाते हैं फिर भी हमारे देशमें समस्याएँ कम नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि ऐसी समस्याएँ मौजूद हैं, इसीलिये हमारी विश्वशान्तिकी इच्छाकी कीमत बढ़ती है। अगर समस्याएँ नहीं होतीं तब तो स्वाभाविक ही शान्ति रहती। जब सारा समाज सुखी है, किसी प्रकारकी विषमता नहीं है, सब लोगोंमें परस्पर सहयोग है, उच्च-नीचता नहीं है, समृद्धि है तब तो देशमें शान्ति रहना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जहाँ विषमता मौजूद है, सामाजिक उच्च-नीचता भी पड़ी है, मजदूर-मालिकका भेद पड़ा है, एक तरफ बड़े-बड़े अमीर और दूसरी तरफ गरीब दुखी लोग मौजूद हैं, पैदावार कम है—ऐसी हालतमें अगर हम शान्ति रखते हैं तो उस शान्तिकी बहुत कीमत है।

जब मैं शान्तिकी बात कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि समाजमें इतने दुःख होते हुए भी सहन करते चले जाना, गरीबोंके प्रति सहानुभूति नहीं रखना, अड़ोसी-पड़ोसियोंकी परवा नहीं करना और समस्याओंके हलका उपाय नहीं ढूँढ़ना, बल्कि मैं ऐसा कहूँगा तो कोई मेरी बात मानेगा भी नहीं। यह असम्भव वस्तु है कि समाजमें अनेक प्रकारके दुःख और विषमता मौजूद होते हुए भी उसके लिये कोई प्रयत्न न करें तो भी समाजमें शान्ति रहेगी। अगर ऐसा सम्भव हुआ और बुरी हालतमें भी समाज शान्त रहा तो मैं उसे तमोगुणी समाज, जड समाज, मानवतासे गिरा हुआ समाज कहूँगा। मैं जानता हूँ कि हिंदुस्थानमें ऐसे वेदान्ती मौजूद हैं जो कहते हैं कि ये सारे सुख-दुःख मिथ्या ही हैं। इसलिये उनकी परवा क्यों करते हो? हमेशा शान्त रहना चाहिये। लेकिन ऐसे जितने लोग मैंने देखे हैं उनके खाने-पीनेका ठीक इन्तजाम होता था। या तो वे समाजमें भिक्षा माँगते थे और समाज इतना दुखी होनेपर भी ऐसे पुरुषोंके लिये आदर रखता था और उन्हें खिलाता था। या तो उनमेंसे कुछ अमीर होते हैं या उनके हाथमें ऐसे धंधे हैं कि वे इधर समाजको चूसते रहते हैं और उधर

दुनियामें शान्तिका और निवृत्तिका पाठ गाते रहते हैं। हम समझते हैं कि यह वेदान्त नहीं है। यह वेदान्तके बिल्कुल विपरीत भाव है। यह तो दम्भकी पराकाष्ठा है—ऐसा हम समझते हैं। इसमें या तो आत्मवञ्चना है या परवञ्चना। वेदान्ती तो वह होगा जो कि खुद शान्त रहकर सारे समाजके दुःख-निवारणके लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो अपने स्थानमें खाने-पीने बैठा है, कुछ सेवाकार्य नहीं करता है, उसे हम वेदान्ती नहीं समझते हैं; बल्कि हम समझते हैं कि वह भारभूत प्राणी है। जो सचमुचमें आत्मानुभवी पुरुष होता है वह तो निरन्तर कृति करता रहता है। कहा गया है 'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।' वसन्त ऋतुके समान लोक-हितके लिये सतत घूमता रहता है। अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता है। सेवा करनेमें ही समाधान चाहता है। फलकी आकाङ्क्षा नहीं रखता है और सब लोगोंके दुःख-निवारणमें मातृवत् वात्सल्यसे लगा रहता है। इतनेपर भी जिसके चित्तमें आसक्ति नहीं रहती है, जब ऊपरसे बुलावा आता है, तब खुशीसे जानेके लिये प्रस्तुत रहता है। ऐसा जो निरन्तर सेवक है, वही निवृत्तिमार्गी है, वेदान्ती है। जैसे कोई मनुष्य अत्यन्त वेगसे चलता हो तो हमें भास होता है कि वह स्थिर है। वैसे ही जो निरन्तर कर्मयोगी सेवक है वह निवृत्त मालूम होता है। अगर कोई यन्त्र काम ही न कर रहा हो, ऐसे ही पड़ा हो तो वह निकम्मा हो जाता है। उसपर जंग चढ़ता है और वह बैठे-बैठे ही खत्म हो जाता है। हम अपने घरमें ऐसे ही बैठे हों तो भी बारह बजे भूख लगती है। बैठे-बैठे ही पाँव थक जाते हैं तो चलनेकी इच्छा होती है। चलते-चलते थकान मालूम होती है तो फिर बैठनेकी इच्छा मालूम होती है। फिर सोनेकी इच्छा होती है। फिर सोनेकी भी थकान मालूम होती है; क्योंकि सोनेमें भी काम होता है, शरीरमें खूब क्रियाएँ चलती हैं, पचन-क्रिया चलती है। इस तरह शरीरसे निरन्तर कर्म चल रहा है। खाना-पीना नहीं रुक रहा है। सिर्फ गरीबोंकी चिन्ता छोड़ दी, इसे क्या वेदान्त कहते हैं? इसलिये हिंदुस्थानमें निवृत्तिका जो गलत अर्थ किया जाता है, हम समझते हैं कि समाजके लिये यह खतरा है। निवृत्तिमार्गियोंके शिरोमणि शङ्कराचार्य हिंदुस्थानभर घूमते रहे। गाँव-गाँव और घर-घर जाकर लोगोंमें ज्ञान बाँटते रहे। इस तरह निरन्तर परिश्रम करके बत्तीस सालकी उम्रमें वे चले गये।

हिंदुस्थानमें शान्तिका यह जो गलत अर्थ निकला है वह शान्ति नहीं है, बल्कि जडता है। पत्थर यों ही पड़ा है, उसमें कोई ऊर्मि नहीं उठती, तो क्या वह शान्त है? मैंने कई दफा कहा है कि शान्ति तो विष्णुभगवान्‌के-जैसी होनी चाहिये। 'शान्ताकारं भुजगशयनम्।' साँपकी शय्यापर सोते हुए भी वे शान्त रहते हैं। रूईकी गद्दीपर सोकर शान्त रहनेमें क्या शान्ति है? जहाँ समस्याएँ मौजूद हैं और उन समस्याओंके निवारणके लिये कोशिश की जा रही है, वहींपर शान्तिकी कीमत है। अगर शान्तिका अर्थ यह हो कि स्टेट्सको रखना, आजके-जैसे समाजको कायम रखना तो वह शान्ति बिल्कुल निकम्मी है। हिंदुस्थानमें इतनी समस्याएँ, दुःख और विषमता मौजूद हैं तब भी मैं आपको शान्ति रखनेके लिये कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप दुःख सहन करते रहें बल्कि उसका अर्थ यह है कि आपको वीर पुरुषके समान उनका मुकाबला करना चाहिये। लेकिन उन समस्याओंका निवारण शान्तिके तरीकेसे करना चाहिये और यह दिखा देना चाहिये कि शान्तिमें शक्ति पड़ी है और उससे समस्याएँ हल हो सकती हैं। आजतक लोगोंने माना है कि अगर शान्ति है तो समस्याएँ जारी रहती हैं, हल नहीं होती हैं और अगर उन्हें हल करनेकी कोशिश होती है तो खूनकी नदियाँ बहती हैं। यानी जहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न होता है, वहाँ शान्ति नहीं रहती है और जहाँ शान्ति रहती है वहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न नहीं होता है। इस तरह दोनोंमेंसे एक चीज होती है—यह मानना बिल्कुल गलत विचार है। समस्या-निवारणके साथ शान्ति होनी चाहिये, शान्तिके तरीकेसे समस्याओंका हल निकालना चाहिये या दूसरी भाषामें हम कहेंगे कि शान्ति आक्रमणकारी होनी चाहिये। यानी वह शान्ति किसी एक हृदयके अंदर छिपी हुई नहीं रहनी चाहिये। मेरे नजदीक बैठे हुए किसी मनुष्यको बिच्छूने काटा और मैं वैसे ही बैठा रहा, मुझे कुछ करनेकी प्रेरणा नहीं हुई तो वह कोई शान्ति नहीं है। यह तो करुणाका अभाव है, निष्ठुरता है, जरा सोचनेपर कहेंगे कि यह स्वार्थ है, आलस्य है और आगे बढ़कर मैं कहूँगा कि यह दम्भ है। मुझे दुखियोंकी सेवामें दौड़ना चाहिये और दौड़ते हुए भी मनमें शान्ति रखनी चाहिये। यह सच्ची शान्ति होगी।

शान्तिके तरीकेसे दुःखनिवारणकी कोशिश करेंगे, समस्याएँ हल करेंगे तो हम शान्तिकी शक्तिको प्रकट करेंगे तब शान्तिका राज्य होगा। मैंने कई दफा कहा है कि आज

दुनियामें शान्ति नहीं है सो बात नहीं; परंतु शान्ति स्वामिनी नहीं है, वह दासी है। आजकी समाज-रचनामें भी कुछ सेवाका काम चलता है, लेकिन बिल्कुल गौणरूपसे चलता है। इधर लड़ाइयाँ चलती हैं और उधर सेवा-शुश्रूषा करनेवाला थक भी जाता है। हम कबूल करते हैं कि उसमें दया है, सेवा है; लेकिन उस दयामें शक्ति नहीं है। वह दया युद्ध-निवारण नहीं कर सकती। वह तो युद्धका एक अङ्ग ही है। इस तरह दासीके तौरपर आज भी शान्तिका, दयाका, सेवाका कुछ काम चलता है। परंतु हम चाहते हैं कि शान्ति, सेवा और दया स्वामिनीके सदृश काम करें, उनका राज्य हो। हिंदुस्थानमें कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें दुखियोंका दुःख देखकर या सुनकर दया आती है और उनकी आँखोंसे आँसू भी बहते हैं; लेकिन उन्हें दुःखनिवारणके लिये दौड़ जानेकी प्रेरणा नहीं होती। हम कहना चाहते हैं कि वह दया बिल्कुल आरम्भ की है, वह करुणा नहीं है। जिसमें करनेकी प्रेरणा होती है, वह करुणा है।

बुद्धभगवान्‌को चालीस उपवासके बाद दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि आसमानमें परमेश्वरकी करुणा फैली हुई है। यह आसमान परमेश्वरकी कृपाका लक्षण है। वह चुप नहीं बैठता। दिखता तो है बड़ा शान्त, लेकिन हमारे लिये पानी बरसाता है, सूरजकी किरणें भेजता है। हवाको इधरसे उधर दौड़ाता है। अगर वह यह सब नहीं करता तो हमारी क्या हालत होती? इसलिये इस आकाशको हम परमात्माका चिह्न समझेंगे; क्योंकि वहाँपर अत्यन्त व्यापक करुणा फैली हुई है। बुद्धभगवान्‌को यह दर्शन हुआ, फिर उन्होंने तपस्या छोड़ दी और वे घूमने निकल पड़े। गाँव-गाँव जाकर वे लोगोंकी सेवा करते थे, उन्हें उपदेश देते थे। एक दिन उनका एक शिष्य एक आदमीको उनके पास ले आया और उसने भगवान्‌से कहा कि इसे उपदेश दीजिये। भगवान् बुद्ध उस जमानेके परम ज्ञानी थे और उनके मुखसे हमेशा करुणामय उपदेश स्रवित होता था; लेकिन उन्होंने उस मनुष्यके चेहरेकी तरफ देखकर पूछा कि 'क्या इसने खाना खाया है?' और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसने नहीं खाया है तो उन्होंने शिष्योंसे कहा कि 'इसे खाना खिलाओ।' जब शिष्योंने उसे खाना खिलाकर भगवान्‌के सामने उपस्थित किया, तब भगवान्‌ने उसे प्रणाम करते हुए कहा कि 'आप अब जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ जा सकते हैं।' शिष्योंको बड़ा आश्चर्य लगा कि भगवान्‌ने उसे बोधामृत क्यों नहीं दिया। तो भगवान्‌ने उनसे कहा कि भूखेको अन्न खिलाना—यही बोध-दान है। उन्होंने बोध-दान अपने शिष्योंको दिया। उनसे कहा—'तुमलोग कितने मूर्ख हो कि भूखेको, दुखीको देखकर उपदेशकी बात करते हो। भूखेको खाना खिलाओ तो एक शब्द बोले बिना उसे ज्ञान हो जायगा। जिसका हमारे साथ कोई रिश्ता नहीं है, ऐसा एक मनुष्य प्रेमसे हमारी सेवा करता है तो वह सेवासे बोध देता है, वह सेवा ही बोलती है।' इसलिये भगवान्‌ने शिष्योंसे कहा कि 'तुम्हारे लिये बोध है और उसके लिये अन्न। तुम्हें अन्न मिल रहा है, लेकिन उसे नहीं मिल रहा है; इसलिये उसके लिये पहला बोध है अन्न।'

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'। गुरुने शिष्यको पहला बोध दिया कि अन्न ही ब्रह्म है। मैं यहाँपर कोई आधुनिक अर्थ-शास्त्रका वाक्य नहीं कह रहा हूँ। मैं तो ब्रह्मविद्याका, उपनिषद्‌का वाक्य सुना रहा हूँ। ब्रह्मविद्याके ऋषि उपदेश देते हैं—'अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्' खूब अन्न पैदा करो। इन दिनों हमारी सरकार भी 'अधिक अन्न उपजाओ' कहती है। उपनिषद् भी यही बात कह रहा है; क्योंकि उपनिषद् जानता है कि ब्रह्म क्या है। ब्रह्म यानी भ्रम नहीं है, ब्रह्म वस्तु है। इसीलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्राप्ति होती है। समाजकी समस्याएँ अगर शान्तिसे हल होती हैं तो समाजको ब्रह्मदर्शन होता है, समाज ऊपर उठता है। फिर समाजमें चोरियाँ नहीं होतीं। चोरियोंको दूर करनेके लिये उपदेशकी—किताबोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि इस बातकी जरूरत है कि हम अपनेको समाजका अंश समझें और अपनेमें सारे समाजको देखें। बहुत-से लोग कहते हैं कि हम अपनी मुक्तिकी कोशिश करते हैं; लेकिन हम उनसे कहते हैं—जहाँ आपने 'हमारी' कहा, वहाँ मुक्ति आपसे दूर भाग गयी। क्या तुम बँधे हुए हो? तुम तो मुक्त ही हो। जहाँ मुक्तिकी कोशिश की जाती है, वहाँ वह दूर भागती है। हमारा एक मित्र तपस्या करनेके लिये जंगल गया, लेकिन बीचमें मेरे पास आकर दस रुपये माँगने लगा। कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि उपनिषद्‌की पुस्तक खरीदनेके लिये रुपयेकी जरूरत है। यानी ब्रह्मविद्या भी दस रुपयेके शरण आयी; क्योंकि उसने समझा कि मुझे इतना ज्ञान सम्पादन करना है। हम कहते हैं कि तुम अपनी निजकी चिन्ता छोड़ दो और समाजकी सेवामें लग जाओ। 'मेरे शरीरकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है। 'मेरे मनकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है; 'मुझे खूब पढ़ना-लिखना सीखना है' यह कहना भी बन्धन है।

'मुझे खूब शान्ति मिलनी चाहिये' यह कहना भी बन्धन है। 'मुझे' और 'मेरा' यह सब छोड़ दो, समाजकी सेवामें लग जाओ; मेरे पास जो कुछ है, वह समाजका है, मेरा नहीं है—ऐसा समझें। हम खायेंगे, पीयेंगे, सोयेंगे समाजकी सेवाके लिये। इस तरह हर चीज समाजकी सेवाके लिये हो, अपने लिये हम कुछ भी न करें। मेरा जो यह शरीर है, वह भी मेरा नहीं है, समाजका है। वह समाजमेंसे निर्मित हुआ है। वह उसीकी सेवामें लगेगा और उसीमें क्षीण हो जायगा। यह शरीर जन्मेगा, काम करेगा और मरेगा; वह जाने और समाज जाने। मेरा इस शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको मुक्ति कहते हैं। जहाँ मुक्तिके लिये प्रयत्न होता है, वहाँ वह भी एक स्वार्थ बनता है। इसलिये हम अपनेको शून्य समझें, समाजमें खुदको लीन कर दें, तब हमारा बेड़ा पार होगा और समाजका भी बेड़ा पार होगा। गीतामें कहा है 'अनिकेतः स्थिरमतिः।' जिसकी बुद्धि आत्मविचारमें स्थिर हो गयी है और शरीर निरन्तर सेवाका कार्य करता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंके कार्यके परिणामस्वरूप शान्तिमें शक्ति आयेगी और शान्तिसे समाजकी समस्याएँ हल होंगी। तो फिर हमें भी मुक्ति प्राप्त होगी और समाजको भी मुक्ति प्राप्त होगी।

हमें समझना चाहिये कि अब हमारे देशको एक बड़ा मौका मिला है, जैसा पिछले दो हजार वर्षोंमें नहीं मिला था। हमें ऐसा मौका मिला है कि जिसमें हम दुनियाकी सेवा कर सकते हैं और अपनी आवाज दुनियामें पहुँचा सकते हैं, कुल दुनियाको परमेश्वरका निवासस्थान बना सकते हैं। यह मौका भी है और साथ-साथ जिम्मेवारी भी है। इसलिये आप भूदान-यज्ञकी तरफ इस दृष्टिसे मत देखिये कि इसमें भूमिका मसला हल होनेवाला है, बल्कि इस दृष्टिसे देखिये कि मसला हल करनेके लिये शान्तिका तरीका जब हाथ आ गया, तब विश्व-शान्तिकी कुंजी हाथ आयेगी और आत्मशान्तिकी भी कुंजी हाथ आयेगी। इसलिये हम हरेकसे कहते हैं कि तुम्हारे पास जो कुछ जमीन, सम्पत्ति, बुद्धि आदि है, उसका एक हिस्सा अपने पड़ोसीके लिये दान दे दो तो जिसको वह दिया जायगा, उसकी भी समृद्धि बढ़ेगी और तुम्हारी भी बढ़ेगी; किसीको दुःख नहीं होगा, दोनों सुखी होंगे। हम साढ़े चार सालसे यही संदेश सुनाते हुए घूम रहे हैं; लेकिन हम जाहिर करना चाहते हैं कि हमें कोई थकान महसूस नहीं होती। हम यह भी कहना चाहते हैं कि हमें परिपूर्ण शान्ति लब्ध है। लेशमात्र भी चिन्ता हम नहीं महसूस करते। रातको बिस्तरपर पड़ते हैं तो निद्रा आनेमें दो मिनट भी नहीं लगते। हमारा उत्साह दिनोंदिन बढ़ रहा है। हमें यह अनुभव इसलिये हो रहा है कि इससे अपने देशकी और दुनियाकी समस्याएँ हल हो रही हैं, लोगोंमें शान्तिकी शक्ति बढ़ रही है।

उधर दुनियामें—दूसरे देशोंमें अशान्तिकी शक्तियाँ बढ़ रही हैं, ऐटम और हाईड्रोजन बम बन रहे हैं; लेकिन अशान्तिकी शक्ति एक दूसरेको अशान्त ही बनाती है। दोनों आग लगायें तो दोनोंकी आगसे पानी नहीं पैदा होता, बल्कि आग बढ़ती है। इसलिये अब दुनियाके उन लोगोंके मनमें भी शङ्का पैदा हो रही है, जो कि अशान्तिमें विश्वास रखते थे। अब वे कहने लगे हैं कि शस्त्र छोड़ने चाहिये, शान्तिकी जरूरत है; परंतु दोनों कहते हैं कि सामनेवाला छोड़ेगा तो हम छोड़ेंगे। अबतक वे ऐसी बातें भी नहीं बोलते थे, लेकिन अब कम-से-कम एक टेबलपर आमने-सामने बैठकर बात तो करते हैं। बुल्गेनीन भारतमें शान्तिके लिये आये थे। वैसे रशियाकी तुलनामें हिंदुस्थानके पास कोई ताकत नहीं है, लेकिन वे प्रेमसम्पादन करनेके लिये यहाँ आये थे। यद्यपि वे भयके कारण ही प्रेमसम्पादन करने जा रहे हैं फिर भी हम उन्हें दोष नहीं देते; क्योंकि अबतक वे भयके कारण द्वेष ही करते थे। भय तो पहले भी था और आज भी है। लेकिन पहले भयसे प्रेरित होकर द्वेष करते थे और अब प्रेम करने लगे हैं तो हमें अच्छा लगता है। हम कहते हैं कि ठीक है, बच्चा अब बोलने लगा है। बोलते-बोलते किसी दिन करने भी लगेगा। लेकिन जब वे भय छोड़ेंगे और प्रेम करेंगे, तब शान्तिकी शक्ति पैदा होगी।

आज हम बहुत कमजोर हैं। फिर भी हम देखते हैं कि हमारी प्रार्थनामें हर रोज सब लोग पाँच मिनट मौन रखते हैं। दुनियाभरमें कहा जाता है कि बच्चे तो बंदरकी जातिके होते हैं। लेकिन हमारे देशके बच्चे भी पाँच मिनट मौन रखते हैं। यही हमारे देशकी शक्ति है, जिसको हम विकसित करना चाहते हैं। दुनियाके लोगोंको आश्चर्य लगता है कि बाबाको माँगनेसे जमीन कैसे मिलती है। यह दान इसलिये मिलता है कि प्रेमसे माँगा जाता है। प्रेमसे माँगनेपर हृदय खुलता है और हृदयकी ज्योति दूसरे हृदयमें फैलती है। हिंदुस्थानमें यह जो प्रेम है, उसे हम अपनी शक्ति समझते हैं और उस शक्तिको विकसित करना चाहते हैं, प्रकाशित करना चाहते हैं, उसे बाहर लाना चाहते हैं।

(प्रेषक—बाबा श्रीराघवदासजी)

इस दैवी सिनेमाका संचालक कौन है ?

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

संध्या-कलवारिन का आना,
दिन ढलते दुकान लाना;
लाल-लाल अपनी मदिरा का,
विज्ञापन वह झलकाना।
मेघों का भी छैला बन-बन,
इधर-उधर आ डट जाना;
वायु-सखी का सेवा करना,
दौड़-धूप निज दिखलाना ॥१॥

धीरे-धीरे महफ़िल में फिर,
निशा-नटी का भी आना;
संध्या का आगे बढ़ना,
सोने का प्याला रख जाना।
लाकर प्याला अधर-पुटों तक,
निशा-नटी का नखराना;
हँस-हँस फिर स्वर्गीय लाल,
रस का वह प्याला पी जाना ॥२॥

क्षण में दृश्य बदलना सब,
फिर रंग निशा पर चढ़ आना;
महफ़िल का भी तन्मय होना,
निशा-रंगमें रँग जाना।
रङ्गभूमि में उतर निशा का
रूप-जाल वह फैलाना;
समयोचित सब साज साज कर,
कला अलौकिक दिखलाना ॥३॥

झूम-झूम मोती के झुप्पे
सिर पर चम-चम चमकाना;
झमक-झमक कर झरनों से,
सरिताओं पर पग थिरकाना।
घुमड़-घुमड़ वह हवा बीच
फिर नाच दिखाना मस्ताना;
हरकर सब की सुध-बुध सब पर
जादू-सा कुछ कर जाना ॥४॥

चंद्र-कुँअर के चित्त-पटल पर
निशा-रूप वह गड़ जाना;
प्रेम-पाश में पड़कर उसका
दिन-दिन घुलते दिखलाना।
फूलों का खिल-खिल हँसना
कलियोंका उँगली चटकाना;
लतरों का भी इतरा-इतरा
कर अपनी कटि मटकाना ॥५॥

पुत्र चंद्र की देख दशा यह
सिन्धुदेव का घबराना;
हा हा कर आगे को बढ़ना,
फिर पछाड़ खा गिर जाना।
शैलों का तब धैर्य बँधाना,
दृढ़ता के गुण समझाना;
देख दशा यह दसो दिशाओं
का चित्रित-सा रह जाना ॥६॥

इधर निशा का नाटक सारा
अब समाप्ति पर आ जाना;
चंद्र देव का निशा-विदाई
पर व्याकुलता दिखलाना।
दोनों का जी भर-भर रोना,
सौ-सौ आँसू ढरकाना;
फिर दोनों का अपने उतरे
चेहरे ले-ले घर जाना ॥७॥

आखिर उषा-कुमारी का फिर
किरणों की झाड़ू लाना;
गगनाङ्गण के बिखरे सब
मोती बटोर कर ले जाना।
फिर अन्तिम प्रणाम प्राची का
स्वर्णाक्षर में दिखलाना;
औ प्रकाश होते ही सब में
चहल-पहल-सी मच जाना ॥८॥

यों स्वर्गीय सिनेमा के सब खेल मनोहर रोजाना;
कौन दिखाता है बैठा माया-मशीन पर वह स्याना।
है वह कौन अदृश्य, दृश्य जो दिखलाता यह मनमाना;
कभी उधर भी दृष्टि फिरी क्या, कभी उसे भी पहचाना ॥ ९ ॥

शान्ति कैसे मिलती है ?

(लेखक—अनिकेत अनन्त श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। जो लोग इसे पाते हैं, वे धन्य हैं। मानव-जन्म मिलनेपर भी इष्टकी भक्ति और भी दुर्लभ बतायी गयी है; इसलिये बिजलीकी तरह चञ्चल परंतु दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भक्तिपूर्वक इष्टका भजन करना चाहिये। जबतक बुढ़ापा नहीं आता, मृत्यु भी जबतक नहीं आ पहुँचती और इन्द्रियाँ जबतक शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक इष्टकी आराधना कर लेनी चाहिये। यह शरीर नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है। विचारवान् मनुष्य इसपर कभी विश्वास न करें।

'बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते ?'

मृत्यु सदा निकट रहती है। धन-वैभव अत्यन्त चपल है तथा शरीर कुछ ही समयमें मृत्युका ग्रास बन जानेवाला है। संयोगका परिणाम वियोग ही है। यहाँ सब कुछ क्षणभङ्गुर है—यह विचारपूर्वक निश्चितरूपसे जानकर जन्म-मृत्यु-हर इष्टकी पूजामें तत्पर रहना चाहिये। वे इष्ट ही अज्ञानी जीवोंको अज्ञानमय बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। इष्टके भजनसे सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा मनकी शुद्धि होती है। इष्टके पूजित होनेपर मनुष्य परम मोक्षतक प्राप्त कर लेता है।

सब कर्मोंको सिद्ध करनेवाले मानव-जन्मको पाकर भी जो मनुष्य इष्टकी सेवा नहीं करता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है। 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः'। सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः' के रहते हुए भी मनुष्य ज्ञानरहित होकर नरकोंमें पकाये जाते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! जिससे मल-मूत्रका स्रोत बहता रहता है, जिसे प्रतिदिन बहुत बार जल एवं मिट्टीसे साफ करते रहनेपर भी जो साफ नहीं रहता, ऐसे इस मलिनताके घर शरीरमें अज्ञानी मनुष्य महान् भोगेच्छासे आच्छन्न होनेके कारण शोभनताकी भावना करते हैं और इस क्षणभङ्गुर शरीरमें नित्यताका निश्चय करते हैं! जो मनुष्य मल, मूत्र, मांस तथा रक्त आदिसे भरे हुए इस अपवित्र शरीरको पाकर संसार-बन्धनका नाश करनेवाले इष्टका भजन नहीं करता, वह तो गजमूर्ख है और महान् अभागा तथा महापातकी है। मूर्खता या अज्ञान अत्यन्त कष्टकारक है, महान् दुःख देनेवाला है; परंतु इष्टके भजनद्वारा चाण्डाल भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त करके महान् सुखी हो जाता है। ज्ञानशून्य मनुष्य पशु कहे गये हैं। अतः संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये इष्टके भजनद्वारा परम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानशून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्तिताः।
तस्मात् संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत्॥

जो अध्यात्मज्ञानसे सम्पन्न तथा इष्टरूपी परमात्माकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे पुनरावृत्तिरहित परमधामको पा लेते हैं। जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, जिनसे चेतना पाकर यह जीवित रहता है और भोगावसानमें जिनके भीतर ही इसका लय होता है, वे परमात्मा ही संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले हैं। जो अखण्ड अनन्त परमेश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण-से प्रतीत होते हैं, उन परमात्माकी आराधना करके मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर अखण्ड शान्ति पा जाता है।

कर्मसे देह मिलता है। देहधारी जीव भोगोंकी कामनासे बँधता है। कामनासे भोग प्राप्त करनेके लिये वह लोभके वशीभूत हो जाता है और लोभकी वस्तु प्राप्त करनेमें बाधा प्राप्त होनेसे क्रोधके अधीन हो पड़ता है। क्रोधसे हिताहित-विवेकका नाश होता है। हिताहित-विवेकके नाशसे बुद्धि बिगड़ जाती है और जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप करने लगता है। अतः देह ही पापकी जड़ है तथा उसीकी पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह इस देहात्मबुद्धिका परित्याग करके अखण्ड चेतनात्म-बुद्धिमें स्थित होकर परम शान्ति (अभय) प्राप्त करनेके लिये इष्टरूपी परमात्माका भजन करे। जो ब्रह्माजीके रूपमें सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, विष्णुरूपसे पालन तथा रुद्ररूपसे संहार करते हैं; जो तीन रूपोंसे लीला करते हैं, जिनके प्रभावसे महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, उन नित्यानन्दस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माको ही मोक्षदाता जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये। सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनसे भिन्न नहीं है—जैसे स्वर्णालङ्कार स्वर्णसे भिन्न नहीं होता, तथा जो रोग, शोक, जरा और मृत्युसे सदा परे हैं, उन स्वयंप्रकाश एकरस सदानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके मनुष्य दुःखसे मुक्त होकर चिर शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो विकाररहित, अजन्मा, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निरञ्जन, ज्ञानरूप तथा सच्चिदानन्दघन हैं, देवगण जिनके अवतार-स्वरूपकी सदा आराधना करते हैं, वे परमात्मा ही मोक्षदाता हैं—यों जान-

कर उनकी आराधना करनेपर जीव नित्यशान्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है। जो निर्गुण होकर भी सम्पूर्ण गुणोंके आधार हैं; लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य आदि विविध रूप धारण करते हैं और सबके हृदयाकाशमें क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान तथा मृत्पात्रोंमें मृत्तिकावत् सर्वत्र परिपूर्ण हैं; अद्वितीय होनेके नाते जिनकी कहीं भी उपमा नहीं है तथा जो सबके आधार हैं ठीक जिस प्रकार जल तरङ्गोंका आधार है, उन परमात्माकी शरणमें जाकर जीव अपनी खण्डबुद्धि खोकर परम शान्ति प्राप्तकर धन्य हो सकता है। जो अद्वैत, निर्गुण, नित्य, अद्वितीय, अनुपम, परिपूर्ण तथा ज्ञानमय ब्रह्म हैं; जो आनन्दस्वरूप, जरारहित, परमज्योतिर्मय, सनातन तथा परात्पर ब्रह्म हैं, उन्हींको साधुपुरुष परम शान्ति-का—मोक्षका साधन मानते हैं। जो सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करनेवाला, शम-दम आदि गुणोंसे युक्त और काम आदि दोषोंसे रहित है, ऐसा योगी योगमार्गकी विधिसे उस परम तत्त्वकी उपासना करके परमात्माका सुप्रसिद्ध परमपद प्राप्तकर परम शान्तिको पा लेता है।

इस असार संसारमें केवल परमात्मा इष्टकी आराधना ही सत्य है। यह संसार-बन्धन अत्यन्त दृढ़ है और महान् मोहमें डालनेवाला है। इष्टभक्तिरूपी कुठारसे इसको काटकर जीव अत्यन्त सुखी हो सकता है। वही मन सार्थक है, जो इष्टके चिन्तनमें लगता है तथा वे ही दोनों कान धन्य हैं, जो इष्ट-कथामृतकी सुधाधारासे परिपूर्ण रहते हैं। जो आनन्दस्वरूप, अक्षर और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे रहित तथा हृदय-गुहामें सदा विराजमान हैं, उन्हीं परमात्माका निरन्तर भजन करनेवाला जीव चिरशान्ति पा लेता है। यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् केवल भावनामय है और बिजलीके समान चञ्चल है। अतः इसकी ओरसे विरक्त होकर परमात्माका भजन करना चाहिये। जिनमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्ष्याका त्याग तथा दया—ये सद्गुण विद्यमान हैं, उन्हींपर परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

शरीर मृत्युसे जुड़ा हुआ है। जीवन अत्यन्त चञ्चल है। धन-वैभवपर राजा आदिके द्वारा बराबर बाधा आती रहती है और सम्पत्तियाँ क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली हैं। आधी आयु तो नींदसे ही नष्ट हो जाती है और कुछ आयु भोजन आदिमें समाप्त हो जाती है। आयुका कुछ भाग बचपनमें, कुछ विषय-भोगोंमें और कुछ बुढ़ापेमें व्यर्थ बीत जाता है। बचपने और बुढ़ापेमें परमात्माकी आराधना नहीं हो पाती, अतः अहंकार छोड़कर युवावस्थामें ही धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये—

युवैव धर्मशीलः स्याद् वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥

यह शरीर मृत्युका निवासस्थान है, विपदाओंका सबसे बड़ा अड्डा है, रोगोंका घर है, मल-मूत्र आदिसे सदा दूषित रहता है। फिर भी मनुष्य इसे सदा रहनेवाला समझकर व्यर्थ पाप करते हैं—'किमाश्चर्यमतः परम्!' यह संसार असार है। इसमें नाना प्रकारके दुःख भरे हुए हैं। अतः इससे सुख-शान्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिये। देह-बन्धनकी निवृत्तिके लिये शरीर और संसारकी तुच्छताका विचार करते हुए भोगेच्छासे रहित होकर इष्टके भजन बिना दूसरी गति नहीं है। संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं। केवल भगवान् श्रीइष्ट नित्य माने गये हैं। अतः अनित्य वस्तुओंका परित्याग करके नित्य श्रीइष्टका ही आश्रय लेना चाहिये। जो भोगोंसे विरक्त नहीं होता, वह संसारमें फँस जाता है। जो मानव जगत्के अनित्य पदार्थोंमें आसक्त होता है, उसके संसार-बन्धनका नाश कभी नहीं होता। अतः अभिमान और लोभ त्यागकर, काम-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षकी इच्छा रखकर सदा परमात्माका भजन करना सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कर्तव्य है; क्योंकि मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—'नहिं ऐसो जनम बारंबार'।

वैराग्य और अभ्यास—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण मोक्ष-साधन बनते हैं; केवल वैराग्य या केवल अभ्यास पूर्ण साधन नहीं है। केवल वैराग्य-साधनसे मनुष्य अभिमानका शिकार और वाचिक ज्ञानी बन बैठता है और केवल अभ्याससे जीव हठी, सम्प्रदायी तथा राग-द्वेष और संग्रहके वशीभूत होकर स्थानधारी बन जाता है तथा—

'अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥'

—बननेके अधिकारसे वञ्चित रह जाता है। इसी कारण श्रीभगवान्ने कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

अभ्यास और वैराग्य—इन दोनोंके द्वारा मन वशीभूत होता है। जबतक शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं। 'अभ्यास' किसे कहते हैं?—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' चित्तकी स्थिरताके

लिये किया जानेवाला जो यत्न है, वह 'अभ्यास' है। स्वाध्याय, पूजन, जप, प्राणायाम, ध्यान, तत्त्वविचार, कीर्तन आदि नाना रूपोंसे यह यत्न किया जाता है। परंतु यह अभ्यास दीर्घकालतक, निरन्तर और आदरपूर्वक सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है। 'वैराग्य' का लक्षण क्या है ?—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है अर्थात् दृष्ट और श्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका जो अत्यन्त अभाव है, वह 'वैराग्य' है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

अर्थात् 'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' आगे अठारहवें अध्यायमें भी ध्यानयोगका वर्णन करते हुए कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(१८। ५१-५२)

अर्थात् विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक एवं नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और पवित्र देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके तथा भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय करके ध्यानयोगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है)। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानयोगकी सिद्धि विना वैराग्यके नहीं हो सकती।

ज्ञानयोगीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। इसलिये श्रीभगवान्ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

(गीता १३। ८-९)

अर्थात् इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।

भक्तियोगकी सिद्धिके लिये तो संसार, शरीर और भोगोंसे तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक (अव्यभिचारिणी भक्तिसे) श्रीभगवान्की ही सर्वप्रकारसे शरण ग्रहण करना परम आवश्यक होता है। इसलिये श्रीभगवान्ने संसारका वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य करने और परमेश्वरके शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ३-४)

अर्थात् इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुषके मैं शरण हूँ—(इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये)।

कर्मयोगका साधन भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकता। आसक्तिके त्यागसे ही कर्मयोगनिष्ठाकी सिद्धि होती है। इसलिये श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३।१९)

अर्थात् इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतएव सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। विवेकपूर्वक वैराग्यके विना किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

परंतु ये सब साधन-भजन तभी ठीकरूपसे चल सकेंगे, जब हम प्रतिदिन शुद्ध आहार ग्रहण करेंगे। जो परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, अंदरका असली आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, किसी भी योग-साधनके अधिकारी बनना चाहते हैं, उन्हें तो शुद्ध आहार अवश्य ग्रहण करना पड़ेगा। उन्हें तो मांस, मछली, अंडे, प्याज, लहसुन, शलगम, गाजर आदि सभी तामसिक पदार्थ तथा मिर्च, मसाला, तेल, खटाई, मिठाई, अचार, मुरब्बा और घी, तेल आदि चिकनाईमें तली-भूनी चीजें (पूड़ी, कचौरी, हलुआ, मोहनभोग, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, लड्डू, पेड़ा, रबड़ी, मलाई आदि राजसिक पदार्थ) छोड़ने होंगे; इनके त्यागे बिना कुछ भी नहीं होगा। हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर, उसकी सात्त्विकतापर जो इतना जोर दिया गया है, वह किसलिये? केवल इसलिये कि उससे सात्त्विक विचार उत्पन्न होंगे, पवित्र विचार बनेंगे, जीवन पवित्र बनेगा, बुद्धि शुद्ध होगी, रज और तमसे छुटकारा मिलेगा और सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी। 'जैसा खावै अन्न, तैसा बनै मन।' भोजनके पदार्थोंका चित्तपर पूरा संस्कार पड़ता है।

शुद्ध आहारके तीन अर्थ हैं—(१) अन्न ईमानदारीकी कमाईका होना चाहिये अर्थात् जिससे अन्न खरीदा गया हो वह धन किसीका भी खून चूसकर या किसीको भी किसी प्रकारकी हानि पहुँचाकर न कमाया गया हो। पवित्र विचारोंके लिये अर्थशुद्धि भी जरूरी है। (२) भोजनके बनानेमें पूरी शारीरिक पवित्रता और पूरी मानसिक पवित्रता बरती गयी हो यानी वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मौन रहकर इष्ट-नाम जपते हुए प्रसन्नतापूर्वक शुद्धतासे बनाया गया हो। और (३) बलिवैश्वदेवके पश्चात् अतिथिका अन्न आदिसे भलीभाँति सत्कार करनेके बाद भोजन इष्टको निवेदन करके उसे प्रभु-प्रसादी समझकर मौन रहकर इष्टका स्मरण करते हुए प्रत्येक कौरको इतना चबाना चाहिये कि वह लारके साथ मिलकर एक हो जाय और केवल इतना प्रसाद ग्रहण करना चाहिये कि पेट न तो खाते समय भारी लगे और न खानेके बाद। सनातनी हिंदू भोजनको भी भजन जानते हैं, भोजनको प्राणाग्निहोत्र-यज्ञ जानते हैं; 'यदश्नासि तत् कुरुष्व मदर्पणम्'—इस भगवदादेशका स्मरण रखते हुए मौन रहकर प्रभु-स्मरणके साथ प्रसाद पाकर उसे अमृत बना लेते हैं; वे पशु-पक्षीकी भाँति जीभके रास्ते भोजन-पदार्थ सिर्फ पेटमें ठूँसते नहीं। उनका भोजन सात्त्विक, पौष्टिक, सादा और संतुलित होता है।*

दूषित भावनाओंवालेके द्वारा बनाये अन्नमें मनको बिगाड़नेका प्रभाव रहता है। मांसाहारीके हाथका, हर-किसी मनुष्यके हाथका भोजन करनेसे भी मन दूषित हो जाता है। नौकरों इत्यादिके द्वारा बनाये गये या होटलोंमें बनाये गये भोजनमें पवित्र भावनाएँ नहीं होतीं; इसीलिये होटलोंमें खानेवालोंकी मानसिक अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती चली जाती है और उनका घोर मानसिक तथा शारीरिक पतन हो जाता है। भूलकर भी भारी जमातोंमें बना, हलवाइयों और होटलोंका बना, बाजारोंमें बना और चाहे जिसके हाथका बनाया भोजन कभी भी नहीं खाना चाहिये। अन्नदाताका तथा अन्न बनानेवालेका मानसिक भाव अन्नके जरियेसे अन्न खानेवालेमें

---

* कहा गया है—

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम्।
असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत्॥
अहोमी च कृमीन् भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते।
(विष्णुपुराण ३।११।७१-७२)

अर्थात् जो मनुष्य स्नान किये बिना भोजन करता है, वह मल खाता है। जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त-पीव पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्र पीता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले भोजन करता है, वह विष्ठाहारी है। इसी प्रकार बिना होम किये भोजन करनेवाला मानो कीड़े खाता है और बिना दान किये खानेवाला विषभोजी है।' अतः अन्नको सात्त्विक और अमृतस्वरूप बना लेनेके लिये भोजनसे पहले स्नान करना, जप-पूजादि करना, बलिवैश्वदेव करना, बालक-वृद्ध-रोगी-गर्भिणी आदिको खिलाना और गौ, कुत्ते, काक, चींटी आदिके लिये अन्न छोड़ना परमावश्यक है।

संचारित हो जाता है। इसलिये अन्न ग्रहण करनेमें यह अवश्य देख लेना चाहिये कि अन्न कहाँसे आ रहा है और किसके द्वारा बनाया गया है। जैसे अभ्यास और वैराग्य—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण साधन बनते हैं, वैसे ही शुद्ध भावना और शुद्ध अन्न—ये दोनों मिलकर ही मोक्षका अधिकारी बनाते हैं। सदा स्मरण रखना चाहिये—'जिते रसे सर्वं जितं भवति' रसनाजित् होनेपर अर्थात् सात्त्विक एवं परिमित, लघु आहारका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। रसनाको जिसने सचमुच रस+ना बना लिया, उसने आधा जग जीत लिया। मादक पदार्थोंको तो पास भी न आने देना चाहिये। शराब, ताड़ी, आसव, गाँजा, भाँग, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट ही नहीं, यथासाध्य चाय भी नहीं पीना चाहिये। ये सभी चीजें नशीली हैं। मादक द्रव्यका व्यवहार तथा धूम्रपान क्षय-रोगका एक बड़ा कारण है। इसीलिये यह जरूरी है कि न तो असात्त्विक (अपवित्र) पदार्थ खाये-पिये जायँ और न ऐसे लोगोंका सङ्ग किया जाय, जिनके विचार संकीर्ण हैं, गंदे हैं, मलिन हैं, अशुद्ध हैं, और जो नशेके वश हैं।

मनुष्य आशासे कष्ट पाते हैं। आशाबद्धके लिये मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है। शरीरको 'मैं' माननेसे और सम्बन्ध रखनेवालोंको 'मेरा' माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन-जिनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, उनमें आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं और वह भोगोंके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। जबतक यह भाव रहता है—अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिमें सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है और जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोग-वासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं। अपनेको चेतन-स्वरूप जानकर देहसे असङ्ग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। इस समय देखनेमें आता है कि एक समूहके लोग, जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान्‌का भक्त कहते हैं। उनमें अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, आश्रम, अखाड़े, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े धनी-मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य या भक्त हैं, उनका बड़ा सम्मान है, उनकी निजी मोटर है,—इस प्रकारकी बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे भोगोंकी चाह उत्पन्न होने और उनके पूर्ण होनेको ही सुख मानते हैं। ये सब चाहके दास हैं। ये त्यागीका वेष लेकर संग्रहमें लगे रहते हैं, अर्थ-वित्त-त्यागीका चपरास लेकर भी धनवान् हैं, वित्तशाली हैं, धन-जन-स्थानके गौरवी हैं। इन्होंने 'घर' नामक स्थान छोड़ा और आश्रम नामक स्थान बनाकर ये उसमें रहने लगे। पहले घरका अहंकार था, अब आश्रमका हो गया। पहले घरमें ममता थी, अब आश्रममें हो गयी। पहले घरके प्राणि-पदार्थोंको लेकर राग-द्वेष था। अब आश्रमके प्राणि-पदार्थोंको लेकर हो गया। परिवर्तन केवल नामका हुआ, वस्तुस्थिति वही रही। त्याग वस्तुतः कुछ भी नहीं हुआ। बल्कि त्यागका एक मिथ्या अभिमान और छा गया। इनके लिये ही कहा गया है—'न घरका न घाटका'। इन्होंने इष्टा-पूर्त्त* कर्मोंका परित्याग करके तो चतुर्थ आश्रमका वेष धारण किया था; परंतु अब ये उन

---

* 'इष्ट'=अग्निहोत्र, वैश्वदेव, वेदपाठ, आतिथ्य आदि वेदविहित कर्म; 'पूर्त्त'=स्मृतिविहित कूप-तड़ागादि दानरूप तथा बगीचे लगाना, रास्ता-घाट, धर्मशाला, मन्दिरादि निर्माणरूप कर्म। ये सब अर्थ तथा वित्तसाध्य कर्म गृहस्थाश्रमीके लिये विहित हैं; क्योंकि वे ही अर्थ और वित्तके संग्रहके शास्त्रोक्त अधिकारी हैं।

मुण्डकोपनिषद्‌में कहा गया है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'
(१।२।१०)

अर्थात् स्त्री-पुरुष-वित्तादिमें आसक्तिवश मोहयुक्त मनुष्य इष्टापूर्त-कर्मको सर्वोत्कृष्ट मानकर उससे अतिरिक्त और कुछ भी कल्याणप्रद साधन अर्थात् आत्मज्ञान नहीं जानते। वे मूढ़ मनुष्य सकाम कर्मसे लब्ध स्वर्गके उपरिभागमें अर्थात् इन्द्रलोकमें पुण्यफल भोगकर [पुण्य-क्षीण होनेके साथ ही] इस मर्त्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोकमें अर्थात् पश्वादिके शरीरमें किंवा नरकमें प्रवेश करते हैं। इस रहस्यको जानकर विवेक-वैराग्यवान् पुरुष इष्टापूर्त-कर्ममय गृहस्थाश्रम त्यागकर परमात्माकी अपरोक्षानुभूतिके लिये आत्मज्ञानलाभार्थ प्रयत्न करते हैं। अतः जो लोग गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश कर चुके हैं, उनके पक्षमें पुनः इष्टापूर्त-कर्ममें प्रवृत्त होना भी अयुक्त है, वान्त-भोजनके समान श्व-वृत्ति है।

इष्टा-पूर्त्त कर्मोंके जरियेसे विश्व-कल्याणके नामपर लोगोंसे सुख-सुविधा, मान-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि नीच स्वार्थ-साधन तथा शरीर और इन्द्रिय-तृप्तिके प्रयासमें ही लगे हुए हैं और अपने ही कर्मोंसे अपने-आपको धोखा दे रहे हैं। ये गैरिक वसनका कलङ्क हैं। ये स्वधर्म-त्यागी एवं परधर्मग्राही हैं, अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेवाले हैं। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

> वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
> गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥
> (काशीखण्ड पूर्वार्ध ४१। २५)

अर्थात् संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है, यह सनातन श्रुति है। साधु-संन्यासी होकर 'कञ्चन-कामिनी'के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना उसके लिये कलङ्क है। साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवानेसे, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करनेसे और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है।

जबतक कुछ बननेकी या कुछ करनेकी इच्छा है, तबतक विषयोंमें आसक्ति है, भोगोंकी वासना जीवित है; तबतक कोई बूढ़ा हो या जवान, उसे अनात्मविचार घेरेंगे ही। माथा मुड़ा लेनेसे, कपड़ा रँग लेनेसे, घर-बार छोड़ देनेसे, परिग्रहसे छुटकारा ले लेनेसे, धर्मोपदेशक, कथावाचक, साधु-संन्यासी, मुल्ला-पादरीका चोगा पहन लेनेसे विषयोंकी वासना जाती रहेगी—ऐसा सोचना भी गलत है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही छोटी-सी लँगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रह सकती है। चाहे घरमें रहा जाय या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। जरूरत है इस आसक्तिको मिटानेकी। फिर कहीं भी रहा जाय—घरमें या जंगलमें। इस कारणसे कहा गया है—

> नातः सुखतरं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
> वीततृष्णस्य कामेभ्यो मुक्तसङ्गस्य यत् सुखम्॥
> किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
> तद् भवेत् परितापाय सर्वं सम्पद्यते तदा॥

बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है, अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है। बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय। चाहरहित न होनेतक अभावका दुःख भोगना ही पड़ता है। नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुखी कर दिया है। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्तिका जागरण होता है और चित्त शुद्ध और शान्त होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

> विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
> (गीता २। ७१)

अर्थात् जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

आस्थाकी सायामें

जब कभी अन्तरतमकी गहराईमें झाँकता हूँ।
उद्विग्नताका वेग कम हो जाता है।
चिन्ताका साया हट जाता है।
और—
डगमग विश्वास जम जाता है।
तब—
आस्थाकी सायामें
संकल्प, वेगवान हो,
हमराही पवनवत;
हमराही हिलोरवत,
मेरे कदमोंको
मंजिलकी ओर बढ़ा देता है।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रभु-पद, रज और पाँवरी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

पैर तो प्राणिमात्रके होते हैं, पद होना चाहिये—पद भी पद्मपाद हों, फिर उनकी रज। तुलसीदासजी उन्हीं 'सरोज-चरण-रज'की ओर इङ्गित कर कह रहे हैं—

'श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।'

केवल अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही इतनी सावधानी बरतनेकी आवश्यकता क्यों थी ?······

वैसे तो श्रीरामचरितमानसमें अयोध्याकाण्ड विशिष्ट है। उसमें भी (विशिष्ट) स्थल चित्रकूट है, जहाँ रघुवर-विमल-यश तथा भरत-सुयशका वर्णन स्वयं एक साधना थी तथा वहीं यदि श्रीरामके द्वारा भरतको दीक्षा दी गयी हो तो विवेचन अधिक दुर्गम हो जाता है। कवि तुलसी भरतकी साधनाका वर्णन तो कर गये; किंतु उसे सर्वजनगम्य फिर भी नहीं बना सके। चित्रकूटमें भरत-राम-दर्शन और मिलन हुआ—तुलसीने इसीलिये उसे वैशिष्ट्य प्रदान किया और स्वयं उन्हें भी रामदर्शन वहीं हुआ, ऐसा कहा जाता है।

'तुलसिदास चंदन घिसें तिलक देत रघुबीर।'

तुलसीदासजीके इष्ट—श्रीरामचन्द्रजी और गुरु महामना भरतके इष्टके विषयमें शङ्का किसीको हो नहीं सकती; इसलिये प्रमाण अनावश्यक है। तथापि भरतके गुरु होनेका प्रमाण देना होगा—

अयोध्याकाण्डके अन्तमें वे कहते हैं—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को।'

जीवको ईश्वरके सम्मुख करना सरल कार्य नहीं—

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।'

फिर भी जीव ईशके सम्मुख नहीं होता, परंतु तुलसीको भरतजीने रामके सम्मुख कर दिया—

'बलिहारी गुरुदेव की जिन गोबिंद दिये बताय।'

भगवान् विभीषणकी शरणागतिके समय कहते हैं—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भरतजीने तुलसीके कोटि जन्मके अघ नाश कर दिये और अपनी साधनाका क्रम उपलब्ध करा दिया। यह केवल गुरु ही कर सकता है। पारस लोहेको सोना बनाता है, परंतु 'गुरु करें आपु समान' यह रजोपासना उन्हीं महामना भरतकी प्रदत्त थी।

जिस समय भरतको जगत्‌ने उपेक्षित करना चाहा, किया, उस समय भरतने केवल एक ही आश्रय ग्रहण किया, वह था—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

भरत कहते हैं—मेरे हृदयमें जलन है, भवतापसे मैं दग्ध हुआ जा रहा हूँ। बिना सरोज-चरणके देखे जलन शान्त नहीं हो सकती। इस जलनका उपचार करनेके लिये तपस्वी भरत नग्न-पद, कण्टकाकीर्ण मार्गसे चले जा रहे थे; साथमें था अयोध्याका समाज, जो अब अपना दृष्टिकोण परिवर्तितकर भरतकी रजोपासनाका अनुसरण कर रहा था। यह कह-कर कि—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

और भरत उस मार्गका अनुसरण कर रहे थे, जिस मार्गसे राम गये थे। पद-चिह्न देखकर भरत जलन मिटा—हर्षित होकर—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

यह थी रजोपासना ! प्रभु, इष्टदेव, गुरुके दर्शनोंके लिये चरणरजसे सिर, हिय और नयन परिमार्जित, प्रकाशयुक्त बनाये जा रहे थे। इस साधनाके क्रमपर देव बलिहार हो रहे थे। कहि सुपंथ 'सुर बरषहिं फूला।' इसी चरणकी रजसे गङ्गा पावन हुई थी और केवट इस रजको विनोदमें ही घोल कर पी गया था। भरतने तो अपनी जलनका बाह्य उपचार किया, परंतु केवटने तो पीकर।

'पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।'

इसी चरण-रजसे अहल्या तर गयी—

'पद रज परसि तरी मुनि नारी।'

भरतकी रजोपासनाके अनुयायियोंका रामचरितमानसमें एक सम्प्रदाय ही बन गया। भरतजीने अपनी साधनाके

क्रममें इसे प्रथम स्थान दिया। जलन मिटानेके लिये चरण-रजोपासनाका द्वितीय क्रम आरम्भ होता है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

जिन चरणोंके देखनेके लिये दारुण दीनता बतलायी थी, वे सरोज-चरण समक्ष थे। उन्हींके नहीं, अवधवासियोंके समक्ष भी थे। चरण-सरोजपर सिर रखने और रखानेका उत्सव ही चित्रकूटमें मनाया जा रहा था। राम, लक्ष्मण, सीता महारानी माताएँ, गुरु, अयोध्यावासी शत्रुघ्न आदि चरणोंके 'दरसन-परसन'का आदान-प्रदान कर रहे थे।

इसके अनन्तर तीसरा अध्याय भरतकी आराधनाका आरम्भ होता है। जब यह निर्णय हो गया था—राम वनसे नहीं लौटेंगे, तब इतना लंबा अवधिका समय पार करनेके लिये अवलम्बन चाहिये। माँगा तो—

'प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं'

प्रभु-चरण-रजसे परिमार्जित स्वर्णमण्डित पाँवरी प्रभुने दे दी। भरतजी उन्हें अपनी साधनासे पारस बनानेके लिये अपने सिरपर धारणकर ले चले।

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
आखर जुग जनु जीव जतन के॥

चरण-रजसे मँजी हुई, सुथरी हुई स्वर्णमण्डित पाँवरी अयोध्याके राजसिंहासनपर सुशोभित हुई। भरतजी उसे अपने सिरपर रख राजमार्गसे राजसी वैभवको ले गये। उन्होंने जगत्‌को यह साधनाका क्रम बतलाया। पद, रज, चरणसरोज और कृपापाँवरी 'नित पूजत प्रभु पाँवरी' और इतनी शक्तिका समावेश उनमें कर दिया कि—

'मागि मागि आयसु करत—राजकाज ·······',

ऐसी पद-रजसे विशुद्ध साधनाका क्रम। यह था, 'पद-रजाभिषेक'—न कि 'राज्याभिषेक'।

दुःख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषण-भव-ताप-अपहरणका कारण बनी यह साधना—

मुनिमन-अगम यम-नियम, शम-दम, व्रत कौन कर सकता था और—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को ?।'

बालकाण्डके आरम्भमें कह चुके हैं—

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक।

स्वामी रामतीर्थका कथन सर्वथा सत्य है—पुस्तकोंके पठनसे ज्ञान मिलता है परंतु अध्यात्मशक्तिका अरुणोदय तो गुरु-चरण-रज लगानेसे होता है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद कहते हैं—

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।'

(७।५।३२)

राजा रहूगण (स्कन्ध ५, अध्याय १२, श्लोक १२ में) कहते हैं—

'नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।'

'महत्-पद-रजके लगानेसे ही मानव-जातिके हृदय, सिर और नेत्र प्रकाशयुक्त होते हैं। इस रजोपासनाकी साधनाका क्रम महामना भरतकी साधनामें क्रमबद्ध है। भव-तापकी आँचसे जब जीवके हृदयमें भयंकर जलन होती है, तब रज शीतलता लाती है, पद आनन्द देते हैं। पद-पाँवरी साधना-को स्थैर्य प्रदान करती है। और पाँवरी-पूजनके समय—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

यह दशा हो जाती है। यही साधनाका क्रम महाराज जडभरतका भी था।

—अनुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्य·······

(श्रीमद्भा० ५।७।१२)

नयनसे जलधार बहने लग जाती है।
साधना नयी नहीं, क्रमागत है,
सरल है, सर्वजनगम्य है।

मन चेत करो

दस मास रहे जब गर्भ महीं, तब ही प्रभु सौं तुम कौल किया।
अब बाहर ह्वै हरि-भक्ति करौं, तेहि कारन तोहि निकारि दिया॥
इत आय वहै तुम भूलि गये, तेहि तें दिन रात भये दुखिया।
कवि 'दीहल' हे मन! चेत करौ, भज राम-सिया जिन जन्म दिया॥

—भक्त श्रीदीहलजी

मैं और वह

(लेखक—डा० शचीन सेनगुप्त)

मैं—तुम छिपे क्यों रहते हो ?

वह—छिपकर तुम्हें देखना मुझे अच्छा लगता है।

मैं—तुम तो मुझे देख पाते हो, पर मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता। तुम्हारे और मेरे बीचमें आड़ है, इसीसे मैं तुमको नहीं देख पाता।

वह—उस आड़को तुम हटा दो।

मैं—वह मेरे हटानेसे हटेगी ?

वह—बार-बार प्रयत्न करो, मन-प्राण लगाकर भिड़ जाओ, एक दिन वह आड़ हट जायगी।

मैं—यह तुम्हारा छल है। मुझे दर्शन नहीं देना है, इसीसे ऐसी बात कह रहे हो।

वह—नहीं-नहीं, सत्य कहता हूँ—एक दिन यह आड़ हट जायगी—लगे रहो।

× × ×

वह—तुम रो रहे हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हारे और भी समीप सरक आया हूँ। अब मुझे देखो।

मैं—कहाँ ? मुझे तो नहीं दिखायी देते।

वह—और भी समीप चला आया हूँ। तुम्हारे अन्तरके एकान्त कोनेमें चुपचाप खड़ा हूँ। अब मुझे देख पाते हो ?

मैं—न, मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता।

वह—अब मैं बाहर निकलकर ठीक तुम्हारी आँखोंके सामने खड़ा हूँ। देख पा रहे हो ?

मैं—नहीं, मैं तो नहीं देख पाता। तुम मेरी आँखोंका रंग बदल दो। इन आँखोंसे मैं तुम्हें नहीं देख पाऊँगा।

वह—तुम मुझे क्यों इतना देखना चाहते हो ?

मैं—इसलिये कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।

वह—अच्छा तो, क्या बिना देखे प्रेम नहीं किया जा सकता ?

मैं—मैं तुमसे अत्यन्त प्रेम करता हूँ, इससे तुम्हें सदा ही देखना चाहता हूँ।

वह—मुझे केवल देखना ही चाहते हो ?

मैं—तुम्हारा दरस चाहता हूँ, तुम्हारा परस चाहता हूँ। अरे, मैं तुम्हें चाहता हूँ। तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकता।

वह—अच्छा तो, मुझे तुम भूल गये थे—अब फिर मुझे क्यों चाहते हो ?

मैं—तुम्हारे बिना मेरा दम घुटा आ रहा है। मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करते हो ?

मैं—तुम जो मुझसे प्रेम करते हो, इसीलिये तुमसे मैं इतना प्रेम करता हूँ।

वह—तुमसे तो और भी कितने ही लोग प्रेम करते हैं।

मैं—वे स्वार्थके काँटेपर प्रेमको तौलकर प्रेम करते हैं; तुम इसलिये प्रेम करते हो कि तुम्हें प्रेम करना ही है।

वह—वाह ! तुम्हारी बात तो बड़ी मीठी है।

मैं—तुम मेरे पास हो इसीसे। इसके सिवा, तुम्हीं तो मेरी बातोंका योग लगा देते हो, इसीसे तो मेरी बात मीठी है। तुम जो कितने अधिक मीठे हो, इसे तुम क्या नहीं जानते ?

वह—अच्छा तो, मैं तुम्हारे पास-पास ही रहूँगा। कभी दूर नहीं जाऊँगा। फिर भी मुझे देखना क्यों चाहते हो ?

मैं—मैं तुमको सर्वदा मेरा बना लेना चाहता हूँ। मैं

तुमको सदा अपनी आँखोंके सामने रखना चाहता हूँ।

वह—मेरे और भी कितने काम हैं ?

मैं—फिर तुम छल करने लगे।

वह—तुम फिर रोने लगे ? अच्छा तो यह लो; तुम्हारी आँखोंका रंग बदल दिया। अब देखो तो।

मैं—वाह ! वाह ! कैसा विचित्र मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ। क्या रूप है तुम्हारा ? जिधर देखता हूँ, उधर ही तुम्हें देखता हूँ। सभी तुम्हारे रूप हैं, कैसा सुन्दर रूप है। सारा विश्व केवल तुम्हारे ही अपरूप रूपमें जगमगा रहा है। रूपकी कैसी बहार है······।

वह—अब जरा अपनी ओर तो देखो !

मैं—अपनेको तो मैं देख ही नहीं पाता—यह तो तुम-ही-तुम हो।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम करते हो, इसीसे मैं भी आज तुम-ही-तुम हो गया हूँ।

—छबीबन

परोपकारी झरगद

(कहानी—सच्चे तथ्योंके आधारपर)

(लेखक——श्रीवीरबहादुरसिंहजी चौहान, बी० ए०, प्रभाकर)

झरगद शान्त और गम्भीर स्वभावका बालक था। अन्य लड़कोंकी भाँति चपलता तथा उच्छृङ्खलता उसमें नाममात्र-को न थी। वह उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ था; किंतु माँ-बापकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः उसकी शिक्षा प्राइमरी स्कूलके बाद जारी नहीं रह सकी।

झरगद चौदह वर्षका नहीं हो पाया था कि अकस्मात् उसके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। झरगद अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। उसके कोई अन्य भाई-बहिन नहीं थे। चाचा-ताऊ भी नहीं थे। यहाँ तक कि सम्बन्धियोंमें भी कोई न था। वह संसारमें अकेला था। पैतृक सम्पत्तिके नाम उसके पास केवल दो बीघा भूमि थी। यही उसके उदर-पोषणका अवलम्बन था। गाँववालोंको दया आ गयी, वे उसकी सहायता करने लगे।

कुछ दिनों बाद गाँवमें एक महात्मा आये। वे तीन दिन ठहरे। महात्माजीने उपदेश देते हुए कहा—'यह जीवन नश्वर है। इसपर अभिमान मत करो। भगवान्ने तुम्हें किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पैदा किया है। वह उद्देश्य है—सेवा। प्राणिमात्रकी अधिक-से-अधिक सेवा। क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याका—जहाँतक हो सके—त्याग करो। एक दूसरेके साथ सहयोग और सद्भावना रक्खो। संसार तुम्हारा है और तुम संसारके हो। तुम्हारा संसारमें कुछ नहीं है और संसारका तुममें कुछ नहीं है। सोच-विचारकर काम करो। केवल समझ-का अन्तर है। समझकर काम करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्माजीके इस उपदेशने झरगदके हृदयको छू लिया। उसने प्रतिज्ञा की—मैं अपना जीवन संसारके अधिक-से-अधिक हितमें लगाऊँगा; क्योंकि यह मनुष्य-देह मेरे लिये नहीं, मेरी मौज-शौकके लिये नहीं, बल्कि दूसरोंकी सेवाके लिये मुझे दी गयी है।

—और उसकी जिंदगी एक विशेष दिशाकी ओर मुड़ गयी।

वह दिनभर काम करता। शामको मन्दिरमें सामूहिक प्रार्थना और कीर्तनमें शामिल होता। वह बिना नागा मन्दिरमें जाता। यदि किसी दिन शामको देर हो जाती और समयपर मन्दिर न पहुँच पाता तो वह जहाँ भी होता, वहीं बैठकर प्रार्थना और कीर्तन करने लगता। उसका कहना था—बिना भगवान्को याद किये उसका मन बेचैन रहता है और उसे शान्ति नहीं मिलती।

यह क्रम वर्षों चलता रहा।

अब झरगद अपनी जीविका स्वयं उपार्जन करता था। वह किसीके सहारे न था। वह महीनेमें सिर्फ दस दिन काम करता और इतना कमा लेता जिससे कि शेष बीस दिन बैठ-कर खा सके। इन बीस दिनोंका उसका विचित्र कार्यक्रम रहता। वह निठल्ला नहीं बैठता था। और दिनोंकी अपेक्षा इन दिनोंमें वह अधिक व्यस्त दिखायी देता।

गाँवोंमें अधिकतर रास्ते ठीक नहीं होते । नालियाँ गंदी रहती हैं । झरगद पुराने रास्तोंपर उगी हुई घास-फूस और काँटों-कंकड़ोंको साफ करके उनकी मरम्मत करता तथा नये-नये रास्ते बनानेमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करता । उसे गंदी नालियोंकी सफाईमें आनन्द आता था । गाँवके अंदर या बाहर जहाँ भी अच्छी जमीन दिखायी देती, वहाँ वह पेड़ लगा देता और उन वृक्षोंकी सम्यक् देखभाल करनेमें कभी ढील नहीं करता तथा गरमीकी दोपहरीमें जब चील अंडा छोड़ती और लोग खसकी टट्टियोंके अंदर बिजलीके पंखोंके नीचे पड़े बर्फसे गला तर करके गरमीकी तपनको मिटाते, तब झरगद एक लँगोटा लगाये दूर-दूरसे पानी लाकर वृक्षोंकी जड़ोंमें सींचता और कहता 'ये वृक्ष हमें फल देंगे, छाया देंगे और पानी बरसनेमें मदद करेंगे । ये किसी एककी सम्पत्ति नहीं हैं, सबके हैं ।' जैसे निःस्वार्थ सेवा ही उसकी जिंदगी हो गयी हो ।

एक बार गाँवमें जोरोंका प्लेग फैला । काफी संख्यामें आदमी मरने लगे । झरगदको न दिनमें चैन मिलता और न रातमें आराम । उसे नींद हराम हो गयी । वह रात-दिन एक करके रोगियोंकी परिचर्यामें लगा रहता । बाजारसे दवा लाकर रोगियोंको पिलाता और उनका सब प्रकारसे ध्यान रखता । वह असहाय और अनाथोंकी ओर ज्यादा गौर करता । प्लेग बड़ी भयंकर बीमारी है, उसने स्पष्ट देख लिया । जो आदमी एक घंटा पहले स्वस्थ था, उसके अचानक गिल्टी निकली, बुखार आया और दूसरा घंटा तब बीता, जब उसका दम निकल गया । उसने जीवनकी क्षणभङ्गुरताके साक्षात् दर्शन किये । वास्तवमें इस जिंदगीका कोई ठिकाना नहीं है । निश्चय ही यह पानीके बुलबुलेकी भाँति है, जो एक क्षणमें उठता है और पलभर ठहरकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है ।

आजकल कुछ ऐसा रिवाज हो गया है कि स्कूलके अधिकांश विद्यार्थी बीड़ी पीने लगे हैं और कालेजके सिगरेट । झरगद लड़कोंको बीड़ी या सिगरेट पीते देखता तो समझाता—'बुरी आदत है । इससे कलेजा जलता है । मुँहमें बदबू आती है । पैसा बर्बाद होता है सो अलग । मत पिया करो भाई ! भविष्यमें नहीं पियोगे न !' और उसकी वाणी कुछ ऐसी सरस, मधुर और प्रभावोत्पादक थी कि विद्यार्थी एक बार धूम्रपान न करनेकी बात जरूर कह देता ।

गाँवमें दो शराबी थे । झरगद उन्हें बहुत समझा चुका था, पर वे मानते न थे । उनकी घरकी हालत बिगड़ती जाती थी । कभी अनाज न रहता, कभी कपड़ा । कभी औरतें नमक-तेल-लकड़ीके लिये बैठी रहतीं, कभी साग-सब्जीके लिये । पुष्ट भोजनके अभावमें बच्चे पीले पड़ गये थे । उनके पेट निकल आये थे । झरगद इनकी काफी मदद करता और शराबियोंकी आदत छुड़ानेके लिये विभिन्न उपाय काममें लाता । एक दिन दोनों शराबी नशेकी हालतमें बक-झक रहे थे । आपसमें गाली-गलौज कर रहे थे । इसी समय झरगद आ पहुँचा । उसने मना किया । शराबियोंको गुस्सा आ गया । दोनों झपट पड़े । झरगदको खूब पीटा । उसका सिर फूट गया । टाँगमें भी चोट आयी । अन्य लोगोंको मालूम हुआ तो उन्होंने झरगदसे कहा—'झरगद ! तुम कहो तो हम उन दोनोंका नशा उतार दें । इतना पीटें कि कचूमर निकल जाय । तब अपने-आप ठीक हो जायँगे ।'

'नहीं, भाई !' झरगदने नम्र स्वरमें जवाब दिया । 'ऐसा मत करना । वे नहीं जानते थे कि हम क्या कर रहे हैं । उन्हें समझ होती तो वे ऐसा नहीं करते । मेरी समझमें कोई आदमी यह समझ लेनेपर कि यह काम बुरा है, उसे करनेको कभी तैयार नहीं होगा ।' और इस घटनाका प्रभाव ऐसा पड़ा कि उन दोनोंने हमेशाके लिये शराब छोड़ दी । थोड़े दिनोंमें उनकी गृहस्थी फलती-फूलती दिखायी देने लगी ।

झरगद सबका प्रिय हो गया था । बच्चे उसे दादा कहते । समवयस्क उसे भाई कहकर पुकारते । अधिक उम्रवाले उसे अपने लड़केकी तरह प्यार करते । वह सबसे हिल-मिलकर चलता । उसकी बातचीत और व्यवहारसे सब लोग प्रसन्न थे ।

झरगदने पक्का विचार कर लिया था कि वह विवाह नहीं करेगा । उसकी कुछ ऐसी धारणा हो गयी थी कि यदि उसने विवाह किया तो उसे सेवाके विस्तृत क्षेत्रसे वञ्चित रह जाना होगा । लोग कहते—'झरगद ! तुम जल्दी विवाह कर डालो । अपनी गृहस्थीकी देखभाल करो । तुम्हें कभी-कभी तो सूनापन महसूस होता ही होगा ।'

वह जवाब देता—'गाँवमें इतने लोग हैं । कोई बाबा है, कोई चाचा है, कोई ताऊ है । भाई-भतीजे हैं । स्त्रियोंमें दादी, चाची, भावज और बहुएँ हैं । बहिनें तथा भतीजियाँ हैं । पूरा गाँव ही मेरा परिवार है । इतने जनोंके बीच मेरा समय आसानीसे कट जाता है । मुझे पत्नीका अभाव जरा भी नहीं खलता ।'

और उसने विवाह नहीं किया ।

देखा गया है झरगद-सरीखे सीधे-सच्चे किंतु उच्च विचार-आचार और क्रिया-कलापके मनुष्योंको दीर्घ आयु नहीं प्राप्त होती । पर वे अल्प समयमें ही इतना काम कर जाते हैं जिससे उनकी स्मृति अमर हो जाती है ।

गरमीके दिन थे । रात आधी बीत चुकी थी । अचानक एक मकानमेंसे आवाज आयी—'चलो, जल्दी चलो । आग लग गयी ।' लगभग समूचा गाँव जमा हो गया । मकानके अंदर आगकी लपटें उठ रही थीं । छतोंसे धुएँके गुब्बारे निकल रहे थे । लोग पानी फेंककर धूल उछालकर आग बुझानेका यत्न कर रहे थे । तभी एक स्त्रीकण्ठ सुनायी दिया—'हाय, हाय ! मैं लुट गयी । मेरा लड़का आँगनमें सोता रह गया । अरे, है कोई जो मेरे बच्चेको बचाये । अब मैं क्या करूँ ?' गाँववाले एक दूसरेका मुँह ताकने लगे । किसीकी हिम्मत नहीं हो रही थी कि जलती आगमें कूद पड़े । इससे पहले कि लोग किसी निश्चयपर पहुँचें, उन्होंने देखा झरगद भागकर मकानमें घुस गया । दस मिनट बाद वह बच्चेको कपड़ेमें लपेटकर बाहर निकाल लाया । बच्चा बच गया । उसका बाल बाँका न हुआ । लेकिन झरगद बुरी तरह जल गया । उसके मुँह, हाथ-पैर काफी जल गये थे । वह कराहता हुआ जमीनपर गिर गया ।

आगपर काबू पानेके बाद लोगोंका ध्यान झरगदकी तरफ गया । उसकी हालत बिगड़ रही थी । उसे अस्पताल ले चलनेकी तैयारी की जाने लगी । झरगदने सुना तो बोला—'अरे भाई ! क्यों नाहक परेशान होते हो । अब यह मिट्टीका पुतला मिट्टीमें मिलने जा रहा है । देर नहीं है । मुझे अफसोस इस बातका है कि मैं आपलोगोंकी कुछ भी सेवा न कर सका । मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ वे मुझे फिर पैदा करें तो बस, इसी गाँवमें पैदा करें, जिससे मैं आपके कुछ काम आ सकूँ । आपलोगोंसे मेरी विनती है कि जिस तरह सब हिल-मिलकर अभीतक रहते आये हैं, वैसे ही भविष्यमें भी रहनेकी कोशिश करें । लड़ाई-झगड़ा शुरूमें दुःखदायी होता है और अन्तमें भी । प्रेमसे मिल-जुलकर रहनेमें ही भलाई है । सहयोगसे काम करें । एक दूसरेके प्रति सहानुभूति रक्खें और सबसे बड़ी बात याद रखनेकी यह है कि चौबीस घंटेमें कम-से-कम एक बार ईश्वरका भजन-कीर्तन, जप-ध्यान अवश्य कर लिया करें । इससे बड़ी शान्ति मिलती है । भगवान् सबको सुखी रक्खे ।'

कुछ देर और टिमटिमाकर झरगदका जीवन-प्रदीप बुझ गया ।

इस समय गाँवके सभी लोग, बालक-युवा-वृद्ध और स्त्रियाँ उस जगह एकत्र हो गयी थीं । जो इतने वृद्ध और शिथिल थे कि चलने-फिरनेसे लाचार थे, वे भी गिरते-पड़ते जैसे-तैसे झरगदको देखने आ पहुँचे थे । बड़ी भीड़ थी । सिसकते हुए बच्चोंने कहा, 'हमारा दादा चला गया ।'

झरगदके साथी बोले—'हमारा सच्चा दोस्त साथ छोड़ गया ।'

वृद्ध पुरुष कहने लगे, 'हमारे बुढ़ापेका सहारा छूट गया ।'

वृद्ध स्त्रियाँ बोलीं, 'हमारी आँखोंका तारा प्यारा बेटा उठ गया ।'

सभीकी आँखोंसे आँसू झरझर बह रहे थे ।

धिक्कार है

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा ।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः ॥

(श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्ण-लीला-सुधा-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान् (उन्हें धिक्कार है ! धिक्कार है, धिक्कार है !)—ऐसा कहता है ।

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक--ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एक संस्कृति, जिसकी परम्परा अनादि है, सदा एक-से आहार-व्यवहार रख सके--ऐसा सम्भव नहीं है। अभी विगत शताब्दियोंमें मुसल्मानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें हमारे आचारपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे हमारे यहाँके वेष-भूषा, भोजन, गृहनिर्माण, वस्त्रादि सज्जा तथा रीति-रिवाजोंमें भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे प्रभाव चाहे पहले इस रूपमें न पड़े हों, परंतु कुछ तो पड़े ही होंगे। इतनेपर भी प्रत्येक संस्कृति अपना एक मौलिक मापदण्ड अवश्य रखती है अपने आचारके लिये और जैसे ही काल-क्रमसे क्षीण हुई उसकी शक्ति लौटती है, वह पुनः अपने आदर्शकी ओर जानेका प्रयत्न करती है। इस स्थितिमें वाह्य प्रभाव निरस्त हो जाते हैं। अवश्य ही यह बात उन समाजोंके लिये नहीं है, जो अविकसित हैं और जिन्हें दूसरों-से कुछ सीखना है।

'हिंदू-संस्कृति' एक पूर्ण संस्कृति है। हमारे समाजके लिये प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके कर्तव्य शास्त्रोंने निश्चित कर दिये हैं। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' आचारकी रक्षा प्रथम धर्म प्रतिपादित हुई है। समाज जबतक दुर्बल है—अपने विकारोंसे आक्रान्त है या विवश है, वह भले वाह्य प्रभावों और आचारोंको ग्रहण किये रहे; किंतु जैसे ही बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टिसे समाज स्वतन्त्र होगा—समर्थ होगा, उसे स्पष्ट दिखायी देगा कि शास्त्राचारके पालनमें ही उसकी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति है। शास्त्रीय आदेश जीवनकी प्रत्येक स्थिति एवं दशाको नियन्त्रित करते हैं। जीवनमें ऐसा कोई भाग नहीं, जहाँ शास्त्राचारसे भिन्न प्रभाव स्थिर रह सके। हिंदू-समाज ही नहीं—सम्पूर्ण मानव-समाज—पूरा विश्व अपनी विकृत मनोवृत्तिसे त्राण पा ले तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्यका कल्याण हिंदू-समाजके आचारके पालनसे ही हो सकता है। यह इसलिये भी सत्य है कि आदिकालमें सम्पूर्ण मानव-जाति हिंदू ही थी। आदि संस्कृति ही पूर्ण एवं निर्दोष थी, यह तो अब सिद्ध हो चुका है।

हिंदू ?

यहीं 'हिंदू' शब्दपर भी विचार कर लेना है। कहा जाता है कि हिंदुओंके यहाँ उनके समाजमें राष्ट्रकी और जातिकी भावना नहीं थी। न तो उन्होंने पूरे राष्ट्रका कोई नाम रक्खा और न जातिका। 'हिंदू' शब्द तो अर्वाचीन है। एकांशमें ये बातें सत्य हैं। किसीके नामकरणकी आवश्यकता दूसरेकी अपेक्षासे होती है। अनेक पशुओंके ढेरमें गाय, बकरी, घोड़ा—ये भेद किये जाते हैं। अनेक रंगोंकी गायोंमें रंगसे भेद होता है और अनेक गायें एक रंगकी हों तो उनका नामकरण करना पड़ता है। जहाँ केवल गायें हैं, वहाँ उनको 'गाय' यह नाम देना व्यर्थ होता है। आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है और दूसरे सब धर्म कुल तीन सहस्र वर्षोंके भीतर ही उत्पन्न हुए हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जब विश्वमें एक ही धर्म था, तब धर्मकी दृष्टिसे उसका नामकरण क्यों आवश्यक होता ? उस समय जिन शास्त्रोंने नामकरण किया, उन्होंने क्या सम्पूर्ण समाजको मनुष्य नहीं कहा ! क्या यह 'मनुष्य' नाम उसी प्रकार मनुकी संतति, अनुयायीका सूचक नहीं, जिस प्रकारके नाम ईसाई और मुसल्मान हैं ? उस समय मनुष्यको विश्वके शेष प्राणियोंसे ही भिन्न नाम देना था। मनुष्य-समाजमें धर्मगत भेद नहीं था। आचार-गत भेदके कारण आर्य, दस्यु, म्लेच्छ, यवन प्रभृति नाम पड़े ही थे। जातिगत भेद और व्यवसायगत भेदके कारण भी ये नाम पड़े।

'हिंदू' यह--नाम जैसे कि आजकल कहा जाता है कि विदेशियोंने हमारी जातिको दिया, यह बात ठीक न होनेपर भी मान लें तो हानि क्या है। यह नाम हमारी जातिको मुसल्मानोंने दिया—यह भ्रम जिन्हें हो, वे पारसी-धर्मग्रन्थ देखें। वहाँ 'पूर्वी हिंदू' और 'पश्चिमी हिंदू' शब्द स्पष्ट आये हैं। साथ ही यह भी कि यदि हिंदू-शब्दका कोई निन्दित अर्थ होता तो पारसी-धर्म ग्रन्थ अपनेको पश्चिमी हिंदू न कहते। पीछेके ईरानी कोषकारोंने 'हिंदू' शब्दका अर्थ डाकू, दास, सेवक, पहरेदार दिया है और इसीसे हमारे यहाँके लोग चौंकते हैं; परंतु शत्रुताके कारण एक जातिका नाम दूसरी जातिमें घृणासूचक हो जाता है—यह तो 'देव' और 'असुर' शब्द ही बतलाते हैं। 'देव' शब्द संस्कृतमें जिस सात्त्विकता, तेजका सूचक है, पारसी ग्रन्थोंमें 'असुर' शब्द उसी अर्थमें आता है। हमारे यहाँ 'असुर' जिस अर्थमें, है, फारसी-अंग्रेजीमें 'देव' शब्द उसी अर्थमें है।

पारसी-धर्मके ग्रन्थोंमें तथा ईरानके प्राचीन साहित्यमें भारतीय एवं पारसीक दोनों जातियोंको हिंदू कहा गया है। रही विदेशियोंद्वारा नामकरणकी बात सो सदा दूसरे ही नाम लेकर पुकारते हैं। आज अमेरिकामें भारतसे हिंदू जाय या ईसाई, सब हिंदू ही कहे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व जिस देश और जातिको जर्मनी तथा जर्मन कहता है, वे स्वयं अपनेको डोइट्श और देशको डोइट्शलैण्ड कहते हैं। अंग्रेजोंको हम फिरंगी तो कहते ही हैं। प्रत्येक विदेशी जाति दूसरेको स्वेच्छानुसार नाम देती है और इसका उसे अधिकार है। यह सब होकर भी 'हिंदू' नाम स्वयं हमने अपनी जातिका रक्खा है, यह दूसरेका दिया हुआ नाम नहीं है।

वेदोंमें 'नेता सिन्धूनां' तथा 'पतिः सिन्धूनां' ये मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि हमारे देशका नाम 'सिन्धु' है और यही जातिका नाम भी है। सिन्धु नदीके उत्तरी भागमें सिन्धु और सरस्वतीके मध्यमें ब्रह्मावर्त ही मानव-जातिकी प्रारम्भिक निवास-भूमि है। उसी सिन्धुके कारण देशको सिन्धु कहा गया। वेदोंमें ही 'स' का परिवर्तन 'ह' हो जाता है। श्रुतियोंमें 'शिरा' और 'हिरा' दोनों नाम नाडियोंके लिये आये हैं। अतएव सिन्धुका 'हिन्दु' आदिकालमें ही हो गया। पारसी धर्मने वैदिक पद्धतिका एक अंश ले लिया; क्योंकि यह धर्म वैदिक धर्मसे ही पृथक् हुआ है। वेदोंमें 'स' का 'ह' कार रूपमें प्रयोग है; यह पद्धति विकृत हुई और पारसी भाषामें सप्ताह भी हप्ताह हो गया; पर 'सिन्धु' को 'हदु' उन्होंने किया है, यह मानना ठीक नहीं है। यह परिवर्तन स्वयं संस्कृतिके नियमानुसार हुआ है। आज हिंदीमें ग्यारह, बारह, तेरह आदि क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदशके रूप हैं और सबमें 'स' का रूप 'ह' हो गया है। प्राकृत भाषामें भी 'स' का उच्चारण 'ह' बहुत स्थलोंपर हो जाता है।

इस तरह जैसे 'हिंदू' नाम अपनी जातिको हमने स्वयं दिया और इसलिये दिया कि आचारसे च्युत जातियोंसे मूल जातिका पार्थक्य किया जा सके, उसी प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें भारतसे ही क्षत्रिय जाति जाकर बसी, उस समय पूरी पृथ्वी ही एक राष्ट्र थी, समस्त देशोंके लोग अपने आचारका आदर्श यहींसे ग्रहण करते थे, विश्वमें एक ही संस्कृति थी और भारतीय सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती होते थे, इस प्रकार जाति-धर्म-आचार तथा शासनकी दृष्टिसे राष्ट्र-भेदकी कल्पना शक्य नहीं थी, फिर भी भारत पुण्यभूमि है—यह भावना अनादि कालसे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है। इस पुण्यभूमिकी एकता, स्वरूप आदिके सम्बन्धमें तनिक भी संशयको अवकाश नहीं है।

आचारका आदर्श

हमने अपनी जातिका नाम 'सिन्धु' के आधारपर 'हिंदू' रक्खा क्यों? संस्कृतमें तो कोई शब्द निरर्थक नहीं होता और न कोई परिवर्तन व्यर्थ किया जाता। 'हीनं दूषयतीति हिंदुः' यह मेरु तन्त्रकी परिभाषा है। झूठ बोलनेवाला, शास्त्रीय कर्मोंसे द्वेष करनेवाला, उपस्थान (संध्यादि कर्म) न करनेवाला, निरुत्तर (अपने असत् तर्कपर हठ करनेवाला) और आमन्त्रित करके आये व्यक्तिका अपमान करनेवाला—ये पाँच प्रकारके लोग 'हीन' कहे गये हैं। जो इन्हें अपने समाजसे निकाल दे, वह हिंदू कहलाता था। यह हमारे समाजका आदर्श था। इस शब्दकी दूसरी व्याख्या है—हिन्-हिंसां दुनोति—हिंसाका नाश करनेवाला—अहिंसक। यही शब्द यूनानीमें 'ह' का लोप होनेसे 'इन्दु' बन गया और उससे 'इण्डिया' अंग्रेजीमें बना। जातिके नाममें ही हमारे समाजका आदर्श निहित है और नामकरणकी हमारी सनातन प्रणाली भी यही है।

हिंदू-समाजका समस्त आचार इस आदर्शको सम्मुख रखकर चलता है कि प्राणियोंको कष्ट न हो। मनुष्य अन्तर्मुख बने। बहिर्मुख प्रवृत्ति असंतोष एवं संघर्ष उत्पन्न करती है। उससे प्राणियोंको कष्ट होता है और जीवनमें दुःखोंकी ही वृद्धि होती है। शान्तिका मार्ग है अन्तर्मुख होना। दूसरोंके लिये अधिक-से-अधिक त्याग और अपने लिये कम-से-कम संचय तथा उपभोग—हिंदू आचारका यह मुख्य आदर्श है। विश्वमें सुख एवं शान्तिकी स्थापनाका इससे सुलभ मार्ग कुछ हो नहीं सकता।

जीवन इतना ही नहीं है। वह अनादि और अनन्त है। यह लौकिक जीवन उस जीवनका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इतनेपर भी मनुष्यका जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है। यह कर्मयोनि है। इसी योनिके कर्म शेष समस्त जीवनोंमें भोगने हैं। यह उपार्जनका स्थान है। सत् या असत् जैसे भी कर्म किया जायगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। सम्पूर्ण जीवोंमें केवल शरीर-भेद है। हम आगे किसी भी जीवके यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि कौन हमारा पूर्वजन्मका

सम्बन्धी है और आगे कौन बनेगा। इस प्रकार प्राणिमात्रसे आत्मीयता तथा सत्कर्मकी प्रेरणाको जितना व्यापक, सुदृढ़, पूर्ण आधार हिंदू-संस्कृति देती है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। इसी आधारपर हिंदू-समाज प्रतिष्ठित है।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥

(मनु० ८। २८५)

'जो व्यक्ति वनस्पतियोंको जिस-जिस प्रकारके कष्ट दे, राजा उसकी इस हिंसाका दण्ड उसे उसी-उसी प्रकारसे दे।' यह आज्ञा स्पष्ट घोषित करती है कि जीव-हिंसा तो दूर रही, वृक्षादि काटना भी अपराध माना जाता था और उसका बड़ा कठोर दण्ड मिलता था। मनुस्मृतिमें ईंधनके लिये गीले पेड़को काटना और अपवित्र भोजन एक कोटिके पाप माने गये हैं। ब्राह्मण भी यदि आवश्यकतावश विवश होकर किसी फल या पुष्प देनेवाले वृक्ष या लताको काटे-छाँटे तो उसे एक सौ ऋचाओंका जप करके इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, ऐसा निर्देश है।

इसमें किसीको कहीं शङ्का नहीं है कि हिंदू-संस्कृति धर्म-प्राण है। धर्माचारसे ही लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है, यह शास्त्रोंका स्पष्ट घोष है। अतएव समस्त हिंदू आचार धर्मको प्रधान मानकर चलता है। मनुष्यके सामाजिक जीवनमें अर्थ और काम ही प्रधान हैं। वर्तमान शब्दोंमें मनुष्यकी समस्या रोटी और संतानोत्पादन है। हिंदू-समाजने इन दोनों आवश्यकताओंको स्वीकार तो किया, किंतु गौण रूपसे। ये मुख्य आवश्यकताएँ नहीं हैं। मनुष्यका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष। वह इस कर्मक्षेत्रमें इसलिये आया है कि यहाँ उद्योग करके जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाय। भोजन तथा संतानोत्पादन तो कीड़े भी करते हैं। मनुष्य भी इसीमें लगा रहा तो उसमें विशेषता क्या हुई। मोक्षको प्रधान उद्देश्य माननेपर धर्म प्रधान हो गया। धर्मके द्वारा ही अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और तभी ज्ञानोदय होकर मोक्ष होगा। अतएव समाजके व्यवहारमें धर्म प्रधान बना। धर्मसे अविरोधी (धर्मसम्मत) 'अर्थ' तथा 'काम' का सेवन तो हिंदू-समाजमें विहित है; किंतु धर्मके लिये जीवनतकका त्याग करनेको प्रस्तुत रहना चाहिये। धर्मके तनिक भी विरुद्ध पड़नेवाले अर्थ या काम सर्वथा त्याज्य हैं; फिर वे चाहे जितने भी महान् क्यों न हों।

प्रत्येक समाज अपने रहन-सहन अपने आदर्शके अनुकूल ही स्थिर करता है। व्यक्तिको अपना जीवन अपने आदर्शके अनुसार बनाना ही पड़ेगा, यदि वह आदर्शको पाना चाहता है। हिंदू-समाजका आदर्श मोक्ष है—अन्तर्मुखता है। अतएव उसका आचार सर्वथा धर्मसे नियन्त्रित है। उसमें तनिक भी प्रमाद या उच्छृङ्खलताके लिये स्थान नहीं। उसमें प्रत्येक कृत्यका मूल्य धर्म-अन्तर्मुखतासे निर्धारित होता है। संग्रहकी अपेक्षा त्याग वहाँ आदर पाता है। बिना इस बातको हृदयंगम किये हिंदुओंके आचार, रीति-रस्म आदिका महत्त्व तथा उनकी सार्थकता समझमें आ नहीं सकती।

युगानुरूप आचार

हिंदू-आचारका आधार धर्म है और धर्म नित्य है, अतएव हमारे आचारशास्त्र भी नित्य हैं। आज कहा जाता है कि धर्म समयके अनुसार परिवर्तित होता रहता है, आचार परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं। वस्तुतः धर्म तो कभी बदलता ही नहीं। अग्निका धर्म उष्णता है, वह सर्वदा उष्ण रहेगी। आचारका आदर्श भी बदलता नहीं है। परिस्थितिके अनुसार जितना परिवर्तन आचारमें आवश्यक है, उन परिवर्तनोंका भी शास्त्रोंमें विधान है। प्रकृतिमें परिवर्तन अनियमित रूपसे नहीं होते। परिवर्तनके भी नियम हैं। अतः परिस्थिति भी सहसा नहीं बदलती। वह भी नियमानुसार ही उपस्थित होती है। इन नियमोंको जानकर प्रत्येक युगके लिये शास्त्रोंने आचारमें, साधनमें कुछ भेद बतलाये हैं। ये परिवर्तन शास्त्रीय सीमामें ही होते हैं। शास्त्रको छोड़कर जो परिवर्तन समाजमें हो गये हैं, वे परिवर्तन नहीं, विकार हैं। उनके द्वारा समाजका पतन हुआ है—हो रहा है।

हिंदू-समाजके आचारका नियन्त्रण स्मृतियाँ करती हैं। प्रत्येक युगके लिये स्मृतियोंने कुछ विशेष आदेश दिये हैं। सामान्य आदेश तो सभी युगोंमें पालन करने ही हैं, ये विशेष आदेश ही युगाचार कहे जाते हैं। इन स्मृतियोंके अतिरिक्त गृह्यसूत्र हैं। ये कुलाचारका आदेश देते हैं। इन युगाचार और कुलाचारोंपर ध्यान दिये बिना जो लोग पुराने रीति-रिवाजोंको ढूँढ़ने बैठते हैं, वे बहुत भ्रममें पड़ते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य मनुष्यको अन्तर्मुख करना है। युगाचार इसीको लेकर आदेश देते हैं। मनुष्यकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है, यह बात शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है। विश्वमें साधारण

नियम है कि सबलकी अपेक्षा दुर्बलको संयम अधिक करना पड़ता है और श्रम कम । एक योग्य चिकित्सक स्वस्थ, सबल व्यक्तिपर आहारादिके उतने बन्धन नहीं लगाता, जितने एक रोगीपर लगाता है; क्योंकि उसका उद्देश्य स्वास्थ्यको बनाये रखना है । रोगी—निर्बल व्यक्ति सहज ही रुग्ण हो जायगा; परंतु सबल व्यक्ति उन्हीं कार्योंसे सुख प्राप्त करेगा। उसके स्वास्थ्यपर प्रभाव नहीं पड़ेगा । दूसरी ओर सबल व्यक्ति जितना श्रम कर सकता है, निर्बल उतना कर नहीं सकता। मनुष्यकी मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हुई है। जैसे निर्बल शरीर शीघ्र ही रुग्ण हो जाता है और कठिनतासे आरोग्य प्राप्त करता है, पर सबल शरीरसे रुग्ण भी हुआ तो शीघ्र आरोग्य लाभ करके पूर्व शक्ति प्राप्त कर लेता है। वैसे ही निर्बल मानस अल्प विकारोंको प्रश्रय देकर ही बहिर्मुख हो जाता है और फिर उसे अन्तर्मुख करना बहुत कठिन होता है । सबल मनःशक्ति होनेपर यदि बहिर्मुखता—विषयप्रवृत्ति हुई भी तो वह सरलतासे निवृत्त हो जाती है और फिर पूर्ववत् अन्तर्मुखवृत्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है। हम वर्तमान मनुष्यके जीवनको देखें और पुराणोंके ऋषि-चरित्रोंका गम्भीरतासे मनन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी । इसीलिये शास्त्रोंने क्रमशः संयमकी सीमाएँ प्रत्येक युगमें कड़ी की हैं। निर्बल-रुग्ण-मानस मानवके लिये यह परमावश्यक है । जहाँ संयमकी सीमाएँ कठोर-से-कठोरतर होती गयी हैं, वहीं आध्यात्मिक साधन सरल और सुलभ होते गये हैं। निर्बल मानवके लिये श्रमकी सीमाएँ घटायी गयी हैं। हमारे सामाजिक आचार, शासन, गृह, नगर, यातायात प्रभृति सबपर युगाचारका प्रभाव है। अतः प्राचीन अन्वेषणमें यह बात बराबर ध्यान रक्खे बिना विवेचन भ्रमपूर्ण ही रहेंगे।

शास्त्रीय जीवन

युगानुरूप आचार एवं साधनोंमें परिवर्तन मनुष्यकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तिके ह्रासको दृष्टिमें रखकर किया गया है, यह ठीक है । ऐसी दशामें सहज ही प्रश्न उठता है कि हिंदू-समाज अपने लिये पूर्ण जीवन कौन-सा मानता है ? यों तो रोगी और दुर्बलके लिये पूर्ण जीवन वही है, जिसका चिकित्सक उसे आदेश दें । सबल पुरुषका जीवन उसकी स्पृहाकी वस्तु हो सकती है, पर आचरणकी वस्तु नहीं । वह उस प्रकार आचरण करके हानि ही उठायेगा। इसी प्रकार आजके युगके लिये शास्त्रोंने जो आचार एवं साधन निर्दिष्ट किये हैं, आज तो वे ही आचरणीय हैं। वैसे मनुष्यका पूर्ण जीवन एवं आचार आदियुगका ही है, इसमें कोई संदेह नहीं।

हिंदू-संस्कृति अरण्यानी-संस्कृति है। स्वच्छन्द तपोवनोंमें रहनेवाले त्यागी महर्षिगणोंने इसे पोषित किया है। वे तपोमूर्ति ही इस समाजके आदर्श हैं । आजकल पाश्चात्त्य जगत्‌में प्राकृतिक जीवनपर बल दिया जाने लगा है; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि तपोवनोंके संयमपूर्ण शास्त्रीय जीवन और प्राकृतिक उच्छृङ्खल पशुजीवनमें बहुत अन्तर है। पाश्चात्त्य जगत्‌की यह बात तो ठीक है कि मनुष्यका प्राचीन वन्यजीवन ही अच्छा था । वर्तमान नागरिक जीवनने उसे हीनशक्ति बनाया है; परंतु उनका यह मानना ठीक नहीं कि पुराना जीवन पशुओं-जैसा प्राकृतिक जीवन था। प्राकृतिक जीवन जो पशुजीवन है, वह हिंदू-समाजको न कभी अभीष्ट था और न हो सकता है।

पाश्चात्त्य जगत्‌के प्रकृतिवादी प्रत्येक कार्यमें पशुओंका उदाहरण देने लगते हैं। डार्विनके विकासवादने उन्हें भ्रान्त कर दिया है। वे नहीं देखते कि आजकी जंगली जातियाँ मांसाहारी ही अधिक हैं और क्रूर, मूर्ख तथा असभ्य हैं । मनुष्यको पशु बनना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता । यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवनको अपनानेके फेरमें शिक्षा-दीक्षा छोड़ बैठे तो मूर्ख तथा असभ्य हो जायगा । पशुओंमें अपने आहारको पहिचाननेकी स्वाभाविक शक्ति है, वे संतानोत्पादनके सम्बन्धमें निश्चित समयपर प्रवृत्त होनेका स्वभाव रखते हैं, भोजन-प्राप्ति तथा आत्मरक्षणके साधन उन्हें जन्मजात प्राप्त होते हैं। मनुष्यका बालक बिना सिखाये न बंदरकी भाँति तैर सकता और न पेड़पर चढ़ सकता है । वह यह पहिचाननेकी भी शक्ति नहीं रखता कि कौन-सा आहार उसके लिये लाभप्रद है और कौन-सा हानिकर । ऐसा निर्बल प्राणी यदि अपनेको प्रकृतिपर छोड़ देगा तो नष्ट हो जायगा। वन्य जातियोंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार बहुत कुछ अप्राकृत व्यवहार करना पड़ता है; यदि वे पूर्णतः पशुओंकी भाँति प्रकृतिपर रहना चाहतीं तो अब उनका पता भी न होता।

भारतीय आचार तपोवनोंको महत्ता देता है, परंतु उसका अर्थ त्याग है, पशुत्व नहीं। वनोंमें वे महर्षि रहते थे, जो विद्या एवं कलाके प्रज्वलित प्रकाशरूप थे । उन्हींसे सम्पूर्ण

विश्वने अपने लिये आचार, कला, ज्ञानका आदर्श प्राप्त किया। पाश्चात्त्य विवेचक यह भूल जाते हैं कि सत्य सदा समान रहता है। नियम एक-से ही सब कहीं होते हैं। मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका क्रमशः ह्रास हुआ है, यह तो वे मान लेते हैं; पर मानसिक-बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है, इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे इस सत्यको देख सकें कि बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है तो शारीरिक शक्तिकी प्राप्तिके लिये पशुत्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान नागरिक यान्त्रिक जीवन मनुष्यने अज्ञानवश—मोहवश स्वीकार किया है। इससे परित्राण पानेका मार्ग ज्ञानका वास्तविक विकास है। मनुष्यको पशु नहीं—पूर्ण मानव बनना है उसे। शास्त्रीय जीवन प्राप्त करना है। प्राकृतिक जीवन और शास्त्रीय जीवनका भेद ध्यानमें रक्खे बिना हिंदू-समाजके आचारका रहस्य उलझनमें रह जाता है।

हमारे गृह, ग्राम और नगर

हिंदुओंका आचार शास्त्रीय जीवनको आदर्श मानता है, यह निश्चय हो जानेपर निवासका प्रश्न आता है। हिंदू-समाजकी व्यवस्था चार व ॅ और चार आश्रमोंको लेकर है। चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन आश्रम वनमें रहनेके हैं। गृहस्थाश्रम इसलिये स्वीकार करनेका विधान है कि वह शेष तीनों आश्रमोंका आश्रय है। ब्रह्मचारी और संन्यासीका सत्कार करना गृहस्थका परम कर्तव्य है और अतिथि-सत्कार तो सर्वप्रथम धर्म है ही। गृहस्थाश्रमका जो आदर्श है, उससे विपरीत उसका आचार होना नहीं चाहिये। जब गृहस्थ शेष तीन आश्रमों तथा अतिथिके सत्कारके लिये ही गृह बनाता है, तब उसका गृह ऐसा होना चाहिये जिसमें इन आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुविधा मिल सके, वे वहाँ निःसंकोच रह सकें। आज एक सात्त्विक व्यक्ति भी नगरोंमें रहनेसे ऊबता है, बड़े-बड़े विशाल भवन आज ऐसे नहीं कि उनमें कोई तपस्वी रहकर प्रसन्न हो। प्राचीन निवास सात्त्विकताको प्रश्रय देनेवाले थे, उसे उद्विग्न करनेवाले नहीं।

सत्ययुगमें तो निवासका प्रश्न ही नहीं था। उस समय ग्राम और नगर नहीं थे। जो जहाँ चाहता वह वहीं—वृक्षोंके तले या गुफाओंमें तपस्या और ध्यान करता। पृथ्वी वनपूर्ण थी और वनोंमें मनुष्यकी क्षुधाको शान्त करनेके लिये पर्याप्त फल, मूल तथा कन्द थे। सबसे पहला अकाल महाराज पृथुके समयमें पड़ा। महाराज पृथुने पृथ्वीके विषम भागोंको सम कराया, खेतीकी प्रथा प्रचलित की और नगर तथा ग्राम बसाये। खेतीके विषयमें मनु महाराजके वचन हैं—

> **कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।**
> **भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥**
> (मनु० १०। ८४)

'खेती अच्छी है, ऐसा लोग मानते हैं; परंतु सज्जनलोग इस वृत्तिकी निन्दा करते हैं। क्योंकि लोहे लगे काष्ठके द्वारा कृषिकर्म भूमि और भूमिमें रहनेवाले जीवोंको मारता है।'

> **'हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।'**
> (मनु० १०। ८३)

'हिंसासे युक्त पराधीन (मजदूर, वर्षादिपर निर्भर) कृषिकर्मको यत्नपूर्वक छोड़ दे।' यह आज्ञा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये है और कहा गया है कि वे आपत्तिकालमें वैश्यके दूसरे कर्म तो कर लें, पर कृषि न करें।

महाराज पृथुद्वारा प्रचलित होनेपर भी कृषिकर्म हिंदू-समाजमें बहुत कालतक निन्दित ही माना गया। ब्राह्मणोंने द्वापरके अन्ततक नगर और ग्रामोंमें रहना स्वीकार नहीं किया। वे वनोंमें रहते थे। उनके आश्रम थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, सांदीपनि, कण्व प्रभृतिके तपोवनोंका महाभारत तथा पुराणोंमें वर्णन है। ये सब ऋषि गृहस्थ थे। गृहस्थ होनेपर भी उन्हें नगर और ग्रामकी आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण भारतमें सदा ज्ञानमूर्ति और तपस्वी रहे। वे सदा वनोंमें निवास, ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करते रहे। गृहस्थोंके बालक उन्हीं तपोवनोंमें अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत करते थे। निरन्तर निर्बाध गुरुसेवा करके वहीं वे विद्याध्ययन करते थे।

चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोगोंको—चाहे वे वनमें एकाकी रहें या नगर या ग्राममें—जलाशयकी आवश्यकता थी। स्नान-संध्या-तर्पण करना प्रत्येक द्विजातिके लिये अनिवार्य था। अतएव सरिताओंके किनारे ही आवास स्थिर होते थे। बहुत विस्तृत सरोवर भी आवासके लिये मध्यम स्थल मान लिये जाते थे। किसी हिंदूशास्त्रीय ग्रन्थमें शौचालय तथा भंगी या भंगीके कर्मका वर्णन नहीं है। यह बात स्पष्ट करती है कि मनुष्य मनुष्यसे इतना घृणित कार्य कराये, यह हिंदू-समाजको अभीष्ट नहीं था और हमारी समाजरचनामें उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। ग्राम हों या नगर, वे

इस प्रकार नहीं बसाये जाते थे कि जलाशयसे उनका विस्तार दूर हो जाय और नित्यकर्मके लिये मनुष्योंको घरोंमें व्यवस्था करनी पड़े।

मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है कि ग्रामके चारों ओर एक सौ धनुष्पतक वन होना चाहिये और नगरोंके चारों ओर तीन सौ धनुष्पतक। नगरोंमें एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेके मध्यमें भी उपवनोंकी व्यवस्था थी।

सत्ययुगके अन्तमें जब नगर और ग्राम बनाये गये, तब भी मनुष्य अरण्यसंस्कृतिका प्रेमी बना रहा। यों तो हमारे समाजके संचालक सदा वनोंमें ही रहे। उन तपोधन विप्रोंकी सेवामें रहकर प्रत्येक बालक जीवनका पाठ अरण्यमें ही पढ़ता था। परंतु आरम्भमें जो नगर और ग्राम बने, वे बहुत सादे बने—लकड़ीकी दीवारें तथा फूसके छप्पर। दो, चार, छः, आठ तथा दस छप्परवाली शालाओंका वर्णन प्राचीनतम वर्णनोंमें है। मनुने आज्ञा दी है कि राजाको चाहिये कि असुरोंके पत्थरोंसे बने नगर तोड़ दे। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि पत्थरके भवन बनानेका ज्ञान ही लोगोंको नहीं था। अग्निमें पकी ईंटों (इष्टकाओं) से यज्ञकुण्ड अनादिकालसे बनते रहे हैं। पाषाणी और आयसी (लोहेके बने भवनोंकी) पुरियोंका वर्णन भी है। विमान भी बनते ही थे। किंतु यह सब बाह्य भोग अभीष्ट नहीं था। सीधे-सादे छप्परोंके भवन ही आदर्श माने जाते थे।

त्रेताके प्रारम्भमें ही बड़े-बड़े विशाल भवनोंका वर्णन प्राप्त होता है। भारतमें स्फटिक-रत्नादि बहुमूल्य अवश्य माने गये; किंतु उनकी बहुमूल्यता ऐसी नहीं रही जो आज समझी जाती है। भवनोंमें स्फटिक, मणि, स्वर्ण—सबका उपयोग होता था—बहुलतासे होता था। भवन खूब ऊँचे होते थे और उनका आकार ऊपर कंगूरोंसे युक्त होता था। कंगूरोंपर स्वर्णकलश और पताकाएँ शोभित होती थीं। गृहद्वारके दोनों ओर केलेके वृक्ष लगाये जाते थे, यह मङ्गलसूचक चिह्न था। द्वारको तोरणसे नित्य सजाया जाता था।

वर्तमान सभ्यताके झंझावातसे जो प्राचीन भवन अब भी बचे हैं, उनमें हिंदुओंके दो चिह्न मिल जायँगे। भवनके बीचमें प्राङ्गण और उसके मध्यमें तुलसीचबूतरेपर तुलसीका वीरुध्, भवनमें एक मन्दिरकी भाँति बना पूजागृह। प्राचीन कालसे यह पूजागृह चला आता है। द्वापरके अन्ततक द्विजाति यज्ञोपवीत-संस्कारसे लेकर संन्यासी होनेतक अपने प्राजापत्य अग्निकी रक्षा करता था। उसमें वह नित्य हवन करता था। प्रत्येक व्यक्तिके पास हवन-कुण्ड होता था। वह यदि गृहसे कहीं जाता और हवन-कालतक लौटना न होता तो अपना हवनकुण्ड साथ ले जाता। सम्मान्य व्यक्तिके आनेपर अपनी अग्निको लेकर खड़े होकर उसका आदर किया जाता था। इस अग्निकी बहुत सावधानीके साथ रक्षा की जाती। उसका बुझना अत्यन्त अपशकुन समझा जाता।

नगरोंके चारों ओर खाई बनाना तो पुरानी परिपाटी है ही, खाईसे भीतर परिखा होती थी। मार्गोंके निकासपर द्वार बनते थे। भवनोंका निर्माण भी नगरों-जैसा होता था—विशेषतः राजभवनोंका। मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता और भीतर घेरेदार अनेक प्रकोष्ठ होते। एकसे दूसरे द्वारको पार करके तब मध्यमें मुख्य स्थानतक पहुँचा जा सकता था।

प्रत्येक भवन सूक्ष्म कला-कृतियोंसे सजाया जाता था। भित्तियोंमें मूर्तियाँ बनती थीं और चित्र भी। गृहद्वारके समीप नित्य प्रातः रंग-बिरंगे अन्नचूर्ण, हल्दी आदिसे 'चौक' बनाये जाते। महाराष्ट्रमें यह प्रथा अबतक है। हिंदुओंके समाजमें उल्लास, ऐश्वर्य—ये दोनों भरे थे; परंतु थे वे सात्त्विकतासे नियन्त्रित। नगरोंमें पक्के राजमार्ग थे और वे बराबर सींचे (धोये) जाते थे। वह भी साधारण जलसे नहीं—सुगन्धित जलसे। स्थान-स्थानपर उपवन एवं क्रीड़ोद्यान तथा क्रीड़ा-पर्वत होते थे। कृत्रिम झरने उन पर्वतोंसे झरा करते। घरोंमें निरन्तर सुगन्धित धूप जला करती। वातायनोंसे यह धूम्र निकला करता। रात्रिमें राजपथ पूर्णतः प्रकाशित किया जाता और दिनमें पूरे मार्गपर वस्त्रोंसे छाया की जाती। स्नान, संध्यादि जलाशयके तटपर किये जाते, जहाँ पक्के घाट बने होते थे।

वेष-भूषा

हिंदू-समाजमें ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थके लिये बाल बनवाना मना है। मूँजकी मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म—ये दोनोंके वस्त्र हैं। ब्रह्मचारी हाथमें पलाश-दण्ड रखते हैं। ताड़के पत्रोंका छत्ता और खड़ाऊँ—ये वस्तुएँ ब्रह्मचारीको वानप्रस्थसे पृथक् करती हैं। संन्यासी या तो मुण्डित रहें या जटा धारण करें, ऐसा निर्देश है। संन्यासी वल्कल-वस्त्र, मञ्जिष्ठमें रँगे या गैरिक वस्त्र धारण करें। सलिङ्ग संन्यासी दण्ड धारण करता है। अलिङ्ग संन्यासी (अवधूत) के लिये कोई वेश निश्चित नहीं है।

गृहस्थोंमें मस्तकपर पूरे बाल रखने या शिखा रखकर शेषको मुड़वा देनेकी प्रथा थी। आजकी भाँति पुरुष कभी

आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी। अधिकांश ब्राह्मण जटा रखते थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था। ब्राह्मण वल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर वल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे। अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे। धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट, पगड़ी या साफा—यही हिंदूवेश है। सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था। जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था। युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे; किंतु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि ये कवच भी इस प्रकारके नहीं बनते थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय। आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया। बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया। यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे। सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है। स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं। यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊपरसे उत्तरीय डाल लेती थीं। स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुत-से ग्रामोंमें ऐसी ही है। केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है। स्त्री और पुरुष दोनों रंगीन वस्त्र धारण करते थे। शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे। अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परंतु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

आभूषण-धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे; उनमें भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे। पूरे समाजका एक बहुत छोटा भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। फलतः सामग्रीके लिये संघर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कुण्डल, हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अङ्गुलीय (अँगूठी), किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे केवल नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और बालक कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी आभूषण पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंकी आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात हो जाता है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है, यह आजके वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके आभूषण गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होना चाहें, यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य अपना शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दरिद्रताने उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्यता है, फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं पाता। स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य लगता होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अङ्गराग, सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त प्रिय थे। शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनाना, केश-विन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। प्रौढ़ शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राचीन है। उनसे हिंदू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक रुचिका अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

राम-भरोसा

धन-पति, पद-पति, बुद्धि-पति, जग-पतिसों लिय भीख।
इन मंगन सों माँगु नहिं, प्रभु सों माँगन सीख॥
मँगिबो परत न राम सों, जानत जन-हिय-पीर।
जाति दौरि शिशु के निकट, जननि पियावत क्षीर॥

—श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

प्रत्येक मन्तव्य या सिद्धान्तमें जिस वस्तुको प्राधान्य दिया जाता है, उसके अनुसार ही उसका नाम पड़ता है। इसी प्रकार पूँजीकी मुख्यता होनेके कारण इसका नाम पूँजीवाद चल पड़ा है। फ्रांसकी १७८९ की क्रान्तिमें ईश्वर और धर्मको उड़ा देनेकी रणभेरी बजी, इससे अर्थ और कामका जोर बढ़ा। अर्थका सही अर्थ यह है कि जिससे संसार चले, और इसकी आवश्यकता पूरी हो। आवश्यकताओंके दो मुख्य भेद हैं—व्यक्तिकी और समाजकी। व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं—खान-पान आदि। समाजकी आवश्यकता है—राज्य। धर्मके संयम, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह आदिके आदर्शोंको शिथिल करनेके साथ ही मौज-शौकका प्राधान्य आ गया और उसमें 'छूट'—स्वच्छन्दताके सिद्धान्तसे दुराचारकी दुर्वासना भी प्रविष्ट हो गयी। मौज-शौकके लिये धन चाहिये, इसलिये धनका प्राधान्य आया। धनका 'उत्पादन' करनेमें श्रम चाहिये, इसलिये श्रमका—मेहनतका—क्रियाका प्राधान्य आया। जैसे नेपोलियनके नेतृत्वके अधीन फ्रांस राज्यसत्ताकी गेंद-उछालका केन्द्र बन गया, वैसे ही वह यूरोपमें मौज-शौकके अड्डोंका, नाइट-क्लबोंका, फराक और पेटीकोटके फैशनका केन्द्र हो गया। इसके प्रभावसे सारे यूरोपमें मौज-शौक और धनके लिये उन्माद या आतुरता फैल गयी। धनको बढ़ाने, धनको खूब इकट्ठा करने और धनको ऊँचा उठानेके आदर्श, प्रयत्न और कानून बनने लगे। धन या पैसा जो पहलेके धर्मराज्योंमें हाथका मैल समझा जाता था, उसे शुक्रकी महादशा आ गयी। धन या लक्ष्मी स्वयं तो कोई बुरी वस्तु नहीं है; उसके लालचमें पड़कर द्वेष, दुराचार और दुर्वासनामें फँसना बुरा है। यह तो विष्णुकी महामाया है; इसलिये बड़े-बड़े बुद्धिमान् इस काम-पन्थमें भटक गये। इसकी फिलॉसफी निकली और नये अर्थशास्त्र बने। इसको सम्मति और पोषण देनेवाली लोकशाहीकी राज्य-रचनाका आविर्भाव हुआ। फ्यूडलिज्म—अमीर और सरदार जो मोटे कपड़े पहनकर हजारों आदमियोंका निर्वाह करते थे, राजा और सरदार जो संग्राममें आगे बढ़कर पहले अपना बलिदान देनेके लिये तैयार होते थे, धार्मिक सत्ताके अधिकारी, जो लोगोंको संयम और दान-धर्मका उपदेश देकर अपने ठिकानेपर रखते थे, उन सबपर आ बनी। सरदारों और अमीरोंको उड़ा देनेमें होशियारी मानी जाने लगी। बड़ी-बड़ी तनख्वाहवाली सेनाओंका बारहों महीनेका करोड़ोंका खर्च और इस कारण स्वभावतः अनायास संग्राम और लड़ाइयाँ बढ़ने लगीं और रविवारके पुण्यके बदले पुतलीघरोंमें पैसे उड़ने लगे और देव-मन्दिरोंकी संख्या कम होने लगी। बर्क-जैसे दूरदर्शी विद्वान् सहसा चिल्ला उठे और इंगलैंड-जैसे देश क्रान्तिकी नागफाँससे बच गये। वहाँ तथा अमेरिकामें धर्मका थोड़ा-बहुत जोर होनेके कारण दुराचारमें कुछ रुकावट आयी। परंतु धनेच्छा और लोलुपता वहाँ भी बढ़ी और पूँजीवाद प्रविष्ट हो गया। इसके पीछे लोगोंकी दरिद्रताकी अपेक्षा धनलिप्सा ही अधिक बलवान् थी। किस प्रकार दूसरोंसे धन लेना, खींचना या रोक रखना—यह उसका मुख्य प्रेरक बल हो गया। इसके लिये बड़े-बड़े कारखाने, नये-नये आविष्कार, विज्ञानके विश्वविद्यालय बढ़ने लगे। इसके साथ इसके अङ्गस्वरूप मजदूरोंका पूर्ण जोरदार, संख्याबद्ध वर्ग बनने लगा, पूँजीपति बढ़ने लगे और वर्ग-संघर्षके भी नारे लगाये जाने लगे। बर्कने कह दिया था कि अब सिरको हथेलीमें लेकर प्रजाकी तथा महिलाओंकी रक्षा करनेके लिये कूद पड़नेका युग चला गया और उसकी जगहपर तर्कवादी, अर्थवादी और पैसे-पैसेका हिसाब करनेवालोंका युग आ गया है और देशकी यशस्विता सदाके लिये विदा हो गयी है। परंतु यूरोपका वातावरण इस कूद-फाँदसे इतना अधिक बिगड़ चला था कि कार्लाइल-जैसे महान् विचारक भी अंशतः भूलमें फँस गये और इस क्रान्तिकी निन्दा करते हुए भी 'परिश्रम' और क्रिया (लेबर)का राग अलापने लगे। सच बात तो यह थी कि दुनियाँमें जितना खाने-पीनेके लिये चाहिये, उतना तो होता है मनुष्यकी असली जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं। परंतु नयी विचारधारा तो यह कहती थी कि हमें तो मौज-शौक चाहिये, मौज-शौकके लिये धन चाहिये और धनके लिये श्रम चाहिये। इस प्रकार मजदूरी आकर पूँजीवादके पल्ले बँध गयी। यह सब जोर देकर कौन करावे—पूँजीपति या मजदूर ? और दोनोंके ऊपर हुकूमत कौन चलाता है ?—राज्य; दूसरा कौन ? इससे राज्यकी हाकिमी आयी। राज्यकी हाकिमी कौन करे ? यह समुदाय हुकूमत

भोगे या वह दल भोगे ? संत भोगें या ये षड्यन्त्रवाले भोगें ? संतोंको यह कहकर उड़ा दिया कि संसारको समझते नहीं। राजाओंको यह कहकर किनारे किया कि तुम तो संयम और सदाचारके लिये सबको दबाते हो, इसलिये तुमसे हमारा काम नहीं चलेगा। अब बच गये लोकशाहीवाले क्रान्तिकारी। उनमें भी फिर अनेक पक्ष हो गये—जिनमें दो स्पष्ट बहुमतवाले और अल्पमतवाले हैं। दोनों ही अपनी बातको सोलहों आने ठीक मानते हैं। कौन किसके लिये सहे या अपने विचारको हटाकर या दूसरेकी विचारधाराको मानकर समाधान करे ? और क्यों समय नष्ट करे ? जिन साधनोंसे सफलता नहीं मिल सकती, ऐसी प्रार्थनाओंको अथवा लोगोंका बहुमत प्राप्त करनेके निरर्थक प्रयत्नको क्यों अपनाये रहें ? यह परिस्थिति उत्पन्न होने और सहज ही समझमें आनेके कारण त्रासवाद आया, बमबाजी शुरू हुई और अणु-बम तथा हाइड्रोजन-बम भी धर्मके विदा होनेके कारण और धर्मक्षेत्रके चौकमें रीजन (तर्कवाद) का पुतला खड़ा करनेके फलस्वरूप बिना माँगे, बिना बुलाये, अनेक बार आड़े हाथ करनेपर भी ये आ पहुँचे। धर्मविहीन राज्यकी नास्तिक फिलाँसफी राज्यमें, शिक्षामें, आदर्शमें और भाषामें भी आ पहुँची। 'सब समान'का असत्य सिद्धान्त पुनरावर्त्तनसे फैशनमें आ गया और सब कुछ किनारे रखकर 'अब तो भाई दुनियाकी रोटी पूरी करो'—इसकी योजना करनेका शोर मचने लगा और इसका सीधा उपाय—जिनके पास पैसे हों, उनसे ले-लेकर जरूरत पूरी करो—यह सूझा। इस रोटीकी दुनियामें एकाएक चमत्कार हो गया और मेहनतके बावजूद रोटियोंका अकाल एकाएक कहाँसे आ गया, इसका उत्तर खोजनेकी खटपटमें कौन पड़े ? ऐसी आजकी मानस-भूमि बन गयी। इसके लिये खूब उत्पादन करो, खूब उत्पादन करो—यह आवाज चारों ओर फैल गयी। उत्पादनमें सफलता नहीं हुई, हजारों मन काफी फेंक देनी पड़ी, पाट आदि बहुतेरी चीजोंके उत्पादनकी कीमत इतनी भी न हुई कि उससे लगत वसूल हो सके। अनाज सस्ता न होने पाये, इसके लिये बनावटी रुकावटें पैदा की गयीं। घी-दूध, अनाज आदिमें मिलावट और बनावट बढ़ गयी। दूसरी ओर कपड़ेकी तथा दूसरी मिलोंमें करोड़ों रुपयोंका माल भरा रहने लगा। य महँगा माल कौन ले ? मालकी महँगाईके साथ रुपयेकी तं भी बढ़ती गयी। तीसरी ओर दुर्घटनाओं, दगेबाजियों औ युद्धोंके परिणामस्वरूप करोड़ों रुपयोंके जहाज, वायुयान औ इमारतोंका नाश होने लगा। जर्मनीने तो अपना सा काफला ही बिजलीके बटन दबाकर उड़ा दिया। इस प्रका दूसरी ओर देखो तो महँगाई और मौज-शौककी तथा मशीनों की वृद्धि और धंधे-रोजगारकी स्वतन्त्रताके लिये परेशा होनेका परिणाम यह हुआ कि मजदूरीकी तैयारी होनेपर भ बेकारी बढ़ती गयी। इसलिये बेकारीकी पुकार भी इस न अव्यवस्थामें बढ़ गयी। सारांश यह कि जैसे शतरंजकी बाजी में गलत या भूलभरी चाल चलनेसे खेलाड़ी फँस जाता है अथवा सोचे हुएसे उलटा ही परिणाम आ जाता है, व हालत इस नये प्रयोगके खेलाड़ियोंकी भी हुई। प्रकृति और प्रकृतिके ईशकी सत्य, अहिंसा, संयम इत्यादि किसी भ विधि-निषेधके विरुद्ध स्वतन्त्रता खोजते-खोजते खाने पीनेतककी परतन्त्रता आ पड़ी। पूज्यकी पूजामें व्यतिक्र करके और संत तथा शैतानको समान समझनेवाले मार्ग दुनियामें उलटे ऐटम बमवाली और दुष्ट हथियारोंकी विश्व व्यापी लड़ाई सिर आ पड़ी। अर्थ और धनके पीछे आँ मूँदकर दौड़ती प्रजामें अधिक बेकारी और ऋणभार ब गया। लोकशाहीकी राज्य-पद्धतिसे, दुनियाका उद्धार क डालनेकी प्रवृत्तिसे उन-उन राज्योंमें ही स्वतः अव्यवस्था भेद, अन्तर्युद्ध, बमका उपयोग, आग लगानेकी तरकी तथा पारस्परिक द्वेष और बड़े-बड़े अपराध बढ़ गये। सारी बातें इतनी स्पष्ट और प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं कि कोई भी देखनेवाला इन्हें देख सकता है। अवश्य ही इ पंथमें अबतक लोग इतना आगे बढ़ गये हैं कि अब पी हटना बहुत कठिन है। तमस्से प्रकाशमें जाना भी तो ए महाक्रान्ति ही है।

इस प्रकार १७८९ से इसकी पश्चाद्-भूमिका औ वर्तमान भूमिकाका दिग्दर्शन करानेके बाद हम पूँजीवाद दोष और विपरिणामको भी देख लें।

(अपूर्ण

ईश्वरने यह तन दिया करनेको दो काम।
तन-धनसे सेवा करैं, मनसे सुमिरैं राम॥

सात्त्विक वृत्ति

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी)

"रामायणको मैं जीवनकी पुस्तक मानता हूँ और मेरा ऐसा विश्वास है कि जबतक हम उसको इस भाँति समझनेका प्रयत्न नहीं करेंगे, 'राम-राज्य'की स्थापना हमारे शरीर, मन तथा बुद्धिमें नहीं हो सकती । हजारों वर्षोंसे रामायणका पाठ घर-घरमें हो रहा है परंतु रामायणकी जो गारंटी—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

—है, वह रामायणका पाठ करनेवालोंके जीवनमें चरितार्थ होती नहीं पायी जाती । उनके शरीर रोगसे ग्रसित हैं, मन विकारयुक्त हैं तथा बुद्धि अज्ञानसे परिपूर्ण है । इसका क्या कारण है ? क्या रामायण गलत है ? नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि इसके आधारपर साधनाद्वारा बहुत-से व्यक्ति अपना जीवन सफल बना चुके हैं । तो फिर हमारी असफलताका क्या कारण है ? मेरे विचारसे हमलोग रामायणको एक धर्मकी पुस्तक-मात्र मानते हैं और उसका हमारे दैनिक जीवनसे भी कोई सम्बन्ध है—यह विचार करनेके लिये तैयार नहीं हैं ।

"पार्वतीने तप किया, मनु-शतरूपाने तप किया, भरत तथा अयोध्यावासियोंने साधना की । क्या ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ मात्र हैं अथवा एक पौराणिक ग्रन्थकी उन गाथाओंमेंसे हैं, जिनका क्रियात्मक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या हम भी उसी परिपाटीपर चलकर वही प्राप्त नहीं कर सकते, जो उन्होंने किया ?

"देश, काल तथा पात्रके अनुसार इस साधनाके रूपमें परिवर्तन हो सकता है; परंतु मूल सिद्धान्त वे ही रहेंगे । यदि ऐसे कुछ साधक तैयार हों, जो रामायण इस भाँति समझने और उसका क्रियात्मक उपयोग करनेको प्रस्तुत हों या कर रहे हों, तो बड़ा लाभ हो सकता है । मेरा यह निवेदन है कि लोग सत्सङ्गकी समाप्तिके बाद रुक जायँ और हमलोग आपसमें बैठकर अपने अनुभव तथा कठिनाइयोंको बतायें तथा नवीन सुझाव स्वतःप्राप्त विवेकके प्रकाशमें रक्खें, जिनसे लाभ उठाकर हम एक-दूसरेकी सहायता कर सकें और अपनी साधनामें अग्रसर हो सकें ।" इतना कहकर योगीजी शान्त मुद्रासे बैठ गये ।

कुछ लोग उठकर चले गये, लगभग पचीस व्यक्ति बैठे रहे । योगीजीने कहा—'मेरा ऐसा अनुमान था कि पाँच-छः व्यक्ति ही रुकेंगे; परंतु बात मेरी आशाके विपरीत हुई ।'

दो-तीन सज्जन एक साथ बोल उठे कि 'साहब ! हमलोग तो आपके मुखसे और अधिक सुननेके लिये ही बैठे हैं । कुछ करने-धरनेवालोंमें नहीं हैं ।'

योगीजी हँसने लगे—उपस्थित लोगोंकी मनोवृत्ति-पर ! वहाँपर पुलिसके एक बहुत ऊँचे अफसर भी बैठे हुए थे, जो योगीजीके अनुयायी थे तथा उनके सिद्धान्तोंपर चलकर पर्याप्त लाभ उठा चुके थे । उनके मुखपर पुलिसके अधिकारियोंकी-सी निरङ्कुशता न थी, अपितु धार्मिक पुरुषोंका-सा माधुर्य तथा कोमलता थी । वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर भगवान्‌का स्मरण करते थे । भोजनमें अन्नका परित्याग लगभग एक वर्षसे किये हुए थे और दिनमें केवल एक बार कंद-मूल-फल तथा शाकका आहार करते थे । योगीजीके सत्सङ्गमें आनेवाले सभी व्यक्ति उन्हें श्रद्धा तथा आदरकी दृष्टिसे देखते थे । उन्होंने कहा—"वैसे तो मेरा कोई विशेष अनुभव नहीं है, किंतु आज प्रातःकालकी एक घटना उल्लेखनीय है—

"मेरे घरके बाहरी कमरेमें एक लड़का रहता है, जो विश्वविद्यालयमें एल्-एल्० बी० में पढ़ता है । धनाभावके कारण वह अपनी शिक्षा आगे बढ़ानेमें असमर्थ था, वह

मेरे पास आया और उसने अपनी कठिनाइयाँ मेरे सामने रक्खीं। मैं उसको अपने साथ रखनेपर राजी हो गया और उसको रहनेके लिये अपने घरका बाहरी कमरा दे दिया। घरपर ही उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी।

"आज प्रात: लगभग पाँच बजे जब वह दाढ़ी बना रहा था, तब उसने पानीका लोटा खिड़कीमें रख दिया। एक आदमी उस लोटेको उठानेकी नीयतसे खिड़कीके पास आया, पर अंदर एक व्यक्तिको देखकर लौट गया। उस कमरेके बाहर दरवाजेके पास एक टूटा हुआ उगालदान पड़ा था। वह उसको उठाकर नौ-दो ग्यारह हुआ। उस लड़केने देखा कि कोई व्यक्ति खिड़कीके पास आया और उसको देखकर दरवाजेकी ओर गया और वहाँसे कुछ उठाकर चला गया। वह कमरेके बाहर निकल आया, ठीक उसी समय मैं भी घरसे बाहर निकला। मुझे देखते ही उसने प्रणाम किया और उस घटनासे सूचित किया। मैंने तुरंत अपने अर्दलीको उस आदमीको पकड़ लानेका आदेश दिया।

"लग-भग आधे घंटेमें वह व्यक्ति पकड़कर मेरे पास लाया गया। उस अर्दलीने पकड़ते समय ही उसकी काफी मरम्मत कर दी थी। तो भी कोठीपर आते ही और लोगोंने उसकी पूजा शुरू कर दी। मेरे अंदर भी कुछ तामस वृत्तिका प्रादुर्भाव हुआ और मैंने चौकीसे दो कान्स्टेबलोंको बुलाकर उनकी सुपुर्दगीमें उस व्यक्तिको दे दिया।

"किसी क्रूर तथा अनिष्टकारक कर्म करनेके बाद हमें ग्लानि होती है और शीघ्र ही कोमल भावनाओंका जन्म होता है और तब उस व्यक्तिसे, जिसके साथ हमने अन्याय किया है, सहृदयताका बर्ताव करनेकी इच्छा होती है।

"जब कान्स्टेबल उसे ले जाने लगे, तब मैंने बहुत नरमीसे कहा—

'तुम कौन हो और तुमने चोरी क्यों की ?'

'मैं उड़ीसाका एक गरीब ब्राह्मण हूँ। बाढ़से घर-बार तथा खेती नष्ट हो जानेपर मैं भागकर गोरखपुर आया और वहाँ रेलवेमें मजदूरी करने लगा। दुर्भाग्यसे छटनीमें वहाँसे भी निकाल दिया गया और अब कई दिनोंसे यहाँपर हूँ।' उसकी तलाशी लेनेपर कुछ ऐसे प्रमाण मिले, जिससे उसकी बातोंकी पुष्टि हुई। उसको देखनेसे मालूम होता था कि कई दिनोंका भूखा है।

"मुझे उसपर बहुत दया आयी और मैंने कान्स्टेबलोंको उसे छोड़कर चौकी लौट जानेका आदेश दिया और उस व्यक्तिको भोजनकी सामग्री देकर विदा किया।

"मेरे जीवनमें यह पहला अवसर था कि एक व्यक्तिको चोरी करते हुए पकड़े जानेपर भी मैंने छोड़ दिया और तो भी मुझे कोई मलाल नहीं हुआ, अपितु एक दैवी आनन्दकी अनुभूति हुई। मैंने ऐसा अनुभव किया कि यह इस सात्त्विक वृत्तिका प्रभाव था, जिसका प्रादुर्भाव मेरे जीवनमें संयम एवं नियमके द्वारा हुआ है, जो मेरी साधनाके विशेष अङ्ग हैं।"

'तब निश्चित तेरा कल्याण'

हत्यारा आएगा सम्मुख, लेनेको तेरे प्रियप्राण।
कहना होगा उसे भावसे, 'हो भाई! तेरा कल्याण!'
काक, कबूतर, चींटी तकके, ऊपर भी न फेंक पाषाण।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण॥

शत-शत फूल चढ़ा उस जनपर, जो फेंके तुझपर पाषाण।
अपने प्राण गँवा करके भी, बचा किसी प्राणीके प्राण॥
दीन, दुखी, पापी, पतितोंका, कर स्वागतपूर्वक शुभ त्राण।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण॥

—'बन्धु', ब्रह्मानन्द

श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह प्रश्न होता है कि श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है ? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है ? इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७ वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे। इस हिसाबसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है ।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है।

यदि कहें 'कि एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्—(११ । ३५)।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था।*

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही हुआ था। प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है। प्रख्यात ऐतिहासिक स्व० श्रीचिन्तामणिराव वैद्यने मार्गशीर्ष शु० १३ को गीताकी जन्मतिथि बतलाया है—'सम्पादक'

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर १३०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(भीष्मपर्व ४३।१)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३।२)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकलतीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥
(भीष्मपर्व ४३।५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका फल तो अधिक-से-अधिक स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है। यों गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

सत्कथा

(१)

राम-जपके सम्बन्धमें स्वयंकी अनुभूतियाँ

(लेखक—आचार्य श्रीभगवानदासजी झा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

जीवनके शैशव-कालसे ही मेरे अबोध मनपर मेरे पिताजीकी भक्ति एवं उनके द्वारा निर्देशित राम-नाम-जपकी महत्ताके संस्कार आजतक बनते चले आ रहे हैं। मैं पाँच वर्षका था। मेरे पिताजी चाहते थे कि मैं पढ़ने बैठ जाऊँ। पर मेरा मन पढ़नेसे उसी प्रकार कोसों दूर भागता था, जिस प्रकार किसी संसार-विषयासक्तका भगवन्नामसे। पिताजी बड़े चिन्तित रहते थे। सोचते थे कि इसके भाग्यमें विद्या है ही नहीं। अन्तमें उन्होंने प्रतिदिन इसीके निमित्त 'ओम्'का जप किया। हरि-इच्छासे मेरा मन पढ़नेके लिये व्याकुल होने लगा और बार-बार उचटनेकी स्थितिके बाद भी मैं प्रत्येक कक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता रहा। जब मैं सन् १९३८ में मिडिल-परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ, तब मुझे ऐसा भासित होने लगा कि जिस राम-नामने मुझे इतनी विद्या दी, वह इससे आगे भी देगा। अस्तु, घरका त्याग करके मैं हाई-स्कूलकी परीक्षा उत्तीर्ण करने दतिया आ गया। जीवन-क्रम बढ़ता गया और इसी क्रममें ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे मेरे मनमें राम-नाम-जपकी महिमाका प्रभाव तीव्रतर होता गया। अधिक न कहकर मैं उन घटनाओंको लिपिबद्ध करता हूँ, जो यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त हैं कि ओम् या राम-नाम-जपसे सब विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

घटना-क्रमाङ्क १

बात सन् १९४३ की है। घटना झाँसी, उत्तरप्रदेशकी है। मैं उस समय इंटरमीजियट, प्रथम वर्षका विद्यार्थी था। राजकीय इंटरमीजियट कालेज, झाँसीके छात्रावासमें वास करता था। कमरा क्रमाङ्क १० था। प्रथम वर्षकी वार्षिक परीक्षा निकट आ रही थी। सभी विद्यार्थी रात्रिके चार बजेसे विद्याध्ययनमें लग जाते थे। छात्रावासमें विद्युत्-प्रकाशकी व्यवस्था नहीं थी। अतएव लालटेन जलाकर कार्य किया जाता था। एक रात्रिकी घटना है। मैं प्रातः चार बजे उठा। कमरेसे बाहर निकलकर लघु-शङ्काका समाधान किया। तत्पश्चात् कमरेकी देहरीपर खड़ा हो गया। आदतके अनुकूल महात्मा सूरदासका पद—

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो·····

—गुनगुनाने लगा। एक पदकी समाप्तिके बाद दूसरा पद—

मैया मैं तो चंद-खिलौना लैहों·····

—अधिक उच्च स्वरसे गाने लगा। अन्धकारकी रात्रि थी। इसलिये यह कुछ पता नहीं कि मेरी स्वरलहरीको कोई सुननेवाला भी था या नहीं। दस मिनट बाद लालटेन जलानेके लिये कमरेके भीतर गया। शौचके लिये लोटा उठाया, लालटेन हाथमें ली, ताला उठाया और चला देहरीकी ओर। लालटेन पृथ्वीपर रखने लगा कि अचानक भयके मारे लालटेन हाथसे छूट गयी और दूसरे हाथका लोटा बाहर दूर जा पड़ा। देखा—जहाँ खड़ा मैं दस मिनटतक गाता रहा, वहीं मेरे पैरोंसे एक सेंटीमीटरकी दूरीपर ही एक विषधर मेरी स्वर-लहरीको सुन रहा था। किंतु उसने काटनेकी तो कौन कहे ऊपर उठे हुए फनका मेरे पैरसे भी स्पर्श नहीं किया। मैं चिल्लाया। साथी जाग पड़े और सर्पका वध कर दिया गया। मैं सोचने लगा—यह हरि-नामका ही प्रभाव है कि जो सूरके पदके रूपमें मेरी रक्षाका निमित्त बना। सर्प पाँच-छः फुट लंबा और महान् विषैला था। इसमें किसीको संदेह नहीं था कि यदि वह मुझे डस लेता तो छात्रावाससे लगभग तीन मीलकी दूरीपर स्थित औषधालयतक रात्रिके चार बजे पहुँचनेके पूर्व ही मेरी ऐहिक जीवनलीला समाप्त हो जाती। पर भगवान् जो साथ थे।

घटना-क्रमाङ्क २

बात सन् १९४८ की है। इलाहाबाद नगरसे सम्बन्धित घटना है। मैं गवर्नमेंट ट्रेनिंगकालेजमें एल्०टी० का विद्यार्थी था। वार्षिक परीक्षाके दिन निकट थे। कालेजमें प्रथम श्रेणीकी प्राप्तिके लिये भयंकर होड़ें लग रही थीं। मैं तिमाही और छःमाही परीक्षामें प्रथम उत्तीर्ण हुआ था। अतएव अब सभी विद्यार्थियोंका यही प्रयत्न था कि मैं अबकी प्रथम श्रेणी

न प्राप्त कर सकूँ। आठ-दस विद्यार्थी मेरी प्रतियोगिताके क्षेत्रमें कूद पड़े। वे रातों-दिन एक करने लगे। इधर रातके बारह बजेतक पढ़ते और उधर प्रातः चार बजे उठ बैठते। पर मेरी स्थिति भिन्न थी। रातको जगनेकी आदत नहीं थी। नौ बजे सो जाता और प्रातः सात बजे उठता। यह क्रम कई दिनोंतक चलता रहा। सबने समझ लिया कि अब यह विद्यार्थी क्या बराबरी करेगा। पढ़ता तो है नहीं। सोता रहता है। बात सोलह आने सच थी। पर मैं सोनेके पूर्व लगभग पंद्रह मिनटतक संस्कारवश 'ओम्'का जप अवश्य कर लेता और उठनेके साथ ही तुलसीकृत रामायणका यह दोहा गुनगुनाने लगता—

भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

परीक्षा हुई और समाप्त हो गयी। जूनमें परीक्षा-फल घोषित हुआ। मैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों परीक्षाओंमें प्रथम-प्रथम उत्तीर्ण हुआ। ओम्के जपने मेरी मनःकामना पूर्ण की। संसार इसका रहस्य कदाचित् न समझ सका हो।

घटना-क्रमाङ्क ३

बात सन् १९५२ की है। स्थान जावरा, मध्यभारत था। मैं साइकिलसे स्टेशन लकड़ीकी गाड़ी लेने गया था। साइकिल बहुत पुरानी थी। लकड़ी लेकर चल दिया। मार्गमें मैं संत तुलसीदासका पद—

गाइए गनपति जग बंदन। संकर सुवन भवानी नंदन॥

—गाता हुआ द्रुततम गतिसे बढ़ने लगा। किसीको यह पतातक नहीं कि मेरी साइकिलके आगेके पहियेका चिमटा टूट चुका है; पर मैं बढ़ता ही आया। ठीक घरके द्वारपर आनेपर जैसे ही मैं साइकिलसे नीचे उतरा, पहिया साइकिलसे पृथक् हो गया। मैं बाल-बाल बच गया। मैं सोचने लगा—यदि यही बात जोरोंसे साइकिल चलाते समय घटती तो ग्वालियर-की एक घटनाकी भाँति मैं वक्षःस्थलके बल भूपर गिरता और सदैवके लिये आँखें बंद हो जातीं। पर गणपतिकी वन्दनाके पढ़ने मेरे जीवनकी रक्षा की। तभी तो श्रीगणपति-जी सकल-विघ्न-विनाशक माने जाते हैं।

घटना-क्रमाङ्क ४

बात सन् १९५५ की है। स्थान नरसिंहगढ़, मध्यभारत था। मैं नगरसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित एक एकान्त बँगलेमें निवास करता हूँ। अचानक दिनाङ्क चार अप्रैल, ५५ को मेरी सबसे छोटी कन्याकी आँखें चढ़ने लगीं। सायंकालके छः बजेका समय होगा। मैं तब बैडमिंटन खेल रहा था। मेरी धर्मपत्नी चिल्ला पड़ीं। नौकर घरके भीतरसे दौड़ा हुआ आया। कहने लगा—'बेबीकी तबीयत बिगड़ रही है। खेल-का मैदान बँगलेके पास ही था। मैं खेल छोड़कर अंदर गया। देखा—छः मासकी बच्ची आँखें चढ़ा गयी है और अन्तिम साँस ले रही है। मैंने सोच लिया कि अब इसके प्राणोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। मैं रोने लगा। स्वस्थ बच्चीके हाथोंसे चला जाना कितने दुःखकी बात थी। बच्चीको केवल सायंकाल चार बजे हल्का-सा बुखार आ गया था। दाँत निकलनेकी थोड़ी-सी शिकायत थी। उपचार आदिकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। पर जब बच्चीकी दशा बिगड़ने लगी, तब मेरे साथी खिलाड़ियोंने बच्चीको गोदीमें ले लिया और मैं साइकिलसे डाक्टरके पासके लिये दौड़ा। मार्गमें एक कार मिल गयी। मैंने विनय करके कार माँगी और उसे पीछे लाकर बच्चीको उसमें बिठाकर औषधालय लाया। डाक्टरसाहबने केवल यही कहा कि मलेरियाकी शिकायत है; मैं एक इंजेक्शन लगाये देता हूँ और कुछ दवा खानेको दिये देता हूँ। तबतक बच्ची, जो अभीतक मूर्छित थी, चेतनतामें आ गयी थी। सोचा—अब संकट टला। बच्चीको लेकर घर लौट आया। धर्मपत्नीको दूध पिलनेके लिये बच्ची दी। एक क्षणमें ही बच्ची उसी स्थिति-में पुनः आ गयी। हम दोनों घबरा गये। पर तबतक कार चली गयी थी। अब क्या किया जाय। साथी भी चले गये थे। दो नौकर पास थे। मैं बच्चीको लेकर आँगनके बाहर आया और खुले मैदानमें उच्च स्वरसे 'ओम्'का जप करने लगा। जप आधे घंटेतक चला। इस अवधिमें बच्ची जीवन और मृत्युके संधि-स्थलपर थी। मैं धैर्य बाँधे और हिचकी लेती हुई कन्याको गोदमें लिये जोरसे जप कर रहा था। मैंने धर्मपत्नीसे भी जप करनेको कहा; पर वे इतनी व्याकुल थीं कि अनेक प्रयत्न करनेपर भी थोड़ी देरतक ही कर सकीं। बच्चीने होश सँभाला। वह रोने लगी। मूर्च्छा चली गयी। मैंने तुरंत गायत्री-मन्त्रका जप आरम्भ कर दिया। बच्चीने आँखें खोल दीं। सबको धैर्य बँध गया। फिर क्या था। सभी 'ओम्'का जप और साथ-साथ गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। मैंने जप आठ बजेसे बारह बजे राततक चलाया। प्रातःकालतक बच्ची पूर्ण स्वस्थ थी। बच्चीकी दशासे यह स्पष्ट ज्ञात होता था कि वह मृत्युके मुख

से अभी हालमें ही वापस आयी है ।

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके बलपर मैं यह कहनेमें समर्थ हूँ कि राम-नामके जप और 'ओम्'के जपसे सभी विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति की जा सकती है ।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह विश्वासकी बात है और यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त है कि जब हम आर्तरूपमें हरिकी शरणमें सच्ची आस्था लेकर जाते हैं, तब दीनदयाल, भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् हमारी रक्षा अवश्य करते हैं । भगवान् दम्भके विरोधी हैं पर सच्चे स्नेहके भूखे हैं ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(२)

कौन कहता है भगवान् आते नहीं ?

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रस्वरूपजी श्रीवास्तव बी० ए०)

आजसे दस-बारह वर्ष पूर्वकी बात है । ठीक-ठीक समय तो याद नहीं; परंतु इतना अवश्य याद आ रहा है कि जन्माष्टमीसे एक-दो मास पूर्वकी यह घटना है ।

मैं जजीमें एक कर्मचारी हूँ और उस समय अपरेन्टिस था । एक दूसरे कर्मचारीके त्यागपत्रपर मेरी नियुक्ति जजीके मोहाफिजखानेमें हुई थी और मेरा वेतन अठारह रुपयेसे कदाचित् पचीस रुपये हो गया था । मेरे साथ चार अन्य कर्मचारी काम करते थे और प्रत्येकके अधिकारमें एक-एक न्यायालयकी निर्णीत मिसलें रहा करती थीं ।

एक दिन एक प्रार्थनापत्र आया, जिसके द्वारा एक निर्णयकी प्रतिलिपि माँगी गयी थी । प्रार्थनापत्र मेरे पास भेजा गया; क्योंकि वह मेरे विभागसे सम्बन्धित था । मैंने मिसल देखी, परंतु वह मेरे पास न निकली । इधर-उधर ढूँढ़ा, न मिली । अपने साथियोंसे पूछ-ताछ की, परंतु कहीं पता न चला । ऐसा लगा मानो पैरोंतलेसे जमीन निकल गयी । मिसल पुरानी थी, अतः रद्दीमें भी देखी गयी; परंतु मिसल न मिलनी थी, सो न मिली । बात गुप-चुप भी रक्खी जाती तो कितने दिन । होते-होते बात काफी फैल गयी और सबको पता चल गया । प्रार्थीने एक दूसरे पत्रद्वारा जजसाहबसे प्रार्थना की कि अमुक मिसल जजीके मोहाफिजखानेसे गायब है और ऐसा अनुमान होता है कि अमुक कर्मचारीने दूसरी ओरसे कुछ रकम लेकर मिसलको गायब कर दिया है ।

अब क्या था—तू चल और मैं चल । कागजी घोड़े दौड़ने लगे । मेरा भी उत्तर लिया गया और आदेश हुआ कि दो सप्ताहके अंदर मिसल ढूँढ़कर पेश की जाय । मिसलका न मिलना या कागजका खो जाना काममें लापरवाही ही नहीं, वरं एक गम्भीर अपराध भी है ।

मिसल ढूँढ़ी, सारे दफ्तरमें ढूँढ़ी । परंतु पता न लगना था सो न लगा । जज साहबसे एक सप्ताहका अवकाश और माँगा गया और वह भी मिल गया । उस सप्ताहमें केवल चार दिवस ही काम करना था; क्योंकि रविवार और जन्माष्टमीको मिलाकर तीन दिनकी छुट्टी पड़ती थी । इन चार दिनोंमें अब जमीन और आसमानके कुलाबे मिला देना था । खोज हुई, सामर्थ्यसे अधिक हुई । एक-एक करते चारों दिन बीत गये, परंतु मिसल अन्धकारके परतमें ही रही । एक मिसल हो तो ढूँढ़ी जाय; हजारोंमें एकका मिलना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है ।

मुसीबतमें कोई किसीका साथ नहीं देता—कम-से-कम यह कहावत मेरे साथ झूठी निकली । सबने तन-मनसे मेरा सहयोग दिया था । पर सफलता नहीं हुई ।

रोमके जलते समय नीरो बंसरी बजा रहा था । जहाँ मुझे मेरे साथी इतना सहयोग दे रहे थे, वहाँ कुछ लोग मुझपर भाँति-भाँतिके लाञ्छन भी लगा रहे थे । कोई कहता—देखनेमें तो सीधा है, परंतु अंदरसे पूरा घाघ है । कोई कहता, रुपये देखकर किसकी नीयत नहीं डोल जाती······।

मुझे इन सब बातोंको सुनकर बड़ी पीड़ा होती । मिसल न मिलती तो नौकरीसे निकाल ही नहीं दिया जाता, लाञ्छन-के ये काले धब्बे मेरी जिंदगीको सदैवके लिये बरबाद कर देते ।

चार दिन बीत गये । जन्माष्टमीकी छुट्टी पड़ी, परंतु हृदयमें कोई उत्साह न था । भगवान्का जन्म मनाया गया, प्रसाद भी बँटा; परंतु मेरा मन तो और ही कहीं था । मनमें रह-रहकर मैं गिड़गिड़ाता—'भगवन् ! मुझे किस अपराधका यह दण्ड मिल रहा है ? आप भी क्या नहीं जानते कि मैं निर्दोष हूँ ? हे नाथ ! कल तो मेरी नौकरी भी चली जायगी, फिर मैं क्या करूँगा ? दुनिया क्या कहेगी······?'

प्रसाद लेकर कुछ सूक्ष्म भोजनके उपरान्त मैं पड़ रहा। न जाने क्या-क्या सोचता रहा और नींद आ गयी। वह एक पावन रात्रि थी। सोचा करता हूँ, क्या ऐसी रात्रि मेरे जीवनमें एक बार फिर आयेगी? देखा कि एक श्यामवर्ण साधु मेरे निकट आया है और मुझसे उठनेको कह रहा है। उसकी छवि अद्भुत थी। मैं उठा, वह मुझे कचहरीकी ओर ले गया और मोहाफिजखानेके अंदर ले जाकर खड़ा कर दिया तथा संकेतसे कहा—'यह बस्ता खोलो।' मैंने वैसा ही किया। बस्ता खोलकर एक-एक करके मिसलें टटोलने लगा। जितनी ही देर मिसलके मिलनेमें हो रही थी, उतनी ही मेरी विकलता बढ़ती जा रही थी; परंतु वह साधु मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। एक-एक करके सारी मिसलें लौट डालीं। अन्तमें मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने वह आखिरी मिसल वहीं पायी, जिसकी इतने दिनोंसे खोज हो रही थी। खुशीसे मेरा हृदय द्रवित हो गया और मैं इतने जोरसे हँसा कि मेरी आँख खुल गयी। देखा सूर्यकी किरणें फूट रही थीं। पत्नी मेरी हँसीपर चकित थी और मैं भी कुछ हक्का-बक्का-सा लग रहा था। स्वप्नपर विश्वास हो भी रहा था और नहीं भी। ईश्वर और तर्कमें होड़ थी; परंतु हाँ, मुझे अपने हृदयमें एक अद्भुत शान्तिका अनुभव हो रहा था।

अब चैन किसे थी। सोचता था जल्दीसे दस बजें और मैं कचहरी पहुँचूँ। दस बजे और मैं कचहरी भागा। एक-एक मिनट घंटेसे अधिक प्रतीत हो रहा था। जैसे-तैसे कचहरी पहुँचा और वही बस्ता देखा। मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने देखा कि मिसल ठीक उसी स्थानपर रक्खी थी, जहाँ मैंने पिछली रात स्वप्नमें उसे देखा था। मेरी आँखोंमें अश्रु थे—हर्षके, और अब भी मैं हक्का-बक्का था

कामके पत्र

(१)

पुत्रशोकमें धैर्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका करुणापूर्ण पत्र मिला। आपके सुशील और आज्ञाकारी पुत्रकी दुर्घटनाके निमित्तसे मृत्यु हो गयी, यह पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। सुयोग्य सुपुत्रकी दुर्मृत्युसे माता-पिताको मार्मिक पीड़ा होना स्वाभाविक ही है। आपका यह कष्ट वास्तवमें अवर्णनीय है। मेरी आपके इस दुःखमें हार्दिक सहानुभूति है। श्रीभगवान् आप दोनोंको धैर्य तथा आपके सुपुत्रको सद्गति और शान्ति दें। यही संसारका रूप है। यहाँ संयोग-वियोगका चक्र अनवरत चलता रहता है। जो मिला है, उसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा भाँति-भाँतिके दुःख-ताप—यही इस संसारकी देन है। मनुष्यको चाहिये कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको परमात्माकी धरोहर समझकर उसमें ममता तथा आसक्ति न करे। वह पुत्र जिसकी चीज थी, जिसने सार-सँभालके लिये आपको दी थी, उसीने अपनी चीज ले ली। मालिककी चीज; मालिक अपने इच्छानुसार उसे चाहे जब चाहे जहाँ भिजवा दे। इसी प्रकार यह शरीर, यह जीवन भी उसीने दिया है, उसीकी वस्तु है; इसे भी वह चाहे जब स्थानान्तरित कर सकता है, अपने पास बुला सकता है। धन-पुत्रादि पदार्थ भी उसके और हम-आप सभी उसके सेवक। वे इन दोनोंको चाहे जहाँ भेज सकते हैं, रख सकते हैं। इसमें दुखी होनेका वस्तुतः कोई उचित कारण नहीं है। वे भक्तवत्सल भगवान् ही जीवमात्रके एकमात्र सुहृद् एवं सम्बन्धी हैं। वे ही सबके अपने आत्मीय या सगे हैं। संसारके प्राणिपदार्थोंमें हमारा जो प्रेम है, उसे वहाँसे हटाकर भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। भगवान् जबतक इस लोकमें रक्खें, उनका सतत चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये, उनकी सेवा समझकर सब काम करने चाहिये और सदा उनके आज्ञानुसार स्थानान्तरमें जाने या उनके समीप जानेके लिये तैयार रहना चाहिये। हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं, हम मरकर भी उन्हींके पास जायँगे, जीते-जी भी उन्हींके होकर रहेंगे।

आपका पुत्र अपने सद्गुणोंके कारण भगवान्‌का प्रिय

ही रहा है और अब भी भगवान् उसपर प्रेम करते रहेंगे, सहज सुहृदता उनका स्वभाव है। आपको चाहिये उसकी सद्गतिके लिये भगवन्नामजप, विष्णुसहस्रनामका तथा गीताका पाठ करें तथा गयाश्राद्ध करवा दें। सर्वोत्तम तो है उसको अपने मनसे सहर्ष भगवान्‌के अर्पण करके 'उसको भगवान् अपना पार्षद बना लें'—यह भगवान्‌से प्रार्थना करें। बार-बार विनय करें।

आपके एक लड़की है, उसीको लड़का समझें। इस लड़कीसे जो लड़का होगा, वह आपके लिये श्राद्धादिका अधिकारी होगा। कन्याके रहते हुए आप यह न समझें कि मेरे कोई पुत्र या संतान नहीं है। पुत्र और कन्यामें क्या भेद है? असलमें तो आप तथा आपका सब कुछ भगवान्‌के ही हैं। आपको भगवान्‌के भजनमें मन लगाना चाहिये। जीवनका कोई ठिकाना नहीं। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय, पर वह चाहे जब आवे, आप उसको भगवच्चिन्तन करते हुए ही मिलिये। आपकी शेष आयुका एक क्षण भी भगवान्‌की स्मृतिके बिना न जाय, फिर निश्चय ही आपको भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण करके तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

शेष भगवत्कृपा।

(२)

बंदरोंपर क्रूरता और गाँधीजी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। बंदर फसलको नुकसान पहुँचाते हैं—यह सत्य है; परंतु जीवित रहनेका हक जितना मनुष्यको है, उतना ही बंदर तथा दूसरे जानवरोंको भी है। वर्तमान कालमें मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि वह अपने लाभके लिये किसी भी जीवकी हत्या करनेमें जरा भी संकोच नहीं करता। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाके लिये नये-नये अनुसंधान करता है और उसमें बेचारे प्राणियोंकी बुरी तरहसे हत्या की जाती है। भारतसे बंदरोंका कितना निर्यात होता है, इस सम्बन्धमें गोहत्या-निरोध-समितिके मन्त्री लाला हरदेवसहायजीने लिखा था कि भारत सरकारकी विदेशी व्यापार-रिपोर्ट मार्च १९५५ के अनुसार १९५२-५३ तक बंदरोंका निर्यात नहीं हुआ। विगत दो वर्षोंमें यह निर्यात शुरू हुआ और बढ़ा है। दो वर्षोंके अङ्क इस प्रकार हैं—

साल	बंदरोंकी निर्यात-संख्या	मूल्य
१९५३-५४	१६२८१	२९७३०३)
१९५४-५५	९११६१	१८१८३४१)

इन अङ्कोंके अनुसार सन् १९५३-५४ की अपेक्षा गत वर्ष पाँचगुना अधिक संख्यामें बंदरोंका निर्यात हुआ। ये सब बंदर नवीन अनुसंधान एवं दवा आदिके लिये प्रायः अमेरिका भेजे गये हैं। इन बेचारे बंदरोंकी बड़ी निर्ममताके साथ हत्या की जाती है। यह मनुष्यका एक बड़ा पाप और कलङ्क है।

आपने लिखा कि 'भारतके शासनमें अहिंसाकी दुहाई दी जाती है तथा अपनेको महात्मा गाँधीका अनुयायी बतलाया जाता है। तो क्या यह हिंसा नहीं है? क्या बंदरोंपर इस प्रकारका अत्याचार करना महात्मा गाँधीजीको स्वीकार था।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि हमारे मतसे यह अवश्य हिंसा है और खोजते-खोजते इस सम्बन्धमें महात्माजीका निम्नलिखित स्पष्ट मत दर्शनमें छपा मिल गया है। वे लिखते हैं—

'विविसेक्शन (Vivisection) अर्थात् जीवित प्राणियोंके अवयवोंको काट-काटकर किया जानेवाला अनुसंधान-प्रयोग, मेरी रायमें, इस समय मनुष्य जो

ईश्वर और उसकी सुन्दर सृष्टिके प्रति भीषण पाप कर रहा है, उनमें एक भीषणतम पाप है। सुख-दुःखकी संज्ञावाले प्राणियोंके प्राणोंको तड़पानेवाली यन्त्रणा यदि हमारे जीवनका मूल्य हो तो ऐसे जीवनसे हमें इन्कार कर देना चाहिये।' *

महात्माजी इससे अधिक और क्या लिखते। वे ऐसे अत्याचारपूर्ण प्रयोगोंके मूल्यपर जीवन-धारणतक करना नहीं चाहते। यह तो मनुष्यका महान् पतन है, जो वह अपने जीवनके मिथ्या मोहमें ईश्वरकी सृष्टिके निर्दोष जीवोंकी हत्या करने और उनपर निर्दय अत्याचार करनेमें नहीं हिचकता। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह पाप बंद हो।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

गोपीहृदयमें प्रेम-समुद्र

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'कल्याण'में श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। वास्तवमें ये गोपरमणियाँ प्रेम-जगत्की तो परम आदर्श हैं ही। नारी-जगत्में भी इनकी कहीं तुलना नहीं है। विश्व तो क्या भगवत्-राज्यमें भी किसी भी नारीके चरित्रमें नारी-जीवनकी महिमामयी सेवाकी ऐसी आदर्श मनोहर सहज मूर्तिका विकास नहीं हुआ। सावित्री, अरुन्धती, लोपामुद्रा, उमा, रमा—किसीकी उपमा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ नहीं दी जा सकती। आत्मसुख-लालसाकी गन्धसे रहित होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही जीवन धारण करना, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष सब कुछ भूलकर प्रियतम-की रुचिके अनुसार अपने जीवनकी क्षण-क्षणकी समस्त क्रियाओंका सहज सम्पादन करना ही गोपी-प्रेम है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनमें किसी भी वासना-कामनाका अलग अस्तित्व नहीं है, पर वे परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेम-सुखका आस्वादन करने-करानेके लिये अपने भगवत्स्वरूप मनमें नित्य नयी-नयी विचित्र वासनाओंका उदय करते हैं और भगवान्की उन प्रतिक्षण उदय होनेवाली नित्य नवीन वासनाओंके अनुकूल अपनेको निर्माण करके भगवान्को सुख पहुँचाना केवल श्रीगोपाङ्गनाओंके ही शक्ति-सामर्थ्यसे सम्भव है, बस, प्रियतमकी रुचिको—चाहको पूर्ण करना ही जिनके जीवनका स्वरूप है, जिनकी प्रत्येक स्फुरणामें, प्रत्येक संकल्पमें, प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक शब्दमें और प्रत्येक क्रियामें केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमजनित वासना-पूर्तिका ही सहज सफल प्रयास है। उन श्रीगोपाङ्गनाओंकी तुलना कहीं, किसीसे भी नहीं हो सकती।

श्रीगोपाङ्गनाओंमें मधुर भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस मधुर भावसे ही मधुर रसका प्राकट्य होता है। एक महात्माने बताया है कि यह मधुर रस तीन प्रकारका होता है। तीनों ही अत्यन्त मूल्यवान् हैं, पर एककी अपेक्षा दूसरा अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे साधारण मणि चिन्तामणि और कौस्तुभ मणि। साधारण मणिका जैसा साधारण मूल्य होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके प्रति कुब्जाकी प्रीतिका मूल्य साधारण है। श्रीकृष्ण-सम्पर्कसे महाभाग्या होने-पर भी उसमें श्रीकृष्णकी सेवा करके केवल अपने ही सुखका संधान था। इसीसे उसे 'दुर्भगा' कहा गया। चिन्तामणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। उसका मूल्य भी बहुत अधिक है। सब लोग उतना मूल्य दे ही नहीं सकते; ऐसे ही श्रीकृष्णकी पटरानियोंकी दिव्य प्रीति है। श्रीकृष्णका भी सुख और अपना भी सुख—उनमें इस प्रकारका उभय सुखी भाव बना रहता है, इसलिये उनकी इस रतिका नाम समञ्जसा है। श्रीगोपाङ्गनाका प्रेम

* 'Vivisection, in my opinion, is the blackest of all black crimes that man is at present committing against God and his fair creation. We should be able to refuse to live, if the price of living be the torture of sentient beings'.
—Mahatma Gandhi

साक्षात् कौस्तुभ मणिके सदृश है। चिन्तामणि तो दस-बीस भी मिल सकती है, पर कौस्तुभ मणि तो एक ही है और वह केवल श्रीभगवान्‌के कण्ठकी ही भूषण है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलती। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाकी प्रीति भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली व्रजके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। ऐसा प्रेम श्रीगोपाङ्गना ही जानती है, कर सकती है। और यह प्रेम, इस प्रेमके एकमात्र पात्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है। इस दिव्य प्रेम-सुधारसका अनन्त अगाध समुद्र नित्य-नित्य लहराता रहता है—गोपीहृदयमें। इसीसे वह अनुपमेय, अतुलनीय और अप्रमेय है।

शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्‌की नासमझी नहीं, उनकी उदारता और करुणा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है—

(१) अजामिल जातिके ब्राह्मण थे। सदाचारी थे। परंतु एक शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीमें आसक्त होकर उसीके साथ रहने लगे। उन्होंने अपने छोटे पुत्रका नाम नारायण रक्खा था। मृत्युके समय यमदूतोंके भयसे उन्होंने अपने पुत्रको ही 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा था। परंतु किसी भी निमित्तसे यदि भगवान्‌का नाम जीवनके अन्तिम श्वासमें मुखसे निकल जाय तो भगवान् उसका निश्चय कल्याण करते हैं। नामके इस सहज गुणका और अपने विरदका निबाह करनेके लिये भगवान्‌ने 'नारायण' नामका उच्चारण होते ही अपने दूत उनके पास भेज दिये और उन्होंने यमदूतोंके हाथसे अजामिलको बचा लिया। इसको भगवान्‌की नासमझी बतलाना अपनी 'नासमझी'का परिचय देना है। इसमें तो आपको वस्तुतः भगवान्‌के स्वभावकी सहज उदारता और अकारण करुणाके दर्शन होने चाहिये।

(२) गीताका पाठ तथा उत्तम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेवाला भी यदि क्रोध न छोड़ सके, तो यह उसकी दुर्बलता ही है। क्रोध-त्यागका उपाय है—निज दोष-दर्शन और सर्वत्र भगवद्दर्शन। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जीव श्रीभगवान्‌का स्वरूप है, ऐसा समझने-देखनेसे विरोधभाव शान्त हो जाता है।

(३) श्रीहनुमान्‌जीने जब मशक-समान रूप धारण किया, तब अँगूठी कहाँ रही? वास्तवमें श्रीहनुमान्-जीका महत्त्व न जाननेसे ही मनमें इस प्रकारकी कुशङ्का उत्पन्न होती है। जो श्रीहनुमान्‌जी अपने पर्वताकार शरीरको मच्छरके समान अत्यन्त छोटा बना सकते हैं, वे उस अँगूठीको भी इतनी छोटी बना सकते हैं कि मच्छर होनेपर भी लिये रह सकें। इतनी साधारण-सी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिये।

(४) स्त्री-जातिको 'अबला' उनका तिरस्कार करनेके लिये नहीं कहा गया है। वह प्रेममयी पत्नी है और स्नेहमयी माँ है। अपने पति-पुत्रोंके सामने कभी बलका प्रदर्शन नहीं करती। निरन्तर उनकी मङ्गलकामना करती हुई प्रेममयी और स्नेहमयी बनी रहती है। विश्व-विध्वंसकारी क्रोधमें भरे अमित बलवीर्य-सम्पन्न भगवान् नृसिंह शिशु प्रह्लादके सामने आते ही सारे बलको भूलकर तथा क्रोधरहित होकर उसे गोदमें ले लिये और चाटने लगे। रणरङ्गिणी दुष्टदलनकारिणी भगवती दुर्गा अपने स्वामी शङ्करके सामने सदा विनम्र रहकर अबला-सी बनी रहती हैं। इसमें बलका अभाव नहीं है, बलके प्रदर्शनका अभाव है।

शेष भगवत्कृपा

(५)

सद्गुरुका महत्त्व

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र मिला । आपका लिखना सर्वथा सत्य है । अज्ञानान्धकारसे हटाकर भगवत्स्वरूपके पुण्यप्रकाशमें पहुँचा देनेवाले गुरुका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक माना जाता है । पता नहीं, सद्गुरुकी कृपासे कितने प्राणी दुराचारका त्याग करके नरकानलसे बच गये हैं और बच रहे हैं । गुरु भगवत्स्वरूप ही हैं । ऐसे सद्गुरु बड़े ही पुण्यबल और भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होते हैं । सद्गुरुके चरणोंमें बार-बार नमस्कार ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महान् ईश्वर महादेव हैं, गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुके चरणोंमें नमस्कार । ज्ञानाञ्जनकी सलाईसे अज्ञानतमसे अंधेकी आँखोंको खोल देनेवाले गुरुके चरणोंमें नमस्कार ।' गुरुकी महिमा अवर्णनीय है । जगत्‌के समस्त विकारोंका नाश करनेके लिये ऐसे सद्गुरु ही संजीवन-सुधा हैं । घोर पाप-तापके प्रचण्ड प्रवाहमें बहते हुए प्राणीकी रक्षाके लिये स्वयं गुरुदेव ही सुदृढ़ जहाज और वे ही उसके कर्णधार हैं । इसलिये गुरुका विरोध करना साधारण पाप ही नहीं, सीधा नरकको निमन्त्रण है । पर वस्तुतः यह महिमा शिष्यके अज्ञान एवं पाप-तापादिका हरण करनेवाले सद्गुरुकी ही है, कामिनी-काञ्चनके लोभी बाजारी गुरुओंकी नहीं । गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा । एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुर घोर नरक महुँ परई ॥

आजकल चारों ओर गुरुओंकी भरमार है, कौन सद्गुरु हैं, कौन नकली हैं—इसका पता लगना सहज नहीं है । इस स्थितिमें किसी अंधेके हाथमें लकड़ी पकड़ा देनेवाले अंधेकी जो दुर्दशा होती है, वही इन गुरु-शिष्योंकी होती है । अतएव वर्तमान समयमें गुरुकरण बहुत ही जोखिमकी चीज है । भगवान् सहज जगद्गुरु हैं, उन्हींका आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।

आज जिस प्रकारका दम्भ-छल-कपट चल रहा है, चारों ओर जो अधःपतनकी धूम मची है, इसमें किसीको गुरु स्वीकार करके उसे अपना सर्वस्व मानना, उसकी एक-एक बातको ईश्वर-वाक्य मानकर स्वीकार करना और उसे तन-मन-धन सौंप देना बुद्धिमानीका काम नहीं है । इसमें बहुत अधिक धोखेकी सम्भावना है । खास करके, स्त्रियोंको तो इससे अवश्य ही बचना चाहिये ।

राम ज्यौं राखै त्यौं रहिये ।
जो प्रभु करै भलो कर मानो, मुख तें बुरो न कहिये ।
हरि होनी अनहोनी कर दे, सो सब सिर पर सहिये ॥
करै कृपा हरि नाम जपावै, सो अंतर लै गहिये ।
'मेहरदास' हरि-हुकुम मानिये, यह सेवक कों चहिये ॥

—भक्त मेहरदासजी

माघमासमें भगवान्‌की विशेष सपर्या

(लेखक--पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस दुस्तर अगाध भयानक भवसागरमें भगवान्‌के चरण ही एकमात्र दृढ़ पोत हैं। जहाँ उनकी विस्मृति हुई फिर तो इस भारी भवसागरका पारावार कुछ भी नहीं सूझता। अतः जिस किसी भी उपायसे हो सके, मन-मिलिन्दको प्रभुके चरणोंमें ही बनाये रखना चाहिये। थोड़ी भी व्याकुलता तथा तन्मयतासे उनका स्मरण किये जानेपर इस दुस्तर भवसागरका संतरण सुकर हो जाता है, यह गोवत्सपदवत् हो जाता है और इसकी विभीषिका तुरंत समाप्त हो जाती है।

यों तो भगवान्‌की आराधना सदा, सर्वत्र, सर्वाभीष्टप्रद कही जाती है--

सर्वान् कामानवाप्नोति समाराध्य जगद्गुरुम्।
तन्मयत्वेन गोविन्दमित्येतद् दाल्भ्य नान्यथा॥
(विष्णुधर्म०)

हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत।
पुत्रमित्रकलत्रादि राज्यं स्वर्गापवर्गदम्॥
(स्कन्द० काशी० २१ । ५३)

आराध्य विधिवद् देवं हरिं सर्वसुखप्रदम्।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यत् प्रार्थयते फलम्॥
(गरुड० पूर्व० २२६ । ४९)

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शां० ३४८, ७१)

यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुड० २२२ । १२)

तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि।
(श्रीमद्भा० ८ । १२ । ४७)

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥
(लिङ्गपुराण)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । १२; गरुड० पूर्व० ५१ । १९; आनं० रा० मनो० कां० ९ । ६८; पद्मपु० स्वर्ग० ५७ । ४२)

यद्भ्रूवर्तनवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः॥
(स्कन्द० काशी० १९ । ११५)

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं विधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥
(काशीखण्ड)

सम्यगाराधितो विष्णुः किं न यच्छति देहिनाम्।
(आनन्दरामा०)

भागवतकारके शब्दोंमें तो अपने शरीर, पुत्रादिकोंके लिये किया गया सारा कर्मजाल व्यर्थ ही हो जाता है; किंतु वे ही मन, वचन, प्राण, शरीर आदिसे किये गये कर्म यदि भगवान्‌के लिये किये जायँ तो सर्वथा सत्--सफल हो जाते हैं--जैसे वृक्षके मूलका सेचन।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥
(८ । ९ । २९)

जिस प्रकार वृक्षके मूल निषेचन (जड़ पटाने) से उसकी शाखा, टहनी, स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल सब निषेचित--तृप्त हो जाते हैं अथवा मुखमें भोजन करनेसे सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, उसी प्रकार अच्युतकी अर्हणा--इज्या-पूजासे सारे संसारके जीवोंकी, सारे विश्वकी, पूजा हो जाती है।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(४ । ३१ । १४)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(८ । ५ । ४९)

एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय।
रहिमन मूल ही सींचिये फूलै फलै अघाय॥

पद्मपुराणमें भगवान् शङ्करका वचन है कि जगदीश्वर भगवान् विष्णुके पूजित होनेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा हो जाती है।

नृसिंहपुराणका कहना है कि पुरुषसूक्तमन्त्रसे भगवान्‌पर कोई एक फूल अथवा जल ही क्यों न डाल दे, उसने त्रिलोकीकी पूजा कर ली[1]।

पद्मपुराणमें कालभेदसे पूजाभेदका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करने कहा है कि देवदेवेश्वर श्रीविष्णुके पूजित हो जानेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् केशवका चैत्र मासमें प्रयत्नपूर्वक चम्पा और चमेलीसे पूजन

---

१. दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
अर्चितं स्याज्जगत्सर्वं तेन वै सचराचरम्॥
(नृसिंहपुराण ६३ । ९)

करना चाहिये। चैत्रमें कमलपुष्प, कोई लाल रंगका पुष्प, दौना, कटसरैया और वरुणवृक्षके पुष्पोंसे भी पूजा करनी चाहिये। वैशाख मासमें केतकी (केवड़ा) के पत्तेसे महाप्रभु श्रीविष्णुका पूजन करना चाहिये। जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान्का पूजन कर लिया उनके ऊपर श्रीहरि संतुष्ट रहते हैं। ज्येष्ठ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये। आषाढ़ मासमें कनेरके फूल, लाल फूल अथवा कमलपुष्पोंसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये। कदम्ब-पुष्पसे पूजित होनेपर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। घनागमके समय जो घनश्याम-को कदम्बपुष्पोंसे पूजित करता है, भगवान् प्रलयपर्यन्त (एक-एक कर १४ इन्द्रोंके पर्यवसानतक) उसकी कामनाओंको पूरी करते रहते हैं। भगवान्को जितनी पद्मालया लक्ष्मीको प्राप्तकर प्रसन्नता होती है, उतनी ही कदम्बपुष्पको पाकर प्रसन्नता होती है। तुलसी, श्यामा तुलसी तथा अशोकके द्वारा तो भगवान्की नित्य पूजा करनी चाहिये। जो लोग श्रावण मास आनेपर अलसीका फूल लेकर अथवा दूर्वादलसे भगवान् जनार्दनकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् प्रलयकालतक मनोवाञ्छित भोग प्रदान करते हैं। भादोंके महीनेमें चम्पा, श्वेत पुष्प, रक्तसिन्दूरक तथा कह्लारके पुष्पोंसे पूजन करके मनुष्य सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। आश्विन मासमें जूही, चमेली तथा नाना प्रकारके शुभ पुष्पोंद्वारा प्रभुकी पूजा करनी चाहिये। कमलपुष्पसे आश्विनमें भगवान्की पूजा करनेवालोंको चारों पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। कार्तिक मासमें भी यथासुलभ सभी पुष्प भगवान्को अर्पण करने चाहिये। तिल और तिलके फूल भी चढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है। जो कार्तिकमें छितवन, मौलसिरी और चम्पाके फूलोंसे श्रीजनार्दनकी पूजा करते हैं वे मनुष्य नहीं देवता हैं। मार्गशीर्षमें नाना प्रकारके पुष्पों, नैवेद्यों, धूपों तथा आरती आदिके द्वारा भगवान्की पूजा करे। पौष मासमें नाना प्रकारके तुलसीदल तथा कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा पूजन करना कल्याणदायक माना गया है। माघ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्की पूजा करे। उस समय कपूरसे तथा विविध उपचारों एवं नैवेद्योंसे भी भगवान्की पूजा होनी चाहिये। फाल्गुनमें नवीन पुष्पों अथवा सभी प्राप्त पुष्पोंसे भगवान्की पूजा होनी चाहिये।

(पद्म० उत्तरखण्ड ८९ । १-२७)

तथापि भगवान् विष्णुके पूजनमें इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि शिरीष, धतूर, मदार, कनकचम्पा, सेमर तथा मोतियाके फूलों एवं अक्षत उनपर कभी न चढ़ाना चाहिये। (इसी प्रकार भगवान् शङ्करपर पलाश, कुन्द, शिरीष, जूही, मालती और केतकी कभी न चढ़ाना चाहिये। गणेशजीको तुलसी नहीं चढ़ती, दुर्गाकी पूजामें दूबका उपयोग नहीं होता। सूर्यकी पूजा अगस्तके फूलोंसे नहीं की जाती। भगवान् विष्णुपर पलाशका फूल भी नहीं चढ़ाते[1]।)

माघमें विशेष

परदेश, कालके योगसे सत्क्रियाओंका प्रभाव बढ़ जाता है। माघ मासके सम्बन्धमें कहा गया है कि स्नान-ध्यान तथा भगवान्की आराधनाके लिये यह सर्वोत्तम महीना है। जैसे मन्त्रोंमें ओंकार है, छन्दोंमें गायत्री है, पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, वैष्णवोंमें भगवान् शङ्कर श्रेष्ठ हैं, ऋतुओंमें वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है वैसे ही महीनोंमें यह माघ मास उत्तम है। नदियोंमें जैसे गङ्गा उत्तम हैं, देवताओंमें भगवान् श्रीहरि श्रेष्ठ हैं, वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है, पशुओंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही मासोंमें यह माघ मास है। अन्य मासोंसे कार्तिक हजारगुना फल देनेवाला कहा गया है और माघ कार्तिकसे लाखगुना फल देनेवाला कहा गया है, यह साक्षात् भगवान् नारायणका निर्णय है—

> कार्तिकं सर्वमासेभ्यः सहस्रफलदं विदुः।
> तस्मात् कोटिगुणो माघ इति प्राह जनार्दनः॥

(वायुपुराणका माघ-माहात्म्य, अध्याय १ । २२-२३)

अतः माघमें किसी पवित्र नदी या जलाशय आदिमें स्नान कर विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

यों तो पूजाके ६४ उपचार भी होते हैं पर इतना न हो सके तो कम-से-कम १६ उपचार तो होना ही चाहिये। माघ-मासके पूजनके सम्बन्धमें कहा गया है कि विधिपूर्वक स्नानादिसे निवृत्त होकर क्लेशहारी केशवका श्रद्धापूर्वक तन्मय होकर पूजन करे। माघमें जो एक फूलसे भी भगवान्की पूजा करता है, वह करोड़ों कुलके साथ विष्णुमन्दिरमें आनन्द करता

---

१. शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः।
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाक्षतैः॥
जपाकुन्दशिरीषैश्च यूथिकामालतीभवैः।
केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दुर्वया।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत्॥
(पद्म० उत्तर० ९४ । २६—२८)

है[2]। अतएव पहले पुष्प लेकर भगवान्का ध्यान करे फिर पुरुषसूक्त[3] तथा पौराणिक, तान्त्रिक मन्त्रोंसे उपचारोंको निवेदित करता जाय। सम्भव हो तो कर्माङ्ग दीप तथा सुगन्धित पूजाके आरम्भमें ही प्रज्वलित किया जा सकता है। फिर ताली बजाकर या शङ्खध्वनिसे भगवान्को जगाना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय निवेदन कर स्नान कराना चाहिये। पञ्चामृतसे स्नान करानेका बड़ा महत्त्व है। पञ्चामृतमें दूध, दही, घी, मधु और शक्कर रहते हैं। पञ्चामृत स्नान तथा प्रत्येक उपचारके अन्तमें आचमनीय जल देनेकी भी पद्धति है। पञ्चामृत स्नानोंके साथ तो प्रति बार शुद्धोदक स्नान भी चलता है। स्नान कराते समय ताम्रपात्रमें तुलसीदल आदिपर विराजमान कराकर शंखमें जल लेकर चन्दन-पुष्प-मिश्रित जलसे पुरुषसूक्तके मन्त्रोंको पढ़ते हुए घण्टा बजाकर स्नान कराना चाहिये। साथमें 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' तथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे' आदि मन्त्र भी पढ़ने चाहिये। शालग्राम शिला, ताम्रपात्र, जल, शङ्ख, पुरुषसूक्त, चन्दन, घण्टानाद तथा तुलसी—इन आठ वस्तुओंके सहारे चरणामृत-तीर्थ बनता है। स्नानोपरान्त, वस्त्र तथा यज्ञोपवीत अर्पण करना चाहिये। तदनन्तर तुलसी-मिश्रित चन्दन, अगरु, कर्पूर, कस्तूरी, रोचनामिश्रित गन्ध चढ़ाना चाहिये। माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति दस पूर्वके पुरुषों तथा दस पीछे उत्पन्न होनेवाले अपने वंशजोंके साथ विष्णुलोकमें कई पद्म कल्पोंतक वैकुण्ठमें आनन्द प्राप्त करता है।

श्रीखण्डचन्दनोन्मिश्रं कृष्णागुरुसमन्वितम्।
तुलसीचन्दनोन्मिश्रं यो गन्धं विष्णवेऽर्पयेत्॥
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च।
वैकुण्ठं मोदते नित्यं दशपूर्वैः दशापरैः॥

(वा० मा० मा० २। ६८। ६९)

स्त्री-शूद्रादिकोंको ब्राह्मणसे भगवान्की पूजा करानी चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्राह्मणैः कारयेत् पूजां स्त्रीशूद्रादि द्विजोत्तम।'

(मा० मा० २। ६२)

माघ महीनेमें जो १०० तुलसी-पत्रोंसे भगवान्की पूजा करता है, उसका पुण्य वर्णन करना कठिन है। इसी प्रकार कमलपुष्पसे भी भगवान्की पूजा करनेवालेके घर कमला (लक्ष्मी) का वास होना कहा गया है। पर बिना पुष्पके माघ मासकी पूजा हानिकर होती है। ऐसा करनेवाला अपने पुण्यसे हाथ धोता है—

अपुष्पं पूजयेद् यस्तु माधवं माधवल्लभम्।
कुलनाशो भवेत् तस्य पुण्यं चापि विनश्यति॥

(मा० २। ६०)

माघ मासमें अगस्तके फूलसे पूजा करनेसे भगवान् विष्णुकी १०० वर्ष पूजा करनेका फल प्राप्त हो जाता है।*

कमलसे पूजित होनेपर भगवान् बत्तीस प्रसिद्ध अपराधोंको क्षमा कर देते हैं और तुलसीसे पूजित होनेपर तो हजारों अपराधोंको क्षमा कर डालते हैं—

अर्चितस्तुलसीपत्रैर्माधवो भक्तवत्सलः।
अपराधसहस्राणि क्षमते नात्र संशयः॥

(मा० मा० २। ७५)

पर तुलसीहीन पूजा कभी न करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला मानो अपने कुलको रुधिरोदकमें गिराता है[1]। इसी प्रकार चन्दन और धूपके बिना भी की गयी पूजा नरकप्रद होती है। माघमासमें धूप देनेवालेको मोक्ष कहा गया है—

दशाङ्गं गुग्गुलं धूपं योऽर्पयति विष्णवे।
न तस्य संततेर्हानिर्न पापी जायते कुले॥
स्वयं मोक्षमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।

(मा० मा० २। ८३)

---

२. पुष्पेणैकेन माघे तु माधवं पूजयेद् यदि।
कुलकोटिसमायुक्तो मोदते विष्णुमन्दिरे॥

(वायु० माघ० मा० २। ६१)

३. पुरुषसूक्तके १६ मन्त्र शु० यजुर्वेदमें (३१। १—१६) तक हैं।

* तुलसी—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' इस मन्त्रसे चढ़ाना चाहिये।

माधवं मुनिपुष्पैस्तु यः पूजयति मानवः।
तेन वर्षशतं विष्णुः पूजितः स्यान्न संशयः॥

(मा० मा० ४। ४६)

१. यः पूजां तुलसीहीनां माघे मकरगे रवौ।
कुर्याद यदि विमूढात्मा हृदये शल्यमर्पितम्॥
कुलानि पातयेत् सत्यं नरके रुधिरोदके।

(मा० २। ६४)

स्नान, धूप, नैवेद्य तथा आर्तिक्यके समय घण्टानाद अवश्य करना चाहिये । ऐसा करनेवाला देवगणोंसे पूजित—प्रशंसित होकर विष्णुलोकको जाता है—

घण्टानादं तु यः कुर्यात्‌ ···

स्तूयमानो देवगणैर्विष्णुलोके महीयते । (८४)

माघमासमें भगवान्‌के सम्मुख दीपदान करनेवाला साक्षात् भगवान्‌का दर्शन पाता है ।

दीपदानं तु यः कुर्यात्‌ ············।
·········साक्षात्‌ पश्यति तं हरिम्‌ ॥
(८६)

सुना जाता है कि पितृगण कहा करते हैं कि—'क्या हमारे खानदानमें कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जो माघमें भगवान्‌के सामने क्षणभर भी दीप जलायेगा । ऐसा होता तो हम तर जाते ।

श्रूयते पितृगाथापि दीपदाने मुनीश्वर ।
यः को वास्मत्कुले जातो माघे मासि हरेः पुनः ॥
दद्याद्‌ दीपं क्षणं वापि स नः संतारयिष्यति ।
(८७-८८)

अधिक क्या, जो दीप जलानेके लिये तेल, घी, बाती या कपास भी श्रद्धापूर्वक अर्पण करते हैं वे स्त्री हों या पुरुष, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

तत्पश्चात् विविध प्रकारके नैवेद्य अर्पण करने चाहिये । नैवेद्यसे माघमासमें भगवान्‌की पूजा करनेवाला प्राणी मोक्ष पाता है—

निवेदयति नैवेद्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते । (९२)

साथ ही बिना नैवेद्यकी पूजा करनेवाला व्यक्ति कुम्भीपाकमें घोर नरकाग्निसे पीड़ित होता है ।[1] अतः नैवेद्य लगाना न भूले ।

तत्पश्चात् आचमन कराकर ताम्बूल देकर कर्पूर एवं पाँच या सौ या सहस्र वर्तियोंसे नीराजन (आर्तिक्य) करना चाहिये । माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति करोड़ों बार सार्वभौम राजा होता है—

'कोटिवारं सार्वभौमः सर्वसम्पत्समावृतः' (१०९)

आरतीके समय सिरपर शंखोदक[2] धारण करना चाहिये । इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । फिर पूजाके अन्तमें स्तोत्र-पाठ तथा नमस्कार करना चाहिये । पूजा तन्मयतापूर्वक करनी चाहिये । पूजा करते समय जो सांसारिक वार्तालाप भी करता रहता है वह घोर नरकमें जाता है[3], जो स्तोत्र-विहीन पूजा करता है वह उन्मादी होता है, अतएव इनसे बचना चाहिये । फिर प्रदक्षिणा[4] करनी चाहिये । माघमें भगवान्‌की प्रदक्षिणा करनेवालेको पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होना कहा गया है—

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयः ।

पूजाके अन्तमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवालेको सहस्र अश्वमेध अनुष्ठानका फल होता है । अतएव साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये । अन्तमें निम्न श्लोकोंसे क्षमापन कराना चाहिये—

अज्ञानाद् वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च ।
यन्न्यूनमतिरिक्तं वा तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥
द्रव्यहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं मयान्यथा ।
कृतं यत् तत् क्षमस्वेश कृपया त्वं दयानिधे ॥
यन्मया क्रियते कर्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्सर्वं तावकी पूजा भूयाद् भूत्यै च मे प्रभो ॥
भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्‌ ।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वर ॥
अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व जगतां पते ॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्‌ ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥
(नारदपुराण पूर्व० ६७ । ११०—११७)

सम्भव हो तो इसी प्रकार तीनों काल पूजा करनी चाहिये ।

१. विदधाति हरेः पूजां विना नैवेद्यमल्पधीः । कुम्भीपाके महाघोरे पच्यते नरकाग्निना ॥ (मा० मा० २ । ९१)

२. शङ्खमध्येस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि । अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ (मा० मा० ४ । २१)

३. लोकवार्ता प्रसङ्गेन यः कुर्याद् देवतार्चनम्‌ । तप्तायसि महाघोरे यमः पातयति स्वयम्‌ ॥ (९३)

४. भगवान् विष्णुकी प्रदक्षिणा चार बार, गणेशजीकी तीन बार, सूर्यकी सात बार तथा भगवान् शंकरकी आधी ही करनी चाहिये ।

श्रीहरिः

विनीत प्रार्थना

'कल्याण' का प्रायः सारा सम्पादन-विभाग तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें चला गया है। अतएव इस बीचमें पत्रव्यवहार बड़ी कठिनतासे हो सकेगा। अतः सबसे प्रार्थना है कि बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ही सम्पादकके नाम या सम्पादन-विभागको पत्र लिखें और उत्तर देरसे पहुँचे तो क्षमा करें। पहलेके भी बहुतसे सज्जनोंके पत्र आये रखे हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया जा सका है। वे भी कृपापूर्वक क्षमा करें। यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

गीताप्रेस तथा कल्याणके सभी प्रेमियोंसे निवेदन

गीताप्रेस-तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेन

गीताप्रेस एक आध्यात्मिक संस्था है और यह सम्पूर्ण विश्वकी निधि है। इसका उद्देश्य है—विश्वमें सार्वभौम वैदिक संस्कृतिका प्रचार, उपलब्ध एवं अनुपलब्ध आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक साहित्यको जनता तक अत्यन्त सुलभ मूल्यमें पहुँचाना, प्राचीन धार्मिक ग्रंथोंकी खोज, उनका प्रामाणिक-रूपमें मुद्रण तथा उनके द्वारा लोगोंमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, सहिष्णुता आदि-आदि सद्गुणों-का प्रसार, सत्संगके द्वारा सात्त्विक जीवनको प्रोत्साहन-दान, विविध रूपोंमें जनता-जनार्दनकी सेवा। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर उक्त संस्थाकी ओरसे एक तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेनका आयोजन किया गया है, जो २७ जनवरी, १९५६ शुक्रवारको काशीधामसे प्रस्थान कर चुकी है। तीन महीने तक तीर्थोंका भ्रमण करके वापस २६ अप्रैलको बनारस पहुँचनेका कार्यक्रम है। इसमें ६०० से अधिक यात्री हैं। किस तिथि-को किस स्थानपर पहुँचेगी, इसकी सूची नीचे दी जा रही है। जिन-जिन स्थानोंमें यह गाड़ी जा रही है, उन-उन स्थानोंके प्रेमी महानुभावोंसे निवेदन है कि वे यात्रियोंकी सुविधाके लिये ट्रेनके कार्यकर्ताओंको यथासाध्य सहायता दें, अपने यहाँके समाचारपत्रोंमें पहलेसे ही सूचना अवश्य छपवा दें और सत्संग-कीर्तन आदिका संक्षिप्त आयोजन भी करें। इस ट्रेनमें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार तथा कल्याण-कल्पतरुके सम्पादक—श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री भी जा रहे हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी तीर्थयात्रा-गाड़ी

संवत् २०१२ (सन् १९५६)

मार्ग-सूची तथा समय-सारिणी

स्थान	मास	तिथि / वार	तारीख
१—बनारस कैन्ट	पौष शुक्ल	१५ शुक्र	२७—१—५६
२—करवी (चित्रकूट)	माघ कृष्ण	१-२	२८-२९ जनवरी
३—इलाहाबाद (प्रयाग)	”	३ सोम	३०—१—५६
४—अयोध्या	”	४ मंगल	३१—१—५६
५—नैमिषारण्य	”	५ बुध	१—२—५६
६—हरद्वार	माघ कृष्ण	६ गुरु	२—२—५६
७—कुरुक्षेत्र	”	७ शुक्र	३—२—५६
८—मथुरा	”	८-९-१०	४—५—६ फरवरी
छोटी लाइन बदलेगी			
९—उज्जैन	”	११-१२	७—८ फरवरी

१०–इन्दौर	माघ कृष्ण	१३ गुरु	९–२–५६
११–ओंकारेश्वर	,,	१४ शुक्र	१०–२–५६
१२–चित्तौड़गढ़	,,	३० शनि	११–२–५६
१३–उदयपुर	माघ शुक्ल	१ रवि	१२–२–५६
१४–नाथद्वारा	,,	२ सोम	१३–२–५६
१५–अजमेर	,,	३ मंगल	१४–२–५६
१६–सिद्धपुर	,,	४ बुध	१५–२–५६
१७–ओखापोर्ट (बेट द्वारका)	,,	५ गुरु	१६–२–५६
१८–द्वारका	,,	६-७	१७-१८ फरवरी
१९–पोरबन्दर	,,	८ रवि	१९–२–५६
२०–वेरावल	,,	९ सोम	२०–२–५६
२१–जूनागढ़ (गिरनार)	,,	१०-११	२१-२२ फरवरी

बड़ी लाइन बदलेगी

२२–वीरमग्राम	,,	१२ गुरु	२३–२–५६
२३–अहमदाबाद	,,	१३ शुक्र	२४–२–५६
२४–डाकोर	,,	१४ शनि	२५–२–५६
२५–बड़ौदा	,,	१५ फा० कृ० २	२६–२७ फरवरी
२६–भरूच	फाल्गुन कृष्ण	३ मंगल	२८–२–५६
२७–सूरत	,,	४ बुध	२९–२–५६
२८–बम्बई	,,	५-६-७	१-२-३ मार्च
२९–नासिक	,,	८-८	४-५ मार्च
३०–कुर्डुवाड़ी (पंढरपुर)	,,	९-१०-११	६-७-८ मार्च

छोटी लाइन बदलेगी

३१–सोलापुर	,,	१२ शुक्र	९–३–५६
३२–बदामी	,,	१३ शनि	१०–३–५६
३३–होस्पेट	,,	१४-३०	११-१२ मार्च
३४–मैसूर	फाल्गुन शुक्ल	१-२	१३–१४ मार्च
३५–श्रीरंगपत्तन	,,	३ गुरु	१५–३–५६
३६–मद्दूर	,,	४ शुक्र	१६–३–५६
३७–बंगलोर	,,	५-६	१७-१८ मार्च
३८–कालहस्ती	,,	७ सोम	१९–३–५६
३९–तिरुपती	,,	८ मंगल	२०–३–५६

४०–तिरुवणमल्लै	फाल्गुन शुक्ल	९ बुध	२१–३-
४१–श्रीरंगम्	,,	११ गुरु	२२–३-
४२–त्रिचनापल्ली	,,	१२ शुक्र	२३–३-
४३–श्रीविल्लीपुटूर	,,	१३ शनि	२४–३-
४४–टेनकाशी	,,	१४-१५	२५–२६
४५–तिन्नवेली	चैत्र कृष्ण	१-२-३	२७–२८-२९
४६–मदुरा	,,	४ शुक्र	३०–३-
४७–धनुषकोटि	,,	५ शनि	३१–३-
४८–रामेश्वरम्	,,	६-७	१–२ अ
४९–रामनद	,,	८ मंगल	३–४-
५०–तंजोर	,,	९ बुध	४–४-
५१–कुंभकोणम्	,,	१० गुरु	५–४-
५२–मन्नार गुडी ५३–तिरुवल्लुर	,,	११ शुक्र	६–४-
५४–वेदारण्यम्	,,	११ शनि	७–४-
५५–मायावरम्	,,	१२ रवि	८–४-
५६–सियाली	,,	१३ सोम	९–४-
५७–चिदम्बरम्	,,	१४ मंगल	१०–४-
५८–पाण्डिचेरी	,,	३० बुध	११–४-
५९–चिंगलपेट	चैत्र शुक्ल	१ गुरु	१२–४-
६०–कांजीवरम्	,,	२ शुक्र	१३–४-

बड़ी लाइन बदलेगी

६१–मद्रास	,,	४-५	१४–१५
६२–विजय वाड़ा	,,	६ सोम	१६-
६३–राजमहेन्द्री	,,	७ मंगल	१७-
६४–सिंहाचलम्	,,	८ बुध	१८-
६५–पुरी	,,	९-१०	१९–२०
६६–कटक	,,	११ शनि	२१-
६७–भुवनेश्वर	,,	१२ रवि	२२-
६८–हबड़ा	,,	१३-१४	२३–२४
६९–वैद्यनाथ धाम	,,	१५ बुध	२५-
७०–बनारस	वैशाख कृष्ण	१ गुरु	२६-

कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पै

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्त मति सो गति

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३५२

अन्त मति सो गति

मानव जिसका सदा स्मरण करता जीवनमें ।
अंतकालमें वही वस्तु रहती है मनमें ॥
वही दीखती ऊपर-नीचे बाहर-भीतर ।
उसी वस्तुको पाता निश्चय मानव मरकर ॥
भरत अंतमें दर्शन पाते हैं शिशु-मृगका ।
इसीलिये पायेंगे ये शरीर फिर मृगका ॥
इससे जो नर सर्वकाल भजता नरहरिको ।
अर्पितकर मन-मति निश्चय वह पाता हरिको ॥

याद रक्खो—जब यह संसार और संसारके प्राणिपदार्थ इस रूपमें नहीं थे, तब भी भगवान् थे और अब, जब कि संसारकी ये वस्तुएँ विभिन्न रूपोंमें प्रकट हैं, तब भी भगवान् हैं तथा जब ये पुन: नहीं रहेंगी, तब भी भगवान् रहेंगे। ऐसा कोई देश, काल या वस्तु है ही नहीं, जिसमें भगवान् न हों, वरं देश, काल, वस्तु ही भगवान्में हैं। भगवान्के बिना किसीका भी कभी भी कोई अस्तित्व नहीं है। भगवान् सबमें भरे हैं, भगवान्में ही सब हैं, भगवान् ही भगवान् हैं।

याद रक्खो—संसार और संसारके प्राणिपदार्थमें कोई दोष नहीं है, दोष है—तुम्हारी विषयवासनामें, भोगकामनामें और इन्द्रियासक्तिमें। यदि तुम्हारे मनमें भोगोंकी वासना, कामना और उनमें आसक्ति नहीं है तो कोई भी भोग तुम्हें न तो बाँध सकता है, न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट ही कर सकता है।

याद रक्खो—भोगसेवनमें आसक्ति न हो, भोग-सुखकी कामना न हो तो प्रत्येक भोग भगवान्की पूजन-सामग्री बन जाता है और फिर वह अपनी नगण्य सत्ता-को भगवान्की महान् तथा अनन्त सत्तामें खो देता है। सुख-शान्ति तो फिर स्वरूपगत हो जाती है।

याद रक्खो—तुम सुख-शान्ति चाहते हो। सभी चाहते हैं। पर सुख-शान्ति जहाँ है, वहाँ कोई नहीं जाना चाहता। वरं उल्टे उसके विपरीत मार्गपर चलता है। समस्त सुखोंके, शान्तिके मूल केन्द्र हैं श्रीभगवान्। जो उनको अपना सुहृद् मान लेता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिल जाते हैं। जो सारी कामना-स्पृहा तथा ममता-अहंकारको भगवान्में समर्पितकर भगवान्का हो जाता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिलते हैं। पर यदि तुम भगवान्को भूलकर केवल भोगोंसे ही सुख-शान्ति चाहोगे तो तुम्हें निराश ही होना पड़ेगा।

याद रक्खो—भगवान्से रहित जितने भी भोग हैं, एक बार चाहे भ्रमवश वे सुखरूप दिखायी दें, पर परिणाममें उनसे दु:ख ही मिलेगा; क्योंकि वे दु:खोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे घरमें आग लगनेपर एक बार बड़ा प्रकाश दीखता है, परंतु परिणाममें वह घरका नाशक होता है; इसी प्रकार भोग-सुख भी एक बार मधुर तथा उल्लासप्रद लगता है, परंतु परिणाम विषवत् और भयानक दु:खप्रद होता है।

याद रक्खो—तुम जो भोगपदार्थोंको पाकर एक बार भूल जाते हो और अपनेको सुखी अनुभव करते हो, सो तुम्हारा वह सुख ऐसा ही है, जैसा शराबीको शराबके नशेमें अनुभव होनेवाला सुख। शराबी गंदी नालीमें पड़ा सुखके गीत गाता है, वैसे ही तुम भी भोगमदमें चूर हुए भोगसुखका बखान करते हो।

याद रक्खो—वस्तुकी प्राप्ति वहीं होती है, जहाँ वह होती है। बालूसे तेल नहीं निकलता, जलसे भी नहीं निकलता। सूर्यसे अन्धकार नहीं निकलता। चन्द्रमासे अग्नि नहीं निकलती। वैसे ही सुख-शान्ति भगवान्के बिना और कहींसे नहीं मिल सकती; क्योंकि और कहीं भी वह है नहीं।

याद रक्खो—भगवान्में जो स्वरूपभूत सुख-शान्ति है, वही असली सुख-शान्ति है। संसारके सुख-शान्ति तो ऊपरसे मधुर प्रतीत होते हुए जहरभरे लड्डू ही हैं, जो अंदर जाकर एक भीषण जलन उत्पन्न कर देते हैं तथा सर्वस्वका विनाश करते हैं।

याद रक्खो—जो लोग भगवान्में ही लगे हैं, केवल भगवान्से ही सुख-शान्ति चाहते हैं, जिनका ऐसा दृढ़ विश्वास है कि सुख-शान्ति भगवान्के सिवा और कहीं है ही नहीं, उनका भगवान्को छोड़कर न तो और कहीं मन जाता है, न श्रद्धा ही होती है। उनके सम्पर्कमें आनेवाले सारे विषय—विषयासक्तिके पदार्थ न रहकर भगवान्की दिव्य अनुभूति करानेवाले बन जाते हैं।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

दुःखका स्वरूप है किसी-न-किसी प्रकारके अभाव-का दर्शन। उस अभावकी पूर्तिके लिये प्राणी आदरके रूपमें, प्यारके रूपमें या वस्तुके रूपमें दूसरोंसे आशा करते हैं, जो स्वयं दुखी हैं—अर्थात् प्राणी उनसे आदर, प्यार और वस्तुएँ चाहते हैं, जो स्वयं अभावमें आबद्ध हैं। यह एक नवीन दुःखकी तैयारी है। भाव यह कि व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके द्वारा प्राणी अपने दुःखको घटाना या नष्ट करना चाहता है पर ये सभी स्वयं दुःखमें ग्रस्त हैं (परिवर्तनशील होने-के कारण अनित्य और अभावरूप हैं)। इसलिये इनसे दुःखकी निवृत्तिकी आशा करना अर्थात् अभावपूर्तिकी आशा करना नये दुःखकी तैयारी है; क्योंकि आशा ही तो दुःख (अभाव) का कारण है।

अतः साधकको चाहिये कि इनसे निराश हो जाय। पर जो निराशा शोक उत्पन्न कर देती है, वह साधकके कामकी नहीं है।

साधारण प्राणी जब आशाकी पूर्ति नहीं होती, तब निराश होकर अपनेको अभागा समझते हैं अथवा दूसरोंको दोष देने लगते हैं। उक्त प्रकारसे समस्त जगत्‌से निराश होकर अपने व्यक्तित्वकी आशा रखना दूसरोंमें वैरभाव उत्पन्न कर देता है। व्यक्तित्वके बलपर दूसरोंसे निराश होनेवालेमें मिथ्याभिमान पैदा हो जाता है।

अतः साधकको चाहिये कि पहले व्यक्तिभावसे निराश हो जाय। मन, प्राण, बुद्धि और इन्द्रियोंका समूह ही व्यक्तित्व है। अतः साधकको इन सबकी आशा त्याग करके इनसे विमुख हो जाना चाहिये। भाव यह कि ये सब स्वयं अभावपूर्ण हैं, अतः इनसे अभावपूर्तिकी आशा करना प्रमाद है, अतः साधकको सबसे निराश हो जाना चाहिये।

हरेक कार्य करते समय साधकको समझना चाहिये कि मैं यह अपने प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। यदि कोई कमरेमें झाड़ू लगानेका या उससे भी तुच्छ दूसरा कार्य करे तो भी समझे कि यह मेरे प्रियतमका आदेश है। यह समझकर उसके प्रेममें विभोर हो जाय। विधानके अनुसार कार्यमें भेद होना अनिवार्य है, पर प्रीतिमें भेद नहीं होना चाहिये। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि अमुक कार्य तो छोटा है, मेरी योग्यताके अनुरूप नहीं है।

किसी भी सुखरूप परिस्थितिकी प्राप्तिमें साधकको यह नहीं समझना चाहिये कि यह मेरी योग्यताका प्रभाव है, योग्यताका प्रभाव मानते ही अभिमान और आसक्ति उत्पन्न हो जायँगे, जिनसे चित्त अशुद्ध हो जायगा।

साधकको समझना चाहिये कि उस अनन्तने कृपा करके मेरे स्वार्थभावको गलानेके लिये, सेवाके लिये यह साधन प्रदान किया है; भाव यह कि मेरा स्वार्थ गलानेके लिये ही उन्होंने स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण होते हुए भी अपूर्णताका वेष धारण किया है और मुझे सेवा करनेका अवसर दिया है।

इस प्रकार समझकर यदि साधक प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी महिमाका दर्शन करे और अन्तमें उनका दिया हुआ सब कुछ उनके समर्पण कर दे तो समर्पणकालमें प्रीति-का उदय तथा वस्तु और इन्द्रिय आदि प्राप्त शक्तिके उपयोग-कालमें उनकी सेवा—इस प्रकार ये दोनों दायें-बायें पैरकी भाँति प्रेममार्गमें चलनेके लिये साधन बन जायँ। ऐसा होने-पर साधकको सचमुच उनकी कृपाका अनुभव हो जाता है और वह उनके प्रेममें निमग्न हो जाता है।

प्रवृत्ति अर्थात् प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग प्रीतिका उपयोगकाल है और निवृत्ति उसका उदयकाल है।

भाव यह कि निवृत्तिकालमें नित्य नयी प्रीतिका उदय होता है और प्रवृत्तिकालमें वह दृढ़ होती है। प्रवृत्तिके अन्तमें निवृत्ति निश्चित है, अतः साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिकालमें उपर्युक्त प्रकारसे वह निरन्तर उनके साथ रहनेका, उन्हींमें रमण करनेका स्वभाव बना ले। अर्थात् हर समय यह अनुभव होता रहे कि मैं उनका प्रीतिपात्र होकर उन्हींके साथ हूँ। यही चित्तकी शुद्धि है।

यदि साधकको यह भासता है कि कभी तो मैं उनके साथ हूँ और कभी किसी दूसरेके साथ हूँ तो उसे समझना चाहिये कि व्यक्तित्वका मोह है। इस मोहका प्रकाशन दूसरे व्यक्तियोंके द्वारा तब होता है, जब साधक दूसरे व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करते समय समझता है कि मेरा इनमें मोह हो गया है; क्योंकि वह उस समय किसीसे तो मिलना चाहता है और किसीसे अलग होना चाहता है। यही द्वन्द्व है।

चित्त शुद्ध करना हो तो साधकको चाहिये कि प्रत्येक परिस्थितिके द्वारा उस अनन्तको लड़ाता रहे अर्थात् प्रीतिका रस प्रदान करता रहे। भाव यह कि उनका खिलौना बना रहे।

भूल यह होती है कि प्राणी अनेक साथी बनाता रहता है, केवल उस अनन्तका होकर नहीं रहता; अतः उन साथियोंके द्वारा प्यार और तिरस्कार, आदर और अनादर आदि द्वन्द्व मिलते रहते हैं। इस प्रकार प्राणी इस साधनयुक्त मानव-जीवनको नष्ट कर देता है।

चित्त शुद्ध करके जीवनको सफल बनाना हो तो साधकको चाहिये कि एकमात्र उन्हींके होकर रहने और उन्हींकी सेवा करनेको अपना उद्देश्य बना ले। सेवककी दृष्टिमें सेवाका सम्बन्ध अपने सेव्यसे ही रहता है, संसारसे नहीं।

सेवा करते समय साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवाका फल सेवा ही है, उसका कोई दूसरा फल नहीं है; अतः सेवा ही साध्य है और सेवा ही साधन है। भाव यह है कि जबतक स्वार्थ सर्वथा नहीं गल जाता तबतक तो सेवा साधन है, जब स्वार्थ सर्वथा गल जाता है, तब वह सेवा ही साध्य बन जाती है अर्थात् साधकका प्रियतमसे नित्य नव-मिलन होता रहता है। स्थायी मिलन तो ज्ञानसे होता है जो निर्विशेषके साथ होता है।

नित्य नव-मिलन प्रीतिका हेतु है। यह प्रत्येक परिस्थितिमें रसमय है। इसमें नीरसताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस समय जो भी अभावयुक्त हैं, उन सबसे सम्बन्ध टूट जाता है।

अपना व्यक्तित्व ही अभावयुक्त है, इससे सम्बन्ध टूटते ही चित्तमें शुद्धि और शान्ति आ जाती है। शान्तिसे सामर्थ्य और शुद्धिसे सरसता आ जाती है। शान्ति और शुद्धि साथ-साथ रहती है। शान्ति सामर्थ्यकी प्रतीक है। सामर्थ्यसे दोषोंकी निवृत्ति होती है। शुद्धि शान्तिको पुष्ट करनेवाली है। इस प्रकार दोनों एक दूसरेकी वृद्धिमें हेतु हैं। शुद्धिका प्रतीक है किसीका बुरा न चाहना और शान्तिका प्रतीक है चाहरहित होना। दोनोंमेंसे कोई भी पहले हो सकती है। एकके पीछे दूसरी अपने-आप आ जाती है।

सुखमय परिस्थितिमें सर्वहितकारी भाव आ जाय और दुःखमय परिस्थितिमें चाहरहित भाव आ जाय तो शान्ति और शुद्धि अपने-आप आ जाती हैं। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनोंकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है।

जीवनमें अशुद्धि बढ़ती है अपने प्रति बुराई करनेवालेका भला न चाहनेके कारण। यदि साधक बुराई करनेवालेका भला चाहने लग जाय तो सहजमें उसका ही चित्त शुद्ध हो जाय। यह चित्तशुद्धिके लिये उच्चकोटिका साधन है।

शान्तिकी प्राप्ति तब होगी, जब साधक किसीसे भी कुछ न चाहेगा। भाव यह कि जगत्से, समाजसे, गुरुसे और शरीरसे भी कुछ न चाहे; इतना ही नहीं भगवान्से

भी कुछ न चाहे। इस प्रकार चाहरहित होनेपर शान्ति और सामर्थ्य अपने-आप सिद्ध हो जायँगी।

कोई कहे कि भगवान्‌से क्यों नहीं माँगना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् बड़े उदार हैं। हम जो कुछ माँगेंगे वह उससे कम ही होगा जो बिना माँगे उनकी ओरसे अपने-आप मिलेगा। इस दृष्टिसे माँगनेमें घाटा ही है, अतः माँगनेकी अपेक्षा न माँगना ही अच्छा है।

इस विषयमें यह आशङ्का मनमें नहीं करनी चाहिये कि मुझे किसीसे कुछ नहीं माँगना चाहिये—इस भावको लेकर अभिमान हो जायगा; क्योंकि अभिमानका जन्म परके सम्बन्धसे होता है। जिसको अपने शरीर, इन्द्रिय और मन आदिसे भी कुछ नहीं लेना है, उनको भी जो पर समझकर उनके सम्बन्धका त्याग कर चुका है, उसको अभिमान किस बलपर होगा और कैसे होगा।

साधकको चाहिये कि जो कुछ है वह दे दे और चाहे कुछ नहीं।

चाहयुक्त भक्तसे प्रभु उसकी चाह पूरी करके जल्दी छुटकारा पा जाते हैं। पर चाहरहित भक्तसे छुटकारा नहीं पाते।

उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। वे इस बातको देखते रहते हैं कि 'मेरा भक्त क्या चाहता है, यदि वह कुछ चाहे तो उसे दे दूँ।' पर जो कुछ नहीं चाहता उसके पीछे-पीछे वे फिरते हैं। इतना ही नहीं, चाहरहित भक्तके वे स्वयं भक्त बन जाते हैं। अतः साधकको चाहिये कि किसीसे कुछ माँगे नहीं, प्रभुका प्रेमी बनता चला जाय। बस, नित्य नव-प्रेम बढ़ता रहे। चाह-रहित होनेपर शान्ति अपने-आप मिलेगी। शान्तिसे सामर्थ्य प्राप्त होगी। सामर्थ्यसे सेवा बनेगी। सेवासे प्रभुमें प्रीति बढ़ेगी और प्रीतिसे प्रभुको रस-प्रदान करते रहना यही जीवनकी सफलता है।

मानव

(रचयिता—श्रीकृष्णलालजी वर्मा)

है हितैषी जगज्जनका, दोष जो नहिं देखता।
है न ईर्षा-भाव जिसमें, राग-द्वेष न पोषता॥
इंद्रियाँ आधीन जिसके, निःस्पृही औ शांत है।
है वही मानव सही, यह सत्य औ निर्भ्रांत है॥१॥

देह, वाणी और मनसे दुःख प्राणीको न दे।
निर्विकारी, अल्पतोषी, जीवको सुख-शांति दे॥
सज्जनोंका मित्र हो जो, दूर दुर्जनसे रहे।
सत्कथा सुनता-सुनाता, जग उसे मानव कहे॥२॥

सात्त्विकी हो बुद्धि जिसकी, भक्तजनका भक्त हो।
भगवानका जो भक्त हो, जगमें नहीं आसक्त हो॥
बाप-माँकी सेवकाई नम्र हो करता रहे।
है वही मानव, हृदयसे जिसके करुणा-जल बहे॥३॥

साधु सेवक औ सहारा दीन जनका जो रहे।
सत्य, हित, मित, वाक्य बोले, दूर पापोंसे रहे॥
हो सदा ग्राहक गुणोंका, मेल दुर्गुणसे न हो।
स्वात्म सम समझे सभीको, है वही मानव अहो॥४॥

मित्र-अरिमें भावना हो एक-सी जिसकी सदा।
निंद्य कामोंमें न होवे कामना जिसकी कदा॥
देख सुख-वैभव पराया हर्ष मनमें मानता।
चाहता जगका भला, मानव उसे जग जानता॥५॥

रात-दिन प्रभु-ध्यानमें जो नम्र होकर लीन हो।
दुःख दुखियोंका मिटानेमें सदा तल्लीन हो॥
लालसा जिसको न छूए, गर्वसे जो पर रहे।
उस मनुजके हेतु जगमें प्रेमका झरना बहे॥६॥

[एक संस्कृत-पद्यका भावानुवाद]

श्रद्धा-विश्वास

(लेखक--स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

श्रद्धा और विश्वासस्वरूप शङ्कर और पार्वतीकी मैं वन्दना करता हूँ । यदि किसी योगीने सिद्धि प्राप्त की हो और इससे वह सिद्ध भी कहलाता हो तथापि जबतक वह श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ज्ञानसाधन नहीं करता, तबतक उसे हृदयमें स्थित आत्मदेवका दर्शन नहीं होता ।

आत्मज्ञानके साधन तो तप, तीर्थाटन, दान, सेवा, पाठ-पूजा, यज्ञ-याग, भक्ति, ज्ञान आदि अनेकों हैं; परंतु ये सब साधन ही हैं । इनके साथ श्रद्धा और विश्वास न हो तो कोई भी साधना सफल नहीं होती ।

श्रद्धा और विश्वासका पृथक्करण एक कविने बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया है, वह जाननेयोग्य है । आस्तिकताका स्वरूप समझाते हुए वह कहता है—

मैं हरिका, हरि मेरे रक्षक, यही भरोसा बना रहे ।
जो हरि करते वह हित मेरा, यह निश्चय ही सदा रहे ॥

ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, इसलिये मैं ईश्वरका हूँ । ईश्वर ही सृष्टिका पालन, पोषण तथा रक्षण करता है, इसलिये मेरी रक्षा भी वह करेगा ही। ईश्वरमें ऐसा भरोसा अर्थात् ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये । इस प्रकारकी श्रद्धाके फलस्वरूप, ईश्वर जो कुछ करता है, वह मेरे भलेके लिये ही होता है—ऐसा अटल निश्चय हो जाता है । यही ईश्वरमें विश्वास कहलाता है । ऐसी अविचल भावना, ऐसी अडिग श्रद्धा और विश्वास जिसका ईश्वरमें हो, वही सच्चा आस्तिक कहलाता है ।

आस्तिक और नास्तिककी विचारसरणिमें अन्धकार और प्रकाश-जैसा भेद है । कुछ दिनों पूर्व, जहाँ मैं रहता था, वहाँ गृहस्वामीका एक बारह-तेरह वर्षका लड़का झूलेसे झूलते समय गिर पड़ा। परंतु भाग्यसे उसे कोई गहरी चोट न लगी । गृहस्वामीने कहा कि 'प्रभुने लाज रक्खी । यदि डोरी न टूट गयी होती तो वह चित्त गिरता और इस सीढ़ीका कोना सिरमें लगता, तब क्या होता, यह कहा नहीं जा सकता । इस प्रकार ईश्वर शूलीके विघ्नको सूई गड़ाकर दूर कर देता है, इसका यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त है ।'

उनके साथ एक कालेजवाला था, उसने कहा—'भाई! तुम तो वैसे-के-वैसे ही रह गये ! लड़का गिर गया और चोट लगनेकी कोई चीज न रही, इस कारण चोट न लगी। बहुधा कहीं अधिक चोट लगती भी नहीं । इसमें ईश्वरके रक्षा करनेकी बात कहाँसे टपक पड़ी ? हाँ, कहना ही हो तो यह कह सकते हो कि 'ईश्वरने उसको गिरा दिया, परंतु अच्छा हुआ कि चोट न लगी ।'

सूक्ष्मदृष्टिसे देखिये तो पता लगेगा कि श्रद्धा विश्वासकी जननी है । परंतु माता और पुत्र निरन्तर एक ही साथ रहनेके कारण एकार्थवाची हो गये हैं । जहाँ श्रद्धा है वहाँ विश्वास भी रहता है और जहाँ विश्वास है, वहाँ उसके मूलमें श्रद्धा होती ही है ।

हम किसी अज्ञात गाँवमें जा पहुँचे और वहाँ कोई परिचित मिला, हमने उससे पूछा कि 'भाई ! बतलाओ, इस गाँवमें भला और ईमानदार दूकानदार कौन है, जिससे जरूरतकी चीजें खरीद ली जायँ ।' उस भाईने किसी एक दूकानकी ओर संकेत किया और उसको हमने ध्यानमें रख लिया । दो-चार दिनोंके बाद थोड़ी चीजें खरीदनेकी जरूरत पड़ी और हम उस दूकानपर पहुँचे तथा उस दूकानदारसे कहा—'अमुक-अमुक वस्तुएँ अच्छी देखकर इतनी-इतनी दे दो ।' उसने तदनुसार ठोंगोंमें बाँधकर चीजें दे दीं और जितने पैसे माँगे उतने पैसे हमने चुका दिये । रास्ते चलते जीवकी संदेहवृत्ति—संदेह करनेका स्वभाव जाग्रत् हुआ और उसने कहा—'अच्छा, आँखें मूँदकर पैसे तो चुका दिये, परंतु दूसरी दो दूकानोंमें भाव-ताव पूछकर खातिरी तो कर लें कि कहीं ठगा तो नहीं गये ।' तुरंत ही रास्तेमें जो दूकान आयी, वहाँ भाव पूछकर देखा तो एक वस्तुका वही भाव और दूसरी वस्तुका बहुत तेज भाव दूकानदारने बताया । आगे जाकर दूसरी दूकानमें पूछ-ताछ की तो वहाँ भी वैसा ही उत्तर मिला । अब विश्वास हो गया कि ठगाये तो नहीं । घर आकर वस्तुएँ घरमें दीं, उनको देखकर गृहिणीने कहा—चीजें तो सभी अच्छी हैं ।

यहाँ हमने एक साधारण जान-पहचानवाले मनुष्यके वचनके ऊपर श्रद्धा रक्खी और उस श्रद्धाके बलसे उस दूकानदारके ऊपर विश्वास रक्खा । दूसरी दूकानोंपर पूछकर

खातिरी कर ली कि उसने हमको ठगा नहीं। इससे वह विश्वास दृढ़ हो गया। इस प्रकार श्रद्धा विश्वासकी जननी है।

एक विद्यार्थी पाठशालामें पढ़नेके लिये बैठा। शिक्षकने उसकी पाटीपर एकका अङ्क लिख दिया और कहा कि इसको 'एक' कहते हैं। यदि वह विद्यार्थी शिक्षकके वचनमें श्रद्धा न रक्खे और उलटा प्रश्न करे कि इसको 'एक' क्यों कहते हैं? घोड़ा क्यों नहीं कहेंगे?—ऐसी अवस्थामें वह विद्यार्थी पढ़ ही नहीं सकेगा। इस प्रकार जगत्में सभी कार्योंका आरम्भ श्रद्धासे ही होता है और वही श्रद्धा परिपक्क होकर विश्वासमें परिणत होती है।

बालक जब जन्मता है, तब बिल्कुल अज्ञानकी हालतमें रहता है और उसको सारा ज्ञान केवल मातामें श्रद्धा रखनेसे ही मिलता है। माता कहती है, 'मैं तेरी माँ हूँ और ये तेरे पिता हैं।' बालक श्रद्धासे विश्वास कर लेता है कि सचमुच ऐसी ही बात है। वह यदि ऐसा कहे कि 'इसका क्या प्रमाण है कि तू ही मेरी माँ और यही मेरे पिता हैं? प्रमाण देकर सिद्ध करके बतला तभी मैं मानूँगा, नहीं तो, नहीं मानूँगा।' ऐसा हो तो उस लड़केका जीवन व्यर्थ जाता है; क्योंकि जिसको माताके वचनमें श्रद्धा नहीं, उसको जगत्के व्यवहारमें क्या श्रद्धा हो सकती है?

हम कुछ सौदा लेने किसी दूकानपर गये। वहाँ दूकानदारको यदि यह श्रद्धा होगी कि उसके मालका दाम हम चुका देंगे, तभी वह दाम मिलनेके पहले माल देगा। वैसी श्रद्धा न होगी तो पहले दाम माँगेगा और कहेगा कि पैसे मिलनेके बाद माल दूँगा। हमको भी यदि उसमें श्रद्धा न हो और हम ऐसा विचार करें कि दाम लेकर माल न दिया तो?—ऐसी हालतमें हम माल लेनेके पहले पैसे नहीं देंगे। सब ओर ऐसी ही गाँठ बँध जानेपर तो फिर कोई व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। दूकानदार दाम लेनेके पहले माल न दे और हम माल लेनेके पहले दाम न दें, तब फिर सौदा क्योंकर हो? इसलिये श्रद्धाके बिना कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें श्रद्धाके ऊपर बहुत जोर दिया है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

अपने अन्तःकरणके संस्कारके अनुसार मनुष्यमें श्रद्धा होती है। मनुष्यमात्रका जन्म अज्ञान दशामें ही होता है, इसलिये जो संस्कार पहले जाग्रत् होता है, उसीके अनुसार उसकी श्रद्धा बन जाती है। अतएव मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी श्रद्धाका होना स्वाभाविक है। इस प्रकार पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, उसके अनुसार उसका आचरण होता है। इस प्रकार श्रद्धा मनुष्यमात्रमें एक नैसर्गिक धर्म है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४।३९)

जिस मनुष्यके मनमें ईश्वरपर श्रद्धा है और इस कारण सद्गुरु तथा सत्-शास्त्रमें जिसे विश्वास है, इस प्रकारका साधक इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे साधन करते हुए ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है और ज्ञानका उदय होनेपर तत्क्षण उसको मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तथा वह परम शान्तिका अनुभव करता है।

इसके विपरीत, जिसमें ऐसी श्रद्धा नहीं होती, उसकी क्या दशा होती है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४।४)

जो मूर्ख है, किसीमें श्रद्धा नहीं रखता—ऐसा मनुष्य संशय और विपर्ययमें ही गोते खाया करता है और परिणामस्वरूप विनाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके निश्चय-विहीन मनुष्यको इस लोकमें भी सुख-शान्ति नहीं मिलती, तो फिर परलोकमें मिलनेकी तो आशा ही कैसे की जा सकती है? इसलिये श्रद्धा ही फलती है, यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७।२८)

श्रद्धाके बिना किये हुए यज्ञ-यागादि, दिये हुए दानादि, की हुई तपश्चर्या, यहाँतक कि श्रद्धाके बिना किया हुआ कोई भी कर्म कोई फल नहीं देता, वह व्यर्थ जाता है। अर्जुन! उससे इस लोकमें कोई सिद्धि नहीं मिलती, फिर भला परलोकमें कैसे मिल सकती है? यानी नहीं मिलती।

यहाँतक हमने यह आलोचना की है कि श्रद्धा और विश्वास तो मनुष्यमें साधारणतः होते ही हैं। ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य इनको विकसित नहीं करता, वह इस लोकमें तो सुख पाता ही नहीं, उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

श्रद्धा और विश्वासके विषयमें इतना सुनकर अपनेको सुधरे हुए तथा प्रत्यक्ष विज्ञानको माननेवाले आधुनिक पुरुष कहेंगे कि 'इस प्रकारके अन्धविश्वाससे ही हमलोगोंका सर्वनाश हो गया है। इस प्रकारकी अन्धश्रद्धासे ही हमलोगोंको दूसरोंकी गुलामी करनी पड़ी और हमने स्वतन्त्रता खो दी। इस प्रकारके अन्धविश्वाससे समाज निर्बल बनता है और व्यक्ति भी अपनी शक्ति गवाँ बैठता है। इसलिये तुम जो श्रद्धा-विश्वासकी बात करते हो वह तो अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास है। देखो, तुम्हारे मनु महाराजको हुए आज कितने वर्ष हो गये, तथापि आज भी उनके बनाये नियमोंसे चिपटे रहना अन्धश्रद्धा नहीं तो और क्या है? मनुने कहा कि स्त्रियोंको रजस्वला-धर्मका पालन करना चाहिये। उस समयके देश-कालके अनुसार वह कदाचित् लाभदायी हो सकता था, परंतु आज भी उसको पकड़े रहना अन्धानुसरण नहीं तो और क्या है?

'मनुने कहा—'ईश्वर है और उसीने इस सृष्टिकी रचना की है और वही पालता है।' पर इस बातमें आज वैज्ञानिक दृष्टिसे सत्य नहीं दीखता है, फिर भी इसको सत्य ही मानते रहना अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है? मनुने जो नियम बनाये थे, वे उन दिनोंके लिये ही थे। आज इस प्रगतिके युगमें उनको पकड़े रहनेमें क्या लाभ है? उन्होंने कहा है—'विधवाका ब्याह फिर नहीं होना चाहिये।' 'एक गोत्रके पुरुष-स्त्रीमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।' 'वर्णान्तरमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये तथा लड़कीको पैतृक सम्पत्तिमें उत्तराधिकार नहीं मिलना चाहिये।' हम इन सब बातोंको आज भी ऐसे ही मानते रहें तो फिर पशुमें और हममें अन्तर ही क्या है? पशु भी जैसे हाँको वैसे ही चलता है और हम भी, आज इस विज्ञानके युगमें भी, मनु महाराजके हाँकनेके अनुसार चला करें तो फिर हम नर-पशु ही न कहलायेंगे? बाबू! अब युग बदल गया है। आज मनुष्य उन्नतिके शिखरपर खड़ा है, (सच कहा जाय तो अवनतिकी अन्तिम सीढ़ीपर है) ऐसी स्थितिमें तुमको ईश्वर और शास्त्रमें श्रद्धा रखनेकी बात मुँहसे निकालते शर्म नहीं आती?'

अन्धविश्वास अवश्य हानिकारक है और इससे कुछ भी नहीं करना चाहिये। अन्धा जिस प्रकार दृष्टि-शक्तिविहीन होकर जहाँ-तहाँ धक्के खाता फिरता है, उसी प्रकार विवेक-दृष्टिका उपयोग किये बिना सुनी या देखी हुई वस्तु या व्यवहारके ऊपर दृढ़ विश्वास कर लेनेका नाम अन्धविश्वास है और ऐसा विवेकशून्य विश्वास अवश्य अनिष्ट फल देता है।

विश्वास बहुत उत्तम वस्तु है और इसके बिना काम चल भी नहीं सकता। तथापि यदि यह अपात्र या कुपात्रमें किया जाय तो विनाशकारी सिद्ध होता है। जैसे दूध अमृततुल्य होता है, फिर यदि उसको छाछके बर्तनमें डाल दिया जाय तो वह विकृत हो जाता है, फिर उसको पीनेसे लाभके बदले हानि होती है। शुद्ध बर्तनमें रक्खा हुआ दूध एक बालक पीता है तो उसके अङ्गकी पुष्टि होती है, परंतु वही दूध यदि सर्प पी ले तो वह विषरूप बन जाता है और मनुष्यका प्राण ले सकता है। इसी प्रकार विश्वास एक सहज वस्तु है और इसके बिना कोई व्यवहार नहीं चलता। फिर भी, उसमें यदि विवेकबुद्धिका उपयोग न हो तो लाभके बदले हानि करता है। मनुष्यकी विशेषता तो विवेकबुद्धिका उपयोग करनेमें ही है।

हम एक अपरिचित गाँवमें जाते हैं। किसी रास्ते या स्थानपर कई मोड़ आते हैं और हम सामने आनेवाले किसी भी आदमीसे पूछते हैं, वह जिधर मुड़नेके लिये कहता है, हम उसी दिशामें जाते हैं। सम्भव है कि वह कोई ठग हो और हमें हैरान करनेके लिये विपरीत बता रहा हो, तथापि हम उसकी बातपर विश्वास रखकर उस दिशामें चल पड़ते हैं। यह अन्धविश्वास है या और कुछ?

अपने घर एक रसोइया है। वह जब रसोई बनाता है तब उसपर कोई ध्यान भी नहीं रखता। फिर भी, उसकी बनायी रसोई हम रोज खाते हैं। सम्भव है कि वह धर्म-विचारसे शून्य लोभी-लालची हो और हमारा कोई शत्रु उसे सौ-दो सौ रुपये देकर हमारे भोजनमें विष मिलवा दे एवं लोभके वश वह आदमी ऐसा कर भी बैठे। ऐसा सम्भव होनेपर भी, हम उस रसोइयेमें दृढ़विश्वास रखते हैं। यह अन्धविश्वास है या और कुछ? हम अपने घर बैठे हैं, पेटमें दर्द शुरू हुआ और दस्त होने लगे। हमने डाक्टरको बुलानेके लिये फौरन एक आदमी भेजा। हमारा परिचित

डाक्टर गाँवसे बाहर गया था। यह समाचार पाकर हमने किसी दूसरे अपरिचित डाक्टरको बुला लिया और उसकी दी हुई दवा विश्वासपूर्वक खा ली। उससे हम अच्छे भी हो सकते हैं और नहीं भी—इसका नाम अन्धविश्वास है या और कुछ ?

अब विचार करके देखिये। इस संसारके किसी भी काममें विश्वासके बिना काम नहीं चलता और हम सहज भावसे जहाँ-तहाँ विश्वास करते भी हैं। उसमें सभी आदमी विश्वास-योग्य नहीं भी होते, यह जानते हुए भी हमको उनपर विश्वास करना पड़ता है; क्योंकि किसी-न-किसी मनुष्यके ऊपर विश्वास रक्खे बिना जीवन-निर्वाह हो नहीं सकता। इस प्रकार विवश होकर हम सबके ऊपर विश्वास करते हैं, फिर भी ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम अन्धविश्वास नहीं करते।

अब जरा और विचार कीजिये। ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर विश्वास करना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है? ईश्वर सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है, वह प्राणिमात्र-का परम सुहृद् है, इसलिये उसपर विश्वास करनेसे ठगे जानेका भय रहता ही नहीं, बल्कि एक सच्चा अवलम्बन होनेसे हमारा जीवन सुखरूप बन जाता है। सद्गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं, उनको कोई लोकैषणा या वित्तैषणा है ही नहीं, जिससे वे हमको ठग सकते हों। अपने स्वार्थके बिना मनुष्य कभी किसी दूसरेको नहीं ठगता। सद्गुरुके लिये तो जगत्का कल्याण करना ही स्वार्थ है। इसके सिवा उनका कोई दूसरा लौकिक ध्येय नहीं होता। इसलिये ईश्वर और सद्गुरुके ऊपर विश्वास रखना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है? फिर, तपस्वी तथा जगत्के कल्याणकी ही कामनावाले, ईश्वरका साक्षात्कार प्राप्त किये हुए आप्तकाम और त्रिकालदर्शी ऋषियोंने जिन सत्-शास्त्रोंकी रचना की है, उनके ऊपर यदि विश्वास न करें तो फिर अन्य किसके ऊपर विश्वास करें? उनसे अधिक विश्वसनीय दूसरा क्या हो सकता है? इस प्रकार ईश्वर, सद्गुरु तथा सत्-शास्त्र हमारे हितैषी हैं तथा सर्वज्ञ हैं और इस कारण सच्चा मार्ग-दर्शन करानेवाले हैं। इसलिये इनपर विश्वास करनेको यदि अन्धविश्वास कहा जाय तो वह दुराग्रह और मूढ़ताके सिवा और क्या है?

परंतु आजका बुद्धिमान् (?) मनुष्य उलटी ही राह चलता है। जो अत्यन्त विश्वसनीय है, वहाँ विश्वास करते डरता है तथा जहाँ विश्वास करनेका तनिक भी अवकाश नहीं, वहाँ आँखें मूँदकर विश्वास करता है और कहता है कि हम कहीं भी अन्धविश्वास नहीं करते। भलीभाँति न्यायपूर्वक देखें तो आजका मानव अन्धविश्वासमें ही जीवनयापन करता है और परम श्रद्धेय एवं विश्वसनीय स्थानमें वह विश्वास नहीं करता।

आजका सुशिक्षितवर्ग आधुनिक भौतिक विज्ञानमें ही जो अचल श्रद्धाका सेवन करता है और उसके विधानमें पूर्ण विश्वास रखता है, वह अन्धविश्वास है या नहीं, यह देखना चाहिये। पहले विश्वकी उत्पत्तिके लिये नेबुलाके सिद्धान्तको लीजिये। सूर्य एक धधकता हुआ गोला था और उसमेंसे अलग निकले हुए कुछ टुकड़े आजके हमारे सूर्यलोक हैं, यह सिद्धान्त माना जाता है और इसको हम आँखें मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं। अब यदि तनिक विचार करें तो जान पड़ेगा कि यह बात मनकी एक निरंकुश कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं है। फिर इस विश्वासको क्या कहा जाय, इसे पाठक ही निश्चय करें।

एक दूसरे सिद्धान्तको चार्ल्स डार्विनने विकासवाद कहकर पुकारा और यह निश्चय किया कि यह विशाल प्राणि-जगत् एक कोषवाले एक क्षुद्र जन्तुसे विकसित होते-होते बना है और वे मानवको वानरोंका वंशज मानते हैं। केवल समान आकृतिको लेकर ही एकमेंसे दूसरी जाति उत्पन्न होती है, ऐसा मानें तो फिर छिपकली, गिरगिट, चन्दनगोह, पाटागोह और छोटे-बड़े मगर आदि सब करीब-करीब एक ही आकृतिके प्राणी हैं; पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि विकासक्रमसे एकसे दूसरेका निर्माण हुआ है। डार्विनने बड़ा परिश्रम करके एक पूरी श्रृङ्खला तैयार की और जहाँ-जहाँ बिचली कड़ी नहीं मिली, वहाँ-वहाँ वे जातियाँ लुप्त हो गयीं, ऐसा मान लेनेका निश्चय किया। अब इस कपोलकल्पित सिद्धान्तमें कोई विश्वास करे तो उसको क्या कहेंगे, इसका निर्णय भी पाठक ही करें।

विश्व-विद्यालयके एक वर्तमान उपाधिधारी वैज्ञानिकने कुछ दिनों पहले यह प्रकट किया था कि मूँगफलीका मक्खन और उसका दूध बहुत अच्छा होता है, इसका उपयोग करना चाहिये। इसको बनानेकी रीति भी उन्होंने बतायी थी। उनको पहले पानीमें भिगोकर उसका लाल छिलका उतार ले और तब उसको महीन कूटकर पीस ले और उसका लौंदा बना ले। बस, मक्खन बन गया और उस लौंदेको पानीमें

घोल ले तो वह दूध बन जायगा । जो मक्खन-जैसा दीख पड़े वह सब मक्खन और जो दूध-सा दिखायी दे वह दूध । यदि ऐसी ही बात हो तो पानमें खानेको जलाया हुआ चूना मक्खनकी अपेक्षा भी अधिक मुलायम और गाढ़ा होता है और उसको यदि थोड़े पानीमें घोल दिया जाय तो वह प्रवाही दूधकी अपेक्षा भी अधिक सफेद और गाढ़ा होता है। इन वैज्ञानिकोंने इस (चूनेके) मक्खन और दूधके लिये आग्रह क्यों नहीं किया, यह समझमें नहीं आता । इस बातको जिसने सच्चा समझा हो, उसको अन्धा कहें या आँखवाला, इसका विचार भी आप ही करें ।

अपनेको मनोवैज्ञानिक कहनेवाले श्रीफ्रायड महाशयने कहा है कि 'पशु इन्द्रियसंयमका पालन नहीं करते, इससे उनको कोई रोग नहीं होता और वे जीवनभर तन्दुरुस्त रहते हैं । इसलिये मनुष्यको भी यदि तन्दुरुस्त रहना हो और रोगोंको न आने देना हो तो इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरण करने देना चाहिये ।' यह बात हमारे शास्त्रोंसे ठीक उलटी है और फिर भी आँखें मूँद करके इसे हमने सच्ची मान ली है । इसके फलस्वरूप अपने पवित्र देशमें आज अनाचार, दुराचार और यौन रोग बढ़ते जा रहे हैं। इस विश्वासको क्या कहें ?

सारांश यह है कि हमारा चश्मा ही उलटा हो गया है, जिससे अच्छी वस्तु बुरी दीखती है और जो अन्धविश्वास है, वह सच्चा विश्वास दिखायी देता है। प्राथमिक शिक्षामें ही हमको यह सिखाया गया है कि हमारे बाप-दादे तो बिल्कुल जंगली थे। इस कारण उनके रचे शास्त्रोंमें कोई भी बात सच्ची हो ही नहीं सकती। हम भी ऐसे जंगली हैं कि इस बातको सच्ची मान बैठे । इसीका यह परिणाम है कि आज ईश्वर तथा सत्-शास्त्रोंमें हमारा विश्वास नहीं रहा । हम यह कहना सीख गये हैं कि हमारे यहाँ जो कुछ लिखा गया है, वह सब झूठ और निराधार है तथा अंग्रेजीमें जो लिखा जाता है, वह सच्चा और विश्वसनीय ही है ।

डाक्टरी जगत्का ही एक विषय लीजिये । उसके मुख-पत्र 'लान्सेट'में जो लिखा गया हो, वह ब्रह्माके वाक्यसे भी अधिक विश्वसनीय है, ऐसा डाक्टर लोग मानते हैं । किसी कम्पनीने कोई दवा तैयार की, उसने किसी प्रतिष्ठित डाक्टर या वैज्ञानिकको राजी करके उससे एक प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया और 'लान्सेट'में उसके विषयमें एक सुन्दर लेख लिखकर भेज दिया । बस, उसके प्रकाशित होते ही डाक्टर लोग आँख मूँदकर उस दवाका प्रयोग करने लगते हैं और ढेर-का-ढेर वह माल हमारे देशमें आकर उतरने लगता है। पीछे भले ही, भूतकालमें जैसा हुआ वैसे ही, भविष्यमें वह दवा भी हानिकारक सिद्ध हो जाय, परंतु वर्तमान कालमें तो कम्पनीका पाकेट गरम हो ही जायगा । इसका नाम अन्ध-विश्वास नहीं तो और क्या है ?

विलायतके डाक्टरने कहा कि 'खूब साग-भाजी खाओ तथा साथ ही कच्चा कचुम्बर खाते जाओ तो आरोग्य बना रहेगा ।' बस, हमारे डाक्टरोंने इसे आँख मूँदकर मान लिया है । सच है—'आज्ञा गुरूणामविचारणीया ।' हमारे डाक्टरोंके तो वे ही गुरु हैं, इसलिये उनके वचनपर विचार भी नहीं किया जा सकता । इस प्रकार हमारे डाक्टरोंने बहुत अधिक साग खानेवाले बना दिये और अर्थकष्ट बढ़ा दिया ।

अब देखिये, वे लोग तो मांसाहारी हैं । मांसके साथ यदि रेशेवाले पदार्थ पर्याप्त मात्रामें नहीं खाये जायँ तो मांस अँतड़ियोंमें ही सड़ने लगता है और इससे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है । यह एक ही तथ्य इतना प्रमाणित करनेको पर्याप्त है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणी नहीं है । तथापि उन जातियोंमें मांस-भक्षणके विषयमें इतनी बड़ी अन्धश्रद्धा है कि उसके बिना तो वे जी ही नहीं सकते—ऐसा वे मानते हैं । इस कारण वे मांस खाना छोड़ नहीं सकते । बुद्धिसे तो यह बात समझते हैं, परंतु अन्धविश्वासके कारण मांस खाना उनसे छूटता नहीं ।

इस प्रकार अधिक साग खानेकी बात मांस खानेवाले लोगोंके लिये सोलहों आने सच्ची है; परंतु साथ ही यह भी उतनी ही सच्ची बात है कि हम निरामिषभोजियोंके लिये साग-भाजीकी इतनी आवश्यकता नहीं है । परंतु यह बात डाक्टरोंके ध्यानमें ही नहीं आयी । अन्धानुकरण करनेकी जो टेव पड़ गयी है, इससे स्वतन्त्र विचार ही नहीं हो सकता । थोड़ा भी विचार करनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि हम जो गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मकई आदि अनाज तथा मूँग, मोठ, उड़द, अरहर, चना आदि दाल खाते हैं, वे सब साग-कोटिमें ही हैं । आज भी गाँवोंमें 'साबित उड़दका साग बनाया था' 'मूँगकी दालका साग किया था' इस प्रकारके शब्दप्रयोग सुननेको मिलते हैं । हम जो घी, तेल, ... आदि खाते हैं, वह बहुत ही अल्प परिमाणमें होता है ...

वह योगवाही ढंगसे ही काम करता है। इस प्रकार हमारे लिये साग-भाजी निरर्थक है, फिर भी डाक्टरोंने इसका भूत ऐसा घुसेड़ दिया है कि साग-सब्जीका उपयोग बढ़ता जा रहा है और उसी परिमाणमें निर्धनता भी बढ़ती जा रही है।

अरे अविश्वासी मनुष्य! ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर तो तुम विश्वास रखते नहीं तथा इस प्रकारके विश्वास-को तुम अन्धविश्वास मानते हो। परंतु विश्वासके बिना तो तुम्हारे जीवनका निर्वाह भी नहीं होता, यानी तुमको अति तुच्छ और पामर प्राणियोंपर विश्वास करना पड़ता है। यह क्या अन्धविश्वास नहीं है ? इसलिये मानव ! अब भी जरा चेत जाओ और अपना कल्याण चाहते हो, दुःखके समुद्रसे निकलना चाहते हो तथा अखण्ड सुख-शान्ति एवं आनन्दमय जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अब भी ईश्वरमें, गुरुमें तथा ऋषिप्रणीत अपने शास्त्रोंमें विश्वास करो। यह अन्धविश्वास नहीं है। परंतु इसके अतिरिक्त, दूसरे प्राणि-पदार्थोंमें किया गया विश्वास ही अन्धविश्वास है; क्योंकि वे राग-द्वेषसे भरपूर होते हैं, इसलिये कब दगा देंगे—यह कहा ही नहीं जा सकता। उनमें जहाँ स्वार्थपरता है, वहाँ इनमें परार्थपरता है।

जिस मनुष्यका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, उसका जीवन बिना लंगरके जहाजके समान है। जिस जहाजमें लंगर नहीं होता, वह हवाके झकोरोंसे चारों दिशाओंमें जहाँ-तहाँ थपेड़े खाया करता है और जो जहाज लंगर डाल देता है वह अपनी जगहपर अचल टिक सकता है। इसी प्रकारसे जिस मनुष्यको ईश्वरमें दृढ़ श्रद्धा है और उसके विधानमें अविचल विश्वास है उसका जीवन सुख-दुःखके झपेटेके बीच भी निश्चल और शान्त रह सकता है तथा जिस मनुष्यका ईश्वरके ऊपर विश्वास नहीं, वह पग-पगपर सुख-दुःखमें डोला करता है और कहीं भी शान्तिसे विश्राम नहीं पाता। अन्तमें जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता हुआ अनन्त कालतक अपार क्लेश भोगता रहता है!

अब विचार तो करो। धूपमें चलता हुआ मुसाफिर एक वृक्षका आश्रय लेता है। वृक्ष तो जड है तथापि उसको शीतल छाया देता है तथा ऋतुके अनुसार फल-फूलसे भी संतुष्ट करता है। किसी गृहस्थ या राजाकी शरणमें जानेपर वह भी मनुष्यकी यथाशक्ति सहायता करता है तथा उसके दुःख दूर करनेमें सहायक बनता है।

परम दयालु परमात्मा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रक्षक, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर—ऐसे विश्वम्भर जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् और हितैषी हैं, उनके ऊपर श्रद्धा रखकर, उनके विधानमें विश्वास करके, उनकी शरणमें जानेवाला मनुष्य निहाल हुए बिना रह ही नहीं सकता। उसके सारे पाप-ताप तत्काल ही निवृत्त हो जाते हैं और उसको अखण्ड आनन्द तथा अविचल शान्ति मिलती है। इसीलिये भगवान्ने प्रत्येकको आग्रहपूर्वक कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

राम-भरोसा

सुमिरत जाके जगत मति,
जगे न फिरि मन जोर।
राम-चरन शुचि कल्पतरु,
फलत मनोरथ मोर॥
राम-सिया-पद-कल्पतरु,
करै 'सिरस' मन शांत।
प्रात प्रभाकरकी प्रभा,
प्रसरत पृथ्वी-प्रांत॥

नरपति, सुरपति, लोकपति,
अधिपति अधिक कि चाह।
राम-चरन अनुराग रँगि,
आन रंग उड़ राह॥
दृग न दिख्यौं, दुख जो हरत,
छिपे छिपत हिय छाप।
नवल-वधू घूँघट कढ़ो,
कब त्यागे वह झाँप॥

—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उत्तम गुण और उत्तम आचरण शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं । उत्तम गुणोंसे अभिप्राय है—हृदयके उत्तम भाव और उत्तम आचरणोंसे अभिप्राय है—मन, वाणी और शरीरकी उत्तम क्रिया । इनमें उत्तम क्रियाओंसे उत्तम भावोंका संगठन होता है और उत्तम भाव होनेसे उत्तम क्रियाएँ स्वाभाविक ही होती हैं । ये परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं । फिर भी क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है । जैसे कोई मनुष्य दूसरोंके अनिष्टके लिये यज्ञ, दान, तप आदि करता है तो उसकी वह क्रिया तामसी है और वही क्रिया यदि पुत्र, स्त्री, धन और स्वर्ग आदिके लिये की जाती है तो राजसी है तथा निष्कामभावसे संसारके हितके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ करनेपर वही क्रिया सात्त्विकी हो जाती है । क्रिया एक होते हुए भी भाव उत्तम होनेसे वह उत्तम फलदायक बन जाती है । इसलिये क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है ।

जो दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थकी क्रियाएँ हैं, वे सब तो नरकमें ले जानेवाली हैं, उनकी तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं है । वे तो सर्वथा त्याज्य हैं । जो कल्याणकारक आचरण हैं, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा की जाती है । वे सब आचरण भी निष्कामभावसे किये जानेपर ही कल्याण करनेवाले होते हैं । इसलिये शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये । उत्तम क्रियाएँ कौन-कौन-सी हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

सबके साथ सरलता, विनय, प्रेम और आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना ।

शरीरको जल और मृत्तिकासे शुद्ध और स्वच्छ रखना तथा घर और वस्त्रोंको भी शुद्ध और स्वच्छ रखना ।

ब्रह्मचर्यका पालन करना । किसी भी सुन्दरी युवती स्त्रीका अथवा पुरुष या बालकका अश्लीलभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, एकान्तवास आदि कभी न करना ।

मन, वाणी, शरीरसे किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किञ्चिन्मात्र भी कभी दुःख न पहुँचाना, बल्कि अभिमानका त्याग करके निःस्वार्थभावसे सबका सब प्रकारसे परम हित ही करते रहना । कोई अपना अनिष्ट भी करे तो भी उसका हित ही करना ।

वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका प्रेम और आदरपूर्वक निरन्तर जप करना तथा सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना एवं जो सत्य और प्रिय हो तथा जिसमें सबका हित हो, ऐसा कपटरहित सरल वचन बोलना ।

सदा शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना । भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी लज्जा, भय, लोभ, काम अथवा किसी भी कारणसे—मर्यादाका त्याग नहीं करना ।

महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा-सत्कार, नमस्कार और उनकी आज्ञाका पालन करना इत्यादि ।

इस प्रकारके उत्तम आचरणोंको निःस्वार्थभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

इसके सिवा, जिनके कान भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनते-सुनते अघाते नहीं, जिनके नेत्र केवल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये ही चातक और चकोरकी भाँति लालायित रहते हैं, जिनकी वाणी प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका ही गान करती रहती है, जिनकी नासिका भगवान्‌के स्वरूप तथा भगवान्‌के अर्पण किये हुए पुष्प, चन्दन, माला, तुलसी, नैवेद्य आदिकी गन्धको लेकर मग्न होती रहती है, जिनकी

जिह्वा भगवान्‌के अर्पण किये हुए प्रसादका ही आस्वादन करती है तथा जो नर-नारी भगवान्‌के अर्पण करके ही और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌का प्रसाद समझकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो मनुष्य अपने शरीरसे ईश्वर, देवता और ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, गुण, पद और अवस्थामें जो अपनेसे बड़े हों, उनका प्रेम और विनयपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करते हैं, जो एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहकर हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करके मुग्ध होते हैं, जो भगवान्‌के लीलाविग्रहों और उनके भक्तोंके दर्शनार्थ ही चरणोंसे तीर्थोंमें जाते और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनमें स्नान करते हैं, जो भगवान्‌के मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करते हैं, जो शास्त्र-विधिके अनुसार नित्य दान, श्राद्ध, तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं, जो माता, पिता, स्वामी, आचार्य आदि गुरुजनोंको भगवान्‌से भी बढ़कर समझते तथा उनकी सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक सेवा, सत्कार और पूजा करते हैं—इस प्रकार जो केवल भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तिसंयुक्त उपर्युक्त आचरण करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं ।

जिनके हृदयमें सम्पूर्ण दुर्गुणोंका अभाव होकर सद्गुण प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं ।

जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार-अभिमान, मद-मत्सर, दम्भ-दर्प, राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-क्षोभ, आलस्य-प्रमाद, भोगवासना और विक्षेप आदिका अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सबके हेतुरहित प्रेमी, सबके हितमें रत, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-अलाभमें सम हैं, जिनके मनमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, जो निरन्तर भगवान्‌के ही शरण हैं, जिन्हें भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे हैं, जिनका भगवान्‌में ही अनन्य विशुद्ध प्रेम है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्वामी, गुरु, धन, विद्या, प्राण—सर्वस्व एक भगवान्‌को ही मानते हैं, जो परनारीको माताके समान और पराये धनको विषके समान समझते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंके सुखसे ही सुखी रहते हैं, जो दूसरोंके अवगुणोंको नहीं देखते, उनके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, जो गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंके हितमें रत हैं, जो नीतिमें निपुण हैं, जो अपनेमें जो कुछ अच्छाई है, उसे भगवान्‌की कृपा समझते हैं और अपनेमें जो बुराई है उसे अपने स्वभावका दोष मानते हैं, भगवान्‌के भक्तोंमें जिनका प्रेम है, जो जाति, पाँति, धन, घर, परिवार, धर्म, बड़ाई आदि सबमें आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌को ही हृदयमें धारण किये रहते हैं, जिनकी दृष्टिमें स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान हैं, जो सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते रहते हैं, जो मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के ही सच्चे सेवक हैं और जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत जिनका एकमात्र भगवान्‌में ही स्वाभाविक निष्काम प्रेम है, ऐसे मनुष्योंके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं ।

यों तो भगवान् सब जगह समानभावसे व्यापक हैं ही, किंतु जिनके हृदयका भाव उपर्युक्त प्रकारसे उत्तमोत्तम सद्गुण और भगवत्प्रेमसे युक्त है, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे विराजमान हैं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें भगवान् अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हैं, इसलिये उनका सबमें समभाव है और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित हैं तथापि भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी अनन्य भक्तिके कारण ही होता है ।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि—स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता तथापि उसमें विषमता नहीं है; वैसे ही भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे विराजमान होनेपर भी भगवान्‌में विषमता नहीं है ।

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है, जो क्षमाशील हैं, अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिये हैं, जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता, जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होकर परम शुद्ध हो गया है, जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं, जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं, जिनमें कर्मोंके कर्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभाव है, हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्णमें समान भाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समान भाव रहता है, जो भगवान्‌के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके ज्ञानमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तिसंयुक्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न भगवान्‌के भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं ।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओंको उत्तम-से-उत्तम बनावें । वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता और जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं । अतः हम लोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरकी शरण होकर निष्काम प्रेम-भावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये । इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोगवासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव होकर परम कल्याणकारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्‌गुण-सदाचार स्वतः ही आ जाते हैं ।

सच और झूठ

जीवनका लक्ष्य

(रचयिता—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

पग-पग भयसे पद-दलित,
'झूठ' बिचारा हाय ।
'सच' बैठा भय-शीश पै,
निर्भय बीन बजाय ॥

तत्व-चिन्तन निरन्तर करना,
मन उन्नत भावों से भरना,
लक्ष्य जीवनका बस यही है—
किसी तरह तम-सागर तरना ।

विश्व-वशीकरण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका कहना है कि मधुर वचनसे सर्वत्र सभीको सुख मिलता है, यह प्रत्यक्ष ही वशीकरण-मन्त्र है। अतएव कटुवचन छोड़ देना चाहिये।

तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन यह मंत्र है परिहरु बचन कठोर॥

श्रीवाराहमिहिराचार्यने अपनी बृहत्संहितामें कहा है कि प्रियभाषी मनुष्य अभिमानियोंसे भी अपना कार्य बड़ी सुगमतापूर्वक करा लेता है, यद्यपि अहंकारीका वशीकरण अन्य किसी प्रकारसे होना दुष्कर ही है—

कृच्छ्रेण संसाधयतेऽभिमानी
कार्याण्ययत्नेन वदन् प्रियाणि।
(बृहत्सं० ७५। ६)

भावुकोंका आक्षेप

इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि मधुर भाषण धूर्तोंका कार्य है। वे ही चाटुकारितासे अपना कार्य सिद्ध कर पीछे विश्वासघाततक कर बैठते हैं। इसलिये 'मीठी बोली दगाबाजकी निशानी' समझनी चाहिये। (कुलटा) स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध ही है कि उनकी बोली अमृत-जैसी पर उनका हृदय छुरेकी धार-जैसा होता है—

सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्[1]॥

(श्रीमद्भा० माहा० ५। १५; श्रीमद्भा० ६। १८। ४१; ९। १४। ३७)

इसी प्रकार दुष्टोंके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है कि वे मोरके समान मीठा बोलते हैं, पर पीछे अपना काम साधनेके लिये प्राणतक लेनेमें नहीं हिचकते—

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥
भय दायक खल की प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥

दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥
(हितोपदेश विग्र० २३)

इसलिये खरे संतोंकी पहचान ही यह है कि वे ऊपरसे कठोर ही बोलते हैं, पर उनका हृदय गरी-जैसा कोमल होता है, परिणाम बड़ा मधुर निकलता है—

नारिकेलफलाकारा दृश्यन्ते सज्जना जनाः।

बचन परम हित सुनत कठोरे। कहहिं सुनहिं ते नर जग थोरे॥

अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।
(वाल्मीकि० युद्धकांड)

अन्यथा दुष्ट चाटुकारोंकी दुनियामें क्या कमी है, वे तो सर्वत्र सुलभ हैं ही—

प्रिय बानी जे कहहिं जे सुनहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।
(वाल्मीकि० युद्धकांड०)

उचित मार्ग कौन ?

पर मनु आदि स्मृतिकारोंने स्पष्ट ही सत्य तथा प्रिय बोलनेकी सम्मति दी है। कटु सत्य—कानेको काना कहनेकी मनाही भी की है—

'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'
(४। १३८)

साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि साधुका कटु-भाषण ही धर्म है या साधु केवल नारियल-जैसा ही हो सकता है या मधुर उपदेश हितावह हो ही नहीं सकता या हितकर बात कठोर होगी ही; क्योंकि 'सुनत मधुर परिनाम हित'में स्वयं तुलसीदासजीने ही मधुर हितावह बात कैकेयीको विप्र-पत्नियोंसे कहलायी है। और—

'परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं'

—यह साधुका लक्षण भी उन्होंने स्पष्ट ही बतलाया है। अतएव कटुभाषण तो साधुका लक्षण कभी नहीं हो सकता।

अधिक क्या, कटुभाषणको तो कहीं-कहीं सबसे भयानक पाप बतलाया गया है। 'श्रीमद्भागवत'में भिक्षुकाख्यानके

---

१. शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा० ६। १८। ४१)

प्रसङ्गमें बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि मर्मभेदी बाणोंसे भी हृदयको उतना ताप नहीं होता, जितना कठोर वचनरूपी तीखे बाणोंसे होता है—

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥

(११ । २३ । ३)

उत्तररामचरितकार भवभूतिके शब्दोंमें उन्मत्त एवं प्रमत्तकी तीखी वाणीको राक्षसी वाणी कहा गया है और उसे सभी वैरों, कलहों तथा अनर्थोंकी जड़ कहा गया है—

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः॥

(५ । ३०)

विदुरने भी धृतराष्ट्रको समझाते हुए कहा था कि जिन वाग्बाणोंसे व्यथित प्राणी रात-दिन व्याकुल रहता है, ऐसी वाणीको पण्डित कभी भी दूसरेपर प्रयोग न करे—

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राव्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥

(उद्योग० ३४ । ८०; अनुशा० १०३ । ३२)

भीष्मने भी राजधर्मोंको समझाते हुए युधिष्ठिरसे कहा था कि जिससे दूसरोंको क्लेश, उद्वेग पहुँचे ऐसी रूखी बात पापलोक—घोर नरकमें ले जानेवाली है, उसे कभी भी राजा मुँहसे न निकाले—

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम्॥

(अनु० १०४ । ३१)

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन पुनः अङ्कुरित हो जाता है, पर दुर्वचनरूपी शस्त्रसे किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्॥

(अनु० ३३)

कर्णि, नालीक और नाराच—ये यदि शरीरमें लग जायँ तो निकाले जा सकते हैं, किंतु कटुवचनरूपी भयंकर काँटेका निकाला जाना असम्भव है। वह तो सदा हृदयमें कसकता रहता है—

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥

(महा० अनु० १०४ । ३४)

इसलिये अंधे, काने, छाँगुर, निपढ़, निन्दित, कुरूप और धर्महीन मनुष्योंको वैसा कहकर खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिये—(३५)।

अन्यत्र भी कहा गया है कि जो मनुष्य मर्मको पीड़ित करनेवाली, कठोर और रूखी वाणी बोलता है और काँटे-जैसे वचनोंसे मनुष्योंको दुःख पहुँचाता है, उसे अत्यन्त अमङ्गलयुक्त तथा मृत्युको ही मुँहमें धारण करनेवाला समझना चाहिये। रूखे और तीखे वचन मनुष्योंके मर्म, अस्थि, हृदय और प्राणोंको जला देते हैं, अतएव धर्मनिष्ठ पुरुषको तीखी एवं रूखी वाणीका सदा-सर्वदा त्याग करना चाहिये—

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम्॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीमुग्ररूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत॥

(कुन्दमाला)

जो यह कहा जाता है कि सच्चे साधु-महात्मा कटुवचन ही बोलते हैं, सो भी ठीक नहीं। बाहर-भीतरसे पवित्र, सरल तथा अत्यन्त मृदु होना ही वास्तविक साधुता है, इसलिये साधुपुरुष कभी भी उद्वेजक वेदविरोधी मार्ग भला कैसे अपना सकता है? उसके मुँहसे तो भगवन्नाम-यश तथा सदुपदेशमयी सूक्ति-सुधाकी ही वर्षा होती है—कुटिल, तीक्ष्ण, मर्मभेदी विषैले बाण तो दुष्टोंके ही मुँहसे निकल सकते हैं। साधु कवियोंकी ही सूक्ति है—

कुटिल बचन सबसे बुरा, जारि कर तन छार।
साधु बचन जल रूप है बरसे अमृत धार॥

दुर्जनको मुँह विबर है निकसत बचन भुजंग।
ताकी औषध मौन है डसै न एको अंग॥
(तुलसीदास)

मनमें रहना भेद न कहना बोलिबा अमृत बानी।
आगिला अगनी होइबा अवधू तो आपन होइबा पानी[१]॥
(गोरखनाथ)

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो साधुओंके लिये स्पष्ट लिखा है कि वे शम-दमकी नीतिसे नहीं विचलित होते और न कभी भूलकर परुष वचन ही बोलते हैं—

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

उलटे वे सभीको बड़े आदर-मानसे सत्कृत करते हैं—

'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'

मृदुभाषण और राजनीति

राजाके लक्षणोंमें मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, कामन्दक, कौटल्य, राम, भीष्म—सभीने 'नम्रता, अक्रूरता तथा मधुर भाषण'का समावेश किया है। अधिक क्या, नीतिके चार चरणोंमें प्रथम 'साम' ही है और वह 'साम' चार प्रकारका होता है और उन चारोंमें 'मृदु पूर्वभाषण' अनुस्यूत है। कटुवचनकी कटु निन्दा सभी राजनीतिज्ञोंने की है—'अग्नि-पुराणमें श्रीरामका कहना है कि वाक्पारुष्य महान् अनर्थकर तथा लोकोद्वेजक होता है, इससे सारे प्राणी शत्रु बन बैठते हैं—

वाक्पारुष्यं परं लोके उद्वेजनमनर्थकम्।
भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम्।
विरुद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते॥
(अग्निपुराण २४१। ३६–३८)

शुक्रका कहना है कि राजाको चाहिये कि मनोहर वाणीसे वह सदा संसारको प्रसन्न रक्खे। अन्यथा, कटुवाणीसे तो कोई कुबेरके समान भी राजा क्यों न हो, वह प्राणियोंको कम्पित कर डालता है। अतएव किसी भी अवस्थामें राजा मुँहसे कटु शब्द न निकाले—

नित्यं मनोऽपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत्।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग् धनदोऽपि सन्।
पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत्॥
(शुक्रनीति १। १६५-६६)

सज्जन, स्वजन एवं शत्रुओंसे भी जो सर्वदा शिष्ट एवं प्रियभाषण करता है, वह सबको प्रिय होता है—विद्वान्‌की वाणी तो हंस, कोकिल और मोरसे भी मनोहर होती है—

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः।
हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम्॥
(शुक्रनीति १। १६८)

जो लोग सर्वदा मधुर बोलते हैं और स्वजनोंका सत्कार करते हैं, वे वन्द्यचरित्र स्वनामधन्य पुरुष मनुष्यके वेशमें साक्षात् देवता ही हैं—

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः॥
(शुक्रनीति १। १६९)

सभी जीवोंपर दया, प्राणियोंसे मित्रता, दान तथा मधुर भाषण—इन चारोंसे बढ़कर कोई वशीकरण इस विश्वमें नहीं है—

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥
(शुक्रनीति सा० १। १७०)

'कामन्दक'का कहना है कि प्रिय बोलना, सत्य बोलना, दया करना, दान देना, दीनोंकी रक्षा करना, सत्पुरुषोंकी सङ्गति करना तथा सच्चरित्र होना—ये सात सत्पुरुषोंके व्रत हैं। अतएव राजाको चाहिये कि वह विश्वको वश करनेके लिये सभीसे विना कुछ खर्चके प्रसन्न करनेवाली प्रिय वाणीका प्रयोग करे—। इतना कहकर ये पूर्वोद्धृत शुक्रके सभी वचनोंको लिख जाते हैं और फिर अन्तमें कहते हैं कि 'कहाँ तो राजवर्ग और कहाँ प्रजाका संग्रह; पर मधुर वचनमें कुछ ऐसा ही वशीकरण है कि उसके योगसे प्रजा वशमें आ जाती है और वह मर्यादासे एक डग भी विचलित नहीं होती—

क्व च नरपतिवर्गः संग्रहः क्व प्रजानां
मधुरवचनयोगाल्लोकमाह्लादयीत।
मधुरवचनपाशैरानतो लालितः सन्
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति॥
(कामन्दकीय नीतिसार ३। ३९)

---

[१] बराबर स्वरूपावस्थितिमें रहना चाहिये, अपना अनुभव किसीको नहीं बताना चाहिये, अमृत वाणी बोलनी चाहिये। सामनेका मनुष्य यदि आगबबूला हो जाय तो साधकको पानीके समान भद्र हो जाना चाहिये।

मृदुभाषणसे पुण्य

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके तृतीयखण्डका सम्पूर्ण २९४ वाँ अध्याय ही प्रियभाषण—प्रियंवद-प्रशंसात्मक है और उसके अन्तमें कहा गया है कि प्रियवादियोंको यहाँ भी सुख मिलता है और मरनेपर वे स्वर्गमें जाते हैं। प्रियंवदोंको सब कुछ मिल जाता है, इसलिये सदा मधुर प्रिय-भाषी होना चाहिये—

प्रियंवदाः सौख्यमिहाप्नुवन्ति
प्रियंवदा नाकमथ प्रयान्ति।
प्रियंवदाः सर्वमथाप्नुवन्ति
प्रियंवदः स्यादत एव नित्यम्॥

(श्रीविष्णुधर्म० ३। २९४। ७)

इसी प्रकार भविष्यपुराण ब्राह्मपर्वका कहना है कि मनुष्यके हृदयको न तो शीतल जल ही इतना आह्लादित कर सकता है और न चन्दन अथवा शीतल छाया ही, जितना उसे मधुरभाषिणी वाणी आह्लादित करती है (अतएव सत्य मृदुभाषणका पुण्य कहना कठिन है)—

न तथा शीतलसलिलं
न चन्दनरसो न शीतला छाया।
आह्लादयति च पुरुषं यथा
मधुरभाषिणी वाणी॥

(भविष्य, ब्राह्मपर्व, ७३। ४८)

मङ्गलजनक और वशीकरण

ऊपर हम शुक्रके 'न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते' इन शब्दोंमें मधुरभाषणको तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम वशीकरण कह आये हैं। 'श्रीविष्णुधर्म'में हंसरूपी भगवान्ने भी यही उपदेश किया है—

प्रियवाक्यात् परं लोके नास्ति संवननं परम्।

(३। २९४। ६)

वहीं यह भी कहा गया है कि यह सारा संसार ही प्रियवादियोंके वशीभूत हो जाता है—

प्रियंवदानां सकलं जगदेतत् स्थितं वशे।

(३। २९४। ५)

उत्तररामचरितमें कहा गया है कि सुनृतवाणी कामधेनु है, वह सारे कामनाओंको पूर्ण कर डालती है, दरिद्रता एवं कुरूपताको दूर कर डालती है। वह यश बढ़ाती तथा पापोंका शमन करती है, धीर पुरुषोंने इस मङ्गलमयी वाणीको समस्त मङ्गलोंकी माता-जननी-प्रसविनी कहा है—

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्त्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥

(उत्तरराम० अंक ५। ३१)

उपसंहार

वास्तवमें कटुवचन बोलना, चुगली करना, असत्य तथा अंट-संट बोलना—ये चार प्रकारके वाचिक पाप कहे गये हैं—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥

(काशीखं० २७। १५२)

साथ ही कटुवादन क्रोधका ही परिणाम अथवा लक्षण है और क्रोधको पापका मूल ही कहा गया है। अतएव इससे अवश्य बचना चाहिये। गीतामें भक्तसाधुके लक्षणोंमें—

'यस्मान्नोद्विजते लोको'

(१२। १५)

'जिससे लोक जरा भी उद्विग्न न हो' ऐसा कहा गया है। ऐसी दशामें साधकको भूलकर भी स्पष्टवादिताके चोलेमें कटुभाषणको प्रश्रय न देना चाहिये। भगवान्की दी हुई वाणीका भगवन्नाम-यश गाने तथा सभी जीवोंको भगवान्का रूप मानकर उनके सम्मानमें ही उपयोग करना चाहिये। तभी उसकी सफलता है।

श्रीकृष्णका मित्र-वात्सल्य

सखा द्वार आये या कि जीवन-अधार आये द्वारका-धनीने दौड़ उरसे लगाया है।
दीनता अगाध देख निज-अपराध मान करुणा-निधानके दृगोंमें जल छाया है॥
रंक मित्र मेरा हो कलंक है असह्य यह बेर नहीं क्षणमें कुबेर-सा बनाया है।
चाह भर चावलोंको चावसे चवाया या कि द्विजकी दरिद्रताको दाँतोंमें दबाया है॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

मुख्यपात्र, स्थान, समय

मुख्यपात्र [नाटकमें प्रवेशके अनुसार]

(१) इल्लम्मागारू—श्रीवल्लभाचार्यकी माता ।
(२) लक्ष्मणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके पिता ।
(३) श्रीवल्लभाचार्य—नाटकके नायक ।
(४) नारायणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके गुरु ।
(५) विद्यातीर्थ—विजयनगरके स्मार्तोंके नेता ।
(६) व्यासतीर्थ—विजयनगरके वैष्णवोंके नेता ।
(७) कृष्णदेवराया—विजयनगरके राजा ।
(८) विल्वमंगलाचार्य—विष्णुस्वामी सम्प्रदायके आचार्य ।
(९) श्रीगोवर्धननाथजीका स्वरूप ।
(१०) कृष्णदास मेघन
(११) वासुदेवदास छकड़ा
(१२) माधोभट्ट काश्मीरी
(१३) दामोदरदास हरसानी
(१४) जादवेन्द्रदास कुम्हार
(१०–१४) श्रीवल्लभाचार्यके साथ रहनेवाले शिष्य ।
(१५) सद्दू पाण्डे—जिन्हें श्रीनाथजीके सबसे पहले दर्शन हुए ।
(१६) कुम्भनदास—श्रीनाथजीके पहले कीर्तनियाँ तथा अष्टछापके एक कवि ।
(१७) सूरदास—अष्टछापके कवि ।
(१८) परमानन्ददास— ,,
(१९) कृष्णदास— ,,
(२०) अक्काजी—(महालक्ष्मी) श्रीवल्लभाचार्यकी पत्नी ।
(२१) रजो—एक वैष्णव, जो अक्काजीके संग रहती थी ।
(२२) विट्ठलनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके छोटे पुत्र ।
(२३) श्रीगोपीनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठ पुत्र ।
(२४) जगन्नाथपुरीके राजा—
(२५) पुरोहित श्रीकृष्णगुच्छीकार—जगन्नाथपुरीके राजाके पुरोहित ।
(२६) श्रीचैतन्य महाप्रभु—(बंगालके महापुरुष)
(२७) रूप—श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य ।
(२८) सनातन— ,,
(२९) जीवगोस्वामी— ,,

स्थान—चम्पारण्य, काशी, विजयनगर, झारखण्ड, गोवर्धनपर्वत, गोकुल, अड़ेल, जगन्नाथपुरी, वृन्दावन ।

समय—विक्रमीय संवत् १५३५ से १५८७ तक ।

उपक्रम

स्थान—चम्पारण्य

समय—प्रातःकाल

[घना जंगल दिखायी पड़ता है । जंगलमें चम्पाके वृक्षोंकी बहुतायत है, जो सीधे ऊपरको चले गये हैं । एक वृक्षके नीचे एक नवजात शिशु लेटा हुआ अपने पैरके अँगूठेको पी रहा है । शिशुका वर्ण मेघके सदृश श्याम है । शिशु अत्यन्त सुन्दर है । सिरपर बड़े-बड़े लहराते हुए बाल हैं और सबसे अधिक आकर्षक हैं शिशुके विशाल लोचन । शिशुके चारों ओर परंतु उससे कुछ दूर आग लगी हुई है, जिससे जान पड़ता है कि शिशु एक अग्नि-कुण्डके मध्यमें है ।]

[लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारूका प्रवेश । लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारू दोनों ही प्रौढ़ अवस्थाके हैं । भट्टजी कुछ साँवले वर्णके और इल्लम्मागारू गेहुँए वर्णकी । दोनों न बहुत ऊँचे हैं और ठिगने, न बहुत दुबले और न मोटे । भट्टजीके सिरपर चौड़ी शिखा है और मुखपर मूँछें । शिखा और मूँछोंके केश श्वेत हो चले हैं । वे श्वेत धोती धारण किये हुए हैं, ऊपरके शरीरपर श्वेत उत्तरीय है । ललाटपर तिलक लगा हुआ है । इल्लम्मागारू रंगीन साड़ी और चोली पहने हैं । उनके ललाटपर टिकली है । इल्लम्मागारू और लक्ष्मणभट्टकी दृष्टि एकाएक शिशुपर पड़ती है ।]

इल्लम्मागारू—हैं··हैं··यह··यह क्या ?·····

लक्ष्मणभट्ट—(बीचमें ही) यहीं तो तुमने कल रात्रिको पुत्र प्रसव किया था ।

इल्लम्मागारू—पर··पर, वह··वह तो अठमासा होनेके कारण मृत था ।

लक्ष्मणभट्ट—मृत था, तुम निश्चयपूर्वक कह सकती हो !

इल्लम्मागारू—जहाँतक मेरा अनुमान है ।

लक्ष्मणभट्ट–ऐसा तो नहीं है कि रात्रिके अन्धकारके कारण तुम्हें वह मृत जान पड़ा हो ?

इल्लम्मागारू–(विचारते हुए) हो सकता है, क्योंकि आपके पूर्वज जो सोमयज्ञ करते आ रहे थे, आपके द्वारा उनके शतककी पूर्त्ति हुई। भगवान्ने आपको स्वप्न दिया कि वे मेरे इस गर्भमें प्रविष्ट हो अवतार धारण करनेवाले हैं। कल रात्रिको जब अठमासा पुत्र हुआ, मेरा हृदय खेदसे भर गया। सौ सोमयज्ञकी पूर्त्तिपर जो वरदान आपको मिला था, उसका यह कैसा परिणाम—बार-बार मेरे मनमें उठने लगा। पर भगवत्-गतिका कौन पार पा सकता है—यह सोचकर मैं चुप रही।

लक्ष्मणभट्ट–परंतु तुम्हारे प्रसव और मृत पुत्रकी उत्पत्तिपर भी न जाने क्यों मेरे चित्तमें खिन्नता न आयी थी, वरं प्रातःकाल होते-होते तो न जाने किस प्रकारके एक विलक्षण उत्साहसे मेरा मन भर गया था।

इल्लम्मागारू–(विचारते हुए) थोड़ी देरकी खिन्नताके पश्चात् वह तो मेरे मनकी भी दशा हुई थी, (कुछ रुककर) तो‥तो मेरा वही‥वही पुत्र तो यह नहीं है, जिसे मैंने मृत मान लिया था ?

लक्ष्मणभट्ट–परंतु कहीं तुम किसी दूसरेके पुत्रको तो अपना पुत्र नहीं मान रही हो ?

इल्लम्मागारू–(विचारते हुए) यदि, ऐसा‥ऐसा होता तो माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति जो अलौकिक स्नेह रहता है, वह इसे देखते ही मेरे मनमें न उमड़ता।

लक्ष्मणभट्ट–इसकी तो परीक्षा हो सकती है।

इल्लम्मागारू–कैसे ?

लक्ष्मणभट्ट–शिशुके चारों ओर अग्नि लगी हुई है, बढ़ो आगे, यदि हमारा पुत्र होगा तो अग्नि तुम्हें मार्ग दे देगी।

इल्लम्मागारू–इस अग्निको तो, मेरे स्तनोंसे जो दूध झरने लगा है, उसकी धाराएँ ही बुझा देंगी।

[इल्लम्मागारू शिशुकी ओर आगे बढ़ती हैं। उनके स्तनोंसे सचमुच ही दूधकी धाराएँ निकलने लगती हैं, जिसके कारण अग्निका इतना भाग बुझ जाता है, जिससे वे शिशुके निकट पहुँच सकें। नेपथ्यसे गीतकी ध्वनि आती है।]

आजु बधाई मंगलाचार।
गावत मंगल गान जुवति-जन
बसन साज सिंगार॥
मंगल कनक कलस सुभ मंगल
बाँधी बंदनवार।
मंगल मोतिन चौक पुराये
पंच सब्द गृह द्वार॥
घरघर मंगल महा महोच्छव
श्रीबल्लभ अवतार।
हर जीवन प्रभु महापुरुष श्रीलक्ष्मण
भूप कुमार॥

(यवनिका)

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान–काशीमें एक गुरुकुलके सामनेका मैदान।

समय–संध्या।

[पीछेकी ओर गुरुकुलके भवनके बाहरी भागका कुछ हिस्सा दिखायी देता है। मैदानमें आमके वृक्षोंका बाहुल्य है, जो वसन्तके कारण मौरोंसे लदे हुए हैं। इन वृक्षोंकी वजहसे यह मैदान एक सुन्दर अमराई बन गया है। मैदानमें वल्लभ अपने सहपाठियोंके साथ बैठे हुए हैं। वल्लभकी अवस्था ग्यारह वर्षकी है। साँवले रंगके होनेपर भी वे अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वेष ब्रह्मचारियोंका है। बढ़े हुए केश, ऊपरका शरीर खुला हुआ, नीचेके शरीरपर मूँजकी मेखलामें कौपीन, एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्डलु। उनके सहपाठी उनकी अवस्थासे बहुत अधिक अवस्थाके हैं। इनकी अवस्था १८ वर्षसे २३ वर्षके बीचमें है। कोई गौर, कोई गेहुँए और कोई श्यामवर्णके। वेश-भूषा वल्लभके सदृश।]

एक विद्यार्थी–तो‥‥तो, वल्लभ ! तुम इस गुरुकुलको कल‥‥कल प्रातःकाल सदाके लिये छोड़ दोगे ?

दूसरा–छोड़ न देंगे तो अब ये यहाँ करेंगे ही क्या ?

तीसरा–हाँ, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण सबमें पारंगत हो गये।

चौथा–जो इनके पूर्व आये हुए हममेंसे एक भी न हो पाया।

पाँचवाँ–यह कैसे‥‥‥कैसे हुआ, वल्लभ ?

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–यह तो मैं नहीं जानता कि कैसे हुआ ! पर हुआ अवश्य है ।

पहला–आश्चर्य ! महान् आश्चर्यकी बात हुई है ।

तीसरा–हाँ, इस अवस्थामें इस प्रकार समस्त वेद-विद्यामें पारंगत होना आश्चर्यकी बात नहीं तो और क्या है ? इसीलिये तो हमलोग तुम्हें बाल-सरस्वती, वाक्पति, वैश्वानरावतार आदि सम्बोधनोंसे सम्बोधित करते रहते हैं ।

चौथा–हाँ, ऐसी प्रतिभा तो आश्चर्यकी बात ही है ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

वल्लभ–कुछ आश्चर्यकी बात हो सकती है, पर महान् आश्चर्यकी बात तो मैं इसे नहीं मानता ।

दूसरा–यह कैसे ?

वल्लभ–अभी-अभी सुननेमें नहीं आया कि अमुक बालक बोलना आरम्भ करते ही कुछ श्लोक भी बोलने लगा, अमुक बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्गीता कण्ठस्थ हो गयी ।

पाँचवाँ–कभी-कभी ऐसी बातकी भनक कानमें अवश्य पड़ती है । पर यह होता कैसे है ?

चौथा–हममेंसे कोई भी तुमसे कम परिश्रम नहीं करता, तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक समयसे यहाँ पढ़ रहे हैं ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ ।

चौथा–पर, तुमने जितना सीख लिया उसका शतांश भी हम न सीख पाये ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ शतांश भी नहीं ।

पाँचवाँ–बताओ न, यह कैसे हुआ ? जिस बालकके मुखसे बोलना आरम्भ करते ही श्लोक निकलने लगे, जिस बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्-गीता कण्ठस्थ हो गयी, वह भी कैसे हुआ ?

कुछ विद्यार्थी–हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–मैं भी नहीं कह सकता कि इस सबका क्या रहस्य है, पर हुआ यह अवश्य । पूर्वजन्मके संस्कार और भगवत्-कृपा ही कदाचित् इसके कारण हों ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

पहला–तो·······तो बालसरस्वती, वाक्पति, वैश्वानर·····।

वल्लभ–(मुसकराकर) और भी अनेक सम्बोधन बना डालो न !

तीसरा–जितने भी ऐसे सम्बोधन बनाये जा सकते हैं, बनाना ही चाहिये ।

पहला–मैं कह रहा था वल्लभ ! कल तुम चले अवश्य जाओगे ।

दूसरा–मैंने कहा न, कि अब ये यहाँ रहकर क्या करेंगे !

चौथा–और·······और कितना सूना हो जायगा यह गुरुकुल ऐसी महान् और दैवी प्रतिभाको खोकर !

तीसरा–और·······और कैसे नीरस हो जायँगे हम सबके जीवन भी वल्लभके बिना ?

वल्लभ–मित्रो ! यह सारा जगत्-जीवन यथार्थमें नदी-नाव संयोग ही है, पर यथार्थमें देखा जाय तो न किसीका संयोग होता और न वियोग । तुम जानते हो मैंने वेद विद्याको तोतेके सदृश रटा नहीं है; उसे समझा भी है ।

पहला–इसमें भी कोई संदेह है ?

दूसरा–यदि समझा न होता तो हम सबको इस प्रकार समझा सकते थे !

वल्लभ–देखो, मित्रो ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ, तुम वही हो जो मैं और मैं वही हूँ जो तुम । और यह समस्त सृष्टि वही है जो तुम और मैं । अर्थात्—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । कहो तो !

सब विद्यार्थी–(एक साथ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ।

पहला–पर कहनेसे क्या होता है ?

दूसरा–और समझनेसे भी क्या होता है !

तीसरा–हाँ, अनुभव होना चाहिये ।

वल्लभ–कहते-कहते समझते-समझते अनुभव भी होने लगेगा ।

चौथा–तुम्हें होता है ?

वल्लभ–निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, पर·······पर कदाचित्····(चुप हो जाते हैं) ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) होता है, होता है ।

वल्लभ–अच्छा, समझनेका यत्न करो । मैंने कहा न ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है । पर कोई भी एकाकी खेल नहीं खेल सकता । उसके लिये दूसरेकी

आवश्यकता रहती है, इसलिये भगवान्‌ने अपनी लीलाके निमित्त अनेक रूप धारण किये। परंतु जैसे कुण्डलाकार बना सर्प दण्डाकृतिको लेकर भी विकारयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करके भी विकारी नहीं है।

पहला–पूरा समझमें नहीं आया।

वल्लभ–कुछ उपमाएँ और लो! स्वर्णके भूषण बनाये जानेपर भी स्वर्ण स्वर्ण रहता है; मृत्तिकाके पात्र बनाये जानेपर भी मृत्तिका मृत्तिका रहती है, जलमें ऊर्मियाँ उठनेपर भी जल जल रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म ही रहता है।

तीसरा–अब समझमें आया, पर अनुभव नहीं होता।

वल्लभ–यह ब्रह्म चैतन्य है, निराकार होनेपर भी उत्पत्ति-पक्षकी दृष्टिसे इच्छाद्वारा साकार हो जाता है। जीव इसका एक अंश है। माया भी उससे पृथक् नहीं। खेल खेलनेके लिये जिस प्रकार एकसे अनेककी आवश्यकता होती है, उसी तरह मायाकी। अतः मैं श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावाद और इस कथनको कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को नहीं मानता। जगत् ब्रह्मका ही रूप होनेसे मैं जगत्‌को भी सत्य मानता हूँ और इसीलिये मेरा वाद है—'ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत'।

पहला–तो तुम कोई नया वाद चलानेवाले हो?

वल्लभ–मैं नहीं जानता। तुम मित्रोंके सामने जो अनुभव करता हूँ, वह रख रहा हूँ।

दूसरा–और जो हमारे सामने रख रहे हो, वही सारे संसारके सामने भी रखोगे?

वल्लभ–हो सकता है।

[नारायणभट्टका प्रवेश। नारायणभट्ट लगभग ६४ वर्षकी अवस्थाके हैं। वर्ण गेहुँआ, कद ऊँचा, शरीर दुबला, श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। नारायणभट्टको देख वल्लभ और सब विद्यार्थी खड़े हो जाते हैं।]

नारायणभट्ट–तो''तो, वल्लभ! तुम कल प्रातःकाल ही अब इस गुरुकुलको सूना कर रहे हो?

वल्लभ–(सिर झुकाकर) क्या कहूँ, गुरुदेव!

नारायणभट्ट–और आज तुमने मुझे कही थी गुरु-दक्षिणाकी बात?

वल्लभ–यह तो हमारी संस्कृतिकी परम्परा है।

नारायणभट्ट–दोगे मुझे गुरुदक्षिणा?

वल्लभ–यदि मेरे सामर्थ्यकी बात होगी!

नारायणभट्ट–तो, यही''यही गुरुदक्षिण माँगता हूँ कि मुझे गुरुके नामसे प्रसिद्ध न करना। तुम्हारे सच्चे गुरु हैं वेदव्यास और तुम इस कालके होगे जगद्गुरु।

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान–काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय–तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर मन्दिरका शिखर दिखायी देता है। तीन ओर मन्दिरकी दालानका कुछ हिस्सा और बीचमें आँगन। इस आँगनमें बिछावनके ऊपर काशीके अनेक पण्डित बैठे हुए हैं, इनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं, परंतु इनमें प्रौढ़ और वयोवृद्ध अधिक हैं, युवा अवस्थाके तो बहुत कम। कोई गौर वर्णके, कोई गेहुँए और कोई साँवले, कोई मोटे, कोई दुबले और कोई न मोटे न दुबले। कोई ऊँचे, कोई ठिगने और कोई न ऊँचे न ठिगने। वेशभूषा भी अनेक प्रकारकी है। धोती तो सभी पहने हैं, पर किसीका ऊपरका अंग खुला है, कोई ऊपरके अंगपर भिन्न-भिन्न रंगके उत्तरीय डाले हैं और कोई ऊपरके अंगमें अँगरखा पहने हैं। सिर किसीका खुला है, जिसपर चौड़ी शिखा है और कोई-कोई सिरपर पगड़ी बाँधे हैं। ललाटपर अधिकांश त्रिपुण्ड्र लगाये हैं, किसी-किसीके ललाटपर सिन्दूरकी टिकली भी लगी है। सब मिलकर दाहिने हाथको हिला-हिलाकर वेदपाठ कर रहे हैं।]

ॐ द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत।　　(यजु० २६। २२)

सविता त्वा सवानाᳪं सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳪं सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्।　　(यजु० ९। ३९)

न तद्रक्षाᳪंसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳪं ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणᳪं हिरण्यᳪं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।　　(यजु० ३४। ५१)

उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद्भूम्याददे। उग्रᳪं शर्म महि श्रवः।　　(यजु० २६। १६)

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ२ इयक्षते।

(यजु० ३३। ६२)

एक पण्डित–(वेदपाठ पूर्ण होनेपर) मैंने कहा था न कि वह वल्लभ वेदपाठमें सम्मिलित होनेको कदापि न आयगा।

दूसरा–आपका अनुमान सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ।

पहला–अनुमानका आधार था न, बन्धु !

तीसरा–कैसा ?

पहला–मैं जानता हूँ कि वह चाहे कितनी ही डींग क्यों न हाँके और चाहे उसके समर्थक उसको ऊँचा उठानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, वह वेद पढ़ा ही नहीं है। वेदकी एक ऋचाका भी स्वरमें वह शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।

चौथा–ऐसा ?

पहला–निश्चित बात है। अन्यथा आता नहीं।

पाँचवाँ–ठीक तो है। काशी जो संस्कृतविद्याका केन्द्र है, उसमें भी जब सद्गुरु बारह वर्षतक घुटवाते हैं तब कहीं विद्यार्थी एक संहितामें पारङ्गत होता है और यह वल्लभ ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण—सबमें पारङ्गत हो गया !

कुछ पण्डित–(एक साथ) हो नहीं सकता, हो नहीं सकता।

पहला–मुझे तो आश्चर्य होता है, उस नारायणभट्टपर !

दूसरा–हाँ, कैसे कह दिया उसने कि वल्लभ समस्त वेद-विद्यामें निपुण हो गया है।

पहला–और फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही उसने अपना नया वाद निकाला है !

छठा–(अट्टहासकर) ब्रह्मवाद !

सातवाँ–शुद्धाद्वैत !

पहला–नाम तो बड़े आकर्षक हैं ! ब्रह्मवाद—शुद्धाद्वैत !

आठवाँ–ग्यारह वर्षकी अवस्थामें विद्याध्ययन पूर्ण करते ही यह वाद निकाल काशी और आस-पास घूम-घूमकर वह अपना और अपने वादका प्रचार कर रहा है।

नवाँ–और धृष्टता तो देखो ! जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादका खण्डन कर अपने ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तका मण्डन कर रहा है।

दसवाँ–परंतु, यह कहना कि उसके कथनमें तथ्य ही नहीं है, कदाचित् उनके साथ अन्याय करना होगा।

पहला–अच्छा ! कम-से-कम यहाँ भी उसका एक समर्थक तो निकल आया।

दसवाँ–इस मण्डलीमें उनका चाहे मैं एक ही समर्थक क्यों न होऊँ, पर काशी और काशीके आस-पास उनके बहुत-से समर्थक हैं।

पहला–काशी और काशीके आस-पास क्या सब विद्वान् ही रहते हैं, मूर्ख नहीं ?

दूसरा–हाँ, समर्थक तो हरेकको मिल ही जाते हैं, क्योंकि संसारमें कहीं मूर्खोंकी कमी नहीं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्य।

[वल्लभका प्रवेश। उनके आनेपर केवल दसवाँ पण्डित खड़ा होकर उनका स्वागत करता है, शेष सब लोग बैठे रहते हैं। वल्लभ हाथ जोड़ सिर झुका समस्त पण्डितोंका अभिवादन करते हैं।]

पहला–पधारिये, श्रीमद्वल्लभाचार्य ! मायावादका खण्डन कर ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतके प्रवर्तक !

[पण्डितोंका अट्टहास]

वल्लभ–विद्वद्वर ! कुछ विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। (बैठ जाते हैं।)

पहला–विलम्बसे तुम जान-बूझकर आये हो !

वल्लभ–जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ......अर्थात् !

पहला–जान-बूझकर विलम्बसे आनेका अर्थ तो जान-बूझकर विलम्बसे आना ही होता है। क्या इतने सरल शब्द भी समझमें नहीं आते ? इतने सरल शब्दोंका अर्थ करनेकी और इतने सीधे वाक्यका अन्वय करनेकी भी आवश्यकता है ?

[पण्डितोंका पुनः अट्टहास]

वल्लभ–मैंने, अर्थात् शब्दका उपयोग शब्दोंके अर्थ और वाक्यके अन्वयके लिये नहीं किया था।

पहला–तब ?

वल्लभ–आपने यह कहा था कि मैं जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ, इसलिये मैंने अर्थात् शब्दका उपयोग किया।

पहला–जान-बूझकर तो विलम्बसे आये ही हो, क्योंकि

चार वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, स्मृतियों और इतिहास, पुराण, शास्त्रोंमें पारङ्गत होनेकी डींग मारनेवाला जब वेदकी एक ऋचा भी स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेमें समर्थ न हो तो वेदपाठके अवसरपर ठीक समयमें कैसे उपस्थित हो सकता है ?

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्यमेव, अवश्यमेव ।

वल्लभ–(सभी पण्डितोंकी ओर देखते हुए) विद्वद्वर ! मैं आपकी सेवामें अपनी परीक्षा देने या इस प्रकारके विवादमें पड़नेके लिये नहीं आया हूँ । अध्ययन करते-करते मेरे मनमें कुछ बातें उठीं, उनपर अध्ययनके साथ मैंने मनन किया, इस अध्ययन और मननसे कुछ निष्कर्षपर पहुँचा, इन विचारोंको मैं अन्योंके सदृश आपकी सेवामें भी उपस्थित करना चाहता हूँ । विद्वान् हंसके समान होते हैं । दूध और पानी यदि हंसके सम्मुख रक्खा जाता है तो वह पानीका दूध ग्रहण कर लेता है और पानीको छोड़ देता है । उसी प्रकार मेरे कथनमें यदि कोई सार हो तो आप ग्रहण कर लीजिये और यदि मेरा कथन निस्सार हो तो उसे छोड़ दीजिये ।

दसवाँ–हाँ, विद्वानोंको तो अपने मानसके कपाट खुले रखने चाहिये ।

वल्लभ–तो सेवामें कुछ निवेदन करूँ ?

[कोई कुछ नहीं बोलता । कुछ देर निस्तब्धता ।]

दसवाँ–हाँ, हाँ ! आप कहिये ।

वल्लभ–देखिये, विद्वद्वर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ ।

पहला–इस सूत्रको सबसे महान् कौन नहीं मानता ।

कुछ पण्डित–(एक साथ) सभी इसे सबसे महान् मानते हैं, सभी इसे सबसे महान् मानते हैं ।

वल्लभ–अब यदि सब ब्रह्म हैं, तो जगत् मिथ्या कैसा ? 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह विचार ही नहीं ठहरता, इसलिये मायावाद, विचारवाद नहीं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके आधारपर मेरा वाद है ब्रह्मवाद । इसे मैं शुद्धाद्वैत कहता हूँ ।

पहला–यह बालकी खाल निकालनेका पाखण्ड है ।

कुछ पण्डित–(एक साथ) पाखण्ड ! बड़ेसे बड़ा पाखण्ड !

वल्लभ–केवल पाखण्ड कहनेसे तो प्रश्नका हल नहीं होता । विचारोंसे मुझे परास्त कर दीजिये ।

पहला–पाखण्डीके साथ कैसा विचार ! जो निर्लज्ज यहाँतक घोषित करता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थामें सारी वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, उससे बड़ा अन्य पाखण्डी हो सकता है ?

कुछ पण्डित–(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं ।

वल्लभ–इस विषयमें तो आप मेरे गुरुदेव श्रीनारायणभट्टसे बात करें, मैं आपका समाधान किस प्रकार कर सकता हूँ ।

पहला–नारायणभट्टकी इस पाखण्डमयी घोषणाके पूर्व काशीके विद्वत्समाजमें उनका आदर था, पर तू उन्हें अपने साथ ले डूबा ।

वल्लभ–मैं समझता था काशीका विद्वत्समाज शिष्ट व्यक्तियोंका समाज है ।

पहला–(अत्यन्त क्रोधसे चिल्लाकर) अरे, कलका छोकरा तू हमें अशिष्ट कहनेकी भी धृष्टता कर सकता है ?

वल्लभ–मैंने किसीको अशिष्ट नहीं कहा और छोकरेकी बात आपने सुन्दर कही । क्या संस्कृतकी एक उक्ति आपको स्मरण दिलाऊँ—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'

दूसरा–जो श्रीमच्छङ्कराचार्यको कुछ नहीं समझता उसका हमारे प्रति क्या आदर हो सकता है !

तीसरा–तू जानता है, आजतक इस समस्त सृष्टिमें शङ्कराचार्यसे बड़ा कोई दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ ।

चौथा–उन्हें संसारमें जगद्गुरुकी पदवीसे विभूषित किया गया था ।

पाँचवाँ–और उनकी गद्दीपर बैठनेवाले आज भी जगद्गुरु कहलाते हैं ।

छठा–जबतक यह सृष्टि है, वे ही जगद्गुरु रहेंगे ।

वल्लभ–श्रीमच्छङ्कराचार्यपर जितनी श्रद्धा और भक्ति आपलोगोंकी है, उससे मेरी कम नहीं । परंतु यहाँ प्रश्न उनके महान् व्यक्तित्वका न होकर उनके वादका है ।

पहला–जो उनके वादपर श्रद्धा नहीं रखता, भक्ति नहीं रखता, वह उनके व्यक्तित्वमें कैसे श्रद्धा और भक्ति रख सकता है ? (जोरसे) उठो पण्डितगण, उठो ! जहाँ जगद्गुरु शङ्कराचार्यका अनादर होता है, वहाँ क्षणमात्रको ठहरना भी पातक है । (उठता है)

अन्य पण्डितगण–(उठते हुए) पातक ही नहीं, घोर पातक है, घोर पातक ।

दसवाँ–यह तो शास्त्रार्थ न होकर कुछ और ही हो गया ।

पहला–कैसा शास्त्रार्थ, किससे शास्त्रार्थ ! ऐसे पाखण्डी-से ! (प्रस्थान)

[वल्लभ और दसवेंको छोड़कर, अन्य सब पण्डित जाते है]

दसवाँ–महानुभाव ! जो कुछ हुआ उसपर मुझे अत्यन्त खेद है । मुझे आपसे अत्यधिक सहानुभूति भी है । परंतु, आप जानते हैं, मानव सामाजिक प्राणी है, सभी अपने-अपने समुदायमें रहते हैं । मैं भी अपने समुदायको तो नहीं छोड़ सकता । (प्रस्थान)

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ–(विचारमग्न मुद्रामें दोनों हाथोंको इस तरह उठाया कि दृष्टि हाथोंपर पड़ती है । फिर ऊपर देखते हुए)

भगवन्‌······भगवन्‌ ! पण्डित-समाजमें इतनी······इतनी असहिष्णुता ! वह····वह भी काशीपुरीमें ! पर···पर यदि मेरा वाद ठीक है, ठीक विचारपर आश्रित । साथ ही उसमें आपके चरणोंमें श्रद्धा है, भक्ति है, तो·····तो आपकी पुष्टि आपका·····आपका अनुग्रह तो मुझे प्राप्त होगा ही और·····और उस पुष्टि·····उस अनुग्रहके पश्चात्‌ फिर····फिर किसकी·····किसकी तुष्टिकी आवश्यकता रह जाती है । (कुछ रुककर) अभी·····अभी काशीनिवासी और·····और उनमें पण्डितमण्डलीको ठिकानेपर आनेमें कदाचित्‌ कुछ समय लगेगा ।······विद्वान्‌, शीघ्र किसकी·····किसकी मानते हैं ! विचार न कर केवल तर्क करते हैं, तर्कका कभी कोई अन्त नहीं । पहले पृथ्वीपरिक्रमा कर डालूँ । आपका अनुग्रह पाकर इस ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका अन्यत्र प्रचार कर लूँ, काशीको अन्तमें देखूँगा ।

[नेपथ्यमें एक गानकी ध्वनि आती है, वल्लभका ध्यान उस गानकी ओर जाता है ।]

मन तू समझ सोचि विचारि ।
भक्ति विनु भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकारि ॥
साधु संगति डारि पाँसा फेरि रसना सारि ।
दाव अब के परयो पूरो कुमति पिछली हारि ॥
राखि सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मारि ।
डार दे तू तीन काने चतुर चौक निहारि ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–विजयनगरके राजभवनका आलय ।

समय–अपराह्ण ।

[आलय पाषाणका बना हुआ है, तीन ओर पाषाणकी भित्तियाँ हैं, जिनपर दक्षिणभारतके दर्शनीय स्थलोंके, जिनमें मन्दिरोंकी प्रमुखता है, रंगीन चित्र लगे हुए हैं । आलयकी छत पाषाणके विशाल स्तम्भोंपर स्थित है, स्तम्भोंकी नीचे और ऊपरकी चौकियोंपर सुन्दर खुदावका काम है । आलयकी भूमिपर रंग-बिरंगी बिछावन है, जिसपर आसनोंपर देशके सभी विभागोंके पण्डित विराजमान हैं । ये पण्डित देशके विभिन्न विभागोंके हैं, यह इनके भिन्न-भिन्न रूपों और वेषभूषासे ज्ञात होता है । पीछेकी भित्तिके संनिकट एक सर्वोच्च आसन है, जो रिक्त है । इसी आसनके निकट एक आसनपर कृष्णदेवराया बैठे हुए हैं । कृष्णदेवराया अभी युवक हैं, वर्ण साँवला, कद ऊँचा, शरीर न मोटा और न दुबला । वे राजसी वेशमें हैं । जरीका लम्बा अँगरखा पहने हैं, जिसपर जरीका उत्तरीय है । अँगरखेके नीचे जरीकी किनारीकी धोती, अङ्गोंमें स्वर्णके रत्नजटित आभूषण हैं । सिरपर दक्षिणी ढंगकी टोपीके सदृश ऊँचा स्वर्णका रत्नजटित मुकुट है । कृष्णदेवरायाके आसनके पीछे कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े हुए हैं । शास्त्रार्थ चल रहा है ।]

विद्यातीर्थ–(कृष्णदेवरायासे) तो राजन्‌ ! आपने माध्व, निम्बार्क और रामानुज सम्प्रदायके अनुयायी वैष्णवोंकी ओरसे पण्डित व्यासतीर्थ तथा शाङ्कर, शैव, शाक्त आदि सिद्धान्तोंके अनुयायियोंकी ओरसे मेरे समस्त तर्कोंको सुन लिया । सात दिनसे यह शास्त्रार्थ चल रहा है और अब तो कदाचित्‌ कोई नये तर्क आपके सम्मुख रखनेको शेष नहीं हैं । (व्यासतीर्थसे) कहिये, पण्डितवर ! आपका क्या कथन है ?

व्यासतीर्थ–हाँ, मुझे भी अब कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है ।

विद्यातीर्थ–जब मुझे और पण्डित व्यासतीर्थ दोनोंको ही कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है, तब आप निर्णय कर लीजिये कि आपको कौन सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है । सात दिनतक शास्त्रार्थके ध्यानपूर्वक श्रवण करनेके पश्चात्‌

मैं समझता हूँ आप स्वीकार करेंगे कि श्रीमच्छङ्कराचार्यका मायावाद ही सर्वश्रेष्ठ वाद है।

[प्रतिहारीका प्रवेश]

प्रतिहारी–श्रीवल्लभ पधार रहे हैं।

[वल्लभका कुछ शिष्योंके साथ प्रवेश । अब उनकी अवस्था चौदह वर्षकी है, परंतु देखनेमें वे सोलह-सत्रह वर्षसे कमके दिखायी नहीं देते । कद ऊँचा हो गया है । शरीर कुछ भर गया है और ऊपरके ओंठपर रेख निकल आयी है । वेश अभी भी ब्रह्मचारीका है । मेखलामें कौपीन, एक हाथमें कमण्डलु और दूसरेमें दण्ड । वल्लभाचार्यका एक अद्भुत प्रकारके तेजसे युक्त स्वरूप इतना प्रभावशाली है कि उनके प्रवेशसे ही सारी सभा उठ खड़ी होती है । कृष्णदेवराया आगे बढ़ उनका स्वागत करते हैं और जो सर्वोच्च आसन रिक्त था, उसपर उन्हें बैठाते हैं ।]

कृष्णदेवराया–भगवन् ! इस सभामें आपका पदार्पण तो राजा बलिकी सभामें भगवान् वामनके पधारनेकी बहुश्रुत घटनाका स्मरण दिलाता है। असीम कृपा की है मुझपर आपने यहाँ पधारकर।

वल्लभ–राजन् ! मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ यहाँ आने और समस्त देशके इस विद्वत्समाजके दर्शन करनेके कारण ।

[सारी सभा एकटक वल्लभकी ओर देखती रहती है; कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ–वैष्णवों और स्मार्तोंका यह शास्त्रार्थ कितने समयसे चल रहा है राजन् ?

कृष्णदेवराया–एक सप्ताहसे प्रभु !

वल्लभ–और अबतक कोई निर्णय नहीं हो पाया ?

विद्यातीर्थ–(व्यासतीर्थकी ओर संकेत कर) पण्डित व्यासतीर्थने वैष्णवोंकी ओरसे तथा मैंने स्मार्तोंकी ओरसे इस शास्त्रार्थमें प्रमुखरूपसे भाग लिया है। आपके आनेके पूर्व हम दोनोंने ही राजा कृष्णदेवरायासे निवेदन कर दिया था कि अब हमें कोई नये तर्क उपस्थित नहीं करने हैं। निर्णय कदाचित् श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादके पक्षमें ही होनेवाला था कि आपका शुभागमन हुआ। इन दिनोंमें सुना था, बहुत समयसे आप त्रिमदी बालाजीमें निवास कर रहे थे। अब आपको भी यदि कुछ कहना हो तो कह दीजिये, तत्पश्चात् निर्णय हो जायगा।

वल्लभ–विद्वद्वर ! वैष्णव और स्मार्त—सभी वैदिक धर्मके अनुयायी हैं। मेरी दृष्टिसे सभी पूजनीय हैं, श्रीमच्छङ्कराचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य—सभीमें मेरी असीम श्रद्धा और भक्ति है।

सभासद्–धन्य है, धन्य है।

वल्लभ–परंतु इन आचार्यचरणोंने जो कुछ उपस्थित किया है, उसपर विचार करना हमारे लिये इस हेतु आवश्यक हो जाता है कि वैदिक धर्म हमें अन्धविश्वास नहीं सिखाता। कहिये, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं ?

अधिकांश सभासद्–ठीक, सर्वथा ठीक ।

वल्लभ–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सर्वप्रधान सूत्र मानता हूँ। कहिये, इसमें तो किसीका मतभेद नहीं है ?

विद्यातीर्थ, व्यासतीर्थके सहित समस्त सभासद्–किसीका नहीं, किसीका नहीं।

वल्लभ–अब इस सूत्रके आधारपर उन समस्त आचार्यचरणोंके वादोंपर विचार कीजिये । यहाँ मैं 'विचार' शब्दपर सबसे अधिक बल देता हूँ। विचार साधार है, अतएव मीमांसा कहा जाता है, तर्क निराधार है, अतः अनुमान कहा जाता है। मीमांसाके आधार वेद और वैदिक शास्त्र हैं, किंतु तर्कका आधार बुद्धिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मीमांसाका अन्त है, तर्कका अन्त नहीं। अतएव विचारको प्रामाण्य है, तर्कको नहीं। इसलिये वेदको प्रमाण माननेवाले विद्वानोंने विचारका आश्रय लिया है, तर्कका नहीं। मीमांसामें वेदवाक्य प्रधान और उपजीव्य होते हैं और विचार उनके तात्पर्य तथा सिद्धान्तका उपजीवन करता है। तर्कमें तर्क प्रधान रहता है और वेदवाक्य उसके पीछे लगा दिये जाते हैं। कितने ही ग्रन्थकारोंने तो स्पष्ट कह दिया है—'एवमागमा अप्यनुसंधेयाः।' कहिये, इससे किसीका मतभेद है ?

समस्त सभासद्–किसीका नहीं, किसीका नहीं।

वल्लभ–तो अब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आधारपर श्रीमध्वाचार्यके द्वैत, निम्बार्काचार्यके द्वैताद्वैत और रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतपर विचार कीजिये और देखिये कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार ये वाद ठीक-ठीक बैठते हैं या नहीं ?

विद्यातीर्थ–सर्वथा नहीं।

कुछ सभासद्–हाँ, सर्वथा नहीं।

वल्लभ—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार अद्वैत ही ठीक बैठता है ।

विद्यातीर्थ—धन्य है, धन्य है ।

कुछ सभासद्—धन्य है, धन्य है ।

वल्लभ—परंतु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के साथ अद्वैतका प्रतिपादन करते-करते जब श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और इसपर जब वे अपने मायावादको प्रतिपादित करते हैं, तब वे भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रसे दूर होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । यदि सब कुछ ब्रह्म है तो जीव और माया भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं तथा यह जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं । इसीलिये मेरा वाद है—ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत।

अधिकांश सभासद्—धन्य है, धन्य है ।

विद्यातीर्थ—मैं भी आपके विचारको स्वीकार करता हूँ ।

समस्त सभासद्—(एक साथ ऊचे स्वरसे) धन्य है, धन्य है ।

[कृष्णदेवराया उठकर वल्लभके चरणोंमें गिर पड़ते हैं ।]

कृष्णदेवराया—(उठकर) प्रभो ! यह शास्त्रार्थ आरम्भ करनेके समय मैंने संकल्प किया था कि जो शास्त्रार्थमें विजयी होगा, उसका सौ मन स्वर्णसे कनकाभिषेक करूँगा । अतः अब मैं इस संकल्पकी पूर्तिकी आज्ञा चाहता हूँ ।

[वल्लभाचार्य कुछ न कह केवल मुसकरा देते हैं]

कृष्णदेवराया—(अपने आसनके पीछे जो कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े थे, उनमेंसे प्रधान राजकर्मचारीसे) लाओ अभिषेककी समस्त सामग्री ।

[राजकर्मचारीका प्रस्थान और पुरोहित तथा भृत्यके हाथमें अभिषेकके लिये पूजाकी सामग्रीके साथ पुनः प्रवेश । इस राजकर्मचारी, पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाले भृत्यके पीछे उन भृत्योंकी पङ्क्ति लग जाती है, जो एक-एक अपने सिरपर एक-एक मन स्वर्ण थालमें उठाये हुए हैं । पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाला भृत्य वल्लभके आसनके निकट पहुँचते हैं । पुरोहित खड़ा हो पूजाकी सामग्रीमेंसे स्वर्णका कलश उठा कुशसे वल्लभका मार्जन करता है । पुरोहितके अभिषेक करनेको खड़े होनेके कारण जिन भृत्योंके सिरपर स्वर्णके भरे हुए थाल रखे थे, उनकी पङ्क्ति रुक जाती है और इनमेंसे कुछ ही दिखायी पड़ते हैं ।]

पुरोहित—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
ततो विराडजायत विराजोअधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः संभृतम्पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥
इत्यादि ।

(मन्त्र समाप्त होनेपर एक आसनपर बैठ जाता है)

कृष्णदेवराया—अब, भगवन् ! इस सुवर्णको ग्रहण करनेकी कृपा करें ।

वल्लभ—राजन् ! मैंने आपकी संकल्प-पूर्तिमें बाधा नहीं डाली । कनकाभिषेकका आपका संकल्प पूर्ण हो गया, परंतु अब मेरे भी एक संकल्पकी पूर्ति आपको करनी पड़ेगी, स्वीकार है न ?

कृष्णदेवराया—आपकी कोई भी आज्ञाका अब मैं जीवनभर उल्लङ्घन कर सकता हूँ ?

वल्लभ—मेरा संकल्प है स्वर्ण और उसकी समीपस्थ सभी वस्तुओंसे जितनी दूर रहा जा सकता है, उतनी दूर रहा जाय । अतः यह सौ मन सोना मेरे कामका नहीं । इस सबको निर्धनोंमें बँटवा दीजिये ।

सारा उपस्थित जनसमुदाय—(उच्च स्वरसे) धन्य है, धन्य है ।

कृष्णदेवराया—(गद्गदस्वरसे) जैसी आज्ञा । (राजकर्मचारीसे) ले जाओ, इस स्वर्णको और वितरण कर दो निर्धनोंमें ।

[राजकर्मचारीका स्वर्णके थाल उठाये हुए भृत्योंके साथ प्रस्थान । बिल्वमङ्गलका प्रवेश । बिल्वमङ्गल अत्यन्त वृद्ध हैं, परंतु उनके मुखपर एक विलक्षण प्रकारका तेज है । गौरवर्ण, ऊँचा पर दुबला शरीर और सिर तथा दाढ़ी-मूँछोंके बढ़े हुए श्वेत केश । बिल्वमङ्गल श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं । बिल्वमङ्गलके स्वागतके लिये स्वयं वल्लभ खड़े होते हैं । उनके खड़े होते ही सारी सभा खड़ी हो जाती है । बिल्वमङ्गलको वल्लभ अपने आधे आसनपर बिठाते हैं । सब लोग पुनः अपने-अपने स्थानपर बैठ जाते हैं ।]

बिल्वमङ्गल—मैं विष्णुस्वामी-सम्प्रदायका आचार्य बिल्वमङ्गल हूँ। मैं जब अधिक वृद्ध हो गया और मैंने जब विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके भार वहन करनेयोग्य किसी शिष्यको नहीं देखा तथा इस कारण जब मेरी विकलता बढ़ी, तब मुझे भगवत्-आज्ञा हुई कि यह भार आपको समर्पित करूँ। आप आजसे विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके आचार्य।

सारा जनसमुदाय—श्रीवल्लभाचार्यकी जय।

कृष्णदेवराया—और, महाप्रभु! इस सम्प्रदायके आचार्य होनेपर प्रथम दीक्षा मुझे दीजिये।

वल्लभाचार्य—(मुसकराकर) स्वीकार है।

जनसमुदाय—महाप्रभु, वल्लभाचार्यकी जय!

कृष्णदेवराया—अब गुरुदक्षिणाके रूपमें तो आपको कुछ स्वीकार करना ही होगा महाप्रभु! (शीघ्रतासे प्रस्थान और एक भृत्यके सिरपर एक सहस्र मोहरोंका थाल लेकर पुनः प्रवेश।)

[कृष्णदेवराया भृत्यके सिरपरसे थाल उठा स्वयं थालको श्रीवल्लभाचार्यके चरणोंमें रखते हैं]

वल्लभाचार्य—(थालमेंसे सात मोहरें उठाकर) राजन्! इस द्रव्यमेंसे ये सात मोहरें ही दैवी द्रव्य है, जो मैं उठा लेता हूँ, यह कभी भगवत्सेवाके काम आयगा।

जनसमुदाय—धन्य है, धन्य है। महाप्रभु वल्लभाचार्यकी जय!

[बिल्वमङ्गल आशीर्वचनके रूपमें एक गीत आरम्भ करते हैं, जिसे सारा जनसमुदाय उनके साथ दोहराता है।]

कांकरवार तेलंग तिलक द्विज बंदो श्रीमद् लक्ष्मणनंद।
श्रीवृजराज सिरोमनि सुंदर, भूतरु प्रगटे बल्लभचंद॥
अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधाभक्ति रस रसकंद।
दर्सन करत प्रसन्न होत मन प्रकटे पूरन परमानंद॥
कीर्ति बिसद कहाँ लौं बरनौं गावत लीला श्रुति सुर छंद।
सगुनदास प्रभु षड्गुन संपन कलिजन उधरन आनँदकंद॥

(यवनिका)

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

सप्त भूमिकाएँ ज्ञानकी सिद्धि अथवा आत्मानुभूतिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ—अवस्थाएँ (Singas or grades) हैं। कक्षाके भेदसे साधनमें भेद हो जाता है, जिससे इन भूमिकाओंमें अद्वैतमार्गीय साधन-क्रमका भी निर्देश पाया जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इनमें साधककी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके आधारपर उसकी स्थिति तथा तदनुकूल साधनका भी निर्देश है; अतः इन ज्ञान-भूमिकाओंमें अद्वैत-साधनाका साररूपसे क्रमानुसार निर्देश है। इसलिये इनका विवेचन अत्यन्त उपयोगी है; मानो ब्रह्म-विद्यालयकी ये सात कक्षाएँ हैं।

इस विद्यालयमें प्रविष्ट होनेका अधिकार साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासुको ही है। विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा ही प्रवेशाधिकारकी परीक्षा हो सकती है। अन्य वर्ण, आश्रम, शारीरिक बल, सौन्दर्य, धन, वैभव, ऐश्वर्य, राज्य, शास्त्र-पाण्डित्य, बुद्धिकी चतुरता आदि सामान्य गुणमात्र ब्रह्म-विद्यामें विशेष उपयोगी नहीं हैं। जब साधनचतुष्टयसामग्रीकी प्रचुर मात्रा हो, तब मनुष्य प्रथम कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। तदनन्तर प्रथम कक्षाके साधनके द्वारा उस कक्षामें उत्तीर्ण होनेपर ही दूसरी कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। अर्थात् तभी वह उसके अनुरूप साधना करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार धैर्यसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके आदेशानुसार पूर्ण श्रद्धासे साधना करता हुआ वह अद्वैत-ज्ञानकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके परमानन्दरूप जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्तिको प्राप्त करता है।

प्रथम	कक्षाकी	साधना	श्रवण
द्वितीय	,,	,,	मनन
तृतीय	,,	,,	निदिध्यासन
चतुर्थ	,,	,,	अखण्ड ब्रह्माकार अपरोक्ष वृत्तिके द्वारा तुर्यातुर्य आत्मदर्शन।

५ से ७ भूमिकाओंमें चतुर्थ भूमिकामें उपलब्ध आत्मदर्शनकी युक्तिके द्वारा भूमारसानुभूतिरूप जीवन्मुक्ति।

श्रवण-अधिकारके लिये केवल संस्कृत-भाषा अथवा न्याय-तर्कका बोध ही पर्याप्त नहीं। जिज्ञासुके गुरुकी शरणमें उपस्थित होनेपर जब गुरु उसे स्वीकार करता है, तब यह ज्ञानका जन्म है; अथवा गुरु जिज्ञासुको शिक्षारूपी गर्भमें धारण करता है। पहली, दूसरी तथा तीसरी अवस्थाओंको गर्भकी अवस्थाएँ समझनी चाहिये। चतुर्थमें साक्षात्कार होनेपर मानो ज्ञानरूपी बालक पूर्णाङ्ग होकर गुरुके गर्भसे बाहर आता है। अब इसे गुरुकी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती। सप्तम कक्षामें ज्ञान प्रौढ़ अवस्थाको प्राप्त होता

है, यही इसकी अन्तिम—चरम स्थिति है। प्राणीके समान ज्ञानका अन्त मृत्युसे नहीं होता; क्योंकि यह तो अमृतस्वरूप है। बुद्धिके द्वारा इस अमृतके स्पर्शमात्रसे प्राणी अमर हो जाता है, अतः यह मृत्युकी मृत्यु है।

जिज्ञासाके आधार-वचन

१. विवेक, वैराग्य, जिज्ञासा, ब्रह्मनिष्ठ गुरु

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
(मुण्डक० १ । २ । १२)

ऋग्वेदादि अपर विद्यारूपी कर्म तथा उपासनाके अनुष्ठानके द्वारा अविद्या, काम तथा कर्मरूप दोषोंसे युक्त पुरुषको दक्षिण तथा उत्तरमार्गके द्वारा जिन पितृलोक तथा देवलोककी प्राप्ति होती है, तथा आसुर प्रकृतिवाले मनुष्यको शास्त्र-प्रतिषिद्ध आचरण करने तथा शास्त्रविहित आचरणका अनुष्ठान न करनेसे जिन नरक, तिर्यक्—कीट-पतङ्ग तथा प्रेतरूप लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंकी तथा स्वरूपकी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा ब्रह्मविद्याके अधिकारी ब्राह्मणको भली प्रकार परीक्षा करनी चाहिये कि ये जन्म, व्याधि, जरा आदि अनन्त संकटोंसे युक्त हैं, केलेके खंभेके समान निस्सार हैं, मायारचित गन्धर्वनगर, स्वप्न तथा जलके बुद्बुद तथा फेनके समान प्रतिक्षण नाशवान् हैं; इसलिये सद्-असद्विवेकीको उपर्युक्त त्रिविध लोकोंकी अविद्याजन्य तृष्णा त्याग देनी चाहिये। सम्पूर्ण लोक कर्मोंका फल है, अतः अनित्य हैं; अथवा अनन्त आयाससाध्य लोकोंसे कुछ सिद्धि नहीं होती, इसलिये अभय, शिव तथा नित्यपदकी प्राप्तिके लिये जिज्ञासुको शास्त्रविहित मर्यादाके अनुसार समिधा लेकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

२. यज्ञ, दान, तप (निष्काम गृहस्थ-धर्म)का लक्ष्य जिज्ञासा—तत्पश्चात् संन्यास-विधान

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन, एतमेव···प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वा्ँसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ (बृह० उ० ४ । ४ । २२)

'नित्य ब्रह्मकी जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिये ब्राह्मण वेदका स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा तपका अनुष्ठान करते हैं। परिव्राजकों, संन्यासियोंके इस नित्य ब्रह्मलोककी प्राप्तिकी इच्छासे ब्राह्मण गृहस्थाश्रमसे प्रव्रजन करते हैं, संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हैं। पूर्वकालमें भी विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा अर्थात् कर्म एवं अपर ब्रह्मविद्याका, जो इहलोक, पितृलोक तथा देवलोकका साधन है, अनुष्ठान नहीं करते थे; क्योंकि उपर्युक्त तीनों लोकोंके साधनरूप प्रजा आदि साधनोंसे उनका क्या प्रयोजन, है ? वे तो आत्मलोककी आकाङ्क्षा करनेवाले हैं। इसलिये वे पुत्र, वित्त तथा लोकसम्बन्धी त्रिविध एषणाओंसे व्युत्थानकर—उन्हें त्यागकर भिक्षाव्रत—संन्यासका अनुष्ठान करते हैं।'

३. षट् सम्पत्तिका विधान

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।······तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति ॥
(बृह० उ० ४ । ४ । २३)

'ब्रह्मवित्की महिमा ब्रह्मके समान नित्य है, न पुण्यसे इसमें वृद्धि होती है, न पापसे ह्रास। ब्रह्म अथवा ब्रह्मवित्की नित्य महिमामें श्रद्धा रखनेवाला शम, दम, तितिक्षा, उपरति तथा समाधानरूप सम्पत्तिसे युक्त होकर अपने अन्तःकरण (बुद्धि) में ही आत्मसाक्षात्कार करता है। सम्पूर्ण संसारको अपना रूप ही जानता है अर्थात् ब्रह्मात्मातिरिक्त कुछ नहीं देखता।'

४. प्रथम तीन साधन-भूमियों तथा चतुर्थ ब्रह्मविद्-भूमिके आधार-वचन

···न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥ (बृह० उ० ४ । ५ । ६)

'अरी मैत्रेयि ! पति, जाया, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण आदि जाति, सप्तलोक, उनके अधिपति देवता तथा वेदादि सब पदार्थ स्वतन्त्ररूपसे प्रिय नहीं होते, आत्माकी हित-कामनाकी दृष्टिसे प्यारे लगते हैं; क्योंकि आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ तथा परमानन्दस्वरूप है, इसलिये आत्माका ही उपनिषदादिके द्वारा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन एवं दर्शन करना चाहिये।'

५–७ भूमियोंके आधार-वचन

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ४)

जो प्राणोंका प्राणरूप ब्रह्म है, वही ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सर्वभूतोंमें आत्मरूपसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे भास रहा है। जो इस सर्वभूतव्यापी ब्रह्मको आत्मरूपसे जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वह आत्मासे भिन्नरूपसे किसका वर्णन करे; क्योंकि आत्मासे भिन्न वह न देखता है, न सुनता है, न जानता है, अर्थात् जो कुछ दीखता है, जो सुनायी देता है, जो कुछ भी जाना जाता है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उसका निश्चय है। ऐसे ज्ञानीकी आत्मामें ही क्रीडा होती है न कि संसारी पुरुषके समान पुत्र-दारा आदि लौकिक पदार्थोंमें; उसकी आत्मामें ही रति-प्रीति होती है; ज्ञान-ध्यानमात्र ही उसकी क्रिया शेष रह जाती है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ होता है। यहाँ (१) आत्मक्रीड़ा, (२) आत्मरतिः, (३) क्रियावान्, (४) ब्रह्मविदां वरिष्ठः—द्वारा, ४,५,६,७ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाओं-का निर्देश किया गया है। ज्ञान-भूमिकाओंमें ज्ञान-साधना तथा सिद्धिका साररूपसे निर्देश है; इसलिये इनका विशद विवेचन उचित है।

ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका विशद विवेचन

अन्य प्रकरणोंमें इस विषयका विस्तृत विवेचन हो चुका है कि ब्रह्म आदिके विषयमें वेद आदि सत्-शास्त्र ही अपूर्व प्रमाण हैं। 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह०) 'उस पुरुषके विषयमें पूछना चाहता हूँ, जिसका ज्ञान उपनिषद्के द्वारा होता है।' स्वतन्त्र मानवीय बुद्धि तर्कके द्वारा इसके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर सकती। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' वेदको न जाननेवाला उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मके विषयमें कुछ तर्क नहीं कर सकता। पक्षपातरहित सच्चा जिज्ञासु यदि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी संनिधिमें उपनिषदोंके निम्नलिखित वचनोंका अध्ययन करे—

ऐत० उ० १,३,१२; ३,१–३; कठ० ४, ११,१४, १५; ईश ७; प्रश्न ४,८–१४; ६,५; मुण्डक १,२,११; ३,१,३; माण्डूक्य २,७; तै० उ० २,६,७; छान्दो० ६,८–१५,७, (२४,१; २५,१–२) ८, १२, १–३; ८,१४,१; केन १,१२; १,५; बृ० उ० १,४,२; १,४, ७,१०; ३,४,१; ४,३ (१५,१६,२१–३२) ४,४ (५,६, १२,१९), ४,५ (६,१३–१५), ३,७,२३ इत्यादि।

—तो सर्वोपनिषदोंके परम सिद्धान्तका निस्संदिग्ध निर्णय होगा कि स्थूल आदि तीन शरीरोंसे भिन्न इनका साक्षी चिन्मात्र आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके साक्षात्कारसे शोक, मोहरूप मिथ्या संसारकी निवृत्ति होकर परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मसे भिन्न नाम-रूपात्मक जड चेतन जगत् मिथ्या है, ब्रह्मात्मामें आरोपमात्र है। ब्रह्मसे भिन्न संसारकी सत्ताका नितान्त अभाव है। त्रिविध भेदरहित अखण्ड चिन्मात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है, परमार्थ-दृष्टिसे यही यथार्थ ज्ञान है। भेद-दृष्टि अज्ञान है। सब उपनिषदोंका समन्वय इस अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व-में ही है। इसी यथार्थ दृष्टिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ ज्ञानकी भूमिकाएँ हैं। भूमिकाओंके विवेचनमें हम देखेंगे कि इस अभेदरूप यथार्थ दृष्टि-ज्ञानका क्रमशः विकास होता जाता है। प्रथम तीन भूमिकाएँ साधना अथवा जिज्ञासु-साधककी कक्षाएँ या अवस्थाएँ हैं। शेष चतुर्थसे सप्तमतककी चार श्रेणियाँ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाएँ हैं। यद्यपि इन सबमें परमार्थ सत्य (ब्रह्मात्मा) का अपरोक्ष ज्ञान एक-सा होता है; परंतु जगत्-मिथ्यात्वकी दृष्टिमें क्रमशः विकास होता जाता है।

प्रथम भूमिका शुभेच्छा-जिज्ञासा

प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही निरपेक्ष, परमार्थ, शुभ, शिव तथा अभय पद है; अन्य सब भेद अशुभ एवं भयरूप ही है। द्वितीयाद् वै भयं भवति—अपनेसे भिन्न द्वितीयसे-भेदसे-भयकी आशङ्का बनी रहती है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप शुभकी इच्छा या जिज्ञासा ज्ञानकी प्रथम भूमिका है। यज्ञ, दान, तप, हठयोग, शब्दयोग, कुण्डलिनीयोग, सांख्य, राजयोग, भक्तियोग, आत्मसमर्पण आदि भिन्न-भिन्न अध्यात्म-साधनाएँ उपयोगी हैं; परंतु इनका फल जिज्ञासाकी उत्पत्ति है। इन सब साधनाओंका उपयुक्त स्थान शास्त्र तथा ब्रह्मवित् महात्माओंके आदेशानुसार जिज्ञासा अथवा ज्ञानकी प्रथम भूमिकासे पूर्व ही है। उसके बाद इनका कुछ उपयोग नहीं है। शास्त्रके परम तात्पर्यकी दृष्टिसे इनका मूल भेददृष्टि अर्थात् अज्ञान है और ज्ञान-साधनामें अखण्ड निर्व्यापार ब्रह्मात्मतत्त्वके यथार्थ बोधद्वारा इस भेददृष्टिका नाश करना अभीष्ट है। इसलिये हठयोगादि उपर्युक्त साधनाएँ, जो

भेददृष्टिको बनाये रखती हैं, अखण्डात्मसाक्षात्कारमें प्रतिबन्धक तथा ज्ञान-साधनाकी विरोधिनी हैं। ये द्वैत तथा अद्वैतमूलक साधनाएँ ध्येय आदिमें अन्धकार और प्रकाशके समान परस्पर-विरोधी हैं। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कभी ऐसा निर्देश नहीं कर सकता और कोई साधक इनके तथ्य तात्पर्य तथा लक्ष्यको जानते हुए एक कालमें इनका अनुष्ठान नहीं कर सकता। यदि इन साधनोंके लौकिक फलके आकर्षणके कारण इनके तथ्यस्वरूप आदिके ज्ञानका अभाव न हो तो इनका समकालीन सम्पादन सम्भव नहीं होता। विवेक-वैराग्य आदि साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु ही अखण्ड ब्रह्मज्ञान-साधनाका अधिकारी है। वही प्रथम भूमिकामें प्रवेशकर उस भूमिकाकी साधना यथार्थ रूपसे कर सकता है।

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद् व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिः, न सांख्यशास्त्राभ्यासः, न मन्त्रतन्त्रव्यापारः, नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरास्ति। अस्ति चेच्छवालंकारवत् कर्माचारविद्यादूरः, न परिव्राण् नामसंकीर्तनपरो यद्यत् कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत् सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्, न बाह्यदेवताभ्यर्चनं कुर्यात्॥ (संन्यासोप० २, ५९)

'आत्मस्वरूप-चिन्तनसे भिन्न शास्त्राभ्यास उष्ट्रके कुङ्कुम-के भारके समान व्यर्थ है। यतिकी न भेदवादी योगशास्त्र-में प्रवृत्ति होती है, न सांख्यशास्त्रमें, न मन्त्र-तन्त्र-व्यापार-में, न अन्य भेदवादी शास्त्रोंमें। यदि ऐसी प्रवृत्ति हो तो वह शवके अलंकारके समान है। कर्माचार विद्यासे दूर-- उसका विरोधी है। यतिको न तो निज नाम-महिमाका संकीर्तन करना चाहिये, न प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावनासे शून्य भेद-दृष्टिसे किसी ब्रह्मनामका संकीर्तन करना चाहिये। मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उस-उसके फलको पाता है। एरण्डतैलके फेनके समान इन सब भेदमूलक लौकिक तथा शास्त्रोक्त व्यवहार-को त्याग दे। देवताके प्रसादको न ले, न बाह्य देवताकी पूजा करे।

अधिकारी संन्यासी

ज्ञान-साधनाके आरम्भमें ब्रह्मलोकपर्यन्त जगत्-बन्धन-में सत्यत्व परंतु अनित्यत्व बुद्धि होती है। इस जगत्से छूटना उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। मोक्ष-आकाङ्क्षा-के साथ किसी अन्य लौकिक लक्ष्यका सामञ्जस्य बन ही नहीं सकता। जगत्के किसी एक पदार्थमें एक ही कालमें इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धिका हो सकना असम्भव है। श्रेय तथा प्रेय तम और प्रकाशके समान नितान्त भिन्न एवं विरोधी हैं। जब मोक्ष ही लक्ष्य हो, तब सम्पूर्ण प्रयत्न तथा व्यवहार इसीके लिये होना चाहिये। गृहस्थाश्रम, जो कि कर्म-प्रधान तथा प्रायः काममूलक होता है, ऐसी दशामें असम्भव है। जिज्ञासाकी तीव्रता ही उसकी कर्तव्य-कर्म-बुद्धिको शिथिल कर देती है। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस दिन लौकिक भोगसे वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थाश्रमसे प्रस्थान कर संन्यासाश्रममें प्रवेश करे। यह शास्त्र-वचन उसे गृहस्थसे छुट्टी ही नहीं देता, प्रत्युत अनिवार्य रूपसे उसके त्यागका विधान करता है और अन्य शास्त्रवचनोंके मनमाने अर्थोंके आधारपर गृहस्थाश्रमको सर्वश्रेष्ठ कहकर कर्तव्यबुद्धिके आधारपर गृहस्थसे मरते दमतक चिपटे रहनेकी अनुमति नहीं देता है। जिसके अन्तःकरणकी कलुषताको वैराग्यने धो डाला है, वह साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें मोक्षके उपायोंका निरन्तर अनुष्ठान करनेके लिये ज्ञानप्रधान संन्यास-आश्रममें प्रवेश करता है। आभ्यन्तर संन्यास वैराग्य एवं जिज्ञासाका कारण है और शास्त्रविधिके अनुसार बाह्य संन्यास जिज्ञासाका परिणाम—फल है। तथ्य आभ्यन्तर संन्यासके बिना तथ्य जिज्ञासा असम्भव है। जिज्ञासा-के उपयोगी श्रवणके अतिरिक्त संन्यासीका कोई स्वतन्त्र लक्ष्य अथवा साधन नहीं रहता। जो व्यक्ति संन्यासाश्रममें श्रवणादिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करता है, उसमें जिज्ञासाकी न्यूनता है। निर्विघ्न श्रवणके लिये अनिवार्य भिक्षादि शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जिज्ञासुका एकमात्र अवलम्ब प्रारब्ध तथा ईश्वरविश्वास होता है। वह साधारण योगक्षेमकी चिन्ता और उसके लिये ओषधि, जन्तर, मन्तर, कथा-वार्ता, यौगिक सिद्धि आदि व्यवसायोंमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर तथा प्रारब्धके आश्रयपर वह सब कठिनाइयों तथा बाधाओंका प्रतीकार करता है, अथवा अन्य उपाय न करता हुआ ही जीवन व्यतीत करता है। श्रवण आदि साधनोंमें बाधा पड़नेपर भी वह ईश्वरके आधार-को छोड़कर उपर्युक्त अन्य किसी उद्यममें प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि वह यह दृढ़ भावना रखता है कि कष्ट-सहनरूपी तपसे पूर्वकर्मजनित बाधाएँ शिथिल होती हैं। उसकी ऐसी दृढ़ धारणा होती है कि संन्यासीके लिये शास्त्र-विरुद्ध अन्य उपायोंसे योग-क्षेम करके निर्विघ्न श्रवण आदि

साधन करनेकी भावना तथ्य नहीं है। वह साधनाभासमात्र है। उपर्युक्त तथ्य तितिक्षा, ईश्वरपरायणता आदिके सहित यत्किञ्चित् शास्त्र-श्रवणादि साधन ही यथार्थ साधन है। अन्य श्रवण शास्त्रोक्त श्रवण नहीं है; उससे लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होती।

शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः।
अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्॥
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥
(नारद उ० ४। ५—७)

'यतिके लिये शिल्प, व्याख्यान देना, योग, काम, राग, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, चिकित्सा, धर्मके लिये साहस-कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मन्त्र, औषध और अन्यको आशीर्वाद देना—ये सब निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेसे यति पतित हो जाता है।'

ऐसे जिज्ञासुके लिये संन्यास-आश्रम ही मुख्य है। परंतु यदि वह किसी उपयुक्त कारणवश गृहस्थ-आश्रममें ही रहे, तो उसका सम्पूर्ण जीवनव्यवहार निष्कामबुद्धिसे होता है। गृहस्थमें रहते हुए साधक अथवा ब्रह्मज्ञानीका ढोंग रचकर लौकिक कर्मोंको तो करते रहना और शास्त्रोक्त देवयज्ञ आदि कर्मोंको त्याग देना धृष्टतामात्र है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(गीता ३। २६)

'कर्मके फलमें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिको उनके उपर्युक्त अधिकारोचित कर्ममार्गसे विद्वान् उन्हें विचलित न करे। उन सबको शास्त्रकर्मोंमें ही प्रवृत्त करे और स्वयं अनासक्त योगबुद्धिसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करे।'

शास्त्रके विधानके अनुसार किया हुआ कर्मका त्याग अथवा ग्रहण उन्नतिका कारण होता है; ऐसे विद्वान्की शारीरिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें केवल निर्वाहमात्रपर दृष्टि होती है। इससे अधिकको वह वासनाकी दासता तथा परिग्रह समझता है।

साधना-क्रम

ऊपर वर्णन हो चुका है कि त्रिविध भेदरहित अखण्ड, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानके द्वारा शोक-मोह, जन्म-मृत्यु तथा संसारचक्रके मूल भेददृष्टिरूपी अज्ञानका नाश एवं ज्ञानसाधन मनुष्यजीवनका एकमात्र शास्त्रोक्त ध्येय है। यह भी निर्देश किया गया है कि उपनिषद् आदि सत्-शास्त्र ही इस विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं और आचार्यवान् पुरुष ही शास्त्रके रहस्यको ग्रहण करता है; इसलिये साधन-चतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु अन्य सम्पूर्ण कर्तव्यों तथा योग-क्षेमकी चिन्तासे मुक्त संन्यासी—उपनिषदोंके श्रवणके लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें उपस्थित होता है। जैसे शरीरके अङ्गोंका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार श्रवण आदिका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये किसी कालमें भी एक दूसरेसे नितान्त पृथक् नहीं हो सकते। शास्त्र-तात्पर्य-निर्धारणरूपी श्रवणके षट्-लिङ्गोंमें ही उपपत्तिका निर्देश है; जिसका यह अभिप्राय है कि युक्ति, तर्क, अनुमानके बिना शास्त्र-तात्पर्यका निर्धारण नहीं हो सकता। इसीलिये मूल उपनिषदोंमें भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूपी परमार्थ सत्यकी सिद्धिके लिये अनेक उपयोगी युक्तियोंका दृष्टान्तसहित निरूपण है और तीव्रतम जिज्ञासुका उनसे ही समाधान हो जाता है। आत्मप्रत्ययका प्रवाहरूप निरन्तर चिन्तन अर्थात् मनन भी एक दृष्टिसे निदिध्यासन ही है। इसलिये उपनिषदोंके श्रवणमें ही शेष दो—मनन तथा निदिध्यासन-साधनोंका समावेश हो जाता है। इसलिये सामान्य दृष्टिसे इन साधनोंके स्वरूप अथवा कालक्रमके भेदका वर्णन नहीं बन सकता। जैसे गर्भस्थ शिशुके सम्पूर्ण अङ्ग गर्भके आरम्भसे ही उपस्थित होते हैं, परंतु भिन्न-भिन्न अङ्गोंका विकास भिन्न-भिन्न मासोंमें होता है; इसी प्रकारसे ज्ञानसाधनारूपी शिशुके भिन्न-भिन्न अङ्ग बीजरूपसे प्रारम्भमें विद्यमान होते हुए भी इनका विकास क्रमशः होता है।

इसका विशद विवेचन अन्यत्र यों दिया गया है कि (१) साधनचतुष्टयसहित जिज्ञासा, (२) श्रवण, (३) मनन, (४) निदिध्यासन तथा (५) आत्मदर्शनमें तीव्रतम जिज्ञासुके अतिरिक्त साधारणतया कारणकार्यभावरूप अविनाभाव आदि सम्बन्ध है, जिससे इनके क्रम तथा अवधि-फलका ज्ञान होता है। अर्थात् तथ्य जिज्ञासाके अनन्तर ही शास्त्रोक्त श्रवण सम्भव होता है। तथ्य श्रवण अथवा निरन्तर श्रवणकी योग्यताका होना जिज्ञासासाधनाका फल अथवा अवधि है। श्रवणके अनन्तर ही सामान्य उपपत्तिसे भिन्न मननकी अनिवार्य आवश्यकता जँचती है। जैसे जिज्ञासाके अनन्तर ही श्रवणके महत्त्वका पता चलता है, ऐसे ही श्रवणके परिपक्व हो जानेपर मननका और उसके

पश्चात् निदिध्यासनका महत्त्व है। ज्ञानसाधनामें श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनका यही क्रम है। जैसा कि श्रवण आदि साधनाका विधानसम्बन्धी (बृह० उ० २, ४, ५, ६)क्रम पाया जाता है, इसमें क्रमका उल्लेख तात्पर्यशून्य नहीं है। इस वचनमें वेदान्त-साधनाके पथका रहस्यपूर्ण संग्रह है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥'**

प्रथम भूमिकाका साधन श्रवण

पूर्वमीमांसामें शास्त्र-तात्पर्यके निर्धारणमें उपयोगी षड्लिङ्गोंका वर्णन है—(१) उपक्रम-उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद तथा (६) उपपत्ति। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें इन षड्लिङ्गोंद्वारा उपनिषदादि ब्रह्मविद्याविषयक शास्त्रोंके परम तात्पर्यका निर्धारण करना श्रवण कहलाता है। परमतत्त्वके सम्बन्धमें अनेक विकल्प हैं—(१) जड है अथवा चेतन, (२) विशिष्ट चेतन है अथवा चिन्मात्र, (३) कर्ता, भोक्ता है अथवा अकर्ता, अभोक्ता; (४) त्रिविध भेदयुक्त चेतन है अथवा अखण्ड चेतन, (५) विभु है, अणु है अथवा मध्यम परिमाण। इन भिन्न-भिन्न विरोधी सिद्धान्तोंका प्रकरणानुसार वर्णन उपनिषदादि सच्छास्त्रोंमें उपलब्ध होता है, जिसके आधारपर वेदान्तके सम्प्रदायोंमें भी कई भेद हैं। इसीलिये शास्त्रवचनोंमें भी विरोध-सा प्रतीत होता है, जिसके कारण संशय हो जाता है और श्रुतिप्रमाणमें आस्था भी शिथिल होने लगती है। यदि पुण्यबलसे कुछ श्रद्धा बनी रहे, तो भी बुद्धि इस परस्पर विरोधको सहन नहीं कर पाती। यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाय तो भी कुछ फलकी सिद्धि नहीं होती। फल किसी निर्णीत सत्यके अनुष्ठानके द्वारा प्राप्त हो सकता है; इसलिये उपर्युक्त परस्पर-विरोधका समन्वय अनिवार्य है।

श्रवणकी सफलता

परमतत्त्वके निर्णयके द्वारा तथा तद्विरोधी शास्त्रवचनोंके उपयुक्त अर्थके द्वारा शास्त्रके विरोधी वचनोंका समन्वय करनेमें श्रवणकी सफलता है। मुख्य या प्रधान विरोध यह है कि परमतत्त्व त्रिविध भेदरहित अखण्ड चेतन है अथवा जड-चेतन-भेदयुक्त चेतन है। दोनों प्रकारके वचन उपनिषदोंमें पाये जाते हैं। अभेदपरक कुछ वचन ऊपर उद्धृत किये गये हैं। कुछ भेदवचन भी पाये जाते हैं; जैसे कठ० ३, १; ६, ७-८; ईश० ८–१४; प्रश्न० ५, १; मुण्डक० ३, १; १–३; तैत्तिरीय० ३, १; ऐतेरय० १, १-२; बृह० ३, ७, ३–२३ इत्यादि।

द्वैत तथा अद्वैत वचनोंका समन्वय

इसी प्रकार परमतत्त्वविषयक अन्य भी अनेक विरोध पाये जाते हैं। श्रवणके द्वारा इन परस्पर विरोधी वचनोंका गौण, मुख्य आदि भेदोंसे समन्वय करना अनिवार्य है। यहाँपर विशेष विवेचनका अवकाश नहीं। यहाँ तो केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि इस परस्पर-विरोधरूपी आपत्तिका निराकरण श्रवणके द्वारा हो सकता है। सूक्ष्म, एकाग्र तथा पक्षपातरहित बुद्धि ही आचार्यके सहयोगसे शास्त्रके तथ्य तात्पर्यका निर्णय कर सकती है। षड्लिङ्गोंसे उपनिषदोंके तात्पर्यकी समीक्षा करनेसे यह निर्णय करना सहज होता है कि अद्वैतपरक वचन ही मुख्य हैं। अन्यथा ये सब वचन निरवकाश हो जाते हैं और श्रुति प्रामाणिक नहीं ठहरती। यदि शरीर-शरीरिभाव तथा प्रेम-भावना आदिके द्वारा इनके गौण अर्थ किये जायँ, तो भी श्रुतिकी अपूर्वता खण्डित हो जाती है। कहा जा सकता है कि सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्मका ज्ञान शास्त्रसे ही हो सकता है; परंतु एक बार जगत्-नियामक चेतन सत्ताको स्वीकार कर लेनेपर, उपर्युक्त गौण अभेदके उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् यदि शास्त्रका परम तात्पर्य द्वैतको स्वीकार किया जाय तो अद्वैतपरक वचन निरवकाश हो जाते हैं। यदि इस दोषकी निवृत्तिके लिये अद्वैतके गौण अर्थ किये जायँ, तो श्रुतिकी प्रामाणिकताके भङ्ग हो जानेकी आपत्ति आती है। इसी प्रकार श्रुतितात्पर्यनिर्णायक षड्लिङ्ग भी अन्य अनेक आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं। इसलिये परमार्थ अद्वैतपरक वचन मुख्य हैं। जीव-ईश्वरका अभेद मुख्य तथा परम सत्य है और द्वैतपरक वचन लौकिक व्यवहारके अनुवादमात्र हैं तथा कर्म उपासनापरक हैं। ये वचन उनके लिये हैं, जिनकी बुद्धि स्थूल—प्राकृत है और परम अद्वैतको ग्रहण कर सकनेमें असमर्थ है। उनके लिये अधिकारोचित उपासनाकी साधनाके लिये भेद तथा उपासना आदिका निरूपण सापेक्ष सत्य है। साधनचतुष्टयसम्पन्न तीव्र-बुद्धिवाले जिज्ञासुके लिये ये वचन नहीं हैं।

इसी प्रकार विरोधी प्रतीत होनेवाले अन्य शास्त्रीय वचनोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके प्रसादसे हो जाता है और शास्त्रोक्तियोंमें परस्पर विरोध नहीं रह जाता। शब्दप्रमाणका समन्वय होनेके साथ ही यह निश्चय हो जाता है कि अध्यात्मविषयक श्रुतिका मुख्य

तात्पर्य अभेदमें है । शब्दप्रमाण भेदको मिथ्या बताता है । भेदके प्रतीत होनेपर भी शब्दप्रमाण अभेदको ही सिद्ध करता है; इस विषयमें संदेह नहीं रहता ।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनका यही सार है कि साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासु प्रथम भूमिकाका अधिकारी है । ब्रह्मज्ञान-साधनाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण व्यवहारकी निवृत्तिरूपी संन्यास जिज्ञासुके लिये स्वाभाविक तथा निरन्तर ज्ञान-साधनाके लिये परमोपयोगी एवं अनिवार्य है । प्रवृत्ति और ज्ञान-साधनाका तम और प्रकाशकी भाँति परस्पर विरोध है । प्रथम कक्षाका प्रधान साधन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे उपनिषद् आदि ब्रह्मविषयक शास्त्रोंका श्रवण करना है । उपनिषद्के द्वैत तथा अद्वैतपरक वचनोंके तथ्य तात्पर्यके [cut off] (१) उपनिषद्वचनोंके अन्तर्गत विरोधका समन्वय क[cut off] तथा (२) त्रिविध भेदरहित अखण्डचिन्मात्र तत्[cut off] आत्मभावेन निःसंदेह निर्णय करना श्रवणसाधनाका का[cut off] परम फल तथा अवधि है । इस अवस्थाके प्राप्त होने[cut off] जिज्ञासुको उपनिषद् आदि ग्रन्थों तथा इन ग्रन्थोंके [cut off] भागोंका विशेष स्वाध्याय करनेकी आवश्यकता नहीं रह[cut off] जिनमें प्रधानतया आस्तिक बुद्धिवालोंके लिये परमतत्त्[cut off] वर्णन है । उसे श्रवणका फल प्राप्त हो चुका है, शब्दप्रमा[cut off] परम तात्पर्य अद्वैतका निश्चय हो चुका है; इससे अ[cut off] श्रवणका कुछ लाभ नहीं और इसीलिये वैसे साधककी श्र[cut off] रुचि नहीं रहती है; क्योंकि उसका प्रमाणगत संशय नि[cut off] हो गया है ।

महारास

(रचयिता—श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी ओझा 'मुक्त')

समवेत गान

कैसी आज जुन्हाई !
कैसी अनुपम शोभा छितिपर छबि-छाई छहराई ॥
कैसी आज मनोहर राका,
भरा धरापर स्वप्न विभाका,
उतर अवनिपर, किरण-डोर धर, विधु-दीधिति सकुचाई ॥
उत्कंठा जागी जन-जनमें,
जागा मधुर मनोरथ मनमें,
तन-तनमें सिहरन भरनेको शशि-लेखा मुसकाई ॥
नभका हास-विलास मनोरम,
भू-अधरोंपर आज रहा थम,
लास-भरी धरती विलाससे लेती है अँगड़ाई ॥

सूत्रधार

चंद्रिका खिल उठी मिल धराके गले,
व्योममें सोमका स्निग्ध संचार है ।
वात सहमा हुआ, रात ठिठकी हुई,
रुद्ध-सा लोकका शोक-संभार है ॥
हिल रही वल्लिका, मल्लिका खिल रही,
भर रहा हर दिशा अमित आमोद है ।
व्योमके वक्षपर, सोमके पक्ष-सा
लक्ष्यको जा रहा श्वेत पाथोद है ॥

स्वर्गसे भूलकर भूमिकी धूलपर
यह विभाकी कुमारी चली आ रही ।
लाजके व्याजसे आज या मेदिनी
शुभ्र घूँघट निकाले भली आ रही ॥

या रसाके लिये विधु स्वयं व्योमसे
हँस सरस, सोम-रस-धार बरसा रहा ।
या कि मृत्पात्रहीमें महीके कहीं
कामधुक्का धवल क्षीर भर-सा रहा ॥

चंद्रिका चंद्रका हास लेकर चली,
आ अवनिके वदनपर बिखर-सी गई ।
विटपोंके असित अंग उत्संगमें
कौमुदी भर स्वयं ही निखर-सी गई ॥

तेजके तीरकी पीर गंभीर जो
देह दिनभर धराकी तपाती रही ।
चंद्रिका शीत-करसे उसीपर सदय
स्नेह-आलेप निशि-भर लगाती रही ॥

चंद्र-आलोक भी कोकके शोकको
रोक पाया नहीं, वह कलपता रहा ।
कौन जाने कि किस शापसे रातभर
विरह-उत्तापमें आप तपता रहा ॥

सरस रस-लोभसे रहसमें बैठकर
अलि नलिन-कोषमें हो गया बंद है ।
कौमुदीमें मुँदी पंखड़ीको खड़ी
देखती दूर भ्रमरी निरानंद है ॥
वेणु-वनमें कहीं सो रहा स्वर मुखर
मर्म मर्मर विपिनका कसक-सा रहा ।
हर लहरपर हहर जो बही जा रही
उस सरितका तरल मन मसक-सा रहा ॥
गंधकी साँसमें रुद्ध उच्छ्वास-सा
छोड़कर कुसुम कमनीय झरने लगे ।
पर सुहागों-भरी वल्लरीके अधर
विद्रुमों-से द्रुमोंपर सिहरने लगे ॥
आज वृंदा विपिन मग्न हैं मोदमें
छबि अमर लोककी ज्यों छनी आ रही ।
आजकी यामिनी कामिनीके लिये
सहज अनुगामिनी है बनी आ रही ॥
आजके क्षण विलक्षण, सिहातीं खड़ी
भूमिका भाग्य देवांगना, स्वर्ग भी ।
आजका काल ऐसा कि सिर धुन रही
साधना, मल रहा हाथ अपवर्ग भी ॥
शांत आकाश है, शांत वातास है,
इंदु-कर भूमिपर शांति जड़-सा रहा ।
आज यमुना-किनारे खड़े कृष्णके
चित्तमें रास-रस है उमड़-सा रहा ॥
ईशकी कामनासे बना विश्व यह
आज रह-रह बुलाता उन्हें पास है ।
घर अधरपर मुरलिका मधुर, श्यामने
इसलिये ही बजाई अनायास है ॥

समवेत गोपी-गान

यमुनाके तीर कौन बाँसुरी बजाता ?
अंग-अंग है उमंग–संग बहा जाता ॥
स्वरके रसकी हिलोर
तन-मनको रही बोर
सिहर यह शरीर है अधीर हुआ जाता ।
मनको मन्मथ ललाम
मथता-सा हाय राम
बरबस इस याम हमें कौन है बुलाता ?
बंसी यह टेर रही
किसका पथ हेर रही
लोक-लाज आज भला है किसे सुहाता ?
गोपियाँ लग्न थीं गेहके नेहमें
वेणुका स्वर सुना, भ्रांत-सी हो गईं ।
कृष्णके प्रेमको क्षेमकर जानकर
देह-मन खो, मगन हो, विजनको गईं ॥
वेणुकी तानमें गान जो प्राणका
चित्तको खींचकर वह बुला-सा रहा ।
अमित आनंद–संदोहके पालने
ब्रह्म ज्यों जीवको है झुला-सा रहा ॥
यह घड़ी है बड़ी भाग्यशाली कि जो
श्यामने आप ही है पुकारा हमें ।
कर कृपा-कोर चितचोरने चावसे
आज ही तो प्रथम है निहारा हमें ॥
व्यर्थ असमर्थताका न कुछ अर्थ है
त्यागकर दर्प अर्पण स्वयंको करें ।
आज आत्मा मिले तत्त्व परमात्मसे
हम अमर लोकका रस रसामें भरें ॥
सोचकर इस तरह रह सकीं चिर न फिर
श्यामकी लालसासे मचलने लगीं ।
तोड़ बंधन सभी, मोड़ मुँह मोहसे
गोपियाँ घर-नगरसे निकलने लगीं ॥
धेनु पय-भारसे रँभती रह गईं
बह गई छाछ फिर दूर गिर पात्रसे ।
सुध बिसरकर, सिहरकर, किधर जा रहीं
वस्त्र-भूषण गिरे स्रस्त हो गात्रसे ॥
कंठलग्ना स्वपतिकी नवोढ़ा निकल
चल पड़ी हो बिकल तिलमिलाती हुई ।
स्तन्य छूटा सरल शिशु मचलता रहा
माँ चली मोदसे गीत गाती हुई ॥

जो सती थी व्रती मतिमती, कांतकी
चरण-आराधना छोड़ वह चल पड़ी ।
घर सँजोती बिलोती हुई दूध जो
काजसे आज मुँह मोड़ वह चल पड़ी ॥
एक थी राँधती, एक लट बाँधती,
एक अंजन नयनमें लगाती रही ।
देरसे हेरती पंथ प्रिय पांथका
एक थी नीर दृगसे बहाती रही ॥
एक खाती रही, एक गाती रही,
एक रोता हुआ शिशु सुलाती रही ।
त्यागकर सब जहाँका तहाँ, चल पड़ीं
गोपियाँ, वेणु जिनको बुलाती रही ॥
सासकी ताड़ना, नन्दका वारना,
रोष पतिका उन्हें रोक पाया नहीं ।
देख सम्मुख सिसकता सलोना सुवन
गोपियोंने तनिक शोक पाया नहीं ॥
बावली-सी गलीमें चली जा रहीं,
जा मिलीं तरणिजाके तरल तीरपर ।
चित्तमें छवि छिपाये विमल श्यामकी
कर निछावर तरुण प्राण आभीरपर ॥
बाँसुरीमें भरे प्रेमके स्वर मुखर
गूँजते घर-नगर, सरि-लहरपर रहे ।
भूमिको चूमकर, झूमकर जो उठे
शून्य आकाशमें हास भरकर रहे ॥
गोपियाँ देह-सी आ गईं पास, पर
प्राण-सी राधिका रुक गईं मानसे ।
हरि हँसे हेरकर, टेरकर बाँसुरी
फिर पुकारा उन्हें योग्य सम्मानसे ॥

राधा-माधव-संवाद

श्रीकृष्ण–
राधा राधा राधा !
हरिका हृदय तुम्हींने अपने प्रेम-रज्जुसे बाँधा ॥
मैंने सबको सहज पुकारा,
पर तुमने ही मुझे बिसारा,
नहीं जानती हो क्या, तुमसे रहित रहा मैं आधा ॥
राधा राधा राधा !

राधा–
लो, आई माधव, मैं आई, अब न रही कुछ बाधा ॥
महा मिलनका रास रचाकर,
किंतु मुझे ही नहीं बुलाकर,
तुमने दी पीड़ा, मैंने उस व्रीड़ासे चुप साधा ।
पर आई माधव, यह आई, अब न रही कुछ बाधा ॥

श्रीकृष्ण–
तुम हो मेरे रोम-रोममें,

राधा–
तुम अणु-अणुमें, धरा-व्योममें,

दोनों–
तुम मुझमें हो, मैं तुममें, दोनोंकी प्रीति अगाधा ।
एक दूसरेसे अभिन्न हैं दोनों माधव-राधा ॥

श्रीकृष्ण–
है अनादिसे तुमने मुझको प्रेम-रज्जुसे बाँधा ।

राधा–
भव-भावन नारायणके चरणोंमें नत है राधा ॥

श्रीकृष्ण–
आओ, हिलमिल रास रचाएँ,

राधा–
स्वर्ग उतार धरापर लाएँ,

राधा–
नरसे नारायण मिल जाएँ, बरसे शांति अबाधा !
हे माधव, मुकुंद, मधुसूदन !

श्रीकृष्ण–
राधा, राधा, राधा !!

बह रहा नील नभके तले नील जल
नीलरुचि शुचि शिलापर समासीन हैं ।
रम रहे कोटि ब्रह्मांड हैं रोममें
पर स्वयं वे अहंसे उदासीन हैं ॥
बाँसकी बाँसुरी है अधरपर धरी
जो विधुर लोकमें स्वर मधुर भर रही ।
प्रीतिकी बेलिको केलिसे सींचकर
गोपियोंके हियोंको विमल कर रही ॥
बाँधकर दल सकल गोपियाँ आ गईं
घेरकर कृष्णको नाचने लग गईं ।
लास-उल्लासमें, हास-परिहासमें
वासना त्यागकर प्रीतिमें पग गईं ॥

नूपुरोंके रणन, किंकिणीके क्वणन,
स्वन चरणके मधुर ताल देने लगे।
अंगकी भंगिमाको मिली गति चपल
तन तरल तंतुसे लहर लेने लगे॥

मोदमें मग्न होकर कहीं गोपियाँ
तालसे स्वर मिला गीत गाने लगीं।
कंठके नीड़से मीड़-खगको मधुर
मूर्च्छना-ग्राम-संयुत उड़ाने लगीं॥

नृत्य-संगीतकी यह मनोहर छटा
देखकर देवगण भी सिहाने लगे।
मेनका-उर्वशी भी ठगी-सी रहीं
पुष्प गंधर्व-किन्नर गिराने लगे॥

रास-गीत

यमुना-तट रासका विलास-लास छाया।
गोकुलमें उमड़ आज यह हुलास आया॥
आज मत्त-मोद-भरी
विविध विधि विनोद-भरी
शारदीय शर्वरी, झरी प्रफुलताया।
नटवर नरके समान
नाच रहे ब्रज अजान
फैल रहा लोक-ओकमें सुयश सुहाया।
पायलकी छूम-छनन
मुरली-सुरलीन विजन
प्रकृतिमें पुरुष पुराण प्राण-सा समाया।
उडुगण, ग्रह, सूर्य, सोम,
धरा, अंतरिक्ष, व्योम,
नाच रहे तमस्तोममें प्रकाश-छाया।
इंद्र, वरुण, यम, कुबेर
नृत्य-निरत रहे हेर
नाच स्वयं शेषने समस्त जग भुलाया।
नर्तित खग-मृग-निकाय
शैल-विटप विपुलकाय
भव यह शीतलच्छाय रास-रस-नहाया।
गोपियोंका परम भाग्य थीं हेरती
स्वर्गमें मुग्ध देवांगनाएँ खड़ी।
सोचतीं, क्यों न व्रजमें मिला जन्म जो
कृष्णका संग पातीं सहज दो घड़ी॥

गोपियोंने विचारा कि त्रैलोक्यमें
रूप हम-सा किसीको मिला ही नहीं।
कांति-सरमें अमर-लोकके भी कभी
छवि-नलिन आजतक है खिला ही नहीं॥

रूपके गर्वसे गर्विता गोपियाँ
नृत्य-श्रम-स्वेद क्रमसे बहाने लगीं।
मंद होने लगी गति सहज चरणकी
आभरण खोलकर वे गिराने लगीं॥

रुक गये कृष्ण तब छद्मसे हो चकित
देखकर गोपियोंको थकित इस तरह।
भक्त-अनुरक्त आसक्त कब आत्ममें
पर अपरकी व्यथा कब नहीं है असह?

चर-अचरमय सकल सृष्टि है दृष्टिका
एक इंगित सहज सच्चिदानंदकी।
भासती मात्र लीला उसीकी यहाँ
ज्योति उसकी बनी सूर्यकी, चंदकी॥

प्राणका दंभ करने चली पुत्तली
कृत्य कर्ता स्वयंको लगा मानने।
सर्वमय खर्व करते सदा गर्वको
जन्म जिसको दिया असत्-अज्ञानने॥

देख आरंभ यह दंभका ईशने
एक कौतुक किया बात ही बातमें।
खो गये, हो गये दृष्टिसे दूर जो
थे अभीतक सभीके समुद साथमें॥

गोपियोंकी पलक भी झिपीतक न थी
फिर छिपी वह मनोहारिणी छवि कहाँ?
हो गईं वे विकल जल भरे नैनमें
रह गईं सब ठगी-सी जहाँकी तहाँ॥

क्या हुआ यह अरे, हे हरे, क्या करें
दीन हैं हम अकेली विपिनमें यहाँ।
ज्योति ज्यों लोचनोंकी गई हो, हमें
छोड़कर तुम भला हो सिधारे कहाँ?

देहका मोल क्या प्राणसे हीन जो
मीन जलसे बिछुड़कर जिये किस तरह।
चातकी स्वातिकी बूँद पाये न तो
अन्य जल वह अनल-सा पिये किस तरह॥

लक्ष नक्षत्र ले अंक निःशंक हो
सोम यह व्योमपर राजता है अभी।
इन लता तन्वियोंका तुनुक भार ले
वृक्ष सज्जा नई साजता है अभी॥

यह सलिलवाह लेकर तरंगें अमित
मोदसे मत्त गाता चला जा रहा।
क्या हुई भूल जो शूल-सा यह विरह
है हमें ही रुलाता चला जा रहा॥

एक क्षण था मिला क्षीण सौभाग्यका
अल्प हो, कल्प-सा ही लगा यों हमें।
स्वप्नने सत्यका रूप ले, मूर्त हो
धूर्त बनकर अचानक ठगा यों हमें॥

यह निशा यह दिशाओं-भरी चंद्रिका
चंद्र निस्तंद्र यह, घोर है यह विपिन।
हा सकें पा कहाँ ढूँढ़ लें जा कहाँ
रह सकें सह विरह किस तरह यह कठिन॥

यों बिलखती विविध भीतिके भावसे
घोर वनमें विकल हो सकल टेरतीं।
घेरकर भूमिको घूमतीं, ढूँढ़तीं
हो विफल हारकर शून्यको हेरतीं॥

दो दृगोंने गिरा जल विमल कर दिया
गोपियोंका हिया, प्रभु प्रकट तब हुए।
राधिकाने गही बाँह, उन्मादिनी
गोपियोंने शरणके चरण जा छुए॥

गोपी-गीत

नमो नमो पूर्णकाम हे नमो नमो
तुम विकार-रहित ब्रह्म जीवमें रमो।
त्याग सकल देह-धर्म
पावें हम आत्म-मर्म
हे सुकर्म चर्म-अंतरायको दमो।
जरा-मरण-भय अतीव
सहते हैं सभी जीव
मुक्त करो भीतिसे न अब तनिक थमो।
पाप-ताप दैन्य-दुरित
दूर जायँ सभी त्वरित
तोषयुक्त ! दोष दीनके सभी क्षमो।
देह-दंभ दमन करो
कृपा-कोर कम न करो
शमन करो विरह प्राण-प्राणमें रमो।

यों महारास-रस है बरस-सा रहा
है सरस यह रसा डोलती लोल-सी।
आजकी चाँदनीसे छनी यामिनी
है महीपर रहीं मत्तता घोल-सी॥

नाचते राधिका-संग माधव मुदित
नाचती सृष्टि सारी निहारी गई।
सोम रविके सहित स्वर्गकी छवि अमित
आज यमुना-किनारे उतारी गई॥

कृष्ण हैं एक ही, एक ही राधिका
किंतु आराधिका गोपियाँ हैं बहुत।
श्याम-उत्संगमें राधिका-अंगको
देखकर संगको व्यग्र-सी हैं बहुत॥

किंतु सहसा हुई एक घटना नई
हरि सभी गोपियोंके सहित हो गये।
एक ही ब्रह्म सब जीवमें रम रहे
गोपियोंके हृदय मल-रहित हो गये॥

नाचने-सी लगी यह रसा रासमें
अब्धिमें दूरतक पूर आने लगा।
स्वर्गमें यक्ष-गंधर्व-किन्नर-निकर
मत्त हो नाचने और गाने लगा॥

नाचने लग गये ग्रह-उपग्रह सभी
रह सके जड न, जड आज चेतन बने।
दूरकर देहका दाह देही रहा
विजित जगमें सजग मीनकेतन बने॥

रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी 'रामायणी')

(१).

आज श्रीअवधके प्रत्येक नर-नारियोंकी म्लान मुखश्री देदीप्यमान हो उठी है। प्रत्येकके हृदयमें आशाकी सुवर्णमयी किरणें चमक उठी हैं। सभी विभिन्न कार्योंमें संलग्न हैं। कोई हस्तियोंके पृष्ठभागपर मनोरम कनकमय हौदे सुसजित कर रहे हैं। कोई जीन रच-रचके चपल तुरंगोंको सुशोभित कर रहे हैं। इसी प्रकार नगरके गृह-गृहमें जनसमुदाय नाना प्रकारके वाहनोंको समुद्यत कर रहा है। सब-के-सब श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणकमलकी संनिधि प्राप्त करनेकी त्वरामें हैं। श्रीभरतलालकी सराहना करनेके साथ-साथ नागरिक परस्परमें कहते हैं कि आज बहुत विशाल कार्य सम्पन्न हो गया—

कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलै कर साजहिं साजू॥

इधर श्रीभरतलालने भी विश्वासपात्र अनुचरोंको नगर सौंपकर श्रीवसिष्ठको, विप्रवृन्दको, श्रीकौसल्यादि माताओंको और श्रीरामप्रेमोन्मत्त नागरिकोंको आदरपूर्वक प्रस्थान कराकर श्रीसीतारामजीके मङ्गलमय चरणसरसिजोंका स्मरण करके श्रीरघुनाथपददर्शनार्थ प्रस्थान किया—

सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम सिय चरन तब चले भरत दोउ भाइ॥

आज श्रीभरतलालकी काननयात्राका चतुर्थ दिवस है—शृंगवेरपुर दिखायी पड़ रहा है। किंचित् दिवस पूर्व श्रीराघव भी यहाँ एक रात्रि विश्राम कर चुके हैं। श्रीनिषादराजने प्रभुकी सम्पूर्ण सेवा की थी। परंतु आज श्रीभरतका आगमन सुनकर वे ही श्रीरामसखा निषादराज श्रीभरतके लिये स्वागत-सामग्रियोंका संकलन नहीं कर रहे हैं। वे उनसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित नहीं हो रहे हैं। अपितु इन सब क्रियाओंके प्रतिकूल कटकसहित श्रीभरतका आगमन सुनकर श्रीनिषादराजको अपने प्रेमास्पद श्रीराघवके अनिष्टकी आशंका हुई और वे लगे सविषाद विचार करने—

कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥

श्रीरामके वनगमनमें तो कारण था, परंतु श्रीभरतके काननगमनमें क्या कारण है? कारणरहित कार्य नहीं होता। अवश्य ही इनके मनमें कुछ कपट-भाव है। यदि श्रीभरतके मनमें कुटिल भावना न होती तो साथमें कटक लेनेकी क्या आवश्यकता थी? साथमें कटक लेना ही कुटिलताका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अवश्य ही चौदह वर्षके वनवाससे इनको संतोष नहीं प्राप्त हो सका। वे यह समझ रहे हैं कि राज्यपथमें कंटकस्वरूप श्रीरामलक्ष्मणको सर्वदाके लिये दूर हटाकर सानन्द राज्यसुखका उपभोग करेंगे।

श्रीनिषादराजने केवल विचार ही नहीं किया, अपितु वे भी श्रीभरतसे समर करनेके लिये संनद्ध हो गये—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥

श्रीभरतके साथ प्रत्यक्ष लोहा मैं लूँगा और जीते जी गङ्गा उतरने न दूँगा।

केवल श्रीनिषादराज ही समरोद्यत नहीं हुए, अपितु उनकी समस्त सेना भी अपने स्वामीके साथ श्रीरामकार्यमें अपने प्राणोंका बलिदान करनेको कटिबद्ध हो गयी। श्रीगुहराजकी ललकार सुनकर वीर सुभटोंने रोषपूर्वक जिन शब्दोंको वदनच्युत किया है, वे शब्द कितने ओजस्वी हैं—

राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥
जीवत पाउ न पाछें धरहीं। रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं॥

नाथ ! श्रीराघवेन्द्रके प्रचण्ड प्रतापसे एवं आपके बलसे हमलोग श्रीभरतकी सेनामें एक भी योद्धा तथा एक भी अश्व जीता न छोड़ेंगे । विश्वकी कोई भी शक्ति हमलोगोंको निष्प्राण किये बिना आगे बढ़नेमें नितान्त असमर्थ होगी । हम भगवती वसुन्धराको रुण्डमुण्डसे आच्छादित कर देंगे ।

देखा आपने श्रीभरतलालके प्रति गुहराज एवं उनके सुभटोंके द्वारा की गयी कुत्सित धारणाको—

यद्यपि यह ठीक है कि श्रीरामसखा निषादराज एवं उनके सम्पूर्ण सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे । उनका प्रेम तो उनके वचनोंसे और उनकी क्रियाओंसे ही स्पष्ट है । श्रीगुहराजके कितने मार्मिक, उपदेशपूर्ण और श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत ये वचन हैं ।

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा । राम काजु छनभंगु सरीरा ॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू । बड़ें भाग असि पाइअ मीचू ॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें ॥
साधु समाज न जाकर लेखा । राम भगत महुँ जासु न रेखा ॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू । जननी जौबन बिटप कुठारू ॥

श्रीगुहराज श्रीभरतसे समराङ्गणमें समर करके विजय-प्राप्तिका ध्यान भी मनमें नहीं लाते; वे तो यह समझते हैं कि भरतसे युद्ध करनेमें मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है । किंतु मेरी मृत्यु भाग्यवान्‌की मृत्यु होगी; क्योंकि युद्ध-भूमिमें मरनेसे वीरगति प्राप्त होती है । दूसरी बात यह है कि लोकपावनी गङ्गाके पवित्र तटपर मेरी मृत्यु होगी । तीसरे, क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाला यह शरीर श्रीराघवेन्द्र सरकारके कार्यमें आ जायगा । इससे अच्छा और क्या होगा ? कहाँ तो श्रीरामके भ्राता भरत और कहाँ मैं नीच जन; फिर श्रीभरत नरेन्द्र भी तो हैं ? बड़े भाग्यसे ऐसी मृत्यु मिलती है । मैं अपने राघव सरकार-के लिये समरभूमिमें युद्ध करूँगा और अपने यशसे चौदहों लोकोंको धवलित कर दूँगा । श्रीरघुनाथजीके निमित्त प्राणत्याग करूँगा । मेरे दोनों हाथोंमें आनन्दके मोद[क] हैं । अर्थात् मेरा लोक-परलोक दोनों सुधर जायगा सज्जनोंके समाजमें जिसकी गणना न हो और श्रीरा[म] भक्तोंमें जिसकी रेखा न हो, वह इस जगत्‌में व्यर्थ जी[ता] है । वह पृथ्वीपर भारस्वरूप है और उसके उत्पन्न होने[से] उसके माँका यौवन अकारण ही नष्ट हुआ । अस्तु !

श्रीगुहराजके भक्त सुभटोंकी भी कितनी भक्तिभ[री] उक्ति है । श्रीरामके प्रतापमें उनका कितना अटू[ट] विश्वास है । वे पृथ्वीको रुण्ड-मुण्डमय बना देने[की] प्रतिज्ञा करते हैं, किंतु यदि उनसे पूछा जाय कि तुम[में] इतनी प्रचण्ड शक्ति विद्यमान है कि तुम ऐसा विकरा[ल] कार्य कर सको ? तो वे कहते हैं ना भैया ना ! मुझ[में] इतनी शक्ति कहाँ जो मैं तिनका भी उठा सकूँ ? इ[स] कार्यके सम्पन्न होनेमें तो श्रीरामचन्द्रका प्रताप ही मुख[्य] निमित्त होगा—

'राम प्रताप नाथ बल तोरे'

अहा ! कितनी उत्कृष्ट भावना है ! श्रीरामप्रताप[में] कितनी अविचल श्रद्धा है !

श्रीगुहराजने श्रीभरतके प्रत्यक्ष समराङ्गणमें अपने[को] उपस्थित करनेका विचार किया, परंतु शस्त्रास्त्रसे सुसज्जि[त] होनेके पूर्व श्रीराघवेन्द्रका ही मङ्गलमय स्मरण करते दी[ख] रहे हैं—

'सुमिरि राम मागेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु'

श्रीनिषादराजके भक्त सुभटगण भी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जि[त] होनेके पूर्व कितना सुंदर स्मरण करते हैं—

'सुमिरि राम पद पंकज पनहीं'

विशेष—वीर सुभटोंने धनुष, तरकस, कव[च] शिरस्त्राण, परशु, भाले, बरछे और तलवार आदि स[ब] युद्धोचित सामग्रियोंका संकलन किया एवं स[ब] शस्त्रास्त्रोंसे अपने शरीरको सुसज्जित किया, परंतु [यह] क्या ? युद्धका एक प्रधान अस्त्र दिखायी नहीं पड़[ता]

जिसके अभावमें शत्रुके प्रचण्ड आघातसे अपनेको सुरक्षित रखना असम्भव नहीं तो दु:साध्य अवश्य होता है। उस अस्त्रका नाम है 'चर्म' अर्थात् 'ढाल'। कुछ महानुभाव 'एक कुसल अति ओड़न खांडे'के 'ओड़न' शब्दको 'ढाल'के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। कुछ विद्वान् समालोचक यह कह दिया करते हैं कि वे सुभटगण तलवारके आघातको अवरुद्ध करनेमें इतने समर्थ थे कि उन्हें ढालकी आवश्यकता ही न थी। इसी प्रकार अनेक संतोंकी अनेकानेक विचारधाराएँ हैं। मैं सबका सम्मान करता हूँ। परंतु मेरे परमपूज्य आदरणीय श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि सुभटोंने इस परमावश्यक अस्त्रसे अपनेको सर्वप्रथम सुसजित किया था। इनकी 'ढाल' बड़ी विशाल थी। जिस ढालके ऊपर विश्वके बड़े-बड़े अस्त्र टकराकर उसी भाँति निष्फल सिद्ध होते हैं, जिस भाँति पादपोन्मूलन शक्तिवाला वायुका वेग पर्वतोन्मूलनमें व्यर्थ सिद्ध होता है। वह 'ढाल' थी श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणसरसिजोंकी मङ्गलमयी 'पनहीं'। कितनी सुन्दर ढाल है। 'ढाल'को भी 'चर्म' कहते हैं। 'पनहीं' भी चर्मकी ही होती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि यद्यपि श्रीनिषादराज एवं उनके वीर सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे, परंतु विचारना तो यह है कि श्रीभरतलालके भावको उन्होंने कितना विपरीत समझा। जिन श्रीभरतके रोम-रोममें श्रीराम रम रहे थे, जिनका जीवन ही अपने श्रीरामके लिये था, जिन्हें अहर्निश अपने प्रेमास्पद श्रीरामकी ही याद रहती थी, जिन्होंने देवदुर्लभ अवधराज्यका परित्याग कर अपने श्रीराघवके लिये मुनिवेष धारण किया था, उन श्रीभरतके प्रति इनकी की गयी धारणा कितनी कुत्सित धारणा थी। यह भी ठीक है कि निषादगण-सहित निषादराज अपने श्रीरामके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको उद्यत है; परंतु विचारना तो यह है कि क्या श्रीभरत भी उनके प्राण लेनेकी धारणा करते हैं? ध्यानसे मनन करें कि आज परिस्थिति श्रीभरतके कितनी प्रतिकूल है। आज उनके प्रेमी हृदयको वनकी रहनेवाली जाति भी कपटमय समझ रही है। परंतु श्रीभरतके लिये तो श्रीनिषाद, श्रीरामके मङ्गलमय सखा हैं। सखाकी श्रेणी समानताकी है। अतएव श्रीभरतके हृदयमें तो इनके लिये महान् आदर है।

श्रीनिषादनाथने वीरोंके सुसज्जित दलको देखकर समरवाद्य वादित करनेकी आज्ञा दे दी। वीरोंमें उमङ्ग भी था। श्रीराम-कार्यके लिये बलिदान हो जानेका उत्साह भी था। श्रीनिषादनाथकी आज्ञा भी थी। परंतु युद्ध नहीं हुआ। सम्पूर्ण वीरसेना चित्र लिखी-सी खड़ी रह गयी। आगे बढ़ भी कैसे सकती थी? इन लोगोंने श्रीराघवेन्द्रके लोकोपकारक मनोहर चरणोंमें ध्यान जो लगाया था। श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनके स्मरणके पश्चात् भी दो श्रीरामभक्तोंका पारस्परिक संग्राम कैसे हो सकता था? क्योंकि यह कार्य अमर्यादित होता। श्रीरामके प्रतापका स्मरण करके कोई श्रीरामभक्त, श्रीरामप्राणप्रिय, श्रीरामप्रेमास्पद श्रीभरतलालके साथ विरोध-जैसा जघन्य कार्य कर भी कैसे सकता था? अतएव 'जुझाऊ ढोल' सुवादित करनेकी आज्ञा देनेके साथ-साथ श्रीनिषादनाथको शकुन-विचारकर्ताओंकी शरण लेनी पड़ी।

एतना कहत छींक भइ बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥

सगुन विचारकर्ताने छींकका फल बताया—

बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं॥

एक बूढ़ेने शकुन विचारकर कहा कि भरतजीसे मिलाप होगा, उनसे मिलिये, युद्ध न होगा। श्रीभरत श्रीरामचन्द्रको मनाने जाते हैं। शकुन ऐसा कह रहा है, अर्थात् हम अपने मनसे नहीं कहते, शकुन ही ऐसा बता रहा है कि श्रीभरतके मनमें विरोधभाव नहीं है।

शकुनफलश्रवणानन्तर भी परीक्षक गुहराजकी आशंका दूर न हुई। उन्होंने प्रेममय श्रीभरतलालको निष्कपट न माना। वे परीक्षा लेनेकी भावनाका परित्याग न कर सके। उन्होंने अपने वीरोंको सम्बोधित करते हुए अपनी भावनाको व्यक्त किया—

गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तस तब करिहउँ आइ॥

सबलोग सिमिटकर घाटको रोकनेका ठाट ठटो। मैं जाकर श्रीभरतसे मिलकर उनका भेद लूँ कि श्रीराघवेन्द्रके प्रति इनके मनमें विरोधभाव है या मित्रभाव है अथवा समानभाव है। श्रीनिषादने परीक्षण-सामग्रियोंका संकलन किया और विधिवत् संकलन किया। उनकी परीक्षण-सामग्रियाँ थीं भेंट-सामग्री। उन्होंने तीन प्रकारकी भेंटें एकत्रित कीं। ये तीनों प्रकारकी सामग्रियाँ भावपूर्ण सामग्रियाँ थीं और क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी द्योतिका थीं। पाठक सामग्रियोंपर ध्यान दें—

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥

श्रीनिषादराज भेंटका साज सजाने लगे। कन्द, मूल, फल, पक्षी और मृग मँगाये और कहाँर मोटी तथा पुरानी पहिना मछलियोंके भार भर-भरकर लाये।

विशेष—श्रीनिषादनाथ गुह भी बड़े अच्छे राजनीतिज्ञ थे। मित्र, शत्रु, मध्यगति-परीक्षणकी कितनी विचित्र युक्ति है? भेंटसे राजाके प्रति अपने कर्त्तव्यका निर्वाह भी हुआ; क्योंकि 'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं भिषजं गुरुम्' और उधर राजनीतिकी चाल भी चली गयी कि यदि श्रीरामके प्रति मित्रभावना होगी तो सत्त्वगुणी पदार्थ कंद-मूल-फल स्वीकार करेंगे; क्योंकि सत्त्वगुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति कन्द-मूल-फल ही रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं। सम्भवतः मुनिसमूह कंद-मूल-फलसे प्रेम इसीलिये करते हैं। यदि अरिभावना होगी तो रजोगुण पदार्थ खग-मृग स्वीकार करेंगे; क्योंकि रजोगुणी प्रकृतिवाले व्यक्तियोंका खग-मृगकी ओर झुकाव स्वाभाविक ही है। इसीलिये राजाओंके राजोद्यानमें खग-मृगकी बहुलता रहती है। यदि उदासीनता होगी तो तमोगुणी पदार्थ मीन-पीन-पाठीन पुराने स्वीकार करेंगे; क्योंकि घोर तामसिकोंका आहार है 'मीन पीन पाठीन पुराने'। सच्छास्त्रोंने मत्स्य-मांसको गर्हित बताया है। 'मत्स्यादः सर्वमांसादः।' अस्तु—

श्रीनिषादनाथने मिलन-वस्तुओंको सजाकर मिलनेके लिये प्रस्थान किया तथा श्रीवसिष्ठको देखकर दूरसे ही शिष्टाचारपूर्वक दण्ड-प्रणाम करके आशीर्वचन प्राप्त किये।

आइये श्रीभरतलालकी अनुरागमयी भावनाकी एक झाँकी करें।

श्रीवसिष्ठने श्रीभरतलालको समझाकर कहा कि यह उपस्थित हुआ व्यक्ति श्रीरामसखा गुह है। 'रामसखा' इस शब्दको सुनते ही श्रीभरत पुलकित हो उठे। उन्होंने रथका परित्याग कर दिया और प्रेममें उमँगते हुए निषादकी ओर चल पड़े—

रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

श्रीनिषादको दण्डवत् करते देखकर श्रीभरतने उठाकर उनको हृदयसे लगा लिया, मानो श्रीलक्ष्मण मिल गये हों। हृदयमें प्रेम अँटता नहीं—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

श्रीभरतलालकी भावनासे भावित होकर भूतलकी तो बात ही क्या अन्तरिक्ष भी आनन्दमय हो गया। देवगण श्रीनिषादके भाग्यकी सराहना करके पुष्प-वर्षा करने लगे—

धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥

जनसमुदाय ईर्ष्यापूर्वक श्रीभरत-प्रीति-रीतिकी प्रशंसा कर रहा है—

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥

श्रीभरतके निष्कपट प्रेमालिङ्गनको प्राप्तकर श्रीनिषादराज प्रेममय हो गये। क्यों न होते? प्रेमीका मिलन होता ही ऐसा है। तभी तो प्रेमियोंसे मिलनेके लिये प्रभु भी उतावले रहते हैं। श्रीनिषाद श्रीभरत-मिलनसे तो केवल प्रेममय ही हुए थे, किंतु भरतकी अनुरागसानी वाणी सुनकर तो भूल गये अपने-आपको एवं संकलन की हुई परीक्षण-सामग्रियोंके अर्पित करनेकी सुधिको—

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

धन्य है श्रीभरतलालकी प्रेममयी वाणी एवं भावनाको तथा उनके सौशील्यको। जिसके कारण श्रीभरतको कपटी एवं कुटिल समझकर परीक्षा लेनेकी भावनासे आये हुए निषाद भी श्रीभरतलालकी शील, स्नेह और त्यागमयी त्रिवेणीमें डूब गये।

आपके अभाव और अधूरापन

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥'

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ।'

आपके जीवनमें अतृप्ति, अभाव एवं असंतोष उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आप अपनी स्थिति और जीवनको, अपने गुण या अभावोंको दूसरोंसे विशेषतः अपनेसे अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति एवं अधिक योग्यतावालोंसे तथा हैसियतमें उच्च पद पानेवालोंसे तुलना करते हैं।

आप दूसरोंके समान उच्च स्थिति, सुन्दर वस्तुएँ और नाना समृद्धियाँ तो ले नहीं पाते, उलटे अपनेको तुच्छ, निर्बल, दीन-हीन समझने लगते हैं। अपनी अपेक्षा उच्च स्थिति, बड़े ओहदे और समृद्धिवालोंसे तुलना करनेपर हममें ईर्ष्याभाव उत्पन्न होता है। हम उनकी सुन्दर वस्तुएँ, उन्नत स्थिति और जीवनकी सुविधाएँ देखकर ईर्ष्याकी अग्निमें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं।

आपका मन चुपचाप आपसे कहा करता है, 'हाय! हम न हुए बड़े-बड़े मकानोंके मालिक! जमीनों, जायदादोंके अधिपति, मोटरकार और रेडियोके स्वामी। हे परमेश्वर! इस दुनियामें एक-से-एक बड़ा आदमी पड़ा है, किंतु क्या हमारे भाग्यमें यही गरीबी, यही बेबसी और अभाव लिखा है। हमारा यह पड़ोसी मजेमें रोज मेवा-मिष्ठान्न उड़ाता है, फलोंके ढेर लगे रहते हैं; इसके यहाँ एक-से-एक उत्तम वस्त्र और फैशनेबल वस्तुएँ हैं और इसकी पत्नी कितनी सुन्दर है। हमारे भाग्यमें फूहड़ नारी ही लिखी है। हमारे पास ठीक तरह लज्जा ढकनेतकको वस्त्र नहीं हैं, दूसरा दर्जनों कपड़ोंको संदूकोंमें सड़ा गला रहा है; उफ् हमारी कैसी विषम स्थिति है। हमारे पड़ोसीके दो पुत्र हैं, उधर हमारे तीन-तीन पुत्रियाँ हैं और सो भी निम्न मानसिक गुणोंवाली। हमारे चारों ओर वैभवका अमित भण्डार बिखरा दीखता है, किंतु हमारे भाग्यमें टूटा मकान और रूखी-सूखी रोटियाँ ही बदी हैं। काश! हम भी ऐसे ही ऊँचे पद, ऐसे ही समृद्धिके स्वामी, ऐसे ही स्वस्थ, सर्वगुणसम्पन्न, अमीर, प्रतिष्ठित और वैभवशाली होते।'

आपके इन उद्गारोंमें ईर्ष्या बोल रही है। सावधान! आप अपनी निम्न स्थितिको—जो आपके वशकी बात नहीं है—दूसरोंकी अच्छी स्थितिसे मिलाकर हीनत्वकी भावनाका अनुभव कर रहे हैं। सम्भव है, उनकी समृद्धिका कोई ऐसा गुप्त कारण हो, जो आपके वशकी

बात नहीं है । अनेक गुप्त कारणोंसे चली आती हुई उस समुन्नत स्थितिसे तुलनामें आप अपनेको साधारण पाकर दुखी हो रहे हैं । तुलना करनेमें आप उनकी केवल अच्छाई-ही-अच्छाईको तथा अपने जीवनकी बुराई-ही-बुराईको देख रहे हैं । आपका निर्णय एकपक्षीय है ।

अभाव, बुराइयाँ और निर्बलताएँ किसमें नहीं होतीं ? कौन हर दृष्टिसे पूर्ण है ? ये कमजोरियाँ मनुष्यमात्रमें सर्वत्र हैं । किसीमें शारीरिक, किसीमें नैतिक तो किसीमें मानसिक या बौद्धिक निर्बलताएँ हैं । आपने अपनी अच्छाइयों, उत्तमताओं और गुणोंको छोड़ अपने विषयमें तुच्छ तथा उसके मुकाबलेमें दूसरेके साधारण-से गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर देख लिया है ।

दूसरेका धन आपको बढ़-चढ़कर दीखता है तो अपनी गरीबीमें अभाव-ही-अभाव नजर आता है । दूसरेके पैसोंमें भी आपको अशर्फियाँ दीखती हैं, तो अपने रुपयोंमें भी पाइयाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं ।

दूसरेके साधारण स्वास्थ्यमें भी आपको पहलवान दीखता है । दूसरेके बच्चे आपको बल, पराक्रम और शक्तिसे भरे-पूरे नजर आते हैं तो अपने कुशाग्रबुद्धि बच्चे मन्दबुद्धि दीखते हैं । उनमें कोई बुद्धि, सौन्दर्य अथवा विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती ।

दूसरेकी साधारण-सी पत्नीमें आप उच्चकोटिका सौन्दर्य, नवीनता, अपूर्व आकर्षण देखकर मुग्ध हो उठते हैं, तो अपनी शील-गुणसम्पन्न, सती-साध्वी धर्मपत्नीमें फूहड़पन, अशिक्षा और मूर्खता देखते हैं । उसके द्वारा बनाया हुआ भोजन, सफाई, शिष्टाचार, बोलचालमें आपको कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती ।

अपना पेशा आपको सबसे बुरा, नीरस और श्रमसाध्य प्रतीत होता है; किंतु दूसरोंके कठोर पेशे भी बहुत अच्छे, आमदनीसे परिपूर्ण और आरामदायक लगते हैं । हम चाहते हैं कि दूसरों-जैसे हम भी सुख और सुविधाओंसे पूर्ण रहें । हम संगीतज्ञके मधु संगीतपर विमुग्ध हो उठते हैं और स्वयं चाहते हैं जैसे ही गाया करें, जब कि उनके द्वारा उठाये हुए श्र और बलिदानका हमें कोई ज्ञान नहीं होता ।

संक्षेपमें यों कहें कि दूसरा व्यक्ति, उसका जीवन परिवार, साधन, स्वास्थ्य, बाल-बच्चे आदि सभी हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं । उसका जीवन हमें बाहरसे सर्वगुणविभूषित, सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रतीत होता है जब कि हमें अपना सब कुछ अति साधारण, तुच्छ और बेकार-सा प्रतीत होता है । वास्तवमें ऐसा नहीं है । अपने विषयमें अपने परिवारके प्रति आप कितना बड़ा अत्याचार कर रहे हैं—यह आप नहीं जानते ।

हम दूसरोंके जीवनके बाह्य पहलूमात्रको ही देखते हैं । हमारा निर्णय एकपक्षीय होता है । हम केवल ऊपरी निगाहसे कुछ तत्त्वोंको देखकर दूसरोंके विषयमें बहुत ऊँची-ऊँची भ्रमात्मक कल्पनाएँ करने लगते हैं । हमारी आँखें दूसरोंकी खूबियोंमें मस्त हो जाती हैं । हमारी त्रुटि यह है कि हमारी वृत्ति बहिर्मुखी है । हम अपने जीवन और साधनोंको दूसरोंके मापदण्डोंसे नापते और दुखी होते रहते हैं । अभाव और ईर्ष्याकी अग्नियोंमें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं ।

तुलनात्मक दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाले दुःख तथा चिन्तासे मुक्त होनेका एक उपाय पुराने शास्त्रकारोंने इस प्रकार बतलाया है—

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ।'

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ ।'

वास्तवमें हर दृष्टिसे पूर्ण संसारमें कोई भी नहीं है । पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य सभीमें एक सुन्दरता या

गुण है, तो कई अवगुण भी हैं। मोर कितना सुन्दर पक्षी है। उसके सुन्दर रंगोंको देखकर मन अनायास ही प्रसन्न हो उठता है, किंतु तनिक उसके पाँव देखिये, कितने गंदे और कुरूप होते हैं। मुर्गेके सिरकी कलँगी कितनी रंगीन और शानदार प्रतीत होती है, पर कैसा घृणित है उसका भोजन। वह अभक्ष्य पदार्थ खाता है। बारहसिंगेके सींग कितने अच्छे मालूम होते हैं, पर वह कैसा दुर्बल होता है। सिंहका चर्म खूबसूरत, धारियाँ मुलायम देखने योग्य होती हैं, पर उसका खूँखारपन हिंसक दुष्प्रवृत्ति भयावह है। हाथीकी चाल शानदार है, पर उसका आलस्य निन्दनीय है। निष्कर्ष यह कि संसारके हर जानवरमें (और इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें भी) कोई-न-कोई अभाव है। एक अच्छाई है तो दो बुराइयाँ भी हैं। पूर्णरूपसे सुन्दर और उपयोगी कोई नहीं है। परंतु इन अभावोंके बावजूद अपने विशिष्ट गुणके कारण सब पशु-पक्षी प्रसन्न रहते हैं और अपने गुणप्रदर्शनसे दूसरोंके नैराश्यको दूर करते हैं। खेलते-कूदते, मधुर संगीतका उच्चारण करते और मस्त रहते हैं।

मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अभावसे पूर्ण है। किसीके पास स्वस्थ शरीर है तो सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य है तो शक्ति नहीं है। शक्ति है तो चरित्र नहीं है। चरित्र है तो खाने-पीनेके लिये पैसा नहीं है। सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्च पद नहीं है। कोई शरीरसे स्वस्थ है तो अनेक पारिवारिक अड़चनोंमें डूबा हुआ है। किसीको बच्चों-की शिक्षा, विवाह आदिकी चिन्ता है तो किसीके बाल-बच्चे हैं ही नहीं। किसीको सौ-सौ बीमारियाँ लगी हुई हैं। कोई समाजमें निम्न वर्णमें पड़ा सवर्णोंसे ईर्ष्या कर रहा है। कोई नौकरीके लिये परेशान है तो किसीका व्यापार नहीं चल रहा है। किसीमें अच्छी स्थिति होते हुए भी बचत नहीं है, समृद्धि नहीं है। कोई मादक द्रव्योंके मादक संसारमें सुखके लिये भटक रहा है। जितने मनुष्य हैं, उतने ही उनके अभाव हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें कहीं-न-कहीं अधूरापन है। अपूर्णता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वगुणसम्पन्न हो, चिन्तामुक्त हो, सर्वोत्तम स्थितिमें हो या हमेशा प्रतिष्ठित रहा हो।

जीवनका पथ समतल भूमि नहीं है। कहीं उसमें सपाट भूमि है तो कहीं कंकड़-पत्थर, काँटे बिखरे हुए हैं; कहीं पुष्पोंसे युक्त सुन्दर सुगन्धित हरे-भरे वृक्ष हैं तो कहीं काँटोंसे भरे बीहड़ जंगल भी हैं। कहीं कठिनाइयोंके दुर्वह पर्वत हैं तो कहीं सुख-सुविधा-प्रतिष्ठाके सुन्दर रमणीक दृश्य भी हैं।

अपने अभावोंको ही देखते रहना और अपनी दुर्दशापर रोना-कल्पना, गिरी हुई स्थितिपर कुढ़ना, दोष देना अपनी उन्नतिमें बाधा उपस्थित करना है। अपनी दुर्बलता देखनेसे दुर्बलता और दोषोंकी ही वृद्धि होती है। अभाव, दुःख, कमजोरी, गरीबीके कुविचारोंसे वैसी ही दुःखदायक विषम स्थिति उत्पन्न होती है। अपना सत्-चित्-आनन्दस्वरूप—आत्मरूप—ही देखना न्याय है।

ईश्वरको धन्यवाद दीजिये कि आपके पास स्वास्थ्य है, शक्ति है, सामर्थ्य है, रूप और गुण है। निश्चय जानिये, आपकी योग्यताएँ बहुत हैं। केवल उनपर आलस्य, कुविचार और अज्ञानका गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। आपको ऊँचा उठकर सद्विचार, सद्ग्रन्थावलोकन, शुभचिन्तन और दृढ़ संकल्पद्वारा अपनी गुप्त शक्तियोंको पहचानना है, विकसित करना है। आप अपने सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियोंको देखिये और उसी दिशामें अपना विकास कीजिये।

अधूरापन, अभाव तथा अशान्ति दूर करनेके लिये

आप अपनेसे नीचेवालोंकी स्थितिसे अपनी तुलना कीजिये । उनसे तुलना करनेपर आपको अपनी शक्तियों, सुविधाओं और अच्छाइयोंका ज्ञान हो सकता है। आपके भाग्यमें उच्चतम शक्तियाँ आयी हैं । इनके लिये परमपिता परमेश्वरको धन्यवाद देते हुए आगे बढ़ने, विकसित होनेके लिये निरन्तर संघर्ष कीजिये ।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥

अर्थात् 'उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ।'

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

आहार

आहार-शुद्धिपर हिंदू-समाजने बहुत अधिक ध्यान दिया है । आहारमें स्वरूप-दोष, संसर्ग-दोष और भाव-दोष—ये तीन प्रकारके दोष माने गये हैं । इन तीनों दोषोंसे रहित आहार ही ग्राह्य है । आहार-शुद्धिसे ही सत्त्वशुद्धि होती है और सत्व-शुद्धिसे अन्तर्मुखता प्राप्त होती है, अतएव अन्तर्मुखता जिस समाजका लक्ष्य है, उसका पूरा ध्यान आहार-शुद्धिपर हो, यह स्वाभाविक है ।

आहार सात्त्विक होना चाहिये । कन्द-मूल-फल और गोरस तथा मधु—ये पूर्ण सात्त्विक आहार हैं । अन्न राजस आहार है और मांसादि तामस । समष्टिरूपसे यह भेद होनेपर फिर इनमेंसे प्रत्येकमें भी सात्त्विक, राजस, तामस-भेद होते हैं । आदि युगमें मनुष्यका आहार पूर्ण सात्त्विक था । द्वापरके अन्ततक राजस और तामसमेंसे भी उनका सात्त्विक भाग ही ग्रहण किया जाता था । जैसे अन्नमें गेहूँ आदि सात्त्विक हैं, परंतु बासी, कटु, अत्युष्ण आदि होनेपर वे तामस या राजस हो जाते हैं । आदर्श तो यह है कि सात्त्विक आहारपर ही रहा जाय; परंतु यदि ऐसा न हो सके तो राजसके भी सात्त्विक-रूपसे ही काम चलाना चाहिये । अन्न, फल प्रभृति भी गंदे स्थानों और गंदे जलसे उत्पन्न हों तो उन्हें शास्त्रने त्याज्य बतलाया है । आज डाक्टर स्वीकार करते हैं कि गंदे नालेके जलसे सींचे वृक्षोंके फल तथा शाक और गंदी खादसे उत्पन्न अन्न अनेक बीमारियोंके कारण होते हैं । इतनेपर भी आज वैज्ञानिक खादोंकी प्रशंसा होती है । गंदगीको खादके उपयोगमें लेनेकी योजनाएँ बनती हैं । उस गंदगीसे उत्पन्न अन्नादिका भोजन करके मनुष्य चाहता है कि वह स्वस्थ रहे, उसका मन पवित्र रहे । देखकर भी वह नहीं देखता कि अन्न, फल, शाकमें वे तत्त्व आये बिना रह नहीं सकते, जो उस भूमिमें हैं; जिसमें वह अन्न उत्पन्न हुआ है । आयुर्वेदके विद्वान् जानते हैं कि अयुक्त स्थलपर उत्पन्न ओषधि गुणहीन होती है और कभी-कभी विपरीत परिणाम भी प्रकट कर देती है ।

कनेरके श्वेत फूलोंको डंठलसहित तोड़ लीजिये । उनके डंठलको ऐसे पात्रमें डुबो दीजिये, जिसमें लाल या नीला रंग जलमें मिला हो । कुछ घंटोंमें पुष्पोंपर वह रंग स्पष्ट दीखने लगेगा । यह बात सिद्ध करती है कि भूमिके सब तत्त्व अपना बदल नहीं जाते । कुछ उसमें पहुँचते ही हैं । आजकल लोग मधुमक्खियाँ पालते हैं । आसपास शीरेके पीपे रख देते हैं । मक्खियाँ वह शीरा ले जाकर छत्तेमें भर देती हैं। जैसे इस प्रकारके छत्तेका मधु शुद्ध मधु नहीं है और इसीलिये वैद्यक ग्रन्थोंमें नगरोंमें लगा तथा जहाँ हलवाइयोंकी दूकानें हों वहाँ लगा मधु गुणकारी नहीं कहा गया है, वैसे ही कृत्रिम तथा गंदी खादोंसे उत्पन्न फल तथा अन्न भी शुद्ध नहीं हैं। वे शारीरिक रोग और मानसिक विकृति उत्पन्न करते हैं ।

आहारमें दूसरा दोष संसर्गज होता है । यह तीन प्रकारका है—सजातीय, विजातीय, और स्वगत । एक पदार्थ अमुक समयके पश्चात् दूषित हो जायगा, यह अमुक समयमें लेनेसे हानि करेगा, उसका स्वगत विकार है । अमुक पात्रमें बनाने या रखनेसे, अमुक पदार्थके साथ अमुकके मेलसे, अमुक पदार्थ अमुकके पास रखनेसे हानिकर हो जायगा, यह

सजातीय भेद है। अमुक व्यक्ति या भोज्य पदार्थोंसे भिन्न वस्तुके स्पर्शसे जो विकार आते हैं, वे विजातीय विकार हैं। आज डाक्टर कीटाणु-विज्ञानको लेकर स्वच्छतापर अत्यन्त बल देते हैं। बात-बातमें गर्म पानी और साबुनसे हाथ धोना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है; परंतु भारतीयके बार-बार हाथ धोनेका उपहास किया जाता है। कीटाणु तो समझमें आते हैं और स्वच्छता आवश्यक जान पड़ती है; परंतु प्रत्येक पदार्थ एवं व्यक्तिसे निरन्तर परमाणु निकलते हैं एवं समीपस्थ तथा संसर्गमें आनेवाली वस्तुओंमें प्रवेश करते हैं, यह बात स्मरण नहीं होती। इन परमाणुओंमें उस पदार्थ या व्यक्तिके शरीरगत एवं विचारगत सब गुण-दोष होते हैं, यह बात समझमें आ जाय तो हिंदूकी पवित्रता तथा स्पृश्यता-अस्पृश्यताका रहस्य समझनेमें कठिनाई नहीं होगी।

भोज्य-पदार्थमें एक दोष भावका होता है। सब जानते हैं कि यदि भोजनके समय भोजनके प्रति रुचि न होकर घृणा हो जाय तो उसका पाचन ठीक नहीं होता। यह बात अपने-तक ही सीमित नहीं है। दूसरेकी भावना भी यदि हमारा भोजन देखकर खराब होगी तो भोजन हमें अनुकूल फल नहीं देगा। उससे हानि हो सकती है। अतएव भोजन एकान्तमें करनेका विधान है और ऐसे पदार्थ त्याज्य माने गये हैं जो अपनी आकृति आदिके कारण कोई अयुक्त भाव उत्पन्न करते हैं।

आहारमें एक बात और भी परम आवश्यक मानी गयी है, वह है द्रव्य-शुद्धि। अन्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त किया हुआ आहार मन और बुद्धिको बिगाड़ता तथा वृत्तिको सर्वथा बहिर्मुख कर देता है।

जहाँतक भोजनोंकी विविधताका प्रश्न है षड्रस एवं चतुर्विध भोजन (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय) मेंसे प्रत्येकमें अनेक प्रकार प्रचलित थे। छप्पन प्रकारके व्यंजन तो इस देशमें प्रसिद्ध ही हैं; परंतु हिंदू-समाजमें यह सब विस्तार जिह्वाकी तृप्तिके लिये विहित नहीं है। वानप्रस्थ तो वन्य कन्द, मूल तथा मुन्यन्नोंपर निर्वाह करे, ऐसी आज्ञा है। संन्यासी जहाँतक हो सके वानप्रस्थके यहाँसे भिक्षा करे और गृहस्थके यहाँसे भिक्षा लेना हो तो सबके भोजन कर चुकनेपर तीसरे प्रहरके प्रारम्भमें भिक्षाटन करने जाय। ब्रह्मचारी कच्चे अन्नकी भिक्षा ले और उसे गुरुदेवके सम्मुख रख दे। गुरु जो उसके लिये उपयुक्त समझकर उसे दें, उससे क्षुधा-शान्ति कर ले। तीन आश्रम तो ये तपस्याके आश्रम हुए और ब्राह्मण गृहस्थ वनवासी थे ही। गृहस्थके लिये कहा गया है कि यदि वह केवल अपने लिये भोजन बनाता है तो पाप खाता है। अतिथिके लिये, आराध्यको निवेदित करनेके लिये वह विविध व्यंजन प्रस्तुत करता है। बलिवैश्वदेव करके अतिथि, ब्राह्मण, सेवकादिको देकर जो बचे, वह यज्ञशेष है। वही उसका भाग है। जिह्वाकी तृप्तिको उसमें अवकाश नहीं।

स्वागत-सत्कार

शिष्टाचारकी बात तो पृथक् ही वर्णन करनेयोग्य है; परंतु स्वागत-सत्कारमें और भी बहुत-सी बातें हैं। हिंदू-समाजमें अतिथि तो आराध्यका रूप है। उससे जाति, कुल, उद्देश्य पूछनेकी आज्ञा नहीं। घरपर अतिथि आवे तो गृहस्थका सौभाग्य। उसे मानना चाहिये कि स्वयं उसके आराध्य पधारे हैं। इसी दृष्टिसे सब सेवा-सत्कार उसे करना चाहिये। हिंदू-समाजमें सुगन्धित अर्घ्य देने और चरण धुलवाने या धोनेकी अत्यन्त सुरुचिपूर्ण, स्वास्थ्यप्रद प्रथा थी। दुर्भाग्यसे अर्घ्यका लोप हो गया।

अतिथिके समान ही ब्राह्मण भी पूज्य होते हैं। द्वापरतक कहीं किसीके घरमें जानेके लिये ब्राह्मणको पूछना नहीं पड़ता था। राजाके अन्तःपुरसे झोंपड़ीतक कोई ब्राह्मण चाहे जब अबाध जा सकता था।

किसी अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति या राजाके निकलनेपर, उत्सवोंके समय घरोंके ऊपरसे पुष्प, लाजा (धानकी खीलें) बालिकाएँ और स्त्रियाँ डालती थीं। द्वारोंपर मङ्गल कलश और प्रदीप सजाये जाते थे। दूर्वा, अक्षत, केसर तथा दधिके द्वारा एक दूसरेका अभिषेक करते थे। मार्गपर वस्त्र (पाँवड़े) बिछाये जाते थे, उस सम्मान्य जनके आनेके लिये।

हाथी, घोड़े ये भारतीय स्वागत-सत्कारमें भाग लेते। वृषभ और गोमाता सदासे हिंदुओंकी पूज्य हैं और नाना प्रकारके भेरी, नफीरी, वंशी आदि वाद्य स्वागतसमारोहमें प्रयुक्त होनेपर भी हमारा मङ्गल-वाद्य शङ्ख ही है। शङ्ख हिंदू-समाज और हिंदुस्थानका राष्ट्रिय वाद्य है। वह मङ्गलवाद्य एवं युद्धवाद्य भी है।

मनोरञ्जन

किसी भी जातिकी आन्तरिक प्रवृत्ति उसके मनोरञ्जनके साधनोंमें स्पष्ट होती है। हिंदू-समाजके मनोरञ्जनके साधनोंमें एक ओर ललित कलाएँ हैं। उन चौसठ कलाओं-

मेंसे अब बहुतोंका लोप हो गया है। कुछके अपूर्णांशको लेकर ही आजके महान् कलाकार धन्य हो जाते हैं। इनमें काव्य, चित्र, नृत्य, गान, वाद्य प्रभृति सभी कलाएँ हैं। प्राचीन समयमें ये सब कलाएँ आदरकी दृष्टिसे देखी जाती थीं। इन सबमें मनुष्यको अन्तर्मुख करनेकी प्रेरणा ही कलाकी सार्थकता मानी जाती थी। इनके अतिरिक्त अनेक साधन मनोरञ्जनके थे, जो अपने वर्णधर्मकी शिक्षामें सहायता देते थे। आजका प्रसिद्ध बौद्धिक खेल शतरंज पुराने 'शत्रुंजय' क्रीड़ाका ही एक सरल रूप है। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस क्रीड़ाका जो वर्णन है, वह आज समझना भी कठिन है।

कन्दुक-क्रीड़ा—गेंद खेलना, यह खेल पहले बच्चों और स्त्रियोंके योग्य ही माना जाता था। इसमें जितना साधारण शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम होता है, वह शिशुओं या नारियोंके लिये तो ठीक है, पर शक्तिशाली पुरुषका व्यायाम उससे होता नहीं। आजकलके कोमलकाय, हीनशक्ति पुरुषोंकी बात मैं नहीं कहता। हिंदू-समाजका जो पुरुष खुली भूमिपर केहरीको खाली हाथों मल्लयुद्धके लिये ललकार सकता था, उसकी क्रीड़ा मल्लयुद्ध या तैरना या आखेट ही हो सकती थी। राजकुमार घोड़ोंपरसे एक प्रकारकी कन्दुक-क्रीड़ा करते थे। उसका जो वर्णन है, उससे जान पड़ता है कि वह वर्तमान 'पोलो' से मिलता-जुलता कोई खेल होगा।

मनोरञ्जनकी दूसरी विधि होती है समाजके सामूहिक समारोह। हिंदू-समाज इस सम्बन्धमें आज भी विश्वमें सबसे आगे है। यहाँ 'सात वार नौ त्योहार' प्रसिद्ध कहावत है। इन सब पर्वों तथा उत्सवोंमें पूजा, पाठ, जप, देवयात्राहीका विधान होता है। जीवनका प्रत्येक अंश यदि अन्तर्मुख होनेके प्रयत्नसे सार्थक न हो, तो संस्कृतिका उद्देश्य कैसे पूर्ण होगा।

हिंदू-संस्कृतिने कभी शरीरको महत्त्व नहीं दिया और कभी मृत्युको जीवनसे अधिक महत्त्वशाली नहीं माना। हमारे यहाँ शरीरका मोह त्याज्य है, हेय है। अतएव हमारे उत्सवों, प्रथाओंमें ऐसा कोई भाव नहीं, जिससे शरीर या मृत्युको महत्ता मिले। जो असुर शरीरको महत्त्व देनेवाले थे, वे हमारे शास्त्रोंमें तिरस्कृत हुए। इसीलिये हमारे यहाँ आत्मकथा, अनुपयोगी जीवनियाँ, अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखने-लिखानेकी परिपाटी कभी नहीं थी। मृत पुरुषोंकी न तो समाधियाँ बनायी जाती थीं, न स्मारक। मरण-तिथि मनाना तो मृत्युको जीवनपर महत्त्व देना है। हिंदू-समाजने जयन्ति जन्मतिथि तथा विजय-दिवस मनाना श्रेयस्कर माना है।

पाश्चात्त्य संस्कृति शरीरको महत्त्व देती है। अतः मृ वहाँ बहुत बड़ी घटना है। शरीरको सुरक्षित रखनेकी वृ ही कब्र, समाधि आदि बनवाती है और आगे फिर उ वृत्तिसे प्रेरित स्मारक बनते हैं। आत्मकथा या जीवनी इ वृत्तिका दूसरा रूप है। इसी प्रकार अभिनन्दन-ग्रन्थ त अनेक प्रणालियाँ पाश्चात्त्य देशोंकी अब भारतीय समा स्वीकार करता जा रहा है। भगवान् बुद्धके समयमें समाधि बनने लगी थी। हिंदू-समाजपर यह आक्षेप भी कि जाता है कि हम महान् व्यक्तियोंका उपयुक्त आदर कर नहीं जानते और इतिहास नहीं रखते। प्रश्न तो यह है कि कोई व्यक्ति चाहे जितना महान् हो, उसके प्रति सच्चा आद क्या है? उसके जीवनवृत्तको गाना, उसकी मूर्तियाँ स्थापि करना या उसने जिस सत्य, मङ्गल-तत्त्वका साक्षात्कार किया है उसे अपना लेना? लेनिनका शरीर रूसमें सुरक्षित है; प उसके सिद्धान्त? भारतमें महात्मा गान्धीजीके प्रति आद बहुत किया जाता है, पर उनके अनुयायी कितना उनके आदर्शका पालन कर रहे हैं?

हिंदू-समाजकी मान्यता है कि शरीर नश्वर है। उसक स्मरण कोई अर्थ नहीं रखता। ध्यान एवं चिन्तनयोग्य त भगवान्के नित्य दिव्य शरीर और उनके अवतार-चरि हैं। भगवान्के भक्तोंका ध्यान तथा उनके चरित भी हृदयक पावन करते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्ति अपने या दूसरे शरीरको महत्ता दे, यह वृत्ति बहिर्मुखताको उत्तेजित कर है। महान् व्यक्ति कैसे रहते थे, क्या खाते थे, कहाँ जन्मे यह सब तो उनके नश्वर शरीरको महत्ता देना है। अवश् ही उनके जीवनमें जो घटना हमारे लिये कल्याणप्रद हो शिक्षा देती हो, वह सुरक्षित रखनी चाहिये। उन महापुरुषों जिस तथ्यको समाजके लिये अर्पित किया है, वही उनक शाश्वत शरीर है। वही आदरणीय है। हिंदू-समाज चा बाणभट्ट, वररुचि, वाराहमिहिर, कालिदास, पतञ्जलि कणाद, गौतम आदिके शारीरिक जीवनको न जाने, पर हमारे हृदयोंमें वे चिरजीवी हैं। उनके मङ्गलप्रयत्नोंको जि आपत्तियोंमें जितनी कठिनाइयोंसे रक्षित रक्खा गया है, व हमारी श्रद्धा प्रकट करनेके लिये पर्याप्त होना चाहिये। कालके सहस्रों युगोंके विस्तारमें दूसरे स्मरण स्थिर रख

सम्भव हैं क्या ? शरीर नाशवान् है तो उसके स्मारक नाशवान् न होंगे ? फिर शरीरको महत्ता दी क्यों जाय ? आज यदि शेक्सपियरके नाटक गुप्त हो जायँ ? उसका एक चित्र या जूता रहा तो और न रहा तो। चाहे जितने उपाय हों वह एक दिन तो नष्ट होगा ही। अमृतपुत्र मानव नश्वर पदार्थोंको महत्त्व दे, यह ज्ञानका लक्षण नहीं है। एक महापुरुष, जो 'शरीर' और 'नाम' की सीमाको लाँघकर अमृतराज्यमें प्रवेश कर चुका है, उसके शरीर और 'नाम' की पूजा तो एक प्रकारसे उसके ज्ञानस्वरूपका तिरस्कार ही है।

आज प्रत्येक राष्ट्र अपने इतिहासका इस प्रकार निर्माण करना चाहता है, जिसमें देशकी भावी संतति राष्ट्रके माने हुए उद्देश्योंकी ओर अग्रसर हो सके। घटनाओं तथा व्यक्तियोंकी अपेक्षा उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह ऐतिहासिक विद्वान् अब मानने लगे हैं। हिंदू-समाजका उद्देश्य वर्तमान पाश्चात्य-विचारधारासे सर्वथा भिन्न है, यह दूसरी बात—परंतु अनादिकालसे अपने उद्देश्यके अनुरूप हमने अपने इतिहास-का संकलन किया है। हम जिसे व्यर्थ मानते हैं, वही दूसरेके लिये ग्राह्य हो तो बात भिन्न हो जाती है। आजकी शिक्षा ही प्राचीन शिक्षासे भिन्न है।

हिंदू-समाजकी शिक्षा-पद्धति

बालकोंकी शिक्षा उसी प्रकार होनी चाहिये, जिस प्रकार वे समाजमें आदर्श व्यक्ति बन सकें। समाजका आदर्श जैसा होगा, शिक्षाका आदर्श भी वैसा ही बनेगा। आजका समाज भोगप्रधान है। आजका आदर्श पुरुष है पर्याप्त धनी, बड़ा विद्वान्, महान् वक्ता या लेखक अथवा वैज्ञानिक। मनुष्यने अर्थको प्रधानता दे दी है और अर्थको पानेके लिये बौद्धिक विकास उसका आदरणीय है। आजके समाजमें आचरणका महत्त्व ही नहीं है। समाजके अग्रगण्योंके व्यक्तिगत आचार अनेक बार सामान्य जनके लिये आश्चर्यजनक होते हैं। वरं यहाँतक कहा जाता है कि किसीका 'सामाजिक जीवन' देखना चाहिये। 'व्यक्तिगत जीवन' चाहे कैसा ही हो ! मनुष्यकी इस आचारहीनताको वे सोचतक नहीं सकते। फलतः आजकी शिक्षामें व्यक्तिके आचरणकी कोई महत्ता नहीं है। शिक्षाका अर्थ है अर्थोपार्जन-की युक्तियाँ सीखना और बुद्धिका विकास।

आजकी शिक्षामें आचार्यका कोई महत्त्व नहीं है। जब शिक्षामें शीलकी भावना ही नहीं तो 'गुरु' की क्या आवश्यकता ? आज तो केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना है। अध्यापक 'वेतनभोगी सेवक' हैं और मूल्य देकर घरपर उन्हें बुलाकर पढ़ा जा सकता है। आजकी शिक्षामें दोष भी बहुत-से हैं; वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उचित नहीं है। उससे योग्यताकी परीक्षा नहीं होती। विद्यार्थीको उसकी रुचिके विपरीत शिक्षा देनेसे उसका बौद्धिक विकास मारा जाता है। ये ऐसे दोष हैं, जिन्हें समाजने समझ लिया है। इन्हें दूर करनेके प्रयत्न अनेक देशोंमें हुए हैं। मुख्य प्रश्न तो उद्देश्यका है। आजके समाजका उद्देश्य है—अनियन्त्रित भोग। सहशिक्षा आचारके रहे-सहे बन्धनको भी समाप्त कर देगी। आजके छात्रोंका शील तो उनके अध्यापक जानते ही हैं; जिन्हें निरन्तर अपने शिष्योंके द्वारा पीटे जानेकी आशंका बनी रहती है और उपहास तथा अपमान तो नित्यकी सेवा-पूजा है !!

हिंदू शिक्षा-पद्धतिके पाठ त्याग, संयम, श्रम, सेवा और श्रद्धासे प्रारम्भ होते हैं। पुस्तकीय बौद्धिक ज्ञान तो गौण वस्तु है। पाँचसे बारह वर्षके मध्यमें ही द्विजातियोंके बच्चोंका यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाता था। माता-पितासे दूर बच्चे वनमें भेज दिये जाते थे। यह पहला पाठ मिलता था मोह-त्यागका। सम्राट्से लेकर भिक्षुकतकके बालक एक वेशमें, एक स्थानपर वर्षोंतक साथ रहते थे। यह समताका पाठ था। 'गुरुदेव ही आराध्य हैं, उनकी सेवा-आज्ञापालन ही सब कुछ है।' यह श्रद्धा थी और ब्रह्मचर्याश्रमके त्यागमय जीवनका तो पूछना ही क्या। छोटे-छोटे बालक मूँजकी मेखला पहिनते, वनसे समिधाएँ और फल एकत्र करते। भूमिपर सोते। हवन करते। भोजनके लिये भिक्षा माँग लाते और गुरुदेवके सम्मुख रख देते। गुरुदेव उसमेंसे जो उपयुक्त समझते, वह दे देते और शेष रख लेते। बाल बनवाना, तेल लगाना, शृङ्गार करना, दर्पण देखना, व्यर्थ हास-परिहास करना, खेल-तमाशे देखना, नाच गान करना, जूते पहनना आदि सब मना और रहना था दिन-रात गुरुदेवके समीप। संयम, सादगी, सदाचार, कष्ट-सहिष्णुता यही तपोवनकी शिक्षा थी। (आजके बोर्डिंगहाउसोंका रहन-सहन और कालेजकी शिक्षा इससे ठीक विपरीत है।)

शिक्षा ! किसीको पूछनेका अधिकारतक नहीं कि गुरुदेव कुछ पढ़ायेंगे भी या नहीं। बौद्धिक शिक्षाका क्या अर्थ ! गुरुदेवके आश्रमका निवास ही तो शिक्षा है। जब कभी

किसी छात्रपर गुरुदेव प्रसन्न होते; समझ लेते कि यह अमुक बौद्धिक ज्ञानका अधिकारी हो गया है। उसे ठीक-ठीक समझनेकी क्षमता इसमें इस समय है और यह इसका दुरुपयोग नहीं करेगा तो उस प्रकारके ज्ञानके सूत्र शिष्यको सुना देते। शिष्य उतनेसे धन्य हो जाता। ठीक समय जब बुद्धि ग्रहण करनेको प्रस्तुत हो, उसमें क्षमता हो, किया गया उपदेश पूर्णतः ग्रहण हो जाता है। मस्तिष्कपर भार नहीं पड़ता। इसके साथ प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों हो सकता है। आज विज्ञानके आविष्कारोंका दुरुपयोग हो रहा है। तपोवनोंमें रुचि, अधिकार, क्षमताके अनुसार ही शिक्षा मिलती थी। समाजका भावी जीवन जिन तरुणोंपर अवलम्बित था, वे गुरुगृहसे श्रद्धा, संयम, त्याग, तितिक्षा, कष्टसहिष्णुता और श्रम करनेका स्वभाव लेकर आते थे। उनके समीप उनकी रुचि, योग्यताके अनुरूप ज्ञान होता था।

शिक्षा प्राप्त करके तरुणने समाजमें प्रवेश किया। वह गृहस्थ बना। उसे स्मरण रखना है कि यह गृह उसका वास्तविक गृह नहीं है। वह जिस तपोवनसे लौटा है, वैसे ही तपोवनमें उससे अधिक तपके लिये उसे पुनः लौट जाना है। दूसरी बार न उसके वे दयामय संरक्षक गुरुदेव होंगे और न वे सहृदय साथी। उसे एकाकी रहना होगा। यह उसे विश्रामका एक समय मिला है। इसमें यदि वह अपने स्वभाव एवं अभ्यास बिगाड़ लेगा तो बड़ा कष्ट पायेगा। तपोवनकी शिक्षा भूलनेका अवसर ही नहीं है उसके लिये।

हिंदू-समाज तरुणोंका समाज है। बालकोंको शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। जब शरीरकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब आसक्ति बढ़ती है। जीवनके प्रति मोह बढ़ता है। शरीरकी, स्वास्थ्यकी चिन्ता बढ़ती है। इस समय समाजमें मनुष्य रहेगा तो वह आसक्त, शरीरसेवी, बहिर्मुख बन सकता है। अतः उसे तपोवन चले जाना चाहिये। तपस्याके द्वारा शरीरासक्तिपर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिये। समाजके संचालनका अधिकार सक्षम, सशक्त, परिश्रमी, बुद्धिमान् तरुणोंके हाथमें ही रहना चाहिये। यह स्वस्थ सबल हिंदू-समाजका स्वरूप है।

कुछ भी हो; मनुष्य बहिर्मुख न बने और न आचारका त्याग करे। जो नियम, संयम अपनी शक्तिके बाहर हों, उनका संकल्प लेकर दम्भ और प्रमादको आश्रय न दिया जाय। शास्त्रोंने कलियुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन आश्रमोंका निषेध किया है। इनके नियम आजकी शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताके कारण पालन नहीं किये जा सकते। शास्त्रोंकी शिक्षाका उद्देश्य है—अन्तर्मुख बनाना। अपनी शक्तिके अनुसार त्यागमय जीवन व्यतीत करना।

समाजका आधार

आजका समाज अर्थपर निर्भर है; अतः अर्थसे ऊपर बात आज सोची ही नहीं जा पाती। आजके साम्यवादी आर्थिक साम्य उपस्थित करना चाहते हैं। वे पुराने समाजको 'सामन्तवादी समाज' कहते हैं। जैसे आधुनिक इतिहासके श्रुतियोंका समय निर्धारित करने बैठते हैं और कुछ सहस्र वर्ष मानवसभ्यताका काल मानकर संतोष कर लेते हैं, वैसे ही आजके राजनीतिक एवं अर्थशास्त्री विद्वान् पुराने समाज-निर्माणको समझनेमें असमर्थ होकर उसे सामन्तवादी राज्यतन्त्र आदि कहने लगते हैं। वे उस समयके सामाजिक गठनको समझ ही नहीं पाते।

हिंदू-समाजकी रचना समझनेके लिये हमें यह मुख्य बात सदा ध्यानमें रखनी होगी कि शास्त्रोंने और समाजने भी अर्थ और कामको यहाँ कभी प्रमुखता नहीं दी। ये दो आजके प्रगतिवाद या साम्यवादके मूलाधार भाव हैं; हिंदू-समाजमें ये गौण माने गये हैं। हिंदू-समाजने मुख्यता धर्मको दी है। धर्म ही मुख्य है और उससे अविरोधी अर्थ तथा कामका उपभोग किया जा सकता है। वह उपभोग भी दूसरोंके लिये त्यागा जा सके तो श्रेष्ठ है। इस प्रकार त्याग श्लाघ्य माना गया और समाजकी प्रतिष्ठा त्यागके आधारपर हुई।

महाभारतमें एक कथा आती है। उसका संक्षिप्त रूप यह है कि महर्षि अगस्त्यको एक बार यज्ञ करनेके लिये द्रव्यकी आवश्यकता हुई। वे अयोध्यानरेशके यहाँ गये। महाराजने उनका सत्कार किया और अभीष्ट द्रव्य देना चाहा। महर्षिने इच्छा प्रकट की कि वे प्रजाके आवश्यक व्ययसे बच रहनेवाला द्रव्य ही लेंगे। हिसाब देखा गया तो ज्ञात हुआ कि आय-व्यय समान है। एक कौड़ी बचती नहीं। महर्षिको दया आयी कि महाराजके पास अपने उपयोगका द्रव्य ही नहीं। वे अपने साथ महाराजको भी लेकर चले। महाराजको भी कुछ दिलाना चाहते थे। एक-एक करके मिथिला आदि अनेक राज्योंके प्रसिद्ध राजाओंके पास पहुँचे

सबके यहाँ वही आय-व्यय समान, सबको वे साथ लेते गये। अन्तमें असुर इल्वलके यहाँ उन्हें द्रव्य मिला।

इस कथामें हिंदू-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाका सुन्दर स्पष्टीकरण है। समाजके संचालक राजा नहीं—तपोवनमें रहनेवाले महर्षिगण थे। वे सम्पूर्ण प्रजाके लिये पूज्य, आराध्य हैं। अतः प्रजाका धन उनकी सेवामें लगे, यह सबसे प्रथम उस धनका उपयोग है। उन ज्ञानात्माओंकी तुष्टि समाजका प्रथम कर्तव्य है। परंतु यदि आय-व्यय देखना हो तो राजा तो एक प्रजासेवकमात्र है। आय-व्यय बराबर है वहाँ।

प्रिंस क्रोपाटिकनने कल्पना की है—शासनहीन समाजकी। अराजकतावादियोंके इस अग्रणीने अपने आदर्श समाजकी रूप-रेखा उपस्थित की है। उसका कहना है कि मनुष्यका स्वभाव है कि वह श्रम किये बिना रह नहीं सकता। यन्त्रोंकी इतनी उन्नति हो जाय कि मनुष्य विनोदके लिये जितना श्रम करे, उतनेसे ही समाजकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ तो शासन-संस्था आवश्यक न होगी। लोग प्रशंसाके लिये भी श्रम करेंगे। साम्यवादी कहते हैं कि सबको आर्थिक सुविधा समान मिलनी चाहिये; परंतु जो जैसा श्रम करे, उसे समाजमें वैसा सम्मान प्राप्त होना चाहिये। मनुष्यमें सम्मान पानेकी वृत्ति लोभसे प्रबल है, अतः यशकी इच्छाको लेकर समाजका गठन हो ही सकता है।

मनुष्यकी भोगेच्छा कभी तृप्त नहीं होती। प्रिंस क्रोपाटिकनने यहीं भूल की कि मनुष्य यन्त्रोंके अमुक उत्पादनसे तुष्ट हो जायगा और संघर्ष नष्ट हो जायगा। साम्यवादी यह नहीं देखते कि यशकी इच्छा धर्मसे बँधी है। एक बार वासनाकी तृप्ति अनिवार्य मान ली जानेपर मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है; जैसा कि साम्यवादियोंकी ही साहित्यिक धारा प्रगतिवादमें उच्छृंखल भोगवृत्तिका प्रदर्शन गौरवास्पद माना जाने लगा है। भोगको प्रधानता देकर यशपर समाजगठन सदा स्वप्न ही रहेगा।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥
(मनु० १२। ३८)

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका अर्थ और सत्त्वगुणका धर्म है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

उत्तम पुरुष मानकी इच्छा करते हैं और मान प्राप्त होता है धर्मसे। हिंदू-समाजका गठन इस धर्मपर ही अवलम्बित था। वहाँ अधिकारका प्रश्न ही नहीं था। अधिकार प्राप्त था धर्ममूर्ति तपस्वियोंको। राजा कार्य-संचालकमात्र था और प्रजाको संतोष था कि समाजमें जो सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण हैं, वही हमारी व्यवस्थाके नियन्त्रक हैं। जब भी राजा इस व्यवस्थामें अपनेको प्रधान मानकर हस्तक्षेप करता, उसे वेनकी भाँति च्युत होना पड़ता।

राजाकी आवश्यकता क्या? इस सम्बन्धमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि निवृत्तिप्रधान तपस्वी केवल आदेश दे सकते थे। धर्मका मूल रूप निवृत्ति है। अतः प्रवृत्तिमें रहकर पूर्णतः समय मिलना शक्य नहीं। राजा एक सक्षम प्रतिनिधि था। यह उसी प्रकार, जैसे प्रधान सेनापतिकी आवश्यकता युद्धसचिव पूरी नहीं कर पाते, पर प्रधान सेनापतिका संचालन वे ही करते हैं।

यातायात

समाजकी पूरी व्यवस्था उसके यातायातपर निर्भर है। सामग्री, शिक्षा और विचारोंका पारस्परिक विनिमय आवागमनसे ही होता है। भारतीय आवास जलाशयोंके किनारे थे; अतएव यातायातके सबसे सुलभ मार्ग जलीय थे। वर्तमान सभ्यताकी पिछली शताब्दीतक भारतीय व्यापार नौकाओंद्वारा होता था। अब भी वह अनेक प्रदेशोंमें चलता है। इस जलयात्राकी सुविधाके लिये सारे देशमें नहरें थीं। उनमेंसे कईके चिह्न अबतक वर्तमान हैं। इतिहासके अन्वेषक जानते हैं कि जब भारतमें रेलोंके प्रचलनका प्रश्न आया, तब ब्रिटिश पार्ल्यामेंटमें अनेक सदस्योंने इसका विरोध किया। उनका मत था कि इस विशाल कृषिप्रधान देशमें रेलोंकी अपेक्षा नहरें अधिक उपयोगी होंगी। आज भी सरकार सोच रही है कि बाढ़से रक्षा और अकालसे बचावके लिये नहरें आवश्यक हैं। यूरोपके कुछ स्थानोंमें रेलोंका काम नहरोंसे लिया भी जाता है; परंतु भारतमें रेलोंका विस्तार इंगलैंडके लिये लाभप्रद था, अतः हुआ।

नौकाओंके अतिरिक्त समुद्री यानोंद्वारा भारतीय व्यापार यूरोपतक विस्तृत था। भारतीय वस्तुओंका पृथ्वीके सभी भागोंमें पाया जाना समुद्री व्यापारका प्रमाण है। समुद्रयात्रामें संध्यादि नित्य-कर्मोंमें बाधा पड़ती थी, दूसरे देशोंकी स्थितिके कारण अपना आचार व्यवस्थित नहीं रह पाता था, अतः ब्राह्मण समुद्रयात्रा प्रायः नहीं करते थे। क्षत्रियनरेश भी रथोंसे ही यात्रा करते थे। भूमिपर यात्रा एवं सामान

ढोनेके लिये घोड़े, हाथी, ऊँट, खच्चर, बैल सभीका उपयोग प्राचीन ग्रन्थोंमें है; परंतु मुख्य यात्राका साधन रथ था। इन रथोंमें घोड़े जोते जाते थे। उनमें पहिये होते थे। इतनेपर भी ये रथ पृथ्वीपर, जलपर, आकाशमें भी समान रूपसे चलते थे। महाराज प्रियव्रत अपने रथमें बैठकर पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक दिन-रातमें कर सकते थे और वह पृथ्वी वर्तमान पृथ्वी नहीं है। वर्तमान पृथ्वी तो उसका एक भाग जम्बूद्वीपमात्र है। महाराज पृथुका रथ पर्वतों, नदियों, जंगलों, समुद्रों और नभमें अबाधगतिसे चल सकता था। प्राचीन रथोंके सम्बन्धमें कल्पना उसी प्रकार अभी कुण्ठित है, जैसे पचास वर्ष पूर्व विमानोंकी कल्पना नहीं थी।

रथोंके अतिरिक्त विमान भी होते थे; परंतु यन्त्रमय होनेके कारण प्रायः असुर ही उनका व्यवहार करते थे। महायन्त्र जिनमें अनियन्त्रित हिंसाकी सम्भावना रहती है, हिंदू-समाजमें कभी आदरणीय नहीं रहे। वैसे तो भारतमें कभी रेल भी थी और रेलमें पत्थरका कोयला जलाया जाता था, एक राजाका यह आज्ञापत्र कई स्थानोंमें पत्थरपर खुदा हुआ मिला है।

आचारका आधार

सब प्रकारसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-समाजके आचारका आधार प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति है। जीवनमें उपभोगके लिये जो थोड़ा-सा काल छोड़ा भी गया है, उसमें भी सब ओर धर्मके नियन्त्रण हैं। वैधभोग ही समाजमें विहित हैं। दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके, प्राणियोंको कष्ट देकर जो भी भोग उपलब्ध होते हैं, वे सब निषिद्ध एवं त्याज्य माने गये हैं।

मनुष्यको पशुओं, वृक्षों आदिको उपयोगमें लेनेका अधिकार वहींतक है, जहाँतक वह उनका पालन एवं रक्षण करता है। जाति-विपर्यय करके, उनके स्वाभाविक भोगसे उन्हें वञ्चित करके और उनकी आयुका ह्रास या नाश करके उनका उपयोग करना हिंसा है। हिंसासे प्राप्त भोग निषिद्ध होते हैं। परीक्षण करके देखा गया है कि जिस शेरके बच्चेको बचपनसे भरपेट मांस दिया जाता है, उसके पिंजरेमें बकरा छोड़ देनेपर भूखा होनेपर भी वह आक्रमण नहीं करता। पशु भी तभी हिंसा करता है, जब क्रोधित होता है या क्षुधातुर। जंगलोंके ह्राससे, मानवकी हिंसासे पशुओंको विवश होकर हिंसा सीखनी पड़ी और आज जब हम पढ़ते हैं कि ऋषियोंके आश्रमोंमें, पवित्र तीर्थोंमें पशु परस्पर द्वेष नहीं करते थे, तब तर्क जाग्रत् होता है। पशु, पक्षी बहुलतासे होंगे, जब वन बहुत थे और तब मांसाहारी प्राणी मृत शरीरोंसे अपना काम चला लेनेमें कठिनाईका अनुभव न करते होंगे, यह बात समझमें ही आज नहीं आती। आज तो मनुष्य सर्वभक्षी हो गया है। वनस्पतिजगत् उसने उजाड़ दिया और पशु-पक्षियोंको उदरस्थ करता जा रहा है। हिंसक पशु आखेट न करें तो कैसे जीवें, यह वह सोच ही नहीं पाता।

किसी प्राणीको कष्ट न दिया जाय, कोई प्राणी अपनी पूरी आयु और भोगसे वञ्चित न हो, किसीकी जाति नष्ट न हो, इतना ही नहीं; सभी प्राणियोंका मनुष्यके उपार्जनमें भाग है। कुत्ते, पक्षी, चींटी सबको मनुष्यके उपार्जनमेंसे ही पोषण प्राप्त होना चाहिये। इनके अतिरिक्त भावजगत्के असुरादि भी मनुष्यसे ही आशा करते हैं। उन सबका भी पालन होना चाहिये। हिंदू-समाजने विश्वके समस्त प्राणियोंको एक ही परिवारका माना है और सबके लिये यथोचित भाग देनेका विधान किया है।

हमारे शास्त्रीय कृत्योंमें घृणा और हिंसाका आरोप करने वाले भूल जाते हैं कि हिंदू-शास्त्र भौतिक भोग और भौतिक देहको महत्त्व नहीं देता। अतिथिकी तृप्तिके लिये अपने शरीरका मांस देने या अपने पुत्रको आरेसे चीरनेके दृष्टान्त हमारे ही इतिहासमें हैं। इन दृष्टान्तोंमें बताया गया है कि सामान्यतः किसी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं होना चाहिये। सब पुत्रके समान ही स्वजन हैं। अपने शारीरिक स्वार्थसे, अपने प्रमादसे प्राणियोंको पीड़ा देना पाप है; परंतु जहाँ आत्मकल्याण, आत्मोन्नतिका प्रश्न हो, वहाँ शरीर तुच्छ है। यदि कोई शरीर नष्ट होकर किसीकी अन्तर्मुखता-में, आत्मोन्नतिमें कुछ भी सहायता करता है तो वह शरीर सफल हो गया। उसमें स्थित जीव उन्नत हुआ। इसी प्रकार शारीरिक अहंकारवश घृणा या द्वेष पाप हैं, परंतु आत्मशुद्धिके लिये असंसर्ग आवश्यक कर्तव्य है। हिंदू-समाजके इस तत्त्व-बोधको प्राप्त करके ही उसके आचारोंका समुचित सामञ्जस्य प्राप्त होता है। वैधभोग वे हैं जो आत्मोन्नतिमें बाधक न हों; किसीकी हिंसा या कष्टसे उपार्जित न हों अथवा अन्तर्मुखतामें सहायक हों; इनसे विपरीत सब निषिद्ध भोग हैं। इसी आधारपर समस्त आचार व्यवस्थित होता है।

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक——श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

पूँजीमें आसक्ति बुरी है

(१) हमको पहले ही यह समझ लेना चाहिये कि धन अथवा लक्ष्मी कोई बुरी वस्तु नहीं है, अन्यथा पूँजीवादी या साम्यवादी और संसारवादी सब-के-सब इसके पीछे क्यों दौड़ते ? बुरा है इस मायामें आसक्त होना, इसमें लिपटे रहना । कहते हैं कि लोहेकी बेड़ियोंसे तो कदाचित् मनुष्य छूट सकता है, परंतु स्त्री-धन आदिके बन्धनमें पड़कर छूटना कठिन है । महात्मा ईसा भी इसी अर्थमें कहते हैं कि 'सूईके छेदमेंसे ऊँट निकल सकता है, पर धनाढ्य व्यक्ति स्वर्गके द्वारमें प्रवेश नहीं पा सकता ।' इसलिये पूँजीको बड़ी करनेवाला और उसपर मुग्ध होनेवाला पूँजीवाद ठीक नहीं है । इसी कारण सभी धर्म संन्यासको, त्यागको, फकीरीको ही आदर्शरूप मानते हैं, धनको नहीं ।

धनासक्तिसे राज्य और प्रजाका पतन

(२) धन प्रभुकी एक अटपटी माया अथवा इन्द्रजाल है, इसलिये इसके सङ्गसे मनुष्य इसमें फँसता जाता है और फिर अनेक प्रकारके राग-द्वेषमें फँसकर उसका पतन हो जाता है, वह जीवनकी सच्ची, महान् भावनाओंसे वञ्चित—दूर रह जाता है । इसलिये मनुष्यको पतनके मार्गमें ढकेलनेवाला पूँजीवाद ग्राह्य नहीं है । धनके आधारपर जीवनकी नीति, योग्यता, प्रशंसा और प्रगतिका निश्चय करना अथवा वर्गसृष्टि करना—इसके समान दूसरी कोई भूल नहीं हो सकती । मनुष्यको खाने-पीने इत्यादिकी जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं, इससे अधिक धनको पूँजी कह सकते हैं—इसमें जो अभिमान रखता है वह राग-द्वेष, क्रोध और दुष्कर्मोंमें जा पड़ता है । इसलिये पूँजीवाद तथा पूँजीका राष्ट्रीयकरण, दोनों ही बुरे हैं । एक व्यक्तिको और दूसरा राज्यको बिगाड़ता है । कहावत भी है कि लक्ष्मी देखकर मुनिका मन भी चलायमान हो जाता है । राज्यके पास अधिक धन-सम्पत्तिके साधन बढ़ाना राज्यका पतन साधन करना है, यह कहना बहुधा सच होता है ।

मनुष्यका सच्चा विकास या प्रगति धनसे नहीं

(३) आज जिसको प्रगति या विकास कहते हैं, वह धनलालसाके विस्तारसे उत्पन्न होनेवाले अनुसंधान, आयात-निर्यात, पैसा इकट्ठा करनेकी प्रक्रिया, विज्ञापन और मौज-शौकके साधनोंका परिणाम है । आजकलके रेलवे, जहाज, वायुयान, प्रयोगशालाएँ, सिनेमागृह, आमोदप्रमोद, दवा-दारू, मिल-फैक्टरियाँ, नल-नहर, अनेकों मंजिलोंके मकान इत्यादिमें एक भी चीज ऐसी नहीं कि जिसके लिये सदाचार आवश्यक हो, अथवा जिसे दुष्ट मनुष्य बनवा न सकते हों, अथवा जिससे मनुष्यके मानसकी सच्ची उन्नति होती हो । नैतिक विकास और नैतिक प्रगति ही वास्तविक विकास और वास्तविक प्रगति है । धन तो वास्तविक सुख-शान्तिको बढ़ानेवाली वस्तु भी नहीं है । पूँजीवादके इतने प्रचार और पूँजीकी वृद्धि तथा स्वार्थसाधकोंकी बहुलता होनेपर भी जीवन सरल और शान्तिमय न हो सका, लोगोंके रोग कम न हुए, संघर्ष और धक्का-धक्कीमें कमी न आयी, सुलह-समझौता बढ़ा नहीं, मानव-परिश्रम कम न हुआ । बढ़े हैं—धन खींचने, लूटने, सफाईसे पाकेट मारनेके साधन । जिनका इनमें स्वार्थ है, वे इसको प्रगति कहते हैं; और यह क्षम्य है पर सत्य नहीं है ।

पूँजीवादसे महँगाई, खर्च और कर्ज बढ़ जाता है

(४) पूँजीवादसे लोगोंमें यह भ्रम फैल जाता है कि पूँजी ही प्राप्त करने योग्य वस्तु है, इसलिये सब इसको प्राप्त करनेकी माथापच्चीमें पड़ जाते हैं । प्रत्येक मनुष्यको अधिक पैसे चाहिये, इसलिये मजदूरी और माल, दोनों ही महँगे हो जाते हैं । जीवन अति कठिन बन जाता है और दया, परोपकार, दान आदिके स्रोत साधनाहीनताके कारण दुर्बल बन जाते हैं । राज्यका खर्च बढ़ जाता है और इससे लोगोंके ऊपर एक पौंडमें १५से१७ शिलिंगतक कर लग जाते हैं । सीधे करोंका लोग विरोध करते हैं, इसलिये आड़े-टेढ़े करोंके द्वारा पैसे खींचनेकी राज्यकी दूसरी निष्णात युक्तियाँ बढ़

जाती हैं और राज्यका ऋणभार भी बढ़ जाता है एवं बढ़ता रहता है । 'किसके बापकी दीवाली' इस कहावतके अनुसार घाटेके बजटका भी फैशन चल पड़ता है । विविध प्रकारसे प्रजाकी प्रतारणा चलती रहती है । प्रतिनिधि तो विदा हो जाते हैं, परंतु भार प्रजाकी कमरके ऊपर या सिरपर आ पड़ता है ।

पूँजीवादकी समर्थक सारी फिलासफी गलत है

(५) कतिपय बड़े राज्योंमें प्रजाके व्यवहारमें और अन्ताराष्ट्रिय कारोबारमें पूँजीवादके प्रविष्ट हो जानेके कारण इनमें नयी फिलासफी और परिभाषाएँ उपस्थित कर दी गयी हैं । वह भी अधिकांश भ्रामक यानी भ्रममें डालनेवाली है । जैसे मौज-शौकके साधन अथवा लड़ाईके हथियार या शीघ्र यातायातके साधन—ये प्रगतिके माप हैं; परंतु वस्तुतः ये लूटनेवाली, मारनेवाली या आँखोंमें धूल डालकर धन छीननेवाली प्रगतियाँ हैं । फिर 'राज्यका प्रभुत्व लोगोंका है' यह फिलासफी, जो लोकतन्त्रके लिये खड़ी की गयी है, वह भी गलत है । लोग तो बेचारे शोर मचा सकते या बलवा कर सकते हैं अथवा बेचारे राजाको धमकी-धुड़की देकर हटा देते हैं, परंतु सत्ताधीश लोकशाहीको वे हटा नहीं सकते । वे (बर्नार्ड शाके कथनानुसार) राज्य भी नहीं चला सकते, उनके नामसे पार्टीबाज लोग राज्यको हस्तगत कर लेते हैं और लोग ताकते रह जाते हैं । राज्यकी, देशकी और लोककी प्रभुता तो प्रभुकी है, वही क्षणभरमें दुनियाकी सृष्टि और संहार कर सकते हैं । लोग तो बेचारे भोले-भाले, अज्ञानी, ठगे जानेवाले बहुसंख्यक और प्रतिदिन बदलते रहते हैं, उनकी प्रभुता बतलाना तथा यह कहना कि 'तुम्हीं राजा हो, अफसर तुम्हारे नौकर हैं, तुम्हींको राज्य चलानेका अधिकार प्राप्त है'—इत्यादि मत लेने या धन खींचने तथा राज्यसत्ता बढ़ानेकी नयी युक्ति है । इसको एक प्रकारकी धोखाधड़ी भी कह सकते हैं । भूमि, राज्य, देश—ये राजाके भी नहीं हैं, ये तो प्रभुके ही हैं । यह वास्तविकता है । इसलिये ईश्वर ही सारे देशका सर्वकालमें और सब पदार्थोंका स्वामी है । मनुष्य तो समय पड़नेपर अपनी एक इन्द्रियको या अपनी नाडीको या एक तिनकेको भी हिला नहीं सकता । इसलिये प्रभुका नियम ही सच्चा नियम है, प्रभुकी सत्ता ही सच्ची सत्ता है और प्रभु ही सबका सम्राट् है । लोगोंकी प्रभुता कहना और लोगोंको उलटे पाटेपर चढ़ाना बराबर है । लोग तो बेचारे जानते हैं कि अपने शरीरपर ही अपनी प्रभुता नहीं है, फिर देशके ऊपर कैसे हो सकती है ? फिर, एक दूसरा यह भी भ्रम प्रचलित कि 'राज्य सर्वसत्ताधीश है और इसीको मजबूत करना चाहिये ।' ईश्वरको भूल जानेके बाद तो राज्य ही सत्ताधीश रहा । धर्मराज्यका नियम तो जहाँ धर्म है, वहाँ चलता है, लोगोंके राज्यमें तो लोकसभाकी जैसी इच्छा होती है, वैसा ही कानून बनता है । इस प्रकारकी सत्ताधीश्वरताको मजबूत बनाना तो अंधे भैंसेका खेल है और यदि इसमें दंगा-फसाद होता है, भ्रष्टाचार फैलता है, हरामका चस्का लगता है, लोगोंको राज्यके सामने हाथ फैलाना पड़ता है, करवृद्धि होती है और अनधारी लड़ाइयाँ फूट निकलती हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? राज्य व्यापार करता है, पूँजीके लोभसे बार-बार आर्थिक नीति बदलता है, इच्छाके अनुसार भाव, सहायता, महसूल, चुंगीमें परिवर्तन करता है, यानी कितनी अधिक अव्यवस्था, उद्विग्नता और परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं । यह भी जानी हुई बात है । राज्यके दो मुख्य कर्तव्य हैं—प्रजाकी संस्कृति (या संस्कृतियों) की बाहरी शत्रुओंसे रक्षा करना तथा प्रजाकी आन्तरिक व्यवस्थाके तोड़नेवालोंके विरुद्ध न्याय-व्यवस्था करना । दूसरे सारे कर्त्तव्य आगन्तुक हैं और उनमें राज्यके ऊपर कठिन नियन्त्रण होना चाहिये । इस नियन्त्रण करनेवाली शक्तियोंमें धार्मिक शासनविधान, संत-महात्माओंकी प्रेरणा और लोकसभाके अल्पमत दलका समावेश होता है । संस्कृति साध्य है और राज्य उसका केवल साधन है । परंतु इस नये वादने संस्कृतिकी परिभाषा ही बदल डाली है । वस्तुतः जीवात्माकी उन्नतिके लिये कार्य-विधान ही साधारणतः संस्कृति समझी जाती थी और धर्म संस्कृतिका प्रधान प्रेरक माना जाता था । उसके बदले अब चित्रकला, नृत्यकला, संगीत, स्थापत्य—इन सबको संस्कृतिके वाहन बना दिया गया है और इनका समूह ही संस्कृति है । एवं साथ सात्त्विक धर्म, कर्म, क्रिया, कला, ज्ञान और जीवनको किनारे करके इन सब राजसी-तामसी रूपोंको प्राधान्य दिया जाने लगा है; क्योंकि रजोगुणमें राग, तृष्णा, धन और क्रियाका प्राधान्य स्वभावतः होता है और वही आजकलके पूँजीवादकी वासनाओंका मूल है ।

पूँजीवादका समर्थन

(६) पूँजीवादका समर्थन करनेवाले प्रधान तत्त्वचिन्तकों में डा० गार्विन एक मुख्य विद्वान् हैं । वह पूँजीवाद

आधुनिक दुनियाकी प्रगतिके प्रेरक बलोंमें प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। परंतु उसकी सारी प्रगति भौतिक, मायिक और धनवृद्धिरूप है, जिसे दुनियाके महापुरुषों और महात्माओंने बहुत गौण स्थान प्रदान किया है। पूँजीवादके समर्थक पूँजीवादके दो मुख्य तत्त्वोंको व्यक्तिके भावनाबलका विकास करनेवाला बतलाते हैं—(१) वैयक्तिक सम्पत्ति तथा (२) साहस करनेकी स्वतन्त्रता। वैयक्तिक सम्पत्तिको जीवनके एकमात्र और उपकारक तत्त्वके रूपमें मानना ठीक है, यह हम कह सकते हैं। केवल इसका अतिलोभ, लोलुपता और प्रधानता मनुष्यको उल्टे रास्ते ले जाता है, इसलिये हम इसको तोड़नेके लिये कहते हैं। किसी कड़वी ओषधिके समान स्वत्वको स्वीकार करना इसके परित्यागके लिये है। दूसरा तत्त्व है—साहसकी स्वतन्त्रता। इसमें एक बड़ा भयका कारण यह है कि दुनियामें कोई बहुत अच्छा साहस नहीं करता। दुष्टको दुष्ट साहस, मूर्खको मूर्ख साहस अथवा अज्ञानीको अन्धकारसे साहस करनेकी स्वतन्त्रताका आदर्श अनिष्ट और दूषित आदर्श है और इस अंधे भैंसेकी क्रीड़ाके आदर्शसे ही दुनियाकी आज अव्यवस्था, निष्फलता और हैरानी आ गयी है। चाहे जिस वस्तुके लिये धनके पीछे मुट्ठी बाँधकर आँखें मूँदकर श्वास बिना लिये दौड़ो तो वह चीज प्राप्त होती है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। पर सवाल यह है कि वह वस्तु इतनी कीमती है या नहीं? बुद्धिमान् लोगोंका कहना है कि—'जर, जमीन और जोरू, ये तीनों तकरार बटोरू'—इन तीनोंके पीछे दौड़नेवाले तकरार, क्लेश और झंझट बटोरते हैं। इसलिये इनका सङ्ग कार्यमात्रके लिये रखना चाहिये—ऐसा पक्के अनुभवी लोग कहते हैं और वे हँसते-हँसते कहते हैं। फिर इनका अधिक सङ्ग करना हो तो मनुष्य स्वयं जोखिम उठावे और खर्च करे। डा० गार्विन पूँजीवादके पदार्थों, प्रक्रियाओं और खोज तथा अन्वेषण उत्पन्न करनेवाली प्रजनन-शक्तिकी प्रशंसा करते हैं, इन सबकी वास्तविकताके विरुद्ध भी बहुत कहना नहीं है। चीजें, उनका उत्पादन करनेवाली मिलें और उनकी मशीनें बढ़ गयी हैं, इसमें संदेह नहीं है। परंतु यह सारी अभिवृद्धि मानवजातिके सारे महान् आदर्शों और प्रक्रियाओंके मार्गमें रोड़ा अटका रही है और इसने इनपर प्रतिबन्ध लगा रक्खा है, यह बात विश्वके तत्त्वदर्शी लोगोंके लिये विचारणीय है। इतनी महँगाई-के साथ मजदूरीका दर बढ़ा, इतनी अधोगतिके साथ मौज-शौकके साधन बढ़े, इतने भयस्थानोंके साथ विज्ञान बढ़ा। फिर इसकी क्या कीमत रही? मानवके जीवनकी रक्तधारा और ज्ञान-तंतुजाल तो इसके हृदयमेंसे और इसके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे फैलते हैं, हाथ-पैरसे नहीं निकलते। हाथ-पर तो इनके संवादक, संवाहक और परिचारक बनकर जीवनको चिरंजीवी करते हैं। बल्कि आजकल प्रजनन-शास्त्र-विद् बहुत सृजन-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं देखते। प्राणी और पदार्थोंकी जनसंख्या तो बहुत बढ़ गयी है और फिर यदि दुनिया दुखी होती है तो प्रजामें सारासारका विवेक करके, भेद-भावको समझकर बुरेका नियमन और भलेका सृजन करना ही भलमनसाहत समझी जा सकती है। पूँजी और मजदूरके बीच कोई स्वाभाविक विरोध नहीं। मजदूर और मिलमालिक, नौकर और मालिक दोनोंमें पहले तो पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध था। नौकर व्यापारीकी कोठीमें आनन्द, ममता और प्रेमसे नौकरी करते थे, मजदूर मिलमालिकोंको नौकरी देनेवाला, सवाई रोजी देनेवाला अन्नदाताके रूपमें मानते जानते थे, इन सबके बीच मधुर सम्बन्ध था। पहलेकी गुलामी भी आजकलकी विषैली प्रवृत्ति और पैसा ऐंठनेवाली गर्हित मनोदशाकी अपेक्षा हजार दर्जे अच्छी थी और इसीलिये बर्क-जैसा मनोवैज्ञानिक उसकी मुक्तकण्ठसे और विलापके स्वरमें प्रशंसा करता है। लोगोंको चढ़ाकर और लड़ाकर सत्ता प्राप्त करना और उनका मत प्राप्त करना तो लोकशाहीमें चालू रहता है। इन सारे वादोंके झगड़ेकी जड़ तो वहाँ है। जैसे संतति-नियमनके प्रचारकोंको दुनियाके भविष्यकी कोई चिन्ता नहीं होती, उनको तो वर्तमानमें दवा बेचनेकी फिक्र होती है। उसी प्रकार इन वाद-विवादवालोंको दुनियाके भावी उद्धारका ठीका लेनेकी कुछ पड़ी नहीं होती, उनके लिये तो वर्तमान सत्ता—राज्यसत्ता हस्तगत करनेके लिये लोगोंको फँसाये रखना ही मुख्य प्रश्न होता है। इसमें पूँजीवादी और साम्यवादी सब पिल पड़े हैं और जरूरत पड़नेपर इसके लिये सत्यके ऊपर, हितके ऊपर और श्रेयसके ऊपर पर्दा डाल रहे हैं। इसलिये इन सब बुराइयोंकी जड़ है 'सब मनुष्योंकी समानताका मूल्याङ्कन' तथा बहुमत जो कहे उसके अनुसार राज्य चलानेका सिद्धान्त। इसका हम यहाँ पुनरावर्त्तन करके फिर आगे विवेचन करेंगे।

महाचक्र, महासंख्या और मौज-शौककी हानियाँ

(६) पूँजीका अति मोह, उसकी आवश्यकता और उसके प्रलोभनोंमें तीन चीजोंका समावेश हो सकता है—महाचक्र,

बड़ी मजदूरोंकी संख्या और मौज-शौक । अधिक पैसा हो तो अधिक मौज-शौक किया जाय—जैसे मोटरकार, बिजलीका पंखा, रेडियो, सिनेमा, नाटक, वायुयानयात्रा, सुन्दर भवन, मनोरम वस्त्र, सौन्दर्य-साधन इत्यादि । बड़े चक्रेवाले कारखानों-से बड़ी पूँजी तथा बड़ी संख्याके मजदूरोंकी जरूरत पड़ती है और उसके परिणामस्वरूप लड़ाई, झगड़ा, हड़ताल, ताला-बंदी और फिर लाठीचार्ज, सत्याग्रह और गोली चलना आदि उसके सगे साथी आ पहुँचते हैं; क्योंकि 'लोभमें रोक नहीं' और 'लाखकी पत' जोखिममें डालती है, इसलिये बड़ी दीख पड़ती है । पुनः राज्य जिसको अधिक मान देता है, उसका और मान बढ़ता है और राज्यको अधिक गरज पैसेकी होती है, इसलिये वह पैसेदारको, पूँजीपतिको महत्त्व देता है, इससे भी पूँजीका मोह बढ़ता है । परंतु राज्य कहाँतक जाय ? महँगाई, बेकारी और बहुत धनका जखेड़ा इतना बढ़ता जाता है कि पूँजीवादमें उसको राज्य भी पूरा नहीं कर सकता । पहले महाचक्रसे चीजें या यात्रा अथवा मेहनत बहुत सस्ती जान पड़ती है । परंतु महाचक्र धनकी वृद्धिसे ही उत्पन्न होनेके कारण, उसके कार्यकर्त्तागण लोगोंको शोषण करनेकी टेव पड़नेके कारण उसका भाव बढ़ानेसे नहीं चूकते । फिर बहुतेरी चीजोंमें तो भावकी समानता भी नहीं होती । ताड़का पंखा तीन पैसेका होता है और बिजलीका पंखा तीन सौ रुपयेका । बग्गी तीन सौमें आती है तो मामूली मोटर तीन हजारकी आती है । कलम पैसेकी तीन और टाइपराइटर नौ सौ रुपयेका एक । इन सारी मौज-शौककी आवश्यकताओंसे गरीबीकी, अन्यायकी और उत्पादनकी आवश्यकताकी भी कुछ अंशोंमें भ्रान्ति हो जाती है और लोगोंको अधिक मजदूरी करनी पड़ती है या बेकारी सहन करनी पड़ती है । इससे यह पूँजीवादका आरा आते भी काटता है और जाते भी काटता है । मजदूरी कराता है और महँगाई भी लाता है । किंतु यह सारी साम[ाजिक] घटना ऐसी बेकाबू होने लगी है कि कम्युनिस्ट—साम्य[वादी] उसके ऊपर शस्त्रक्रिया करनेके लिये तैयार हो गये हैं । पूँजीवादी उसको गाँवमें (कुछ सुख-शान्तिवाली प्रजा[में] फैलाकर सारी दुनियाको उसके फंदेमें डालकर तैयार हो [गये] हैं कि फिर कोई बोलनेवाला न रहे । इस प्रकार पूँजी[वाद] और समाजवादके दोनों कण्टक एक दूसरेके विरुद्ध सं[घर्ष] करनेके लिये तैयार हो गये हैं, तब लोगोंको हसरत हो[ती] है और जो अधिक लोभ दिखलानेवाला साहित्य तैयार क[रता] है, उसमें वे फँसते और बरबाद होते जा रहे हैं । इसी[से] राज्य भी अब अपनी प्रशंसाका प्रचार करने लगे हैं । दू[सरी] ओरसे सब पशुओंको एक बाड़ेमें भरनेकी नासमझीके सम[ान] वर्ण-वर्ग, जात-पाँत, संस्कार, खान-पान सबका विचार [छोड़] किनार करके सब मनुष्योंको एक बाड़ेमें करनेसे सब ऐ[क्य] सूत्रमें, बुद्धिमान् तथा सुख-शान्ति युक्त हो जायँगे [—] रासायनिक प्रयोगवाला बनावटी कल्याण-राज्य—'वेल्फे[यर] स्टेटका पथ' भी चला है और दूसरे पन्थ भी बढ़ते जा [रहे] हैं । 'क्योंकि—

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'

—तथा 'अक्लसे कोई हीन नहीं होता और पै[सेसे] कोई पूर्ण नहीं होता' इन कहावतोंके अनुसार सबसे राय[ ] करके अन्तमें कहना यह है कि 'अरे भाई, तेरी गा[ड़ी] आगे, और मेरी गाड़ीका मुँह आगे'—'पाँच और सात[का] जोड़ करनेवालेको खरा उत्तर है बारह;' परंतु बारहके सि[वा] गलत उत्तरका क्षेत्र अनन्त आकाश-जैसा, अथवा खा[ने-] पीनेमें मिलावट-जैसा विशाल है । (शेष आगे)

श्रीसीतारामसे निवेदन

सवैया

जकड़े जग-जाल बिहाल फिरैं,
सबही बड़ छोट जो जीव की कोटी ।
नहिं पावत ढूँढ़ पता—प्रभु कौं,
अनुमान लगावत हैं मति-मोटी ।
कितनोई उपाय करौ बल-बुद्धि सों,
सिन्धु समात न पम्प की टोंटी ।
कवि "श्रीरस" फाँदति है फुदकी,
उड़ि कै कहुँ शैल-सुमेरु की चोटी ॥

घनाक्षरी

देतो दान जौन जन लेतो फेरि नाहिं ताहि,
जोरतो है नात-नेह नित्य नव निखरै ।
श्वान कौं बुलावतो है स्वामी जो सनेह साथ,
देतो कौर भरपूर फिरि नाहिं फिसरै ।
दीन-हीन-सिरस कौं सरस कियो है राम,
करुना करहु देखौं मुख माहिं तिसरै ।
दीबे हेत दरस के खोलि द्वार दीन्हो नाथ,
सीताराम-सुरति न दिन रैन बिसरै ।
—शिवरत्न शुक्ल 'सिर[स]'

मुझे कोई पुकारता है

[कहानी]

(लेखक—श्री‘चक्र’)

‘मुझे कोई कष्ट नहीं है, कोई भय नहीं है, कोई रोग भी नहीं है।’ किसी चिकित्सकके पास, चाहे वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ही क्यों न हो, ऐसा व्यक्ति कदाचित् ही आया होगा। ‘मुझे केवल जानना है। मनोविज्ञानका एक अन्वेषक होनेके कारण मैं आपसे सहायता पानेकी आशा करता हूँ।’

‘आप भी मनोवैज्ञानिक हैं ?’ चिकित्सकमें आदरका भाव आ गया। पहिले वे इस प्रकार मिले थे, जैसे अपने किसी नवीन रोगीसे मिलते हैं। परंतु अब तो स्थिति बदल गयी थी। उनके सामने उनके समान ही मनोविज्ञानका एक ज्ञाता था—उनका सहव्यवसायी न सही; किंतु उनका मित्र तो वह अपनेको कह ही सकता था। नम्रतासे डा० उपाध्याय बोले—‘मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?’

‘मैं मनोवैज्ञानिक तो नहीं हूँ; किंतु मनोविज्ञानका विद्यार्थी अवश्य अपनेको मानता हूँ।’ उसने बताया—‘मैंने पाश्चात्त्य मनोविज्ञानके अतिरिक्त भारतीय मनोविज्ञानका भी कुछ अध्ययन किया है और मुझे तो भारतीय मनोविज्ञान अधिक पूर्ण लगता है। परंतु इस समय तो मैं एक दूसरे विषयमें आपकी सम्मति और सहायता चाहता हूँ।’

‘हम सभी विद्यार्थी हैं।’ डा० उपाध्याय ठीक कह रहे हैं। विज्ञान विषय ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक आजीवन उसका नन्हा छात्र ही रहता है।

‘मुझे कोई पुकारता है—जब मैं गाढ़ निद्रामें होता हूँ तो कोई मेरा नाम लेकर स्पष्ट मुझे पुकारता है।’ उसने बतलाया—‘सदा वह मुझे केवल दो बार पुकारता है, उत्तरकी ओरसे लगभग बीस-पचीस फीट दूरसे पुकारता है।’

‘आपको स्मरण है, आप उस समय कैसे स्वप्न देखते हैं ?’ डा० उपाध्यायने पूछा।

‘मैं कोई स्वप्न नहीं देखता महोदय !’ वह हँसा—‘आप मेरी पूरी बात सुन लें, यह अच्छा होगा। यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है। मैंने इस विषयमें बहुत सोचा है।’

‘अच्छा !’ डाक्टरका स्वर स्पष्ट कह रहा था कि उनसे जो कुछ कहा जा रहा है, उसपर वे पूरा विश्वास नहीं करते। वे माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है।

‘मैं वैसे भी बहुत कम स्वप्न देखता हूँ। परंतु यह पुकार प्रायः तब आती है, जब मैं गाढ़-निद्रामें होता हूँ।’ उसने विवरण दिया—‘मुझे अच्छी निद्रा आती है। इतनी गाढ़ी नींद सोता हूँ कि सिरके पास ढोल बजता रहे तो भी मेरी निद्रामें बाधा नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़नेपर मुझे पुकारकर जगानेवाले पुकारते-पुकारते प्रायः झल्ला उठते हैं।’

डाक्टर कुछ बोले नहीं ! वे चुपचाप सुन रहे थे। अवश्य ही अपने सदाके अभ्यासके अनुसार उनके हाथमें पेन्सिल थी और मेजपर पड़े कागजपर वे कुछ शब्द नोट कर लेते थे बीच-बीचमें।

‘मुझे स्वयं आश्चर्य है, जब यह पुकार आती है, मेरी गाढ़ी निद्रा पहिली ही पुकारमें टूट जाती है।’ उसने बताया ‘परंतु नेत्र खोलने या सिर उठानेसे पूर्व ही दूसरी बार पुकार आती है। दूसरी बारका पुकारना मैं सदा जागकर पूरी सावधानीमें सुनता हूँ।’

‘जब आप उठते हैं, आपको कैसा लगता है ?’ डाक्टरने बीचमें पूछा।

‘अच्छी निद्रासे उठनेपर एक स्वस्थ व्यक्तिको जैसी स्फूर्ति तथा ताजगीका अनुभव होता है।’ डाक्टरकी आशाके सर्वथा विपरीत उसने बताया—‘मुझे उस पुकारसे उठनेपर न कभी भय लगा, न आलस्य जान पड़ा। मन प्रसन्न रहता है, शरीरमें स्फूर्ति रहती है, जैसे मैं जगाया नहीं गया हूँ, निद्रा पूरी होनेपर स्वयं उठा हूँ।’

‘दुबारा नींद आनेमें कितना समय लगता है ?’ डाक्टरने फिर पूछा।

‘यह सर्वदा मेरी इच्छापर रहा है।’ उसने फिर डाक्टरकी आशाके विपरीत उत्तर दिया—‘कभी मैं लघुशंकादि कर दस-पंद्रह मिनट बाद सोता हूँ, कभी केवल सिर उठाकर देखकर एक मिनट बाद सो जाता हूँ और कभी तो नेत्र भी नहीं खोलता; क्योंकि अभ्यस्त होनेसे

यह बात तुरंत मनमें आ जाती है कि यह वही पुकार है। नेत्र बंद करके सो जानेका प्रयत्न करते ही निद्रा आ जाती है—पहलेकी भाँति स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा।'

'समस्या टेढ़ी है।' डाक्टरने गम्भीरतासे कहा—'मैं पूरा इतिहास सुनना चाहता हूँ।'

'मैं लगभग पाँच वर्षका होऊँगा जब पहली बार यह पुकार मुझे सुनायी पड़ी' उसने बतलाना प्रारम्भ किया—'ग्राममें अपने घरके बाहर सो रहा था। मेरे द्वारपर चहार-दीवारीसे घिरी पर्याप्त भूमि थी। पिताजीके साथ उनके पलंगसे लगी मेरी छोटी खाट थी। सामने २०–२५ फीट दूर उत्तरकी ओर दूसरे मकानकी पिछली दीवार पड़ती है, जिसमें कोई खिड़की नहीं। गाँवोंके लोग घरोंकी पिछली, बाहरी दीवारोंमें खिड़कियाँ नहीं बनाते। चोरीसे रक्षाके लिये यह पद्धति ठीक ही है। रात्रिके तीसरे प्रहरमें सामनेके मकानकी दीवारसे सटकर जैसे किसीने मुझे पुकारा।'

डाक्टर उपाध्याय चुपचाप सुनते रहे और नोट करते रहे। 'स्पष्ट स्वरमें केवल मेरा नाम लेकर पुकारा गया। मेरे नेत्र खोलनेसे पहले दूसरी बार मेरा नाम लिया गया। मैं उठ बैठा। पिताजीको जगाकर मैंने बताया। उन्होंने केवल आश्वासन दिया कि 'डरनेकी कोई बात नहीं।' परंतु भय तो मेरे मनमें उस समय तनिक भी नहीं था। वैसे मैं बचपनमें अँधेरेमें जाते बहुत डरता था; किंतु उस पुकारसे जगनेपर मुझे कभी भय नहीं लगा।'

डाक्टर इस प्रकार देख रहे थे जैसे अभी और कुछ सुनना चाहते हों। वह कहता गया—'पहली पुकारपर मैं प्रायः 'क्या है? कौन है?' आदि बोल पड़ता था। परंतु धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जानेके कारण अब तो केवल 'हूँ' या 'जी' कहकर रह जाता हूँ। पुकारका वह स्वर मुझे कभी नहीं भूलेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नारीका कण्ठस्वर नहीं है। परंतु पुरुषका कण्ठस्वर गम्भीर और कोमल भी होता है—यह उस पुकारके अतिरिक्त मैं सोच ही नहीं सकता। वैसा स्वर कभी कहीं सुननेको मिलेगा, ऐसी आशा नहीं।'

× × ×

[२]

'आपके कुलमें किसीको सोते-सोते चलनेका रोग रहा है?' डाक्टर उपाध्यायने बहुत देर मस्तक झुकाकर सोचा और तब वह अद्भुत प्रश्न किया।

'रहा है' उसने बताया—'मेरे पिताजी बतलाते हैं पहले किसी समय कुछ महीनोंतक उनकी यह अवस्था कि पलंगपर सोते थे और सबेरे उठनेपर देखते थे कि गा सामने घास-भूसा डालनेकी चरनी (लम्बे कच्चे हौदे) लेटे हैं?'

'यह रोग कैसे दूर हुआ?' डाक्टरने पूछा।

'पिताजी तो इसे रोग मानते ही नहीं थे। वे भगवती दु उपासक थे और मानते थे कि देवीका ही यह कोई चम है।' उसने निःसंकोच बतलाया—'उनका रोग जैसे अक प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही अकस्मात् अपने आप चला भी और दुबारा फिर कभी नहीं लौटा।'

'आप जानते हैं कि मनोविज्ञान भूत-प्रेत तथा देव-चमत्क में विश्वास करके नहीं चलता।' डाक्टरने उसकी ओर दे

'मैं भी सोचता हूँ कि किसी प्रकार निर्णायक मन उ स्वप्नावस्थामें जाग्रत् हो जाता था।' उसने कहा।

'आपकी बात मैं ठीक समझ नहीं सका।' डाक बाधा दी।

'पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक मनके दो भाग करते हैं—बहि और अन्तर्मन। परंतु भारतीय मनोवैज्ञानिक भाग मानते हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।' उ अपनी व्याख्या सुनायी—'जाग्रत् अवस्थामें हम संकल्प हैं और उसके अनुसार कार्य करें या न करें, यह निर्ण करते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञान इन दोनोंको ही बहिर्म कार्य मानता है; किंतु भारतीय मानते हैं कि संकल्प क मनका कार्य है और निर्णय करना बुद्धिका। इस बुद्धिक नाम आधुनिक मनोविज्ञानके शब्दोंसे मेल बैठानेके लिये 'निर्णायक मन' रख लिया है।'

डाक्टरको अभी कुछ बोलना नहीं था। वह क गया—'अन्तर्मनको भारतीय चित्त कहते हैं। उसकी व्या और कार्यकी मान्यतामें कोई मतभेद नहीं। वह संस्कारात्मक स्मृतियोंका कोषागार है। स्वप्नके समय वही कार्य करता परंतु उसमें निर्णयकी शक्ति न होनेसे स्वप्नोंमें कोई कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्नमें ऊँटके धड़पर बकरे सिर या बकरीके हाथी-जैसी सूँड़ इसी अव्यवस्थाके क दीखती है।'

अब भी डाक्टर कुछ बोले नहीं। वे गम्भीरतासे रहे थे। उसने बताया—'यहीं भारतीय मनोविज्ञानकी मा

कि मनके चार भाग हैं—बहुत महत्त्वकी जान पड़ती है। सामान्य अवस्थामें बहिर्मन (मन) और निर्णायक मन (बुद्धि) दोनों सो जाते हैं साथ ही। यदि अन्तर्मन भी सो जाय तो गाढ़ निद्रा आ जायगी। अन्तर्मन जागता रहे तो स्वप्न दीखेंगे। परंतु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मनके साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत्‌के समान व्यवस्थित रूपमें कार्य करने लगेगा। अन्तर्मनमें संस्कार तो हैं ही, निर्णायक मन उन्हें व्यवस्था देकर शरीरको उनके अनुसार चलाने लगता है।'

'मैंने ऐसी घटनाएँ बहुत पढ़ी हैं कि लोगोंने निद्रासे उठकर लेख या पत्र लिखे हैं, दुर्गम यात्राएँ की हैं। यह सब उन्होंने अनजानमें सोते-सोते किया है।' डाक्टर उपाध्याय अब बोले—'इससे आपकी व्याख्या—आपका मनोविभाजन तो ठीक लगता है; परंतु अहंकार आप किसे कहते हैं?'

'वैज्ञानिकके लिये—विशेषतः यूरोपीय वैज्ञानिकके लिये इसे समझना बहुत कठिन है। वह यही जानता है कि शरीरमें रक्तका प्रवाह तथा हृदयकी गति अपने आप होती है। मनका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।' उसने समझाया—'परंतु आप भारतीय हैं, आपने देखा भले न हो; किंतु यह सुना होगा कि योगी जब समाधि लगा लेता है, तब हृदयकी गति तथा रक्तका प्रवाह भी बंद हो जाता है। समाधिका अर्थ है—सम्पूर्ण मनोनिग्रह अर्थात् मनके सब कार्यालयोंको बंद कर देना। मनके निरोधसे जो कार्य रुक जाते हैं, उनका संचालन मनके द्वारा होता है, यह समझना कठिन नहीं है। शरीरका पूरा अन्तर्बहिःसंचालन मनके द्वारा ही होता है। मनके इस संचालक भागको, जो गाढ़ निद्रामें भी सदा जाग्रत् रहता है, अहंकार कहते हैं। आप सुविधाके लिये चाहें तो इसे संचालक मन कह सकते हैं।'

'हम अपने वास्तविक विषयसे बहुत दूर चले आये, यद्यपि मुझे इससे लाभ ही हुआ।' डाक्टर उपाध्याय बोले—'मैं आपके इस विवेचनको और समझना चाहूँगा यदि आप समय देंगे।'

'परंतु मेरी समस्या इससे किसी प्रकार सुलझती नहीं।' उसने कहा—'मैं बहुत सोचकर थक गया हूँ। जो पुकार आती है, वह मानव-कण्ठसे इतनी भिन्न होती है कि उसके संस्कार मेरे भीतर होंगे, यह विश्वास करनेकी बात नहीं है। मैं स्वप्नावस्थामें उसे सुनता तो वह मेरे अन्तर्मनका कार्य हो सकता था, पर मैं तो घोर निद्रामें उसे सुनता हूँ। कब सुनूँगा यह समय भी निश्चित नहीं। चार दिनसे लेकर महीनोंतकके अन्तर पड़े हैं उसे सुननेमें।'

'मेरी समझमें कुछ नहीं आया, यह कहनेमें मुझे कोई लज्जा नहीं है।' डाक्टर उपाध्यायने बड़ी सरलतासे कह दिया। 'परंतु यहाँ गङ्गा-किनारे एक विरक्त संत आये हैं दो दिनसे। मुझे तो अच्छे साधु लगते हैं। आप उनके दर्शन कर आयें। जहाँ विज्ञान असफल होता है—इन महात्माओंकी शरण वहाँ अनेक बार सफल होते देखी गयी है।'

× × ×

[३]

'महाराज! मुझे कोई पुकारता है।' वह आस्तिक है और जब एक अच्छे मनोवैज्ञानिक किसी साधुकी प्रशंसा करते हों, तब उन महापुरुषके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा किसको नहीं होगी। वह सायंकाल महात्माके दर्शन करने पहुँच गया। वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे थे। एकान्त देखकर उसे प्रसन्नता हुई। प्रणाम करनेके पश्चात् अपनी समस्या उसने सुना दी।

'विश्वका कण-कण चञ्चल हो रहा है।' संतने अपने ढंगसे बात प्रारम्भ की—'प्रत्येक अणु गतिशील है। प्रत्येक प्राणी आकुल है कुछ करनेके लिये, कुछ पानेके लिये। इस गतिका, इस क्रियाका, इस आकुलताका एक ही अर्थ है—कोई पुकार रहा है। उसके पासतक जाना है। उसे पाये बिना विश्राम नहीं है। उसतक पहुँचे बिना सुखसे सोया नहीं जा सकता।'

'परंतु मुझे तो कोई नाम लेकर पुकारता है। मैं उसकी पुकार सुनता हूँ।' उसने फिर पूछा—'वह क्या चाहता है? क्यों पुकारता है मुझे? कौन है वह?'

'वह तो सभीको पुकार रहा है। यह सारी व्यग्रता उसकी पुकारकी ही प्रतिध्वनि है।' संतने अपनी ही बात कही—'उसकी पुकार कहाँ प्राणी सुनते हैं। वह पुकारता है, वह चाहता है कि इस अपूर्णतासे उस परम पूर्णकी गोदमें लोग पहुँचें। वह कौन है, यही तो जानना है। उसे जान लो बस, काम पूरा हो गया।'

'महाराज !' उसका समाधान नहीं हो रहा था। परंतु संतने बीचमें ही रोककर बात समाप्त कर दी—'उसकी पुकार सुनो ! इसमें तुम्हारा परम सौभाग्य है कि यह स्मरण रक्खो कि तुम्हें कोई पुकारता है।'

बड़े अद्भुत होते हैं ये साधु। बाबाजी तो उठे और खड़े हुए। वह दो क्षण खड़ा रहा उनको जाते हुए देखता व्यर्थ था अब उनके पीछे जाकर कुछ पूछना। वे अपनी मस्तीमें चले जा रहे थे। लौट आया वह; किंतु……।

सत्कथा

(१)

ईश्वरीय प्रेरणा

[सच्ची घटना]

(लेखक–श्रीसुखदेवविहारीलालजी माथुर)

मेरे पुत्र भुवनेश्वरीशङ्करकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वह एफ्० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके पश्चात् डाक्टरीका अध्ययन करे। उसने एफ्० ए० में बायलाजी विषय लिया था। संयोगवश कथित परीक्षामें वह तृतीय श्रेणीमें पास हुआ।

उसने डाक्टरीका अध्ययन करनेके लिये प्रार्थना-पत्र श्रीप्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, जयपुर एवं बीकानेरको दिया, परंतु उक्त श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेसे उसका प्रवेश कालेजमें नहीं हो सका एवं उसकी मनःकामना, जो अत्यधिक थी, पूर्ण न हो सकी। अन्तमें उसे बी० एस्-सी० में अध्ययन करनेके लिये विवश होना पड़ा।

ईश्वरीय प्रेरणावश मैं एक महीनेके पश्चात् जयपुर गया। मेरे एक परम मित्र श्रीहरिकृष्णदयालजी जज साहब मेरे मकानपर मुझसे मिलनेके लिये आये। उस समय मैं आमेर गया हुआ था। आमेरसे लौटनेपर मुझे माल्रम हुआ कि जज साहब मुझसे मिलने आये थे। मैं उसी समय उनके घर पहुँचा। पहुँचनेपर माल्रम हुआ कि वे मेड़ता जानेके लिये स्टेशन गये हैं। उनके घरपर चाय-पान करनेका आग्रह किया एवं मैं अत्यधिक थका हुआ था; परंतु ईश्वरीय प्रेरणावश वहाँ नहीं ठहरकर उसी क्षण स्टेशन पहुँचा। संयोगवश गाड़ी पंद्रह मिनट लेट हो गयी। जज साहब मुझसे मिले परस्पर वार्तालाप हुआ। उन्होंने अपने पुत्रके बारे चर्चा की कि मेरा पुत्र बीकानेर मेडिकल कालेजमें अध्ययन कर रहा है। यह सुनकर मुझे अपने पुत्रका ध्यान आया। मैंने उनसे कहा कि 'भुवनेश्वरीशङ्करका मेडिकल कालेजमें प्रवेश न होनेसे उसको बी० एस्-सी०में भर्ती होना पड़ा।'

११ अगस्त ५५ को जज साहबके पुत्रने मुझे टेलिग्रामद्वारा सूचित किया कि भुवनेश्वरीशङ्करको शीघ्र बीकानेर भेज दीजिये। मेरा लड़का दूसरे दिन बीकानेर चला गया। १३ अगस्त ५५ को प्रातःकाल वह मेडिकल कालेजमें प्रिंसिपल महोदयके पास उपस्थित हुआ और उन्होंने ही उसका दाखला कर दिया।

कुछ समय व्यतीत होनेपर माल्रम हुआ कि जज साहबने मेरे स्टेशनपर मिलनेके पश्चात् अपने पुत्रको पत्र लिखा कि माथुर साहबके लड़केकी मेडिकल कालेजमें भर्ती नहीं हुई है। जज साहबके पुत्रने वहाँकी पूरी जानकारी प्राप्त की कि कालेजमें एक विद्यार्थीकी जगह खाली है, बादमें मुझको तार दिया।

इस सारी घटनाका वर्णन करनेका उद्देश्य यह है कि जिस कार्यको मनुष्य असम्भव समझता है एवं स्वप्न-सदृश मान लेता है, वह कार्य भी ईश्वरीय कृपावश

पूर्ण हो जाता है । जिस प्रकार मेरे पुत्रकी आशा निराशामें परिणत हो गयी थी, परंतु अकस्मात् उसका प्रवेश मेडिकल कालेजमें हो गया जो कि स्वप्न-सदृश मिथ्या हो चुका था !

(२)

मानसमें कथा

(लेखक—श्रीघासीरामजी भावसार, विशारद)

सावधान

जातिसे शूद्र किंतु श्रद्धा-भक्तिसम्पन्न वृद्धा शबरीकी कुटियापर पधारे हैं, पतितपावन भगवान् श्रीराम । धर्मपरायणा तापसीके तो आनन्दका पार न रहा । नाच-नाचकर वनके पके हुए मूल एवं मधुर फल अर्पण करने लगी—

'अधम हूँ ! अधमसे भी अधम जड़मति नारी हूँ ।'

'स्त्री है तो क्या हुआ ? भिल्लनी है तो क्या हुआ ? प्रबल सम्बन्ध तो भक्तिका है, भामिनी ! शूद्रों तथा नारियोंके लिये नवधा-भक्तिका स्वरूप, साध्वी ! सावधान* होकर सुन—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

संतोंका संग और भगवत्-कथाका श्रवण ।

साँपके बिल

भक्तिके अनेकानेक प्रकारोंमें—कहीं-कहीं सर्व-प्रथम—आता है 'श्रवण' । श्रुति अथवा कानके माध्यम-द्वारा सभी प्रकारके शब्द अन्तस्तलमें प्रविष्ट होते हैं, धन्य हैं वे कर्ण-गह्वर, जिनमें निरन्तर हरिनामका प्रवेश होता रहता है । हरिकथा सुननेवाले कान सार्थक हैं; वे चर्म-श्रोत्र नहीं—

'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना ।
श्रवनरंध्र अहि भवन समाना ॥

श्रीरामकी कथा

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम हैं सर्वगुण-सम्पन्न; फिर उनकी कथामें कौन-सा गुण न होगा ? शुभ, सुन्दर, मधुर, पावन, विशद, विमल, सुखद, सुहाई, विचित्र, अलौकिक, मंगलकरनि आदि-आदि सभी कुछ तो हैं—

'सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल ।'

× × ×

'राम कथा सुंदर करतारी ।

× × ×

'तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ।

× × ×

'कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी ।

× × ×

'पूँछिहु रामकथा अति पावनि ।

× × ×

'कहहु राम के कथा सुहाई ।

× × ×

'मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की ।

× × ×

* सावधान सुनु धरु मन माहीं । श्रीरामचरितमानसमें, जहाँतक हमने खोज की, भगवान् रामको कहीं भी, किसी भी पात्रको किसी भी प्रसंगमें सावधान करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, वैसे तो जो संत होते हैं, वे सदा ही सावधान रहते हैं—

'सावधान' मानद, मदहीना ।'

असावधानी, प्रमाद अथवा आलस्य संतोंसे कभी नहीं होता, किंतु स्त्रियोंका स्वभाव चपल होनेके कारण उन्हें यदा-कदा सावधान करनेकी आवश्यकता होती है । भगवान् शिवने पार्वतीजीको मानसकथावर्णनमें बार-बार सावधान किया है यथा—

'सावधान सुनु सुमति भवानी ।'

× × ×

'सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि ।'

उपर्युक्त प्रसंगमें शबरीको जो सावधान करके कहा गया है वह न केवल त्रेता ही वरं कलियुगके शूद्रों तथा स्त्रियोंके लिये भी माननीय है ।

सुरधेनु-सम

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ! यह तो हुई काशीके विश्वनाथ बाबाकी पण्डितोंको मिली हुई सम्मति । अब रामकथाकी जिज्ञासु भगवती पार्वतीसे भगवान् क्या कहते हैं । सुनिये—

'राम कथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख दानि ।'

संसारके सभी प्रकारके सुख प्रदान करनेवाली मानसकी कथा !

ठीक है, दुःख मिलते हैं विषयमननसे—विषय-सेवनसे । और मानसमें—

'इहाँ न बिषय कथा रस नाना ।'

विषयकथाका नितान्त अभाव । यही इसका दोष है, अवगुण है । आलोचकोंकी धारणा जो ठहरी ।

'प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी ।
तिन्हहिं कथा सुनि लागहि फीकी ॥'

फीकापन ! होगा ही । सुप्यारी (सुपारी) प्रीतिके बिना कथा (कत्था) का रसपान (ताम्बूल) कैसा ?

'कल्याण'ने गत वर्ष संत-वाणी-अङ्क निकालकर संतोंका सङ्ग—सत्सङ्ग कराया था । इस वर्ष भक्तिके दूसरे अङ्ग कथा—सत्कथाओंका प्रकाशनकर मानव-कल्याणके पथमें एक पग और आगे बढ़ाया है, जो स्तुत्य है ।

'बिनु सतसंग न हरि-कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।'

(३)

जहाँ नास्तिक भी आस्तिक बन जाते हैं

(लेखक–श्रीविश्वनाथजी कुलश्रेष्ठ)

यह विगत द्वितीय महायुद्धकी एक सच्ची घटना है । एक विमानचालक शत्रुदेशकी स्थितिके चित्र लेनेके लिये रवाना हुआ । पर अपने गन्तव्यपर पहुँचनेसे पूर्व ही विमानभेदी तोपकी गोलियाँ उसके विमानमें लगीं । इससे उसके दोनों इंजिन बेकार हो गये । उस समय वह विमान भूमध्यसागरके ऊपर उड़ रहा था । इंजिन बेकार होनेपर विमान नीचेकी ओर गिरने लगा। इस समयतक चालकको पूरा होश था और उसे विमानकी इस दुर्घटनाका एक-एक विवरण भलीभाँति स्मरण था । इसके बादकी घटनाके बारेमें उसे स्मरण नहीं; क्योंकि सम्भवतः उसका विमान समुद्रमें गिरकर तत्काल डूब गया होगा और उसके साथ वह विमान-चालक और उसके साथी भी समुद्रके अतल गर्भमें चले गये होंगे ।

इसके बादकी दूसरी, जिस घटनाका उसे स्मरण था, वह यह है कि वह चालक समुद्रकी लहरोंपर तैर रहा है और अपनेको डूबनेसे बचानेकी जीतोड़ कोशिशमें लगा हुआ है । पर उसका एक पैर घुटनेके पाससे कट गया है । उसके पैरसे प्रचुर मात्रामें रक्त बह रहा है और ऐसा लगता है मानो वह पानीके बजाय रक्तके सागरमें ही उतरा रहा हो । उसके पैरसे इतनी तेजीसे खून निकल रहा था कि उसकी प्राणशक्ति लगातार घटती जा रही थी। उसे लग रहा था कि वह कुछ ही क्षणोंका मेहमान है । अचानक उसके शरीरसे लकड़ीका एक तख्ता टकराया । यह विमानमें लगी हुई प्लाईवुडका तख्ता था और आश्चर्यकी बात यह थी कि इस तख्तेके ऊपर 'फर्स्ट एड चिकित्सा' का वह बक्सा भी रक्खा हुआ था जो उसके विमानमें रक्खा रहता था । चालकने जिस किसी तरह फर्स्ट एडके बक्सेको खोला और उसमेंसे कपड़ेकी पट्टी निकालकर अपनी जाँघपर कसकर बाँध ली, जिससे खूनका बहना रुक गया । इतनेमें ऊपरसे एक विमान उड़ता हुआ गुजरा । विमानमें बैठे हुए व्यक्तिने समुद्रकी लहरोंसे संघर्ष करते हुए इस व्यक्तिको देखा तो अपने विमानसे हवा भरा हुआ रबरका एक पहिया नीचे गिरा दिया । लहरोंसे संघर्ष करनेवाले चालकने उस पहियेको पकड़ लिया और उसके सहारे वह लहरोंपर तैरने लगा । थोड़ी देर बाद पानीका

जहाज वहाँसे गुजरा और उसने उस चालकको अपने ऊपर चढ़ा लिया। अकल्पनीय घटनाओंकी सृष्टि करने और आसन्न मृत्युके मुखमेंसे भी बचा निकालनेकी सामर्थ्यवाले सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ताके प्रति कृतज्ञतासे अभिभूत होकर उस विमानचालकका मुख आँसुओंसे भीग गया।

एक दूसरे विमानचालककी आपबीती सुनिये। यह चालक शत्रुओंपर बमवर्षा करके अपना बमवर्षक विमान लेकर स्वदेश लौटा। पर बमवर्षा करते समय एक छोटा बम उसके विमानके पंखेके पास बिना फटे हुए अटक गया था। वापस लौटकर जब उसका विमान जमीनपर उतरा तो जमीनसे छूनेपर हल्का-सा धक्का लगा, जिससे पंखेके पास अटका हुआ वह बम धड़ाकेके साथ फटा। बमका फटना था कि विमानकी टंकीमें भरे हुए पेट्रोलने आग पकड़ ली और पलभरमें बिजलीकी टार्चकी भाँति सारे विमानमें आग लग गयी। चालक खिड़की खोलकर भागनेका प्रयत्न करने लगा, पर वह सीटसे बेल्टोंद्वारा बँधा हुआ था। वह बेल्टें खोलने लगा। चारों ओर आग लगी हुई थी, जिससे उसकी हाथोंकी अँगुलियाँ प्रतिपल शिथिल होती जा रही थीं। इसके पूर्व कि वह बेल्टोंको खोल पाये, वह संज्ञाहीन हो गया। इसके बाद उसे पता नहीं कि क्या हुआ। अन्तिम बात जो उसे याद थी, वह यह कि उसने अपना अन्त आया देखकर भगवान्से प्रार्थना की थी—'हे भगवन्! मेरी मदद कर।' दूसरी बात जो उसे याद थी वह यह कि वह अस्पतालमें रोगियोंकी चारपाईपर लेटा हुआ है और डाक्टर उसके ऊपर झुका हुआ है। किसीको भी यह पता नहीं कि जलते हुए विमानके भीतरसे उसे कब और किस प्रकार जीवित बाहर निकाला गया। उसने कहा कि मुझे यह विश्वास हो गया कि भगवान्ने मेरी आर्त पुकार सुनी और मुझे तत्क्षण बाहर निकाल लिया।

अधिकांश युवक जिस समय विमानचालककी ट्रेनिङ्ग लेनेके लिये भरती होते हैं, उस समय वे नास्तिक होते हैं। उनका विश्वास होता है कि चालकका कार्य मनुष्यमें असाधारण साहस और वीरताकी अपेक्षा करता है—ईश्वर नामकी काल्पनिक सत्ताकी अदृश्य शक्तिपर भरोसा करना चालकके पेशेके साथ मेल नहीं खाता। पर ये युवक ट्रेनिङ्ग लेनेके बाद जब विमान लेकर उड़ते हैं, तब ऐसी-ऐसी अदृश्य परिस्थितियाँ सामने आती हैं और वे ऐसे कल्पनातीत परिणामोंमें बदल जाती हैं कि चालकोंके मन अदृश्य शक्तिके प्रति बलात् आस्थावान् हो जाते हैं। अपने पेशेका व्यावहारिक अनुभव इनमें यह विश्वास पैदा कर देता है कि ऐसी परिस्थितिमें जहाँ कोई सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती, वहाँ भगवान्का सहारा काम आता है और दुर्घटना होनेपर केवल उसकी ही सहायतासे मनुष्यका उद्धार सम्भव है। जैसे-जैसे ये अकल्पित घटनाएँ दोहराती चलती हैं, वैसे-वैसे विमानचालकके मनमें ईश्वरकी सत्ताके प्रति आस्था दृढ़ होती जाती है।

एक विमानचालकने, जो उस समयतक नास्तिक था, अपने जीवनको मोड़ देनेवाली एक घटना सुनायी। यह भी विगत महायुद्धके समयकी ही घटना है। यह चालक रसद लेकर अपने वायुयानमें बैठा हुआ जा रहा था कि अचानक सामनेसे आते हुए जर्मन बम-वर्षकोंका काफिला दिखलायी दिया। शत्रुके विमानोंका बड़ा भारी काफिला देखकर वह अकेला विमानचालक इतना घबरा गया कि उसका मस्तिष्क आगे कुछ ही नहीं देख पाया। इतनेमें पास ही बैठे हुए उसके सहयोगी गनर (विमानमें लगी हुई मशीनगन चलानेवाला) ने जोरसे कहा, 'विमानको मोड़ो'। पर उस समयतक शत्रुके बम-वर्षक बहुत समीप आ गये थे। यदि वह विमान मोड़ता भी तो भी उन बम-वर्षकोंकी गोलीकी मारके दायरेसे बाहर नहीं जा सकता था।

अतः कोई चारा न देखकर वह मौन होकर भगवान्से रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगा । गनर अपना गला फाड़कर पुनः चिल्लाया—'अरे सुनता नहीं, विमानको तत्काल मोड़ ।' पर विमानचालक एकदम मौन रहा । यह देखकर अपनी अन्तिम घड़ी निकट आयी जान वह गनर भी मौन होकर अपने पापोंके लिये भगवान्से क्षमा करनेकी प्रार्थनामें लीन हो गया । पता नहीं क्यों, उन जर्मन बम-वर्षकोंके काफिलेके नेताके दिमागमें क्या विचार आया कि सारा-का-सारा काफिला कुछ ही क्षणोंके भीतर मुड़ा और जिस ओरसे आ रहा था उसी ओर भागने लगा और समस्त बमवर्षक क्षणोंमें ही दृष्टिसे दूर होते हुए ओझल हो गये । पर उस विमानचालक और उसके सहयोगी गनरको यह विश्वास हो गया कि उनकी सच्चे मनसे की गयी प्रार्थनाने ही उन्हें मौतके मुखमेंसे बाहर निकाल लिया ।

एक चालक शत्रुके प्रदेशपरसे गुजर रहा था कि उसका विमान शत्रुकी विमानभेदी तोपोंकी मारके भीतर आ गया । तत्काल उसने अपने विमानको आकाशकी ओर मोड़नेकी चेष्टा की, पर विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना बंद कर दिया । उधर भूमिपरसे विमानभेदी तोपोंसे गोलियाँ छूटने लगीं । अन्त समय निकट आया देखकर विमानचालकने आर्त वाणीमें भगवान्से निवेदन किया—'हे भगवन्! सिर्फ इसी बार मुझे बचा ले, चाहे फिर न बचाना ।' पलभरमें न मालूम क्या हुआ कि विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना प्रारम्भ कर दिया और चालक विमानको मोड़कर तत्काल दूर आकाशमें उड़ गया ।

एक चालकको अपना पेशा प्रारम्भ करनेके कुछ समय बाद अपनी पत्नी और बाल-बच्चोंकी चिन्ता रहने लगी । वह यह सोचता रहता कि यदि मैं किसी दुर्घ[टना] में समाप्त हो गया तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी व्यव[स्था] कैसे होगी । वह इसी सोच-विचारमें रहा करता था । एक दिन उसे लड़ाईके मोरचेपर जानेका आदेश [मिल] गया । अब तो उसकी जान बचना लगभग अस[म्भव] ही हो गया । उसे अपने मृत पिताका कहा हुआ वचन याद आया कि जब विश्वमें सब सहारे समाप्त [हो] जाते हैं, तब भगवान्का सहारा ही काम देता है । चालकको यद्यपि भगवान्में आस्था नहीं थी, पर मन[को] ढाढ़स देनेके लिये भी कोई वस्तु न थी । अपने[को] नितान्त निःसहाय पाकर उसके मनमें अपने पिता[का] उक्त वचन बार-बार याद आने लगा । अन्तमें जब मोरचेपर चलने लगा, तब उसने दीन होकर भगवा[न्से] प्रार्थना की—'हे भगवन्! यदि तू वास्तवमें कहीं [है] तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी मदद करना । मैं तेरे ही सह[ारे] उन्हें छोड़े जाता हूँ ।' यह प्रार्थना कई बार कर[नेके] पश्चात् वह लड़ाईपर चला गया । लड़ाई समाप्त होने[पर] वह सुरक्षितरूपसे वापस लौट आया । तबसे ईश्व[रके] प्रति उसका विश्वास निरन्तर बढ़ता गया ।

एक अमरीकी विमानचालकने अपने कमरेमें [इस] प्रकारके वाक्य लिखकर टाँग रखे थे—'जब तुम क[ष्टमें] होओ, तब भगवान्से सहायताके लिये प्रार्थना करो । [वह] इसमें सीमासे अधिक उदार है । जब तुम कष्टमें न होओ तब भी उसे स्मरण करना न भूलो । उससे प्रति[दिन] किया गया आत्मनिवेदन व्यर्थ नहीं जाता । भगवान् [ही] एकमात्र ऐसा अति सहृदय व्यक्ति है जो किसी [भी] समय और किसी भी परिस्थितिमें सहायताके लिये तै[यार] रहता है—अन्य किसीमें इतनी अधिक उदारता नहीं [है] ।'

और यही भावनाएँ अधिकांश विमान-चालकों[की] बन जाती हैं ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

बृहदारण्यकोपनिषद्

(मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १३८४, सुन्दर ६ तिरंगे चित्र, हाथकर्घेसे बने कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य ५॥) मात्र । डाकखर्च २।=) ।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयिब्राह्मणके अन्तर्गत है । कलेवरकी दृष्टिसे यह समस्त उपनिषदोंकी अपेक्षा 'बृहत्' है तथा अरण्य (वन) में अध्ययन-की जानेके कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं । इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम बृहदारण्यक हुआ है । यह बात भगवान् भाष्यकारने ग्रन्थके आरम्भमें ही कही है । वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार करते हैं—'बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ।' (सं० वा० ९) भाष्यकारने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यकपर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद्पर नहीं लिखा । उपनिषद्-भाष्योंमें इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं ।

इस उपनिषद्की प्रतिपादन-शैली बहुत ही सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त है । इसमें कुल छः अध्याय हैं । इसमें दो-दो अध्यायोंके मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंज्ञक तीन काण्ड हैं । इनमेंसे मधु और खिल काण्डोंमें प्रधानतया उपासनाका तथा याज्ञवल्कीयकाण्डमें ज्ञानका विवेचन हुआ है । भाष्यकारने इसकी व्याख्या करते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया है । ग्रन्थमें देवताओंका उद्गीथके द्वारा असुरोंका पराभव करना, गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-संवाद, जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद, आत्माका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके साधन, आत्मज्ञानकी स्थिति, प्रजापतिका देव, मनुष्य और असुरोंके प्रति उपदेश, प्राणोपासना, गायत्री-उपासना आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर विषय हैं । ग्रन्थके अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है ।

सं० १९९९ में पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। पुनः कई कठिनाइयोंके कारण दूसरा संस्करण प्रकाशित न हो सका । अब यह ३००० प्रतियोंका नया संस्करण छापा गया है । पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने यहाँके विक्रेतासे पूछ लेना चाहिये; जिससे भारी डाक-खर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

विनीत प्रार्थना

तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें अवकाश न मिलनेके कारण पत्रोंका उत्तर नहीं दिया जा रहा है । कृपया क्षमा करें और अत्यन्त आवश्यक कारण छोड़कर दो महीनेतक पत्र न लिखनेकी कृपा करें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

मासिक महाभारतके ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये

महाभारतके चार अङ्क ग्राहकोंकी सेवामें पहुँच चुके हैं। स्थान-स्थानसे जो पत्र आ रहे हैं, उनसे पता लगता है कि अधिकतर महानुभावोंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाया है। ग्राहक भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। ग्राहकोंकी माँग इतनी अधिक संख्यामें लगातार आ रही है कि तीन ही मासमें प्रथम संस्करण-के तीनों अङ्क प्रायः समाप्त हो गये हैं तथा उनका दूसरा संस्करण शीघ्र ही छापनेका प्रयत्न किया जा रहा है। चौथे अङ्कसे इसका संस्करण बढ़ाकर ड्योढ़ा कर दिया गया है। यही इसकी उपयोगिताका प्रमाण है।

यह पञ्चम वेद माना गया है। ऐसा कोई भी उपयोगी विषय नहीं है, जो इसमें न आया हो। अतएव हम पाठकों और सभी महाभारतके प्रेमियोंसे निवेदन करते हैं कि वे स्वयं ग्राहक बनें और अपने इष्ट-मित्रोंको ग्राहक बनानेकी चेष्टा करें। इतना सस्ता हिंदी-भाषानुवादसहित सचित्र संस्करण इस समय कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यदि यह संस्करण भी समाप्त हो गया तो पुनः नये संस्करणका निकट भविष्यमें छपना कठिन है; अतः ग्राहक महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

मासिक महाभारतके ग्राहक कार्तिक (नवम्बर) से आश्विन (अक्टूबर) तकके पूरे वर्षके लिये बनाये जाते हैं। पूरा महाभारत अनुवादसहित तीन सालमें सम्पूर्ण निकल जानेकी आशा है।

इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित २०) है। प्रत्येक अङ्क रजिस्टर्ड पोस्टसे भेजा जायगा। प्रतिमास रजिस्टर्ड पोस्टसे अङ्क भेजे जानेके कारण अङ्कोंके खोनेका भय प्रायः नहीं रहेगा।

एक मासिक अङ्कके दाम २) हैं। जो लोग नमूनेका अङ्क मँगवायेंगे उन्हें भी रजिस्ट्रीके द्वारा ही २) में अङ्क भेजा जायगा।

व्यवस्थापक—महाभारत-मासिकपत्र, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)
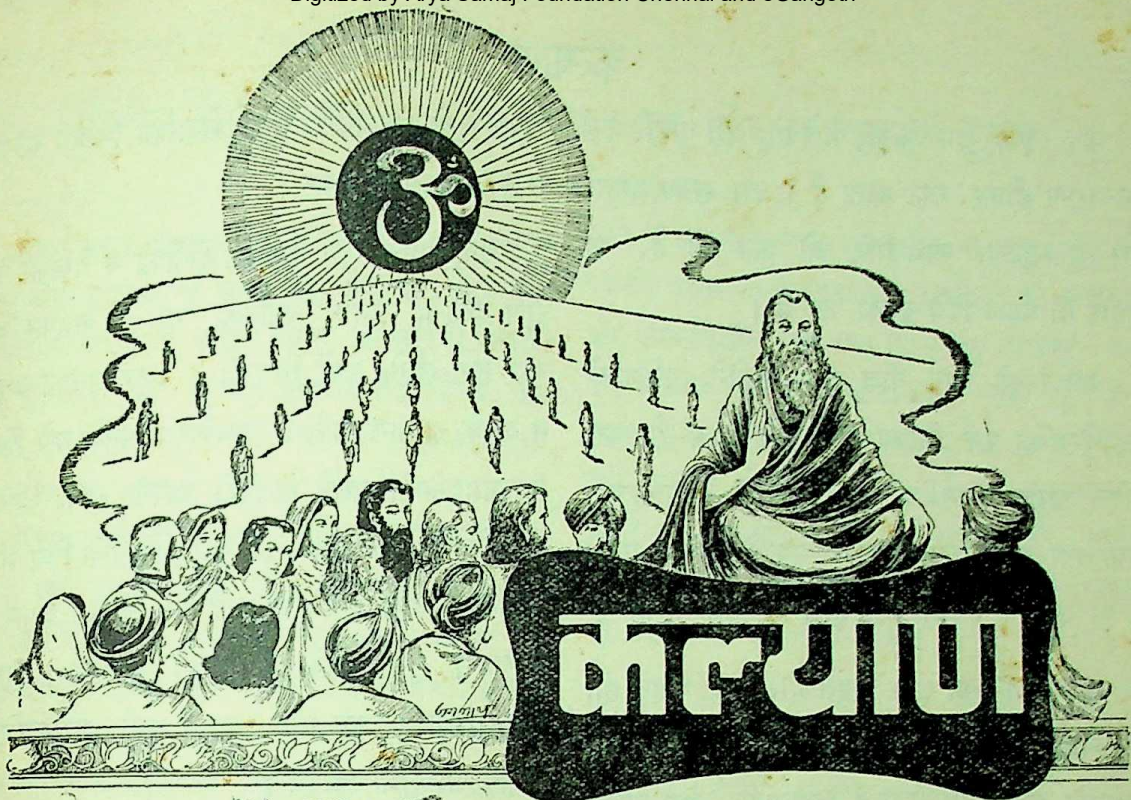
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१३, मई १९५६ { संख्या ५ पूर्ण संख्या ३५४

कैलासनिवासी उमा-महेश्वर

सेइय निसि-दिन संभु-भवानी ।
जिनकी अकथ कथा कहिबेमें चूकत सेस मूक इव बानी ॥
संत-हृदय सम स्वच्छ समुज्ज्वल गिरि कैलास लखावै ।
ता ऊपर अनादि दम्पति द्वै जग पितु-मातु सुहावैं ॥
बिजन बैठि सत्संग करत दोउ बूझति प्रस्न भवानी ।
भाव-भगतिको मरम बतावत संभु सदासिव ग्यानी ॥
देखि न सकत दैन्य काहूको दयासिंधु दोउ प्रानी ।
दोऊ आसुतोष करुनामय, दोऊ औढर दानी ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

याद रक्खो—तुम जो कुछ देते हो, वही तुम्हारे पास अनन्तगुना होकर लौट आता है । इस समय तुम्हारे पास सुख-दुःख, लाभ-हानि जो कुछ भी है, वह तुम्हारे ही पहले दिये हुएका फल है ।

याद रक्खो—जैसा बीज तुम बोओगे, परिणाममें तुम्हें वैसा ही फल मिलेगा । बोओगे आक और फल मिलेगा उसका आम बनकर—यह नहीं हो सकता । आक तथा आमके पहले अङ्कुर एक-से निकल सकते हैं, पर अन्तिम फल तो वही होगा जो बीज था ।

याद रक्खो—तुम सुख चाहते हो, प्रेम चाहते हो, मान चाहते हो, बड़ाई चाहते हो, आश्रय चाहते हो, आश्वासन चाहते हो, शान्ति चाहते हो, हित चाहते हो, तो इनमेंसे तुम्हारे पास जो कुछ है, जितना है, उतना उदारताके साथ दूसरोंको देते रहो—तुम्हारे पास किसी-न-किसी रूपमें ये सभी चीजें हैं भी; क्योंकि भगवान् ये सभी चीजें प्रायः सभीको देते हैं, पर जो मनुष्य इनको अपने पास ही रख लेना चाहता है, उसकी ये चीजें पड़े बीजोंके सड़ जानेकी भाँति नष्ट-प्राय हो जाती हैं और जो देता है, उसको खेतमें पड़े बीज अनन्तगुने होकर वापस मिल जाते हैं, वैसे ही बहुत बड़े परिमाणमें ये वापस मिल जाती हैं ।

याद रक्खो—तुम दूसरोंके अपने बनोगे, उनके दुःखमें हिस्सा बटाओगे, पीड़ामें उन्हें आश्वासन दोगे, उनके प्रति सदा प्रेम, सेवा, सहानुभूति तथा उदारताका बर्ताव करोगे तो सारा जगत् तुम्हारा अपना बन जायगा । सबसे तुम्हें आत्मीयता, सेवा, सहायता मिलती रहेगी—सदा अनन्तगुनी होकर ।

याद रक्खो—तुम दूसरोंके दोषोंको न देखकर उनके गुण देखोगे, उनके बर्तावकी भूल न बताकर अपनी भूल मान लोगे, उन्हें झिड़की न देकर उनका अपमान न करके सम्मान करोगे, उनके जीवनमें नये छिद्र न बनाकर उनके पुराने छिद्रोंको अपने गुण, त्याग—बलिदान तथा उदारतासे ढक दोगे, किसीके लिये भी सूई न बनकर धागा बनोगे तो तुम्हें सब लोगोंसे अपार प्यार मिलेगा । तुम सबके अपने हो जाओगे । तुम्हारी सुख-सुविधाका ध्यान लोग अपनी सारी सुख-सुविधाका उत्सर्ग करके भी रक्खेंगे ।

याद रक्खो—यदि तुम ऐसा व्यवहार-बर्ताव निष्काम भावसे करोगे, सबमें भगवान् मानकर भगवान्‌की सेवाके भावसे करोगे, भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही केवल करोगे तो तुम्हें इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी——दुर्लभ भगवत्प्रेम प्राप्त हो जायगा ।

याद रक्खो—तुम्हारा यह जीवन किसीको दुःखी बनाने, किसीका सुख छीनने तथा किसीको असुविधा देनेके लिये नहीं है । वैसा जीवन तो राक्षसोंका होता है । तुम मानव हो, तुम्हारा जीवन सेवाके लिये—अपना सब कुछ देकर सबको सुख पहुँचानेके लिये है । तभी तुम मानव हो, तभी तुम्हारे मानव-जीवनकी महत्ता है और इस महत्ताको केवल भगवत्प्रीत्यर्थ स्वीकार करनेमें ही मानव-जीवनकी सफलता है ।

'शिव'

प्राचीन सिद्धान्तको माननेमें परम लाभ और न माननेमें हानि

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वर्तमान युगमें पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको सुन-पढ़कर बहुत-से मनुष्योंके हृदयमें यह बात बैठ गयी है कि जड पदार्थोंसे अर्थात् पाँच भूतोंसे चेतन जीवात्माकी उत्पत्ति होती है, किंतु यह मान्यता शास्त्रविपरीत तो है ही, युक्तिसे भी विपरीत है। यदि ऐसी ही बात होती तो जो मनुष्य मर जाता है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर तो यहाँ विद्यमान है ही, उसमें जिस भूतकी कमी हो, उसकी पूर्ति करके उसमें नये जीवात्माको क्यों नहीं तैयार कर लेते ? जो बालक तथा जवान मनुष्य मर जाता है, उसके तो प्रायः सभी अवयव अच्छी हालत-में ही विद्यमान रहते हैं; अतः उसमें तो जीवात्माको तैयार कर लेना बहुत ही सीधा काम होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं। इसलिये उनका कथन बिल्कुल असङ्गत है।

दूसरी बात इसमें यह विचारणीय है कि जीवात्मा तो इस शरीरसे निकलकर चला जाता है और शरीर यहाँ ही पड़ा रहता है, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इसलिये जीवात्मा और पाञ्चभौतिक शरीर भिन्न-भिन्न है।

तीसरी बात यह विचारणीय है कि जन्मसे ही कोई मनुष्य तो दुःख पाता है और कोई सुख; तो यह भेद क्यों ? उन्होंने इस जन्ममें तो अभीतक कोई पाप या पुण्य किया ही नहीं, फिर उनको सुख-दुःख क्यों ? अतः मानना पड़ेगा कि पूर्वमें किये हुए बुरे कर्मका फल दुःख और अच्छे कर्मका फल सुख होता है।

संसारमें दो पदार्थ प्रत्यक्ष हैं—(१) जड और (२) चेतन। जो जानने-समझने और देखनेमें आता है, वह जड है और जो जानने-समझने और देखनेवाला है, वह चेतन है। वह उस जाननेमें आनेवाले पदार्थसे भिन्न है। जड पदार्थको तो सुख-दुःख होता नहीं, प्रत्युत जडके सम्बन्धसे चेतन जीवात्माको ही सुख-दुःख होता है। यह बात स्पष्ट ही देखी जाती है। सभी जड पदार्थ बदलते रहते हैं। कालके सम्बन्धसे शरीर भी आयु, माप और वजनमें घटता-बढ़ता रहता है। इसलिये वह क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील कहा गया है; किंतु जीवात्मा कभी देश-कालके सम्बन्धसे घटता-बढ़ता नहीं है। देखा जाता है कि जिस मनुष्यका आत्मा बीस वर्षके पूर्व था, वही आज है; किंतु बीस वर्षके पूर्व उस मनुष्यका जो शरीर था, वह आज ठीक उसी रूपमें नहीं, उसका वजन, माप, अवस्था तथा शरीरके अन्य सब परमाणु भी बदल गये; पर आत्मा तो वही है, जो पहले था।

हमारे शास्त्रोंमें तो यह स्पष्ट लिखा ही है कि जीवात्मा जो पहले था, वही अब है और वही बादमें भी रहेगा। गीतामें भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

जिस तरह एक शरीरकी अवस्था बदलती है, वैसे ही एक शरीरके बाद दूसरा शरीर बदल जाता है, पर जीवात्मा वही रहता है। भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

क्योंकि देहके नाश होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (गीता २। २०)

तथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अत: शास्त्रसे तो उपर्युक्त बात सिद्ध ही है। इसके सिवा, इसमें युक्ति भी बहुत बलवान् है। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आप तो यह मानते हैं कि शरीरका नाश होनेपर आत्माका नाश हो जायगा और हम मानते हैं कि ऐसा नहीं होगा, तो विचारिये, यदि आपकी ही बात सिद्ध हो गयी तो देहान्त होनेपर आपके लिये भी परलोक नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इस पक्षमें तो दोनोंके लिये एक-समान बात है। अत: आपके पक्षसे भी हमारी कोई हानि नहीं। पर यदि हमारा पक्ष ही ठीक निकला कि शरीरके मरनेपर भी जीवात्मा रहता है तो हम तो परलोकमें जीवात्माको सुख-शान्ति मिले ऐसी चेष्टा करेंगे, जिससे हमें तो परलोकमें वह लाभ प्राप्त हो सकता है। परंतु जो ऐसा नहीं मानेगा, वह परलोकके लिये प्रयत्न ही क्यों करेगा और प्रयत्न किये बिना उसे वह लाभ मिलेगा भी कैसे? अत: इस सिद्धान्तके अनुसार भी हमीं लाभमें रहेंगे और वह लाभसे वञ्चित रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह यदि समाजमें नास्तिक समझा जाने लगेगा तो लोग उससे घृणा करेंगे और परलोकको माननेवाला मनमें परलोकका भय बना रहनेसे पाप नहीं करेगा, उसकी संसारमें इज्जत रहेगी; अत: उसको इस जीवनकालमें भी लाभ-ही-लाभ है।

उपर्युक्त मनुष्योंकी यह धारणा भी है कि जो भी पुरानी वस्तुएँ हैं—जैसे पुराने शास्त्र, प्राचीन धर्म, पुरानी रीति-रिवाज आदि—इन सबको नष्ट करके नित्य नयी वस्तुको लेना चाहिये, नया आविष्कार करना चाहिये; किंतु इस विषयमें गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। एक प्रकारसे तो पदार्थमात्र ही परिणामी होनेके कारण बदलकर नित्य नया होता ही रहता है; और दूसरे प्रकारसे विचारकर देखनेपर यह प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य पुरानी सभी वस्तुओंको काममें न लाकर सदा नयी ही वस्तुको काममें लाये, यह असम्भव है। जैसे हमलोग दाल, भात, रोटी, साग खाते हैं, तो उक्त मान्यताके अनुसार तो एक बार जिस पदार्थको खा लिया उसे फिर दुबारा नहीं खाना चाहिये। इस प्रकार तो नित्य एक नयी वस्तु खाते-खाते सब वस्तुएँ एक दिन पुरानी हो जायँगी और फिर नयी वस्तु कोई मिलेगी ही नहीं। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे विषयोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आज एक स्त्रीसे सम्भोग किया, कल दूसरीसे; क्योंकि वह तो पुरानी हो गयी। आज एक कमरेमें वास किया, कल दूसरेमें। इस प्रकार तो कोई सदा कर ही नहीं सकता। यदि कुछ कालके लिये कर भी ले तो विचार करनेपर वह पशु-जीवनसे भी गया-बीता जीवन ही सिद्ध होगा।

रही सिद्धान्तकी बात, सो सिद्धान्त तो ऋषि-मुनियोंका देखना चाहिये। वे त्रिकालज्ञ थे—उन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था। उनमें योग और ज्ञानकी शक्ति तथा बल-बुद्धि थी। अथर्ववेद, नारदपुराण, योगदर्शन, महाभारत आदि हमारे शास्त्रोंमें कलाकौशलकी जो बातें आती हैं, वे वर्तमान युगमें किसी भी मनुष्यमें देखनेमें नहीं आतीं। उनको कोई भी मनुष्य नहीं दिखा सकता। पूर्वकालमें मनुष्योंमें तप, योग और मन्त्रोंकी अलौकिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्रत्यक्ष थीं, उनके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, वारुणास्त्र आदि अस्त्रोंकी जो शक्तियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं वैसी शक्ति आजके एटमबम, अणुबम आदि किसी भी अस्त्र-शस्त्रकी नहीं है। कुबेरके पुष्पकविमान, कर्दम मुनिके विमान, राजा शाल्वके सौभविमान और राजा

उपरिचर वसुके विमानकी ओर ध्यान दीजिये। कितने विचित्र थे वे। इसी प्रकार अनेक विचित्र विमानोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। ऐसे वायुयान वर्तमानमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। सिद्धियाँ भी जैसी उस समय कपिल, भरद्वाज आदि मुनियोंमें थीं, वैसी आज नहीं देखनेमें आतीं। श्रीहनुमान्‌जीमें भी कैसी विचित्र सिद्धियाँ थीं, वे इच्छानुसार छोटा और बड़ा रूप धारण कर लेते थे।

श्रीवेदव्यासजीमें कैसी अलौकिक शक्ति थी कि उन्होंने मरी हुई अठारह अक्षौहिणी सेनाको बहुत वर्षों-के बाद भी बुलाकर दिखा दिया तथा सञ्जयको दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीनकालके ऋषि-मुनियोंका कला-कौशल और ज्ञान आजकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। दर्शन-शास्त्रोंके रचयिता ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिकी प्रखरता उनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट प्रतीत होती है।

महर्षि पतञ्जलिने शरीरकी शुद्धिके लिये चरककी, आत्माकी शुद्धिके लिये योगदर्शनकी और वाणीकी शुद्धि-के लिये अष्टाध्यायीके महाभाष्यकी रचना की। उनके-जैसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ आज कोई भी नहीं रच सकता। उन ऋषि-मुनियोंमें तप, योगबल और मन्त्रकी अद्भुत सामर्थ्य थी।

श्रीच्यवन ऋषिने अपने तपसे राजा शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये और मन्त्रके बलसे इन्द्रके हाथको भी स्तम्भित कर दिया तथा कृत्याको पैदा करके इन्द्रको परास्त कर दिया। उनके पास सेना या एटमबम आदि कुछ नहीं था; किंतु उनमें तप और मन्त्रों-की अलौकिक शक्ति थी।

इस प्रकार शास्त्रोंमें ज्ञान-विज्ञान, कलाकौशल, सिद्धि-शक्ति, अस्त्र-शस्त्र आदिकी अनेक अलौकिक बातें पायी जाती हैं; किंतु जो शास्त्रोंको पढ़ते नहीं, उनपर विश्वास करते नहीं, उनका तो उपाय ही क्या?

वर्तमानमें जो रेडियो, बेतारका तार, टेलिफोन, टेलिप्रिंटर, टेलिविजन या बड़े-बड़े हवाई जहाज, अणुबम, एटमबम आदिके आविष्कार हुए हैं, यदि कुछ दिनों बाद ये नहीं रहें तो भविष्यमें इनको भी लोग मिथ्या कह सकते हैं। इसी तरह प्राचीनकालके ऋषियोंने जो बातें शास्त्रोंमें लिखी हैं, उनको पुरानी मानकर उनकी अवहेलना कर दें तो यह हमलोगोंके लिये बहुत ही हानिकर है। भगवान्‌की नीति, धर्म, कानून, मुक्तिके उपाय और जीवात्मा—ये परिवर्तनशील वस्तुएँ नहीं हैं। ये कभी पुरानी होती ही नहीं, सदा नवीन ही रहती हैं। इसलिये इनको पुरानी समझकर इनकी अवहेलना करना और नये-नये मत-मतान्तरकी स्थापना करना बहुत भारी गलती है।

कितने ही मनुष्य यह मानते हैं कि खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, इसके सिवा और कुछ भी नहीं। सांसारिक विषयभोगोंको भोगना ही सुख है और सांसारिक सुख न मिले तो यह जीवन ही व्यर्थ है। पर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये कि हमें इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है, क्या वही वास्तवमें सुख है? यदि वास्तवमें वही सुख होता तो सदा विद्यमान रहता। पर रहे कैसे? यह तो दुःख ही है और उस दुःखमें ही सुख-बुद्धि कर रखी है। जैसे फतिंगे दीपकशिखामें सुखबुद्धि करके उसके निकट जाते हैं और फिर जलकर नष्ट हो जाते हैं, यही दशा विषय-भोगोंको भोगनेमें है। कोई पुरुष स्त्रीसे सहवास करता है तो उसे एक बार क्षणिक सुख प्रतीत होता है; पर परिणाममें उसके बल, बुद्धि, तेज, शरीर, आयु और इज्जतकी तथा परलोक आदिकी हानि होती है।

वास्तवमें सुख तो है कामनाओंके त्यागमें, ईश्वरके चिन्तनमें, संकल्परहित अवस्थामें और समतामें। जो मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता, वही सुखी है तथा जो मनुष्य सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करके केवल सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही ध्यान करे तो उसे प्रत्यक्ष विशेष आनन्द और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

यदि परमात्मामें विश्वास न हो तो भी एक क्षण भी यदि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित होकर बैठे तो प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है । जो सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित पुरुष है, वह सुखी है ।

जो विषयोंकी कामना करता रहता है, उसे ही दुःख होता रहता है; क्योंकि सभी कामनाओंकी तो पूर्ति होती नहीं और पूर्ति न होनेपर दुःख होता ही है । अनुकूलतामें सुखकी और प्रतिकूलतामें दुःखकी प्रतीति ही राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें हेतु है तथा वह राग-द्वेष ही समस्त अवगुणों और अनर्थोंमें कारण है; किंतु जो मनुष्य अनुकूलता और प्रतिकूलतामें सम रहता है, उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है; क्योंकि समता ही अमृत है, यही सब साधनोंका फल है और परमात्माका स्वरूप है । इसके बिना किसीको शान्ति नहीं मिल सकती और इसका सभी सिद्धान्तवालोंने आदर किया है । इसे कोई भी करके देख सकता है ।

कितने ही मनुष्य तो अनुकूल परिस्थिति न मिलने या प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर इतने घबरा जाते हैं कि इस जीवनको ही व्यर्थ समझने लगते हैं और जान-बूझकर जीवनको नष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं; किंतु यह बड़ी ही मूर्खता है । मनुष्यको आत्महत्या करना—अपने शरीरसे प्राणोंका वियोग करना किसी भी हालतमें किसी भी सिद्धान्त या युक्तिसे लाभप्रद नहीं है, बल्कि सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है । मनुष्यको इस जीवनमें चाहे कितना ही भारी दुःख हो पर उससे ज्यादा दुःख आत्महत्या करनेके समय उसे होता है, चाहे वह विष खाकर मरे, चाहे जलमें डूबकर मरे, चाहे अग्निमें प्रवेश करे और आस्तिकवादकी दृष्टिसे तो उस आत्महत्यारेको वर्तमानसे भी बहुत अधिक दुःख मरनेपर होता है—उसे घोर नरकमें जाना पड़ता है । शुक्लयजुर्वेदमें चालीसवें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं । जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं ।'

आजकल कितने ही मनुष्य घरके बालकों, पुरुषों और स्त्रियोंको सर्वथा स्वतन्त्रता दे देते हैं । उसमें उन बालकों, पुरुषों या स्त्रियोंको भी सुख नहीं होता और न स्वतन्त्रता देनेवालेको ही सुख होता है; क्योंकि स्त्रियाँ—स्वतन्त्रतामें पड़कर व्यभिचारिणी हो जाती हैं, बुद्धि और विवेककी कमीके कारण वे अपना धन भी खो बैठती हैं और आजीवन दुःख पाती हैं । इस प्रकार पाखण्डी धूर्तोंके पञ्जेमें पड़कर अपना पतन कर बैठती हैं । बालक भी स्वच्छन्द होकर उद्दण्ड हो जाते हैं । इससे वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । देखनेमें भी ऐसा आता है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि अपने घरके बालकों और स्त्रियोंको ऐसी स्वतन्त्रता न दे जिससे वे स्वच्छन्द होकर अपना सर्वनाश कर लें, प्रत्युत उनके हितके लिये उनको अपने शुद्ध आचरणों और प्रेमपूर्वक यथायोग्य शासनके द्वारा न्यायोचित शिक्षा दे ।

आजकल पुरुषों और स्त्रियोंमें जो मनोरञ्जनके लिये चौपड़-ताश आदि खेलनेकी प्रवृत्ति हो रही है, यह बहुत ही बुरी है । इसमें मनुष्यका समय व्यर्थ बरबाद होता है । न इसमें स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी । इसलिये बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषोंको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

साथ ही, सिनेमा-नाटक आदिकी बुरी प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ रही है । सिनेमा-नाटक आदिमें पात्र बनने या इनको देखनेसे समय और धर्मका नाश तो होता ही है, हृदयके भाव और चित्तकी वृत्तियाँ भी बहुत खराब हो जाती हैं; अश्लील भावोंकी जागृति होनेसे चरित्र भ्रष्ट हो जाता है, जिससे मनुष्यका यह लोक और परलोक

दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इनसे बचकर रहना चाहिये।

इसी प्रकार स्त्री या पुरुषोंका निकम्मा रहना भी बहुत ही हानिकर है। आजकल यह दोष भी बहुत बढ़ रहा है; किंतु विचार करना चाहिये। जो स्त्री या पुरुष निकम्मे रहते हैं, उनका समय आलस्य, प्रमाद, भोग या पापमें बीतता है, इससे आदत खराब पड़ जाती है और स्वभाव खराब हो जाता है। अतः सभी स्त्री-पुरुषोंको सदा संसारके हितकी चेष्टा करने या अपने न्याययुक्त शरीरनिर्वाहकी चेष्टा करनेमें लगे रहना चाहिये। शिल्पकार्य, गृहकार्य, पठन-पाठन, व्यापार, लेखन आदि कोई-न-कोई कर्म करते रहना चाहिये, निकम्मा कभी नहीं रहना चाहिये। अपने ऊपर आवश्यकतासे अधिक कामकी जिम्मेवारी रखनी चाहिये, जिससे पतन न हो।

वर्तमानकी शिक्षा-प्रणालीका भी परिणाम बहुत बुरा हो रहा है। इससे स्त्रियों और बालकोंमें निर्लज्जता, उद्दण्डता, अभिमान, अहंकार, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर वे अपने बड़े-बूढ़ोंका भी तिरस्कार करने लगे हैं और स्वयं भी नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है।

इसलिये शास्त्रोंमें जो स्वतन्त्रताका अधिकार दिया गया है, जो कर्तव्य बताया गया है, उसीका पालन करना उचित है। अपने अधिकारके अभिमानका त्याग करना, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना और अपना जो कर्तव्य है, उससे कभी च्युत नहीं होना चाहिये। एवं समता, शान्ति, संतोष, सरलता, उदारता, दया और स्वार्थ-त्याग आदि गुणोंका आदर करना चाहिये तथा ईश्वरकी कृपासे हमें जो कुछ ऐश्वर्य, शक्ति, सामर्थ्य या विवेक प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार सबके साथ उत्तमोत्तम व्यवहार करना चाहिये। इससे मनुष्यका प्रत्यक्ष सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

हमें अपने जीवनकी गति-विधिका निरीक्षण करते हुए सोचना चाहिये कि हम किस ओर जा रहे हैं और हमारा कर्तव्य क्या है? विवेक-विचारपूर्वक गम्भीरतासे सोचनेपर यही बात निश्चित होती है कि जो अपना और सब लोगोंका इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है, वही कर्तव्य है। उसीको शास्त्र-कारोंने धर्म कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'जिसके आचरणसे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण हो वही धर्म है।'

जो इस लोकमें तो हितकर हो, पर परलोकमें हितकर न हो तो उसका नाम धर्म नहीं है। जो इस लोक और परलोक—दोनोंमें हितकर है, वही धर्म है। मनुष्यके कर्तव्यका नाम धर्म है और जो अकर्तव्य है वही अधर्म है। अतः अकर्तव्यके त्याग और कर्तव्यके पालनसे ही मनुष्यको सुख-शान्ति मिलते हैं। जो कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है। धर्मकी आवश्यकता इसीलिये है कि वह इस लोक और परलोकमें भी सुख-कर है। कर्तव्यका त्याग करके मन, वाणी और शरीरकी जो व्यर्थ चेष्टा है, यह प्रमाद है। वह इस लोक और परलोकमें हानिकर है, अतः वह त्याज्य है और इसके विपरीत मन, वाणी, शरीरकी जो चेष्टा अपने या संसारके लिये हितकर है, वही कर्तव्य है, उसे मनुष्यको अवश्यमेव करना चाहिये।

इस प्रकार करनेसे ऊपर बताये हुए दोषोंका अपने-आप ही निराकरण हो जाता है। ये दोष उसके पास भी नहीं आ सकते। अतएव सभी स्त्री-पुरुषोंको अपने कर्तव्यका विचार करके उसको करनेमें तत्परतासे लगे रहना चाहिये।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[नाटक]

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

चौथा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—अड़ेलमें वल्लभाचार्यकी बैठकका एक कक्ष ।

समय—रात्रि ।

[कक्षकी दीवालोंसे कक्ष पक्का बना हुआ है, यह तो ज्ञात होता है, परंतु इसीके साथ यह भी जान पड़ता है कि कक्ष छोटा-सा है और अत्यन्त साधारण, किंतु स्वच्छ। कक्षमें जाजमकी बिछावन है पर सफेद चादर और खोलियोंसे ढके हुए गद्दे-तकियोंको छोड़ अन्य कोई सजावट नहीं है । अक्काजी गद्दीपर बैठी हुई हैं और गद्दीके नीचे उनकी ओर मुँह किये रजो । अक्काजीकी अवस्था अब प्रौढ़ताकी ओर जा रही है । वर्ण गौर, स्वरूप सुन्दर, सादी साड़ी और चोली धारण किये हुए हैं । शरीरपर कोई भूषण नहीं, ललाटकी लाल टिकली और कलाइयोंकी काँचकी चूड़ियोंसे सौभाग्य दृष्टिगोचर होता है । रजो कुछ साँवले रंगकी युवती हैं ।]

अक्काजी—हाँ रजो ! आज मेरे विवाहकी बीसवीं वर्षगाँठ है । विवाहकी इस वर्षगाँठको विवाह तथा बीस वर्षोंके इस वैवाहिक जीवनकी कितनी बातें आज मुझे स्मरण आ रही हैं।

रजो—ऐसे दिवसोंपर ऐसे दिवसोंसे सम्बन्धित जीवनकी छोटी-छोटी घटनाओंका भी न जाने कितना स्मरण आता है ।

अक्काजी—उनका विचार तो आजन्म ब्रह्मचर्य पालनकर भगवत्-सेवा और लोक-कल्याण करनेका ही था ।

रजो—जानती हूँ । आपने न जाने यह कितनी बार कहा है ।

अक्काजी—जब दूसरी पृथ्वी-परिक्रमा कर रहे थे, उस समय पंढरीपुरमें श्रीविट्ठलनाथजीने विवाह करनेका आदेश दिया ।

रजो—और वह भी अकारण नहीं ।

अक्काजी—हाँ, आदेशके साथ ही श्रीविट्ठलनाथजीने कहा, तुम्हारे अनन्तर भक्तिमार्गके प्रचारार्थ किसी योग्य उत्तराधिकारीकी आवश्यकता है । अतः तुम्हें विवाह करना ही चाहिये ।

रजो—और भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन वे कैसे करते !

अक्काजी—किसी भी भगवदाज्ञाके उल्लङ्घनकी बात वे स्वप्नमें भी सोच सकते हैं ! काशी आकर विवाह किया और यद्यपि अब हमारे विवाहको बीस वर्षके लगभग व्यतीत हो गये, वे भी प्रौढ़ हो गये हैं, मैं भी प्रौढ़ताके निकट पहुँच रही हूँ, पर हमारा प्रणय वैसा ही है, जैसा उस दिन था, जिस दिन मेरे पिता मधुमंगलजीने और मेरी माँ अत्रिम्मा... उन्हें मेरा पाणिग्रहण कराया था । (कुछ रुककर) इसका भी कारण है, रजो !

रजो—(मुसकराकर) पति-पत्नीके प्रणयका कारण पति-पत्नीके प्रणयके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

अक्काजी—अन्य पति-पत्नियोंके प्रणयका कारण पति-पत्नीके प्रणयके अतिरिक्त चाहे कुछ न हो, पर हमारे प्रणयका तो एक अन्य कारण है ही ।

रजो—वह आप आज ही बता रही हैं ।

अक्काजी—वे सब कुछ भगवदादेशसे भगवान्के लिये करते हैं, हमारा विवाह भी भगवान्के लिये हुआ, वे स्वयं भगवान्के लिये, मैं भी भगवान्के लिये, हमारा प्रेम भी भगवान्के लिये और हमारी संतति भी भगवान्के लिये।

रजो—अवतारी पुरुष हैं वे, इसमें तो संदेह ही नहीं है।

अक्काजी—इसमें क्या संदेह हो सकता है, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेदविद्यामें पारङ्गत, चौदह वर्षकी अवस्थामें समस्त भूमण्डलके शास्त्रार्थमें विजयी ।

रजो—अद्भुत व्यक्ति हैं ।

अक्काजी—सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके प्रचार और दैवी जीवोंके उद्धारके लिये तीन-तीन पृथिवी-परिक्रमाएँ, जिनमें पहली परिक्रमामें नौ वर्ष तथा दूसरी और तीसरी परिक्रमामें छः-छः वर्ष लगे । इक्कीस वर्षतक न झुलसानी धूपकी और न लूकी चिन्ता, न मूसलाधार वृष्टिकी और न कँपकँपाते शीतकी ।

रजो—और बिना पदत्राणके एक धोती पहने तथा उपरना ओढ़े ।

अक्काजी—जितनी विद्वत्ता उतनी ही भक्ति, जितनी सादगी उतनी ही रसिकता।

रजो—दो एक दूसरेसे विरुद्ध गुणोंका इकठ्ठा समावेश।

अक्काजी—विद्वत्ताकी शुष्कतामें प्रेमका प्रवाह और जीवनकी सादगीमें कलाओंका श्रृङ्गार। फिर एक-दूसरेसे विपरीत दिखानेवाली अन्य बातोंका भी सामञ्जस्य बैठाया करते हैं।

रजो—जैसे ?

अक्काजी—एक ओर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार जड-चेतन समस्त सृष्टिमें निराकार भगवान्‌के दर्शन करते हैं और दूसरी ओर यह कहते हैं कि जिस प्रकार तेजस्तत्त्व समस्त सृष्टिमें व्याप्त होनेपर भी उसके दर्शन सूर्य, चन्द्र, तारागण, अग्नि, दीपमें ही होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मके सबमें व्याप्त होनेपर भी उसके दर्शन प्रतिमामें (कुछ रुककर) और रजो! सारे देशमें सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके पश्चात् अब अड़ेलके इस निवासमें हो रही है ग्रन्थ-रचना।

रजो—हाँ, देखती ही हूँ इस ग्रन्थ-रचनामें उनकी तल्लीनता।

अक्काजी—ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य लिख डाला, भागवतपर सुबोधिनी टीका और वैष्णवोंके लिये षोडश ग्रन्थ, फिर पत्रावलम्बन और तत्त्वार्थदीपनिबन्ध आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ बड़े-से-बड़े विद्वानोंका भी अनेक प्रकारसे मार्ग प्रदर्शन करते हैं। कहते हैं, नाम-रूपात्मक इस शरीरको छोड़कर तो किसी-न-किसी दिन प्रभु-लीलामें पहुँचेंगे, परंतु सम्प्रदायकी परम्पराको सुरक्षित रक्खेगा यह सारा साहित्य, जो अड़ेलमें लिखा जा रहा है।

रजो—उस परम्पराको सुरक्षित आपके ये दोनों पुत्र गोपीनाथ और विठ्ठलनाथ तथा इनकी संतति न रक्खेगी ?

अक्काजी—विवाहका उद्देश्य तो यही था, परंतु .... परंतु, रजो; .... (चुप हो जाती है)

रजो—परंतु पर आप चुप क्यों हो गयीं ?

अक्काजी—क्या कहूँ ?

रजो—क्यों, आपको अपनी संततिपर विश्वास नहीं है ?

अक्काजी—नहीं, ऐसा नहीं है, गोपीनाथ और विठ्ठलनाथ तो ठीक वायुमण्डलमें बढ़ रहे हैं। परंतु, रजो! जीवित संततिपर समय और उसके चारों ओरके वायुमण्डलका भी प्रभाव पड़ता है एवं अनेक बार इस संततिका परम्परासे विपरीत आचरण भी होता है। अतः सच्ची परम्पराकी रक्षा साहित्य ही कर सकता है।

रजो—परंतु ... परंतु, जब इस साहित्यको जीवित व्यक्तित्व मिल जाता है, तब इस साहित्यका जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पोथियोंमें लिखित रहनेसे नहीं।

अक्काजी—इसीलिये तो श्रीविठ्ठलनाथजीने उन्हें विवाहकी आज्ञा दी थी और उन्होंने विवाह किया भी।

रजो—तो यह संतति और साहित्य मिलकर इस सम्प्रदायको सुरक्षित रक्खेंगे ?

अक्काजी—फिर तो तुम्हें इन दोनोंके साथ एक सर्वोपरि वस्तुको और जोड़ना होगा।

रजो—कौन-सी ?

अक्काजी—श्रीनाथजी।

रजो—हाँ, वे तो सर्वोपरि हैं ही। (कुछ रुककर) पर फिर आप एक वस्तुको और भी सम्मिलित कीजिये।

अक्काजी—कौन-सी ?

रजो—वे चौरासी बैठकें जो इन तीन पृथ्वी-परिक्रमाओंमें पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिणतक जहाँ-जहाँ श्रीमद्भागवतका उन्होंने सप्ताह किया वहाँ-वहाँ संस्थापित हैं।

[कुछ देर निस्तब्धता]

रजो—हाँ, एक बात तो नित्य ही आपसे पूछनेका स्मरण करती हूँ और भूल जाती हूँ।

अक्काजी—पूछो !

रजो—कुछ दिन पहले समाचार फैला था कि बादशाह सिकन्दर लोदीने अपने चित्रकार होनहारको भेजकर महाप्रभुका चित्र बनवाया है! मैं उस समय यहाँसे कुछ दिनको चली गयी थी।

अक्काजी—यह समाचार सत्य है।

रजो—तो वह चित्र तो दिखाइये।

अक्काजी—वह चित्रकार उस चित्रको ले गया। उस चित्रमें वे श्रीमद्भागवतका पाठ कर रहे हैं। माधोभट्ट काश्मीरी और कृष्णदास मेघन सम्मुख बैठे हैं और दामोदरदास हरसानी दण्डवत् कर रहे हैं। वह चित्रकार कहता गया है कि उसी चित्रपरसे एक चित्र और बनाकर उनकी भेंटके लिये भेजेगा। देखें, वह चित्र कब आता है।

रजो—बादशाहका चित्रकार था, चित्र तो सुन्दर बना होगा।

अक्काजी—बहुत सुन्दर बना है।

रजो–और बादशाहपर उनका बड़ा प्रभाव होगा, इसीलिये मुसलमान होते हुए भी उसने अपने चित्रकारको भेज कर उनका चित्र बनवाया।

अक्काजी–हाँ, सुना है, बादशाहपर उनका बड़ा प्रभाव है।

[गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश ! गोपीनाथकी अवस्था लगभग ग्यारह वर्षकी और विट्ठलनाथकी लगभग सात वर्षकी है। गोपीनाथका वर्ण कुछ साँवला और विट्ठलनाथका गौर है। दोनों सुन्दर बालक हैं। दोनों सादी बगलबंदी और धोती पहने हैं। दोनोंके चौड़ी शिखा है और ललाटपर कुमकुमका तिलक जिसके बीचमें गोपीचन्दनके छापे। गोपीनाथ अपने एक हाथमें श्रीकृष्णकी और दूसरे हाथमें राधाकी प्रतिमाएँ लिये हैं। विट्ठलनाथके हाथमें बालकृष्णकी मूर्त्ति है। ये प्रतिमाएँ धातुकी हैं।]

विट्ठलनाथ–माँ······माँ, देखो, ये दादा कहते हैं, मैं छोटा हूँ, इसलिये छोटे ठाकुरजीका शृंगार करूँ और ये बड़े हैं इसलिये ये बड़े ठाकुरजीका शृंगार करेंगे।

गोपीनाथ–मैं ठीक नहीं कहता माँ ?

अक्काजी–पर, बेटा, ठाकुरजी क्या छोटे और क्या बड़े!

विट्ठलनाथ–क्या छोटे और क्या बड़े! तुम्हीं देख लो माँ! दादाके हाथके ठाकुरजी कितने बड़े हैं और मेरे हाथके कितने छोटे!

अक्काजी–पर, बेटा! माप-तौलसे ठाकुरजीकी बड़ाई और छुटाईका निर्णय नहीं होता।

विट्ठलनाथ–तब!

अक्काजी–'श्रीकृष्णः शरणं मम' तो हम दोनोंके लिये ही कहते हैं न! और ब्रह्मसम्बन्धका निवेदन मन्त्र भी!

विट्ठलनाथ–हाँ, यह तो ठीक है।

अक्काजी–तब फिर स्वरूपमें ठाकुरजी चाहे बड़े हों चाहे छोटे, सब एक-से हैं।

गोपीनाथ–पर, माँ! यह तो मुझसे झगड़ा करता है।

[वल्लभाचार्यका प्रवेश। वे अब प्रौढ़ हो गये हैं।]

वल्लभाचार्य–किस बातपर झगड़ा हो रहा है।

अक्काजी–(मुसकराकर) बड़े और छोटे ठाकुरजीपर।

वल्लभाचार्य–(गद्दीपर बैठ गोपीनाथ और विट्ठलनाथ दोनोंको अपनी गोदमें बैठाते हुए) बेटा! ठाकुरजी कैसे बड़े और कैसे छोटे!

अक्काजी–यही तो मैंने इसे समझाया।

वल्लभाचार्य–बेटा! ठाकुरजीका स्वरूप चाहे बड़ा हो चाहे छोटा, एक-से हैं। स्मरण नहीं है, दशावतार!

विट्ठलनाथ–भलीभाँति स्मरण है—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।

वल्लभाचार्य–और इन दशावतारोंमेंसे हम किन-किन की जयन्ती मनाते हैं ?

गोपीनाथ–कृष्ण, राम, नृसिंह और वामनकी!

वल्लभाचार्य–ठीक। और इनमें नृसिंह थे बहुत बड़े और उनके ठीक विपरीत वामन बहुत छोटे।

गोपीनाथ और विट्ठलनाथ–(एक साथ) हाँ, यह तो ठीक है।

वल्लभाचार्य–अब बोलो दोनोंमें कौन बड़ा और कौन छोटा। फिर श्रीकृष्ण तो पूर्णपुरुषोत्तम हैं। गोपीनाथके हाथमें जो श्रीकृष्णका स्वरूप है, उसमें और विट्ठलनाथ! तेरे हाथमें जो श्रीकृष्णका स्वरूप है, उसमें क्या अन्तर है। दोनों की ही नवधा भक्तिसे वित्तजा, तनुजा और मानसी सेवा करनी है। नवधा भक्तिका वर्णन तो करो, विट्ठलनाथ!

विट्ठलनाथ–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

वल्लभाचार्य–और गोपीनाथ! तुम वित्तजा, तनुजा और मानसी सेवाकी व्याख्या करो!

गोपीनाथ–तनुजा सेवा शरीरद्वारा होनेवाली सेवा है, वित्तजा सेवा जो भी धन-धान्य आदि पासमें है उसके द्वारा होनेवाली सेवा है और मानसी सेवा मनको प्रभुचरणोंमें तल्लीनकर मनकी समस्त भावनाओंद्वारा होनेवाली सेवा है।

वल्लभाचार्य–ठीक; अच्छा, अब गाओ तो तुम दोनों सूरदासजीका कलका पद।

रजो–हाँ, वे तो नित्य एक नये पदकी रचना करते हैं।

अक्काजी–कम-से-कम एक नये पदकी नित्य रचना तो उनका संकल्प है।

वल्लभाचार्य–और ये दोनों नित्य उनके उस पदको कण्ठस्थ कर लेते हैं।

(गोपीनाथ और विट्ठलनाथ गाते हैं।)

मैया मोहिं बड़ौ कर लै री।
दूध दही माखन घृत मेवा जब माँगौं तब दै री।

कछुक हौस राखेहु जिन मेरी जोइ जोइ मोहि रुचै री,
होहुँ सबल सबहिन में जैसे सदा रहौं निरभै री ॥
रंगभूमि में कंस पछारौं पीसि बहाऊँ बैरी,
सूरदास स्वामीकी हौआ मथुरा राजा बैरी ॥

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—जगन्नाथपुरीमें जगदीशके मन्दिरका एक भाग।

समय—मध्याह्न।

[पीछेकी ओर जिस स्थानपर जगन्नाथजी, बलभद्रजी और सुभद्राजीकी मूर्तियाँ स्थापित हैं, वह स्थल तथा मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं, परंतु कुछ दूरपर उस स्थलके आगे उस स्थलकी दीवाल दीख पड़ती है, जिसके बीचोबीच एक दरवाजा है। दरवाजा खुला हुआ है और इसी दरवाजेसे इन मूर्तियोंके दर्शन होते हैं। इस दरवाजे और दीवालके आगे एक दूसरेकी ओर मुख किये हुए आसनोंपर पण्डितोंके दो समुदाय बैठे हैं; एक समुदाय वैष्णवोंका है और दूसरा स्मार्तोंका। यह उनके ललाटपर तिलकोंसे जान पड़ता है। दोनों समुदायोंके बीचमें पुरीके राजा बैठे हैं। ये सब लोग इस प्रकार बैठे हुए हैं कि किसीकी भी पीठ मूर्तियों-की ओर नहीं है।]

राजा—हाँ, मैं पुनः आप पण्डितोंके सम्मुख अपने चारों प्रश्न उपस्थित करता हूँ।

[दरवानका प्रवेश]

दरवान—श्रीवल्लभाचार्य पधार रहे हैं।

राजा—यह और भी अच्छा हुआ। इस समय उनकी बड़ी प्रसिद्धि है। वे भी मेरे प्रश्नोंको सुन लेंगे और उनसे भी प्रार्थना करूँगा कि वे भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कृपा करें।

[वल्लभाचार्यका दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, माधोभट्ट काश्मीरी और जादवेन्द्रदास कुम्हारके साथ प्रवेश। वल्लभाचार्यके साथी भी अब प्रौढ़ हो गये हैं। सारा समुदाय खड़ा हो वल्लभाचार्यको प्रणाम करता है, वैष्णव अधिक प्रेमसे। राजा दण्डवत् करता है। वल्लभाचार्य दोनों हाथ उठा सबको आशीर्वाद देते हुए जिस स्थानपर मूर्त्तियाँ विराजमान हैं उस स्थानके दरवाजेतक जाकर दरवाजेकी देहरीपर सिर रख अपने सब साथियोंके साथ मूर्तियोंको दण्डवत् करते हैं और फिर सब आगन्तुक वैष्णवोंके समुदायमें बैठते हैं।]

राजा—(हाथ जोड़कर) धन्यभाग्य मेरा महाप्रभु ! आप यहाँ पधारे।

वल्लभाचार्य—मैं अपना धन्यभाग्य मानता हूँ, राजन् ! बहुत काल पश्चात् मुझे फिर जगन्नाथजीके दर्शन हुए। (कुछ रुककर) कोई शास्त्रार्थ हो रहा है ?

राजा—हाँ, महाप्रभु ! बहुत कालसे मेरे कुछ प्रश्नोंपर शास्त्रार्थ चल रहा है। मुझे अपने प्रश्नोंके विद्वानोंने भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं और मुझे अबतक उन उत्तरोंसे संतोष नहीं हुआ है।

वल्लभाचार्य—क्या प्रश्न हैं आपके ?

राजा—मेरे चार प्रश्न हैं, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—कैसे ?

राजा—पहला प्रश्न है, मुख्य और प्रामाणिक शास्त्र कौन है ?

वल्लभाचार्य—अच्छा !

राजा—दूसरा प्रश्न है, मुख्य और प्रामाणिक देव कौन है ?

वल्लभाचार्य—तीसरा ?

राजा—कौन-सा मन्त्र फलदायक है ?

वल्लभाचार्य—और चौथा ?

राजा—सबसे सरल और उत्तम कर्म क्या है ?

वल्लभाचार्य—(गम्भीरतासे विचारते हुए) प्रश्न तो बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और आपने कहा ही कि आपको इन प्रश्नोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तर मिले हैं, जिनसे आपको संतोष नहीं हुआ।

राजा—हाँ, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—(और भी गम्भीरतासे विचारते हुए) तब इन प्रश्नोंके उत्तरके सम्बन्धमें एक काम किया जाय !

राजा—कौन-सा महाप्रभु ?

वल्लभाचार्य—कागज, कलम और दावात, भगवान् जगन्नाथके सम्मुख रख दी जाय, वे आपको उत्तर लिख देंगे।

पण्डित-समुदायमेंसे अधिकांश—(अत्यन्त आश्चर्यसे) ऐसा ···ऐसा भी हो सकता है ?

वल्लभाचार्य—क्यों ? आप भगवान्‌के दर्शन करते हैं और भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास नहीं ? रखिये आप कागज, कलम, दावात भगवान्‌के सम्मुख कर दीजिये पट बंद; हम प्रार्थना करेंगे और यदि हममेंसे एककी प्रार्थनामें भी सचाई होगी तो भगवान् अवश्य उत्तर लिखेंगे।

राजा—जैसी··जैसी··आज्ञा, महाप्रभुकी।

[पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार कागज, कलम और दावात लेकर जगदीशकी मूर्तियोंके निकट जाता है और उन्हें वहाँ रखकर लौट आता है। पट बंद किये जाते हैं और वल्लभाचार्य प्रार्थनामें एक गीत गाते हैं, जिसे राजा और कुछ पण्डित तल्लीनतासे दुहराते हैं, कुछ अनमने-से और कुछ चुपचाप रहते हैं।]

तिहारे चरण कमलको महात्म्य, सिव जाने के गौतम-नारी।
जटाजूट मध्य पावनी गंगा, अजहूँ लिये फिरत त्रिपुरारी॥
कै जाने सुकदेव महामुनि, कै जाने सनकादिक चार।
कै जाने बैरोचनको सुत, सर्वसु दे मेटी कुलगार॥
कै जाने नारद मुनि ज्ञानी, गुप्त फिरत त्रैलोक मझार।
कै जाने हरिजन परमानँद, जिनके हृदय बसत भुज चार॥
तिहारे०॥

वल्लभाचार्य–(प्रार्थना पूर्ण होनेपर) जाइये दोनों समुदायोंमेंसे कुछ लोग और ले आइये उस कागजको।

[कुछ लोग जाते हैं और एक लिखा हुआ कागज वल्लभाचार्यके सम्मुख रखते हैं।]

वल्लभाचार्य–लीजिये, राजन्! भगवान् जगन्नाथने आपके प्रश्नोंका उत्तर लिख दिया है। (कागज राजाको देते हैं)

राजा–(कागज पढ़ते हुए)

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥"

[कुछ देरतक अत्यधिक आश्चर्यमय निस्तब्धता]

एक स्मार्त–परंतु''परंतु, यह कैसे हुआ?

वल्लभाचार्य–मैंने कहा था न, सच्ची प्रार्थना भगवान् अवश्य सुनेंगे।

वही स्मार्त–किंतु हस्तविहीन जगदीश यह श्लोक लिख भी किस प्रकार सकते हैं?

वल्लभाचार्य–पण्डितवर! जान पड़ता है, आप ब्रह्मके एक वर्णनको विस्मृत कर गये।

वही स्मार्त–किस वर्णनको?

वल्लभाचार्य–अपाणिपादो'''

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥

वही स्मार्त–जो कुछ हो मुझे तो इसमें किसी कुचक्रकी गन्ध आती है।

राजा–(क्रोधसे) क्या''क्या बक रहे हैं। आप?

पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार–इनकी शङ्काकी निवृत्तिके लिये पुनः एक कागज रखा जाय!

वल्लभाचार्य–हम आग्रहवादी नहीं हैं। आपको जो उचित जँचे, कीजिये।

पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार–(उसी स्मार्तसे) चलिये पण्डितजी! आप ही मन्दिरके भीतर चलिये। देख लीजिये कोई लिखा हुआ कागज ही तो भगवान्‌के सम्मुख नहीं रखा जाता और कोई मानव तो वहाँ छिपा नहीं बैठा है। आप स्वयं कागज, कलम, दावात जगन्नाथजीके सम्मुख रख दीजिये।

[वही स्मार्त उठता है और पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारके संग जहाँ मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, उस स्थलपर जा उसका सब प्रकार निरीक्षण कर कागज, कलम और दावात जगन्नाथजीकी मूर्तिके सम्मुख रख पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारके संग लौट आता है। फिर पट बंद कर दिये जाते हैं। वल्लभाचार्य पुनः प्रार्थनामें ... करते हैं। इस बार उस स्मार्तको छोड़ शेष सभी लोग तल्लीनतासे इस प्रार्थनामें वल्लभाचार्यका साथ देते हैं।]

हरि रस तब ही तो जाय पैये।
स्वाद विवाद हर्ष आतुरता, इतने दंड जो सहिये।
कोमल बचन दीनता सब सों, सदा प्रफुलित रहिये।
गए नहिं सोच आये नहिं आनँद, ऐसे मारग बहिये।
ऐसी जो आवे जिय माहीं, ताके भाग्यकी का कहिये।
अष्ट सिद्धि सूर स्याम पै, जो चहिये सो लहिये।
हरि रस॰

वल्लभाचार्य–(गीत पूर्ण होनेपर उसी स्मार्तसे) जाइये, आप ही लेकर आइये उस कागजको!

[वही स्मार्त उठकर अकेला मन्दिरमें जाने लगता है।]

राजा–(पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारसे) पुरोहितजी! आप भी इनके साथ जाइये।

[वह स्मार्त और पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार जाते हैं। दोनोंमें कुछ छीना-झपटी-सी दिखायी देती है। पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार शीघ्रतासे एक कागज लिये हुए आता है। वह धीरे-धीरे उसके पीछे।]

पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार–(अपने हाथके कागजको राजाको देते हुए)

महाराज! यह पुनः भगवान् जगन्नाथने लिखकर दिया है। पण्डितवर तो इसे भोजनके सदृश खा लेना चाहते थे। बड़ी कठिनाईसे इसे बचाकर ला सका हूँ।

[पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकार बैठ जाता है और वह स्मार्त भी मुँह लटकाकर]

राजा—(कागजको पढ़ते हुए)

"यः पुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्।
यः पुमानीश्वरं द्वेष्टि तं विद्यादन्त्यजोद्भवम्॥"

(कुछ रुककर उस स्मार्तसे) कहिये, पण्डितवर! अब आपका क्या कहना है? (जब वह कोई उत्तर नहीं देता) देखिये! इस देशमें कभी धर्मान्धता नहीं रही, साथ ही हर प्रकारकी सहिष्णुता; इसीलिये यहाँ एक ओर यदि ईश्वरवादी रहे तो दूसरी ओर चार्वाकके सदृश घोर निरीश्वरवादी थे। हमारा निरीश्वरवादियोंसे कोई झगड़ा नहीं। यदि एक ओर हम आस्तिकोंको अपने मतपर आस्था रखने और उसका प्रचार करनेका अधिकार है तो दूसरी ओर इसी प्रकारका अधिकार नास्तिकोंको भी है। परंतु पण्डितवर! पंचायतका प्रसंग तब उपस्थित हो जाता है, जब नास्तिक अविश्वासी आस्तिक विश्वासीका जामा पहन आस्तिक जगत्‌में विस्फोट करनेका प्रयत्न करता है। इसे मैं पाखण्ड कहता हूँ और मन्दिरके सदृश पवित्र स्थानमें इस प्रकारके पाखण्डको कोई स्थान नहीं। अच्छा यही है कि अब आप यहाँसे विदा हो जायँ।

[वह स्मार्त सिर झुकाये हुए शीघ्रतासे जाता है। एक भी व्यक्ति उसका साथ नहीं देता। वल्लभाचार्यको छोड़ कुछ देर सब लोग उसी ओर देखते रहते हैं, वल्लभाचार्य मूर्त्तियोंकी ओर। कुछ देर निस्तब्धता।]

राजा—(पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारसे) पुरोहितजी! लाइये, पूजनकी सामग्री। मैं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका पूजनकर अपना जन्म कृतार्थ करूँगा।

[पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारका शीघ्रतासे प्रस्थान। फिर कुछ देर निस्तब्धता। पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छीकारका पूजनकी सामग्री लेकर पुनः प्रवेश।]

राजा—(खड़े हो वल्लभाचार्यको तिलक करते हुए गद्‌गद स्वरसे) धन्य है·····धन्य है, आपको आचार्य महाप्रभु! आपने मेरी समस्त शङ्काएँ मिटा मेरे जन्मको सार्थक कर दिया। धन्य··धन्य है यह भूमि और··और धन्य··धन्य है यह काल जब सृष्टिके दैवी जीवोंका कल्याण करनेके लिये आपके रूपमें भगवान् स्वयं अवतीर्ण हुए हैं।

[राजा जब वल्लभाचार्यकी कर्पूर-आरती करता है, तब सारा जन-समुदाय गाता है।]

जो पै श्रीवल्लभ प्रगट न होते।
भूतल भूषण विष्णु स्वामि पथ शृंगार शास्त्र सब रोते।
प्रेम स्वरूप प्रकट पुरुषोत्तम, बिन पाये कैसे जोते॥
सेवा काज लाल गिरधरकी, कुसुम दाम कैसे पोते॥
कर आसरो रहे जे निज जन, ते भव पार क्यों होते।
सगुणदास सिद्धान्त बिना यह, उर-कपाट क्यों खोते॥
जो पै श्रीवल्लभ० ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—वृन्दावनमें वंशीवटके निकट वल्लभाचार्यकी बैठक।

समय—मध्याह्न।

[घना वन है, पीछेकी ओर वंशीवट दीख पड़ता है। इस वटके सिवा कदम्ब और तमालके वृक्षोंका बाहुल्य है। सघन छायाके कारण मध्याह्नमें भी धूप यत्र-तत्र ही पत्रोंसे छनकर दिख पड़ती है। इसी वनके एक भागमें वल्लभाचार्यकी छोटी-सी बैठकका कुछ भाग दिखायी पड़ता है। नेपथ्यसे हरिसंकीर्तनकी मधुर ध्वनि आती है। ध्वनिसे जान पड़ता है कि यह हरिसंकीर्तन कुछ दूरपर हो रहा है। पर ध्वनि शनैःशनैः बढ़ती जाती है। अतः ज्ञात होता है कि गायक गाते हुए निकट आ रहे हैं। दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन और माधोभट्ट काश्मीरीका शीघ्रतासे प्रवेश।]

दामोदरदास हरसानी—(बैठकके सन्निकट जा) महाप्रभु··महाप्रभु! श्रीकृष्णचैतन्य पधार रहे हैं।

[वल्लभाचार्य अत्यन्त शीघ्रतासे बैठकके बाहर निकलते हैं। उनकी आतुरताका पता उनकी चाल और ऊपरके शरीरपर उत्तरीयकी अस्त-व्यस्त स्थितिसे लगता है।]

वल्लभाचार्य—कहाँ··कहाँ? दमला!

दामोदरदास हरसानी—आप निकट आती हुई हरि-संकीर्तनकी मधुर ध्वनि सुन रहे हैं न? यह श्रीकृष्णचैतन्यकी ही ध्वनि है।

कृष्णदास मेघन—वे हरिसंकीर्तन करते और नृत्य करते हुए उसी प्रकार आ रहे हैं जैसा हम उनका वर्णन सुनते थे।

माधोभट्ट काश्मीरी—हम, महाप्रभु, अभी उनके दर्शन करके ही आपको पहलेसे सूचना देने आये हैं। जान पड़ता है आपके इस समय वृन्दावननिवासका वृत्त उन्हें ज्ञात हो गया है और वे आपसे मिलने ही पधार रहे हैं।

वल्लभाचार्य–यहाँ न भी पधार रहे होंगे तो चलो हम उन्हें लिवा लायें, उनके दर्शन कर मैं अपना जीवन सफल करूँगा।

[वल्लभाचार्यका तीनों साथियोंके साथ शीघ्रतासे प्रस्थान। अब हरिसंकीर्तनकी ध्वनि और निकट आ जाती है और वह स्पष्ट सुनायी देने लगती है।]

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्ष माम्।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहि माम्॥
राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥*

[वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु एक दूसरेका आलिङ्गन किये हुए आते हैं। उनके पीछे दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधोभट्ट काश्मीरी तथा रूप, सनातन और जीव गोस्वामी चैतन्यके तीनों प्रधान शिष्य आते हैं। चैतन्य महाप्रभु अभी युवक हैं। वर्ण गौर, स्वरूप अत्यन्त सुन्दर, नीचेके अङ्गपर धोती और ऊपरके अंगपर हलका-सा उत्तरीय। उनके तीनों शिष्य भी युवक हैं, देखनेमें सुन्दर, वेष-भूषा चैतन्यके सदृश।]

चैतन्य–मैं···मैं आज कृतार्थ हुआ, महाप्रभु! आपके पावन दर्शनसे।

वल्लभाचार्य–और मुझे···मुझे ऐसा लगता है, महाप्रभु! जैसे मेरा जीवन सफल हो गया हो! (कुछ रुककर) विराजिये, क्या बिछाऊँ आपके लिये!

[दामोदरदास हरसानी अपना उत्तरीय बिछाने लगते हैं।]

चैतन्य–नहीं, नहीं। इस वृन्दावनकी रजसे अधिक सुन्दर आसन और कौन हो सकता है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द स्वयं लोटे हैं!

[चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य और उनके सब साथी बैठ जाते हैं।]

वल्लभाचार्य–(दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन और माधोभट्ट काश्मीरीको संकेतसे बताते हुए) ये मेरे साथी दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन और माधोभट्ट काश्मीरी हैं।

[तीनों चैतन्यको दण्डवत् करते हैं। चैतन्य खड़े हो तीनोंको उठा-उठाकर हृदयसे लगाते हैं।]

चैतन्य–(रूप, सनातन और जीव गोस्वामीको संकेतसे करते हुए) और ये महाप्रभु! मेरे साथी हैं—रूप, सनातन और जीव गोस्वामी।

[ये भी तीनों वल्लभाचार्यको दण्डवत् करते हैं और वल्लभाचार्य उठकर इनमेंसे हर एकको हृदयसे लगाते हैं फिर सब बैठ जाते हैं।]

चैतन्य–बहुत काल हुआ जब कान पवित्र हुए थे आपकी विद्वत्ता और भक्तिके संवादसे। तभीसे मन आकुल था आपके पावन दर्शनार्थ। न जाने कितनी प्रतीक्षाके पश्चात् आज वह सुयोग आया!

वल्लभाचार्य–और मैं भी कबसे सुन रहा था उस भक्तिरसमयी स्रोतस्विनीका कलकल निनाद, जिससे आपने इस समस्त भूमण्डलको सराबोर कर दिया है। मेरा जीवन भी महाप्रभु! आपके इन पवित्र दर्शनोंसे आज पावन हुआ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभाचार्य–(उठते हुए) यद्यपि, हम सब भोजन निवृत्त हो गये हैं; परंतु आपको आज यहाँ कुछ-न-कुछ पाकर हमें कृतार्थ करना होगा। (बैठकमें जाते हैं)

चैतन्य–(अपने तीनों शिष्योंसे) जिस भगवन्नामको मैं समस्त वेद-वेदान्त, शास्त्र-पुराणसे सर्वोच्च मानता हूँ, आज उसकी महिमाको मैं आचार्यवरसे और अधिक समझूँगा।

दामोदरदास हरसानी–(हाथ जोड़कर) महाप्रभु आचार्य महाप्रभु भी भगवन्नामको कम महत्त्व नहीं देते!

[वल्लभाचार्यका प्रवेश। वे चैतन्यके निकट बैठ जाते हैं।]

दामोदरदास हरसानी–(हाथ जोड़े हुए वल्लभाचार्यसे) चैतन्य महाप्रभु भगवन्नामको वेद, वेदान्त, शास्त्र-पुराण सबसे उच्च मानते हैं। उनकी इच्छा है भगवन्नामकी महिमाके सम्बन्धमें आपके वचनामृत सुननेकी।

चैतन्य–हाँ, बड़ी इच्छा है, महाप्रभु।

वल्लभाचार्य–भगवन्नाम सर्वोपरि है। इसमें संदेहको स्थान ही नहीं।

चैतन्य–इसीलिये, आचार्यवर! मैं तो पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिण जहाँ कहीं भी जाता हूँ, उसीकी महिमा गाता हूँ और जो मिलता है उससे प्रार्थना करता हूँ, लक्ष नाम नित्यप्रति जपनेकी।

वल्लभाचार्य–परंतु, मैं तो इससे भी आगे बढ़ वैष्णवोंसे कहा करता हूँ कि तुम दिन और रात सोते और जागते सदा ही नामका निरन्तर जप किया करो!

* चैतन्य महाप्रभु यही कीर्तन करते हुए विचरण करते थे।

चैतन्य–सोते और जागते निरन्तर जप ?

वल्लभाचार्य–हाँ, क्योंकि यदि हम एक पल भी नाम-जपसे वञ्चित रह जायँ तो बहिर्मुखता आ सकती है।

चैतन्य–परंतु, अविराम भगवन्नामका लेना कैसे सम्भव है; क्योंकि जीवधारीको अन्य लौकिक कार्य भी तो आवश्यक होते हैं।

वल्लभाचार्य–यह सर्वथा सम्भव है। जिस प्रकार कुम्हार अपने चाकको बार-बार नहीं घुमाता इतनेपर भी एक बार घुमा देनेपर वह चाक अपने-आप घूमता रहता है और कुम्हार अन्य कार्य भी कर सकता है, उसी प्रकार मनके अभ्यस्त होनेपर सोते-जागते साँसके द्वारा वही जप अपने-आप चलता रहता है और जीवधारी अन्य कार्य कर सकता है।

चैतन्य–धन्य है, धन्य है! (अपने शिष्योंसे) कितनी सुन्दर उक्ति है महाप्रभुकी, भगवन्नामके निरन्तर जपके सम्बन्धमें!

चैतन्यके तीनों शिष्य–(एक साथ) धन्य है, धन्य है!

वल्लभाचार्य–(कृष्णदाससे) मेघन! कुछ अच्छे पल्लव तो ले आओ, महाप्रभु उसी पात्रमें तो महाप्रसाद आरोगेंगे।

[कृष्णदास मेघनका प्रस्थान]

चैतन्य–और आचार्यवर! जितना महत्त्व भगवन्नाम-का है, उतना ही भगवत्-रूपका भी ?

वल्लभाचार्य–दोनोंमेंसे किसका अधिक महत्त्व है, यह कहना कठिन है।

चैतन्य–इसीलिये, मुझे जो भी मिलता है, उससे मैं कहा करता हूँ, आठों पहर और चौसठों घड़ीमें कम-से-कम एक पल तो भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें लगाया करो!

वल्लभाचार्य–इस सम्बन्धमें भी मेरा वही मत है जो नामके सम्बन्धमें। एक क्षणके लिये भी उन चरणारविन्दोंसे चित्तके हटनेपर जीवधारी कोई अधम कृत्य कर सकता है और जिस प्रकार भगवन्नामके निरन्तर जप करते रहनेपर भी जीवधारीके लिये अन्य कार्य करना सम्भव है, उसी प्रकार भगवत्-चरणारविन्दोंमें सदा-सर्वदा चित्त रखते हुए भी अन्य कार्य किये जा सकते हैं।

चैतन्य–धन्य है, आचार्यवर! धन्य है।

[कृष्णदास मेघनका कुछ पल्लव लिये हुए प्रवेश]

कृष्णदास मेघन–(वल्लभाचार्यसे) महाप्रभो! मैं अभी-अभी एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखकर आया हूँ।

वल्लभाचार्य–कैसा ?

कृष्णदास मेघन–इन पल्लवोंको मैं एक कुण्डके तीरके वृक्षसे तोड़ रहा था। मैंने देखा कुण्डके निकट एक भयानक जीव बैठा है।

वल्लभाचार्य–अच्छा!

कृष्णदास मेघन–उसे देखते ही भयके कारण जोर-जोरसे मेरे मुखसे भगवन्नाम निकलने लगा। मेरे मुखसे भगवन्नाम निकलते ही उस प्राणीने जलपान आरम्भ किया।

वल्लभाचार्य–फिर ?

कृष्णदास मेघन–उसे जलपान करते देख ज्यों ही मेरा भय कम हुआ, मेरे मुँहसे भगवन्नामका उच्चारण रुका, त्यों ही उसने जलपान बंद कर दिया।

वल्लभाचार्य–तब ?

कृष्णदास मेघन–फिर मेरे मुँहसे भगवन्नाम निकलना आरम्भ हुआ और उसने पुनः जलपान करना आरम्भ किया। तीन बार ऐसा हुआ, महाप्रभो!

वल्लभाचार्य–और अन्तमें क्या हुआ ?

कृष्णदास मेघन–तीन बारके पश्चात् वह प्राणी धीरे-धीरे वहाँसे चला गया और तब मैं ये पल्लव लेकर यहाँ उपस्थित हो सका हूँ।

वल्लभाचार्य–(विचारते हुए) समझा! इस व्रजभूमिमें तो पशु-पक्षी-कृमि-कीटोंमें भी दैवी जीव होते हैं। वह कोई ऐसा दैवी जीव होगा, जो निरन्तर भगवन्नामका जप करता होगा। यह जप करते-करते वह प्यासा हो गया होगा, परंतु, इस भयसे कि कहीं जल पीनेसे भगवन्नाम विस्मृत न हो जाय, वह जल न पी रहा होगा। जब तुम्हारे मुखसे भगवन्नाम निकला और इसके कानोंमें वह नाम पड़ा, तब इस भयसे कि भगवन्नाम विस्मृत न हो जाय, उसकी निवृत्ति हुई और उसने जल पिया, जितनी देरतक भगवन्नाम उसके कानोंमें पड़ता रहा वह जल पीता रहा, तीन बार ऐसा ही हुआ और जब उसकी तृषा बुझ गयी, तब वह भगवन्नामका जप करते-करते चला गया।

सारे उपस्थित व्यक्ति–धन्य है, धन्य है।

[अक्काजीका प्रवेश। अक्काजी चैतन्य महाप्रभुको दण्डवत् कर वल्लभाचार्यकी ओर देखती हैं।]

वल्लभाचार्य–(चैतन्यसे) ये मेरी पत्नी हैं।

[चैतन्य यह सुनते ही अक्काजीको दण्डवत् करते हैं।]

चैतन्य–अहोभाग्य मेरे कि आपके भी दर्शन हुए।

वल्लभाचार्य–(मुसकराकर) परंतु, आपके लिये इनके स्थानपर जो हैं, उन्हें तो छोड़-छाड़कर आपने संन्यास ले लिया है।

चैतन्य–(मुसंकराते हुए) मैं समझता हूँ, दोनों प्रकारके व्यक्तियोंकी आवश्यकता है और इसीलिये मैंने नित्यानन्दको विवाह करनेके लिये कहा है। जिसमें हम सबके अनन्तर इस रसमय भक्तिमार्गके प्रचारार्थ योग्य उत्तराधिकारी होते रहें। (कुछ कहकर) और, महाप्रभो ! मैंने सुना आपका भी विचार तो आजन्म विवाह न करनेका ही था, इसी प्रकारके उत्तराधिकारियोंके लिये पंढरीपुरमें श्रीविट्ठलनाथजीकी आज्ञासे आपने भी विवाह किया है।

वल्लभाचार्य–(मुसकराते हुए) यह संवाद भी आपके पास पहुँच गया है।

चैतन्य–आपसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कौन बात है, जो तीन-तीन पृथ्वी-परिक्रमाओंके पश्चात् भी सारा संसार न जानता हो।

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभाचार्य–(अक्काजीसे) हाँ, तुम खड़ी कैसे हो, चैतन्य महाप्रभुके लिये कुछ सिद्ध नहीं है ?

अक्काजी–प्रातःकालका महाप्रसाद तो समाप्त हो गया था। मैंने कुछ अल्पाहार तो अभी सिद्ध कर लिया है, परंतु·· परंतु (चुप हो जाती है।)

वल्लभाचार्य–परंतु, पर चुप क्यों हो गयी !

अक्काजी–एक असमंजसमें पड़ गयी हूँ।

वल्लभाचार्य–कैसा असमंजस !

अक्काजी–सिद्ध की हुई सामग्री अन्य प्रसादी है। ठाकुरजीको समयके पूर्व उठाया नहीं जा सकता और अन्य प्रसादी वस्तु महाप्रभुको अर्पण किस प्रकार करूँ ?

वल्लभाचार्य–(विचारते हुए) ऐसा··ऐसा ! परंतु·· परंतु, तुम भ्रममें हो; चैतन्य महाप्रभुके हृदयमें स्वयं भगवान् निवास करते हैं। उनके सम्मुख अन्य प्रसादी वस्तु भी रखी जायगी तो पहले भगवान्का भोग लग जायगा। अतः वह अन्य प्रसादी कैसे रह सकती है ?

[चैतन्य खड़े होकर गद्गद स्वरसे निम्नलिखित श्लोक बोलते हैं।]

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥*

वल्लभाचार्य–धन्य है, धन्य है, आपके इस काव्यको।

[अब फिरसे चैतन्य अपना वही हरिसंकीर्तन आरम्भ कर नृत्य करने लगते हैं। अक्काजी बैठकमें जाती हैं, कृष्णदास मेघन पल्लव बिछाते हैं, अक्काजी भोज्य सामग्री बैठकमेंसे ला उन पल्लवोंपर परोसती हैं। चैतन्यके नृत्यके साथ धीरे-धीरे भावनाओंके उद्वेगसे समस्त उपस्थित व्यक्ति वल्लभाचार्यसहित उनके सङ्ग नृत्य करने लगते हैं। नृत्यके बीच-बीचमें हरि-हरि शब्द भी होता है। यह भावनाओंका उद्वेग इतना बढ़ता है कि कुछ देर बाद अक्काजीका परसना भी स्थगित-सा हो जाता है।]

(यवनिका)

जौ लौं मन कामना न छूटै।
तौ कहा जोग-जज्ञ-व्रत कीन्हैं, बिनु कन तुस कौं कूटै॥
कहा सनान कियैं तीरथ के, अंग भस्म, जट-जूटै।
कहा पुरान जु पढ़ैं अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटैं॥
जग सोभा की सकल बड़ाई, इन तैं कछू न खूटै।
करनी और, कहै कछु औरै, मन दसहूँ दिसि टूटै॥
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै।
सूरदास तब हीं तम नासै, ज्ञान-अगिनि-झर फूटै॥

---

* चैतन्य महाप्रभुने जीवनमें केवल आठ श्लोक रचे हैं, उनमें यह प्रथम श्लोक है।

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

घट-पटाकारवृत्ति तथा ब्रह्माकारवृत्तिमें अन्य महत्त्वपूर्ण विलक्षणता

घट-पटाकारवृत्ति केवल तूलाज्ञानरूपी आवरणको अभिभव करती है, मूल आवरण नाश नहीं होता। इसीलिये जब वृत्ति वहाँसे हट जाती है, तब फिर आवरण घट-पट आदि पदार्थोंको आ घेरता है; अथवा पूर्व उपस्थित अज्ञान जिसकी आवरणरूपी सामर्थ्यको वृत्तिने प्रतिबद्ध—अभिभव कर दिया था; वृत्तिके अभाव हो जानेपर पुनः वह कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है और घट-पटादि पदार्थ फिर अज्ञात हो जाते हैं। यह कहना नहीं बनता कि वृत्तिके अभावकालमें घट-पटादिका भाव है अथवा अभाव है; परंतु अखण्ड ब्रह्माकार अपरोक्ष-वृत्ति मूल-अज्ञानरूपी आवरणका नाश कर देती है, अतः उसके पश्चात् निरावृत स्वतःप्रकाश ब्रह्म विना वृत्तिके प्रकाशता है। मूल अज्ञानके बाध हो जानेसे सम्पूर्ण कार्य जगत्, देह, जीव आदि तथा ब्रह्माकार-वृत्तिरूपी कार्यका भी नाश हो जाता है। अतः वृत्ति तथा ब्रह्माकारवृत्तिके कार्यमें भेद है—

(१) (क) घट-पटविषयक वृत्तिके दोनों भागोंका उपयोग।

(ख) ब्रह्माकारवृत्तिके केवल जडभागका उपयोग।

(२) (क) घट-पट-वृत्ति केवल तूल-अज्ञानको अभिभव करती है। इसलिये पदार्थके ज्ञानके लिये वृत्तिके निरन्तर विद्यमान रहनेकी आवश्यकता होती है।

(ख) ब्रह्माकारवृत्ति मूल अज्ञानको नाश करती है, इसलिये एक बार प्रत्यक्ष होनेपर, पुनः वृत्तिकी जरूरत नहीं होती। तदनन्तर ब्रह्म कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता।

(३) (क) घट-पटका ज्ञान कार्यजगत्सहित वृत्तिका बाध नहीं करता।

(ख) ब्रह्म-ज्ञानसे कार्यजगत्सहित वृत्तिका बाध हो जाता है।

इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपी अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके उदय हो जानेपर मूल-अज्ञानका नाश हो जाता है और वृत्तिका उपयोग केवल आवरणके निवृत्त कर देनेमें है, उसके पश्चात् ब्रह्म विना वृत्तिके अखण्ड चिन्मात्ररूपसे प्रकाशता है। यही माण्डूक्योपनिषद्में तुर्यापाद अथवा नृसिंहोत्तर-तापिन्युपनिषद्में तुर्या-तुर्यावाद कहा है। यही परमार्थ सत्य, अखण्ड आत्मविषयक निरपेक्ष यथार्थ ज्ञान है। यही स्वरूप चेतनके द्वारा आत्मबोधके प्रकारका बोध होता है। सम्पूर्ण संशय निवृत्त हो जाते हैं। हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है, अखण्डाकार अपरोक्ष वृत्तिके स्वरूप तथा व्यवहारका पता चलता है। यह भेद खुल जाता है कि अखण्डाकार वृत्तिके द्वारा ब्रह्म प्रत्यक्ष होनेका क्या तात्पर्य है और क्यों पश्चात् ब्रह्माकारवृत्तिकी आवश्यकता नहीं रहती तथा विना वृत्तिके ब्रह्म सदा कैसे प्रत्यक्ष रहता है? अज्ञानीको ब्रह्माकार अपरोक्ष-वृत्तिके विना ज्ञान कदापि नहीं हो सकता; परंतु एक बार इस वृत्तिके उदय होनेके उपरान्त ब्रह्म विना इस वृत्तिके सदैव ज्ञात-प्रत्यक्ष रहता है, कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचनका यह परिणाम निकलता है कि अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका केवल एक बार उपयोग होता है, उसके पश्चात् निरावरण आत्मा सदैव प्रकाशता है, अज्ञात नहीं होता। इसलिये अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके प्रवाहरूप सविकल्प समाधिका होना असम्भव है। अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके उदय होनेपर तुर्या अथवा तुर्यातुर्या-पदवी-प्राप्ति हो जाती है। तुर्या जाग्रत्, तुर्या स्वप्न तथा तुर्या सुषुप्तिरूप सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि तुर्याके प्रथम तीन भेद, 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप परोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका निरवच्छिन्न प्रवाह तथा इसीका निरोधरूप है। ये निदिध्यासनके अन्तर्गत हैं और निदिध्यासनके ही ये तीन भेद हैं। अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके अनन्तर ब्रह्मके ज्ञानका क्या प्रकार होता है तथा निर्विकल्प समाधिका वर्णन यदि उस कालमें निर्विकल्प समाधिकी चर्चा सम्भव हुई तो ज्ञानकी सिद्ध-भूमियोंमें किया जायगा। अभी परोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके प्रवाहरूप निदिध्यासनविषयक कुछ आवश्यक क्रियात्मक वर्णन किया जाता है।

व्युत्थानकाल—व्यवहारदशामें साधारणतया चेतन प्रकाश

स्थूल देहादि उपाधियोंमें फैला हुआ होता है । इसीलिये उपनिषद्-संस्काररहित अज्ञानी पुरुषको देह आदिमें आत्म-भावना होती है; क्योंकि मूल अज्ञानरूपी आवरणके विद्यमान होनेके कारण अखण्ड चेतन आत्माका यथार्थ (असङ्ग-अद्वितीय) स्वरूप व्यक्त नहीं होता । अज्ञानीके मूल अज्ञान-का नाश हो चुका होता है; अतः व्यवहार-दशामें भी देहादिमें चेतनका संचार होनेपर भी अखण्ड चेतनके यथार्थ स्वरूप-का चेतन प्रकाशके द्वारा ही साक्षात् बोध होता है, इसलिये उसकी देह आदिमें आत्मत्व तथा सत्यत्व-बुद्धि नहीं होती; परंतु तृतीय भूमिकामें सामान्य चेतनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और अखण्ड चेतन नितान्त अज्ञात अथवा ज्ञात (प्रत्यक्ष) नहीं होता; अखण्ड चेतनका शब्द तथा अनुमानके आधारपर परोक्ष-बोध होता है । यद्यपि देहादिमें प्रत्यक्षके आधारपर सत्यत्व तथा आत्मत्व-बुद्धि होती है और विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिये निरन्तर अखण्ड चेतनकी परोक्ष भावना की जाती है । अखण्ड भूमाचिन्मात्रविषयक परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्तिको ऊपर सूर्यके दृष्टान्तसे समझाया जा चुका है; जैसे कि सूर्य एक दृष्टिसे स्वतः प्रकाशरूपसे तो प्रत्यक्ष है और महान् आकाररूपसे महान् दूरीके कारण प्रत्यक्ष नहीं है; इसके महान् आकारके ज्ञानका अभाव है या परोक्ष ज्ञान है; ऐसे ही तृतीय भूमिकावालेको सामान्य प्राणियोंके समान आत्माके चेतन-स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान है और इसके अखण्ड आकारका परोक्ष ज्ञान है । निदिध्यासनके लिये इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंका होना आवश्यक है । यदि चेतनका सामान्य अपरोक्ष ज्ञान न हो तो अखण्ड चेतनका ध्यान कैसे हो सकता है । जैसे लाल गौके ध्यानके लिये सामान्य गौका प्रत्यक्ष ज्ञान तथा लाल गौका परोक्ष ज्ञान होनेपर ही लाल गौका ध्यान हो सकता है । इसी प्रकार यदि चेतनका किसी प्रकारका भी सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तो भी अखण्ड चेतनका परोक्ष ज्ञान सम्भव नहीं और यदि अखण्ड चेतनका परोक्ष ज्ञान न हो, तो भी अखण्ड चेतनका यथार्थ ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता । सूर्यके महान् आकारका ज्ञान परोक्ष ही हो सकता है; क्योंकि दूरी ही इस महान् आकारके प्रत्यक्ष न होनेमें कारण है जो कि निवृत्त नहीं हो सकती । कोई यन्त्र भी इतनी शक्तिका नहीं है, जो उसके तथ्य आकार-का प्रत्यक्ष हो सके; परंतु रज्जु-सर्पकी दशा दूसरी है । अन्धकार आदि दोषके कारण यह भ्रान्ति हुई; किसी आप्त पुरुषका यथार्थ वचन सुनकर कि 'यह रज्जु है' अन्धकार आदि दोषके निवृत्त कर देनेसे रज्जुके साक्षात् दर्शन करनेसे रज्जुमें सर्पकी प्रत्यक्ष भ्रान्ति निवृत्त हो गयी । यदि किसी कारणसे अन्धकार निवृत्त न हो सके तो आप्त पुरुषके वचनपर श्रद्धा रखते हुए इस परोक्ष ज्ञानके आधारपर ही व्यवहार करना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार चेतन आत्मा सर्वथा अज्ञात नहीं, सामान्य स्वतः चेतनरूपसे प्रत्यक्ष है, परंतु देहादि उपाधिरूप भेद विशिष्ट परिच्छिन्नरूपसे प्रत्यक्ष है । शब्द तथा अनुमान प्रमाणके द्वारा यह परोक्ष ज्ञान होनेपर कि आत्मा अखण्ड चेतन है इसके प्रत्यक्ष बोधके लिये प्रवृत्ति सहज होती है (रज्जुसर्प-ज्ञानदशावत्) । यदि सामान्य अन्धकारके कारण भ्रान्ति हुई हो, तो अल्प प्रयत्नसे प्रत्यक्ष भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, अन्यथा रज्जु प्रत्यक्ष नहीं होती; इसी प्रकार यदि अज्ञान अत्यन्त क्षीण हो तो केवल श्रवणसे ही वृत्ति भीतर प्रवेश करती हुई अखण्ड चेतनाकार होकर अखण्ड चेतनात्माका प्रत्यक्ष बोध हो जाता है । परंतु यदि अज्ञान घना है, वैराग्यकी कमी है तथा भेदके संस्कारोंके कारण वृत्ति स्थूल तथा बहिर्मुख है तो वृत्ति सहसा साक्षात् ब्रह्मको स्पर्शकर प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्माकारकी नहीं होती बाह्य जगत्की रुचि इस वृत्तिको पुनः-पुनः जगत्के आकारकी करती है । देहादिमें अधिक रमणके कारण स्थूल तथा बहिर्मुखी है और व्यवहार मूल-भेदमें जकड़ी हुई है । इसलिये इन सब पाशोंको सहसा तोड़ना असम्भव होता है । जिनमें उपर्युक्त दोष बहुत अधिक हों, तो अखण्ड आत्मतत्त्वके उपदेशके अधिकारी ही नहीं उनकी बुद्धि उपनिषद्के तथ्य तात्पर्यको ग्रहण न करके भ्रमित हो जाती है, उभयभ्रष्ट हो जाती है । अपने अधिकारके अनुसार उचित सकाम अथवा निष्काम भक्तिको त्यागकर अखण्ड ब्रह्मज्ञानमें अनधिकार चेष्टा करनेसे ऐसे जन कभी भक्ति आदि तथा आत्मज्ञान दोनोंके फलसे वञ्चित रह जाते हैं । जिनमें वैराग्य आदि उपर्युक्त गुण पर्याप्त मात्रामें हों हैं, उन्हें भी आत्माके प्रत्यक्ष करनेके लिये वृत्तिको सूक्ष्म तथा अन्तर्मुख करनेके लिये बहुत यत्न करना पड़ता है, दीर्घकाल तक निदिध्यासनका अभ्यास करना पड़ता है । निदिध्यासन 'अहं ब्रह्मास्मि' इन शब्दोंका केवल मानसिक उच्चारण अथवा ध्यान नहीं है; प्रत्युत इसके तात्पर्य अखण्ड चेतन-विषयक प्रत्ययका प्रवाह है । जैसे ऊपर कहा गया है, चेतनका सामान्य ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा देहादिविशिष्ट चेतन-का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है । शास्त्रके द्वारा देहादिसे रहित स्वरूप

चेतनका परोक्ष ज्ञान होता है। वृत्ति अखण्ड चेतन आत्माको प्रत्यक्ष करनेके लिये देह आदिको त्यागकर भीतर चेतनको साक्षात् स्पर्श करना चाहती है; परंतु ऐसा कर सकनेमें उपर्युक्त दोषोंके कारण असमर्थ होती है। परोक्ष-रूपसे अखण्ड चेतनको ही विषय कर रही है। शक्तिके अनुसार देहादिसे पृथक् होकर भीतर चेतनपर ही एक दृष्टिसे स्थिर खड़ी है। वृत्तिका केन्द्र भीतरी चिन्मात्र आत्मा ही है। यदि प्रारम्भमें इसे केन्द्र न भी कहा जाय तो भी वृत्तिका अधिक झुकाव संचार देहादि बाह्य परिधिकी ओर हो तो भी चेतनकी उपेक्षा नहीं है। जैसे बच्चा गिरनेपर भी उठनेका प्रयत्न करता है। केन्द्र चिन्मात्र आत्माको स्पर्श न कर सकनेपर भी इसे केन्द्र न बना सकनेपर भी; यत्नका केन्द्र चेतन ही होता है। किसी भी वृत्तिमें चेतनका अभाव नहीं होता; परंतु उपनिषद्-संस्काररहित पुरुषका केन्द्र चेतनकी ओर विशेष ध्यान नहीं होता। उसकी देहादिमें किसी प्रकारकी मिथ्या अथवा अनात्मबुद्धि नहीं होती। देहादि ही वृत्तिके केन्द्र होते हैं। चेतन नितान्त गौण उपेक्षणीय रूपमें वृत्तिमें पड़ा होता है; परंतु अद्वैत वेदान्तसम्बन्धी निदिध्यासनमें देहादिमें अनात्मत्व तथा मिथ्यात्व परोक्षबुद्धि होती है। भीतर देहादिरहित चेतनमें एक भावसे परोक्ष अथवा अपरोक्ष आत्मत्व-बुद्धि होती है। केन्द्र भीतरी चेतन होता है अथवा वृत्तिका झुकाव चेतनकी ओर होता है। देहादि गौण उपेक्षणीयरूपमें वृत्तिमें विद्यमान होते हैं। भीतर साक्षिचेतन केन्द्र होता है, इसलिये देहादिसम्बन्धी गौण या उपेक्षणीय भावमें क्रमशः वृद्धि होती है। इसी क्रमका निर्देश कठोपनिषद्में वर्णित है—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(१।३।१३)

'१. वाणीको मनमें लय करे, २. मनको बुद्धि-विशेष अहङ्कारमें, ३. विशेष अहङ्कारको—महत्—सामान्य अहङ्कारमें, ४. महत्को शान्त-अखण्ड-आत्मामें।' उपर्युक्त प्रयत्नके द्वारा कठोपनिषद्वर्णित क्रमसे देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सामान्य अहङ्काररूप अनात्मभागको वृत्ति क्रमशः त्यागती हुई अन्ततः अखण्ड चेतनसे साक्षात् स्पर्श करके, पूर्वोक्त प्रसन्नरूप ब्रह्माकारवृत्ति, अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका रूप धारण करती है और जैसे पूर्व वर्णन किया गया है, मूल अज्ञानकी निवृत्तिके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कारका कारण बनती है। अखण्ड चेतन आत्माके शब्द तथा अनुमानके द्वारा परोक्ष ज्ञानसे देहादिविशिष्ट चेतन आत्माके प्रत्यक्ष ज्ञानके बाधित हो जानेपर, चेतनके सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अखण्ड चेतनके परोक्ष ज्ञानके आधारपर, देहादि उपाधिकी उपेक्षा करते हुए, भीतर शेष चेतनपर—अखण्ड चेतनपर—आत्मभावनासे परोक्ष वृत्तिको केन्द्रित करनेका नाम निदिध्यासन है। अर्थात् क्रियात्मक निदिध्यासनमें निम्नलिखित भावों तथा प्रयत्नोंका समावेश है—

(१) चेतन अथवा चेतनताका सामान्य ज्ञान—साधारणतया सब प्राणियोंको है। (२) देहविशिष्ट-भेदयुक्त चेतनका प्रत्यक्ष ज्ञान—साधारणतया सब प्राणियोंको है। (३) देहादि उपाधिरहित अखण्ड चेतन आत्माका शब्द तथा अनुमानके द्वारा परोक्ष ज्ञान—तृतीय भूमिकामें प्रवेशके अधिकारीके लिये जरूरी है। (४) तीनके द्वारा दोका बाध। (५) देह आदि उपाधिके बाध-ज्ञानके द्वारा इनसे (आत्म तथा सत्यत्व-भावसे) उपेक्षा तथा साधारण प्रत्यक्ष शेष चेतनमात्र भागपर अपरोक्ष अखण्ड आत्मभावसे वृत्तिको केन्द्रित करनेका प्रयत्न। उपर्युक्त परोक्ष वृत्तिके निरवच्छिन्न प्रवाहको सविकल्प समाधि कहते हैं और कठोपनिषदुक्त चार क्रमके अनुसार इसके चार भेद हो जाते हैं। इन भिन्न-भिन्न परोक्ष वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर निर्विकल्प समाधि लाभ होती है; परंतु अपरोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिके उदय होनेसे पूर्व किसी मध्यवृत्तिके लय हो जानेपर जो निर्विकल्प समाधि होती है, उससे स्वरूपस्थिति तुर्यातुर्यापदलाभ नहीं होता, यह तुर्या मूल अज्ञानका नाश नहीं होता, सुषुप्तिकी स्थिति होती है। अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके उदय होनेपर ही तुर्यातुर्यापद अथवा परम ज्ञानकी निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। यही परमार्थ निर्विकल्प तथा परम यथार्थ ज्ञान है। शेष सब इसके साधनमात्र हैं।

उपसंहार

जब जिज्ञासुको शब्द तथा अनुमान-प्रमाणोंसे अखण्ड चेतन आत्माका परोक्ष ज्ञान होता है, तब वह तृतीय भूमिकामें प्रवेशका अधिकारी होता है। निदिध्यासन इस भूमिकाका प्रधान अथवा एकमात्र साधन है। अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अखण्डात्माका साक्षात्कार तथा पूर्वोक्त शब्द-अनुमान-प्रमाणों और प्रत्यक्ष-प्रमाणमें परमार्थ अखण्ड आत्मविषयक विरोधके परिहारके द्वारा समन्वय हो जाना इस कक्षाकी अवधि है।

इस फलके प्राप्त हो जानेपर साधक ज्ञानीकी चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्तिमें प्रवेश करता है। प्रथम तीन भूमियोंमें परमार्थ अखण्ड चेतन आत्माका यथार्थ ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रमाणोंके सहयोगसे क्रमशः उज्ज्वल तथा परिमार्जित होता जाता है। प्रथम भूमिकामें शब्दप्रमाणके द्वारा, दूसरीमें अनुमानके द्वारा और तीसरीमें प्रत्यक्ष ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा—अब इस यथार्थ ज्ञानमें कुछ अपूर्णता नहीं रहती।

चतुर्थ सत्त्वापत्ति भूमिका

निदिध्यासनसे अनात्मामें आसक्ति तथा आत्मभावनारहित होता हुआ मन क्रमशः शुद्ध, सूक्ष्म तथा एकाग्र होता जाता है। जैसा कि तृतीय तनुमानसा भूमिकाके निर्वचनसे प्रकट होता है। जब यह शुद्धि अपनी पराकाष्ठाको पहुँच जाती है, तब रज तथा तमोगुण अत्यन्त अभिभूत हो जाते हैं, इनका लेशमात्र भी व्यवहार नहीं रहता; मानो मन अखण्ड चिन्मात्र आत्माकी संनिधिमें अपने जड आकारको त्याग देता है और अखण्ड चिन्मात्र रूपसे भासता है, पृथक् नहीं भासता। अपरोक्ष वृत्तिसे मूल अज्ञानके बाध हो जानेपर जब वृत्तिका बाध तथा निरोध हो जाता है, तब तुर्यातुर्या आत्मा ब्रह्मरूपसे प्रतीत होता है, अर्थात् अखण्ड आत्मभिन्न प्रतीत नहीं होता, जैसे गौड़पादकारिकामें वर्णन आता है—

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥

(३।३५)

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

(३।४६)

'सुषुप्ति—गाढ़ निद्रामें मन अज्ञानमें लीन हो जाता है, परंतु निगृहीत—निरुद्ध-चित्त अज्ञानमें लीन नहीं होता। ऐसा निगृहीत चित्त निर्भय-अखण्ड-भूमा ब्रह्म ही होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशमय होता है। ऊपर-नीचे, दायें-बायें, बाहर-भीतर चिन्मात्रस्वरूप होता है।'

'जब चित्त न अज्ञानमें लीन होता है, न जगदाकार रूप विक्षेपसे युक्त होता है अर्थात् तमो-रजोगुणके मलसे रहित, शुद्ध सत्त्व-रूप-निरुद्ध होता है, तब कल्पित विषय भावसे रहित तथा निर्वातस्थदीपवत् चित्त ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त होता है।'

चित्तं चिदिति जानीयात् तकाररहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथा मणौ॥

(सदाचारानुसंधान ३७, ३८)

'तकारसे रहित चित्तको चित्-प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही जानना चाहिये। तकार चित्त—आत्मामें विषयका अध्यास है; जैसे स्फटिक मणिमें संनिधिके कारण जपाकुसुमका अध्यास होता है; अर्थात् विषयाकारसे युक्त चित् ही चित्त है; अन्यथा विषयाकारसे रहित चित्त ही चित्-ब्रह्म है।'

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥

'जैसे सैन्धव जलके योगसे जलकी समानताको प्राप्त होता है, इसी प्रकार आत्मा और मनकी समानता समाधि कहलाती है; अर्थात् निरोध-समाधिमें मन आत्माकार होता है।'

ज्ञातादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा।
मनसो निर्विकल्पः स्यात् समाधिर्योगसंज्ञितः॥
जले निक्षिप्तलवणं जलमात्रतया स्थितम्।
पृथङ् न भाति किं त्वम्भ एकमेवावभासते॥
यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता।
पृथङ् न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः ८२३—२५)

'ज्ञाता आदि त्रिपुटीको त्यागकर जब मनकी ब्रह्मरूपसे स्थिति होती है, तब इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। जलमें लवणके डालनेपर वह जलरूप ही हो जाता है, पृथक् लवणरूपसे प्रतीत नहीं होता, जलमात्ररूपसे प्रतीत होता है। ऐसे ही जब सूक्ष्मवृत्ति मन ब्रह्म-मात्ररूपसे भासता है, पृथक् मन-रूपसे नहीं भासता, अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही भासता है।'

इस प्रकार जब चित्त शुद्ध सत्त्वरूप हो जाता है, चिन्मात्र ब्रह्मात्मासे पृथक् नहीं भासता, अखण्ड चिन्मात्र रूपसे प्रतीत होता है; तुर्यातुर्या अनुभूतिस्वरूप चैतन्यके द्वारा होती है, इस स्थितिको चतुर्थ-सत्त्वापत्ति-भूमिका कहते हैं। यह तीसरी भूमिकाके साधन निदिध्यासनका अन्तिम परिपाक है। अब अज्ञान आवरणका लेशमात्र नहीं रहता। चित्त परम सूक्ष्म, अन्तस्तम होकर, अन्तर्मुखी होता हुआ, वृत्ति अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मसे स्पर्शकर, अपरोक्ष ब्रह्माकार हो जाती है। वह मूल अज्ञानको नाश करती हुई स्वयं भी बाधित हो जाती है। तत्पश्चात् निरावरण ब्रह्म ही

प्रकाशरूपेण पूर्ववत् भासने लगता है। यह आत्मप्रकाश प्रत्यक्ष-अखण्डाकार वृत्तिके द्वारा भी कहा जा सकता है और बिना किसी वृत्तिके द्वारा स्वतः सिद्ध प्रकाश भी है। इससे पूर्व क्योंकि अज्ञान होनेके कारण—अज्ञान आवृत होनेके कारण अखण्डाकार वृत्तिसे अज्ञान-आवरणका भंग होता है, इसलिये यह वृत्ति ब्रह्म-प्रकाशका द्वार कही जाती है। अन्यथा तदनन्तर निरावृत ब्रह्म स्वयं बिना किसी द्वारके प्रकाशता है। आवरणकी निवृत्तिके उपरान्त वृत्ति अथवा मन-रूपकी कोई दूसरी वस्तु रहती ही नहीं, जो कि द्वार हो सके। यदि प्रथम क्षणमें वृत्तिका उपर्युक्त उपयोग होनेके कारण वृत्तिको द्वार स्वीकार किया भी जाय; परंतु मूल अज्ञानके इस वृत्तिके द्वारा बाधित हो जानेपर फिर अज्ञानका उद्भव नहीं होता; इसलिये तदुपरान्त वृत्तिका न अस्तित्व होता है और न उपयोग। प्रथम क्षणके अनन्तर बिना किसी वृत्ति-द्वारके स्वतः ब्रह्मात्मा प्रकाशता है। वृत्तिका उपयोग अन्य द्वैत आरोपके विद्यमान कालमें ही है। उसके बाद यह वृत्ति स्वयं आवरणरूप है, जैसे काँटेका उपयोग काँटेके विद्यमान कालमें ही है; पहले काँटेके निकल जानेपर यह काँटा स्वयं ही चुभनरूप हो जाता है। सार यह है कि एक बार अपरोक्ष ब्रह्माकार-वृत्तिके उदय हो जानेपर मूल-अज्ञान-सहित वृत्तिका बाध हो जाता है। यह बाध परोक्ष ब्रह्माकार-वृत्तिके समान बाधमात्र ही नहीं रहता; प्रत्युत चेतनके स्वतः प्रकाशार्थ अथवा शुद्ध ब्रह्मके स्वतः प्रकाशकालमें वृत्तिका निरोध हो जाना सहज है, अनिवार्य है और दीर्घकालतक इस निरोधका रहना भी स्वाभाविक है। तत्पश्चात् मूलाज्ञान ब्रह्मको आवरण नहीं करता, इसलिये तदुपरान्त बिना किसी वृत्तिके यह ज्ञान बना रहता है। यदि प्रारब्ध आदिके अनुसार अन्य लौकिक वृत्ति उदय होगी, तो भी पूर्व तीन भूमिकाओंके समान परोक्ष ब्रह्मज्ञानके आधारपर द्वैतमें मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती; प्रत्युत अब अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान (स्वरूप ब्रह्मज्ञान) के आधारपर अपरोक्ष मिथ्यात्व बुद्धि होती है।

अन्य लौकिक वृत्तियोंके समान यदि सविकल्प अथवा निर्विकल्प स्थितिको प्रारब्ध अथवा प्रयत्नके अनुसार स्वीकार किया जाय, तो भी इन सबमें अपरोक्ष मिथ्यात्व बुद्धि होती है और पूर्वके समान इनको आत्मज्ञानका द्वार कहना उपयुक्त नहीं। निरावरण ब्रह्म बिना इनकी सहायताके प्रकाशता है। यदि व्युत्थानसे तुर्यातुर्यास्थितिकी पुनरावृत्तिके लिये कुछ यत्न स्वीकार किया भी जाय, तो भी इस प्रयत्नको पहले निदिध्यासन, परोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाहरूप सविकल्प समाधि अथवा तत्-निरोध निर्विकल्प समाधि अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान होनेके पूर्वकालके समान अज्ञानवृत्तिका जनक मूल-अज्ञान अब नहीं है, प्रारब्धमात्रोपयोगी अज्ञान शेष है। यह मूल-अज्ञानकी तरह ब्रह्मको कदापि आवरण नहीं कर सकता। तब सिद्ध ज्ञानी स्वरूप ज्ञान-शैलीका अवलम्बन लेकर ही पुनः तुर्यातुर्यास्थितिको लाभ करता है, जैसे कि पूर्व कहा गया है।

यदि प्रारब्धवश तुर्यातुर्यास्थिति शीघ्र लाभ न भी हो, सविकल्प अथवा सामान्य निर्विकल्प समाधिका व्यवधान पड़ता दीखे तो इनका निर्देश पूर्व परिभाषाओंके समान नहीं हो सकता। द्वैतका अब अपरोक्ष बाध है, यह पूर्वके समान तुर्यातुर्याका साधन नहीं; प्रत्युत प्रारब्धवश प्रतिबन्धकरूप है। प्रारब्धकी सत्ता क्षीण होनेपर अथवा प्रबल यत्नके द्वारा तुर्यातुर्या अनुभूति सहज है। इस प्रकार चतुर्थ भूमिकामें तुर्यातुर्या अनुभूतिका प्रवाह सहज चलता है, यदि प्रारब्ध बाधा न हो, प्रारब्धके दोषको निवृत्तिके लिये पुरुषार्थ भी प्रारब्ध प्रायः सहज करा लेती है।

जैसे पूर्व कहा गया है कि यदि प्रारब्ध आदिका प्रतिबन्ध न हो तो श्रवणके द्वारा ही ब्रह्मात्माका अपरोक्ष ज्ञान सहज है। इन प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके लिये ही मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई विशेष प्रतिबन्धक न हो तो अपरोक्ष ब्रह्माकार वृत्ति मात्रके द्वारा चतुर्थ आदि सम्पूर्ण भूमिकाओंका शीघ्र ही क्रमशः प्राप्त हो जाना सहज है। प्रतिबन्धक हो अथवा न हो, आत्मज्ञान फिर आवृत होकर अज्ञान कदापि नहीं होता। व्युत्थानकालमें प्रारब्ध परिणाम अथवा अन्य किसी अनुभूतिका भेद हो; परंतु फिर जगत्में सत्यत्व-बुद्धि नहीं हो सकती, ब्रह्मात्म-विस्मृति पूर्वके समान नहीं हो सकती और न तुर्यातुर्या-स्थितिके लिये पहलेकी तरह निदिध्यासन साधनकी आवश्यकता होती है। तुर्या सुषुप्ति तथा तुर्यातुर्यामें अब भ्रान्तिका अवकाश नहीं है। अब उपर्युक्त विलक्षण प्रयत्नके द्वारा ही तुर्यातुर्या अनुभूतिकी स्थिति लाभ की जाती है। यह प्रयत्न तुर्यातुर्या स्थितिसे ही समझमें आ सकता है। यत्किञ्चित् संकेत ही ऊपर किया गया है। अतः अब उपर्युक्त हेतुओंसे इन भूमिकाओंमें भेद नहीं किया जा सकता। निरुद्धावस्था तुर्यातुर्या अनुभूतिमें भेदका अवकाश ही कहाँ है। व्युत्थान

कालमें भी सामान्य मिथ्यात्व आदि बुद्धिसे भेद नहीं किया जा सकता। फिर भी जो कुछ भेद है उसका कारण किसी-न-किसी रूपमें व्युत्थानकाल ही है। अब यह विचार करना है कि ब्रह्म-साक्षात्कारके उपरान्त भूमियोंमें भेदका क्या कारण है। उनके नामके भेद भी इसमें पूर्वके समान उपयोगी हैं।

ज्ञान भूमियोंमें भेदका कारण

अक्षरार्पितवैधर्म्यं सत्यं भात्यज्ञसंततेः।
ज्ञ-विज्ञ-सम्यग्ज्ञतत्त्वज्ञैर्वैधर्म्यं यथाक्रमम्॥
ज्ञेयं भवेद् दृश्यमिथ्याशून्यचिन्मात्रभेदतः।
तत्त्वदृष्टिविपर्यासस्तत्तद्दृष्टेर्न चात्मनः॥

(परमाक्षरोक्तः योगोपनि० पृ० ६३)

'अक्षर-अखण्ड प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें आरोपित वैधर्म्य-जगत् अज्ञानीको सत्य भासता है, परंतु ज्ञानी, विज्ञानी, सम्यक् ज्ञानी तथा तत्त्वज्ञानीको यथाक्रम जगत् व्यावहारिक सत्, प्रातिभासिक सत्, शून्य अभावमात्र तथा चिन्मात्र भासता है।'

प्रथम तीन भूमिकाओंमें जगत्-मिथ्यात्वदृष्टि पूर्ण उज्ज्वल नहीं होती, क्योंकि अभी शब्दादि भिन्न-भिन्न प्रमाणोंमें विरोध होता है। कोई प्रमाण मिथ्या निश्चय करता है, कोई नहीं। चतुर्थ भूमिकामें अपरोक्ष ब्रह्माकार-वृत्तिके द्वारा ब्रह्म प्रत्यक्ष होनेसे जगत्के मिथ्यात्वका पूर्ण निर्णय हो जाता है। अतः ज्ञानकी प्रथम तीन साधन-भूमियोंमें जगत्-सत्यत्व बुद्धिका शेष रहता है, इस दृष्टिसे अज्ञानका अंश रहता है। इस दृष्टिसे इन तीन भूमियोंके साधकोंको अज्ञानी भी कहा जा सकता है। वास्तविक निरोध ज्ञानका आरम्भ चतुर्थ सत्त्वापत्ति भूमिसे होता है। अब मिथ्यात्वबुद्धि दृढ़ होती है। प्रथम तीन भूमियोंमें प्रमाण-भेदसे मिथ्यात्व बुद्धिमें विकास होता है। अब ज्ञानीकी सिद्ध भूमियोंमें सत्ताके भेदके कारण मिथ्यात्वबुद्धिमें विकास होता है। जैसे कि ऊपर उद्धृत वचनमें निर्देश पाया जाता है। इसीका विस्तृत व्याख्या किया जाता है।

(ख) चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति

पहले इस भूमिका विवेचन प्रथम तीन भूमिकाओंकी अपेक्षासे किया गया है। अब शेष तीन सिद्ध भूमियोंकी अपेक्षासे इसका विवेचन किया जायगा; क्योंकि यह भूमि पहली तीन साधन भूमियों तथा शेष तीन सिद्ध भूमियों दो त्रिकोंके मध्यमें स्थित है और यह दोनोंको मिलानेवाली है। इसलिये इसका दोनों त्रिकोंसे समानता तथा विलक्षणता रूप सम्बन्ध है। सिद्ध ज्ञान भूमियोंमें दो प्रकारका भेद विचारणीय है। (१) तुर्यातुर्या अनुभूति काल, (२) व्युत्थान काल। दोनों प्रकारके भेद एक दूसरेसे नितान्त पृथक् नहीं हैं। परस्पर एक दूसरेपर प्रभाव डालनेवाले हैं।

(१) तुर्यानुभूति कालमें अनुभूतिमात्रमें भिन्न-भिन्न भूमियोंमें भेद नहीं पड़ता; क्योंकि यह स्वरूपस्थिति तथा अखण्ड चेतन अनुभूति है। भेदरहित स्वरूप तथा अनुभूतिमें भेदका अवकाश नहीं। अभ्यासके तारतम्य निरोध तथा ज्ञानके संस्कारोंके बलवान् होनेसे तुर्यातुर्या अनुभूतिके कालमें तथा इन संस्कारोंमें भेद बढ़ता जाता है। उत्तरोत्तर भूमियोंमें तुर्यातुर्या अनुभूति अथवा स्वरूपस्थिति क्रमशः दीर्घकालतक रहती है।

(२) व्युत्थानकालीन स्थिति अथवा अनुभूति-प्रारब्ध भी इसमें कारण है, परंतु तुर्यातुर्या अनुभूतिके दीर्घकालीन अभ्याससे जगत्-मिथ्यात्वबुद्धिमें सत्ताभेदसे विकास होता है। पहले-पहले अर्थात् चतुर्थ भूमिकी तुर्यानुभूति ज्ञानीकी दृष्टिमें जगत्की व्यावहारिक सत्ता रहती है। अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानसे प्रत्यक्ष जगत्का अपरोक्ष बाध हो जाता है; परंतु बाधका अभिप्राय प्रतीतिका अभाव अथवा उस पदार्थका ही अभाव नहीं।

चरावत वृंदाबन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु॥
कोउ गावत, कोउ मुरलि बजावत, कोउ बिषान, कोउ बेनु।
कोउ निरतत, कोउ उघटि तार दै, जुरि ब्रज-बालक-सेनु॥
त्रिविध पवन तहँ बहत निसादिन, सुभग कुंज घन ऐनु।
सूर स्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लैनु॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण ।

आपका पत्र वैशाख शुक्ल पूर्णिमाका लिखा हुआ यथासमय मिला । समाचार विदित हुए । आपका उत्साह और कर्तव्यपरायणता सराहनीय है ।

जो अपनेको भवरोगसे पीड़ित अनुभव करके उससे छूटना चाहता है, उससे छूटनेके लिये व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अवश्य छूट जाता है, यह आपको दृढ़ विश्वास रखना चाहिये ।

आपने लिखा कि मुझे स्त्री-पुत्र, धन, मान, बड़ाई, स्वर्ग आदि किसी भी सांसारिक वस्तुओंकी कामना नहीं है, सो बहुत ही अच्छी बात है । किसी प्रकारकी कामनाका न रहना परम वैराग्यका हेतु है और वैराग्य होनेसे ही भगवत्प्रेम और भगवत्प्राप्ति शीघ्र हुआ करती है ।

एकान्त स्थानमें रुचि और भगवान्‌के भजनमें रुचि भगवान्‌की कृपासे ही होती है । निष्काम भाव भी भगवान्‌की कृपासे ही होता है । अतः आपको मानना चाहिये कि मुझपर भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका प्राकट्य हो गया है । अतः अवश्य ही वे कृपा करके दर्शन देंगे।

विश्वास करने योग्य भी एकमात्र भगवान् ही हैं । अतः उनपर पूर्ण विश्वास करके उन्हींपर निर्भर हो जाना चाहिये और मानना चाहिये कि वे जो कुछ कर रहे हैं, मङ्गल-ही-मङ्गल कर रहे हैं ।

मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है, यह साधनधाम है—यह सब ठीक है । यह जिस कामके लिये मिला है, उसे जल्दी पूरा कर लेना चाहिये; क्योंकि यह क्षणभङ्गुर है । यह तो भगवान्‌की वस्तु है, इसमें मोह नहीं करके इसे भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये, इसमें ममता और अहंकार नहीं करना चाहिये एवं इसके निर्वाहकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिये । जिसकी वस्तु है, वह स्वयं इसका पालन करनेकी सब व्यवस्था पहलेसे ही करता रहता है ।

आपकी पूछी हुई बातोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌ने गीता अ० ४ श्लोक १७ में जो यह कहा है कि कर्मकी गति गहन है, उसका यह भाव है कि कर्म करते हुए उनके बन्धनमें न पड़नेका उपाय हरेक मनुष्यकी समझमें नहीं आता । अतः साधकको चाहिये कि वह वर्तमान परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त जिस समय जो कर्म करे, उसे भगवान्‌का काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सत्यता और न्यायपूर्वक ठीक-ठीक करे । भगवान्‌ने जो साधकको विवेक दिया है, उसके प्रकाशमें वह जिस कामको जिस प्रकार करना ठीक और न्याय्य समझता है, उसे ठीक उसी प्रकार करे, किसी प्रकारके भय या लालचसे अपने विवेकके विरुद्ध कोई काम न करे । इस विवेककी रक्षाके लिये भारी-से-भारी विपत्तिके भयसे न डरे । उसे भगवान्‌का प्रसाद समझकर हर्ष-पूर्वक सहन कर ले, पर भगवत्-कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर न करे तथा बड़े-से-बड़े प्रलोभनमें आकर भी विवेकके विरुद्ध कोई काम न करे । यदि कोई भूल हो जाय तो मालूम होते ही उसे फिर न करनेका दृढ़ संकल्प करे, भगवान्‌से और जिसके साथ गलती हुई हो, उससे क्षमा माँगे । इस प्रकार विवेकपूर्वक करना ही मेरी समझमें कर्म है ।

(२) गृहस्थमें रहते हुए जो स्त्री-प्रसङ्गादि भोगोंका त्याग है, यह कर्मका त्याग नहीं है । कर्म और भोगमें बड़ा अन्तर है । भोगोंका त्याग करनेके लिये तो भगवान् जगह-जगह कहते हैं । (गीता अ० ५ श्लोक २२

और अ० २ श्लोक १४ देखें) अतः भोगोंका त्याग तो साधकको अवश्य करना चाहिये, पर अपनी शक्तिके अनुसार अतिथि-सेवा, यज्ञ, दान, संयम, कुटुम्बपालन आदि जो गृहस्थोपयोगी कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिये । उनका पालन प्रश्न १ के उत्तरमें लिखे हुए प्रकारसे करते रहना चाहिये ।

(३) पुत्रका होना साधकके लिये आवश्यक नहीं है । उसको तो समझना चाहिये कि भगवान्‌के नाते समस्त विश्व ही हमारा कुटुम्ब है । दूसरे प्रकारसे समझें तो एक प्रभु ही अपना है, दूसरा कोई भी अपना नहीं है; माता-पिता, भाई, पुत्र-स्त्री आदि सभी भगवान्‌की चीज हैं—ऐसा मानकर सबसे ममता उठाकर एकमात्र भगवान्‌में ममता करे । और तो क्या, शरीर-तकको भी अपना न समझे ।

(४) भगवान्‌को पानेकी इच्छा कर्मफलकी इच्छा नहीं है; क्योंकि भगवान्‌का मिलना किसी भी कर्मका फल नहीं है । भगवान् तो प्रेमसे मिलते हैं और उनके पानेकी लालसा, उनकी याद, उनके लिये व्याकुल होना, उनका वियोग असह्य होना—ये सभी प्रेमके ही अङ्ग हैं । भगवान्‌का जो इस प्रकारका स्मरण है, वही तो भजन और भक्ति है । यह कर्मका फल कैसे हो सकता है ? इस भजनके बदलेमें भगवान्‌के सिवा किसी अन्य वस्तुको चाहना ही सकामभाव है, वह नहीं होना चाहिये ।

(५) भक्तोंमें उत्तम-मध्यम श्रेणी तो अवश्य होती है, पर उस श्रेणीका विभाग शास्त्रीय ज्ञानसे या बुद्धिके विकाससे नहीं है । श्रेणीका विभाग तो भावसे है । जो साधक सबमें भगवान्‌का दर्शन करता है, सबको भगवान्‌से उत्पन्न और उन्हींकी वस्तु समझकर अपने कर्मद्वारा सबकी सेवा करता है, किसीका अहित न तो चाहता है और न करता ही है तथा भगवान्‌से या अन्य किसीसे भी अपने लिये किसी प्रकारका सुख नहीं चाहता, वही उत्तम भक्त है । शबरी, मी[illegible] गोपियाँ, ग्वाल-बाल आदि बहुत-से भक्त हो चुके जो कि शास्त्रज्ञ न होनेपर भी उच्चश्रेणीके भक्त [illegible] गये हैं । भगवान् तो एकमात्र प्रेमका ही नाता मा[illegible] हैं (गीता अ० ९ श्लोक ३० से ३२ तक देखें)

(६) भगवान्‌की अनन्य भक्ति (प्रेम)—[illegible] साधन बड़ा ही उत्तम है । प्रश्न ५ के उत्तरमें [illegible] बातें लिखी ही हैं । अतः साधकको चाहिये कि [illegible] प्रभुके विधानानुसार कहीं भी रहे, चाहे घरमें रहे [illegible] वनमें, उसकी प्रत्येक क्रिया साधनरूप होनी चाहिये खाना-पीना, सोना-जागना तथा जीविकाके लिये [illegible] करना, इसके सिवा बालकोंका पालन-पोषण, गृह[illegible] आदि सभी क्रियाएँ साधनरूप होनी चाहिये । जै[illegible] कि प्रश्न १ के उत्तरमें लिखा है, उस भावसे की[illegible] सभी क्रियाएँ साधन हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् है । अतः भगवान्‌की स्मृति अपने-आप रहती है ।

(७) प्रश्न २ के उत्तरमें यह स्पष्ट कर दि[illegible] गया है कि स्त्री-प्रसङ्गादि भोगोंका त्याग कर्मका त[illegible] नहीं है एवं उनका त्याग भक्तिमें सहायक है, बा[illegible] नहीं है । भोग और कर्तव्य कर्म एक नहीं है, [illegible] भेद समझ लेनेके बाद कोई शङ्का नहीं रहेगी ।

(८) भाग्यमें जिस प्रकारकी परिस्थितिका सम्[illegible] होना बताया गया है, वह अवश्य होता है, परंतु [illegible] परिस्थितिमें सुख-भोगका त्याग मनुष्य कर सकता [illegible] क्योंकि वह पुण्यका फल है, उसे वह त्याग सकता [illegible] दूसरेको दान कर सकता है अन्यथा यज्ञ, दान, [illegible] संयम आदि नये कर्म कैसे कर सकेगा । शेष उ[illegible] प्रश्न २ के उत्तरमें आ ही गया है ।

(९) अन्त समयमें जिस भावको स्मरण क[illegible] है, उसीको प्राप्त होता है । यह सर्वथा सत्य [illegible]

इसीलिये भगवान्‌ने निरन्तर स्मरण करनेके लिये कहा है। अतः साधकको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो उस प्रभुके आश्रित और उन्हींपर निर्भर हो जाता है, जिसको दूसरे किसीपर न तो भरोसा है और न किसीका सहारा ही है तथा जिसको अपने बल-बुद्धि और गुणोंका अभिमान नहीं है, जो उनके प्रेममें विह्वल और व्याकुल रहता है, उसे भगवान् जीवनकालमें ही बहुत शीघ्र मिल सकते हैं। यदि किसी कारणवश व्यवधान पड़ जाय तो अन्त समयमें वह ऊपरसे बेहोश होनेपर भी भीतरमें अपने प्यारे प्रभुको नहीं भूल सकता। क्योंकि अपने ऐसे भक्तको भगवान् स्वयं नहीं भूल सकते; अतः भक्तको इस विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

(१०) भगवान्‌के अनन्य प्रेमी भक्तका इस पाञ्चभौतिक शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसका सम्बन्ध तो एकमात्र अपने परम प्रियतम प्रभुसे रहता है। अतः उस शरीरको चाहे जीव-जन्तु खाये, चाहे जलमें प्रवाहित कर दिया जाय, चाहे अग्निमें भस्म कर दिया जाय, उसके लिये सब एक ही है। उसे किसी प्रकारका दोष स्पर्श नहीं कर सकता। एवं इसमें तो कोई दोषकी बात ही नहीं है।

(११) शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यको अपने वर्णाश्रमानुसार ही कर्म करना चाहिये। यह ठीक है। पर आपत्कालमें अपनेसे नीचे वर्णके कर्म करनेकी भी शास्त्रोंमें आज्ञा है। इस समय आपत्काल तो मानना ही पड़ेगा। इसके सिवा यह बात भी है कि वर्णव्यवस्थामें बहुत कुछ विफलता आ गयी है। अतः साधकको चाहिये कि वह वर्तमानमें जीविकाके लिये जो कर्म करता है, वह यदि हिंसायुक्त या किसीका अहित करनेवाला न हो तो उसे न छोड़े, किंतु प्रश्न २ के उत्तरमें बताये हुए प्रकारसे उसे करता रहे।

(१२) रोगकी अवस्थामें यदि स्नानादि न किया जाय तो कोई हानि नहीं है। संध्यादि नित्य-कर्म तो मानसिक कर लेना चाहिये और भगवान्‌का भजन-स्मरण तो हर हालतमें हर प्रकारसे करते रहना चाहिये, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। खयाल रखना चाहिये कि भगवान्‌का भजन-स्मरण कर्म नहीं है, यह तो भक्तिका अङ्ग है, प्रेम होनेसे आगे चलकर अपने-आप होनेवाला है।

(१३) स्नानादि करके पहले संध्यादि नित्य-कर्मसे निपट लेना चाहिये एवं उस कर्मको भी अपने इष्टकी आज्ञा मानकर, उन्हींकी प्रसन्नताका हेतु मानकर करना चाहिये; फिर अपने इष्टका भजन-स्मरण-ध्यान तो निरन्तर करना ही है।

(१४) संध्याके लिये बताये हुए उत्तम कालमें यदि मालिकसे छुट्टी न मिल सके और जहाँ काम करते हैं वहाँ मानसिक करनेके लिये भी समय न मिल सके तो जब छुट्टी मिले, पहले संध्योपासना करके ही भोजन करना चाहिये।

(१५) लिङ्ग नाम चिह्नका है; अतः इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं। मिट्टीके ढेलेको, एक सुपारीको भी गणेश मानकर पूजा की जाती है तथा कुशा और अपामार्गके सप्तर्षि बनाकर उनकी पूजा की जाती है। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे देवताओंके भी किसी-न-किसी प्रकारके चिह्न बनाकर उनकी पूजा की जाती है एवं शङ्कर भगवान्‌की भी मूर्ति और चित्र आदि पूजे जाते हैं। अतः यहाँ लिङ्गका अर्थ यह उपस्थ-इन्द्रिय नहीं मानना चाहिये।

(१६) भगवान्‌के भक्तको भगवान्‌की कृपाका भरोसा करके सदैव निर्भय रहना चाहिये। भगवद्भक्तका कभी किसी भी प्रकारसे अनिष्ट नहीं हो सकता—यह निश्चित सिद्धान्त है। गीता अ० ६ श्लोक ४० और अ० ९ श्लोक ३१ देखना चाहिये। शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। निर्वाह करते-करते भी

तो वह चला ही जायगा । उसका वियोग तो निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी ? साधकको तो अपने प्रभुपर ही निर्भर रहना चाहिये । झूठ, कपट उसे क्यों करना चाहिये ?

(१७) साधकके लिये घर, वन और पर्वत आदिमें कोई भेद नहीं है । उसे भगवान् जिस अवस्थामें और जिस जगह रखते हैं, वहीं वह प्रसन्न रहता है; क्योंकि उसके प्रियतम सभी जगह हैं, उसे तो उनकी आज्ञाका अनुसरण करना है और उन्हींकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना है । फिर वह परिस्थिति बदलनेकी या बनी रहनेकी इच्छा ही क्यों करे ?

रही लड़कीकी बात, सो उसे भी अपनी लड़की न मानकर भगवान्‌की लड़की समझना चाहिये और यथायोग्य उसका पालन-पोषण करते रहना चाहिये । उसके लिये प्रभुने जिस वरकी रचना की होगी उसके साथ सम्बन्ध होगा । इसमें आपको चिन्ता क्यों करनी चाहिये ? इस बातको भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये । वे जैसा ठीक समझेंगे वैसा स्वयं करेंगे । वे सर्वसमर्थ हैं । लड़की तो उनकी है, आप अपनी क्यों मानते हैं ? आपको तो चाहिये कि एकमात्र भगवान्‌को ही अपना मानें ।

(१८) वर्तमान स्थूल शरीर छूट जानेके बाद जीवात्मा सूक्ष्म शरीरके सहित परलोक आदिमें गमन करता है । गीता अ० १५ श्लोक ७ और ८ में इसका स्पष्टीकरण है ।

(१९) संजयने दस रोज बाद ही कथा सुनाना आरम्भ किया था । यही बात महाभारतमें लिखी है । धृतराष्ट्र बीचमें युद्ध-समाचार साधारणतया सुन लिया करता होगा, पर विशेष जानकारीके लिये उसने संजयसे प्रश्न किया, यह बात माननेमें कोई अड़चन नहीं है । क्योंकि 'क्या किया ?' इस प्रश्नका यह अभिप्राय नहीं है कि युद्ध किया या नहीं । इसका यह भाव है कि कि[स] प्रकारके क्रमसे युद्ध हुआ । अतः कोई विरोध नहीं है

(२०) अर्जुनने जो अभिमन्युकी मृत्युके स[मय] शोक किया, वह लोकसंग्रहके लिये लीलाके रूपमें किया ऐसा मानना चाहिये; जैसे कि भगवान् श्रीरामने सी[ता] और लक्ष्मणके लिये किया था ।

(२१) भीष्म और द्रोण आदि राष्ट्रके मन्त्री थे इसलिये उनको दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करना पड़ा, [पर] उन्होंने कोई पक्षपात नहीं किया । धर्मानुसार अ[पने] कर्त्तव्यका पालन किया । इसमें कोई दोषकी बात नहीं थी

(२२) गजराजने किस नामसे पुकारा था—[यह] तो वहाँके प्रसङ्गमें देखना चाहिये । पर यह निश्चि[त] बात है कि वह भगवान्‌को जिस रूपमें देखना चाह[ता] था, वे उसी रूपमें आये । भगवान् विष्णुका नाम भी [ह]रि है । विष्णुसहस्रनाम देखिये । अतः कोई विरोध नहीं है।

(२३) भक्त बहुत हुए हैं । उनकी जी[वनी] भक्तमालमें तथा 'कल्याण'में प्रकाशित भक्तगाथा[ओं] भक्ताङ्कमें, भक्तचरिताङ्कमें भी देख सकते हैं [।] गीताप्रेससे प्रकाशित भक्तगाथाकी विभिन्न पुस्तकोंमें दे[ख] सकते हैं । भक्तबालक, भक्तनारी आदि अने[क] पुस्तकें हैं । नामदेव, धन्ना, नरसी आदि अनेक वै[ष्णव] भी भक्त हुए हैं ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचा[र] मालूम हुए, आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) निर्गुण, सगुण, निराकार और साकार स[ब] उस परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतः जि[स] साधकका जिस स्वरूपमें प्रेम और विश्वास हो, जिस[की] उपासना वह बिना किसी कठिनाईके कर सकता है उसके लिये वही ठीक है । आपने निर्गुण स्वरूप[की] उपासनाका प्रकार पूछा, सो यह उपासना ज्ञानमार्ग[...]

अनुसार की जाती है । निर्गुणकी उपासनाके लिये सब प्रकारकी भोगवासनाका त्याग कर कर्त्तापनके अभिमानसे शून्य होना आवश्यक है तथा शरीरमें जो मैं और मेरापन है इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये । फिर एकमात्र सच्चिदानन्द परब्रह्मके चिन्तनमें तल्लीन होकर सब प्रकारके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये । उपासनाका पूरा प्रकार पत्रद्वारा कहाँतक समझाया जाय!

(२) हृदयमें ध्यान आत्मस्वरूपमें मन लगाकर भी किया जाता है, परमात्माको सर्वव्यापी आकाशकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण मानकर भी उसके सच्चिदानन्दघन स्वरूपका ध्यान किया जा सकता है । जिस साधककी जैसी रुचि हो, जैसा विश्वास हो, जैसी योग्यता हो, उसे वैसा ही करना चाहिये ।

(३) ध्यान करते समय जबतक नामका ज्ञान रहे, तबतक नाम-स्मरण करते रहना चाहिये ।

(४) नियमितरूपसे एकान्तमें बैठकर सुबह और संध्याके समय तो ध्यान करना ही चाहिये, उसके अतिरिक्त अन्य समयमें भी जब अवकाश मिले करना चाहिये तथा काम करते समय भी भगवान्‌का स्मरण रखना बहुत अच्छा और आवश्यक है ।

(५) भगवान्‌के ध्यानमें मन टिकनेका तरीका या साधन पूछा सो पहले यह विचार करना चाहिये कि मन क्यों नहीं टिकता । विचार करनेपर जो-जो विरोधी कारण समझमें आयें उनको दूर करते रहना चाहिये । मन न टिकनेका दुःख होना चाहिये, मनको ध्यानमें टिकाना है—यह उद्देश्य होना चाहिये । भगवान्‌में प्रेम होनेपर भगवान्‌का ध्यान अपने आप होने लगता है । अतः जिन-जिन सांसारिक पदार्थोंमें प्रेम है, जिनको आप सुखका हेतु मानते हैं, जिनके साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़ रक्खा है, उनसे नाता तोड़कर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये । उनको ही अपना परम हितैषी मानना चाहिये । ऐसा करनेसे ध्यानमें मन लग सकता है ।

(६) इसका उत्तर नम्बर दोके उत्तरमें आ गया है, इसलिये दुबारा नहीं लिखा है ।

(७) सगुण स्वरूपकी उपासनाका तरीका एक नहीं है । साधकोंके विश्वास, प्रेम और योग्यताके भेदसे अनेक भेद होते हैं । आपको अपने लिये जो तरीका सुगम मालूम हो, जिसमें आपका प्रेम हो, जिसपर विश्वास हो, वही आपके लिये ठीक है और वही सुगम भी होगा । सगुण परमेश्वर निराकार भी हैं और साकार भी । वह अनन्त दिव्य गुणोंसे भरपूर हैं, अनन्त दिव्य सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं और उनका रूप-सौन्दर्य भी परम दिव्य तथा अलौकिक है, उसका वर्णन लेखनीद्वारा नहीं किया जा सकता। वह तो उनकी कृपासे ही समझमें आता है, अतः उनकी शरण लेकर लालसापूर्वक उनपर निर्भर होना चाहिये ।

(८) निर्गुण-उपासक यदि श्रीकृष्णकी मानस पूजा करे तो कोई हानि नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण और उनके निर्गुण स्वरूपमें कोई भेद नहीं है । दोनों एक ही है । जो निर्गुण है वही सगुण है और जो सगुण है वही निर्गुण है तथा वही श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त ब्रह्माण्डमें परिपूर्ण हैं और समस्त ब्रह्माण्ड ही नहीं, करोड़ों ब्रह्माण्ड उनके एक अंशमें स्थित हैं, ऐसा समझकर उनका ध्यान करना चाहिये ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आप सुबह एक बार संध्या करते हैं, सो मालूम हुआ, यदि सायंकाल भी किया करें तो और भी अच्छा है ।

गायत्री-मन्त्रका जप करते समय देवीका ध्यान न करके अपने इष्टदेव परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये; क्योंकि गायत्री-मन्त्रमें परमेश्वरकी ही स्तुति-प्रार्थना और उसके ध्यानका वर्णन है। गायत्री देवी तो उस मन्त्रकी और छन्दकी अधिष्ठात्री देवता है, उसमें उसके स्वरूपका वर्णन नहीं है; अतः जप करते समय प्रभुका ध्यान और मन्त्रके अर्थका ज्ञान रहना परम आवश्यक है।

(२) जब चित्त शुद्ध हो जाता है, उसके बाद बुरे विचार बंद हो जाते हैं। जबतक चित्तमें अशुद्धि रहती है, तबतक उनका समूल नाश नहीं होता; इसलिये वे समय-समयपर प्रकट होते रहते हैं। अतः साधकको चाहिये कि अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनाये। अर्थात् किसी भी प्राणीका अहित न तो क्रियाद्वारा करे, न मनसे ही चाहे। सबका हित हो वही काम करे और सबका भला हो वही भाव रखे। ऐसा करनेसे राग-द्वेषका नाश होनेपर चित्त शुद्ध हो जाता है।

(३) सुबह-शाम घरमें बैठकर जप करें, [illegible] समय यदि जपकी संख्या मालूम करनी हो तब [illegible] मालापर जप करना चाहिये, यदि संख्याकी आवश्यकता न हो तो विना मालाके भी कर सकते हैं। मा[illegible] तुलसी या चन्दनकी हो तो अच्छी है। स्फटिकमणि[illegible] और रुद्राक्षकी भी हो तो कोई बुराई नहीं है।

(४) सोते हुए रामनामका या षोडश मन्त्र[illegible] जप किया जा सकता है, ऐसा करनेका विधान है[illegible] कोई मनाही नहीं है। जो लोग कहते हैं कि सो[illegible] सोते जप नहीं करना चाहिये, उनका कहना वैदि[illegible] मन्त्र-जपके विषयमें है---ऐसा समझना चाहिये; क्यों[illegible] उसमें विधि-विधानकी आवश्यकता है। भगवान्‌के नाम[illegible] जप तो हर समय, हर अवस्थामें करना ही चाहिये[illegible] षोडश मन्त्रके जपके विषयमें तो कलिसंतरणोपनिषद्[illegible] स्पष्ट लिखा है कि शुद्ध हो या अशुद्ध, किसी [illegible] अवस्थामें इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

आश्चर्य

[रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा]

जीनेका ही अचरज है, मरनेमें क्या लगता है?

हरदम दम आता-जाता है,
मृत्यु सँदेसा दे जाता है,
मोह महातममें सोया जन,
नेक नहीं जगता है—
मरनेमें क्या लगता है?

अगणित जन यमपुर जाते हैं,
क्षण-भंगुरता दिखलाते हैं,
शेष समझते यहीं रहेंगे,
कैसी भावुकता है—
मरनेमें क्या लगता है?

जो आया है, वह जाएगा,
काल-व्याल सबको खाएगा,
धन्य वही जो जान-मान यह—
नित सुकर्म करता है—
मरनेमें क्या लगता है!

प्रभुका सदा ध्यान धरता है,
दुखियोंके संकट हरता है,
सदा सत्य साधन अपनाकर,
भवसागर तरता है—
मरनेमें क्या लगता है!

विवेकशील जीवनके लिये मानसिक संतुलन धारण कीजिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

मनुष्यका अन्तर्जगत् सब जीवोंसे उच्चतर है। उसकी व्यवस्था जगन्नियन्ताकी अद्भुत कुशलताकी द्योतक है। मकड़ीके जालेके सदृश नाना स्मृतियों, इच्छाओं, कल्पनाओं तथा विचारोंके सूक्ष्म तन्तुओंका तानाबाना उसमें फैला रहता है, जिनका सामूहिक प्रभाव मानव-शरीरपर दृष्टिगोचर होता है। प्रायः मनुष्य विचित्र-विचित्र कार्य करते देखे जाते हैं, किंतु वे अपनी विभिन्न क्रियाओंके मूल केन्द्र—अन्तर्जगत्से अपरिचित होते हैं। उन्हें विदित नहीं कि उनके सब सांसारिक या आध्यात्मिक कार्योंका आदिस्रोत उनका मन है। बाह्य संसारका सुख-दुःख, आह्लाद अथवा क्लेशमयी मनःस्थिति, भलाई-बुराईकी ओर प्रवृत्ति, विक्षिप्तावस्था अथवा मनोमोहिनी मुद्रा हमारे उन संस्कारोंके परिणाम हैं, जो हमने अपने अन्तर्जगत्में उपजाये हैं। संसारमें जो व्यक्ति दुखी रहता है या जो बहुत अल्प साधनोंमें ही आनन्द लूटता है, इसका कारण उस व्यक्तिका मन ही है। अपने अन्तर्जगत्की प्रतिच्छाया ही हम इस लोकमें, व्यक्ति-व्यक्तिमें प्रतिफलित देखते हैं। हमारे संस्कारोंकी छाप हमारी दृष्टिमें निहित रहती है। अपने संस्कारोंके अनुसार ही इस सर्वगुणसम्पन्न सृष्टिसे हम पाप-पुण्य, भलाई-बुराई, आनन्द-क्लेश खींचते रहते हैं।

शरीरपर मनका अद्भुत प्रभाव देखा जाता है। जो रोग वास्तवमें शरीरमें नहीं हैं, उनकी कल्पना करने तथा वैसे ही रोगी विचारोंको अन्तर्जगत्में स्थान देनेसे वे रोग-व्याधि शरीरमें प्रकट होते देखे जाते हैं। अपने संस्कारोंके अनुसार ही हम स्वास्थ्य, यौवन, सौन्दर्य इर्द-गिर्दके वातावरणसे खींचते रहते हैं।

रोगीका मन रोगी होता है। रोगमय मनःस्थितिसे शरीरमें रोगका प्रादुर्भाव होता है; काल्पनिक भयकी आशंकासे शरीर संतप्त हो उठता है; वासना तथा क्रोध उत्तेजना उत्पन्न कर शरीरको कँपा डालते हैं; निराशा, वेदना और पूर्वकष्टके विचारोंसे क्लेशमयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ईर्ष्या और प्रतिहिंसाके विचारोंसे शरीर दग्ध हो उठता है। लोभमें मनुष्य कल्पनाके महल निर्मित करता रहता है। संदेहदृष्टिसे मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति अथवा स्थितिपर अविश्वास प्रकट करता रहता है। दुष्ट तथा अहितकर मनोवृत्तियोंके उद्दीप्त होनेसे मनका अन्तःप्रदेश अस्त-व्यस्त तथा संतप्त हो उठता है।

हमारा कोई अनुभव व्यर्थ नहीं जाता। वह हमारे अन्तर्जगत्में अपनी जड़ अवश्य छोड़ जाता है। जैसे फसल कट जानेपर भी खेतमें वृक्षोंकी जड़ें उगी रहती हैं, वैसे ही हमारे सब अच्छे-बुरे, कड़वे-मीठे अनुभव, बाह्यजगत्की अनुभूतियाँ सदा-सर्वदाके लिये अन्तर्जगत्में अङ्कित हो जाती हैं। उसी ज्ञान तथा संस्कारसे हमारा कार्य संचालित होता रहता है। हमारे आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकारके दुःख मनद्वारा संगृहीत किसी दुष्ट विकारके परिणाम होते हैं।

दुर्भावना तथा सद्भावना

हमारे अन्तर्जगत्का निर्माण करनेवाली दो वृत्तियाँ हैं—सद्भावना तथा दुर्भावना। ये जीवनके देखनेके दो विभिन्न मार्ग हैं। आप जिस मार्गसे जीवन-यात्रापर निकलते हैं, उस मार्गमें वैसी ही वस्तुएँ आपको स्थान-स्थानपर मिलती जाती हैं। दुर्भावनाका मार्ग कण्टकों तथा शूलोंसे परिपूर्ण है। इस रास्तेसे जानेवालोंको सदा अतृप्तिका सामना करना पड़ता है। वह ईर्ष्या, प्रतिशोध, संघर्ष तथा हिंसाकी वृत्तियोंमें उलझा रहता है। दूसरोंपर अविश्वास और शङ्का करता है, सबको अपना शत्रु समझता है, जगत् उसे अपनी उन्नतिके मार्गमें अवरोध करता दिखायी देता है। उसके आत्मविरोधी विचार दुःखोंकी सृष्टि कर उसे मनकी नारकीय स्थितिमें धक्का दे देते हैं। वह सदा अशान्त और अतृप्त रहता है।

दूसरा मार्ग सद्भावनाका है। इसमें मनुष्यके दैवी गुणोंका पावन प्रकाश है। यह मनुष्यकी उच्च स्थितिको लानेवाला आध्यात्मिक मार्ग है। इस पथमें विचरण करनेवाला पथिक प्रत्येक व्यक्तिको आत्मरूपसे देखता है, सबको अपना हितैषी मानता है, सबसे स्नेह करता है और सबकी उन्नतिमें सहायता करता है। अन्य जीव भी उससे प्रेम, सेवा, सहायता, उन्नति, उदारता प्राप्त करते हैं। संसारके समग्र प्राणियोंसे आत्मभाव रखनेके कारण स्वयं उसकी मनःस्थिति शान्त और संतुलनकी रहती है। उसमें व्यर्थके संघर्ष, प्रतिहिंसा, स्वार्थ या वासनाके ताण्डव नहीं होते। आध्यात्मिक शक्ति उसके मनमें एकत्रित होती चलती है। वह दूसरोंके लिये आत्मत्याग करनेके आनन्दसे परिचित होता है। त्याग, बलिदान और सेवाभाव उसके संकल्पोंको दृढ़ता प्रदान करते हैं। आध्यात्मिक शक्ति उसके अन्तर्जगत्में संचित होती चलती है।

सद्भावना सदा फलित होनेवाली जादूकी शक्ति है। जो जितनी ही सद्भावना दूसरोंको देता है, वह उससे दुगुनी-चौगुनी सद्भावनाएँ बदलेमें पाता है। सद्भावना कभी व्यर्थ नहीं जाती। सद्भावनाएँ गुप्तरूपसे दूसरोंको हमारी ओर आकृष्ट करती हैं। यदि दूसरा आकृष्ट न भी हो, तो ये स्वयं हमें अमित शान्ति, धैर्य और साहस देनेवाली हैं। ये हमें संकुचिततासे बचाकर उदार बनाती हैं और अन्ततः कल्याणका कारण बनती हैं।

मानसिक द्वन्द्वोंसे मुक्त रहिये

मानसिक संतुलन भंग होनेसे पूर्व हमारे मनमें मानसिक द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति होती है। दो विरोधी भावोंमें संघर्षकी स्थितिको द्वन्द्व कहते हैं। द्वन्द्वोंमें भय एक महत्त्वपूर्ण विकार है। इच्छा और भय; लोभ तथा भय; प्रलोभन, चोरी तथा पकड़े जानेका भय अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। भय एवं अनिश्चितता, चिन्ता और आशङ्का मानसिक उलझनें बनाती हैं। मनमें तनावकी स्थिति पैदा हो जाती है। भयसे गुप्त मानसिक उलझनें (न्यूरासिस) बनती हैं। प्रायः हमारे मनमें कोई इच्छा उत्पन्न होती है, किंतु उसे प्राप्त न करनेके कारण भावना ग्रन्थि बनती है। ये ग्रन्थियाँ नाना विकारजन्य मूर्खताओंमें प्रकट होती हैं।

भय मनुष्यके विकासको रोकनेवाला दुष्ट विकार है। माता-पिताओं, गुरुओंको चाहिये कि बच्चोंको अधिक सजाएँ न दें; बच्चोंपर अनुचित सख्ती न बरतें। कठोर व्यवहारसे बच्चोंमें भयकी गुप्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये बन जाती हैं, जो जीवनभर उनके कार्योंमें अर्द्धविक्षिप्तता, बेढंगापन, आत्महीनता या व्यर्थ चिन्ताएँ, बेबसी उत्पन्न करती हैं। मनुष्यके संकल्पोंकी कमजोरीका कारण यही द्वन्द्व है। अच्छे व्यक्तित्ववाले आदमी भी कभी-कभी इसके शिकार बन जाते हैं। संतुलनके अभावमें वे आत्म-भर्त्सना किया करते हैं।

उन्नति, समृद्धि तथा स्वस्थताके लिये मानसिक द्वन्द्वोंसे बचे रहें। मनमें उचित विचार रखना, भविष्यके अनिष्टोंसे मुक्त रहना, वाणीसे मधुर बोलना, सबका भला चाहना, मनको उदार रखना—ये वे विचार-पद्धतियाँ हैं, जिनसे मनुष्य सभी प्रकारकी परिस्थितियोंमें शान्त बना रहता है। उचित विचार क्या है? जिन विचारोंसे किसीका अनिष्ट नहीं होता, जो सबके प्रति सद्भावना, प्रेम, उदारतासे युक्त हैं, जिनमें मनुष्यमात्रकी भलाईके लिये लगन, प्रेम, उत्साह और सेवा-भावना है, जो सदा नये आध्यात्मिक भावनासे स्निग्ध हैं, वे ही सही विचार हैं।

सदा नये समाजोपयोगी कार्य करने, आशावादी भावना बनाये रखने और आध्यात्मिक चिन्तन करनेसे मनुष्य द्वन्द्वों बच सकता है। जो व्यक्ति नये-नये लोकोपकारी कार्य करेगा, उसके मनमें द्वन्द्व कैसे ठहर सकते हैं? जहाँ सद्ज्ञानका दिव्य प्रकाश है, वहाँ अज्ञानान्धकार कैसे ठहर सकता है? कार्य निरत रहनेसे मनुष्य गंदगीसे बच सकता है। परोपकारी साधकमें आत्मविश्वास बढ़ता है। एक कार्यके पश्चात् दूसरे कार्यमें सफलताएँ प्राप्त करता चलता है। सही विचार, उचित दृष्टिकोण, मौलिक दृष्टि और निरन्तर कार्य करने द्वन्द्व दूर होते हैं।

संक्षेपमें, हमारे मनको उन्नत या अवनत करनेवाली शक्तियाँ हैं—ज्ञान तथा कर्म। हम अध्ययन, मनन, सत्सं तथा संसारके नाना अनुभवोंसे ज्ञान प्राप्त करते हैं। फि उनकी सहायतासे कर्ममें प्रविष्ट होते हैं। यदि ज्ञान और कर्म बराबर मात्रामें अपना कार्य करते हैं, तो मानसिक संतुलन स्थिर रहता है। ज्ञान और कर्मका महत्त्व हमारे प्राचीन विचारकों* ने माना है। बिना कर्मके ज्ञान अधूरा है; इसी प्रकार बिना ज्ञानके कर्म अन्धा है। दोनोंका पूर्ण सामञ्जस्य ही अपेक्षित है। ज्ञान और कर्म जब साथ-साथ बढ़ते हैं, तब जीवन आगे बढ़ता है। कर्म तथा ज्ञानके सामञ्जस्यद्वारा द्वन्द्वोंका निवारण करें। निरर्थक अनुचित और अनुपयोगी कार्योंसे समय बचाकर अपना समय उपयोगी कर्मोंमें व्यतीत करना चाहिये। कर्मक्रमको धर्ममय बनानेसे द्वन्द्व छूटते हैं।

मानसिक तनाव या खिचावकी स्थिति न आने दें, अर्थात् जैसे ही कोई इच्छा उत्पन्न हो, वैसे ही उसके पक्ष या विपक्षमें निर्णय कर डालें। यह करूँ या न करूँ—ऐसी संशयात्मक मनःस्थिति उत्पन्न न होने दें। संशयमें पड़े रहनेसे मनुष्यमें बड़ी दुर्बलता आती है। तनाव बढ़ता है। यदि कोई इच्छा उत्पन्न हो, तो उसकी पूर्ति इस ढंगसे करें कि वह सदा-सर्वदाके लिये निवारित हो जाय।

जिन वस्तुओं, नामों या सजाओंसे बच्चोंको भय उत्पन्न होता है, वे व्यवहारमें न लायें। बच्चोंको उत्साहित किया जाय और सजा इस प्रकार दी जाय कि वे मानसिक ग्रन्थियोंसे बच सकें।

* कर्म और ज्ञान, जीवरूपी पक्षीके दो पंख हैं—योगवासिष्ठ

बड़े व्यक्तियोंमें आत्म-संकेत तथा सजेश्चनसे ग्रन्थियोंका निवारण चले। आत्महीनता या आत्म-लघुतासे ग्रसित व्यक्तियोंको संकेतद्वारा प्रोत्साहित या निरुत्साहित किया जाय।

पूर्ण विकसित व्यक्तियोंको चार प्रकारके भय होते हैं—१–मृत्युका भय, २–वृद्धत्वका भय, ३–गरीबीका भय, ४–प्रियजनोंके अनिष्टका भय। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। जब हम कहते हैं कि अमुक वयस्क मृत्युसे डरता है, तब हम वास्तवमें यह कहना चाहते हैं कि वह मृत्युसे नहीं, अपने पापोंके दुष्परिणामोंसे भयभीत होता है। वह इस बातसे शंकित रहता है कि अब उसे अपने दुष्टताके कर्मोंकी सजा मिलेगी। उसकी अन्तश्चेतना ऐसा अनुभव करती है कि इस दिव्य जीवनका मैंने जो दुरुपयोग किया है, उसके फलस्वरूप मरनेके पश्चात् मुझे दुर्गतिमें जाना पड़ेगा, अतः मनुष्यको अपने कार्य उन्नत करने चाहिये। आत्मोन्नतिके कामों—सद्ग्रन्थावलोकन, परोपकार, सेवा, त्याग, तपश्चर्या, साधना-सत्कर्मोंमें निरत रहना चाहिये। ऐसे कार्य करने चाहिये कि उसे पछताना या आत्मभर्त्सना न करनी पड़े। आप ऐसा जीवन व्यतीत कीजिये कि आत्म-ग्लानि उत्पन्न न हो। मृत्युको अधिक उन्नत अवस्थामें जानेकी एक स्थिति मानिये। जब कोई व्यक्ति वर्तमानकी अपेक्षा अधिक अच्छी, उन्नत और सुखकर अवस्थामें जाता है, तब उसे कष्ट नहीं, प्रसन्नता होती है। अपने जीवनको धार्मिक बना कर शुभ भावनाओंमें निरत रह सत्कर्म करनेसे मृत्युका भय छूट सकता है।

वृद्धावस्थाको जीवनका अन्त नहीं, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टियोंसे समुन्नत जीवनका प्रवेशद्वार मानिये। वृद्धावस्था आदरकी पात्र है। वह घृणाकी वस्तु नहीं है। वृद्ध जवानोंकी अपेक्षा शारीरिक शक्तिको छोड़कर हर प्रकारसे बढ़ा हुआ होता है। वृद्धावस्था वह परिपुष्ट समुन्नत दशा है, जिसके लिये प्रकृति आरम्भसे तैयारी करती है। अतः बुढ़ापेका डर मनसे सदाके लिये निकाल दीजिये।

गरीबीका भय व्यर्थ है, यदि आपका जीवन संयम और दूरदर्शितासे व्यतीत हो रहा है। आप जिस स्थिति, जिस अवस्था, हैसियत या आयके व्यक्ति हों, कुछ-न-कुछ अवश्य बचा सकते हैं। यह संचित धन आपको गरीबीसे सुरक्षित रख सकता है।

प्रियजनोंके अनिष्टका भय त्याज्य है। आप उनके प्रति शुभ भावनाएँ रखिये, यथासम्भव सेवा कीजिये, उनके लिये बलिदान करनेको प्रस्तुत रहिये। बस, इससे अधिक आप कुछ नहीं कर सकते। समाजमें मजबूरियाँ होती हैं। आदमी उनका दास है। उनमें फँसकर जो हो जाय, उसके प्रति कोई चारा नहीं है।

मानसिक संतुलन स्थिर रखनेके लिये मनोबलकी अतीव आवश्यकता है। जिसका मनोबल बढ़ा हुआ है, वह द्वन्द्वोंसे मुक्त रहता है। मनोबल वह शक्ति है, जो हमारे समस्त अन्तर्द्वन्द्वोंके ऊपर नियन्त्रण रखती है। समुन्नत मनोबलसे हमारी क्रियाएँ शुभ रहती हैं। ध्यान और एकाग्रताके अभ्यासद्वारा मनोबलकी वृद्धि करते रहिये। विचार, भाव तथा आचार—इन तीनोंका पूर्ण सामञ्जस्य रखिये। शुभ मति, शुभ विचार तथा इन शुभ संस्कारोंका शुभ परिणाम अच्छा आचार रखनेसे मनोबल बढ़ता है। गंदी ओर प्रवृत्त होने, दुराचार करने, विषय-वासनामें लगे रहने, अपनी शक्तिसे बड़ा काम ले लेनेसे मनोबल घटता है। सद्विचार सीखें। उन्नत विचारोंसे सद्भाव, सद्भावसे सदाचार उत्पन्न होता है। पहले छोटे कार्योंमें सफलता प्राप्त करें, फिर अपेक्षाकृत कुछ बड़े कामोंको हाथमें लें और इस प्रकार मनोबलको बढ़ाते रहें। धीरे-धीरे सफलता प्राप्त करते रहनेसे मनुष्यको अपनी शक्तियोंके प्रति विश्वास बढ़ जाता है और निर्णयात्मक बुद्धि जाग्रत् होती है।

ध्यानका अभ्यास करनेसे मानसिक संतुलन बना रहता है। ध्यान जम जानेपर मनुष्य जब चाहे तब चित्तवृत्ति और विचारशक्तियोंका प्रवाह फेंक सकता है। इसके लिये दीर्घकालीन सतत अभ्यासकी आवश्यकता है।

अपने कार्यों, संकल्पों और मन्तव्योंमें तन्मय हो जाइये और व्यर्थके निकम्मे चिन्तनसे बचिये। जो अपने उद्देश्यमें तन्मय रहता है, वह संतुलित रहता है। निकम्मा सदैव व्यग्र और अशान्त बना रहता है। गीतामें वर्णित कर्मयोगका तात्पर्य यही है कि अपने कुशलतापूर्वक निष्कामभावसे कर्ममें तन्मय हो जाइये, उद्देश्यहीन चिन्तनसे दूर रहिये, कर्मरत व्यक्ति पूर्ण संतुलित होता है। आपका जीवन सदुद्देश्योंकी प्राप्तिमें व्यतीत होना चाहिये और कार्यक्रम सदा धर्ममय होना चाहिये।

भारतीय मुद्राओंका वैज्ञानिक दृष्टिकोण

अर्थात्

तत्त्व-रोग-विज्ञान

(लेखक—श्रीशंकरलालजी वर्मा, एम्० ए०)

भारतीय संस्कृति सदैव प्रकृतिकी अनुगामिनी रही है। वर्तमान संस्कृति इसका विपरीत पक्ष है। पाश्चात्त्य संस्कृति जो भारतकी वर्तमान संस्कृति बननेका हास्यास्पद प्रयत्न कर रही है, प्रकृतिविमुखगामी संस्कृति है, जिसका परिणाम सर्वनाश होता है। पाश्चात्त्य संस्कृतिकी प्रबल धारामें बहकर विश्व आज नाशके स्वप्न ले रहा है।

इस महानाशकी आमन्त्रण-भेरीके समय भी भारतीय संस्कृतिका पुजारी भारतभूमिके किसी कोनेमें अवस्थित एक छोटेसे प्रमाणसे विश्वको चकित करनेकी सामर्थ्य रखता है। यह अहंकार नहीं पर पुजारीको भारतीय संस्कृतिका गर्व है।

आधुनिक भौतिकवादकी भूल-भुलैयोंमें प्रकृति अपना स्वरूप और गुण दोनों ही लुप्त करती जा रही है, पर इस लोपका अन्त प्रकृतिका केवल करवट पलटना-मात्र होगा, जिसमें पाश्चात्त्य वैभवके अनन्य पुजारी, मानवमात्र कहलानेवाले जीवका समस्त अहंकार चकनाचूर होकर एक क्षणके लिये विश्वकी स्तब्धताका शिकार होगा, जिसे आचार्योंने प्रलयकी संज्ञा दी है। भौतिक दुनिया प्रकृतिसे दूर हटकर प्रकृतिके अनमोल सिद्धान्तोंको समझनेमें अपनेको असमर्थ पाकर उन्हें झूठा कहती जा रही है; किंतु सिद्धान्त तो वेदोंकी भित्तिपर त्रिकाल सत्य माने गये हैं और उनका प्रमाण भी त्रिकालज्ञ महर्षियोंकी वाणीने दिया है, तब यदि भूला हुआ मानवमात्र कहानेका अधिकारी प्राणी न समझकर इन्हें मिथ्या घोषित करे तो वह अपने अस्तित्वको ही मिथ्या साबित करनेका नाशकारी प्रयत्न कर रहा है। इसका परिणाम ही विश्वकी स्तब्धता है। शरीरका सम्बन्ध इस विश्वसे है और इस विश्वका शरीरसे। शरीर आध्यात्मिकता प्राप्त करनेका माध्यम है; अतः सांसारिक सिद्धान्त और आधिदैविक सिद्धान्त किसी सीमातक एक दूसरेके पूरक होते हैं।

प्रकृति अपना स्वरूप और गुण दोनों ही खो रही है, पर भारतीय परम्परागत दैविक-सिद्धान्त उस समय भी अपना उज्ज्वलतर प्रकाश विश्वको देते रहेंगे, तब उनकी त्रिकाल-सत्यता सिद्ध अवश्य होगी।

समयके गर्भमें रहस्य हमसे लुप्त हो गया, पर भारतीय आत्मा स्वयमेव निरन्तर इसकी गवेषणामें लीन अवश्य रही है और विक्षुब्धसे विक्षुब्ध परिस्थितिमें भी इसकी खोज किया करती है, क्योंकि दोनों तरफ भारतीयता है और है भारतीय रक्तके कण-कणमें भारतीयताका स्फुरण।

आदिभौतिकवादिताके परिणामस्वरूप विश्वकी समस्त प्रकृति अपने गुण त्याग रही है। ओषधियाँ अपनी शक्ति क्षीण हो रही हैं। सूर्य, चाँद, तारे, ऋतुएँ सब एक एक कर तिल-तिल शक्तिहीन हो रहे हैं। नियम यह है कि विश्वकी पाँचों शक्तियोंमें जब अनुक्रम आता है, तब अन्य शक्तियाँ प्रबल होती हैं; पर इनका अन्तिम क्षण क्षीणतामें परिवर्तित होता रहता है।

इसी क्षीणताके निरन्तर अवगाहनमें भारतीय परम्परा फिर अपना त्रिकाल-सत्य स्वरूप लेकर उपस्थित होना चाहती है, पर इसकी कोषमय अभिवृद्धिका माध्यम भारतीय हो।

विश्वमें पदार्थविज्ञानके अतिरिक्त आदि दैवी विज्ञान भी हैं। भारतीय परम्परा सदैवसे इन दोनोंका समन्वय करती आ रही है। विश्वमें ऐलोपेथी, हकीमियत, आयुर्वेद, शल्य—इन सबसे ऊपर एक और विज्ञान हैं। पाठक इसे करें, इसे कोरी कल्पनामात्र समझनेका अनायास अभियोग करनेकी चेष्टा न करें। यह वही विज्ञान है जिसके अधिष्ठाता पुरातन वेत्ताओंने उपर्युक्त समस्त विज्ञानोंका अन्वेषण किया है। दूसरी भाषामें इस दैवी विज्ञानके अभावमें उपर्युक्त समस्त विज्ञान पंगु हैं। यह वही विज्ञान है जिससे यह समस्त विश्व-का विज्ञान सम्भव हुआ है। इस विज्ञानके सिद्धान्त दैवी सिद्धान्त हैं, जिन्होंने कभी अनिष्टकारी शस्त्र प्रयोग नहीं किया।

ऐसा ही भारतीय संस्कृतिका पुरातन सिद्धान्त मुद्राओं-का है। भारतीय मुद्राएँ मानवको इस असार संसारसे अनन्तकी ओर ले जाती हैं और वह भी ले जाती हैं शरीरके माध्यमसे। मुद्राओंके बिना गायत्री सिद्ध नहीं होती, अर्थात् अन्तर्दर्शन नहीं होता। मेरा तात्पर्य यहाँ है

अंगुलियोंके इधर-उधरके मोड़से ही, यदि यह व्यर्थ ही है तो ऋषियोंने इसके बिना सिद्धिको अनिश्चित क्यों घोषित किया ? यही प्रश्न एक प्रकारसे मेरे मस्तिष्कमें विकास पाकर पाठकोंके सम्मुख ये पंक्तियाँ लिखनेको मुझे मजबूर कर रहा है। मैंने दिग्दर्शन कर मनन किया और मुझे प्रतीत हुआ कि त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी वाणीने कभी निराधार और व्यर्थ प्रयास नहीं किया। समयके अनन्त गर्भमें उनकी सार्थकता सिद्ध होती आ रही है और मुझे उस सार्थकताको प्रमाणित करनेका अभी साहस है। अतः मैं विश्वास करता हूँ कि मुद्राओंका सिद्धान्त भौतिक सिद्धान्तका किसी सीमातक पूरक है और उसकी स्फुरणा मानव-शरीरसे होना प्रमाणित होगी।

महर्षियोंका कथन है कि आत्मिक विकासके लिये भौतिक देहका शुद्ध एवं निर्विकार होना वाञ्छनीय है। मुद्राएँ मानवको आत्मिक उन्नतिकी ओर ले जानेकी माध्यम हैं। निःसंदेह जो देहको शुद्ध और निर्विकार करती हैं। यदि देह शुद्ध और निर्विकार हो तो देहव्यापी व्याधियोंका बाहुल्य न रहे। यदि देह सम हो तो इसको काल-चक्रसे बचाया जा सकता है। उस समय देह काल-चक्रकी गतिकी परिधिसे बाहर हो जाती है। दूसरी भाषामें मुद्राएँ मानवके भौतिक शरीरको व्याधियोंसे बचाकर आध्यात्मिकताकी पृष्ठ-भूमिके लिये विकसित करती हैं।

भारतीय मुद्राओंके प्राथमिक अन्वेषणमें, जिसके आधार-पर आचार्योंने निःसंदेह मुद्राओंकी सृष्टि की है और इनका आध्यात्मिक क्षेत्र निश्चित किया है, आशातीत सफलता मिली है। जिन साधारण एक-तत्त्वसम्बन्धी रोगोंपर इनका प्रयोग किया गया है, वे रोग ऐलोपैथीके क्षेत्रसे विशेषज्ञोंद्वारा बहिष्कृत कर दिये गये थे, निर्मूल—दूर कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ—दाँतोंके रोगके लिये अन्तिम उपाय ऐलोपैथीमें उन्हें उखाड़ फेंकना है; कर्णरोगोंमें अपनी मजबूरी दिखा देना है या विज्ञानकी सहायतासे साउँड मल्टिप्लियरस लगानेका प्रयोग है; पर मुद्राएँ नहीं, केवल अंगुलियोंकी किसी मोड़विशेषके निरन्तर अभ्याससे बहरापन सदाके लिये दूर होता देखा गया है। उन्हीं प्राथमिक प्रयोगोंको सबकी जानकारीके लिये लिपि-बद्ध कर रहा हूँ। पर चिन्ताका विषय यह है कि भारतीय युवक इन्हें पढ़कर जो प्रयोग करें पहले आयुर्वेदाचार्यसे अपने देहव्यापी तत्त्वोंका विकार अवश्य जान लें। सम्भव है अनभिज्ञतावश तत्त्वोंका भ्रम हो जाय और भूलसे विघटित तत्त्वको और घटानेका या वृद्धिप्राप्त तत्त्वका प्रत्यावर्तन करनेका कार्य कर बैठें अथवा किसी विकृत तत्त्वके सहायक तत्त्वका घटन या प्रत्यावर्तन प्रारम्भ कर दें तो मृत्युकी सम्भावना है।

मानव-जीवनमें हाथका अत्यधिक महत्त्व है और समस्त व्याधियोंका कारण हाथ ही माना गया है (उपनिषद्)। पर मनके विकारोंको शुद्ध या अशुद्ध करनेमें भी इन हाथोंका बड़ा कार्य है (नारदस्मृति)।

हाथमें चार अंगुलियाँ और एक अङ्गुष्ठ है। अंगुलियोंके नाम—१–तर्जनी, २–मध्यमा, ३–अनामिका, ४– कनिष्ठिका और ५–अङ्गुष्ठ।

मैं चेतावनीके लिये फिर अपने शब्दोंको दोहरानेका साहस कर रहा हूँ। कोई भी सज्जन बिना जानकारीके इन प्रयोगों-को करनेका अभ्यास न करें, अन्यथा अपने कृत्यके लिये वे स्वयं जिम्मेवार होंगे, इन पंक्तियोंका लेखक किसी भी हालतमें नहीं। मेरी सम्मति है कि इन प्रयोगोंको केवल सिद्धहस्त आयुर्वेदाचार्योंकी निगरानीमें ही किया जाना वाञ्छनीय है। साधारण तौरपर विश्वके समस्त व्यक्तियोंकी देहके तत्त्व वर्तमान समयमें विकृत हैं, इसलिये भूल होनेकी सम्भावना है; पर साथ-साथ समस्त मुद्राओंका अभ्यासी इन्हें किसी भी परिस्थितिमें कर सकता है। कोई अनिष्टकी सम्भावना नहीं होगी। श्रेष्ठ तो यह होगा कि रोगियोंपर पूर्ण निदानके पश्चात् प्रयोग किये जायँ।

इन प्रत्येक अंगुलियोंका एक ईश्वरीय विज्ञान है।

१. तर्जनीमें विश्वका वायु-तत्त्व निहित है।
२. मध्यमामें विश्वका शून्य (आकाश) तत्त्व है।
३. अनामिकामें विश्वका पृथ्वी (पदार्थ) तत्त्व है।
४. कनिष्ठिकामें विश्वका जल-तत्त्व है।
५. अङ्गुष्ठमें विश्वका अग्नि-तत्त्व है।

विश्वके ये पाँच तत्त्व जिनपर ये विश्व व्याप्त हैं, मनुष्य-के हाथकी मुट्ठीमें समाते हैं। इसीलिये उपनिषदोंमें विश्वात्मा ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मका कारण ब्रह्म है;

क्योंकि मानव-शरीर भी इस विराट् ब्रह्मका एक अंशमात्र है, ये समस्त तत्त्व अपने अनुपातमें इस शरीरमें भी व्याप्त हैं, जिनकी पंजिका ऊपर है।

शरीरके विकारोंकी संज्ञा इन तत्त्वोंके विकारोंसे दी गयी हैं। आयुर्वेदाचार्योंने इन्हीं तत्त्वोंके सम्मिलित विकारोंसे वात, पित्त और कफकी सृष्टि कर सम्पूर्ण आयुर्वेदको इनपर आधारित कर दिया था और इन तत्त्वोंके भिन्न-भिन्न अनुपात-क्रमसे वनस्पतिशास्त्र (ओषधियों) की सृष्टि की है और इनका प्रयोग इन विकारोंके अनुपातसे गुण बताकर घोषित किया है। वात, पित्त और कफकी सृष्टि निम्नलिखित विधिसे तत्त्वोंके विकृत होनेसे की है।

वायुतत्त्वके विकृत होनेसे—वात-विकार।

अग्नि और जलके सम्मिलित विकृत होनेसे पित्त-विकार।

पृथ्वी और जलके सम्मिलित विकृत होनेसे कफ-विकार।

शून्य तत्त्वके विकारको आयुर्वेदशास्त्रसे अलग रखा गया है। अतः शून्य-तत्त्वके विकारको बड़ी सरलतासे अंगुलियोंके अभ्याससे दूर किया जा सकता है। अन्य तत्त्वोंके विकारको दूर करनेमें कठिनाई यह होती है कि चार तत्त्वोंका सम्मिलन वात, पित्त और कफमें और फिर इन तीनों विकारोंका भी अनुपात-भेद है। इसीलिये निदानकी तरफ अधिक जोर दिया गया है।

इन पाँचों तत्त्वोंका सम स्थितिमें न होना ही शरीरकी मशीनका विकृत हो जाना है। शरीरका विकृत हो जाना रोगोंका दास होना है। इस धरतीके जीव विराट् ब्रह्मके घटक हैं; अतः प्रवीण ब्रह्म अपनी चतुराईसे इन विकारोंको रोककर समयपर तत्त्वोंका संतुलन कर लेता है। व्याधि दूर भाग जाती है।

इन पंक्तियोंका लेखक कोई अन्वेषणके नामसे नयी बात नहीं प्रकट कर रहा है। पर मेरा कार्य तो उस कार्यका उलटा है, जिसे आयुर्वेदाचार्योंने किया था। मेरा विश्वास है कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, इस विधिसे न सही पर किसी-न-किसी विधिसे भाषा-भेदके अनुसार मेरे इस देशमें यह ज्ञान किसी समय व्याप्त था और यह सम्भव हो सकता है कि संसार-त्यागी महापुरुषोंको यह ज्ञान इस समय भी होगा, जो संसारमें आनेका कभी प्रयास न करते होंगे और नि निर्जन स्थानमें अथवा पहाड़ोंकी भूल-भुलैयोंमें बैठे सा साधनमें मग्न होंगे। यह ज्ञान देशमें इतिहासके उतार-चढ़ा के परिणामस्वरूप लुप्त हो गया है और वह अब प्राप्य न है, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस युगमें व्याधियाँ मनुष्यको चारों ओरसे घेरे हुए और भौतिकवादिताके चक्रमें आचार्योंद्वारा बतायी ग ओषधियाँ अपने गुण त्याग रही हैं। तब मैं अन्तःप्रकृति ओर झाँककर आयुर्वेदके सहारे पुनः तत्त्वोंकी ओर बढ़ रं हूँ। आयुर्वेदाचार्य तत्त्वोंसे वात-पित्त-कफकी ओर बढ़े हैं औ मैं वात-पित्त-कफसे पाँच तत्त्वोंकी ओर बढ़ रहा हूँ। जब बाह्य प्रकृति सम रहेगी, आयुर्वेद भारतीय सत्यता घो करेगा और जब बाह्य प्रकृति विकृत हो जायगी, तब मनुष्य अन्तःप्रकृतिपर आधारित यह तत्त्व-रोग-विज्ञान भारतीय सत्य को प्रमाणित करेगा। इन दोनोंमें आयुर्वेद-विज्ञान सरल है पर अब बाह्य प्रकृति धीरे-धीरे भौतिकवादके नाशक ताण्डवसे स्वरूप खो रही है। तत्त्वरोग-विज्ञानकी इस स आवश्यकता है। यह सस्ता है, पर महाकठिन है। आयुर्वे विज्ञान अब अधिकाधिक महँगा हो रहा है। चाहे सरलता उ कितनी ही हो पर बाह्य प्रकृति विकृत होकर उसकी सत्य को दूषित भी तो कर रही है।

जिस समय कलियुगकी स्मृति ऋषियोंको व्याकुल क रही थी, उस समय आदि दैवी सिद्धान्तोंकी दो धाराएँ बहा को ऋषि भी तत्परता कर रहे थे। इन्हीं आदि दैवी सिद्धा की एक धारा कथा-कहानियों एवं परम्पराकी भित्तिपर भाग पुराण-स्मृतियाँ, वेदान्त आदिकी सृष्टि कर रही थी दूसरी धारा आयुर्वेद-जगत्‌का निर्माण कर रही थी। इति एक पुनरावर्तन-चक्र है। आधुनिक युगमें आयुर्वेदकी घाराकी आवश्यकता है ताकि इसके अप्रमाणित होनेसे प इसका स्थान ग्रहण करनेवाला कोई अन्य विज्ञान अवश्य हो जिसपर भौतिक-नाशकी तलवार न चल सके।

मैं उन प्रातःस्मरणीय ऋषियों, आचार्यों, मनीषि एवं योगियोंकी वन्दना करता हूँ, जिनकी अनुपम कृ परिणामस्वरूप उनके रक्तबिंदुमें, जो मुझमें भी

अनुपातसे हैं, उद्वेग मिला और उनकी खोयी हुई वस्तुको पुनः विश्वमें उपलब्ध करनेका वे मुझे माध्यम बना रहे हैं। उनकी अमर आत्माएँ भारतीय जनताका आह्वान करती मुझे अनुभूत हो रही हैं और मैं अपना सौभाग्य समझूँगा यदि मेरे देशप्रेमी उनकी अमर आत्माओंकी मूक वाणीको समझनेमें सफल हो सकेंगे।

यह तो मैं नहीं कहता कि एक ओर मुद्राएँ आध्यात्मिक जगत्की निधि रही हों और आयुर्वेद भौतिक विश्वकी निधि, पर इनका सम्मिलन सम्भव है। इस सम्मिलनमें मैं कहाँतक सफल हूँगा, यह देशवासियोंपर निर्भर है।

कलियुगी जीवके लिये प्रत्येक सिद्धान्त कथा या परम्परासे ऋषियोंने घोषित किया, पर इस परम्पराके चक्रमें हम इनके रहस्यको भूल गये। बिना रहस्यके जाने कोई भी सिद्धान्त उपयोगकी वस्तु नहीं रहता।

इन मुद्राओंके रहस्यके लुप्त हो जानेसे मानवको ये मुद्राएँ भारस्वरूप प्रतीत हो रही हैं। अतः परिणाम आज यह निकला है कि इन मुद्राओंकी पहचान भी कुछ एक सज्जनों-को ही है, जो परम्परासे जानकारी हासिल रखते आये हैं; पर इनका रहस्यमय ज्ञान तो, सम्भव है, आज किसीको भी न होगा।

मुद्राओंके रहस्यको खोलनेमें मैं सफल होऊँगा या नहीं—यह तो भविष्यपर छोड़ता हूँ; पर इसका प्राथमिक रहस्य, जिसके खोलनेमें सफलता मिली है, उसे सबकी जानकारीके लिये लिपिबद्ध कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि इस विज्ञानको मेरे देशके नौजवान आयुर्वेदविशेषज्ञ अनुभवोंके आधारपर शीघ्राति-शीघ्र विस्तृत करनेकी कृपा करें। यह एक महा-विज्ञान है और देशको मेरे इस छोटे-से जीवनसे सम्पूर्णता-प्राप्त विज्ञानकी आशा करना भी असम्भव है। जबतक मैं कोई अन्य शास्त्रीय गवेषणा करूँ, तबतक मेरे इस ज्ञानको युवक प्रयोगकी कसौटीपर चढ़ाकर शाखा-प्रशाखाओंमें इसका विश्लेषण करें तो मेरी पवित्र मातृभूमिसहित मैं उनका आभारी हूँगा। इसके विपरीत यदि इस कार्यमें मैं स्वयं व्यस्त रहा तो सम्भव है मेरा अगला जीवन व्यर्थ होगा; क्योंकि इस कार्यको तो विशेषज्ञ ही विस्तृत करनेमें समर्थ हो जायेंगे। मेरा जीवन पूर्णरूपसे लेनेमें कोई सार नहीं प्राप्त हो सकता। अतः मुझे यदि देश इस कार्यसे अवकाश देकर इसे अपने हाथमें ले ले तो मुझे कोई दूसरा कार्य करनेका अवसर प्राप्त हो सकता है। वैसे मेरा इस क्षेत्रमें अध्ययन चालू है। मेरा विचार है कि कोई प्रतिष्ठित देशाभिमानी युवक मेरे अनुभवों-को सच्चे प्राप्त करके कुछ विशेषज्ञोंकी इस कार्यके लिये व्यवस्था कर सके तो बड़े सौभाग्यकी बात होगी। मेरे कटु अनुभवोंसे मुझे अपार दुःख है कि मैं तो मुद्राओंका रहस्य देशको बताना चाहता हूँ, पर सतत नाशकी ओर अग्रसर विश्वको मेरी बात सुननेका अवकाश ही नहीं है। अवकाश किसीको हो या न हो पर मैं इस रहस्यको अपने देश-बन्धुओंकी सहायताके अभावमें भी लिखूँगा अवश्य! मेरी मृत्युके बाद देश-कालको समझ मेरे अग्रज यदि मेरी पांडुलिपिको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न कर लेंगे तो मेरी अमर-आत्माको ब्रह्माण्डमें भी शान्ति और संतोष मिलेगा। यदि किसीको तब इसमें रुचि हो जाय और अवशिष्ट विश्वमें इसका प्रतिपादन कर दिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

मुद्राओंका प्राथमिक रहस्य यह है कि इस पाञ्चभौतिक शरीरके तत्त्वोंकी वृद्धि एवं घटन कैसे हुआ करता है?

विश्वमें अग्नितत्त्व अन्य सब तत्त्वोंको प्रभावित करता है। अग्नितत्त्व ही आदि तत्त्व है। इसीसे अन्य तत्त्वोंका जन्म हुआ है और इनका लय भी अग्नितत्त्व है। अन्य चार तत्त्वोंका लय जलमय है, पर अन्तिम स्थिति अग्निमय है। विश्वका आदि अग्निमय और अन्त भी अग्निमय है, इसीलिये आचार्योंने विश्वको अनादि और अनन्त माना है। तात्त्विक प्रत्यावर्तनकी गतिको समझकर आचार्योंने इसे ऐसा माना है; क्योंकि इसका मूल और अन्त तत्त्वोंमें परिवर्तित हो जाता है। केवल स्थिति भौतिक जगत्में दिखायी देती है, पर योगी स्थितिको भूलकर मूल और अन्तके अतिरिक्त अन्यको देख ही नहीं सकता और जहाँ अन्त और मूल उसे एक-से दृष्टि-गोचर होते हैं, वहाँ स्वयमेव उसके मुँहसे निकल जाता है 'अनादि और अनन्त'। आदि और अन्तके मध्यकी स्थितिको वे मिथ्या मानते हैं; क्योंकि आदिकी स्थितिमें ही उसका अन्त परिवर्तित होता वे देखते हैं; अतः सत्य आदि और अन्त दोनों ही है; पर एकाकार

होनेसे न आदि है, न अन्त। इसलिये इस मध्यकी स्थितिको नश्वर, क्षणभङ्गुर और अस्थिर माना है। यह सत्य है कि विश्वका प्रत्येक पदार्थ अपने आदि और अन्तके मध्यकी स्थितिमें निरन्तर प्रकट होता रहता है और फिर अन्तमें परिवर्तित होकर आदिकी स्थिति ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार इस भौतिक विश्वका चक्र चलता है। इसे प्रकृतिका चक्र भी कहते हैं। विश्व अपनी एक ही स्थितिमें लयमय हो रहा है। जब जन्म और मृत्यु एकमय हो जायँ, तब दोनों एकाकार हो जाते हैं। तब मृत्यु किसे कहें और जन्म किसे कहें ? इसी उलझनका परिणाम इन दो शब्दोंमें विश्वका निकाला गया है। मनुष्यका जन्म आत्मामय और मृत्यु भी आत्मामय है, इसलिये केवल मनुष्य ही नहीं, इस धरतीके समस्त विराट्-अंश अनादि और अनन्त हैं। उपनिषदोंमें इन्हें ब्रह्म कहा है—'अहं ब्रह्मास्मि।'

मेरा तात्पर्य यह है कि अग्नि विश्वके अन्य तत्त्वोंको प्रभावित करता है। यही नियन्ता तत्त्व है, पथदर्शक है, सर्जनहार और नाशकारी है।

विश्वके सूक्ष्म ब्रह्म (तत्त्वपरिपूर्ण इस पाञ्चभौतिक देह) को तत्त्वोंके सम चक्रमें बाधकर मनुष्य संसारकी घोर व्याधियोंसे बच सकता है।

व्याधियोंका मूल कारण इन तत्त्वोंके विकृत होनेका है, जब जिस समय विदित हो जाय कि कौन-सा तत्त्व विकृत है, उसे सम कर दिया जाय तो व्याधि नष्ट हो जाती है।

तत्त्वके विकृत होनेका तात्पर्य है उसकी वृद्धि या घटन। इन दोनों क्रियाओंसे तत्त्व विकृत होता है। तत्त्वोंका सम होना आरोग्यताका प्रतीक है।

स्मरणीय है कि सम तत्त्वोंका विघटन या प्रत्यावर्तन नहीं होता, पर दैनिक अभ्याससे पुष्टि अवश्य होती है और तात्त्विक कोष भरे रहते हैं। मैंने पूर्व कथनमें प्रयोग-कर्ताओंको मृत्युसे सशंकित रक्खा है केवल उस स्थितिमें जब तत्त्व विषम स्थितिमें हो और तत्त्वका विपरीत प्रत्यावर्तन या घटन हो। मुद्राओंका अभ्यास वीर्यकी वृद्धि करता है, तत्त्वोंको सम स्थितिमें लाता है, तेज प्रदान करता है, आयु बढ़ाता है और समाधिकी स्थिति लाता है।

तत्त्वोंके निरन्तर अभ्याससे विघटन या प्रत्या[वर्तन] नहीं होता, पर उनके कोष पुष्ट अवश्य होते हैं। निर[न्तर] देहके लिये पल-प्रति-पल विघटन या प्रत्यावर्तनकी क्रि[या] स्वयमेव होना असम्भाव हो जाता है। इस क्रियाकी च[रम] सीमाका नाम ही मृत्यु है और इसे रोककर मुद्राओं[का] अभ्यास ही जीवन है। पर कौन-सी मुद्रा किस रहस्यकी [है,] अभी इसका अन्वेषण करना शेष है। मेरा विश्वास है [कि] प्रत्येक मुद्रा शरीरकी किसी-न-किसी स्थितिको पुष्ट अ[वश्य] करती है। किसी-न-किसी रोगका नाश अवश्य करती है। [मैं] अभ्यासद्वारा इस क्षेत्रमें प्रयत्नशील हूँ।

चारों अङ्गुलियोंको बारी-बारीसे मोड़कर उसी हा[थके] अङ्गुष्ठसे यदि दबाया जाय तो अभिवृद्ध तत्त्वका घटन हो[ता] है और चारों अङ्गुलियोंको बारी-बारीसे मोड़कर उसी हा[थके] अङ्गुष्ठके अग्रभागसे अङ्गुलीके अग्रभागको मिलानेपर विघ[टित] तत्त्वकी वृद्धि होकर समताको प्राप्त होता है। दोनों हाथोंका प्रयोग किया जाता है, पर पाक्षिक विकारके लिये विप[रीत] हाथका प्रयोग ही पर्याप्त है। उदाहरणार्थ शरीरके हाथ[, पैर] या आधे अङ्गमें वायु विकृत सरणे चलती हो तो विप[रीत] हाथसे वायुको सम करनेसे विकार दूर हो जाता है। य[दि] प्रयोगकर्ता तत्त्वोंकी पहचानका अभ्यास कर तत्त्वोंकी स्थि[ति] जान ले तो इस क्रियाका आशातीत परिणाम निकलता है। रात और दिन पूरे चौबीस घंटोंमें अग्नितत्त्वकी लगभग [पाँच] बार शरीरमें स्थिति आती है और उस समय अग्नितत्त्व[के साथ] अन्य तत्त्व भी बारी-बारीसे प्रवर्तन करते हैं; अतः [यदि] अग्नितत्त्वमें अग्नितत्त्व ही प्रवर्तन करने लगे, तब विकृत तत्त्व[का] घटन या प्रत्यावर्तन प्रारम्भ कर दे तो कठिनतासे व्याधि[को] समाप्त होनेमें तेरह या चौदह मिनट लगेंगे। वैसे यदि देह सम [हो] तो ब्राह्ममुहूर्त्तके तुरंत बाद अग्नितत्त्व प्रचलित हो जाता है। मध्याह्नमें भी अग्नितत्त्व प्रचलित होता है। सायंकाल[में] फिर प्रारम्भ हो जाता है; मध्यरात्रिमें फिर अग्नितत्त्व[का] प्रचलन हो जाता है। ऋतुओंपर भी इनका प्रचल[न] आधारित है। सर्दीमें सूर्यास्त जल्दी और सूर्योदय देर[से] होता है। यह का[र्य] सिद्ध अभ्यस्तके लिये है, पर वैसे किसी भी समय तत्त्वके घटन या प्रत्यावर्तनका अभ्यास किया जा[ता है।]

सकता है। आराममें देर अवश्य लगेगी, पर रोगीको शान्ति मिलेगी। अपने निश्चित समयपर नित्य अभ्यास करें तो रोगी सदैवके लिये नीरोग होगा। धैर्य और शान्तिकी आवश्यकता है। वायु-विकृत गठियासे हाथ-पाँव जुड़ गये व्यक्तिको केवल आधे घंटेमें करीब दो सौ गजतकका भ्रमण करने लायक किया गया था। कुछ दिनोंके निरन्तर अभ्याससे वायु-विकार स्वयमेव हटकर वही रोगी अब स्वस्थ है। उसे यह रोग दस दिनसे अथवा पंद्रह दिनसे होता रहा था। ऐलोपैथीके इंजेक्शन भी खूब खा चुका था, पर रोग गया नहीं। अब उसे करीब एक वर्ष हो गया है—अभीतक एक बार भी वह उस रोगका शिकार नहीं हुआ है। पर दो तत्त्वोंका सम्मिलित रोगी अभीतक मेरे द्वारा प्रयुक्त नहीं किया गया है।

(शेष आगे)

विद्या, वेद्य और विद्वान्

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

किन्हीं प्रसिद्ध विद्वान् महानुभावोंके देहान्त हो जानेपर लोग शोक प्रकट करते हुए कहा करते हैं कि 'एक-एक करके उच्चकोटिके विद्वान् तथा सुयोग्य शिक्षाविद् उठते जा रहे हैं और उनके रिक्त स्थानकी पूर्ति करनेवाले नहीं दिखलायी पड़ते।' इसी प्रकार प्रसिद्ध साधु-महात्माओंके शरीरान्त होनेपर भी कहा जाता है कि 'अब इन संतोंका स्थान पूर्ण करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं दीखता।'

यों तो मोहके नाते रोना या यत्किंचिदपि प्रलाप करना शक्य है, पर यदि यथार्थ दृष्टिसे विचारा जाय तो विद्वान् अथवा संतकी मृत्यु सम्भव नहीं। सच्ची बात तो यह है कि यथार्थ विद्वान् एवं संत परमात्मा ही है। वह सभी देश-कालमें वर्तमान है और सबके लिये सुलभ है। उसका कभी कहीं भी अभाव नहीं होता। इसीलिये गीतामें कहा है—'नाभावो विद्यते सतः'—'संतका या सत्तत्त्वका कभी अभाव नहीं होता।' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।

यों भी विद्याका लक्षण बतलाती हुई भगवती श्रुति कहती है—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईशावास्योप० ११), 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केनोप० २। ४) अर्थात् विद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। कहते हैं कि मनुको सम्यक् ज्ञान था। मानवका कल्याण किसमें है? तत्त्व क्या है? कर्तव्य क्या है? अकर्तव्य क्या है? यह स्वायम्भुव मनुको निश्चित ही विदित था। श्रुति भी उनकी प्रशंसा करती हुई कहती है—'मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः' (तै० सं० २। २। १९२; काठक सं० ११—५; मैत्रायणीय सं० २। १। ५; ताण्ड्यमहाब्रा० २३। १६। ६-७)। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने काव्योंमें बड़े गाम्भीर्यका प्रदर्शन किया है। उन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीवल्लभ आदि-जैसे आचार्योंका भी कहीं उल्लेख नहीं किया, पर मनुके लिये उन्होंने जगह-जगह बड़ा आदर प्रकट किया है[1] तथा उपर्युक्त श्रुतिको लक्ष्य कर लिखा है—

'अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका।'

सुतरां इन स्वायम्भुव मनुका भी कहना है कि 'तपस्यासे पापका अपहनन कर विद्यासे अमरत्वको प्राप्त किया जाता है—

'तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।'

(मनु० १२। १०४)

१. (क) स्वायंभुव मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नर सृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥
(ख) सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥

भगवान्के क्रान्तदर्शी वक्ताने विद्वान्को हरि, गुरु सब कुछ कहा है—

'यो विद्वान् स गुरुर्हरिः।' (४ । २९ । ५१)

किंतु जीवमें सम्यक्रूपसे विद्याकी प्रतिष्ठा दुर्घट है। मायामुग्ध होनेसे उसमें अस्थैर्य, अज्ञान, संशय आदि लिपटे रहते हैं—

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥

समग्ररूपसे ज्ञान, विद्या, बोध, स्थैर्य, पवित्रता और विरक्ति तो महेश्वरमें ही प्रतिष्ठित हैं—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥
(वायुपुराण १२ । ३३)

तुम्ह तिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।'
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(वि० पु०)

इसपर जिज्ञासा होती है कि विद्याका स्वरूप क्या है, जिसकी सम्यक् रूपसे जीवमें प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती।

विद्याका स्वरूप और परिभाषा

संज्ञायां समज निषदनिपतमनविद षुञ्शीङ्भृञिणः।
(पा० सू० ३ । ३ । ९९)

—इस पाणिनिसूत्रसे ज्ञानार्थक विद् धातुसे क्यप् प्रत्यय करनेसे 'विदन्ति वेद्यं यया' 'जिससे वेद्य वस्तुको जाना जाय' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'विद्या' शब्दकी सिद्धि होती है। भागवतकारने 'सा विद्या तन्मतिर्यया'से 'भगवदीय बुद्धि; भगवान्के तत्त्वको जानकर उनमें ही मन लगाये रहने' को विद्या कहा है। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें जिससे ईश्वरकी प्राप्ति, मुक्ति हो, उसे विद्या कहा है—

'सा विद्या या विमुक्तये।' (१ । १९ । ४१)

विद्याके प्रभेद

अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद्में आता है कि महर्षि शौनकने एक बार विधिपूर्वक महर्षि अङ्गिरासे पूछा कि 'भगवन्! वह कौन-सी विद्या है, जिसके द्वारा वस्तु सर्वस्वका ज्ञान हो जाय।' इसपर अङ्गिराने कहा, 'ब्रह्म जाननेवाले महर्षियोंका कहना है कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं। एक परा, दूसरी अपरा।' लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी प्राप्ति, रचना आदि बातें बतलानेवाली वेद-वेदाङ्गादि विद्याएँ तो अपरा हैं तथा परमात्मसम्बन्धी विद्या ही परा है—

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु० १।१

ऋषियोंने अपरा विद्याके चौदह भेद बतलाये हैं— चारों वेद, छः वेदाङ्ग (कल्प, निरुक्त, शिक्षा, छन्द, ज्यौतिष तथा व्याकरण), मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारः मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
(शिवपुरा० वायवी० सं० पूर्वा० १ । २

विष्णुपुराण ३ । ६ । २८; अग्निपु० २१९ । ६ वायुपु० ६१ । ७८; भविष्यपु० ब्राह्मपर्व० २ । ४—६; विष्णुधर्मो० १ । ७४ । ३२; गरुड़ २१९ । ६०; शुक्रनी० १ । १५४, कामन्दकी नीतिसा० २ । १३; याज्ञ०स्मृति १ । ३ । कहीं उपवेदोंके साथ इन्हें ही अठारह गिनाया गया है

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्।
अर्थशास्त्रं परं तस्माद् विद्या ह्यष्टादश स्मृताः।
(शिवपु० वायवी० पूर्वा० १ । २

शिवमहिम्नस्तोत्रकी हरिहरात्मिका कारिकामें 'त्रयी सांख्यं योगः' (७) इस श्लोककी टीका श्रीमधुसूदन सरस्वतीने इस श्लोकपर बड़ा ऊहापोह किया है। वहाँ उन्होंने बतलाया है कि उपपुराणोंका तो

'पुराण' शब्दमें अन्तर्भाव समझना चाहिये । वैशेषिक-दर्शनका न्यायदर्शनमें, वेदान्त (उत्तरमीमांसा) का मीमांसामें और इसी प्रकार महाभारत, रामायण, सांख्य, पातञ्जल, पाशुपत, वैष्णवागमादिको धर्मशास्त्रोंमें समावेश कर लेना चाहिये ।

शुक्रके मतानुसार मुख्य विद्याएँ ३२ हैं—'विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशत्' (४ । २६४) । उनके मतानुसार ४ वेद, ४ उपवेद, ६ वेदाङ्ग, ६ दर्शन तथा इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकमत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनमत और देशादि धर्म—ये ३२ हैं । आगे चलकर उन्होंने इन बत्तीसोंका तथा ६४ कलाओंका भी परिचय कराया है, जिन सभीकी व्याख्या उपर्युक्त शिवमहिम्नकी मधुसूदनी व्याख्या, कामसूत्रकी जयमंगला टीकामें तथा हिंदू-संस्कृति-अङ्कके पृष्ठ २४४ पर प्रकाशित पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठीके 'हिंदू-संस्कृतिका आधार' शीर्षक लेखमें अच्छी प्रकार की गयी है । शुक्रके शिल्पशास्त्र नास्तिकमत, यवनमत तथा देशभाषामें आजकी सारी पाश्चात्त्य विद्याएँ भी सम्मिलित हो जाती हैं, तथापि उनकी एक बड़ी लम्बी सूची है, जिसे इन्साईक्लोपीडिया ब्रीटैनिकामें देखा जा सकता है । इस तरह विद्या-को अनन्त भी कहा गया है—

'विद्या अनन्ताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते ।'
(शुक्र० ४ । ३ । २६४)

'अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः' (पञ्चतन्त्र-कथानु० ९)

विद्याव्यसनका माहात्म्य

विद्यासे अमृतत्व-प्राप्तिकी बात हम पहले कह आये हैं । वेदोंमें यह भी बतलाया गया है कि वेदज्ञको ही वास्तविक ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । वेदविद्याविहीन प्राणीको ब्रह्मदर्शन नहीं हो सकता—

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम ।'
(शाट्यायनी उप० ४)

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृहदा० ३ । ९ । २६), 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १ । १ । ३) आदि वेदान्तसूत्रोंमें भी भगवत्साक्षात्कारका कारण शास्त्रों-को ही कहा है । मनुका तो यहाँतक कहना है कि शास्त्रार्थतत्त्ववेत्ता किसी भी आश्रममें बसता हुआ यहीं ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(१२ । १०२)

सेनापत्य, राज्य, दण्डनेतृत्व, किंबहुना सर्वलोका-धिपत्यके भी योग्य वही है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
(मनु० १२ । १००; श्रीमद्भा० ४ । २२ । ४५)

वेदाभ्यास, सच्छास्त्राभ्याससे अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण हो जाता है—

'वेदाभ्यासेन सततं···जातिं स्मरति पौर्विकीम् ।'
(मनु० ४ । १४८, याज्ञ० स्मृ० ३ । १६१, स्कन्दपु० काशी-खं० ३० । ८८)

पूर्वजन्म-स्मरण हो जानेपर भी वेदाभ्यास जारी रखनेपर ब्रह्मसाक्षात्काररूप परमानन्दनाविर्भावलक्षण मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥
(मनु० ४ । १४९)

ज्यों-ज्यों व्यक्ति शास्त्रानुसंधान करता है, त्यों-त्यों अधिक जानता जाता है और उसका विज्ञान उज्ज्वल होता है—चमक उठता है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥
(मनु० ४ । २०)

यमका कहना है कि दान, तप, यज्ञ, उपवास तथा

व्रतोंसे भी पुरुष उस गति (मोक्ष)को नहीं प्राप्त कर सकता, जिसे वह विद्यासे प्राप्त करता है—

दानेन तपसा यज्ञैरुपवासव्रतैस्तथा ।
न तां गतिमवाप्नोति विद्यया यामवाप्नुयात् ॥

शुक्रका कहना है कि एक ही पुस्तकको देखकर मनुष्य कार्य-निर्णय, शास्त्रप्रामाण्य-लक्षण, कर्तव्यावधारण नहीं कर सकता, अतः बहुत-से आगमोंको देखे—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात् कार्यनिर्णयम् ।
स्याद् बह्वागमसंदर्शी व्यवहारो महानतः ॥

(शुक्रनीतिसार ४ । ४ । ५५५; ३ । १३०)

कात्यायनका भी ठीक यही कहना है—(कात्यायन सारोद्धार० ६६) । महाभारतमें भीष्मपितामहका कहना है कि पुरुष ज्यों-ज्यों शास्त्रोंका स्वाध्याय करता है, त्यों-त्यों ही उसका ज्ञान बढ़ता है, फिर तो ज्ञान प्राप्त करनेमें उसकी विशेष रुचि हो जाती है और उसके द्वारा वह संकटसे बचनेका उपाय स्वयं ही ढूँढ़ निकालता है—

यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते ॥
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः ।

(महा० शां० १३० । १०-११)

यही बात बृहस्पतिजीने अपने नीतिसारमें गरुड-पुराणमें कही है । (द्रष्टव्य गरुडपुराण, पूर्वखण्ड; बृहस्पतिनीतिसार ११५ । ४२) राजचौरादिकोंसे अहार्य, बन्ध्वादिकोंसे अविभाज्य, व्यय करनेपर भी नित्य वर्धमान तथा अक्षय, अभारकारी एवं अनर्घ्य होनेके कारण भी विद्याको सभी धनों, द्रव्योंमें उत्तम कहा गया है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥
सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥

सरस्वतीके भण्डारकी बड़ी अनुपम बात ।
'ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढ़े बिनु खरचे घटि जात ।'

भर्तृहरिने अपने नीतिशतकमें विद्याकी बड़ी म[illegible] गायी है और इसे रूपवर्द्धक, भोग-यश-सुखप्रद [illegible] परा देवता एवं गुरुओंकी भी गुरु कहा है (श्लोक १[illegible] चाणक्यने 'विद्या'को 'कामधेनु' कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या अकाले फलदायिनी

(४ । [illegible]

'भोजप्रबन्धकार' श्रीबल्लालने इसे कल्पवृक्ष कहा है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम् ।
कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

(भोजप्रबन्ध [illegible]

अर्थात् विद्या माताके समान रक्षा करती है, पि[illegible] समान हितावह मार्ग दिखाती है, कान्ताके स[illegible] अभिरमण कराती है तथा खेदापनोदन करती [illegible] दिशा-विदिशाओंमें यश फैलाती है तथा ल[illegible] विस्तार करती है; कल्पवृक्षके तुल्य विद्या भला कौन-[illegible] सा कार्य नहीं साधती ?

इसके विपरीत विद्याशून्य व्यक्तिको साक्षात् पशु पशुतुल्य भी कहा गया है, 'विद्याविहीनः पशुः' (भर्तृ[illegible] नीतिशतक १) 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (चाणक्[illegible] 'साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।'

वेद्य वस्तु-तत्त्व

यद्यपि सर्वत्र बह्वागम, बहुशास्त्रदर्शन, अनुशी[illegible] की बात बतलायी गयी है, तथापि उन सबोंसे ज्ञेय[illegible] वेद्य वस्तु एक ही है । 'सांख्यदर्शन'में इसे बड़े [illegible] शब्दोंमें कहा गया है । आचार्य कपिल कहते हैं यह ठीक है कि तत्त्व-ज्ञानके लिये बहुत-से शास्त्र [illegible] गुरुओंकी उपासना करनी चाहिये, तथापि ग्रहण क[illegible] चाहिये सार वस्तु ही—

'बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदव[illegible]

(सांख्यदर्शन ४ ।

उपर्युक्त सूत्रके सांख्य-प्रवचन-भाष्यमें समन्वयवाद-के आचार्य विज्ञानभिक्षुने लिखा है—

शास्त्रेभ्यो गुरुभ्यश्च सार एवं ग्राह्योऽन्यथा-भ्युपगमवादादिभिरंशतोऽसारभागेऽन्योन्यविरोधेना-र्थबाहुल्येन चैकाग्रताया असम्भवात्।'' तदुक्तम्—

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

अर्थात् सभी प्रकारसे चित्तैकाग्रता ही अभिप्रेत है। अतः तत्सहायक सार वस्तु ही अनेकानेक गुरुओं तथा शास्त्रोंसे संग्रह करना चाहिये। मार्कण्डेयपुराणके 'योगचर्याध्याय' में भी कहा गया है कि ज्ञानबाहुल्य या विभिन्न ज्ञेय वस्तु योगविघ्नकरी होती है—चित्तैकाग्र्य-बाधिका बन जाती है, अतएव किसी एक लक्ष्यके निमित्त ही स्वाध्यायसे सार वस्तुका संग्रह करे अन्यथा हजारों कल्पोंमें भी ज्ञेयकी प्राप्ति नहीं हो पायगी—

सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्कार्यसाधकम्।
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकरी हि सा॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्।
अपि कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात्॥

(मार्क० ४१। १८-१९)

अनन्तशास्त्रं बहुला च विद्या
स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गुं
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

(हितोप० पञ्चतन्त्र० कथामुख ९)

इस साहित्यवचन तथा—

द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा॥

(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १९। १८; श्रीत्रिपुरातापिन्युप-निषद् ५। १७। १९)

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्सृजेत्॥

(अमृतनादोपनिषद् १)

—आदि शतशः श्रुतिवचनोंका भी यही तात्पर्य है कि सभी शास्त्रोंके सहारे परम वेद्य भगवत्तत्त्व ही ज्ञेय है और उसीकी प्राप्ति सर्वथा अभिप्रेत है।

'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।'

(श्रीमद्भा० १। १। २)

—आदि भागवत-वाक्योंमें भी इसे ही वेदनीय ज्ञापित कराया गया है।

तद्विरुद्ध विद्या, विद्या ही नहीं

यों तो पूर्वनिर्दिष्ट परिभाषानुसार, भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त ज्ञापन करानेवाली, किंवा भगवत्प्राप्तिके साधन-बाधनोंको ज्ञापित करानेवाली विद्याके अतिरिक्त दूसरी वस्तु विद्यापदवाच्य हो ही नहीं सकती; किंतु इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि इनके विरुद्ध भ्रामक, चित्तैकाग्र्य-में बाधक ज्ञान नितरां अज्ञान ही हैं। इसलिये वेदादि शास्त्रोंमें ऐसे ग्रन्थोंको या एतादृश पण्डितम्मन्योंको दूरसे ही नमस्कार करनेकी सम्मति दी है। वाल्मीकिरामायण-में भगवान् रामने जाबालिको समझाते हुए ऐसे लोगों-की बड़ी भर्त्सना की है। श्वेताश्वतरकी श्रुति कहती है कि जो भगवान्‌को नहीं जानता, वह विद्याओंसे क्या करेगा?—'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (४। ८) श्रुतियाँ बार-बार कहती हैं। विद्याका प्राण, अमृतत्वका साधन एकमात्र परमात्मा ही है, बस, उसे ही जानो और सब बातोंको छोड़ दो—

'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथा-मृतस्यैष सेतुः।'

(मुण्डक० २। २। ५)

६—

भगवान् शङ्कराचार्य इस श्रुतिके भाष्यमें स्पष्ट लिखते हैं—

तं सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ, जानीत हे शिष्याः।…अन्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ— परित्यजत।

बुद्धिमान् पुरुषको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये—मन लगाना चाहिये। व्यर्थ विद्याओंका अनुध्यान न करे, वह केवल वाणीका श्रम है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥

(बृहदारण्यक० ४। ४। २१; वराहोपनिषद् ४। ३३; शाट्यायनी उप० २३; अन्नपूर्णोपनिषद् ४। ३७ आदि)

उसीको जानकर अमृतत्वको—विद्याफलको प्राप्त होता है, इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वेताश्वतर० ३। ८; ६। १५; नारदपरिव्राजकोप० ९। १; चित्त्युपनिषद् १३। ११; त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० ४। ३; कैवल्योपनिषद् ९; लक्ष्म्युपनिषद् ७; महावाक्योपनिषद् ३; हेरम्बोपनिष० ८; कालिकोपनिष० ३ इत्यादि)।

प्रह्लाद, जडभरत, काकभुशुण्डि आदिके सम्बन्धमें इतिहास भी साक्षी है कि तदतिरिक्त किंवा तद्विरुद्ध अध्यापन किये जानेपर उन लोगोंने तत्तद्विद्याओंका अध्ययन ही नहीं किया—

सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श तदात्मनः न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयनः श्रुतिम् न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च

(विष्णुपुराण २। १३। ३९ भरत…

प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ प…
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्या…

(रामचरितमान…

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम् न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम्

(श्रीमद्भागवत ७। ५। ५३ प्रह्लादच…

उपसंहार

इस तरह विद्या, वेद्य और विद्वान् सभीका पर्य… भगवान्‌में ही दीखता है। कथंचित् 'भक्तवेदविद्' … वेदविद्' को 'यस्तं वेद स वेदवित्' के नाते पूर्ण वि… कहा जा सकता है। तथापि उसकी मृत्यु शो… न होकर उत्सवप्रद होती है। इसलिये वि… 'निर्वाणमहोत्सव' ही मनाया जाता है। आजके अस… वातावरणमें जो भी कह दिया जाय या नाटक कर… जाय यह दूसरी बात है, पर विशुद्ध विवेकमें स… होकर विचारनेवालेके लिये, भगवान्-जैसी वस्तुको… निरन्तर सर्वत्र भरपूर देखते हुए, शोक मनाना या… के अभावके लिये रोना तो सचमुच बनता ही… भगवान् सर्वत्र हैं। वे सर्वोपरि सर्वसद्गुणाश्रय… उनके इस स्वरूपको ठीक-ठीक जान लेनेपर … कोई कारण नहीं रह जाता। श्रीरामार्पणमस्तु।

निर्धनके धन राम

हमारे निधनके धन राम।
चोर न लेत, घटत नहिं कबहूँ, आवत गाढ़ैं काम॥
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसौ हरि-नाम।
बैकुंठनाथ सकल सुखदाता, सूरदास सुख-धाम॥

भगवान्‌में प्रेम होनेका उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान्‌की प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषोंको संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम हो—इसके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। साधनमें विक्षेप, आलस्य, भोग, प्रमाद आदि अनेक विघ्न हैं, उनमें मनकी चञ्चलता अर्थात् विक्षेप और आलस्य——ये दो प्रधान हैं; किंतु संसारमें वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेपर इन सबका अपने-आप ही विनाश हो सकता है। अतः संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

संसारसे वैराग्य होनेका उपाय है—संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप, घृणित, हानिकर और भयदायक समझना, वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करना, वैराग्यविषयक पुस्तकें पढ़ना और चित्तमें वैराग्यकी भावना करना। इनसे वैराग्य हो जाता है।

भगवान्‌में प्रेम होनेका उपाय है——भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनना, पढ़ना और मनन करना; भगवान्‌में जिनका प्रेम है, उन पुरुषोंका सङ्ग करना; भगवान्‌से सच्चे हृदयसे करुणाभावपूर्वक गद्गदकण्ठ हो स्तुति-प्रार्थना करना; 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार भगवान्‌के साथ अपना नित्य-सम्बन्ध समझना; मनसे भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन करना तथा हर समय निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-रूपको स्मरण रखना। ऊपर बतलायी हुई इन सभी बातोंपर श्रद्धा-विश्वास करके उनको काममें लानेसे बहुत शीघ्र भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

जब साधकका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, तब फिर दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, सांसारिक संकल्प, आलस्य, प्रमाद, भोगेच्छा आदि सब दोषोंका नाश होकर उसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है; फिर उत्तम गुण तो उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं तथा उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ भी उत्तम-से-उत्तम होने लगती हैं। उसे परम शान्ति और परम आनन्दका अनुभव होता रहता है। इसलिये ऐसा पुरुष कभी संसारके विषयभोगोंको और कुसङ्गको पाकर भी उनमें नहीं फँसता।

अपने दैनिक जीवनमें उपर्युक्त बातोंको किस प्रकार काममें लाया जाय——इसके लिये नीचे लिखी हुई तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये——

(१) जब हम रात्रिमें सोने लगें, तब उस समय हमें उचित है कि हम भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको स्मरण करते-करते ही शयन करें। इससे रातमें बुरे स्वप्न भी नहीं आते और हमारा वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें ही परिणत हो सकता है।

(२) दिनमें कार्य करते समय यह समझना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ और भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ एवं ये जड-चेतनात्मक सब पदार्थ भगवान्‌के हैं और मैं भी भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं और वे सबमें व्यापक हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है तथा व्यवहार करते समय स्वार्थत्याग, सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति हितैषिता, उदारता, समता, स्वाभाविक दया—इनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। इससे व्यवहार स्वाभाविक ही बहुत उच्चकोटिका होने लग जाता है।

इससे भी बढ़कर एक भाव यह है कि जो भी क्रिया करे, उसे अहंकार और अभिमानसे रहित होकर करे और यह समझे कि मेरे द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है,

वह भगवान् ही करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। इस प्रकारके भावसे होनेवाली क्रियामें कभी दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनकी गुंजाइश ही नहीं रहती। यदि उसमें दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन हो तो समझना चाहिये कि उसकी क्रिया होनेमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है। गीतामें अर्जुनके द्वारा यह पूछनेपर—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३ । ३६)

'कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

भगवान्ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

(३) एकान्तमें बैठकर साधन करते समय भी प्रथम मन-इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये। मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही प्रधान है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(६ । ३५)

'महाबाहो! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।' मनको वशमें कर लेनेपर इन्द्रियोंका वशमें होना उसके अन्तर्गत ही है।

मन वशमें होनेके बाद श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम और स्वरूपका स्मरणरूप साधन करना चाहिये; क्योंकि मनको वशमें किये बिना साधन होना सुगम नहीं है और साधन करनेसे भगवान्की प्राप्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(६ । ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग (भगवत्-प्राप्ति) दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

तथा भगवान्ने आगे सब साधनोंमें श्रद्धापूर्वक भगवान्के भजन-चिन्तनरूप भक्तिके साधनको ही श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

अथवा एकान्तमें बैठकर सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके और संसारसे उपराम होकर मनको परमात्मामें लगा देना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिका यह भी एक उत्तम प्रकार है। भगवान्ने स्वयं गीतामें बतलाया है—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(६ । २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त

बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।

तथा—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषय-से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे अर्थात् परमात्मामें ही लगावे ।'

इसलिये संसारके विघ्नोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये ।

शक्ति-पूजाकी परम्पराके स्रोत—उपनिषद्

(लेखक—श्रीरूपनारायणजी शास्त्री)

शक्ति-पूजाकी परम्पराका इतिहास बहुत पुराना है । इसके प्रारम्भकी देहलीतक इतिहास नहीं पहुँच सका । इसकी असीम व्यापकताको कालकी सीमा-अवधि सीमित नहीं कर सकी है । उपलब्ध ग्रन्थों तथा पुरातत्त्व-सामग्रीसे यह निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि शक्तिकी साधना उपनिषदोंके युगसे भी पाँच हजार वर्ष पहले प्रचलित थी । उस समयका जनसमाज 'महामायी' पर विश्वास रखता था । नदियों, वृक्षों और पर्वतोंकी पूजा जो आज भी भारतीय लोक-समाजमें प्रचलित है—यह प्रागैतिहासिक कालमें भी थी । प्रकृतिमूलक यह पूजन-परम्परा मूढ़ता या अन्धविश्वास-पर आधारित नहीं है, अपितु सौन्दर्यदर्शनकी भावानुभूति-की प्रतीक थी, जो आगे चलकर शक्ति-पूजामें परिणत हुई ।

वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि भारतीय शास्त्रोंने ब्रह्मकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको ही शक्ति माना है । श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌का कहना है कि—'सत्त्व, रज और तमरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति कहलाती है ।' इसीका मूलस्रोत हमें ऋग्वेदसे भी प्राप्त होता है—

अग्ने यत्ते दिति वर्चः
पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ
त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥
(३ । १ । २२)

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदके रात्रिसूक्त, देवीसूक्त, श्रीसूक्त, अथर्ववेदके देव्यथर्वशीर्षसे शक्ति-पूजाका विक-सित रूप स्पष्ट लक्षित होता है । दुर्गोपनिषद् शक्तिको दुर्गादेवीकालरात्रि स्वीकार करता है । इसके बाद मार्कण्डेयपुराण, पद्मपुराण, कूर्मपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, वृद्धहारीत, रामायण और महाभारत आदि, पौराणिक साहित्यमें तथा योगवाशिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, न्याय-कुसुमाञ्जलि, वाक्यपदीय आदि दर्शनग्रन्थोंमें एवं मालतीमाधव, कुमारसम्भव, दशकुमारचरित, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी और कादम्बरी आदि साहित्यग्रन्थोंमें शक्ति-उपासनाके अनेक विधान और बीज मिलते हैं ।

हिंदूधर्मग्रन्थों और सम्प्रदायोंके अतिरिक्त जैन और बौद्धों तथा उनके ग्रन्थोंमें हमें शक्ति-पूजाके अनेक विधान और प्रमाण मिलते हैं । जैनधर्मके 'ज्ञातधर्म-कथाकोष' आदि प्रबन्धात्मक साहित्यमें प्रकृति (शक्ति) सम्बन्धी अनेक लेख-सामग्री विद्यमान है । बौद्ध-साहित्य-में शक्तिके रूपमें 'तारा', 'धारिणी' और 'मणिमेखला' का प्रचुर उल्लेख मिलता है । बौद्धोंकी महायानशाखा-

द्वारा शाक्त मतका अत्यधिक प्रचार हुआ है। उनकी वज्रयानशाखासे विविध यन्त्रों, मन्त्रों, टोने और टोटकोंका आविर्भाव हुआ है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सामग्री और साहित्यसे यह स्पष्ट बोध होता है कि शक्तिकी उपासनाका क्षेत्र क्रमशः बढ़ते-बढ़ते भारतकी सीमासे पार होकर चीन, जापान और तिब्बत आदि सुदूरपूर्व एशियाई देशोंतक फैल गया। मेरा अपना अनुमान है कि आदिमानवोंकी प्रकृति-पूजाकी जो प्रवृत्ति थी, उसीका विकसित रूप उपनिषद्-कालमें शक्ति-उपासना है।

शक्ति-साधनाका वैज्ञानिक रहस्य

ऋग्वेदकी एक ऋचा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र
धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥
(८।२।२३)

तात्पर्य यह कि जैसे छलनीसे छानकर सत्तू पवित्र किया जाता है, उसी प्रकार जो विद्वान् अपनी वाणीको निर्मल बना लेते हैं, उनकी उस कल्याणी वाणीमें लक्ष्मी प्रतिष्ठित हो जाती है। लक्ष्मीका वास कहाँ रहता है, इस प्रमुख प्रश्नका समाधान उपर्युक्त ऋचाने किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीको वैज्ञानिक ढंगसे इस प्रकार बतलाता है—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः।'
(१।५।१)

हमारा आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। मनका ज्ञान शक्तिमय है, प्राणक्रिया शक्तिमय है और वाक्तत्त्व अर्थशक्तिमय है।

सृष्टितत्त्वको बतलाते हुए उपनिषत्कार कहते हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाश सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।'

इस विश्वमें सर्वप्रथम वाङ्मय अव्यक्त स्वयम्भू आविर्भाव हुआ। अव्यक्त स्वयम्भूने विश्व-सम्पत्ति कामनासे प्राणव्यापारद्वारा अपने वाक्तत्त्वमें सं उत्पन्न किया। प्राणव्यापारमय संघर्षसे उत्पन्न वाक् उसी प्रकार द्रव-अवस्थामें परिणत हुआ, जैसे परि करनेसे शरीराग्नि पसीनेके रूपमें परिणत हुआ करता है चन्द्रतत्त्वानुगामी प्रेमसंघर्षसे शरीराग्नि प्रेमाश्रुरू सौरतत्त्वानुगामी क्रोधसंघर्षसे शरीराग्नि शोकाश्रुरू परिणत हो जाता है। इसी प्रकार पर्जन्यवायुसे उ संघर्षसे ऊष्मा जैसे वर्षारूपमें परिणत हो जाती है सारांश यह कि संघर्षमें पड़कर अग्नि ही पानीके रू परिणत हुआ करता है। शतपथ (१।५।१। का कहना है कि—'यह अग्नितत्त्व ही वाक्तत्त्व है वाक् ही अग्निकी उपनिषद् है।'

ऐतरेय आरण्यक (३।१।६) का कथन है कि- 'श्रुति सम्पूर्ण विश्वको वाङ्मय बतला रही है। अ स्वयम्भूकी यह वाक्-शक्ति ही सर्वप्रथम प्राणसंघर्षमें पड़ पानीके रूपमें परिणत हुई। उस अव्यक्त स्वयम्भूने स पहले वाक्से जल उत्पन्न किया। वही वाक्शक्ति अ परिणामरूपसे अप्रूपमें परिणत हुई।' शतपथ (६। १।९) में वाक्से उत्पन्न होनेके कारण वाङ्मय जल समुद्र सरस्वान् कहलाया। वही आपोमण्डलमें परमेष्ठी वि नामसे प्रसिद्ध हुआ। उस परमेष्ठी विष्णुकी वाङ्मयी लक्ष्मीनामसे प्रसिद्ध हुई। इसीलिये भारतीय दार्शनि 'सर्वमापोमयं जगत्'—यह सिद्धान्त स्थिर किया है तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।५।५) का कथन है 'समस्त देवता वाक्को आधार मानकर जीवित है गन्धर्व, पशु, मनुष्य आदि समस्त चराचर प्रपञ्च वा ही समर्पित है। ऐसी सर्वाधिष्ठात्री इन्द्रपत्नी वह वा हमारी प्रार्थना सुने।'

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती—ये तीनों शक्तियाँ वस्तुतः एक ही शक्तिकी तीन विभिन्न अवस्थाएँ हैं। महाकाली सृष्टिकी पूर्व अवस्था है। महालक्ष्मी सृष्टिकी मध्य अवस्था है और महासरस्वती दोनोंकी संधिमें प्रतिष्ठित है। अव्यक्त स्वयम्भू महाकाल है, इसकी शक्ति महाकाली कहलाती है। अव्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी विष्णुकी शक्ति महालक्ष्मी है और व्यक्त सूर्यकी महाशक्ति महासरस्वती है। सरस्वती और लक्ष्मी दोनोंकी प्रतिष्ठा महाकाली है। अव्यक्त स्वयम्भू वाक्की ही वह महाशक्ति है, जो स्वयम्भू, स्वयम्भू परमेष्ठी और सूर्य—इन तीन लोकोंके भेदसे तीन अवस्थाओंमें परिणत होकर काली, लक्ष्मी और सरस्वती कहलायी।

गोपथब्राह्मण (१।३९) का कहना है कि—'अप्तत्त्व भृगु और अङ्गिरारूप है, तन्मय है। इस भृगु-अङ्गिरामय आपोमण्डलके गर्भमें वेदत्रयी प्रतिष्ठित है।' स्नेहगुणात्मक भृगुमय अप्तत्त्वका विकास परमेष्ठीमण्डलमें हुआ। तेजोगुणमय आङ्गिरसतत्त्वका विकास सूर्यमें हुआ। इस प्रकार परमेष्ठीका एक ही अप्तत्त्व भृगुधारा, अङ्गिराधारा दो भागोंमें विभक्त हो गया। भृगुधारा अर्थसृष्टिकी अधिष्ठात्री बनी और अङ्गिराधारा शब्द-सृष्टिकी अधिष्ठात्री बनी। शब्दप्रवर्तिका अङ्गिराधारा सरस्वती कहलायी। अर्थप्रवर्तिका भृगुधारा लक्ष्मी कहलायी और वही 'आम्भृणीवाक्' नामसे प्रसिद्ध हुई, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण ऋग्वेदके 'आम्भृणीसूक्त' में बड़े मार्मिक शैलीमें किया गया है।

शब्दात्मिका अङ्गिराप्रधाना वाक् तथा अर्थात्मिका भृगुप्रधाना वाक्—दोनोंका मूल स्रोत एक होनेके कारण शब्दसृष्टिका विकास हुआ। शब्द और अर्थके इस सम्बन्धके आधारपर भाषाविज्ञानियोंने शब्द और अर्थका तादात्म्य-सम्बन्ध स्वीकार किया है। शब्दात्मिका सरस्वती और अर्थात्मिका लक्ष्मी दोनोंकी मूल प्रतिष्ठा सर्वात्मिका काली है। यही तीन महाशक्तियाँ हैं, जिनका विकास उपनिषदोंके बाद अनेकविध शास्त्रोंमें हुआ है। इस प्रकार शक्ति-उपासनाका वास्तविक रहस्य हमें उपनिषदोंसे भलीभाँति विदित होता है।

उत्तर उपनिषत्कालमें महाशक्तिके रूप

परवर्ती कालमें जिन उपनिषदोंका संकलन हुआ है, उनमें अनेक देवियोंका वर्णन हमें मिलता है। उस वर्णनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समयके संकलित उपनिषद् शाक्त-सिद्धान्तोंसे प्रभावित रहे हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि भारतीय शास्त्रोंमें तान्त्रिक क्रियाओंका समावेश यहींसे प्रारम्भ होता है। जिन परवर्ती कालके उपनिषदोंमें शक्तिके विभिन्न रूपों और उनके उपासना-विधानोंका वर्णन मिलता है, उनमें शक्तिके स्नेहमयी जननी तथा रौद्ररूपका समन्वय है। सौन्दर्य-शक्ति और कराली-शक्ति दोनोंकी उपासनापर शाक्तमतका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'सुमुखी उपनिषद्' में शक्तिका ध्यान षोडशी रमणीके रूपमें किया गया है। वह षोडशी शक्ति रमणी शवपर आरूढ और रक्त-रञ्जित शरीर होते हुए भी सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित बतायी गयी है। 'बह्वृच उपनिषद्' में भगवती बगला, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, महात्रिपुरसुन्दरी, कल्याणी, भुवनेश्वरी, बालाम्बिका, मातंगी, स्वयंवरकल्याणी, तिरस्करिणी, ब्रह्मानन्दकला, धूमावती, सरस्वती और सावित्री—इन देवियोंका वर्णन किया गया है। 'सौभाग्यलक्ष्मी' उपनिषद्में महालक्ष्मीका तन्त्रोक्त एवं योगोक्त वर्णन किया गया है। इसी उपनिषद्में श्रीविद्याका रहस्य भी बताया गया है। त्रिपुरतापिनी उपनिषद्में दुर्गादेवीका वर्णन करते हुए महादेवीके विराट् रूपका ध्यान किया गया है। 'दुर्गोपनिषद्' 'सरस्वती-रहस्योपनिषद्' तथा 'देवी उपनिषद्'में शक्तिके अन्यान्य रूपोंका चित्रण किया गया है।

इन उत्तरकालीन उपनिषदोंमें शक्तिके जिन विभिन्न रूपोंका वर्णन किया गया है, उन सबका तात्पर्य

शक्तिके उन विविध रूपोंको ब्रह्मका अभिन्नस्वरूप बताना ही है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि प्रमुख उपनिषदोंमें जिस परमतत्त्वका वर्णन किया गया है, उसीका उत्तरकालीन उपनिषदोंमें साधारण लोक-समाजके लिये सरल-सुबोधरूपमें वर्णन किया गया है। इन उपनिषदोंमें शक्तिके विभिन्न रूपोंको एक ब्रह्मका स्वरूप बतलाकर सामूहिक शक्तिका समर्थन और प्रचार-सा किया गया है।

केनोपनिषद्‌में एक बहुत ही रोचक कथा है— 'देवासुर-संग्राममें विजयी देवताओंका गर्व चूर करनेके लिये ब्रह्मने यक्षका रूप धारण किया। उसका पता लगानेके लिये देवताओंमें शक्तिशाली अग्नि और वायु क्रमशः देवताओंकी ओरसे भेजे गये; किंतु वे यक्षके सामने ठहर न सके। अन्तमें जब इन्द्र स्वयं गये तब यक्ष विलीन हो गया और उसके स्थानपर परमसुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हैमवती भगवती उमा प्रकट हो गयीं। उन्होंने इन्द्रका मोह दूर करते हुए बताया कि यक्ष साक्षात् ब्रह्म था। तुमलोगोंके मिथ्याभिमानको दूर करनेके लिये प्रकट हुआ था।'

इस कथाका तात्पर्य यही है कि अविद्याग्रस्त जीव ब्रह्मको पहचान नहीं सकते। भगवती उमा (शक्ति) की कृपा और सहायतासे ही भगवान् पहचाने जा सकते हैं। इस प्रकार उपनिषदोंद्वारा शक्ति-साधनाका रहस्य-बीज अङ्कुरित हुआ है।

भज शिव बारंबार हरे

(लेखिका—श्रीसत्यवतीजी शर्मा 'देवी', 'साहित्यरत्न')

शिव असुर-निकन्दन, भव-दुख-भंजन, संतनके प्रतिपाल हरे।
आवागमन मिटाओ शम्भो, भज शिव बारंबार हरे॥
(डा० आनन्द)

शिवके शरीरसे झड़ी हुई भस्म आँखोंमें पड़ जानेके कारण गलेमें लिपटा हुआ सर्प न दिखायी देनेके कारण घबराकर बड़े जोरसे फुंकार करता है। उस फुंकारसे ललाट-नेत्रकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और नेत्रकी ज्वालासे पसीजकर मस्तकस्थित चन्द्र-मण्डलसे अमृत टपक पड़ता है। उधर अमृतकी बूँद पड़ते ही गज-चर्म जीवित हो उठता है। जीवित हुए हाथीकी गर्जनासे सवारीका बैल दौड़ने लगता है। भगवान् शिवजी अभीतक निश्चिन्त-से हुए समाधिमें बैठे थे। प्रकृतिकी आहट भी तो उन्हें नहीं जगा पायी। पक्षी आनन्दनिमग्न हो गुंजन कर रहे थे। अनुरागसे भरी उषा गुलाल छोड़ रही थी। मलय-समीर मस्तीसे बह रहा था। सघन वृक्ष, लोनी-लोनी लताएँ लावण्य बिखेर रही थीं। फूलोंकी कलियाँ चटकनेवाली ही थीं और उदयशैल अपने अभ्युदयपर हँस रहा था कि अनायास ही शिव उपद्रवसे घबराकर बड़ी मुश्किलसे बैलको रोकते हैं, पर पार्वतीजी यह कौतुक देखकर हँसी नहीं रोक सकीं। ऐसे पार्वतीजीसे उपहास किये गये शिव आशुतोषको मैं बारंबार नमस्कार करती हूँ।

कवि सरयूके शब्दोंमें भोलेनाथके गुणगान और सुन लीजिये—

शंकर नाम सुधासम है, भवभूति भरै भव भावन शंकर।
शंकर हेतु तजै यति धामहु, शंकर पावत मार अशंकर॥
शंकर ही जन शंकर है, पुनि काल भयंकर लोकवशंकर।
शंकरको सब देव भजै, 'सरयू' कवि किंकरके कवि शंकर॥

कितनी मार्मिक हैं ये पंक्तियाँ, कितनी सुन्दर हैं और भोलेनाथकी तरह कितनी भोली कल्पना है। यथार्थमें भगवान् भोलेनाथकी भोली-भाली लीलामें एक अटूट आकर्षण है। इस ब्रह्मानन्दको तो शिव-रस-मग्न भक्तगण ही जानते हैं। जितना आनन्द शिव-कीर्तनमें आता है, उतना आनन्द अन्यत्र नहीं। चाहे दिन-रात किये जाओ, कभी आपको किंचिन्मात्र भी थकावट प्रतीत नहीं होगी, शब्द अपने-आप ही निकलते चले जायँगे। हरि-हर जो ठहरे, किसी भी इच्छासे पुकारो, अभिलाषा पूर्ण कर देते हैं—

हर हर कहत हरत सब पीडा, शम्भू कहत सुख लहत शरीरा।
शंकर कहत सकल कल्याणा, रुद्र कहत मेटत भय नाना॥

(डा० आनन्द)

प्रत्येक नाममें एक रस है। और कैसे हैं—

स्वयं अकिंचन जन-मन रंजन, पर शिव परम उदार हरे।
पार्वतीपति हर हर शम्भो पाहि पाहि दातार हरे॥

(डा० आनन्द)

भोले स्वयं अकिंचन हैं, किंतु ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियाँ, सम्पत्तियाँ इन्हींसे उत्पन्न हुई हैं। भगवान् भवानीपति तो भोलेनाथ हैं, कोई भी भजो—स्त्री हो चाहे पुरुष, सबको अपना लेते हैं। यह तो पण्डितोंके पाखण्ड हैं कि स्त्रियोंको देवपूजा खासकर शिव-पूजा नहीं करनी चाहिये। उनके लिये तो पति ही परमेश्वर है। पतिकी सेवा एवं आशीर्वादसे पत्नीकी सब इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव है। पर कैसी पृथ्वीपर रहकर स्वर्गकी-सी बातें करते हैं लोग-बाग? यह कलियुग है, अब अनसूया-जैसी देवियाँ कहाँ हैं? हमारे देव तो पति हैं ठीक है, पर पतिके देव तो शिव हैं न? पतिकी शुभ कामनाओंके लिये तो स्त्री पूजा-पाठ करती ही है। यही पूजा-पाठ, जिसे वे पाखण्ड कहते एवं अपने परमेश्वर होनेकी घोषणा करते हैं, उनको जीवनमें बीसों ही बार विपत्तिके सरमें गिरनेसे बाल-बाल बचा लेती है। तब कहते हैं 'आज तो भगवान्ने ही रक्षा करी नहीं तो मरे होते।' यह स्त्रियोंमें ही थोड़ी बहुत भक्ति है, जिसके बलपर सबकी जीवन-नौका चल रही है। फिर भोले बाबा भी स्त्री-पुरुष देखने लगे 'हरको भजै सो हरका होई।' जो 'बम-बम' करनेमात्रसे खुश हो जाते हैं, भला उनकी दयालुताकी कोई सीमा है! महादेव पर हैं कितने सीधे, अर्धनारीश्वर होनेके नाते अचलसौभाग्या पार्वतीजीकी भी पूजा हो जाती है। 'एकहि साधे दो सधे।' फिर क्या चाहिये। ओम् वर्जित है तो नमः शिवाय करो, हर समय करो, सब करो।

नीलकंठ जय भूतनाथ जय, मृत्युञ्जय अविकार हरे।
पार्वतीपति हर हर शम्भो पाहि पाहि दातार हरे॥

और क्या लिखूँ, सब महानुभाव शिवरात्रिके पर्वपर प्रेमसे मेरी त्रुटियोंको क्षमा करेंगे, ऐसी आशापर तो लिख ही रही हूँ। प, फ, ब, भ, म से संयुक्त (पिनाक, फणी, बालचन्द्रमा, भस्म, मन्दाकिनीधारी) शंकरको प्रणाम है।

भज गौरीशं, भज गौरीशं, गौरीशं भज मन्दमते।
जल-भव-दुस्तर जलधि सुतरणम्, ध्येयं चित्ते शिवहर चरणम्।
अन्योपायं नहि नहि सत्यं गेयं शंकर शंकर नित्यम्।
भज गौरीशं ....॥

जय शिव जय शिव जय शिव जय शिव जय शिव जय शिव जय शिव!

लेकिन सबकी राह एक है

(रचयिता—श्रीजगन्नाथप्रसादजी)

बाहें सब की अलग अलग हों, लेकिन सब की चाह एक है,
ऊँचे गिरि से नदी निकल कर गहरे सागर को अपनाती।
जलते रवि की किरण प्रसर कर शीतल ओस बिन्दु चुन लाती॥
क्षार सिंधु की ऊर्मि ज्वार बन निकट अमृतमय शशि के जाती।
सब की बाहें मिलन चाहतीं उस छबि से जो कभी मिटाती॥
चाहें सब की अलग अलग हों, लेकिन सब की आह एक है॥

स्वाति सलिल प्रेमी चातक की आह अखंड जाप बन जाती।
सिन्धु मिलन की आतुर धारा पथ में हरित सरसता लाती॥
शशि की आह कलंक प्रकट कर निज राका को बिनय सिखाती।
साथ साँस के जीवन आता, साथ आह के शुचिता आती॥
आहें सब की अलग अलग हों, पर सब का निर्वाह एक है॥

अगर न होता योग, न होती शलभ प्रेम की अग्नि-परीक्षा।
अगर न होता विरह, न होती मीन प्रेम की पूर्ण समीक्षा॥
चातक अगर प्राण तज देता, करता किस की कौन प्रतीक्षा।
उस प्रेमी की वही परीक्षा, जिस प्रेमी की जैसी दीक्षा॥
राहें सब की अलग अलग हों, पर गति का उत्साह एक है॥

पंकज को रवि-रश्मि उष्ण प्रिय, इस से वह अलिप्त पानी में।
खाकर आग चकोर न जलता शीतल शशि की अगवानी में॥
खाकर सर्प मयूर नाचता श्याम घटा की मेहमानी में।
प्रेम कवच धारण करने से निर्भयता आती प्राणी में॥
दुनिया सब की अलग अलग हो, पर अम्बर की छाहँ एक है॥

स्वाति-सलिल में चातक पाता परम साध्य सारे साधन का।
दीप शिखा है शलभ के लिये चरम लक्ष चरमान्वेषण का॥
जिस से प्रेम-तत्व जग जाये अंतिम सत्य वही जीवन का।
दर्शन लाभ व्यक्तिगत पूँजी सम्भव कब वितरण दर्शन का॥
दर्शन सब के अलग अलग हो, पर तल्लीन निगाह एक है॥

जग ससीम के मग ससीम के पग ससीम की जो ससीम गति।
उस की पहुँच ससीम रूप तक आत्मसमर्पण सीमित के प्रति॥
लघु पतंग की लघु पतंग से जैसे लघु क्षण में लघु संगति।
सीमित उन्नति, सीमित अवनति, सीमित जीवन की सीमित अति॥
दृष्टि सभी की अलग अलग हो, लेकिन अश्रु प्रवाह एक है॥

जितने मार्गप्रदर्शक जग के, सब के दर्शन न्यारे न्यारे।
सब के सत्य स्वप्नवत दिखते जैसे सुर गंगा के धारे॥
लेकिन सब की एक जीवनी दिनकर सा आलोक पसारे।
जिस की निष्ठा को अपना कर लग सकती है नाव किनारे॥
निष्ठा सब की अलग अलग हो, पर आनन्द अथाह एक है॥

अन्य सत्य सापेक्ष सत्य हैं व्यापक सत्य चरित्र मात्र है।
जीवन का नाता जीवन से, जीवितशास्त्र चरित्र शास्त्र है॥
चरित सगुण साकार ब्रह्म है, जिसका मुख मुख गात्र गात्र है।
पर विवाद प्रिय सम्प्रदाय प्रिय मानव उसका नहीं पात्र है॥
खोजें सब की अलग अलग हों, लेकिन सब की राह एक है॥

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(१)

'बड़े निर्मोही हो तुम ! कबीर पढ़ता मैं हूँ, निर्मोही तुम बनते हो ! भूले-भटके भी तो याद कर लिया करो !'

बरसों बाद उस दिन जब संत कबीरकी वाणीके मर्मज्ञ पण्डित उदयशङ्कर शास्त्रीसे मिला तो उन्होंने यह स्नेहभरा उपालम्भ दिया।

पलभरके लिये मेरा 'अहं' फूल उठा। किसीने मुझे 'निर्मोही' कहा तो।

× × × ×

तो क्या मैं सचमुच निर्मोही हूँ ?

अजी, राम कहिये !

मोह तो मेरे रोम-रोममें ठँसा पड़ा है।

यह ठीक है कि मैं अपने कितने ही घनिष्ठ मित्रोंको बरसों नहीं लिखता, हितूमित्रों और सम्बन्धियोंको भी बहुत कम लिखा करता हूँ, किसीके हाल-चाल जाननेके लिये विशेष उत्सुक नहीं रहता, लेकिन इसका मतलब कोई यह लगाये कि मैंने मोहका निवारण कर लिया तो यह सरासर गलत होगा।

चिट्ठीपत्री न लिखना तो लापरवाहीका लक्षण है। उसमें निर्मोह कहाँ ?

× × × ×

बात है १९४९ की।

होलीके तुरंत बाद एम्० ए० की परीक्षा थी। बच्चे कानपुर थे। होलीमें आग लगाकर ही मुझे नागपुरके लिये प्रस्थान कर देना था। जाना था सबेरेकी ट्रेनसे और रातमें ही दो-ढाई सालकी बेटी मुन्नीकी तबियत इतनी बिगड़ी कि कई बार ऐसा लगा—अब गयी, अब गयी !

एम्० ए० की डिग्रीका मोह और तिकड़म बैठ जाय तो सालभर बाद ही P.h.D. (डाक्टर आव् फिलासफी) हो सकनेका मोह—बच्चीके मोहसे तगड़ा पड़ा और मैं सबेरे ही नागपुरके लिये रवाना हो गया।

× × × ×

झीलके पास एक मित्रकी ससुरालमें ठहरा।

शाम होती और मैं रोज झील-किनारेकी सीढ़ियोंपर आ बैठता।

सोचता, पता नहीं मुन्नीकी तबियत कैसी होगी !

और उधर—कानपुरसे कोई खबर ही नहीं !

× × × ×

आज चिट्ठी आयेगी, कल चिट्ठी आयेगी—आशाके इसी हिंडोलेपर झूलता रहता। पर, चिट्ठीका कहीं पता नहीं।

परीक्षा तो दे रहा था, पर परीक्षाभवनमें भी और बाहर भी, मुन्नीकी ही चिन्ता सवार रहती !

× × × ×

छठा परचा जिस दिन करके आया, उस दिन शामको झील-किनारे बैठे-बैठे मेरे आँसू न रुक सके। भावुकतामें मैंने सोच डाला कि मुन्नी जरूर चल बसी है, तभी ये लोग कोई खबर नहीं दे रहे हैं।

सोचते होंगे कि पर्चे बिगड़ जायँगे !

पर पर्चे तो बिगड़े ही।

अन्तिम दिन परीक्षाके बाद जब डेरेपर लौटा, तब चिट्ठी मिली, मुन्नीकी तबियत ठीक है !

तसल्ली तो हुई, पर इस मोहके चलते उस बारका मेरा परीक्षाफल गोल हो गया ।

× × × ×

नागपुरसे लौटकर गाँव गया और वहाँसे लौटकर जब फिर कानपुर आया, तब देखा मुन्ना-मुन्नी दोनों बुखारमें पस्त हैं ।

दो-एक दिनमें ही जाहिर हो गया कि दोनोंपर शीतलाका प्रकोप है ।

मुन्नी तो किसी तरह बच गयी, पर मुन्नाको शीतला देवी अपनी गोदमें खींच ही ले गयीं ।

उसके दाने उभरकर बैठ गये । अठारह दिन उससे भयंकर पीड़ा झेली । अन्तिम दिनोंमें उसकी आँखोंकी ज्योति भी जाती रही और तब वह चूड़ियाँ टटोलकर अपनी माँको पहचाननेकी चेष्टा करता ।

मेरा मोह उन दिनों अपनी चरम सीमापर था ।

× × × ×

जब देखा कि मुन्नाकी आँखें भी जाती रहीं और हालत भी खराब है, तब मैंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि वह उसे उठा ही ले । मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि इस अपंग हालतमें आजीवन उसकी ठीकसे सेवा करे सकूँ ।

और भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुन ली ।

उसने दो हिचकियाँ लीं, आँखोंसे मोतीके दो बूँद टपके और—

आसपास जोधा खड़े, सभी बजावें गाल ।
मांझ महलसे ले चला, ऐसा काल कराल ॥

× × × ×

सारी रात हम सब शोकमें छटपटाते रहे ।

सुबह चले उसके शवको गङ्गार्पण करने ।

मेरे सगे-सम्बन्धी बारी-बारीसे शवको ले रहे पर अन्त—अन्ततक भी मेरी हिम्मत न हुई उसे छूनेकी ।

पाँच सालतक हमलोगोंने जिस शरीरको स्नेह और दुलारसे पाला था, उसीको जब गलेमें भरे घड़े बाँधकर जाह्नवीकी गोदमें छोड़ा गया, तब सबकी आँखें गीली हो उठीं । चि० बब्बू तो फुक्का फाड़कर रो रहा था ।

और मैं देख रहा था पूर्व दिशाकी ओर, भगवान् भास्करको आते देख प्रभातके तारे एक-एक कर विलीन होते जा रहे थे ।

कबीर मेरे मानसपर बैठे-बैठे बार-बार सचेत कर रहे थे—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुसकी जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥

आज भी जब-जब यह दोहा स्मृतिपटपर आता है तब मुन्नाका मोह जाग्रत् हुए बिना नहीं रहता !

× × × ×

और एक ठीक ऐसी ही घटना ।

मेरा मँझला भाई जाता रहा था । तब मैं था कोई ११-१२ सालका ।

उन दिनों हमलोग थे ग्वालियरराज्यमें ।

घरके अन्य लोगोंके साथ मैं भी बुरी तरह सिसक रहा था ।

पर पूज्य पिताजी शान्त थे । आदिसे अन्ततक शवको संस्कारके लिये जब वे उठा ले चले, तब मैंने केवल यह पद उनके होठोंपर देखा—

यह मोहको जाल पसार चहूँदिसि
संतत खेलत काल अहेरो ।
भाग तू मोह मया ममता तजि
काहू को तू न कहूँ कोउ तेरो ॥
नश्वर या तनको सम्बन्ध
'प्रताप' छुटै छिन साम सबेरो ।

छाँड़ि सबै भ्रम जाल निरन्तर
श्रीबनमें बस है मन मेरो ॥

उनका वैराग्य आज भी मुझे प्रेरणा देता है।

पर, कहाँ कर पाया है मैंने मोहका निरसन ?

× × × ×

पिताकी आँखोंके सामने बेटा आँखें मूँद ले—यह कितनी द्रावक घटना है, बतानेकी जरूरत नहीं। आत्मीयोंके ऐसे विछोहको जो शान्तिपूर्वक झेल ले जाय, वही तो आदमी है, वही तो स्थितप्रज्ञ है।

पूज्य पिताजी पुत्र-वियोगको जिस तरह शान्तिसे पी गये, मैं भी वैसा ही कर पाता तो समझता कि मैंने मोहपर कुछ काबू कर पाया है।

पर कहाँ हो पाया ऐसा ?

× × × ×

और लीजिये।

मुन्नाके जानेके बाद ही गाँवपर छोटे भाईके दोनों छोटे बच्चे एक सप्ताहके भीतर चल बसे और उधर छोटी बहिनकी गोद भी सूनी हो गयी। तीनों भाई-बहिनोंके चार-चार बच्चे एक साथ स्वर्गके मैदानमें खेलने चले गये।

मेरी बूढ़ी माँ, पत्नी, बहू, बहिन—सब-की-सब गाय-गोरूकी भाँति डकर रही थीं!

मैं समझानेकी कोशिश करता। ज्ञान और वेदान्त बघारता, जगत्की नश्वरताकी कहानियाँ सुनाता। पर, कहते-कहते स्वयं मेरी आँखें गीली हो उठतीं। हृदय भीतर-ही-भीतर रो पड़ता।

मोहका कैसा प्राबल्य !

× × × ×

स्वजनों, आत्मीयों, सगे-सम्बन्धियों, हितू-मित्रोंके लिये ही मेरे हृदयमें मोह भरा हो, ऐसी बात नहीं। कागजकी छोटी-छोटी चिटोंतकसे मुझे मोह है। छदाम-छदाम, दमड़ी-दमड़ी तककी चीजोंके प्रति मेरा मोह है।

× × × ×

उस दिन कानपुरसे आ रहा था काशी।

लड़ाईका जमाना। ट्रेनोंमें भीड़का पार नहीं। बड़ी मुश्किलसे एक डिब्बेमें घुस पाया।

मेरे बाद ही एक दम्पतिने डिब्बेमें प्रवेश किया।

ठसाठस भीड़में दबकर वह दुर्बल युवती साँस लेनेके लिये छटपटाने लगी।

बेहोश होते देख मैंने उसे हवा की। लोगोंसे प्रार्थना कर उसके लिये थोड़ी जगह बनायी। कुछ देरमें वह स्वस्थ हो गयी।

इस प्रसङ्गको लेकर उक्त दम्पतिसे मेरा कुछ परिचय हो गया।

सबेरे इलाहाबादमें दूसरी तरफ सीटें खाली होते देख हमलोग उधर चले गये।

और तभी पिण्डदानके लिये जानेवाले गयाके यात्रियोंने बड़ी बेरहमीसे डिब्बेमें अपना सामान फेंकना शुरू किया।

मेरी एक चप्पल उस सामानमें दब गयी।

मुश्किलसे उसे निकाल पाया।

दूसरी ओर जाकर बैठते ही मेरी नजर बाँये हाथपर पड़ी।

अरे, यह क्या! हाथमें पट्टा तो बँधा है पर घड़ी नदारद !

× × × ×

मैं सन्न हो गया।

पलभरमें रिस्टवाचके मोहने बुरी तरह मुझे जकड़ लिया।

बिना घड़ीके अब कैसे चलेगा ?

दफ्तर जाने, खाने, पीने, सोने—सबके लिये

तो मैं घड़ीपर आश्रित था । यह सब अब कैसे होगा ?

नयी घड़ी खरीदूँ तो पैसे कहाँ ? उस समय तो यह 'सेकण्ड्स' शायद १५) में ही मिल गयी थी, पर आज तो सत्तरसे कमका नुस्खा नहीं !

जान पड़ता है कि जब मैं नीचे झुककर चप्पल ढूँढ़ रहा था तभी किसीने सफाईसे घड़ी पार कर दी !

× × × ×

चमड़ेका पट्टा एक तरफ कटा था ।

सेफ्टीरेजर उसपर चला हो, ऐसा तो नहीं लगता था । फिर भी कटा तो वह था ही । हो सकता है किसीने घड़ी खींची हो तो कट गया हो ।

एक विचार यह भी आया कि कहीं ऊपरसे गिरे सामानके बोझसे पट्टा न कट गया हो । वैसी हालतमें घड़ी कटकर नीचे गिरी होगी, पर सामानोंके इस अंबारमें उसे खोज निकालना ही असम्भव है ।

× × × ×

हमारे वे दोनों सहयात्री भी घड़ीके लिये दुखी थे ।

पति-पत्नी दोनों समवेदना प्रकट कर रहे थे कि अचानक उक्त महिला बोली—'अपने पैरोंके नीचे देखिये तो वह क्या है ! आपकी घड़ी तो नहीं ?'

उसी समय बिजलीकी भाँति मेरे दिमागमें भी यह विचार कौंधा कि कहीं घड़ी उधरसे छिटककर इधर न आ रही हो !

कल्पना सही उतरी ।

प्रभुको मैंने असंख्य धन्यवाद दिये—घड़ी मिल जानेके लिये ! पर, मेरा घड़ीका मोह तो नंगा होकर मेरी आँखोंके आगे नाच ही उठा ।

घड़ी अब भी है मेरे पास । पर, बाँधना तो उसका मैंने तभीसे छोड़-सा रक्खा है । बन्धन घड़ीका भी अच्छा नहीं, यह सोचकर ।

× × × ×

सन् ३० का आन्दोलन छिड़ा ।

कालेज छोड़कर मैं भी उसमें कूद पड़ा ।

पिताजी मेरे दुर्बल कंधोंपर घरका बोझ ला[illegible] चल दिये, फिर भी आन्दोलनका चस्का मुझसे न छू[illegible] जेल भी गया । छूटकर फिर उसी धुनमें रमा रहा ।

पर इस बीच कुछ खट्टे-मीठे अनुभव भी हुए ।

एक चीज खटकी और बुरी तरह खटकी—[illegible] सेवकोंमें श्रेणी-भेद ।

देखा, जो बड़े घरका है, पैसेवाला है, उसकी [illegible] कद्र है । हम-जैसे अकिंचनोंको कोई पूछने[illegible] भी नहीं ।

पैसेकी ही नहीं, डिग्रीकी भी कद्र होते मैंने दे[illegible]

जो लोग कालेज-शिक्षाका बहिष्कार [illegible] डिग्रियोंका विरोध करते, उन्हें भी डिग्रियोंका भक्त दे[illegible]

मेरे पास न धन था, न डिग्री ।

ईमानदारीसे धनी बनना तो सम्भव नहीं, [illegible] अलबत्ता प्राप्त की जा सकती है ।

और तभीसे मेरे मनमें डिग्रीके प्रति मोह पैदा हु[illegible]

× × × ×

फर्स्टईयरसे ही कालेज छोड़ा था । घरपर र[illegible] बिना पूरी पुस्तकोंके दिन-रात जी-जानसे, [illegible] लालटेनमें कागज चिपकाकर पढ़ते हुए इण्ट[illegible] परीक्षा दे डाली ।

पर बी०ए०में गाड़ी अटक गयी ।

३६से४६—दस साल लग गये । कारण, [illegible] विश्वविद्यालय प्राइवेट बी०ए०में बैठने देता नहीं । [illegible] मैंने एक जगह अध्यापकी कबूल की ।

गृहस्थीका भार सिरपर । दिनमें पढ़ाता, [illegible] कलम घिसकर रोटियाँ कमाता ।

'मरेकोे मारें शाह मदार ।' अभी गाड़ी चाल[illegible] चार ही पाँच महीने बीते थे कि दफ्तरमें कुछ स[illegible]

आ गया और 'स्वाभिमान' नामक विषैले जन्तुको ठेस लगते देख मैंने स्तीफा दे दिया !

× × × ×

नौकरी तो दूसरी जगह भी मिल रही थी, पर उसके लिये शहर छोड़ना पड़ता और शहर छोड़नेका मतलब था डिग्रीका मोह छोड़ना ।

स्कूलके अधिकारी मेरी गरज जानते थे । वेतनके नामपर खातेमें दस रुपये लिख लेते थे और मेरी पत्नीके नाम दस रुपये दानकी रसीद मेरे हवाले करते ?

हिसाब-किताबका काम मैंने पाँच साल किया था। एक स्टोरमें मेरे एक मित्र मैनेजर थे । बोले—'हमारे यहाँ हिसाबका काम है । तुम कर लो ।'

डूबतेको तिनकेका सहारा !

सबेरे नौ बजे घरसे निकलता । दससे सवा दो-तक स्कूलमें पढ़ाता, वहाँसे स्टोर जाकर तीनसे आठ बजे राततक काम करता । नौ साढ़े नौपर घर लौटता । रोज बारह मीलका चक्कर !

जाड़ेके दिन । पैरोंमें बिवाई फट गयीं और उससे खून निकलने लगा ।

रातको बुआ मोम पिघलाकर जब बिवाईपर छोड़तीं, तब रोम-रोम चिल्ला पड़ता—

'जाके पाँव न जाय बिबाई ।
सो का जानै पीर पराई ॥'

× × × ×

स्कूलसे स्टोर जाते समय रोज मैं अपनेसे पूछता—क्या तुझे बी०ए०की डिग्रीका इतना मोह है कि उसके लिये तू इतना कष्ट झेलता है ? क्या रखा है वित्तेभर कागजमें ? बी०ए०का पुछल्ला लगाकर क्या तू आसमानपर चलने लगेगा ?

और तभी भीतरसे कोई जवाब देता—अब डिग्रीका प्रश्न कहाँ है ? अब तो सवाल ही दूसरा है । या तो इस कामको शुरू ही न करता और जब शुरू कर दिया, तब विघ्नोंसे क्या डरना ! 'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति !'

× × × ×

कोई तीन माह बाद विघ्नोंके बादल फट गये ।

कायदेके अनुसार अठारह मासतक अध्यापन करा लेनेके बाद मेरे हाईस्कूलके हेडमास्टर साहबने मेरी अर्जीपर दस्तखत किये और जनवरीमें मुझे छुट्टी दी कि पढ़कर मार्चमें परीक्षा दे दूँ !

× × × ×

शुरू किये कामको बीचमें नहीं छोड़ना चाहिये, यह विचार तो अच्छा है । मैंने इसका सहारा लेकर विघ्नोंको झेला, यह भी बुरा नहीं किया; परंतु आज जब तटस्थ वृत्तिसे इस प्रसङ्गपर विचार करता हूँ, तब लगता है कि डिग्रीके मेरे मोहने ही उस समय यह आकर्षक छद्मरूप धारण कर लिया था, नहीं तो, बी०ए०के बाद मैं एम्०ए०के लिये क्यों दौड़ता ?

और एम्० ए० होनेके बाद पी-एच्०डी०का मोह मुझे सता रहा है !

डाक्टर बननेके इस मोहको बार-बार उठाकर ताकपर रखनेकी कोशिश करता हूँ । देखूँ, इसमें सफल हो पाता हूँ या नहीं !

× × × ×

संत फ्रांसिस अपने शरीरको 'गदहा भाई' कहते थे, पर मैंने तो इन 'गदहा राम'को 'घोड़ा-राम' बना रखा है और सारी इन्द्रियाँ इन्हींको सौंप रखी है । नतीजा यह है कि ये मुझे जैसा चाहते हैं, नचाते हैं और मेरा सारा जीवन इन्हींका खुरेरा करनेमें बीत रहा है ।

एकाध बार भागीरथीके तटपर घंटों बैठकर मैंने सोचा कि—

'सो तनु राखि करब मैं काहा।
जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा॥'

आदर्शोंके अनुकूल जो शरीर नहीं चल पाता, उसे जल-समाधि क्यों न दे दी जाय!

पर यह काम भी कोई दाल-भातका कौर है?

मेरे एक मित्र एक बार जीवनसे ऊबकर रेलकी पटरीपर जा लेटे, पर इंजिनकी रोशनी देखते ही सरपर पाँव रखकर भागे!

विचारोंके बवंडरमें मैं बुरी तरह फँस गया।

क्या होगा मेरे मरनेके बाद? जिस परिवारकी जिम्मेवारी मेरे मत्थे है, उसकी स्थिति कैसी होगी?

लोग कहेंगे कि कैसा कायर था, नालायक था, जो जीवनके संघर्षोंसे ऊबकर गङ्गामें डूब मरा!

और फिर, शास्त्रोंमें कितनी निन्दा की गयी है आत्महत्याकी। कितने भयंकर नरकोंकी यातना भोगनी पड़ती है!

छिःछिः, ऐसा घृणित पाप नहीं करना चाहिये।

यह ठीक है कि भगवान्‌ने यह रत्न-चिन्तामणि शरीर दिया है सत्कर्म करनेके लिये, इससे दुष्कर्म न होना चाहिये, पर इसका मतलब यह थोड़े ही है कि कोई गलती हो जाय तो इस शरीरको ही समाप्त कर दिया जाय।

गलती बुरी चीज है।

पर, गलती हो जानेपर 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी!' ऐसा मानकर शरीरका अन्त करना तो उससे भी बुरी चीज है।

गलती हो तो उसका प्रायश्चित्त किया जाय।

और इससे बढ़कर दूसरा प्रायश्चित्त हो ही क्या सकता है कि जो गलती एक बार हो जाय, उस[illegible] पुनरावृत्ति न की जाय।

और यही मुझे करना चाहिये।

कई दिनोंके गम्भीर हृदय-मन्थनके बाद मैंने आ[illegible] हत्याके विचारको तिलाञ्जलि दे दी।

× × × ×

माना, आत्महत्या बहुत बुरी चीज है, उससे वि[illegible] होकर मैंने उचित ही किया, पर आज जब शा[illegible] चित्तसे सारी बातोंपर विचार करता हूँ, तब ऐसा [illegible] लगता है कि मेरे इस निश्चयमें शरीरका मोह [illegible] मूल था। शरीरके प्रति मेरी आसक्ति ही उस स[illegible] अपने पूरे वेगसे उमड़ पड़ी थी, जब उसने देखा कि—

"छूटत गाँव नगरसे नाता। छूटत महल अटारी!"

× × × ×

शरीरका यह मोह आज भी कहाँ कम हो सका है[illegible]

अब तो उल्टा ऐसा लगने लगा है कि ज्यों-ज्यों बाल पकने लगे हैं, आँखोंकी शक्ति क्षीण होने लगी है, शरीरमें त्रिदोष बढ़ने लगे हैं, अङ्ग-अङ्गमें शैथिल्य आ[illegible] लगा है त्यों-त्यों जीवनका मोह और ज्यादा बढ़ने लगा है।

शरीरका यह ममत्व घटनेके बजाय बढ़ता ही [illegible] रहा है।

घरका मोह, बाल-बच्चोंका मोह, रुपये-पैसे, ध[illegible] दौलतका मोह, मान-सम्मानका मोह—एक-दो मोह [illegible] जो गिनाऊँ। चारों ओर मोह-ही-मोहकी पलटन ख[illegible] है। मेरा रोम-रोम घिरा है मोहसे।

और यह तो है ही कि—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

× × × ×

सत्कथा

(रचयिता—श्रीरघुनाथप्रसादजी 'साधक')

(१)

सत्कथा यह कह रही है।
यतो धर्मस्ततो जयकी पुण्य धारा बह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(२)

बह रही है 'प्रेम'की गंगा निरन्तर पुण्य थलमें।
जीव मात्रोद्धारके हित पाप धोने विमल जलमें॥
वेगसे जिसके अहर्निशि
भित्ति अघकी ढह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(३)

व्रत 'अहिंसा'का दिया कल्याणकारी लोकको है।
'बुद्ध-गाँधी'ने मिटाया मानवोंके शोकको है॥
शोक-संतप्ता पुनः क्यों
राष्ट्रमाता रह रही है?
सत्कथा यह कह रही है॥

(४)

'सत्य' जीवन ध्येय पूरा, प्राण देकर कर दिखाया।
ध्येय-रक्षामें जिन्होंने हर्षयुत मरना सिखाया॥
उन्हींकी संतान अब क्यों
हा! असत्पथ गह रही है?
सत्कथा यह कह रही है॥

(५)

'शान्ति'का संदेश-वाहक, धर्मराज समान भारत।
'पथ-प्रदर्शक' विश्वका बन कर रहा संत्राण आरत॥
युद्धकी ज्वाला चतुर्दिक
आज उसकी दह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(६)

'त्याग'में ही भोगका आदर्श जिसने सार जाना।
भोग अतिथिका समादर, सिद्ध-साधन-मान, जाना॥

'शिबि-दधीची'की कथा
बन अमर बेली लह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(७)

'भक्ति'का भंडार पूरा था कभी, अक्षय कहानी।
अम्बरीष, दधीचि, शिबि, नृग, हो गये 'बलि-कर्ण' दानी॥

रोम रोम रमे रमापति,
अब न कुछ इच्छा रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(८)

'ज्ञान' गाथाएँ, कथाएँ, वेद-शास्त्र, पुराण गाते।
धर्म, कर्म, तपादिकोंका, सार संत हमें बताते॥

स्वार्थ-डूबी जाति निश्चय
'यातना-यम' सह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

(९)

भाव 'समता'का न होगा जिस समयतक विश्व 'साधक'।
'राम-राज्य' न बन सकेगा, प्रश्न होगा पूर्ण बाधक॥

'साधना' मेरी यही निज
शुद्ध सम्मति कह रही है।
सत्कथा यह कह रही है॥

यतो धर्मस्ततो जयकी पुण्य (दिव्य) धारा बह रही है॥
सत्कथा यह कह रही है॥

कामके पत्र

(१)

सबका स्वभाव एक-सा नहीं होता

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण ! आपका लंबा पत्र मिला। आपके साथ घरमें तथा बाहर किसीके भी स्वभावका मेल नहीं खाता, इसलिये आप सदा दुखी रहते हैं और ऐसा मानते हैं कि किसीके द्वारा भी आपके मनकी आशा कभी पूरी नहीं हो सकती, सो ठीक ही है। सबके स्वभावका मेल खाना कभी सम्भव नहीं है। प्रकृतिकी विषमतासे ही जगत् बनता है। वस्तुतः इन विभिन्नताओंका नाम ही जगत् है। विभिन्न प्रकृति, विभिन्न स्वभाव, विभिन्न परिस्थिति, विभिन्न मनोवृत्ति आदि न हों तो जगत् ही न रहे। जैसे जगत्में पूरी एक समान आकृतिके दो मनुष्य नहीं मिलते, वैसे ही सर्वांशमें एक-से स्वभावके दो मनुष्य नहीं हो सकते। यह स्वभाव-भेद ही भगवान्की विचित्र सृष्टिका एक सौन्दर्य है। आपको दुःख इसीलिये होता है कि आप सबका स्वभाव अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं और सबसे अपने स्वभावके अनुकूल ही अपनी सुखकी आशा पूरी कराना चाहते हैं।

क्या आपका स्वभाव घर तथा बाहरवालोंके सर्वथा अनुकूल है? क्या आप उन सबकी आशा उनके स्वभावानुसार पूर्ण करते हैं? यदि नहीं, तो फिर आप उनसे ऐसी आशा क्यों करते हैं? यह आशा ही सारे दुःखोंका मूल है। 'दूसरे प्राणियोंसे, पदार्थोंसे, स्थितियोंसे मुझे सुख मिलेगा'——यह आशा बिल्कुल छोड़ दें। आप स्वभावसे सुखी हैं, आत्माका स्वरूप ही नित्य सुख है। दूसरोंसे आशा करके आप स्वयं दुःखोंको बुलाकर दुखी होते हैं। दूसरोंका स्वभाव बदलनेकी इच्छा मत कीजिये, स्वयं अपने स्वभावको बदलिये। दूसरोंके स्वभावमें अनुकूलताका अनुभव कीजिये। दूसरोंके स्वभावको अपने अनुकूल बनानेका भी यही परम साधन है कि आप प्रतिकूल स्वभाववालेके द्वारा सुख प्राप्त करनेकी आशाको सर्वथा छोड़ दें।

प्रतिकूल स्वभाववालेका विनाश देखनेकी कभी-कभी क्षीण-सी इच्छा होती है, सो इसमें क्या आश्चर्य है? प्रतिकूलतामें द्वेष होता है और द्वेष्य वस्तुके विनाशकी इच्छा सहज ही होती है। पर इसे कभी-कभी होनेवाली 'क्षीण-सी इच्छा' नहीं समझनी चाहिये। 'क्षीण' रूपमें तथा 'कभी-कभी' तो आप उसे देख पाते हैं, वस्तुतः तो वह मनमें समायी तथा छायी है। पर यह है बहुत ही बुरी चीज! विरोधी स्वभाववालेका विनाश तो उसके प्रारब्धमें होगा, तभी ही होगा, पर उसका विनाश चाहनेवालेका बुरा तत्काल हो जाता है। दूसरेके बुरेकी इच्छा करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। वह तो रात-दिन जलता रहता है। और वह ज्यों-ज्यों अपने विरोधी स्वभाववालेका विरोध करता है, उसे दुःख पहुँचाने या गिरानेका प्रयत्न करता है, ज्यों-ज्यों उसके मनमें घृणा, द्वेष, क्रोध और हिंसाके भाव उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं, त्यों-ही-त्यों उसके विरोधीमें भी ठीक वैसे ही विरोधी तथा दूषित भाव उत्पन्न होते तथा बढ़ते रहते हैं। परिणाममें दोनोंका जीवन दुःखमय बन जाता है। विरोधी स्वभावको अपने अनुकूल बनाना हो तो उसके स्वभावके प्रति सम्मान, प्रेमका भाव धारण करना चाहिये और उसके विरोधी स्वभावकी आलोचना या उसपर टीकाटिप्पणी न करके उसके अन्य गुणोंकी प्रशंसा तथा उनके लिये उसका सम्मान करना चाहिये।

वही मनुष्य श्रेष्ठ है और वही वस्तुतः सुखी है, जो बड़े-से-बड़े विरोधी स्वभाववाले प्राणी-पदार्थके स्वभावसे

अपने स्वभावको विचलित नहीं होने देता। जिसका स्थिर, शान्त, प्रेमपूर्ण उदार स्वभाव किसी भी परिस्थितिमें डिगता नहीं वरं अपनी सत्य, सुन्दर स्वभाव-निष्ठासे जो विरोधी स्वभाववालेको अनुकूल बना लेता है, जिसका चित्त विरोधी स्वभावके प्राणी-पदार्थोंके सामने आनेपर क्षुब्ध हो जाता है, चञ्चल होकर विकारी बन जाता है और विरोधीके प्रति घृणा करके उसका अनिष्ट-चिन्तन करने लगता है, ऐसे निर्बल चित्तका मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और न वह परमार्थ-साधनके मार्गपर ही आगे बढ़ सकता है।

दूसरेके स्वभावको सहन करके उसका हितचिन्तन करनेवाला मनुष्य भगवान्‌के मार्गपर निश्चित आगे बढ़ता है। कदाचित् ऐसा न हो और किसीका स्वभाव इतना दूषित जान पड़े कि उसका सहन करना असह्य हो जाय तो वहाँ करुणहृदयसे करुणामय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'प्रभो! इस भूले हुए प्राणीको आप सद्‌बुद्धि दें, जिससे इसके दुःखोंका नाश तथा इसका परम हित हो और मेरे स्वभावको ऐसा निर्मल तथा सुदृढ़ बना दें कि वह किसी भी स्थितिमें आपकी मधुर स्मृतिको छोड़कर—किसीके स्वभावके कारण पूर्ण क्षुब्ध न हो।' हृदयकी सच्ची प्रार्थनाको भगवान् पूरी करते हैं।

फिर, एक बात यह भी है कि आपके स्वभावसे जो प्रतिकूल है, वह वस्तु अच्छी नहीं है, सो बात नहीं है तथा न यही बात है कि जो वस्तु आपके लिये अनावश्यक है, वह दूसरेके लिये भी अनावश्यक ही हो। संसारमें विभिन्न रुचि तथा प्रकृतिके मनुष्य हैं और उनकी विभिन्न रुचियोंके अनुसार विभिन्न स्वभावके प्राणी-पदार्थ हैं तथा यथास्थान तथा यथाधिकार उन सभीकी उपयोगिता है।

अतएव जो सबके स्वभावके अनुकूल होकर, सबसे हिल-मिलकर रहता है। काम-क्रोध-लोभ, भय-विषाद आदि जिसके चित्तको कभी चलायमान नहीं कर सकते। किसीसे भी किसी प्रकारके सुखकी आशा न करके जो सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है, सबके साथ रहते हुए ही जो नित्य निर्विकार, तथा आनन्दमग्न रह सकता है, वही सच्चा साधक और वही नित्य-सुखके मार्गपर आरूढ़ है। समस्त चा संसार मङ्गलमय भगवान्‌की अभिव्यक्ति है, सारे भ मूल उद्गम भगवान् ही हैं। यहाँ जो कुछ है, भग हैं, जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की लीला है। सभीमें आनन्दमय भगवान् भरे हैं यों मानकर प्रत्येक परिस्थितिमें, प्रत्येक संयोग-वियोगमें, प्र अनुकूल-प्रतिकूल स्वभावमें क्षोभरहित, निर्विकार, और सुखी रह सकता है, वही सुखी है और उ परम सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। आप करेंगे तो सुखी हो जायँगे, यह निश्चित है। भगवत्कृपा।

(२)

संसारकी सुखमयता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृ मिला। उत्तरमें निवेदन है कि संसार दुःखमय भी है संसार दुःखलेशशून्य सर्वथा आनन्दमय भी है। ज भगवान्‌की विस्मृति है, जहाँ केवल विषय-भोगोंके करनेकी इच्छा, विषय-भोगोंसे सुखकी आशा तथा वि भोगोंमें प्रीति है, वहाँ संसार सर्वथा 'दुःखमय' है जहाँ संसारकी विषयरूपमें अप्रीति, विषयोंमें सुखबु का अभाव, भगवत्प्रीत्यर्थ ही विषय-सेवन, भगवत्-लील पूर्तिके लिये ही भोग-स्वीकार तथा संसारमें सर्वत्र स भगवान्‌की संनिधिका अनुभव है, वहाँ सं 'परमानन्दमय' है। वस्तुतः संसार आनन्दमय भगवा की ही अभिव्यक्ति है तथा यह भगवान्‌की ही आन मयी लीला है, इसलिये यह स्वरूपतः आनन्दमय है। दुःख तो सर्वत्र भगवान्‌की अनुभूतिके तथा स भगवान्‌की स्मृतिके अभावमें ही है। वस्तुतः स मङ्गलमय आनन्दमय भगवान्‌की सत्ता है, मङ्गल आनन्दमय भगवान्‌का आनन्द है तथा मङ्गलमय आन मय भगवान्‌के सौन्दर्यका प्रसार है। भगवान्‌के

मङ्गलमय आनन्दमय स्वरूपमें जिनकी दृष्टि है, प्रीति है और प्रतिष्ठा है, उनके लिये संसार आनन्दमय है एवं वे ही संसारमें भगवान्‌के आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करते हैं। कोई भी बाह्य स्थिति न तो उनके इस आभ्यन्तरिक नित्य आनन्दको हटा सकती है और न किसीको बाह्य स्थिति यह आनन्द प्राप्त ही करा सकती है।

संसारके विषय-भोगोंमें जिनकी आसक्ति नहीं, कामना नहीं, ममता नहीं तथा भगवान्‌में जिनकी आसक्ति, ममता तथा भगवत्-प्राप्ति या प्रीतिकी कामना है, वे विषय-भोगोंमें रहते हुए उनके स्पर्शसे अलिप्त रहते हैं और वह विषय-भोग भगवान्‌की पूजाकी सामग्री—भगवत्कार्यके साधन बनकर उन्हें नित्य भगवान्‌का सुख-संस्पर्श कराता रहता है। यों नित्य ब्रह्म-संस्पर्शको प्राप्त पुरुष नित्य ब्रह्म-सुखमें—भगवत्प्रेमानन्दमें निमग्न रहते हुए ही संसारमें भगवान्‌का कार्य करते रहते हैं।

इसके विपरीत बाहरसे जो विषय-भोगोंके त्यागी-से दीखते हैं और बाहरी त्यागके चिह्नोंको भी धारण करते हैं, पर जिनके मनमें विषयासक्ति, विषय-कामना तथा संसारके प्राणी-पदार्थोंमें इन्द्रियसुखार्थ ममता है, वे दुःखोंसे मुक्त नहीं हो सकते; क्योंकि भगवत्-विस्मृतिरूप परम दुःखमय संसारको उन्होंने मनमें बसा रक्खा है, उनके लिये संसार सदा दुःखरूप ही है।

इसके विपरीत, जिनके मनमें भगवान् बसते हैं, जो नित्य भगवत्सम्पर्कमें रहते हैं, जिनकी अहंता भगवान्‌की अनुगामितामें परिणत हो चुकी है, जिनकी सारी ममता भगवान्‌के चरणकमलोंमें केन्द्रित हो चुकी है, जिनकी आसक्ति भगवान्‌की स्वरूप-लीला-सम्पत्तिमें समाहित हो गयी है और जिनकी कामना केवल श्री-भगवान्‌के प्रेमराज्यमें ही विचरण करती है, उनका प्रत्येक कार्य भगवत्प्रीतिकी प्रेरणासे तथा भगवत्-संनिधि-की अनुभूतिमें होता है और उनकी प्रत्येक वस्तु भगवान्‌के प्रति समर्पित होकर धन्य हो जाती है, वे चाहे बाहरसे त्यागके चिह्न न धारण करते हों, पर वे ही यथार्थ त्यागी हैं। त्यागीको ही शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' और जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है; अतएव ऐसे पुरुषोंके लिये संसार सर्वथा सुखमय है; क्योंकि वह भगवान्‌का लीला-क्षेत्र है और प्राणि-मात्रके कल्याणके लिये होनेवाली मधुर लीलासे ओतप्रोत है। ऐसे ही पुरुष संसारमें धन्य हैं। इस दृष्टिसे संसारको आनन्दसे उत्पन्न, आनन्दमें स्थित और आनन्द-में ही विलीन होनेवाला जानकर आनन्दस्वरूपका अनुभव करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

खाली थीं हथेलियाँ

पन्ना मणि माणिक जटित द्युतिवारी बहु,
ऐसी सतखंडी संगमूसाकी हवेलियाँ।
भीतर सहेली, संग लीन्हे सोनबेलिन ज्यों,
डोलतीं नवल नवनीत-सी नवेलियाँ॥
धूमैं राग रंगनकी, द्वारे भीर मंगनकी,
सेना चतुरंगनकी होतीं ठकठेलियाँ।
हारे यों पहेली सो सुजन्म, जग छूटो जब,
'साधक' बतावैं दोऊ खाली थीं हथेलियाँ॥

—साधक मिश्र 'व्यास'

तीर्थवास

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'देव ! लगभग बीस वर्ष हो गये मुझे आपके इस पवित्र धाममें निवास करते; किंतु तीर्थकी प्राप्ति मुझे नहीं हुई ! मैं तीर्थवासी नहीं बन सका !' कोई दूसरा यह बात सुनता तो उपहास करता उनका; किंतु अवकाश किसे था उनकी बात सुननेका । यात्री आते थे—सैकड़ों यात्री आते थे और गरुड़स्तम्भको प्रणाम करके, उससे मस्तक लगाकर आगे बढ़ जाते थे श्रीजगदीशकी ओर । किसे पड़ी थी यह देखनेकी कि एक सफेद दाढ़ीवाला, गौरवर्ण, वलीपलित वृद्ध, पता नहीं कबसे, गरुड़स्तम्भके एक ओर ऐसे बैठा है, जैसे गिर पड़ा हो और फिर उठनेमें असमर्थ हो गया हो । उसके नेत्रोंकी बूँदें नीचेके सुचिक्कन पाषाणको धो रही थीं और उसके हिलते अधरोंसे जो अस्फुट शब्द निकलते थे, उन्हें या तो वह सुनता था या सुनते थे एक साथ उसके हृदयमें और उससे पर्याप्त दूर आराध्य पीठपर विराजमान श्रीजगन्नाथजी ।

'आप जगन्नाथ हैं और मैं आपके जगत्का ही एक प्राणी हूँ । आपका हूँ और आपके द्वारपर आ पड़ा हूँ ।' बार-बार वृद्धका कण्ठ भर आता था । बार-बार वह रुकता था, हिचकियाँ लेता और फिर-फिर मस्तक उठाकर बड़े कातर नेत्रोंसे आगे आराध्य पीठपर स्थित देवताकी ओर देखता था । 'आप मुझे मुक्त कर देंगे यह जानता हूँ—मुक्त होना कहाँ चाहता हूँ मैं । मुक्त तो वह श्वान भी हो जाता है, जिसपर पुरीकी पावन रज उड़कर पड़ जाती है । मैं आपके धाममें आया था तीर्थवास करने और वह आपके श्रीचरणोंमें आकर भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ ।'

'तुम तीर्थमें ही हो भद्र !' जगद्गुरु शंकराचार्य पधारे थे श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करने । मुझे स्मरण नहीं है कि पुरीके शांकर पीठपर आदि शंकराचा[र्यके] पश्चात् कितनी पीढ़ियाँ तबतक बीत चुकी थीं, कि[ंतु] वे पुरी पीठके श्रीशंकराचार्य और जगद्गुरु पी[ठ] एक महान् परम्परा सदासे रखता आया है । आत्म[ज्ञ], शास्त्रपारदर्शी, साधनसम्पन्न लोकोत्तर महापुरुष पा[ये] संसारने इस पावन पीठसे । उस समयके शंकराचा[र्य] उस वृद्धकी अपेक्षा तरुण थे; किंतु उनमें जो त्रि[...] वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा शास्त्रीय ज्ञानका अद्भुत [...] था—वृद्धने अवकाश नहीं पाया उठनेका, उसने [...] कर जगद्गुरुके चरणोंपर मस्तक रख दिया और [...] नेत्र-जलसे आचार्यके श्रीचरण प्रक्षालित हो गये ।

'प्रभो ! इस नीलाचल-धामकी भुवनपावनतामें कोई संदेह नहीं है ।' कुछ क्षणमें वृद्धने आश्वस्त हो[कर] दोनों हाथ जोड़ लिये । 'किंतु मैं इतना अधम हूँ [कि] बीस वर्ष यहाँ रहनेपर भी श्रीजगदीशकी कृपाका अ[नुभव] नहीं कर सका । तीर्थवास मुझे अब भी प्राप्त नहीं हु[आ ।']

'यह तीर्थमें है, पुरीकी पावनतामें विश्वास [...] है, फिर ?' जगद्गुरुके पीछे जो अनुगत वर्ग था—वह भी शास्त्रज्ञ विद्वानोंका वर्ग, किंतु उनमेंसे कई[के] मनमें यह प्रश्न उठा ।

'भावुकताके आधिक्यने मस्तिष्कको कुछ अव्यव[स्थित] कर दिया है ।' एक युवकने, जिनके शरीरपर [...] वस्त्र थे और जो सम्भवतः अभी अध्ययन करते हैं, अपने साथके अन्तेवासीसे धीरेसे कहा ।

'भद्र ! मैं श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करके शीघ्र [...] रहा हूँ ।' जगद्गुरुने किसीकी ओर ध्यान नहीं दि[या ।] लगता था कि आज वे इस वृद्धपर कृपा करने ही [...]

पधारे हैं। वृद्धके कंधेपर उनका करुण करकमल रखा था। 'तुम मेरे साथ आज आश्रम चलोगे ?'

आचार्यचरण उत्तरकी अपेक्षा किये बिना आगे बढ़ गये। वृद्ध स्थिर नेत्रोंसे उनके आगे बढ़ते चरणोंकी ओर देखता खड़ा रहा।

× × ×

'मैं पिताका कर्तव्य पूरा कर चुका, अब तुमलोगों-को पुत्रका कर्तव्य पूरा करना चाहिये।' ठाकुर समरसिंह आदर्श पिता रहे हैं, आदर्श जमींदार हैं और आदर्श क्षत्रिय हैं। पुत्रोंको उन्होंने शिक्षा दी, केवल पुस्तकों-की ही नहीं, व्यवहारका भी विद्वान् बनाया और अपनी नैतिक दृढ़ता उनमें लानेमें सफल हुए। पुत्र अब युवक हो गये हैं। दोनों पुत्रोंका विवाह हो चुका है और जमींदारी उन्होंने सम्हाल ली है। प्रजाके लिये यदि समरसिंह सदा स्नेहमय पिता रहे हैं तो उनके पुत्र सगे भाई हैं, परंतु अब समरसिंह पुरी जाकर तीर्थवास करना चाहते हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया और उनका निश्चय जीवनमें कभी परिवर्तित हुआ हो तब तो आज हो। पुत्रों, पुत्रवधुओं और प्रजाके सैकड़ों लोगोंको जो व्यथा आज हो रही है—उनका यह देवता-जैसा पिता क्या सचमुच इतना निष्ठुर है कि उनको छोड़कर चला ही जायगा ?

'पिताको पुत्रोंका तबतक रक्षण-शिक्षण और पालन करना चाहिये जबतक पुत्र स्वयं समर्थ न हो जायँ और पुत्रोंको समर्थ हो जानेपर पिताको अवकाश दे देना चाहिये कि वह भगवान्‌की सेवामें लगे।' समरसिंह स्थिर स्वरमें कहे जा रहे थे—'मैं अपना वह कर्तव्य कर चुका जो तुम्हारे प्रति था। अब मुझे परमपिताके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने दो।'

'आप यहाँ रहकर भजन करें तो·······' पुत्र अपने पिताको जानते थे, वे साहस नहीं कर सकते थे यह बात कहनेका। एक प्रजाजनने—एक युवकने किया था यह प्रस्ताव। यद्यपि सभीके हृदय यही प्रस्ताव करना चाहते थे; किंतु वाणी अवरुद्ध हो रही थी।

'तुम बच्चे हो न' समरसिंह उस युवककी ओर देखकर हँस पड़े 'पुरी—श्रीनीलाचलधामकी पावन महिमा अभी समझ नहीं पाते हो तुम और यह भी नहीं समझ पाते कि यहाँ रहनेके लिये जितनी शक्ति चाहिये हृदय-में, वह इस क्षुद्र प्राणीमें नहीं है। मैं श्रीनीलाचलनाथ-के श्रीचरणोंमें गिर जाना चाहता हूँ।'

बात बहुत बढ़ाने-जैसी है नहीं। प्रजाजनोंको, परिजनोंको, पुत्रोंको दुःख तो होना था ही; किंतु समरसिंह अपने निश्चयपर दृढ़ रहे। वे घर छोड़कर पुरी आ गये। अवश्य ही उन्होंने पुत्रोंका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया था कि शरीर-निर्वाहका व्यय वे पुत्रों-से ले लिया करेंगे और पुरीमें उनके निवासके लिये समुद्रकी ओर बस्तीसे दूर एक छोटी कुटिया भी उनके पुत्रोंने ही बनवा दी थी। बहुत अनुरोध करनेपर भी कोई सेवक साथ उन्होंने नहीं लिया।

प्रातः समुद्र-स्नान करके समरसिंह श्रीजगन्नाथजीके मन्दिर चले आते थे और रात्रिमें प्रभुके शयन होनेतक वहीं रहते थे। लौटते समय निश्चित पुजारी उन्हें महाप्रसाद दे देता था और इसके लिये उसे समरसिंहके पुत्र मासिक दक्षिणा दे दिया करते थे। कुटियापर लौटकर भगवत्प्रसाद लेते थे समरसिंह।

भगवद्धाममें निवास, भगवन्नामका जप, केवल एक बार भगवत्प्रसाद-ग्रहण—किसी दूसरेसे कुछ बोलनेका कदाचित् ही अवकाश मिलता था समरसिंहको; परंतु वे बोलते बहुत थे, जप कम करते थे और बोलते अधिक थे यह कहना अधिक उपयुक्त होगा। बोलते थे—प्रायः बोलते रहते थे गरुड़स्तम्भके पास बैठे-बैठे। रोते थे और बोलते थे—प्रार्थना करते थे, उलहना

देते थे, अनुरोध करते थे—परंतु उनका यह सत्र केवल जगन्नाथके प्रति था ।

'तुम कृपण हो गये हो ! मुझ एक प्राणीको तीर्थ-वास देनेमें तुम्हारा क्या बिगड़ा जाता है ? मेरे लिये ही तुम इतने कठोर क्यों हो गये ?' पता नहीं क्या-क्या कहते रहते थे समरसिंह । लेकिन उनका विषय एक ही था—तीर्थवास चाहिये उन्हें ।

× × ×

'जो दूसरेको अपनी संनिधिमात्रसे पावन कर दे वह तीर्थ ।' समरसिंहकी यह परिभाषा उनकी अपनी नहीं है । तीर्थकी यह परिभाषा तो सभी शास्त्र करते हैं; किंतु समरसिंहकी मान्यता है कि जबतक हृदयमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहङ्कार आदि-का लेश भी है, तीर्थमें रहकर भी तीर्थकी प्राप्ति नहीं हुई । यह समरसिंहकी परिभाषा है, आप भी इसे मान लें यह मेरा कोई आग्रह नहीं; किंतु वह भला आदमी तो कहता है—'देवता हुए बिना देवता नहीं मिलता । तीर्थस्वरूप बने बिना तीर्थकी प्राप्ति नहीं होती । केवल शरीर तीर्थमें चला गया या रहा, यह तीर्थवास नहीं है । तीर्थस्वरूप श्रीजगन्नाथजीके श्रीचरण हृदयमें प्रकट हो जायँ तो तीर्थवास प्राप्त हुआ ।'

एक अड़ियल ठाकुरने एक भारी भरकम परिभाषा बना ली और वह उसपर अड़ा है । श्रीजगन्नाथजी तो हैं ही ऐसे कि उनके साथ उलटी-सीधी, सबकी सभी हठ निभ जाती है; किंतु जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य इस बूढ़े क्षत्रियको अपने सिंहासनके पास इतने आदरसे बैठा-कर उसकी बातें इतनी एकाग्रतासे सुन रहे हैं, यह क्या कम आश्चर्यकी बात है ।

'ठाकुर, तुममें काम, क्रोध, मोह आदि कोई दोष है कहाँ ?' एक बार समस्त विद्वद्वर्ग चौंका । सम्मुख जो यह पागल-सा बूढ़ा बैठा है वह वासनाशून्य क्षीणकल्मष है ? जगद्गुरु तो कह रहे हैं—तीर्थमें हो, कबसे तीर्थवासी हो ।'

'मुझे अभी भूला नहीं कि मैं क्षत्रिय हूँ, मैं ... था । कोई अपमान करे तो कदाचित् मैं सहन ... कर सकूँगा और मेरे हृदयमें श्रीजगन्नाथजीके ... चरण........'

'नित्य विराजमान हैं वे दिव्यचरण तुम्हारे हृदय... यह दूसरी बात है कि उनकी उपलब्धि पिपासा बढ़ाती रहती है ।' आचार्यचरण वात्सल्यपूर्ण स्वरमें ... रहे थे—'समरसिंह ! संयम, सदाचार, तितिक्षा, ... एवं मनका दमन तथा सतत भगवत्स्मरण जिसमें है, ... तीर्थको पाया है । उसीका तीर्थवास सच्चा तीर्थवास ... यह तुम ठीक कहते हो और इसीलिये तुम तीर्थ... कर रहे हो । तुम तीर्थमें हो और तीर्थ तुममें ... तुम्हारा दर्शन दूसरोंको पवित्र करता है ।'

'देव ! प्रभो !' वृद्ध जैसे हाहाकार कर ... असह्य हो गया उसके लिये अपनी प्रशंसाको सुनना ...

'श्रीजगन्नाथजी तुम्हारे हैं न ?' जगद्गुरुने प्र... मोड़ लिया ।

'नहीं क्यों होंगे ।' समरसिंहके स्वरमें क्षत्रि... ओज आया—'वे जगत्के नाथ हैं और मैं उनके ... जगत्का हूँ—मेरे नाथ तो वे हैं ही ।'

'वे तुम्हारे हैं—इसीलिये तुम्हें तीर्थ नित्य ... हैं ।' जगद्गुरुकी व्याख्या समरसिंहसे भी अ... थी—'भगवद्विश्वास है तो तीर्थ सर्वत्र प्राप्त हैं ... उन तीर्थरूपमें विश्वास न हो तो प्राप्त तीर्थ भी अ... ही हैं ।'

'कल्याण'के विशेषाङ्क

संवत् १९८३-८४ कुछ नहीं है।

१ ला वर्ष—भगवन्नामाङ्क नहीं है।

२ रा वर्ष—भक्ताङ्क नहीं है।

३ रा वर्ष—गीताङ्क नहीं है।

४ था वर्ष—रामायणाङ्क नहीं है।

५ वाँ वर्ष—कृष्णाङ्क नहीं है।

६ ठा वर्ष—ईश्वराङ्क नहीं है।

७ वाँ वर्ष—शिवाङ्क नहीं है।

८ वाँ वर्ष—शक्ति-अङ्क नहीं है।

९ वाँ वर्ष—योगाङ्क नहीं है।

१० वाँ वर्ष—वेदान्ताङ्क नहीं है।

११ वाँ वर्ष—संत-अङ्क नहीं है।

१२ वाँ वर्ष—मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित) प्राप्य है। मूल्य ६॥), सजिल्द ७॥।)।

१४ वाँ वर्ष—गीता-तत्त्वाङ्क नहीं है।

१५ वाँ वर्ष—साधनाङ्क नहीं है।

१६ वाँ वर्ष—भागवताङ्क नहीं है।

१७ वाँ वर्ष—संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें सजिल्द प्राप्य है। मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

१८ वाँ वर्ष—संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क प्राप्य है। मूल्य ५≡), सजिल्द ६≡)।

१९ वाँ वर्ष—पद्मपुराणाङ्क नहीं है।

२० वाँ वर्ष—गो-अङ्क नहीं है।

२१ वाँ वर्ष—मार्कण्डेय-ब्रह्म-पुराणाङ्क नहीं है।

२२ वाँ वर्ष—नारी-अङ्क प्राप्य है। मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२३ वाँ वर्ष—उपनिषद्-अङ्क नहीं है।

२४ वाँ वर्ष—हिंदू-संस्कृति-अङ्क प्राप्य है। मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२५ वाँ वर्ष—स्कन्दपुराणाङ्क, केवल विशेषाङ्क प्राप्य है। मूल्य ७॥)।

२६ वाँ वर्ष—भक्त-चरिताङ्क, केवल विशेषाङ्क प्राप्य है। मूल्य ७॥) मात्र।

२७ वाँ वर्ष—बालक-अङ्क प्राप्य है। मूल्य ७॥)।

२८ वाँ वर्ष—नारद-विष्णु-पुराणाङ्क पूरी फाइल प्राप्य है। मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥।)।

२९ वाँ वर्ष—संत-वाणी-अङ्क प्राप्य है। मूल्य ७॥)।

३० वाँ वर्ष—(चालू वर्ष) सत्-कथा-अङ्क, वार्षिक मूल्य ७॥) है।

'कल्याण'के प्राप्य साधारण अङ्क

वर्ष		अङ्क		मूल्य
वर्ष १९ वाँ	साधारण अङ्क	—३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२,	मूल्य	।) प्रति
वर्ष २० वाँ	,,	,,—८, ९, ११, १२,	,,	।) ,,
वर्ष २१ वाँ	,,	,,—४, ९, १०, ११, १२	,,	।-) ,,
वर्ष २३ वाँ	,,	,,—२, ९, ११	,,	।=) ,,
वर्ष २४ वाँ	,,	,,—५, ७, ८, ११	,,	।≡) ,,
वर्ष २५ वाँ	,,	,,—७, ८, ९, १२	,,	।≡) ,,

उपर्युक्त कुल २९ अङ्क एक साथ लेनेपर रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ६)।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पंजाब प्रान्तके विद्यालयोंके संचालकों एवं अध्यापकोंसे नम्र निवेदन

पंजाब प्रान्तके शिक्षाविभागने गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें तथा 'कल्याण' मासिकपत्र स्वीकृत की है, जिसकी सूचना परिपत्रद्वारा सम्बन्धित अधिकारियोंको दी जा चुकी एवं राजकीय गजटमें निकल चुकी है।

आदेश संख्या ३६८-६-५५ बी ७१८०
दिनांक २२-२-५६

१–भागवत सुधासागर मू० ८॥)
२–अध्यात्मरामायण सटीक मू० ३)
३–गीता-तत्त्वविवेचनी मू० ४)
*४–उपनिषदोंका सेट मू० ८॥।≡)
५–श्रीरामचरितमानस सटीक मू० ... ७॥)
६–तुलसी विनय-पत्रिका सटीक मू० ... १)
७–तुलसी गीतावली सटीक मू० ... १)
८–तुलसी कवितावली सटीक मू० ... ॥–)
९–तुलसीदोहावली सटीक मू० ॥)
१०–सूर-विनयपत्रिका सटीक मू० ... ।॥=)

आदेश संख्या ६-१८-५४ बी २२४७
दिनांक २२-१-५५

१–स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा मू० ... ।=)
२–वीर बालिकाएँ मू० ... ≡)
३–महाभारतके कुछ आदर्श पात्र मू० ... ।)
४–भगवान श्रीकृष्ण भाग १ मू० ... ।–)
५–दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ मू० ≡)
६–उपयोगी कहानियाँ मू० ।–)
७–वीर बालक मू० ... ।)
८–बालकोंकी बातें मू० ... ।)
९–चोखी कहानियाँ मू० ।–)
१०–पिताकी सीख मू० ... ।=)

आदेश संख्या ६-१५-५५ बी १...
दिनांक १४-१२-५५

३०–बड़ोंके जीवनसे शिक्षा
३१–रामायणके कुछ आदर्श पात्र मू० ...
३२–सच्चे और ईमानदार बालक मू० ...
३३–गुरु और माता-पिताके भक्त बालक मू० ...
३४–भगवान राम भाग १ मू०
३५–भगवान राम भाग २ मू०
३६–भगवान कृष्ण भाग २ मू०
३७–श्रीमद्भगवद्गीता भाषा मू०
३८–पढ़ो, समझो और करो मू० ...
३९–भक्त बालक मू० ...

आदेश संख्या १४६९-५-१५-५५ बी १३२६० दिनांक ११-४-५५

'कल्याण' मासिक पत्र वार्षिक चन्दा ७॥) सजिल्द ८॥)

(सन् १९५६ के चालू विशेषाङ्क "सत्कथा-अङ्क" में ८६० सत्कथाओंका संकलन किया गया है। इसमें आर्टपेपरपर छपे हुए सुनहरे तथा बहुरंगे १७ एवं सादे ११६ चित्र हैं और इसकी पृष्ठ-संख्या ७०४ है।)

ये पुस्तकें तथा 'कल्यण' बालक-बालिकाओं तथा अध्यापकोंके लिये बहुत उपयोगी हैं। अतः इनका अधिकाधिक प्रचार करनेके लिये सभीसे प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

* ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर और छान्दोग्योपनिषद्

कल्याण
भगवान
वर्ष ३०
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१३, जून १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण ... भारतमें ... विदेशमें ... (१० ...

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर आषाढ २०१३, जून १९५६ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ३५५

घुटनोंके बल चलते हुए बाल राम

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गभीर जान जेहिं देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हियँ हरि नख अति सोभा रूरी ॥
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा ॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥

याद रक्खो—जैसे ईंधन तथा घीसे आग बुझती नहीं, पर और भी धधकती है, वैसे ही भोगोंसे मनकी कामना मिटती नहीं वरं और भी बढ़ती है। भोगोंसे मन कभी भरता ही नहीं। वस्तुओंसे कभी तृप्त होता ही नहीं। सारे जगत्की समस्त वस्तुएँ—पुत्र-परिवार, धन-ऐश्वर्य, अधिकार-पद, मान-कीर्ति प्राप्त हो जाय तब भी वह तृप्त नहीं होगा——शान्त नहीं होगा।

याद रक्खो—जबतक मनमें अशान्ति है, तबतक न तो सुखकी प्राप्ति होगी, न आनन्दका ही अनुभव होगा। जैसे अशान्त वायुमें दीपक हिलता रहता है और समीपकी वस्तु भी यथार्थरूपमें नहीं दीखती; इसी प्रकार व्यग्र और अशान्त मन नित्य अपने समीपमें स्थित परम वस्तु भगवान्को और उनके अखण्ड सुख-स्वरूपको नहीं देख पाता तथा बाहर सारे जगत्में खोजता फिरता है। इसलिये मनको इच्छारहित करनेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—संतोषसे ही इच्छाका नाश होता है। संतोष न तो आलस्यका नाम है, न उद्यमहीनताका और न असफल-जीवनकी निराशाका ही। वस्तुकी बड़ी चाह थी; प्रयत्न करके थक गये—नहीं मिली, चलो संतोष करो—यह संतोष नहीं है। मनमें इच्छा बनी है तबतक संतोष कैसा। संतोष तो सुख तथा आनन्द-की अनुभूतिका परम साधन है, जो भगवान्के मङ्गल-विधानपर विश्वास करनेसे या आत्माकी नित्य-सुखरूपतामें स्थित होनेसे प्राप्त होता है।

याद रक्खो—अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम ही असंतोष है। अप्राप्त वस्तुके लिये आतुर रहना और नित्य प्राप्त वस्तुमें आनन्द न [illegible] असंतोष है। आत्मा नित्य प्राप्त है, वह अस[illegible] मुक्त है और परम सुखरूप है। उस आत्मामें [illegible] रहना संतोष है। आत्मस्वरूपमें रमण करो [illegible] किसी बाहरी वस्तुकी इच्छा न करो। बस, [illegible] हो जाओगे।

याद रक्खो—शरीरके प्रारब्धानुसार संसारमें [illegible] पदार्थ मिलना है, वह बिना इच्छा किये—बिना [illegible] हुए भी मिलेगा ही और जो प्रारब्धमें नहीं है, [illegible] लाख रोने, आर्तनाद करने या विविध उपाय करने[illegible] भी नहीं मिलेगा। अपने पूर्वकृत कर्मके अ[illegible] भोगकी प्राप्ति होगी। वस्तुतः जो बोया है, [illegible] काटना है।

याद रक्खो—परम सुखकी प्राप्तिके लिये इच्छाका[illegible] ही त्याग करना आवश्यक है। परंतु सम्पूर्ण इच्छा-त्या[illegible] अभ्यास करनेवालेको पहले दूसरेकी निन्दा, दु[illegible] अहित, परधन, परस्त्री, दम्भ, दुराचार, वैर, [illegible] संग्रह-परिग्रह और परायी वस्तुमात्रकी इच्छाका [illegible] करना चाहिये। जितनी ही बुरी इच्छाओंका [illegible] होगा, उतनी ही सदिच्छा उत्पन्न होगी; फि[illegible] सदिच्छाओंको भी भगवान्के अर्पण कर देना हो[illegible]

याद रक्खो—इच्छा जितनी ही कम होगी, उतना[illegible] सुख बढ़ता जायगा। जो वस्तु अप्राप्त है, उ[illegible] इच्छा न करो और जो प्राप्त है, उसका उपयोग [illegible] सुखके लिये न करके जगत्के लिये करो। [illegible] इच्छाका दमन होगा। जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें [illegible] है ही नहीं, यह दृढ़ भावना करो। इससे इच्[illegible] त्याग सहज ही हो सकेगा।

'शिव'

विचार-साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

इस जगत्‌में ज्ञान-जैसी पवित्र करनेवाली वस्तु दूसरी नहीं । यहाँ यज्ञ, दान, तप, सेवा, पाठ-पूजा, व्रत-उपवास, जप-ध्यान आदि जितने अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले साधन हैं तथा गङ्गा आदि तीर्थ भी जो पापका नाश करके मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं, इनमें कोई भी ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकते । ये सभी चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञान उत्पन्न करनेमें साधनरूप होनेके कारण पवित्रकारक माने जाते हैं । तप, पाठ-पूजा, तीर्थाटन आदि साधनमात्र हैं, परंतु ज्ञान साध्य है । तप आदिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इतनी ही इनकी चरितार्थता है; क्योंकि अन्तःकरणके निर्मल होनेके बाद ज्ञानके लिये कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता । अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ज्ञान तो अपने-आप प्रकट होता है; क्योंकि वह स्वयंभू है । शरीरमें सर्वत्र व्याप्त आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है और अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर आत्माका प्रतिबिम्ब उसमें ठीक-ठीक पड़ता है । यह आत्मदर्शन ही ज्ञान है ।

यह प्रसङ्ग चल रहा था कि इतनेमें वहाँ एक वयोवृद्ध पुरुष आये । प्रसङ्गकी समाप्ति तक बैठे-बैठे सुनते रहे । फिर बोले—'स्वामीजी ! आप जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो कोई सहज साध्य वस्तु नहीं दीखती । मैंने तो बहुत अध्ययन किया, बहुत अभ्यास किया, योगवासिष्ठ पढ़ा, विचारसागर बाँचा, पञ्चदशी भी देखी और उपनिषद्‌का भी स्वाध्याय किया, परंतु ज्ञान क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है—यह बात अभी समझमें नहीं आयी । तब फिर ज्ञानसे जन्म-मरणका बन्धन दूर होता है, यह बात कैसे समझमें आ सकती है ? इनके पढ़नेसे शब्दज्ञान जरूर हुआ और तर्कसे दूसरोंको अद्वैत ज्ञान भी समझा सकता हूँ, परंतु मेरे मनका समाधान नहीं होता कि वह ज्ञान क्या वस्तु है ? और उससे भव-बन्धन कैसे कटता है ? आप कृपा करके यह बात समझा दें तो मैं आया करूँ ।' उस दिन तो समय हो गया था, इसलिये दूसरे दिन जरा पहले आनेके लिये कहकर मैंने उनको विदा किया, और उसके बाद दूसरे सत्सङ्गी भी धीरे-धीरे जाने लगे ।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ पहुँचे और उचित शिष्टाचारके साथ सामने बैठकर बोले—

'आपकी आज्ञाके अनुसार मैं समयपर हाजिर हो गया ! अब कृपा करके मुझको ज्ञानका विषय समझाइये ।'

मैंने कहा—देखिये, कल मैंने यह बतलाया था कि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता; अन्तःकरण शुद्ध होनेपर वह अपने-आप प्रकट हो जाता है ।

अब देखिये ! प्रत्येक वस्तु अपने असली स्वरूपमें दीख पड़े—इसीका नाम ज्ञान है और इसके विपरीत जब वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें न आये तो उस स्थितिको अज्ञान कहते हैं । इस अज्ञानको शास्त्र 'अविद्या' नामसे भी पुकारते हैं और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेमें यह बाधक होती है । इस अविद्याका मूल चार प्रकारका है और उनमें फिर कितने ही दूसरे भेद उत्पन्न होते हैं । जो अपना स्वरूप नहीं है उसे अपना स्वरूप मानना । अर्थात् जो 'मैं' नहीं, उसको 'मैं हूँ'—ऐसा कहना; और जो 'मैं' है उसको 'मैं' नहीं,—ऐसा कहना । जो स्वभावतः अपवित्र है उसको पवित्र मानना और जो सदा ही पवित्र है उसको अपवित्र समझना । जो अजन्मा और अविनाशी है उसको जन्म-मरणके विकारसे युक्त मानना और जो निरन्तर क्षयशील है, उसको अजर-अमर बनानेका प्रयत्न करना । जो नित्य सुखरूप, आनन्दरूप है उसको दुखी मानना और जो कभी सुखरूप नहीं हो सकता, उसको सुख पहुँचानेमें जीवनको बर्बाद करना । यह अविद्या है । ज्ञान नित्य है, उसको उत्पन्न करना नहीं पड़ता, तथापि इस अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण ज्ञानका अनुभव नहीं होता । यह बात समझाते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'

अज्ञानके द्वारा ज्ञानके ढँक जानेपर प्राणी मोहको प्राप्त होते हैं । भगवान् कहते हैं कि ज्ञान नित्य है, फिर भी अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण मनुष्य अज्ञानमें भटका करता है । बादलके आ जानेपर जैसे सूर्य दीखता नहीं और न दीखनेपर कोई यह नहीं मानता कि सूर्य है ही नहीं, इसी प्रकार ज्ञानका दर्शन करनेके लिये ही अविद्याका

आवरण दूर करना है, ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता।

इस आवरणको दूर करनेके लिये योगवासिष्ठने विचारको मुख्य साधन बतलाया है। श्रीशङ्कराचार्य भी इसी साधनको बतलाते हुए कहते हैं—

'नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।'

पण्डितजी—हाँ, यह मैं जानता हूँ; यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है।

मैं—अच्छा तो उसका अर्थ भी आप ही कीजिये।

पण्डितजी—ज्ञानं विना विचारेण (वा) अन्यसाधनैः (किञ्चित्) नोत्पद्यते। अर्थात् ज्ञानके बिना वस्तुके विचारमात्रसे या दूसरे साधनोंसे कुछ उत्पन्न नहीं होता, यह इसका अर्थ है।

मैं—वाह पण्डितजी वाह! अपने नामको आपने सार्थक कर दिया। पण्डा सूक्ष्मबुद्धिः अस्य अस्ति स पण्डितः—जिसकी सूक्ष्म बुद्धि है वह पण्डित है। पण्डितजी! जरा विचारिये तो, आप स्वयं कहते हैं कि यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है। अनुभूतिका अर्थ है यथार्थ ज्ञान और वह भी परोक्ष नहीं, अपरोक्ष—अर्थात् अनुभवमें आया हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान। अब जहाँ अपरोक्ष ज्ञानका विषय चलता हो वहाँ साग-भाजी उत्पन्न करनेकी तो बात ही नहीं होनी चाहिये। आपने तो ऐसा ही अर्थ कर दिया। यहाँ तो ज्ञानकी बात है और अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता है, यह समझाना है। प्रसङ्गके अनुसार पदका अर्थ करना चाहिये, न कि अपनेको जैसा ठीक लगे वैसा। इस श्लोकार्द्धका यह अन्वय है—

'विचारेण विना अन्यसाधनैः ज्ञानं न उत्पद्यते।'

'विचारके बिना अन्य किसी भी साधनसे ज्ञानका उदय नहीं होता।' अविद्याका आवरण हटे, तब ज्ञानका उदय हो; इसलिये आवरणकी निवृत्तिके लिये भी विचार ही मुख्य साधन है।

आपको जो कठिनाई पड़ रही है वह यही है—'स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः'—जहाँ अपने-आप ही पोथी पढ़कर धीर गम्भीर विद्वान् हो जानेकी संतुष्टि होती है, वहाँ उसका ऐसा ही फल निकलता है। इसका परिणाम क्या होता है—यह आपको अज्ञात नहीं है, अतः आपको साधनसम्पन्न होना चाहिये।

विचारकी स्थिरताके लिये कुछ आश्रय चाहिये, बिना उसके वह कहाँ स्थिर रहेगा? अन्तःकरणमें तो [illegible] भोग-कामनाएँ भरी रहती हैं, तब फिर विचार [illegible] कहाँ रहेगा?

मान लीजिये कि आप यात्रामें निकले हैं। पासमें [illegible] लोटा है, उसमें आपने मट्ठा भर रक्खा है। अब [illegible] दूध लेना है। यदि आप मट्ठेके साथ दूध लेंगे तो [illegible] बिगड़ जायगा और इससे मट्ठा भी खाने योग्य नहीं रहेगा; इसलिये या तो आपको दूध पीनेका विचार छोड़ [illegible] चाहिये या मट्ठेका मोह त्यागना चाहिये। दोनों चीजें [illegible] पात्रमें नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार यदि तत्त्वज्ञान रूपी [illegible] पीना है तो अन्तःकरणमें भरे हुए भोगकामनारूपी [illegible] त्याग देनेसे ही छुटकारा है। यदि कामनाओंको न [illegible] सकें तो फिर तत्त्वज्ञानसे हाथ धोना पड़ेगा। दोनों [illegible] साथ नहीं रह सकते।

इसीलिये हमारे शास्त्रोंने साधन-चतुष्टयको ज्ञान [illegible] आवश्यक बतलाया है। इसलिये पहले तो विवेकके [illegible] सम्पूर्ण वैराग्ययुक्त बने, वैराग्ययुक्त होकर षट्सम्पत्ति [illegible] करे; क्योंकि वैराग्य न होगा तो षट्सम्पत्तिका दम [illegible] सकता है, अतएव वैराग्य तो प्रमुख साधन है। इससे [illegible] सच्ची मुमुक्षुता जाग्रत् होगी और तब थोड़े ही [illegible] आपको ज्ञानका साक्षात्कार हुए बिना न रहेगा।

फिर, विचारके लिये बुद्धिको एकाग्र तथा तीक्ष्ण [illegible] चाहिये। इसके लिये मल और विक्षेप—इन दो दोषोंको [illegible] करना चाहिये। इन दोनों दोषोंके दूर होनेपर सूक्ष्म [illegible] आवरण भङ्ग सहज ही हो जायगा।

पहले जो करना चाहिये, वह किया नहीं और [illegible] पढ़नेमेंही लगे रहे; इससे भला ज्ञान स्थिर कहाँसे हो [illegible] वाचनमें आनन्द अवश्य मिलता है, परंतु वह [illegible] आनन्द-जैसा ही है। विषय जैसे भोग-कालमें ही [illegible] देते दीखते हैं और पूर्व-उत्तरकालमें तो केवल [illegible] ही अनुभव होता है, इसी प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि [illegible] बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता है, इसलिये जबतक बाँचें [illegible] या चर्चा करते रहें, तभीतक ज्ञानका आनन्द मिलता [illegible] पूर्व-उत्तरकालमें ग्लानि ही रहती है, जैसे इस [illegible] आपको दीखता है, वैसे ही।

अब देखिये पण्डितजी! इस भावको श्रीशङ्कराचार्य [illegible] प्रकार वर्णन किया है—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥

वाणीके द्वारा धाराप्रवाह भाषण, या शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशलता तथा विद्वान् पुरुषकी विद्वत्ता मुक्ति प्रदान नहीं कराती, बल्कि केवल संसारके मायिक भोगोंको प्राप्त कराती है ।

अस्तु, विद्वत्ता और ज्ञानके बीच एक और महान् अन्तर है, वह भी समझने योग्य है । विद्वत्ता श्रमसाध्य है; प्रयत्नसे पुरुष उसको प्राप्त कर सकता है। सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप उसकी प्राप्ति हो सकती है ; परंतु ज्ञान कृपासाध्य है। जब ईश्वरकी और गुरुकी कृपा होती है, तभी विशुद्ध अन्तःकरणमें स्वयं ज्ञानका स्फुरण होता है । रूपकसे समझावें तो ज्ञान स्वयम्भू है और विद्वत्ताकी प्रतिष्ठा परिश्रम करके करनी पड़ती है ।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रबल पुरुषार्थकी या बहुत-से ग्रन्थोंके बाँचनेकी आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है अन्तःकरणको निर्मल करके दृष्टिको सम करनेकी ।

अब ज्ञान क्या है, यह समझनेकी चेष्टा करें । मैंने पहले कहा था कि वस्तुका सम्यग्दर्शन होना ही ज्ञान है। इसलिये मैं देह हूँ—और इस कारण देहके सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी—पदार्थ मेरे हैं—यह अज्ञानका स्वरूप है। और 'मैं आत्मा हूँ'—यह ज्ञानका स्वरूप है । 'मैं ब्रह्म हूँ' या 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा केवल बोलनेसे ही आनन्द नहीं मिलता, बल्कि इसका पक्का निश्चय हो जाना चाहिये और वह जीवनमें उतर जाना चाहिये । यह बात श्रीअध्यात्म-रामायणमें इस प्रकार समझायी गयी है—

बुद्धिप्राणमनोदेहाहंकृतिभ्यो विलक्षणः ।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम् ॥
येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे ।
विज्ञानं च तदेवैतत् साक्षादनुभवेद् यदा ॥

जिस (ज्ञानके) साधनके द्वारा 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और बुद्धि, प्राण, मन, शरीर और अहङ्कारसे विलक्षण हूँ'—ऐसा निश्चय होता है, वही 'ज्ञान' का स्वरूप है, यह श्रीरामचन्द्रजी स्वमुखसे कहते हैं । इस विलक्षणताका जब साक्षाद् अनुभव होता है, जीवनमें जब वह बात उतर आती है, तब वह 'विज्ञान' कहलाता है।

'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चित हो जानेपर 'मैं सत्-चित्-आनन्दरूप हूँ'—यह निश्चय हो जाता है । यह निश्चय हो जानेके बाद ऐसा अनुभव होने लगता कि 'मैं सत् हूँ'—इसलिये मेरा जन्म-मरण नहीं होता है; 'मैं चित् हूँ'—इसलिये चेतनस्वरूप होनेके कारण ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुझे भटकना नहीं है तथा मैं आनन्दस्वरूप हूँ; अतएव सुखकी प्राप्तिके लिये भोगसाधन इकट्ठा करना भी नहीं है ।

इसी प्रसङ्गको भगवान्ने उत्तरगीतामें इस प्रकार समझाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

जो योगी ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त हो गया है और इस प्रकार उसे जो करना था वह सब कर चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञानीको कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । यदि वह समझे कि कुछ कर्तव्य शेष रह गया है तो वह यथार्थ तत्त्वज्ञानी नहीं है । उसका ज्ञान परोक्ष है । अनुभव होनेके बाद तो कर्तव्यभ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है ।

इस प्रकार मैं आत्मा हूँ—यह अनुभव होनेके बाद तो बस आनन्द ही-आनन्द, चतुर्दिक् आनन्द ही है ! शरीर अपने प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोग भोगता है । वह हमें द्रष्टाभावसे देखते रहना है । इससे हमको कोई सुख-दुःख नहीं होता ।

आज हमने ज्ञान क्या है अर्थात् ज्ञानका सच्चा स्वरूप क्या है, इस सम्बन्धमें विचार किया और इस निर्णयपर पहुँचे कि 'मैं आत्मा हूँ' इतना ही ज्ञानका स्वरूप है, । ऐसा अनुभव होनेके बाद ज्ञानी सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है ।

कल हमलोग ज्ञानसे जन्म-मरणरूपी बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है इसका विचार करेंगे । इस बीचमें आप इस विषयपर खूब विचार करके देखें और कुछ समझना हो तो फिर पूछ लें ।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ गये और हमलोगोंने अपनी बात शुरू की । यह प्रसङ्ग कलकी अपेक्षा भी अधिक ध्यानसे समझने योग्य है, क्योंकि इसमें सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है । अतः ठीक सावधान होकर सुनिये ।

अब यह विचार कीजिये कि कौन जन्म लेता है । यह

स्थूल शरीर ही जन्म लेता है, यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, जब शरीर उत्पन्न होता है उस समय उसका कोई भी नाम नहीं होता। नाम तो हम अपने व्यवहारकी सुविधाके लिये पीछेसे रखते हैं। पश्चात् वही शरीर बड़ा होता है तो वह जवान कहलाता है और फिर जीर्ण होने लगता है तब वृद्ध कहलाता है। कालक्रमसे वह शरीर मृत्युको प्राप्त होता है, तब कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया। आप तो शरीरकी इन सारी अवस्थाओंको देखनेवाले हैं, अतएव शरीरसे भिन्न हैं। जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न होता है और घड़ारूप नहीं होता; उसी प्रकार आप भी शरीरको देखनेवाले हैं, इसलिये शरीरसे भिन्न हैं और किसी कालमें आप शरीर नहीं हैं। आप प्रतिदिन व्यवहारमें कहते हैं कि आज मेरा शरीर ठीक नहीं है, आजकल मेरा शरीर दुबला हो गया है, मेरा शरीर अब वृद्ध हो गया आदि। जैसे अपनी कलमसे या अपने कोटसे आप भिन्न हैं, इसी प्रकार अपने शरीरसे भी आपको भिन्न ही होना चाहिये! यह बात शास्त्रमें इस प्रकार समझायी गयी है। अतः इसका मनन करके 'मैं शरीरसे भिन्न हूँ और मैं शरीररूप हो सकता ही नहीं' ऐसा निश्चय कर लें—

घटद्रष्टा घटाद् भिन्नः सर्वथा न घटो यथा।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारयेत्॥

जब आप ऐसा निश्चय कर लें कि (निश्चय होना चाहिये, केवल बोलनेसे काम नहीं चलता) 'मैं शरीर नहीं, किंतु शरीरका द्रष्टा हूँ' तब फिर शरीरके जन्म लेने और मरनेसे आपको क्या लेना-देना है? कुत्ता अपनी पूँछ हिलाये या स्थिर रक्खे; इसमें देखनेवालेको जैसे कोई हानि या लाभ नहीं, उसी प्रकार शरीर जन्मे या मरे, इसमें आप देखनेवालेकी भला क्या हानि या लाभ हो सकता है, जो इसके जन्म-मरणका आप निवारण करें?

फिर शरीरके जन्म-मरणके निवारणका कोई उपाय ही नहीं है; क्योंकि शरीरकी अवधि तो उसके जन्मके पहले ही निश्चित हो गयी होती है। श्रीभागवतकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्तेऽपि मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्॥

अतः शरीरके जन्म-मरणकी निवृत्ति होनेवाली नहीं है। शुम्भ-निशुम्भ, रावण-हिरण्यकशिपु आदि तो महाबलवान् थे और मृत्युके निवारणके लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया था, तथापि उनको भी मृत्युकी शरण लेनी ही पड़ी। इस प्रकार शरीरका जन्म-मरण रोका नहीं जा सकता। आप तो शरीरके जन्म-मरण आदि षट् विकारोंके देखनेवाले हैं, इसलिये आपका अपना तो जन्म-मरण है नहीं, अतः उसकी निवृत्तिके लिये आप परिश्रम क्यों करें?

पण्डितजी—अब मैंने समझा कि शरीर ही जन्मता और शरीर ही मरता है, इसलिये मेरा जन्म-मरण है नहीं; परंतु आपने मुझको शरीरका द्रष्टा बतलाया तो फिर शरीरके व्यवहारको देखनेवाला मैं हूँ कौन?

मैं—पण्डितजी! बहुत अच्छा प्रश्न किया? द्रष्टा स्वभाव शास्त्रोंने जो समझाया है उसे सुनिये—

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ।
दृग्ब्रह्म दृश्यमायेति सर्ववेदान्तडिण्डिमः॥

अर्थात् इस जगत्में दो ही पदार्थ हैं और दोनों एक दूसरेसे भिन्न स्वभाववाले हैं। एक द्रष्टा है और दूसरा दृश्य। द्रष्टा यानी ब्रह्म या परमात्मा अथवा आत्मा और दृश्य यानी माया अथवा उसका कार्य यह नामरूपात्मक जगत्। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, भगवान् आदि शब्द भिन्न-भिन्न हैं, परंतु ये सभी एक ही परम तत्त्वके वाचक हैं। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि आप आत्मा हैं, फिर आपका जन्म-मरण कैसे हो सकता है, जो आपको उसकी निवृत्ति करनी पड़े!

पण्डितजी—'अब मैंने समझा कि मैं आत्मा हूँ। फिर कर्म कौन करता है? शरीर तो जड है, और आत्मा निष्क्रिय तथा शान्त है। फिर उन कर्मोंका फल भोगनेवाला कौन है? तथा उन कर्मोंको भोगनेके लिये उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेनेवाला कौन है? ये प्रश्न उलझे ही रह जायँगे। अतएव इन प्रश्नोंका जबतक समाधान नहीं होता, तबतक 'मैं आत्मा हूँ'—यह निश्चय कैसे हो सकेगा?'

मैं—'वाह! पण्डितजी वाह! अब आपकी गाड़ी लीकपर आ गयी और ऐसा लगता है कि आपने बात ठीक समझ लिया है। यह प्रसङ्ग पूर्वके प्रसङ्गकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः ठीक एकाग्र होकर सुनिये।

देखिये, शरीर मरता है तब क्या होता है? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। जबतक प्राण अपान होकर वापस लौटता रहता है तभीतक शरीर जीवित रह सकता है, परंतु जब प्राण वापस नहीं लौटता

और चला ही जाता है, तब शरीर नाशको प्राप्त होता है। प्राणको जाते हुए तो आप आँखोंसे देखते हैं, परंतु दूसरे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ भी उसके साथ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं, वे आँखोंसे नहीं दीखते । प्राण पाँच हैं और उनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि—इस प्रकार कुल सत्रह पदार्थ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सत्रह पदार्थोंके समूहको 'सूक्ष्म-शरीर' या 'लिङ्ग-देह' कहते हैं।

अब इस सूक्ष्म-शरीरका स्वभाव समझिये, जिससे आपके प्रश्नका उत्तर मिल जायगा । यह सूक्ष्म शरीर भी स्वभावसे स्थूल-शरीरके समान जड ही है, परंतु पञ्च महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बने हुए लोहे या काठके समान अत्यन्त जड नहीं है। इनमें भी मन-बुद्धि शुद्ध सात्त्विक अंशोंसे बने हैं। अतएव वे स्थूल शरीरके समान बिल्कुल जड नहीं तथा आत्माके समान स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, परंतु मध्यभाववाले हैं। इस कारण वे आत्माके चैतन्यको अपनेमें ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार मन-बुद्धि आत्माके चैतन्यके द्वारा चेतनयुक्त होकर उस चेतनको प्राणद्वारा इन्द्रियोंमें पहुँचाते हैं और इस तरह सारा सूक्ष्म-शरीर चेतनयुक्त होकर स्थूल-शरीरको चेतनयुक्त कर देता है, क्योंकि सूक्ष्म-शरीर सारे स्थूल-शरीरमें व्याप्त होकर रहता है।

अब आप अपने प्रश्नोंका उत्तर एक-एक करके समझिये। यहाँसे मन-बुद्धि दो शब्दोंके स्थानमें केवल 'मन' शब्दका प्रयोग किया जायगा और उसमें दोनोंको साथ-साथ समझ लीजियेगा। आपका पहला प्रश्न है कि कर्मका कर्ता कौन है? अब देखिये—स्थूल-शरीर तो कर्मका कर्ता हो नहीं सकता; क्योंकि यदि वह कर्मका कर्ता होता तो प्राण निकल जानेके बाद भी वह कर्म करता हुआ दीख पड़ता, परंतु वैसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये स्थूल-शरीर तो कर्ता है ही नहीं।

तब क्या प्राण कर्ता है? यदि प्राणको कर्ता मानें तो स्वप्नावस्थामें या सुषुप्तिमें तथा मूर्च्छामें प्राण तो मौजूद रहता है, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता । इसलिये प्राण भी कर्ता नहीं है।

तब क्या इन्द्रियाँ कर्त्ता हैं? यदि इन्द्रियोंको कर्त्ता मानें तो स्वप्न तथा सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ तो रहती हैं, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। जाग्रत् अवस्थामें भी इन्द्रियाँ मनके सहयोगके बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं—यह प्रतिदिनके अनुभवकी बात है। आँखें खुली हों, तथापि यदि मन अन्यत्र लगा हो तो आँखें कुछ नहीं देखतीं तथा हम अनेकों बार कहते हैं कि 'मेरा मन अन्यत्र था इससे तुम्हारी बात मैं सुन न सका।' इसलिये इन्द्रियाँ भी कर्ता नहीं हैं।

अब बचे मन और बुद्धि, इसलिये वे ही सच्चे कर्ता हैं। एक बढ़ईके पास जैसे अपना काम करनेके लिये बँसूला, रन्दा, कुल्हाड़ी आदि साधन होते हैं, उसी प्रकार ये दस इन्द्रियाँ मनके साधनमात्र हैं और इसीसे इनका एक अर्थसूचक नाम भी है—करण। करण अर्थात् हथियार, औजार या साधन। जैसे बढ़ई लकड़ी गढ़नेके समय बँसूलेका उपयोग करता है और उसको चिकना करनेके लिये रन्देका प्रयोग करता है, उसी प्रकार मनको देखना होता है तो आँखका, सूँघना होता है तो नाकका और सुनना होता है तो कानका तथा चलना होता है तो पैरका और लेना-देना होता है तो हाथका उपयोग करता है । प्राणद्वारा वह सब इन्द्रियोंमें शक्ति पहुँचाता है, जिससे वे अपना-अपना काम ठीक कर सकें।

अब आपका दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मका फल कौन भोगता है? बिल्कुल दीपक-जैसी स्पष्ट बात है। व्यवहारमें बलराम माल मँगावें और प्राणलाल जकात दें, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार अम्बालाल दवा पियें और वासुदेवको जुलाब लगे, यह भी नहीं बनता; वैसे ही परमार्थमें भी जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, जैसे जो चोरी करता है वही जेल जाता है।

अब मन-बुद्धि ही कर्मका फल भोगते हैं, इस बातको युक्तिसे सिद्ध करें। जाग्रत् अवस्थामें मन बहिर्मुख होता है, इससे सुख-दुःखादि प्रपञ्च बाहर दीख पड़ते हैं। जब नींद आ जाती है, तब मन अन्तर्मुख हो जाता है और तब शरीरके अंदर ही जाग्रत् प्रपञ्चके-जैसा ही स्वप्नप्रपञ्च दीखता है। जब गाढ़ निद्रा आ जाती है, तब मन अपने उपादानमें लीन हो जाता है, यानी उस समय सुख-दुःखादि कोई भी प्रपञ्च नहीं दीखता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ मन उपस्थित होता है, वहीं प्रपञ्चका अनुभव होता है और उसकी अनुपस्थितिमें वह अनुभव नहीं होता। अन्वय यानी जहाँ मन है, वहाँ सुख-दुःखका भान होता है, जाग्रत्-स्वप्नमें मन उपस्थित रहता है, इसलिये वहाँ क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं; जब सुषुप्ति अवस्थामें मन लीन हो

जाता है, तब वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार सुख-दुःखरूपी कर्मफलका भोगनेवाला मन ही है।

यह बात बहुत ही महत्त्वकी है, इसलिये एक उदाहरण-से समझिये। एक व्यक्तिके हाथपर फोड़ा हो गया। और उसकी वेदनासे वह चिल्लाता है और खूब व्याकुल होता है। यों करते-करते थक जाता है और नींद आ जाती है, तब शान्त हो जाता है। नींद आनेपर वह स्वप्न देखता है कि वह जिस घरकी छतपर है उसमें आग लग गयी है। उससे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ धूप करता है; परंतु कहीं भी नीचे उतरनेका रास्ता नहीं दीखता। अन्तमें एक खिड़की दीख पड़ती है और इस प्रकार जलकर मरनेकी अपेक्षा खिड़कीसे कूदना ठीक समझकर जैसे ही कूदता है, वैसे ही वह जाग जाता है। जागते ही आग तथा वह घर अदृश्य हो जाते हैं और वह अपनेको चारपाईपर सोता हुआ पाता है। अब विचारिये कि जब उस व्यक्तिको नींद आ गयी थी तो क्या फोड़ेकी वेदना मिट गयी थी ? नहीं, वह तो ज्यों-की-त्यों थी; परंतु नींदमें वेदना भोगनेवाला मन वहाँ उपस्थित न था और इस कारण उस समय वेदनाका अनुभव नहीं होता था, केवल इतनी ही बात थी। उसी प्रकार स्वप्नगत आग-का दुःख और जल जानेका भय भी मन अन्तर्मुख था तभीतक लगता था, मनके जाग्रदवस्थामें आ जानेपर वह दुःख और भय अदृश्य हो गया; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला मन बहिर्मुख हो गया, अतः स्वप्न-प्रपञ्चके साथ उसका सम्बन्ध छूट गया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मका कर्त्ता जैसे मन-बुद्धि हैं, वैसे ही उस कर्मके फलको भोगनेवाले भी वे ही हैं।

आपका तीसरा प्रश्न यह है कि उच्च-नीच योनियोंमें जन्म कौन धारण करता है ? फलभोगकी तरह यह स्पष्ट है कि जिसको सुख-दुःख भोगना होता है, वही उन भोगोंके अनुरूप देह धारण करता है। इसमें तो कुछ सिद्ध करना ही नहीं है। एक शरीरका प्रारब्धभोग पूरा होते ही सूक्ष्म-शरीर उसको छोड़ देता है, क्योंकि फिर उस शरीरमें रहनेका उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर नये प्रारब्धको भोगने-के लिये उस भोगके अनुरूप वह दूसरा स्थूल-शरीर धारण करता है और उस शरीरके द्वारा भोग भोगता है। इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमन तो सूक्ष्म-शरीरका होता है, परंतु आत्मा अपने स्वरूपके अ[ज्ञानके] कारण भ्रमवश अपनेको उसके साथ आता-जाता मान[ता] है। मन-बुद्धिको कर्म करते तथा उसका फल भोगते दे[खकर] आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और [उनके] कर्त्ता-भोक्तापनको अपनेमें मानकर स्वयं कर्त्ता-भोक्ता [बन] जाता है। इस प्रकार स्थूल देहके जन्म-मरणको अपना [जन्म-]मरण मानकर उसका दुःख भोगता है। जब प्राण [क्षुधा-]तृषासे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं व्याकुलताका अ[नुभव] करता है। आत्माके इस प्रकारके भ्रमको शास्त्रोंने 'देहा[ध्यास'] अथवा 'जीवभाव' कहा है। प्रकृति या मन-बुद्धिके [साथ] एकात्मताका भ्रम ही जीवभाव है। इसीसे उसमें कर्ता-भो[क्तापन] प्रतीत होता है। इस देहाध्यास या जीवभावको छुड़ाना [हो] तो आत्माको उसका स्वरूप समझना चाहिये; जिससे [वह] अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाय।

कुछ लोग पूछते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आ[त्मामें] यह जीवभाव आया कहाँसे ? और कब आया ? यह [प्रश्न] तो सृष्टिके आदिसे है। हम विश्वको अनादि मानते हैं, [क्योंकि] वह कब उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं जानता; [जिस] जिसने देखा है उसने विश्वको चलते ही देखा है। [इसी प्रकार] आत्मामें जीवभाव भी अनादिकालसे ही चला आ रहा है।

आकाशसे जब पानी गिरता है, तब वह पूर्ण स्वच्छ हो[ता है]; परंतु पृथ्वीका संग होते ही उसमें दोष आ [जाता] है। यह दोष पानीमें स्वाभाविक नहीं है; [क्योंकि] स्वभावसे तो वह निर्मल था। अतएव यह म[लिनता] आगन्तुक होनेके कारण, फिर उस पानीको निर्मल [किया] जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे तो निर्मल है; परंतु विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही उससे विविध शरी[रोंका] संग होता आ रहा है, इस कारणसे उसमें इन शरी[रोंकी] मलिनता आ गयी है और इसी कारण उसमें 'जीव[भाव'] दृढ़ हो गया है। परंतु यह जीवभाव आगन्तुक है[, इसका] कारण स्वरूपगत नहीं है, इसलिये जीवभावकी निवृत्ति [हो] सकती है और मानव-शरीरकी सार्थकता भी इसीमें है।

इसलिये अब देहाध्यास या जीवभावकी निवृत्ति [कैसे] करें—यह देखना बाकी रहा। श्रीशङ्कराचार्य इस बा[तको] इस प्रकार समझाते हैं—

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥

यह रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है और इसी कारण रस्सी सर्परूप दीखती है। इसी प्रकार आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, इसी कारण शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित करके वह अपनेको जन्म-मरणवाला जीव मान बैठा है। अब यदि कोई आप्त पुरुष तेज प्रकाश लाकर हमें दिखलाये कि 'भाई! तुम जिसे सर्प मानते थे वह तो रस्सी है' तो उसी क्षण सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाय। उसी प्रकार यदि वेद-शास्त्र तथा गुरु-वचनसे आत्माका वह स्वरूप समझमें आ जाय तो उसी क्षण निश्चय हो जाय कि जीव होनेका तो भ्रम था। मैं तो शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलस्वरूप आत्मा हूँ।

अब आत्माको उसका स्वरूप कैसे समझावें, इसकी एक अद्भुत युक्ति श्रीअष्टावक्रजीने बतलायी है, उसे देखिये। वेद कहता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् यह जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप है, यह पहले निश्चय करे। फिर कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेन्नाहं ब्रह्मेति धी कुतः।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत् किमसंतोषकारणम् ॥

यह सब ब्रह्मरूप है, ऐसा निश्चय करनेके बाद 'मैं ब्रह्मरूप नहीं हूँ' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'मैं' का समावेश 'यह सब' में हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हुए बिना रहता ही नहीं; और तब आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस बातको संक्षेपमें कहना हो तो न्यायके एक ही सावयव-पदसे इस प्रकार कह सकते हैं—

यह सब ब्रह्मरूप है, मैं इस सबके अन्तर्गत हूँ। इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

विद्वान् पण्डितजी! यहाँतक तो हमने यह समझ लिया कि ज्ञान क्या वस्तु है तथा उससे जन्म-मरणरूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है—यह भी देख लिया; परंतु इतना जान लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। इस विचारको स्थिर करनेके लिये साधन करना चाहिये, जिसकी रूप-रेखा संक्षेपमें बतलायी जा रही है, ध्यान देकर सुनिये।

पहले तो वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्ग योगवासिष्ठसे ठीक-ठीक समझ ले और फिर उसके अनुसार अभ्यासमें लग जाय। मैं समझता हूँ कि (लगे रहे तो) करीब पाँच वर्षोंमें चित्तशुद्धि हो जायगी। आप पाँच वर्ष सुनते ही चमक कैसे उठे? इसमें चमकनेकी बात कोई नहीं है। आप देखिये, व्यवहारमें एक विद्यार्थीको मैट्रिक होना हो तो पूरे ग्यारह वर्ष और बी० ए० होना हो तो पंद्रह वर्ष तन तोड़कर परिश्रम करना पड़ता है और उसका फल क्या होता है?—केवल इतना ही कि भाग्यमें हो तो नौकरी मिल जाय और पेट भरता रहे। जब यहाँ तो आपको अपनी जीविकाके लिये उद्यम करते हुए साधन करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अबतक आपने आजीविकाको मुख्य काम माना था, उसके बदले उसको गौण मानकर अब साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य मानें, फिर इसका फल देखें तो अनन्त और अविनाशी है—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परम आनन्दकी प्राप्ति। इसकी सिद्धिके लिये पाँच वर्ष तो क्या पाँच जीवन भी देने पड़ें तो भी सौदा महँगा नहीं, ऐसा समझ लीजिये।

अब अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस सम्बन्धमें योगदर्शनका एक सूत्र सुनकर उसे ध्यानमें रखिये।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

इसलिये अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक करते रहना चाहिये। फिर अभ्यास सतत तथा धाराप्रवाह करना चाहिये। चार दिन करें और दो दिन न करें—ऐसा करनेसे काम नहीं चल सकता। तथा अभ्यास भाव और प्रेमसे होना चाहिये, सिरसे भार उतारनेके समान नहीं। इस प्रकार अभ्यास हो, तभी वह फलदायी होता है।

अब आप अभ्यासमें प्रगति कर रहे हैं या नहीं— इसे जाननेके लिये यह कुंजी ध्यानमें रखिये—

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्रता ॥

उस भाग्यशाली साधकका अभ्यास सफलतापूर्वक चल रहा है, यह कैसे जानें ? यदि उसकी भोगवासना दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिये कि अभ्यास ठीक हो रहा है ।

अब यह जानना है कि सिद्धि प्राप्त होनेतक अभ्यास किस लिये करना चाहिये । बहुधा मनुष्य अधीर हो जाता है और निश्चित समयमें थोड़ा भी फल नहीं दीख पड़ता तो अभ्यास छोड़ देता है । ऐसे प्रसङ्गोंमें अधिकतर अभ्यास करनेमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है और बहुधा दोष निवृत्त होनेमें देर लग जाती है । इसलिये सिद्धिपर्यन्त धीरजके साथ अभ्यास चालू रखना चाहिये ।

श्रीरामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठसे कहते हैं, 'महाराज ! समर्थ गुरु और श्रद्धाशील मुमुक्षु साधक होनेपर भी मुझको बोध होनेमें देर क्यों होती है ?' उत्तर देते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥

जीवभाव दृढ़ करते-करते आप अनेक जन्म लेते आ रहे हैं, इसलिये अब उस जीवभावको निवृत्त करके उसके स्थानमें आत्मभाव स्थिर करना है, इसमें दीर्घकाल तो लगेगा ही, इसलिये धीरजसे साधन करते जाइये ।

लौकिक दृष्टान्त देकर अच्छी तरह समझाते हुए श्रीपञ्चदशीकार कहते हैं—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥

खेतमें बीज बोनेपर कहीं वह तुरंत ही जम नहीं जाता परंतु उसके अंकुरित होनेमें देर लगती है । बेरके बीजके समान कठिन बीज हो तो अधिक समय लगता है और अनाजके समान नरम बीज हो तो कम समय लगता है इसी प्रकार माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय चाहिये । हाथी-जैसे बड़े प्राणीके लिये अधिक और बिल्ली या चूहे जैसे छोटे प्राणीके लिये कम समय चाहिये । वैसे ही आत्मभावना भी धीरे-धीरे कालक्रमसे परिपक्व होती है । उसमें अधीर होनेसे काम नहीं चलता । इस प्रकार सतत अभ्यास कीजिये तो मुझे विश्वास है कि इसी जन्ममें आप कृतकृत्य हो जायँगे ।

सत्संग पूरा हुआ, पण्डितजी महाराज परम संतोष तथा कृतज्ञता प्रकट करते हुए चले गये ।

ॐ नमो नारायणाय ।

राम-नाम

गर्मीके दिन थे और मैं रात्रिमें शयनार्थ अपने मकानकी छतपर लेटा हुआ था । ग्यारह बजेका समय होगा कि यकायक पासके पड़ोसी जुलाहेके नवयुवक लड़केकी दाढ़में या आँखोंमें ·········'ठीकसे याद नहीं रहा—घोर दर्द हो गया । बेचारा बड़े जोरसे 'हाय ! हाय !!' करने लगा । उसकी चीख सुनकर मैं सिहर उठा ! लगभग आधा घंटातक यही हाल रहा !

पता नहीं, उसके मनमें क्या आया कि उसने 'हाय ! हाय !!' का क्रम तोड़कर—'हे भगवान् !—हे भगवान् !' की रट लगानी शुरू कर दी और वह भी बड़े जोरोंसे एवं बड़ी लगनसे ! ऐसा भी लगभग आधा घंटातक ही करता रहा ।

परिणाम यह हुआ कि उसकी दुर्दमनीय पीड़ा काफूर हो गयी और वह बड़े उल्लाससे एवं हर्षातिरेकके साथ अपने पितासे बोला—'चाचा ! दर्द हट गया है ! मैंने भगवान्‌का नाम लिया था उसीने हटा दिया है ।'

उन दिनों रान्हू पिताके इस वाक्यमें कि 'राम-नाम' सकल रोगोंकी अचूक ओषधि है—मेरी श्रद्धाका प्रादुर्भाव हुआ होगा । मैंने आजमाइश भी की थी और यह प्रयोग सफल पाया था । उक्त घटनासे मेरी यह आस्था और भी दृढ़ हो गयी कि सचमुचमें राम-नाम सकल रोगोंकी अमोघ ओषधि है ।

उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त जुलाहेका लड़का अनपढ़ है और पता नहीं क्यों उसने अपने रोगमें भगवन्नाम जपका प्रयोग किया—।

कुछ भी हो, असहनीय वेदनामें प्रभुको स्मरण करनेपर आपत्तिसे अवश्य ही मुक्ति मिलती है । इसीलिये तो कहा गया है—'When pains are highest, God is nighest' अर्थात् दुःखकी चरम अनुभूति होनेपर ही श्रीपरमेश्वरका निकटतम सान्निध्य प्राप्त होता है ।

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

आपने ईश्वरका अस्तित्व नहीं होनेका जो यह कारण बताया कि आजतक कोई उसतक पहुँच नहीं पाया, सो यह आप किस आधारपर लिख रहे हैं । उनतक पहुँचनेके लिये वास्तविक खोजमें लग जानेवालोंमेंसे अधिकांश लोग वहाँ पहुँचे हैं और आज भी पहुँच सकते हैं । अतः आपका यह तर्क सर्वथा निराधार है ।

आपने लिखा कि लाखों-करोड़ों वर्षोंतक तपस्या करके भी पार नहीं पाया जा सकता । पर यदि कोई गलत रास्तेसे प्रयास करे या किसी दूसरी वस्तुको पानेके लिये प्रयास करे और वह ईश्वरको न पा सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वरं गीतामें तो भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'साधक पराभक्तिके द्वारा मैं जो हूँ और जैसा हूँ तत्त्वसे जान लेता है और फिर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है (गीता अ० १८ श्लोक ५५)।' तथा वे पहले भी कह आये हैं कि 'पहले ज्ञानतपसे पवित्र हुए बहुत-से साधक मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं (गीता ४ । १०)।' 'इस ज्ञानको जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं इत्यादि (गीता १४ । १-२)।' अतः आपका यह कहना कि उसे कोई नहीं जान सका, निराधार सिद्ध होता है ।

उसका आदि, अन्त और मध्य न जाननेकी जो बात कही गयी है, वह तो उस तत्त्वको असीम और अनन्त बतानेके लिये है । वेदोंने जो 'नेति नेति' कहा है, उसका भी यही भाव है कि वह जितना बताया गया उतना ही नहीं है, उससे अधिक भी है । अतः इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता ।

आप गम्भीरतासे विचार करें । वैज्ञानिकलोग जो प्रकृतिका अध्ययन करके नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, क्या वे कह सकते हैं कि हमने प्रकृतिको पूर्णतया जान लिया है, अब कोई आविष्कार शेष नहीं रहा है ? यदि ऐसा नहीं कह सकते तो क्या इतनेसे यह मान लेना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं है ?

बात तो यह है कि किसी भी असीम तत्त्वकी सीमा कोई निर्धारित नहीं कर सकता । यदि कोई कहे कि मैं उसे पूर्णतया जान गया तो उस सीमित व्यक्तिका ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा ? और इस कसौटीपर असीम तत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकार करना भी कहाँतक युक्तिसङ्गत है, इसपर भी आप विचार करें ।

आपने लिखा कि जो है भी और नहीं भी है—ऐसी ईश्वरकी व्याख्या है, सो ऐसी व्याख्या कहाँ है ? यह कौन कह सकता है कि अमुक वस्तु नहीं है; क्योंकि यह निश्चय करनेवाला भी तो कोई सर्वज्ञ ही होना चाहिये । 'अमुक वस्तु है या नहीं' ऐसा संदेह तो कोई भी कर सकता है पर 'नहीं है' यह कहनेका किसीका भी अधिकार नहीं है। फिर ईश्वरके बारेमें यह कहना कि 'वह नहीं है'—यह तो सर्वथा अनुचित है ।

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, साकार और निराकार भी है—यह कहना ठीक है और सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

शास्त्रोंमें जो यह कहा गया है कि ईश्वर सत् भी है और असत् भी है—वह 'सत्' शब्द कार्यका वाचक है और 'असत्' शब्द कारणका वाचक है । 'असत्' शब्द अभावका वाचक नहीं है । यह आपके

ध्यानमें रहना चाहिये । तभी शास्त्रके वचनोंका भाव समझमें आ सकता है ।

आपने लिखा कि ईश्वर कुछ नहीं है, केवल कल्पना है; क्योंकि 'सब कुछ' का अर्थ 'कुछ नहीं' अर्थात् 'शून्य'—होता है, सो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ईश्वरको कल्पनासे अतीत बताया गया है । गीता अध्याय ८ श्लोक १० में उसे 'अचिन्त्य रूप' कहा गया है ।

आगे चलकर आपने लिखा कि 'क्या जो चैतन्य रूप दीखता है यही ईश्वर है ?' इसका उत्तर यह है कि जिस हलचल और शक्तिको लक्ष्य करके आपने चैतन्यकी व्याख्या की है इसका नाम चेतन नहीं है । शब्द तो आकाश-तत्त्वका गुण है, शक्ति बिजलीका गुण है, वेग वायुका गुण है । ये सभी जड तत्त्व हैं । इनमें कोई भी चैतन्य नहीं है । चैतन्य तो वह तत्त्व है; जो इन सबको जानता है और इनका निर्माण भी करता है । जो वस्तु निर्माण की जाती है, किसीके द्वारा संचालित होती है, वह चैतन्य कैसे हो सकती है ? यदि चेतनकी व्याख्या आप ठीक-ठीक समझ पाते तो सम्भव है आपको ईश्वरकी सत्ताका कुछ अनुभव होता । मनुष्यको ईश्वरका पता लगानेके पहले यह सोचना चाहिये कि मैं जो 'ईश्वरकी सत्ता है या नहीं' इसका निश्चय करना चाहता हूँ, वह मैं कौन हूँ । जिसमें जाननेकी अभिलाषा है और जो अपने-आपको तथा अपनेसे भिन्नको भी जानता है, प्रकाशित करता है, वही चेतन हो सकता है । यह समझमें आ जानेपर आगेकी खोज आरम्भ होगी ।

आपने कल-कारखानोंकी बात लिखी, कोयले और पानीके मिश्रणकी, उसकी शक्तिकी बातोंपर प्रकाश डाला, फिर बिजलीकी महिमाका वर्णन किया सो तो ठीक है, पर उनका आविष्कार करनेवालोंकी महिमाकी ओर आपका ध्यान नहीं गया । आप सोचिये, क्या वे कल-कारखाने बिना कर्ताके सहयोगके कुछ भी चमत्कार दि[illegible] सकते हैं ? यदि नहीं तो विशेषता उनको बनाने[illegible] चलानेवालेकी ही सिद्ध हुई ।

आपने मानव-शरीरको पाँच तत्त्वोंसे बना[illegible] बताया, यह तो ठीक है । शरीर तो सभी प्राणि[illegible] पाँच तत्त्वोंके संघातसे ही बने हैं । पर पाँच तत्त्वों[illegible] संघात तो केवलमात्र यह दीखनेवाला स्थूल शरी[illegible] है । मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन तत्त्व इसके अ[illegible] और हैं तथा इन सबको जानने और प्रका[illegible] करनेवाला एक इनका अधिष्ठाता संचालक भी है । उ[illegible] ओर भी आपका ध्यान आकर्षित होना चाहिये । उ[illegible] बिना इन सब तत्त्वोंके सभी चमत्कार बेकाम हो [illegible] हैं । वह कौन है ?—इसपर विचार कीजिये ।

आगे चलकर आपने सूर्य, चन्द्र, तारा आ[illegible] विषयमें विज्ञानके आधारपर लिखा कि ये सब अ[illegible] आप हो रहे हैं, परंतु आपने गहराईसे विचार न[illegible] किया । करते तो आप यह भी समझ सकते कि [illegible] भी जड पदार्थ बिना किसी संचालकके बहुत काल[illegible] नियमित रूपसे नहीं चल सकता । जितना भी वैज्ञानि[illegible] आविष्कार है—जैसे अणु बम, रेडियो, बिजली [illegible] स्टीमसे होनेवाले काम, हवाई जहाज आदि; क्या [illegible] भी यन्त्र अपने-आप बन जाता है या उसका संच[illegible] अपने-आप हो जाता है ? यदि नहीं, तो फिर ये [illegible] चन्द्रमा, पृथ्वी, तारा आदि यन्त्र अपने-आप [illegible] बन गये और अपने-आप नियमित रूपमें कैसे संचालि[illegible] होने लगे ?

आपने लिखा कि 'जहाँ बुद्धि काम न दे, [illegible] ईश्वरको मान ले' सो ऐसी बात नहीं है । बुद्धि [illegible] मनुष्यकी प्रकृतितक भी नहीं पहुँच पाती पर उस[illegible] प्रकृतिको शास्त्रकारोंने ईश्वर नहीं मान लिया । [illegible] प्रकृतिके आंशिक संचालक और प्रकाशकको भी [illegible]

नहीं माना; हाँ, ईश्वरका अंश तो माना है। अतः उसकी सत्तासे ही ईश्वरकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

अज्ञानका नाम ईश्वर नहीं है। जो ज्ञान और अज्ञान—दोनोंको जाननेवाला है, उसका नाम ईश्वर है।

मायाकी व्याख्या तो श्रीतुलसीदासजीने इस प्रकार की है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

अतः जाननेमें न आनेवाली वस्तुका नाम माया नहीं बताया गया है।

आपने धर्मग्रन्थ और मत-मतान्तरोंपर आक्षेप करते हुए लिखा कि 'किसकी मान्यता ठीक है, कोई कुछ कहते हैं और कोई कुछ कहते हैं। यदि ईश्वर होता तो सबका एक ही मत होता।' यहाँ आपको गम्भीरतासे शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। यह तो हरेक विचारशील व्यक्तिको मानना ही पड़ेगा कि जिस तत्त्वको कोई जानना चाहता है, उसके विषयमें पहले कुछ-न-कुछ मानना पड़ता है और वह मान्यता वास्तविक सत्य न होनेपर भी सत्यका ज्ञान करानेमें हेतु होनेके कारण सत्य है। जैसे—अंग्रेजी लिपिमें 'K' इस आकारको 'क' माना; उसके आगे एक 'H' चिह्न और लगाकर उसे 'ख' मान लिया, इसी प्रकार सब वर्ण और संकेतोंके विषयमें समझ लें। उर्दूमें दूसरे ही संकेत हैं, बँगलामें दूसरे हैं और तामिल, तेलगू आदि दक्षिणी लिपियोंमें दूसरे हैं तथा उन-उन भाषाभाषियोंके लिये अपनी-अपनी भाषाके माने हुए चिह्न ही सत्य हैं; क्योंकि वे किसी भी जाननेमें आनेवाली वस्तुका ज्ञान करानेमें पूरे सहायक हैं। यदि ऐसा न माना जाता तो आज जगत्में कोई विद्वान् हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार उस परम सत्य तत्त्वको समझानेके लिये हरेक मतावलम्बीने जो अपने-अपने संकेत बनाये हैं, वे साधकोंके लिये पथ-प्रदर्शक होनेके नाते सभी सत्य हैं। यद्यपि जितने मत हैं, सभी मान्यता हैं, पर बिना मान्यताके हमारा कोई भी छोटे-से-छोटा काम भी नहीं चलता; फिर ईश्वरके लिये की जानेवाली मान्यता हमें क्यों अखरती है। क्या छोटी-से-छोटी वस्तुका ज्ञान करानेके लिये वैज्ञानिकोंको विभिन्न संकेतोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता? क्या इस कारणको लेकर आविष्कृत वस्तुकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती? ऐसा तो कोई भी नहीं मान सकता।

बीजगणितमें तो सारा काम मान्यताके ही आधारपर चलता है तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंमें भी मान्यता और बीजगणितका ही आश्रय लेना पड़ता है। यह सभी वैज्ञानिकोंका अनुभव है। परम सत्य ईश्वरतत्त्वको जानना कोई साधारण विज्ञान नहीं है। अतः उसके लिये तरह-तरहकी मान्यता भी अनिवार्य है; क्योंकि साधकोंकी रुचि, योग्यता, बुद्धि और विश्वास भिन्न-भिन्न होनेसे भेद होना अनिवार्य है। अतः मत-मतान्तरोंकी अनेकतासे एक ईश्वरका होना असिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आपका यह लिखना कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं है, किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं है, केवल प्रमादमात्र है।

'ईश्वरको न माननेसे मनुष्य वाममार्गी अत्याचारी व्यभिचारी हो जायगा, समाजभ्रष्ट हो जायगा, इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये,' ऐसी बात नहीं है। जो वस्तु नहीं है उसे मानना तो स्वयं अत्याचार है, उससे अत्याचार आदिका निवारण कैसे होगा। अतः उपर्युक्त दुर्गुणोंकी नाशक भी सच्ची मान्यता ही हो सकती है और वही बात शास्त्रकारोंने बतायी है, मिथ्या कल्पना नहीं है।

इसी प्रकार धर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि कोई भी बात कल्पित या मिथ्या नहीं है। झूठसे कभी किसीका कोई लाभ नहीं होता, यही धर्मका निर्णय है। झूठ तो अधर्म है ही, उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है।

हमारा धर्मशास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र ढकोसला नहीं है, वास्तविक हानि-लाभको ही समझानेवाला है; अत: वही एकमात्र सुधारका रास्ता है। आज उसके नामपर दुनियामें दम्भ बढ़ गया है, इसी कारण अनुभव-से रहित नवशिक्षित पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावमें आये हुए पुरुषोंको धर्म और ईश्वरपर आक्षेप करनेका मौका मिल गया है।

आगे चलकर आपने पूजा-पाठपर आक्षेप किया है, वह भी विचारकी कमीका ही द्योतक है। आपको गहराईसे विचार करना चाहिये कि क्या ऐसा कोई भी मजदूर या परिश्रम करनेवाला मनुष्य है जिसको चौबीसों घंटे फुरसत ही नहीं है, उसका सबका सब समय शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुओंके उपार्जनमें ही लग जाता है? विचार करनेपर ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा। उसे भगवान्का भजन-स्मरण और सत्सङ्ग-स्वाध्यायके लिये समय चाहे न मिले पर खेलने, मन बहलाने, सिनेमा देखने और अन्यान्य व्यर्थ कामोंके लिये तो समय मिलता ही है। इसके सिवा हमारे धर्मशास्त्रोंमें तो यह भी बताया गया है कि जिस मनुष्य-का जो कर्तव्य-कर्म है उसीको ठीक-ठीक उचित रीतिसे करके उसके द्वारा ही वह ईश्वरकी पूजा कर सकता है। अत: इसमें न तो किसी प्रकारका खर्च है न किसी वस्तुकी जरूरत है, न कोई समयकी ही आवश्यकता है। ऐसी पूजा तो हरेक मनुष्य बिना किसी कठिनाईके कर सकता है। आप गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १८ श्लोक ४५, ४६ और उसकी टीकाको देखिये।

अत: आपका यह आक्षेप कि 'जो धनी-मानी, सेठ-साहूकार निठल्ले बैठे रहते हैं, उन्हें पूजा-पाठसे मन वशमें करना चाहिये'—सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि कोई भी मनुष्य आपको ऐसा नहीं मिलेगा जिसको मनकी बात पूरी करते-करते शान्ति मिल गयी हो। शान्ति तो मनको भोगकामनासे हटाकर भगवा[न्में] लगानेसे ही मिलेगी, जो कि सहजमें ही किया [जा] सकता है।

आप गीताका नित्य पाठ करते हैं, कल्याणका [पाठ] करते हैं, गायत्रीजप करते हैं, यह बड़े सौभाग्यकी [बात] है। गीताके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा की[जिये]।

(२)

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हु[ए]। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) यह तो आपको मान ही लेना चाहिये [कि] भगवान् एक ही है। उसके चाहे जितने स्वरूप [हैं], वह चाहे जिस वेषमें रहे पर है एक और [वही] साधकका इष्ट होना चाहिये। इस परिस्थितिमें [यदि] आप अपने इष्टको विष्णुरूपमें बुलाना चाहते हैं [और] वह श्रीकृष्णरूपमें आपके सामने प्रकट होता है [तो] समझना चाहिये कि भगवान् मेरे मनकी बात पूरी [न] करके अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं, यह [विशेष] कृपा है। इसलिये उसका तो अधिक आदर क[रना] चाहिये। मेरा हित किसमें है इसका मुझे क्या पता? प्रभु सब कुछ जानते हैं उनसे कुछ छिपा नहीं है; अत: वे जो कुछ करते हैं वही ठीक है। ऐसा मान[कर] आपको भगवान्के प्रेममें विह्वल हो जाना चाहिये और जो अपने-आप सामने आये, उन श्रीकृष्णकी [रूप-] स्वरूप-माधुरीका पान करते रहना चाहिये। उस रू[पमें] भी तो आपके इष्ट ही आते हैं, फिर आपके इष्टके ध्या[नमें] बाधा कैसी?

(२) प्रकृति स्वयं गतिशील है, यह तो मा[ना] जा सकता है; परंतु वह न तो अपनेको जानती है और न अपनेसे भिन्नको ही जान सकती है। फिर [वह] कौन है जो उस प्रकृतिका नियमानुसार संचालन क[रता] है, जीवोंको उनके कर्मानुसार फलभोग कराता है [और]

कर्मबन्धनसे मुक्त भी करता है? बिना चेतनके सहयोग-के प्रकृति कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकती जो नियमानुसार चलता रहे और उसमें कोई व्यवधान न पड़े। अतः यह सिद्ध होता है कि उसका एक संचालक सर्वशक्तिमान् अवश्य है। वही ईश्वर है।

आपने पूछा कि यदि प्रत्येक वस्तुको कोई बनाने-वाला है तो भगवान्‌को बनानेवाला कौन है। इसका यह उत्तर है कि जगत्‌के बनानेवालेका बनानेवाला कोई नहीं होता, वह बनानेवाला तो स्वतःसिद्ध होता है; क्योंकि वह जड वस्तु नहीं है, स्वयंप्रकाश सर्व-शक्तिमान् है, इसीलिये वह भगवान् है।

जिस तत्त्वको हम जानना चाहते हैं उसके जानकारोंकी बातपर विश्वास करके पहले मानते हैं तभी उसे जानते हैं, उसी प्रकार ईश्वरतत्त्वको समझनेके लिये भी पहले उसे जाननेवालोंपर और उसे जाननेकी प्रक्रियापर विश्वास करना उचित है। बिना विश्वासके मनुष्यका छोटे-से-छोटा कोई भी काम नहीं चलता, इसलिये भी विश्वास करना ही जाननेका उपाय है; यह बात सिद्ध होती है।

भगवान् है—यह विश्वास मनुष्यको इसलिये भी करना चाहिये कि उसको स्वयं अपने होनेका प्रत्यक्ष बोध है। कोई भी प्राणी यह नहीं समझता कि मैं नहीं हूँ। अतः उसे विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ। विचार करनेपर पता लगेगा कि शरीर तो मैं नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो बदलता रहता है और मैं नहीं बदलता; मेरा शरीर आजके दस वर्ष पहले जो था, वह अब नहीं रहा पर मैं वही हूँ जो उस समय था; क्योंकि उस समय और उससे पहलेकी घटनाएँ मुझे मालूम हैं।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं शरीर नहीं तो क्या मैं मन और बुद्धि हूँ। विचार करनेपर पता चलेगा कि मैं मन-बुद्धि भी नहीं हो सकता; क्योंकि उनको मैं जानता हूँ और जाननेमें आनेवाली वस्तुसे जाननेवाला सदैव भिन्न हुआ करता है।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ और किसके आश्रित हूँ, मेरा आधार क्या है। विचार करने-पर पता लगेगा कि जो मेरे ज्ञानका विषय है, जिसको मैं जान सकता हूँ वह न तो मेरा आधार हो सकता है और न वह मैं ही हो सकता हूँ; क्योंकि जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं एवं मैं सदा एकरस और अविनाशी हूँ। अतः मेरा आधार, संचालक और प्रेरक भी कोई चेतन अविनाशी ही हो सकता है और वही भगवान् है। इस प्रकार अपनी सत्ताको तथा सीमित सामर्थ्य और सीमित ज्ञानको देखकर किसी असीम ज्ञान-बल-वीर्ययुक्त नित्य अविनाशी चेतन शक्तिका होना स्वतः समझमें आना चाहिये।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। कार्ड आपका मिला। समाचार मालूम हुए। आपने लिखा कि मैं जीवात्मा मायामें लिपटनेसे अपने स्वरूपको भूल गया हूँ, सो यह तो आपकी सुनी हुई बात है। यदि इस बातको आप समझ लेते या मान लेते तो तत्काल ही मायाके बन्धन-से छूट जाते।

गृहस्थका निर्वाह तो आपके न रहनेपर भी होता ही रहेगा। आपकी जो यह मान्यता है कि मैं गृहस्थ-का निर्वाह करता हूँ, यह तो केवल अभिमानमात्र है।

जीव चेतन है, सर्वव्यापी भगवान्‌का अंश है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है। पर जीवको भगवान्‌से अलग करनेवाला केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, इसके सिवा सूक्ष्म और कारण शरीर भी हैं। अतः जबतक तीनों शरीरोंसे जीवका सम्बन्ध नहीं छूटता, तबतक वह जन्म-मृत्युसे नहीं छूटता। उसका एक स्थूल शरीरको

छोड़कर दूसरे स्थूल शरीरमें जाना सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर होता है । इसका खुलासा गीतातत्त्वविवेचनी टीका अ० १५ श्लोक ७, ८, ९ में देखना चाहिये ।

माता-पिता न हों तो सबके माता-पिता परमेश्वर तो हैं ही, उनको प्रणाम करना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण और अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये एवं सबके हृदयमें स्थित भगवान्को प्रणाम करना चाहिये।

जबतक आप झूठ बोलते हैं, तबतक एक... बोलनेसे ग्राहक न पटे इसमें क्या आश्चर्य है; ... उनको कैसे खातिर हो कि आप सच बोलते हैं। ... भय और लालचको छोड़कर आप सत्यके पालन... हो जायँ तो फिर ग्राहक आपको ढूँढ़ते फिर सकते...

दिव्य चरणकमल-रज

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रभुके वरद चरणकमलकी रजकणिकाएँ अति दिव्य हैं । उनके संस्पर्शमात्रसे ही गौतम-पत्नीका पाषाण-देह दिव्य लोकोत्तर विग्रहमें परिवर्तित हो गया; वह अपनी पूर्वाकृतिको प्राप्त हो गयीं—

दुःखे सुखे च रज एव बभूव हेतु-
स्तादृग्विधे महति गौतमधर्मपत्न्याः ।
यस्माद् गुणेन रजसा विकृतिं गता सा
रामस्य पादरजसा प्रकृतिं प्रपेदे ॥

(रामायणचम्पू० बाल० १४९)

शिला कम्पं धत्ते शिव शिव वियुङ्क्ते कठिनता-
महो नारीच्छायामयति वनितारूपमयते ॥
वदत्येवं रामे विकसितमुखी वल्कलमुरः-
स्थले धृत्वा बद्ध्वा कचभरमुदस्थादृषिवधूः॥

—भगवत्पादाब्जरजसे संस्पृष्ट होते ही शिला काँपने लगी और प्रभु बोल उठे—'शिव, शिव यह शिला क्यों हिलने लगी और अब तो इसका काठिन्य भी दूर हो गया, अहो ! इसमेंसे तो स्त्रीकी छाया-सी दीखने लगी, अरे अरे ! यह तो स्त्री बन गयी' । भगवान्के यों कहते-कहते ही बालों तथा वल्कलोंको सँभालती हुई विकसित-मुखी, प्रसन्नानना ऋषिवधू अहल्या उठ खड़ी हुई और फिर चरणरज पानेके लिये चरणोंमें गिर पड़ी—

प्रभु पद-पदुम पराग परी
ऋषि तिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी ॥

कहते हैं जब सखियोंने विवाहके अवसरपर सीताजीसे कहा—'सीते ! तुम प्रभुके चरणोंमें प्रणाम ...' तब इस भयसे कि इनकी दिव्य पादाब्जरजकणिकासे ... भालरत्न, चूडामणि आदि भी स्त्री हो जायँगी, ... वैसा न किया—

शिक्षितापि सखिभिर्ननु सीता
रामचन्द्रचरणौ न ननाम ।
किं भविष्यति मुनीशवधू वद्
भालरत्नमिह तद्रजसेति ॥

सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरन परस अति ...
गौतम तियगति सुरति करि नहिं परसति पद पानि ...
मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ...

इसी प्रकार केवट भी गङ्गापार होनेके समय ... कहने लगा, 'महाराज ! मेरे परिवारवालोंका एकमात्र नौका ही जीवनाधार है । वह काष्ठकी बनी है ... काष्ठ कोई शिलासे अधिक कठोर नहीं होता । ... दिव्य पदरजसे संस्पृष्ट होकर यह तरणि भी अ... किसी 'मुनिकी घरनी' बन जायगी और मैं सपरिवार ... जाऊँगा, तुम्हें क्या ? तुम तो नाव उड़ाकर ... राह पकड़ोगे—

......नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते
पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥

(अध्यात्म० बाल० ६ । ३, आनंदरामा० सारकां० ... महानाटक० ३ । ...)

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा
पश्चात् परं तीरमहं नयामि ।
नो चेत्तरी सद्युवती मलेन
स्याच्चेद् विभो विद्धि कुटुम्बहानिः ॥
(अध्यात्म० बाल० ६ । ४)

'उपलतनुरहल्या गौतमस्यैव शापा-
दियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात् ।
चरणनलिनसंगानुग्रहं ते भजन्तु
भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री ॥
(हनु० ३ । २०, महा० ३ । ४६)

चरनकमलरज कहँ सब कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ॥
तरनिउ मुनिघरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥
'रावरे दोष न पायनको, पगधूरिको भूरि प्रभाउ महा है ।
पाहन तें बन-वाहन, काठको कोमल है, जल खाइ रहा है ॥'
(कवितावली)

चलते-चलते जब प्रभु विन्ध्यारण्यमें पहुँचते हैं, तब बहुत-से उदासी तपस्वी व्रतधारी मुनिजन व्यंग करते हुए प्रभुसे कहते हैं, 'महाराज ! आपने बड़ी कृपा की । हमलोग गौतम-पत्नीकी कथा सुन चुके हैं । चलिये अब हमलोगोंका दुःख दूर हुआ । यहाँ जंगलोंमें शिलाओंका कोई अभाव तो है नहीं । बस आपके सुन्दर पदकमलके संस्पर्श-से अब ये सारी शिलाएँ चन्द्रमुखी ललनाएँ बन जायँगी और एक-एक ऋषिको न जाने कितनी-कितनी स्त्रियाँ मिल जायँगी, कोई गणना है ? आखिर ये सब जायँगी भी कहाँ ?

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहा-
मलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम् ।
त्वयि चरति विशीर्णविन्ध्यग्रावाद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः ॥
(हनुमन्नाटक ३ । १९ प्रसन्नराघवनाटक, महाना० ३ । ४४)

बिंधिके बासी उदासी तपी व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतमतीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखीं परसें पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायकजू ! करुना करि काननको पगु धारे ॥
(कविता० अयोध्या २८)

चित्रकूटमें कई स्थलोंपर भगवान् राघवेन्द्र तथा पराम्बा जगज्जननी जानकीके पदचिह्न शिलातलोंपर उग आये हैं, जो अद्यावधि ज्यों-के-त्यों हैं । यह उनकी दिव्यताका साक्षात् साक्षी है । भरतमिलाप नामक स्थलपर तो हजारों पदचिह्न प्रकट हो गये हैं । जानकीकुण्डस्थित भगवती सीताके लाल कमल-जैसे दिव्य पदचिह्नको देखकर हृदय द्रवित हो उठता है और 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' यह भवभूतिकी उक्ति याद पड़ जाती है । तुलसीदासजीने तो—

'द्रवहिं देखि सुनि कुलिस पखाना ।'

परसि चरनरज अचर सुखारी । भए परम पद के अधिकारी ॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥
परसि रामपद पदुम परागा । मानति भूमि भूरि निज भागा ॥

—आदिका कई बार वर्णन किया है । उन्होंने चित्रकूटके चिह्नोंको लक्ष्यकर अपनी विनयपत्रिकामें स्पष्ट ही लिखा है—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चल ।
भूमि बिलोकु रामपद अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थल ।

मानसमें भी भरतजीसे कहलाते हैं—

प्रभुपद अंकित अवनि बिसेखी । आयसु होइ तो आवौं देखी ॥

और तो और, कालिदासने भी मेघदूतमें इन चिह्नों-को सादर स्मरण किया है—

'वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।'
(पूर्वमेघ० १२)

भागवतकारने बड़े सरस एवं हृदयग्राही शब्दोंमें प्रभुके आत्मज्योतिमें प्रवेशकी कथाका उल्लेख किया है और कहा है कि दण्डकवनके कण्टकोंसे विद्ध भगवान् रामके वे पदकमल स्मरण करनेवालोंके हृदयसे नहीं निकले ।

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥
(९ । ११ । १९)

'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे ।
पद कंज द्वन्द मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ॥

जिस सौभाग्यशालीने एक बार भी उनका दर्शन, स्पर्श, अनुगमन या सेवन किया, वह योगियोंके लोकोंको प्राप्त हुआ।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥
(९। ११। २२)

उनकी नखमणिचन्द्रिका ध्यान करनेवालेके हृदयके महान् अन्धकारका संहार करती है, त्रितापोंको निरस्त करती है।

'नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।'
(११। २। ५४)

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।
(३। २८। २१)

'नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम्।'
(३। ८। २६)

इन्हीं दिव्य पादरेणुओंसे भगवती भागीरथी, पाप-तापापहारिणी गङ्गा प्रसूत हुई, जिसे सिरपर धारणकर शंकरजी कल्याणप्रद तथा कृतकृत्य हुए।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥
(३। २८। २२)

'परसि जो पाथ पुनीत सुरसरी सोहै तीनि गवनी।
तुलसीदास तेहि चरन रेनुकी महिमा कहै मति कवनी॥'
(गीता० बाल० ५८। ३)

इन चरणोंकी महिमा तथा दिव्यता तो तब देखते बनती थी, जब बलिके यज्ञमें वे क्षणमें ही बढ़ते-बढ़ते भूः भुवः स्वरादि लोकोंको लाँघ गये और ब्रह्मलोकमें जानेपर ब्रह्माजीने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रक्षालन कर अवनेजन जलको अपने कमण्डलुमें रख लिया, जो आकाशमार्गसे गिर-कर भगवती गङ्गाके रूपमें तीनों लोकोंको पवित्र करता है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥
(श्रीमद्भा० ८। २१।

कहाँतक कहा जाय इन दिव्य पादाब्ज-किञ्जल्को वह जादूभरी गन्ध है जो आत्माराम, परम निष्ठ ब्रह्मलीन सनकादि मुनियोंके परम शान्त हृदयमें क्षोभ—हलचल पैदा कर देती है।

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्रीमद्भा० ३। १४।

इन दिव्य पदकमलोंकी सेवाकी रुचि भी अनेक जन्मोंके मलोंका क्षय कर डालती है, फिर सेवाकी तो निराली है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोति……।

उनका ध्यान करनेवाला पुनः संसृतिमें नहीं पड़ता—

यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः
न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥
(४। २१। ३१-

शुद्धात्मा पुरुष इन चरणोंका परित्याग करनेमें वैसे ही भय खाता है, जैसे क्लेशोंका मारा यात्रासे लौटा व्यक्ति अपने घरको छोड़नेमें—

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥
(श्रीमद्भा० २। ८।

वह ध्याताके सारे मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है और सभी वरदानोंका उद्गमस्थान है—

'सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।'
(श्रीमद्भा० २। ६।

'पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।'
(३ । ८ । २६)

'अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजम् ।'
(४ । २१ । ३३)

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपनी विनयपत्रिका-में उपर्युक्त सारे तत्त्वोंको किस अनूठे ढंगसे एकत्र संगृहीत कर दिया है, यह देखते ही बनता है—

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ।
समन सकल कलेस कलि-मल, सकल मंगल-करन ॥
सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन-बारिज-बरन ।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपट-बटु बलि-छरन ।
बिप्रतिय नृग बधिकके दुख-दोस दा[illegible] दरन ॥
सिद्ध-सुर-मुनि बृंद-बंदित सुखद सब कहँ सरन ।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन ॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन ।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥
(वि० प० २१८)

हाय-हाय ! जिस प्रकार लौकिक भोगसामग्रियोंके स्पर्शके लिये यह पामर, अधम जीव दौड़ता, प्रयत्न करता है, काश ! उसका शतांश भी इन दिव्य चरणरेणुओं-के स्पर्शकी इच्छा हुई होती, चेष्टा की होती——

'चन्दन-चन्दबदनि-भूषनपट ज्यों चह पाँवर परस्यौ ।
त्यौं रघुपति-पद-पदुम-परस कहँ तन पातकी न तरस्यौ ॥'
(वि० प० १७०)

पर ऐसा सौभाग्य कहाँ ? नाथ ! अब तो केवल आपकी कृपामयी मूर्तिका ही एकमात्र अवलम्बन है, सहारा है, प्रतीक्षा है—

'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है ।'

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

तीन सत्तावाद

जगत् तो प्रारब्धानुसार ज्ञानीको भी भासता है । अद्वैत-वेदान्तमें पदार्थोंकी तीन सत्ताएँ स्वीकार की गयी हैं ।

(१) **व्यावहारिक सत्ता**—केवल अविद्याकार्य-ईश्वर-रचित, यथा—साधारण जगत् जिसका जगत्के अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञान बिना बाध नहीं हो सकता । यद्यपि इनका नाश तो ब्रह्मज्ञानके बिना होता है । यह सत्ता जीवके जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहारको सिद्ध करती है ।

(२) **प्रातिभासिक सत्ता**—दोषसहित अविद्याके कार्य, यथा—रज्जु-सर्प आदि जिसका ब्रह्मज्ञानके बिना ही निज अधिष्ठान रज्जु आदिके ज्ञानसे बाध हो जाता है । इसका अभिप्राय है प्रतीतिमात्र सत्ता, अथवा प्रतीतिसमकालीन सत्ता ।

(३) **पारमार्थिक सत्ता**—यथा—अखण्ड चिन्मात्र आत्मा-की सत्ता, जिसका किसी कालमें भी बाध नहीं होता । अज्ञान कालमें भी आत्माके ज्ञानका अभाव होता है । ऐसा नहीं होता कि पूर्व किसी कालमें आत्माका ज्ञान हो और पश्चात् उसका बाध हो जाय कि आत्मानुभूति तथा आत्मा मिथ्या है, ऐसा क्रम आत्मानुभूतिके विषयमें नहीं है । आत्मसम्बन्धी ज्ञान अनादि है और आत्मज्ञान होनेपर पुनः उसका बाध नहीं होता; क्योंकि पूर्वभ्रान्ति तथा अयथार्थ पदार्थका बाध होता है । आत्मा परमार्थ सत्ता है और अखण्ड चिन्मात्र अनुभूति भी परम यथार्थ अनुभूति है, भ्रान्ति नहीं; जो कि पुनः उसका किसी अन्य ज्ञानसे बाध हो । अतः अखण्ड चिन्मात्र आत्माका बाध कदापि नहीं होता । इसीलिये आत्मा-की परमार्थ सत्ता कही जाती है ।

कई एक कारणोंसे ये तीन सत्ता वेदान्त-सिद्धान्तमें स्वीकार की जाती हैं । इनके विस्तृत विवेचनका यहाँ न तो अवकाश है और न प्रयोजन । इनमें समानता यह है कि यह तीन ही सत्ता हैं । ऐसा हम नहीं कह सकते कि इन तीनमेंसे कोई नितान्त असत् है यथा खपुष्प या इसका नाम हम अभावमात्र नहीं रख सकते ।

जगत्की व्यावहारिक सत्ताका बाधमात्र ब्रह्मज्ञानद्वारा होता है । व्यवहारकालमें अर्थात् देहपात अथवा मोक्षसे पूर्व

इस सत्ता अर्थात् जगत्का अभाव नहीं होता; तभी तो प्रारब्ध सिद्ध होता है। अथवा जगत्के ब्रह्मज्ञानद्वारा बाध हो जानेपर भी प्रारब्ध जगत् सत्ताको बनाये रखता है। जब प्रारब्ध भोगद्वारा नाश हो जाता है, तब शरीर तथा जगत्का अत्यन्त अभाव ज्ञानीके लिये हो जाता है।

दो सत्तावाद–उपर्युक्त तीन सत्ताका निरूपण भेद बुद्धिवाले अधिकारीके लिये है, जो सहसा अद्वैत सिद्धान्त अजातवादका ग्रहण नहीं कर सकता, जिसका निरूपण गौड़पाद-कृत माण्डूक्यकारिका, योगवासिष्ठ, बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक, आत्मपुराण, प्रकाशानन्दकृत सिद्धान्तमुक्तावली, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें किया गया है। अर्थात् जब सब अनात्म-पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की गयी है और चेतन आत्माकी पारमार्थिक सत्ता इस प्रकार केवल दो ही सत्ता स्वीकार की गयी हैं।

उपर्युक्त तीन अथवा दो सत्ताओंके सिद्धान्तका रूपान्तरसे निर्देश (१) सृष्टिवाद (२) दृष्टिसृष्टिवाद।

(१) सृष्टिदृष्टिवादमें पूर्वोक्त तीन सत्ता स्वीकार की गयी हैं। इसमें जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ता है, जिसका प्रमाणोंद्वारा ज्ञान होता है।

(२) दृष्टिसृष्टिवादी घटपटादि जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ताको स्वीकार नहीं करते। सम्पूर्ण प्रपञ्चकी सृष्टि दृष्टि (उनके प्रत्यक्ष) के समकालीन मानते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न जगत्में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं। स्वाप्नपदार्थ तथा रज्जुसर्प-समान जाग्रत् प्रपञ्च सभी साक्षिभास्य हैं, अन्तःकरण इन्द्रियोंका उपयोग नहीं स्वप्नपदार्थोंके समान चक्षु आदि इन्द्रियोंकी विषयता इनमें भ्रान्तिसे प्रतीत होती है; क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्के पदार्थ भी ज्ञानसे पूर्व विद्यमान हों तो इन्द्रियोंद्वारा उनका ग्रहण सम्भव हो। ज्ञान, इन्द्रियाँ, तथा विषय सब समकालीन हैं। (स्वप्न पदार्थ न तो जाग्रत् जगत्की स्मृति हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष भासते हैं और न लिङ्ग शरीर बाहर जाकर जाग्रत् जगत्को ही स्वप्नमें देखता है, क्योंकि प्राणके बिना लिङ्ग शरीर बाहर जा नहीं सकता और प्राण शरीरमें दूसरे मनुष्यको प्रतीत होते हैं तथा जिन सम्बन्धियोंसे स्वप्नमें मिलाप हुआ है, उनको कुछ ज्ञान नहीं होता, इसलिये स्वप्नके पदार्थ इन्द्रियों और ज्ञाताकी उत्पत्ति होते हैं; क्योंकि जाग्रत् इन्द्रियाँ शरीरमें होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंको ग्रहण नहीं कर सकतीं। सम सत्तावाले पदार्थ ही साधक-बाधक होते हैं। इसलिये स्वप्नमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता उत्पन्न होते हैं और स्वप्नके पदार्थ मिथ्या हैं; क्योंकि देशकाल, माता-पिता आदि कारणकी उचित सामग्री वहाँ नहीं है। इसलिये इनका उपादान अन्तःकरण अथवा अविद्या है और इसका अधिष्ठान साक्षी चेतन अथवा ब्रह्मचेतन है अर्थात् स्वाप्न पदार्थ अविद्या अथवा अन्तःकरणका परिणाम हैं और चेतनका विवर्त हैं।)

दृष्टिसृष्टिवादका परम सिद्धान्त है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(माण्डूक्यकारिका २। ३२)

न जगत्का निरोध अर्थात् नाश होता है, न इसकी उत्पत्ति होती है, न कोई बद्ध है, न साधक, न मुमुक्षु अथवा मुक्त ही है, यही परमार्थ सत्य है।

अत्र पितापिता भवति, मातामाता, लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः……।

(बृ० ४। ३। २२, ४। ३। २३, ३२ इत्यादि)

उस सुषुप्ति अथवा ज्ञानदशामें पिता अपिता हो जाता है, अर्थात् पिताभावके निमित्तक कर्मसे इसका सम्बन्ध नहीं रहता, कर्म सिद्धलोक अथवा कर्माङ्गभूत देवता, इसका कर्मसे सम्बन्ध न रहनेसे अलोक तथा अदेवता हो जाते हैं और साध्य-साधन सम्बन्ध बनानेवाले कर्मके अङ्गभूत वेद भी अवेद हो जाते हैं क्योंकि यह तब कर्मसे उत्क्रमण कर जाता है—इत्यादि।

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तानि शून्यात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

(दशश्लोकी ३)

माता, पिता, देव, लोक, वेद, यज्ञ, तीर्थ आदि नहीं हैं—ऐसा शास्त्र अथवा ज्ञानी कहते हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें शून्य-का निराकरण होनेसे मैं अद्वय केवल शिव ही उस समय शेष रहता हूँ।

अधिकारी–अनेक जन्मोंके महान् पुण्यसंचयके परिपाक-से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे ही इस परम सत्यको ग्रहण कर सकते हैं कि अनन्तकालस्थायी, कार्य-कारणभावसे प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण (जाग्रत्) जगत्

स्वप्नके समान मिथ्या है । आकाश आदिकी उत्पत्ति, कर्म तथा उपासनाकाण्डमें वर्णित साधनोंके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, ब्रह्मलोक, वेद तथा गुरु, जिज्ञासु आदि सब मिथ्या हैं, परंतु साधारण मन्द जिज्ञासुकी बुद्धि सहसा इस परम अद्वैत सिद्धान्त (अजातवाद, दृष्टिसृष्टिवाद अथवा केवल दो ही सत्ता हैं—पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक) में प्रवेश नहीं कर सकती । उनकी योग्यताके अनुसार क्रमशः परम सिद्धान्तमें प्रवेशकी योग्यताके सम्पादनार्थ त्रिविध सत्ता अथवा सृष्टि-दृष्टिवादका निरूपण किया गया है । अर्थात् परमेश्वरसे बना जगत् अज्ञात सत्तावाला है, इसकी व्यावहारिक सत्ता है । वेद, गुरु, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी व्यावहारिक सत्ता है । भिन्न-भिन्न विषयोंमें प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर उनका ज्ञान होता है ।

उपर्युक्त दृष्टिसृष्टिवादके पुनः दो प्रकार सिद्धान्तलेशके सृष्टिके कल्पक प्रकरणमें कहे हैं—(१) जाग्रत् प्रपञ्चकी स्वप्नसमान ज्ञानसमकालीन सृष्टि है । अर्थात् किसी पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्तिकालमें ही उस पदार्थकी उत्पत्ति है और ज्ञाननाश समयमें उस पदार्थका भी नाश हो जाता है ।

दृष्टिरेव हि विश्वस्य सृष्टिरित्यपरा विद्या ज्ञानस्वरूपमेवाहु-रित्यतः स्मृतियानिकाः ॥ ४५ ॥

स्मृति अनुसारी कुछ लोग दृष्टि ही संसार-सृष्टि कहते हैं, ऐसी दृष्टि सृष्टिका अन्य प्रकार है और यह संसार ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं ।

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपं भ्रामयन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥

(स्मृति)

इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत्को विवेकी पुरुष ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परंतु कुछ कुदृष्टि-भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप जगत्-को ज्ञानसत्तासे भिन्न देखते हैं । (सिद्धान्तमुक्तावली-जीवानन्द विद्यासागर मुद्रित ३१५ पृष्ठपर इस वादका विस्तृत निरूपण है ।)

अनुभूतिके चार भेद—उपर्युक्त विवेचनके आधारपर अखण्ड चिन्मात्र परमार्थसत्ताकी दृष्टिसे हम अद्वैत अनुभूतिके ४ भेद कर सकते हैं—(१) परमार्थ सत्ता जब कि केवल अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्ता ही अनुभूत होती है, अन्य जगत्का भानतक भी नहीं होता । जगत्की सुषुप्ति समान विस्मृत होती है । यथा उपरतिकी पराकाष्ठारूप निर्विकल्प समाधि, तुर्या अथवा तुर्यातुर्या अवस्थामें ।

(२) उत्कृष्ट प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत् प्रतीत तो होता है, परंतु प्रतीतिमात्रसे भिन्न उसको जगत् नहीं भासता । अर्थात् इसमें पदार्थकी ज्ञात अथवा अज्ञात स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । यह उपर्युक्त सिद्धान्तमुक्तावली-उक्त दृष्टिसृष्टिवादका द्वितीय भेद है । यह परमार्थ तत्त्वके अधिक समीप है । इसलिये इसे प्रातिभासिक सत्ताके दूसरे भेदसे प्रथम रखा है ।

(३) प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता नहीं, ज्ञात सत्ता है । परंतु (सं० २) में ज्ञात सत्ता भी नहीं, क्योंकि प्रतीतिकालमें प्रतीतिसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता है—दोनों एक ही कालमें उत्पन्न होते हैं । प्रतीति तथा इसका विषय दोनों समकालीन है । इसमें विषयकी प्रतीतिसे भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । विषय प्रतीतिसे पृथक् प्रतीतिसमान प्रतीतिके कालमें विषयकी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत केवल प्रतीतिमात्र ही उत्पन्न होती है, पृथक्ता भी भ्रान्ति ही है ।

(४) व्यावहारिक सत्ता अथवा सृष्टिदृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता है । प्रतीतिसे भिन्न कालमें भी विषयकी सत्ता रहती है और इसका ज्ञान प्रमाताको प्रमाणद्वारा होता है ।

अर्थात् इन चारमें नीचे चतुर्थसे आरम्भ करके जगत्का क्रमशः लोपमिथ्यात्व होता गया है । चतुर्थमें जगत् केवल जन्म, बन्ध, मोक्ष आदि रूप व्यवहारकालमें सत्य है । मोक्ष उपरान्त इसका अभाव हो जाता है । केवल परमार्थ अखण्ड चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है । तृतीयमें जन्म, बन्ध, मोक्ष मिथ्या है, परंतु केवल प्रतीतिकालमें सत्य है । द्वितीयमें प्रतीति-कालमें भी जगत्की केवल प्रतीति है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं । विषयप्रतीतिमात्र सत्य है । विषयमात्र सत्य नहीं, यह अजातवाद है । प्रथममें जगत् द्वैत प्रतीतिका नितान्त अभाव है । केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मात्मा अपनी अद्वय महिमामें प्रकाशित है ।

हम ऊपर बर्णन कर चुके हैं कि प्रमाणके बैसत्य, परस्पर विरोधका परिहार प्रथम तीन भूमियोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा हो जानेपर ब्रह्मात्माके ब्रह्माकार वृत्तिद्वारा साक्षात् होनेपर जिज्ञासु सत्त्वापत्ति चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है । यह इसीलिये सत्त्वापत्ति कहलाती है कि अब इसमें तमः रजको पूर्णतया अभिभूत करके शुद्ध सत्त्वका रज-तमकी कालिमारहित प्रकाश होता है, जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है । अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि तुर्यातुर्यास्थितिमें

संकल्प-विकल्पात्मक तथा त्रिपुटीभेदरूप मन अपने स्वरूपको खो बैठता है, मन जलमें लवण-समान विलीन हो जाता है। जैसे लवण नहीं भासता केवल जल ही भासता है, ऐसे ही मन नहीं भासता केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही आत्मरूप (निजस्वरूप) से भासता है। जगत् द्वैतका बाध हो जाता है; परंतु मनकी यह अवस्था सदा नहीं बनी रहती, फिर इसका व्युत्थान होता है। व्युत्थान दशामें जगत्में पूर्व समान सत्यत्व बुद्धि तो कदापि नहीं हो सकती, मिथ्यात्व-बुद्धि ही होती है। परंतु पुण्यपरिपाक प्रारब्ध अथवा अभ्यास-पाटवताके तारतम्यके कारण मिथ्यात्व-दृष्टिमें उपर्युक्त अवान्तर भेद रहते हैं, जिसके कारण व्युत्थानकालीन व्यवहारमें भी भेद रहता है। व्यवहार-भेदका कारण दृष्टिभेद और दृष्टिभेद-का कारण प्रारब्ध तथा अभ्यास-तारतम्य होता है। सो अब हम उपर्युक्त विवेचनके आधारपर ज्ञानकी सिद्धभूमियों-की दृष्टि तथा व्यवहारका निर्णय करेंगे।

सिद्ध ज्ञानीकी भूमिके भेदका आधार हम पूर्व यह कह चुके हैं कि समाहित अवस्थामें स्वरूप-स्थिति होती है। स्वरूपमें भेद सम्भव नहीं है। मनका व्यक्तस्वरूप नहीं होता, वह भी आत्मामें लीन होता है। परंतु प्रत्येक भूमिकाकी दृष्टि-अनुसार संस्कारोंका भेद होता है। इसलिये इन संस्कारों-की दृष्टिसे अथवा लीन दृष्टिसे अवश्य तारतम्य कहा जा सकता है। वेदान्तके सिद्धान्तों यथा ३ शरीर, ५ कोश, ३ सत्ता, २ सत्ता, दृष्टिसृष्टिवाद आदिका सामान्य ज्ञान तो एक नास्तिकको भी हो सकता है। इसलिये एक श्रद्धालु जिज्ञासु अथवा ज्ञानीके विषयमें (बुद्धिके वेदान्तकी प्रक्रियाके ज्ञानके विषयमें ऊहापोहके आधार) कैसे संदेह हो सकता है। परंतु यदि बुद्धिके ऊहापोहद्वारा संशयात्मक अथवा संशयरहित ज्ञानसे ही निर्वाह हो जाता तो तर्ककुशल पण्डित नास्तिक न देखे जाते तथा शोक-मोहग्रस्त न होते। इसलिये सत्ता-भेद तथा दृष्टि-सृष्टिभेदकी प्रक्रियाके ज्ञानमात्र तथा ब्रह्मसाक्षात्कारसे भी यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तवमें ज्ञानियोंका जगत्-मिथ्यात्वका साक्षात् अनुभव व्यावहारिक सत्ता तथा सृष्टिदृष्टिके आधारपर है। अथवा प्रातिभासिक सत्ता तथा दृष्टि-सृष्टिके आधारपर है और प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टि-सृष्टिका भी कौन-सा भेद कार्य करता है। प्रतीति-समकालीन अथवा प्रतीतिमात्र जगत् भासता है। सो साक्षात्कार ज्ञानीकी दशामें समाहित आदि कालीन आत्मा-नुभूतिमें साधारणरूपसे भेद न होनेपर भी व्युत्थानकालीन मिथ्यात्व-दृष्टिमें भेद होता है। उसीके कारण व्यवहारमें [भेद] होता है। अब इसका विवेचन करना है। इसे निम्नतम [भूमिकासे] आरम्भ किया जाता है।

(१) 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिकामें [जगत्] मिथ्यात्व बुद्धिका आधार सृष्टि-दृष्टिवाद तथा व्यावहारिक सत्ता होती है। जगत्-मिथ्यात्व भासनेपर भी व्य[वहार]-कालमें सत्य भासता है। व्यवहारकालमें भी वेद, [शास्त्र], गुरु, शिष्य, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, जिज्ञासु, सा[धन], उपदेश तथा लोकव्यवस्था सब सत्य भासती हैं। यदि ऐसा न हो तो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी भी जिज्ञा[सुको] आत्माका उपदेश नहीं कर सकता, अन्य व्यवहारकी तो [बात] ही क्या है ? क्योंकि यथार्थ व्यवहार केवल दृष्टिके अनु[सार] ही होता है। किसी वेदान्त ग्रन्थकी वर्णित प्रातिभासिक [सत्ता] अथवा दृष्टि-सृष्टिवादको जिज्ञासुको समझाना और बात [है]; परंतु दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूति अथवा स्थितिमें [उपदेश] असम्भव है। व्युत्थानकी तीन स्थिति भी सदा एकरस न[हीं] रहती, इसमें उतार-चढ़ाव रहता ही है। भिन्न-भिन्न का[लमें] भिन्न स्थिति भी हो सकती है अथवा सामान्यरूपसे भी दृ[ष्टि]-दृष्टिस्थितिमें तारतम्य हो सकता है। इसलिये ज्ञानी [अपनी] निजानुभूत स्थितिके आधारपर भी दृष्टिसृष्टिवादका उप[देश] कर सकता है। अथवा शास्त्रोक्त प्रक्रियाके ज्ञानके आधार[पर] भी; परंतु दृष्टिसृष्टिकी दृढानुभूतिकी दशामें यह उपदेश न[हीं] बन सकता; क्योंकि तारतम्यके आधारपर भी यह उप[देश] होता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि दृष्टिसृष्टि[वाद] अथवा ५, ६, ७ भूमिकाका उपदेश केवल कल्पना[पर] अवलम्बित है, अनुभूतिपर नहीं। चतुर्थ भूमिका अ[थवा] पञ्चम भूमिकाके भी तारतम्यताके आधारपर कई अवा[न्तर] भेद हो सकते हैं। चतुर्थ भूमिकाकी उन्नत दशामें तथा प[ञ्चम] भूमिकाके निम्नस्तरमें दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूति[के] आधारपर इस विषयमें उपदेश आदि सम्भव है। उपर्यु[क्त] विवेचनका सार यही है कि चतुर्थ भूमिकामें आरूढ़ ज्ञानी[को] अखण्ड-अद्वयचिन्मात्र आत्माका साक्षात्कार होता है और जगत्में मिथ्यात्व बुद्धि होती है, परंतु जगत्में व्यावहारि[क] सत्ताका शेष अनुभव जरूर होता है और समाहित अवस्था[में] इसीके संस्कार रहते हैं। इस अवस्थाके काल अथ[वा] गम्भीरता इन संस्कारोंपर ही निर्भर है। यह समाहित अवस्था इतनी गहरी नहीं होती। मनका आत्मामें लय होने[पर] इन संस्कारोंके आधारपर लीनतामें तारतम्य रहता है। [...]

लीनता अभ्यासकी अधिकतासे क्रमशः बढ़ती जाती है और दृष्टिसृष्टिवादकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अन्ततः यहीं दृष्टि स्थिर हो जाती है, व्यवहार शिथिल पड़ जाता है और ज्ञानी पाँचवीं भूमिकामें प्रवेश करता है। उपदेश आदि व्यवहार शिथिल पड़ने लगते हैं। चतुर्थ भूमिकामें जीवन्मुक्तिकी साधना प्रारब्धानुसार सम्यक्‌रूपसे की जाती है।

पञ्चम 'असंसक्ति' भूमिकामें जगत्-मिथ्यात्वकी व्यावहारिक दृष्टिका भी बाध हो जाता है। प्रातिभासिक दृष्टि अथवा दृष्टि-सृष्टिवादकी दृष्टि स्थिर हो जाती है—ऐसा ही अनुभव होता है। यह ऐसी स्थिति है जैसे सर्प चर्मके नितान्त झड़नेसे पहिले उसकी स्थिति होती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि जैसे वह चर्म सर्पकी देहसे पृथक् होता है, परंतु फिर भी देहके साथ ही लगा है। इसलिये देहके साथ उसका ऐक्य न होते हुए भी इनका ऐक्य भासता है। इसीलिये इस भूमिकाका नाम असंसक्ति है। यहाँ संसारमें आसक्ति नाममात्रकी भी नहीं रहती। अनासक्ति वैराग्य तो साधन-चतुष्टयसम्पन्न साधकमें भी होता है। इसलिये पूर्व भूमियोंमें भी इसका होना सहज है, परंतु इतना भेद होता है कि साधकका नित्यानित्य विवेकजन्य वैराग्य होता है, परंतु आगामी ज्ञानभूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वके ज्ञानके क्रमशः विकाससे इसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अन्तमें चतुर्थ भूमिकामें परम रसके साक्षात्कारसे यत्किंचित् रस भी जाता रहता है (गीता २, ५९)। इसकी नितान्त परिपक्व अवस्थाके कारण ही पञ्चम भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। यही भेद इसके विशेष नामका कारण है। परंतु यह दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्रातिभासिक सत्ता-अनुभूति अभी निम्न प्रकारकी है। जिसमें प्रतीति-कालमें जगत्, जन्म, बन्ध, मोक्ष, साधक, साधना आदि सत्य भासते हैं। इसीके आधारपर व्यवहार भी होता है। परंतु उसमें चतुर्थ भूमिकाके समान स्थिरता तथा पूर्वापर क्रम नहीं होता; क्योंकि प्रतीतिके अभाव होनेपर बन्ध-मोक्ष, शिष्य-गुरु, साधना आदिका अभाव दीखता है। इसलिये इस शिक्षादि व्यवहारमें एक क्रमयुक्त स्थिर विधि नहीं होती। उपस्थित होनेपर प्रतीति-कालमें जैसे सूझा वैसे कर दिया। यहाँ गुरु-शिष्य व्यवहार नहीं रह सकता। ऐसे महात्माओंका एक वचन, संकेत, स्पर्श, सङ्ग, सेवा, शुश्रूषा ही लौकिक तथा आध्यात्मिक अनेक गुत्थियोंको सुलझा देती है (मुण्डक ३, सांख्य ३, २)। इसमें शिक्षा, उपदेश आदि व्यवहारका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि अभी प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टिसृष्टि केवल प्रतीतिमात्र नहीं। प्रतीतिकालीन सत्ता शेष अभी अनुभव होती है। प्रारब्धानुसार अभ्यासपाटवतासे इसके संस्कारोंमें वृद्धि होती जाती है। इसलिये चतुर्थ भूमिका तथा पञ्चम भूमिकाके व्युत्थानमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्थाके प्रवेशमार्ग (स्थल) में तथा समाहित-कालीन संस्कारों तथा उनके कारण मनकी तीन अवस्थामें दोनों भूमियोंमें भेद होता है। पञ्चम भूमिमें दृष्टिसृष्टि मार्गसे निर्विकल्पमें प्रवेश होता है। इसलिये इसमें संस्कार भी इसी दृष्टिके क्रमशः बढ़ते हैं और मनकी तीन अवस्था भी गम्भीर होती है। क्रमशः यह गम्भीरता बढ़ती जाती है और अन्तमें ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादकी उत्कृष्ट श्रेणीमें प्रवेश करता है। पञ्चम भूमिकामें जहाँ उपदेश आदि व्यवहारकी शिथिलता होती है; क्योंकि प्रतीति समकालीनमात्र जगत् भासता है, इसीलिये जीवन्मुक्तिके साधन अभ्यासमें शिथिलता होती है। परंतु प्रयत्नके अभावमें भी सहज अभ्यास होता है। इसलिये चतुर्थ-की अपेक्षा समाहित अवस्था दीर्घ तथा गम्भीर होती है।

षष्ठ 'पदार्थाभावनी' भूमिकामें दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्राति-भासिक सत्ताकी उत्कृष्ट श्रेणीकी अनुभूति स्थिर होती है। जैसे इसका नाम सिद्ध करता है। इसमें पदार्थोंका नितान्त अभाव प्रतीत होता है। इस दृष्टिसृष्टिवादमें प्रातिभासिक-प्रतीतिमात्र ही पदार्थोंकी सत्ता है। पूर्व समानपदार्थ प्रतीति-कालमें उत्पन्न नहीं होते। इसलिये इनकी प्रतीतिकालमें भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। केवल प्रतीति होती है—जैसे सर्प, सिंह, मित्रका चित्र। इसलिये जैसे यह निश्चय होनेपर कि यह सर्प, सिंहका चित्र है देखनेवालेको यत्किंचित् भय नहीं होता, न इससे भासता है, न मित्रको मिलनेके लिये बढ़ता है। जैसे सर्कसमें सिंहको देखता है, ऐसे ही इस भूमिकावाला पदार्थोंको केवल देखता है; उसे यह दृढ़ निश्चय होता है कि पदार्थ हैं नहीं, केवल इनकी प्रतीति हो रही है। पञ्चम भूमिकाके समान न तो प्रतीति-कालमें इनका भाव होता है, न समाहित दशा अथवा सप्तम भूमिकाके समान इसकी प्रतीतिका अभाव होता है। जगत्‌के पदार्थोंकी प्रतीति अवश्य होती है; परंतु यह निश्चय होता है कि ये पदार्थ नहीं हैं। दृष्टिसृष्टिकी उत्कृष्ट स्थितिकी तथा साक्षात् अनुभूति इसी भूमिकामें एकरस होती है, अन्यत्र निम्नभूमिकाओंमें कुछ कालके लिये सम्भव ही हो सकती है। इसीके आधारपर कहा जा सकता है कि इस

भूमिकाकी अनुभूति तथा स्थितिका वर्णन केवल कल्पनामात्र नहीं। अन्यथा जो ज्ञानी एकरस इसी स्थितिमें रहता है, वह उपदेश आदि व्यवहार तो कदापि नहीं कर सकता, जिससे उसकी स्थिति तथा अनुभूतिका पता चले। यहाँ जगत्का नितान्त अभाव नहीं होता। चित्रके समान जगत्की प्रतीति शेष रहती है। यह बाध मिथ्यात्वकी पराकाष्ठा है। यहाँ समाहित अवस्थासे व्युत्थान अवश्य होता है, जगत् भासता है, परंतु प्रतीतिमात्र इसीलिये समाहित अवस्थामें प्रवेशका द्वार भी यही दृष्टि है। इसीके संस्कार निर्विकल्प स्थितिमें रहते हैं, जिसके कारण यह अवस्था दीर्घकालीन तथा गम्भीर होती है। मनकी लीनता भी इसी पराकाष्ठाकी होती है। इसलिये व्युत्थान होनेपर पूर्वसे व्युत्थानकालीन अनुभूतिकी दृढ़ता बढ़ती जाती है। व्युत्थान तथा समाधि दोनों परस्पर सहायक हैं। इस दृष्टिसे साधारणतया आत्मानुभूति तथा स्थिति इन ज्ञान भूमिकाओंमें समान होनेपर भी व्युत्थान-कालीन दृष्टिमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्था-में भी काल तथा गम्भीरताका भेद होता है। यह स्थिति सहज बढ़ती जाती है, तो ज्ञानी सातवीं भूमिकामें प्रवेश करता है।

सप्तम'तुर्या' नामक भूमिकामें सृष्टिदृष्टिवादको भी अवकाश नहीं मिलता; क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद तथा व्यावहारिक-प्रातिभासिक सत्ताकी गति तो वहाँतक है जहाँ जगत्में द्वैत भास रहा है। इस भूमिकामें मनकी लीनता इतनी पराकाष्ठा-की होती है कि उसका पुनः उत्थान होता ही नहीं। यहाँ केवल परमार्थ सत्ताकी निर्बाध स्फूर्ति होती है। इस भूमिका-में विदेह मोक्ष तथा इस स्थितिका ज्ञानीकी दृष्टिसे मानो एक प्रकारका नितान्त भेद नहीं होता, क्योंकि फिर वह जगत्-भेदको देखता ही नहीं। उसका जीवित शरीर दूसरोंको भासता है, जो स्थितिके साधन अन्नपान आदि न प्राप्त होनेसे थोड़े ही दिनोंमें शान्त हो जाता है। जैसे द्वैतका ज्ञानीको भान नहीं होता। सो इस भूमिकामें जगत्की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताका भी नितान्त अभाव हो जाता है, केवल अखण्ड-चिन्मात्र पारमार्थिक सत्ता ही शेष रह जाती है, यह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। शेष भूमिकाओंमें जगत् किसी-न-किसी रूपमें रहता है।

उपसंहार

ज्ञानकी इन सात भूमिकाओंके अतिरिक्त जगत् द्वैत सत्य भासता है। इसीलिये वह अज्ञानी-की अवस्था कहलाती है। ये सात ज्ञानकी भूमिका कहलाती हैं, क्योंकि इनमें जगद्द्वैत सर्वथा नहीं तो किसी अंशमें जरूर मिथ्या भासता है। प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञा साधन-भूमिका हैं और शेष चार ज्ञानकी सिद्ध भूमिकाएँ है। प्रथम तीनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन होते है जिससे क्रमशः शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण जगत्-मिथ्यात्वका बोध होता है। जगत्के मिथ्यात्व उपर्युक्त त्रिविध प्रमाणद्वारा सम्यक् बोध होनेसे सा चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है। साधकसे सिद्ध हो जा है। इससे पूर्व साधक ही रहता है; क्योंकि इससे प्रमाणोंमें परस्पर विरोध रहता है। ये भिन्न-भिन्न प्र आलापते हैं, श्रवण साधन सिद्ध होनेपर शब्द-प्रमाणसे जग मिथ्यात्व तथा अद्वय आत्माका ज्ञान कराता है, प अनुमान तथा प्रत्यक्षसे भेद सिद्ध होता है। दूसरी भिन्न भूमिके साधन मननद्वारा अनुमान भी शब्द-प्रमाण अनुमोदन करता है; परंतु प्रत्यक्ष अनुभूति भेदकी रहती है यह भी निदिध्यासनद्वारा इस भूमिकामें निवृत्त हो जाती अर्थात् प्रथम तीन भूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वका बोध क्रम भिन्न-भिन्न प्रमाणोंके परस्पर विरोधके परिहारद्वारा दृ होता है। इसीलिये इन्हें 'ज्ञानकी साधनभूमियाँ' कहा ज है। चारसे सात सिद्धभूमियाँ हैं, क्योंकि इनमें आ आत्माका साक्षात्कार समान है। इनके भेदका आधार ज्ञा की व्युत्थानकालकी व्यावहारिक आदि सत्ताके आधारपर है अथवा समाहित अवस्थाके काल, संस्कार तथा गम्भीरता आधारपर है, परंतु विशेष व्यक्त भेद व्युत्थानका व्यवहार तथा तन्मूल दृष्टिके कारण है।

जगत्-मिथ्यात्वकी सत्तामें भेद—चतुर्थ भूमि ज्ञानीकी दृष्टिमें जगत्की व्यावहारिक सत्ता होती है। इ आधारपर जिज्ञासु उपदेश आदि व्यवहार सुष्ठुरूपसे होता है यह पूर्वकी तीन तथा पश्चात्की तीन भूमिकाओंके मध्य है। साधना तथा सिद्धि दोनोंसे परिचित है, यही आचा भूमि है। शेष तीन सिद्धभूमियोंमें ज्ञानी साधना, जिज्ञा रूप द्वैतसे दूर चला जाता है, इसलिये वह आचार्यका का नहीं कर सकता। पाँचवीं भूमिकामें ज्ञानीकी जगत्में नि श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ताकी दृष्टि होती है, प्रतीतिका में जगत् स्वतन्त्र सत्य भासनेसे व्यवहार बहुत न्यून हो जाता है षष्ठमें ज्ञानीकी जगत्में उत्कृष्ट श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ता दृष्टि होती है, जगत् प्रतीतिमात्र भासता है। पृथक् स्व जगत्का अभाव भासता है। सप्तममें जगत्का भान ही न

होता, अखण्ड अद्वय चिन्मात्र तत्त्व ही भासता है । इस प्रकार जगत् मिथ्या है, इस ज्ञानमें क्रमशः विकास होता जाता है । इसलिये यह सब ज्ञान-भूमिका कहलाती हैं । प्रथम तीनमें प्रमाणविरोधका परिहार होता है, क्रमशः जगत्-मिथ्यात्व-बुद्धिका विकास होता है और शेष चार भूमिकाओंमें पूर्वकी भूमियोंकी साधनासे प्राप्त सम्यक् मिथ्यात्व दृष्टिमें सत्ताभेदसे विकास होता है । चतुर्थमें व्यावहारिक सत्ता, पञ्चममें प्रातिभासिक (कालीन) स्वतन्त्र सत्ता, षष्ठमें प्रातिभासिक (प्रतीति-) मात्र सत्ता तथा सप्तममें जगत्-प्रतीतिका अभाव—केवल परमार्थसत्ताकी प्रतीति ।

भूमिका-सार

१-भूमिकामें जगत्-मिथ्याका शब्द-प्रमाणद्वारा बोध होता है । २- ,, ,, अनुमान ,, ,, ३- ,, ,, प्रत्यक्ष ,, ,,	प्रमाणविरोध परिहार । मिथ्यात्व भेदप्रमाणके आधारपर ।
४-भूमिकामें जगत् मिथ्या होनेपर भी इसकी व्यावहारिक सत्ता शेष रहती है । —प्रतीति कालमें मिथ्या नहीं । ५-भूमिकामें प्रातिभासिक सत्ता (क) प्रतीतिकालीन सत्ता । ६- ,, ,, (ख) प्रतीतिमात्रकी सत्ता । प्रतीतिकालकी मिथ्या । ७- ,, ,, प्रतीतिका भी अभाव हो जाता है । मिथ्या सत्यका यहाँ प्रश्न ही नहीं है ।	मिथ्यात्व भेदसत्ता अथवा कालके आधारपर ।

भूमिकाओंका वर्णन वेदान्त-ग्रन्थोंमें

१-मुण्डकोपनिषद् ३; १, ४ ।

२-अक्ष्युपनिषद् ४ । ४१ ।

३-अन्नपूर्णोपनिषद् ५, ८१-९० ।

४-योगवासिष्ठ ६३, १२६ सम्पूर्ण विशेषतया ४-१३, १५-१८, २०-२२, ५८-६०, ६२-६५, ६६-६९, ७१-७३ ।
६, ८-१०, १-८ ।
३, ११८, ३-१६ ।

५-सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह ९४१-९४८ ।

६-वराहोपनिषद् ४ मन्त्र १-१०, ३० ।

७-महोपनिषद् (५-२७-३५) ५, ८, २० ।

८-बोधसार भूमिका-निर्णय, अज्ञानभूमिका माण्डूक्य उपनिषद्-३, १, ४ ।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

जो ईश्वर प्राणोंके प्राण तथा सर्वप्राणियोंके आत्मरूपसे विविध प्रकारसे प्रकाशक है, जो साधक इसको (आत्मभावसे) जानता है (यथा—यह ईश्वर मैं हूँ तथा सर्व आत्मा ही है, इससे अन्य दूसरा कुछ नहीं है) वह अन्य अनात्मपदार्थोंके विषयमें बात नहीं करता । वह आत्मामें ही क्रीड़ा करता है, आत्मामें ही उसकी प्रीति होती है, वह आत्मज्ञानध्यानकी ही क्रिया करता है । वह ब्रह्मज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ होता है । (भाष्यकार) तत्त्वानुसंधान-अनुसार इसमें सिद्धज्ञानियोंकी चतुर्थ भूमिकाओं (४-७), का वर्णन है । यथा (१) आत्मक्रीडा—मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा अपरोक्ष ज्ञानवाला ब्रह्मवित्, यह चतुर्थ भूमिकाका वर्णन है । (२) आत्मरति—अनात्म-प्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माका निरन्तर साक्षात्कारवाला ब्रह्मविद्वर—पाँचवीं भूमिकावाला ज्ञानी । (३) क्रियावान्—आत्मानन्द निरन्तर अनुभवरूप क्रियावाला षष्ठ भूमिकावाला ज्ञानी । (४) विद्वद्वरिष्ठ—सप्तम भूमिकावाला सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी ।

(क्रमशः)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[नाटक]

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

पाँचवाँ अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—अड़ेलमें वल्लभाचार्यकी बैठकके बाहरका स्थल।

समय—तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर वल्लभाचार्यकी छोटी बैठकका कुछ भाग दिखायी देता है। उसके पीछे गङ्गा बह रही हैं। बैठकके सामनेका स्थल वृक्ष और लता-गुल्मोंसे एक छोटेसे उद्यानके सदृश दिखायी देता है। अनेक तरु-लता फूले हुए हैं। दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा और जादवेन्द्रदास कुम्हार बैठे हुए हैं। सबके मुख उतरे हुए हैं, सभी उदास हैं। कोई सिर झुकाये है, कोई सामनेकी ओर शून्य दृष्टिसे देख रहा है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

दामोदरदास हरसानी—कहो, भाई! किसीके कुछ समझमें आता है कि क्या किया जाय।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—मेरी तो समझमें आनेसे रहा। मेरा काम है, नित नये मिट्टीके बर्तन बनाकर सेवा करना।

वासुदेवदास छकड़ा—और मेरी समझमें भी क्या आयगा! मेरा काम था बोझा ढोना, तीन पृथ्वी-परिक्रमाओंमें इक्कीस वर्षतक उस बोझेको ढोया। उसके पश्चात् जब बोझा ढोनेका काम गया, भोजन ही घट गया और बिना भोजनके बुद्धि कहीं काम करती है?

[वासुदेवदास छकड़ाकी बात सुन इस शोकमय वातावरणमें भी सबको हँसी आ जाती है। फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

दामोदरदास हरसानी—मेरी बुद्धिको तो कुण्ठित कर रहे हैं, अबतकके जीवनके वे सारे सुखद संस्मरण जो जीवन श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी सेवामें बीता है।

कृष्णदास मेघन—आप तो उनके सबसे निकटतम व्यक्ति हैं। वे संस्मरण आपकी बुद्धिको कुण्ठित करते हों इसमें आश्चर्य ही क्या? पर आप उनके जितने निकट हैं हम उतने न भी सही, फिर भी हममेंसे ऐसा कौन है जो इन चालीस वर्षोंतक उनके साथ रहनेपर इन चालीस वर्षोंके संस्मरणोंसे ओत-प्रोत न हो।

दामोदरदास हरसानी—अरे, हम तो इस दीर्घकाल निरन्तर उनके साथ रहे। अतः हमारी तो यह स्वाभाविक ही है, जो एक बार भी उनके दर्शन कर है, वह जीवन भर उनके पुनः दर्शनके लिये आकुल रहता

वासुदेवदास छकड़ा—हाँ, यह तो मैंने भी नि देखा है।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—मैंने भी।

दामोदरदास हरसानी—और उनका यह संन्यास हम सबको इस अलौकिक सहवाससे वञ्चित कर देगा धन्यभाग्य था माधवभट्ट काश्मीरीका जिन्होंने ऐसे समय इस संसारको ही छोड़ दिया।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—परंतु, हम सब भी तो सं ले सकते हैं।

वासुदेवदास छकड़ा—वे संन्यासियोंकी इस टो अपने साथ रखना स्वीकार करें तब तो।

[फिर सबको हँसी आ जाती है]

कृष्णदास मेघन—परंतु संन्यासकी अवस्थामें हम साथ न रखनेका उनका विचार तो ठीक ही है।

वासुदेवदास छकड़ा—यह क्यों?

कृष्णदास मेघन—इसलिये कि सच्चा संन्यास निरास सीमा है। हम संन्यासी होना चाहते हैं उनके सहवा आसक्तिके कारण। वह संन्यास नहीं, पाखण्ड होगा। इस आजकलकी परिस्थितिमें वे अपनेको छोड़कर अन्य कि संन्यास लेनेके पक्षमें नहीं हैं।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—तब, क्या किया जाय?

[फिर कुछ देर निस्तब्धता]

दामोदरदास हरसानी—अभी, गोपीनाथजी और वि नाथजी वयस्क नहीं हुए हैं, अतः सम्प्रदायके हितकी दृ भी उनका संन्यास लेना उचित नहीं।

कृष्णदास मेघन—परंतु, वे कहते हैं, पृथ्वी-परि सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अखिल भू-मण्डलके कोने-को

पहुँचा दिया। सम्प्रदायकी सुरक्षाके लिये सारी ग्रन्थ-रचना कर डाली। श्रीनाथजीकी सेवाका कार्य रामदास साँचोरा और कृष्णदासके सदृश उत्तरदायी व्यक्तियोंको सौंप दिया। श्रीनाथजीके कीर्तनके लिये सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदासके सदृश कीर्तनियोंको नियुक्त कर दिया। विवाह कर सम्प्रदायके आगेके प्रचारके लिये योग्य उत्तराधिकारियोंको उत्पन्न कर दिया और जबतक वे अल्पवयस्क हैं, तबतक हरसानीजी सम्प्रदायका कार्य चलायेंगे। अतः उन्हें अब संन्यास लेना ही चाहिये।

जादवेन्द्रदास कुम्हार–परंतु, उनकी भी अभी बहुत अवस्था नहीं हुई है।

वासुदेवदास छकड़ा–और हमारी संस्कृतिमें तो पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें वानप्रस्थका विधान है।

दामोदरदास हरसानी–परंतु, इतने शीघ्र उनके संन्यास लेनेके विचारका एक कारण है।

कृष्णदास मेघन–कौन-सा ?

दामोदरदास हरसानी–एक दिन कहते थे दो बार भगवान्की आज्ञा हो चुकी शीघ्र स्वधाम लौटनेकी।

कृष्णदास मेघन–ऐसा !

दामोदरदास हरसानी–एक बार गङ्गासागर-संगमपर और दूसरी बार मधुवनमें। परंतु, उस समयतक वे यह मानते थे कि अभी उनका कुछ कार्य अवशिष्ट है। अब कहते हैं कि कार्य समाप्त हो गया। अतः यदि तीसरी बार आज्ञा हुई तो उसकी उपेक्षा न हो सकेगी।

कृष्णदास मेघन–इसीलिये संन्यासकी शीघ्रता है ?

दामोदरदास हरसानी–हाँ, इसीलिये।

कृष्णदास मेघन–(विचारते हुए) तीसरी बार आज्ञा हो तो। अतः इस समय तो संन्यासका यह प्रस्ताव टालना ही चाहिये और इसके लिये मुझे एकाएक एक उपाय सूझा है।

सब एक साथ–(उत्सुकतासे) कौन-सा ?

कृष्णदास मेघन–हमारे धर्ममें संन्यासके लिये यदि माता हो तो माताकी, तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा आवश्यक है।

दामोदरदास हरसानी–(प्रसन्नतासे) ठीक, सर्वथा ठीक। तो चलो हम सब अक्काजीसे कहें, वे उन्हें संन्यासकी अनुमति कदापि न दें।

सब–(एक साथ प्रसन्नतासे) शीघ्र चलो।

दामोदरदास हरसानी–हाँ, हमारे पहुँचनेमें कहीं देर न हो जाय और वे आज्ञा न ले लें।

[चारों उठकर जाना ही चाहते हैं कि अक्काजीका प्रवेश। उन्हें देख चारों दण्डवत् करते हैं।]

दामोदरदास हरसानी–बड़ा अच्छा शकुन है। हम लोग आपकी सेवामें आ रहे थे, सौभाग्यसे आप ही पधार आयीं।

अक्काजी–कहिये, क्या आज्ञा है ?

कृष्णदास मेघन–हमारी आज्ञा ! आप हँसी कर रही हैं।

अक्काजी–सब लोग इकट्ठे होकर आते थे न !

वासुदेवदास छकड़ा–इकट्ठे होकर तो इसलिये आ रहे थे कि प्रार्थनामें कुछ बोझा हो जाय।

जादवेन्द्रदास कुम्हार–इन्हें तो सदा बोझा-ही-बोझा दीखता है।

अक्काजी–बहुत ढोया न !

वासुदेवदास छकड़ा–अब ढोनेको नहीं मिलता। इसलिये वह और अधिक याद आता है। (दीर्घ निःश्वास छोड़कर) वे भी दिन थे।

कृष्णदास मेघन–(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) हाँ, दिन कब सदा एक-से रहते हैं !

अक्काजी–तो कहिये, कैसे आ रहे थे ?

दामोदरदास हरसानी–आपने वज्रपातवाला संन्यास लेनेका समाचार सुना ही होगा !

अक्काजी–(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) हाँ, सुना है।

कृष्णदास मेघन–फिर ?

अक्काजी– (पुनः दीर्घ निःश्वास छोड़कर) फिर क्या कहूँ ? मैं तो आज्ञानुगामिनी हूँ।

कृष्णदास मेघन–आज्ञानुगामी तो हम सभी हैं। पर धर्मशास्त्रके अनुसार संन्यास लेनेमें उन्हें आपका आज्ञानुगामी बनना होगा।

अक्काजी–(कुछ प्रसन्नतासे) ऐसा !

कृष्णदास मेघन–धर्मशास्त्रमें स्पष्ट निर्देश है कि यदि माता हो तो माताकी आज्ञा बिना तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा बिना कोई संन्यास नहीं ले सकता।

अक्काजी–(अत्यन्त प्रसन्नतासे) तब मैं आज्ञा देनेवाली नहीं हूँ ।

दामोदरदास हरसानी–(प्रसन्नतासे) हमारा काम हो गया ।

[चारोंका दण्डवत् कर प्रस्थान, अक्काजी इधर-उधर घूमकर लता-गुल्मों और उनके पुष्पोंको देखती हैं और गाने लगती हैं ।]

हरि तेरी लीला की सुधि आवति ।
कमल नयन मोहन मूरति कौ
मन मन चित्र बनावति ॥
एक बार जेहि मिलत दया करि
सो कैसे बिसरावति ।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि
चालु मनोहर भावति ॥
कबहुँक निबिड तिमिर आलिंगनि
कबहुँक पिक स्वर गावति ।
कबहुँक संभ्रम 'क्वासि क्वासि' करि
संग हीन उठि धावति ॥
कबहुँक नयन मूँद अंतर गति
बनमाला पहरावति ॥
परमानँद प्रभु स्याम ध्यानि करि
ऐसे बिरह गमावति ॥

[गान पूर्ण होनेपर वल्लभाचार्यका प्रवेश । वल्लभाचार्यको देख अक्काजी उनके निकट आ जाती हैं और दोनों एक वृक्षके नीचे बैठ जाते हैं ।]

वल्लभाचार्य–अब मैं जीवनके अन्तिम कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये तुमसे आज्ञा लेने आया हूँ ।

अक्काजी–संन्यास लेनेकी न ! वह मैं सुन चुकी हूँ और उस विषयमें कोई वाद-विवाद, तर्क-वितर्क करनेके लिये प्रस्तुत नहीं । मेरी अनुमतिके बिना आप चाहें तो संन्यास ले सकते हैं । (उठकर जाने लगती हैं ।)

वल्लभाचार्य–सुनो, कुछ सुनो भी तो !

अक्काजी–मैंने आपसे कहा न ! इस सम्बन्धमें मैं कोई वाद-विवाद, कोई तर्क-वितर्क करनेके लिये तैयार नहीं हूँ ।

वल्लभाचार्य–तुमने तो इतने शीघ्र मुझसे किसी वार्तालापका कभी अन्त नहीं किया । कुछ सुनो भी तो !

अक्काजी–सुन लेती हूँ, पर आप भी सुन लीजिये । आप एक बार, सौ बार, सहस्र बार, लक्ष बार, कोटि[illegible] असंख्य बार इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना हो कहते [illegible] मैं मूर्तिके सदृश सुनती जाऊँगी और यदि मेरा उत्तर [illegible] तो एक ही उत्तर दूँगी कि इस विषयमें मैं कोई वाद-वि[illegible] कोई तर्क-वितर्क करनेको प्रस्तुत नहीं । (कुछ रुककर) [illegible] मैं जीवनभर आपकी आज्ञानुगामिनी रही हूँ, मैं जानती [illegible] धर्मशास्त्रके अनुसार इस सम्बन्धमें आपको मेरा आज्ञा[illegible] होना होगा और मैं आपको संन्यास लेनेकी अनुमति [illegible] कदापि नहीं दूँगी ।

वल्लभाचार्य–इसे क्या स्त्री-हठका नाम दिया जा[illegible]

अक्काजी–जो नाम आपको देना हो, दीजिये !

वल्लभाचार्य–मैं तुम्हारी आज्ञाके बिना संन्यास ले[illegible] सकता, यह तो सत्य है । परंतु··

अक्काजी–(बीचहीमें) इसमें कृपाकर किंतु-[illegible] कोई स्थान न दीजिये ।

[गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश । गोपीनाथकी [illegible] अब लगभग अठारह वर्ष और विट्ठलनाथकी अब लगभग [illegible] वर्षकी हो गयी है । दोनों अब और भी सुन्दर दिखायी देते [illegible]

अक्काजी–(गोपीनाथ और विट्ठलनाथको देख उन्हें [illegible] निकट बुला, वल्लभाचार्यसे) आपने तीन-तीन पृथ्वी-परि[illegible] कर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको भूमण्डलके हर नगर और [illegible] पहुँचा दिया । श्रीनाथजीकी प्रतिष्ठा कर उस सम्प्र[illegible] मूर्तिमान्‌रूप दे दिया । सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी [illegible] लिये ऐसी ग्रन्थ-रचना की, जो अद्वितीय कही जा सकती [illegible] विवाह किया भगवदाज्ञासे योग्य उत्तराधिकारियोंके लिये [illegible] दोनों उत्तराधिकारियोंको पहले अपने सदृश बना दीजिये [illegible] संन्यासकी बात सोचियेगा ।

[वल्लभाचार्य कोई उत्तर न दे सिर झुका लेते हैं ।]

(लघु यवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान–अडैलमें वल्लभाचार्यकी बैठकका एक कक्ष

समय–रात्रि–[वही कक्ष है जो चौथे अङ्कके पहले [illegible] था । रात्रिकी वार्ताकी तैयारी हो रही है । रजो एक [illegible] काष्ठके सिंहासनपर श्रीनाथजीके चित्रको पुष्पमाला पहिना र[illegible] सिंहासनके सामने एक पाटेपर कपड़ेके बस्तेमें बँधी हुई [illegible] हुई है । रजो गा रही है ।]

बिमल जस बृंदाबन के चंद कौ।

कहा प्रकास सोम सूरजको, जो मेरे गोविंद कौ॥

कहत जसोदा सखियन आगे, वैभव आनँदकंद कौ।

खेलत फिरत गोप बालक सँग, ठाकुर परमानंद कौ॥

[रजोका गीत पूरा होते-होते गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश। गोपीनाथ पोथीके निकट बैठकर पोथी खोलते हैं। विट्ठलनाथ इनके निकट बैठ जाते हैं। वल्लभाचार्य और अक्काजीका प्रवेश। वे भी सिंहासनके निकट बैठ जाते हैं। गोपीनाथ वार्त्ता आरम्भ करते हैं।]

गोपीनाथ–

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥

एक समै सँग खेलत-खेलत कृष्ण सखा समुदाई।

दाऊ सहित गोपबालन ने माँ पै खबर जनाई॥

जसोदा तेरे लाला ने माटी खाई॥

तब लालाको हित चाहनवारी जसोदा मैयाने कृष्णको हाथ पकरिके डरपायो और डरपनमें भयसहित चंचल चितवनवारे नैन जाके, ऐसे कृष्ण तें जसोदा बोलीं—अरे चपल! तैंने अकेलेमें जायके माटी क्यों खायी? ये तेरे साथके खेलनवारे सगरे बालक कहत हैं। तेरो बड़ो मैया बल्देव हू कहत है। जो तैंने साँचे ही माटी नहीं खायी है तो अपनो मुख उघारके दिखाय दै। ऐसे जब कृष्ण सों कही तब हरि अपने नेंकसे मुखको उघारिके मैयाको दिखावत भये। जसोदाने कृष्णके मुखमें स्थावर-जंगम सभी जगत्को देख्यो तथा वाई मुखमें एक जसोदा हाथमें साँटी लेकर माटी खाइबो देख रही है, यह भी देख्यो। तब जसोदाको बड़ी शङ्का भई—

अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥

वल्लभाचार्य–

अथो दर्शनानन्तरं यस्माद्भगवतः सकाशादेतत् प्रतीयते यत्सुदुर्विभाव्यम् अतः स अलौकिको भवति इति तत्पदं प्रणताऽस्मीति सम्बन्धः।

[वल्लभाचार्यके उपर्युक्त वक्तव्यके पश्चात् वार्ता समाप्त हो जाती है। गोपीनाथ पोथी बाँधते हैं और सब लोग मिलकर कीर्तन करते हैं।]

भजन बिन जीवत जैसे प्रेत।

मन मलीन घर घर प्रति डोलत उदर भरन के हेत॥

कबहुँक पावत पाप को पइसा, गाड़ि धूरमें देत।

सेवा नहिं गोविंद चंद को, भवन नील को खेत॥

मुख कटु बचन करत पर निंदा, संतन कूँ दुख देत।

सूरदास बहुत कहा कहुँ, डूबे कुटुंब समेत॥ भजन०॥

[गान पूर्ण होते-होते कक्षके एक ओर अग्नि लगती है। अग्नि शीघ्र ही फैलने लगती है।]

रजो–(चिल्लाकर) अरे, अग्नि.......अग्नि.....

गोपीनाथ–(घबराकर अग्निकी ओर देखकर) हाँ, अग्नि।

विट्ठलनाथ–(घबराकर अग्निकी ओर देखकर) हाँ, हाँ!

अक्काजी–(घबराकर) अरे, यह तो सारी बैठक जलायेगी। चलो बुझानेका प्रयत्न करें। (वल्लभाचार्यसे) आप तो घरसे बाहर निकलिये!

[सब लोगोंका शीघ्रतासे प्रस्थान।]

वल्लभाचार्य–(जाते-जाते) यह योगकी बात है। भगवान्की इच्छा थी, मैं संन्यास लूँ, अक्काजीने मुझे घरसे बाहर जानेकी आज्ञा दे दी।

(लघु यवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय–संध्या।

[वही आँगन है, जो पहले अङ्कके दूसरे दृश्यमें था। आँगनमें बिछावनके ऊपर अनेक पण्डित बैठे हुए हैं। परंतु उस घटनाको इकतालीस वर्षका समय व्यतीत हो जानेके कारण उस समयके पण्डितोंमें बहुत थोड़े पण्डित इस समुदायमें दृष्टिगोचर होते हैं। फिर उस समय जो तरुण थे, वे अब वृद्ध हो गये हैं, अतः उन्हें पहचाना नहीं जा सकता। वेष-भूषा सबकी उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न ढंगकी है, जैसी उस समय थी। सारा दृश्य वैसा ही दिखता है, जैसा उस समय दीख पड़ता था।]

एक पण्डित–स्मरण है, विद्वद्वरो! लगभग इकतालीस वर्ष पूर्व मैंने वल्लभाचार्यके सम्बन्धमें यहाँ क्या कहा था और उसपर उस समयके यहाँके पण्डितवर्गने मेरा कैसा तिरस्कार किया था।

दूसरा–उस समयके तो अब गिनतीके ही व्यक्ति बचे होंगे।

कुछ पण्डित–(एक साथ) हम तो उस समय विद्यार्थी थे।

तीसरा–आपके सदृश मैं भी उस समय युवावस्थामें था, मुझे उस दिनकी घटनाकी सब बातें अच्छी तरह स्मरण हैं।

चौथा–मैं भी उस समय था, मेरी भी युवावस्था ही थी। पर उस घटनाकी मुझे धुँधली-धुँधली-सी ही स्मृति है।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इकतालीस वर्षका बड़ा लम्बा समय होता है।

चौथा–परंतु उसके पश्चात् जब वे फिर एक बार काशी पधारे थे और श्रीविश्वनाथके मन्दिरपर पत्रावलम्बन पत्र चिपका-चिपकाकर शास्त्रार्थ करते थे, उस समयका मुझे भलीभाँति स्मरण है।

पाँचवाँ–उसका तो कई लोगोंको स्मरण होगा।

कुछ पण्डित–(एक साथ) कईको।

पहला–पर मुझे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही वल्लभाचार्यमें न जाने कैसे कुछ अलौकिक प्रतिभा दिखायी देती थी।

तीसरा–इसीलिये आपने कहा था कि यहाँका पण्डित-वर्ग उनके साथ अन्याय कर रहा है।

पहला–परंतु उनमें प्रतिभा देखने और पण्डितोंके व्यवहारको अन्यायपूर्ण माननेपर भी उस समय मेरा भी साहस उनका साथ देनेका नहीं हुआ।

पाँचवाँ–मानव अपने समुदायसे विलग हो क्वचित् ही रह सकता है।

चौथा–और पत्रावलम्बनके शास्त्रार्थके समय भी यहाँके अधिकांश पण्डितोंने उनके साथ अन्याय ही किया था।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इसमें संदेह नहीं।

पहला–परंतु, विद्वद्वर ! अब तो उनकी विद्वत्ता, उनके चरित्र, उनके कार्य सबने सिद्ध कर दिया कि वे इस कालके अद्वितीय अवतारी पुरुष हैं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

पहला–अब भी क्या इस विषयमें कोई मतभेद है।

सारा समुदाय–(एक साथ) थोड़ा भी नहीं, थोड़ा भी नहीं।

पहला–वर्णाश्रमधर्मका अद्भुत पालन किया उन्होंने !

तीसरा–और उस पालनमें कितनी उदारता रही।

पहला–इसलिये कि उन्होंने वर्णाश्रमधर्मको सच्चे रू[illegible] समझा है।

तीसरा–यह कदाचित् इसलिये कि उनके सारे [illegible] भगवत्-आज्ञासे होते हैं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) हाँ, यह भी सुना जाता है।

पहला–अब सुना, भगवदादेश हुआ है, स्वधाम लौटने का ! इसीलिये अन्तिम आश्रम संन्यास ग्रहणकर मोक्षदायि[illegible] काशीमें महाप्रस्थानके लिये पधारे हैं।

तीसरा–ओह ! उनके इस महाप्रस्थानके पश्चात् [illegible] समयकी, इस जगत्‌की ज्योति ही चली जायगी और एक [illegible] तो समस्त सृष्टिमें अन्धकार हो जायगा।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इसमें संदेह नहीं, [illegible] संदेह नहीं।

पहला–पधार ही रहे होंगे इसीलिये आज यहाँ पधारे है कि नयनभर-भर दर्शन तो कर लें। वाणी तो अब श्रवण करनेको मिलेगी नहीं, क्योंकि अखण्ड मौन है।

तीसरा–हाँ, इस सम्बन्धमें काशी बड़ी अभागिनी रही पहले उनका तिरस्कार किया, फिर पधारे तो शास्त्रार्थ हुआ पत्रावलम्बनद्वारा और अब पधारे तो मौन हैं।

[वल्लभाचार्यका प्रवेश । अब वे संन्यासीके वेशमें हैं परंतु उन्होंने त्रिदण्ड संन्यास लिया है, इसलिये शिखा-सूत्र त्याग नहीं हुआ है। गेरुए रंगकी कौपीन धारण किये हैं, एक हाथ में दण्ड है और दूसरेमें कमण्डलु। इन्हें देखते ही सारा पण्डित समुदाय उठकर अत्यन्त श्रद्धासे दण्डवत् करता है। वल्लभाचार्य मुसकराते हुए मस्तक झुका इस दण्डवत्‌का उत्तर देते हैं। वे बैठ जाते हैं और दण्ड, कमण्डलु अपने पास रख लेते हैं। उनके पीछे पीछे गोपीनाथ, विट्ठलनाथ, दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, जादवेन्द्रदास कुम्हार, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास आते हैं। ये लोग भी बैठ जाते हैं। वल्लभाचार्य दोनों हाथोंसे अपने साथियोंकी ओर संकेत करते हैं और पण्डित समुदायकी ओर देखते हैं।]

पहला–आचार्यवर कदाचित् इस बातपर आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं कि उनके ये दोनों पुत्र और समस्त साथी भी काशी पहुँच गये !

[वल्लभाचार्य सिर हिला स्वीकारात्मक संकेत करते हैं।]

दामोदरदास हरसानी–ऐसे समय भी हम सब न पहुँचें यह कैसे सम्भव है !

सूरदास–हाँ, एक ही व्यक्ति नहीं पहुँच सके, कुम्भनदासजी, क्योंकि वे तो पलमात्रको भी श्रीनाथजीसे विलग रह नहीं सकते ।

पहला–महाप्रभु ! आपने तो सब कुछ कर डाला । पीछेके लिये कुछ आज्ञा न देंगे ।

[वल्लभाचार्य संकेतसे कागज, कलम, दावात माँगते हैं । एक व्यक्ति जाकर तीनों वस्तुएँ ला वल्लभाचार्यके सम्मुख रखता है । वल्लभाचार्य कागजपर लिखते हैं । सारा समुदाय एकटक आतुरतासे उनकी ओर देखता है । वल्लभाचार्य लिखनेके पश्चात् उस कागजको पहले पण्डितको देते हैं, वे पहले उसे ध्यानपूर्वक मनमें पढ़ते हैं और फिर उच्च स्वरसे]

यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन ।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत ॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम ।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ॥
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा ।
सेव्यः स एव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः ॥
मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे ।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित् ॥

[सारा उपस्थित समुदाय अत्यधिक ध्यान और तल्लीनतासे स्तम्भित-सा होकर इन श्लोकोंको सुनता है । इसके पश्चात् भी कुछ देर निस्तब्धता रहती है ।]

पहला–हम काशीनिवासी बड़े मन्दभागी हैं कि सारे भूमण्डलने तो आचार्य महाप्रभुकी वाणी सुनी, पर हम इससे वञ्चित रह गये । परंतु, एक बातके कारण हम फिर भी सौभाग्यशाली हैं कि इस प्रसंगपर महात्मा सूरदासजी यहाँ पधार आये हैं, यदि उनका एक कीर्तन हमें सुननेको मिल जाय ।

सारा समुदाय–(एक साथ) अवश्य, अवश्य ।

[वल्लभाचार्य संकेतसे दामोदरदास हरसानीको सूरदासको कीर्तन करनेके लिये कहते हैं ।]

दामोदरदास हरसानी–(सूरदाससे) सूरदासजी ! आचार्य महाप्रभुकी इच्छा है कि इस पण्डित-समाजको आप एक कीर्तन सुनायें ।

[सूरदासजी गान आरम्भ करते हैं ।]

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।
श्रीबल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अंधेरो ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो ॥
सूर कहा कहि दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥

(यवनिका)

उपसंहार

स्थान—काशीमें गङ्गाका हनुमानघाट ।

समय—मध्याह्न ।

[गङ्गाका प्रवाह रविरश्मियोंमें चमक रहा है । अपार जनसमुदाय एकत्रित है । परंतु, इतना अधिक जनसमुदाय होनेपर भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता, एक विचित्र प्रकारकी निस्तब्धता छायी हुई है । वल्लभाचार्य आते हैं । उनका गङ्गामें प्रवेश, वे गङ्गाके बहावपर चलते हुए दिखायी पड़ते हैं । कुछ ही देरमें उनके चारों ओर पानीपर उसी प्रकारका अग्निकुण्ड-सा दिखता है, जैसा नाटकके उपक्रममें चम्पारण्यमें उनके जन्मके समय उनके चारों ओर दिख रहा था । थोड़ी ही देरमें उनका शरीर अदृश्य हो जाता है और यह अग्निकुण्ड सिमटकर एक प्रज्वलित प्रकाश आकाशकी ओर चला जाता है ।]

(यवनिका)

समाप्त

गूँगेका गुड़

जाको मन लाग्यो नन्दलालहि, ताहि और नहिं भावै हो ।
ज्यों गूँगो गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै हो ॥
जैसे सरिता मिलै सिंधु कौं बहुरि प्रबाह न आवै हो ।
ऐसे सूर कमललोचन तें चित नहिं अनत डुलावै हो ॥

—सूरदासजी

वैदिक-उपासना-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीबेचू मिश्रजी शास्त्री, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

मनुष्य कामनामय प्राणी है । किसी कामनाकी सिद्धिके लिये मनुष्यको ज्ञान, बल तथा क्रियाशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है और बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वोक्त शक्तियोंको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं तथा अपनी-अपनी रुचि, क्षमता और सुविधाके अनुसार भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्राप्त करते हैं । अतः शक्ति-संचयकी चेष्टा अथवा शक्ति-उपासना मनुष्यमात्रकी सहज प्रकृति तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति है । प्रश्न है कि किस प्रकारसे शक्ति-उपासना करनी चाहिये कि जिससे जीवनमें सफलता मिले ।

'उपासना' शब्द उप अर्थात् समीप तथा आसना अर्थात् स्थितिनिष्ठाके योगसे बनता है । अब विचारणीय है कि किसके समीप स्थितिकी निष्ठा अथवा संयुक्त रहनेकी वासना प्राणिमात्रमें स्वभावतः प्रबल होती है ? इस प्रश्नका केवल तथा प्रायः सर्वसम्मत उत्तर यही मिलेगा कि माताकी समीपस्थिति-निष्ठा प्रथमतः अत्यन्त प्रबल प्राणिमात्रमें पायी जाती है । यह बिल्कुल स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्राणिमात्रका शरीर माताके शरीरसे बनता है तथा प्राणिमात्रकी सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट कामना क्षुधाशान्तिकी पूर्ति प्रथमतः मातासे ही होती है । इन कारणोंसे मानवमें मातामें सहज निष्ठा, श्रद्धा-भक्ति इतनी प्रगाढ़ होती है कि शैशवावस्थामें माता अपने पुत्रको जिस पुरुषका सम्बोधन पितारूपसे बताती है, शिशु उसी पुरुषको अपना पिता मानता तथा जानता है तथा उसी पुरुषमें आजन्म श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-निष्ठ आदरणीय भाव रखता है; क्योंकि पिताके परिचय-से ही मनुष्यको अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है । मानवदेहका निर्माण माताके शरीरसे ही प्रथमतः होता है, इसी कारण मनुष्य ललनाओंके सौन्दर्य-माधुर्य, स्वर-माधुर्य तथा व्यवहार-माधुर्यसे आजन्म आकर्षित, मनोरञ्जित तथा प्रभावित होता है । इन्हीं तथ्योंको ध्यानस्थ रखकर सृष्टिकालारम्भसे ही मनीषीलोग शक्ति-उपासना मातारूपमें ही करते आये हैं; क्योंकि व्यक्ति-विशेषकी तरह समस्त चराचरमय ब्रह्माण्डका भी जन्म माता या शक्तिके ही गर्भसे होता है, जो शक्ति अपनी गोदमें ब्रह्माण्डको धारण करती है तथा अपनेमें ही ब्रह्माण्डको विलीन भी कर लेती है । इसीलिये वेदोंका विधान है कि 'अहरहः संध्यामुपासीत' नित्य, प्रतिदिन संध्योपासना करनी चाहिये । यह विधान द्विजोंके लिये अनिवार्य रक्खा गया है ।

संध्योपासनाकी उपयोगिता, उपादेयता तथा अनिवार्यता हृदयंगम करनेके लिये हमें इस बातपर ध्यान देना पड़ेगा कि प्राकृत मनुष्यकी बुद्धि स्वभावतः भ्रान्तिपूर्ण तथा विषयगोचर होती है तथा मन कामना-भिभूत होता है, जिसके कारण मनुष्यका मन रात-दिन विषयोंके दर्शन, अन्वेषण, स्मरण, चिन्तन तथा आलोचनमें ही लगा रहता है । फलतः उसकी बुद्धि धीरे-धीरे संकुचित होकर उसको पूर्णतः स्वार्थान्ध कर देती है । जिससे देश, काल, परिस्थिति तथा आर्थिक वैयक्तिक स्थितिको ध्यानमें रखकर धर्म, कर्म तथा व्यवहार करनेकी धीरता, क्षमता तथा समझ मनुष्यमें नहीं रह जाती तथा जीवनपर्यन्त उसका मन चञ्चल, अशान्त, व्यग्र तथा दुखी बना रहता है । फलतः मनुष्यके बल, वीर्य तथा आयुकी हानि होती है । इतना ही नहीं, उस मानसिक परिस्थितिमें मनुष्य प्रत्येक पदार्थका मूल्याङ्कन अपने विशिष्ट स्वार्थ तथा संकुचित दृष्टिसे करता है । स्वार्थ तथा दृष्टिकोणमें विभिन्नता होनेके कारण मनुष्यों-में एक ही पदार्थके विषयमें अनेक मत हो जाते हैं, जिनके कारण मनुष्योंमें पारस्परिक कलह, दुराव, क्षुद्र, वै-

वैमनस्य, विद्वेष तथा प्रतिस्पर्धा आदि अनेक तथा अनन्त अनर्थकारी समाज-विरोधी दोषोंका प्रादुर्भाव तथा प्राबल्य हो जाता है और मानवसमाज विघटित होकर नरक या क्षुद्र मनुष्योंका समूह हो जाता है। जिनके जीवनमें कलहप्रियता पशुओंकी तरह स्वच्छन्द रूपसे क्रीडन करती है। सुचित्त विवेचनसे ज्ञात होगा कि विविध कामनाओंके कारण मनकी अनेकरसता ही मानसिक चञ्चलताका मूल है तथा मानसिक चञ्चलता ही दुःखभावनाका मूल है। इसीलिये प्राकृत मनुष्य साधारणतः निद्रितावस्थामें ही जब मन पूर्णतः शान्त तथा निष्क्रिय रहता है, पूर्ण सुखानुभूति पाता है। इस विषम परिस्थितिसे समाज तथा मनुष्यके रक्षण-के लिये कामनाभिभूत मानव-मनकी अनेकरसताको दबाकर मनको एकरसमें लीन करनेके लिये ही संध्योपासनाका अनिवार्य विधान है।

आचमन, प्राणायाम, मार्जन, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जप संध्योपासनाके प्रधान अङ्ग हैं। संसार नश्वर है—इस बातका सतत स्मरण हमें तभी रह सकता है जब कि हमारा शरीर तथा मन पवित्र हो। इस गूढ़ विषयको हृदयंगम करानेके लिये आचमनका विधान है। इस शरीरका संचालक प्राण है। प्राणोंकी चञ्चलता तथा उद्विग्नतासे श्वास-प्रश्वासकी गति तीव्र हो जाती है, मन अशान्त हो जाता है, जिससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है। किंतु विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे प्राण गम्भीर होने लगता है, मन शान्त तथा स्थिर होने लगता है, श्वास-प्रश्वासकी गति संतुलित हो जाती है, जिससे मनुष्य दीर्घायु होता है—इसलिये प्राणायामका विधान है। जल जीवनाधार तथा तृष्णा-शामक है——आत्मशक्ति वा नारायणका प्रत्यक्ष स्वरूप है, शुद्धिका सर्वप्रधान साधन है। जलकी पवित्रताकी तारतम्यताके अनुसार मनुष्यके बल, बुद्धि, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आयुमें वृद्धि वा ह्रास हो सकता है। अतः जलकी पवित्रताके महत्त्वको हृदयंगम करानेके लिये मार्जनका विधान है। सूर्यदेव ही सब जीवोंके पोषक, व्यवहारके संचालक तथा आत्मशक्तिके द्योतक हैं, इनमें श्रद्धा रखकर इनका नमस्कार करनेसे मनुष्य कालचक्रके भँवरसे भी पूर्णतः शान्त तथा स्वस्थ रह सकता है, इसलिये सूर्योपस्थान-का विधान है।

संध्योपासना मुख्यतः पराजननी संध्यामाता एवं आत्मशक्तिकी उपासना है। आत्मशक्तिके स्वरूप तथा प्रकृष्ट विकासका प्रत्यक्ष दर्शन सूर्यमण्डलमें होता है, अतः गायत्री-जपके समय आत्मशक्तिका ध्यान हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें करते हुए यह प्रार्थना की जाती है कि समस्त विश्वकी नियामक, प्रेरक, संचालक तथा नियन्त्रण-कर्त्री आत्मशक्तिके प्रेरणानुसार मेरी बुद्धि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-सम्बन्धी कार्योंमें लगी रहे। अर्थात् मेरी बुद्धि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'में परिनिष्ठित हो। ऐसा चिन्तन करते-करते ज्यों-ज्यों मनुष्यकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धिकी भ्रान्ति, जडता, संकोच, विवेकहीनता धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है और मनुष्यमें सद्विचार तथा विवेकका उदय होता है। तब मनुष्यको सूझने लगता है कि यथार्थ सुखकी केन्द्र तथा जननी आत्मशक्ति ही है, जो समस्त चराचर विश्व तथा सब मनुष्योंमें एक ही है, जिसके आश्रयसे मनुष्य अपने प्रारब्ध तथा भाग्यको भी देशकालानुसार बदल सकता है। वह करुणामृतसागर है। सबके हृदयमें चेतना, आनन्द, ज्योति, वाणी, तुष्टि, धैर्य, पुष्टि आदि रूपोंमें वर्तमान है। अपने ज्ञान, ध्यान तथा सम्मानसे प्रसन्न होकर वह मनुष्यमें बुद्धिरूपसे प्रतिष्ठित होकर मनुष्यको सांसारिक सुखके साथ आत्मसाक्षात्कार कराकर जीवन सफल बना सकती है, अतः बुद्धिमान् मनुष्यको आत्म-शक्तिको ध्यानमें रखकर सब काम करना चाहिये। यही बुद्धियोग वा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको अपनी क्रियाकी प्रतिक्रियापर ध्यान रखते हुए सब काम

करनेको प्रेरित करती है, जिससे मनुष्य इस विचारके साथ अपनी जीवनयात्रा करता है कि उसके जीवनसे किसी सज्जनके जीवनमें बाधा न हो, उसकी सुख-प्रवृत्ति तथा सुखसाधनसे किसी दूसरे सज्जनको दुःख न हो, उसके ज्ञानसे किसी सज्जनकी हानि न हो, उसकी स्वतन्त्रतासे किसी सज्जनकी स्वतन्त्रताका अपहरण न हो और उसकी प्रभुता तथा प्रभुत्वाकाङ्क्षासे किसी सज्जनको कष्ट न हो । यही मानव-धर्म है । तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—जो अपनेको अप्रिय हो वह दूसरेको भी अप्रिय होगा—इस बुद्धिसे सब काम करना ही वैदिक संस्कृति, कर्मयोग तथा धर्मका मौलिक तत्त्व है ।

अतः वैदिक संस्कृति, धर्म तथा कर्मयोगके मुख्य आधार बुद्धियोगकी धात्री संध्योपासना है, जो सब वैदिक धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत, जप-तप, भोग-मोक्ष, पूजा-पाठ तथा सेवा-उपासनाका मूलाधार है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको संध्यामाताकी गोदमें बैठकर कम-से-कम सायं-प्रातः तो अवश्य विधिपूर्वक आचमन, प्राणायाम, मार्जन तथा सूर्योपस्थान करके आत्मशक्तिका चिन्तन अपने हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें अधिक-से-अधिक कालतक करके कल्याणकामना करनी चाहिये ।

इस चिन्तनका फल यह होगा कि मनुष्यकी बुद्धि धीरे-धीरे इस भावनासे ओतप्रोत हो जायगी कि मेरे (सबके) हृदयमें आत्मशक्ति या ईश्वरका वास है और अपने कर्ममात्रसे हृदयमें स्थित आत्मशक्ति या ईश्वरकी पूजा करनेमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है । इसके अतिरिक्त आत्मशक्ति वा सत्यकी शाश्वतता तथा देह और सांसारिक पदार्थोंकी नश्वरताका विवेक, ज्ञान, ध्यान तथा विश्वास मनुष्यके अन्तःकरणमें मनकी शुद्धि या बुद्धिकी आत्मनिष्ठताके तारतम्यसे बढ़ता जायगा । श्रद्धा तथा विश्वासकी प्रगाढ़ताके साथ मनुष्यको योगस्थ रहकर शुचितापूर्वक इन्द्रियोंके साथ सत्य, अहिंसा तथा अस्तेयका पालन करने कर्म करनेमें प्रोत्साहन तथा आनन्द मिलेगा । मनुष्यका जीवन सफल होगा तथा मनुष्य सुखी दीर्घायु होगा ।

सारांश यह कि जबतक मनुष्य पशुओंकी अपनी आत्मशक्तिको भूलकर देहको ही सब समझता है, तबतक वह भ्रान्तिरूपा शक्तिसे संचालित होता है और उसके सब काम, विचार, बुद्धि, कल्पना योजनाएँ अनर्थकारी तथा समाज-विघटनकारी होती किंतु संध्योपासनाद्वारा ज्यों-ज्यों मनुष्य आत्मशक्ति अभिमुख होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने विश्वास, श्रद्धा, भक्ति तथा उपासनाके प्रौढ़ता बुद्धिरूप शक्तिसे संचालित होने लगता है और उसके कर्ममात्रसे अपना तथा मानवमात्रका कल्याण होता है । उपासनाका सनातन तथा लाखों अनुभूत तत्त्व, महत्त्व तथा माहात्म्य यही है । प्रचार तथा रक्षणके लिये भारतमें जन्मना वर्णव्यवस्था का दैवी विधान है, जिसके अनुसार ब्राह्मण तपरूपसे विद्याध्ययन तथा विद्यादान, क्षत्रिय तपरूपसे विद्याध्ययन तथा अभयदान, वैश्यको तप विद्याध्ययन तथा सर्वपोषणके लिये अर्थसंग्रह तथा शूद्रको तपरूपसे सार्वजनीन सेवा करके रक्षा करनी चाहिये । शास्त्रोंके पठन तथा अनुशीलन यह स्पष्ट है कि जबतक हिंदूजनता पूर्वोक्त सदाचारका पालन शुद्ध भावसे करती है, तबतक भारत सुखसमृद्धिपूर्ण तथा विश्ववन्द्य रहता है, अन्यथा भारतका पतन होता है ।

संतानका सुख—एक मृगतृष्णा

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

(१)

एक सज्जन पूछते हैं, 'मेरे कोई भी संतान नहीं है। वर्षोंसे मैं यह कामना कर रहा हूँ कि मेरे संतान हो तथा मैं संतानका सुखलाभ करूँ, किंतु मेरा दुर्भाग्य है कि अभी-तक मेरे संतान उत्पन्न नहीं हुई है। प्रौढावस्था आ गयी है अतः अब संतानकी आशा भी नहीं है। सोचता हूँ, किसी पुत्रको गोद ले लूँ और किसीकी कन्याके दानका माहात्म्य ले लूँ। पुत्रको गोद लेनेके विषयमें अपनी सम्मति दीजिये।'

संतानकी कामना प्रत्येक प्राणीमें एक सहज स्वाभाविक स्वयम्भू वृत्ति (Instinct) है। प्रकृतिकी सृष्टि-संचालनके लिये यह एक गुप्त योजना है। प्रत्येक प्राणीके हृदयमें संतानकी कामना, उत्पत्तिके साधन, पालन-पोषणके उपकरण स्वयं प्रकृति उपस्थित कर देती है। प्रकृतिका विधान कुछ ऐसा है कि अनेक दुःखों और कष्टोंके होते हुए भी प्राणिमात्र संतानके लालन-पालनमें एक गुप्त सुखका अनुभव करता है। मादा जातिके समस्त जीवोंको संतानोत्पत्तिमें असीम शारीरिक कष्टोंका अनुभव करना पड़ता है, वे इस पीड़ासे बड़ी पीड़ा नहीं जानतीं, किंतु फिर भी प्रकृतिका ऐसा विधान है कि तीन-चार वर्षमें नव शिशुको जन्म मिलता ही जाता है। हम संतानको जन्म देकर वास्तवमें प्रकृतिके सृष्टिसंचालनके गुप्त विधानको ही पूर्ण किया करते हैं। प्रकृतिद्वारा दी हुई वासनाके हाथोंमें हम खिलौनामात्र बन जाते हैं। विषयभोग और पापकी इच्छाएँ पशु और मनुष्य सबको पागल बनाकर हमें संतानकी ममता, नाना प्रकारकी तृष्णाओं, संसारके मोहमें फँसा देती हैं और हम आजन्म संतानको संसारमें जमाने—जीविका उपार्जन-योग्य बनानेमें ही समाप्त कर देते हैं। हममेंसे नब्बे प्रतिशत व्यक्तियोंका जीवन केवल संतानोत्पत्ति एवं उसकी देख-रेखमें, क्षुद्र स्वार्थोंकी पूर्ति और झूठ-फरेबमें व्यतीत हो जाता है। अतः विषयवासना, नारी और संतानके झूठे सुखकी तृप्तिसे हमें सावधान हो जाना चाहिये—

स्वामी शङ्कराचार्यने एक श्लोकमें गहरे अनुभवोंका निचोड़ उपस्थित कर दिया है।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः॥

अर्थात् 'शास्त्रका खूब अध्ययन करके जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ है, वह मनुष्य पशुओंसे भी बढ़कर पशु है। नारी वह विष है, जो अमृत-सा जान पड़ता है। पुत्र आदि वे शत्रु हैं, जो मित्र-से लगते हैं।

विषयवासनाको अनियन्त्रित छोड़ देनेसे मनुष्य भोगेच्छासे नारीकी ओर आकृष्ट होता है। फिर संतान हो जानेपर उधरसे हटकर बच्चोंके पालन-पोषणमें लग जाता है और अन्ततक यही करते-करते मृत्युका ग्रास बनता है। जीवनमें कोई उच्च कार्य, आत्मचिन्तन या परोपकार नहीं कर पाता।

कौन-सा वह सुख है जिसकी झूठी तृष्णा छोड़ देनेसे हम सांसारिक दुःखोंसे बच सकते हैं? यह सुख है स्त्री, पुत्र, धन और मान—इसीसे धनैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणामें हम लगे रहते हैं, वस्तुतः यह सुख नहीं है, दुःख ही है।

तात्पर्य यह है कि इस माया-मोहरूपी संसारमें धन, स्त्री, पुत्र-पुत्री आदि पदार्थोंके मोहके कारण ही मनुष्य विशेषरूपसे बन्धनमें रहता है। अतः इनसे वैराग्य धारण करने और इनकी ओर चित्तवृत्तियोंको न भटकने देनेमें ही कल्याण है। जो व्यक्ति संतानवाले हैं, उन्हें तो अपने कर्त्तव्यका पालन करना ही चाहिये, किंतु जो निःसंतान हैं, उन्हें व्यर्थ ही चिन्तित नहीं होना चाहिये। कारण, संतानसे सुखकी आशा रखना या यह समझना कि बिना संतान हमें आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों ही गलत विचारधाराएँ हैं। अनेक व्यक्ति संतानवान् होकर भी नयी-नयी चिन्ताओं और नवीन समस्याओंमें फँसे रहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो संतानकी इच्छा न कर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

(२)

एक विद्वान्‌के मतानुसार संतान-सुखके निम्न मनोवैज्ञानिक कारण हैं, 'पिता मनमें एक गौरवका अनुभव करता है। इस गौरवसे मनुष्यके मनमें रहनेवाली बड़प्पनकी गुप्त इच्छा तृप्त होती है। बड़े होनेपर यह बालक मेरा नाम चलावेगा, मेरे रिक्त स्थानकी पूर्ति करेगा, मेरी सेवा करेगा तथा

वृद्धावस्था, बीमारी आदिमें सहारा देगा, घरको सुख-सम्पन्न बनावेगा—ऐसी अनेक आशाएँ पिता अपने बालकसे करते हैं ।'

दूसरा कारण यह है कि बालकके माध्यममें मनुष्य स्वयं अपनी गुप्त अतृप्त इच्छाएँ पूर्ण करना चाहता है । अपने जीवनमें जो-जो इच्छाएँ स्वयं मनुष्य पूर्ण नहीं कर पाता, उन अतृप्त इच्छाओंको अपने पुत्र-पुत्रीके माध्यमसे पूर्ण होता देखना चाहता है । जो व्यक्ति स्वयं आयुपर्यन्त निर्धन रहे, वे अपने पुत्रसे यह आशा करते हैं कि वह उन्हें पर्याप्त धन संचय करके ऐश-आरामके साधन प्रदान करेगा । जो शारीरिक दृष्टिसे स्वयं दुर्बल रहे हैं, वे अपने पुत्रको पहलवान देखना चाहते हैं । स्वयं कुरूप पत्नी पानेवाले सुन्दर-से-सुन्दर पुत्रवधूकी कामना करते हैं । विगत बाल्यावस्थाको बच्चोंके द्वारा हम स्वयं भोगना चाहते हैं । अपने अधूरे कार्यों, आदर्शों, इच्छाओं, आशाओंको पिता पुत्रद्वारा पूरा होता हुआ देखना चाहता है । हमें जीवनमें जो असफलताएँ मिली हैं, उन्हें हम पुत्रद्वारा सफलतामें परिणत हुआ देखना चाहते हैं । निष्कर्ष यह है कि संतानरूपी माध्यम हमारी कल्पनाओंका आधार रहता है । इन इच्छाओंकी पूर्ति पुत्रीकी अपेक्षा पुत्रद्वारा अधिक होती है । इसलिये मनुष्य पुत्रकी कामना अधिक करता है । समाजकी व्यवस्था कुछ ऐसी हो गयी है कि पुत्र होना यश, प्रतिष्ठा और सौभाग्यका चिह्न समझा जाने लगा है ।

प्रश्न है कि क्या उपर्युक्त इच्छाओंकी पूर्ति स्वयं अपने ही बच्चोंद्वारा हो सकती है ? उत्तरमें हम कहेंगे कि यह गलत धारणा है । ये इच्छाएँ तो दूसरोंके बच्चोंद्वारा भी पूर्ण हो सकती हैं ।

मनुष्यमें एक बड़ी निर्बलता है जिसे मोह कहते हैं । मोहके वश हम उन वस्तुओंको अधिक चाहते हैं, जिनके साथ अपनत्वकी भावना निहित होती है । अपना मकान, अपनी जायदाद, अपना बाग, अपनी वस्तुएँ मोहवश हमें अच्छी लगती हैं । अपनापन तृष्णाका पिता है । अधिक और अधिकको कभी न पूर्ण होनेवाली तृष्णा ही हमारे दुःखोंका मूल है । इसीके कारण हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओंका संग्रह कर लेते हैं, जो निरर्थक हैं । संतानकी तृष्णा भी इन्हींमेंसे एक अतृप्त कल्पित इच्छा है । अनेक निरर्थक भ्रमोंकी तरह यह भी एक निरर्थक इच्छा है । जो संतानहीन हैं, उन्हें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं। आइये, संतानसे होनेवाले लाभोंपर विस्तारसे विचार करें

(३)

आप चाहते हैं कि वृद्धावस्थामें आप पुत्रकी खायेंगे । वह आपके गौरवकी वृद्धि करेगा । पुत्रको देना एक बात है; किंतु शिक्षा, सद्व्यवहार और शिष्ट नाग बनना दूसरी बात है । आजके नब्बे प्रतिशत युवक शब्दके अधिकारी नहीं होते । आप किसी स्कूल, विश्वविद्यालयमें निकल जाइये और अध्यापकोंसे कीजिये तो वे आपको उन असंख्य शरारतों और विषयमें बतायेंगे, जिनसे उन्हें नित्य निपटना पड़ता आजकलका युवक प्रायः उत्तरदायित्वहीन, उद्दण्ड, हीन, अशिष्ट, मिथ्या दम्भसे भरा जा रहा है । उसे अड़चनों तथा कठिनाइयोंसे युद्ध करनेकी चिन्ता नहीं। आयुपर्यन्त पिताके ऊपर भार बना रहना चाहता है। आर्थिक दृष्टिसे अपने पाँवोंपर खड़े होनेकी शक्ति आती । यौवनके अनिष्टकारी उन्मादमें आजकलके उद्दण्ड वृद्ध पिताकी मुसीबतोंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते; दूर करना तो बहुत आगेकी बात है । अनेक स्थानोंपर पुत्र पिताका प्रत्यक्ष अपमानतक करते देखे जाते हैं। प्रायः पुराने विचारके होते हैं और संतान नयी रोश पलती है । दोनोंके विचार तथा आदर्श मेल नहीं खाते संघर्ष बढ़ता जाता है । इस तनातनीमें पिता-पुत्र और भाईके व्यवहारोंमें तनातनी और पारस्परिक मनोमालि बढ़ते जाते हैं । एक दूसरेके अपमानके अनेक अवसर उपस्थित होते हैं, जिनमें बेचारे पिताको मुँहकी खानी है और वह उस दिनको कोसता है, जब उसके घरमें पुत्रका जन्म हुआ था ।

उदाहरणके रूपमें हम दो-चार घटनाएँ यहाँ वर्णन रहे हैं । ये बिल्कुल सत्य हैं । एक ब्राह्मणपरिवारके सुशिक्षित पिताके बड़े पुत्र डाक्टरीकी उच्चतम डिग्री आये । पिताका प्यार-दुलार उन्हें खूब मिला । उनकी में अनाप-शनाप व्यय हुआ । पिता प्रसन्न थे और चाहते कि किसी उच्च ब्राह्मणकुलमें उनका विवाह-सम्बन्ध किंतु नयी रोशनीके पुत्र महोदयने एक ईसाई नर्स, दो पुत्रियाँ पहलेसे ही थीं, उससे गुप्त विवाह कर लि उस महिलाके पतिको दो हजार रुपया देकर तलाक

और कानूनी रूपमें विवाह किया। यह सब सुनकर पिताने सिर पीट लिया और कभी पुत्रका कलङ्कित मुँह न देखनेका प्रण किया।

लूट-मार-हत्या आदिके अनेक मामलोंमें आजकल लड़के लिप्त पाये जाते हैं। आये दिन छोटे-बड़े अनेक झगड़े होते रहते हैं, जिनमें अनुशासनहीन लड़कोंका प्रमुख हाथ रहता है।

लड़कोंकी टीपटाप, बाहरी दिखावा, फैशन, शृंगार और व्यय तो इतना बढ़ गया है कि बेचारे पिताको पढ़ाते-पढ़ाते ही अपना घर-बार और बहुमूल्य वस्तुएँ बेच देनी पड़ती हैं। सिग्रेट, पान, सिनेमा इत्यादिका व्यय ही पूरा नहीं हो पाता। अतः कमाऊ पूतकी आशा रखना एक मृगतृष्णा ही है। जिसे बुढ़ापेका सहारा समझा जाता है, वह पुत्र कमरपर सवारी करनेवाला शत्रु बन जाता है।

इलाहाबाद-निवासी हमारे एक परिचित मित्रने बड़े आर्थिक कष्टोंसे अपने पुत्रको बी० ए० पास कराया। लड़का प्रथम श्रेणीमें पास हुआ और उन्होंने बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे, पर न जाने आधुनिक दूषित वातावरणने उसपर क्या प्रभाव डाला कि वह विवाह कर पितासे पृथक् हो गया और उनसे कोई सम्बन्ध न रक्खा। वे प्रायः कहा करते हैं कि यदि वह धन, जो मैंने पुत्रकी शिक्षापर व्यय किया है, मैं न करता, तो मज़ेमें वृद्धावस्थाकी गुजर-बसर कर सकता था।

एक अमीर व्यक्तिके पुत्र है, पर बड़ा क्रोधी और पागल। वे उसकी मानसिक चिकित्सा कराते-कराते परेशान हो गये हैं। जो कुछ था, सब चिकित्सामें व्यय हो गया है और फिर भी मूर्ख पुत्र समझता है कि पिता उसे पर्याप्त धन नहीं देता है। वह इस प्रतीक्षामें रहता है कि कब बुड्ढा बाप मरे, कब उसे संचित पूँजी प्राप्त हो।

जो व्यक्ति संचित पूँजी या ज़मीन-जायदाद इत्यादि पुत्रके लिये छोड़ जाते हैं, उन्हें फ़जूलखर्च संतान व्यर्थ ही अपव्यय और झूठी शानमें व्यय कर देती है। जितना ही व्यक्ति अमीर होता है, उसकी संतान प्रायः उतनी ही फजूलखर्च, निकम्मी, दुश्चरित्र और बेकार निकलती है। उनके मरते ही संतान पुरानी यश-प्रतिष्ठा दो कौड़ीकी कर देता है।

पहले संतानकी इच्छा, संतान मिलनेपर उसके पालन-पोषणकी चिन्ता, फिर उसके सच्चरित्र निकलनेकी कामना, उसके विवाह-शादीकी चिन्ता, फिर रुपया-पैसा कमा सकनेकी क्षमता, पुरानी यश-प्रतिष्ठाके स्थिर रखनेकी कल्पना—अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ मनुष्यके गुप्त मनको विक्षुब्ध किये रहती हैं। एक संतान सैकड़ों कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वोंके अतिरिक्त चिन्ताओंकी जननी है। अतः विवेकवान् व्यक्ति अधिक संतानसे सदैव बचते हैं।

संसारके जितने बच्चे हैं, सब आपके ही हैं। अपना वात्सल्य उन्हें दीजिये। यदि आपके हृदयमें दूसरोंके लिये दर्द भरा है, यदि आपकी मनोवृत्ति उदार है और आप सहृदय हैं, तो संसारके सब बालक आपके ही हैं। सबमें आपकी आत्मा ही व्याप्त है। सर्वत्र आपके ही बच्चे तो बिखरे पड़े आपका प्यार पानेको तरस रहे हैं। सबमें एक ही देव व्याप्त है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अधिष्ठाता है, सब भूतोंका वासस्थान है, साक्षी है, चेतन है, अकेला है और निर्गुण है।

नरकरूप जीवन

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन, खल मति-मलिन निगम पथ-त्यागी॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को, स्रवन न रामकथा-अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥
तुलसिदास हरि-नाम-सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि-दुख लागी॥

—तुलसीदासजी

भगवान् श्रीरामके दत्तक पुत्र

(लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

विचित्र शीर्षक देखकर पाठक चौंके बिना नहीं रहेंगे। रामने किसे दत्तक पुत्र बनाया और क्यों? उसके लिये प्रमाण क्या है?

भगवान् भक्तके वशमें होते हैं और उन्हींकी इच्छा पूरी करते आये हैं। यह भी उसी कृपाका उदाहरण है जो मानसमें ढूँढ़नेसे मिल जाता है।

वीर वाली प्राण त्यागनेको तैयार थे, भगवान्‌को सामने देखकर प्रश्न किया—

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

भगवान् समुचित उत्तर न दे सके। कहा तुझे कौन मारता है—

अचल करौं तनु राखहु प्राना।

इतना कहकर भगवान्‌ने—

बालि सीस परसेउ निज पानी।

स्वाभिमानी वाली, सुन्दर अवसर पा कहने लगे—

जासु नाम बल संकर कासी।
देत सबहि सम गति अबिनासी॥
सो नयन गोचर जासु गुन नित
नेति कहि श्रुति गावहीं।
× × × मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥

जन्म-जन्म मुनि यत्न करते हैं, अन्त समय राम नहीं कह पाते—वे समक्ष हैं—

बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा?

तनका मुझे मोह नहीं, माँगूँगा यह कि अब जिस-जिस योनिमें कर्मवश जाना पड़े आपके श्रीपदसे अनुराग रहे—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।

दूसरी चाह और है, वह यह कि मैं तो श्रीचरणके समक्ष होते ही मुक्त हो गया। मेरे तनसे उत्पन्न मेरा तनय आज अनाथ हो रहा है, इसकी बाँह पकड़ इसे शरणागति दे, आश्रय दे, सनाथ कर अपना दास बनाइये—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

इस तरह तन और तनय दोनोंका निपटारा कर—

सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

शरीरको छोड़ भगवत्-धामको वालीने प्रयाण किया।

ताराको इस दत्तक-संस्कारकी प्राथमिक क्रियाका पता न होनेके कारण ही वह रुदन करते समय कह रही थी—

अंगद कहँ कछु कहन न पायउ।

अंगदके लिये वाली वह बात कहकर गया जो कोई पिता कभी नहीं कहता। मृत्युलोकमें तो पिताकी मुक्तिका साधन पुत्रको माना गया है, परंतु यह एक ही उदाहरण था जहाँ अपनी सद्गतिके साथ एक भक्त अपने पुत्रको भी भगवान्‌के सम्मुख कर उनकी गोदमें बैठा गया था।

अंगदने तत्काल युवराजपद पाया, भगवान् लक्ष्मण तो युवराज नहीं बन सके थे; परंतु एक आश्रितको उन्होंने युवराज बना दिया।

उस दत्तक पुत्रका उपयोग किन महत्त्वपूर्ण समयों-अवसरोंपर किया गया, यह भी अध्ययनकी वस्तु है।

सीता-खोज-कमीशनके चेयरमैन बनाये गये थे युवराज अंगद और उक्त कार्यको इन्होंने सफल बनाया।

त्रेतामें जिस कार्यको अंगद सम्पन्न करनेको गये, वह महत्त्वपूर्ण कार्य भगवान् श्रीकृष्णने द्वापरमें किया था।

जब सभामें प्रस्ताव रक्खा गया कि लंकामें सन्धि-प्रस्ताव लेकर अंगद दूतकी तरह जाय तो सर्वसम्मतिसे स्वीकृति दी गयी। भगवान्ने चलते समय विश्वास प्रकट करते हुए कहा—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
(बालितनय बुधि बल गुन धामा)
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

वीर अंगद—सबको सिर नवा प्रभुचरणकी प्रभुताको हृदयमें रखकर चले। और—

जथा मत्त गज जूथ महुँ पंचानन चलि जाइ—

इस तरह पहुँचे—

यहाँ केवल दो बातें विशिष्ट कीं, जिनसे उनके बुद्धि-बलका प्रमाण मिलता है—

हाथका पटकना और पदका रोपना

सारी सभा जमी हुई थी। बात-ही-बातमें हाथ इस जोरसे पटके कि अवनि डोल उठी, रावणसहित सब अपदस्थ हो गये।

'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।''डोलत धरनि सभासद खसे॥'

रावणके मुकुट गिर पड़े—उनमेंसे चारको उठाकर ऐसे फेंका कि भगवान्के समक्ष धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जा खड़े हुए।

योगी कुयोगीकी राज्यश्री छीनकर आकाशमार्गसे भेज रहा था। साधारण मनुष्य फेंकता दस-पाँच हाथ दूर गिरते—

दूसरी कृति भी—सभामें जब कि इस शर्तपर पैर रोपकर बैठ गये और कहा मेरा पैर कोई भी सरका देगा तो—

फिरहिं रामु सीता मैं हारी।

प्रयत्नके बाद जब कोई तिलभर भी न सरका सका—बलकी परीक्षा हो चुकनेपर बुद्धिकी परीक्षा हुई।

रावण सिंहासनसे उठा और नीचे झुककर पैर छूनेको ही था कि बोले—

मम पद गहें न तोर उबारा।

तुम्हारा उद्धार—

सादर जनक सुता करि आगें।
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।

और प्रणतपाल रघुवंशमणिके सामने—

त्राहि माम् त्राहि माम्—चिल्लाते चलो।

भगवान् आर्त वचन सुनकर तुम्हें अभय कर देंगे।

रावण खिसियाकर, अपनी राज्यमणि गँवाकर,

अश्वत्थामा-सा घाव लेकर बैठ गया।

बुद्धि और बलकी अनोखी साहसभरी क्षमताकी कहानी ऐसी मानसमें और किसकी हो सकती थी?

अयोध्यामें भगवान्का राजतिलक हो गया। सबको अपने-अपने घर जानेके आदेश हुए। लक्ष्मणजीने विभीषणको, भरतजीने सुग्रीवको, नल-नीलको स्वयं भगवान्ने वस्त्राभूषण पहना दिये और विदा किया।

अंगद बैठे, रहे नहीं बोले,—प्रीति जानि प्रभु भी चुप रहे।

सबके चले जानेके बाद अंगदने भगवान्को प्रणाम किया और सजलनयन बोले—

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥

आपके अंचल, गोदमें मुझे डाल गया था।

असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही।

ऐसी करुणाभरी विनयसे भगवान्के नयन सजल

हो गये । सिवा हृदयसे लगा लेनेके भगवान् कुछ न कह सके । दोनोंके नेत्रोंसे जलधार बह रही थी और सब स्तब्ध थे ।

भगवान्‌को स्मरण आया, मैं वनमें था, अभी दत्तक विधि अधूरी रही है । दत्तक लेनेपर तो पिता अपने वस्त्राभूषण उतारकर पहनाता है । केवल पिताओंके आदान-प्रदानसे विधि पूरी नहीं होती ।

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ ।

किस भाग्यशालीको मानसमें ऐसा बड़भाग उपलब्ध हुआ । अपने बसन, निज उर माला, मणिमुक्ता, सिरका पाग—सब सम्पदा सौंप खुद उघारे हो गये—क्या दत्तक-संस्कारकी अनोखी झाँकी है ? अंगद राम बनकर खड़े हैं, राम सब कुछ सौंपकर रीते खड़े हैं । भगवत्-कृपाकी इति अभी भी नहीं हुई—

इस तरह राजा रामका दत्तक पुत्र वालितनय, युवराज अंगद बिदा हुआ ।

भरत अनुज सौमित्रि समेता । पठवन चले भगत कृत चेता ॥

किसीको यह सम्मान नहीं उपलब्ध हुआ था । यह पहला और अन्तिम रामराज्यका अधिकार-प्रदान था

बार बार कर दंड प्रनामा ।

दत्तक पुत्र अंगद अयोध्याके राजमार्गसे ग... वस्त्राभूषण धारण किये पंचानन-पुत्रकी भाँति च... रहे थे । अयोध्यावासी दो राम देख बलिहार हो र... देव पुष्पवर्षा कर रहे थे । एक बार सबको भ्र... जाता था, कुछ किसीकी समझमें न आता था। तु... शब्द इस स्थलपर हैं—

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि ॥

और यह था केवल भारतीय दत्तक विधानका ... संस्कार जो किष्किन्धामें नहीं हुआ और अयोध्यामें ... किया गया—तनकी सद्गतिके अनन्तर अवशेष त... सफल जीवन, मुकुटके बदले मुकुट, राज्यश्रीके ... राज्यश्री देकर सम्पन्न किया । राम-विलोकनि, बो... चलनी और हँसिमिलनीको बार-बार स्मरण ... हुए गद्गद् होते दत्तक-पुत्र राम किष्किन्धाको ... रहे हैं—**चलेउ हृदयँ पद-पंकज राखी ।**

रामके समान दूसरा कौन है ?

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥
कौने देव बराइ बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे ।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़ जवन कवन सुर तारे ॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया बिबस बिचारे ।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु ! कहा अपनपौ हारे ॥

—विनयपत्रिका

पतनोन्मुख मानव-समाजकी रक्षा कैसे हो ?

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानका अंश)

पाप और पुण्यकी सीधी-सी परिभाषा यह है कि जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो, वह पाप है और जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, वह पुण्य है। जिससे दूसरोंका हित नहीं होता, उससे अपना हित कदापि नहीं होगा और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना कभी अहित नहीं होगा—यह सिद्धान्त निश्चयरूपसे मान लेना चाहिये। हमारा वास्तविक हित दूसरोंके हितमें ही समाया है। जो मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हम दूसरोंका अहित करके या दूसरोंके हितकी उपेक्षा करके अपना हित करते हैं या कर लेंगे, वे वस्तुतः बड़े मूर्ख हैं। वे अपना हित कभी कर ही नहीं पाते। यह मान्यता ही भ्रम है कि दूसरोंके हितकी उपेक्षा या उनका अहित करनेसे हमारा हित हो जायगा। यथार्थमें वे मनुष्य बड़े ही अभागे हैं, जो दूसरोंके अहितमें अपना हित और दूसरोंके दुःखमें अपना सुख समझते हैं। ऐसे मनुष्य ही असुर-मानव हैं, जिनका जीवन दूसरोंकी बुराईमें ही लगा रहता है। वे दूसरोंकी बुराई करने जाकर अपनी ही बुराई करते हैं।

संसारमें साधारणतया नौ प्रकारके मनुष्य होते हैं—

(१) जो दूसरोंके हितमें ही अपना हित समझते हैं; अतएव जीवनभर प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही करते हैं। अपना नुकसान करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाया करते हैं।

(२) जो दूसरोंके हितको प्रमुख मानते हैं और अपने हितको गौण, अतः जहाँ दूसरोंका हित होता हो, वहाँ अपने हितकी चिन्ता छोड़ देते हैं।

(३) जो दूसरोंका हित चाहते हैं—करते हैं परंतु अपना नुकसान सहकर या अपने हितकी चिन्ता छोड़कर नहीं।

(४) जो दूसरोंका हित तो चाहते हैं और करते भी हैं, परंतु वहीं चाहते-करते हैं जहाँ अपना भी लाभ समझते हैं; नहीं तो—नहीं करते। अर्थात् अपने लाभके लिये ही दूसरोंका हित करते हैं।

(५) जो केवल अपना ही हित देखते हैं, दूसरोंके हितका विचार ही नहीं करते।

(६) जो अपने हितके लिये दूसरोंके हितकी जान-बूझकर उपेक्षा करते हैं।

(७) जो अपने हितके लिये दूसरोंका अहित सोचते हैं और करनेमें नहीं हिचकते।

(८) जो अपनेको बचाकर दूसरोंका अहित ही करना चाहते हैं और दिन-रात उसीमें लगे रहते हैं।

(९) जो अपना अहित करके भी दूसरोंका अहित करनेमें लगे रहते हैं।

इन नौमें प्रथम सर्वश्रेष्ठ हैं और नवम सबसे नीच—अधम।

प्रथम वस्तुतः दूसरोंको पर मानते ही नहीं। वे तो सबको अपना स्वरूप ही मानकर सबके सुख-दुःखमें स्वयं सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, उनका 'स्व' अखिल जगत्के प्राणियोंमें प्रसरित होकर पवित्र हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये श्रीभगवान्‌ने भगवद्गीतामें कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

'अर्जुन! जो अपने ही समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें समदृष्टि रखता है और सबके सुख या दुःखको भी समतासे देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' वस्तुतः उसके अनुभवमें सर्वत्र एक आत्मा ही

रह जाता है। वह किसी भी वर्ग, वर्ण, जाति, पद, देश, धन, सम्प्रदाय आदिके भेदसे आत्मामें भेद नहीं मानता। भेदोंमें रहते हुए ही वह अभेदभावसे सबका वैसे ही हित चाहता और करता है जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और नीचेकी इन्द्रियाँ आदिके व्यवहारमें भेद मानता तथा बरतता हुआ भी उनमें समान आत्मभाव रखता और उनका सहज ही हित चाहता तथा करता है। ऐसे सबमें 'स्व' की अनुभूति करनेवालेका 'स्वार्थ' पवित्र हो जाता है; क्योंकि सबका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ बन जाता है, सबका हित ही उसका हित बन जाता है और सबका सुख ही उसका सुख हो जाता है। वह केवल एक छोटे-से समाजमें ही नहीं, समस्त विश्वमें आत्मीयताका अनुभव करता हुआ कभी किसीका अहित तो करता ही नहीं, किसीको दुःख तो पहुँचाता ही नहीं, उनके हितकी या सुखकी अवहेलना या उपेक्षा भी नहीं कर सकता। वह निरन्तर सहज ही 'सर्वभूतहित' में रत रहता है। भगवान्ने ज्ञानी साधकके लिये कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष अपनी सारी इन्द्रियोंको भलीभाँति नियन्त्रणमें रखते हैं, समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं और सबमें समबुद्धि रखते हैं, वे अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, नित्य, अचल, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हुए मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होते हैं।'

जो सर्वत्र एक परम तत्त्वका दर्शन करते हैं, वे इन्द्रियसुखकी इच्छा कैसे करेंगे, उनकी इन्द्रियाँ सहज ही भोग-सुखोंसे हटी रहेंगी। सबमें सहज ही उनकी समबुद्धि होगी और सबका हित ही उनका कर्म होगा।

भक्तके लिये तो भक्तोंकी स्वरूप-[illegible] आरम्भमें ही भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १३-१४)

'जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, [illegible] निःस्वार्थ प्रेमी, सहज ही करुणहृदय, ममता[illegible] अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमा[illegible] (अपराध करनेवालेका मङ्गल चाहनेवाला), नि[illegible] लाभ-हानिकी प्रत्येक स्थितिमें संतुष्ट, मन-इन्द्रियों को वशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी पुरुष है, वह [illegible] (भगवान्‌में) मन-बुद्धिको अर्पण कर चुका [illegible] मेरा भक्त मुझे बड़ा प्रिय है।'

ऐसा भक्त अपने इन्द्रिय-सुख या अपने [illegible] पृथक् सुखके लिये कैसे प्रयत्न करेगा? उसे तो [illegible] कामना ही नहीं होगी। सबका सुख ही [illegible] सुख होगा।

वस्तुतः विश्वमें जब इस प्रकारके आदर्श [illegible] भक्तोंका समाज बनेगा, तभी यहाँ यथार्थ [illegible] शान्ति होगी। आजका समाज तो सचमुच बहुत [illegible] गया है या गिर रहा है, जिसमें ऐसे व्यक्ति भरे हैं [illegible] इन्द्रियोंके गुलाम हैं, मनके दास हैं, दिन-रात [illegible] शौक-विलासमें रहना चाहते हैं, अपने इन्द्रिय[illegible] लिये दूसरोंके दुःख या अहितकी परवा ही [illegible] करते; अपनेको ही सुखी बनानेकी धुनमें सदा [illegible] रहते हैं और इसके लिये दूसरोंका प्रत्यक्ष अहित [illegible] रहते हैं। इस स्थितिको मिटानेके लिये भ[illegible] आदर्श वाक्योंके अनुसार एक नवीन विश्वका [illegible]

होना चाहिये, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त ज्ञानी या भक्तके आदर्श जीवनसे सम्पन्न हो । यह तभी होगा, जब मानव दूसरोंको ऐसा बनानेकी चिन्ता न करके पहले स्वयं ऐसा बनना चाहेगा और इसके लिये पूरा प्रयत्न करेगा । आजका मानव दिन-रात गला फाड़कर और कलम चलाकर दूसरोंको उपदेश करता है, पद-पदपर उनकी भूलें बताकर उन्हें भूल सुधारनेका आदेश देता है, पर स्वयं न अपनी भूलोंको देखता है और न उन्हें सुधारनेका ही प्रयत्न करता है । स्वयं दिन-रात आसुरी-सम्पदाके सेवनमें लगा रहकर ही जगत्को देव बनानेकी बातें किया करता है, इससे दम्भ बढ़नेके सिवा और कुछ नहीं होता । सच कहा जाय तो आजका मानव उन्नत नहीं हो रहा है,—भले वह विज्ञानमें तथा अर्थपैशाचिकतामें ऊँचा चढ़ गया हो,—बल्कि अपने आदर्श मानवीय गुणोंकी—जो उसे देवता बनानेमें समर्थ हैं—अवहेलना करके दिनोंदिन असुरत्वकी ओर—पतनकी ओर जा रहा है ।

इसीसे उपर्युक्त नवम प्रकारके मनुष्य भी आज मानव-समाजमें उत्पन्न हो गये हैं, जो अपना नुकसान करके भी, अपना अहित करके भी दूसरोंको नुकसान पहुँचाने या दूसरोंका अहित करनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं । ऐसे नराधम जगत्का अकल्याण ही करते हैं ।

जो लोग अपना वास्तविक हित चाहते हैं और यथार्थमें अपना, देशका या विश्वका सुधार या उद्धार चाहते हैं, उनके लिये यह परम आवश्यक है कि वे दूसरोंको अपना समझें और उनके हितमें ही अपना हित समझकर कार्य करें । ऐसा होनेपर जीवनमें संयम, सदाचार, सेवा आदि सद्गुण अपने-आप ही आ जायँगे ।

आजकल एक नया रोग फैला है—'जीवनके स्तर-को, रहन-सहनको ऊँचा उठाओ ।' त्याग, तपस्या, संयम, सादगी, सेवा, सदाचार, मितव्ययिता आदिमें नहीं; भोग, उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचार, विलासिता, आरामतलबी, अनाचार, फजूलखर्ची आदिमें । इसका आदर्श है—अनावश्यक आवश्यकताओंको बढ़ाते रहो । अधिक-से-अधिक वस्तुओंका उपयोग करो, मौज-शौककी चीजें बरतनेकी आदत डालो, हाथ-पैरसे कामकाज न करो, श्रम करने-में अपमान समझो, सिनेमा-रेडियो आदिसे आनन्द लूटो, जीवनको भोगमय या इन्द्रियोंका गुलाम बना लो । फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जीवन-का सारा समय तथा सारी विवेक-बुद्धिको लगाते रहो ।

गमछा पहनकर कुएँपर या नदीमें नहा आये तो नीचा स्तर और गुशलखानेमें टट्टीदानके बगलमें ही टबमें नंगे होकर नहाये तो ऊँचा स्तर ।

शौच जाकर मिट्टीसे हाथ धोये तो नीचा स्तर, चर्बी मिली साबुनसे हाथ धोये या न धोये तो ऊँचा स्तर ।

पहननेके लिये एक जोड़ी जूता रक्खा तो नीचा स्तर और दसों जोड़े जूते—भोजनका, शयनकक्षका, टेनिस्का, फुटबॉलका, दिनका, रातका, आफिसका, क्लबका, पार्टीका अलग-अलग—मानो मोचीकी दूकान लगी हो तो ऊँचा स्तर ।

जमीनपर आसनपर बैठे और हाथसे भोजन किया तो नीचा स्तर और टेबलपर चम्मच, छूरे, काँटेसे खाया तो ऊँचा स्तर ।

शुद्धताके साथ परसा हुआ भोजन किया तो नीचा स्तर, दूसरोंकी जूठन खायी, एक ही जूठे चम्मचसे ले-लेकर खाया तो ऊँचा स्तर ।

घरमें रेडियो न रक्खा तो नीचा स्तर, रखा तो ऊँचा स्तर ।

सप्ताहमें एक बार भी सिनेमा न देखा तो नीचा स्तर, रोज-रोज गये तो ऊँचा स्तर ।

पाठ-संध्या-पूजा की, तिलकादि लगाया तो नीचा स्तर, उठते ही बिस्तरपर चाय पीया, सिगरेटसे धूआँ फेंका और अखबार पढ़ा तो ऊँचा स्तर ।

स्त्रियाँ देशी चन्दन-कर्पूरादि पदार्थोंका लेप करें, देशी तेल, इत्र लगावें, बिंदी-सिन्दूर लगावें, मेंहदी-आलताका प्रयोग करें तो नीचा स्तर । विदेशी पोस्ट पाउडर, स्नो-क्रीम, नखराग (नेल-पालिश), अधर-राग (लिपस्टिक), बालोंके लोशन, बालोंको घुँघराले बनानेवाले थियोग्लार कोल एसिड आदिका उपयोग करें तो ऊँचा स्तर !

इस ऊँचे स्तरके निर्माणमें मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, वेहद खर्च, समयका नाश और इन्द्रियोंका दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं, इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते हैं । हमारे छात्र-छात्राओंमें यह रोग बहुत तेजीसे बढ़ रहा है, जो देशके लिये अत्यन्त घातक है । विलासी तथा अनावश्यक खर्च करनेवाला आदमी न समाज या लोक-हितकी बात सोच सकता है, न कर सकता है । उसका समय तथा साधन तो सारा अपनी अनावश्यक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही लग जाता है । अतएव हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारी इन नकली आवश्यकताओंका नियन्त्रण हो, फैशनकी इच्छा तथा बाहरी दिखावेका मोह छूटे और हमारा जीवन पवित्र, संयमपूर्ण तथा सादा-सीधा हो ।

विलासिता, फैशन तथा बाहरी आडम्बरमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, मनपरसे उसका नियन्त्रण उठ जाता है । वह पराये हितकी तो बात दूर रही, अपने हितकी बात भी नहीं सोच सकता । इसीसे अन्याय, अधर्म, चोरी, ठगीसे धन कमाकर वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रयत्नमें लगा रहता है और फैशनकी जिस किसी चीजको देखता है, उसीको संग्रह करनेके लिये लालायित रहता है ! ऐसे स्त्री-पुरुष सदा खर्चसे तंग रहते हैं, रोते हैं, पर अपनी बुरी आदतको नहीं छोड़ते । पैसेकी बहुत छूट न हो... भी फैशनकी चीजोंका अनावश्यक संग्रह करना ... हैं और करते हैं। उचित बात तो यह है कि जिनके पैसे अधिक हैं, उनको भी अपने लिये उतना ही ... करना चाहिये, जितनेसे शरीरका तथा घरका सादगीके साथ अच्छी तरह चलता रहे और शेष समाजके अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिमें ... भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये । तभी ... सदुपयोग है, तभी धनके द्वारा भगवान्‌की पूजा है, तभी वह अर्थ अनर्थकारी न होकर मुक्तिका—भ... प्रीतिका साधन बनता है । हमारे शास्त्र तो कहते हैं कि 'मनुष्यका उतनेपर ही हक है, जितनेसे उसका ... भरता है, इससे अधिकपर जो अपना हक मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये'—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ ...

जो अपने लिये ही धनका उपयोग करते हैं, ... को धनका स्वामी मानकर अपने ही लिये अन... वस्तुओंका संग्रह-परिग्रह करते हैं, वे ईश्वरके धनके ... तो हैं ही, दूसरे लोगोंकी अभावपूर्तिमें बाधक बनकर नया पाप और करते हैं । देशमें करोड़ों आदमी ... अङ्ग ढकनेके लिये भी पर्याप्त कपड़े नहीं हैं, ... लोगोंकी पेटियाँ, आलमारियाँ कपड़ोंसे भरी रहती ... नये-नये फैशनके कपड़े वे खरीदते ही रहते हैं । ... है कि कोट-पैंट आदिकी सिलाईमें वे दो सौसे ... रुपयेतक व्यय कर देते हैं । उनके घरोंमें इ... कपड़े बिखरे पड़े रहते हैं, दीमक लग जाती है, ... रेशमी कपड़ोंको कीड़े काट डालते हैं, पर ... उनका मन नहीं भरता । खानेके लिये मनुष्यको ... चाहिये, पर हमलोग पचासों प्रकारकी चीजें ... शरीरकी आदतोंको बिगाड़ते, नये-नये रोगोंको ...

तथा खाद्य पदार्थोंका विपुल संग्रह रखनेमें अपनी शान समझते हैं। जहाँ करोड़ों भाई एक समय पेटभर पूरा खा नहीं पाते, वहाँ ऐसा व्यवहार क्या पाप नहीं है? करोड़ों मनुष्य टूटी झोपड़ियोंमें रहते हैं, पर एक मनुष्य दरजनों मकानोंपर अपना नाम रखता है। ऐसा नहीं कि वह दर्जनों मकानोंमें एक साथ सोता-बैठता हो। हाथ कहीं सोये, पैर कहीं सोये, सिर कहीं सोये—ऐसा नहीं होता, उसका अभिमानमात्र बढ़ता है। पर मनुष्यका मोह उसे ममताके विस्तारमें लगाये रखता है। वह अपने लिये मकान भी बनाता है तो उसमें बीसों कमरे होते हैं। यह सब अनावश्यक वस्तुओंकी आवश्यकता तथा उनके संग्रह-परिग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यको दूसरोंके हितोंकी ओरसे अंधा बना देती है और प्रकारान्तरसे वह मानव-समाजका अहित करनेमें ही लगा रहता है। यह प्रवृत्ति समाजमें इसी प्रकार बनी रही और बढ़ती रही तो पता नहीं, समाजकी क्या दशा होगी। समाजके हितैषी पुरुषोंको तथा प्रत्येक समझदार पुरुषको इसपर विचार करके ऐसे अमोघ उपाय सोचने तथा करने चाहिये जिससे मानव-समाज इस पतनोन्मुखी प्रवृत्तिसे बचे तथा सबको इहलौकिक सुख-शान्तिके साथ मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य विशुद्ध आत्मस्वरूपकी या भगवान्‌की प्राप्ति हो।

सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

धर्मका मतलब सत्य यानी ईश्वरकी प्राप्ति है। धर्म प्रेमका पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा? मनुष्य एक ओर तो ईश्वरकी पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्यका तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं।

—गाँधीजी

आज हम लोगोंको केवल एक नैतिक उपदेश देते रहें तो उससे काम नहीं होगा। आज तो हमें लोगोंकी मुश्किलें, दुश्वारियाँ दूर करनी होंगी, तभी उनमें सद्विचार स्थिर होंगे। जिस वक्त आस-पास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्तिका ध्यान करने बैठें तो यह भक्ति-मार्गका लक्षण नहीं होगा। उस समय तो हाथमें बाल्टी लेकर आग बुझानेके लिये दौड़ना ही भक्ति-मार्गका लक्षण होगा।

—विनोबा

धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त हैं

इस समय संसारमें अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्मके उपदेशों और शिक्षाओं-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य है। खासकर मुख्य-मुख्य धर्मोंके साहित्यका परिमाण तो निरन्तर बढ़ता जाता है। आदमी अपने-अपने धर्मोंके प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषोंके वाक्योंकी तरह-तरहकी व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओंमें छपवाते और प्रचार करते रहते हैं। इस प्रकार एक-एक धर्मसम्बन्धी इतने ग्रन्थ हैं कि आदमी जन्मभर उन्हें ही पढ़ता रहे तो भी सबको न पढ़ सके; और साधारण आदमी अकेले इसी काममें लगा भी नहीं रह सकता। अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओंका तथा टीका-टिप्पणियोंका कोई अन्त नहीं।

धर्मका सार

साधारण मनुष्यको धर्मकी बारीकियों और उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। मुख्य तत्त्वकी बात जान लेनी चाहिये। कबीरने ठीक बताया है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय॥

इसी प्रकार तुलसीने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस तरह सरल-सीधी भाषामें धर्मका अर्थ प्रेम और परहित-साधन या सेवा है। आदमीको इन्हें अमलमें लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिये।

सद्व्यवहार ही भगवान्‌की पूजा है

हम सब भगवान्‌की पूजा-उपासना करनेका दम भरते हैं। पर भगवान् हमें दरिद्रनारायणके रूपमें दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम-धर्म-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि एक धनवान्‌के मरनेपर अल्लाह उससे कहता है कि 'ऐ आदमीके बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खानेको नहीं दिया।' आदमी पूछता है, 'तूने मुझसे खाना कब माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है—'मैं मजदूरके रूपमें तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमीके बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है—'कब तूने मुझसे पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है कि 'मैं मेहनत करनेके बाद प्यासा होनेपर तेरे दरवाजेपर गया और तुझसे पानी माँगा, पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहारपर कितनी ठीक बैठती है!

प्रेममें ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है

असली धर्म माननेवाले व्यक्तिके लिये यह सारा संसार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियोंसे प्रेम करेगा, उसके प्रेमका क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारोंतक ही या उसकी जाति-बिरादरीके लोगोंतक ही सीमित नहीं होता, वह सबमें ईश्वरका स्वरूप देखता है। वह सबसे स्नेहका नाता रखता है, सबको अपने परिवार या कुटुम्बका मानता है। उसके लिये छुआछूतका प्रश्न ही नहीं रहता, वह सबको समभावसे देखता है, सबसे प्रेम करता है, ऊँच-नीचकी थोथी कल्पनाको उसके मनमें स्थान नहीं मिल सकता। वह किसीको कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिये दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आपको पीड़ा पहुँचाना है। वह किसीके मजहबकी निन्दा नहीं करता, वह सबपर समदृष्टि रखता है और सबकी अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करनेको तैयार रहता है।

सेवामय जीवन

ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव करता है और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधनका मार्ग लोकसेवा है, यही प्रेमका व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा किसीसे प्रेम करनेका अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिये कुछ मीठे शब्द कहकर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्रका हित चाहें और हित-साधनका प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावोंको दूर करनेका उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकासका मार्ग प्रशस्त करें। धर्म-भावना-वाले अपने कर्तव्य-पालनमें सब प्रकार कष्ट सहते हैं, त्याग करते हैं और वे इसमें कोई दुःख अनुभव नहीं करते। उनके हृदयमें सबके लिये माताका-सा स्नेह होता है। वे अपने पासके सब आदमियोंको सुख पहुँचानेमें अपना सुख मानते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

सेवाके अनेक क्षेत्र

सेवा किसी खास प्रकारके नपे-तुले कामका नाम नहीं है और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम जो कार्य करें, उसमें परहितका लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिंसा आदि गुणोंके अभ्यासका निरन्तर ध्यान रहे

वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा । उदाहरणके लिये व्यापारकी बात लीजिये । प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता । इसे धन कमानेका साधन माना जाता है । परंतु वास्तवमें यह बहुत बड़ी सेवाका कार्य है । एक गाँवमें लोगोंके भोजन-वस्त्र आदिकी प्रमुख आवश्यकताके किसी पदार्थकी कमीके कारण बहुत संकट है । व्यापारी इस पदार्थको दूसरे स्थानसे लाकर वहाँ पहुँचाता है और इसकी मूल लागतमें मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़कर इसे साधारण मूल्यमें जनताके हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है । हाँ, अगर व्यापारीका लक्ष्य अपने कार्य-द्वारा अधिक-से-अधिक धन बटोरना हो, वह लोगोंकी प्रमुख आवश्यकताओंका विचार न कर ऐसे पदार्थोंका प्रचार करता है, जो जनताके भोग-विलासके साधन हों और जिन्हें खरीदनेके लिये आदमी भारी मूल्य भी देनेको तैयार हों या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता । वास्तवमें इसे व्यापार कहना ही भूल है । यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाजमें खूब चल रही हो और कानूनसे अपराध न मानी जाती हो । अस्तु, परहितका ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना लेकर किया हुआ व्यापार सेवा ही है । वास्तविक व्यापार और सेवामें कोई विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बातके लिये प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़े, वह जनतामें स्वास्थ्यके नियमोंका प्रचार करता है और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतुमें ऐसा खान-पान आदि करना रोगोंको आमन्त्रित करना है, वह बीमारोंको जल्दी-से-जल्दी तथा अल्प व्ययसे ही नीरोग करनेके लिये चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाहके लिये लोगोंसे अपने कामकी साधारण फीस क्यों न लेता हो । इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रहके लिये रोगियोंको दवाईके चक्करमें डालता है, मँहगी और खूब मुनाफा देनेवाली विधियोंका उपयोग करता है, यहाँतक कि गरीब और असमर्थ लोगोंसे भी भारी-भारी फीस वसूल करता है और रोगियोंके स्वस्थ न होने तथा मर जानेपर भी अपनी फीसका अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्यको सेवा-कार्य नहीं माना जायगा और इसे करनेवालेको वास्तवमें डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दोंका दुरुपयोग करना है !

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दूकानदार आदिके कार्योंका विचार किया जा सकता है ।

विशेष वक्तव्य

किसी कार्यके सेवा-कार्य होनेके लिये यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्कामभावसे किया जाय । सेवा करनेवाला अपना काम कर्तव्य समझकर करता है । उसके मनमें यह विचार नहीं आता कि मैं समाजपर कोई उपकार या एहसान करता हूँ । वह अपने आपको समाजका एक अङ्ग मानता है और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदिको समाजद्वारा प्राप्त समझता है । इसलिये वह समाजका हिस्सा चुकाकर उससे यथाशक्ति उऋण होनेका प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमानकी गुंजाइश ही कहाँ ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तवमें धर्मात्मा हैं ।*

---

* लेखककी 'समाज रचना; सर्वोदय दृष्टिसे' पुस्तकसे ।

धर्मके स्तम्भ

(५)

शुद्धि (शौच)

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

महात्मा सुकरात भद्दे शक्लके व्यक्ति थे। एक दिन लोगोंने उन्हें प्रभुसे यह प्रार्थना करते हुए देखा, 'प्रभो! आप मुझे भीतरसे सुन्दर बना दो।' उन्होंने अपनेको भीतरसे इतना स्वच्छ और सुन्दर बना रक्खा था कि लोग बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाया करते थे। बाहरकी असुन्दरता अंदरकी सुन्दरतासे छिप जाती है। जो व्यक्ति बाहरसे स्वच्छ और आकर्षक होते हैं, उनमें प्रकाश होता है; परंतु जो भीतरसे स्वच्छ होते हैं, उनका बाह्य प्रकाश भीतरके प्रकाशसे चमककर लोगोंके नेत्र और हृदय दोनोंको प्रकाशित कर देता है। अतः आवश्यक है कि मनुष्य अपनेको बाहर और भीतर दोनों ओरसे स्वच्छ और पवित्र रक्खे, जिससे उसके शरीर और आत्मा दोनोंमें लोगोंको देवत्वके दर्शन हों। स्वच्छ रहना धर्म है।

शरीरकी, वस्त्रोंकी, घरकी और खानपान आदिकी शुद्धि बाहरी शुद्धि मानी जाती है। ये शुद्धियाँ मनकी स्वस्थ अवस्थाकी द्योतक होती हैं। इसके विपरीत गन्दगी मनकी अस्वस्थताको प्रकट करती है। शुद्धि रखनेसे मनुष्यको स्वास्थ्यलाभ होता और गन्दगी रखनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य स्वास्थ्य और साफ शरीरके प्रसादोंसे वञ्चित हो जाया करता है।

मनुष्यका बाह्य भाग भीतरके भागका आइना होता है, जिसमेंसे मनुष्यका आभ्यन्तर दीख पड़ता है। अतः हमारा बाह्य इतना शुद्ध और निर्मल होना चाहिये, जिससे हमारे भीतरके छोटे-से-छोटे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म धब्बेको भी लोग देख सकें और हमें उस धब्बेको धोनेकी बाह्य प्रेरणा भी मिल सके। बाहरी गन्दगी गरीबीकी उतनी द्योतक नहीं होती, जितनी आ[लस्य] और प्रमादकी द्योतक होती है। आलस्य और प्र[माद] उत्पन्न गन्दगीमें मनुष्यके गुण छिप जाते या अकि[ञ्चित्कर] रह जाते हैं। गन्दगीमें अधिक कालतक गुणोंका नि[वास] नहीं हुआ करता। बाह्य पवित्रता और सफाईसे मनु[ष्यके] भीतरी गुणोंको बल मिलता और उनमें चमक [आ] जाती है।

शरीरकी शुद्धि स्नानसे, दाँतोंकी शुद्धि मंजन[,] दातुनसे, आँखोंकी शुद्धि अंजनसे, हरियालीको दे[खने,] दूसरोंके उत्कर्षको सहन करने और काम्य कु[दृष्टिसे] बचानेसे, कानकी शुद्धि शास्त्रोंको सुनने, तेल डा[लने] तथा उत्तम बातोंमें लगानेसे, जीभकी शुद्धि म[न-]त्याज्य पदार्थोंके परित्याग, शुद्ध और सात्त्विक प्र[कृतिके] अनुकूल पदार्थोंके ग्रहण तथा उत्तम, मधुर, सत्य [और] कल्याणकारी बातोंके कहनेसे, हाथों, पैरों आ[दिकी] शुद्धि मिट्टी-जलसे तथा उन्हें अच्छे धर्मयुक्त परो[पकारी] कामोंमें लगानेसे होती है। वस्त्रोंकी शुद्धि उन्हें [साफ-] सुथरा रखनेसे होती है। वस्त्रोंके पहननेमें रक्षाका [भाव] सर्वोपरि और सजावटका भाव गौण रहना चाहिये।

नित्य झाड़ने-बुहारने-लीपने और पो[तने तथा] घरकी वस्तुओंको साफ-सुथरा तथा व्यवस्थित र[खनेसे] घरकी शुद्धि होती है। परंतु घरमें रहनेवाले म[नुष्य] भीतरसे भी शुद्ध होने चाहिये। यदि घर साफ-सु[थरा,] व्यवस्थित और सजा हुआ हो और उसमें रहने[वाले] व्यक्ति साफ-सुथरे और सजे हुए हों और भी[तरसे] अपवित्र एवं गंदे हों तो वह घर उस सेवके स[मान] घिनौना होता है, जो बाहरसे बड़ा आकर्षक [होता है,] परंतु जिसके भीतर कीड़े भरे होते हैं।

भीतरकी शुद्धि बनाये रखना बड़ा जटिल परंतु परिणाममें अमृत-तुल्य होता है। मनु महाराजने बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिका बड़ा सरल उपाय बताया है। वे कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

(मनुस्मृति अ० ५ श्लोक १०९)

जलसे शरीर, सत्यसे मन, धर्मानुष्ठान, तप और विद्यासे आत्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है।

मन बड़ा चञ्चल होता है, जो इन्द्रियोंके वशीभूत हो मनुष्यको राग-द्वेषादि कुत्सित प्रवृत्तियोंमें फँसाकर उसका अनिष्ट कराता है। अतः मनकी पवित्रताके लिये ईश्वराराधन, ईश्वरकी आज्ञाका पालन, सत्पुरुषोंका सङ्ग, वेदादि सच्छास्त्रोंका अध्ययन और राग-द्वेषादि विकारोंका परित्याग परमावश्यक है। पवित्र शरीरमें पवित्र मनके निवास करनेसे मनुष्यमें अनेक गुणोंका समावेश रहता है और मनुष्य अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ होता है। पवित्र शरीर और मनवाले व्यक्ति ही धर्मात्मा कहलाते हैं। मनकी पवित्रता आत्माको गंदे-से-गंदे स्थानमें भी शुद्ध वायुका श्वास लेनेमें समर्थ बनाती है और संयमसे उसमें शक्ति आ जाती है। जब मनकी पवित्रता इन्द्रियोंपर शासन करती है, तब वह अपने प्रकाशसे जगमगा जाती है।

योगदर्शनके समाधिपादके ३३वें सूत्रमें चित्तकी निर्मलताके अत्युत्तम उपाय बताये गये हैं। सूत्र इस प्रकार है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मोंकी सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें भावनाके अनुष्ठानसे चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

राग, ईर्ष्या, परापकार, चिकीर्षा, असूया, द्वेष—ये छः बुराइयाँ चित्तको मलिन कर देती हैं।

श्रीभोज महाराज इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखते हैं—

'मित्रता, दया, हर्ष, उदासीनता—इन चारोंको क्रमसे सुखियोंमें, दुखियोंमें, पुण्यवानोंमें और पापियोंमें व्यवहृत करना चाहिये। सुखी मनुष्योंको देखकर ऐसा समझनेसे कि यह मेरा ही सुख है, राग और ईर्ष्याका विनाश होता है। दुखियोंपर दया करनेसे घृणा और दूसरोंका अहित करनेका मैल दूर होता है। जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी अपने प्राण प्रिय हैं, इस विचारसे सज्जन पुरुष अपने प्राणोंके समान सबके ऊपर दया किया करते हैं। अपने मनमें यह विचार करे कि 'इस दुखियाको बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आता है, तब हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है और उसके दुःखको दूर करनेकी चेष्टा करे। ऐसा न समझे कि उसके सुख-दुःखसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है।

जो व्यक्ति धर्ममार्गमें चलते रहते हैं, उनके प्रति हर्षकी भावना करनेसे असूया मलकी निवृत्ति होती है।

जो व्यक्ति पाप-मार्गमें प्रवृत्त हैं, उनके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेसे घृणा करने तथा बदला लेनेका भाव समाप्त हो जाता है अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले एवं किसी अन्य प्रकारसे अपमान करे, तब मनमें ऐसा सोचे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारसे मेरी कोई हानि नहीं हो रही है। मैं इसके प्रति द्वेष करके अपनेको क्यों दूषित करूँ, इसे स्वयं अपने दुष्कर्मका फल भोगना है।'

इस प्रकार इन चारों भावनाओंके मनमें बद्धमूल हो जानेसे मनके दूषण नष्ट हो जाते हैं और मन शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है।

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

यह मोह आखिर है क्या ?

ममता है कौन चीज ?

सच पूछिये तो यह कुछ नहीं है ।

केवल भ्रम है, अज्ञान है ।

बंद गोभी है । एक-एक पत्ता उधेड़ते जाइये, अन्तमें कुछ न हाथ लगेगा ।

जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें हमारी जो आसक्ति है, जो ममत्व है, जो राग है, अनुकूलके प्रति झुकाव और प्रतिकूलके प्रति जो विराग है, उसीका नाम तो 'मोह' है । उसीको तो 'ममता' कहते हैं ।

× × ×

यह मेरा है, यह मेरा बना रहे, इससे मेरी भेंट हो जाय, यह मुझे मिल जाय, यह खूब फले-फूले, इसका बाल न बाँका हो,—इस तरहके जो असंख्य भाव रात-दिन हमारे मनमें उठते रहते हैं, जिन्हें लेकर हम आठ पहर चौंसठ घड़ी परेशान रहते हैं, जिनके लिये हम जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाते रहते हैं, जिनकी चिन्तामें हम डूबे रहते हैं, उन्हींको तो 'मोह' कहा जाता है ।

× × ×

मोहका यह जाल कितना व्यापक है, सोचनेपर आश्चर्य होता है ।

एक-दो चीजोंका मोह हो सो नहीं । मोह असंख्य वस्तुओंका होता है । कहाँतक कोई गिनाये !

× × ×

शरीरका मोह होता है ।

विषयोंका मोह होता है ।

परिवारका मोह होता है ।

धन-सम्पत्तिका मोह होता है ।

परिग्रहका मोह होता है ।

कुर्सीका मोह होता है ।

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह होता है ।

नामका मोह होता है ।

पढ़ने-लिखनेका, डिग्रीका मोह होता है ।

ज्ञानका मोह होता है ।

स्थानका मोह होता है ।

जाति, वर्ण, कुल-परम्पराका मोह होता है ।

कल्पित धारणाओंका मोह होता है ।

सेवाका मोह होता है ।

त्यागका मोह होता है ।

संस्थाका मोह होता है ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका मोह होता है ।

जीवन, जगत्का मोह होता है ।

'यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमित को बरनै पा

× × × ×

शरीरका मोह किससे छिपा है ?

विज्ञान कहता है—

२२२ हड्डियाँ,

धमनियोंमें ७ पौण्ड रक्त,

३० लाख पसीनेकी ग्रन्थियाँ,

मस्तिष्क और रीढ़में १४० अरब शिराएँ,

सिरपर ९० हजारसे १ लाख ४० हजा

बाल ! =यह शरीर !

× × ×

दार्शनिक कहते हैं—

'क्या शरीर है ? शुष्क धूलका थोड़ा-सा छवि जाल।
उस छविमें ही छिपा हुआ है, वह भीषण कङ्काल ॥'

क्या रक्खा है इस शरीरमें ?

हाड़-मांस, रक्त-मज्जा, थूक-खखार, मल-मूत्रसे भरा गंदा बर्तन !

× × ×

साधु-संत कहते हैं—

'जारे देह भस्म है जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुंभ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई ॥'
'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचतत्व यह रचेउ सरीरा ॥'
'साधो यह तन मिथ्या जानो।
संग तिहारे कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो ॥'

× × ×

यह जानते हुए भी कि यह शरीर कुछ नहीं है, पानीभरी खाल है, हमने इसे अपना जीवन-सर्वस्व बना रक्खा है !

जमीनपर पड़ी कुछ मिट्टी इस शरीरपर लेप लेनेके लिये, इसका वजन बढ़ानेके लिये हम रात-दिन बेचैन रहते हैं।

जरा भी, किसी भी अङ्गमें कोई शिकायत जान पड़े कि हम बेतहाशा दौड़ते हैं—हकीम, डाक्टरोंके पास, मानो वे इस शरीरको जरा और मृत्युसे, रोग और बीमारीसे बचा ही लेंगे !

साँस निकलने-निकलनेतक हम आशावान् बने रहते हैं—शायद कोई डाक्टर इस शरीरको बचा ले !

कफ पित वात कंठपर बैठे सुतहिं बुलावत कर तें !
ममता तू न गयी मेरे मन तें !!

× × ×

इस शरीरके मोहमें पड़कर हम क्या नहीं करते ?

इसकी रक्षाके लिये, इसे स्वस्थ बनाये रखनेके लिये, इसे चिकना, चुपड़ा और सुन्दर बनाये रखनेके लिये हम बेचैन रहते हैं !

इस शरीरकी पूजा, इसकी आराधना हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठी है।

इसके लिये हमें रोटी-दाल, घी-दूध, मक्खन-मलाई, 'विटामिन' और 'कैलोरी' नहीं, तर माल भी चाहिये, माल-मलीदा भी चाहिये, च्यवनप्राश और शक्तिवर्द्धक 'टानिक' भी चाहिये।

इस शरीरको कहीं सर्दी न लग जाय, निमोनिया न हो जाय, ब्रंकाइटिस न हो जाय, इसका हमें पूरा ख्याल रहता है। इसके लिये हम मनो ऊनी कपड़े रखते हैं। गद्दे-रजाइयाँ रखते हैं। लोई-कम्बल रखते हैं। तूश-पश्मीना रखते हैं।

× × ×

गर्मियोंमें इस शरीरको धूप न लग जाय, लू न लग जाय,—इसका हम भरपूर ध्यान रखते हैं। गर्मी इस शरीरको कहीं क्षीण न कर दे, इसका हम पूरा एहतियात रखते हैं।

बिजलीके पंखों और खसकी टट्टियों, 'कूलर' और 'एयरकंडीशण्ड'—वायुनियन्त्रित कमरोंकी हम पूरी व्यवस्था करते हैं। बरफका शर्बत, लस्सी और ठंडाई आदि तो मामूली चीजें हैं। इनकी माँग तो रिक्शा खींचनेवाले और झल्ली उठानेवाले तक करते हैं !

× × ×

वर्षासे बचावके लिये हम बढ़ियासे बढ़िया मकान बनवाते हैं। पानीसे भीगकर कहीं हम बीमार न पड़ जायँ—इसकी चिन्ता किसे नहीं रहती ?

× × ×

जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो,—कोई भी ऋतु हो, शरीरकी रक्षाके लिये हम पूरी सावधानी रखते हैं। उसे स्वस्थ रखनेके लिये, हृष्टपुष्ट रखनेके लिये, सुन्दर और आकर्षक बनाये रखनेके लिये हम पानीकी तरह पैसा बहाते हैं। यहीं तक नहीं, मौका पड़ जाय तो इस शरीरके मोहके आगे हम स्त्री-पुत्र, बाल-बच्चोंतकका बलिदान कर डालते हैं। रुपया-पैसा तो हाथका मैल ही ठहरा।

× × ×

बात है उन दिनोंकी, जब जापानी सिंगापुरतक आ गये थे ।

जापानियोंने एक प्रसिद्ध बैंकपर अपना कब्जा कर लिया ।

उस बैंकमें कितने ही भारतीय क्लर्क भी थे । एक क्लर्कने आपबीती सुनाते हुए कहा कि जापानियोंने बैंकमें आते ही सबसे पहले सोने-चाँदीकी सिलोंपर अधिकार जमाया । फिर हमसे बोले—'तुममेंसे जो लोग नौकरी करना चाहें, कर सकते हैं । जाना चाहें उन्हें अपनी सीमातक हम पहुँचा देंगे । कौन रहेगा, कौन जायगा ?'

जो लोग भारत लौटनेको तैयार हुए उनमें उक्त सज्जन भी थे । जापानी उन्हें नीचे ले गये खजानेमें—'उठा लो ये कागजके टुकड़े जितने चाहो ।' कागजी सिक्केका—नोटोंका मूल्य ही क्या था उनकी दृष्टिमें ।

इन्हें उठाते-उठाते डर लग रहा था कि कहीं बन्दूकका कुन्दा न जमा दें कि क्यों इतना ज्यादा पैसा समेट रहा है ।

पूछा—'तुम्हारा परिवार भी है क्या ?'

परिवार था तो जरूर, पर कहें कैसे ? यहाँ तो अपना शरीर बचानेकी धुन थी । बच्चे मरें या जियें ।

आखिर ठीक अपने घरके सामनेसे होकर निकल आये । स्त्री-बच्चोंको वहीं छोड़ दिया । जापानियोंने सबको सुरक्षितरूपसे अपनी सीमातक पहुँचा दिया ।

× × ×

बादमें ये महाशय अनेक कष्ट भुगतकर बर्मासे होकर भारत पहुँचे !

× × ×

समयके अनुकूल जवानी तेजीसे खिसक रही है, पर हम उसे बाँध रखनेको बेचैन हैं । बालोंमें सफेदी जहाँ-तहाँ झाँकी मारती है, हम तुरत खिजाब तलाश करते हैं, आँवलेका तेल ले आते हैं और विज्ञापनोंपर जी खोलकर पैसा खर्च करते हैं जो इस बातकी गारंटीका दम भरते हैं कि सफेद बाल जड़से काला हो जायगा । किसीके मुँहसे हम सुनना पसंद नहीं करते कि हम बूढ़े होते चल रहे हैं । कोई हमें 'बुढ़ऊ दादा' कह भर दे फिर देखिये हमारा ताव । कुछ न हो तो हम केशवका यह दोहा रटने लगते हैं—

'केसव केसन अस करी जस अरिहूँ न कराँहि ।
चंदबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाँहि ॥'

शरीरका कैसा थोथा मोह !

× × ×

उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, हँसते-खेलते हमें एक ही चिन्ता सताती है—हमारा यह शरीर चंगा रहे, हट्टा-कट्टा और स्वस्थ रहे, आकर्षक और चिकना-चुपड़ा रहे !

× × ×

शरीरके इस मोहको लेकर ही तो आज सारे संसारका अधिकांश व्यापार चलता है ।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, मौज करनेके जितने साधन हैं, वे हैं तो सब इसीके लिये न !

जिधर दृष्टि डालिये, हमारी देहासक्तिको संतुष्ट करनेकी ही तैयारी दीख पड़ेगी ।

× × ×

देहका मोह हममें न हो तो—

भूखों मर जायँ ये हलवाई जो चमचम और गुलाब-जामुन, रसगुल्ला और मोहनभोगके बलपर अपनी तिजोरी भरते हैं ।

दीवाला निकल जाय उन कम्पनियोंका जो रात-दिन पफ और पाउडर, क्रीम और पोमेड, शृङ्गार और फैशनके नामपर अपना 'बैंक बैलेंस' बढ़ाती रहती हैं ।

तबाह हो जायँ ये डाक्टर और वैद्य, हकीम और

जर्राह, जिनकी फीसका दारोमदार इस शरीरकी ही व्याधियोंपर है ।

बंद पड़ी रहें पैंसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनकी शीशियाँ, च्यवनप्राश और मकरध्वजके डिब्बे, यदि हम शरीरके मोहके पीछे पागल न हों ।

× × ×

विषयभोगोंके मोहकी तो कहानी ही निराली है ।

यह खा लूँ, यह पी लूँ, यह चख लूँ, यह देख लूँ, यह पढ़ लूँ, यह सूँघ लूँ, यह छू लूँ, यह सुन लूँ, इसका उपभोग कर लूँ, इसे प्राप्त कर लूँ—इसी तरहके प्रोग्राम हम रात-दिन बनाते रहते हैं । रात-दिन इन्द्रियों-की तरह-तरहकी फर्मायशें पूरी करनेमें जुटे रहते हैं । मजा यह कि वे कभी पूरी हो नहीं पातीं । हों भी तो कैसे ?

'बुझै न काम अगिनि'तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें ॥

× × ×

और परिवारका मोह ?

वह कौन किसीसे कम है ?

यह मेरा बाप है यह मेरी माँ, यह मेरा चाचा है यह मेरी चाची, यह मेरा दादा है यह मेरी दादी, यह मेरा मामा है यह मेरी मामी, यह मेरा फूफा है यह मेरी फूफी, यह मेरा भाई है यह मेरी भावज, यह मेरी बीबी है यह मेरा शौहर, यह मेरा बहनोई है यह मेरा साला, यह मेरा ससुर है यह मेरी सास, यह मेरी बेटी है यह मेरा दामाद, यह मेरा बेटा है, यह मेरी पतोह, यह मेरा भतीजा है यह मेरा भानजा, अह मेरा सगा है यह मेरा सम्बन्धी, यह मेरा कुटुम्बी है यह मेरा रिश्तेदार ।....

कोई पार है इन सगे-सम्बन्धियोंकी सूचीका !

एक-एकके प्रति अपार मोह ।

× × ×

अर्जुन खड़ा है कुरुक्षेत्रके मैदानमें ।

सगे-सम्बन्धियोंकी पलटन उसकी दोनों ओर है । श्रीकृष्णसे पूछता है—'क्या करूँ मैं श्रीकृष्ण ? लड़ूँ इनसे ? इन्हें देखकर तो—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।

मेरा अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे खिसका जा रहा है, त्वचा जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है, मुझे चक्कर आ रहा है, मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है ।

इन स्वजनोंको मैं मारूँ ?

जिनके लिये राज्य प्राप्त करनेको मैं लड़ने आया हूँ, वे ही यहाँ कटनेको तैयार खड़े हैं ! इन्हें मारकर, इन्हींकी लाशोंपर मैं अपना प्रासाद खड़ा करूँ ? छिः छिः, न होगा मुझसे ऐसा !

और फिर यह भी तो है कि ये 'लोभोपहतचेतसः' इनकी आँखोंपर लोभकी पट्टी बँधी है । जिससे न इन्हें कुलक्षयका दोष दिखायी पड़ता है, न मित्रद्रोहका पाप ।

पर हम क्यों इन्हींकी तरह मूर्ख बन जायँ ? हम क्यों यह बात भूल जायँ कि कुलक्षयसे अधर्म फैलेगा, स्वैराचार बढ़ेगा, वर्णसंकरता आयेगी, कुलधर्म नष्ट होंगे—ऐसा भयंकर पाप हम क्यों करें ?

माना, इनकी अक्लपर पत्थर पड़ गये हैं, ये आततायी हैं, पर इन्हें मारकर हमें मिलेगा क्या ? राज्यसुखके लिये हम भी इनकी तरह अंधे क्यों बनें ? ऐसे रक्तरञ्जित राज्यको लेकर ही हम क्या करेंगे ? जाने दो श्रीकृष्ण, न चाहिये हमें राज्य, न चाहिये हमें सुख । भीष्म-द्रोण-जैसे पूज्य गुरुजनोंको मारनेसे तो कहीं अच्छा है कि हम भीख माँगकर अपना पेट भर लें ।

रहने दो श्रीकृष्ण ! नहीं लड़ूँगा मैं !

× × ×

प्रबल प्रतापी वीर अर्जुनने डाल दिये अपने हथियार, पकड़ लिये श्रीकृष्णके चरण और रोकर कहा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

× × ×

इस तरह जब किंकर्तव्यविमूढ होकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे मार्ग दिखानेकी प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने सारी गीता ही कह डाली । उसे सुनकर अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

'अच्युत ! तुम्हारी कृपासे अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे संशय मिट गये । अब मैं तैयार हूँ तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये ।'

× × ×

अर्जुनकी तरह हमें भी मोह होता है, रोज होता है, कदम-कदमपर होता है, हृदयरूपी कुरुक्षेत्रमें हरदम 'यह मेरा है' 'यह तेरा है' ऐसा द्वन्द्व चलता रहता है, पग-पगपर हम बहक जाते हैं, पर कौन है जो हमारी मोहकी पट्टीको खोलकर श्रीकृष्णकी तरह पूछे—

'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।'

'क्यों धनंजय ! अज्ञानसे पैदा हुआ तेरा मोह मिटा क्या !'

पर अर्जुनकी तरह हम श्रीकृष्णको अपने मोह लगाम सौंपते कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण तो हम सबके हृ विराजमान हैं, हम उनसे मोह-निरसनकी प्रार्थना भी तो ?

'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।'

सच तो यह है कि मोहके पाशमें हमने आपको इतना जकड़ रक्खा है कि बार-बार ठोकर भी हम चेतनेका नाम नहीं लेते !

× × ×

कहते हैं कि एक बूढ़ा अपने दरवाजेपर पड़ा अपनी किस्मतको रो रहा था कि बेटा बड़ा नालायक जो जब देखो तब लात-घूँसोंसे उसकी पूजा रहता है !

उधरसे होकर एक साधु निकले ।

बूढ़ेको रोते देख लगे समझाने—'छोड़ो इस मोहजालको । कौन किसका बाप, कौन कि बेटा ! चलो मेरे साथ । भगवान्‌का भजन करके सफल करो ।'

बूढ़ा बिगड़ा—'चल चल ! बड़ा आया है बघारने । क्या हुआ बेटा मारता है ! 'मेरा' है, न मारता है ! तुझे किसने बुलाया था करने ?'

'माफ करो बाबा !'—कहकर साधु चल दिये

हम इस बूढ़ेसे कम थोड़े ही हैं !

× ×

झूठी प्रीति

जगतमें झूँठी देखी प्रीत ।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं हित सों बाध्यों चीत ।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ यह अचरज की रीत ॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत सिख दै हार्‌यो नीत ।
नानक भव-जल पार परै जो गावै प्रभु के गीत ॥

—गुरु नानक

दिव्य दर्शन

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

मिट्टीको क्या देखते हो ? भगवान् राम-कृष्णके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जलको क्या देखते हो ? भगवान् नारायणके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अग्निको क्या देखते हो ? भगवान् गणपतिके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

वायुको क्या देखते हो ? भगवान् शङ्करके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आकाशको क्या देखते हो ? भगवान् ब्रह्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

मनको क्या देखते हो ? भगवान् चन्द्रदेवके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

बुद्धिको क्या देखते हो ? भगवान् सूर्यके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अहंकारको क्या देखते हो ? भगवती लक्ष्मीके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जीवको क्या देखते हो ? ॐकारके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आत्माको क्या देखते हो ? परमात्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

श्रीविग्रहको क्या देखते हो ? द्रष्टा, दृश्य और दर्शनको हटाकर सर्वमय हो जाओ । यही दिव्य दर्शन है । अरे, दर्शन क्या दृङ्मात्र है ।

कल्याणकारी प्रेरणा

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

(१)

स्वर्गके अधिकारी

दो व्यक्ति स्वर्गको चले । वे फाटकपर पहुँचे तो पहला आदमी जल्दी-जल्दी चलने लगा । वह सीधा होकर अकड़ा हुआ, गर्वसे आगे बढ़ रहा था, इस विचारसे कि देखनेवाले यह समझ लें कि मैं स्वर्गमें प्रवेश पानेका अधिकारी हूँ, क्योंकि मेरा भी अस्तित्व है, मैंने बहुत दान-पुण्य, तप और ज्ञानोपार्जन किया है । जब यह व्यक्ति ठीक स्वर्गके फाटकके पास पहुँचा और अगला कदम रखते ही वह स्वर्गके भीतर पहुँच जाता, तब उसने देखा कि स्वर्गका दरवाजा बहुत छोटा है । वह बोला, 'अरे, स्वर्गकी बड़ी महिमा सुनकर आया हूँ । यद्यपि धर्मग्रन्थोंमें लिखा है कि स्वर्गका द्वार सँकरा (कम चौड़ा) है । अस्तु संकीर्ण तो है, परंतु किस मूर्खने इसे इतना छोटा क्यों बना दिया !'

यह व्यक्ति स्वर्गके भीतर न जा सका । दूसरा व्यक्ति पीछे था । वह धीरे-धीरे चल रहा था, उसके मनमें किसी बातका गर्व न था । मानो उसने स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये कुछ कर्म न किया हो । वह विनीत भाव धारण किये धीरे-धीरे चला आ रहा था कि देखनेवाले कभी नहीं सोच सकते कि यह व्यक्ति भला स्वर्ग पायेगा । वह स्वर्ग-द्वारपर जब पहुँचा, तब उसे प्रसन्नता हुई कि मैं कम-से-कम द्वारतक तो पहुँच ही गया । फिर उसने देखा स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा है । वह सिर झुकाकर घुस गया ।

संसारमें कितने ही दम्भी साधक और धर्मात्मा-पुण्यात्मा लोग हैं, जो दान-पुण्य-तप करते, चमत्कार दिखाते, ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, हजारों लोगोंको माल-टाल खिलाते और यश-कीर्तिके लिये सब कुछ करते यह समझते हैं कि मैं बहुत धर्म और सत्कर्म कर रहा हूँ। वे लोगोंसे अपनी तारीफ सुनकर, प्रशंसाकी पुस्तकें और अखबार छापकर अपने कर्मोंको प्रकाशित करके प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि बस मैं स्वर्गके दरवाजेपर ही खड़ा हूँ। इस अहंकारकी भावनासे वे फूलकर मोटे और लम्बे हो जाते हैं, परंतु स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा होनेके कारण वे प्रवेश नहीं पा सकते।

स्वर्गका द्वार जिसने संकीर्ण और छोटा बनाया है वह मूर्ख नहीं है। जिसके हृदयमें अपने कृत्योंके प्रति अभिमान या अहंकार नहीं है, जो नम्रतापूर्वक व्यवहार करता है और सिर झुकाकर चलता है वही स्वर्गद्वारमें प्रवेश करता है।

'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।'

भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके पर्याय महात्मा ईसा-मसीहने भी कहा है, 'जो नम्र है वही परम पद पायेगा। अपना अहंकार छोड़कर आओ।'

(२)

ईश्वरकी दूकान

(दयाका भण्डार)

कहा जाता है लक्ष्मी और सरस्वतीका वैर है, उसी प्रकार धर्म और व्यापारका साथ नहीं निभता। अर्थात् धर्मके अनुसार चलनेसे व्यापारमें सफलता और उन्नति नहीं होती; क्योंकि व्यापारमें झूठ बोले बिना नफा नहीं होता और धर्मसे झूठ बोलना पाप है। रहीम कविने भी कह दिया है—

रहिमन अब मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम॥

अमेरिकामें एक किसानने अपनी जमीन के पासके नगरमें एक छोटी-सी दूकान लगायी—किराना और बिसातखानेकी। दूकानके बाहर एक तख्ती टाँगी, जिसपर लिखा—'ईश्वरकी द... भण्डार'। उन शब्दोंके नीचे लिखा था, '... कल जैसा था, आज वैसा ही है और हमेशा ... रहता है।' अर्थात् परमात्मा सदा एकरस रहता ... दूकानके भीतर एक दूसरी तख्ती लगी थी, उसमें ... था, 'वस्तुएँ खरीदके भावपर बेची जायँगी, मुनाफा ... लेंगे। दूकान-खर्चके लिये आप अपनी इच्छाके ... कुछ पैसा 'पेटी' में डाल सकते हैं।'

नयी दूकान खुली थी—लोग आये, गये, देखा, ... किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ समझा—इसको ... उल्लू है, बुद्धू है, अजीब आदमी है, भला ऐसे कहीं व्यापार चला है? कुछ दिन ऐसी ही हवा ... लोग आने लगे, सौदा खरीदने लगे और वापस ... समय दरवाजेपर लगी 'पेटी'में कुछ पैसा डाल दे... साल भर बाद हिसाब हुआ तो कई ह... मुनाफा था।

यह बहुत वर्षोंकी बात है। उसकी दूकान ... निकली और लाखोंका नफा हुआ। दूकान बहुत ... करनी पड़ी और उसमें कई विभाग खोलने पड़े।

चाहे व्यापार हो चाहे धर्मकी बात हो। ... बोलनेसे मनुष्यको एक बार धोखा हो, दो बार ... जाय, परंतु हमेशा नहीं ठगा जा सकता, न ... हो सकता। सच बात सच होती है, उससे ... धोखा नहीं होता।

दुनियाँकी बातोंसे धोखा हो जाय, लोग धोखे ... दें, किंतु ईश्वरसे कभी धोखा नहीं होता।

श्रद्धाकी विजय

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'तुम यहाँ ! इस समय ! इस स्थितिमें !' दो क्षण स्वर रुका—'घर जाओ ! मेरी ओर मत देखो, घर चले जाओ ! माँ तुम्हारे लिये व्याकुल होगी ।'

'वह माँके पास ही जा रहा है !' एक अट्टहास करके भैरव स्वामी बोले—'वह यहाँसे हिल नहीं सकता !'

'मैं कहता हूँ तुम घर जाओ !' सुनन्द पण्डितके लिये जैसे भैरव स्वामीकी वहाँ सत्ता ही नहीं थी । वज्रकाय, सुदीर्घाकार रक्तवसन, जलते नेत्र, सदा हाथमें सिन्दूर-रंजित त्रिशूल लिये रक्त चन्दनका त्रिपुण्ड्र लगाये भैरव स्वामी—वे भैरव स्वामी जिनकी दृष्टिसे मनुष्य तो क्या सिंह भी काँप जाय, इस समय खड्ग उठाये खड़े थे और सुनन्द पण्डित उनकी ओर देखते तक नहीं थे । उनके लिये जैसे भैरव स्वामी नितान्त उपेक्षणीय थे । अत्यन्त दृढ़ स्वरमें कह रहे थे वे—'माँ कभी सामान्य नहीं होती । वह जगन्माताका स्वरूप है और वह बुलाती है तो तुम्हें कोई रोक कैसे लेगा । जाओ ! माँ बुलाती है तुमको ।'

'इसे चामुण्डाने बुलाया है !' भैरव स्वामीने कठोर स्वरमें कहा । 'यह न स्वयं आया है, न जा सकता है ।'

'आपकी क्रूरताने बुलाया कहिये !' सुनन्द पण्डितने अब देखा भैरव स्वामीकी ओर और जैसे छोटे बच्चेको झिड़क रहे हों झिड़का—'जगदम्बाके सम्मुख अपनी क्रूरताकी इस विडम्बनाका प्रदर्शन करनेमें आपको लज्जा नहीं आती । आप इसे रोक नहीं सकते ! घर जाओ महादेव !'

तरुण महादेव, स्वस्थ बलिष्ठ पुरुष, अपने अखाड़ेमें दसको जोर कराके थका देनेवाला पहलवान—जैसे उसमें रक्तकी बूँद नहीं है । वह श्वेत हो गया है । निष्कम्प ठूँठ-सा खड़ा है । न उसके नेत्रोंसे अश्रु झरता, न शरीर काँपता । पता नहीं क्या हो गया है उसे । उसकी कटिमें उसकी न धोती है, न लँगोट । एक लाल वस्त्रखंड कटिमें ऐसे लिपटा है जैसे दूसरेने लपेट दिया हो । मस्तकपर रक्त चन्दन लगा है और गलेमें लाल कनेरके फूलोंकी माला है । उसके सम्मुख प्रज्वलित अग्नि है और दूसरे उपकरण हैं । साक्षात् यमराजके समान भैरव स्वामी खड्ग लिये खड़े हैं । स्वामीका त्रिशूल पासमें गड़ा है । वे पूजन कर चुके हैं और महाबलि देनेको उद्यत हैं ।

'घर जाओ महादेव ! माँ बुलाती है !' सुनन्द पण्डितने आदेशके स्वरमें कहा । महादेवके भयसे फटे नेत्रोंकी पलकें गिरीं और वह जैसे मूर्छासे जगा हो, हिल उठा । एक क्षण तो बहुत होते हैं, महादेव तो ऐसे मुड़ा और इतनी शीघ्रतासे भागा जैसे सिंहको देखकर कोई प्राण बचाने भाग जाय ।

'अच्छा !' भैरव स्वामीके अंगार-नेत्र प्रज्वलित हो उठे । उन्होंने हाथका खड्ग रख दिया और पास पड़ी पीली सरसोंसे कुछ दाने उठाये ।

'ठहरिये ! जगदम्बाके सामने अधिक धृष्टता अनर्थ करेगी भैरवजी !' पण्डित सुनन्दके स्वरमें रोष नहीं था; किंतु तेज पूरा ही था ।

'जगदम्बा ! कौन जगदम्बा ?' भैरव स्वामीने अट्टहास किया । 'चामुण्डा नित्य अजातपुत्रा है । रक्तबीजके रक्त-कणोंको चाट जानेवाली महाकाली······।'

'परंतु वह शक्ति है, जगन्माता महाशक्तिका अंश ।' सुनन्द पण्डितने उसी तेजपूर्ण स्वरमें कहा ।

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा चामुण्डा !' भैरव स्वामी क्रोधसे अधर काटते गरज उठे—'तू देख सकेगा उसे ।'

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा !' सुनन्द पण्डितने तनिक स्मितसे कहा—'माताका रूप कुछ हो, अपने शिशुके लिये वह सदा सानुकूला स्नेह-भरिता सौम्या है ।'

'घूँ, घुर्र !' जैसे सुनन्द पण्डितकी बातका समर्थन हो हो गया हो । भैरव स्वामीने देखा और मुख घुमाकर सुनन्द पण्डितने भी देखा कि काली खोहके द्वारसे सिंहनी भीतर चली आ रही है । उसके दोनों शिशु बार-बार उसके सम्मुख कूद आते हैं और पंजोंसे उसके मुख और नाकको नोचनेका प्रयत्न करते हैं । सिंहनी मुख फाड़कर केवल 'घुर्र' कर रही है और शिशु तो उसके खुले मुखमें पञ्जे डालकर उससे खेलते, उसकी गतिको रुद्ध करते कुदक रहे हैं ।

× × ×

'मैं मानता हूँ कि शास्त्रीय ग्रन्थोंमें पशु-बलिके विधान हैं।' सुनन्द पण्डितने शान्त स्वरमें कहा—'परंतु ऐसे वचन पर्याप्त मिलते हैं जो बतलाते हैं कि ऐसे विधान विधिवाक्य नहीं हैं।'

'विधि-वाक्य नहीं हैं ? आप कहना क्या चाहते हैं ?' पण्डित-समाजमेंसे एकने तर्क किया—'विधान तो सदा विधि-वाक्य होता है।'

'ऐसा नहीं है, रोगीके लिये अनेक बार ऐसी ओषधिका विधान होता है, जो सबके लिये उपयुक्त नहीं होती। हानिकर भी हो सकती है।' सुनन्द पण्डित आजकी मण्डलीमें अकेले हैं। वे भी अन्य श्रद्धालु ब्राह्मणोंके समान भगवती विन्ध्य-वासिनीको नवरात्रमें दुर्गापाठ सुनाने आये हैं। परंतु वे बलि-प्रथाके समर्थक नहीं, इससे उनको प्रायः अन्य वर्ग व्यङ्ग सुनाया करता है और आज महाष्टमीका पाठ पूर्ण करके तो सबने उन्हें मण्डपमें ही घेर लिया है।

'हम सब रोगी हैं ?' एक युवकने पूछा।

'शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पशु-बलिका विधान हिंसाको नियन्त्रित करनेके लिये है।' सुनन्द पण्डितने युवकके प्रश्नका उत्तर न देकर अपनी बात स्पष्ट की। 'जो मांसाहारके बिना न रह सकते हों, उन राजस-तामस पुरुषोंकी हिंसावृत्ति अनर्गल पशुहत्या न करे, इसलिये उन्हें शास्त्रने आज्ञा दी कि वे भगवतीका सविधि पूजन करके, प्रोक्षित पूजित पशुकी बलि दें और केवल उसीका मांस प्रसाद मानकर ग्रहण करें।'

'परंतु जो मांसाहारी नहीं हैं, वे महाशक्तिकी पूजा ही न करें।' युवकने उत्तेजित होकर कहा।

'महाशक्ति जगन्माता, जगज्जननी हैं। उनकी पूजा तो प्रत्येकको करनी चाहिये !' सुनन्द पण्डितने केवल दृष्टि उठाकर देखा भगवती विन्ध्यवासिनीकी ओर—'किंतु जगन्माताकी पूजा उनके शिशुओंके रक्त-मांससे नहीं हुआ करती। माता रक्ताशना नहीं और न वह पशुबलिसे प्रसन्न होती है।'

'आपको तो वैष्णव होना चाहिये था।' एक अन्य पण्डितने व्यङ्ग किया—'व्यर्थ आते हैं आप विन्ध्याचल।'

'मैं व्यर्थ तो नहीं आता। माताके श्रीचरणोंमें अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आता हूँ और जानता हूँ कि शिशुकी मुट्ठीकी धूलिसे भी माँ प्रसन्न होती है।' अब सुनन्द पण्डितके नेत्र भर आये थे—'परंतु मुझे खेद होता है कि हम यहाँ भगवती कौशिकीके सम्मुख बैठकर पशुबलिकी चर्चा करें। विन्ध्याचलकी त्रिकोणमात्रामें भग[illegible] विन्ध्यवासिनी महाशक्ति कौशिकी महालक्ष्मी-स्वरूपा [illegible] यह जानकर भी विद्वद्वर्ग........।'

'तो आप महाकाली चामुण्डाको भी बलि देना बंद [illegible] देना चाहते हैं ?' एक साँवले रंगके पण्डितने पूछा।

'यदि मेरी बात आप सब मान सकें।' सुनन्द पण्डित[illegible] स्थिर स्वरमें कहा—'इससे देवी चामुण्डा रुष्ट नहीं होंगी [illegible] उन्हें परम संतोष होगा।'

'हम आपकी बात मान लेंगे यदि आप भैरव स्वामी[illegible] मना सकें।' युवकने व्यंग किया—'आज रात्रिके द्वि[illegible] प्रहरमें कालीखोह चले जाइये। भैरव स्वामी आज मह[illegible] अर्पित करेंगे।'

'मैं प्रयत्न करूँगा।' सुनन्द पण्डितकी बातने स[illegible] चौंका दिया। यह वृद्ध ब्राह्मण सच्चा है और हठी है। [illegible] सचमुच कालीखोह चला गया........।'

'आप मुझे क्षमा करें !' युवकने तो हाथ जोड़े—[illegible] केवल व्यंग किया। आप जानते ही हैं कि भैरव स्[illegible] वीर-प्राप्त सिद्ध हैं और उग्र कापालिक हैं।'

'शुम्भ-निशुम्भका मर्दन करनेवाली जगन्माताके [illegible] पुत्र हैं।' सुनन्द पण्डितने युवककी ओर देखा—[illegible] कातर क्यों होते हैं ? वहाँ देवी चामुण्डा भी माताकी [illegible] शक्ति हैं और भैरव स्वामी तो उनके सेवकमात्र हैं—[illegible] सेवक ! मैं चेष्टा करूँगा कि वे सत्पथ देख सकें।'

'आजकी महाबलि बना यह ब्राह्मण !' पण्डितसमा[illegible] क्षोभ और दुःख दोनों था। सुनन्द पण्डितको वे सम[illegible] हार गये। इतना साहस किसीमें नहीं था कि उनके [illegible] रात्रिमें कालीखोह जा सके। उग्र कापालिककी शक्ति [illegible] तो पूरे नगरकी बलि दे सकता है। जान-बूझकर [illegible] मुखमें कौन जाय।

रात्रिके प्रथम प्रहरके बीत जानेपर सुनन्द पण्डित [illegible] चलने लगे, उन्हें महादेवकी वृद्धा माता मिली। वह [illegible] रही थी—'महादेव ! महादेव ! अरे कहाँ चला गया !'

पण्डित ध्यान न देते हुए उसकी पुकारपर 'कहीं गया [illegible] महादेव, अभी कौन इतनी रात बीती है कि बुढ़िया उसके [illegible] चिन्ता कर रही है, सोचते हुए आगे बढ़ गये। किंतु कुछ [illegible] महादेवके अखाड़ेका एक युवक मिला। उसने कहा—'महाराज[illegible]

आज वनकी ओर जा रहे थे। पता नहीं क्या हुआ था उन्हें। मैंने बहुत पुकारा; किंतु बोलते ही नहीं थे।

'कालीखोहकी ओर तो नहीं गया?' सुनन्द पण्डितने पूछ लिया।

'जाते तो उसी मार्गपर थे।' उत्तर मिला और सुनन्द पण्डितके पैरोंमें लगभग दौड़ने-जैसी गति आयी। युवक उन्हें आश्चर्यसे देखता रह गया। 'महाष्टमी······महाबलि···महादेव···उग्र कापालिक भैरव स्वामी······!' विचारोंका अंधड़ चल रहा था वृद्ध पण्डितके मस्तिष्कमें और महादेवको पुकारती वह वलीपलित, क्षीणदृष्टि, नमितकाय उसकी वृद्धा माता उन्हें बार-बार स्मरण आ रही थी।

× × ×

'उसे क्या देखता है। वह सिंहनी तो शिशुओंके साथ महाबलिके प्रसादका थोड़ा-सा रक्त चाट लेनेकी तृष्णा लिये आयी है।' भैरव स्वामीने हाथकी सर्षप एक ओर फेंक दी कुछ ओष्ठ हिलाकर और गरज उठे—'अब देख इसे।'

आधे पलमें एक पूरा नर-कंकाल कहींसे आ खड़ा हुआ। कंकालमें न चर्म था, न स्नायु, न अँतड़ियाँ। मनुष्यकी हड्डियोंका पूरा कंकाल और चलता-फिरता सजीव। उसके दोनों नेत्रोंके गड्ढे अग्निके समान जल रहे थे।

'बस! यह वेतालमात्र तुम्हारी शक्ति है?' सुनन्द पण्डितमें न कम्प आया, न भय, न हिचक। चामुण्डा पीठकी ओर एक बार दृष्टि करके फिर उन्होंने देखा दूर पीछेकी ओर भैरव मूर्तिको—'इसका स्वामी तो वह खड़ा है दण्ड लिये और तुम्हारा यह 'वीर' जानता है कि मेरी ओर देखनेका साहस यह करे तो भैरवका कालदण्ड इसकी कपालक्रिया कर देगा। माताके सामने उसका यह गण······।'

'देख महादेव आ रहा है!' इन कुछ क्षणोंमें भैरव स्वामीने दूसरी बार सर्षप फेंक दी—'तू मन्त्रज्ञ है, वृद्ध है, ब्राह्मण है। मैं तुझे दया करके छोड़ देता हूँ। इस वीरको अपनी वाम भुजा काटकर दे दे और चुपचाप चला जा यहाँसे।' खड्ग उठाकर स्वामीने सुनन्द पण्डितकी ओर बढ़ाया।

'महादेवको माता बुलाती है, उसे कोई लौटा नहीं सकता।' पण्डितके स्वरमें दृढ़ विश्वास था। आपने मन्त्र सिद्ध किये हैं, मैं तो माताका नाम जानता हूँ जो सबसे महान् मन्त्र है!'

'तू मानेगा नहीं!' दाँत पीसकर भैरव स्वामीने सर्षप उठायी, उनके ओष्ठ हिले और सर्षप उस कंकालपर गिरी।

'माँ! चामुण्डे!' साथ ही पुकारा पण्डितने देवीपीठकी ओर देखकर।

जैसे पूरा विन्ध्यगिरि फट पड़ा हो। भीषण शब्द और ऐसी प्रचण्ड ज्वाला जो पूर्ण ज्वालामुखीके फटनेपर भी दृष्टिमें न आ सके। परंतु पण्डित प्रमत्त नहीं थे। वे विद्युत्के समान भैरव स्वामीको अपने पीछे करके आराध्यपीठके सम्मुख गिरे और पुकार उठे—'माँ! क्षमा कर दे इस साधुको।'

करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा, विश्वभीषणा, चामुण्डा अपने आराध्यपीठपर जिह्वा लप्लप् करती प्रत्यक्ष खड़ी थीं। उनके हाथका उठा खेटक स्तम्भित हो गया था।

'माँ! तेरी यह कालीखोह अब किसी निरीह मानव या पशुके रक्तसे अपवित्र न हो!' सुनन्द पण्डितने उठकर अञ्जलि बाँधी और वरदान माँगा। 'तू इस साधुको क्षमा कर दे और शान्त हो जा!'

'जो तेरी इच्छा!' देवीकी वह मूर्ति जब अन्तर्हित हो गयी, तब सुनन्द पण्डितने घूमकर देखा—भैरव स्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं। उनके मस्तकसे कुछ रक्त निकल आया है। अबतक खोहके एक कोनेमें अपराधी कुत्तेके समान दुबका बैताल आगे बढ़ आया। उसने आधे पलमें अपनी काली जिह्वासे भैरव स्वामीके मस्तकसे निकला रक्त चाट लिया और अदृश्य हो गया।

भैरव स्वामी उठे एक अशक्त पुरुषके समान। सुनन्द पण्डितके पीछे मस्तक झुकाये वे चल पड़े। खोहसे निकलते-निकलते सिंहनीकी ओर देखकर पण्डितने फिर भैरव स्वामीकी ओर देखा और बोले—'देवि! तुम्हारा भाग तो बैताल चाट गया। अब तुम वनमें अपने आहारका अन्वेषण करो।'

× × ×

भैरव स्वामी फिर विन्ध्याचलमें देखे नहीं गये। विन्ध्याचलकी शाक्तमण्डली सुनन्द पण्डितके तर्क मान लेगी, यह आशा तो कभी नहीं थी; किंतु कालीखोहमें बंद हो गयी और बंद है।

कामके पत्र

(१)

सबमें भगवान् हैं

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें । हमलोगोंका जन्म भारतवर्षमें हुआ है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है इसलिये हमारा सौभाग्य है । भगवान्‌की यह हमपर बड़ी कृपा है, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु भगवान्‌के लिये तो भारत और भारतेतर सभी देश—अनन्त ब्रह्माण्डका प्रत्येक स्थान समान है तथा सब स्थानोंके निवासी चराचर सभी जीव उनके अपने हैं । सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌की दृष्टिमें उनके अपने सिवा और कुछ है ही नहीं—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' ।

हम यदि अपनेको भगवान्‌की संतान मानें तो जीव-मात्र सभी उनकी प्रिय संतान हैं । वे ही सबके एक-मात्र परम पिता या वात्सल्यमयी माता हैं । माता-पिता-को अपने सभी बालक प्रिय होते हैं । उनका सभीपर स्नेह और वात्सल्य है । वे सभीका हित चाहते हैं और सभीको सुखी बनाना चाहते हैं । इस दृष्टिसे जगत्‌के हम सभी जीव परस्पर भाई-बहिन हैं, फिर चाहे हम भारतमें जन्मे हों या यूरोपमें, अमेरिकामें अथवा ईरान-अफगानिस्तानमें एवं हम सभीको परस्पर एक-दूसरेके हितकी इच्छा करनी चाहिये और एक दूसरेको सदा सुख पहुँचानेका प्रयत्न करना चाहिये । जिनका हृदय वात्सल्यसे भरा है, वे माता-पिता उस पुत्रपर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं, जो अपने दूसरे भाई या भाई-बहिनोंको दुखी देखकर, उन्हें दुखी बनाकर, सुखी होना चाहता है । 'हिंदू सुखी रहें और सब सुखसे वञ्चित हों; भारतवासी सुख-सम्पन्न रहें, अन्य देश-वासी दुःख भोगें; मनुष्य सुखी हों, इतर प्राणी सुख प्राप्त न करें । बल्कि सभीका सुख उनसे निकलकर हमारे पास आ जाय, उनका दुःख ही हमारा परम सुख बन जाय ।' ऐसी भावना कितनी पापमयी है और परम पिता भगवान्‌को कितना अप्रसन्न करनेवाली है, इसपर आप गहराईसे विचार करें ।

हमारे यहाँ तो यह सिद्धान्त माना गया है और यह सत्य है कि चराचर सभी रूपोंमें—अखिल जगत्-रूपमें हमारे भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं । वे ही वही हैं या सब उन्हींके शरीर हैं—वे सबमें सदा समान भावसे विराजमान हैं । अतएव किसी भी जीवको सुख पहुँचाना उनको सुख पहुँचाना है, किसीकी सेवा करना उन्हींकी सेवा करना है । किसीको प्रणाम करना उन्हींको प्रणाम करना है और इसी प्रकार किसीको दुःख पहुँचाना, किसीकी हानि करना और किसीका तिरस्कार करना उन्हींको दुःख पहुँचाना, नुकसान पहुँचाना और तिरस्कृत करना है । वेदका पवित्र आदेश है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(शुक्लयजु० ४० । १)

इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है, उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो । आसक्त मत होओ, धन किसका है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११ । २ । ४१)

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—

भगवान्‌के शरीर हैं । ऐसा समझकर जो कोई भी मिले, उसे अनन्यभावसे प्रणाम करे ।

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(६ । ३०)

जो सर्वत्र (सम्पूर्ण प्राणियोंमें) मुझको देखता है और सब (प्राणियोंको) मुझमें देखता है उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता ।

इन सब शास्त्रवाक्योंपर ध्यान देकर हमें ऐसा बनना चाहिये कि जिससे हमारी क्रियामें, हमारे वचनमें और हमारे मनमें भी कभी किसीके अहितकी कल्पना भी न आवे; किसीको दुखी देखकर सुखी होनेका असत् तथा पापमय संकल्प कभी न उठे । यह निश्चय मान लेना चाहिये कि जिससे दूसरेका अहित या उसको दुःख होगा, उससे हमारा हित या हमको सुख कभी हो ही नहीं सकता । उचित तो यह है कि अपने पास जो कुछ सुख-सामग्री हो, उसे, जहाँ उस सुख-सामग्रीके अभावसे दुःख फैला है, वहाँ बाँटते रहें । उनकी अपनी वस्तु समझकर आदरपूर्वक उनको देते रहें और इसीमें अपनेको तथा उस सुख-सामग्रीको धन्य समझें । 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द मया तुभ्यं समर्पयेत् ।' शेष भगवत्कृपा ।

(२)

मानवताकी रक्षा

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । मेरी समझसे मनुष्य पहले मनुष्य है, फिर वह किसी सम्प्रदायका अनुयायी है । जिस मनुष्यने अपने मनुष्यत्वको खो दिया, वह किसी विशिष्ट सम्प्रदायका अनुयायी भी कैसे माना जा सकता है । सत् सम्प्रदाय तो वस्तुतः मनुष्योंके ही होते हैं । मनुमहाराजने मानवके लिये दस धर्म बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(६ । ९२)

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीकी वृत्तिका अभाव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं ।*

जिनमें ये गुण मौजूद हैं और जो इन गुणोंके सम्पादनमें लगा हुआ है, वही मानव है । जो दूसरेका बुरा चाहता है, बुरा करता है, सम्प्रदायभेदसे द्वेषयुक्त होकर किसीसे घृणा करता और उसके धर्मपर आक्षेप करता है, वह तो मानवतासे गिरता है । उसे धर्मात्मा कैसे माना जाय ।

किस धर्ममें भगवान्‌का क्या स्वरूप माना गया है, सृष्टिके निर्माणका क्या क्रम माना गया है । इसको लेकर झगड़नेकी आवश्यकता साधारण मनुष्यको नहीं है । इसका तर्क-वितर्क या तो गम्भीर विचारवाले दार्शनिक कर सकते हैं या झगड़ालू प्रकृतिके लोग । साधारण मनुष्य तो अपने सीधे मार्गसे चलता रहे । खण्डन-मण्डनमें पड़े ही नहीं । यही उसके लिये सुभीतेकी बात है । हाँ, इतना अवश्य ध्यान रक्खे कि उसके उस मार्गमें चलनेसे मनुकथित उपर्युक्त दस मानवधर्म अथवा श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी सम्पत्तिके गुण कम तो नहीं हो रहे हैं । यदि वे कम हो रहे हैं तो अपने मार्गपर विचार करना चाहिये और जिस किसी सत्पुरुषपर श्रद्धा हो, उससे पूछकर मार्गकी भूल-को मिटानेका प्रयत्न करना चाहिये । नहीं तो, चुपचाप अपने मार्गपर चलते रहना चाहिये ।

---

* इनकी विशेषरूपसे व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'मानव-धर्म' नामक पुस्तक कहींसे खरीदकर ध्यानसे पढ़नी चाहिये । मूल्य ≈) है।

आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीरामका या विष्णुभगवान्‌का ध्यान करनेके समय यदि श्रीकृष्णका ध्यान होने लगे तो आपको यही मानना चाहिये कि भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं। इनके लीलास्वरूप भिन्न हैं, तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। भगवान् इस सिद्धान्तका निश्चय करानेके लिये ही श्रीकृष्णरूपमें मेरे ध्यानमें आये हैं। साधकको सदा सावधान रहना चाहिये—न तो वह अनेक भगवान् माने और न भगवान्‌के किसी रूपको भगवान् न माने। वह यदि श्रीरामके स्वरूपका उपासक है तो यह माने कि मेरे भगवान् श्रीराम ही कहीं विष्णुरूपमें, कहीं शिवरूपमें, कहीं श्रीकृष्णरूपमें, कहीं गणेशरूपमें, कहीं सूर्यरूपमें, कहीं जगदम्बारूपमें और कहीं नाम-रूपरहित निर्गुण निराकार निर्विशेषरूपसे उपासित होते हैं। इसी प्रकार श्रीविष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, गणेश, सूर्य, देवी और निराकार निर्गुणके उपासक समझें। हम भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना करते हैं, वही भगवान् हैं, दूसरे लोगोंके उपास्यरूप भगवान् नहीं हैं, ऐसा मानते हैं तो हमारे भगवान् हमारी उपासनाकी सीमातक ही रह जाते हैं। हम स्वयं ही अपने भगवान्‌को छोटा बना लेते हैं और यदि यह मानें, अलग-अलग सब भगवान् हैं तो भगवान् अनेक हो जाते हैं, कोई भी एक भगवान् नहीं रहते। अतएव अनन्यताका यही भाव है कि उपासना भगवान्‌के एक ही नाम-रूपकी करें और भगवान्‌के दूसरे सब नाम-रूपोंको उन्हीं भगवान्‌के नाम-रूप समझें। किसीका विरोध नहीं, खण्डन नहीं और अपने उपास्यमें नित्य अनन्यनिष्ठा।

परंतु जान-बूझकर इष्टके स्वरूप और नामको बार-बार बदलना नहीं चाहिये। इससे मनकी एकाग्रता तथा इष्टनिष्ठामें बाधा आती है। तत्त्वतः एक मानते हुए ही, यथासाध्य एक ही स्वरूपको सर्वोपरि परम इष्ट मानना तथा सदा-सर्वदा उसीके नामका जप करना चाहिये। इससे साधनमें सुविधा होती है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

हृदयपरिवर्तन तथा प्रेमप्राप्तिका साधन

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। आपने अपने घरकी परिस्थिति लिखी सो अवश्य ही शोचनीय है। परिस्थितिके सुधारके लिये आपको मेरी समझसे ... करना चाहिये। आपको जो घरके सब लोगोंमें ... दिखायी देते हैं, पहले इसपर विचार करें। क्या आप यह समझते हैं कि उन्हीं लोगोंका सारा दोष है, आप सर्वथा निर्दोष हैं? गहराईसे देखनेपर आपको अपने दोष भी दिखायी देंगे, एक दोष तो यह प्रत्यक्ष है कि आप केवल उन्हींको दोषी मानते और ठहराते हैं। जो यह निश्चय कर चुकता है कि दूसरे ही दोषी हैं, उसकी अपने दोषोंकी ओर दृष्टि जाती ही नहीं। ... वह देखना जानता ही नहीं। अतएव दूसरोंके दोष ... देखकर वह जलता-भुनता रहता है। उसमें घृणा ... तथा क्रोध-हिंसाके भाव बढ़ते रहते हैं और उन्हीं भावों- के अनुसार उसकी क्रिया होती है। वह वाणीसे उनके दोषोंका वर्णन करता है, उनकी निन्दा-चुगली करता है; उन्हें गिराने या दण्ड प्राप्त करानेकी इच्छा ... चेष्टा करता है। फलतः दूसरी ओरसे भी वैसी ही ... होती है एवं कलह भयानक रूप धारण करके सबको दुःखी कर देता है। अतएव आप अपने दोषोंकी ओर देखने की चेष्टा करें। उनके दोषों, अवगुणोंकी ओर न देखें। वे 'अपने कर्तव्यपालनमें त्रुटि ही नहीं करते हैं, कर्तव्य के विपरीत अन्याय कार्य करते हैं'—ऐसी बात न सोचें। उनसे सुखकी आशा ही न करें और उनके प्रति आ...

जो कर्तव्य हो, उसे सावधानी तथा उदारताके साथ पूरा करें। उनको सुख हो, इस बातका ध्यान रक्खें तो सम्भव है, कुछ दिनोंमें उनका हृदय बदल जाय और उनसे आपको सद्व्यवहार प्राप्त होने लगे।

एक बात और विचारणीय है। जिसको घरमें, घरवालोंसे, सम्बन्धियोंसे अधिक सुख-सुविधा मिलती है, उसकी सहज ही घरमें तथा घरवालोंमें आत्मीयता तथा आसक्ति बढ़ जाती है और आसक्तिमें फँसा हुआ मनुष्य संसार-सागरसे तरनेकी इच्छा ही नहीं करता। अतएव आपको इसे भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये कि जो ऐसी परिस्थिति प्राप्त हो गयी, जिससे आपको घरवालोंकी मोह-ममतासे युक्त होकर वैराग्यसाधन-का और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका सुअवसर मिला। इसके लिये भगवान्‌का कृतज्ञ होना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थितिद्वारा लाभ उठानेवाला ही बुद्धिमान् है। किसीके प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध नहीं करना चाहिये; न कभी किसीका बुरा ही चाहना चाहिये। वरं शान्तिके साथ पता लगाना चाहिये कि मुझमें ऐसा कौन-सा दोष है या कौन-सी ऐसी भूल है, जिससे इन लोगोंके मनमें बार-बार क्षोभ पैदा होता है। भगवान्‌से प्रार्थना करके यदि आप सच्चे हृदयसे अपनी भूलको जानना चाहेंगे तो आपकी भूल आपके सामने आ जायगी और फिर, भूलके जान लेनेपर प्रतिज्ञा करके आप उस भूलको मिटानेमें लग जाइये। असली बात तो यह है कि भूलको भूल जाननेसे ही भूल मिट जाया करती है। परंतु यदि आदतमें कोई दोष हो तो उसका विरोधी अभ्यास करके उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न कीजिये। आप ऐसा करेंगे तो उन लोगोंके क्षोभकी जड़ ही कट जायगी। यों आप अपनेको तथा घरभरको पाप-तापके गहरे समुद्रमें डूबनेसे बचा लेंगे। आप सुखी हो जायँगे और भगवान्‌का आशीर्वाद तो आपको प्राप्त होगा ही।

याद रखिये—हृदयका शुभ परिवर्तन तथा प्रेमका और परिणाममें दिव्य आनन्दका प्रादुर्भाव किसीके दोष-दर्शन, दोषकथन, दोषचिन्तन अथवा घृणा या द्वेष-बुद्धिसे कभी नहीं हो सकता। वह तो त्याग, सेवा तथा नम्रतापूर्ण सत्य तथा हितयुक्त सद्व्यवहारसे ही होता है—शेष भगवत्कृपा।

प्रभु राम वही घनश्याम वही

(रचयिता—श्रीसूर्यवलीसिंहजी दसनाम, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

जगदीश जनार्दनकी जगती, जगती जिसकी जग-ज्योति निराली।
जिसके सुर सेवक हैं शशि सूर्य शचीश अहीश सतीश कपाली॥
विधि जो बनके रचता रहता निशिवासर सृष्टि चराचरवाली।
करता रहता प्रतिपालन-लालन जो बन विष्णु पराक्रमशाली॥
करमें कर काल प्रचण्ड अखण्ड किया यमको जिसने बलशाली।
गति मारुतको मति भारतिको धृति दे करके जिसने क्षिति पाली॥
अखिलेश अनादि अनन्त अनूप अगोचर गोचर भी छबिशाली।
रघुवीर वही यदुवीर शरासन बाण लिये मुरली रसवाली॥
पृथिवी-द्विज-धेनु-हितार्थ सदा अवतार उदार वही धरता है।
अघपूर्ण अधर्म-भरे जनका वध दिव्य कला-बलसे करता है॥
रख धर्म महीपर, भूमि भली कर खेल दिखा मनको हरता है।
रण-वीर हुए रणमें डटता, रस-वीर हुए रससे भरता है॥
परब्रह्म कभी शिव-रूप कभी विधि-रूप बना सबको रचता है।
हरि विश्वविमोहन पालन शंख गदाम्बुज चक्र लिये करता है॥
दशभाल-निकन्दन श्रीरघुनन्दनकी न कहीं जगमें समता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही बलराम यही मनमें जमता है॥
सब ठौर स्वयम्भु विराज रहा जलमें थलमें नभमें बसता है।
नर नाहर नाग सुरासुर किन्नर वानर कासरमें लसता है॥
पशुमें खगमें कणमें अणुमें द्युति पावक आतपमें तपता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही 'दसनाम' निरंतर यों जपता है॥

भद्रा मुद्रा

(लेखक—श्रीजशवन्तराय जयशङ्कर हाथी)

श्रीआदिशंकराचार्य अपने 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमें' गा रहे हैं—

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तःस्फुरन्तं सदा ।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

श्रीभोलानाथ, आशुतोष भगवान् शङ्करने दक्षिणा-मूर्ति-स्वरूप धारण किया, इस सम्बन्धमें कथा है—

भारतकी संस्कृतिका स्रोत बहानेवाले केन्द्रोंमें सर्व-प्रधान श्रीनैमिषारण्यमें वर्षोंतक चलनेवाले सत्रयज्ञ हुआ करते थे । 'स्वाहा, स्वाहा'की ध्वनिके साथ-साथ इतिहास-पुराणकी पावन कथाओंके प्रसङ्ग भी वहाँ चला करते थे । बालवयस्क सूत पुराणी कथा कहनेवाले और आबालवृद्ध ऋषि-मुनि सामान्यजन कथा सुननेवाले । उपदेशक महोदय बीच-बीचमें 'अयि बालाः समाहिता भवन्तु' की टेक लगाते रहते थे । कुछ वृद्ध मुनिगण एक बार इस टेकके पुनरावर्त्तनसे रुष्ट हो गये और वे विष्णुभगवान्के पास शिकायत करने गये । 'वृद्धोंको बालक कहना क्या उचित है ?' यह प्रश्न भगवान्से पूछा । श्रीभगवान्ने कहा—'इसका उत्तर ब्रह्माजी देंगे ।' सब वहाँ गये । श्रीब्रह्माजीने कहा—'अपने डमरूनादद्वारा जिन्होंने विद्याओंका प्रचार सर्वप्रथम किया, वे शिवशंकर ही इसका निराकरण कर सकते हैं ।' मुनिगण कैलासको गये ।

सदाशिव योगी ठहरे । उन्होंने अपने रुद्ररूपको त्यागकर 'दक्षिणामूर्त्ति'का सौम्य जगद्गुरु रूप धारण कर लिया और एक विशाल वटवृक्ष-तले वे दक्षिण हस्तमें भद्रामुद्रा और वाम हस्तमें त्रिशूल लेकर मौनव्रतधारी हो समाधिस्थ बैठ गये ।

मुनिगण वृक्षकी सघन छायामें बैठ गये और शिवजीके समाधिसे जाग्रत् होनेकी राह देखते रहे । बैठे-बैठे वे आपसमें इस दृश्यपर विचार भी करने लगे।

सौम्य स्वरूप, समाधिस्थ, मौन ! फिर भी दक्षि[illegible] हस्तकी तीन अँगुलियाँ अलग और जुड़ी हुई [illegible] दूसरी ओर प्रथमा अंगुलीका अग्रभाग अंगुष्ठके [illegible] मिला हुआ है । इस भद्रा मुद्रासे कोई सांकेतिक [illegible] तो नहीं दिया जा रहा है । विचारधारा और [illegible] बह चली ।

तीन ताप, तीन गुण, तीन अवस्था, तीन आयु- इन सारी त्रिपुटियोंको पार करके, 'अ उ म' की [illegible] त्रिशूल-धारसे छेदन करता हुआ, जो जीवात्मा [illegible] चित्त होकर परमात्मा—अंगुष्ठमात्रपुरुषः—की [illegible] झुक नहीं जाता, वह उपदेश सुनते हुए भी [illegible] ही है । इसलिये वह 'बाल ही है ।' हम [illegible] कथारसमें तल्लीन होते तो 'अयि बालाः' का नाद [illegible] कानोंका स्पर्श करनेपर भी, हम उसे सुनते ही न[illegible] और न हमें रोष आता ।

वाह री संकेत करनेवाली मुद्रा भद्रा—[illegible] कारिणी मुद्रा । गुरु मौन, फिर भी शिष्योंका [illegible] छिन्न हो गया ।

नीचेके श्लोकोंमें इसी चित्रकी झाँकी भली[illegible] झलक रही है—

वटविटपसमीपे भूमिभागे निषण्णं
सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात्
त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्त्तिदेवं
जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि
चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः
ॐ नमः प्रणवार्थाय शुद्धज्ञानैकमूर्त्तये
निर्मलाय प्रशान्ताय दक्षिणामूर्त्तये नमः
निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम्
गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्त्तये नमः

'तीर्थाङ्क'के लिये निवेदन

'कल्याण'का सन् १९५७ का प्रथमाङ्क 'तीर्थाङ्क' विशेषाङ्क निकाला जाय, ऐसा विचार पर्याप्त समयसे चल रहा है। सामग्री एकत्र हो गयी तो निकलना सम्भव भी है। इसके लिये बहुतसे तीर्थोंमें हमारे प्रतिनिधि गये भी थे; किंतु इतने महान् कार्यके लिये हमें आप सभीके सहयोगकी आशा है, जिससे 'तीर्थाङ्क' में सभी तीर्थयात्रियोंके उपयोगकी सामग्री दी जा सके। प्राचीन तीर्थ, संततीर्थ, जैनतीर्थ तथा बौद्धतीर्थ—इन सबका विवरण तीर्थाङ्कमें देनेका विचार है। इसके लिये आवश्यक सामग्री एवं जानकारी निम्नरूपोंमें आवश्यक है—

१–तीर्थका विवरण, वहाँके दर्शनीय मन्दिर, पवित्र सरोवर, कूप तथा नदी, घाट आदि का विवरण।

२–सम्भव हो तो मन्दिरों, उनके श्रीविग्रहों, सरोवर तथा घाटादिके छायाचित्र।

३–तीर्थका माहात्म्य, इतिहास और यदि वहाँके पवित्र स्थानोंसे सम्बन्धित कोई चमत्कारिक घटना हो तो उसका विवरण।

४–तीर्थमें या आस-पास किसी प्राचीन आचार्य या प्रसिद्ध संतकी बैठक, मठ या समाधि हो तो उसका विवरण एवं उस स्थानका छायाचित्र।

५–तीर्थके दर्शनीय स्थानोंकी परस्पर दूरी।

६–तीर्थसे निकटतम स्टेशनका नाम और वहाँसे तीर्थके मुख्य स्थानकी दूरी और पहुँचनेके साधन।

७–तीर्थ मोटर बसके मार्गपर हैं तो उसका विवरण।

८–तीर्थमें यात्रीके ठहरनेकी व्यवस्था। धर्मशाला आदिका विवरण और यदि उनमें कोई प्रतिबन्ध हो, जैसे कोई अमुकवर्गके ही लिये हो तो उसका उल्लेख।

९–तीर्थके मुख्य उत्सव एवं मेलोंका विवरण।

१०–वहाँके मन्दिरों आदिमें यदि विशेष पूजा-परिपाटी हो अथवा दर्शनके लिये कोई अनिवार्य फीस हो तो उसका विवरण।

११–उस तीर्थके आसपास जो दर्शनीय स्थान तथा मन्दिर तीर्थादि हों, उनका विवरण एवं उनकी दूरी और वहाँ पहुँचनेके साधन।

१२–यदि उस तीर्थसम्बन्धी साहित्य या चित्रादि कहीं मिल सकते हों तो उस स्थानका पता तथा ऐसे विद्वान्का पता जो वहाँके सम्बन्धमें विशेष जानकारी दे सकें।

हम सभी पाठकों विशेषतः तीर्थवासियों एवं मन्दिरोंके अध्यक्षों, ट्रस्टियों, सेवाधिकारियों से प्रार्थना करते हैं कि वे आवश्यक जानकारी तथा सामग्री देकर हमारी सहायता करें। यह सब जानकारी हमें जूनके अन्ततक मिल जाय तो विशेष सुविधा रहेगी।

निवेदक—हनुमानप्रसाद पोद्दार 'सम्पादक'

मीरां

कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०१३, जुलाई १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण भारतमें विदेशमें (१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

हिमालयमें छिपे भगवान् शङ्कर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
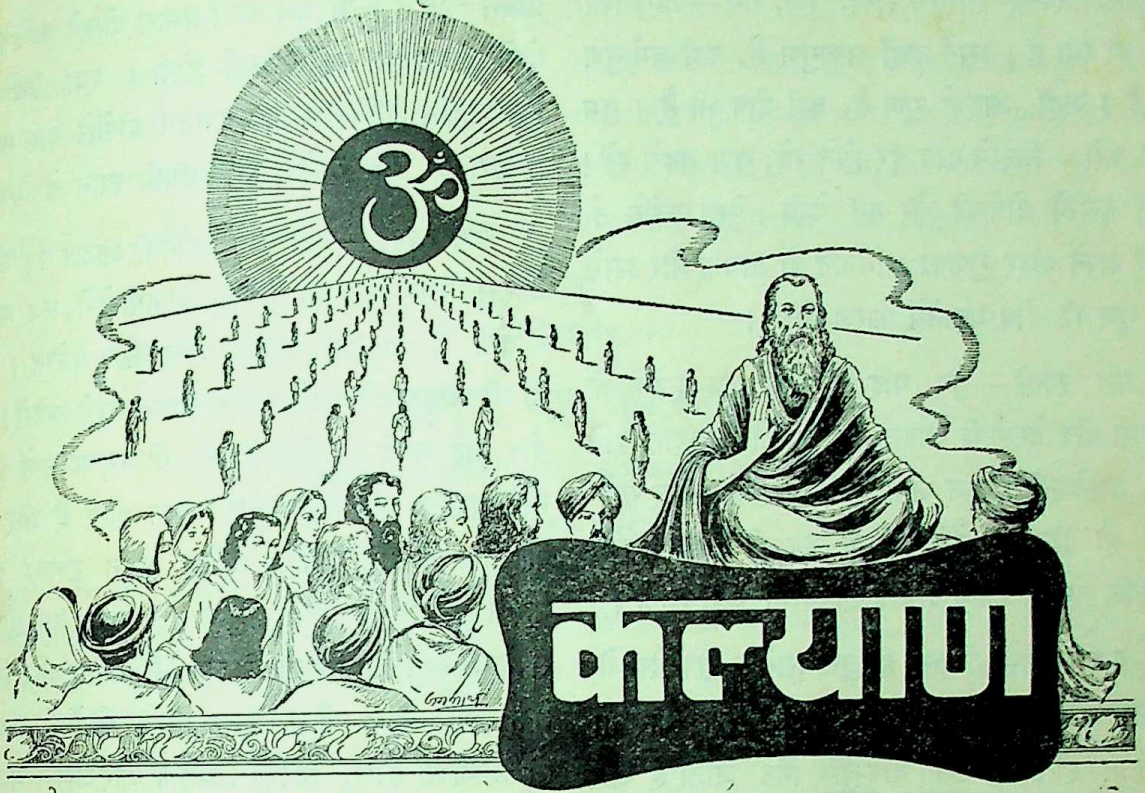
कल्याण

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर श्रावण २०१३, जुलाई १९५६ | संख्या ७ पूर्ण संख्या ३५६

हिमालयमें छिपे भगवान् शङ्कर

हिमगिरिमें हिमसे आच्छादित हिमाकार शंकर अविकार ।
अमल धवल निज रूप समाहित त्रिगुणातीत विविध आकार ॥
जटाजूटयुत, भुजंग-भूषित, सिरसे बहती सुरसरि-धार ।
शायित लुक्कायित हिममें हर कर वर हिमातिथ्य स्वीकार ॥

याद रक्खो—संसारमें सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणका खेल हो रहा है। इसमें जहाँ सत्त्वगुण है, वहाँ तमोगुण भी है। जहाँ आदर्श गुण है, वहाँ दोष भी है। तुम यही करो—जिससे दोष दूर होते रहें, गुण बढ़ते रहें। परंतु दूसरेके दोषोंकी ओर मत देखो। ऐसा करोगे तो तुम्हें अपने अंदर गुणका अभिमान हो जायगा और इससे वह गुण भी दोष बढ़ानेमें कारण होगा।

याद रक्खो—तुम यदि दूसरोंमें दोष देखोगे तो तुम्हारी दोष देखनेकी आदत पड़ जायगी। तुम्हारी दृष्टि दोष देखनेवाली ही बन जायगी, फिर तुम्हें सदा और सर्वत्र दोष ही दिखायी देंगे। बिना हुए ही दिखायी देंगे; क्योंकि तुम्हारी दृष्टिमें दोषका ही चश्मा चढ़ा रहेगा।

याद रक्खो—जितना ही तुम दूसरोंके दोष देखोगे, उतना ही दोषोंका चिन्तन होगा। जिसका बार-बार चिन्तन होता है, उसमें दोष-बुद्धि मिट जाती है और वह चीज़ धीरे-धीरे अपने अंदर आकर अपना घर कर लेती है। अभिप्राय यह कि जितना ही तुम दोष देखोगे, उतने ही अधिक दोष तुम्हारे अंदर आ जायँगे।

याद रक्खो—तुम्हारे अंदर जो पुराने दोष वर्तमान हैं—बार-बार दूसरोंके दोष देखनेसे वे तरुण, बलवान् और पुष्ट हो जायँगे एवं नये-नये दोषोंको बुला-बुलाकर अपनी शक्ति बढ़ाते रहेंगे।

याद रक्खो—जब सभीमें तुमको दोष दिखायी देंगे, तब अपने अंदरके दोषोंसे घृणा निकल जायगी। उनका अपनेमें रहना अखरेगा तो नहीं ही, वरं अनुकूल दीखने लगेगा। फिर, उनके रहनेमें गौरव-बुद्धि होने लगेगी।

याद रक्खो—जब सभीमें दोष देखोगे, तब मनमें यह निश्चय होने लगेगा कि ये दोष तो सभीमें रहते हैं, ये निकलनेकी चीज हैं ही नहीं। इनके निकालनेका प्रयास व्यर्थ है। यों जब व्यर्थ प्रयास दीखने लगेगा, दोषोंके हटानेमें प्रवृत्ति नहीं होगी। एक विचित्र निराशा और शिथिलता आ जायगी। दोषोंसे हार मान तुम्हारा मन उन्हें रहनेके लिये स्थायी स्थान दे देगा।

याद रक्खो—जब दोष देखनेकी आदत पड़ जायगी और सबमें हुए-बिना हुए दोष ही दिखायी देंगे, तब वास्तवमें दोष है या नहीं, इसकी जाँच कौन करेगा। बिना ही जाँच-पड़तालके पराये दोषोंका बखान करने लगोगे। दोष यदि सच्चे भी होते हैं, तो भी मनुष्य उन्हें सुनना नहीं चाहता, उसे बहुत बुरा मालूम होता है और जब कोई किसीमें झूठे दोषोंका आरोप करके उनका प्रचार करता है, तब तो प्रायः मनुष्य उसे सहन कर ही नहीं सकता, वह विद्वेष-वैर मानने लगता है। क्रोध और हिंसा तक कर बैठता है। अतः तुमसे लोगोंकी लड़ाइयाँ होंगी, कलह होगा, वैर-विद्वेष बढ़ेगा और जीवन नये-नये उपद्रवोंका तथा अशान्तिका क्रीड़ास्थल बन जायगा।

याद रक्खो—दोष देखने और दोष-दर्शनजनित उपद्रवोंसे ग्रस्त रहनेपर तुम्हारा पारमार्थिक साधन तो छूट ही जायगा, लौकिक शान्ति भी नहीं रहेगी और पारमार्थिक साधन छूटनेके समान दूसरी कोई हानि है ही नहीं। तुम रात-दिन जलोगे, आसुरी तथा राक्षसी भावों के गुलाम होकर सदा संत्रस्त रहोगे। दुनियाँमें कहीं भलाई दीखेगी ही नहीं—संतों, महात्माओं और भगवान्‌में भी दोष दीखने लगेंगे, इससे जीवनका स्तर बहुत ही नीचे धरातलपर पहुँच जायगा।

याद रक्खो—यह मानव-जीवनकी बहुत बड़ी विफलता है—परम हानि है। इसलिये तुम किसीके भी दोष न देखो, अपने दोष देखो और उनके लिये रोना, हताश होना छोड़कर वीरकी भाँति जूझकर उन्हें तुरंत निकाल दो।

याद रक्खो—तुम्हारी शक्ति अपार है। तुम अनन्त-शक्ति आत्मा हो, चेतन हो, परमात्माके अंश हो। मन-इन्द्रियाँ तुम्हारे दास हैं—तुम अपने आत्म-स्वरूपको पहचानकर इनपर नियन्त्रण कर लोगे तो ये तुरंत तुम्हारे वशमें हो जायँगे। सारे दोष—जो इनके द्वारा ही होते हैं, डरकर भाग जायँगे। तुम परमात्माकी ओर सहज ही अग्रसर होओगे और अन्तमें उनको पाकर निहाल हो जाओ। दूसरोंके दोष तो कभी देखो ही मत। हो सके तो गुणोंका चिन्तन भी मत करो; क्योंकि गुण-चिन्तनसे राग होता है और दोष-चिन्तनसे द्वेष। राग भी बन्धन-कारक और पतनकारी ही है। अतएव प्रयत्नपूर्वक केवल परमात्माका ही चिन्तन करो, उन्हींका मनन करो और जगत्के पदार्थोंका चिन्तन, जो आवश्यक हो, केवल परमात्माकी प्रीति तथा सेवाके लिये ही करो।

'शिव'

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

ज्ञान-भूमिकाकी महिमा—हे पापरहित ! सप्त पदवाली ज्ञान-भूमिको सुन, इसको जानकर पुनः मोह-कीचमें नहीं फँसेगा। मोक्ष और सत्यका अवबोध (ज्ञान) पर्यायवाची शब्द हैं। जिसको सत्यका ज्ञान हो गया, वह फिर जन्म नहीं लेता। इन भूमिकाओंमें (के आधारपर अथवा साधनद्वारा) मुक्ति स्थित है। जिसके होनेपर पुनः शोक नहीं करता (योगवासिष्ठ ३, १, ८, १, ४; महा० ३, ५, २१, २३, २६)।

ज्ञान-भूमिकाके नाम—(१) प्रथम ज्ञान-भूमिकाका नाम शुभ इच्छा (जिज्ञासा) है। (२) विचारणा (३) तनुमानसी (४) सत्त्वापत्ति (५) असंसक्ति (६) पदार्थाभावनी (७) तुर्यगा (योग वा० ३। ११८। ५-६)

(१) अधिकारी (२) श्रवणात्मिका (३) मनन-प्राया (४) निदिध्यास (५) साक्षात्कार (६) परिणति (जीव-ब्रह्म-एकत्वकी वृत्तिपरिणामा) (७) पराकाष्ठा तुर्या (बोधसार)।

भूमिकाके फल—(१) पहिली भूमिकामें विद्यार्थी होता है। दूसरीमें पदार्थका ज्ञान। तीसरीमें श्रुत अर्थमें संशयरहित (श्रुत अर्थके युक्तिद्वारा अनुसंधानसे)। चतुर्थमें पण्डित (सजातीय प्रत्ययकी अनुवृत्ति तथा विजातीय प्रत्ययके तिरस्कार-द्वारा विपरीतभावनाकी निवृत्तिसे समस्त पदार्थोंमें समबुद्धि)। पाँचवीं अनुभूति-प्राप्ति—जीवात्माके एकत्वकी। छठीं भूमानन्दसे घूणित—व्याप्त होता है। आनन्दका आस्वादन करता है। सातवीं सहजानन्दवान् होता है। आठवीं तुर्यातीत इससे भी परे है तुर्याभूमिसे अस्पृष्ट तत्त्व—(बोधसार)।

सप्त भूमिकाओंके लक्षण—प्रथम भूमिका शुभेच्छा, जिज्ञासा, मुमुक्षा-अधिकारी (मैं तत्त्वको न जानते हुए तूष्णी—चुपचाप क्यों बैठा हूँ) मुझे शास्त्र तथा आचार्यसे वह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। मैं मूढ़ अज्ञानी क्यों बना हूँ। मुझे सज्जनोंसे (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियोंसे) शास्त्रद्वारा तत्त्वको जानना चाहिये। ऐसे संसारमें वैराग्यपूर्वक (ज्ञानकी) इच्छाको विद्वान् शुभेच्छा कहते हैं। वराहोप० ४, २, ३ सर्ववेदान्तसंग्रह ९४१; योगवा० ३। ११८। ८ (अनेक जन्मोंके सुकृत-परिपाकसे प्राप्त सज्जन-सङ्गतिसे निष्काम-धी; अनन्तर आपाततः यह जानकर कि ब्रह्म सत्य है, उससे भिन्न सब मिथ्या है। तब उसको ब्रह्मातिरिक्त विषयोंमें वमन, विष्ठाके समान वैराग्य होता है, तब शास्त्र-श्रवण लक्षणवाली प्रथम भूमिका प्राप्त होती है। तब मन, कर्म और वचनके शम-दम ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न सज्जनोंकी शरणमें जाकर सेवा आदि अनुकूल धन आदि लाकर उनकी सेवा करता है। उनके मुखसे अध्यात्म शास्त्रोंको श्रवण करता है। (योगवा० ६। १। १२६) तब वह प्रथम भूमिकाको प्राप्त होता है, जब इस प्रकार संसार-समुद्रको पार करनेके लिये विचार करता है। इससे भिन्न, शेष उक्त साधन-चतुष्टयादि सम्पत्तिहीन अध्यात्म-ग्रन्थमें आसक्त होनेपर भी अनधिकारी होनेसे स्वार्थी वञ्चक है। (अक्ष्युप० २, ४)।

मुण्डक १, २, १२—कर्मद्वारा प्राप्त लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण (विचारवान्) निर्वेदको प्राप्त होता है, क्योंकि अकृत—(ब्रह्म), कृत (कर्म) से प्राप्त नहीं होता। इसलिये उस ब्रह्मके ज्ञानके लिये समिधा हाथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाय।

मुमुक्षा उपाय—निष्काम उपासना तथा कर्म चित्त-शुद्धिद्वारा समुद्रकी दो चञ्चल लहरोंके मध्यमें उनके थपेड़ोंसे तंग आकर जैसे अपने सिरको भीतर प्रवेश कराता है, ऐसे ही अनेक जन्मोंमें जन्म-मरण आदि अनन्त दुःखोंसे त्रासित होनेपर मनुष्यको आत्मानात्मविवेक होता है। (योगवा० ६८। १२६। ४।)।

मुमुक्षालक्षण—मेरा मोक्ष हो, संसारका दर्शन न हो—ऐसी दृढ़ भावना, पुण्यक्षेत्र तथा मोक्षधर्मोंमें रुचि, काम्य-धर्ममें अश्रद्धा (बोधसार १७)।

द्वितीय भूमिका-विचारणा—शास्त्र तथा सज्जनोंका संग करके तथा वैराग्य-अभ्यासपूर्वक श्रवण-मननरूप सदाचारमें जो प्रवृत्ति है, इसको विचारणा कहते हैं। (योगवा० ३, ११८, ९; सर्व० सं० ९४२; वराहो० ४, २, ४; अक्ष्युप० २, महा० ३, ५, २८)।

श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान कर्मसाध्य समाधि तथा यम आदि साधन जिस योगशास्त्रके विषय हैं, उसकी अनुष्ठान तथा अनुष्ठानरूप फलवाली व्याख्यासे जो प्रसिद्ध है तथा आत्मतत्त्वानुभव तथा उपदेशमें कुशल होनेसे जो श्रेष्ठ है। अर्थात् ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाते हैं।

(व्याकरण आदि अङ्गोंका ज्ञाता) पद तथा (वाच्य, लक्ष्य आदि रूप) अर्थोंके (लक्षण आदि) प्रविभागका जाननेवाला, गुरुमुखसे जानकर कार्य (साध्य-कर्मकाण्डका अर्थ) अकार्य (सिद्ध ब्रह्मकाण्डके अर्थ) के निर्णयको स्पष्ट जानता है। जैसे गृहका पति गृहको जानता हो, मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह, लोभ, ज़्यादतीको लोकमर्यादा अनुसार बाहरसे धारण करनेपर भी शनैः-शनैः थोड़ा-थोड़ा त्यागता रहता है। जैसे सर्प त्वचाको।

यह सत्य (त्रिकाल बाधरहित) है, यह (प्रकृति-विकृति सत्से भिन्न) मिथ्या है, यह चैत्य (चेतनका विषय) है, तथा यह चित् असंग कूटस्थ स्वरूप है। यह (देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित) ब्रह्म है। यह (असम्भवको सम्भव करनेवाली) माया है। इनके परस्पर भेदको साक्षात् अनुभव करना, यह विचारका लक्षण है। इस संसारका आधार क्या है, कैसे लीन होता है। ईश्वर, जीव, मुक्ति, बन्धन, द्वैत, अद्वैत क्या है। नित्यानित्यविवेकके द्वारा नित्य वस्तुको सत्य और अनित्यको तुच्छ समझना। निरन्तर उपर्युक्त ब्रह्मविचार करना प्रौढ़ विचारणाका लक्षण है। (बोधसार ६)

तृतीय भूमिका तनुमानसा—विचारणा और शुभेच्छा (अर्थात् साधन-चतुष्टय-सम्पत्ति आदिपूर्वक श्रवण तथा मनन) से युक्त निदिध्यासनसे इन्द्रियोंकी तथा मनकी उनके विषय शब्दादिमें आसक्ति (ग्रहण करना) रूपी तनुता (सविकल्प समाधि) को तनुमानसा कहते हैं। योगवा० ३, ११८, ... तृतीय भूमिकाको योगवासिष्ठ ६७, १२६, १९ तथा ... उ० १५ में 'असंग भूमि' कहा है। इसके उपाय—... बहुत विक्षेप होनेसे समाधि-अभ्यासके लिये वनवास ... असंग सुखकी सौम्यतासे नीतिमान् समय व्यतीत करता है। ... प्रकार तृतीय भूमिकामें अपने आत्माको अनुभव करता है।

असंगताके दो भेद हैं—

द्विविधोऽयमसंसंगः सामान्यः श्रेष्ठ एव च।
नाहं कर्ता च भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः॥

दो प्रकार के असंग हैं—

(१) सामान्य—पूर्व भूमिकाओंमें भी जो पाया जाता है। मैं न (अपने देहकी क्रियाका) कर्ता हूँ न उसके फलका भोक्ता हूँ अर्थात् उदासीन हूँ। दूसरेकी (क्रिया तथा फलका) न बाध्य हूँ न बाधक—अर्थात् उदासीन हूँ इस निश्चयसे दृश्य पदार्थोंमें अनासक्तिको सामान्य असंग कहते हैं।

सामान्य असंगकी व्याख्या—(प्राप्त होनेवाला) सुख तथा दुःख पूर्वकर्मनिर्मित है और ईश्वरीय नियमसे होता है। इन दोनों पक्षोंमें मैं कर्ता कैसे हूँ! भोग अनास्थाके हेतु—भोग तो अभोग अथवा महारोग है, क्योंकि अन्तमें इनमें दुःख होता है। लौकिक सम्पदा वास्तवमें परम आपदा है। संयोगमें वियोग छिपा है और अर्थ (deposit) बुद्धिकी व्याधि है।

श्रेष्ठ असंग—काल सर्वभावोंको ग्रास करनेके लिये सदा उद्यत है। श्रवण आदिकी सहायतासे (तत्त्वमसि आदि) महावाक्योंके अर्थमें संलग्न चित्तवाला, भावोंमें अनासक्त जो निरन्तर भावना करता है—इसको सामान्य असंग कहते हैं। इस क्रमसे योगाभ्यास मार्ग तथा महात्माओंके ...

श्रवण-मननात्मक आत्मविचारकी मनमें आवृत्तिसे तथा कुसंगके त्यागसे, पौरुष-प्रयत्नद्वारा निरन्तर अभ्याससे, प्रमाण-प्रमेय-विषयक दोनों असम्भावनाओंके निराससे) आत्मवस्तुमें करामलकवत् दृढ़ विश्वास करना कि आत्मतत्त्व संसार-समुद्रको पार करनेका परम कारण है। ऐसे मैं कर्ता नहीं हूँ किंतु ईश्वर ही कर्ता है। पूर्व अथवा क्रियमाण कर्म मेरे नहीं हैं। इस निरास (निषेध-अभाव) तथा इसके प्रति-योगि आदि शब्दार्थभावनाको भी दूर करके वाक्, मन आदि चेष्टासे रहित निदिध्यासन परिपाक-फलरूप निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होनेको श्रेष्ठ असंग कहते हैं।

तृतीय भूमिका—(बोधसार) अन्धकारमय गृहमें चिरकालतक देखनेसे जैसे सूक्ष्म पदार्थ दीखता है ऐसे ही चिरकालके अभ्याससे अद्वय तत्त्व ब्रह्मात्मा अनुभव होने लगता है। दिन-रात्रि आयु व्यतीत हो रही है, मैं कब आत्मनिष्ठामें स्थित हूँगा। जहाँ मोह बाधा नहीं करता। अनिषिद्ध भोग भी जब यदृच्छा अपने-आप बिना यत्नके प्राप्त हों, तो निषिद्ध समान देखता है। बहिर्मुख जनकी स्तुतिसे ऐसे लजाता है जैसे निन्दासे, और परमार्थी जनकी स्तुतिसे प्रसाद मानता है। (बो० सा० २, ५, ७, ८)

चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति—पूर्वकी तीन भूमिकाओंके अभ्याससे, बाह्य विषयमें संस्कारके नाशसे, चित्तकी आत्यन्तिकी विरतिकी स्थिरतासे, (माया और उसके कार्यरूप अवस्थात्रयरहित) सर्वाधिष्ठान सन्मात्र शुद्धात्मामें चित्तकी निर्विकल्परूप स्थितिको सत्त्वापत्ति कहते हैं। ब्रह्मात्माके साक्षात्कारसे जगत्-मिथ्यात्वका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, इसलिये इसको स्वप्न कहते हैं। (योगवा० ३, ११८, ११; महो० ३, ३०) ज्ञानविरोधी द्वैतवासनाजाल अथवा असम्भावना विपरीतभावना दोषरूप अज्ञानके नाश होनेपर बिना प्रतिबन्धके महावाक्यसे अपरोक्ष अखण्डाकार ज्ञानके पूर्णचन्द्र समान उदय होनेपर मूलाज्ञानके नाशसे समाहित चित्त योगकी चतुर्थ भूमिकाको प्राप्त होता है और विभागरहित अनादि, अनन्त, एकरस-आनन्द सर्वत्र देखता है। (अक्ष्युप० ३०, योगवा० ६, १, १२६, ५८, ५९)। अद्वैतके स्थिर होनेपर तथा द्वैतके शान्त होनेपर चतुर्थ भूमिकावाला लोकको स्वप्न-समान देखता है। तृतीय भूमिका जाग्रत् तथा चतुर्थ भूमिका स्वप्न कहलाती है। तृतीय भूमिकाके अभ्याससे रज तथा तमके नाश हो जानेसे, यह निदिध्यासनरूप चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति है।

लक्षण—एकान्तमें मुक्तिगाथाका गान, रुदन, रोमाञ्च, कण्ठ-गद्गद मैं नित्य शुद्ध हूँ, मुझमें अज्ञान तथा बन्धन कहाँ हैं, ऐसा चमत्कार ! उपनिषद्-कथाको निज कथाके समान सुनता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप प्रिय इष्ट विषयोंमें पूर्वसमान हर्षित नहीं होता; क्योंकि सात्त्विक आनन्दको इसने पा लिया है। जो जाग्रत्में जगत्को स्वप्न-समान उदासीनतासे देखता है—यह सत्त्वापत्तिके परिपाकका लक्षण है। (बोधसार—४, ६, ७, १२, १४)

पञ्चम भूमिका असंसक्ति—पूर्वकी चार भूमिकाओंके अभ्याससे बाह्य-आभ्यन्तर द्वैतरूप विषयों तथा उनके संस्कारोंके नितान्त संग-स्पर्शसे रहित निरूढ़ सत्त्व निरतिशयानन्द ब्रह्मात्मभाव साक्षात्काररूप चमत्कारवाली पाँचवीं भूमिका असंसक्ति कहलाती है; क्योंकि इसमें अविद्या तथा इसके कार्यका संसर्ग नहीं रहता। (महोप० ३१ योगवा० ३, ११८, १२)

शरद्-अभ्र-अंशके विलयसे जैसे शेष आकाशमात्र रह जाता है, ऐसे ही चित्तके विलयसे पाँचवीं भूमिमें शुद्ध चिन्मात्र सत्ता ही शेष रह जाती है। सुषुप्ति नामक पाँचवीं भूमिकामें सम्पूर्ण विशेष अंशके शान्त हो जानेसे अद्वैतमात्रमें स्थितिलाभ करता है। द्वैत निर्भासके गलित होनेपर स्वरूपाविर्भूत होता है, प्रज्ञानघनकी साम्यतासे यह सुषुप्ति कहलाती है। बहिर्वृत्ति होनेपर भी अन्तर्मुख होता है। परिश्रान्त-सा निद्रालु-समान दीखता है। (अक्षि उप० ३२—३६। योगवा० ६, १, १२६, ६१—६४) साक्षात्कारका नवाङ्कुर इसमें होता है। भूतविष्टके समान वर्णाश्रमविधिक्रम-को पूर्वसंस्कारोंसे प्रेरित करता है और अहंकारशून्य होनेसे नहीं भी करता है। जैसे गोल पत्थर पर्वतके शिखरसे गिरनेपर निश्चित टूटते ही हैं, ठहर नहीं सकते, ऐसे ही इसके विकार। प्रिय वचनसे प्रसन्न नहीं होता, विरुद्ध वचनसे खिन्न नहीं होता। सम्पूर्ण कार्यजगत्को भूल जाता है, अपने आत्मामें रमण करता है। जिस ज्ञानीके साक्षिभावसे लौकिक-वैदिक प्रमाण होते हैं, उस स्वतःप्रमाणभूत निरपेक्षप्रमाण ज्ञानीमें क्या संदेह। विधिकी दासताको त्यागकर अकर्तृत्व भावको प्राप्त हो जाता है। अकिञ्चन भावको प्राप्त होनेसे कुछ चिन्तन नहीं करता। भानुके आतप लगनेपर हिमाचलकी शिलाके समान जो बाहर-भीतर पूर्ण है, शीतलताको नहीं छोड़ता। स्फटिक यदि अपने स्फटिकभावको जाने, जल जलभावको, गगन गगनभावको ऐसी दशा पाँचवीं भूमिकामें

ज्ञानीकी होती है । अर्थात् स्फटिकके समान शुद्ध, जलके समान शीतल रसमय, तथा गगनके समान व्यापक अपनेको जानता है । वास्तवमें इसका दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि ये सब जड हैं। (बोधसार ५-११)

षष्ठ भूमिका पदार्था भावनी--पाँच भूमिकाओंके अभ्याससे केवल आत्मामें रमण होनेसे बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थोंकी अभाव-भावनाके कारण, पर-प्रयुक्त प्रयत्नसे देह-यात्रा सिद्ध होनेपर पदार्थाभाव नामवाली छठी भूमिका होती है । (महोप० ५, ३२, ३३ । यो० वा० ३, ११८, १३-१४) पाँचवीं भूमिमें अभ्यास करते रहनेसे स्वतः व्युत्थानकी वासनासे रहित छठी तुर्या नामवाली भूमिको क्रमशः प्राप्त होता है । जहाँ न सत् है न असत्, न अहंकृति न अनहंकृति । द्वैत तथ्य ऐक्यभावरहित केवल क्षीण मन रहता है । ग्रन्थिरहित, संदेहरहित, किसी प्रकारकी भावनासे रहित, जीवन्मुक्त, चित्रदीप समान अनिर्वाण, प्रारब्धके कारण शरीर धारण करनेपर भी निर्वाणको प्राप्त है । जैसे आकाशमें कुम्भ शून्य होता है, ऐसे ही वह भीतर-बाहर द्वैतसे शून्य है । जैसे समुद्रमें कुम्भ पूर्ण होता है, ऐसे ही वह भीतर-बाहर आनन्दसे पूर्ण है । वह किञ्चित् अपूर्व रूपको प्राप्त होता है अथवा किसी रूपको वास्तवमें प्राप्त नहीं होता । (अक्षि उप० २, ३७-३९ । यो० वा० ६, १, १२६, ६५-६८)

षष्ठ भूमिकाके अन्य नाम--घन-सुषुप्ति, महा-दीक्षा; महानिद्रा—आनन्दघूर्णिता—आनन्दमात्रस्फूर्ति, पदार्थ (विस्मृति) परिणिति (आत्मामें परिणाम हो) ।

लक्षण—शिबिका (पालकी) में आरूढ़ राजा जैसे सोये हुए चलता है ऐसे ही वह निजानन्दमें सोये हुए चलता है । (बोधसार)

सप्तम भूमिका-तुर्या--पूर्व छः भूमिकाके अभ्याससे आत्मातिरिक्त भेदके ग्रहण न होनेसे जो केवल आत्मभावमें निष्ठा है उसको तुर्यगा गति—चतुर्थ गति कहते हैं; क्योंकि यह चार जीवन्मुक्त सिद्ध-ज्ञानकी भूमियोंमें चतुर्थ है । चतुर्थ भूमिमें साक्षात्कार होता है और इस भूमिवाला ब्रह्मवित् कहलाता है। सप्तम भूमिवाला ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है । इससे परे विदेह-मुक्तिका विषय है । तुर्यातीत अर्थात् ब्रह्म है । इसकी भूमिकामें गणना नहीं है। (महोप० ५, ३४, ३५ । योगवा० ३, ११८, १५) । षष्ठ भूमिकामें दृढ़ स्थिति होनेपर सप्तम भूमिकाको प्राप्त होता है, जिसको विदेहमुक्ति कहते हैं । यह वाणीका विषय नहीं । यह परम शान्त है, यह भूमियोंकी सीमा है । कोई इसे शिव कहते हैं, कोई ब्रह्म, कोई इसे प्रकृति-पुरुष-विवेक कहते हैं, अन्य इसे निज कल्पित भेदोंसे वर्णित करते हैं । इसका व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकता । परंतु फिर भी किसी प्रकार इसका वर्णन किया जाता है । (अक्षिउ० ३, ४१; योगवा० ६, १, १२६, ७०-७२) ।

अन्य नाम--महाकक्षा, गूढ़ सुषुप्ति, योगनिद्रा, अनुत्तरस्वरूप स्थिति । सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणोंके दुर्लङ्घ्य मार्गको जिस सप्तम भूमिकावालेने पार किया है उसका कैसे वर्णन हो सकता है । उसकी वाणी मौनमयी है, गति स्थितिरूपा है, जाग्रत् निद्रारूप है, निद्रा बोधरूपा है, रात्रि दिनरूप है, दिन रात्रिरूप है, कर्म ब्रह्ममय है, जगत् शून्य-रूप है, किञ्चित् अकिञ्चित्रूप है । वाचक, वाच्य तथा वचनरूप भेद प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे, परम तत्त्व मौन होनेसे, वह उस तत्त्वको मौनद्वारा व्याख्यान करता है। क्योंकि अगोचर तत्त्वका व्याख्यान मौनरूप ही होता है । गमन पारमार्थिक न होनेसे गति स्थितिरूपा है । निद्रावस्था त्रिपुटी विलीन होनेसे जागरण है; उसके जागरणमें त्रिपुटी विलय होनेसे उसका जागरण ही निद्रारूप है और निद्रा बोधरूपाका तात्पर्य है, निद्रामें जाग्रत् समान त्रिपुटीके भानसे इसको जागरण कहा गया है । मैं सुखसे सोया, मुझे कुछ ज्ञान नहीं रहा, ऐसे सुख तथा अज्ञानका ज्ञान तथा ज्ञाता साक्षिरूप त्रिपुटी निद्रामें रहती है । उसकी रात्रि दिनरूप है, इसका तात्पर्य—रात्रि अन्धकारमय होनेपर भी इस अन्धकार, अप्रकाशका प्रकाशक भी सप्तम भूमिका आरूढ़ अतः चिन्मात्र होनेसे दिन कहा गया है और उसका दिन रात्रि-रूप होता है, क्योंकि जगत् सब उसकी अपेक्षासे मिथ्या अभावरूप है (गीता २, ६९) । उसका कर्म ब्रह्ममय है क्योंकि उसकी दृष्टिमें कर्ता आदि त्रिपुटी मिथ्या है । दुःख-मय जगत् ब्रह्मरूप होनेसे सुखरूप है । जो कुछ जगत् दृश्य है वह उसके लिये कुछ नहीं है, अदृश्य आत्मा है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३, १४, १)

भूमिका सामान्य विचार

जाग्रत् आदि अवस्थाभेदसे भूमिकाओंका विचार—प्रथम तीन भूमियाँ—शुभेच्छा आदि तीन भूमियाँ भेद तथा अभेदसे युक्त कही जाती हैं; क्योंकि किसी शब्द आदि प्रमाणद्वारा अभेद-ज्ञान होता है और अन्य प्रमाणोंद्वारा पूर्ववत् भेद ही जँचता है । जैसे पूर्व कहा गया है, इन भूमियोंमें प्रमाणविरोध रहता है और इस

परिहार करना ही इन भूमियोंका लक्ष्य है। किसी अंशमें अभेद-भावना होनेसे ये ज्ञानभूमि कहलाती हैं। पूर्व-समान भेद-बुद्धि जाग्रत् रहनेसे इनको जगत् जाग्रत् कहा जाता है। (वराहो० ४। ११; योगवा० ६,१,१२०,७; सर्ववेदान्त-सि० संग्रह ९५९)

पूर्वावस्थात्रयं तत्र जाग्रदित्येव संस्थितम्।
(महो० ८७)

पूर्वकी तीन अवस्था जाग्रत् है, ऐसा निर्णय है। (अक्षि उ० ३२; योगवा० ६,१२६,६१) तीन भूमिकाएँ विद्याका साधन हैं, विद्याकोटिमें इनकी गणना नहीं है। इन तीन भूमियोंमें भेदविषयक सत्य बुद्धि पूर्णतया निवृत्त नहीं होती, इसलिये इसे जाग्रत् कहते हैं। (जीवन्मुक्तिविवेक, पृष्ठ ३४६)

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः॥
(वराहो० १२। सर्व सि०संग्र० ९६-६१)

चतुर्थ भूमिकामें अद्वैतके स्थिर होनेपर तथा द्वैतके शान्त होनेपर लोकको स्वप्नसमान देखता है। चतुर्थको स्वप्न कहते हैं; क्योंकि इसमें स्वप्नसमान जगत् भासता है।

पञ्चम भूमिकाको सुषुप्ति तथा षष्ठको गाढ़ सुषुप्ति कहा है। (अक्षि० ३४; वराह० १५; बोधसार)

सप्तम भूमिकाको पूर्वोक्त जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओंके कारण तुर्या कहते हैं।

साधक-सिद्धकी दृष्टि भूमिका विचार (जीवन्मुक्तिविवेक पृष्ठ ३४६-३४७

प्रथम तीन—साधनावस्था
चतुर्थ—ब्रह्मवित्
पञ्चम—ब्रह्मविद्वर
षष्ठ—ब्रह्मविद्वरीयान्
सप्तम—ब्रह्मविद्वरिष्ठ

भूमिका शास्त्रार्थ-निर्णय--(बोधसार पृ०२९६) तीन भूमिकाएँ जाग्रत् तथा चतुर्थ स्वप्न कहलाती है, यह तारतम्यसे योगियोंकी पाँचवीं, छठी तथा सातवीं तीन प्रकारकी सिद्धावस्था है। इनके दृष्टान्त आगे दिये जाते हैं। जैसे सुषुप्तिकी प्रथम, घन तथा गाढ़ अवस्थामें समान सुख होता है। ऐसे ही ५ से ७ भूमिकामें ब्रह्मानन्द समान होता है। अभ्यासके तारतम्यसे चिरस्थितिमें तारतम्य होनेपर भी अपरोक्षानुभूतिमें यत्किञ्चित् भी तारतम्य नहीं होता। जबतक मिश्रीका स्वाद नहीं लिया, तबतक मनुष्य उसके स्वादसे अनभिज्ञ है, जब एक बार उसे खा लिया फिर उसका स्वाद अज्ञात नहीं होता। ऐसे ही यदि अनुभूति एक बार उत्पन्न हो गयी तो उसकी उत्पत्तिका अभाव नहीं होता। फिर भ्रान्ति नहीं हो सकती। चतुर्थ भूमिकामें बिजलीके समान क्षणिक अनुभव होता है, पाँचवींमें वायुसे चञ्चल दीपके समान, षष्ठमें निश्चल दीपके समान, सप्तममें सूर्य प्रभासमान दीर्घकालीन उदयास्तरहित (दिन, पक्ष, ऋतु, वर्ष आदिमें) ५ से ७ भूमिकावालेकी पुनरावृत्ति नहीं होती। पूर्व तीन भूमिकामें जो देह त्यागते हैं, वे योगभ्रष्ट पुनः देह प्राप्तकर ब्रह्माभ्यास करते हैं। कुछ सनकादिके समान पाँचवींमें ही आस्था कर लेते हैं, कुछ बृहस्पति आदिके समान षष्ठमें और कुछ सातवींमें। इन सबको मोक्षसुख सम होता है। अर्थात् कई स्वतः प्रपञ्चमें सत्यबुद्धि करनेसे व्यवहार करते हैं, कई दूसरोंके उद्बोधन-द्वारा और कई स्वपर-प्रयत्नसे कभी प्रवृत्ति नहीं करते। इन सबकी विदेहमुक्ति समान है।

अवस्था-व्यवस्था—(बोधसार पृ० ३०५)

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूढ़ समाधि, मूर्च्छा, मृत्यु तथा तुर्या—ये सात अवस्थाएँ कही जाती हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिको सब जानते हैं। मूढ़ समाधि भव-प्रत्ययवाली असम्प्रज्ञात-समाधि है, जिसमें अनात्मपदार्थका ध्यान करते-करते वृत्तिके लय होनेपर एक जड सुषुप्तिके समान अवस्था प्राप्त होती है। मूर्च्छा और मृत्यु भी सब जानते हैं। तुर्याका निरूपण किया जायगा।

वेदान्त-सम्प्रदायानुसा[illegible] वासनकी दृढ़तासे अखण्ड-चिन्मात्र परमात्मामें चित्तके लयको तुर्या कहते हैं। इसमें ब्रह्मके साक्षात्कारसे मूलाविद्या नाश हो जाती है।

प्रश्न—स्वप्न-जागरणमें संसाराडम्बर (घटाटोप) तुल्य होता है—इनमें भेद कैसे ?

उत्तर—पहले विस्मृति और बोधके भेदको समझो। विस्मृतिमें वह पदार्थ भासता नहीं है; परंतु यह मिथ्या है इस निश्चयको बोध कहते हैं, जाग्रत्के पश्चात् जब स्वप्न आता है, तब जाग्रत्की विस्मृतिमात्रसे स्वप्नदर्शन होता है, ऐसी बुद्धि स्वप्नसमय नहीं होती। परंतु जब स्वप्नके अनन्तर जाग्रत् होती है, तब यह बोध होता है कि स्वप्नद्रष्टा तथा

स्वप्नावस्था मिथ्या है। स्वप्नमें जैसे जाग्रत्की विस्मृति होती है, ऐसे जाग्रत्में स्वप्नकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत जाग्रत्में स्वप्नका स्मरण होता है और स्वप्नमें मिथ्याबुद्धि होती है।

प्रश्न—मूढ़ समाधि, मूर्च्छा, मृत्यु, सुषुप्ति तथा तुरीयामें तो दृश्य सृष्टि नहीं होती, उनमें क्या भेद होता है?

उत्तर—सिद्धिकी कामनासे जिन्होंने उग्र तप किया, उनके देहका भी विस्मरण हो गया, उसे कृमि, कीट आदिने खा लिया, यह न मूर्च्छा है, न रोग है, न मृत्यु; क्योंकि जीता है और सुषुप्तिके आनन्दसे भी रहित है, इसलिये सुषुप्ति नहीं है। स्वरूप-लाभरहित मूढ़ता होनेसे तुरीया भी नहीं है। केवल दृश्य भान इनमें नहीं होता। इतनेमात्रसे कृतार्थता नहीं है। व्युत्थानके अनन्तर उनका संसार भी पूर्वसमान स्थिर होता है, जब आत्मदर्शन नहीं हुआ, तब संसार अबाधित ही रहता है। दृष्टान्त—स्वप्नमें जाग्रत्का विस्मरण होता है, इसका बाध नहीं होता है, इसलिये स्वप्नान्तर जाग्रत् पूर्व-समान स्थिर रहता है, परंतु जाग्रत्में स्वप्नका बाध हो जाता है, इसलिये यह मिथ्या भान होता है। दार्ष्टान्त—ऐसे ही मूढ़ समाधिमें सकल जगत्का विस्मरण हो जाता है, व्युत्थानानन्तर पूर्वसमान जाग्रत् अवस्थित रहता है। तुरीयामें विश्व बाधित हो जाता है इसलिये वह मिथ्या हो जाता है। व्युत्थान होनेपर हे पुत्र! मुनिको जाग्रत् मिथ्या ही भासता है, न कि वास्तव। जैसे कोई रज्जु सर्प देखकर अन्य देशमें चला गया, जब वह लौटकर आता है, वह उससे डरता है। परंतु यदि यह सर्प नहीं है—ऐसा जानकर देशान्तर जाता है तो जब लौटकर आता है, तो उससे डरता नहीं है। ऐसे ही मूढ़ समाधिसे जब सब संसारका विस्मरण हुआ, जब व्युत्थानको प्राप्त होता है, तब संसार-जन्य भय फिर होता है। यदि ज्ञान-समाधिसे संसारका विस्मरण होता है, जब व्युत्थान होता है तो जाग्रत् बाधित होनेसे भय नहीं मानता। यदि विस्मरणमात्रसे देहीकी मुक्ति होती तो सुषुप्ति नित्य होती है, मुक्त क्यों नहीं होता? इसलिये तुर्या इन सब अवस्थाओंमें उत्तम है। ब्रह्मकल्प-पर्यन्त यदि गरुड़ भी वेगसे जाय तो भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता, यह दूर-से-दूर रहती है। यदि वेदान्तमें श्रद्धा है, और मुमुक्षा तीव्र है और ध्यान अभ्यास गाढ़ है, तो सर्वत्र तुर्या सुलभ है। मृत्यु, मूर्च्छा, सुषुप्ति तप नहीं है, इसलिये निष्फल है। मूढ़ समाधि उग्रतप होनेसे महान् फलदायक है। विद्वत्समाधि तो विद्या ही है, इसलिये यह मोक्ष[illegible] है। ये छः ही चित्तकी अवस्था हैं, न कि चिति—आत्माकी। चित्त अवस्थाको प्राप्त होता है, परंतु चिन्मात्र आ[illegible] अवस्थाका साक्षी है। अवस्थाओंकी इस व्यवस्थाकी [illegible] पुनः-पुनः भावना की जाय, तो अवस्थाओंका साक्षी साक्षा[illegible] प्रत्यक्ष होता है। (बोधसार)

अज्ञान-भूमिका (ज्ञानभूमिका ज्ञान उपयोगी है) (महोपनिषद् ५, २०; योगवा० ३, ११७, १; बोधसा[र])

भूमिका संख्या—अज्ञान-भूमिके ६ पाद हैं तथा ज्ञा[न]-भूमिके भी ६ पाद हैं, इन भूमियोंके अवान्तर भेद बहुत हैं। स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा भोगमें दृढ़ राग लक्षणवा[ला] रसावेश अज्ञान-भूमिकाकी प्रतिष्ठा (स्थिरता)का हेतु है और साधनचतुष्टयसम्पन्नका दृढ़ मोक्ष लक्षणवाला श्र[वण] आदिरूप प्रयत्न ज्ञानभूमिकी प्रतिष्ठाका हेतु है। स्वरू[पा]वस्थिति मुक्ति है और अहंबोध मुक्तिका नाश है। [यह] संक्षेपसे ज्ञान अज्ञानका लक्षण है। आभ्यन्तर अहंता [के] क्षीण होनेपर ब्रह्मभावद्वारा बहिर्भेदके शान्त होनेपर [त]था दोनों जगह निस्पन्द होनेपर अजड स्वप्रकाश (निष्प्रति[बिम्ब] ब्रह्मरूपमें) चित् है वह स्वरूपस्थिति है। चिन्मात्र [की] स्वरूपस्थितिमें जो अज्ञानका अनादि आरोप है, [वह] अज्ञानकी ये भूमियाँ हैं।

(१) बीज-जाग्रत् (२) जाग्रत् (३) महाजाग्रत् (४) जाग्रत्-स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न-जाग्रत् (७) सुषुप्ति—यह सात प्रकारका मोह है। फिर यह [मो]ह अनेक प्रकारसे परस्पर मिश्रित होता है। प्रथम चेतन [जो] विशेषरहित होनेसे (आख्या) नामरहित है [तथा] (वास्तवमें) निर्मल है। जो अज्ञकी दृष्टिसे (प्राणधारण आदि क्रियारूप उपाधिसे) भविष्यमें होनेवाला चि[त्त] तथा जीव आदि शब्द अर्थका भागी होता है (माया-सहित चैतन्यसे जो सृष्टि-समय चिदाभास होता है) वक्ष्यमाण जाग्रत् बीजभूत, जाग्रत् बीज कहलाता है (जिसका अधिष्ठाता प्राज्ञविभक्त विश्व है) यह जाग्रत्की नयी अवस्था है। नवप्रसूत बीजरूप कार्यसे जो [यह] स्वच्छ प्रत्यय होता है कि यह मैं हूँ अथवा यह मेरा है, यह पूर्व न होनेसे जाग्रत् कहलाता है। यह वह है तथा यह ब्राह्मण आदि हूँ, यह पीवर (स्थूल) प्रत्यय महाजाग्रत् कहलाता है। यह जन्मान्तर अथवा यहाँके संस्कारों[से]

उत्पन्न होता है। (अनभ्याससे) अरूढ़ अथवा (अभ्यासके कारण) रूढ़ सर्वथा तन्मयात्मक जाग्रत्का मनोराज्य 'जाग्रत् स्वप्न' कहलाता है। द्विचन्द्र, शुक्तिका रूप्य, मृग-तृष्णा आदि भ्रम भी जाग्रत् स्वप्न अथवा 'स्वप्न स्वप्न' है। निद्राके मध्य अथवा अन्तमें निद्रा-काल अनुभूत अर्थ-विषयक जो यह प्रत्यक्ष होता है कि मैंने ऐसा अल्प कालमें देखा है, यह सत्य नहीं है, अज्ञानीका यह स्वप्न कहा जाता है। महाजाग्रत् अन्तर्गत स्थूल शरीरके कण्ठादि हृदयान्त नाड़ीप्रदेशमें होता है। जो स्वप्न जाग्रत्के समान अभिनिवेशसे अथवा स्थायी कल्पनाके कारण दृढ़ है। जैसे हरिश्चन्द्रका बारह वर्षका स्वप्न, महाजाग्रत्के समान है, जो दैवसे देहनाश होनेपर भी चलता रहता है, इसको 'स्वप्न-जाग्रत्' कहते हैं। छठी अवस्थाके त्यागसे जीवकी जो जड-स्थिति है, भविष्यत् दुःखकी बोधक वासना और कर्मोंसे सम्पन्न होती है उसे 'सुषुप्ति' कहते हैं। सुषुप्तिमें कारणमें लीन होनेसे जगत् संस्काररूपमें रहता है। अन्यथा पुनः इसका उद्भव न हो। इन अवस्थाओंकी नाना प्रकारकी संसारकी शाखाएँ हैं।

अज्ञान-भूमिका (बोधसार पृ० २०८)

अज्ञान-भूमिका सात हैं तथा ज्ञान-भूमिका भी सात हैं। (१) बीज-जाग्रत्, (२) जाग्रत्, (३) महाजाग्रत्, (४) जाग्रत्-स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न-जाग्रत्, (७) सुषुप्ति। कुसूलमें स्थित बीजमें जैसे सम्पूर्ण तरु होता है, वैसे जिसमें सर्व विश्व स्थित है, परंतु व्यक्त नहीं हुआ, वहाँ जाग्रत् बीजरूपसे स्थित है, इसलिये बीजजाग्रत् कहलाता है। यह संसारकी प्रथम अवस्था है। इसको महामोह कहते हैं। इसीको अज्ञान कहते हैं। जो आत्मज्ञानसे लीन हो जाता है। कुसूलमें स्थित बीज जब क्षेत्रमें डाला जाता है और अंकुर निकलता है, इस अवस्थाको जाग्रत् कहते हैं। सांख्यवादी इसे महत्तत्त्व कहते हैं। वेदान्ती ईक्षण, सामान्य अहंकार, आनन्दमय कोश, साक्षी कहते हैं। सूक्ष्म अंकुरवत् व्यावहारिक विशेष अहंकृति महाजाग्रत् कहलाती है। ये तीन व्यष्टिकी अवस्था हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नामवाली जाग्रत् कहलाती है। जाग्रत्में जीव जब मनोराज्य करता है, यह जाग्रत् स्वप्न समान है, इसलिये जाग्रत्-स्वप्न कहलाता है। लोकप्रसिद्ध जो स्वप्न है, वह स्वप्न कहलाता है। जन्तुके जागरण तथा स्वप्नमें देखे अर्थका प्रत्यक्ष समान भासना संस्कारके कारण स्वप्न-जाग्रत् कहलाता है। इन छः अवस्थाओंके परित्यागसे सुषुप्ति होती है।

उपसंहार

इस प्रकार अज्ञान तथा ज्ञान-भूमिकाओंका विस्तार होता है, यही नामरूप संसारके दो मुख्य भेद हैं। नामरूप भेदमें यथार्थ बुद्धिका नाम ही अज्ञान है और नामरूप भेद मिथ्या है, इस बुद्धिका नाम ज्ञान है। सो अज्ञान-भूमिकाओंमें भेद-बुद्धिका क्रमशः विकास होता जाता है और ज्ञान-भूमिकाओंमें भेद-बुद्धिका क्रमशः बाध होता जाता है। ज्ञानकी प्रथम तीन भूमियाँ साधन-भूमियाँ हैं। इनमें भेद-बुद्धि तथा अभेद-बुद्धि अंशतः प्रमाणभेदसे बनी रहती है। चतुर्थमें अखण्ड चिन्मात्रके प्रत्यक्षसे भेदका सर्वथा बाध होता है; परंतु सत्ताभेदसे किस रूपमें भेद प्रतीत होता रहता है। चतुर्थमें व्यवहारकालमें जगत्-भेदकी सत्ता भासती है। पाँचवींमें प्रतीतिकालमें पृथक् सत्ता जगत्की रहती है। छठीमें प्रतीतिसे भिन्नरूपसे पदार्थका अभावमात्र भासता है। सातवींमें भेदप्रतीतिमात्रका ही अभाव होता है, केवल अखण्ड चिन्मात्रतत्त्व निज महिमामें प्रकाशता है। इन भूमिकाओंके अधिकारी, साधन तथा फलका भी निरूपण किया गया है। इस रहस्यको समझकर उचित अधिकार तथा साधनद्वारा ही फलकी सिद्धि हो सकती है, बिना साधन-चतुष्टयरूप अधिकारीकी सामग्रीके इन ज्ञानभूमिकाओंमें प्रवेश असम्भव है। अभेदरूप ज्ञानदृष्टिसे इन छः भूमिकाओंका जाग्रत् आदि चार अवस्थाओंमें ही समावेश है। यह निर्वचन सामान्य जाग्रत् आदिसे भिन्न है। प्रथम तीन भूमिकाओंमें ज्ञानदृष्टिसे भेदके किसी अंशमें जाग्रत् होनेसे ये तीन जाग्रत् कहलाती हैं। चतुर्थमें भेदके नितान्त बाध हो जानेसे स्वप्न कहलाती है और पाँचवीं तथा छठीमें भेद-प्रतीतिके विलीन होनेसे सुषुप्ति तथा गाढ़ सुषुप्ति कहलाती है और सातवीं तुर्या कहलाती है (पूर्वोक्त तीनकी अपेक्षासे चतुर्थ होनेसे)। अनात्मपदार्थमें संयमसे चित्तकी विलीन अवस्थाको जड-समाधि कहते हैं। इसमें केवल भेदकी विस्मृति होती है। इसका बाध नहीं होता, न अखण्डचिन्मात्रका स्वरूपतः साक्षात्कार होता है। इसलिये इससे सावधान रहना चाहिये।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरि-स्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार माल्रम हुए । उत्तर इस प्रकार है—

गोपियाँ सभी एक श्रेणीकी नहीं थीं । उनमें बहुत-सी गोपियाँ ऐसी थीं, जिनमें पूर्णतया निष्कामता आ गयी थी । निष्काम साधक होता है इसीलिये उसके साधनको निष्काम कहा जाता है ।

आपका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि जबतक मनुष्यका तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरमें अहंभाव रहता है या ममता रहती है, तबतक वह पूर्ण निष्काम नहीं हो सकता । पर इसका अर्थ यह नहीं कि शरीरमें प्राण रहते कोई साधक कामनारहित जीवन प्राप्त नहीं कर सकता ।

आपकी यह मान्यता कि 'कर्त्ता जो कुछ भी जिस रूपमें करता है वह अपने सुखके लिये ही करता है'—आपके लिये ठीक हो सकती है पर सबकी मान्यता एक-सी नहीं हो सकती; क्योंकि मान्यता साधनरूप होती है । साधनका भेद रुचि, विश्वास और योग्यताके भेदसे अनिवार्य है । सिद्धान्तका वर्णन कोई कर नहीं सकता ।

आपने लिखा कि 'स्वेच्छासे जो कुछ किया जाता है वह अपने सुखके लिये ही किया जाता है ।' इसपर यह विचार करना चाहिये कि स्वेच्छा और कामनामें भेद क्या है । यदि कोई भेद नहीं है तब आपका कहना इस अंशमें ठीक ही है । पर यदि भेद माना जाय तो सुख-भोगकी कामनाके बिना भी कर्म किया जा सकता है ।

महाराज रन्तिदेवके विषयमें आपने जो अपनी समझ व्यक्त की, उस विषयमें मैं क्या लिखूँ । उनका क्या भाव था, वास्तवमें दूसरा नहीं बता सकता। ऊ[illegible] व्यवहारसे भावका पूर्णतया पता नहीं चलता। प[illegible] अवश्य माना जाता है कि जिसका सब प्राणियोंमें अ[illegible] भाव हो गया है, जो सब प्राणियोंके हितमें रत है, [illegible] साधारण व्यक्ति नहीं है । शरीरसे सम्बन्ध रहते [illegible] उपर्युक्त भाव पूर्णरूपमें नहीं आ सकता ।

आपने जो इस विषयकी व्याख्या की है [illegible] भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे ठीक है, पर आध्यात्मिक [illegible] दूसरी बात है ।

आपने जो यह लिखा कि 'जीव अपनेको [illegible] तक पृथक् मानता है इत्यादि' इनपर विचार क[illegible] चाहिये । जीव कौन है ? उसका पृथक् मानना क्या [illegible] और न मानना क्या है, वह कबतक पृथक् मा[illegible] रहता है ? शरीरमें प्राण रहते हुए यह मान्यता न[illegible] सकती है या नहीं ? इसपर अपना विचार व्यक्त करें [illegible] उत्तर दिया जा सकता है ।

आपने पूछा—'प्रेम किससे किया जाता [illegible] अपनेसे छोटेसे या बड़ेसे ?' इसका उत्तर तो यह है [illegible] प्रेम अपनेसे छोटेके साथ भी किया जाता है और ब[illegible] साथ भी ।

आपने अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए जो [illegible] लिखा कि 'कोई भी प्रेमी बिना किसी गुणके या महा[illegible] के किसीसे भी प्रेम नहीं करता' सो यह आप मान स[illegible] हैं । पर यह नहीं कहा जा सकता कि यही मा[illegible] ठीक है, दूसरी सब मान्यताएँ गलत हैं; क्यों[illegible] प्रेमतत्त्व अनन्त है ।

आपने लिखा कि 'भगवान् तो ऐसा कर सकते [illegible] किंतु जीव नहीं कर सकता; जबतक जीवकोटि [illegible] तबतक ऐसा हो नहीं सकता' सो जीवकोटिसे अ[illegible]

क्या परिभाषा है? यह तो आप ही जानें। पर प्रेमी लोग तो सबसे प्रेम करते हैं यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। ऐसा न होता तो संतलोग संसारी मनुष्योंके साथ क्यों प्रेम करते ?

आपने लिखा कि 'गोपियोंने जो भगवान् श्रीकृष्णके साथ प्रेम किया, वह प्रेमकी पराकाष्ठा कही जाती है; किंतु मानी नहीं जा सकती।' इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि आप चाहे न मानें, जिन्होंने कहा है उन्होंने तो मानकर ही कहा है।

आपने पूछा कि 'उनका प्रेम भगवान् श्रीकृष्णके साथ था या उस परम तत्त्वके साथ, जिससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं है।' इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णसे भिन्न कोई परम तत्त्व भी है, यह भी उनकी मान्यता ही नहीं थी।

आपने लिखा कि 'परम तत्त्वमें भेद नहीं है' सो परम तत्त्व क्या है, उसमें किस प्रकार भेद है, किस प्रकार भेद नहीं है। यह अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार आचार्य-लोग कहते हैं। पर फिर सभी यह कहते हैं कि वह वाणी, मन और बुद्धिका विषय नहीं है।

आपने पूछा कि 'अभेदमें कर्त्ता नहीं, फिर प्रेमकी कोटि क्या ?' इसका उत्तर बतलानेकी जिम्मेवारी तो आपपर ही आ जाती है; क्योंकि आप पहले स्वीकार कर चुके हैं कि अपनेसे छोटेके साथ प्रेम भगवान् तो कर सकते हैं तो क्या भगवान् अपनेको परमतत्त्वसे भिन्न मानते हैं, जिसकी दृष्टिमें छोटे-बड़ेका भेद आपकी मान्यताके अनुसार सिद्ध होता है ?

आपने लिखा कि 'यदि भेद है तो कितना ही उच्च प्रेम या प्रेमी क्यों न हो, प्रेमास्पदसे अपनेको हेय मानकर कुछ कामना अवश्य करेगा।' आपका यह लिखना प्रेमके तत्त्वको बिना समझे ही हो सकता है।

आपने लिखा कि 'जो यह मानते हैं कि प्रेमी अपने लिये कुछ नहीं करता, जो कुछ करता या चाहता है प्रेमास्पदके लिये ही करता है, मैं इसको गलत मानता हूँ।' सो आप चाहे जिस मान्यताको गलत मान सकते हैं, आपको कौन मना करता है। परंतु प्रेमियोंका कहना है कि जो अपने सुखभोगके लिये किया जाता है, वह प्रेम ही नहीं है; वह तो प्रत्यक्ष ही काम है, जिसका परिणाम दुःख ही है। असली प्रेममें अपने सुखभोगकी गन्ध भी नहीं रहती। उसको जो प्रेमास्पद-के सुखमें सुख होना कहा जाता है वह तो प्रेमका ही स्वरूप बतलाना है, वह सुखभोग या सुखभोगकी कामना नहीं हैं। प्रेम स्वयं रसमय है, रस ही प्रेमका स्वरूप है और वह असीम तथा अनन्त है।

आपने लिखा कि 'प्रेमास्पद पूर्ण है' सो ठीक है। पर उस पूर्णमें भी प्रेमकी भूख सदैव रहती है; क्योंकि प्रेम उसका स्वभाव है और उसकी पूर्ति नहीं है, क्योंकि वह अनन्त है।

आपने लिखा कि 'प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों जब-तक सम नहीं, तबतक प्रेममें पूर्णता नहीं' सो आप ही विचार करें कि यदि प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी बन जाय और प्रेमी उसके लिये प्रेमास्पद हो जाय तो दोनों सम हो गये या नहीं ?

आपका यह कहना कि 'प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी बन जाय, यह केवल कथन है' सो ऐसी बात नहीं है। प्रेम ऐसा ही विचित्र तत्त्व है। उसमें आपकी युक्ति काम नहीं देती; क्योंकि वहाँतक बुद्धिकी पहुँच नहीं है।

भक्तलोगोंका क्या कहना है और वह किस उद्देश्यसे है, यह तो भक्तलोग ही जानें; पर मैंने तो यह सुना है कि प्रेमका द्वैत द्वैत नहीं है और अद्वैत अद्वैत नहीं है; क्योंकि साधारण दृष्टिसे जैसा द्वैत और अद्वैत समझा

जाता है, प्रेम-तत्त्व उस समझ और कल्पनासे अतीत है। उसे कोई भी तबतक नहीं समझ सकता, जबतक वह स्वयं प्रेमको प्राप्त न कर ले।

आपने लिखा कि 'भगवान्‌के भक्त भगवान्‌के हाथके यन्त्र बनकर उनके आदेशानुसार समस्त कर्म होना मानते हैं' तथा आगे पैरा पूरा होनेतक इसकी व्याख्या भी लिखी सो इसमें कोई मतभेद नहीं है। यह मान्यता भी परम श्रेयस्कर है।

श्रीप्रह्लादजी क्या चाहते थे, क्या नहीं चाहते थे, यह समझना कठिन है, उनके चरित्रको सुनकर सुननेवाला अपनी समझके अनुसार कल्पना कर लेता है। भक्तमें स्वार्थकी गन्ध तक नहीं रहती, उसकी दृष्टि-में एकमात्र प्रेम ही प्रेम रहता है, वहाँ कल्पना कैसी? भक्तका चरित्र तो लोकशिक्षाके लिये एक लीला है। उसमें जो कुछ खेल खेला जाता है, वह भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे उन्हींकी प्रेरणासे और उन्हींकी प्रसन्नता-के लिये होता है। अतः दिखायी जानेवाली क्रियाको न तो स्वार्थ कहना चाहिये और न कल्पना ही।

साधनकी पराकाष्ठा क्या है—यह निश्चितरूपसे तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सब साधकोंके लिये उसका स्वरूप एक-सा नहीं है। पर गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण सातवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें और बारहवें अध्यायके १३ वें से १९ वें श्लोक तक बतलाये हैं; उनमें पराकाष्ठाकी बातें आ जाती हैं।

शरणागतिकी पूर्णता अपनापन खोनेमें है या यन्त्र-वत् कार्य करनेमें—यह तो शरणागत भक्त ही जानें। पर पहले यह समझनेकी जरूरत है कि यन्त्रका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है क्या? इसपर विचार करनेपर सम्भव है, आपके प्रश्नका उत्तर हो जाय।

श्रीमान् राष्ट्रपतिजीने हिंदूकोडपर हस्ताक्षर किस भावसे किये, इसका निर्णय देनेका मैं अपना अधिकार नहीं मानता।

'सनातन हिंदू-धर्म कठोरतासे कुचला जा रहा है। इसे नष्ट करनेके लिये विभिन्न कानून बनाये जा रहे हैं।' यह ठीक है। पर ऐसा क्यों हो रहा है—इसपर गम्भीरतासे विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि अपनेको हिंदू कहनेवाले भाई धर्म और ईश्वरकी ओर कम अत्याचार और अन्याय नहीं कर रहे हैं। अपनेको साधु, महात्मा, प्रचारक, साधक, भक्त, महन्त, [illegible] उपदेशक तथा सदाचारी मानने और मनवानेवाले गृहत्यागी और गृहस्थ पुरुषोंकी क्या दशा है? क्या इनमें ऐसे लोग नहीं हैं जो धर्मकी ओटमें अधर्म नहीं कर रहे हैं? क्या लोग ईश्वरकी जगह स्वयं अपनी पूजा-प्रतिष्ठा नहीं करवा रहे हैं? क्या कोई व्यापारी धर्मके नामपर अर्थसंग्रह नहीं कर रहे हैं? कोई भी सरल हृदय व्यक्ति उपर्युक्त बातोंको अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि धर्मका विनाश ईश्वर-इच्छाके बिना ही हो रहा है पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमें इसका विरोध नहीं करना चाहिये, हमें इसका विरोध पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये। वह यदि कर्तव्य मानकर किया जाय तो भी अच्छा है और भगवान्‌का आदेश मानकर किया जाय तो और भी अच्छा है। उसमें सफलता मिले या विफलता, परिणाममें हर्ष-शोक न होना और कर्म करते समय रागद्वेषसे रहित होकर करना—यही निष्कामताकी कसौटी है।

(२)

प्रेमपूर्वक हरि-स्मरण। आपका पोस्टकार्ड मिला, समाचार मालूम हुए। आप एक कालेजके विद्यार्थी और मुमुक्षु हैं, यह भी ज्ञात हुआ।

आपकी भगवत्प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होती जा रही है, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। इसका प्रबल होना प्रभुकी विशेष कृपाका निदर्शन है।

आपके पिताजी भी इसी मार्गके पथिक हैं, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। उनके सत्संगसे

मण्डलीके सत्संगसे आपकी भगवत्प्राप्तिकी लालसा बढ़ रही है यह साधारण बात नहीं है, इसे भगवान्‌की विशेष कृपा मानकर आपको भगवान्‌के प्रेममें विभोर होते रहना चाहिये ।

पदार्थजन्य सुख आपको दुःखमय प्रतीत होता है, यह भी बहुत ही अच्छी बात है । इस परिस्थितिमें तो आप सहजभावसे इच्छारहित जीवन प्राप्त कर सकते हैं, जिसके होनेपर विवेक या प्रेमशक्तिकी जागृति होकर बहुत शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

आपने लिखा कि 'आध्यात्मिक विषयमें मैंने थोड़ा अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है सो ऐसी बात नहीं है । भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आपका जीवन बड़ा उत्तम है । आपको तो अब प्राप्त विवेकका आदर करके साधनमें तत्परतासे लग जाना चाहिये, हर समय प्रेमपूर्वक प्रभुको याद रखना और उनसे कुछ चाहना नहीं—यही सर्वोत्तम साधन इस मार्गमें है । यह मेरा विश्वास है ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) इस आध्यात्मिक मार्गमें—

(क) चलनेका प्रकार निम्नलिखित है—

जिस नाममें रुचि, विश्वास और स्वभावसे ही प्रेम हो उसका निरन्तर जप करते हुए प्रभुका स्मरण करते रहना ।

व्यवहारमें बड़ोंका आदर करना, उनको प्रणाम करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके अधिकारोंकी रक्षा करना, उनसे बदलेमें कुछ चाहना नहीं, उनकी गलती नहीं मानना ।

इसी प्रकार समान स्थितिवालोंसे और छोटोंसे भगवान्‌के नाते प्रेम करना, उनका जिस प्रकार हित हो और उनको सुख मिले, ऐसा ही बर्ताव करना, अपना उनपर कोई अधिकार न मानना और उनके अधिकारकी रक्षा करना ।

इसी प्रकार जिस-जिसके साथ काम पड़े, हरेक प्रवृत्तिमें उपर्युक्त बातोंपर ध्यान रखते हुए व्यवहार करना ।

एक प्रभुको छोड़कर किसीको अपना न मानना, अपनेको प्रभुका समझना । भाव यह कि प्रभुके साथ अपना नित्य और दृढ़ सम्बन्ध मानना ।

अपना शरीर, सम्बन्धी, घर, मकान, धन आदि जो कुछ भी है, सबको भगवान्‌का समझना और भगवान्‌के नाते सबका यथायोग्य उपयोग करना ।

और भी करने योग्य बहुत बातें हैं । उनमेंसे खास-खास लिखी गयी हैं । पत्रमें कहाँतक लिखा जाय । गीताप्रेससे मेरी लिखी हुई तत्त्व-चिन्तामणि और भाई हनुमानप्रसादकी लिखी हुई पुस्तकें मँगाकर देख सकते हैं ।

(ख) शंकाएँ साधन करनेपर अपने-आप दूर हो सकती हैं; नहीं तो, जिसपर आपका विश्वास हो पूछकर उनका समाधान किया जा सकता है ।

(ग) सत्संगके लिये पुस्तकें भगवद्गीता, योगदर्शन, उपनिषद्, रामायण आदि देख सकते हैं। ये पुस्तकें भाषाटीकासहित गीताप्रेसमें मिलती हैं ।

(२) मनुष्यके जीवित शरीरमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण तथा जीवात्मा भी है । प्रेतमें अर्थात् मृत शरीरमें ये सब नहीं रहते, इसलिये उसको जला दिया जाता है । सर्वव्यापी परमात्मा तो सर्वत्र है । वह तो मिट्टी और पत्थरमें भी है पर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण और जीवात्मा उनमें नहीं हैं । इसलिये उनमें चेतना और ज्ञानशक्तिका प्राकट्य नहीं है । यही अन्तर प्रत्यक्ष है ।

(३) वास्तवमें जो साधक है उसके लिये कर्तव्यपालन बोझा नहीं है, माने हुए स्वाँगके विधानानुसार

यथायोग्य खेल दिखाकर अपने प्रभुको प्रसन्न करना है। अतः वह जो कुछ भी करता है, प्रभुकी दी हुई वस्तु और शक्तिके द्वारा उन्हींकी आज्ञा, विधान और प्रेरणाके अनुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उन्हींके नाते सबकी सेवाके रूपमें करता है। इसलिये कर्तव्य-पालन करते समय भी वह निरन्तर अपने प्रेमास्पदकी मधुर स्मृतिके आनन्दमें विभोर रहता है। इस दशामें उसके लिये कोई भी काम भार कैसे हो सकता है, उसका तो समस्त जीवन ही साधन है।

आपने पूछा कि 'कर्तव्य कब नष्ट होगा सो प्राप्त शक्ति और वस्तुओंका ठीक-ठीक उपयोग हो जानेपर जब साधकके पास अपना कुछ भी नहीं रहेगा और करनेकी आसक्ति समाप्त हो जायगी, तब वह अपने-आप कर्तव्यसे छुट्टी पा जायगा।

इच्छाका अन्त तो साधक जब अपने प्रभुका हो जाता है तभी हो जाना चाहिये।

स्त्री-पुत्रको जब वह अपना नहीं मानेगा, तब बन्धन कैसे रहेगा? मैं और मेरा भी कहाँ रहेगा? इनके न रहनेपर इतिकर्तव्यता अपने-आप आ जायगी। चाहरहित जीवनमें वासना भी अपने-आप नष्ट हो जाती है।

(३)

सादर हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। संसार-सागरके थपेड़ोंसे व्याकुल होकर एवं संसारसे निराश होकर भगवान्‌की शरणमें जाना बड़े ही सौभाग्यकी बात है। साधकको समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर अहैतुकी परम कृपा है जो मेरे मनमें उनके आश्रित होनेका भाव प्रकट हुआ।

संसारमें ऐसा व्यक्ति दृष्टिगोचर न हो जो उचित परामर्श दे सके, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि संसारमें रचे-पचे व्यक्ति प्रायः स्वार्थपरायण हुआ करते हैं, पर साधकको चाहिये कि उनके दोषोंपर दृष्टिपात न करे, उस विवेकका उपयोग अपने दोषोंको देखने और मिटानेमें करे। मनसे किसीका बुरा न चाहे, अपने साथियोंके हित और प्रसन्नताका खयाल रखे, उनपर अपना कोई अधिकार न माने तथा उनके अधिकारकी रक्षा और अपने कर्तव्यपालनका विशेष ध्यान रक्खे।

आपका हृदय भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे रँगा है, यह भगवान्‌की विशेष कृपा है। उनके दर्शनकी तीव्र लालसा होना, यही तो मनुष्यजन्मका सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लालसाको पूर्ण करना सर्वशक्तिमान् परम प्रेमी प्रभुके हाथमें है। अतः उनके आश्रित भक्तको कभी निराश नहीं होना चाहिये, निराशा साधनका विघ्न है, भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रखना चाहिये।

भगवान्‌का दिव्य वृन्दावनधाम और सेवाकुञ्ज सत्य हैं, उनके प्रेमी भक्तका उसीमें नित्य निवास रहता है; उसकी दृष्टिमें इस पाञ्चभौतिक जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः आपको इसके लिये निराश नहीं होना चाहिये।

यह हो सकता है कि जिस पाञ्चभौतिक शरीरको आप अपना स्वरूप मान रही हो, इसका उस वृन्दावनमें निवास न हो सके; परंतु वास्तवमें यह आपका स्वरूप नहीं है, यह तो हाड़, मांस और मलमूत्रका थैला है, आपका स्वरूप तो उस परम प्रेमके समुद्र भगवान् श्रीकृष्णकी ही जातिका वैसा ही दिव्य है। अतः उचित है कि आप जिस शरीरको और उसके सम्बन्धी माता, पिता, भाई, नाना, मामा आदिको अपना मान रही हैं, उन सबसे ममता तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना सब कुछ समझें। वे प्रभु जब आपको अपने दिव्य वृन्दावन धामकी सेवाकुञ्जमें निवास कराना चाहेंगे तब कोई भी रोक नहीं सकेगा। वे बड़े नटखट हैं। वे देखते हैं साधकके भावको। जब साधक सब प्रकारके

भोगकी इच्छाका त्याग करके एकमात्र उन्हींके प्रेममें निमग्न हो जाता है, उनसे मिलनेके लिये सर्वभावसे व्याकुल हो उठता है, तब वे तत्काल ही उसे अपने वृन्दावन धाममें प्रवेश कर लेते हैं। अतः निराशाके लिये कोई स्थान नहीं है।

आपके……जो आपकी भगवद्भक्तिका विरोध करते हैं, वृन्दावन धामको नरक और भगवान्‌के भक्तोंको ढोंगी बताते हैं एवं सेवाकुञ्जमें दर्शन होने आदि बातोंको झूठा प्रचार बताते हैं, इसे सुनकर आपको न तो आश्चर्य करना चाहिये और न उन कहनेवालोंको बुरा ही समझना चाहिये। जो मनुष्य जिसके महत्त्वसे अनभिज्ञ होता है वह उसकी निन्दा किया ही करता है, यह कोई अस्वाभाविक नहीं है। वे तो भगवान्‌की विशेष कृपाके पात्र हैं; क्योंकि हमारे प्रभुका नाम पतित-पावन और दीनबन्धु है। जब वे हमारे-जैसे अधमोंको अपनानेके लिये अपना प्रेम प्रदान करते हैं, तब दूसरोंको क्यों नहीं करेंगे। ऐसा भाव करके सबके साथ प्रेमका व्यवहार करते रहना चाहिये और उनके कहनेका किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं मानना चाहिये।

आपने लिखा कि एक क्षणके लिये भी सत्संग नहीं मिलता, सो भगवान्‌की स्मृतिसे बढ़कर दूसरा सत्संग कौन-सा है। भगवान्‌में प्रेम होना ही सत्संगका सार है। अतः साधु पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो भी उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान् आवश्यक समझेंगे तो वैसे सत्संगकी व्यवस्था स्वयं करेंगे। साधकको तो सर्वथा उनपर निर्भर होकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, किसीपर कृपा करनेकी मुझमें सामर्थ्य ही कहाँ है, कृपा तो उस सर्वशक्तिमान् कृपानिधान प्रभुकी सबपर है ही, उसीका हरेक घटनामें दर्शन करते रहना चाहिये।

आपने घरपर ही भगवान्‌के दर्शन होनेका उपाय पूछा, सो उनके दर्शनोंकी उत्कट इच्छा ही सर्वोत्तम और अमोघ उपाय है। अतः उसीको इतना तीव्रातितीव्र बढ़ाना चाहिये कि फिर, बिना दर्शनोंके क्षणभर भी चैन न पड़े।

जो यह कहते हैं कि कलियुगमें भगवान्‌के दर्शन नहीं होते, वे भोले भाई हैं। उनको भगवान्‌की महिमाका अनुभव नहीं हुआ है। अतः उनकी बातपर ध्यान नहीं देना चाहिये। सच तो यह है कि भगवान् जितनी सुगमतासे कलियुगमें दर्शन देते हैं उतनी सुगमतासे किसी भी युगमें नहीं देते; क्योंकि वे पतित-पावन हैं।

मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा कराना कोई खास आवश्यक नहीं है। मीराँने कब प्राणप्रतिष्ठा करायी थी ? पर उनकी तो अपने प्रभुसे बराबर बातचीत चलती थी। अब आप ही विचार करें कि शास्त्रीय प्राण-प्रतिष्ठा आवश्यक है या भावमयी प्राणप्रतिष्ठा आवश्यक है। भावमयी प्राणप्रतिष्ठाको कोई नहीं रोक सकता।

आपने जपकी संख्याके विषयमें पूछा, सो जिन प्रेमियोंका जीवन ही भजन-स्मरण है उनके मनमें यह सवाल ही क्यों उठना चाहिये कि कितनी संख्या पूरी होनेपर मुक्ति होती है; क्योंकि संसारसे तो उनकी एक प्रकारकी मुक्ति उसी समय हो जाती है जब वे सबसे नाता तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं और भगवान्‌के प्रेम-बन्धनसे, उनको मुक्त होना नहीं है। अतः प्रेमी भक्तके मनमें तो यह सवाल ही नहीं उठना चाहिये।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह मन्त्र बहुत अच्छा है, ध्रुवजीने इसी मन्त्रका जप किया था।

जपकी संख्याका हिसाब तो उस साधकके लिये आवश्यक है, जिसको निश्चित संख्यातक जप करना है

और बाकी बचे हुए समयमें दूसरा काम करना है। जिस साधकका भजन-स्मरण ही जीवन बन गया हो उसके लिये संख्याका हिसाब रखनेकी आवश्यकता नहीं है। जप चाहे जैसे भी किया जाय वह निष्फल नहीं हो सकता।

जप करते समय माला उसी समय हाथसे छूटती है, जब मन दूसरी ओर चला जाता है या तन्द्रा (आलस्य) आ जाती है। माला छूट जाय तो जप फिर आरम्भसे ही करना चाहिये; क्योंकि संख्या रखना तो लक्ष्य है नहीं।

भगवद्गीताके माहात्म्यमें जो एक श्लोकसे मुक्ति बतायी है, उसका सम्बन्ध विश्वाससे है। यदि मनुष्य एक श्लोकपर श्रद्धा करके उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो केवल मुक्ति ही नहीं, भगवान् स्वयं भी मिल जाते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

अर्थात् जो अनन्य चित्तवाला भक्त नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए भक्तके लिये मैं सुलभ हूँ।

अतः यही समझना चाहिये कि जिनको गीताकी महिमापर विश्वास नहीं है, जो उसकी महिमाको सुनकर भी मानते नहीं, उनको वह लाभ नहीं मिलता जो मिलना चाहिये।

जप करते समय उदासी या आलस्यका आना प्रेमकी कमीका द्योतक है। जप और चिन्तन जबतक किया जाता है, तबतक उसमें थकावटका अनुभव होकर आलस्य आया करता है, पर जब वह साधन स्वाभाविक जीवन बन जाता है, उसके बाद उसमें थकावट नहीं आती।

सिद्ध सखी देहकी प्राप्ति प्रेमकी धातुसे बने प्रेममय दिव्य शरीरको प्राप्त होनेको कहते हैं। उ[illegible] भगवान्के लीलाधाम दिव्य वृन्दावनमें प्रवेश होता है। अतः 'कल्याण' में जो बात लिखी है, वह ठीक होगी। सिद्ध देहको प्राप्त करनेका साधन एक[illegible] भगवान्की कृपाका आश्रय और उनका अनन्य प्रेम है। उसे प्राप्त करनेका अधिकार हरेक मनुष्यको है फिर आपका क्यों नहीं है!

(४)

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। कार्ड[illegible] उत्तर न दिया जाय और लिफाफेका दिया जाय, [illegible] बात नहीं है; कार्डका उत्तर देनेमें तो अपेक्षा[illegible] सुविधा रहती है।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) प्रकृतिका दूसरा नाम अव्यक्त और प्र[illegible] भी है। इसके प्रधानतया तीन गुण बताये गये हैं— सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनोंके मिश्र[illegible] अनेक भेद हो जाते हैं। सत्त्वगुणमें प्रकाश, ज्ञान [illegible] सुखकी प्रधानता है। रजोगुणमें आसक्ति और हल[illegible] की प्रधानता है। तमोगुणमें अज्ञान, प्रमाद और मोह[illegible] प्रधानता रहती है।

(२) परमात्माको पुरुषोत्तम, परमेश्वर, पर[illegible] सर्वात्मा आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। मायाप्रेरक, सबके रचयिता, सर्वशक्तिमान्, सब [illegible] कल्याणमय गुणोंके समुद्र होते हुए ही सबसे अ[illegible] अलिप्त और अकर्ता तथा अभोक्ता हैं एवं गुणोंसे अ[illegible] भी हैं। यही उनकी विशेषता है।

(३) परमात्मा ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिके प्रेरक [illegible] सर्वज्ञ हैं। प्रकृति जड और परमात्माकी सत्तासे [illegible] वाली है। यही भिन्नता है। पर है उस परमा[illegible] ही शक्ति, इसलिये अभिन्न भी है; क्योंकि शक्ति[illegible] भिन्न शक्तिकी कोई सत्ता नहीं होती।

(४) जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, इसको परमात्माकी परा प्रकृतिके नामसे (गीता ७ । ४) और स्वभावके नामसे (गीता ८ । ३) भी कहा है। यह जबतक जड प्रकृतिमें स्थित रहता है (गीता १३ । २१), तबतक सुख-दुःख भोगता रहता है और विभिन्न योनियोंमें जन्मता रहता है। प्रकृतिका सङ्ग छोड़कर मुक्त हो जाता है और अपने परम कारण—परम आश्रय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

(५) सभी प्राणी प्रकृति और जीव अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हैं (गीता १३ । २६)। अतः यह कहना कि हम सब प्रकृतिकी देन हैं तभी ठीक माना जा सकता है, जब हम परमात्माकी परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंको मिलाकर प्रकृति शब्दका प्रयोग करते हैं अन्यथा अकेली जड प्रकृतिमें कोई विकास नहीं हो सकता।

हम कोई कार्य प्रकृतिके प्रतिकूल करते हैं तो प्रकृति हमको समुचित दण्ड देती है, पर देती है उस सर्वप्रेरक परमेश्वरके विधानके अनुसार ही। इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

बीज और वृक्ष आदिके विकासके विषयमें भी आपने जो कुछ लिखा है उसका भी यही उत्तर है कि जितना भी विकास होता है सब जड और चेतनके संयोगसे और उन दोनोंके प्रेरककी प्रेरणासे ही होता है। अतः आपका यह कहना कि प्रकृति स्वयं ही कर्मोंकी फलदात्री है, अन्य कोई उसका प्रभु नहीं है सर्वथा युक्तिविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है; क्योंकि जड प्रकृति बेचारीको क्या पता कि किसका क्या कर्म है और उसका कौन-सा फल उसे कब और किस प्रकार देना चाहिये। क्रिया तो होते-होते ही नष्ट हो जाती है, उसके संस्कार किसमें और किस प्रकार किसके आश्रित संगृहीत होते हैं; इसपर विचार करना चाहिये।

ज्ञान, आनन्द और विचार बिना चेतनके प्रकृतिमें कहाँ और कैसे रह सकते हैं। वह यह विभाजन कैसे करेगी कि किसको ज्ञान देना चाहिये, किसको किस कर्मका फल किस प्रकारके सुख-दुःखके रूपमें देना चाहिये—इत्यादि।

अतः यह मानना ही पड़ेगा कि उस प्रकृतिको नियमितरूपसे चलाने और प्रेरणा देनेवाला, जीवोंके साथ उसका यथायोग्य सम्बन्ध जोड़नेवाला—उसका अधिष्ठाता, निर्माता और प्रेरक कोई अवश्य है और वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। उसीका प्रकृतिपर अधिकार है और प्रकृतिका उसपर कोई अधिकार नहीं है।

प्रकृतिका अधिकार तो एक सिद्ध योगीपर भी नहीं रहता, फिर परमेश्वरकी तो बात ही क्या है! प्रकृतिके कार्यमें परमेश्वर तो बराबर दखल देते ही हैं, उसके अतिरिक्त योगी भी दखल दे सकता है। फिर आपने यह कैसे निश्चय किया कि कोई भी दखल नहीं दे सकता। आप ही बताइये कि मीराँपर जहरका असर क्यों नहीं हुआ? प्रह्लादको आग क्यों नहीं जला सकी?—इत्यादि। × × ×।

'अर्थ' नामक अनर्थ

धनका साधन, प्राप्ति, वृद्धि, रक्षा, व्यय, भोग और धननाश। सबमें अति आयास, त्रास, चिन्ता, भ्रमका है नित्य निवास ॥ १ ॥
चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, मद, काम, क्रोध और अभिमान। भेद, वैर, स्पर्धा, लम्पटता, अविश्वास, जूआ, मदपान ॥ २ ॥
'अर्थ'नामधारी 'अनर्थ' ही इन पन्द्रह अनर्थका मूल। अतः श्रेयकामी धनको दे त्याग दूरसे, करे न भूल ॥ ३ ॥
माई, पत्नी, पिता, सुहृद जो सदा स्नेहवश रहते एक। कौड़ीके कारण फटता मन, बनते शत्रु त्यागकर टेक ॥ ४ ॥
अल्प अर्थके लिये क्षुब्ध हो, गुस्सेमें भरकर अत्यन्त। सहसा तज सौहार्द, वैर सन, जीवनका कर देते अन्त ॥ ५ ॥

× × ×

पाकर भी इस नर-शरीरको जो है स्वर्गमोक्षका द्वार। कौन फँसेगा, इस अनर्थके धाम अर्थमें करके प्यार ॥ ६ ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २३ । १७—२१, २२ के आधारपर)

पश्चात्तापकी चिकित्सा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

पापोंके फलस्वरूप मनुष्य मरकर नरकोंमें तो जाता ही है, कहते हैं जीवनमें भी कभी-कभी उसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंके फलस्वरूप ऐसा पश्चात्ताप, ऐसी ग्लानि उत्पन्न होती है, जिससे या तो वह पागल हो जाता है या आत्म-हत्यादि करके प्राण गँवा बैठता है। और कोई भी विचार-शील मनुष्य जब अपनी आयुके विगत खण्डोंपर दृष्टिपात करता है, अपने जीवनके पिछले भागोंपर एक नजर डालता है तो जन्मान्तरकी बात छोड़ भी दी जाय तो भी उसका प्राप्त मानव-शरीर भी केवल प्रमादमें ही बीता दीखता है। दुर्भाग्यवश ऐसे संयोग भी जीवनमें आ जाते हैं, जहाँ कर्तव्यका निर्णय ही दुर्गम हो जाता है। साधारण धर्मचिकीर्षु जहाँ अपनेको त्यागी, शुद्ध तथा दोषोंसे बचा देखता है, सूक्ष्म दृष्टिसे वहाँ अचिकित्स्य दुष्कृत-सम्पन्न हो जाता है।[1] और इस नाते तो पराम्बा भगवती सीताके शब्दोंमें—'संसारमें कोई भी व्यक्ति नहीं जिससे कोई भूल हुई ही न हो—'न कश्चिन्नापराध्यति।' (वाल्मीकि० युद्ध० ११४ । ४४) । किंतु प्राकृत व्यक्तिके जीवनमें तो केवल प्रमाद, चूक तथा सारी बातें बिगड़ी ही मिलती हैं। वह देखता है कि बाल्यकालमें अध्ययनादि क्रियाओं एवं गुरुजनोंकी सेवासे विमुख रहा। यौवनमें अविवेक तथा चापल्यके कारण स्वकर्तव्यावधारण तथा आचरणसे प[राङ्]-मुख हुआ। प्रौढावस्थामें तृष्णातरंगमें पड़कर धना[दि]-मोहमें जा पड़ा और वार्द्धक्यमें तो केवल मनोरथ-तरं[गोंमें] बहनेके अतिरिक्त तथा इन्द्रियशैथिल्य एवं दुष्कर्मजनित [फल] भोगनेके सिवा और होना जाना ही क्या।[1]

आशाकी किरण

ऐसी दशामें, जब एकाएक अपने अनगिनत अपराध सा[मने] आ जायँ, तब निराशा तथा व्याकुलता एवं विचित्र पश्चा[त्ताप] होना स्वाभाविक ही है। हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें ऐसे प्रायश्चि[त्त] बतलाये हैं, जिनके आचरणसे तत्तत्पापोंकी शान्ति, मनःसं[तोष] तथा आत्मशुद्धि होती है। तीर्थानुसरण, संत-समा[गम,] अनशन, कृच्छ्र, प्राजापत्य, महापराक, चान्द्रायण आदि व्र[तोंसे] घोर महापातकोंकी भी शान्ति हो जाती है। तथापि कई [ऐसे] भयानक पाप भी हैं, जिनके लिये कोई प्रायश्चित्त सफल न[हीं] होता। शास्त्रोंमें ही आया है कि श्रीरामनिर्मित सेतुब[न्ध] श्रीरामेश्वरम्‌के दर्शनस्नानसे, गङ्गासागरकी यात्रासे ब्रह्महत्या[का] अपाकरण तो हो सकता है पर सहजमित्रके द्रोहका मो[चन] नहीं हो सकता—

'सेतुं गत्वा समुद्रस्य गङ्गासागरसंगमम्।
ब्रह्महापि प्रमुच्येत मित्रद्रोही न मुच्यते॥'

---

१. (क) धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। (महा० वन०)

(ख) सूक्ष्मो धर्मो दुर्विदश्चापि पार्थ विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध। (कर्णपर्व ७० । २८)

(ग) असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यदर्शनाः।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम्॥
(म० शां० प० १११ । ६५, नारद स्मृति व्यवहा० दर्श० ६३, ६४)

(घ) श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका॥
(महा० वन० २०९ । २ बृहन्ना० उत्तर० २८ । २७)

(ङ) सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवंगम। (वा० रा० ४ । १८ । १६)

(च) अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः॥
(महा० वन० १५० । २७)

१. (क) कछु ह्वै न आई गयो जनम जाय।
अति दुरलभ तनु पाइ कपट तजि, भजे न राम मन बचन का[य।]
लरिकाईं बीती अचेत चित चंचलता चौगुने [चाय।]
जोवन-जुर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बा[य।]
मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषि बनिज नाना उ[पाय।]
अब सोचत मनि बिनु भुअंग ज्यों बिकल अंग दले जरा [धाय।]
सिर धुनि धुनि पछितात मीजि कर कोउ न मित हित दुस[ह दाय।]
जिन लगि निज परलोक बिगार्‍यौ, ते लजात होत ठाढ़े ठाँ[य।]
(बिनय-पत्रि[का])

(ख) दो में एकौ तौ न भई।
सुत सनेह तिय सकल कुटुम मिलि निसदिन होत ख[ई।]
पद-नख-चंद-चकोर-विमुख मन खात अंगार मई.....
सूरदास सेये न कृपानिधि जो सुख सकल [मई।]
(सू० [सा०])

(ग) 'ऐसेहि जनम समूह सिराने' तथा 'जनम गयउ [बादिहिं बर]
पै बीति' आदि—

महाभारत शान्तिपर्वमें कहा गया है—

गोहत्यादि सभी पापोंका तो निस्तार है पर शरणागत-हत्या, परित्यागका नहीं—

गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन् निष्कृतिः पापकर्मणः।
न निष्कृतिर्भवेत् तस्य यो हन्याच्छरणागतम्॥ १४९।१९

'सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिनहिं बिलोकत हानि॥'

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

(श्रीमद्भा० ६।१।१८; नारदपु० पू० ३०।४)

ब्रह्महत्यारा, मद्यपायी, चोर और अवकीर्णी आदि व्रतलोपकों का निस्तार भी हो सकता है, पर कृतघ्नका किसी प्रकार निस्तार नहीं—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ १७२।२५

मित्रद्रोही, कृतघ्न और नराधम नृशंसका कृमि, शृगाल या गिद्ध किंवा राक्षसतक भी मांस नहीं खाते; छूते तक नहीं।

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः॥ १७२।२६

मित्रद्रोहीको अनन्तकालतक नरककी हवा खानी पड़ती है। उसके अक्षय नरकवासकी कोई चिकित्सा नहीं—

'मित्रध्रुङ् नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ।१७३।२१

मित्रद्रोह, कृतघ्नता और विश्वासघात—ये तीन पाप ऐसे भयानक हैं, जिनसे कल्पपर्यन्त प्राणीको नरकवास करना पड़ता है—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
त्रयोऽप्येते नरकं यान्ति यावदाभूतसम्प्लवम्॥

(पचतंत्र १।४५४; वेना० पंच० जम्भल कथा)

मित्रद्रोह, कृतघ्नता, स्त्रीहत्या तथा गुरुहत्याका हम-लोगोंने कोई भी प्रायश्चित्त, कोई निस्तार नहीं सुना—

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिर्नानुशुश्रुम॥

(महा० शां० प० १०८।३२)

गुरु, माता, पिता आदिसे जो द्रोह करता है, चाहे वह मनसे करे या वचनसे, वह पाप भ्रूणहत्यासे भी बढ़कर है, उससे बड़ा कोई पापी नहीं, उसका प्रायश्चित्त नहीं—

उपाध्यायं पितरं मातरं च ये-
ऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके॥

(म० शा० १०८।३०)

नारायणपराङ्मुख—ऐसे पापियोंको प्रायश्चित्त वैसे ही अकिंचित्कर हैं, जैसे सुराकुम्भके लिये नदी या गङ्गा।

परम सौभाग्यकी बात

इन बातोंकी ओर ध्यान जानेपर आशा पुनः ध्वस्त हो जाती है, किंतु पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि 'निराश तो भइया! होओ ही मत। एक जन्मकी कौन पूछे यदि तुमने गत सभी जन्मोंमें भी केवल बिगाड़ी ही है तो भी चिन्ता नहीं, वह आज ही और अभी तुरंत ही सुधर जायगी, सारी बात बन जायगी। एक ऐसा जादू है कि फूँक मारते ही सारे पाप-ताप स्वप्नवत् तिरोहित हो जायँगे और वह जादू है भगवान् राघवेन्द्रके सम्मुख हो जाना, उनकी ओर बस, दृष्टि फेर देना, उनकी शरणमें आ जाना, उनका नाम ले लेना—

'बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु।
पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम किया साधु॥'

(विनय० १९३।३)

'बिगरी जनम अनेक की, सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाजु॥'

(दोहावली)

जहाँ तुमने उनको देखा, उनके सामने आये कि तुम्हारे करोड़ों, अगणित जन्मकी पापराशि जली। वे तो तुम्हारी आशा लगाये, प्रतीक्षा करते हुए तुम्हारी ओर देख ही रहे हैं।

'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

इतना ही नहीं, वे तो तुम्हारी सारी बीती बातोंको लौटा सकते हैं, ठीक उसी कालको ला सकते हैं। वे तो सर्व-समर्थ हैं—

'गई बहोरि गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥'

वे तो तीनों लोकोंको मारकर पुनः जिला सकते हैं, क्षण-भरमें प्रलय करके पुनः लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं—

सर्वाँल्लोकान् सुसंहृत्य सम्भूतान् सचराचरान् ।
पुनरेव तदा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः ॥
(वा० ५ । ५१ । ३९)

'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई । केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥'
'मुए जियाए भालु कपि, अवध विप्रका पूत ।
तुलसी सुमिरु तू रामको जाको मारुति दूत ॥'

वे तो सभी असम्भवोंको सम्भव करसकते हैं । यह सारा सृष्टिविलास उनकी भ्रूभङ्गलीला मात्र है । उन्होंने शिलाको स्त्री कर दिया, समुद्रमें पत्थरोंको तैराया, कई मृतकोंको भी जिला दिया, भला उनके अनुग्रहसे कौन-कौन-सा कल्याण सुलभ न हो जायगा—

'सिला सुतिय भइ गिरि तरे, मृतक जिये जग जानि ।
राम अनुग्रह सकल सुभ, सुलभ सकल कल्यान ॥'

उनकी कृपा हो जानेपर तो तुम्हारी पराजय भी जय, तुम्हारी मृत्यु भी अमृतत्व, हानि भी लाभ, विष भी अमृत तथा घोर भयानक जङ्गल भी परम मङ्गल बन जायगा । वे मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको पलक मारते मच्छर बना सकते हैं, फिर भैया ! चिन्ता किस बातकी—

'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहुँ प्रभाव तुम्हारा ।'
'मसकहि करहि बिरंचि प्रभु' अजहि मसक ते हीन ।
अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन ॥'

वे तो जडको भी चेतन और चेतनको भी जड कर सकते हैं । उनकी लीलाशक्ति, 'अघटनघटनापटीयसी' तथा वे—'सर्वाद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधि' 'लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनी' आदि नामोंसे समादृत किये जाते हैं—

'जो चेतन कहँ जड़ करइ जडहि करै चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥'

सर्वोपरि अमृतोपम वस्तु

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन शरणागत-रक्षा आदि धर्मोंका सर्वाधिक ध्यान भी तो उन्हीं प्रभुको रहता है । आश्रितकी व्यथासे तो वे सहस्रधा व्यथित होते हैं—

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते ।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥
स्त्री प्रनष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥
(वा० ५ । १५ । ४८-४९)

और जब वे ध्यान रक्खें तो आश्रित व्यक्तिसे भूल ही नहीं पाती । यदि वह कहीं भूल करता है तो वे भूलका वहीं सुधार करते चलते हैं—

'आये सदा सुधारि सुसाहिब जनते बिगड़ि गयी है ।'
(गीता० अयोध्याकां० ७८)

मोर सुधारिहि सो सब भाँती । जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ॥
'न घटै जन सो जेहि राम बढ़ाया' (कवित्ता०)

उपर्युक्त चौपाईकी व्याख्यामें 'पीयूषकार'ने भगवान्‌की कृपाशक्तिका तत्तद् व्याख्याओंसे हृदयहारी सार एकत्र करते हुए लिखा है—'जिनपर एक बार प्रभुकी कृपा हो गयी, उनपर बराबर कृपा होती ही रहती है । तथापि परम कृपालु भगवान् यही समझते हैं कि जितनी कृपा चाहिये थी उतनी नहीं हो सकी ।' और जब वह कृपा हो जाती है तो दिव्यतम होनेके कारण वह बढ़ती ही जाती है और तब आश्रितकी सारी बिगड़ी बातें चाहे वह बिगड़ जानेकी परतम पराकाष्ठा ही क्यों न हो, प्रभु पलक मारते सुधार लेते हैं । जिसपर वे एक बार कृपा कर डालते हैं, फिर उसकी चूकोंका ध्यान नहीं करते—

जेहि जन पर ममता अरु छोहू । जेहि करुना करि कीन्हि न कोहू ॥
रहति न प्रभु चित चूक किये की । करत सुरति सय बार हिये की ॥

वे तो यही सोचते हैं कि हमने इसपर कम कृपा की, इसीसे चूक हुई, नहीं तो क्यों होती ?

स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनकालुष्यनाशिनः[1] ।
हार्दो भाव विशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी ॥
(भगवद्गुणदर्पण)

सच्ची बात तो यह है कि भगवान् तो बहुत पहले ही जागरूक रहते हैं और उनके जागरूक रहते उनके आश्रितजनसे चूक सम्भव ही कहाँ ? और उनकी कृपादृष्टिमें तो इतनी प्रबल पीयूषवर्षिणी शक्ति है कि वह तत्क्षण करोड़ों जन्मोंके पातकप्रसूत घोर त्रयतापोंको उपशमन कर लेती है । वह तीव्र शोकाश्रुसागरको पलभरमें सुखा डालती है—

'तीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्'
'तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपमशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।'
(श्रीमद्भा० ३ । २८ । ३१)

१. सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । १०)

पुकारनेपर वे गजराजके उद्धारके लिये गरुड़की चालसे भी संतुष्ट न हुए (जिनकी इच्छागति है) । वे झट गरुड़परसे उतरकर उसकी रक्षाके लिये दौड़ पड़े थे—

'सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।'

'आरत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलंब न कीन्ह ।'

सचमुच भगवान्की कृपाके लिये कोई उपयुक्त विशेषण नहीं । उसे देखते किसी अन्य वस्तुका पश्चात्ताप तो व्यर्थ ही है, पर भगवान्के इस अद्भुत कोमल, मृदुल, कृपालु स्वभावको जानकर, स्मरणकर भी, हम जो प्रभुके निरुपाधि, निष्प्रपञ्च जन नहीं बन पाये, यह अवश्य हमारा सबसे भयानक सांघातिक पाप है, जो सर्वथा दुश्चिकित्स्य है—

तुलसी अब रामको दास कहाइ हिये धरु चातककी धरनी ।
करि हंस को बेस बड़ो जगमें तज दे बक बायस की करनी ॥

भगवान् बुद्धदेव और उनका सिद्धान्त

(बुद्ध-महापरिनिर्वाण–दिवसपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका एक व्याख्यान)

जन्म और जीवन

आज भगवान् बुद्धदेवके महापरिनिर्वाणका पवित्र दिवस है। आजसे पच्चीस सौ अस्सी वर्ष पूर्व इन महामानवका भारतवर्षमें ही अवतार हुआ था । गोरखपुरके समीप ही कपिलवस्तुमें शाक्यवंशीय महाराज शुद्धोदन राज्य करते थे । यह शाक्यवंश प्रसिद्ध सूर्यवंशीय इक्ष्वाकुवंशकी ही एक शाखा माना जाता है । इसी पवित्र इक्ष्वाकुवंशमें पूर्ण-परात्पर-ब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रका अवतार त्रेतायुगमें हुआ था ।

महाराज शुद्धोदनके दो रानियाँ थीं—महामाया और महाप्रजावती । पर इनके कोई संतान नहीं थी । चौवालीस वर्षकी अवस्थामें एक दिन रानी महामायाने स्वप्नमें देखा कि एक चार दाँतोंवाला श्वेत वर्णका हाथी है और छः नोकवाला एक प्रकाशपुञ्ज तारा है । वह तारा महामायाके शरीरमें प्रविष्ट हो गया । उस दिन सूर्य कर्कराशिका था । ज्योतिषियोंने इसका बहुत अच्छा फल बतलाया ।

रानी महामाया गर्भवती हुईं, दसवें महीने वे अपने पीहर जा रही थीं । रास्तेमें लुम्बिनी वनमें एक शाल वृक्षकी डाल पकड़कर खड़ी हो गयीं, वहीं बालकका जन्म हो गया । बालक बड़ा तेजस्वी, अत्यन्त सुन्दर, सर्वजनमनमोहन था । वह विचित्र बालक उत्पन्न होते ही सात पैंड चलता गया । कहते हैं कि उसने जहाँ पैर रक्खे, वहीं धरती मातासे सुन्दर कमलपुष्प प्रकट होते गये । राजाने अपने समस्त अर्थ सिद्ध हुए जानकर उसका नाम 'सिद्धार्थ' रक्खा । मातृ-वंश गौतमवंशका होनेसे वह बालक गौतम कहलाया ।

सिद्धार्थके जन्मसे सातवें दिन महामायाका देहावसान हो गया । तदनन्तर महाप्रजावतीने बालकका बड़े स्नेहसे पालन-पोषण किया । बालक दिनों-दिन सभी दिशाओंमें प्रगति करने लगा । सारी शिक्षा मानो वह साथ ही लेकर जन्मा था । महान् कुशाग्रबुद्धि, तीव्रतम स्मरण-शक्ति, न्याय-तर्कादिमें भी असाधारण पाण्डित्य, धनुर्विद्यामें निपुणता । सभी कुछ विलक्षण । सबसे विलक्षण वस्तु तो राजकुमारका अहिंसा-सुशोभित दयाद्रवित करुण-कोमल हृदय था । वे आखेट करने जाते तो मृगपर बाण न चलाकर उसे भाग जाने देते । घोड़ा थककर हाँफ जाता तो उतरकर उसका पसीना पोंछते, धीरे-धीरे सहलाते और बड़े प्यारसे पुचकारकर थपकी देते ।

एक दिन राजकुमार बगीचेमें टहल रहे थे । बाणसे बिंधा एक हंस उनके पास आ गिरा । उन्होंने उसे उठाकर गोदमें ले लिया और बाण निकाला । राजकुमारके चचेरे भाई देवदत्तने उस उड़ते हंसको बाण मारकर गिराया था । देवदत्तने आकर उसे माँगा और कहा कि 'यह मेरा शिकार है, मैंने इसपर निशाना लगाया था । अतः इसपर मेरा अधिकार है ।' सिद्धार्थने कहा—'पक्षीको मारनेवालेकी अपेक्षा उसे बचानेवालेका उसपर अधिक अधिकार है ।' उन्होंने हंस नहीं दिया और जब हंस उड़ने योग्य हुआ, तब उसे उड़ा दिया । देवदत्तने इस बातसे अपने मनमें वैर मान लिया ।

लक्ष्यवेध-परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर राजकुमारी यशोधराके साथ उनका विवाह हो गया । राजा शुद्धोदनने राजकुमारको वैराग्य न हो जाय,—इस भयसे उन्हें सदा भोगसुखमें लिप्त रखनेका पूरा आयोजन कर दिया । सुन्दर राजप्रासाद, विभिन्न ऋतुओंका सौन्दर्य, विहरते हुए मनोरम नील कमलों

से पूर्ण सरोवर, नित्य नवीन वस्त्राभूषण, स्वस्थ, सबल और आज्ञाकारी सदा उपस्थित सेवक-समुदाय, सेवार्थ विविध वस्त्रा-लंकारोंसे सुसज्जित तरुणियोंकी मण्डली, नित्य मनोहर गान, वाद्य और नर्तन। अपनी जानमें कुछ भी कसर नहीं रक्खी राजाने। परंतु विधाताका विधान कुछ और था। सिद्धार्थका अवतार साधारण मानव प्राणियोंकी भाँति विषय-भोगोंमें प्रलिप्त रहनेके लिये नहीं, वरं स्वयं त्याग-वैराग्यके मूर्तिमान् स्वरूप बनकर जगत्के प्राणियोंको दुःख-दावानलसे बचानेके लिये हुआ था। अतः वैसा ही संयोग बन गया।

एक दिन वे शहरमें घूमने निकले। बड़ी व्यवस्था की गयी थी कि राजकुमारके सामने कोई ऐसा दृश्य न आने पाये, जिससे उनको वैराग्यकी प्रेरणा मिले। पर दैव-विधानसे एक वृद्ध सामने आ गया। उन्होंने देखा—श्वेत केश हैं, बदनपर झुर्रियाँ पड़ी हैं, दाँत नहीं हैं, गाल पिचके हैं, कुबड़ा शरीर है, धँसी आँखें हैं, उनमें गीड़ भरी है और जल बह रहा है, देहमें मांस नहीं, चमड़ेसे ढका हड्डियोंका ढाँचा मात्र है, फटा मैला चिथड़ा लपेटे है, हाथमें लाठी है, बड़ी कठिनता-से चल पाता है। राजकुमारने पूछा 'छन्दक! यह कौन है?' छन्दकने कहा—'कुमार! यह वृद्ध है, कभी यह भी जवान था, सुन्दर था, सबल था, वृद्धावस्थाने इसकी यह दशा कर दी है।' राजकुमारने व्यथित होकर फिर पूछा—'क्या यह वृद्धावस्था सभीकी होती है? क्या मेरी भी यही दशा होगी?' छन्दकने कहा—'जन्मके साथ जरा लगी रहती है। मनुष्य जीवित रहा तो बूढ़ा होगा ही, आप हों चाहे मैं।' राजकुमार सुनकर सहम गये। अहो! जवानीका सारा मद चूर्ण हो जाता है इस स्थितिमें। मेरी भी यही दशा होगी, यशोधराकी भी और गङ्गा-गौतमी आदि सखियोंकी भी। हाय!' राजकुमारने कहा—'छन्दक! लौट चलो।'

राजाज्ञासे दूसरे दिन फिर राजकुमार छन्दकको साथ लेकर सेठ और मुनीमका वेश बनाकर निकले। आज एक रोगी मिल गया, जो पीड़ासे छटपटा रहा था। उसका सारा शरीर क्षत-विक्षत था, काँप रहा था, बड़ी बुरी दशा थी। राजकुमारके पूछनेपर छन्दकने बताया—'यह रोगी है, इसीसे इतना परवश और दुखी हो रहा है। रोग भी सभीको हो सकता है।' राजकुमारको जवानीपर तो अनास्था हो ही गयी थी। शरीरके स्वास्थ्यका भरोसा भी जाता रहा। तीसरी बार एक मुर्दा मिला। 'राम नाम सत्य है' बोलते हुए चार आदमी अर्थीको उठाये लिये जा रहे थे। घरके लोग पीछे-पीछे रोते हुए चल रहे थे। मुर्दा श्मशानमें ले जाकर [illegible] दिया गया। राजकुमारने पूछा—'क्या सबकी यही [illegible] होगी?' छन्दकने कहा—'जो जन्मा है, वह तो मरेगा [illegible]' राजकुमारका हृदय वैराग्यसे भर गया। वे महलमें [illegible] आये। सारे विलास-उल्लास, नृत्य-गान बंद हो गये। [illegible] एक बार राजकुमारने एक संन्यासीको देखा, उससे [illegible] कि वह जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे छूटनेके प्रयत्नमें लगा [illegible] राजकुमारको यह बात बहुत अच्छी लगी। उन्होंने [illegible] त्यागका निश्चय कर लिया।

राजाको पता लगा तो वे बहुत दुखी हुए [illegible] राजकुमारका मन बदलनेके लिये विविध प्रयास करने [illegible] विविध प्रकारके भोगोंसे लुभाये जानेका कुछ भी [illegible] राजकुमारपर नहीं हुआ। पिता शुद्धोदनने बहुत [illegible] समझाया-बुझाया पर वे अपना निश्चय छोड़नेको तैयार [illegible] हुए। राजाके बहुत कहने-सुननेपर राजकुमारने [illegible] 'अच्छा, यदि ऐसी ही बात है तो आप मेरी चार [illegible] स्वीकार कर लीजिये— मैं तपोवनमें नहीं जाऊँगा।

न भवेन्मरणाय जीवितं मे
विहरेत् स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः।
न च यौवनं मा क्षिपेज्जरा मे
न च सम्पत्तिमिमां हरेद् विपत्तिः॥

अर्थात् 'मैं कभी मरूँ नहीं, मैं कभी बीमार न [illegible] मैं कभी बूढ़ा न होऊँ और मेरी यह राज्य-सम्पत्ति सदा [illegible] रहे।'

राजाने इन शर्तोंको स्वीकार करनेमें असमर्थता प्रकट [illegible] कुमारका निश्चय और भी दृढ़ हो गया। वे एक [illegible] अपनी प्रियतमा पत्नी यशोधरा और नवजात पुत्र राहुल [illegible] छोड़कर जानेके लिये तैयार हो गये। वे उस समय [illegible] हो रहे थे मानो उन्हें मायापाशको तोड़कर तुरंत चले [illegible] लिये कोई प्रबल और अपरिहार्य प्रेरणा प्राप्त हो रही है। यशोधरा मीठी नींदमें सो रही थी मानो बेला-पुष्पोंकी [illegible] धवल चादरमें गुलाबोंका ढेर ढुलका हुआ हो। पास ही [illegible] राहुल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो गुलाबकी मृदु सुन्दर [illegible] मुसकरा रही हो। कुमारने उनको देखा, फिर आँखें फेर [illegible] पुनः देखा—बस, 'यह सारा मायाजाल है, मेरा बन्धन है [illegible]' उन्होंने तीन बार पलंगकी परिक्रमा की और पत्नी, [illegible] पिता, परिवार तथा समृद्धिके सारे बन्धनोंको तोड़कर वे [illegible] नीचे उतर आये। महलके नीचे जाकर सारथि छन्दक [illegible]

जगाया और उसके द्वारा कन्थक घोड़ेको मँगवाकर वे उसपर सवार हो गये। कपिलवस्तुसे पैंतालीस कोस अनामाके उस पार जाकर उन्होंने छूरेसे अपने लम्बे केश काट डाले। राजसी वस्त्राभूषणोंको उतारकर सारथिको दे दिया और घोड़ेके साथ उसे लौटा दिया।

सच्चे धर्मकी खोजमें वे बहुतसे विद्वानोंके पास गये पर कहीं संतोष न मिलनेपर वनमें एक वृक्षके नीचे विना खाये-पीये बैठकर ध्यान करने लगे। कठोर तपसे उनका शरीर सूख गया।

एक दिन उस वनमेंसे कुछ स्त्रियाँ गाती हुई निकलीं—'वीणाके तारको इतना मत खींचो कि वह टूट जाय और इतना ढीला भी मत छोड़ो कि उससे स्वर न निकले।' इस गीतसे बुद्धने शिक्षा ली और कठोर तपका मार्ग छोड़कर 'मध्यम मार्ग' ग्रहण किया।

नाना प्रकारके बाधा-विघ्नोंको हटाते हुए, मार तथा राक्षसोंको अपनी दृढ़ प्रज्ञासे पराजित करते हुए उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया पैंतीस वर्षकी अवस्थामें बोधिवृक्षके मूलमें। फिर तो जगत्के भूले प्राणियोंके उद्धारार्थ वे निकल पड़े। संघ बने। पैंतालीस वर्षतक इस धराधामपर सनातनधर्मका एक आकर्षक रूपमें विविध भाँतिसे प्रचार करके दुःखविदग्ध प्राणियोंको शान्ति प्रदान करते रहे और अन्तमें कुशीनगरमें आकर मल्लोंके शालवनमें दो शाल वृक्षोंके बीचमें भिक्षु आनन्दके द्वारा बिछाये हुए चीवरपर लेट गये और लेटे-लेटे ही उन्होंने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

बुद्ध नास्तिक नहीं थे

भगवान् बुद्धने न तो किसी नये धर्मका प्रवर्तन किया और न अपनेको कभी किसी नवीन धर्मका संस्थापक या अवतार ही बतलाया। उस समयके देश-कालकी परिस्थितिको देखकर उन्होंने सनातनधर्म या हिंदू-धर्मकी ही एक विशेष प्रकारसे व्याख्या की। वस्तुतः उन्होंने स्वयं धर्मका आचरण करके लोगोंको धर्मकी शिक्षा दी। उन्होंने जो कुछ उपदेश दिया, सब हिंदू-धर्मके प्राचीन ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, स्मृति, गीता आदिके आधारपर ही दिया।

उन्हें नास्तिक, अनात्मवादी, दुःखवादी, अनीश्वरवादी और मरणोत्तर आत्माका अस्तित्व न माननेवाले कहा जाता है; पर ऐसी बात वास्तवमें है नहीं। उन्होंने आत्मा, मुक्ति, पुनर्जन्म, कर्मानुसार जन्म, ब्रह्मप्राप्त पुरुषकी स्थिति आदिको माना है और उनके सम्बन्धमें वही बातें कही हैं जो परम्परासे हिंदूधर्ममें मानी जाती हैं।

उदाहरणार्थ वेद-विरोधकी बात लीजिये—'बुद्धने (हिंसात्मक) कर्मकाण्डका विरोध किया। सो वस्तुतः सनातनधर्ममें भी ज्ञानके उच्च स्तरपर कर्मकाण्डरूप यज्ञोंको बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया गया है। वैदिक यज्ञके सम्बन्धमें मुण्डकोपनिषद्में आया है—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।' और इन अदृढ़ नौकापर सवार होनेवालोंकी निन्दा की गयी है। गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' (२।४५)

—और—

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।'
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (२।४२)
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (२।४६)

—इनमें सकाम कर्मकाण्डका विरोध किया गया है, ज्ञानमय वेदका विरोध नहीं।

बुद्ध भगवान्ने जगत्को दुःखमय माना है और इस दुःखसे त्राण पानेके लिये मार्ग बताया है। यही बात सारे सनातनधर्मके शास्त्रोंमें है। गीतामें भगवान्ने जगत्को दुःखमय बतलाया है—

'दुःखालयमशाश्वतम्,' 'अनित्यमसुखं लोकम्।'
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते॥
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५।२२)

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दुःखातीत परम सुख नहीं है। भगवान्ने 'आत्यन्तिकसुखमश्नुते' (गीतामें) कहा है, वैसे ही बुद्ध भगवान् भी कहते हैं कि 'जीव जहाँ पाशमुक्त होकर, विसंयुक्त होकर निर्वाणमें प्रतिष्ठित है, वहाँ विपुल सुख, अद्भुत परमानन्द—भूमानन्द है 'प्रामोद्य बहुल' (पामोज्ज बहुलो)।

बुद्धदेवने हिंदूधर्मकी भाँति ही स्वर्ग-नरक माने हैं। वे कहते हैं—

'सग्गं सुकृतिनो यन्ति निरये पापकम्मिनो' 'अभूतवादी निरयं उपेति।' (धम्मपद)

'पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं और पापकर्मी लोग नरकमें । असत्यवादी नरकमें जाते हैं।' हिंदू-धर्मकी भाँति ही उन्होंने कर्मभेदसे पुनर्जन्म माना है और दैव, मानुष, नरक, पैशाच, पशु तथा तिर्यक् योनिकी प्राप्ति वैसे ही बतलायी है, जैसे छान्दोग्य-उपनिषद्में उत्तम कर्म करनेवालोंके लिये उत्तम योनि और नीच कर्म करनेवालोंके लिये कुकर-सूकरादि नीच योनिकी प्राप्ति कही है ।

बुद्धदेवको शून्यवादी कहते हैं—पर उनका शून्य वस्तुतः ब्रह्मवादियोंका अनिर्वचनीय अचिन्त्य ब्रह्म ही है—

'यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ।'
'क्योंकि उन्होंने शून्यको 'अक्षय' कहा है ।'
'ये च सुभूते ! शून्या अक्षया अपि ते ।'

जिसका कभी क्षय न हो, व्यय न हो, अपचय-उपचय न हो, वह अजर-अमर अक्षय शून्य है। यह शून्य ब्रह्मरूप है, यही परमानन्दस्वरूप है। गीतामें कहा है—'सुखमक्षयमश्नुते ।'

अब रहा उनका निर्वाण—सो वस्तुतः ब्राह्मी स्थितिको ही बुद्ध भगवान्ने निर्वाण कहा है—यही निर्वाण गीतामें आया है—'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
(५ । २४—२६)

इस निर्वाणकी प्राप्तिके लिये बुद्धदेवने भी राग-द्वेष-मोह आदिका त्याग साधन बतलाया है । निर्वाणकी प्राप्ति जीवित अवस्थामें भी होती है, उसे 'सोपाधिशेषनिर्वाण' कहा है, यही हिंदू-धर्मकी 'जीवन्मुक्ति' है और देहान्तके बाद होनेवाले निर्वाणको 'अनुपाधिशेषनिर्वाण' कहा है, यही विदेहमुक्ति है।

निर्वाणका स्वरूप बतलाते हुए बुद्धदेवने कहा है—

'हे भिक्षुओ ! यहाँ अजात, अभूत, अकृत एवं असंघटित है—अजातं अबभूतं अकतं असंखतं । वहाँ न वायु है, न जल है, न अग्नि है, न यह संसार है, न यह चन्द्रमा है, न सूर्य है, वहाँ सब दुःखोंका अन्त है। [...] आनन्द है ।' ठीक यही बात उपनिषद्में आयी है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठ० २ । ५ । १५, मुण्डक० २ । [...])

'यत्र न सूर्यस्तपति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न [...] भाति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति, [...] मृत्युः प्रविशति, यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति, सदानन्दं [...] नन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगि[...] परं पदम् ।' (बृहज्जाबाल-उपनिषद् ८ [...])

गीता भी कहती है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । (गीता [...])

बुद्धदेव कहते हैं—वहाँ इन्द्रिय, मन, बुद्धि, [...] नहीं है, सो ठीक ही है। इसीसे तो उपनिषद्में उसे 'नेति [...]' कहा है और बताया है कि वह इन्द्रियोंसे अतीत, [...] अतीत, मनसे अतीत, वचनसे अतीत है ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न [...]
(केन उप० १ [...])

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
(ब्रह्मो[...])

पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह कुछ नहीं [...] 'है' अवश्य, पर बतलाया नहीं जा सकता । इसीसे बुद्ध [...] चुप रहे हैं । पर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि [...] निर्वाणमें परम सुख है—भूमानन्द है—वहाँ अमानुषी [...] विपुल सुख तथा परमानन्द भूमानन्दस्वरूप है, सारे दुः[...]का अन्त है, सुखमय शान्तपद है ।

सम्पस्सं विपुलं सुखं,
अमानुषी रती होति सम्माधम्मं विपस्सतो ।
निब्बाणं परमं सुखं ।
ततो पामोज्ज बहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥
पामोज्ज बहुलो भिक्खू पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखम् ॥
(धम्म[...])

अतएव बुद्धदेवका निर्वाण—हिंदूधर्मका ब्रह्मनिर्वाण [...] है । वह निर्वाण अतर्क्य, अवर्ण्य, अकथ्य, अचिन्त्य [...]

वहाँ व्यक्तिभावका विलोप एवं जीवभावका अभाव होने-पर भी 'नास्तित्व' नहीं है, यह अक्षय परम सुखरूप है। इस निर्वाणको प्राप्त पुरुषको ही 'अर्हत' (मुक्त) कहा गया है।

इससे सिद्ध है कि भगवान् बुद्धने अपने जीवनमें वैदिक विचारधाराका विरोध न करके उसीका अनुसरण किया था। उनके निर्वाणके बाद अपनेको बुद्धके अनुयायी माननेवाले लोगोंने स्वेच्छाचार किया। वेदका विरोध प्रत्यक्ष किया। वे एक प्रकारसे घोर वाममार्गी हो गये। इसीसे इस मतको 'नास्तिक' माना गया, इसका विरोध-बहिष्कार हुआ और फलतः पतन भी हुआ!

बुद्धकी शिक्षा

बुद्ध भगवान्ने चार 'आर्य सत्य' बतलाये हैं—दुःख; दुःखसमुदाय (दुःखकी उत्पत्ति); दुःख-निरोध (दुःखसे मुक्ति) और दुःखनिरोध-मार्ग (दुःख-मुक्तिका उपाय)। दुःख-मुक्ति ही निर्वाण है, उसका अमोघ उपाय बतलाया गया है—आर्य-आष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

सम्यक् दृष्टिका अर्थ है—यथार्थ विचार-दृष्टि, अनित्य-नित्य, अच्छे-बुरेकी पहचान, चार आर्य सत्योंका वास्तविक परिचय।

सम्यक् संकल्प—काम-क्रोध-हिंसा आदि दोषोंसे बचे रहनेका दृढ़ संकल्प।

सम्यक् वाणी—असत्य न बोलना, चुगली-निन्दा न करना, कठोर वचन न बोलना, व्यर्थ न बोलना। सत्य, मित, हित, मधुर वाणी बोलना।

सम्यक् कर्मान्त—चोरी, व्यभिचार, प्राणिहिंसा आदि न करना।

सम्यक् आजीविका—शस्त्र, प्राणी, मांस, मद्य और विषका व्यापार न करना; अधर्म, अन्याय, हिंसासे पैसा न कमाना।

सम्यक् व्यायाम—बुरे विचारोंको उत्पन्न न होने देना, उत्पन्न बुरे विचारोंका नाश करना, अच्छे विचारोंको उत्पन्न करना, उत्पन्न अच्छे विचारोंकी रक्षा करना—उन्हें बढ़ाना। मानसिक और शारीरिक दुर्बलता न आने देना।

सम्यक् स्मृति—सदा सावधानी। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसकी स्मृति। कार्य करते समय भी यह ज्ञान कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ।

सम्यक् समाधि—शुभ कर्मोंमें, सत्यमें चित्तका समाधान—निरोध।

इसीके साथ भगवान् बुद्धने गृहस्थ-भिक्षु दोनोंके लिये पाँच शील बताये हैं—हिंसा-विरति, मिथ्याभाषण-विरति, स्तेय-विरति, व्यभिचार-विरति और मादक द्रव्य-विरति। किसी प्राणीकी हिंसा न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना और नशेकी किसी चीजका सेवन न करना।

इसके अतिरिक्त पाँच शील केवल भिक्षुओंके लिये और हैं—वे दस शीलोंका पालन करें। वे पाँच हैं—दोपहरके बादका भोजन न करना, नाच-गानका त्याग, माला आदि शृङ्गारका त्याग, बढ़िया शय्याका त्याग और सोने-चाँदीका त्याग। ये शील योगदर्शनके यम-नियमके आधारपर ही हैं। आजकल जो अन्ताराष्ट्रिय जगत्में पंचशीलकी चर्चा हो रही है, उनका मूल भी ये बुद्ध भगवान्के उपर्युक्त पंचशील ही हैं।

निर्वाणकी प्राप्तिके लिये मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा-की शिक्षा दी गयी है, जो योगदर्शनमें आती है। समान स्थितिवालोंसे मित्रता, दुखियोंके प्रति करुणा, सुखी लोगोंको देखकर प्रसन्नता, अपने प्रति बुराई करनेवालोंके प्रति उपेक्षा। इससे चित्तके राग-द्वेष-मोहादि मलोंका नाश होता है और साधक निर्वाणपदके योग्य होता है।

बुद्ध भगवान्ने आत्माका प्रतिपादन चाहे उतना न किया हो पर उन्होंने अपने अहिंसा तथा दयासे पूर्ण हृदयसे, दया-दृष्टिसे प्राणीमात्रमें एकात्माका अनुभव करके, जीवनको सहज सर्वभूतहितमें लगाकर वास्तविक आत्मदर्शनका परिचय दिया है, जो सबके लिये अनुकरणीय है। एक बात और है—बुद्ध भगवान्ने जान-बूझकर ही साध्यका निर्णय न करके साधनपर विशेष जोर दिया है। साधन यथार्थ होनेपर साध्यकी प्राप्ति तो अपने-आप ही हो जायगी और तभी साध्यके यथार्थ स्वरूपका पता लगेगा। आत्मा, ब्रह्म क्या है, संसार कैसे बना, कब बना, संसार अनादि अनन्त है या अनादि सान्त है, इसका कोई कर्ता है या नहीं, वह सगुण है या निर्गुण, आदि विषयोंपर उन्होंने कहना उचित नहीं समझा। वास्तवमें कहनेसे ये समझमें आते भी नहीं। इनका सम्यक् ज्ञान तो साधनसम्पन्न पुरुषको अपने-आप ही होता है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'। उन्होंने समझा कि इन दार्शनिक प्रश्नोंकी उलझनमें पड़कर किसी मताग्रहको स्वीकार करना तथा

जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिके साधनसे वञ्चित रहकर खण्डन-मण्डन करनेकी अपेक्षा साधनमें लगना—मार्ग तै करना श्रेयस्कर है । मनुष्यको चुपचाप अपने जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें ही लगे रहना चाहिये। इसीमें बुद्धिमानी है । उन्होंने एक बार भिक्षुओंसे इस आशयकी बात कही थी—"किसी आदमीके विषबुझा बाण लगा हो और बाण निकलवानेके लिये उसे किसी वैद्यके पास ले जाया जाय । वहाँ वह यदि यह कहे कि 'मैं तो बाण तभी निकलवाऊँगा जब मुझे इसका पूरा पता लग जायगा कि बाण चलानेवाला कौन था, किस जातिका था, मोटा था या दुबला; उसने बाण क्यों मारा, कब मारा ।' तो उसे मूर्ख ही माना जायगा । वह इन प्रश्नोंका उत्तर जाननेके फेरमें पड़ेगा तो उत्तर प्राप्त होनेके पहले ही मर जायगा । अतएव उसको जैसे इन प्रश्नोंके उत्तर पानेके बखेड़ेमें न पड़कर बाण निकलवाना चाहिये, वैसे ही तुम लोगोंको भी इन प्रश्नोंके चक्करमें न पड़कर राग-द्वेष-मोहसे छूटनेका उपाय करना चाहिये ।"

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि कोई बाण मारनेवाला अवश्य है और उसने बाण मारा है । पर उसका पता लगानेकी अपेक्षा पहले बाण निकलवाना उचित है; इसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर तो है ही, उसने सृष्टिकी रचना भी की ही है, परंतु अल्पजीवनमें उसका पता लगानेके पहले संसारसे मुक्त होनेकी साधना करनी चाहिये । मुक्त होनेपर आप ही पता लग जायगा कि वह कौन है, कैसा है । अतएव बुद्धदेव नास्तिक नहीं थे । वे सनातन हिंदू-धर्मके ही प्रचारक-प्रसारक थे और बुद्ध-धर्म भी कोई अलग धर्म नहीं है, वह विशाल वटवृक्षरूप हिंदूधर्मकी ही अलग दीखनेवाली एक महत्त्वपूर्ण शाखा है ।

यह बड़े ही आनन्दकी बात है कि बुद्ध भगवान्के जन्म तथा निर्वाण-स्थान भारत तथा भारतेतर देशोंमें भी आज बुद्ध-महापरिनिर्वाण दिवसका महान् उत्सव मनाया जा रहा है । यद्यपि हमारी धर्म-निरपेक्ष सरकारने उदारतावश 'सेकुलेरिज्म, (धर्मनिरपेक्षता) की सीमासे आगे पग है, परंतु यह शुभ चिह्न है । आज सरकारके द्वारा जयन्ती मनायी जाती है तो आगे चलकर हम कोटि मनुष्योंके नित्य आराध्य भगवान् श्रीराम-कृष्णकी जयन्ती शङ्कर-रामानुज आदि आचार्योंकी जयन्ती भी सरकारके मनायी जानेकी आशा कर सकते हैं । पर एक बात विचारणीय है । उत्सव मनाना, प्रभात फेरी निका प्रवचन करना, नारे लगाना, बुद्धके जीवनसम्बन्धी गान-वाद्य करना, बुद्धधर्मकी महानताके गुण भगवान् बुद्धकी प्रशंसा करना—उनके स्मारकादि सभी उत्तम हैं, परंतु जबतक हम भगवान् बुद्धकी शिक्षा उनके जीवनके आदर्शको अपने जीवनमें नहीं उतारनेका प्रयत्न नहीं करते, तबतक हमारा यह आत्म-विडम्बना ही है । बुद्ध भगवान्का वैराग्य, दयार्द्रता, उनकी सर्वभूतहितमें सहज रति, उनकी अ उनका राग-द्वेष-मोह-त्याग, उनकी समता, उनका त्याग आदि महान् गुणोंमेंसे कुछ भी हमारे जीवनमें हो जाय तो हमारा आजका यह घृणा, द्वेष, हिंसा, अना पूर्ण और अणु तथा उद्जनबमोंसे आतङ्कित संसार प्रेम आनन्दका स्वर्ग बन सकता है । तभी जयन्ती मना सार्थक है । पर यदि बुद्धकी जयन्ती मनाना भी हमारा बाहरी दिखावा या मत-प्रचार, खुले स्वेच्छाचार-अना प्रचार और बौद्धमतावलम्बियोंकी संख्या-वृद्धिका ही रहा या इसका उपयोग इसीमें किया गया तो हम और मानवसमाजको धोखा ही देंगे । अतः हमें भ बुद्धको श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनेके साथ ही यह भी करना चाहिये कि हम उनके पवित्र त्याग, दया, अहिं और राग-द्वेषरहित सर्वभूतहितके आदर्शको जी उतारें ।

भगवान् बुद्धकी जय हो !

* आजके सर्वभक्षी बौद्ध देशोंमें और बुद्ध भगवान्के अनुयायियोंमें हिंसाका जो प्रचार बढ़ा हुआ है, वह बड़ा ही और बुद्धकी जीवन-शिक्षाके सर्वथा विरुद्ध है । बुद्धके भक्तोंको बुद्धजयन्तीके इस पवित्र अवसरपर जीवनभर मांसाहार प्राणिहिंसासे सर्वथा विरत होनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये ।

हमारा वैज्ञानिक धर्म

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराव भ० दूरकाल एम० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

हमारे आदि मानव-धर्मको कुछ लोग 'सनातनधर्म' कुछ लोग 'वेद-धर्म' कुछ लोग 'हिंदू-धर्म' कुछ लोग 'ब्राह्मण-धर्म' इत्यादि विविध नामोंसे पुकारते हैं। यह धर्म वर्तमान धर्मोंमें सबसे प्राचीन है। यही नहीं, बल्कि सबसे पूर्ण, शृङ्खलाबद्ध और वैज्ञानिक पद्धतिके अनुकूल है। यह इसके तथा अन्य धर्मोंके अभ्याससे जान पड़ता है। हमलोग यहाँ इसकी वैज्ञानिकता-की आलोचना करनेका यत्न करेंगे। वैज्ञानिक पद्धतिमें तीन मुख्य वस्तुएँ होनी चाहिये, ऐसा कहा जाता है। जैसे (१) व्याख्या अथवा लक्षण-विवेक, (२) विभागोंका विचार-विवेक और (३) याथातथ्यका अनुभव। धर्म या पन्थका विषय व्यक्ति तथा समाजसे सम्बन्धित है, इसलिये इसमें राग-द्वेष तथा अभिनिवेशके लिये बहुत अवकाश होता है। अतएव मैं अन्य धर्म-पन्थोंके साथ तुलना करनेका काम बहुधा पाठकोंपर ही छोड़ दूँगा, अथवा संकेतमात्र कुछ कहूँगा। पर समाधानरूपमें इतना ही कहना है कि यह धर्म अखिल मानव-जातिका मूल ईश्वरोक्त प्राचीन धर्म है, परम्परासे चलता आ रहा है, आज भी मानवोंकी बड़ी संख्याके धर्मरूपमें विद्यमान है और इस युग–कल्पमें भी इसने अद्भुत माहात्म्य, अज्ञात भौतिक शक्तियों तथा अद्वितीय महामानवोंको प्रकट किया है, अतएव सबका यह अपना ही मूल मान्य और श्रद्धेय धर्म है।

तत्त्व-दर्शन

किसी भी धर्म या जीवन-नियामक आदर्श समुच्चयके पीछे परिपक्व तत्त्वदर्शनकी आवश्यकता है। तत्त्वदर्शन अपने भौतिक अर्थमें—अकाट्य, अखण्डनीय अर्थमें परम सत्यका निर्वाचक होना चाहिये। परम सत्य वह है जो देश, काल और वस्तुसे बाधित न हो। भौतिक विज्ञान समस्त देश, काल, वस्तुसे बाधित होनेके कारण और उसकी इकाई या सिद्धान्त जैसे बिन्दु, रेखा, दृश्यकी वास्तविकता, बुद्धिकी सर्वोपरिता इत्यादि माने हुए तथा परिगृहीत होनेके कारण विज्ञानको इस परम सत्यके दर्शनके रूपमें नहीं गिनते। इस परम सत्यका निर्वचन अथवा तत्त्व-दर्शन चार वेदोंके महा-वाक्योंमें अथवा अर्द्ध श्लोकमें सुप्रबद्ध रूपमें किया गया है। हमारे यहाँ विचारके लिये तीन पदार्थ गृहीत होते हैं—जीव, जगत् और जगदाधार। द्रष्टा, दृश्य और इन दोनोंका अधिष्ठान। इन तीनोंका निराकरण अर्द्ध श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

परमात्म-तत्त्व, ब्रह्म, अधिष्ठान सत्य है; जगत्, संसार दृश्यपदार्थ मिथ्या है, नश्वर है, कल्पित है, वस्तुतः मायामात्र है। इस परम सत्यका अनुभव प्राप्त होना बीजगणितके सिद्धान्तके समान होना कठिन है। परंतु इसके ज्ञानका लाभ यह है कि इसके द्वारा मनुष्यको—जीवको अपनी भूमिका, स्थान, ध्येय, कर्तव्य, उपासितव्य और ज्ञातव्य—ये सब अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाते हैं और भ्रमके मार्गपर भटक जानेकी सम्भावना कम रह जाती है। वेदोंके महावाक्यों-में भी इसी तत्त्वज्ञानका स्पष्टीकरण है। विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं।

विश्व-दर्शन

विश्व मायारूप है, तथापि दीखता है। दृश्यमान है इसलिये इसका विवेक भी व्यावहारिक रीतिसे करना है। क्योंकि हमारे सामनेका बड़ा दृश्य—यह दृष्ट है। और मायारूप होनेसे यद्यपि अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है और सदसत्‌रूप है, तथापि जीवको संस्पर्श करता है और सुख-दुःखका हेतुरूप है तथा परम चेतनरूप अधिष्ठानकी ही लीला है अतएव नीर-क्षीर-विवेकसे इसका भी विवेक-दर्शन करना आवश्यक है। मायारूप होनेके कारण अनेकों रूपोंमें इसका वर्णन, विचार या विभाग किया जा सकता है। एक मुख्य विभाग प्रकृति और पुरुषरूपमें—अथवा जड और चेतनरूपमें है। जो स्वयं शक्तिमान् या गतिमान् है वह चेतन है, और जो दूसरेकी शक्तिसे शक्तिमान् या गतिमान् होता है, वह जड है। चेतन सदा अदृश्य अथवा इन्द्रियोंके अगोचर होता है और जड अधिकांशमें दृश्य और इन्द्रियगोचर होता है। इतना होनेपर भी पुरुष यानी चिन्मय आत्मा सब विश्वमें व्यापक होनेके कारण प्रकृति-पुरुषका विवेक साधारण मनुष्योंके लिये दुर्विभाव्य और केवल विचारगम्य हो जाता है। जैसे सूर्यका बिम्ब तो प्रकृतिका वैभव है, परंतु उसका अधिष्ठाता देव चेतन पुरुष है। शास्त्रोंमें प्रकृति-पुरुषका बहुत गम्भीर और गहन विचार-विवेक किया गया है। ब्रह्म तथा माया, ईश्वर और उसकी शक्ति, पुरुष और स्त्री इत्यादिकी उपमाके

द्वारा या प्रतीकरूपमें उनका अनुभव करवाया गया है। इसके बाद विश्वदर्शनकी बहुत ही सुन्दर, व्यापक और तात्त्विक पद्धति गुण-विवेक है। उसको भी श्लोकार्द्धमें ही कहा है। प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रजः और तमः—ये प्रकृतिके विकृतरूप हैं और इसमें इनके समूहोंमें क्षोभ हुआ करता है —

एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः।

यह सारी सृष्टि विकारी है, त्रिगुणात्मक है और उन गुणोंमें क्षोभ—ऊर्मियाँ—उछाल न्यूनाधिक रूपमें हुआ करती हैं। ये सत्त्व, रजः और तमोगुणके चिह्न निम्न प्रकारसे हैं—

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
प्रकाश-ज्ञान	राग-तृष्णा	अज्ञान-मोह
सुख-शान्ति	कर्म-दुःख	प्रमाद-निद्रा
शम	काम	क्रोध
दम	इच्छा	लोभ
तितिक्षा	मद	अनृत
तप	तृष्णा	हिंसा
सत्य	स्तम्भ	याचना
दया	आशिष	दम्भ
स्मृति	इन्द्रियसुख	क्लम, थकान
तुष्टि	मदोत्साह	कलि-क्लेश
त्याग	यश	शोक-मोह
अस्पृहा	प्रीति	विषाद-दुःख
श्रद्धा	हास्य	निन्दा
लज्जा	वीर्य	आशा
दया	बल	भय
आत्मसंतोष	उद्यम	आलस्य

ये सारे लक्षण स्पष्ट दिखायी देने योग्य हैं और उसके द्वारा किस कोनेमें कौनसे गुण तीव्र या मृदुरूपमें यह भी दिखलायी दे सकता है। रज और तम इन दोनों गुणोंको सत्त्वगुणके द्वारा निगृहीत किया जा सकता है और मिश्र सत्त्व या मलिन सत्त्वको शुद्ध सत्त्वके द्वारा वशमें कर सकते हैं। सब पदार्थोंमें सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे वस्तुगत अथवा विकारगत भेद होते हैं। साहित्यमें, श्रद्धामें, ज्ञानमें, दृष्टिमें, बलमें, सौन्दर्यमें, सुखमें तथा मनुष्योंमें, प्रजामें, देश-काल आदि सबमें ये तीन प्रकारके भेद होते हैं और इनके द्वारा माप करनेसे सही माप हो सकता है तथा अटकल, अनुमान या आशा की जा सकती है।

पुरुषार्थ-दर्शन

अब पुरुषार्थ-दर्शनकी हमारी व्यवस्था देखिये। जीवनके चार पुरुषार्थ या चार प्रासव्य माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें धर्मका अर्थ है वह कर्तव्य जो स्वभावसे नियत हो तथा अपनी स्थितिमें धारण करके रखता है। उसके द्वारा मनुष्य अपने जीवनकी योग्य संसिद्धि प्राप्त करता है। दूसरा पुरुषार्थ है 'अर्थ' यानी जीवनकी आवश्यकताएँ; जिसके द्वारा जीवन-व्यवहार चलता है (धातु ऋ=गति करना) इसमें मनुष्यकी वृत्ति या रोजगार-धंधा या व्यवहारकार्य और समाज या राज्यके लिये राजनीति भी आ जाती है। व्यक्ति और समष्टि दोनोंके लिये यह आवश्यक माना जाता है। तीसरा पुरुषार्थ काम है अर्थात् कामना, इच्छा। इसके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—दारैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—यानी स्त्रीकी इच्छा, धनकी इच्छा और लोक-लोकान्तरमें प्रतिष्ठाकी इच्छा। इस विचारधारामें यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्ममें सत्त्वकी, अर्थमें रजोगुणकी और काममें तमोगुणकी प्रधानताका आना सम्भव है। धन या देशकी कामनासे मनुष्य अनेक प्रकारके दुराचारोंमें और प्रजा अनेक प्रकारके विग्रहोंमें फँस जाती है। सत्त्वादि गुणोंसे परे जानेकी, केवल परमात्मतत्त्वमें लीन हो जानेकी स्थिति सबसे उच्चतम और आनन्दमय तथा अमृतमय है, उसको प्राप्त करना चौथा अथवा अन्तिम या परम पुरुषार्थ है। उसका साधन चित्तशुद्धि, एकाग्रता और निदिध्यासन या निरन्तर ब्रह्मचिन्तन है। इन चार पुरुषार्थोंमें 'धर्म' प्रथम पुरुषार्थ है और 'मोक्ष' परम पुरुषार्थ है। बीचके दो पुरुषार्थोंकी व्यवस्था यह है कि 'अर्थ' ऐसा होना चाहिये जो धर्मसे अविरुद्ध हो और 'काम' ऐसा होना चाहिये जो मोक्षसे अविरुद्ध हो। इस प्रकार पुरुषार्थकी व्यवस्था है और यह किसी भी दूसरे समाजमें देखनेमें नहीं आती। अरिष्टाटल आदिने सबके लिये एक पुरुषार्थ—उत्कृष्ट प्रासव्य क्या है? यह खोजनेका प्रयत्न किया है, परंतु वह पीछे रह गये हैं। आधुनिक विचारकोंने काम, बल, राज्यसत्ता इत्यादिमें प्रासव्य स्थापन करनेका प्रयत्न किया है। परंतु वह सार्वजनिक या संतोषजनक नहीं हुआ है। इसका एक कारण यह है जैसा कि हमने पहले कहा है कि मनुष्योंमें तीन या चार प्रकृतियाँ होती हैं, उसके अनुसार—अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस और निर्गुण प्रकृतिके अनुसार—उनको क्रमशः धर्म, अर्थ, [illegible]

और मोक्ष प्रिय अथवा पर्याप्त लगता है तथा इसी कारणसे श्रद्धा, बुद्धि, ज्ञान, कर्ता, करण, कर्म, आहार, विहार, व्यवहार सबमें सात्त्विक, राजसी और तामसी विवेक श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित है।

समाजविभाग

पुनः इन तीन गुणोंकी विभिन्नताके कारण समाजके भी स्वभावसिद्ध चार वर्ण हो गये हैं। सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, सत्त्वरजःप्रधान क्षत्रिय, रजस्तमःप्रधान वैश्य और तमः-प्रधान शूद्र। जैसे वैद्यकविद्याविशारद सभी रोगियोंको एक ही दवा नहीं देता तथा सबको सब ओषधियाँ मिश्रित करके उनमेंसे एक-एक चुटकी नहीं बाँटता, बल्कि उनके गुण, दोष, व्याधि, प्रकृतिके अनुसार—अधिकारके अनुसार देता है। इसी प्रकार सनातन वैज्ञानिक वैदिक धर्ममें समाजकी भी स्वभावानुसार अधिकार-भेदसे यह वर्ण-विभागकी व्यवस्था की गयी है। पाठशालामें, सेनामें, नौकरीमें, राज्यमें, मिल और कारखानोंमें, जहाँ देखो वहाँ सर्वत्र विभागकी व्यवस्था देखनेमें आती है और जहाँ यथार्थ विभागका विचार नहीं होता, वहाँ उसे खिचड़ी, कूड़ा तथा सांकर्य नाम दिया जाता है। समाजकी योग्य व्यवस्थासे उसके आदर्श विशुद्ध रहते हैं, उसकी अभिवृद्धि निरन्तर नियतरूपसे होती रहती है, उसमें मनुष्य, प्रत्येक विभागके विशिष्ट गुणोंकी शिक्षा प्राप्त कर अपने-अपने विभागमें सर्वोत्कृष्ट बनकर समाजका नेतृत्व प्राप्त कर सकता है और समय-समयपर नाहक होनेवाले बलवे—विद्रोह और विग्रहसे रहित होकर समाज शान्तिसे जीवन बिताता है। इस प्रकारके समाजमें ही सैकड़ों राजा प्रजाके नामपर एक समय अपना राज्य छोड़ देते हैं, लाखों लोग अपनी लाखों एकड़ भूमि प्रजाके नामपर भूदानमें दे देते हैं और लाखों मनुष्य आजकी दुनियाके नास्तिक और स्वार्थी वातावरणमें भी धार्मिक जीवन और दैवी जीवनको ध्येय बनाकर उसका अनुसरण कर रहे हैं। ऐसी संस्कारिता और कर्तव्यपरायणता दुनियाकी किसी भी वर्णहीन प्रजाने या देशके इतिहासने अबतक बतलायी या दिखलायी नहीं है। ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य व्यवस्थासे धार्मिक न लड़नेवाला बड़ा वर्ग शान्तिप्रिय रहता है। क्षत्रियोंका लड़नेवाला वर्ग समाजकी रक्षा करता है और वह कहीं उच्छृङ्खल नहीं हो जाता। वैश्योंका केवल एक ही वर्ग धनप्राप्तिके पीछे लगा रहता है और इससे सारे समाज-में धार्मिकता प्रधान प्रेरणाके रूपमें व्याप्त हो जाती है। लड़नेवाला वर्ग और धन उत्पादन करनेवाला वर्ग दोनों ही संयमित, निगृहीत और परोपकारी रहते हैं तथा समाज स्वार्थियों, उपद्रवियों, क्रान्तिकारियों या दुष्ट लोगोंकी नेतागिरीसे तथा उनकी बेड़ियोंसे बचा रहता है। जब बस्ती बढ़ जाती है या विकृत हो जाती है, तब इस जन्म, गुण, कर्म और वृत्तिका अवलम्बन करनेवाले वर्णविभागमेंसे उपजातियोंके उपविभाग निकल पड़ते हैं, जिनमें रजवीर्यकी शुद्धिके नियमका अनुसरण करके अनुकूलता बनी रहे, इसलिये ज्ञात—जाने हुए मनुष्योंका समूह ज्ञाति या जातिके रूपमें फैलता है। वनस्पतिमें तथा स्वेदज, अण्डज, जरायुज आदि प्राणियोंमें एवं मनुष्योंमें ये विभाग जन्मभूमि या बीजसे निर्णीत होते हैं, इसलिये इनमें स्वाभाविकता तथा निश्चितता होनेसे अदला-बदली करने या मार-पीट करनेकी आवश्यकता या इच्छा नहीं रहती। प्रजा-के उद्योग-धंधोंका नियोजन, नियमन और संरक्षण इससे बहुत अच्छी तरह होता है एवं अनेक आर्थिक हानियोंसे प्रजा बच जाती है। इन सबमें स्वच्छन्दताको ध्येय मान लेनेसे इतनी अधिक अव्यवस्था बढ़ जाती है कि प्रजाको उसके परिणामस्वरूप आर्थिक डिक्टेटरशिपका परिणाम भोगना पड़ता है और 'लेने गयी पूत और खो आयी खसम' की कहावतके अनुसार बेचारी प्रजाको बड़ी हानि उठानी पड़ती है। जातियोंने अतिशक्तिशाली संस्कृतिप्रधान, और सदा जाग्रत् जनसमुदाय प्रकट किये हैं, यह सुविदित ही है।

दृष्ट सृष्टिके पाँच मुख्य तत्त्व

सृष्टिके पाँच मुख्य तत्त्व हैं, जिनको पाँच महाभूत कहते हैं—भूतका अर्थ है उत्पन्न हुआ। यानी ये अनादि या सनातन नहीं हैं, उत्पन्न हुए हैं और इस कारण इनका नाश भी होता है। ये पाँच महाभूत हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। इनमें एक दूसरेसे अधिक सूक्ष्म हैं। सबसे सूक्ष्म 'आकाश' है, इसका गुण 'शब्द' है। इसमेंसे विकार होनेपर 'वायु' हुआ, जिसका गुण, स्वभाव या लक्षण 'स्पर्श' है। शब्द आकाशका गुण है, वायुका नहीं, यह प्रतिदिन स्पष्ट होता जाता है। वायुको केवल स्पर्शसे जान सकते हैं, तथापि इसके पिता आकाशका गुण शब्द इसमें व्यापक है। इसी प्रकार वायुसे 'तेज' उत्पन्न हुआ, उसका गुण 'रूप' है। इसकी विशेष प्रतीति हमको सिनेमाका फिल्म देखते समय होती है कि जिसमें केवल तेजकी विविध

प्रकारकी दीप्तिसे सारा चित्र प्रसरित होता है। यह तैजस अथवा अग्नि काष्ठमें भी रहती है, इससे यह भी ज्ञात होता है कि उष्णताको अग्निका गुण समझना ठीक नहीं है। इसके बाद तेजसे 'जल' उत्पन्न हुआ, जिसका गुण 'रस' है। जलको 'अमृत' भी कहते हैं, यह प्रकट ही है। रस, स्नेह, पानी इत्यादि शब्दोंकी मीमांसा रसिकोंने बहुत की है, इसलिये यहाँ विस्तार करनेकी जरूरत नहीं है। इसके बाद जलसे 'पृथ्वी' या भूतत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसका गुण 'गन्ध' है। हमारी इस स्थूल पृथ्वीका 'गन्ध' गुण भी हमको वर्षा ऋतुमें, जब प्रथम जल-वृष्टि होती है अथवा जब नये मिट्टीके पात्रमें पहले-पहल जल भरा जाता है, तब भलीभाँति प्रत्यक्ष होता है। यह तो बहुत स्थूल गन्ध है। गन्धकी इन्द्रिय कुछ पशुओंमें अति तीव्र होती है, यह हम देखते ही हैं। इस प्रकार गन्ध आदि पाँच गुणोंवाले पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत हैं। यह विवेक इतना मौलिक समझा जाता है कि सभी शास्त्रीय ग्रन्थोंमें इसकी भलीभाँति विवेचना की गयी है। इन पञ्चभूतोंके पञ्चीकृत तथा अपञ्चीकृत स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म, अनेक स्वरूप हैं, जिनकी विस्तारपूर्वक आलोचना यहाँ नहीं करनी है। यह भूत-विभाग स्वाभाविक और स्पष्ट तथा वैज्ञानिक है। इसमें कार्यरूप महाभूतका कारणरूप महाभूतमें लय होता है और कारणके समस्त गुण कार्यरूप महाभूतमें आते हैं; ऐसा प्रकृतिसिद्ध नियम है। आधुनिक विज्ञान तो तत्त्वोंके निर्णयमें अभी चक्कर ही मार रहा है!

जीवका पञ्चकोषात्मक देह

आत्मा सर्वव्यापक, अविनाशी, अखण्ड, सनातन, परम सत्यरूप तत्त्व है। इसके ऊपर जैसे-जैसे उपाधिके स्तर चढ़ते हैं वैसे-ही-वैसे यह जीवभावको अधिकाधिक प्राप्त होता है। इन पाँच एकके ऊपर एक आनेवाले स्तरोंका विवेक नीचे लिखे अनुसार किया गया है। इन पाँच कोशोंके नाम हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, लिङ्ग देह, कारण देह और महाकारण देह। अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश, ये नाम भी उनको दिये गये हैं। इन सबका तत्त्व समझने और समझानेमें दो खास पहेलियों—समस्याओंको ध्यानमें रखना आवश्यक है। पहली बात यह है कि यह विश्व और इस विश्वके पदार्थ, कीट और अणुसे लेकर अनन्त ग्रह और तारोंतक, जिसे हम न्यूनाधिक ज्ञानसे प्रमेय मान लेते हैं, वस्तुतः अप्रमेय हैं। मनुष्य समझता है कि वह पदार्थोंको अपनी बुद्धिकी मुट्ठीमें ले सकता है, परंतु जैसे-जैसे वह अधिक समझता जाता है, वैसे-वैसे अज्ञेयताका प्रदेश विशाल बनता जाता है। पदार्थ, गुण और उसका इतिहास सबमें यह जगत् एक जादूगरके खेल-जैसा अप्रमेय है। वह सदसत् अनिर्वचनीय है, क्षण-परिणामी है, मानवकी परिमित अनादि और अनन्त है एवं इसके कायदे-कानून भी ही अप्रमेय हैं। चमकते हुए स्वर्णके शब्दमय पात्रसे सत्यको ढकनेका प्रयत्नमात्र करते हैं। जैसे, इस प्र मौलिक प्रश्नोंको देखिये—'बीज पहले हुआ या वृक्ष हुआ ?' 'अपने-आपको जान सकता है या दूसरेको सकता है ? या कोई-कोई दूसरेको जान ही नहीं सकता ?' भी पदार्थकी व्याख्या या शब्दका अर्थ दूसरी व्याख्या दूसरे शब्दार्थकी सहायताके बिना ठीक-ठीक बन सकता क्या ?' 'सर्वज्ञता बिना कोई व्याप्ति (Major Premise) हो सकती है क्या ? विश्वकी इस अप्रमेयताके कारण मनुष्य अपने प्रत्यक्ष या अनुमानके सारे निर्णयोंको वेद-जैसे ईश्वरीय ज्ञानकी कसौटीपर कस लेना चाहिये।

दूसरी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि यह शरीर विश्वरूप महाकायकी नन्हीं आवृत्ति है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'—यह इसका संक्षिप्त सिद्धान्त-सूत्र है। पिण्डसे जैसे इसका आत्मा पृथक् है, तथापि वह इसमें व्यापक है। उसी प्रकार विश्वमें भी उसका विश्वात्मा पृथक् होते हुए भी उसमें व्यापक है। जैसे शरीर दृश्य और आत्मा अदृश्य है, उसी प्रकार विश्व दृश्य है और विश्वात्मा अदृश्य है। जिस प्रकार इस देहकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डकी भी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। जैसे पञ्चमहाभूतोंसे यह देह बना है, वैसे ही विश्व भी पञ्चमहाभूतोंसे बना है। जैसे इस पिण्डके प्राण और स्वास्थ्यके नियम हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डके हैं। जैसे यह देह और जीव किसी-न-किसी क्रियामें रहते हैं, उसी प्रकार यह विश्व और विराट् भी अपनी क्रियामें सदा व्यावृत रहते हैं। जैसे यह देह त्रिगुणान्वित है, उसी प्रकार यह विश्व भी त्रिगुणान्वित है। जीवकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार विश्व विराट्की भी हैं। जैसे जीव अपनी अपने सारे जगत्को खड़ा कर देता है, उसी प्रकार विराट् भगवान् भी स्वेच्छासे अपनी मायाके द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डको इन्द्रजालके समान खड़ा कर देता है।

भेद केवल इतना ही है कि जीवकी नन्हीं उपाधिके कारण उसके ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और विरति परिमित या अल्प होते हैं और विराट्के असीम होते हैं। अब इस देहके तत्त्वोंको देखिये। इस देहके अन्नमय कोषके मुख्य तत्त्व महत्तत्त्व, पञ्च महाभूत; पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ गिनी जाती हैं। प्राणमय कोषके तत्त्व पञ्च प्राण अथवा दस प्राण गिने जाते हैं। मनोमय कोषका मुख्य तत्त्व मन; विज्ञानमय कोषका मुख्य तत्त्व बुद्धि तथा आनन्दमय कोषका अधिष्ठान स्वयं आत्मा है।

विचार-विवेकके तीन काण्ड

पशुसे मनुष्यमें विशेषता है उसके विवेक-विचार करनेकी शक्तिको लेकर। अब यह देखना है कि विवेक-विचारके विषय कौन-से हैं। वे विषय शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे तीन हैं, ऐसा कहा जा सकता है—(१) अपना कर्तव्य क्या है? (२) अपना उपासितव्य क्या है? (३) और अपना ज्ञातव्य क्या है? अर्थात् सत्य क्या है, प्राप्तव्य क्या है और कार्य क्या है ? इन तीनोंके लिये कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें विचार किया गया है। इन तीनों काण्डोंमें समझनेकी बात यह है कि इनकी व्यवस्था कर्ता, काल, देश, क्रिया, करण आदिके साथ सापेक्षता रखती है। इस प्रकार इन सबमें तामसकी अपेक्षा राजस, राजसकी अपेक्षा सत्त्व और सत्त्वमें भी अधिक शुद्ध सत्त्व गुणवाले पदार्थोंमें निष्ठा जितनी बढ़े उतनी ही अच्छी है। जैसे मदिरापान, परस्त्रीगमन इत्यादि तमोगुणी क्रियाएँ हैं; परिश्रम करके कमाना, भोगोंको भोगना आदि रजोगुणी क्रियाएँ हैं; और प्रभुका भजन करना, दान देना, पवित्रता रखना, व्रतादि करना—ये सात्त्विकी क्रियाएँ हैं। धर्म सर्वदा मनुष्यको कर्ममें सात्त्विकताकी ओर ले जाता है। उपासनामें भी तमोगुणवाले भूत-प्रेतादि अथवा पञ्चमहाभूतोंकी उपासना करते हैं। रजोगुणवाले विविध देवताओंकी उपासना करते हैं और सत्त्वगुणवाले एक अखण्ड चिद्घन परमात्माकी उपासना करते हैं। ज्ञानकाण्डमें भी सर्वव्यापक परम-तत्त्व, जो परमात्मा है, उसका ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है। विविध पदार्थोंके वैविध्यकी भिन्नताका जो ज्ञान है, वह राजस ज्ञान है और उचित विचार बिना किये, किसी कार्यके लिये माना हुआ जो अयथार्थ क्षुद्र ज्ञान है, वह तामस ज्ञान कहलाता है। तामस ज्ञान बहुधा भ्रमात्मक ज्ञान होता है। राजस ज्ञान एकदेशी, सापेक्ष और परिवर्तनशील होता है। इसलिये सात्त्विक ज्ञान नित्य अथवा सनातन है, राजसी ज्ञान तात्कालिक या कामचलाऊ है और तामसी ज्ञान विपरीत अर्थात् रज्जुमें कल्पित सर्पके समान है।

उपासनाके प्रकार

उपासनाका अर्थ पास बैठना या पास जाना अथवा प्राप्त करना है। उपासना यानी भक्ति—किसी भी तत्त्वकी। इसके भी तीन प्रकार हैं—सात्त्विक, राजसी और तामसी। उपास्य, उपासक और उपासनाकी क्रिया; इन तीनोंमें ये प्रकार हो सकते हैं। उपास्य, उपासक और उपासना—इन तीनोंका ऐक्य ही उपासनाकी पराकाष्ठा है। किंतु कर्म, उपासना और ज्ञानमें एक दूसरा प्रकार भी माना जाता है। जो शुद्ध सात्त्विक हो उसको निर्गुण भी कहा जाता है, परंतु केवल सात्त्विकरूपमें वह सात्त्विक गिना जाता है। एक परमात्म-तत्त्वकी निर्गुणरूपमें अथवा उसके लिङ्गादि आयतनके रूपमें अथवा श्रीराम-कृष्णादि स्वरूपमें उपासना करना सात्त्विक उपासना है। उसकी देवादि, ब्राह्मणादि, कुमारिका, गौ, तुलसी, भूमि आदि विभूतियोंके रूपमें उपासना करना राजसी उपासना है तथा भूत-प्रेत, पञ्च महाभूतोंके तामसी रूप, दुष्टजन आदिके द्वारा उपासना करना तामसी उपासना कहलाती है। वस्तुतः ऐसा भी कहा जा सकता है कि समस्त जगत् परम तत्त्वकी ही उपासना महाविभूतियोंके द्वारा, सद्विभूतियोंके द्वारा अथवा दुर्विभूतियों-के द्वारा यानी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट विभूतियोंके द्वारा कर रहा है; क्योंकि तत्त्वतः इसके बिना दूसरा है ही कहाँ, जिसका यह सहारा ले सके ? और इसी कारण सब अपनी-अपनी तानमें गलतान रहते हैं और ज्ञानी-पण्डित इसको अपनी श्रद्धासे निकाल देनेके लिये यत्नशील नहीं होते, केवल इनमें परमात्म-बुद्धि करवा देते हैं। वस्तुतः जैसी उपासना होती है, वैसी ही उसके फलकी प्रतिक्रिया कर्त्ताके ऊपर दिखलायी देती है—होती है और वह भेद व्यक्तिको—कर्त्ताको अपना प्रभाव दिखलाता है। इसलिये शुभ फलकी इच्छा रखनेवाले सात्त्विकताको कर्म, उपासना और ज्ञानमें साधते हैं और इसी कारण ज्ञानीकी अवधूतावस्थामें इन सबके फलकी भी अपेक्षा नहीं होती है और इन सारे विधि-निषेधके निर्बन्ध भी छूट जाते हैं। पण्डितोंकी समदृष्टिका यह रहस्य समझनेके साथ ही अधिकार-भेदकी व्यवस्था सहज ही समझमें आ जाती है। ज्ञानी इस जगत्की क्रीड़ाको परमात्माकी मायाके रूपमें, ईश्वरकी लीलाके रूपमें, सत्त्वादि गुणोंकी उठती हुई तरङ्गोंके महासागरके रूपमें देखता है।

(शेष आगे)

अघ-अर्दन

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २६)

अघ-पापके मुखमें अनन्तकालसे प्राणी स्वतः प्रविष्ट हो रहे हैं । वे प्रविष्ट होते हैं क्रीड़ाके लिये—सुखबुद्धिसे । पच जाते हैं वहाँ । नष्ट हो जाते हैं ।

असुर अघने कितनोंको भ्रान्त किया, कितनोंको पचाया, कोई गणना नहीं ।

श्रीकृष्णके सखा—उनके जन भी उसके मुखमें पहुँच गये । नवीन बात थी उस दिन—उन्होंने श्यामसुन्दरसे पूछा नहीं, उसे साथ नहीं लिया, बुलाया भी नहीं—उससे पृथक् आमोद-क्रीड़ा करने चले !

'कुपथं तद् विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम् ।'

गोविन्दसे रहित हुए और अघके उदरमें गये । 'अमृषा मृषायते ।' जो असत्य है, उसे सत्य, और जो सत्य है, उसे असत्य—अघकी—अघरूप इस संसारकी यही तो माया है । इसके परम दुःखद, महाभीषण रूपको रोचक, सुखद मानकर ही तो सब इसके दुर्गन्धपूरित मुख-विवरमें प्रविष्ट होते हैं । प्रविष्ट हुए वे बालक भी; पर वे उन अनन्त जीवोंमेंसे नहीं थे जिन्हें अघने पचा लिया था । श्रीकृष्णके जन थे वे—संदेह हुआ, आशङ्का थी; पर 'कन्हैया जो है !'

'तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति' इसने नष्ट करना ही चाहा तो श्याम इसे बककी भाँति मार डालेगा !' यह विश्वास था वहाँ । गये भी थे वे अपने सखाका मुख देखते हुए ही ।

अघने मारा नहीं उन्हें—वह श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा कर रहा था । श्रीकृष्ण—उनकी विस्मृतिके बिना उनके जनोंको अघ पचा सकता ही नहीं ।

श्याम—जहाँ उसके सखा—उसके जन, वहाँ वह । उसे छोड़कर उसके सखा अघके उदरमें चले गये—क्रीड़ा-बुद्धिने उन्हें उससे दूर अघके अन्तरमें पहुँचा दिया—तब उसे भी वहीं होना ही चाहिये । सखाओंने नहीं बुलाया तो वह स्वयं जायगा ।

श्रीकृष्णके सखा-जन भी क्रीड़ा-बुद्धिसे अघके अन्तर जाते तो हैं—जाते हैं तब श्यामसे दूर होकर ही जाते हैं—भ्रान्तिवश ही जाते हैं । पर अपने नित्य सखाकी ओर देखते हुए जाते हैं ।

वहाँ—अघके अन्तरमें पहुँचकर—वहाँ तो मूर्छित होना ही है । वहाँ स्मृति—चेतना रह नहीं जाती । मूर्छित हो जाते हैं ।

श्याम जो सजग रहता है उनके लिये । वह स्वयं आता है । अघके मुखमें ही वे श्रीकृष्णका सांनिध्य पाते हैं । उन्होंने पुकारा नहीं—मूर्छित थे वे तो ! श्रीकृष्ण आये—वे ही आते हैं ।

'अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः' यह क्या अघ रह जायगा जहाँ श्यामसुन्दर पहुँच जाय ! वह अघ—सायुज्य प्राप्त हो गया उसे !

सखाओंने प्रायश्चित्त किया ? शुद्ध हुए !

किस लिये ? वे जहाँ गये, वह अघ तो अघ रहा नहीं । औरोंके लिये ही अघ था वह । जिनके लिये अघ था, उन्हें पचा जाता था । वे प्रायश्चित्त करते निकल नहीं पाते थे । जिन्हें वह पचा न सका—उनके लिये सदाको क्रीड़ागह्वर हो गया ।

श्रीकृष्णके सखाओंने जिसे क्रीड़ागह्वर समझा—उन्हें उनका क्रीड़ागह्वर ही बनना होगा ! वह अघ है—रहे; विनोद श्रीश्यामसुन्दरके सखा चाहते हैं, वह तो उन्हें होगा ! वह भी उसी रूपमें । वह अघ नहीं—क्रीड़ा विनोदमात्र रहेगा । उसका विष—उसकी पतनकारिणी शक्ति नष्ट होगी; क्योंकि कन्हैयाके जन सुखबुद्धिसे जब उसमें गये तो कन्हैया भी तो आयेगा वहाँ !

नित्य ही वह नटनागर अपने सुहृदोंके लिये अघ-को प्राणहीन क्रीड़ागह्वर बनाया करता है !

अघ—जो उस बकारिका मुख देखते नहीं प्रविष्ट होते, उन्हींको पचा पाता है ।

बक-पाखण्डको जिसने चीर फेंका, उसके सखाओंको उसी बकका छोटा भाई अघ पचा लेगा ? आकर्षित हो मात्र उसके वशमें है और तब वह मरता ही है ।

बहुत पहले—द्वापरमें ही अपने सखाओंके लिये श्यामने अघको मार डाला। अमूर्त—आध्यात्मिक जगत्में नहीं—मूर्त जगत्में! श्रीवृन्दावनधाममें!

× × × ×

आज श्यामसुन्दर अरुणोदयसे पूर्व ही जग गया। सायङ्काल ही उसने मैयाको बार-बार सावधान किया था कि कल बड़े प्रातः बछड़ोंको ले जाना है। उसके छीकेमें खूब-सा मक्खन, बड़ी मोटी रोटी, मिश्री—सब अभी रात्रिमें ही रख दी जाय। कई बार उसने मैयाको स्मरण कराया, कई बार पूछा कि छीका ठीक हो गया या नहीं। कभी सब वस्तुएँ जो छीकेमें रखनी होतीं, गिना देता और थोड़ी देरमें स्मरण करके कहता—'मैया! उसमें नमक भी रखना, मूली भी।' पता नहीं क्या-क्या बताया। बड़ी कठिनतासे मैया मना सकी उसे कि रोटी और मक्खन वह रात्रिके पिछले प्रहरमें बनाकर ताजे रख देगी। अभी रखनेसे वे बासी हो जायँगे। 'भूल जाय तू तो? देर हो जायगी!' माताको बहुत हँसी आती थी, फिर भी उसने विश्वास दिला दिया कि वह भूलेगी नहीं।

अबतक बछड़े पास ही चरते थे व्रजके। बालक कलेऊ करके जाया करते थे घरोंसे और मध्याह्नका भोजन वे घरपर आकर कर जाते थे। कल सबने परस्पर निश्चय किया कि अगले दिन थोड़ी दूर श्रीयमुनाजीके तटपर जहाँ खूब पुष्प खिले हैं, बछड़ोंको ले जायँगे। वनमें ही मध्याह्नके लिये भोजन-सामग्री लायेंगे। संध्याको घरोंको लौटेंगे। सबने अपने घरोंपर जाकर माताओंसे यह बता दिया।

बाबाने सरलतासे तो आज्ञा दे दी, पर मैया मानती नहीं थी। श्यामसुन्दर दिनभर वनमें रहेगा! यह बड़ी दुःखद एवं आशङ्कापूर्ण कल्पना है। 'कल तो दाऊ भी साथ नहीं रहेगा! उसके करोंसे गोदान कराना है ब्राह्मणोंको। उसका जन्मनक्षत्र है कल।' परंतु कन्हैया तो हठी है। वह सखाओंके साथ वन-भोजनका निश्चय कर आया है। अपनी बात छोड़ना जानता नहीं। उसके मनको दुःख भी नहीं होना चाहिये। समझानेका प्रयत्न सफल होते न देखकर मैयाने किसी प्रकार स्वीकृति दे दी है।

'मेरा छीका भर गया क्या?' सम्भवतः उल्लासमें श्रीकृष्ण सोया ही नहीं। आशङ्काके लिये कोई कारण नहीं था। मैया स्वयं अनेक पक्वान्न बनानेमें लगी थी। जब भी कन्हैयाने पूछा, उसे उत्तर मिला—'तू तनिक नींद तो ले ले! अभी तो बहुत रात्रि है!' इतनेपर भी वह अँधेरा रहते ही उठ बैठा। और दिनों मुख धोने, कलेऊ करने, सबके लिये मैयाको आग्रह करना पड़ता था; परंतु आज तो बात ही दूसरी है। आज शीघ्रता श्यामको है। 'मेरा पटुका? मेरा लकुट कौन ले गया? दाऊ भैया पता नहीं कहाँ रख आता है रोज ऐसे!' कलेऊ भी थोड़ा ही किया उसने।

'भद्रको आने दे, बाबाके पाससे; छीका वह ले जायगा!' माताने छीकेमें अनेक पदार्थ सजाये हैं। वह बहुत भारी है; परंतु कन्हैया मानता कहाँ है। उसने बायें कंधेपर लटका लिया उसे। कटिकी कछनीमें मुरली लगायी, दाहिने हाथमें वेत्र—लकुट लिया और बायेंमें शृङ्ग।

'बहुत दूर मत जाना! सखाओंके साथ ही रहना! बछड़े भाग भी जायँ तो उनके पीछे दौड़नेकी आवश्यकता नहीं, वे घर चले आयेंगे! यमुनाजीमें स्नान करने या जल पीने मत जाना!' मैया पता नहीं कितनी चेतावनी देती, परंतु श्याम तो हँसता हुआ द्वारसे बाहर हो गया।

'धूतू, धूतू, धू, धू,' गोपबालक चौंककर अपने-अपने छीके उठाने लगे। 'यह तो कन्हैयाका शृङ्गनाद है!' नित्य तो सब अपने घरोंसे बाबाके द्वारपर प्रस्तुत होकर आ जाते हैं, तब कहीं आप सोकर उठते हैं, धीरे-धीरे मैयाकी मनुहारसे मुख-हाथ धोकर कलेऊ करते हैं। मैया सखाओंको भी विवश करती है दुबारा श्यामके सङ्ग कलेऊ करनेके लिये। इस प्रकार घड़ी-दो-घड़ीमें तो निकल पाते हैं और आज......आज सबको स्वयं बुलाने लगे हैं, इतना शीघ्र! भद्र चुपके दाऊके पास माता रोहिणीके समीप आ गया था—वह आज दाऊका छीका ले जायगा।

उत्सुकता सबको है। सभी कुछ शीघ्र उठे हैं। सबके छीके विविध व्यञ्जनोंसे भरे हैं। व्रजमें रात्रिभर घर-घर कड़ाहियाँ छनन-मनन करती रही हैं। माताओंने बालकोंको कलेऊ करा दिया है। मुक्ता एवं गुञ्जाकी माला, स्वर्णाभरण, मणिजटित कुण्डल, केयूर, दर्पणजटित अङ्गद प्रभृति आभूषणोंसे सब भूषित किये गये हैं। सब प्रथम निकलनेके प्रयत्नमें थे—परंतु आज बाजी कन्हैयाने मार ली। वह शृङ्ग बजाकर सबको बुला रहा है, इतने जोर-जोरसे शृङ्ग बजा रहा है, जैसे समझ लिया कि अभी सब सो रहे हैं, उन्हें जगाना है।

मयूरमुकुट मन्द-मन्द वायुमें हिल रहा है, दोनों कर्णोंके पद्मराग-कुण्डल कपोलोंमें प्रतिबिम्बित होकर झलमला रहे हैं, भाल गोरोचनकी पीताभ खौरसे ऐसा हो गया है जैसे नील जलदपर भास्करकी रश्मियाँ और भ्रुकुटियोंसे ऊपर सीधमें कुङ्कुमतिलकके मध्य मैयाने कस्तूरिकाका कृष्णबिन्दु रख दिया है, भ्रमरशिशु परागपटलपर बिखरे दो पाटलदलोंके मध्य आ बैठा हो जैसे। नेत्र कुछ ऊर्ध्वोत्थित हैं और चञ्चलतासे इधर-उधर देख भी लेता है। अधरोंमें वही टेढ़ा शृङ्ग लगा है। वनमाला, मुक्तामाल, कङ्कण, अङ्गद आदि आभूषणोंकी चर्चा कौन करे। मैयाने आज अपने श्यामको खूब सजाया है।

सहस्रों उज्ज्वल, लाल, काले, पीताभ, कर्बुर, चित्र-विचित्र वर्णवाले चञ्चल, सुपुष्ट बछड़े सम्मुख चल रहे हैं। वे चञ्चल कूदते हैं, दौड़ते हैं और फिर पीछे मुख करके अपने अलौकिक चरवाहेकी ओर देखने लगते हैं। उसे सूँघकर फिर कूदते हैं। गलियोंसे, गृहोंसे बछड़ोंके यूथ-के-यूथ दौड़ते चले आ रहे हैं। यह मुख्य यूथ बढ़ता ही जा रहा है। बछड़ोंके समूहोंके पीछे उनके चरवाहे भी दौड़ते आते हैं। अन्ततः वे बछड़ोंके बराबर तो दौड़ नहीं सकते। बछड़े अपने दलमें और चारक अपने दलमें बढ़ रहे हैं। शृङ्ग बजता ही जा रहा है। प्रत्येक सखाके आते ही श्याम उसकी ओर देखता है। उसकी दृष्टिमें उल्लास है। वे नेत्र मानो कहते हों 'क्या करूँ, तुम नहीं आये तो मैंने बुलाया! अभी और तुमसे भी आलसी हैं, उन्हींको बुलानेके लिये बजा रहा हूँ इसे!'

'अच्छा, आज तनिक शीघ्र उठ गये तो यह रंग।' सखाओंके नेत्र उत्तर देते जा रहे हैं। वे हँसते हैं खुलकर। 'शृङ्गनाद बज रहा है! प्रबुद्ध कर रहा है! श्यामसुन्दर बुला रहा है! कितने आलसी हैं जो नहीं सुनते, नहीं जागते, नहीं दौड़ते, क्या करे वह!' परंतु व्रजमें कोई आलसी नहीं। अट्टालिकाएँ भर उठी हैं। मार्गके दोनों ओर पुरुष एवं वृद्धाएँ खड़ी हो गयी हैं। श्याम आज मध्याह्नमें नहीं लौटेगा। पूरे दिनभर उसके दर्शनोंसे नेत्र दूर रहेंगे। एक बार देख लेनेकी लालसा सबको खींच लायी है।

शृङ्ग बज रहा है, बछड़े उछल रहे हैं, गोपबालक दौड़ते आ रहे हैं। कंधोंपर छींके, हाथोंमें वेत्रदण्ड—स्नेहमय गोपबालक। मन्द गतिसे बछड़ोंको आगे करके कन्हैया चला जा रहा है राजपथसे। ऊपरसे पुष्प फेंके जा रहे हैं उस समूहपर—लाजा, अक्षत और दूर्वा भी। गृहिणियाँ आशीर्वाद दे रही हैं। विप्रवर्ग स्वस्तिवाचन कर रहे हैं। अधिकांश नेत्र बाष्परुद्ध किये अपलक हैं।

ऊपर—अट्टालिकाओंके ऊपर कूदता कपिदल किलकता जा रहा है। पक्षियोंके लिये जैसे उड़नेको कहीं स्थान ही न हो। उनके पक्षकी छायाने पूरे मार्गपर छत्र लगा रक्खा है और वन-सीमान्त अपने अनन्त नेत्रोंसे प्रतीक्षा कर रहा है इस अद्भुत अतिथिकी। पूरे वनके सीमान्तपर आकर मुख उठाये ग्राम-मार्गकी ओर देख रहे मयूरोंने पंख फैलाकर नाचना प्रारम्भ कर दिया, कुरङ्गोंने फुदक-फुदककर संवाद सुना आया, मृगोंने दीर्घ दृगोंसे आलोक सजाया, मुखसे मृगराजने गूंज दी, कीर एवं कोकिलोंके कण्ठोंसे स्वागत-गान निकला—वनश्रीका अधिष्ठाता प्रवेश कर रहा है।

× × ×

बछड़ोंकी गणना है कोई—कन्हैयाने अपने बछड़ोंका यूथ पृथक् किया—सबने अपने-अपने बछड़े पृथक् करने चाहे! भला, चञ्चल बछड़े क्या भेड़ हैं जो एकत्र रहें। अन्ततः सबको एक कर देना ठीक जान पड़ा। बड़ा विशाल है यह वत्स-यूथ। चरना किसे है—बछड़ोंने तो भरपेट पिया है माताओंका। गोपगण जानते हैं कि बछड़े आवश्यकतासे कुछ अधिक दूध पिलानेसे वे कम कूदेंगे और वनमें बालकोंको कष्ट न देंगे। बछड़े परस्पर खेलते, चरवाहोंके साथ उछलते रहते हैं। कन्हैयासे दूर जाना उनके स्वभावमें नहीं है।

बालकोंने देखा लाल-लाल गोल-गोल विम्बाफल, पीले सुचिक्कण कटेरीके फल, उज्ज्वल घुँघची, मञ्जिकाफल बड़े सुन्दर लगते हैं। किसीने उन्हें कङ्कणमें बाँधा और किसीने अङ्गदमें लटकाया। कन्हैयाके कुण्डलोंके पद्मरागमणि विम्बाफलोंसे द्विगुण हो गये। दूसरेके कानोंपर आमके लाल-लाल किसलय उन्होंने रख दिये और लवङ्ग-लतिका, दन्तिका, माधवीके गुच्छोंसे सजाने लगे अपने आपको। अलकोंमें रंग-बिरंगे पुष्प ग्रथित हुए। कन्हैयाने मयूर-पिच्छ धारण किया है तो दूसरे शुक, नीलकण्ठ एवं हंसोंके पिच्छ धारण करके चित्र-विचित्र शोभावाले हो गये।

'मैं तेरी भुजापर कपोत बनाऊँगा !' एक छोटा-सा गोप-बालक दुग्धोज्ज्वल मृत्तिका ले आया और उसने श्रीकृष्णकी दक्षिण भुजा अपनी गोदमें रख ली।

'तेरे कपोतके चोंच और पद मैं रँग देता हूँ।' दूसरा गेरू लेकर वाम बाहुपर कुछ बनाते उसे छोड़कर दक्षिण बाहुके समीप आया। 'तू मेरे खञ्जनपर थोड़ी उज्ज्वल रेखाएँ तो खींच दे !'

'कनूँ, देख मैंने कितना बड़ा बंदर बनाया !' दोनों मधुमङ्गलके हाथ पकड़ लिये हैं और एकने उसके पेटपर रामरजसे बड़ा-सा पीला कपि चित्रित कर दिया है। सब किसी-न-किसीकी पीठ, पेट, भुजा, वक्षपर अपनी कला प्रदर्शित कर देना चाहते हैं। श्यामसुन्दर तो पूरा चित्रमन्दिर बन गया इस उद्योगमें।

'मेरा छीका क्या हुआ ?' श्रीदामने देखा, किसीने उसे कहीं खिसका दिया है ! 'कन्हैया ! यह परिहास अच्छा नहीं, तू छीका दे दे, भला !' यही नटखट सदा उसके पीछे पड़ा रहता है।

'मैं यहीं तो बैठा हूँ !' जैसे आपको कुछ पता नहीं।

'हूँ, तू अपना छीका उठा तो सही !' श्रीदामने बहुत ढूँढ़-ढाँढ़के पश्चात् देखा कि सुबलके कंधेपर उसका छीका बहुत मोटा दीखता है।

'पूरे ऊधमी हो तुम सब !' श्रीदाम इधर-से-उधर कहाँ-तक दौड़े। सुबलने पता लगते ही छीका दूसरेको दे दिया। उसके पीछे भागे तो उसने तीसरेको दिया। सब हँस रहे हैं ऊपरसे। अन्तमें झल्ला उठा वह।

'ले ! रो मत !' पास लाकर देनेका नाट्य करके भी सब दे नहीं रहे हैं। बड़ी कठिनतासे वह एकको पकड़ पाया। कदाचित् शान्ति देखकर देनेके लिये ही वह पकड़में आ गया। इस दौड़-धूपमें कइयोंके छीके, वेत्र, पटुके लुप्त हो गये। वही अन्वेषण, दौड़-धूप, उन्मुक्त हास्य।

'मैं छूऊँगा !' एक दौड़ा !

'छू चुका तू !' दूसरेकी गति उससे तीव्र है।

—और सब-के-सब दौड़ रहे हैं। कहाँ ? वह श्यामसुन्दर अपराजिताके गुच्छे देखने चला गया है न—बस, उसीके पास।

'कनूँ, देख ! मैं तेरे-जैसी वंशी बजा लेता हूँ न ?' एक सखाने मुरलिकाके छिद्रोंपर अँगुली रक्खी।

'रहने दे अपनी पें-पें !' दूसरेने शृङ्ग मुखसे लगाया और 'धूतू-धू' करके कानन गुञ्जित कर दिया।

एक छोटा गोपबालक भौंरोंके साथ 'गुन-गुन' कर रहा है। दूसरेने 'कुहू, कुहू' करके कोकिलको चिढ़ाना प्रारम्भ किया। पक्षी उड़ रहे हैं। बालक उनकी छायापर दौड़ते चले जाते हैं। एक हंसके साथ धीरे-धीरे चरणक्षेप करता चलनेका नाट्य कर रहा है और एक-दो बगुलोंके साथ एक पैरपर स्थिर बैठनेका अभिनय करनेमें लगे हैं।

'ताथेइ, ताथेइ, ता-ता थेइ, थेई' श्यामसुन्दर मयूरके साथ चारों ओर मुख घुमा-घुमाकर नाचनेमें लगा है। कुछ सखा ताल दे रहे हैं। एकने एक बंदरके बच्चेको पकड़ लिया है। एक-दो बालक बाल-कपियोंको पकड़नेके लिये उनके साथ पेड़ोंपर चढ़ रहे हैं। बंदरिया दाँत दिखला रही है और वे भी दाँत दिखाकर उसे चिढ़ा रहे हैं। बंदरोंके साथ कुछ कूदनेमें लगे हैं।

कुछ मेढकोंके साथ बैठकर कूद रहे हैं, कुछने स्नान करना प्रारम्भ कर दिया और कोई बड़े जोरसे हँस रहे हैं। गिरिराजसे उस हास्यकी प्रतिध्वनि आती है और वे फिर हँसते हैं। कुछने प्राप्त ध्वनिको पाजी, उजड्डु, नटखट, भीरु, ऊधमी बनाया। सब खेलनेमें लगे हैं। आनन्द-क्रीड़ा—निश्चल हास्य !

बछड़े, मयूर, मेंढक, हंस, कपि, भ्रमर, पुष्प, बगुले—यहाँतक कि जड पर्वततक उनके सहचर हो गये हैं। श्रीकृष्ण उनमें क्रीड़ा कर रहा है और सब सचराचर क्रीड़ामय है उनके लिये। उनकी क्रीड़ाके ही लिये सम्पूर्ण प्रकृति-सम्भार है।

× × ×

आज पहली बार कन्हैया वनभोजन करने आया है। पहली ही बार दाऊके बिना वह वनमें आया और पहली ही बार इतनी दूर आया। पहली बार कंसने देखा भी अपने उस महाकालको। वृन्दावनसे गोप-बालक दूर आ गये हैं कुछ। मथुरा-नरेश अपने पार्षदोंके साथ आखेट करने आये थे। बछड़ोंका शब्द, वेणुरव, शृङ्गनाद, बच्चोंकी किलकारियाँ और प्रतिध्वनिको पुकार-पुकारकर डाँटना उन्होंने सुना। हृदय काँप गया। इस प्रकार अकस्मात् श्रीकृष्णके सम्मुख होनेको वे प्रस्तुत नहीं थे; फिर इस खुले काननमें ? परंतु अपना भाव उन्होंने प्रकट नहीं होने दिया। बालकमण्डली गिरिराजके पादप्रान्तमें है, शिखरपर ऊँचाईसे अपनेको

तरु-लताओंके ओटमें करके कंसराज अपने दलके साथ इनकी क्रीड़ा देख रहे थे ।

'कैसे उछल-कूद रहे हैं ! एक श्वासमें ही सबको खींचकर निगल जाऊँ ।' अघासुरने धीरे-धीरे अपने-आप कहा । उसकी अङ्गार-सी दृष्टि नीचे लगी थी । यह क्रीड़ा उसे असह्य लग रही थी । दूसरोंका सुख यों ही कलुषित-प्रकृति लोगोंको असह्य होता है, फिर वह तो सर्प ठहरा ।

'यदि तुम ऐसा कर सको ! मैं बड़ा प्रसन्न होऊँगा ।' कंसने उस अजगरकी फुसफुसाहट सुन ली । 'जाओ, सबको उदरस्थ कर लो ! देखो, सावधान रहना, वह काला लड़का कहीं छिटककर भाग न जाय !' अघको आदेश मिला । वह सरकता हुआ पर्वतशिखरसे उतरा । घनी झाड़ियोंमेंसे खिसककर बालकोंकी दृष्टि बचाता उनके मार्गमें मुख फाड़कर शान्त पड़ रहा । जैसे उसमें प्राण ही न हों, निष्कम्प—निश्चल ।

'हे प्रभु !' आकाशमें विमानोंकी पंक्तियाँ लगी हैं । देवता श्यामसुन्दरकी मनोरम क्रीड़ा देखनेमें तन्मय हो रहे थे । सहसा दृष्टि उस अजगरपर गयी । एक पलमें सबने भयपूर्वक उस सर्पाकार महादैत्यको देखा । उनके विमान और ऊपर—ऊपर चले गये । 'इन बछड़ों और बचोंसे तो उसका उदर भरना है नहीं । कौन जाने ऊपर मुख करके श्वास खींच ले ! अमृत पीकर अमर होना क्या अर्थ रक्खेगा उसके उदरकी जठराग्निमें !'

'यह काला लड़का—इसीने मेरी बड़ी बहिन पूतनाको मारा और मेरे बड़े भाई बकको भी चीर डाला है !' अघासुर पड़ा-पड़ा सोच रहा था । 'मैं आज इसे और इसके सब साथियोंको निगल जाऊँगा । मेरे बन्धु जहाँ गये, वहीं इन सबको भी भेज दूँगा । इन लड़कोंके न रहनेपर व्रजवासी स्वयं मृतप्राय हो जायँगे । महाराजको उनके मारनेमें कोई प्रयास न होगा !'

असुर बछड़ों और बालकोंकी ओर एकटक देख रहा था । वे खेलते, कूदते, उछलते धीरे-धीरे उसीकी ओर बढ़े आ रहे हैं । पर्वतसे कंसका दल और नभसे देववर्ग उत्सुकता, आशङ्कासे वहीं दृष्टि लगाये हैं ।

'अरे, यह क्या है ? बड़ी अद्भुत गुहा है यह तो !' भद्रकी दृष्टि पड़ी अजगरपर । वही सबसे आगे है । उसने दूसरोंको पुकारकर बताया । कन्हैया पीछे है । वह [कन्हैया]के साथ नाचनेमें तन्मय हो रहा है । शेष सब बालक दौड़ आये । बछड़े आगे ही हैं । वे पता नहीं क्यों ठिठक गये हैं ।

'हम सब कभी इधर आये ही नहीं । वृन्दावनमें यह कितनी सुन्दर गुफा है !' समीप खड़े होकर वे ध्यानसे देखने लगे हैं ।

'ठीक ऐसी है, जैसे किसी अजगरका मुख हो !' सुभद्रने कल्पना दौड़ायी ।

'सच—हूबहू अजगरके मुख-जैसी !' सुबलने कल्पनाको पूरा रूपक बना दिया । 'वह गैरिक भाग ऊपरका उसपर सूर्यकी किरणें पड़कर चमक रही हैं, जैसे वह ऊपरका ओष्ठ हो । उसीका प्रतिबिम्ब पड़नेसे यह नीचेका भाग लाल होकर नीचेका ओष्ठ बन गया है । दाहिने-बायें काले पाषाण गैरिक स्तरमें निकल आये हैं और उनमेंसे जल मन्द-मन्द स्रवित हो रहा है, जैसे लाला-लिप्त सर्पके दोनों जबड़े हों । ये उज्ज्वल-उज्ज्वल नुकीले पाषाण-शिखर दाँतोंकी भाँति लटक रहे हैं और यह खुरदरा चौड़ा द्विधा मार्ग जो इसमें जा रहा है, ऐसा लगता है जैसे सर्पकी बीचसे फटी जिह्वा हो । ऊपर दोनों गुफाओंसे लाल-लाल ज्योति निकल रही है, वे अजगरके नेत्रोंके समान जान पड़ती हैं, अवश्य भीतर दावाग्नि लगी है । वही उन गुफाओंसे दीख रही है ।'

'सर्पके श्वासके समान यह उष्ण वायु इसमें दावाग्निके कारण ही तो आ रही है !' श्रीदामने भी अपना भाग पूरा किया । 'जैसे सर्पने बहुत जीव खाये हों और उसकी श्वासमें दुर्गन्ध हो । बेचारे पशु-पक्षी दावाग्निमें भस्म हो रहे हैं, उन्हींकी गन्ध आ रही है !'

'आओ, भीतर चलकर देखें !' मणिभद्र आगे बढ़ा !

'कन्हैया तो अभी वहीं नाच रहा है !' सुबलने पीछे देखा ।

'बछड़े भी सब हाँक लो भीतर! हम सब इस अन्धकारमें जो सर्पके मुखके समान जान पड़ता है, छिप जायँगे । श्यामको ढूँढ़ने तो दो !' श्रीदामाको दूसरा कौतुक सूझ पड़ा ।

'कहीं यह सचमुच अजगर हुआ और भीतर जानेपर सबको गट्टसे निगल गया तो ?' मधुमङ्गलको इस दुर्गन्धित वायुसे भरे अन्धकारमें प्रवेश करना रुचिकर नहीं लग रहा है ।

'तू तो डरपोक है !' भद्रने परिहास किया । 'ऐसा हो भी तो बगुलेकी भाँति मर जायगा यह । कन्हैया कहीं चला नहीं गया है ! वह रहा—वह नाच रहा है !' ताली बजायी सबने इस बातपर । श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखा और अँधेरेमें शीघ्रतासे छिपनेके लिये बछड़ोंको सम्मुख दौड़ाते हुए घुस गये ।

'हैं ! हैं !' श्यामसुन्दर सहसा चौंका । पुकारा उसने, परंतु बालकोंको तो शीघ्र छिप जानेकी धुन है । उन्होंने सुना ही नहीं ।

'ओह !' एक क्षणके लिये मुख गम्भीर हो गया । 'इस दुष्टके जीवनका क्या उपयोग—अपने लिये भी तो यह अपने घोर कर्मोंसे परिताप-संताप-पीड़ा ही प्रस्तुत करेगा । मेरे सखा, मेरे बछड़े, उनका विनाश तो नहीं ही होना चाहिये ।' कदाचित् कुछ इसी प्रकारकी बातें सोच रहा है वह ।

'अघ—उसने अभी बच्चों और बछड़ोंको निगला नहीं । वह काला लड़का तो अभी बाहर ही है । आ रहा है, वह भी आ रहा है । वह भीतर आये और मुख बंद कर लूँ !' प्रतीक्षा कर रहा है वह । वह आया उसके मुखमें । खुरदरी जिह्वापर चरण रखता सीधा गलेतक चला गया । भयसे विमानोंपर देवता हाय-हाय करने लगे । कंसने अट्टहास किया । उसके साथियोंने भी साथ दिया उसका ।

'मुख बंद कर लूँ !' अघने सोचा । हाय-हाय, मुख तो बंद ही नहीं होता । कदाचित् सब बछड़े और बालक गलेके छिद्रमें ही अटके हैं । उसे क्या पता कि वे तो मुखमें पहुँचते ही मूर्छित हो गये । गलेतक तो वह नीलमणि सरक गया है और अकेला वही पूरे छिद्रको रोककर खड़ा है, जैसे महाकाय हो गया है वह ।

गलेका गोल छिद्र, नासिकाका मिलनेवाला एक छिद्र और वहाँ, नेत्रोंके स्नायुछिद्र—वह विशाल अजगर ! बड़ी गिरिकन्दरा-सा उसका गला । परंतु कन्हैया तो ऐसा वहाँ अड़ा, जैसे उसका शरीर वहीं निरोधके लिये ही गठित हुआ हो । कहींसे तनिक भी वायु निकल नहीं पाती । सर्पने पूछ पछाड़ी । शरीर मोड़नेका प्रयत्न किया । उसके नेत्र प्राणरोध-से निकल आये । मस्तकमें वायु भरनेसे वह गुब्बारे-सा फूलता जा रहा है । नस-नस फट रही है । जोड़-जोड़ उखड़ रहे हैं । अन्तमें जैसे अधिक वायु भरनेपर फुग्गा फूटता है, फड़ाकसे मस्तक फट गया । बड़े वेगसे वायु निकली । उसी वेगसे उसके साथ मुखमें स्थित सब बालक और बछड़े बाहर कोमल हरित तृणभूमिपर गिर पड़े । पिचकारीमें भरकर उन्हें बाहर फेंक दिया गया हो जैसे ।

कन्हैया जैसे गया था, वैसे ही निकला । उसी जिह्वापर चरण रखता मुखसे ही । वायुके साथ दैत्यके शरीरसे एक दिव्य ज्योति निकली । वह महाज्वालाके समान ज्योति इस प्रकार चारों ओर मँडरा रही थी, जैसे किसीकी प्रतीक्षामें हो, किसीका अन्वेषण कर रही हो । श्यामसुन्दरने जैसे ही बाहर चरण रक्खा, वह उस चरणमें ही प्रविष्ट हो गयी ।

देवता हर्षसे जयनाद कर रहे हैं । गगनसे पुष्प-वर्षा हो रही है । दूर—सघन वृक्षावलियोंके पीछे स्तब्ध, मूक कंस अपने रथपर बैठने जा रहा है मथुरा जानेके लिये और उसके अनुचर उसका अनुगमन कर रहे हैं । श्यामकी दृष्टि यहाँ नहीं है । उसके सखा, उसके बछड़े अस्त-व्यस्त इतस्ततः घासपर मूर्छित पड़े हैं । बड़ी ही करुणापूर्ण दृष्टिसे उसने उन सबकी ओर देखा । जैसे वे सब सोकर उठे हों, भागकर उन्होंने घेर लिया श्यामसुन्दरको ।

'बड़ी भयंकर थी उष्णता और दुर्गन्ध !' सब-के-सब श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग ध्यानसे देख रहे हैं । छूकर जान लेना चाहते हैं कि कन्हैयाको कहीं खरोंच तो नहीं लगी ।

'कितना बड़ा अजगर है !' मधुमङ्गल अब भी भयसे उस महासर्पकी ओर देख रहा है । 'तूने मारा कैसे इसे ?'

'कहीं सुबलकी लाठीसे तो उसका सिर नहीं फूटा है ?' श्रीकृष्णने हँसते हुए पूछा ।

'अरे हाँ, हम सबने लाठियाँ उठा रक्खी थीं । तालू ही फूट गया इसका !' एक साथ हास्य गूज गया ।

'चलो, स्नान करें । चरण पिच्छल हो गये हैं; पटुकेमें और श्रीअङ्गोंपर भी कहीं-कहीं कुछ आर्द्रता आ गयी है । बछड़े और बालकोंके शरीर तथा वस्त्रोंपर सर्पके मुखका रस एवं रक्तके छींटे पड़े हैं । श्रीकृष्णचन्द्रने यमुनाजीकी ओर प्रस्थान किया ।

'कन्हैया ! तू सर्पके मुखसे गिरा ग्रास हो गया है ।' श्रीदामने तनिक दूर हटकर न छूनेका नाट्य किया ।

'तुझे तो रक्त लगा है !' उत्तर मिला ।

'हम मुखसे जाकर मुखसे ही तो नहीं निकले !' इस तर्कमें सबका समर्थन है । सब हँस रहे हैं, तालियाँ बजा रहे हैं । आकाशमें दुन्दुभियाँ बज रही हैं, जयघोष हो रहा है, वहाँसे पुष्पोंकी झड़ी लगी है—यह सब देखनेका अवकाश उन्हें नहीं है ।

उनके श्यामसुन्दरने अघको मार डाला ! अघको भी शुद्ध कर दिया और अब वे स्नान करने जा रहे हैं श्रीयमुनाजीमें । शुद्ध होनेके लिये ? क्रीड़ा करनेके लिये ।

अघ—मर गया वह तो । उसका शरीर पड़ा है, सूख गया धीरे-धीरे । श्रीकृष्णके सखा उसे छिपनेका ही तो बनाना चाहते थे । उन्हींके लिये नहीं, व्रजवासियोंके लिये क्रीड़ा-गह्वर हो गया वह । आँखमिचौनीके समय बालकोंको छिपनेके लिये वह बड़ा सुन्दर स्थान गया ।*

ईश्वरीय शक्तिकी जड़ आपके अंदर है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

संसारमें हाथी, घोड़े, भैंसे, बैल इत्यादि बड़े शक्तिशाली जीव हैं । इनकी शारीरिक शक्तिकी सहायतासे मनुष्य बड़े-बड़े लट्ठे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाता है, पेड़ गिराता है, खेत जोतता है, कुँओंमेंसे जल निकालता है और भारी भरकम शिलाखण्डोंको ढोता है । घोड़े तीव्र गतिसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते हैं और मनुष्यकी आज्ञाओंका पालन करते हैं; परंतु स्वयं हाथी, घोड़े, बैल इत्यादिको यह ज्ञान नहीं है कि शक्ति उनके अंदर छिपी है । वे उनकी पीठपर बैठे या डंडेसे हाँकते हुए आदमीमें शक्ति समझते हैं और चार पसलीके आदमीको आत्मसमर्पण कर देते हैं । यदि उन्हें किसी प्रकार यह ज्ञान हो जाय कि आदमीमें उनकी अपेक्षा बहुत कम शक्ति है, तो वे क्षणभरमें उसे धराशायी कर सकते हैं । घोड़े, हाथी कभी उसके वाहन न रहें । सम्भव है वे मानवको निज वाहन बना लें, पर उन्हें अपने जीवनभर अपनी गुप्त शक्तियोंका ज्ञान नहीं होता और वे छोटेसे मनुष्यके गुलाम बने रहते हैं ।

मानव-समाजमें भी उपर्युक्त नियम लागू होता है । हमें दो प्रकारके व्यक्ति मिलते हैं । एक तो वे हैं, जिन्हें अभीतक अपनी गुप्त शक्तियोंका ज्ञान नहीं हुआ है, अन्धकारमें पड़े परतन्त्रता और बेबसीका जीवन व्यतीत कर रहे हैं । दूसरे वे हैं, जिन्हें अपनी शक्तियोंका ज्ञान हो चुका है । अधिकांश व्यक्ति प्रथम वर्गके हैं जिन्हें शक्तिका ज्ञान नहीं है । ये व्यक्ति सदा किस्मतको रोया करते हैं । कभी संसारकी प्रतिकूलताको दोष दिया करते हैं । इन्हें स्वयं अपने ऊपर विश्वास नहीं है, अतः ये अपना जीवन परवश मजबूरी और लाचारीमें काट रहे हैं ।

विश्वास कीजिये आपमें अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं । ईश्वरने अपने पुत्र—मनुष्यको असीम शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, दैवी आत्मिक शक्तियोंसे परिपूर्ण कर पृथ्वीपर भेजा है । आपकी शक्तियाँ इन्द्रके वज्रोंसे अधिक शक्तिशाली हैं । आपका मस्तिष्क शक्तियोंका विशाल भण्डार है । आपके शरीरके अङ्ग-अङ्गमें बल, स्फूर्ति और तेज भरा हुआ है । आपकी आत्मा अद्भुत दैवी सामर्थ्योंकी पुञ्ज है । [illegible] तेज तथा हृदयस्थ आत्मतेजमें कोई भेद नहीं है ।

सच मानिये, आप ईश्वरके अंश हैं । ईश्वर [illegible] शक्तियोंके केन्द्रबिन्दु हैं । वस्तुतः वे सभी शक्तियाँ बीजरूपसे आपमें विद्यमान हैं, जो ईश्वरमें हैं । ईश्वर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं । अभी आप अपने आपको शरीर [illegible] हैं । पर वास्तवमें आप सत्-चित् आनन्दस्वरूप आत्मा हैं । आप स्थूल नहीं, सूक्ष्म हैं । आप आत्मा हैं । आप [illegible] हैं । आप विश्वमें व्याप्त ईश्वरीय शक्ति हैं । आप दिव्य हैं । मनमें यह भाव मत लाइये कि 'मैं नीच हूँ । अशक्त हूँ, डरपोक अथवा कायर हूँ । शक्तिकी जड़ आपके भीतर है । ईश्वरका राज्य आपके भीतर है । आप व्यर्थ ही ईश्वरीय शक्तियोंको दुर्बल मानवके बनाये मठ-आश्रमोंमें और गिरजाघरोंमें ढूँढ़ते फिरते हैं । ईश्वरीय दिव्यतम शक्तिका आदिस्रोत तो स्वयं आपको अन्तरिक्षमें प्रवाहित हो रहा है । उसीको खोज निकालिये और दिव्य जीवन व्यतीत कीजिये ।

* 'श्रीकृष्ण-चरित' पुस्तकसे । प्रकाशक—श्रीमोतीलाल बनारसीदास चौक, बनारस ।

कभी न कहिये कि आप अमुक कार्य करनेके योग्य नहीं हैं अथवा आपमें उसके लिये पर्याप्त बल या साधन नहीं हैं। आप आपमें सब प्रकारके उच्चतम सामर्थ्य भरे पड़े हैं। आप अपने निश्चय, बल, संकल्पकी दृढ़ता, अटूट परिश्रमसे जो चाहें कर सकते हैं, आपकी सदैव विजय होनी है। यदि अपने इष्ट मार्गपर लगे रहें तो आप परिस्थितियोंको अवश्य बदल सकेंगे। पराजयका विचार मनमें रखना एक खतरा है। इसे सदाके लिये निकाल देना चाहिये। जैसा विचार मनमें आयेगा, वैसे ही कार्य प्रकट होगा। जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष उत्पन्न होगा। अतः कमजोरी, निर्बलता, पराजय, हीनत्वके विचार रखना एक खतरा है। कभी भी वह कटु फल उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि विचार तो एक सूक्ष्म सक्रिय तत्त्व है। विचारोंके परमाणु मनःप्रदेशमें बिखरकर उसे अपने अनुकूल बना लेते हैं। राग, द्वेष, घृणा, स्वार्थ और ईर्ष्याके विचारोंका दूषित वातावरण मनमें अशान्ति उत्पन्न करता और संतुलनको छिन्न-भिन्न कर देता है। नाना प्रकारके उद्वेग और उलझनें उत्पन्न कर देता है। अशान्ति, भय, घबराहट, चिड़चिड़ापन, अस्थिरता सब गलत प्रकारके विचारोंके दुष्परिणाम हैं।

अतः अपनी शक्तिके प्रति मनमें अविश्वासकी दीन-हीन भावना मत आने दीजिये। अपने मानसिक वातावरणको भय, भ्रान्ति, शंका, संदेह और चिन्ताके मनोवेगोंसे मुक्त रखिये। ये निकृष्ट विचार मनुष्यकी शक्तिको पंगु करनेवाले हैं, अन्तःकरणकी श्रद्धाकी दुर्बलताके सूचक हैं। अपने ऊपर विश्वास करना ऐसा मन्त्र है जिससे बल बढ़ता है।

जैसा हम देखते, सुनते या सोचते हैं, वैसा ही हमारे अन्तर्जगत्‌का निर्माण होता है। हम जो-जो वस्तुएँ बाह्य संसारमें देखते हैं, हमारी अभिरुचिके अनुसार उनका प्रभाव हमारे अन्तःकरणपर पड़ता है। प्रत्येक अच्छी मालूम होनेवाली प्रतिक्रियासे हमारे मनमें एक मानसिक मार्ग बनता है। क्रमशः वैसा ही चिन्तन, विचार या कार्य करनेसे यह मानसिक मार्ग दृढ़ बनता जाता है। अन्तमें एक विचार ही आदत बनकर मनुष्यको अपना दास बना लेता है।

जो व्यक्ति अपनी शक्तियोंके प्रति असीम विश्वास बनाये रखने और उन्हें निरन्तर बढ़ानेका अभ्यास करता है, वह उन्नतिके पथपर चलता है। दूसरोंके और अपने चरित्रकी अच्छाइयोंपर ध्यान लगाइये। सर्वत्र अच्छाइयाँ, शक्तियाँ, दैवी गुण देखनेसे मनुष्य स्वयं शक्तियों और गुणोंका केन्द्र बन जाता है।

अच्छाई देखनेकी आदत एक प्रकारका पारस है। जिसके पास अच्छाई देखनेकी आदत है, वह उन्हींकी शक्तिसे दिव्य गुणोंकी वृद्धि करता है। उस केन्द्रसे ऐसा विद्युत्-प्रकाश प्रसारित होता है, जिससे सर्वत्र सत्यता और दिव्यताका प्रकाश होता है। जिस स्थानपर नैतिक माधुर्य एकीभूत हो जाता है, वहीं सच्चा आत्मिक सौन्दर्य विद्यमान है। अतः यह मानकर चलिये कि आप असीम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंके मालिक हैं।

शक्तियोंका निरन्तर उपयोग कीजिये

जो शक्तियाँ ईश्वरीय देनके रूपमें प्रयोग, उपकार या समाज-सेवा आदिके लिये आपको दी गयी हैं, उनका निरन्तर उपयोग कीजिये। प्रतिदिन उन्हें कार्यमें लेनेसे शक्तियोंका विकास होता है पर निश्चेष्ट छोड़ देनेसे वे क्षीण हो जाती हैं। अंग्रेजीमें एक कहावत है 'प्रतिदिन काममें आनेवाली चाबी तेज चमकती है।' अर्थात् जो चाबी रोज काममें नहीं आती, जंग लगकर नष्ट हो जाती है। यही कहावत हमारी शक्तियोंके सम्बन्धमें भी है। हम जिस-जिस शक्तिसे काम लेते रहेंगे, वही पुष्ट रहेगी, शेष नष्ट हो जायगी। शक्तियाँ आपसे यह माँग करती हैं कि उनसे निरन्तर काम लिया जाय, कभी खाली न छोड़ा जाय। वे उस भूतकी तरह हैं जिसे कुछ-न-कुछ काम चाहिये, जो कभी भी आलस्यमें नहीं बैठ सकता।

उदाहरणके लिये अपने शरीरको ही ले लीजिये। यदि आपको खूब खिलाया-पिलाया जाय और जेलखानेमें बंद कर दिया जाय, जहाँ आप सारे दिन चारपाईपर पड़े रहें, तो पाचनक्रिया और रक्तसंचारमें खराबी आने लगेगी, शरीर दुबला हो जायगा, एक-एक क्षण काटना दूभर हो जायगा, प्रगाढ़ निद्राका आनन्द आपको न मिल सकेगा, भूख-प्यास, चेहरेका सौन्दर्य सब क्षीण हो जायगा। हमारा शरीर एक मशीनकी तरह है। जैसे व्यर्थ पड़े रहनेसे अच्छे-से-अच्छे इंजिनको जंग चाट जाता है और उसे चलाना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार पहलवान-से-पहलवान व्यक्ति भी केवल खाय और पड़ा रहे, तो रोगी हो जायगा। आपने प्रायः उन साधुओंको देखा होगा, जो एक हाथ ऊँचा उठाये रहते हैं। बहुत समय व्यतीत होनेपर वह सूख जाता है। उसमें रुधिरका संचार बंद हो जाता है। उस हाथकी शक्तिका उपयोग न

होनेसे वे शक्तियाँ मारी जाती हैं । अतः हमें चाहिये कि अपने शरीरसे पर्याप्त कार्य लें, किसी अवयवको आलस्यके जंगमें न फँसने दें । शारीरिक शक्तियोंका उपयोग करनेसे शरीरका अङ्ग-अङ्ग शक्तिसे दमक उठेगा, हम बलवान् बन जायँगे, पुष्ट और बलिष्ठ हाथ-पाँवके स्वामी बनेंगे । व्यायाम क्या है ? व्यायाम वह विधि है जिसके द्वारा शरीरके सभी अवयवोंसे काम लिया जाता है । फलतः शक्तियाँ बढ़ती हैं ।

शरीरकी भाँति ही मस्तिष्क और बुद्धि भी निरन्तर उपयोग, नये-नये विषयोंके अध्ययन, स्वाध्याय, मनन, पठन-पाठन, भ्रमण, सद्ग्रन्थावलोकनसे बढ़ती है । प्रत्येक पुस्तक एक ऐसे मस्तिष्कका सत्सङ्ग है जिसके साथ रहकर हम नया ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । नये-नये व्यक्तियोंसे मिलिये, नये दृश्य, नयी-नयी घटनाएँ देखिये और उनमें सार-तत्त्व, अनुभवपूर्ण उपयोगी तत्त्वोंको ग्रहण कीजिये । इन अनुभवोंसे आपको जीवनयात्रामें लाभ होगा ।

ग्रहण-शक्ति बढ़ाते चलिये

आपके अनुभव, संसारका इतिहास, समाजमें इर्द-गिर्द होनेवाली अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे हमारा ज्ञान बढ़ सकता है । हमारी प्रत्येक गलती हमें गुप्तरूपसे कुछ शिक्षा, कुछ उपदेश देती है, हमें आगे बढ़ाती है । इन अनुभवों, ग्राह्य वस्तुओं एवं उपदेशोंमें हम अपनी ग्रहण-शक्तिकी योग्यताके अनुसार ही उन्हें ग्रहण कर सकते हैं । यदि हम अपनी ग्रहण-शक्तिको बढ़ावें, जो देखते, सुनते या अनुभव करते हैं, उसे ग्रहण करें, स्मृतिमें रक्खें, तो प्रगतिके पथपर आगे बढ़ सकते हैं । जो घटनाएँ या अनुभव हमें मिलें, उन्हें ठीक तरह समझें, शङ्काओंका समाधान करें, सार-सार ग्रहण करें और व्यर्थको भूलें, भविष्यमें गलती न करें, तो [illegible] उन्नति कर सकते हैं ।

यह विश्वास रखिये कि परिस्थिति-निर्माणकी यो[illegible] आपमें भरी हुई है । हर व्यक्ति स्वयं अपने पुरुषार्थसे [illegible] संसारका निर्माणकर्ता है । आप उच्चतम ईश्वरीय शक्ति[illegible] सामर्थ्य लेकर चल रहे हैं । कोई दुष्ट आपका मार्ग अव[illegible] नहीं कर सकता, बाधाएँ ठहर नहीं सकतीं; क्योंकि आ[illegible] शरीर, मन, कर्मसे परमेश्वरकी दिव्य शक्तियाँ प्रवाहित [illegible] रही हैं । ईश्वर आपके द्वारा अपने शुभ कार्य कर रहा[illegible] ईश्वर आपके भीतरसे चमक रहा है । ईश्वरत्वको अपने[illegible] प्रकट कीजिये, ईश्वरमें रहिये-सहिये । ईश्वर होकर सा[illegible] पदार्थ खाइये और ईश्वर होकर ही पवित्र पदार्थ पी[illegible] ईश्वरमें श्वास लीजिये और सत्का साक्षात् कीजिये । [illegible] शक्तियाँ स्वयं आपके पीछे-पीछे आती रहेंगी ।

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद्
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । [illegible])

जब समस्त पापोंके नाशक उनके परम मङ्गलमय गु[illegible] कर्म और जन्मकी लीलाओंसे युक्त होकर वाणी उनका [illegible] करती है, तब उस गानसे संसारमें जीवनकी स्फूर्ति [illegible] लगती है, शोभाका संचार हो जाता है, सारी अपवित्र[illegible] धुलकर पवित्रताका साम्राज्य छा जाता है; परंतु जिस वा[illegible] उनके गुण, लीला और जन्मकी कथाएँ नहीं गायी ज[illegible] वह मुर्देको ही शोभित करनेवाली है ।

उमा-महेश्वर

वंदौं आशुतोष उदार ।
शुभ्र गिरिपर योग-आसन, तन विभूषित छार ॥
जटा मध्य विराज शशि अरु भाल ज्वालागार ।
कटि बघंबर, नाग भूषण, सुभग शान्ताकार ॥
जग-जननि दिसि वाम राजति सकल छवि-आगार ।
नाथ ! जनपर द्रवहु बेगिहि, जेहिं न पुनि संसार ॥

—रामाधार शुक्ल

प्रियतम-मिलन

(सफल यात्रा)

प्रियतमसे मिलनेको उसके प्राण कर उठे हाहाकार ।
गिना नहीं उसने, पथकी दूरीको, भयको किसी प्रकार ॥
विकल, चल पड़ी वह निर्भय हो, बीहड़ वनमें बिना विचार ।
दुःख-कष्ट बन गये सभी पथके पाथेय, सुखद आहार ॥ १ ॥

नहीं ताकती किसी ओर वह, नहीं किसीसे भी डरती ।
नहीं प्रलोभनमें पड़ती वह, नहीं चाह कुछ भी करती ॥
पद-पदपर, पल-पल प्रियतमकी प्रिय सुधिमें आहें भरती ।
चली जा रही अटल लक्ष्यपर, वह जगमें जीवित मरती ॥ २ ॥

वस्तु मात्रसे मेरापन उठ गया मिट गया, जगका राग ।
नहीं किसीमें द्वेष रह गया, जाग उठा मन विमल विराग ॥
मिटी कामना विषयमात्रकी, रहा न असत् अहंका भाग ।
ममता पूरी प्रभु चरणोंमें, अपनापन, अनन्य अनुराग ॥ ३ ॥

तन-मन-भोग स्वर्ग-अपुनर्भवकी सुधि सारी सहज बिसार ।
प्रिय आकर्षणसे खिंच वह जा पहुँची प्रियतमके दरबार ॥
प्रेम-सुधाकी मधु धारासे प्रियतमके पद-पद्म पखार ।
वह गिर पड़ी, अचेतन-सी हो, चेतन चरणोंमें अनिवार ॥ ४ ॥

उठे प्राणधन, उसे उठाया, प्रेम-विकल भरकर अँकवार ।
लगा लिया निज वक्षःस्थलसे, बही अश्रुओंकी शुचि धार ॥
कोमल कर धर शीश प्राणधन मधुर दृष्टिसे उसे निहार ।
अमिय मधुर वाणीसे फिर वे करने लगे सरस सत्कार ॥ ५ ॥

दुर्लभ दर्शन-स्पर्श प्राप्त कर प्रियतमके, सुन प्रेमालाप ।
आनन्दोदधि उछला, उसमें उठीं तरङ्गें अमित अमाप ॥
धन्य हुई वह, मिटा सदाके लिये सकल भवका संताप ।
रखा उसे निज हृदयदेशके मधु-मन्दिरमें प्रभुने आप ॥ ६ ॥

—'अकिञ्चन'

मानसिक शक्तियोंका विकास

(लेखक—प्रो० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारकी शक्तियाँ हैं । मनुष्य अपनी शक्तियोंको अपनी भावनाके अनुसार विकसित करता है। जो व्यक्ति अपने विषयमें जैसा विचार करता है, वह अपने आपको वैसा ही बना लेता है । जिस व्यक्तिका जैसा निश्चय है, वह उसी रूपका है । अपना निश्चय मनुष्यके आत्मनिर्देशका कारण बन जाता है । यह आत्मनिर्देश मनुष्यको उसी ओर ले जाता है और उसकी शक्तियोंको उसी प्रकारसे विकसित करता है जिस तरहका निश्चय होता है।

निश्चयका आधार अपने आपके विषयमें ज्ञान है । अज्ञानावस्थामें किया गया कोई भी निश्चय निर्मूल और व्यर्थ होता है। जितना ही हम अपने विषयमें जानकारी बढ़ाते हैं, हमारा अपने विषयमें उतना ही अधिक उत्तम निश्चय होता है। हमारी मानसिक शक्तियाँ उसीके अनुसार विकसित होती हैं। जो व्यक्ति अपने आपको जाननेकी चेष्टा नहीं करता और संसारके साधारण झंझटोंमें फँसा रहता है, उसे अपने-आपके विषयमें कुछ भी स्थिर विचार नहीं रहते। वह अपने-आपके विषयमें वैसा ही सोचने लगता है जैसा कि दूसरे लोग उससे सोचवाना चाहते हैं । अपने विचारोंपर उसका कुछ भी नियन्त्रण नहीं रहता। जब दूसरे लोग उसके विषयमें सोचने लगते हैं कि वह बड़ा पतित है, दयनीय है, अथवा दुखी है, तो वह भी अपने विषयमें वैसा ही सोचने लगता है। बहुतसे मनुष्य समयके पूर्व इसलिये मर जाते हैं कि वे अपने विषयमें बाहरसे आनेवाले निर्देशोंका सामना नहीं कर पाते । उनकी इच्छा-शक्ति निर्बल रहती है । जैसी कल्पनाएँ दूसरे लोग उनके मनमें उठाना चाहते हैं, वैसी ही कल्पनाएँ उनके मनमें उठने लगती हैं । इस प्रकार वे अपनेको दुखी, पागल और अल्पायु बना लेते हैं । जबतक मनुष्य अपना आत्मज्ञान नहीं बढ़ाता, उसका निश्चय निराधार और डाँवाडोल रहता है। अतएव मनुष्यको बार-बार अपने विषयमें चिन्तन करना चाहिये ।

आधुनिक विज्ञानने अणुकी शक्तिकी खोज की है । संसारका सबसे बड़ा अस्त्र 'अणु-बम' है । पिछली लड़ाईका अन्त दो ही 'अणु-बम'ने कर दिया। यदि 'अणु-बम' जापानके शहरोंपर नहीं डाले जाते तो लड़ाई और भी चलती। इस अणु-शक्तिकी खोज बहुत दिनोंसे हो रही थी। वैज्ञानिकोंको यह अंदाज लगा था कि अणुमें इतनी अधिक शक्ति है कि उसके द्वारा संसारका कोई भी कार्य सरलतासे किया जा सकता है। प्रत्येक अणुका एक विशेष प्रकारका संघटन है। एक अणु एक सूर्य-मण्डलके समान है । जिस प्रकार सूर्य-मण्डलमें एक सूर्य होता है और उसके पास नक्षत्र स्वयं घूमा करते हैं, उसी प्रकार एक अणुके भीतर एक न्यूक्लियस होता है, जो स्थिर रहता है अथवा अपनी कीलपर ही घूमता है और उसके आस-पास घूमनेवाले 'एलेक्ट्रोन' नामक परमाणु होते हैं। अणु भिन्न प्रकारके होते हैं। किसी अणुमें अधिक संख्यामें तो किसी अणुमें कम संख्यामें परमाणु होते हैं।

अणुके संघटनको तोड़ना अति कठिन है। इसके लिये वैज्ञानिकोंने एक विशेष प्रकारकी 'साइक्लोटोन' नामक मशीनोंका भी आविष्कार किया। भारतमें इस प्रकारकी एक ही मशीन है जो कलकत्ता विश्वविद्यालयमें है। अणु शक्तिकी पहचान पहले-पहल जर्मन वैज्ञानिकोंने की। लड़ाईके समय अणुको तोड़नेके अनेक प्रयास वहाँ होते रहे। अमेरिकाके वैज्ञानिक भी इस प्रयोगको उसी समय अपने यहाँ कर रहे थे। अणुको तोड़कर ही उसकी शक्तिका लाभ उठाया जा सकता है। अनेक प्रयोगोंके बाद अनेक सुविधाओंके कारण अमेरिकाके वैज्ञानिक ही अणुकी शक्तिको अपने उपयोगमें ला सके। यह शक्ति इतनी अधिक है कि यदि उसे विनाशकारी काममें लाया जाय तो संसारभरके सभी बड़े नगरोंका विनाश दो ही दिनमें हो जाय और यदि इस शक्तिका सदुपयोग किया जाय तो संसारके लोग दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर लें। अभीतक विनाशकारी कामोंमें ही इस शक्तिका प्रयोग हुआ है, न जाने कब उसे मानव-कल्याणके काममें लाया जायगा। अणु-शक्तिका जो भी उपयोग हो, उससे यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं। अणुकी शक्तिके विषयमें चर्चा करनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि हम अपने आपके विषयमें तथा अपनी शक्तिसे परिचित हों। उपनिषदोंके रचयिता ऋषिने आत्माको अणुका अणु और महान्-से-महान् बताया है।

यह हमारा आत्मा छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा है। जिस प्रकार अणु, जिसे अणुवीक्षण यन्त्रसे भी नहीं देखा जा सकता, महान् शक्तिशाली है। अणु, एण और आत्मा एक ही धातुसे निकले हुए शब्द जान पड़ते हैं। यह शब्द

विन्यास करनेवालोंका काम है कि वे इन शब्दोंके धातुका पता लगावें। पर यह निश्चित है कि ये तीन शब्द उस शक्तिका बोध करते हैं जो कि कल्पनातीत है । आश्चर्यकी बात है कि अणुशक्तिके विषयमें तो वैज्ञानिकोंने इतना अधिक आविष्कार कर डाला, पर आत्माकी शक्तिके विषयमें, जिसने वास्तवमें अणुशक्तिकी खोज की, कुछ भी आविष्कार नहीं किया। इतना ही नहीं, हम अपने वैज्ञानिक ज्ञानकी वृद्धिके साथ अपने-आपको और भूलते जा रहे हैं।

आत्माकी शक्ति वैसी ही विचित्र है जैसी कि अणुकी। इस प्रकारके निश्चयमें तो कोई भी संदेह होना ही नहीं चाहिये। हमारा शरीर ही अनेक अणुओंका बना है। इन अणुओंमें कितनी शक्ति केन्द्रित है---इसकी कल्पना कौन कर सकता है ? दुबले-से-दुबला मनुष्य अपने अणुओंकी शक्तिसे यदि चाहे तो संसारभरको नष्ट कर दे सकता है। पर मनुष्य शरीरमात्र नहीं है । वह चेतन प्राणी है और उसे अपने-आपको क्रियावान् करने एवं नियन्त्रित रखनेकी शक्ति है। इतना ही नहीं, वह अपने-आपको जान सकता है । ये शक्तियाँ जड अणुमें नहीं हैं। जड अणु न तो स्वयं गतिमान् हो सकता है और न उसमें आत्मज्ञानकी शक्ति ही है । जीवित अणुमें यह शक्ति है पर उसमें अपने-आपको जाननेकी शक्ति नहीं है। अतः उसमें आत्मनियन्त्रणकी भी योग्यता नहीं है। चेतन अणु, जो मनुष्यके रूपमें रहता है, न केवल शक्ति-केन्द्र है, प्रत्युत वह क्रियावान् एवं ज्ञानवान् भी है। अपने-आपके विषयमें चिन्तन न करनेके कारण ही वह अपने-आपको दयनीय बना लेता है। आत्म-ज्ञानके अभावमें बाहरी विचार मनुष्यके मस्तिष्कमें स्थान पा लेते हैं। इन विचारोंके कारण ही मनुष्य अपने-आपको संसारका एक तुच्छ प्राणी समझने लगता है।

मनुष्य एक चेतन अणु है । अणुशक्तियोंको बाहर निकालनेके लिये दूसरे लोगोंको प्रयत्न करना पड़ता है । स्वयं अणु न तो अपनी शक्तिका ज्ञान ही रखता है और न उस शक्तिको प्रकाशित ही कर सकता है । जड अणुकी शक्तियोंको प्रकाशित करनेके लिये चैतन्य अणुकी सहायताकी आवश्यकता है। चैतन्य अणु अपनी शक्ति अपने-आप जान सकता है। वह स्वयंको मनचाहा बना सकता है। इस कार्यमें लगन भरकी आवश्यकता है । जिस प्रकारकी लगन वैज्ञानिकोंने जड अणुकी शक्तिकी खोजमें दिखायी उससे कहीं अधिक लगन चैतन्य अणुकी शक्तिका पता लगानेमें आवश्यक है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
जो बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ॥

आत्मज्ञान संसारका सबसे बड़ा पुरुषार्थ है । इससे मौलिक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। पर यह उसे ही प्राप्त होता है जो धुनका पक्का है। आत्मज्ञान प्राप्त करते समय अनेक प्रकारकी बाधाएँ और संकट उत्पन्न होते हैं। जो लोग इन बाधाओंके होते हुए भी कर्तव्यसे नहीं हटते, वे ही आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस लगनको दृढ़ बनानेके लिये आत्मज्ञानकी मौलिकतापर बार-बार विचार करना आवश्यक है । आत्म-ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य उसी प्रकार निडर हो जाता है जिस प्रकार 'एटम-बम' के प्राप्त होनेपर राष्ट्र निर्भीक हो जाता है।

दीपमालिका जगाई है

मानस मलीनताई, सबै बाहर निकासि
निज हिय मंदिर श्री, स्वच्छ जो बनाई है ।
तामें शुभ श्यामा श्याम, ध्यान धरि नाम दोऊ
मानो मणि दीप जीह, देहरी बिठाई है ॥
मंजु दीप ज्योति रूप, कीर्ति कमनीय पुनि
विश्व चहु ओर अति हर्षित फलाई है ।
भाखत 'वीरेश' उभै-लोक सुख दैन सोई
साँची जिय जानु दीप-मालिका जगाई है ॥

—वीरेश्वर उपाध्याय

व्यवहारका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आप मुझे क्षमा करें ! मैं आगेसे सावधान रहूँगा ।' रामसिंहने दोनों हाथ जोड़े । वैसे उनकी कोई भूल नहीं थी । गाय रातमें रस्सी तुड़ाकर भाग गयी और थोड़ा-सा खेत चर गयी । वह क्या जाने कि कौन-सा खेत किसका है । पशु कभी रस्सी तोड़ ही नहीं सकेगा, ऐसी व्यवस्था किसान कैसे कर सकता है ।

'अपने पशु सम्हालकर रखना चाहिये !' गाँवका सबसे झगड़ालू आदमी है कल्पनाथ । उसके मुँहमें आता है वह बके जा रहा है । रामसिंह उसकी क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं, इसमें भी उसे अपना अपमान जान पड़ता है ।

'देखो भैया ! मैं हाथ जोड़ता हूँ, पैर पड़ता हूँ, इस समय तो चले जाओ ।' रामसिंहने सशंक भावसे पीछे देखा—'लल्लन घरपर ही है और कहीं वह बाहर आ गया · · ।'

'क्या कर लेगा वह और क्या कर लोगे तुम · · ।' कल्पनाथ गरज उठा; किंतु बोलते-बोलते ही रुक गया ।

'कौन है रे ? भैयाको तू-तड़ाक करने आया है तू ?' केवल लँगोट लगाये लल्लन घरके भीतरसे दौड़ता आ रहा था । उसके नेत्र लाल हो रहे थे, मुख तमक रहा था । आते ही कल्पनाथको उसने अपने हाथोंपर सिरसे ऊपर उठा लिया ।

'लल्लन !' रामसिंहने पकड़ा छोटे भाईका हाथ और नेत्र कड़े किये ।

'अच्छा अभी तो तुझे छोड़ देता हूँ ।' लल्लनने धीरेसे कल्पनाथको नीचे खड़ा कर दिया—'चुपचाप चले जाओ ! तुमने भैयाको अटपटी बातें कही हैं, याद रखना !'

'लल्लन ! चल भीतर ।' रामसिंहने हाथ पकड़ा और डाँटते हुए खींचा घरकी ओर । कल्पनाथ कुछ भुनभुनाता हुआ खिसक गया था । 'तुझे यहाँ भेजा किसने ?'

'मैं दूध पीने बैठा था ।' उसने कहा 'तुम्हारे भैयासे कोई झगड़ रहा है !' लल्लनके नेत्र अभी भी अंगार हो रहे थे । वह पीछे मुख घुमाकर बार-बार देख रहा था । उसके रहते कोई उसके भैयाको आधी बात कह दे ! 'देखूँगा मैं इसे ।'

'किसे देखेगा ? कल्पनाथको कुछ कहा तो अच्छा नहीं होगा ।' रामसिंहने डाँटा—'इतना बड़ा हो गया और बचपन जाता नहीं । दूधका ग्लास फेंक आया है, एक आदमी अपने अड़ोसी-पड़ोसीसे हिलमिलकर न रहे, दो बातें खोटी भी सह न सके तो आदमी काहेका । सबसे लड़ते रहना कोई आदमीका काम है ।'

× × ×

दो भाई हैं—सगे भाई नहीं, सौतेले भाई हैं रामसिंह और लल्लनसिंह; किंतु लोग इन्हें राम-लक्ष्मणकी जोड़ी कहते हैं । रामसिंह तब असंतुष्ट होते हैं जब लल्लन उनसे पहले रातको उठकर खेतपर चला जाता है या गायोंका गोबर उठा डालता है सवेरे जब वे खेतपर गये होते हैं । 'तुझे ही घर सम्हालना है तो ले सम्हाल । मैं तीर्थ करने जाता हूँ ।'

'भैया !' लल्लन बड़े भाईके सामने भीगी बिल्ली बना रहता है । गाँवका सबसे बलिष्ठ युवक, अखाड़ेके युवकोंके उस्ताद लल्लनसिंह, किंतु बड़े भाईके सामने वह जैसे छोटा बच्चा है ।

'किसने कहा था तुझे यह सब करनेको ?' रामसिंहके लिये लल्लन जैसे बहुत छोटा बालक है । अभी उसके खेलने-खानेके दिन हैं । वह दूध पिये और अखाड़ेकी शोभा बढ़ावे—'मैं मर तो नहीं गया । मर जाऊँगा तो सम्हालना खेत-खलिहान ।'

'भैया !' रो पड़ता है लल्लनसिंह बच्चोंके समान फूट-फूटकर । अपने स्नेहमय भैयाके मुखसे कोई अशुभ बात निकले · · ।

'रो मत !' भैया द्रवित हो उठते हैं—'तुझे इन खटपटोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है । अखाड़ेपर जानेमें देख देर हो गयी ।'

रामसिंहको प्रायः यह कहते सुना जाता है—'मरते समय पिताजीने कहा था 'बेटा ! लल्लनके अब तुम्हीं पिता हो !'

बात दोनों भाइयोंतक ही नहीं है । घरके भीतरका सौहार्द भी अद्भुत है । लल्लनकी स्त्री 'जीजी ! जीजी !' की रट लगाये रहती है दिनभर । लल्लनके लिये घरमें 'भाभी' को छोड़कर जैसे कोई है ही नहीं । उसके भोजन, कपड़े, दूध—भाभीको उसकी इतनी चिन्ता रहती है जैसे माताको छोटे बच्चेकी रहती हो ।

'क्यों री ! बहुत बलवान् हो गयी है तू ? इतनी रात रहते उठ पड़ी, बीमार होना है क्या ?' भाभी भी तभी रुष्ट होती हैं जब लल्लनकी स्त्री उनसे पहिले उठकर आटा पीसने बैठ जाती है, बर्तन मल लेती है या घरमें झाड़ू लगा डालती है ।

'नींद खुल गयी थी, देखा यही कर लूँ !' लल्लनकी स्त्री सेवाका कुछ न कुछ भाग झपट ही लेती है और उसके लिये 'जीजी'की डाँट भी सह लेती है । वह कह भी देती है—'तुम दिनभर काम करते-करते थक जाया करो और मैं बैठी देखती रहूँ—यह मुझसे तो नहीं होता ।'

'अब तो यह नानीकी भाँति बोलने लगी है ।' रामसिंहकी स्त्री रुष्ट होकर भी नहीं हो पातीं । उनकी समझसे उनकी देवरानी अभी निरी बच्ची है । उन्हें डर लगा रहता है कि चक्की चलाने या भरा घड़ा उठानेसे उसे 'कुछ' हो जायगा । लेकिन जब वे रुष्ट होती हैं—बहुत रुष्ट होना चाहती हैं तो वह धबसे उनकी गोदमें ही आ बैठती है और कहने लगती है—'जीजी ! ले थप्पड़ मार दे ।' ऐसी बच्चीपर कोई रुष्ट हो कैसे सकता है ?

× × ×

'लल्लनने धोबीको पूरा एक बोझ दे दिया चनेका । खेत कट रहा है, वहाँ केवल खड़े रहनेका काम है । रामसिंहके लिये ऐसे कामोंके देखने-करनेका पात्र लल्लन ही है । जहाँ थोड़ा भी श्रम पड़ता हो, वे स्वयं वहाँ जाना चाहते हैं । आज उनसे गाँवके एक पड़ोसीने बड़ी हितैषिता दिखायी—'इस प्रकार लुटाना अच्छा नहीं । लल्लन अभी समझता नहीं ।'

'लल्लन ! तू कंजूस हो गया है ?' संध्या समय रामसिंहने छोटे भाईको हँसते हुए उलाहना दिया—'ये बेचारे नाई-धोबी-लुहार—ये वर्षभर सेवा करते हैं । इन्हें हम देते क्या हैं ? फसलपर ही इनकी आशा रहती है । खेत-खलिहानके समय भी इन्हें न दिया जाय तो इनके बाल-बच्चे कहाँ जायँगे । इनको कम-से-कम इतना तो देना चाहिये कि इनका जी न दुखे । धोबी, नाई जो आवे उससे कह दिया कर कि वह जितना एक बारमें ले जा सके, बाँध ले ।'

लेकिन भैयाका यह स्नेह दूसरे ही दिन दूसरे रूपमें प्रकट हुआ । वे खेतसे लौटे तो किसीने कुछ कह दिया मार्गमें । बात साधारण-सी थी, लल्लनने तनिक हँसी की थी पानी भरनेवाली कहाँरिनसे । कहनेवालेने भी विनोदमें ही कहा था; किंतु भैयाने चारेका भार द्वारपर फेंका और वैसे ही चल पड़े अखाड़ेकी ओर ।

लल्लन अखाड़ेमें जोर करा चुका था । वह बैठ गया था एक ओर । कई युवक उसके कंधे, हाथ और पैर मल रहे थे । पूरा शरीर धूलि एवं पसीनेसे लथपथ हो रहा था ।

'अब तेरे पंख जमने लगे हैं !' भैया तमतमाये आये और उन्होंने तड़ातड़ पाँच-सात थप्पड़ धर दिये लल्लनके मुखपर । वहाँ खड़े युवक देखते रह गये । कोई दूसरा होता तो''लेकिन भैयाका कोई क्या कर सकता था । लल्लनने चूँ नहीं की । उसे हाथ पकड़कर भैया घसीटते हुए घर ले चले—'गाँवकी बहू-बेटियोंपर तू अब आवाजें कसने लगा है । घर चल तो दिखाता हूँ ।'

'तुमने मारा है ?' घर पहुँचनेपर तो भाभी दौड़ आयीं आगे । उन्होंने रामसिंहका हाथ झटक दिया—'अपने छोटे भाईपर हाथ उठाते लज्जा नहीं आयी तुम्हें ?' पतिपर वे पहिली बार असंतुष्ट हुई थीं ।

'इससे पूछ कि क्या कर आया है यह ।' रामसिंहने भाईका हाथ छोड़ दिया था । उनका रोष ठंढा पड़ने लगा था ।

'ऐसा क्या अनर्थ किया होगा !' भाभीने स्नेहपूर्वक पुचकारा—'तुम भीतर चलो । ये अब सठिया गये हैं ।'

'भैया ! तुम मुझे खूब पीटो ।' सहसा भाभीका हाथ छुड़ाकर लल्लन भैयाके पैरोंपर गिर पड़ा । वह फूट-फूटकर रो रहा था—'भैया ! मुझे पीटो चाहे जितना, किंतु मुझसे रूठो मत । अब मुझसे ऐसी भूल नहीं होगी ।'

'अच्छा उठ !' भैयाने उठा लिया छोटे भाईको । वे उसका मुख पोंछ रहे थे अपने गमछेसे—'भगवान्ने बल दिया हो तो झुककर चलना चाहिये । सदाचारको कठोरतासे निभाना चाहिये । औरोंसे तुम्हें अधिक सावधान और संयमी रहना है, यह भूलो मत ।'

× × ×

'आप नहीं सम्हालें तो मेरी लज्जा नहीं रहेगी !' कल्पनाथ गाँवमें सबसे झगड़ालू है । कोई नहीं जिससे उसकी खटपट न हुई हो । मिलकर चलना उसने सीखा नहीं ।

कोई उसके हितैषी नहीं। कोई उसका सहायक नहीं। अब उसकी कन्याका विवाह है। बारात आनेवाली है; किंतु उसे सहयोग नहीं मिल रहा है। वह सीधे रामसिंहके यहाँ आया और उनके पैरोंकी ओर झुका।

'तुम यह क्या करते हो?' रामसिंहने उसे पैर छूनेसे रोक लिया। 'तुम्हारी पुत्री मेरी पुत्री नहीं है क्या? घर चलो, मैं अभी आ रहा हूँ।'

पूरी व्यवस्थाका भार उठा लिया रामसिंहने। लल्लन और उसके अखाड़ेके युवक दिन-रात एक करके दौड़-धूप कर रहे थे। इतनी उत्तम व्यवस्था—परंतु जहाँ व्यवस्था करनेवालेके प्राण एकाकार हो रहे हों, वहाँ त्रुटि सम्भव कैसे है।

'डाकू! डाकू आये हैं!' विघ्न भी किस बुरे मुहूर्तमें आते हैं! कल्पनाथके आँगनमें पूरा ग्राम एकत्र था। कन्याके पाणि-ग्रहणका उपक्रम हो चुका था और किसी बच्चेने दौड़ते-हाँफते आकर समाचार दिया—'गाँवके सबसे सम्पन्न व्यापारीका घर डाकुओंने घेर लिया है।'

'उस बेचारेके घर कोई नहीं। वे दोनों भाई रोगी हैं और घरके भीतर दोनोंकी स्त्रियाँ हैं, कन्या है। नौकर तो आ गये हैं यहाँ विवाहमें!' लोगोंमें बेचैनी और फुसफुसाहट प्रारम्भ हुई। पर डाकुओंके सामने जानेका साहस कौन दिखावे।

'लल्लन! तुम आगे जाओ और डाकुओंको रोको।' रामसिंहने इधर-उधर देखकर छोटे भाईको मण्डपमें देख लिया—'विवाहकार्य चलता रहेगा। फेरे पड़े और मैं भी आया।'

लल्लन निकला शीघ्रतापूर्वक और उसे जाते देख कई युवक उसके साथ हो गये। लाठियाँ सम्हालीं सबने और डाकुओंको जा ललकारा।

'मरना न हो तो वहीं खड़े रहो।' डाकुओंने भी सामना कर लिया। उनकी संख्या पर्याप्त अधिक थी। केवल लँगोट लगाये, पूरे शरीरमें तेल पोते, हाथोंमें लाठियाँ, बल्लम, गँड़ासे लिये वे भी मार्ग रोककर खड़े हो गये थे।

'पत्थर चलाना है।' लल्लनको ठीक समय उपाय सू[illegible] गया। युवकोंने ईंट, मिट्टीके डले, खपरैल—जो हाथ [illegible] आया, फेंकना प्रारम्भ किया। परंतु डाकुओंका दल विचलित नहीं हुआ। वे केवल आड़में हो गये। उनके जो साथी घर के भीतर घुस चुके थे, वे अपना काम कर रहे थे। बाहर वालोंको तो केवल इन लोगोंको रोके रखना था।

'भैया!' पता नहीं कितनी देर बीती, भैया दिखा[illegible] पड़े लल्लनको। वे दौड़ते आये थे और सीधे लाठी उठा[illegible] डाकुओंके समीप पहुँच गये थे। एक डाकूकी लाठी पड़ी उनपर—पता नहीं उनपर या उनकी लाठीपर; कि[illegible] लल्लनके साथका एक युवक चिल्ला उठा—'भैयाको लाठी लगी।'

'भैयाको लाठी लगी!' लल्लनके नेत्रोंमें रक्त उत[illegible] आया। वह लाठी उठाये टूट पड़ा। टूट पड़े उसके साथी युवक और जब कोई प्राणोंका मोह छोड़कर आगे बढ़ता है—सौको भी वह अकेला भारी पड़ता है।

डाकुओंमेंसे कुछ गिरे, कुछ भागे। गाँवके और बारात के लोग भी आ गये थे। जो डाकू पकड़े गये; प्रायः [illegible] तरह वे घायल थे। लेकिन लल्लनको पकड़ना सबसे कठिन था। वह अंधाधुन्ध लाठियाँ चलाये जा रहा था। [illegible] उसे रोक लिया गया, भूमिपर गिर पड़ा वह।

'भैया!' लल्लनके मुखमें एक ही शब्द था। उसके सिरसे रक्त चल रहा था। भुजाओं और कंधोंपर लाठियाँ लगी थीं। एक भुजापर भालेने बड़ा-सा घाव कर दिया था।

'लल्लन!' भैया उसका मस्तक गोदमें लिये वहीं भूमिपर बैठे थे। उन्हें आज अपने छोटे भाईपर गर्व था—'तुमने मेरा स्नेह सफल कर दिया।'

लल्लनके लिये उपचारकी चिन्ता करनेवाला तो आज पूरा गाँव हो गया था। स्त्रियाँ कह रही थीं—'पराये [illegible] आगमें भाईको ठेल देनेवाला भाई धन्य है! रामसिंहने आज गाँवकी लाज बचा ली।'

अहिंसा परम धर्म और मांसभक्षण महापाप

(मांसभक्षणसे सब प्रकार हानि)

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥

(महाभारत-अनुशासनपर्व)

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसासे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है, अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें स्नान किया जाय, सब प्रकारके दानोंका फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसाके साथ तुलना नहीं हो सकती।'

सभी धर्मग्रन्थोंने अहिंसाकी महिमा गायी है। जैन, बौद्ध-धर्म तो अहिंसाका ही प्रधानरूपसे प्रतिपादन करते हैं। ईसाई, इस्लाम तथा पारसीधर्ममें भी अहिंसाकी प्रशंसा की गयी है। महात्मा ईसा कहते हैं—

'Thou shalt not kill, and ye shall be holy man unto me neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field."

(J. Christ)

'तू किसीको मत मार। तू मेरे समीप पवित्र मनुष्य होकर रह। जंगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा।'

बाइबिलमें एक अवतरण आया है—'ऐ देखनेवाले! देखते क्या हो, मारे जानेवाले जानवरोंके लिये अपनी जबान खोलो।'

इसी प्रकार कुरानमें लिखा है—'हरा पेड़ काटनेवाले, मनुष्य खरीदनेवाले, जानवरको मारनेवाले तथा दूसरोंकी स्त्रीसे कुकर्म करनेवालेको खुदा मुआफ नहीं कर सकता। खुदा उसीपर दया दिखाता है, जो उसके बनाये जानवरपर दया दिखाता है।'

सुरात-ए-हजमें लिखा है—'खुदा तुम्हारी कुर्बानीमें जानवरका मांस और लहू नहीं चाहता। वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है।'

फिरदौसीने कहा है—

'न तो पशुओंका खाना और न पशुओंका शिकार ही करना। यह हमारा जरथुस्ती नेक धर्म है।'

महात्मा गांधीजीके महान् त्याग तथा सक्रिय उपदेशसे अहिंसाकी महिमा आजके युगमें भी फैल रही है। अहिंसाकी प्रशंसा सभी करते हैं। परंतु आज अहिंसाका अर्थ बहुत ही संकुचित कर दिया गया है। किसी मनुष्यपर प्रहार करना, मनुष्यको मारना, पत्थर फेंकना, आग लगाना, किसी दल-विशेषके विरोधमें नारे लगाना, किसीके स्वार्थमें हानि पहुँचाना, जबरदस्ती करना—बस, मनुष्योंके सम्बन्धित इन्हीं तथा ऐसी ही कुछ और क्रियाओंको हिंसा माना जाता है और इनसे बचनेको अहिंसा। मनुष्य अपने स्वार्थसाधनके लिये, अपने खेतों-बागोंकी रक्षाके लिये, अपने पापी पेटका गढ़ा भरनेके लिये, जीभके स्वादके लिये, मनोरञ्जनके लिये, अनुसंधानके लिये और औषध-निर्माण आदिके लिये चाहे जितने प्राणियोंको, चाहे जैसे कष्ट दे, चाहे जितनी संख्यामें मारे इसमें कोई भी हिंसा नहीं है। हिंसाकी इसी व्याख्याके अनुसार आज मनुष्येतर प्राणिमात्रका मांस खा जानेवाले लोग भी अपनेको 'अहिंसक' बतलाते और अहिंसाकी दुहाई देते हैं तथा अपनी व्याख्याकी हिंसाको हिंसासे ही रोकना भी चाहते हैं। यह अहिंसाकी विडम्बनामात्र है। शास्त्रकारोंने, महात्माओंने तो 'प्राणिमात्रकी हिंसाको हिंसा बतलाया है और उससे सर्वतोभावसे सर्वथा बचनेको ही अहिंसा' माना है। महर्षि पतञ्जलि हिंसाकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २। ३४)

'हिंसा आदि वितर्क तीन प्रकारके होते हैं, स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए और अनुमोदन किये हुए। यह

तीन प्रकारकी हिंसा लोभ, क्रोध तथा मोहके कारण होनेसे (३×३=९) नौ प्रकारकी हो जाती है और नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेके कारण (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। ये हिंसादि दोष अनन्त दुःख और अज्ञान देनेवाले हैं। यही प्रतिपक्षभावना है।' यही सत्ताईस प्रकारकी हिंसा शरीर, मन और वाणीसे होनेके कारण इक्यासी प्रकारके भेदोंवाली बन जाती है। फिर मांस-भक्षी लोग तो प्राणिहिंसाके प्रधान हेतु हैं, वे कैसे अपनेको 'अहिंसक' मान सकते हैं ? महाभारतमें कहा है—

न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद् वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ॥

(अनुशासनपर्व)

'मांस घास, लकड़ी या पत्थरसे पैदा नहीं होता, वह तो जीवोंकी हत्या करनेपर ही मिलता है। इसलिये मांसभक्षणमें बहुत दोष है।'

मांस खानेवाले लोग संसारमें हैं, इसीलिये प्राणियोंकी हिंसा होती है, इसीलिये जगह-जगह कसाईखाने बने हैं। कसाई मांसखोरोंके लिये ही प्राणियोंकी हत्या करता है। मनुमहाराज कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

(मनुस्मृति ५ । ५१)

'समर्थन करने या अनुमति देनेवाला, अङ्ग काटनेवाला, मारनेवाला, (हिंसाके लिये पशु-पक्षी और मांस) खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—सभी हत्यारे कहलाते हैं।' महाभारतमें कहा गया है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः ।
घातको बधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥

(अनुशासनपर्व)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणिहत्या करता है, खानेवाला भोगसे करता है और मारनेवाला पशुको बाँधकर तथा मारकर हिंसा करता है। जो मनुष्य हत्या करनेके लिये पशुको लाता है, उसे मारनेकी अनुमति देता है, काटता है तथा खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है। ये सभी पशुहत्यारे और मांसखोर ही समझे जाते हैं।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥

(अनुशासन...

'जो मनुष्य दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चा... है, उससे बढ़कर अति नीच और कोई नहीं है, वह ... निर्दयी है।'

मांस खानेवालोंको क्या फल मिलता है !

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अविश्वास्योऽवसीदेत् स इति होवाच नारदः ॥

(महाभारत-अनुशा...)

श्रीनारदजी कहते हैं—'जो दूसरेके मांससे अपना ... बढ़ाना चाहता है, वह विश्वासपात्र नहीं रहता और ... दुःख उठाना पड़ता है।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नराष्ट्रे वसति यत्र यत्राभिजायते ॥

(महाभारत-अनुशासन...)

'जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है ... जहाँ कहीं भी जन्म लेता है सदा बेचैन ही रहता है।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवनैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः ॥
मां भक्षयति यस्मात् स भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं ततो बुद्ध्यस्व भारत ॥
घातको हन्यते नित्यं तथा बध्येन बन्धकः ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंका मांस खाते ... वे भी उन प्राणियोंके द्वारा दूसरे जन्ममें खाये जाते हैं। ... विषयमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। युधिष्ठिर ! ... वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—आज मुझे ... खाता है। (मां स भक्षयते) तो मैं भी कभी उसे खाऊँ... (भक्षयिष्ये तमप्यहम्)। यही 'मांस' शब्दका तात्पर्य ... इस जन्ममें जिस जीवकी हत्या की जाती है, वह दूसरे ज... अपने पहले जन्मके हत्यारेको मारता है।'

जाताश्चाप्यवशास्तत्र भिद्यमानाः पुनः पुनः ।
हन्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः ॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च त्रस्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥

'मांसभक्षी जीव कहीं जन्म लेनेपर भी परवश ...

वे बारबार शस्त्रोंसे काटे जाते और पकाये जाते हैं; उनकी यह दुर्गति प्रत्यक्ष देखी जाती है। (आज जो मांसभक्षियोंके द्वारा काटे और पकाये जाते हैं, ये सभी प्राणी पूर्वजन्ममें मांसभक्षी मनुष्य ही थे।) फिर अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें डाले जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं।'

मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन तथा स्वभाव बन जाता है। जिन पशु-पक्षियोंका मांस वह खाता है, उन्हींके-से गुण, आचरण तथा स्वभाववाला वह बनता चला जाता है। उसकी आकृति भी क्रमशः उसी प्रकारकी बनने लगती है। वह इसी जीवनमें मनुष्य-स्वभावसे गिरकर पशुस्वभावापन्न, निर्दय, मूढ और उच्छृङ्खल बन जाता है और मरनेके बाद उसी भावनाके अनुसार तथा अपने दुष्कर्मोंका बदला भोगनेके लिये उन्हीं प्राणियोंके शरीर प्राप्तकर अत्यन्त दुःख भोगता है। भीष्मपितामहने कहा है—

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमश्नुते॥

(महाभारत-अनुशासनपर्व)

प्राणी जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, वह उस-उस शरीरसे वैसा ही फल पाता है। मनु महाराजने भी कहा है—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥

(५।४५)

जो निरपराध प्राणियोंको अपने सुखकी इच्छासे मारता है, वह जीवित अवस्थामें और मरनेके बाद भी सुख नहीं पाता।

इस प्रकार मांसभक्षी हिंसापरायण लोग निश्चित ही दुःख, नरक तथा नीच गतिको प्राप्त होकर बारबार महान् क्लेश भोगते रहते हैं।

मांसभक्षणसे रोगोत्पत्ति तथा स्वास्थ्यनाश

जिन जानवरोंका मांस मनुष्य खाता है, उनके शरीरके रोगके परमाणु उस मनुष्यमें आ जाते हैं और वह कठिन-से-कठिन रोगोंका शिकार हो जाता है—

१. उल्लामा जलालुद्दीन सेवती लिखते हैं, 'गायका गोश्त मर्ज और उसका दूध-मक्खन शिफा है।'

२. हजरत आयशा फर्माती हैं, 'गायका दूध दवा, उसका मक्खन शिफा और उसका गोश्त सरासर मर्ज है।'

३. उल्लामा तिबदी जहीरने रवायत की है, 'गायका गोश्त बीमारी, उसका मक्खन दवा, उसका दूध शिफा है।'

हजरत इब्ने मसऊद सहाबी अपनी किताब 'मस्तदरक' में गायके गोश्तके सम्बन्धमें स्वयं पैगंबर साहेबकी कही हुई बातको अक्षरशः इस प्रकार उद्धृत करते हैं—

'अलैकुम् व अल्बानुल् बक़रे व अस्मानिहा व इय्याकुम् व लुहूमुहा।
लबनुहा शिफ़ाउन व समिनुहा दवाउन् व लहमुहाद आउन॥'

अलमुश्तहर हकीम इब्राहीम जयपुरीने दिल्लीमें एक नोटिस बँटवाया था, जिसका आशय इस प्रकार है—

'अज रूए तिब्ब गायका गोश्त जुकाम, कोढ़, दिमागी अमराज, सौदा जहालत, गजपलिया वगैरह बीमारियाँ पैदा करता है। औरतोंका हैज अजवक्त बंद कर तौलीद औलाद मुनक्किता कर देता है और हैज बंद हो जानेपर हजारहाँ मोहलक बीमारियाँ मुहलिक हो जाती हैं और ये बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली जाती हैं। इसलिये गायका गोश्त खाना छोड़कर गायका दूध पीना चाहिये।'

विशेषज्ञोंद्वारा किये गये अनेक प्रयोगोंसे भी यह सिद्ध हो चुका है कि मांस-भक्षण सर्वथा अनावश्यक तथा हानिकर है। कुछ प्रयोग निम्नाङ्कित हैं—

(१)

टोकियोके प्रोफेसर बेल्जने जापानके कुछ निरामिषभोजियोंपर कुछ प्रयोग किये। पहले उन्होंने उनकी श्रमसहिष्णुताके कुछ कार्योंको जाँचकर लिख लिया, फिर उन्होंने उनको मांस देना आरम्भ किया। उन लोगोंने मांस-भक्षणको एक शौककी चीज समझकर बड़े चावसे खाया; क्योंकि उच्च वर्गोंके लोग मांस खाते थे। किंतु तीन दिनोंके बाद वे बेल्ज साहबके पास आये और प्रार्थना करने लगे कि 'हमें मांस देना बंद कर दिया जाय, क्योंकि मांस खानेसे वे थकावटका अनुभव करते थे और पहलेकी भाँति कार्य नहीं कर सकते थे।'

(२)

एक दूसरा निर्णयात्मक प्रयोग इंग्लैंडमें हुआ था—

"सन् १९०८में ६ मासतक 'लंदन वेजिटेरियन एसोसियेशन'—लंदनके निरामिषभोजी संघकी सेक्रेटरी कुमारी एफ़० ई० निकल्सनने १०,००० बच्चोंको निरामिष भोजन कराया तथा 'लंदन काउंटी कौंसिल' द्वारा एक दूसरे

भोजनालयमें उतने ही बच्चोंको मांससहित भोजन कराया गया। छः मासके अन्तमें दोनों दलोंके बच्चोंकी परीक्षा डाक्टरोंद्वारा की गयी, जिससे यह सिद्ध हुआ कि मांसभोजी बच्चोंकी अपेक्षा निरामिषभोजी बच्चोंका स्वास्थ्य अधिक अच्छा, वजन अधिक, पुट्ठे अधिक सुदृढ़ तथा चमड़ा अधिक साफ था। अब 'लंदन काउंटी कौंसिल' की प्रार्थनापर और उसीकी देख-रेखमें 'लंदन वेजिटेरियन एसोसियेशन' द्वारा लंदनके गरीब-से-गरीब निवासियोंको हजारोंकी संख्यामें निरामिष भोजन दिया जाता है।"

(३)

अमेरिकामें प्रोफेसर शिटेंडन पी-एच्.डी., एस्.-सी. डी.,. एल्-डी. डी. द्वारा किया हुआ प्रयोग—जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है—बड़ा ही मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

'अमेरिकन सिपाहियोंके साधारण दैनिक आहारमें ७५ औंस ठोस भोजन रहता है, जिसमें २२ औंस कसाइयोंके यहाँका मांस रहता है। इन सिपाहियों तथा व्यायाम करनेवालोंके भी भोजनका परिमाण एक प्रकारसे सारा-का-सारा मांस २१ औंस तथा ठोस वस्तुओंका कुछ अंश निकालकर ५१ औंस कर दिया गया। नौ महीनोंतक उन्हें इस भोजनपर रक्खा गया, जिसका यह परिणाम हुआ कि यद्यपि भोजनमें परिवर्तन करनेके पहले उनके शरीरका पूर्ण विकास हो चुका था और देखनेमें ऐसा मालूम होता था कि अब इससे अधिक शक्ति इनमें न आयेगी। फिर भी नौ महीनेके अन्तमें उनमें पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति आ गयी और उनका स्वास्थ्य भी पहलेसे कहीं अच्छा हो गया। यन्त्रद्वारा ठीक-ठीक नापनेसे पता चला कि उनकी शक्तिमें लगभग ५० प्रतिशत वृद्धि हुई तथा वे अधिक आसानीसे अधिक ठोस काम करने लगे, उनमें अधिक प्रसन्नता आ गयी तथा उनके स्वास्थ्यमें भी उन्नति हुई और जब उनको इस बातकी स्वतन्त्रता दे दी गयी थी कि चाहें तो अपना पिछला भोजन फिर शुरू कर सकते हैं, तब भी उनमेंसे किसीने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया।'

अत्यधिक मात्रामें मांस खानेके कारण एक बार बम्बईमें रहनेवाले कुछ अंग्रेजोंका क्या हाल हुआ था, यह बात इतिहासके निम्नलिखित पंक्तियोंसे ज्ञात होती है—

'समुद्री हवा तथा अक्सर होनेवाली वर्षाके कारण मौसिम ठंडी रहती थी, गरमी बढ़ नहीं पाती थी। इसके पूर्व यहाँकी वायु बड़ी दूषित और खतरनाक थी, किंतु जबसे अंग्रेजोंने नगर तथा आस-पासके दलदलोंको सुखा दिया, तबसे वायु शुद्ध हो गयी थी। इतनेपर भी बम्बईमें कई यूरोपियन अचानक मर गये। उनमेंसे अधिकांश नये आये हुए थे, जिनके रहन-सहनका ढंग यहाँकी जलवायुके अनुकूल न था, जिसके कारण वे जल्दी चल बसे। वे गाय तथा सूअरका मांस अधिक मात्रामें खाते थे, जो भारतीय कानूनके अनुसार निषिद्ध था और घोर ग्रीष्म ऋतुमें भी वे पुर्तगालकी गरम शराब पीते थे।'

(देखिये जे. टी. ह्वीलरका 'मुसलमानी शासनकालमें भारतवर्षका इतिहास')

डाक्टर हेग अपनी पुस्तक 'डायट ऐंड फूड'—'खाद्य पदार्थ और भोजन'के १२९वें पृष्ठपर लिखते हैं—

'मांस-भक्षण सुस्ती लाता है, क्योंकि इसके कारण मस्तिष्क, मांस-पेशियों, हड्डियों तथा सारे शरीरमें रक्तका प्रवाह मन्द तथा न्यून हो जाता है। रक्त-प्रवाहकी यह मन्दता और न्यूनता यदि जारी रहे तो परिणाममें स्वार्थ-परायणता, लोलुपता, भीरुता, अधःपतन, ह्रास और अन्तमें विनाश निश्चित है। इससे धनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, जिससे विलासितापूर्ण आलस्यका जीवन प्राप्त हो सके। क्या किसी स्वस्थ राष्ट्रके अङ्गभूत व्यक्तिका यही आदर्श है कि वह इस प्रकारका आलस्यमय जीवन प्राप्त करके तृप्ति और जीवनके प्रति अरुचिका अनुभव करे—इसका निर्णय स्वयं राष्ट्र ही करे।'

प्रसिद्ध डाक्टरोंने बतलाया है कि 'एपेंडिक्स (आन्त्र-पुच्छ-व्रण) का रोग मांसभक्षियोंको ही अधिक होता है। मांसका टुकड़ा आँतमें जाकर अटक जाता है और फिर वह सड़कर वहाँ मवाद पैदा कर देता है।'

इंग्लैंडके एक प्रसिद्ध डाक्टरने कुछ समय पूर्व लिखा था कि 'इंग्लैंडमें कैंसरके रोगी दिनों-दिन बढ़ते जा रहे हैं। अकेले इंग्लैंडमें इस भयानक रोगसे तीस हजार मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं, यह रोग मांसभक्षणसे होता है। यदि मांसाहार इसी तेजीसे बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी संतानमें ढाई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांसाहारजनित प्राणिवध-पापसे आयु तो नष्ट होती ही है—

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते ।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥
(महाभारत-अनुशासन०)

हिंसाजनित पाप हिंसकोंकी आयुको नष्ट कर देता है। अतएव अपना भला चाहनेवाले लोगोंको मांसका व्यवहार सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

'कैटिल प्रॉब्लेम इन इण्डिया' नामक पुस्तकमें बताया गया है—

१–मांस-भक्षण अनावश्यक, अस्वाभाविक तथा अहितकर है।

२–यह अन्नसे कम पुष्टिकर है।

३–निरामिष आहारकी अपेक्षा यह मनुष्यमें सहिष्णुता, शक्ति, स्फूर्ति तथा सामर्थ्य बहुत ही कम उत्पन्न करता है।

४–दाँतोंकी सफेदीपर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

५–यह आयुको घटानेवाला है।

६–यह आलस्य, भारीपन तथा प्रातःकाल शारीरिक श्रममें अरुचि उत्पन्न करता है।

७–यह सौमें निन्यानबे मनुष्योंका सफाया कर देता है।

८–यह क्षुद्र 'अहम्'के प्रति प्रेमका विस्तार करके जगत्‌के प्रति हमारे विचारोंको संकीर्ण बना देता है।

९–यह राष्ट्रकी स्वार्थपरायणता, लोलुपता, अवनति, ह्रास तथा विनाशकी जड़ है।

१०–इसके कारण शराब पीनेकी बुरी और विनाशकारी आदतको प्रोत्साहन मिलता है, जिससे देशके लोगोंका जीवन अनावश्यक रूपसे खर्चीला हो जाता है और इस प्रकार अन्तमें यह देशकी सत्ताको संकटमें डाल देता है; क्योंकि श्रीडाक्टर हेडके शब्दोंमें कम-खर्चीले जीवनका प्रश्न ही राष्ट्र तथा प्रत्येक व्यक्तिके अस्तित्वका निर्णय करता है।

(Cattle-Problem in India)

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन तथा उद्धरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि अहिंसाका तात्पर्य केवल मानवकी हिंसा न करना ही नहीं है। किसी भी प्रकारसे तथा किसी भी हेतुसे कभी भी किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना ही 'अहिंसा' है और यह अहिंसा ही मनुष्यके लिये परम आदरणीय, सबके आचरणके योग्य, सर्वसुखकारी तथा कल्याणकारी परम धर्म है।

मांस-भक्षण सब प्रकारसे दुःख तथा भय उत्पन्न करनेवाला, रोग उत्पन्न करनेवाला, महान् संकट पैदा करनेवाला, नरकोंमें ले जानेवाला तथा बुरी-से-बुरी योनियोंमें भटकाकर अनन्त दुःखोंका भोग करानेवाला महापाप है। अतएव सर्वथा त्याज्य है।

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह प्राणिहिंसाके महापापसे बचे और मांस-भक्षणका सर्वथा परित्याग कर दे। दूसरे लोगोंको भी मांस-भक्षण तथा जीव-हत्याके दोष बतलाकर उन्हें मांस-भक्षणसे बचावे। यह परम सेवा है तथा भगवान्‌को प्रसन्न करनेका अमोघ साधन है।

महाभारतमें कहा है—

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः ॥
(अनुशासनपर्व)

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथात्मनि तथा परे ॥
(अनुशासनपर्व)

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥
(अनुशासनपर्व)

लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ।
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ॥
(शान्तिपर्व)

भारत ! सभी जीवोंके लिये मृत्यु अनिष्ट है अर्थात् कोई भी प्राणी मृत्यु नहीं चाहता, मृत्युके समय प्राणी काँप उठते हैं।

इस संसारमें प्राणोंके समान अति प्रिय वस्तु और कुछ भी नहीं है। अतः मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है वैसे ही दूसरेपर भी करे।

जो मनुष्य दयापरायण होकर सब प्राणियोंको अभय-दान देता है, सब प्राणी उसको अभयदान देते हैं।

इस संसारमें जो मनुष्य सब प्राणियोंको अभयदान देता है, वह समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुकता है। उसको सबसे अभय प्राप्त होता है। अतएव प्राणिमात्रकी हिंसा न करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म ही नहीं है।

मांसाहारपर वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार

(लेखक—श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र 'चन्द्र')

'जैसा आहार होता है, वैसा ही मन होता है। जो मनुष्य अत्याहारी है, जो आहारमें कुछ विवेक या मर्यादा ही नहीं रखता, वह अपने मानस विकारोंका गुलाम है। जो स्वादको नहीं जीत सकता, वह कभी इन्द्रियविजयी नहीं हो सकता। शरीर आहारके लिये नहीं बना है, आहार शरीरके लिये बना है। शरीर अपने-आपको पहचाननेके लिये बना है। अपने-आपको पहचानना, अर्थात् ईश्वरको पहचानना। इस पहचान (आत्मपरिचय) को जिसने अपना परम विषय बनाया है, वह विकारवश नहीं होगा।'

महात्मा गाँधीजीकी उपर्युक्त पंक्तियोंद्वारा हमें सचमुच उन बातोंका ज्ञान एवं आभास होता है, जो मनन करने योग्य हैं। हम जानते हैं आहारसे शरीरका निर्माण होता है। हम यह जोरसे कह सकते हैं कि हमारे शरीरकी धमनियोंमें जो रक्त संचारित होता है, हमारे अङ्गोंकी मांसपेशियोंका निर्माण जिसके द्वारा होता है, वह केवल आहार है। शरीरमें आत्माका निवास है, जो परमात्माका अंश है। हमारे शरीरका प्रभाव हमारी आत्मापर अवश्य पड़ता है, यह चिरन्तन सत्य है और उसी आत्माके द्वारा हमें लौकिक एवं अलौकिक मार्गोंकी ओर अग्रसर होना पड़ता है। कहनेका तात्पर्य यह है, यदि हमारा आहार सब प्रकारके विकारोंसे पूर्णरूपेण दूर न हुआ तो उसका प्रभाव हमारी आत्मापर पड़ता है और हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, हमें परम-पिताका ध्यान ही नहीं रहता। धार्मिक दृष्टिसे हम जानते हैं कि सत्त्व, रज एवं तम—तीन गुण हैं तथा साथ-ही-साथ सात्त्विक, तामस एवं राजस भोजन भी बताये गये हैं तथा यह भी दिखलाया गया है कि उक्त प्रकारके भोजन करनेसे हममें उक्त प्रकारके गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। सचमुच यदि कोई राक्षसी भोजन करना आरम्भ कर दे तो उसकी मानवीय प्रवृत्ति लुप्तप्राय हो जायगी तथा उसमें पाशविक एवं राक्षसी प्रवृत्तियोंका उद्भव होगा।

खैर, हम यहाँ धार्मिक दृष्टिसे त्याज्य पदार्थोंपर विचार नहीं करते। यह वैज्ञानिक युग है और हम इसपर वैज्ञानिक दृष्टिसे ही विचार करेंगे।

संसारके अच्छे-से-अच्छे वैज्ञानिकोंका मत है कि मनुष्यको मांसाहारी न होकर शाकाहारी होना चाहिये। इंग्लैंडके प्रमुख कवि एवं वैज्ञानिक शेलीने अपने भावोंको कविताओंमें बहुत ही सुन्दरतासे व्यक्त किया है, जो दर्शनीय एवं मननीय है। उन्होंने 'क्वीन मैब' के एक छन्दमें जो कुछ कहा है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

'मांसाहारी मनुष्यको मेमनेका चेहरा स्पष्ट प्रतीत होता है, जबकि वह उसके मांसको त्याज्य समझता है। वह उसके बर्बाद एवं परिपक्व मांसको खाता है। वह प्रकृतिके कानूनको तोड़ता है। उसके मस्तिष्क और शरीरभरमें बुराइयों, भ्रष्टाचारों, घृणा, लज्जा, आत्मग्लानि, पीड़ा, दुःख आदिका विचित्र अनुभव होता है। वह उस भोजनके साथ दुःख, मृत्यु, रोग और अपराधके कीड़ोंको साथ लेता है।'*

हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि 'शेली' अपनी बीस वर्षकी आयुसे पहले ही शाकाहारी हो गया था। यही नहीं, एक दूसरे वैज्ञानिक प्रो॰ 'आरनल्ड हर्ट' (Arnold Eheret) का कथन भी सुन्दर है। वे अपने 'म्यूकसलेस डाइट' (Mucusless Diet) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—

'संसारके पशुओंमें भी मांस खानेका विशेष महत्त्व नहीं है। प्रकृतिके नियमके अनुसार केवल शाकाहार ही उत्तम एवं उपादेय भोजन है। एक प्रकारका ताजा फल, जो किसी विशेष मौसममें उत्पन्न होता है, वह उसी विशेष समयके लिये भोज्य है, और यदि आप उसको खायें तो आप और वस्तुओंसे उसे उत्तम समझेंगे तथा इस प्रकार आपको

---

* These lines occur in the book 'On the vegetable system of Diet' by "Hugh Anson Fausset". Shelley became a vegetarian before he was twenty and the earliest expression of his being a vegetarian occurs in a passage in 'Queen Mab' in which—

> Man no longer slays the lamb, who looks him in the face,
> And horribly devours his mangled flesh, which still avenging
> Nature's broken law kindled all putrid humours in his frame,
> All evil passions, and all vain belief,
> Hatred, despair, and loathing in his mind,
> The germs of misery, death, disease and crime....."

शाकाहारका पूर्ण आनन्द तबतक नहीं प्राप्त होगा, जबतक आप अपने शरीरको मांसादिसे बिल्कुल शुद्ध न कर लेंगे ।'*

ठीक ही है, हमारा शरीर, यदि देखा जाय तो उन्हीं पदार्थोंके द्वारा निर्मित है जो शाकाहारद्वारा हमें पूर्णरूपेण प्राप्त होते हैं। शरीरके रक्तमें, शरीरके मांसमें बाहरके रक्त एवं मांसको मिलाना जरा भी बुद्धिमानी नहीं है। यदि हमारे शरीरके प्रत्येक अवयवका सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो हमें विदित होगा कि इसकी रचना ठीक एक शाकाहारी जीवकी तरहसे है, न कि एक मांसाहारीकी तरह। उदाहरणके लिये आप दाँतको ले सकते हैं। यदि मनुष्यके दाँतका निरीक्षण किया जाय तो वह गाय (जो कि एक शाकाहारी पशु है।) से अधिक मिलता-जुलता है न कि एक मांसाहारी कुत्तेसे।

मनुष्यमें कर्तन-दन्त दो होते हैं। ये आगेकी ओर होते हैं और जैसा कि इनका नाम है ये वस्तुओंके काटनेके काममें आते हैं। इसके उपरान्त श्वदन्त आता है, जिसका मनुष्यमें कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, अतएव ये अधिक विकसित नहीं होते हैं। इसके पश्चात् अग्रचर्वणक एवं चर्वणक दन्तोंकी पंक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार मनुष्यके दन्त-विन्यासद्वारा यह पता चलता है कि उसकी रचना शाकाहारके लिये है। सूक्ष्ममें हम उसे इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$क \frac{२}{२} श्व \frac{१}{१} अ \frac{२}{२} च \frac{३}{३} = ३२$$

यदि हम कुत्तेके दन्त-विन्यासको लें तो हमें पता चलेगा कि उसमें मनुष्यके दाँतोंसे बड़ा अन्तर है। कुत्ता एक मांसाहारी जन्तु है, अतः इसके कर्तन-दन्त छोटे-छोटे होते हैं। प्रत्येक जबड़ेमें इनकी संख्या छः होती है। कर्तन-दन्तोंके इधर-उधर प्रत्येक जबड़ेमें एक श्वदन्त होता है। ये लम्बे नुकीले और मजबूत होते हैं। दोनों जबड़ोंमें प्रत्येक ओर चार-चार अग्रचर्वणक होते हैं, किंतु चर्वणकोंकी संख्या बराबर नहीं रहती। ऊपरी जबड़ेमें प्रत्येक ओर दो और निचले जबड़ेमें प्रत्येक ओर तीन चर्वणक-दन्त होते हैं। ऊपरी जबड़ेका सबसे पीछेवाला अग्रचर्वणक और नीचे जबड़ेका प्रथम चर्वणक-दन्त मांसडाढ़, या कार्नेसीयल दंत (Carnassial) कहलाते हैं। ये मांसके टुकड़े करनेमें अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इनका दन्त-सूत्र इस प्रकार है—

$$क \frac{३}{३} श्व \frac{१}{१} अ \frac{४}{४} च \frac{३}{३} = ४२$$

हमें भगवान्ने जिस प्रकार संसारमें जन्म दिया है, ठीक उसी प्रकार पशुओंको भी ईश्वरने उत्पन्न किया है। यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं कि हम उनकी हत्या करके उनके मांसको अपना आहार बनायें। हमारे लिये ईश्वरने वैसे ही शाकादि इतनी प्रचुरमात्रामें उत्पन्न कर दिये हैं, जिनसे हमारी सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

हम इन बाहरकी वस्तुओंको खाकर अपनी शक्तिको बढ़ानेका प्रयास करते हैं, परंतु फल उसका उल्टा होता है। हमारी शक्ति उक्त वस्तुओंको पचानेमें समाप्त हो जाती है और ऊपरसे लाभ कुछ भी नहीं होता। कहावत बहुत प्रचलित है—'खाओ, पीओ और मौज करो' पर यदि उन मनुष्योंसे, जो फिर इस कहावतके अनुसार जीवन बनाते हैं, यदि पूछा जाय—'क्या भाई! आप इस प्रकारसे सुखी हैं?' उनका उत्तर अवश्य 'ना' में होगा। सचमुच देखा जाय तो वे खाओ, पीओ, मौज करोंके अतिरिक्त स्वयं भोजनके भोज्य बन रहे हैं। उनमें जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह बेकारके विकृत पदार्थोंको पचानेमें व्यर्थ खर्च होती है।

आजका विज्ञान कहता है—स्वच्छताकी ओर ध्यान दो, परंतु वह यह नहीं देखता कि उसके समक्ष हो क्या रहा है। मांस, अण्डे, मछली आदिके भोजनमें कितनी स्वच्छता होती है, यह जाननेका वह प्रयास ही नहीं कर रहा है, अथवा जान-बूझकर भी सभ्यताकी ओटमें उसे एक ओर कर देना चाहता है। 'आरनल्ड हर्ट (Arnold Eheret) का कथन कि 'मांस'—आदि सब वस्तुएँ अपने अवयवोंमें विच्छेद होनेकी अवस्थामें होती हैं। ये विच्छिन्न होकर विष, पूरिया आदि शरीर और त्वचामें बिखेर देती हैं। चर्बी मांससे भी विकृत वस्तु है। कोई भी पशु चर्बी आदि नहीं खाता।*

* "In nature, such as exists in the animal kingdom, there are absolutely no mixtures at all. The ideal and most natural method of eating is the mono-diet, one kind of fresh fruit, when in season, should constitute a meal, and you will find yourself better nourished. This condition, of course, cannot take place until you have thoroughly cleansed your body of toxemic poisons, mucus, or call it foreign substance."

—*Prof. Arnold Eheret*

**Meats*—All are in decomposing state, producing cadaver poisons, uric acid in the body and mucus, fats are the worst. —*Arnold Eheret*

अण्डे मांससे भी अधिक हानिकर हैं। इसका कारण 'आरनल्ड हर्ट'ने यह बताया है कि उनमें केवल अधिक मात्रामें प्रोटीन ही नहीं रहता वरं उनमें एक प्रकारका पदार्थ पाया जाता है जो अत्यधिक चिपचिपा होता है और जिससे खानेके बाद कब्जियत हो जाती है। इस प्रकार यह आँतोंको बहुत ही हानि पहुँचाता है। यह हमारे लाभके अतिरिक्त मृत्युका कारण बन सकता है।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य जो उक्त वस्तुओंको खाकर जीवनको सुखी बनाना चाहता है, वह उसका बिल्कुल भ्रम है; क्योंकि वह मनुष्यको लाभके बदले हानि अधिक पहुँचाता है।

संसारमें मांसादिके आहारके कारण बहुत-से रोगोंका सूत्रपात हुआ है। इन रोगोंको हम अपने-आप मोल लेते हैं। हम स्वस्थ बननेके लिये मांस खाते हैं, परंतु हमें प्राप्त होते हैं उससे रोग, जिनकी हम कल्पनातक नहीं करते। कुछ उदाहरण देनेसे पूर्व हमें पहचान लेना आवश्यक है कि इन रोगोंके कीटाणु अलग-अलग तथा अपनी विशेषता लिये हुए होते हैं। ये कीटाणु अपने जीवनक्रमको दो पोषिता (host) पर रहकर पूरा करते हैं। इन पोषिताओंमें एक पोषिता ऐसी होती है जिसकी ये कुछ भी हानि नहीं करते, परंतु साथ-ही-साथ प्रायः दूसरी पोषिताके लिये बड़े हानिप्रद होते हैं। अपने जीवनक्रममें ये एक पोषितासे दूसरी पोषितामें आया-जाया करते हैं।

उदाहरणके लिये हम यकृत-बिद्धा (Liver fluke) नामक कीटाणुको ले सकते हैं। यह प्रौढ़ावस्थामें भेंड़, गाय, बैल, सूअर, बकरी तथा अन्य पशुओंमें मिलता है और उक्त पशुओंके मांसको मनुष्य खाता है तथा दैववश यह कीटाणु मनुष्यमें पहुँच गया तो यह पित्त-प्रणालियोंमें जाकर यकृताश्य (Pipey-liver) नामक रोग उत्पन्न करता है। इस रोगमें पित्त-प्रणालियोंकी पित्तियोंका कैल्सिफिकेशन (Calcification) हो जाता है और साथ-ही-साथ यकृतकी वृद्धि होती है। हमारे देशमें इस परजीवी कृमिके कारण कितनी आर्थिक हानि होती है, इसके आँकड़े यद्यपि प्राप्त नहीं हैं, फिर भी सहजमें अनुमान लगाया जा सकता है कि वह हानि असाधारण होती है।

आसाममें आँतोंमें आन्त्रविद्धिका (Fasciolopsis buski) मिलता है। इसके कारण मनुष्यको एक नहीं अनेक आमाशयिक शूल (Apigastric Pain), पाण्डु (Anaemia) आदि हो जाता है।

टीनिया सोलियम नामक (Tenia Solium) एक दूसरा कृमि भी है। यह शूकरमें पाया जाता है तथा इसी प्रकारका दूसरा कृमि टीनिया सेजिनेटा (Tenia Saginata) है जो चौपायोंमें—जैसे गाय, भैंस, बकरी आदिमें पाया जाता है और जब मनुष्य इनके मांसको खाता है, तब प्रायः ये कृमि मनुष्यकी आँतोंमें पहुँचकर बड़ी हानि पहुँचाते हैं एवं रोग उत्पन्न करते हैं।

पशुओंमें एक दूसरा कृमि भी मिलता है जिसे श्वकृमि (Echinococcus granulosus) कहते हैं। यह मुख्यतः कुत्तोंकी आँतोंमें मिलता है और आकारमें बहुत छोटा होता है। संक्रामित कुत्तोंके द्वारा वैसे ही अथवा मांससे यदि मनुष्यमें पहुँच जाता है तो वह बहुत हानि पहुँचाता है। उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह सिद्ध हो गया कि कृमि किस प्रकारसे किन पशुओंके मांसके साथ हमारे शरीरमें पहुँचकर विकार उत्पन्न करते हैं। लोगोंमें मांस आदिके अतिरिक्त घोंघा आदि खाना भी प्रचलित है, कुछ लोग चिड़िया आदि भी खाते हैं। बहुत प्रकारके कृमि घोंघे (snails) में रहकर और मनुष्यकी आँतोंमें पहुँचकर (जब वह उन्हें खाता है।) रोग उत्पन्न करते हैं। कबूतरमें रायलटिना और कुटगनिया (Raillietina and Cotugnia) नामक कृमि होते हैं। यदि कोई मनुष्य कबूतरका मांस खाता है तो असावधानीवश यदि एक भी कृमि आँतमें पहुँच जाता है (असावधानी क्या, पहुँच ही जाता है) तो वह औरोंको उत्पन्न कर हमें बड़ा कष्ट पहुँचा सकता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि ये कृमि हमारे देशमें ही नहीं, वरं सारे संसारमें फैले हुए हैं और ये अपने पोषिताके (मांस आदि) साथ मनुष्यके शरीरमें पहुँचकर कष्ट देते हैं। इनको संक्षेपमें हम निम्नलिखित सारणीद्वारा जान सकते हैं—

---

* *Eggs*—**Eggs are even worse than meats, because not only have eggs too high protein qualities, but they contain a gluey property much worse than meat and are therefore very constipating, quite more so than meat.**

—*Arnold Eheret*

क—

	वैज्ञानिक नाम	विकासकी अवस्थाएँ (जिनपर होती हैं)	देशोंके नाम	जिन्हें हानि पहुँचती है ।
Intestinal flukes आमाशय कृमि	Fasciloposis buski फेसिलापिसस बक्सी	घोंघा (Snails) तथा पानीके पौधे	चीन, इण्डोचाइना, सुमात्रा, भारतवर्ष	मनुष्य (चीन) सूअर (फारमूसा)
	Hetrophyes हेट्रोफाइस	घोंघा (Snails) तथा मछलियाँ	मिश्र, चीन, जापान	मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली (मिश्र)
Liver-fluke यकृत कृमि	Chlonorchis siriensis क्लोनोरेसिस सिरेनसिस	घोंघा (Snails) तथा मछलियाँ	चीन, जापान, कोरिया, फेंच इण्डोचाइना,	मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली तथा मछली खानेवाले पशु
	Opisthorchis felineus ओपिसथ्रोचिस फिलिनस	घोंघा तथा मछलियाँ	यूरोप, पनामा, फिलिपाइन	मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली ।
Lungs fluke फेफड़ेके कृमि	Paragoninius westermani पैरागोनिसस वेस्टरमैनी	घोंघा तथा क्रैब्स (Crabs) केकड़ा	(Japan), जापान फिलिपाइन, अमेरिका	मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली ।

ख—

वैज्ञानिक नाम	विकासकी अवस्थाएँ जिनपर विकास	देशोंके नाम	जिन्हें हानि पहुँचती है
Liploybothrium-latum लिप्लीवोथरियलटम	मछलियाँ आदि	सारे संसारमें	मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, (क्षुप्रांग)
Echinococcus granulosus इकेनूकोकस ग्रेनुलोसस	यकृत, फेफड़े, मस्तिष्क मनुष्यके सूअर, भेड़ आदि	,,	कुत्ते तथा मनुष्य
Hymenolepisnema हिमनोलिपिसनमा	मनुष्य, चूहा आदि	,,	मनुष्य तथा चूहा
Tenia saginata टिनिया सजिनेटा	चौपायों, आदि	,,	मनुष्य
Tenia solium टिनिया सोलियम	सूअर आदि	,,	मनुष्य

उपर्युक्त सारिणीसे पता चलता है कि किस प्रकार भयानक एवं संक्रामक रोग दूसरे पशुओंके द्वारा मनुष्यमें फैलता है। आश्चर्यकी बात यह है कि जिस मांसको मनुष्य अपने सदुपयोगमें लाना चाहता है, जिससे लाभ उठानेका प्रयत्न करता है, वास्तवमें वह कितना त्याज्य और रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है। काश, आजके वैज्ञानिक इस प्रगतिके युगपर इस छिपी हुई कालिमाको धोनेका प्रयत्न करते! आप जिस वस्तुको खाते हैं अपने स्वास्थ्यके लिये, वही वस्तु आपके स्वास्थ्यको बनानेके स्थानपर उसे विकृत कर देती है।

इनसे मनुष्योंको ही नहीं; वरं पशुओंको भी हानि पहुँचती है। हमारे देशमें ही नहीं; वरं संसारके भिन्न-भिन्न देशोंमें इन रोगोंका आधिपत्य है। हमारा शरीर एक प्रकारका यन्त्र है, जो विद्युत्-यन्त्रके सदृश काम करता है। इसे विद्युत् एक ऐसी जगहसे मिलती है जिसे हम आदिशक्ति या परमात्मा कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हमें अपने जीवनरूपी यन्त्रको चलानेके लिये भौतिक एवं आत्मिक शक्ति परमात्मासे मिलती है। यह शक्ति हमें निद्राके समय मिलती है। इसका अनुमान हम स्वयं दो दिन न सोकर लगा सकते हैं। सोनेके पश्चात् प्रातः उठनेपर मन एवं शरीरमें स्वच्छता एवं स्फूर्तिका अनुभव होता है। इस प्रकारसे प्राप्त हुई शक्ति हमें लौकिक एवं पारलौकिक कार्योंमें सहायता देती है।

हम समझते हैं कि हम खानेके ही कारण जी पाते हैं, यदि हम भोजन लेना बंद कर दें तो हमारी मृत्यु अवश्यम्भावी है। परंतु यदि हम इसपर ठीकसे विचार करें तो पता चलेगा कि खाना जीवनके लिये केवल उतना ही आवश्यक है जितना किसी विद्युत्-यन्त्रके कल-पुर्जोंमें लगानेके लिये तेल। यदि कोई मनुष्य मांसादिपर जीवननिर्वाह करेगा, तो उसके शरीरमें चर्बी आदिका प्राचुर्य अवश्य हो जायगा, परंतु उसकी क्रियाशीलता पूर्णरूपेण नष्ट हो जायगी और यदि कोई मनुष्य केवल अन्नादिपर निर्वाह करे तो उसकी शारीरिक प्रौढ़ताका संतुलन ठीक रहेगा, परंतु उसके शरीर आदिपर क्रान्तिका प्रसार न होगा और यदि कोई मनुष्य केवल फलाहारपर निर्वाह करे तो यह सत्य है, उसका शरीर क्षीण होता जायगा, परंतु साथ ही उसमें दुर्बलता और क्रान्ति भी आ जायगी।

हाँ तो, हमारे शरीरका विद्युत्-यन्त्र केवल उतना ही भोजन चाहता है जितनेमें उसके शरीरके अवयवोंको पुनः संगठित करनेकी आवश्यकता होती है। इसके प्रमाण हमारे प्राचीन महर्षि आदि हैं। जो समाधिस्थ होकर हजारों वर्ष जीवित रहते थे।

समाधि भी एक उच्च श्रेणीकी निद्रावस्था ही है। जब कोई मनुष्य समाधि लगाता है, तब वह उच्च निद्रावस्थामें पहुँच जाता है। तब वह अपने शरीरके विद्युत्-यन्त्रके द्वारा उस आदिशक्तिसे शक्ति (विद्युत्) लेता है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। यही कारण है कि वह हजारों वर्षोंतक उसी प्रकार जीवित रहता है, जैसा कि वह पहले था। हाँ, एक बात अवश्य है उसका शरीर क्षीण हो जाता है, कारण कि उसे शारीरिक अवयवोंके ठीक करनेके लिये भोज्य पदार्थ नहीं मिलते। परंतु उसके शरीर और विशेषकर मुखमण्डलपर तेज, कान्ति विद्यमान रहती है। बल्कि और भी बढ़ जाती है। आजका मनुष्य इन बातोंको कल्पित और असम्भव समझता है, परंतु वह यह नहीं जानता है कि इसके पीछे कितना वैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है।

अन्तमें मैं यही कहूँगा कि जिनमें जरा-सा विवेक और तर्क शक्ति है; जो जीवनको निरर्थक न समझ उसे किसी निमित्त समझते हैं (क्योंकि बिना कारणके कार्य हो ही नहीं सकता) वे मांसादि-भक्षणपर विचार करें और सोचें कि इससे क्या लाभ होता है और क्या हानि होती है। आजकल आये दिन हार्टफेलके समाचार मिलते हैं—आखिर ऐसा क्यों होता है। पहले ऐसे समाचार कदाचित् ही सुननेमें आते थे, परंतु अब आचार-विचार, खान-पान आदिका संसारमें कोई विचार ही नहीं रहा। यही कारण है कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति दिनोंदिन क्षीण और लुप्तप्राय होती जा रही है और हम पशुताके पुजारी बनते जा रहे हैं! मेरी तो समझमें नहीं आ रहा है कि संसार सभ्यताकी ओर अग्रसर हो रहा है अथवा घोर असभ्यताकी ओर!

पर-दुखकी परवाह न कर जो मांस प्राणियोंका खाता। प्राणीबधके महापापसे निश्चय नरकोंमें जाता॥
फिर अति नीच आसुरी पशुपक्षीके चोलेको पाता। दुख पाता, रोता, फिर पूर्व वैरवश वह मारा जाता॥

प्राणिहिंसाकी विशाल योजना

'अरे मरणधर्मा मनुष्यो ! अपनी कलङ्कित तश्तरियोंके लिये प्राणियोंके शरीरोंका वध करना छोड़ो; क्योंकि जो मनुष्य एक भोले-भाले बछड़ेकी गर्दनपर छुरी चलाता है तथा निष्ठुर होकर उसका बँबाना सुनता है, अथवा जो बच्चों-की भाँति मेंमियाते हुए बकरीके बच्चेका वध कर सकता है, या जो अपने ही हाथों खिलायी-पिलायी मुर्गीको खाकर अपनेको पुष्ट कर सकता है, वह अत्यन्त दुष्ट स्वभावको प्राप्त होता है और पशुओंकी भाँति मनुष्योंका रक्त बहानेके लिये भी अपने-आपको तैयार करता है।'

—पायथैगोरस

'किसी भी शास्त्रमें पशुओंका मारना नहीं लिखा है। हर-एक मनुष्य बुढ़ापा आनेके बाद या किसी बीमारीसे अपने-आप मर जाता है, उसको वध करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। जब कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक कीड़े-मकोड़ोंको जन्म नहीं दे सकते, तब उन्हें मार डालनेका उनका दावा कैसा? पहले राक्षस आदमियोंको खाते थे और अब आदमी पशुओंको खाते हैं, जो बड़े-से-बड़ा पाप है, जो होना नहीं चाहिये। मैं समस्त हिंदुओं, मुसल्मानों और पारसियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे ऐसे निरीह प्राणियोंका मारा जाना रोकें और विशेष करके गौओंकी रक्षा तो करनी ही चाहिये।'

—महामना मदनमोहन मालवीय

'मनुष्यके आहारके लिये जो आज प्राणियोंका वध होता है, उसे रोका जाय तो बड़ा अच्छा हो; परंतु इसके लिये एक ही मार्ग है और वह यह है कि मनुष्य-हृदयको जाग्रत् किया जाय। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। जहाँ भक्ष्य-भक्षक-भाव पक्का हो गया है, वहाँ दया-बुद्धिको उत्पन्न करना बहुत ही कठिन है। पशु-पक्षी, मत्स्य आदिका वध करनेके लिये जो पालन-पोषण किया जाता है, वह शिकारकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है। जिनका पालन करना उन्हींका वध करना; जिन्हें खाना देना उन्हींको खा डालना—इसमें उन जीवोंकी हिंसा तो होती ही है, परंतु उससे भी अधिक भयानक मनुष्य-हृदयकी हिंसा हो जाती है।'

—श्रीकालेलकर

बड़े ही खेदकी बात है कि ऋषि-महर्षियोंकी इस पुण्य-भूमिमें, भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीरकी जन्मभूमिमें, गाँधीजीकी पूज्य पितृभूमिमें आज हिंसाका और मांस-भक्षण-का प्रचार-प्रसार भयानक रूपसे बढ़ रहा है। जिस देशमें पिछली शताब्दियोंतक हिंसासे बड़ी घृणा थी, उसी पवित्र देशका घर-घर आज कसाईखाना बनने जा रहा है!

फाहियान—जिन्होंने ईसवी सन् ३९९ से ४१४ तक भारतमें भ्रमण किया था—लिखते हैं—

'चाण्डालोंके अतिरिक्त कोई भी किसी जीवित प्राणीका वध नहीं करता था, न मादक पेय पीता था, न जीवित पशुओंका व्यापार करता था। कसाईखाने और मदिराकी दूकानें नहीं थीं।'

अभी सन् १६७८—१६८१ में डाक्टर जान फ्रायर आये थे, वे अपना अनुभव बतलाते हैं—

'हिंदूलोग कन्द-मूल, साग, पत्ती, चावल तथा सब तरहके फलोंपर ही निर्वाह करते हैं, वे किसी भी जीवको नहीं खाते और न अंडे-जैसी कोई वस्तु खाते हैं, जिससे जीव उत्पन्न होता है।'

मुसल्मानी जमानेमें कुछ हिंसा बढ़ी थी पर वह धार्मिक कुर्बानीके रूपमें थी। न किसीको मांस खानेके लिये प्रोत्साहित किया जाता था, न उसके मिथ्या गुणोंका प्रलोभन दिया जाता था। अंग्रेजी राज्यमें हिंसा और भी बढ़ गयी, अंग्रेजी फौजोंके लिये पशुहिंसा होने लगी। पर उस समय भी धर्म-प्राण सर्वसाधारण मांससे घृणा करते थे। पर आज तो सारी ही स्थिति भयानक हो रही है। अंडेकी बात ही नहीं, उसे तो लोग निरामिष बतानेतकका दुःसाहस करने लगे हैं, मुर्गी-बकरीका मांस भी बहुत लोग चावसे खाने लगे हैं। यह इस अहिंसा-प्रधान सांस्कृतिक देशका भयानक पतन है। मैं स्वयं जानता हूँ,—हमारे अहिंसाप्रधान वैष्णव और जैन-समाजमें भी ऐसे मांसाहारी लोग उत्पन्न हो गये हैं। यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है।

सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि अहिंसाकी

भूरि-भूरि प्रशंसा करनेवाली हमारी सरकार आर्थिक लाभकी योजना बना-बनाकर प्राणिहिंसाका घोर प्रचार-प्रसार कर रही है और उसके विशेषज्ञ लोग कसाईकी तरह लोगोंको मांस खानेके लिये उसके गुण और लाभ बता-बताकर प्रोत्साहन दे रहे हैं !

कुछ वर्षों पूर्व भारतसरकारद्वारा निर्मित एक कमेटीने जनताके खानपानकी रुचिमें परिवर्तन करके उसे मांसभोजी बनानेकी सलाह दी थी। भारतसरकारने एक पत्रमें राज्य-सरकारोंको लिखा था कि 'मरी हुई गायोंके चमड़ेकी अपेक्षा मारी हुई गायोंके चमड़ेका मूल्य अधिक आता है, इसलिये गोवध सर्वथा बंद नहीं होना चाहिये।'

भोजनके लिये स्थान-स्थानपर मछली, मुर्गे, सूअर आदिके पालनेकी सरकारने बड़ी भारी योजना बनायी है। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनामें केवल मछलियोंके लिये ११,७७,५८,०००) रुपये रक्खे गये हैं। मुर्गी-सूअरके इससे अलग हैं। सरकारी स्तरपर इतने व्यापक तथा विशाल रूपमें प्राणि-संहार तथा मांस-प्रचारकी योजना भारतमें इससे पहले कभी नहीं बनी थी!

अभी हालमें भारतसरकारने मांसको प्रधान 'उद्योग' (Industry) बनाने और इसके लिये 'प्राणिहिंसाके साधन बढ़ाने तथा गोहत्या जारी रखनेके हेतुसे 'मांसबाजार रिपोर्ट' १९५५ प्रकाशित की है। उसकी सिफारिशोंका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है। इसको पढ़नेसे पता लगेगा प्राणि-विनाश-वृद्धि तथा गोहत्या जारी रखनेका कितना महान् प्रयास सरकारी तौरपर हो रहा है—

Conclusion and Recommendations

Production

The annual value of meat along with edible offals produced in India is estimated to be over 100 crores of rupees. The importance of the industry should not, however, be judged merely from this figure. Meat is vitally important to the Indian population because their diet is deficient in first class proteins and these could easily be obtained from meat. Therefore, from economic, nutritional and public health points of view, the meat industry is of considerable importance to the country and deserves a lot more attention than it has received in the past.

There appears to be a considerable agitation, in a section of the population, for complete ban on slaughter of cattle in India. This survey, however, has indicated that such a ban on total slaughter is bound to have serious repercussions on the different branches of live-stock industry of the country. The problem requires to be viewed from a practical economic angle. The correct solution would then seem to be to preserve useful cattle at all costs and so to improve the animals' health and breed as to ensure for the country in the course of time to come all the milk it needs and all the efficient animals its agriculture requires and yet, leave an adequate surplus to yield good quality meat, hides, skins and bones. *It is, therefore, recommended that an Expert Committee consisting of officials and nono-officials conversant with meat and allied livestock industries should be appointed to enquire into the possible effects of the total ban on the slaughter of cattle with particular reference to the following—*

(i) The direct economic loss, present and potential that may be caused in the country as a result of the ban on the quality, quantity and value of meat and its by-products such as hides, bones, guts, horns, hoofs, blood, etc.

(ii) The loss that is likely to accrue to the country by the increase in the number of uneconomic or unfit cattle in the course of the next few years and its effects on the existing livestock fodder supplies.

(iii) The effect of such a ban on the health and welfare of that section of the Indian population, particularly the economically backward part of it, who depend largely on this cheap source for the supply of animal protein in their diet.

(From the Report on the Marketing of Meat in India, 1955, Page 166)

'भारतमें मांस तथा तत्सम्बन्धी खाद्य पशु-अङ्गादिके वार्षिक मूल्यका अनुमान लगभग एक सौ करोड़ रुपयेसे अधिक है। व्यवसायका महत्त्व केवल इन्हीं आँकड़ोंसे नहीं मान लेना चाहिये। मांस भारतीयोंके लिये नितान्त अनिवार्य है; क्योंकि उनके भोजनमें प्रथम श्रेणीकी 'प्रोटीन'की कमी मिलती है जो कि मांसद्वारा सरलतासे पूरी की जा सकती है; अतः आर्थिक, पौष्टिक तथा जनताके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे मांस-का व्यवसाय देशके लिये अत्यन्त आवश्यक है और इस दिशाकी ओर पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक ध्यान देना चाहिये।

भारतमें गोहत्या सम्पूर्ण बंद करनेके लिये जनताके कुछ भागोंमें अधिक मात्रामें आन्दोलन है। इस अनुसंधानसे, स्वभावतः यह पता चलता है कि गोहत्या पूर्णतया बंद करने-से देशके विभिन्न पशु-धन-व्यवसायपर गहरा आघात लगना अनिवार्य है। अतः इस समस्याको व्यावहारिक और आर्थिक ढाँचेसे देखना चाहिये। अतएव सही हलकी दृष्टिसे लाभदायक गोधनकी सँभाल सर्वथा आवश्यक है। इसके साथ ही पशुओं तथा नस्लकी उन्नति की जाय ताकि देशके भविष्यकी दृष्टिसे दूध, खेती-बारीके लिये मजबूत, चुस्त पशु तथा मांस, हड्डियाँ, चमड़ा, खाल आदिके लिये प्रचुर मात्रामें पशु मिल सकें।

अतः यह सिफारिश की जाती है कि सरकारी और गैरसरकारी लोगोंकी जो मांस और गोधनके विषयमें पूरी जानकारी रखते हों, विशेषज्ञ-समिति बनायी जाय जो निम्न बातोंकी ओर ध्यान रखते हुए 'पूर्ण पशुवध बंद करनेसे क्या प्रभाव पड़ता है' इस विषयमें जाँच करें—

(१) गोवध बंद करनेपर मांसके परिणाम, मूल्य तथा तत्सम्बन्धी उपज खालें, हड्डियों, आँतों तथा भविष्यमें क्या-क्या हानि हो सकती है।

(२) आगेके कुछ वर्षोंमें अयोग्य, अपंग और वृद्ध गोवंशकी भारतमें संख्या-अभिवृद्धि होनेपर जो हानिकी सम्भावना हो सकती है तथा उस समय पशुओंके लिये चारा-सम्बन्धी रसदका अभाव।

(३) आर्थिक दृष्टिसे जिन लोगोंका स्तर नीचा है और भोजनमें प्रोटीनकी कमीको पशुओंके मांसद्वारा ही जो पूरा करके स्वस्थ तथा सुखी होते हैं, उनपर पूर्ण गोहत्या बंद होनेपर क्या प्रभाव होगा।

इसीके साथ नीचे वह पत्र प्रकाशित किया जा रहा है जो हमारी स्वास्थ्य-मन्त्रिणी श्रीराजकुमारी अमृतकौर महोदयाने राज्य-सरकारोंके मिनिस्टरोंको लिखा है और जिसमें पशुओंके विभिन्न अङ्गोंसे दवा बनानेके लिये कसाईखानोंकी उन्नति करने, नये ढंगके कसाईखाने खोलनेके लिये विचार करनेको कहा गया है—

Minister for Health India, New Delhi

Dear Minister,

The Pharmaceutical Enquiry Committee in paragraphs 97–99 of their recommendations have stressed the need for setting up modern slaughter houses in big cities for the proper collection and storage of internal organs and glands of animals which are used by the pharmaceutical industry. The recommendations of the Pharmaceutical Enquiry Committee have been carefully examined and it is considered that steps should be taken to modernize slaughter houses, especially in those big cities where animals are slaughtered in large numbers, and to provide adequate facilities for the collection and storage of internal organs and glands of animals which are used in the manufacture of biological products such as liver extract, insulin and other hormones. Such measures should result not only in the promotion of indigenous manufacture of essential glandular drugs but also in conserving foreign exchange by utilizing the indigenous sources of glands etc. which at present go waste. The State Government were accordingly

addressed (in my Ministry's letter No. F. 12-7/55-D, dated the 19th February, 1955), for taking up the programme of modernization, as set out in the Masani Committee's Report, in big cities such as, Bombay, Madras, Calcutta, Delhi, Kanpur and Hyderabad and for discussing this question at a conference with the representatives of the pharmaceutical industry, the Municipal authorities and the State Drug Standard Control Officer. I shall be grateful if you will kindly give your personal attention to this matter, so that necessary action is taken in your State on the lines indicated in my Ministry's letter referred to above.

Yours Sincerely,

Sd/Amrit Kaur.

प्रिय मन्त्री महोदय !

'फार्मेस्युटिकल इन्क्वायरी कमेटीने अपनी सिफारिशों नं० ९७-९९ में इस बातकी आवश्यकतापर जोर दिया है कि पशुओंकी गिल्टियों और आन्तरिक अङ्गोंको ठीक प्रकारसे इकट्ठा करने और उनको गोदाममें रखनेके लिये बड़े शहरोंमें नये ढंगके कसाईखाने बनाये जायँ, जिनका दवाई बनानेके उद्योगमें उपयोग किया जाता है। इस इन्क्वायरी कमेटीकी सिफारिशोंका बड़े ध्यानसे निरीक्षण किया गया है और यह समझा गया है कि उन बड़े शहरोंमें नये ढंगके कसाईखाने बनानेके लिये प्रबन्ध किया जाय। विशेष करके, जहाँ पशु बड़ी संख्यामें वध किये जाते हैं और पशुओंकी गिल्टियों और आन्तरिक अङ्गोंको इकट्ठा करने और उनको गोदाममें रखनेके लिये पूरी सुविधाएँ दी जायँ। और यह चीजें ऐसी दवाइयाँ बनानेके काम आती हैं, जैसे 'जिगरका सत' 'इनस्यूलीन' और दूसरे वैसे ही पदार्थ। ऐसे तरीकोंसे न केवल गिल्टियों-सम्बन्धी आवश्यक दवाइयाँ देशमें बनायी जायँ बल्कि इन गिल्टियों आदिको काममें लाकर धन भी प्राप्त किया जाय। जो अब वैसे ही बर्बाद हो जाती हैं। इसलिये राज्यसरकारोंको इस मन्त्रालयकी चिट्ठी नं० १२-७ ५५ डी ता० १९ फरवरी १९५५ द्वारा यह लिखा गया है कि वह इस नये ढंगके कार्यक्रमको जैसा कि मसानी कमेटीकी रिपोर्टमें बताया गया है—बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, हैदराबाद-जैसे बड़े शहरोंमें प्रारम्भ करें और फार्मास्युटिकल दवाई बनाने-वाले, उद्योगके प्रतिनिधियों या म्युनिसिपल कर्मचारियों और स्टेट ड्रग स्टैंडर्ड कंट्रोल आफिसर, राज्यौषध-स्तर नियन्त्रण अधिकारीके साथ एक सम्मेलनमें इस प्रश्नपर विचार करें। मैं कृतज्ञ हूँगी यदि आप कृपा करके इस विषयकी ओर अपना व्यक्तिगत ध्यान देंगे, ताकि आपके प्रान्तमें मेरे मन्त्रालयकी उपर्युक्त चिट्ठीमें बताये हुए सुझावको लेकर आवश्यक कार्य किया जा सके।'

आपकी सच्चे दिलसे

अमृतकौर

और इसके अनुसार नये ढङ्गके कसाईखाने बनानेकी व्यवस्था भी आरम्भ हो गयी है। गत ता० १० अप्रैल १९५६ को लोकसभामें डॉ० रामारावके एक प्रश्नके उत्तरमें श्रीनित्यानन्द-जी कानूनगो व्यवसाय-उपमन्त्रीने यह माना कि 'दिल्ली और बम्बईकी सरकारें नये ढंगके कसाईखाने बनानेकी तजवीज कर रही हैं। पशुओंकी हड्डियोंके जोड़ और दूसरे अङ्ग, जो दवाई बनानेके काम आते हैं, उनको रखनेपर भी गौर कर रही हैं। इत्यादि—

उपर्युक्त कमेटीकी सिफारिश तथा श्रीराजकुमारी अमृतकौर-के पत्रसे पता लगता है कि खान-पान तथा दवाके लिये किस प्रकार भयानक प्राणि-हिंसा और गो-हत्याकी योजना चल रही है और यदि इसके अनुसार कार्य हुआ तो देश कसाइयोंका-सा देश ही बन जायगा। कहाँ तो महात्माजीके साथी श्रीकालेलकर महोदय-जैसे विद्वान्, पशु-पक्षी और मछलियोंको पाल-पोसकर उनके वध करनेको जीव-हिंसाके साथ-ही-साथ 'मनुष्य-हृदयकी हिंसा' बताते हैं (देखिये इस लेखके आरम्भमें दिया हुआ कालेलकरजीका उद्धरण) और कहाँ महात्मा गांधीजीके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेवाली सरकार विशाल क्षेत्रमें व्यापकरूपमें पशु-पक्षी और मछलियों-को पाल-पोसकर मारने तथा लोगोंके द्वारा खाये जानेकी सरकारी तौरपर योजना बना रही है। भगवान् सद्बुद्धि दें।

सरकारकी इन योजनाओंको पढ़-सुनकर लोगोंका हृदय काँप उठा है। दिल्लीकी अहिंसा-प्रचार-समितिने एक विराट सभामें जो प्रस्ताव स्वीकार किये हैं, उनमें दूसरा प्रस्ताव यह है—

प्रस्ताव नं० २ –

अहिंसा-प्रचार-समिति दिल्लीद्वारा आयोजित यह सभा राष्ट्रपति महोदय, प्रधान मन्त्री, खाद्य-मन्त्री तथा स्वास्थ्य-मन्त्री महोदयकी सेवामें नम्र-निवेदन करती है—

(१) भारतसरकारके कृषि-मन्त्रालयने 'मांस-बाजार-रिपोर्ट १९५५' द्वारा पशु-वध जारी रखने तथा बढ़ानेके जो सुझाव दिये हैं उन्हें कार्यरूपमें परिणत न किया जाय।

स्वास्थ्य-मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर तथा उनके मंत्रालयद्वारा फ़रवरी १९५५में राज्य-सरकारोंको पशुओं-के भिन्न-भिन्न अङ्गोंद्वारा ओषधि तैयार करनेके लिये जो प्रोत्साहन दिया गया है, उसपर अमल न हो।

(३) दिल्ली तथा बम्बईमें जो आधुनिक ढंगके कसाई-खाने खोलनेकी योजना बनायी जा रही है, वह सदैवके लिये रद्द कर दी जाय।

प्रत्येक धर्म, संस्कृति, देश, स्वास्थ्य, गोमाता तथा प्राणि-मात्रके हितैषी पुरुषका तथा संस्थाओंका यह पुनीत कर्तव्य है कि वे स्थान-स्थानपर सभाओंका आयोजन करके माननीय राष्ट्रपति, सम्मान्य सर्वश्री प्रधान मन्त्री, खाद्य-मन्त्री और स्वास्थ्य-मन्त्री महोदयकी सेवामें हिंसा बढ़ानेवाली तथा गोहत्या जारी रखने-वाली इन योजनाओंको बंद करनेके लिये उपर्युक्त प्रकारके प्रस्ताव तथा प्रार्थना-पत्र भेजें, शिष्ट-मण्डल भेजें, समाचार-पत्रोंमें आन्दोलन करें और प्रबल लोकमत तैयार करके प्राणि-हिंसाको बंद करानेके कार्यमें सहायता कर देशको महान् पापसे बचावें तथा महान् पुण्य अर्जन करें।

साथ ही सब लोग अपने-अपने इष्टदेव भगवान्से प्रार्थना करें कि वे इन भूले हुए अधिकारियोंको सुबुद्धि दें, जिससे ये इस महान विनाशकारी महापापसे बचें तथा देशको बचावें।

विज्ञान या कि अज्ञान ?

(प्रश्नकर्ता—श्रीरुद्र)

यद्यपि विज्ञानके आविष्कार मानवीय बुद्धिके चमत्कार-के द्योतक और गौरवास्पद हैं, तथापि जब ये बातें ध्यानमें आती हैं कि मनुष्यकी शक्तिके मुकाबले सैकड़ों-गुना अधिक उत्पादन करनेवाली मशीनोंके बावजूद अधिकांश मनुष्योंको पूरा भोजन-वस्त्र नहीं मिलता। 'Science and humanity to walk hand in hand (विज्ञान और मानवता साथ-साथ चलें) जैसे मधुर रागोंके अलापे जानेपर भी महाविनाशक और विषाक्त अस्त्रोंके निर्माण तथा प्रयोगद्वारा निर्दोष जीवोंकी हत्याके साथ संसारको आधि-व्याधिसे पीड़ित करनेवाले कार्योंमें दुनियाँकी सम्पत्ति और विज्ञानकी शक्तिका दुरुपयोग करनेमें बुराई नजर नहीं आती तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि ऐसे कार्योंमें वैज्ञानिकता दीखती है कि अज्ञान ? यदि अज्ञानमूलक नहीं तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वायुके तूफ़ानी झंझावातों आदि प्रकृतिके साधारण प्रकोपोंका सामना करनेमें असमर्थ होते हुए भी अणुबमके प्रयोगसे अति ताप आदिके विकार क्यों पैदा किये जा रहे हैं ? एक ओर अनेकों लोगोंको जीवनकी नितान्त जरूरी चीजें भी प्राप्त न हो रही हों और दूसरी ओर अरबों-खरबों-की सम्पत्ति समुद्रोंमें डुबायी जा रही हो तथा संसारको भय-व्याधिपीड़ित किया जा रहा हो तो इसे विज्ञानके बजाय अज्ञान क्यों नहीं कहा जाय और ऐसे कार्योंको करनेवाले वैज्ञानिकों तथा उन्हें न रोक सकनेवाले आज-के विश्वनाटकके सूत्रधारोंको क्यों न रास्तेपर लानेका प्रेम तथा शान्तियुक्त प्रयत्न किया जाय ?

कामके पत्र

(१)

भगवान् नित्य साथ रहते हैं

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपके पत्र प्राप्त हो गये । बड़ा सुन्दर भाव है । भगवान्की आपपर बड़ी कृपा है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

हमको भगवान् इन आँखोंसे चाहे न दिखायी दें पर यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि हमारे पास वे सदा-सर्वदा रहते हैं । कभी भी हमको छोड़कर अलग नहीं होते । पर हमारा पूरा निश्चय न होनेसे हम भूले हुए हैं, इसीसे अशान्ति अनुभव करते हैं । हीरोंका हार अपने गलेमें ही है । वह कपड़ोंसे ढँका है । इस बातको भूल जानेसे मनुष्य उसे बाहर ढूँढ़ता है और न मिलनेपर दुखी होता है । जब याद आ गया, कपड़ा हटाकर देख लिया, कि हार मिल गया । इसी प्रकार भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं । हृदयमें विराजमान हैं । (केवल निर्गुण निराकार रूपसे ही नहीं, हमारे जाने-माने हुए दिव्य सगुण-साकाररूपमें भी ।) विश्वास कीजिये 'वे सदा साथ रहते हैं ।' इसके बाद निश्चय होगा कि 'रहते ही हैं ।' अतएव उनकी इच्छा होगी तब 'दीखने भी लगेंगे ।' यह उनकी इच्छापर छोड़ दीजिये । वे सदा साथ रहते हैं, यही क्या उनकी कम कृपा है । उनकी यदि स्वप्नमें भी झाँकी होती है तो यह बड़ा सौभाग्य है । यह उनकी महती कृपा है ।

कदाचित् ऐसी बात न जँचे, यद्यपि है तो यह परम सत्य ही, तो उनके न मिलनेसे उनके वियोगमें—विरहमें जो उनका पल-पलमें स्मरण होता है, वह क्या कम सौभाग्य है ? उसमें क्या उनकी कम कृपा है ? वे नहीं चाहते तो न मिलें, न दर्शन दें, बड़े-से-बड़ा दुःख दें, पर वह दुःख यदि नित्य उनका मधुर-मधुर स्मरण कराता हो, तो क्या हमारी यह चाह नहीं होनी चाहिये कि उनके इस मधुर-मधुर स्मरण-सुखका महान् आनन्द, महान् सौभाग्य प्रतिक्षण मिलता रहे, फिर वह चाहे वियोगजनित दुःखसे ही मिलता हो । वह दुःख वस्तुतः परमानन्दरूप है जो नित्य-निरन्तर प्राण-प्रियतम प्रभुकी स्मृति कराता है ।

मनमें निश्चय कर लेना चाहिये कि 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्का हूँ ।' जबतक शरीरमें 'अहंता' और शरीरके सम्बन्धी प्राणी-पदार्थोंमें 'ममता' रहती है, तबतक सा[...] आगे बढ़ती नहीं । दिन-रात प्राणी-पदार्थोंमें राग-द्वेष [...] रहता है । इसलिये या तो शरीर, संसारको असत् समझ[...] अहंता और ममता मिटा दी जाय अथवा बहुत ही [...] सरस दूसरी चीज यह है कि 'अहंता (मैं-)को भगवान्[...] बना दिया जाय'—अर्थात् मैं न तो शरीर हूँ, न और [...] हूँ, न और किसीका हूँ । मैं तो एकमात्र उन्हींका दास [...] और सारी ममता—'सारे मेरेपनको भगवान्में लगा [...] जाय ।' अर्थात् कोई भी प्राणी-पदार्थ मेरा नहीं । एक[...] भगवान् ही मेरे हैं । भगवान्के चरणकमल ही मेरे हैं । [...] उनका ही और वे ही मेरे'—तब फिर अपने-आप ही [...] अशान्ति, सारे दुःख-दोष दूर हो जायँगे । उनका अनन्त सु[...] स्मरण आपका जीवन बन जायगा । इसमें भी पहले निश्[...] करना होगा कि—'मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं ।' इ[...] बाद निश्चय होगा कि 'अवश्य ही हैं', फिर अनुभूति [...] और यह अनुभव हो जायगा कि 'मैं उनका ही हूँ और वे [...] मेरे हैं ।' एक भक्तने बड़ा सुन्दर अपना परिचय दिया है—

> नाहं विप्रो न च नरपतिर्नैव वैश्यो न शूद्रो
> नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
> किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
> र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, [...] शूद्र हूँ । न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थी हूँ [...] न संन्यासी हूँ, किंतु अखिल परमानन्द-परिपूर्ण अमृत[...] स्वरूप श्रीगोपीपति श्रीकृष्णके चरणकमलके दासके दा[...] अनुदास हूँ ।' इस प्रकार जब 'भगवान्का मैं और मेरे भग[...] बन जाते हैं, तब न तो कोई जगत्से सम्बन्ध रह जा[...] और न जगत्से कोई आशा ही रह जाती है । फिर [...] जगत्का सम्बन्ध रहता है तो वह प्रभुके मधुर सम्बन्धको [...] ही रहता है । किसी ममता-आसक्ति, आशा-आकाङ्क्षा [...] लेकर नहीं । हर समय, हर जगह, हर अवस्थामें प्राणधन [...] की स्मृति और उनकी उन्मादकारिणी पावन झाँकी [...] रहती है । नित्य-निरन्तर प्रतिक्षण उनकी सेवाका सुअ[...] सौभाग्य मिलता रहता है । कोई काम ऐसा होता ही [...] जिसमें उनकी सेवा न बनती हो । हम सोते हैं और उ[...]

सेवा होती है, हम खाते हैं और उनको भोग लगता है; क्योंकि प्रभुकी सेवाको छोड़कर फिर अलग अपना कोई काम रह ही नहीं जाता। इसीसे भगवान् कहते हैं कि 'वह मेरा ही काम करता है'—(मत्कर्मकृत्, गीता ११ । ५५) इसीलिये सेवाप्राण, सेवापरायण, सेवाजीवन भगवान्के सेवक उनकी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी मुक्ति स्वीकार नहीं करते—

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'

(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३)

कौन विषयी है, कौन साधक,—यह सब कुछ मत देखिये। दूसरोंमें दोष देखनेसे अपनेमें गुणका अभिमान जाग्रत् होता है, जो भगवान्की ओरसे वृत्तिको हटाकर सब लोगोंके दोषदर्शनमें ही लगा देता है और इससे चित्तमें एक नयी ज्वाला और नयी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। सब भगवान्के हैं, यही समझिये। भगवान्के अनुग्रहका आश्रय रखिये। उनकी कृपासे सारे विघ्न टल जायँगे, अवश्य ही टल जायँगे। 'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (गीता १८) भगवान्का प्रसाद आपको बड़े-बड़े विघ्नोंके सरदारोंका सिर कुचलकर आगे बढ़ा ले जायगा। ब्रह्माजीने कहा है—

'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।'

(श्रीमद्भा० १० । २ । ३३)

'प्रभो! आपके द्वारा सुरक्षित होकर वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं।'

यह सत्य है कि वातावरणका अच्छा-बुरा असर मनपर पड़ता है और यह भी सत्य है कि मनके विकारोंको, दुर्बलताओंको तथा दोषोंको दूर करने एवं भगवान्के प्रति दृढ़ विश्वास-आस्था उत्पन्न करनेके लिये सत्सङ्गकी आवश्यकता है। अतएव सत्सङ्गकी इच्छा तथा सत्सङ्गकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। परंतु यदि इतनेपर भी बाहरी सत्सङ्ग न मिले तो सत्सङ्गके लिये व्याकुल रहते हुए भी, इसे भी भगवान्का मङ्गल विधान मानना चाहिये। वे प्रभु तो कभी अलग होते ही नहीं। वे स्वयं ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देंगे, जिससे सत्सङ्गसे बढ़कर लाभ उस विपरीत वातावरणमें ही हो जायगा। वे चाहेंगे तो सत्सङ्गका सुअवसर बना देंगे। किसी संतको भेज देंगे। या स्वयं ही प्रकट होकर अथवा अप्रकटरूपसे समस्त विकारों, दुर्बलताओं तथा दोषोंको हरकर उसे भलीभाँति अपना लेंगे। जरा भी निराश न होकर सदा-सर्वदा भगवान्की कृपापर विश्वास रखना चाहिये और सर्वत्र सदा उनकी कृपा देखते रहना चाहिये।

भगवान्की कृपाका अटल और अडिग विश्वास बना रहे, ऐसी आपकी चाह बहुत उत्तम है। भगवान् हमारी प्रत्येक चाहको जानते हैं। विश्वास रखिये वे सच्ची चाहको पूरा भी करते हैं।

भगवान्का तो स्वभाव ही दीनहितकारी है। वे सदा ही दीन, हीन, मलिन, पामर जनोंपर सहज प्रीति करते आये हैं—

'बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।'

आप क्यों मानते हैं कि आपपर भगवान्की अनन्त और असीम कृपा नहीं है। आपको निश्चय मान लेना चाहिये कि आपपर भगवान्की अत्यन्त और असीम कृपा है। वह कृपा आपको दीखती नहीं। इससे क्या हुआ? भूख-प्यास आँखसे दीखती है क्या? मनके हर्ष-विषाद आँखसे दीखते हैं क्या? पर जरा गहराईसे विचार कीजिये, यदि आपके मनमें अडिग और अटल कृपापर विश्वासकी चाह होती है, आप निरन्तर उनका मधुर स्मरण करना चाहते हैं, आप सदा-सर्वदा प्रभुको अपने हृदयमें बसाना और स्वयं उनके हृदयमें बसना चाहते हैं, आपको उनकी चर्चासे रहित बातें अच्छी नहीं लगतीं, आपको उनकी मधुर लीलाकी चर्चाके बिना चैन नहीं पड़ता। आप सदा-सर्वदा उनकी ही सन्निधिमें रहना चाहते हैं, यह क्या उनकी प्रत्यक्ष कृपा नहीं है? इस युगमें—कितने आदमी ऐसे हैं, जिनके ये भाव हैं? अतएव आप विश्वास कीजिये, फिर अनुभूति भी हो जायगी।

पर यदि सांसारिक विघ्नोंका अवसान न हो, विघ्न-पर-विघ्न आते रहें, तो उसमें भी प्रभुकी मङ्गलमयी कृपाका ही दर्शन करते रहिये। यह समझिये कि 'मेरी सारी संसारासक्तिका नाश करनेके लिये ही प्रभुकी महती कृपा विघ्नमयी भीषण मूर्ति धरकर पधारी हैं। प्रभु अब मेरी सारी आशा-आसक्ति और कामना-वासनाका शीघ्र ही नाश करना चाहते हैं। अतः अब तो और भी जोरसे लगकर उनका स्मरण करूँ। मतलब यह है कि उनके मङ्गलविधानमें सर्वथा विश्वास कीजिये और उनकी भेजी हुई प्रत्येक परिस्थितिसे लाभ उठाइये।

यह परम सत्य है कि वे प्रत्येक परिस्थिति हमारे लाभके लिये ही भेजा करते हैं। हाँ, परिस्थिति वैसे ही अलग-अलग

होती है जैसे निपुण वैद्यका विभिन्न प्रकारके रोगियोंके लिये विभिन्न प्रकारकी चिकित्साओंका चुनाव और प्रयोग। हो सकता है कोई ओषधि मीठी हो, भरपेट भोजन मिलता हो और आराम कराया जाता हो, एवं कोई ओषधि अत्यन्त कड़वी हो, कहीं अङ्गच्छेदन भी हो और कहीं लम्बे उपवास-की ही व्यवस्था हो। पर दोनों ही स्थितिमें विधान होता है रोगनाशके लिये ही। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक मङ्गलमय विधानको मङ्गलमय समझकर सादर ग्रहण कीजिये और हर परिस्थितिमें कृतज्ञतापूर्वक उनका स्मरण करते रहिये। समर्पण तो वे अपनी चीजका आप ही करा लेंगे। हमारी समर्पणकी तैयारी रहनी चाहिये।

यह कभी मत समझिये कि उनके घर, उनके हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें ही रहते हैं, पर प्रत्यक्ष नहीं होते। इसमें भी उनका मङ्गलमय रहस्य है। अतएव सदा सब प्रकारसे उल्लसित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मङ्गल-स्मरण करते रहिये। शेष भगवत्कृपा।

कौशल

(रचयिता—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

(१)

शरद-पूर्णिमा-चन्द्राननपर,
मधुर हास्यका मृदु आभास।
अम्बर-तलका विमल वर्ण अति,
दिशा-देवियोंका उल्लास॥

(२)

रजनि-समयमें गिरि-तुषारपर,
शशि-किरणोंका इतराना।
उछल-उछलकर तरल तरंगों-
का जलनिधिमें इठलाना॥

(३)

घोर तमीमें, घन-गर्जनमें,
चपलाका चंचल उद्गार।
नीरव निशिमें, नभ-मंडलपर,
उल्काका भयशील विकार॥

(४)

रक्तवर्णका रविसे पहिले,
प्राचीमें रँग दिखलाना।
फिर दिनकरका प्रकटित होकर,
स्वर्ण-करोंका फैलाना॥

(५)

शीतल-मंद-सुगंध-पवनका,
अहा! प्रभातीमें संचार।
गुन-गुन करना भ्रमर-भीड़का,
फिर सौरभका सुभग-प्रसार॥

(६)

नभके विस्तृत-से प्रांगणमें,
श्याम निशाके अंचलमें।
तारक-बालाओंकी क्रीड़ा,
निज अविचल चंचलपनमें॥

(७)

झूम-झूम हिलना वृक्षोंका,
ऋतु वसंतके यौवनमें।
कू-कू करना कोकिल-कुलका,
मंजरिमय रसाल-वनमें॥

(८)

झर-झर नित निर्झरका झरकर,
निज अविचलता दिखलाना।
'मैं अविचल हूँ; मनुज विचल हैं'—
सिद्धि सिद्धकर बतलाना॥

(९)

कल-कलकर सरिताका बहकर,
रचना नित संगीत नया।
रवि-किरणोंका, शशि-किरणोंका,
लखना निशि-दिन नृत्य नया॥

(१०)

याद दिलाते ये सब हमको,
उस शिल्पीके कौशलकी।
सीमा पा न सके शिवतक भी,
जिसकी रचनाके बलकी॥

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी-'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिंदी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ... ४)

२-श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य-[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य ... २।।।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य-[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य ... २।।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, रंगीन चित्र ४, मू० १।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (सटीक) मोटे अक्षरोंमें, ढंग लाहोरी, पृ०४२४,मूल्य ।।।=),सजिल्द १।)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-[मझली] पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अजिल्द ।।≡), सजिल्द ... १)

७-श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका)-१।) वालीकी ठीक नकल, पदच्छेद, अन्वय और साधारण भाषाटीकासहित, साइज २२×२९=३२ पेजी, पृष्ठ ५८४, तीन तिरंगे चित्र, मूल्य ... ... ।।)

८-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजि० ।।।=)

९-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।-), सजिल्द ... ।।-)

१०-श्रीमद्भगवद्गीता-केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, चित्र १, पृष्ठ १९२, मूल्य ... ... ।)

११-श्रीपञ्चरत्न-गीता-सचित्र, श्रीगीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति,गजेन्द्र-मोक्ष, पृष्ठ १८४, मूल्य ≡)

१२-श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम-(मूल, छोटा टाइप) आकार२।।×३। इञ्च, पृष्ठ २७२, मूल्य ... ≡)

१३-श्रीमद्भगवद्गीता-साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)।।, सजिल्द ... ।)।।

१४-श्रीमद्भगवद्गीता-ताबीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य ... ... =)

१५-श्रीमद्भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य -)।।, सजिल्द ... ... =)।।

१६-ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय, हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४४८, सजिल्द, मूल्य ... ... २)

१७-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ... ... ≡)

१८-केनोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ... ... ।।)

१९-कठोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ... ... ।।-)

२०-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ... ... ।≡)

२१-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य ... ... ।≡)

२२-उपनिषद्-भाष्य खण्ड १-ईशसे मुण्डकतक ५ उपनिषद्, सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य ... २।।=)

२३-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, सचित्र, मूल्य ... ... १)

२४-ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य ... ... ।=)

२५-तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ... ... ।।।-)

२६-उपनिषद्-भाष्य खण्ड २-माण्डूक्य, ऐतरेय तथा तैत्तिरीयोपनिषद्, सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द,मूल्य ... २।।≡)

२७-छान्दोग्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रंगीन चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द, मूल्य ... ३।।)

२८-बृहदारण्यकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ६ रंगीन चित्र, पृष्ठ १३८४, सजिल्द, मूल्य ... ५।।)

२९-श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य ... ... ।।।=)

३०-ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य ... ... -)

३१-वेदान्तदर्शन-हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ... ... २)

३२-पातञ्जलयोगदर्शन-सटीक, व्याख्याकार-श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १९२, दो चित्र, मूल्य ।।।), स० १)

३३-श्रीभागवत-सुधासागर-सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २६, सजि०, मूल्य ... ८।।)

३४-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ... ... ६)

३५-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ... ... ३)

३६-श्रीप्रेम-सुधा-सागर-श्रीमद्भागवतके केवल दशमस्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र १५, सजिल्द, मूल्य ... ... ३।।)

३७-श्रीभागवतामृत-सटीक, पृष्ठ ३०४, रंगीन चित्र ८, सजिल्द, मूल्य ... ... १।।।)

३८-भागवत एकादश स्कन्ध-सटीक, सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य १), सजिल्द ... १।=)

३९-श्रीविष्णुपुराण-सानुवाद, चित्र ८, पृष्ठ ६२४, सजिल्द, मूल्य ... ... ४)

४०-अध्यात्मरामायण-हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ३)

४१-श्रीरामचरितमानस-सटीक, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ... ७।।)

४२-श्रीरामचरितमानस-मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य ... ... ४)

४३-श्रीरामचरितमानस-सटीक [मझला साइज] रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य ... ३।।)

४४-श्रीरामचरितमानस-मूल, मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य ... ... २)

४५-श्रीरामचरितमानस-मूल, गुटका, पृष्ठ ६८८, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ।।।)

४६-बालकाण्ड-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ।।=)

४७- ,, -सटीक, पृष्ठ३१२,सचित्र, मूल्य ... १=)

४८-अयोध्याकाण्ड-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य ।।)

४९- ,, -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ।।।-)

५०-अरण्यकाण्ड-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ... ≡)

५१- ,, -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ... ।)

५२-किष्किन्धाकाण्ड-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य ... =)

५३- ,, -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य ... =)

५४-सुन्दरकाण्ड-सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ... ।)

५५-लंकाकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ... ।)

५६- ,, -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ।।)

५७-उत्तरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ... ।)

५८- ,, -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ... ।।)

५९-लीला-चित्र-मन्दिर-दर्शन-लीला-चित्र-मन्दिर-में संगृहीत ५६९ चित्रोंके छाया-चित्र, आकार '१०×१५' आर्टपेपरपर छपे, पृष्ठ १४६, तिरंगा मुखपृष्ठ, सजिल्द, मूल्य ... ७)

६०-गीता-भवन-चित्र-दर्शन-गीता-भवन, ऋषिकेश-के ३५ सुन्दर बहुरंगे और १ इकरंगे चित्रोंका दर्शन, आकार १०×७।।, पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य ... २।)

६१-मानस-रहस्य-सचित्र, पृष्ठ५१२, मू० १।), स० १।।=)

६२-मानस-शंका-समाधान-पृष्ठ१८४,सचित्र, मू० ।।)

६३-विनय-पत्रिका-सटीक, पृष्ठ ४७२, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द ... ... १।=)

६४-गीतावली-सटीक, पृष्ठ ४४४, मू० १), सजिल्द १।=)

६५-कवितावली-सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४, मू० ।।-)

६६-दोहावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ।।)

६७-ईश्वरकी सत्ता और महत्ता-पृष्ठ ४८०, मूल्य १।), सजिल्द ... ... १।।=)

६८-सूर-विनय-पत्रिका-(नयी पुस्तक) सरल भावार्थसहित, सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।।=), सजिल्द ... ... १।)

६९-सूर-रामचरितावली-सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या २५४, सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ।।≡), सजिल्द ... ... १-)

७०-श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी-सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या २९६, सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ।।।=), सजिल्द ... ... १)

७१-शरणागति-रहस्य-पृष्ठ ३६०, सचित्र, मूल्य ।।।=)

७२-प्रेम-योग-पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य ... १।।)

७३-श्रीतुकाराम-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य १।=), सजिल्द ... ... १।।।)

७४-विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य-पृष्ठ २८०, सचित्र, मूल्य ... ... ।।।=)

७५-दुर्गासप्तशती-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।।), सजिल्द ... ... १)

७६-दुर्गासप्तशती-मूल,सचित्र,पृष्ठ१५२,मू०।।),स० ।।।)

७७-आनन्दमय जीवन-पृष्ठ २२०, मूल्य ... ।।।-)

७८-स्वर्ण-पथ-सुन्दर टाइटल, पृष्ठ २१६, मूल्य ।।।)

७९-सत्सङ्गके बिखरे मोती-पृष्ठ २४४, मूल्य ।।।)

८०-तत्त्व-चिन्तामणि-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका (भाग १) सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य।।=), सजिल्द १)

८१-(भाग २) सचित्र,पृष्ठ ५९२, मूल्य ।।।=),सजिल्द १।)

८२-(भाग ३) सचित्र,पृष्ठ ४२४, मू० ।।≡), सजिल्द १-)

८३-(भाग ४) सचित्र,पृष्ठ ५२८,मू० ।।।-),सजिल्द १≡)

८४-(भाग ५) सचित्र,पृष्ठ ४९६,मू० ।।।-) सजिल्द १≡)

८५-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४५६,मू० १),सजिल्द १।=)

८६-(भाग ७) सचित्र,पृष्ठ ५३०,मू० १=) सजिल्द १।।)

८७-छोटे आकारका गुटका संस्करण-(भाग १) सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य ।-), सजि० ।।)

८८-(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ७५२, मू० ।=), स० ॥-)
८९-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ५६०, मू० ।-), स० ॥)
९०-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मू० ।=), स० ॥=)
९१-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ६२१, मू० ।=), स० ॥-)
९२-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली-
(खण्ड १) पृष्ठ २८८, मूल्य ॥।=), सजि० १)
९३-(खण्ड २) पृष्ठ ३६८, मूल्य १=), सजिल्द १॥)
९४-(खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, मूल्य १), सजिल्द १।=)
९५-(खण्ड ४) पृष्ठ २२४, मूल्य ॥=), सजिल्द १)
९६-(खण्ड ५) पृष्ठ २८०, मूल्य ॥।), सजिल्द १=)
९७-(संत-वाणी) ढाई हजार अनमोल बोल-पृष्ठ ३२४, सचित्र, मूल्य ॥=), सजिल्द ॥।=)
९८-सूक्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ॥=), सजिल्द ... १)
९९-विदुरनीति-सटीक, पृष्ठ १६८, मूल्य ... ॥-)
१००-स्तोत्ररत्नावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०, मूल्य ॥), सजिल्द ... ... ॥।=)
१०१-सत्सङ्ग-सुधा-पृष्ठ २२४, मूल्य ... ॥)
१०२-सती द्रौपदी-चित्र रंगीन ४, पृष्ठ १६४, मू० ॥)
१०३-सुखी जीवन-लेखिका-श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, ॥)
१०४-भगवच्चर्चा-लेखक-श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, (भाग १) (तुलसीदल) सचित्र, पृष्ठ २८८, मूल्य ॥), सजिल्द ... ॥।=)
१०५-(भाग २) (नैवेद्य) सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥), सजिल्द ... ॥।=)
१०६-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४०८, मू० ॥।), सजि० १=)
१०७-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ४३६, मू० ॥।-), स० १≡)
१०८-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ॥।), स० १=)
१०९-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ॥।), स० १=)
११०-श्रीभीष्मपितामह-पृष्ठ १६०, मूल्य ... ।≡)
१११-नित्यकर्मप्रयोग-पृष्ठ १३६, मूल्य ... ।≡)
११२-जीवनका कर्तव्य-पृष्ठ २००, मूल्य ... ।≡)
११३-भक्त-भारती-[कविताकी पुस्तक] पृष्ठ-संख्या १२०, ४ तिरंगे, ३ सादे चित्र, मूल्य ... ।≡)
११४-रामायणके कुछ आदर्श पात्र-पृष्ठ १६८, मू० ।=)
११५-उपनिषदोंके चौदह रत्न-पृष्ठ८८, सचित्र, मूल्य ।=)
११६-लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र] (प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ... ।=)
११७-(द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ... ।=)
११८-(तृतीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २९२, मूल्य ... ॥)
११९-(चतुर्थ भाग)—पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य ... ॥)
१२०-(पञ्चम भाग)—पृष्ठ-संख्या २८०, मूल्य ... ॥)
१२१-पढ़ो, समझो और करो-पृष्ठ १४८, मूल्य ... ।=)
१२२-बड़ोंके जीवनसे शिक्षा-पृष्ठ ११२, मूल्य ... ।=)
१२३-भक्त नरसिंह मेहता-सचित्र, पृष्ठ १६०, मू० ।=)
१२४-नारी-शिक्षा-पृष्ठ १६८, मूल्य ... ।=)
१२५-स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा-चित्र रंगीन २, सादा ८, पृष्ठ १७६, मूल्य ... ।=)
१२६-पिताकी सीख-पृष्ठ १५२, मूल्य ... ।=)
१२७-तत्त्व-विचार-पृष्ठ २०८, सचित्र, मूल्य ... ।=)
१२८-चोखी कहानियाँ-३२-कहानियाँ, पृष्ठ ५२, मूल्य ।-)
१२९-उपयोगी कहानियाँ-३५ कहानियाँ, पृ० १०४, मू० ।-)
१३०-प्रेमदर्शन-सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ... ।-)
१३१-विवेक-चूडामणि-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, ।-)
१३२-भवरोगकी रामबाण दवा-पृष्ठ १७२, मूल्य ।-)
१३३-भक्त बालक-५ कथाएँ, पृष्ठ ७२, सचित्र, मू० ।-)
१३४-भक्त नारी-पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मू० ।-)
१३५-भक्त-पञ्चरत्न-पाँच कथाएँ, पृष्ठ ८८, २ चित्र, मू० ।-)
१३६-आदर्श भक्त-७ कथाएँ, पृष्ठ ९८, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ... ... ।-)
१३७-भक्त-सप्तरत्न-पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... ।-)
१३८-भक्त-चन्द्रिका-६ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मू० ।-)
१३९-भक्त-कुसुम-६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, सचित्र, मू० ।-)
१४०-प्रेमी भक्त-५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।-)
१४१-प्राचीन भक्त-१५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र४, मू० ॥)
१४२-भक्त-सरोज-१० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मू० ।=)
१४३-भक्त-सुमन-१० कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य ... ... ।=)
१४४-भक्त-सौरभ-५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, सचित्र, मू० ।-)
१४५-भक्त सुधाकर-१२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ... ... ॥)
१४६-भक्त-महिलारत्न-९कथाएँ, पृष्ठ१००, चित्र७, मू० ।≡)
१४७-भक्त-दिवाकर-८कथाएँ, पृष्ठ१००, चित्र८, मू० ।≡)
१४८-भक्त रत्नाकर-१४कथाएँ, पृष्ठ१००, चित्र८, मू० ।≡)
१४९-भक्तराज हनुमान्-पृष्ठ ७२, चित्र रंगीन १, ४ सादे, मूल्य ... ... ।-)
१५०-सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र-पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य ... ... ।-)

१५१–**प्रेमी भक्त उद्धव**–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … ≡)

१५२–**महात्मा विदुर**–पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य … =)॥

१५३–**भक्तराज ध्रुव**–पृष्ठ ४८, २ चित्र, मूल्य … ≡)

१५४–**शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ**–पृष्ठ १२८, मूल्य ।)

१५५–**सती सुकला**–पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य … ।)

१५६–**परमार्थ-पत्रावली**–(भाग १) पृष्ठ ११२, सचित्र, मू० ।)

१५७– " –(भाग २) पृष्ठ १७२, सचित्र, मू० ।)

१५८– " –(भाग ३) पृष्ठ २००, सचित्र, मू० ॥)

१५९– " –(भाग ४) पृष्ठ २१४, सचित्र, मू० ॥)

१६०–**कल्याण-कुञ्ज**–(भाग १) पृष्ठ १३६, सचित्र, मू० ।)

१६१– " –(भाग २) पृष्ठ १६०, सचित्र, मू० ।-)

१६२– " –(भाग ३) पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ।=)

१६३–**महाभारतके कुछ आदर्श पात्र**–पृष्ठ १२८, मू० ।)

१६४–**भगवान्पर विश्वास**–पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।)

१६५–**श्रीरामचरितमानसका पाठ तथा मानस-व्याकरण**–पृष्ठ ८४, मूल्य … … ।)

१६६–**गीताप्रेस-लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली**–पृष्ठ ५६, मूल्य … … ।)

१६७–**गीताद्वार (गीताप्रेसका प्रवेशद्वार)**–४ रंगीन चित्र, पृष्ठ १६, मूल्य … ।)

१६८–**बाल-चित्र-रामायण**–(भाग १) ४९ चित्र, मू० ।)

१६९– " " –(भाग २) पृष्ठ १६, मू० ।)

१७०–**बाल-चित्रमय चैतन्यलीला**–पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१७१–**बाल-चित्रमय बुद्धलीला**–पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१७२–**बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला [भाग १]**–आकार १०×७॥, पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य … … ।=)

१७३–**बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला [भाग २]**–आकार १०×७॥, पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, आर्टपेपरपर छपे ४८ सादे, १ बहुरंगे चित्र, मूल्य ।=)

१७४–**भगवान राम भाग १**–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१७५– " " **भाग २**–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१७६–**श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (प्रथम खण्ड)**–आकार ५×७॥, पृष्ठ ६४, रेखाचित्र ६०, चित्र-परिचयसहित, मूल्य … … ।=)

१७७–**श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (द्वितीय खण्ड)**–आकार ५×७॥, पृष्ठ ६४, रेखाचित्र ६०, चित्र-परिचयसहित, मूल्य … … ।=)

१७८–**भगवान श्रीकृष्ण भाग १**–पृष्ठ ६८, मूल्य ।-)

१७९–**भगवान श्रीकृष्ण भाग २**–पृष्ठ ६४, मूल्य ।-)

१८०–**आरती-संग्रह**–पृष्ठ ८०, मूल्य …

१८१–**सत्सङ्ग-माला**–पृष्ठ १००, मूल्य …

१८२–**बालकोंकी बातें**–पृष्ठ १५२, मूल्य …

१८३–**वीर बालक**–पृष्ठ ८८, मूल्य … …

१८४–**सच्चे और ईमानदार बालक**–पृष्ठ ७६, सुन्दर तिरंगा टाइटल, मूल्य … …

१८५–**गुरु और माता-पिताके भक्त बालक**–पृष्ठ ८०, मू०

१८६–**वीर बालिकाएँ**–पृष्ठ ६८, मूल्य …

१८७–**दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ**–पृष्ठ ६८, मूल्य … … ≡)

१८८–**हिंदी बाल-पोथी**–शिशु-पाठ (भाग १) पृष्ठ ४०, मूल्य … ≡)

१८९– " –शिशुपाठ (भाग २) पृष्ठ ४०, मू० ≡)

१९०– " –पहली पोथी (कक्षा १ के लिये) मू० ।-)

१९१– " –दूसरी पोथी (कक्षा २ के लिये) मू० ।=)

१९२–**प्रार्थना**–पृष्ठ ५६, मूल्य … ≡)

१९३–**दैनिक कल्याण-सूत्र**–पृष्ठ ९२, मूल्य … ≡)

१९४–**आदर्श नारी सुशीला**–पृष्ठ ५६, मूल्य … ≡)

१९५–**आदर्श भ्रातृ-प्रेम**–पृष्ठ १०४, मूल्य … ≡)

१९६–**मानव-धर्म**–पृष्ठ ९६, मूल्य … ≡)

१९७–**गीता-निबन्धावली**–पृष्ठ ८०, मूल्य … =)॥

१९८–**साधन-पथ**–पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य … =)॥

१९९–**अपरोक्षानुभूति**–पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य … =)॥

२००–**मननमाला**–पृष्ठ ५६, मूल्य … =)॥

२०१–**नवधा भक्ति**–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … =)

२०२–**बाल-शिक्षा**–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … =)

२०३–**श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति**–पृष्ठ ४८, सचित्र, मू० =)

२०४–**गीताभवन-दोहा-संग्रह**–पृष्ठ ४८, मूल्य … =)

२०५–**वैराग्य-संदीपनी**–सटीक–पृष्ठ २४, सचित्र, मूल्य =)

२०६–**भजन-संग्रह**–भाग १, पृष्ठ १९२, मूल्य … =)

२०७– " –भाग २, पृष्ठ १६८, मूल्य … =)

२०८– " –भाग ३, पृष्ठ २२८, मूल्य … =)

२०९– " –भाग ४, पृष्ठ १६०, मूल्य … =)

२१०– " –भाग ५, पृष्ठ १४४, मूल्य … =)

२११–**गजेन्द्र-मोक्ष**–पदच्छेद, अन्वय और भावार्थसहित … -)॥

२१२–**बाल-प्रश्नोत्तरी**–पृष्ठ २८, मूल्य … -)॥

२१३–**स्वास्थ्य-सम्मान और सुख**–मूल्य -)॥

२१४–**स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी**–पृष्ठ ५६, मूल्य

२१५-नारीधर्म-पृष्ठ ४८, मूल्य ... -)॥
२१६-गोपीप्रेम-पृष्ठ ५२, मूल्य ... -)॥
२१७-मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय, सटीक, मूल्य ... -)॥
२१८-तर्पण-विधि-(मन्त्रानुवादसहित) पृष्ठ २८, मू० -)॥
२१९-ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-पृष्ठ ३६, मू० -)॥
२२०-श्रीविष्णुसहस्रनाम सटीक-मूल्य ... -)॥
२२१-हनुमानबाहुक-पृष्ठ ४०, मूल्य ... -)॥
२२२-शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य -)॥
२२३-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-पृष्ठ ४०, -)।
२२४-मनको वश करनेके कुछ उपाय-पृष्ठ २४, -)।
२२५-ईश्वर-पृष्ठ ३२, मूल्य ... -)।
२२६-मूलरामायण-पृष्ठ २४, मूल्य ... -)।
२२७-रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-मू० -)।
२२८-हनुमान-चालीसा-पृष्ठ ३२, मूल्य ... -)
२२९-विनय-पत्रिकाके बीस पद-पृष्ठ २४, मू० ... -)
२३०-दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य-मूल्य ... -)
२३१-संध्योपासनविधि-अर्थसहित, पृष्ठ २४, मूल्य -)
२३२-बाल-अमृत-वचन-मूल्य ... -)
२३३-हरेरामभजन १४ माला-मूल्य ... |-)
२३४-हरेरामभजन ६४ माला-मूल्य ... १)
२३५-शारीरकमीमांसादर्शन-मूल्य ...)।॥
२३६-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य ...)॥
२३७-संध्या विधिसहित-पृष्ठ १६, मूल्य ...)॥
२३८-गोवध भारतका कलङ्क-मूल्य ...)॥
२३९-गायका माहात्म्य-पृष्ठ २०, मूल्य ...)॥
२४०-कुछ विदेशी वीर बालक-बालिकाएँ-पृष्ठ १६, मूल्य ...)॥
२४१-बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश-पृष्ठ १६, मूल्य)॥
२४२-दोहावलीके ४० दोहे- ...)॥
२४३-सुगम उपासना-पृष्ठ २४, मूल्य ...)॥
२४४-नारदभक्ति-सूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य ...)।

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें ४ पैकेट

पैकेट नं० १, पुस्तकें १३, मूल्य ... ।।।)
पैकेट नं० २, पुस्तकें ५, मूल्य ... ।)
पैकेट नं० ३, पुस्तकें १६, मूल्य ... ॥)
पैकेट नं० ४, पुस्तकें १८, मूल्य ... ।)

Our English Publications

245 Bhagavadgitā (with Sanskrit text and an English translation) 0-4-0
Bound 0-6-0

(*By Jayadayal Goyandka*)

246. Gems of Truth (First Series) 0-12-0
247. Gems of Truth (Second Series) 0-12-0
248. What is God ? 0-2-0
249. What is Dharma ? 0-0-9

(*By Hanumanprasad Poddar*)

250. The Philosophy of Love 1-0-0
251. Gopis' Love for Sri Krishna 0-4-0
252. Way to God-Realization 0-4-0
253. The Divine Name and Its Practice 0-3-0
254. Wevelets of Bliss 0-2-0
255. the Divine Message 0-0-9

(*by Madan Mohan Malviya*)

256. the Immanence of God 0-2-0

दो नयी पुस्तकें

१-दोहावलीके चालीस दोहे (१ से ४० दोहेतक सानुवाद)—आकार ५×७॥ पृष्ठ १२, मूल्य)॥ मात्र ।
२-सुगम उपासना—आकार २२×२९, बत्तीस पेजी, पृष्ठ २४, मूल्य)॥ मात्र ।

पुस्तकें डाकसे मँगानेसे डाक-खर्च एक आना प्रति छटाँक तथा रजिस्ट्री या वी०पी० खर्च अलग लगता है इसलिये स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे खरीदनी चाहिये इससे भारी डाक-खर्चकी बचत हो सकेगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के पुराने प्राप्य नौ विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क—(पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, ... सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६।।), सजिल्द ७।।) ।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९... तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०...

१८ वें वर्षका संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ५३६, रेखाचित्र १३७ (फरमोंमें) सुन्दर बहुरंगे चित्र १४, इकरंगे हाफटोन सुन्दर चित्र ११, मूल्य ५≡), सजिल्द ६≡)

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे ... १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत ... चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ ... इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७।।) मात्र ।

२७ वें वर्षका बालक अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७।।) ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३... इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्दका ८।।।) ।

२९वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ ८००, चित्र सुनहरी ४, तिरंगे ८०, संतोंके छोटे चित्र १४०, मूल्य ७।।)

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

धूर्तोंसे सावधान

कोई एक धूर्त मनुष्य अपना नाम महेशचन्द या मदनलाल महेशचन्द पोद्दार, और अपनेको मेरा सगा या चचेरा भाई, तथा कलकत्ते और किसनगंज (पूर्णिया) में उसका कारोबार है, इस समय रास्तेमें सामान खो जानेसे विपत्तिमें पड़ रहा हूँ, कलकत्ता पहुँचते ही रुपये वापस भेज दूँगा—यों कहकर और फार्मके झूठे नाम-पते बतलाकर लोगोंसे रुपये ठगता है । कुछ समय पहले अगस्त्य मुनि गुफा, नर्मदासे सूचना मिली थी, अब फिर दत्तमन्दिर, जरूड़से पत्र आया है । दोनों स्थानोंसे वह चालीस-चालीस रुपये ले गया है ।

ऐसे धूर्तोंसे सावधान रहनेके लिये 'कल्याण' द्वारा पहले कई बार सूचनाएँ दी जा चुकी हैं । अब फिर यह निवेदन है कि मेरे सगा भाई तो कोई है ही नहीं, कुटुम्बमें भी महेशचन्द नामका कोई व्यक्ति नहीं है । अतः गीताप्रेस या कल्याणके नामपर अथवा मेरे या श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके नामपर—अपनेको गीताप्रेस कल्याणसे सम्बन्धित अथवा हम लोगोंका कोई सम्बन्धी बताकर कोई भी पैसे माँगे तो उसे कदापि न दिया जाय और हो सके तो पुलिसके हवाले कर दिया जाय । हमारा ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है ।

पहले सूचना मिली थी—लोग अपनेको कल्याणमें प्रकाशित 'कल्याण' शीर्षक लघु लेखोंके तथा 'कामके पत्रों'के लेखक बताकर लोगोंको ठगते हैं । ऐसे सभी लोगोंसे सावधान रहना चाहिये । 'कल्याण' तथा 'कामके पत्र' यहींसे स्वयं सम्पादकके द्वारा ही लिखे जाते हैं, बाहरका कोई भी आदमी उनका लेखक नहीं है । धूर्तोंसे सावधान रहें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याण
वर्ष ३०
अङ्क ८

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०१३, अगस्त १९५६

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र... भारतमें ... विदेशमें ... (१० ...

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१३, अगस्त १९५६ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ३५७

पुण्यसे स्वर्गभोग और पुण्य क्षीण होते ही पतन

वैदिक यज्ञकर्म करते जो पुण्यपुरुष मनमें रख काम ।
वे उस पुण्यकर्मके फलसे जाते हैं सुरेन्द्रके धाम ॥
वहाँ स्वर्गके भोग भोगते जबतक पुण्य न होते शेष ।
पुण्य क्षीण होते ही गिरकर आते पुनः मृत्युके देश ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २०-२१ का सार)

याद रक्खो—तुम जो यह सोचते हो कि मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी हो जायगी तब मैं भजन-स्मरण करूँगा। या जीवनका अमुक काम पूरा हो जायगा, अमुक दायित्वसे मैं मुक्त हो जाऊँगा, अमुक व्यापारमें सफलता प्राप्त कर लूँगा, अमुक प्रकारके गुरु मिल जायँगे, अमुक प्रकारका एकान्त सुन्दर स्थान मिलेगा और उसमें सुन्दर सात्त्विक आश्रम बनाकर रहूँगा, तब भजन-स्मरण करूँगा—सो यह तुम्हारे मनका धोखा है।

याद रक्खो—जो काम तुम वर्तमान अवस्थामें नहीं कर सकते, किसी कमीको पूर्ण कर लेनेके बाद करना चाहते हो, वह भविष्यमें अमुक अवस्था प्राप्त होनेपर कर सकोगे—इसका क्या विश्वास है; क्योंकि कमीका अनुभव तो वहाँ भी होगा। तब उस कमीकी पूर्तिकी प्रतीक्षामें भजनको टाल दोगे।

याद रक्खो—तुम्हारी मनचाही स्थिति मिल ही जायगी, इसका कोई निश्चय नहीं है। यह भी सम्भव है कि वैसी स्थितिकी प्रतीक्षा-प्रतीक्षामें ही तुम्हारा शरीर छूट जाय। तुम्हारे चाहनेसे अमुक स्थिति नहीं मिल सकती। प्रत्येक सांसारिक परिस्थिति—भोग पूर्व-कर्मानुसार मिलता है। इसलिये यदि किसी स्थितिकी, वस्तुकी प्रतीक्षामें रहोगे तो भजन बनेगा ही नहीं। इस प्रतीक्षाको साधनका एक बड़ा विघ्न समझो।

याद रक्खो—पूर्वकर्मवश, मङ्गलमय भगवान्‌के मङ्गल विधानके अनुसार जो परिस्थिति तुम्हें मिली है, जरा भी देर न करके उसी परिस्थितिमें जीवनके असली कार्य भगवान्‌के भजन-स्मरणको शुरू कर दो और उसे बढ़ाते चले जाओ।

याद रक्खो—जो भजन करना चाहता है, उसको कोई भी परिस्थिति बाधा नहीं दे सकती। तुम मनके धोखेमें आकर ही परिस्थितिका बहाना करके भजन नहीं करते और अनुकूल परिस्थितिकी आशा-प्रतीक्षामें मूल्यवान् जीवनको खोते रहते हो।

याद रक्खो—संसारमें कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। सबमें किसी-न-किसी कमीका रहना अनिवार्य है, इसलिये तुम किसी भी अनुकूल परिस्थितिको प्राप्त करोगे, उसीमें कमीका अनुभव करोगे और तब वह भी प्रतिकूल प्रतीत होने लगेगी, उस कमीको मिटानेके लिये किसी दूसरी परिस्थितिकी आशा-प्रतीक्षा करके उसकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगोगे—यों कमीकी अनुभूति, उसकी पूर्तिकी आशा-प्रतीक्षा, उसके लिये प्रयत्न—इसीमें तुम्हारा वह मानवजीवन—जो भजन करके भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये भगवत्कृपासे मिला था,—नष्ट हो जायगा। फिर पछतानेसे कुछ भी लाभ होगा नहीं।

याद रक्खो—तुम जिस एक स्थितिमें कमीका अनुभव करके उस कमीकी पूर्तिवाली दूसरी स्थिति चाहते हो, क्या पता है कि वह दूसरी स्थिति तो प्राप्त न हो और इस वर्तमान स्थितिमें भी कमी आ जाय; इसका भी नाश हो जाय। उस अवस्थामें तुम यह सोचोगे और चाहोगे कि यही स्थिति बनी रहती तो ही अच्छा था। अब भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। पर कौन कह सकता है कि वह पूर्ववाली स्थिति भी प्राप्त होगी या नहीं।

याद रक्खो—यदि नहीं प्राप्त हुई तो तुम्हारा दुःख और अशान्ति और भी बढ़ जायगी और तुम भजन नहीं कर सकोगे। और यदि प्राप्त हो गयी तो फिर पहलेकी भाँति उससे अच्छी किसी दूसरी स्थितिकी प्रतीक्षा करने लगोगे।

याद रक्खो—तुम यदि भजन-स्मरणको किसी अमुक वस्तु या परिस्थितिकी प्रतीक्षापर छोड़ दोगे तो तुमसे भजन बनेगा ही नहीं। प्रत्येक परिस्थितिको

भगवान्‌के भजन-स्मरणके अनुकूल मानकर उसीमें भजन करने लगोगे तो फिर भजनके प्रभावसे प्रतिकूलताका भाव ही नष्ट हो जायगा और सभी परिस्थितियोंमें अनुकूलताका अनुभव होगा तथा भगवान्‌का अखण्ड भजन होने लगेगा ।

याद रक्खो—जब भजनका आनन्द मिलने लगेगा और वह तभी मिलेगा, जब भजनके प्रभावसे अन्तः-करणका मल नष्ट होकर वह निर्मल हो जायगा, तब तो तुम्हारे लिये भजन जीवन बन जायगा । तुम्हारा प्रत्येक क्षण और प्रत्येक चेष्टा भजन बन जायगा । एवं ऐसा होनेपर मानव-जीवनकी परम और चरम सिद्धि तुम्हें प्राप्त हो जायगी ।

'शिव'

मन-इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माको प्राप्त करे

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कठोपनिषद्‌में शरीरको रथ, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंके विषयोंको रथके चलनेका मार्ग और जीवात्माको रथी बतलाया है । परमात्मासे बिछुड़े हुए जीवात्माको इसी रथके द्वारा विषयोंके मार्गपर चलकर ही परमात्माके धाम—अपने घर पहुँचना है । रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु घोड़े उच्छृङ्खल होकर उल्टे मार्गपर भी जा सकते हैं और सीधे परमात्माके मार्गपर भी चल सकते हैं । जिस रथका सारथि विवेक-युक्त, अप्रमत्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर स्थिर, बलवान्, रास्तेका जानकार और घोड़ोंको लगामके सहारेसे अपने वशमें रखकर—इच्छानुसार सन्मार्गपर चला सकता है, वह रथ अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है । इसी प्रकार जिस पुरुषकी बुद्धि विवेकसम्पन्न, जीवात्माको परमात्माके धाममें ले जानेके लिये तत्पर, परमात्मामें लगी हुई, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाली, सदा सावधानीके साथ सबको साधन-मार्गपर ले चलनेवाली होती है, वह पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ भी—जैसे सत्-सारथिके द्वारा संचालित रथ मार्गपर चलकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही—परमात्माकी ओर बढ़ता रहता है । इन्द्रियाँ तथा मन यदि साधकके अपने वशमें हों और साधक उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें ही लगाये रक्खे तो इस प्रकार उन इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरण करना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत लाभदायक है; क्योंकि ऐसा करके वह परमात्माके समीप पहुँच जाता है । जब-तक शरीर, इन्द्रियाँ और मन हैं, तबतक उनको विषयोंसे सर्वथा अलग कर देना सम्भव नहीं है, अतएव साधक उनमेंसे राग-द्वेषको हटाकर विशुद्ध बना ले और फिर उनका यथायोग्य साधनरूप विषयसेवनमें उपयोग करे । भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्न-ताको प्राप्त होता है । अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।'

यह है वशमें किये हुए मनसे राग-द्वेषरहित

इन्द्रियोंके सद्विषयोंमें विचरण करनेका परिणाम ! जिन मन-इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रिय-सुखकी आशासे विषयोंका उपभोग करके दु:खोंको निमन्त्रण दिया जाता है, उन्हीं मन-इन्द्रियोंसे उन्हें साधनमें लगाकर परमात्माकी प्राप्ति की जा सकती है; परंतु जिसकी बुद्धि असावधान है, निर्बल है, इन्द्रियोंके तथा मनके अधीन है, प्रमत्त है, लक्ष्यशून्य है और परमात्माको भूली हुई है; उसको यही शरीर-रथ विपरीत मार्गमें अग्रसर होकर वैसे ही सर्वथा पतनके गर्त्तमें गिरा देता है, अथवा किसी भयानक दुष्कर्मरूपी पत्थरोंसे भिड़ाकर मानव-जीवनको चूर-चूर कर डालता है, जैसे असावधान और निर्बल सारथिके द्वारा लगामको प्रचण्ड बलवाले घोड़ोंके अधीन छोड़ देनेपर घोड़े उस रथको सारथि और रथीसहित गहरे गड्ढेमें डाल देते हैं, अथवा किसी दीवालसे टकराकर चकनाचूर कर डालते हैं ।

विचार करनेपर यह पता लगता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही बहिर्मुखी हैं । वे नित्य निरन्तर विषयोपभोगके लोभमें पड़ी हुई विषयोंकी ओर दौड़ती और मन-बुद्धिको भी बलपूर्वक खींचती रहती हैं । अत: उनको सदा-सर्वदा सावधानीसे मनके सहारेसे यानी मनको उनके साथ न जाने देकर वशमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । इन्द्रियाँ वशमें न होंगी और मन उनका साथ देने लगेगा तो वे बुद्धिको वैसे ही विचलित कर देंगी जैसे जलमें पड़ी हुई नौकाको वायु डगमगा देती है । भगवान्ने गीताजीमें यही कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
(२ । ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ।' इसपर भगवान् कहते हैं—

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(२ । ६८)

'इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ।'

जिस प्रकार चतुर और सुयोग्य केवट नावको भँवरसे तथा प्रबल जलधारामें बहनेसे बचाकर, खास करके, पालके सहारेसे वायुको अनुकूल बनाकर सावधानीसे डाँड़ खेता हुआ मार्गपर अग्रसर होता रहता है तो नाव सुरक्षित अपने स्थानपर पहुँच जाती है । इसी प्रकार भ्रम-प्रमादादिसे रहित सुयोग्य एकनिष्ठ बुद्धि मन इन्द्रियोंसे युक्त शरीर-रथको राग-द्वेषरूपी भँवर तथा कामनारूपी तीव्रधार जलके प्रवाहसे बचाकर सत्संगरूपी पालके सहारेसे भगवत्कृपारूप वायुको अनुकूल बनाकर आगे बढ़ता रहता है, तो वह सुरक्षित भगवान्के धाममें पहुँच जाता है ।

अतएव साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका स्वामी मानकर उनके वशमें न हो, बल्कि इन्द्रियोंको पतनकारक तथा अनावश्यक उनके मनमानी विषयोंमें जानेसे रोककर, उनमें रहे हुए राग-द्वेषसे उन्हें छुड़ाकर मनको वशमें करे और बुद्धिको एक परमात्मनिष्ठ निश्चयात्मिका बनाकर परमात्मामें स्थिर कर दे । यथार्थत: ऐसा हो जानेपर तो मन-इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सभी कार्य सहज ही भगवत्-कार्य बन ही जायँगे । परंतु इसके पहले साधनकालमें भी इस आदर्शके अनुसार साधन करनेसे चित्तकी प्रसन्नता—निर्मलता प्राप्त हो जाती है और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुलभ और प्रशस्त हो जाता है । अत: साधकका कर्तव्य है कि वह इस प्रकार साधन करके मानव-जीवनके परम लक्ष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करे ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरि-स्मरण । सम्पादक 'कल्याण'के पतेसे दिया हुआ आपका पत्र यथासमय मिल गया था । पत्र लंबा होने और अवकाश कम मिलनेके कारण पत्रका उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आपके पारिवारिक एवं आजीविकासम्बन्धी हालचाल मालूम किये । आपके बहुत चेष्टा करनेपर भी घरमें मेल स्थापित न हो सका तो इसे भगवान्‌का विधान समझकर संतोष करना चाहिये । आपके माता-पिता आपसे अलग रहते हैं और अलग रहनेमें ही संतुष्ट हैं तो कोई बात नहीं, अलग-अलग रहें ।

(२) आप श्रीकृष्णके उपासक हैं और 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस मन्त्रका रोज १८ माला जप कर लेते हैं—यह बहुत उत्तम है । किंतु माला फेरते समय मन जो इधर-उधर फिरता रहता है और केवल जिह्वा चलती रहती है, इसमें सुधार करनेकी आवश्यकता है । मनपूर्वक किया हुआ साधन अधिक लाभकारी है । इसलिये मनको गीता अध्याय ६ श्लोक ३५-३६ के अनुसार अभ्यास-वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये । जिन-जिन सांसारिक विषयोंकी ओर वह जाता है उनसे खींचकर बारंबार भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये उसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके चिन्तनमें लगाना चाहिये । श्रद्धा-प्रेम होनेपर मन इधर-उधर नहीं जा सकता ।

उपर्युक्त मन्त्रका मानसिक जप तो हर समय किया जा सकता है, पर मलमूत्र-त्यागके समय मुँहसे उच्चारण नहीं करना चाहिये ।

आप 'गीतातत्त्वविवेचनी' पढ़ते हैं और मेरी मान्यतापर आपकी श्रद्धा है—यह आपकी साधुता है । गीताका मननपूर्वक अध्ययन करना साधनमें बहुत ही सहायक है । आप सत्पुरुषोंके, भक्तोंके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं और पढ़ते समय आपके नेत्रोंसे बहुत अश्रुपात होने लगते हैं, यह बहुत अच्छी बात है । भक्त-चरित्र पढ़कर हृदयका द्रवीभूत होना—यह प्रेमका ही लक्षण है । इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर वह भगवान्‌की ओर शीघ्र लग सकता है ।

यह सब होनेपर भी 'दैनिक जीवनमें काम-क्रोध बहुत उत्पन्न होते हैं'—लिखा सो इनके नाशके लिये भगवान्‌से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये ।

आपको वेतन कम ही मिलता है । यदि कहीं अधिक वेतनकी अच्छी जगह मिले तो इस कामको छोड़ देना चाहिये । आपने लिखा कि ऐसी परिस्थितिमें बहुत दुःख होता है और भगवान्‌का विस्मरण होकर मन चकराता है सो इस प्रकारकी कष्टमय परिस्थिति आनेपर भी मनमें धैर्य रखना चाहिये । भगवान्‌की स्मृतिमें कमी नहीं आने देनी चाहिये । जो भी परिस्थिति प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान मानकर संतोष करना चाहिये । यदि लड़के काम करनेयोग्य हों तो उनको किसी कार्यमें लगाना चाहिये एवं ऐसी कष्टकी स्थितिमें पत्नीको भी सिलाई आदिका काम कराकर कुछ उपार्जनमें लगाना चाहिये; क्योंकि आजकलके समयमें एक आदमीके वेतनसे आठ प्राणियोंका भरण-पोषण होनेमें कठिनाई ही रहती है ।

(३) आप अपनेको भक्तिका साधन करने लायक समझते हैं सो बहुत ठीक है । आपको भक्तिका साधन

ही करना चाहिये। आपने कर्मयोग और भक्तियोगका तथा भक्ति और सांख्ययोगका भेद जानना चाहा सो ठीक है। सम्पूर्ण कर्मोंमें और पदार्थोंमें फल और आसक्तिका त्याग करके अपने लिये शास्त्रमें विहित कर्मोंको करना और उनकी सिद्धि या असिद्धिमें समभाव रहना—यह कर्मयोग है; इसमें कर्मकी प्रधानता है (गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ देखें)। इसके साथ भक्ति भी हो तो उसे भक्तिप्रधान कर्मयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं— १ भगवदर्थ कर्म और २ भगवदर्पण कर्म। जो शास्त्रविहित कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के आज्ञानुसार किये जाते हैं उनको 'भगवदर्थ' कहते हैं (गीता ११। ५५; १२। १० देखें) और जो कर्म करते समय या बादमें भगवान्‌के अर्पण कर दिये जाते हैं उनको भगवदर्पण कहा जाता है (गीता ९। २७; १८। ५६-५७ देखें)। इस प्रकार भक्तियोगमें भक्तिकी प्रधानता रहती है और कर्मयोगमें कर्मकी प्रधानता। गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ में केवल कर्मयोग है और अध्याय १० श्लोक ८, ९, १० में केवल भक्ति है तथा अध्याय ११ श्लोक ५४-५५ में भक्तिप्रधान कर्मयोग है। भक्ति और कर्मयोग—ये दोनों एक साथ किये जा सकते हैं। भक्तिमती गोपियोंमें भक्तिकी प्रधानता थी, पर साथमें वे अपने घरका काम-काज भी करती थीं। वे भगवान्‌के पावन नाम और गुणोंका स्मरण, कीर्तन और गान करती हुई ही सब काम किया करती थीं। (देखिये श्रीमद्भागवत १०। ४४। १५)। इस प्रकार उनके जीवनमें भक्तिप्रधान कर्मयोग था।

आपने जिन उद्धव, चैतन्यमहाप्रभु, नरसी मेहता आदि भक्तोंका उल्लेख किया है, ये प्रायः सभी भक्तिमार्गके भक्त हुए हैं। किसी-किसीके भक्तिके साथ कर्म भी चलते थे; परंतु सांख्यमार्गके साथ भक्तिमार्ग नहीं चल सकता; क्योंकि सांख्यमार्गमें अद्वैतवाद है और भक्तिमें द्वैतवाद। ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं। सांख्ययोगमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं—इस प्रकारकी मान्यता और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका अभाव रहता है और भक्तियोगमें स्वामी-सेवक आदि भावकी मान्यता तथा सब कर्मोंको भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेका भाव रहता है। विस्तारसे जानना चाहें तो गीतातत्त्वविवेचनीकी भूमिकामें 'सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप' प्रसङ्ग तथा गीतातत्त्वविवेचनीमें अध्याय ३ श्लोक २ और अध्याय ५ श्लोक २ की व्याख्या देखनी चाहिये। साथ ही गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' में 'गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोग तथा गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेख पढ़ने चाहिये।

आपके लिये गीता, तुलसीकृत रामायण, भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र तथा अन्य गीताप्रेसकी पुस्तकें—इन ग्रन्थोंका मननपूर्वक पढ़ना अधिक उपयुक्त हो सकता है। भक्तिके साधकको वेदान्तके ग्रन्थोंका अध्ययन करना विशेष आवश्यक नहीं है।

आपने पूछा कि किस प्रकार किस दृष्टिसे हरेक कर्म करना चाहिये सो ठीक है। आपके लिये भक्तिका साधन करना और भगवान्‌की सेवाके रूपमें अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना सर्वोत्तम है। अभिप्राय यह कि प्रातःकाल और सायंकाल तथा जब भी अवकाश मिले, एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका मनन करना तथा गीता-रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये एवं अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मोंको करते समय तथा हर समय चलते-फिरते, खाते-पीते हुए भी भगवान्‌के नाम-रूपको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सब काम करना और सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी निःस्वार्थ

भावसे सेवा करनी चाहिये । हर समय यही दृष्टि रखनी चाहिये कि दूसरोंका हित किस प्रकार हो ।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका जप पवित्र अवस्थामें तो उच्चारणपूर्वक किया जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं । किंतु अपवित्र अवस्थामें इस मन्त्रका उच्चारण करनेका शास्त्रमें निषेध है । पर मानसिक जप करनेमें शास्त्राज्ञाका भङ्ग नहीं होता, अतः मानसिक जप सब समय किया जा सकता है ।

(४) मालिक जो यह चाहते हैं कि अपना नौकर अपना पैसा न चुरावे और ईमानदार रहे, यह मालिककी कृपा है और आपके लिये लाभकी वस्तु है। उनकी इस इच्छाका आदर करना चाहिये । किंतु वे जो यह चाहते हैं कि यह बाजारसे १०० का १०१ खरीदे और ९९ बेचे यह उचित नहीं है । आपको ऐसा नहीं करना चाहिये और इसके लिये मालिकसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना कर देनी चाहिये कि ऐसा करनेके लिये मैं लाचार हूँ । एवं इसके बदलेमें जो भी कष्ट सहन करना पड़े, सह लेना चाहिये; किंतु बेईमानी कभी नहीं करनी चाहिये ।

(५) कोई भी मनुष्य किसीसे द्वेष रखकर उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह उसे कष्ट पहुँचानेमें निमित्त बनकर पापका ही भागी होता है। उस व्यक्तिको जो कष्ट या नुकसान होता है—वह उसके पूर्वकृत पापकर्मका फल है, दूसरा व्यक्ति तो निमित्त बनकर केवल अपने सिरपर पापकी गठरी रख लेता है। बिना प्रारब्धके किसीको नुकसान या कष्ट हो नहीं सकता । इस रहस्यको समझकर जो कुछ भी हो उसमें दुःख नहीं मानना चाहिये । बल्कि उसे अपने परम दयालु प्रभुका विधान मानकर प्रसन्न होना चाहिये । जो व्यक्ति अपने साथ द्वेष रक्खे, बदलेमें उससे प्रेम ही करे, वह अपना बुरा करे तो भी उसका उपकार ही करे। साधक चाहे क्षत्रिय हो या वैश्य—सबके लिये उपर्युक्त श्रेष्ठ व्यवहार करना ही उचित है । कहीं न्याययुक्त प्रतीकार करना आवश्यक हो तो उसके हितकी दृष्टिसे अपने अधिकारके अनुसार प्रतीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं।

(६) आपका मित्र-परिवार दस-बारह वर्षसे प्रतिदिन आध्यात्मिक पुस्तकोंका अध्ययन कर रहा है, जप भी करता है, यह बड़ी उत्तम बात है; किंतु शास्त्रने निषेध किया है, इसलिये 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-वल्लभाय नमः' मन्त्रका अपवित्र अवस्थामें उच्चारण करके जप करना उचित नहीं है । मानसिक जप हर समय कर सकते हैं ।

(७) अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ भी सुख-दुःख और घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्का विधान समझ लेनेपर फिर काम-क्रोध नहीं हो सकते । हरेक परिस्थितिमें भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि जो परिस्थिति प्राप्त हुई है, यह भगवान्की ही भेजी हुई है और वे परम कृपालु भक्तवत्सल भगवान् हमारे हितके लिये ही करते हैं। उनका प्रत्येक विधान हमारे लिये मङ्गलमय ही होता है। इस प्रकार समझनेपर फिर न तो क्रोध आ सकता है और न कामना ही रह सकती है । जो सदा-सर्वदा सबको अपने परम प्रेमी भगवान्का ही स्वरूप समझता और सर्वत्र उनका दर्शन करता रहता है उसके तो ये काम-क्रोध आ ही कैसे सकते हैं ! रामायणमें श्रीशिवजीने कहा है—

उमा जे राम-चरनरत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

आपने लिखा कि 'प्रतिदिन दो प्रकारकी विचारधारा-का संघर्ष होता है, तब दानवताकी ही जय होती है' सो जब ऐसा हो तभी उसे अपने साधनमें अत्यन्त बाधक और बुरा काम समझकर उसके लिये मनमें अत्यन्त पश्चात्ताप करना चाहिये ।

(८) 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'ॐ नमो वासुदेवाय' 'वासुदेवाय नमः'—ये तीनों ही जप-मन्त्र हो सकते हैं । अधिकतर शास्त्रोंमें पहलेवाले 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका ही उल्लेख मिलता है । जिस मन्त्रमें ॐ हो उसे अपवित्र अवस्थामें उच्चारण करनेमें शास्त्रका निषेध है, अतः 'वासुदेवाय नमः' का तो किसी भी समय उच्चारण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं, पर उपर्युक्त अन्य दो मन्त्रोंको हर समय जपें तो मानसिक ही जपना चाहिये । इन मन्त्रोंका जप करते हुए श्रीविष्णु भगवान्‌का ध्यान करना तो बहुत उत्तम है, अवश्य करना चाहिये । × × × ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । जपके विषयमें आपने जो-जो बातें लिखीं, सब पढ़ ली हैं; उनका उत्तर इस प्रकार है—

१. सर्दीकी ऋतुमें यदि सायंकाल स्नान करना असह्य हो तो हाथ-पैर और मुँह धोकर भी गायत्रीका जप कर सकते हैं, संध्या भी कर सकते हैं ।

२. जप करते समय कण्ठ और जिह्वा शुष्क होने लगे तो थोड़ा जल पी लेना चाहिये या दो-चार लौंग चबा लेना चाहिये ।

३. आप लिखते हैं कि मैं जप मानसिक करता हूँ और यह भी लिखते हैं कि जिह्वा और कण्ठ थक जाते हैं। ये दोनों बातें परस्पर मेल नहीं खातीं; क्योंकि मानसिक जपमें कण्ठ और जिह्वासे कोई काम ही नहीं लिया जाता, तब वे दोनों थकेंगे क्यों ? आगे चलकर आप यह भी लिखते हैं कि जिह्वा अपने आप हिलने लगती है, इससे भी यही समझमें आता है कि आपका जप मानसिक नहीं होता; आप कण्ठ और जिह्वासे होनेवाले जपको ही मानसिक मानते हैं ।

४. आपने लिखा कि 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका जप करूँ तो कष्ट कम होता है, पर विचार तो यह करना है कि साधनमें कष्ट होना ही क्यों चाहिये? यह तो तभी होता है जब साधक अपने साधनको ठीक समझ नहीं पाता है और सुनी-सुनायी बातोंपर मनमाने तरीकेसे साधन करता रहता है । वास्तवमें साधन अपनी योग्यता, विश्वास और रुचिके अनुरूप हो, वही साधन है । वह साधकको कभी भाररूप मालूम नहीं होगा । उसमें थकावट कभी नहीं आयेगी और उत्तरोत्तर रुचि बढ़ेगी । साधन अपने आप होगा । उसका न होना असह्य हो जायगा । जगनेसे लेकर शयन करने तक एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त हर समय साधन-ही-साधन होगा । उसकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होगी, जो साधनसे रहित हो ।

आप जप करना अपना स्वभाव बना लें, उसमें जोर डालनेकी कोई जरूरत नहीं; प्रेमपूर्वक करते रहें। संख्या शीघ्र पूर्ण करनेका या अधिक करनेका आग्रह छोड़ दें । शान्तिपूर्वक मन्त्रके अर्थको समझते हुए और उसके भावसे भावित होकर जप करें, ऐसा करनेसे थकावटका सवाल नहीं आ सकता । जबतक जप या अन्य कोई भी साधन बोझा मालूम होता है, तबतक उसमें थकावटकी प्रतीति होती है ।

५. आपने लिखा कि पहले मेरा मन थोड़ा मन्त्रके अर्थ और भगवान्‌के चिन्तनमें लगने लगा था, परंतु अब सारा जोर उच्चारणकी ओर ही लग जाता है । अतः आपको विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है । विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इसका कारण जल्दीबाजी अर्थात् थोड़े समयमें अधिक संख्या पूरी करनेका ध्येय है; जो कि भगवान्‌के चिन्तनका महत्त्व न जाननेके कारण होता है । इसलिये भाव और ध्यान-सहित ही जप करना चाहिये, चाहे वह संख्यामें कम ही हो ।

६. आपका आहार सदासे ही सादा है, यह अच्छी बात है। चाय भी कोई लाभप्रद नहीं है। इसके स्थानपर गायका दूध पीना अच्छा है।

७. मन्त्रका उच्चारण आप अपनी जानकारीके अनुसार शुद्ध करनेकी चेष्टा रखते ही हैं; यह बहुत ठीक है। जप करते समय आप पवित्र होकर बैठते हैं, यह भी ठीक है। साथ ही मनको भी पवित्र रखनेका ख्याल रखना चाहिये। मनमें बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका न आना ही मनकी पवित्रता है।

८. जप और भगवत्-चिन्तन करते समय साधकको चाहिये कि सब प्रकारकी चाहसे रहित होकर बैठे। किसी भी व्यक्ति और वस्तुमें आसक्त न हो। सब प्रकारके प्रलोभनोंका और भयका त्याग कर दे। ऐसा करनेसे शान्ति और सामर्थ्य बढ़ सकती है। फिर थकावट होना सम्भव नहीं है।

९. यदि स्त्रियाँ मासिकधर्म होनेपर भी छूआछूतका विचार नहीं रखतीं, अपवित्रता फैलाती हैं तो उनपर किसी प्रकारका दबाव न डालकर अपना भोजन शुद्धतापूर्वक अलग अपने हाथसे बना लेना चाहिये। इसका कारण कोई पूछे तो बड़ी शान्तिके साथ कह देना चाहिये कि मेरी रुचि ही ऐसी है, क्या करूँ? इसके अतिरिक्त न तो उनके व्यवहारसे दुखी हो, न किसीको बुरा-भला कहे और न किसीपर क्रोध ही करे। ऐसा करनेमें उनका भी हित है और आपका तो हित है ही। ऐसा व्यवहार करनेपर स्त्रियोंको भी अशुद्धि फैलानेसे सावधानी हो सकती है।

१०. स्त्रियोंमें लज्जाका भाव जाता रहा है, इसके लिये आपको दुःख नहीं करना चाहिये। संसारमें इस प्रकारके परिवर्तन समय-समयपर हुआ करते हैं, साधकको तो अपने कर्तव्यमें सावधान रहना चाहिये। उससे कोई न पूछे, तबतक दूसरेका कर्तव्य बताना उसका काम नहीं है। इसी प्रकार दूसरेकी त्रुटियोंको देखना भी साधकका काम नहीं है। उसे तो चाहिये कि अपने कर्तव्यका पालन करते हुए दूसरोंके मनकी धर्मानुकूल बातको पूरी करता रहे और दूसरोंसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न रक्खे।

११. कन्याका विवाह समय आनेपर संयोगसे ही होता है, यह बात ही अधिक ठीक है; तो भी कन्याके माता-पिता आदि अभिभावकोंको अपनी ओरसे चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्तव्यपालनमें उनको शिथिलता नहीं करनी चाहिये। भाग्यका विश्वास चिन्ता मिटानेके लिये है, किसीको कर्तव्यच्युत या कर्महीन आलसी बनानेके लिये नहीं।

१२. श्राद्धके योग्य ब्राह्मण उपलब्ध न हों तो जो मिलें उनमेंसे अच्छा देखकर सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणको भोजन करा देना चाहिये। वह यदि प्याज वगैरह खाता हो तो उसका उपाय करना आपके हाथकी बात नहीं है। आप अपने घरमें उसे वे वस्तुएँ न खिलावें, इतना ही कर सकते हैं। श्रद्धा तो किये जानेवाले कर्मके प्रति होनी चाहिये। आप तर्पण प्रतिदिन करते हैं, यह बहुत अच्छा है।

(३)

सादर हरिस्मरण,

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

श्वासजप भी नामजपकी एक विधि है; नामजपसे कोई अलग बात नहीं है। नामजप जिह्वासे उच्चारण करके होठ हिलते हुए किया जा सकता है तथा होठ न हिलाकर केवल जिह्वाके द्वारा भी किया जा सकता है, जो दूसरेको सुनायी नहीं देता। इसके अतिरिक्त श्वासके द्वारा, नाड़ीके द्वारा और अनहदनादके द्वारा तथा मनके द्वारा भी जप किया जा सकता है।

श्वासके द्वारा जप करनेकी विधि भी कई प्रकारकी है। जैसे—

१. श्वास भीतर जाते समय एक नाम और आते समय एक नाम श्वासके साथ भावनासे जोड़ देना ।

२. श्वास जाते-आते समय जो उसका कण्ठोंसे स्पर्श होता है और शब्द होता है उसमें नामकी भावना करना । इसमें कोई 'हरे राम'के पूरे मन्त्रका और कोई आधे मन्त्रका जप कर लेते हैं । कोई-कोई इससे भी अधिक कर लेते हैं । जैसा जिसका अभ्यास । सबके लिये एक विधि नहीं है ।

मनको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बतलाये गये हैं । इन दोनोंमें केवल अभ्यास-द्वारा की हुई एकाग्रता स्थायी नहीं होती । अत: वैराग्य ही प्रधान है । भोगोंमें वैराग्य होनेपर भगवान्‌में और उनके नाममें प्रेम हो जाता है । तब जप करनेमें मन स्वत: लगता है, उसकी चञ्चलता मिट जाती है । बिना मनके किये हुए पाठ, स्तुति और जप आदिका महत्त्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है, पर मनसहित किये जाने-वाले साधनका महत्त्व बहुत अधिक है । जैसे वैज्ञानिक रीतिसे वस्तुओंका उपयोग करनेमें और साधारण बिना तत्त्व समझे उनके उपयोगमें बड़ा भारी अन्तर है ।

(४)

सादर हरिस्मरण ! आपका कार्ड मिला । समाचार ज्ञात हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमश: इस प्रकार है—

१. मनुष्यका कर्तव्य अवश्य ही समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहना है । इस विषयमें आपने विभिन्न घटनाओंका उदाहरण देकर पूछा, अत: इस विषयमें लिखा जाता है—

(क) महामारी और टी. बी. के परमाणु जो मनुष्यके शरीरमें रहते हैं, उनको नष्ट करना न तो हिंसा ही है और न किसीका अहित ही है, वे प्राणियों-की श्रेणीमें नहीं हैं ।

(ख) जमीनमें पैदा होनेवाले कीड़े, टिड्डी, विषैली मक्खी और मच्छर आदि, जो राष्ट्र और प्रजाके हानि करनेवाले जीव हैं, इनके हितकी रक्षा करते हुए सर्वहितकारी उपायोंसे इनको दूर करना तो हरेक मनुष्यका कर्तव्य है और इनको दण्ड देना आवश्यक होनेपर नष्ट करना न्यायकर्ता राजाका कर्तव्य है । जो राष्ट्र और प्रजाके हितकी दृष्टिसे विधानके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करते हुए यदि किसीको शारीरिक दण्ड देता है या किसीका वध करता है, किंतु राग-द्वेष, लोभ-मोह आदिके वशमें होकर नहीं करता तो वह सबका हित ही करता है । वास्तवमें तो बात ऐसी है कि यदि सचमुच सर्वहितकारी पूर्ण धर्मात्मा राजा हो तो उसकी प्रजामें ऐसी परिस्थितियाँ ही प्राय: नहीं आ सकतीं । इस विषयमें रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें 'रामराज्य' और महाभारतके विराट्पर्वमें 'युधिष्ठिरके प्रभाव'का वर्णन देखना चाहिये ।

किसीके अत्याचारको भी भगवान्‌की कृपा समझकर जो उसका बदला नहीं चाहता और प्रतिकारीका भी हित ही चाहता है, प्रसन्नतापूर्वक उसके (जीवमात्रके) द्वारा प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलताको सहन कर लेता है वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही; पर यह विधान स्वयं अपने लिये है, दूसरोंके लिये नहीं ।

२. 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्याग:'

यह सर्वथा सत्य है कि प्रह्लादके साथ किसीका वैर-भाव नहीं रहा । प्रह्लादको जो यातना दी गयी वह वैरभावसे नहीं, किंतु अपने स्वार्थके लिये दी गयी, क्योंकि हिंसक जीव भी उसकी हिंसा नहीं कर सके । इसी प्रकार बुद्धदेव और गाँधीजीसे भी किसीका वैरभाव नहीं था, मुसलमान भी गाँधीजीसे प्रेम करते थे, कोई भी भय नहीं करता था । यद्यपि गाँधीजी प्राणिमात्रके लिये अहिंसक नहीं थे, केवल मनुष्योंके ही हितमें रत थे, तथापि उनका इतना प्रभाव था । जिसकी अहिंसामें पूर्ण

प्रतिष्ठा हो जाय उसके प्रभावमें तो संदेह ही क्या है। जगत्से सदाके लिये सबके मनसे हिंसाके भाव समाप्त हो जायँ, यह उस सूत्रका अर्थ और भाव नहीं है। सूत्रमें तो केवल यही बात कही गयी है कि उसके निकट दूसरेका वैर नष्ट हो जाता है।

३. हिंसा, द्वेष और असत्य आदिके उन्मूलनका उच्चतम उपाय पूछा सो श्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान करनेसे इन दुर्गुणोंका नाश हो सकता है। इन सब दुर्गुणोंका कारण सुखकी इच्छा और दुःखका भय है। इनको मिटा देनेपर भी समस्त अवगुणोंका नाश हो सकता है। मनुष्य इस नाशवान् क्षणभङ्गुर जड शरीरको अपना स्वरूप मानकर भोगोंमें आसक्त हो गया है। अतः भगवान्‌की कृपासे मिले हुए विवेकका आदर करके यदि वह यह समझ ले कि मैं शरीर नहीं हूँ और किसी भी सांसारिक पदार्थसे, किसी भी प्राणीसे और किसी भी परिस्थितिसे मुझे कभी भी सुख नहीं मिल सकता तथा दूसरा कोई भी मेरे दुःखका कारण नहीं है, तो सभी दुर्गुण नष्ट होकर उसका हृदय प्रेमसे भर जाय; फिर उसके द्वारा जो कुछ भी हो, सब सर्वहितकारी काम ही हो।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक मनुष्यके ऐसा हो जानेपर सम्पूर्ण जगत्‌के अवगुण नष्ट हो जायँगे; पर यह कहा जा सकता है कि उसके लिये सम्पूर्ण जगत् शुद्ध हो जायगा।

४. सत्यके विषयमें आपने पूछा कि क्या कोई अनुचित प्रतिज्ञा की जाय तो उसका भी पालन करना चाहिये? इस विषयमें धैर्यपूर्वक विचार करना चाहिये। विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि जो सत्यवादी स्वार्थरहित है वह किसीसे अनुचित प्रतिज्ञा करेगा ही क्यों? अनुचित प्रतिज्ञा तो स्वयं असत्य है फिर उसका पालन करना सत्यका पालन कैसे हो सकता है?

कोई चालाक आदमी वचन ले ले तो सोचना चाहिये कि मैंने इसे वचन दिया क्यों? यदि वह सचमुच सत्यप्रतिज्ञ होगा तो खूब सोच-समझकर ही किसीको वचन देगा। वचन दे देगा तो अपना सर्वस्व खोकर भी वचनका पालन करेगा, इसीमें उसका महत्त्व है।

श्रीदशरथजीका जीवन तो आदर्श है। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके वास्तवमें कोई हानि नहीं उठायी। रामसे वियोग होना तो निश्चित था। उन्होंने जो प्रतिज्ञाका पालन किया, उसका परिणाम तो उनके लिये बहुत उत्तम ही हुआ।

अविश्वास और धोखेसे भरा हुआ संसार वास्तविक सदाचारी सत्यनिष्ठ साधकका कुछ भी बुरा नहीं कर सकता। वह अपने सत्यकी और अपनी रक्षा करता हुआ एवं विश्वके प्रति श्रेष्ठ कर्तव्यका पालन करता हुआ अपनी जीवनयात्रा शान्तिपूर्वक व्यतीत कर सकता है, इसके लिये उसे इच्छारहित नित्य जीवन प्राप्त करना और इस वर्तमान, क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील अशान्त जीवनसे असङ्ग होना आवश्यक है।

पाछे पछिताने व्यर्थ

जानो है न जीवन को साँच पुरुषारथ यों, काँचके प्रकाश जग भ्रममें भुलाने व्यर्थ।
बँधत अपार अभिलासनके पासनमें, दुःखद त्रिताप जरिबो ही सुख माने व्यर्थ॥
माने हैं न संतनके अंत सुखकारी बैन, चैन नहिं पावैं घूमि घूमि चकराने व्यर्थ।
'साधक' बखानै मन मानै तौ गुमानै मारि, भजु भगवानै नत पाछे पछिताने व्यर्थ॥

—श्रीसाधक मिश्र व्यास

भगवान्से प्रार्थना करें

(दि० महर्षि श्रीकार्तिकेयजी महाराज)

किसी कालमें जब यह नाम-रूपात्मक प्रपञ्च नहीं था, प्रकृतिका आधार केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका सत् स्वरूप ही था । अब यह प्रश्न उठता है कि वह सत् कैसा है—अल्प है या महान् ? तब सत्की परिभाषापर ध्यान देनेसे वह तत्त्व भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें अपरिवर्तनीय, सदा-सर्वदा एकरस रहनेवाला, सर्वव्यापक सिद्ध होता है । जो किसी कालमें रहे और किसीमें न रहे, उसको कालबाधित कहते हैं और जो सब कालमें रहे उसको काला-बाधित कहते हैं । कालबाधित वस्तु आद्यन्तवाली होती है और जिसका किसी कालमें किसी प्रकारका अभाव होता ही नहीं, उसे अनादि-अनन्त कहते हैं और अनन्त (असीम) वस्तु दो होती ही नहीं; क्योंकि दोका संधिस्थान होगा तो दोनों ही ससीम होंगी और सीमा-वाला तत्त्व असत् होता है । इस प्रकार सिद्ध हो जाने-पर भी यह प्रश्न होता है कि वह सत्-तत्त्व हमलोगोंकी भाँति हस्तपादादि अवयववाला है या निरवयव ? तब कहना पड़ता है कि अवयववाला पदार्थ सदा ससीम होता है; क्योंकि उनके अवयवोंको अवकाश देनेवाला दूसरा आधार कोई और अवश्य होता है; परंतु वह सत् तो निराधार तथा असीमरूपेण स्थित है, अतः सिद्ध हुआ कि सत्-तत्त्व नित्य, निरवयव, असीम, अनादि, एक तथा सर्वव्यापक है ।

लोकमें यह विज्ञानसिद्ध है कि जो कोई वस्तु होती है उसमें शक्ति भी अवश्य होती है, हाँ, जो अल्प है उसमें अल्प शक्ति और जो महान् होता है उसमें महान् शक्ति होती है । इसी प्रकार उस सत्में भी कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिये, ऐसा विचार उठनेपर कहा जाता है कि जब वह सत् है तब उसकी शक्ति भी सत् हुई और जब वह अनन्त है तब उसमें स्थित शक्ति भी अनन्त हुई, इसलिये वह तत्त्व अनन्त शक्तिमान् सिद्ध हुआ ।

अनन्त शक्तिमें सर्वशक्तियोंका समावेश होता है, अतः वह सर्वशक्तिमान् भी सिद्ध हुआ । वह अपनी महिमामें स्वाश्रय होकर स्थित है । यही तत्त्व जगत्का आधार तथा स्वयं निराधार है ।

इसीको सामवेदके छान्दोग्य उपनिषद्में 'भूमा', 'सत्'; यजुर्वेदमें 'ब्रह्म', 'ईश'; ऋग्वेदमें 'आत्मा', 'पुरुष'; अथर्ववेदमें 'आनन्द', 'विज्ञान', प्रज्ञान' इत्यादि नामोंसे कहा गया है ।

यह सत्-तत्त्व स्वाभाविक, सदैव अचल रूपसे स्थित रहता है । परंतु इसमें अभिन्न-तादात्म्यरूपसे स्थित सदसद्विलक्षणा शक्तिके द्वारा कभी इस नाम-रूपात्मक जगत्का विकास होता है और कुछ काल स्थित होकर फिर वह उसीमें लीन हो जाता है । यही इस प्राकृत जगत् (संसार) की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय है । अब जिस प्रकार यह विश्व-संज्ञाको प्राप्त होता है उस क्रम-पर विचार करें ।

यद्यपि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु स्वभावानुसार अनेकों प्रकारसे सृष्टि रचता है तथा उसका संहार करता है, परंतु सब प्रकारकी उत्पत्ति-क्रममें उसके संकल्पको ही मूल कहा गया है, अतः उस केवल सच्चिदानन्दघनके संकल्पशक्तिसे ही मनोराज्यकी भाँति यह आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा पाञ्चभौतिक सभी स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च स्फुरित हो गया है । इसीका नाम जगत्, संसार, विश्व आदि है ।

इस विश्वका संकल्पित नियमानुसार शासन करनेके कारण उन्हीं प्रभुको विश्वपति ईश्वर कहते हैं । यह ईश्वर

ही अखिल जगत्का, सम्पूर्ण प्राणियोंका माता-पिता, धाता, स्रष्टा, नियन्ता कहा गया है। इन्हीं सर्वशक्तिमान् प्रभुकी सब सज्जनगण उपासना करते हैं। यही भक्तोंके सम्पूर्ण भावोंकी स्वेच्छानुसार पूर्ति करते रहते हैं और यही समस्त प्राणियोंको कर्मानुसार फल भी प्रदान करते हैं।

सदाचारका परिणाम सत्, ज्ञान तथा सुखरूप होता है और दुराचारका परिणाम असत्, अज्ञान तथा दुःखरूप होता है।

एक परमपिता परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह विश्व ही हमारा सबसे बड़ा घर है। इसके अंदर रहनेवाले सम्पूर्ण चराचर प्राणी अपने सगे-सम्बन्धी हैं। विश्वरूपी महागृहके भीतर जो महादेश, देश, द्वीपसमूहादि हैं, वे ही कमरोंकी भाँति हैं और इन महादेशोंके राष्ट्राधिप ही समर्थ भाइयोंके सदृश हैं। वे अपने-अपने प्रजारूपी कुटुम्बियोंको लेकर पालन करते हुए भिन्न-भिन्न देशरूपी कमरोंमें रहते एवं परस्पर व्यवहार-व्यापार करते हैं; परंतु इस समय ईश्वररूप पिताकी नियमित आज्ञाओंका उल्लङ्घन तथा पारस्परिक विरोधके कारण वे नाना प्रकारके रोग-शोकादि द्वन्द्वोंके रूपमें अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। विश्वरूप गृहमें कलह उत्पन्न हो जानेके कारण महाविनाश हो रहा है।

यह तो निश्चित ही है कि कुटुम्बमें अज्ञानपूर्वक स्वार्थपरताके कारण जब विरोध उत्पन्न हो जाता है, तब दुःख तथा सब प्रकारसे अपनी ही हानिके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हानि हुई सो हुई, ईश्वर भी अप्रसन्न होकर दण्ड देता है।

इस तरह आज सभी प्राणी सब प्रकारसे दुखी हो रहे हैं। परंतु यदि हमलोगोंको शाश्वत पूर्ण सुखी होना अभीष्ट है तो हमें चाहिये कि हम परमेश्वरके अनन्त उपकारोंके प्रति उनके कृतज्ञ हों। सब लोग परस्पर प्रेम रखते हुए सबके हितकर आचरणोंमें तत्पर हों, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक विकास और सभी प्रकारकी उन्नतिके लिये निरन्तर गङ्गा-प्रवाहकी नाईं पुरुषार्थशील हों तथा अपने सहित सभीके अपराधोंके क्षमाके लिये करुणापूर्वक विनम्रभावसे प्रार्थना करें तथा प्रभुके सामने विश्वहितार्थ नित्य प्रार्थी हों।

प्रभु सर्वसमर्थ हैं, वे हमारी करुणापूर्ण विश्वहितार्थ पुकारको सुनकर अवश्य ही कृपा करेंगे और अपनी दया-दृष्टिमात्रसे ही हम सभीको सुखी बना देंगे। जब एक लौकिक पितासे उसके महान् अपराधी पुत्र प्रार्थना करते हैं कि 'पिताजी! अबतक हमलोगोंसे जो भी अपराध बन गये हैं उनको आप क्षमा कीजिये, भविष्यमें हमलोग आपकी आज्ञाके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करेंगे', तब वह दयाहीन पिता भी अपने पुत्रोंकी करुणापूर्ण निष्कपट पुकारको सुनकर उनके सभी अपराधोंको क्षमा करके उन्हें हृदयसे लगा लेता है और उनको उचित हितकर आचरणोंमें लगाकर स्वयं भी हितकर आचरणोंमें तत्पर हो जाता है, तब अत्यन्त सुहृद् करुणामय परमपिता परमात्मा हम अपराधी दण्डनीय शिशुओंकी विश्वहितार्थ करुणापूर्ण प्रार्थनाको सुनकर क्या हम सबको सुखी बनानेका यत्न न करेंगे? अवश्य ही करेंगे, हाँ, हमारी पुकार कपटरहित हृदयविदारक तथा सद्भावसम्पन्न होनी चाहिये।

अवैरसे वैर शान्त होता है

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ (धम्मपद)

यहाँ संसारमें वैरसे वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैरसे ही शान्त होता है, यही सनातनधर्म नियम है।

रूप-विज्ञान

(लेखक—श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०)

जगत्‌का जो चरम सत्य है, परम प्रतिष्ठा है, जिससे विश्वका उद्भव होता है, जिसमें स्थिति और पर्यवसान होता है—

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'—'यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः'—

जो सबका 'प्रलयस्थानं च' है, वह रूपरहित है या रूपवान् है?—यह एक महान् प्रश्न है, विशाल समस्या है। संसारकी बहुत-सी जातियाँ, बहुत-से धर्मसिद्धान्तोंने तो इस विषयमें कुछ भी विचार-विवेचन करना आवश्यक ही नहीं समझा। न तो इस विषयमें कुछ सोचा, न ध्यान ही दिया। उन्होंने बिना विचारे, बिना विवादके यह धारणा कर ली कि जगत्‌का आदि-अन्त तत्त्व निराकार है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-तारा, गिरि-नदी, तरु-लता, पशु-पक्षी, नर-नारी, घर-द्वार—ये सभी देखनेमें आते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होते हैं, अनुभव किये जाते हैं। ये सभी दृश्य, ग्राह्य और अनुभाव्य हैं। इनके आकार-प्रकार-विकार आदिका निरूपण किया जाता है। ये सभी साकार हैं, सावयव हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जो इन सबका कारण है, वह कैसा है? इसका सहज उत्तर यह है कि 'उसका कोई प्रकार नहीं है। आकार भी नहीं है।' पर सर्व कारणोंका कारण कुछ नहीं है—यह कहनेसे काम नहीं चलेगा। मानना पड़ेगा कि कुछ 'है'। है, परंतु उसका कोई आकार नहीं है और न हो सकता है। उसका रूप नहीं, अभिव्यक्ति नहीं है, तो बताओ वह क्या है?—सत्तामात्र, शक्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इसी धारणाको लेकर, इसी विश्वासको दृढ़ करके अतीत और वर्तमानकालमें लाखों-लाखों नर-नारी निर्विकार चित्तसे धार्मिक निश्चिन्तताका उपयोग कर गये हैं और कर रहे हैं। एक भारतके अतिरिक्त सारे भूमण्डलकी यह स्थिति है। भारतवर्षको छोड़कर पृथ्वीके धर्मज्ञानका आश्रय है—आकाशवत् निराकार, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसूत्र १-१-२३) नहीं। 'आकाशस्तत्सदृशः।' इस निराकार प्रतिष्ठाको तथा उसमें अनायास और अनुद्वेग अवस्थानको ईसा तथा उनके अनुयायियोंने प्रबल आघातके द्वारा तोड़ा। ईसा नश्वर देहमें भी रूपवान् हैं, अविनश्वर अमृतभावमें भी रूपवान् हैं। तथापि ईसा परमेश्वर हैं, विश्वस्रष्टा हैं, विश्वेश्वर हैं—ऐसा माना गया। हजारों लोगोंने ईसाके ईश्वरत्वको अस्वीकार करके रूपप्रकाशवादके अत्याचारसे छुटकारा भी प्राप्त किया। पर जो अस्वीकार न कर सके, वे ईसाके अलौकिक व्यापारको देखकर अमानुषिक शक्ति-सामर्थ्यको देखकर अभिभूत हो उठे। उन्होंने विवश होकर रूपवान् परमेश्वरको स्वीकार किया। किंतु वे भी अरूप संस्कारकी निराकार धारणाके आवेगको अतिक्रम न कर सके। निःसंकोच न हो सके। अतः उन्होंने 'पिता और पवित्र परमात्मा'—God the Father and the Holy Ghost—ईश्वरके इन दो अधिक व्यूहोंका आश्रय लिया। ईश्वर त्रिव्यूह हो गया, Trinity हो गयी। इतना ही नहीं, ईसाके भक्तोंने सरूप ईसाको ईश्वरका तृतीय स्वरूप अर्थात् अंशावतारके रूपमें स्वीकार किया—परंतु केवल यहींतक। रूपाविर्भावके किसी तत्त्व, किसी नीति, किसी Principle को उन्होंने न तो ग्रहण किया और न समझा ही। केवल ईसा है। भूलचूकसे जो हो गया, सो हो गया—उसको बदलने या छोड़नेका कोई उपाय नहीं। परंतु और नहीं, ईश्वरका मानो अन्य किसी रूपमें जगत्‌में आनेका वे प्रयोजन ही नहीं समझते। उन्होंने एक बार जो मान लिया वही यथेष्ट है। उन्होंने सदाके लिये यह नियम बना लिया कि ईश्वरका दूसरा रूप नहीं है और न हो सकता है। यदि होता है तो वह मिथ्या होगा। केवल ईसा है, वही प्रथम है, वही अन्तिम है। ईसाई धर्मचक्रका मनोभाव बहुत-कुछ इसी प्रकारका है। उनकी दृष्टिमें जगत्‌की सृष्टि भी तो ईश्वरकी कल्पनामें काल-नक्षत्रमें एक ही बार है। वह प्रलयको प्राप्त हुई कि, सब समाप्त। जब सृष्टिके सम्बन्धमें ही ऐसी बात है, तब फिर ईश्वरके रूप-प्रकाशकी बात ही क्या? इधर भारतके ऋषियोंने ईश्वरवाक्यकी घोषणा की—

'यदा यदा हि धर्मस्य···सम्भवामि युगे युगे।'

और फिर कहा—

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।'

(श्रीमद्भा० १।३।२६)

और उस अवतारतत्त्वके विज्ञानका विधान किया—

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३४)

तथा,
नातः परं परम यद् भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३)

—परंतु हमें यहाँ इस विषयकी आलोचना नहीं करनी है। यहाँ तो परब्रह्मके रूपके सम्बन्धमें प्रधान-प्रधान उपनिषदोंके अर्थात् मूल वेदान्तके जो तत्त्वोपदेश (Revelations) हैं, उनको ही यथासम्भव समाहरण करनेकी चेष्टा की जायगी ।

उपनिषदोंका सच्चा अर्थ और सार अर्थ बहुधा ग्रहण नहीं किया जाता; क्योंकि हम चित्तमें पूर्वसंस्कार तथा विशेष-विशेष मतवादोंके प्रति पक्षपात तथा अति आग्रह लेकर ही उपनिषद् पढ़ते हैं। वस्तुतः सरल, सहज, सुविशुद्ध चित्तके द्वारा प्रत्येक श्रुतिका अर्थ ग्रहण करना आवश्यक है। ज्ञान और भक्ति मानव-मनके दो विपरीत प्रान्त नहीं हैं, जो विभाव हैं, जो प्रायः मिल-जुलकर मनकी मति-गतिका निर्देश करते हैं, विशेष-विशेष व्यक्तिके अन्तःकरणमें उनमेंसे कोई एक अपेक्षाकृत प्रबल होता है। परंतु बहुत दिनोंसे वेदान्ती और वैष्णव महानुभाव ज्ञान और भक्तिको दो विभिन्न रूपोंमें, दो विभिन्न ध्रुवप्रदेशोंमें स्थापन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। जीवनको एकबारगी ज्ञान-विज्ञानविहीन करना सम्भव नहीं है, अतएव वैष्णवलोग तो तत्त्व ग्रहण करनेमें कोई आत्यन्तिक अन्याय नहीं कर सकते। परंतु 'भक्तिहीनता' प्रीतिहीनता, शुष्कज्ञान-सर्वस्वता सम्भव है,—इस मान्यतासे कोई-कोई वेदान्ती महानुभाव अपनी दृष्टिसीमासे भक्तिके अमृत-किरणको आवृत करके, उसे हटाकर प्राणहीन ज्ञानकी प्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न करते हैं! ये ज्ञानवादी लोग श्रुतिके अर्थ तथा ब्रह्मसूत्रके तात्पर्यको विशुद्ध अर्थात् विशुष्क ज्ञानकी ओर बलात् खींच ले जाते हैं। इसी प्रकार—वैष्णव लोग भी उनके अर्थको भक्तिकी ओर खींचनेसे बाज नहीं आते। निर्विशेष ब्रह्मानुसंधानात्मक ज्ञानके लिये उपर्युक्त वेदान्ती लोगोंका आग्रह बड़ा प्रबल होता है। उनके विचारसे मानो वे ब्रह्म ही हो गये हैं। ये ब्रह्मवादी लोग बहुधा मूल उपनिषद्के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। इन्होंने श्रीशङ्कराचार्यके उपनिषद्-भाष्य या सूत्रभाष्यको भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया हो, यह भी निश्चय नहीं है और इनके साधनाध्ययनकी गति वेदान्तसार तक या बहुत आगे बढ़ते हैं तो पञ्चदशी तक होती है। हम इस विषयमें इस मार्गका अवलम्बन न करके महाप्रभुके अनुशासनका स्मरण करेंगे—

व्यासेर सूत्रेर अर्थ सूर्येर किरण,
स्वकल्पित भाष्यमेघे करे आच्छादन।
(चैतन्यचरितामृत मध्य ६)

ब्रह्मसूत्रके सम्बन्धमें तो कुछ कहनेकी हममें शक्ति नहीं है, परंतु अनेकों उपनिषद्वाक्योंके सम्बन्धमें यह बात अति सत्य है, यह अनायास ही स्वीकार किया जाता है। ब्रह्मसूत्रोंमें किसी-किसी सूत्रको महर्षि बादरायणने अति प्राञ्जलभावसे लिपिबद्ध किया है; परंतु भाष्य करनेवालोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये वक्रविचारके बादलोंसे उसे आच्छन्न कर दिया है, यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

'न स्थानभेदतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।'
(३-२-११)

इत्यादि उदाहरण-स्थल हैं।

ज्ञानका रंग सफेद और शुभ्र है, 'तुषारक्षेत्रपतितसूर्य-किरणवत्।' भक्तिका रंग लाल है, आरक्त है। 'रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्'—भक्तिका नाम है—राग। राग भक्तिका सर्वोत्तम चित्र अङ्कित किया है श्रीरूपगोस्वामीने उज्ज्वल नीलमणिमें—

चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती ।

नवराग हिङ्गुलवर्ण है। उपनिषद्में जो आभ्यन्तरिक भावप्रवाह बह रहा है उसका भी एक रंग है, एक आभा है। वह तुषाररश्मिकी छटा नहीं और न वह नवकुङ्कुमके समान अरुण ही है। वह है—

'सु ईषद् अरुण; उषालोकरञ्जित'

सरल भाषामें तनिक लालकी आभा उसमें विद्यमान है। लालकी आभा रूपकी आभा है। अरूपकी आभा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्में इस गोपन रूपकी आभा सुस्पष्ट प्रकाशित हुई है; यह देखा जाता है। वहाँ अति मनोहर अभिव्यञ्जना है—

"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा

सकृद् विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम् ।" (२।३।६)

अर्थात् "उस पुरुषका रूप कैसा है?—जैसा कुङ्कुम। कोई-कोई वस्त्र, जैसे मेषके लोमका वर्ण ईषत्पीताभ होता है,—वैसा है और वह रूप इन्द्रगोप नामक रक्तकीटकी रक्त आभाके समान जान पड़ता है। वह रूप अग्निशिखाके समान और विकसित कमलके वर्णका दीख पड़ता है। चञ्चल चपलाकी क्षणिक चमकके समान देखते-देखते विलीन हो जाता है। उसको जिसने एक बार देखा है वह दीप्त विद्युत्की शोभा-सम्पत्को प्राप्त हो गया है। परमपुरुषका कोई निर्धारित रूप नहीं है। वह नित्य नाना रूपोंका प्रकाशक्षेत्र है। इसीसे 'नेति' 'नेति' कहकर उसके चञ्चल रूपका विवरण किया जाता है। उसका नाम है—सत्यका सत्य।* प्राण सत्य है, वह प्राणका भी प्राण है, अतएव और सत्य है। जिस रूपसे उसका लक्ष्य किया जाय, वह केवल वही है—यह माननेसे काम नहीं चलेगा। वह जो सर्वातिशायी है" मूलकी भावभङ्गी जैसी है, ठीक वैसा ही अनुवाद किया है। कवित्व-संयोग नहीं किया है।

जो परम सत्य और परतत्त्व है, वह केवल सत्तामात्र अथवा शक्तिमात्र नहीं है। 'वह ज्योतिर्मय है, प्रदीप्त-वर्णमय है।'

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।
विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु……'

इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें परब्रह्मकी ज्योतिकी बात हमारे लिये बतायी गयी है। कठोपनिषद्में कहा गया है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।
(२।२।१५)

परंतु इससे यह नहीं समझमें आता कि परतत्त्व मूर्त्तिमान् है या अमूर्त्त है। बृहदारण्यक श्रुतिवाक्यमें हम देखते हैं—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्त्तं चैवामूर्त्तम्॥'
(२।३।१)

परंतु यह बाह्य रूपकी बात है, प्राकृत रूपकी बात के... होनेपर भी ठीक भगवत्-रूपकी बात नहीं है। 'एतदमृतम्' कहा गया है; परंतु वह अमूर्त्त है।

'एतस्यामूर्त्तस्य एतस्यामृतस्य यत एतस्य तस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रसः।'
(२।३।३)

इस जगन्मण्डलका जो अन्तर्यामी पुरुष है उसीका यह 'रस' है जिसका अमूर्त्त रूपमें वर्णन किया गया है। 'रस' माने क्या आभास है? प्रकाशविशेष है? पुरुषका अर्थ तैत्तिरीय उपनिषद्में व्यक्त हुआ है—

प्रथम, पुरुष अन्नरसमय है। दृश्यमान नराकार है। 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं'—भागवत ११।२०।१७) यह नरदेह ही सब जीव देहोंका आदर्श है। देहगठनका 'मॉडल' है। जीवमूर्त्तिके प्रकाशकी पराकाष्ठा यह नरदेह है। इस नरदेहधारी जीवको ही श्रुति 'पुरुष' कहती है—अन्नरसमय पुरुष। इस पुरुषका अन्तरात्मा प्राणमय पुरुष है। प्राणमय पुरुषका अन्तरात्मा मनोमय पुरुष है। मनोमय पुरुषका अन्तरात्मा विज्ञानमय पुरुष है। विज्ञानमय पुरुषका अन्तरात्मा आनन्दमय पुरुष है। यह सच्चिदानन्दमय आत्मा है। ये सभी पुरुष-प्रकार हैं। श्रुति पुनः-पुनः कहती है—'स वा एष पुरुषविध एव।' अर्थात् सभी नराकृति हैं। स्तर-स्तरमें, आगे-आगे, विभिन्न भावभूमियोंमें ये आत्मशक्तियाँ मानवाकृति हैं। आनन्दमय पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसकी 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इससे हमको जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका पता लगता है। एक तो हुए नराकार और जो प्रधान हैं वे कौन हैं? श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।'
(४।६)

दो सखा हैं। अतएव आकृतिमें भेद नहीं हो सकता। समान-समानमें सख्य होता है। सयुजाका अर्थ है कि वे दोनों समान-समान हैं। परंतु यह श्वेताश्वतर श्रुति ही फिर विपरीत बात कहती है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'
३।१९

---

* सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।
(श्रीमद्भा० १०।२।२६)

उसके हाथ नहीं है, परंतु हाथसे धारण करनेकी भाँति ठीक ग्रहण करता है; उसके चरण नहीं, परंतु चञ्चल चरणसे चलनेके समान ठीक चलता है। मनुष्यके समान कान नहीं है, परंतु मनुष्यकी अपेक्षा बहुत अधिक सुनता है। पक्षीको पंख होते हैं, इसीसे पक्षी उड़ता है—यह अज्ञ बालककी बात है। पक्षीमें उड़नेकी शक्ति है, इसीसे वह उड़ सकता है। वह शक्ति ही पंखके द्वारा प्रकट होती है, यह बाह्यजीवनका उपकरण है। ब्रह्मको धारण करनेकी शक्ति जब स्वीकृत हो गयी, गमनकी शक्ति जब स्वीकृत हो गयी, तब उसके पाणिपादको स्वीकार करना या न करना एक ही बात है। इच्छामात्रसे ही उसके हाथ-पैर प्रकट हो सकते हैं; क्योंकि शक्ति विद्यमान है। श्रुति इस बातको प्रकट करनेसे चूकती नहीं है। उसने घोषणा की है कि 'अपाणिपादः' चलनेके पूर्व ही है। इस श्वेताश्वतर श्रुतिने ही उपदेश दिया है—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

(३। १६)

परब्रह्मके कर-चरण-चक्षु-श्रोत्र सब हैं; परंतु वह अनन्त है, असीम है, सर्वव्यापी है, विश्वरूप है। इसीसे—

'सहस्राक्षः सहस्रपात्, सहस्रशीर्षा पुरुषः।'

वेद, उपनिषद्, गीता एकस्वरसे कहते हैं कि वह शाश्वत पुरुष है, परम पुरुष है, पुरुषरूपमें ही सर्वव्यापी है। भगवत्सन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीने यह तत्त्व लिपिबद्ध किया है—

एकमपि मुख्यं भगवद्रूपं युगपदनन्तरूपात्मकं भवति।

'एक ही मुख्य भगवद्रूप एक ही साथ अनन्त रूपात्मक होता है।'

जैसे परमेश्वरका ऐश्वर्य अनन्त है, वैसे ही उसका माधुर्य भी अनन्त है। परब्रह्मके अनिर्वचनीय शक्तितेजमें चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादि तथा विद्युदग्नि—सभी गलकर बुझ जाते हैं। वे —

'समवरुद्धसमस्तभगः'

'अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधकः।'

(वेदस्तुति हैं।)

'महद्भयं वज्रमुद्यतम्। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'—

—इत्यादि उसके ऐश्वर्यके आभासमात्र हैं। इस ऐश्वर्य-भावनाके क्षुब्ध समुद्रमें रूपानुभूति निमज्जित हो जाती है। उपनिषद्में माधुर्यभावना है, परंतु ऐश्वर्योपलब्धिकी ही प्रधानता है। भक्तिकी मृदु तरङ्गें हैं, परंतु ज्ञानका आलोक ही प्रचुर है। अनुराग कम है, अनुसंधान सर्वत्र है। रूपकी आभा बीच-बीचमें आँखोंपर पड़ती है, परंतु अरूपकी व्यञ्जना बार-बार होती है।

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।'

वक्षःस्थलकी कुन्दमाला दीख नहीं पड़ती, वायुमें गन्ध भासती है।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।

(श्रीमद्भा० १०। ३०। ४)

वह आकाशवत् है। भूतोंके बाहर-भीतर परिव्याप्त है। सर्वत्र अनुविद्ध है। विरहिणी व्रजाङ्गनाओंके समान वैदिक ऋषियोंने उसका सर्वत्र अन्वेषण किया है। प्रत्येक तरु-लतासे पूछा है कि 'क्या तुम उसको जानते हो, पहचानते हो ?' छान्दोग्य उपनिषद्में सर्वत्र ही विश्वमय ब्रह्मका अन्वेषण है।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु .... ॥

(श्वेताश्वतर० २। १७)

उसीका ऋषियोंने अनुसंधान किया है। उसने जो सृष्टि की है उसीमें वह अनुप्रविष्ट हो गया है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।' यह श्रुतिवाक्य है। भागवतने भी यही कहा है—

अन्तर्भवेऽनन्तभवन्तमेव ह्येतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।

उपर्युक्त—'य ओषधीषु यो वनस्पतिषु' इत्यादि श्रुति माधुर्यगामिनी है। माधुर्य रूपकी उपक्रमणिका साधन करके रूपलालसाका उद्रेक करती है। 'रूप लागि आँखि झुरे गुने मन ओर'—यह कवि ज्ञानदासने गाया है।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥

(श्वेताश्वतर० ४। ४)

—इत्यादि श्रुतिगीत मनःप्राणको मधुरायमाण कर देता है। जो पुष्प-पुष्पपर भ्रमण करके मधुपान करता है, सुरञ्जित पंखोंको खोलकर उड़ जाता है, जो हरिद्वर्ण पक्षीके समान आकाशमें कल-झंकार जगाकर दिगन्तरालमें अदृश्य

हो जाता है, जिसका अङ्ग नवीन नीरद श्यामप्रभ है और जिसके वक्षःस्थलमें विद्युत्‌की चमक है, वह नवानुरागिणी कान्ताका आकांक्षित है । फिर—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
(केन० १ । २)

श्रवणकी जो श्रवणशक्ति है, वह भी वही है; मनका जो मन है, वाणीकी जो ध्वनि और अर्थ है, प्राणका जो प्राण है, वह भी वही एक है—'अमुं ऋते नु कथं भवेम ?' उसके बिना देखे हम कैसे रह सकते हैं ? भगवान्‌ने उद्धवके द्वारा व्रजमें यह संदेशा भेजा था—

'तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥'
(१० । ४७ । २९)

और रासके अन्तमें साक्षात् कह दिया था—

मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥
(१० । ३२ । २१)

'मैं तुम्हारे प्राणका प्राण, मनका मन हूँ, परंतु मैं परोक्ष-प्रिय हूँ । इसीसे छिपा रहता हूँ, छिपकर देखता हूँ । मेरे प्रति असंतुष्ट न होना । मैं प्रिय हूँ, तुमलोग प्रिया हो ।'

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
(केन० १ । १)

—इत्यादि मधुर भाषा है । अनुरागकी भाषाके सदृश है । रागकी अनुभूति आते ही रूपकी भावना, रूपकी वासना जाग्रत् होती है । इन समस्त श्रुतियोंके गोपनचित्तमें रूपकी आकाङ्क्षा है । एक-एक श्रुति एक-एक भावशक्ति है । प्रत्येककी पृथक्-पृथक् चिन्मूर्त्ति है । जैसे राग-रागिनीकी मूर्त्तियाँ हैं । श्रुतियाँ रूपाकाङ्क्षावती तथा रूपवती हैं । श्रुतियोंकी इस रूपपिपासाकी बात श्रीमद्भागवतमें बारंबार कही गयी है—

भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(१० । ४७ । ६१)

रासपञ्चाध्यायीमें विरहके अन्तमें जब व्रजकिशोरियोंके साथ श्रीभगवान्‌का मिलन होता है, तब श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
(१० । ३२ । १३)

'रूपब्रह्मका दर्शन प्राप्तकर जैसे श्रुतियाँ आह्लादित होती हैं, वैसे ही श्रीकृष्णका दर्शन करके गोपियाँ आनन्दित हुई थीं और जीवनका सब दुःख भूल गयी थीं ।' ईशोपनिषद्‌में है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।' (१ । १५)

इस मन्त्रमें भी रूपका अभिमन्त्रण है । रूपका आशाभास निहित है । ब्रह्मतत्त्वके मूर्त्त प्रकाशकी कथा केनोपनिषद्‌में है ।

'तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न
व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ।' (३ । २)

यक्षरूपी इस व्यक्त ब्रह्मने देवताओंको तत्त्वज्ञान प्रदान किया स्वशक्ति महामायाको प्रकट करके । माया सर्वप्रथम रूपमयी हुई । उमा हुई, दुर्गा बनी ।

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम
बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् ।' (३ । १२)

कठोपनिषद्‌में है—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ (१ । २ । २०)

वह अपने जीवनमें प्रतिक्षण विरुद्ध धर्मोंको प्रकट करके शोभा पाते हैं । क्रीड़ा करते हैं । लीला करते हैं—वह देवता कौन हैं ? जान पड़ता है कि बैठे हैं अथवा सोये हैं—परंतु वस्तुतः दूर-दूर चले जा रहे हैं—वह क्या रूपरहित हैं ? कठश्रुति और भी स्पष्ट करके कहती है—

'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।'
(२ । ५ । १२)

× × × 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्—' (२ । ५ । १३)

—इत्यादि वाक्य भागवतकी रूपरहस्य-गाथासे भिन्न नहीं है—

यत्तद् वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः सम्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः ॥
(८ । १८ । १२)

श्रुतिकी यह कथा ही रासपञ्चाध्यायीके रसके विधानमें वर्णित है—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥
(१०।३३।२०)

अर्थात्—

एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

यह रूपाभिमुखिता, यह मूर्त्तिभावनानुगति, मूर्त्तिका क्रम-विवर्त्तन और प्रवर्त्तनका प्रयास, उपनिषद्के विज्ञान भावोंके अन्तर्वाञ्छित रूपवर्त्ममें गति उपनिषद्-साहित्यमें सर्वत्र दृष्ट होती है। इसके अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ दो एक और विशेष उदाहरण देकर प्रबन्धका उपसंहार करना है। परमात्मा अन्तर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। अन्तरमें अनन्त होकर भी परिमित है, बाह्य विश्वमें अपरिमेय है, असीम है। कठोपनिषद्के अन्तमें अन्तरात्माकी रूपमूर्ति उपदिष्ट हुई है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
× × × तं विद्याच्छुक्रममृतम् । (२।६।१७)

यह अन्तरात्म पुरुष योगियोंके अनुध्यानका विषय है। समाधिमें इसी पुरुषका दिव्य रूप प्रकाशित होता है। भागवतमें मनोरम वर्णन है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
(२।२।८-९)

छान्दोग्य उपनिषद्के अन्तमें अष्टमाध्यायकी प्रथम श्रुतिमें कहा गया है कि मानवदेहके अभ्यन्तर एक क्षुद्र चारु निकेतन है, वह कमल-कुसुमाकार है। उस कमलके भीतर एक क्षुद्र आकाश है। इस आकाशके हृदयमें जो है उसका विज्ञान प्राप्त करना उचित है, उसका अनुसंधान करना योग्य है।

शिष्यने पूछा—क्यों ? इसमें लाभ क्या है ?

ऋषि बोले—चन्द्र-सूर्य-ग्रह, नक्षत्र, द्यावा-पृथिवी, विद्युत्-अग्नि जो कुछ है, सब इस अन्तराकाशमें है। मनुष्य जो-जो कामना करता है, जो कुछ मनोरम है, सब कुछ इस अन्तराकाशमें पूर्णरूपसे विद्यमान है। यह आकाश ही ब्रह्मपुर है, यह आकाश ही आत्मा है। इसको जान लेनेपर सब कुछ जाना जाता है, सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

'स सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।'
(छा० उ० ८।१।६)

त्रयोदश खण्डमें ऋषि ध्यान करते हैं—

'श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्ये ।'
(८।१३।१)

हृत्कमलके अभ्यन्तर जो आत्मतत्त्व है, जो ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है—ऋषि उसको श्यामरूपमें उपलब्ध करते हैं। भाष्यकार कहते हैं—

श्यामाद् गम्भीराद्धृदयाभ्यन्तरस्थाद् अतीव दुर्ज्ञेयाद् ब्रह्मणः ।

यह कौन श्याम हैं ? श्याम क्या दो हैं ? एक ही हैं।

'हृत्पङ्कजकर्णिकालये ।' 'शारदेन्दीवरश्यामः संराध्य योगिभिः शनैः ।'

श्याम और शवल अर्थात् विचित्र विशाल विश्व। ब्रह्म और माया। श्यामसे ही विश्वका विकास और श्याममें ही पर्यवसान है।

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।'

विश्वका बीज, विश्वका 'प्रभवः प्रलयः स्थानम्' श्याम-रूप है। श्रुति दूसरे प्रकारसे कहती है। विश्वका बीज रूपमय न होता तो विश्व रूपमय न होता। कारणमें जो नहीं होता; वह कार्यमें नहीं आ सकता।

'असदकरणादुपादानग्रहणाच्छक्तस्य शक्यकरणात्'

—इत्यादि सांख्यकारिका इसका प्रमाण है। विश्वतत्त्व अरूप नहीं है और अरूप हो नहीं सकता।

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रारम्भमें ही उद्गीथतत्त्वकी व्याख्या की गयी है। उद्गीथका अर्थ है प्रणव अर्थात् ॐकार।

स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः। अष्टमो यदुद्गीथः।
(१।१।३)

ॐ—इस अक्षरकी उपासना करना कर्त्तव्य है। यह उद्गीथ है। उद्गीथ विश्वब्रह्माण्डका प्राणभूत रस है। अर्थात् परम आश्रय है, सारात् सार है। सर्वभूतोंका रस पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस ओषधि है, ओषधिका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम है, सामका रस उद्गीथ है। अतएव

उद्गीथ 'रसानां रसतमः' है। सारात् सार तत्त्व है। ऋक् और साम, वाक् और प्राण क्रमशः अभिन्न हैं। वाक् ही ऋक् है, प्राण ही साम है। दोनों मिलकर यह ॐ अक्षर है। यह मिथुन है। ॐ अक्षरमें वाक् और प्राण मिथुन—संसर्गको प्राप्त है। दोनों अनादि-अनन्त हैं। परब्रह्मका विश्व मिथुनभाव है। स्त्री-पुं-शक्तिद्वय ॐकारमें मिलित हैं। यह अमृत-सम्मिलन है, अमृत दम्पति है।

'यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।'

(१ । १ । ६)

जो निखिल विश्वका अनादि-अनन्त तत्त्व है, सर्वकारणों-का कारण-तत्त्व है वह रूपतत्त्व है, रसतत्त्व है, मिथुनतत्त्व है, युगलमाधुरी तत्त्व है। जबतक अदर्शन है, जबतक शून्य-ज्ञान-विभावना है, तभीतक अरूप है, निराकार है, निर्विशेष है। अरूप तत्त्व नहीं है। अरूप है उपलब्धिका अभाव। ज्ञानमार्गमें उपलब्धि नहीं, प्राप्ति नहीं, दर्शन नहीं, द्रव्यस्फुरण विधान नहीं। है केवल भावनिष्कासन, शून्यीकरण, ब्रह्म-विभावमें निर्वापन।

उपनिषद्की जो अरूप-ब्रह्म-भावनाकी धारा है उसमें एक दुर्निवार्य प्रेरणा है दिव्यरूप मूर्तिमें सार्थकता प्राप्त करनेके लिये।

'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।'

(तैत्तिरीय० १ । ६ । १)

—इत्यादि उपदेश करके श्रुतिको तृप्ति न हुई। कुछ आगे चलकर कहती है—

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामम्। मन आनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम्।

(तैत्तिरीय० १ । ६ । २)

जो प्राणाराम, मन आनन्द तत्त्व है, वह अशरीरी कबतक रहेगा?—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्तिरीय० २ । ६)

उसने कामना की। किसने कामना की? सः अर्थात् पुरुषने। जो पुरुष है वही निराकार नहीं है। और जो निराकार है उसके कामना नहीं हो सकती। रूपाकाङ्क्षिणी श्रुतिकी चिन्ता-धारा यहाँ भी पूर्ण नहीं हुई। कुछ आगे चलकर कहा—'असद्वा इदमग्र आसीत्।' अर्थात् नपुंसक तत्त्वरूपमें, 'तत्' इस रूपमें वह परतत्त्व असत् प्राण था। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत।' उसी तत्त्वने अपनेको (नये रूपमें) सृजन किया। तब वह सत् हुआ। 'ततो वै सदजायत।' आकार-प्रकारहीन सत्ता परम तत्त्व नहीं है। वह दार्शनिकके ध्यानमें असमर्थताकी सूचक है। श्रुति कहती है—'रसो वै सः'—परम तत्त्व रसस्वरूप है। रस निराकार नहीं हो सकता, जैसे सूर्य अन्धकार नहीं हो सकता। रसका अर्थ है रूप, आनन्द, रति, लीला। रसका अर्थ है—नायक-नायिका। रमणी-पुरुष। आदान-प्रदान। वृत्ति-विलास। विभाव-अनुभाव। संचारी-भाव। अरसिक तत्त्व ब्रह्म सृष्टि नहीं करता; क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। 'न प्रयोजनाभावात्' (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३१)—इस आपत्तिका उत्तर अगले सूत्रमें है—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि हुई है रसस्वरूप परब्रह्मकी लीला-वासनाके कारण।

इत्यादि सारे विचार रूपकी धारा पकड़कर चलते हैं। परब्रह्मके निराकार होनेपर सृष्टि निरर्थक हो जाती है। यह विषय और भी सुस्पष्ट रूपसे कहा गया है बृहदारण्यक उपनिषद्में। (१ । ४ । १)। पहले ही कहा गया है—'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध०।' निखिल विश्व आदिमें एक-मात्र आत्मा था अर्थात् आत्मतत्त्वस्वरूप था। वह आद्य-तत्त्व निराकार नहीं था, पुरुषाकार था। यह भूल जानेपर सब कुछ भ्रमके स्रोतमें बह जायगा। शाश्वत पुरुष, आदिदेव, दिव्य, अज, विभु था। बात और भी स्पष्ट की जाती है।'

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्।*

(बृहदारण्यक० १ । ४ । ३)

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रारम्भमें हम ॐकारतत्त्वके प्रसङ्गमें ॐकारके अन्तरतम मिथुनीभूत रसतत्त्वका विषय पाते हैं। बृहदारण्यकमें भी हमको वही उपदेश मिलता है। यह उपदेश और चैतन्यचरितामृतका—

* इसका अर्थ यह है कि परब्रह्म जब एक था तब उसको कोई आनन्द न था। कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। यदि दूसरा कोई होता तो सब सुन्दर होता। सोचा, मैं दूसरेका सङ्ग चाहता हूँ। यह बात सोचकर वह भावान्तरको प्राप्त हो गया। स्त्री-पुरुष-युगल भावसे सम्पन्न हो गया। अपनेको दो भागोंमें विभक्त कर लिया। दम्पति बन गया।

'एकात्मनावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ ।'

उपदेश एक ही है। परमाराध्य परब्रह्मके हृदयमें लीला-कामना-रश्मिने रमणीय रसरूप धारण किया। आद्या आराधनामयी विश्वरमणीकी प्राणभूता, ब्रह्ममनोरमा रमणीका आविर्भाव हुआ। वे दो विभिन्न विभावको प्राप्त हुईं। अन्तरङ्गा चिच्छक्तिस्वरूपिणी गोलोककी लीला-नायिका—एक विभाव तथा बहिरङ्ग ब्रह्ममयी और ब्रह्माण्डमयी मायाशक्ति-स्वरूपिणी निखिल विश्वेश्वरी—यह द्वितीय विभाव। एक राधा, दूसरी दुर्गा। एक, 'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।' दूसरी—

'सृष्टिस्थितिसंहारसाधनशक्तिरेका
छायेव चास्य भुवनानि बिभर्त्ति दुर्गा ॥'
(ब्रह्मसंहिता)

रूपविज्ञानकी यही अन्तर्निहित कथा है। भागवत अति मनोज्ञ भाषामें तत्त्व-रहस्य प्रकट करता है—(१०।३।२४)

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।

अर्थात् 'जिस तत्त्वको अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार आदि नामोंसे पुकारते हैं, वह किंतु रूप है, अरूप नहीं।' इस श्रीमद्भागवतकी अपूर्व उक्तिके द्वारा ही हम पुराणके रूपराज्यमें प्रवेश करेंगे।

जीवनमें पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्०ए०)

हृदयमें पूर्णत्व आकाङ्क्षाका उदय तभी होता है जब मनुष्यको अपनी अपूर्णताका ज्ञान हो जाता है और उसमें ज्ञानोद्दीपनकी इच्छा प्रकट होती है। जबतक वह अपनेको अपूर्ण नहीं जानता, तबतक पूर्ण होनेकी इच्छाका उदय ही क्योंकर हो सकता है। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता (१३।११) में ज्ञानके साधनोंके बीच 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'को ज्ञान ही माना है अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग दुःखदायी होते हैं और उनमें दोष भरा हुआ है; इस बातका बारंबार विचार करना भी ज्ञानरूप ही है। जबतक इनमें दुःखका ज्ञान नहीं होता, तबतक यथार्थ सुख पानेकी इच्छाका उदय नहीं हो सकता।

भोगोंकी इच्छा तथा पूर्णत्वकी आकाङ्क्षामें महान् अन्तर है। इच्छा सांसारिक वस्तुओं, स्वार्थनिष्ठ अधिकार, अपना प्रभुत्व, तुच्छ सुख तथा इन्द्रियजन्य भोगविलासकी चाह है, परंतु पूर्णत्वकी आकाङ्क्षा इससे नितान्त भिन्न वस्तु है। आकाङ्क्षा दैवी वस्तुओं—जैसे सदाचार, दया, शुद्ध तथा प्रेमकी चाह है। आकाङ्क्षा मनुष्यके लिये अपनी त्रुटियोंको दूर कर पवित्र जीवन बितानेके लिये एक बहुत ही आवश्यक साधन है। बहुतोंकी तो यह अनुभूति है कि मनुष्य पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके पंखोंके द्वारा पृथ्वीसे देवलोकको, अज्ञानतासे ज्ञानको और अन्तमें अन्धकारसे उच्च ज्ञानलोकको प्राप्त कर लेता है। पूर्णत्वकी आकाङ्क्षासे हीन प्राणी तुच्छ, सांसारिक, विषयी तथा अनुत्साही बना रहता है। यदि मनुष्य अपनी वास्तव उन्नति चाहता है, तो उसके हृदयमें पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाकी दीपशिखा जलनी ही चाहिये। पंखोंसे रहित पक्षी उड़ नहीं सकता; उसी भाँति पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके बिना मनुष्य न तो अपनेको उच्च बना सकता है, न विषय-वासनाओंपर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सामान्य प्राणीके समान अपनी इन्द्रियोंका दास बना रहता है, विषयोंके अधीन बना रहता है और निर्बल होनेके कारण वह घटनाओंकी परिवर्तन-धारामें इधर-उधर लुढ़कता रहता है।

पूर्णत्वकी आकाङ्क्षासे सम्पन्न मानवकी स्पष्ट पहिचान है—अपनी तुच्छ दशासे असंतोष तथा उच्च बननेकी चाह। जिस प्रकार प्रबुद्ध मानव आगे बढ़ना चाहता है; निद्रासे जागकर अपनेको ज्ञानके मार्गपर बढ़ते हुए पाता है, उसी प्रकार इस आकाङ्क्षावाला मनुष्य भी अपनी वर्तमान हीन-दीन दशाकी बुराईसे परिचित हो जाता है

और चाहता है कि वह श्रेष्ठतम स्थितिको प्राप्त करे। इस प्रकारकी आकाङ्क्षा करनेसे मनुष्यको विलक्षण फल प्राप्त होते हैं—ऐसे फल जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता। कठिन-से-कठिन वस्तु उसके लिये सुलभ बन जाती है; वास्तव उन्नतिका मार्ग खुल जाता है; उसके हृदयमें दिव्य ज्ञान तथा प्रसादके सब द्वार खुल जाते हैं। कविता, संगीत, गीति आदि पवित्र तथा सुन्दर वस्तुओंके पानेका मार्ग भी तभी खुल जाता है, जब वह अपने हृदयको आकाङ्क्षाकी उदयभूमि बनानेके लिये तैयार हो जाता है। पर यह आकाङ्क्षा स्थिरभावसे होनी चाहिये। आज दिव्य वस्तुके लिये इच्छा तो हुई किसी उपदेशककी शिक्षासे, परंतु कल ही वह गायब हो जाती है, क्योंकि हमारा हृदय दुर्बल होता है, हमारी भावना कमजोर होती है; हममें अन्तःसत्त्व, भीतरी बलका अभाव होता है।

मैंने ऊपर कहा है कि सांसारिक विषयोंमें दोषका दर्शन ज्ञानका अन्यतम साधन है। इसका अर्थ यह है कि जबतक संसारके विषयोंका स्वाद मनुष्यको मीठा लगता है तबतक वह उनसे ही संतुष्ट रहता है—आगे बढ़ना ही नहीं चाहता। परंतु जब वह उस मीठी वस्तुको तीता मानने लगता है, तब उसके हृदयमें ऊँचे-ऊँचे विचार उत्पन्न होते हैं। मानवकी वर्तमान दशाका वर्णन भागवतके इस श्लोकमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है—

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥
(७। ९। २५)

कानोंको सुख देनेवाले सांसारिक विषय मृगतृष्णाके समान हैं। कहाँ वे और कहाँ यह शरीर जो सम्पूर्ण रोगोंके उद्गमका स्थान है। परंतु तिसपर भी इन बातोंको भलीभाँति जाननेपर भी, प्राणीको संसारसे वैराग्य नहीं होता। वह छोटे-छोटे मीठे मधुके टुकड़ोंसे अपने काम-की आगको शान्त करता रहता है और समझता है कि इसी प्रकार सब कामनाएँ स्वतः शान्त हो जायँगी। ऐसी दयनीय स्थिति है इस मानवकी। ऐसी दशामें दिव्य ज्ञानकी आकाङ्क्षाका जन्म कहाँ हो? उसका जन्म तो तब होता है जब वह सांसारिक सुखोंसे वञ्चित हो, अपवित्रताके कारण दुःख पाने लगे अथवा शोकसे नितान्त विह्वल-चित्त हो। मतलब यह है कि जिसे वह अबतक अपनी प्रिय वस्तु समझता आया है उससे उसे धक्का लगना चाहिये। प्रेमका प्रवाह नीचेकी ओर न जाकर ऊपरकी ओर होना चाहिये। तभी ऐसी उच्च आकाङ्क्षाका उदय होता है।

ऐसी दशामें मनुष्यमें उन्नत होनेकी इच्छा प्रथम आवश्यक साधक है। मनोविज्ञानका यह पक्का नियम है कि जिस वस्तुकी जितनी स्पृहा होती है वह वस्तु उतनी ही मिलती है। मनुष्य यदि तुच्छ विषयोंकी इच्छा तीव्र-रूपसे करता है तो उसे वे मिल जाते हैं। अतः उच्च तथा श्रेष्ठतम भावोंकी ओर हमें अपने मनको पहले झुकाना चाहिये। सदा पवित्र विचारोंको मनमें स्थान दो। गंदे विचारोंसे बढ़कर अपवित्रता क्या हो सकती है? विचार ही मनुष्यको पवित्र तथा अपवित्र बनाता है। यदि विचार पवित्र हैं, तो मनुष्य पवित्र है। यदि विचार ही अपवित्र हैं, तो मनुष्य भी अपवित्र है। इससे आगे बढ़नेकी पहली सीढ़ी है—पवित्र विचारोंको जगाना। इस मार्गका पथिक जीवनमें कभी असफल नहीं होता।

मनुष्य ही अपनी त्रुटियों, अभावों तथा अपवित्रताओंके लिये उत्तरदायी है। यदि वह समझता है कि ये वस्तुएँ कहीं बाहरसे उसमें आ गयी हैं, तब तो वह उन्हें भगानेकी, हटानेकी कभी कोशिश ही नहीं करता।

इसलिये अपनी जिम्मेदारी पहले समझनी चाहिये। अपना अपराध ही नहीं समझेगा, तो उन्हें दूर ही क्यों कर हटायेगा? मनुष्यको चाहिये कि वह पहले अपने अपराधोंको समझे और अपनी बुराईको देखे। कबीरने ऐसे जीवकी भावनाओंको इस दोहेमें पूर्णतया प्रकट किया है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

परंतु एक बात ध्यान देनेकी यह है कि बिना परिश्रम तथा प्रयत्न किये अध्यात्मकी भी सिद्धि नहीं होती।

'या **लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।**'

यही चतुरता वास्तवमें चतुरता है जो दोनों लोकोंको सिद्ध करनेवाली होती है। जिससे लोक भी सुधरे और परलोक भी सुधरे, वही तो चतुरता है। परिश्रम दोनोंके लिये जरूरी होता है। जिस प्रकार व्यापारी लगातार परिश्रम करनेसे सांसारिक सफलताको पाता है, साधककी भी वही दशा होती है। परमार्थका मार्ग गुलाबका फूल नहीं है। वह भी बड़ा ही कण्टकाकीर्ण मार्ग है। उसपर सँभल-सँभलकर कदम रखना पड़ता है। प्रयत्न पद-पदपर करना पड़ता है।

जब पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाका हर्षावेग मनको स्पर्श करता है, तब उसे तुरंत ही सुधार डालता है और अपवित्रताको दूर हटाने लगता है; परंतु इस स्थितिको बनाये रखनेके लिये सतत तथा सुदृढ़ प्रयत्न चाहिये। मनमें एक अच्छी भावनाका जन्म हुआ, परंतु वह देरतक नहीं टिकती। वह संकुचित और क्षणिक होती है। भावनाके हटते ही चित्त फिर उसी खंदकमें जा गिरता है। अपवित्रताएँ पुराने अभ्याससे उसे चारों ओरसे घेर लेती हैं। इसीलिये अध्यात्मपथके पथिकको अपने प्रयत्नको निरन्तर नूतन बनाये रखनेकी आवश्यकता होती है।

शुद्ध जीवनका प्रेमी सदा अपने मनको पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके उत्साहदायी प्रकाशसे नया बनाता रहता है। वह प्रातःकाल उठता है और प्रबल विचारों तथा सतत प्रयत्नसे अपने मनको दृढ़ करता है। वह जानता है कि मनका स्वभाव ऐसा है कि वह एक क्षण भी विचारमें लगे हुए नहीं रह सकता और यदि वह उच्च विचार तथा शुद्ध आकाङ्क्षाओंसे वशमें रक्खे जाते हुए सत्य-मार्गमें नहीं चलाया जायगा तो अवश्यमेव तुच्छ विचार तथा भोग-इच्छाओंका दास बनकर बुरी राहमें फँस जायगा।

भोगेच्छाके समान उच्च आकाङ्क्षा भी दैनिक अभ्यास-से पाली जाती है और पुष्ट की जाती है। दैविक पथ-प्रदर्शकके समान इसे खोजकर मनमें प्रवेश कराया जा सकता है या उपेक्षा करके मनमें घुसने नहीं दिया जा सकता। प्रतिदिन शान्त स्थानोंमें (मुख्य या खुले मैदानमें) कुछ समयके लिये जाकर पवित्र हर्षावेगकी लहरोंको उठानेके लिये मानसिक शक्तियोंका आह्वान करनेसे हमलोग अपने मनको महान् आत्मिक विजय तथा दैविक महिमाके लिये प्रस्तुत करते हैं। कारण कि ऐसे ही हर्षावेगसे ज्ञान उत्पन्न होता है। शान्तिका प्रारम्भ इसीसे होता है। मन शुद्ध वस्तुओंका ध्यान कर सके, इसके पहले इसे उनकी श्रेणीमें पहुँचाना चाहिये। उच्च आकाङ्क्षा वह साधन है जिसके द्वारा इसकी शुद्धि हो सकती है। इसकी सहायतासे मन बहुत ही ऊँचा उठता है और दिव्य लोकतक पहुँचकर ईश्वरीय वस्तुओं-का अनुभव करने लगता है। मन इसीके द्वारा विवेक पाता है और सच्चे ज्ञानके दैविक प्रकाशसे सत्य-पथपर चलना सीख लेता है। आशय यह है कि सदाचारके लिये पिपासित रहना, शुद्ध जीवनके लिये बुभुक्षित रहना, पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके द्वारा हर्ष तथा उत्साह पाना यही ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सच्चा मार्ग है। दिव्य मार्गका यही आरम्भ है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको सदा सोचते रहना

चाहिये कि 'कोऽहं का च मे शक्तिः' अर्थात् मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है तथा मेरी शक्ति कितनी है ? ऐसा जागरूक व्यक्ति ही आगे बढ़नेका अधिकारी होता है और आगे बढ़कर वह अपने लक्ष्यको पा लेता है । जो त्रिपक्रमिके समान विषयोंमें ही आनन्द मनाया करता है, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता । इसलिये मनुष्यको अपनी वर्तमान दशामें दोषोंको देखकर दिव्य जीवन, दिव्य आनन्द, शाश्वत सुखके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। पूर्णत्वकी आकाङ्क्षा इसी उत्कर्षकी सूचक एक महनीय भावना है । याद रक्खो—'महान् भावयन् महान् भवति' बड़ेकी भावना करनेसे मनुष्य महान् बनता है । फलतः यह भावना लक्ष्यपर पहुँचानेवाली आरम्भकी सीढ़ी है ।

हमारा वैज्ञानिक धर्म

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराव भ० दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

[गताङ्कसे आगे]

कर्मकी विवेक-व्यवस्था

जैसे प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति, स्वभाव, शक्ति, प्रेरक बल, साधना आदि पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार उसके कर्ममें भी भेद होता है और तदनुसार उसके फलमें भी भेद होता है । जैसा कर्म वैसा फल । शुभका शुभ फल और अशुभका अशुभ । सारी दुनियाँ और प्रत्येक जीवके लिये यह नियम लागू है । इसको कर्मका सिद्धान्त या नियम कहते हैं । विज्ञानमें इसकी क्रिया और प्रतिक्रियाके नियमके साथ तुलना की जा सकती है । शुभाशुभ कर्मका फल जीवको अवश्य भोगना पड़ता है—आज, कल या कालान्तरमें भोगे बिना छुटकारा नहीं । मैं यह कर्म करता हूँ, इस अभिमान या ज्ञानसे किया कर्म 'ज्ञात कर्म' कहलाता है और इसके बिना किया हुआ कर्म 'अज्ञात कर्म' है । अज्ञात कर्ममें, 'मैं कुछ करता हूँ और इसमें दोष होना सम्भव है' ऐसा ज्ञान बहुत अंशमें होता है, इसलिये उसका भी फल तो प्रतिक्रियारूपमें होता ही है । जैसे जान-बूझकर मक्खी, टिड्डी या मछलीकी हिंसा करे तो वह 'ज्ञात दुष्कर्म' कहलायेगा, चलते समय पैरके नीचे आकर अनजाने कीड़े-मकोड़े मर जायँ तो वह 'अज्ञात दुष्कर्म' होगा । फिर, कर्मोंके अन्य प्रकारसे भी विभाग किये जा सकते हैं—(१) कर्म, अकर्म और विकर्म अथवा (२) सात्त्विक, राजस और तामस कर्म अथवा (३) सत्कर्म, स्वाभाविक कर्म और दुष्कर्म अथवा (४) नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त कर्म अथवा (५) विहित, उपेक्षित और निषिद्ध कर्म अथवा (६) पुण्यकर्म, स्वभावग्रस्त कर्म और पापकर्म । इन सबका भी सूक्ष्म विवेक है और वह एक दूसरे दृष्टिकोणसे किया गया है सामान्य रीतिसे इसमें भी सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे सहज ही विवेक किया जा सकता है । मनुष्योंमें जो उच्च कक्षाके हैं या होना चाहते हैं, उनको सात्त्विक कर्मों, सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक पद्धतियों, सात्त्विक देश और सात्त्विक कालका सेवन करना चाहिये, जिससे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी यथाकाल सिद्धि होती है; परमात्माकी कृपा होती है और ज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा जीवनकी उत्तम संसिद्धि होती है। इसमें इतना विचार करना है कि पूर्वजन्मके कर्मके फलरूप ही अमुक स्थानमें, अमुक कालमें, अमुकके पेटसे और अमुक संयोगमें मनुष्यका—प्रत्येक प्राणीका जन्म होता है । इसलिये जन्म अकस्मात् नहीं होता, बल्कि पूर्वकर्मोंके फलस्वरूप है, इसलिये यह तत्तत् जीवके अधिकारका सूचक है । उसकी योग्यता की सूचीके समान है । इसलिये उसका अनुसरण करके जो सहज कर्म प्राप्त हों, वे न्यूनाधिक सदोष हों तो भी उसकी भूमिकाके योग्य बनकर उनका पालन या अनुसरण करना चाहिये; क्योंकि अपनी भूमिकाकी तथा शक्ति आदिकी योग्यताके बिना छलाँग मारनेसे मनुष्य बीचमेंही लुढ़क जाता है । वस्तुतः सारे कर्मोंमें—कर्ममात्रमें कोई-न-कोई दोष रहता ही है; क्योंकि श्वासोच्छ्वासकी क्रियामें भी हिंसा है और विश्वके हितकी प्रक्रियामें भी असत्यमें अभिनिवेशरूप मानसिक क्रिया होती है । कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके कर्ममें इस प्रकार कोई-न-कोई दोष होता है इसलिये असली प्रयोजन करनेमें नहीं, बल्कि धीरे-धीरे कर्मोंसे निवृत्त होकर 'नैष्कर्म्य सिद्धि' प्राप्त करनेमें है । कर्मका प्रयोजन

है कर्मसे छुटकारा पाना। जिस-जिस वस्तु या पदार्थ या प्रवृत्ति या व्यक्तिसे जीव निवृत्त होता है, दूर हटता है, उस-उस वस्तु आदिसे उसको छुटकारा मिल जाता है। वह मुक्त हो जाता है। कर्मोंकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उनसे निवृत्ति ही मुक्त होनेका मार्ग है। जैसे वैद्य ओषधि देता है तो आगे चलकर रोग और ओषधि दोनोंका त्याग करनेके लिये ही देता है। इसके उपरान्त कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण—ये तीन प्रकार भी प्रसिद्ध हैं। संस्कार, प्रारब्ध और पुरुषार्थ इनमें बलवान् कौन है अथवा ठीक कौन है—यह शङ्का बहुतोंको होती है। इसका समाधान यह है कि इन तीनोंका परस्पर सम्बन्ध है और इनमें जो अधिक तीव्र होता है उसके बलवान् होनेकी सम्भावना है। जो-जो कर्म जीव करता है उसका अदृष्ट संस्कार उसके मनपर पड़ता है, और उस संस्कारके अनुसार वह कर्म करता है। उन कर्मोंमें कुछ तो उसके बैंककी पूँजी-जैसे बन जाते हैं, उन्हें 'सञ्चित' कहते हैं। उनमेंसे कुछ काममें बरतनेके लिये निकाले हुए रुपयेके समान चालू जन्ममें साथ-साथ फलदानोन्मुख होते हैं, उनको 'प्रारब्ध' कहते हैं और इस जन्ममें जो कर्म किये जाते हैं वे एवजके लेन-देनके समान क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। सुख और दुःख—ये कर्म नहीं हैं—ये कर्मके फल हैं। पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख होता है। मनुष्य अपनी स्वेच्छासे—यद्यपि वह संस्कारों और संयोगोंके अधीन जो कर्म करता है, उसका फल भोगनेके लिये विश्व-नियामककी सत्ताके पराधीन है। जैसे किसीको लाठी मारनेमें मनुष्य स्वेच्छासे बर्तता है, परंतु उस अपराधकी सजा भोगनेमें वह पराधीन होता है। फिर यहाँ यह भी नोट करने योग्य है कि सुख-दुःख और विषय-भोगप्राप्तिमें भी कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है, बल्कि आकस्मिक सम्बन्ध है। वही स्त्री-पुत्र, घोड़ा-गाड़ी, धन-दौलत कभी तो सुखके और कभी अत्यन्त दुःखके कारण बन जाते हैं। सुख और दुःखके असली कारण तो सत्कर्म और दुष्कर्म ही होते हैं, जिसको धर्मकी भाषामें पुण्य और पाप कहते हैं। इससे यह भी फलित होता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है; इस नियमके आधारपर मनुष्यके सुखी होनेका वास्तविक मार्ग यह है कि उसे सत्कर्म करना चाहिये और दुष्कर्मसे दूर रहना चाहिये। यानी धर्मका सर्वत्र प्रचार ही मनुष्यको सुखी करनेका वास्तविक मार्ग है।

धर्मके चार पाद

धर्म यानी ईश्वरोदित जीवन-चर्याका मार्ग। मनुष्यको ईश्वरने उत्पन्न किया, उसके साथ-साथ उसके कर्तव्याकर्तव्यका भी निर्माण किया। इसीका नाम उसका धर्म है। यह धर्म वेद, शास्त्र, पुराण, महाभारत, रामायण आदिमें विविध रूपोंमें वर्णित है। विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न कारणोंसे विभिन्न तत्त्वोंके ऊपर जोर दिया गया है। धर्मको वृषभ यानी साँड़ अथवा सिंहका रूप दिया जाता है। इसका मुख कल्याणरूप शिवतत्त्वके सामने या महामाया जगदम्बा प्रकृतिदेवीके सामने होता है। विहितका अनुसरणरूप धर्म साँड़के समान गोवंशका विस्तार और अन्नादि प्रदान करता है, और निषिद्ध कर्म करनेवाले पापीको प्रकृति देवीका सिंह खा जाता है। धर्मके अथवा धर्मकी इकाईके चार पाद माने जाते हैं—(१) सत्य, (२) दया, (३) तपः और (४) शौच। 'सत्य'का मौलिक निर्णय वेदादि शास्त्रोंके आधारपर और उसके बाद शिष्टजनोंके सदाचारके आधारपर और तत्पश्चात् अपनी शुद्ध बुद्धिके आधारपर होता है। मनुष्यकी बुद्धि परिणामी, अपूर्ण और संशय-विपर्ययके अधीन होती है, इसलिये मनुष्यके लिये आवश्यक है कि शास्त्रका—परमतत्त्वका आधार ले। शास्त्र और बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है। परंतु ईश्वरोदित शास्त्र मुख्य हैं और बुद्धिको उनका अनुगमन करना चाहिये। इसके बिना कल्पित मन्तव्य सत्य नहीं, बल्कि केवल मन्तव्यमात्र है। एक प्रकारसे देखनेपर यह भी जान पड़ता है कि इन चार पादोंका आधार मनुष्यकी बुद्धि नहीं, बल्कि शास्त्र हैं; क्योंकि अबतक देखते हैं कि मनुष्यकी जीवन-निष्ठा या बुद्धिनिष्ठा इनमें स्थिर हुई नहीं दिखायी देती। संसारके सारे बड़े-बड़े धर्मपन्थ इन चार पादोंको मानते हैं। कुछ लोग दयाके स्थानमें अहिंसाको रखते हैं। इन दोनोंमें अहिंसा निषेधात्मक और दया विध्यात्मक स्वरूप है। अहिंसा विशेष व्यापक स्वरूप है और दया विशेष व्यावहारिक कार्यकर स्वरूप है। 'तपः' यह भी धर्मका मुख्य और आवश्यक पाद है। शम, दम, यम, नियम आदि सब तपके स्वरूप हैं। तपकी शक्ति अगाध है। सुर और असुर, देव और दानव, आस्तिक और नास्तिक—सभी इसका सहारा लेकर शक्तिशाली होते हैं। सांसारिक व्यवहारमें भी तपश्चर्या ही मनुष्यको, पाठशालामें या सेनामें, देशमें या परदेशमें, भूमिके ऊपर या हिमालयके शिखरपर सच्ची सहायता प्रदान करती है। इस तपःका मुख्य तत्त्व यह है कि मन और इन्द्रियोंका निग्रह किया जाय। धर्म इस प्रकारके मनोनिग्रहके पायेपर निर्मित होनेके कारण समाजके लिये अनेक प्रकारसे हितकारक

है। इससे स्वार्थ, अभिमान और विग्रह सीमित रहते हैं। दूसरेको क्षमा करने तथा स्वयं सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। तपके बाद धर्मका चौथा पाद शौच, यानी विशुद्धि अथवा पवित्रता है। शौचके भी वैज्ञानिक पद्धतिसे विभाग या प्रकार किये जाते हैं। व्यक्तिगत शौच विचारका, वाणीका और कायाका होता है। बहिःसृष्टिगत शौच देश, काल और वस्तुओंका शौच है। और वस्तुओंमें द्रव्य, गुण और क्रियाका शौच है। इन सबका गम्भीर विवेक आद्य सनातन मानव-धर्मका विशिष्ट लक्षण है। मनु भगवान्के नामसे मानव और उनके द्वारा आदिष्ट होनेसे इसको मानव-धर्म नाम दिया जाता है। मानवधर्म काल्पनिक यथेच्छ धर्म नहीं। बल्कि सुस्पष्ट, सुश्लिष्ट और सर्वाङ्गपूर्ण मनु भगवान्से आदेश किया हुआ धर्म है, यह ध्यानमें रखने योग्य है। पशुधर्म और मानवधर्म—इस प्रकार विरोधाभाससे मानवधर्मकी कल्पना करना शास्त्रीय या वैज्ञानिक नहीं है। हमने पहले कह दिया है कि धर्म संसारके व्यावहारिक जीवनसे पर वस्तु नहीं, बल्कि उसीमें चलनेका ईश्वरसे प्राप्त हुआ कल्याणमार्ग है। खाना, पीना, पहनना, रहना, बोलना, चलना, चाहना, देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, सङ्ग करना—ये सब जीवनकी विविध क्रियाएँ हैं। और इन सबमें कौन-सी योग्य है और कौन-सी अयोग्य है तथा कौन-सी उपेक्ष्य है—इसका समाधान, निराकरण तथा व्यवस्था करनेके लिये ही धर्म है। इसलिये कुछ लोग जो धर्म और जीवनको पृथक् कर देनेका प्रयत्न करते हैं, वह ठीक नहीं है। इन सारी प्रक्रियाओंमें जैसे विविधता होती है वैसे ही तीव्रता, गुण-दोष और हेयोपादेयता भी होती है। और ऐसी विविधता हम पन्थोंमें देखते हैं। तथापि उन सबको तत्त्वतः देखनेसे धर्मके ये चारों पाद उनके आधारभूत जान पड़ते हैं। आद्य आर्यधर्म इसमें बहुत ही गम्भीर और वैज्ञानिक विवेक करता है, इसलिये इसमें पद्धतियाँ, साधन, उपसाधन इत्यादिका बहुत विवेक और प्रकार देखनेमें आता है। यह धर्म-व्यवस्था बुद्धिमान्को भी मार्गदर्शन करानेवाली है तथा भौतिक सृष्टिमें सिद्ध प्रयोगकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रणालीकी यथार्थताके ऊपर अवलम्बित होनेके कारण, इस धर्म-व्यवस्थामें पर्याप्त सूक्ष्म विस्तृत विवेचन किया गया है। जैसे योगका शास्त्र किसी दूसरे देशमें विद्यमान नहीं है, तथा उसकी पद्धति और प्रक्रियाओंके प्रकार भी इस प्रकार विस्तारपूर्वक किसी देशमें ज्ञात नहीं हैं। ईश्वरकी प्रार्थना या उपासना सदा करनी चाहिये, ऐसा बहुत लोग मानते हैं, परंतु उसे दिन-रातके विभागके संधिकालमें करना, प्रत्यक्ष देव सूर्य, अग्नि आदिकी करना, स्नानादिसे पवित्र होकर करना, शुद्ध वस्त्र पहनकर करना, उसके आदिमें आचमन, प्राणायाम करने, देश-कालका यथास्थित संकल्प करना, अङ्ग पञ्चकोशका मार्जन करना, पापका मर्षण दूरीकरण करना, देवके पास उपस्थान करना और इनका भावपूर्वक अर्थानुसंधानके साथ ध्यानसहित जप करना चाहिये—ऐसी और इतनी विज्ञानपूर्ण इतनी व्यवस्था नित्य प्रभु-प्रार्थनामें किसी भी दूसरे धर्मपन्थमें बतायी गयी हो ऐसा नहीं दीखता।

भोजनके विषयमें भी देखो तो अद्भुत व्यवस्था है। दुष्ट मनुष्यका भावदूषित अन्न ग्रहण न करे, इस भावसे न भोजन बनावे कि मुझे ही खाना है। पवित्र होकर भोजन बनावे, प्रभुके लिये भोजन बनावे और भोजन करनेसे पहले सारी सामग्री प्रभुको समर्पित करे, चूल्हे-चक्कीका दोष निवारण करनेके लिये अग्निको, देवताओंको, पितरोंको, अतिथिको, गौ, श्वान आदिको, चाण्डाल आदिको वैश्वदेवके द्वारा अन्नमेंसे भाग दे। भूपति, भुवनपति और भूतोंके पतिको भावनापूर्ण आहुति दे और फिर अक्षय्य अमृतमय उपस्तरण करके भोजनके पदार्थोंमें पङ्क्तिभेद किये बिना, जहाँतक हो सके मौनसे और अन्नदेवकी निन्दा किये बिना भोजन करे—यह सारी व्यवस्था कौन-सा 'कल्याण राज्य' (Welfare State) करेगा या कर सकेगा ? इसी प्रकार वंशवृद्धिमें, सदाचारमें, अर्थ-शौचमें, राज्यव्यवस्थामें, युद्धनियमनमें, समाजव्यवस्थामें और सर्वत्र जीवन प्रेरणाका नियमन करनेमें, विद्वान्को, विचारकको और विधायकको आश्चर्यचकित कर डालती है, और 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' कहला दे, ऐसी प्रकृतिसिद्ध दैवी व्यवस्था वेदादि आर्यशास्त्रोंकी—मानवशास्त्रकी है।

धर्मके मूल आधारस्तम्भ

इस सुयोग्य रीतिसे विस्तारित धर्मके आधाररूप—इसके निर्णायक चार मूल आधार बताये गये हैं—(१) समस्त वेद, (२) ऋषि—तत्त्वविद् पुरुषोंकी रची स्मृतियाँ, (३) शिष्ट पुरुषोंका सदाचार और (४) अन्तरात्माकी तुष्टि—प्रसन्नता। इन चार साधनोंके द्वारा धर्माधर्मका निर्णय किया जा सकता है। इनमें नीचेकी अपेक्षा ऊपरको विशेष मुख्य समझना है, यानी सर्वोपरि आधार वेदका है। वह वेद इस प्रकार मानव-कल्याणके लिये ईश्वरके आसक्त परम कल्याणशास्त्र हैं, इसलिये धर्मकी रक्षा ही जिनका

मुख्य कर्तव्य है, उन ब्राह्मणोंको इसकी आनुपूर्वीको जरा भी बदले बिना, शिष्ट-परम्पराके अनुसार सुरक्षित रखना है। पद, क्रम, जटा आदि वेद-पठनकी रीतियाँ उसकी आनुपूर्वीकी ठीक-ठीक रक्षा करनेके लिये ही हैं। इस प्रकारकी आदिग्रन्थराशि—और इस दुनियाँकी अद्भुत व्यवस्थित भाषामें रचित तथा जीवनके सर्वाङ्गको प्रेरणा प्रदान करनेवाली और अतिपूर्वकालसे ईश्वरोक्त मानी गयी यह ऋग्वेदादि वेदोंकी, दुनियाँमें एक ही है, और अद्वैत है। इससे इसकी तुलना किसी दूसरे ग्रन्थके साथ नहीं हो सकती। वेदकी अनेकों शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं; परंतु समस्त वेदके यथार्थ सम्पूर्ण तात्पर्यको जाननेवाले पारङ्गत ऋषियोंने स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत और रामायणादि ग्रन्थोंके द्वारा धर्मके स्वरूपका दर्शन कराया है। स्मृति-ग्रन्थोंमें मनुस्मृति मुख्य है, पुराणोंमें भागवत मुख्य है और भारतादिमें भगवद्गीता मुख्य है। इस प्रकार अनेकों ग्रन्थ अपने धर्मके प्रमाणरूप हैं, और इस प्रामाण्यमें पूर्वापर किसका प्राधान्य मानें, किस प्रकार उसको समझने और अर्थ करनेकी योजना करें, इत्यादिकी व्यवस्था करनेवाला भी शास्त्र है, जिसको पूर्वमीमांसा कहते हैं। यानी इस सारी व्यवस्थामें कहीं गड़बड़झालाके लिये कोई स्थान नहीं है। और मनुष्य जातिकी सारी महान् प्रक्रियाओं—विचारोंमें जैसे व्युत्पन्न पण्डितों, तत्त्ववेत्ताओंका आश्रय लेना पड़ता है, वैसे ही इससे भी लेना पड़ता है। जिनको जबरदस्ती या अन्यायका आश्रय लेना होता है, उनको तो कायदे-कानूनकी जरूरत ही नहीं पड़ती, अथवा उनकी अपनी इच्छा ही कायदा-कानून बन जाती है। इसी प्रकार जिनको स्वच्छन्द चलना होता है, उनको शास्त्रप्रमाण मानना मुश्किल जान पड़ता है।

'फिर कौन-से शास्त्र ईश्वरोक्त हैं', इस विषयकी चर्चाके लिये भी अवकाश है, परंतु यहाँ इसका इतना ही समाधान पर्याप्त होगा कि स्वाभाविक रीतिसे ही जब प्रथम मानवसे या देवसे सृष्टि हुई थी तभीसे जगन्नियन्ताने धर्म बतलाया है; क्योंकि मनुष्यको बुद्धि देनेवाले प्रभु यदि ज्ञानके मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तोंको आरम्भमें ही न प्रदान करें तो प्रारम्भिक मनुष्यजातिके साथ अन्याय हो। इस मूलज्ञानमें धर्मका भी—यानी कर्त्तव्यका भी ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि यह तो अत्यन्त आवश्यक है। इस मौलिक धर्म—ज्ञानमेंसे धर्मनिष्ठ, भक्तिनिष्ठ और ज्ञाननिष्ठ पुरुषोंने—महानुभावोंने देश, काल और जनताको देखकर पंथ अथवा सम्प्रदायोंका सृजन किया है। इसी कारण मूलधर्मकी सर्वाङ्ग-पूर्णतापर और पंथोंके विशेष अङ्गोंपर जोर देना सुस्पष्ट दीखता है। तथापि कौन-सा पुण्यग्रन्थ ईश्वरोक्त है, इसका विचार-विवेक अधिकांशमें श्रद्धा या आजन्म-संस्कारके ऊपर अथवा गुरुके उपदेशसे विचारके ऊपर आधारित है, परंतु उन सबमें सत्कर्म, उपासना, ज्ञान तथा धर्मके चार पादके ऊपर जोर जरूर देखनेमें आता है। फिर धर्म ऐसा पुण्यतत्त्व है कि यदि उसका थोड़ा भी आचरण किया जाय तो वह धीरे-धीरे उन्नतिके शिखरपर ले जाता है और अन्धकारसे निकालकर परम सत्यमें पहुँचा देता है, इसलिये हमारे शास्त्र पंथोंकी निन्दा या अनादर नहीं करते। बल्कि इन्द्रको उल्टा पाखण्ड खड़ा करनेवाला बतलाया है। देव और असुर दोनों एक ही पिताके भिन्न-भिन्न माताओंसे उत्पन्न संतानके रूपमें वर्णित हैं। और भगवान् बुद्धका अवतार देवताओंसे द्वेष करनेवालोंके संमोहके लिये है। ऐसा बताया है। इसी कारणसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि 'अपने-अपने कर्ममें आनन्दसे लगे रहनेवाला मनुष्य संसिद्धिको प्राप्त करता है, अपना धर्म त्रुटियुक्त भी जान पड़े तो भी उसको अच्छा ही मानना चाहिये। अपने स्वभावानुसार प्राप्त हुए धर्म-कर्मसे पाप भी नहीं लगता।' इसी कारण वेदोक्त धर्ममें धर्मको परिवर्तन करने-करानेकी उत्कण्ठा नहीं दिखायी देती। और मौलिक धर्म होनेके कारण, तथा किसी एक महामानव या महात्माके द्वारा रचित न होनेसे आदिधर्म होनेके कारण इसका कोई स्थिर नाम भी नहीं है; और इसको वैदिक धर्म, सनातनधर्म, आर्यधर्म, हिंदूधर्म इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। इस धर्मके प्रमाण शास्त्रोंको पीछे सुनिश्चित, प्रकाशित तथा विस्तृत करनेवाले छः अङ्ग हैं—(१) शिक्षा, (२) छन्द, (३) व्याकरण, (४) कल्प, (५) निरुक्त और (६) ज्योतिष। तथा चार उपवेद हैं—(१). आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद, (३) गान्धर्ववेद और (४) स्थापत्यवेद। ये मानव-जीवन शास्त्रकी अन्य दिशाओंमें शास्त्रीय—वैज्ञानिक प्रकाश डालते हैं। ये इतने विशाल हैं कि इनमेंसे प्रत्येकपर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

देश-काल-वस्तु विचार

वेदोक्त धर्ममें देश, काल और वस्तुके विचारको बहुत ही महत्त्व दिया गया है। संध्याके संकल्पमें अथवा प्रत्येक

शुभाशुभ कार्यके संकल्पमें यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है । परंतु हमारे—मानवजातिके ऋषियोंने अपनी दिव्यदृष्टिका अनुसरण करके भूगोल या खगोलका तथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इतिहासके ऐसे भागोंका दिग्दर्शन कराया है कि जो या तो सनातन है, या दिव्य है अथवा उपकारक है । हमारे ऋषियोंने दस दिशाएँ बतलायी हैं, इनमें चार दिशाएँ, चार कोण, अधः और ऊर्ध्वका समावेश होता है । कोणोंके भी नाम हैं, और इनके साथ देवताओंका सम्बन्ध है । दिशाका प्रमाण ध्रुवके आधारपर है, और सूर्यके उत्तरायण और दक्षिणायनके साथ मरणका सम्बन्ध भी बतलाया गया है । तारे, ग्रह और राशियाँ मनुष्यके जीवनके ऊपर किस-किस प्रकारका असर डालती हैं, इसकी भी बहुत गम्भीर समीक्षा की गयी है । और सारी सृष्टिकी एकात्मता और उसके पारस्परिक प्रभाव भी वैज्ञानिक दृष्टिसे इस प्रकार दिखलाये गये हैं । कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानोंने कुछ पुराणोक्त विचारोंपर टीका-टिप्पणी की है परंतु वस्तुतः पुराण जितना हमारी धारणामें आता है, उससे कहीं अधिक गम्भीर तत्त्व उसमें निहित है, और उसका अर्थ ठीक न समझ सकनेके कारण, अथवा साधारण लोगोंके समान बाह्यार्थ मात्र ग्रहण कर लेनेके कारण यह बेसमझी आ गयी है । 'प्रलयके अन्तमें क्षीरसागरमें शेषपर पौढ़े हुए नारायण' इत्यादि ऋषिप्रोक्त वर्णन चार प्रकारके अधिकारियोंको—यानी ज्ञानी, मुमुक्षु, विषयी और पामर—इन चार प्रकारके मनुष्योंको विभिन्न प्रकाश देकर उनका उपकार कर रहे हैं । और वह रसायनशास्त्र या पदार्थ विज्ञानकी पीठिका-जितना ही व्यवस्था, विवेक वैज्ञानिक-जितनी ही विद्वत्ता और उसके जिज्ञासु जितनी उपासनाकी माँग करते हैं, रजस्तमो मूलक बुद्धि उनके साथ शायद ही न्याय कर सकेगी । जैसे देश सापेक्ष है, वैसे ही काल भी सापेक्ष पदार्थ है, जिसके समझनेके लिये अभी विद्वान् लोग लगे ही हुए हैं । इसकी सापेक्षताका दर्शन कराते समय ये परमात्मा-का एक स्वरूप है इस बातपर आर्यशास्त्र बहुत जोर देते हैं । 'कलना' करनेवालोंका प्रभुरूप काल भगवान्‌का ही, परमात्मा-का ही स्वरूप है (भागवत ३ । २९ । ३८) फिर कालकी गणनाका प्रारम्भ द्रव्यके साथ उसकी सापेक्षताके कारण अणुसे यानी एक परमाणुके भोगसे कालका नाम परमाणु-काल देकर प्रारम्भ किया है, और फिर परमाणु भी एक कल्पना ही है । यह सूचित करनेके लिये उसका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जिसके कारण ऐक्यका भ्रम होता है वह मत है । फिर जिसमें अनेक चेष्टाएँ दीख रही हैं उसको अधिष्ठान देनेवाला काल ही है । इस कालके अनन्त स्वरूपके आगे लाखों-करोड़ों वर्षोंका कोई हिसाब नहीं है और इस कारण अनन्तके एक निमेषमें करोड़ों ब्रह्माण्डोंके आदि-अन्तका समय समाविष्ट हो जाता है । यह विशाल दृष्टि भी मनुष्यकी मानी हुई सृष्टिकी क्षुद्रता और मिथ्यात्वको दिखलाती है । फिर वस्तुओंके विषयमें हमें ज्ञात होता है कि सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई । उसमें कौन-कौनसे कारक पुरुष, अवतार, महापुरुष कब-कब हुए, इसका वर्णन पुराणोंमें है । और इसका पुनरावर्तन बहुधा हम देखते हैं अर्थात् इस ऐतिहासिक दृष्टिका प्राधान्य भी शास्त्रोंमें दीख पड़ता है । तथा इसके साथ यह सब मिथ्या है, नाशवान् है—यह तात्त्विक दृष्टि भी घोषित की गयी है । इस ऐतिहासिक दृष्टिसे जहाँ सब पदार्थोंकी विशेषता बतलायी गयी है, वहाँ तात्त्विक दृष्टिसे उनका मिथ्यात्व समझाकर इनके अधिष्ठानरूप परमात्माका सर्वत्र समत्व दिखलाया गया है । एकसे जहाँ अधिकार-भेदके अनुसार त्रिगुणके अनुसार अधिकार-भेद फलित होता है, वहाँ दूसरेसे सर्वात्मभाव प्रदर्शित होता है । इस प्रकार पदार्थोंका और जगत्‌का सापेक्षत्व दिखलाया गया है । इस रीतिसे जगत् अज्ञानीको सत्य, विचारकको अनिर्वचनीय और विवेकी या ज्ञानीको मिथ्या दीख पड़ता है । इन सब गम्भीर विचारोंके कारण हम इस मौलिक ईश्वरोक्त धर्ममें प्रत्येक पदार्थमें, प्रत्येक मनुष्य आदिमें, सृष्टिमें, कर्ममें, देशमें और कालमें सात्त्विक, राजस और तामसकी समीक्षाका विवेक देखते हैं । जैसा दूसरी जगह कहीं देखनेको नहीं मिलता । फिर इसीसे बहुतोंको समझमें न आनेवाली विविधता भी अधिकारभेदमें स्पष्ट हो जाती है । उदाहरणार्थ केशको ही लीजिये । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी, कुमारी, सधवा, विधवा आदि सबकी विधि पृथक्-पृथक् दीख पड़ेगी । और उसके पीछे उसका तत्त्वज्ञान तथा उन-उन मनुष्योंके प्रति उसकी प्रतिक्रियाका गम्भीर दर्शन दिखाई देगा । इसी प्रकार पदार्थोंकी शुद्धि-अशुद्धिका निर्णय भी बतलाया गया है, और सब वस्तुएँ पारमार्थिक दृष्टिसे मिथ्या होनेपर भी द्रव्यकी विशुद्धिके लिये उनमें गुण-दोष, शुभत्व, अशुभत्व, सत्त्वादि गुणोंके अनुसार निर्णीत किये गये हैं जिससे धर्म, व्यवहार और संसारयात्रा—तीनों सुव्यवस्थित रहती है । (भागवत ११-२१-३) अपने-अपने अधिकारमें निष्ठासे गुण और उसके विरुद्ध होनेसे दोष—ऐसी व्यवस्था की गयी है । शास्त्रकार कर्ममेंसे छूटनेके लिये कर्मकी व्यवस्था

करते हैं, जैसे वैद्य ओषधिसे छूटने—यानी एक प्रकारसे बीमारीसे छूटनेके लिये ओषधि देते हैं, और रोगी माँगे तो भी उसे अपथ्य नहीं देते।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव, जगत् और ईश्वरका निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे और गम्भीर वैज्ञानिक पद्धतिसे हमारे धर्मशास्त्रोंमें किया गया है। इस सनातन तत्त्वके साङ्गोपाङ्ग विवेकके कारण यह धर्म 'सनातन' कहलाता है। और अविनाशी है। इस धर्ममें अनेकों प्रमाण-ग्रन्थ हैं। अग्नि, सूर्यादि प्रत्यक्ष देवताओंसे लेकर गाय, तुलसी और कन्या-तककी भगवद्विभूतियोंकी पूजा है। इसमें सब मनुष्योंके लिये सामान्य धर्म और विविध जाति-गुण-कर्मप्रधान समुदायोंके विशेष धर्म भी हैं। इसमें कालगणना काल्पनिक नहीं, बल्कि ग्रहादि वस्तु स्थितिके आधारपर स्वीकार की गयी है। इसमें विविध फल देनेवाले सैकड़ों व्रतों, नियमों और दानादिका विधान है। इसमें प्रभुकी सृष्टिमें दृश्यमान प्रभुके गुण-कर्म और जन्मके अनेकों गीत, अनेकों स्तोत्र हैं। इस धर्ममें समस्त सत् पुरुषार्थोंके साधनकी पूर्ण व्यवस्था है। राज्य-विधान, समाज-विधान, विद्या-विधान, साहित्य-विधान, कला-विधान और सर्वोपरि जीवन-विधान इस धर्मके अङ्ग होकर अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और सुफलित हुए हैं। इतिहाससे, संतोंके अनुभवसे और अपने मननसे यह हमारे सामने प्रत्यक्ष है। परम सत्यके तत्त्वको, साधनको और उसकी परीक्षाको भी यह हमारे दृष्टिगोचर कर देता है। इसका निर्देश इतना सफल, अमोघ और सच्चा है कि इसके द्रष्टाकी दृष्टि भूत, भविष्य और भव्यको मानो करामलकवत् देखती है, और ऐसा होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि प्रभुने श्रीमुखसे ही कहा है कि धर्म मेरा हृदय है, मेरा आत्मा है। हृदय कहकर यह बतलाया है कि जगत्की सारी रक्तवाहिनी शिराएँ इसीमेंसे और इसीमें बहती हैं, इससे संसारका मिथ्यात्व, जो उपनिषदोंका उपदेश इसकी प्रतिच्छायामें आ जाय। इसीलिये प्रभु कहते हैं कि धर्म मेरा आत्मा है। क्योंकि संसारके अन्धकारमेंसे अविनाश-के प्रकाशमें ले जानेवाला धर्म है। सब योगोंका समावेश जैसे मनोनिग्रहमें होता है, वैसे ही सब धर्म परमात्मामें लय हो जाते हैं, और जीवात्माके पुण्यकर्म जब उदित होते हैं तब वह धर्मका अनुसरण करके संसारसे तर जाता है और परम पदको सिद्ध करता है।

'**धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।**'

भारतीय मुद्राओंका वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीशंकरलालजी वर्मा एम्० ए०)

तत्त्वोंके घटन और प्रत्यावर्तनको स्पष्टरूपसे और प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक बार पित्तविकृत मूत्ररोगसे पीड़ित एक स्त्रीके वायुके विकारके कारण मूत्रग्रंथि शून्य हो गयी थी। मूत्र उसे तीन दिनोंसे नहीं आता था। ऊपर केवल वायुके विकारकी जाँचकर वायुको सम करनेका प्रयत्न किया गया। चालीस मिनट बाद स्त्री बेहोश हो गयी और मरनेकी स्थितितक पहुँच गयी। वातको बढ़ाकर अग्निको मन्द किया और दूसरे दस मिनटोंमें ही स्त्री फिर बेहोशी छोड़कर सचेत हो गयी। जैसी स्थितिमें उस स्त्रीको देखा था, उसी स्थितिमें दुबारा लाकर क्षमा माँगकर घर आ बैठा। मनन करता रहा पर मैं कोई रजिस्टर्ड वैद्य तो था नहीं और न कोई डाक्टर। मृत्युके भयसे सम्मिलित तत्त्वोंमें हाथ डालनेका साहस नहीं होता। एकतत्त्वीय रोगोंमें बहुत सफलता प्राप्त होती है। तत्त्वोंके सम्मिलनका निर्णय अवश्य दे सकता हूँ, पर प्रयोग कुशल शास्त्री करें तो हितकर होगा। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि जटिल प्रयोगमें किसी वैद्यकी सहायता लूँ। पर आजके युगमें ऐसा कौन वैद्य है जो मेरी इन ऊटपटाँग बातोंमें अपनी आर्थिक हानि करनेमें बाध्य हो सके।

मैं भूल गया—रात्रिको करीब पौने नौ बजेसे करीब सवा दस बजेतक किसी व्याधिका पीड़ित रोगी तात्त्विक अभ्यास करे तो अधिक हितकर होगा। किसी रोगको दूर होनेमें करीब एक मासका निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रोगीको एक महीने बाद ही आराम होगा, अपितु उसे आराम तो उसी रोज मिलने लगेगा, पर किसी भी साधारण रोगके लिये, कम-से-कम समूल नष्ट करनेके लिये एक मासका अभ्यास आवश्यक है—

तो तत्त्वोंके घटन और प्रत्यावर्तनका और स्पष्टीकरण यह है—

(१) तर्जनीको मोड़कर उसी हाथके अंगुष्ठके आधार (गुद्दे) पर अंगुलिका अग्रभाग रक्खे और उसी अंगुलिको अग्रभागपरके जोड़परसे उसी अंगुष्ठको मोड़कर

दबाये तो वायुतत्त्व विघटित होता है। विकृत तत्त्वकी स्थितिमें अंगुलीका अग्रभाग अंगुष्ठके गुद्देपर दबनेकी स्थितिमें स्थिर नहीं रहता, पर अभ्याससे धीरे-धीरे स्थिर रह जाता है। इसीसे निदानकी त्रुटि मालूम हो जाती है। इसी तरह अन्य तीन अंगुलियोंकी क्रिया है।

(२) तर्जनीको मोड़कर हथेलीकी तरफसे अंगुलिके अग्रभागको अंगुष्ठके अग्रभागसे मिलानेपर वायुतत्त्वका प्रत्यावर्तन हो समताको प्राप्त होता है। जीवकी प्रकृति किसी भी तत्त्वको ग्रहण करनेकी है। अतः इसमें न तो कठिनाई अनुभव होती है और न यह पता लगता है कि क्रिया उचित है या अनुचित। इसमें निदानकी इसीलिये आवश्यकता पड़ती है। प्यासकी स्थितिमें वायु और जल दोनों ही तत्त्वोंके प्रत्यावर्तनकी आवश्यकता रहती है, अतः प्यासको मिटानेके लिये तर्जनी और कनिष्ठिकाको पीछेसे मोड़कर दोनोंको अग्रभागसे मिलानेपर प्यास शान्त हो जाती है। तर्जनीकी भाँति अन्य तीन अंगुलियोंका प्रयोग है। इनसे भौतिक लाभ उठानेके लिये देहका सम होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—भूख और प्याससे निवृत्त होना। पर दीर्घशंकाकी क्रिया किसी भी स्थितिमें सम्भव हो जाती है।

(३) दाहिने हाथके अंगुष्ठको मोड़कर कनिष्ठिकाके मूलसे दो जौ उसके अग्रभागको रखकर बाँये हाथकी हथेलीमें दाहिने हाथको रखकर बाँये अंगुष्ठसे दाहिने अंगुष्ठको दबानेसे अग्नि-तत्त्व मन्द पड़ता है और अग्नितत्त्वको तीव्र करनेकी क्रिया इसके बिल्कुल विपरीत है।

तर्जनीकी क्रियाके द्वारा समस्त वात-विकृत रोगोंको दूर किया जा सकता है, पर वात-विकारके अतिरिक्त अन्य तत्त्व सम्मिलित नहीं होना चाहिये।

मध्यमाकी घटनवाली क्रियासे शून्यको सम करके बहरेपनको मिटाया जा सकता है। मेरा तो विश्वास है कि जन्मसे बहरेपनका रोग भी अनेक महीनोंके अभ्याससे दूर हो जाना चाहिये। कम सुननेवाले या कान बहनेवाले लगभग पाँच व्यक्तियोंको इस क्रियासे सुनना सम्भव हुआ है।

अनामिकाकी घटन क्रिया दीर्घशंका संभव करती है और प्रत्यावर्तनकी भूख शान्त करती है। मेरा अनुभव है कि सांसारिक पदार्थोंका प्रयोग भूख शान्त करनेके लिये किया जाय तो विटामिनोंकी या किसी और पौष्टिक पदार्थोंकी कमी रहती है, पर इस दैविक क्रियासे पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है और शरीरकी थकावट दूर हो जाती है। सम्भव है इस क्रियाके ज्ञाता ऋषियों और तपस्वियोंको इसीलिये सांसारिक पदार्थोंकी तृष्णा नहीं रहती।

कनिष्ठिकाकी घटनकी क्रियासे जलोदर रोग शान्त होता है और भयानक गर्मीमें इसकी प्रत्यावर्तन क्रियासे ठंडक प्राप्त होती है और देहको गर्मी नहीं सताती। प्यासको मिटाने की क्रिया पहले बता दी गयी है।

अङ्गुष्ठकी घटन या प्रत्यावर्तनकी क्रिया दाह—जलनमें सहायता नहीं देती; क्योंकि दाह-जलनमें पित्त साधारणतः प्रधान रहता है।

मध्यमाकी घटन क्रियामें शीघ्र प्रयोगकर्ताको कानमें एक विशेष प्रकारका नाद सुनायी देने लगता है और एक विशेष प्रकारकी नाड़ीकी गतिका अवरोधन या प्रचालन प्रारम्भ हो जाता है और धीरे-धीरे यह नाद शान्त होकर सम हो जाता है, श्रवणेन्द्रिय अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है।

तत्त्वोंके सम्मिलनका दूसरेके मृत्युभयसे अपनी देहपर ही प्रयोगके प्रयासमें संलग्न हूँ, पर प्रतीत होता है कि यह एक महाविज्ञान है; इसका कभी अन्त नहीं होगा। अतः निष्कर्ष यह है कि इन तत्त्वोंका सम्मिलनद्वारा प्रतिफल उस समय भी रोगोंको दूर करता रहेगा, जब कि बाह्य प्रकृति अपने गुणोंको लुप्त करती रहेगी। आवश्यकता होगी उस समय मनुष्यको जीवन दान लेनेके लिये अन्तःप्रकृतिको सम करते रहनेकी। उस समय भी हम अस्तव्यस्त प्रकृतिमें भी जीनेका साहस कर सकेंगे।

अगला कार्य अन्य चार तत्त्वोंसे रोगोंका सम्बन्ध स्थापित करना और कफ, पित्त विकारोंके तत्त्वोंके आधारपर आधारित करना होगा। रोगभेद आयुर्वेदग्रन्थोंकी सहायतासे वात-पित्त-कफके आधारपर जानकर उनका तात्त्विक निदान करना होगा। इस कार्यको करनेसे पहले ऋषियोंके द्वारा बतायी गयी मुद्राओंको जानना वाञ्छनीय है। ऋषियोंने तत्त्वोंके सम्मिलनके क्षेत्रको छोड़कर चौबीस और आठ,—बत्तीस मुद्राओंको ही क्यों निर्धारित कर दिया। क्या इन मुद्राओंमें संसारके सब रोग निहित हैं? क्या इन मुद्राओंके क्षेत्रको और विस्तृत नहीं किया जा सकता? क्या प्रत्येक मुद्राका विश्लेषण नहीं किया जा सकता?

संसारमें रोगोंका निदान-क्षेत्र कितना विस्तृत है और इसकी सीमाको प्राप्त करना मनुष्यके लिये असम्भव-सा है पर

आपसी सहयोगसे कई जीवन मिलकर निरन्तर इसको विस्तृत कर सकते हैं। रोगोंका भेद जानकर प्रत्येक रोगके विकारोंसे तात्त्विक क्रियाको निर्धारित करना यह वादका क्षेत्र है। अतः पहले अन्तकी मुद्राओंके आठ विश्लेषणका विषय चुनता हूँ।

अन्तकी आठ मुद्राएँ ये हैं—

१. सुरभि, २. ज्ञान, ३. वैराग्य, ४. योनि, ५. शङ्ख, ६. पङ्कज, ७. लिङ्ग और ८. निर्वाण।

सुरभि मुद्रामें वायु और आकाशका सम्मिलन होता है; पृथ्वी और जलका सम्मिलन होता है और अग्नितत्त्व शान्त रहता है। जल और पृथ्वीके मिलनेसे ब्रह्माण्डमें उर्वरा शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्तिका उत्तेजन जल है। वायु और आकाशके मिलनेसे ब्रह्माण्डका चक्र स्थिर होता है। निरन्तर अभ्यासके द्वारा ब्रह्मचक्र अर्थात् नाभिचक्र अपनी स्थितिको ग्रहण करता है। सुरभि मुद्रामें अग्नितत्त्वको यदि जल-तत्त्वके मूलमें लगा दिया जाय तो पित्तसे विकृत समस्त मूत्र रोग शमन होते हैं; यदि अग्नितत्त्वको पृथ्वीतत्त्वसे सम्मिलित करे तो सुरभि मुद्राद्वारा पेटके समस्त रोग पाचन क्रियाकी विकृतिसे होनेवाले नष्ट होते हैं। यही मुद्रा निरन्तर अभ्यासके द्वारा षट्-कमलका भेदन सम्भव करती है। इसीलिये आचार्यों-ने सबसे पहले इसी मुद्राका निर्णय किया है। इसके पश्चात् वायु और अग्निके उद्रेक, और अग्नि और वायुके व्यतिरेकसे मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु खोलनेके लिये ज्ञानमुद्राका निर्णय दिया है। समाधिस्थ व्यग्र योगीके लिये सुरभि मुद्रा करना वाञ्छनीय है। यदि सुरभि मुद्रा की जाय तो कफ प्रकृतिसे विकृत मनुष्यके साधारण रोग नष्ट होते हैं। अग्नितत्त्वको शून्यसे सम्मिलित करनेपर सुरभि मुद्राके निरन्तर अभ्याससे व्यक्ति अपना शून्य बढ़ाकर विश्वके कोलाहलसे दूर हो जाता है। शून्य बढ़ जाता है पर शरीरके अन्यतत्त्व अपना संतुलन न खोकर मानवी क्रियाको दैवी क्रियाकी ओर निरन्तर खींचते रहते हैं। विश्वके इस कोलाहलसे दूर निरन्तर अभ्यस्तयोगी विश्वसे परे अनेक नाद सुननेमें सफल होता है। बिना इस मुद्राके इस प्रयोगके योगी समाधिमें नाद सुनते अवश्य हैं, पर इतनी स्पष्टतासे नहीं। ब्रह्माण्डमें लयमयकी क्रिया अन्य मुद्रासे सम्भव हो जाती है। वायु-तत्त्वमें यदि अग्नि-तत्त्वका सम्मिलन सुरभि मुद्रामें किया जाय तो समाधिके प्रारम्भिक विद्यार्थीको वायु-अवरोधकी बाधा उपस्थित नहीं रहती। वात-विकार किसी सीमातक शमन अवश्य होता है किंतु इसी शमनके साथ रोगीको मूत्र और पेट रोगकी पीड़ा तीव्र हो जाती है। इसीलिये वात-विकार अकेला हो तो ऐसा किया जा सकता है। अभ्यस्त योगीको तो कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती। पर भोगीको अन्य विकारोंकी उपस्थितिमें यह मुद्रा वातका शमन होनेसे हानि कर बैठती है रोगी मर भी सकता है। पर यदि कफ विकारकी गति अधिक और पित्तकी कम हो तो वायुके शमनसे शीतका भय होता है। और गठिया हो जाती है। इसमें शमनकी क्रिया किसी सीमा-तक शमन पाकर तीव्रातितीव्र गतिसे वृद्धि प्राप्त कर लेती है। इसी कारणसे गठिया होनेकी सम्भावना बतायी जाती है और अग्नितत्त्वके उल्टा शमन पानेके साथ-साथ पाचनक्रिया भी विकृत हो जाती है। यदि पित्तके विकारकी गति तीव्र और कफकी गति कम हो तो मूत्राशयपर प्रभाव पड़कर मूत्राशयके फटनेका भय रहता है। अण्डवृद्धिका रोग होनेकी सम्भावना होती है। वायुका शमन विपरीत गति प्राप्तकर अग्निको मन्द-कर पूरे वेगसे मूत्राशयको या अण्डकोषको फुला देता है। इससे मृत्यु नहीं होती, पर पित्तमें वातका व्यतिरेक होनेसे पित्तप्रधान वातज रोगोंका आविर्भाव हो जाता है। यदि वातके अतिरिक्त अन्य विकार देहमें उपस्थित न हों तो सुरभि मुद्राके द्वारा वात–शमनके प्रयोगसे वातविकृत उदररोग शान्त हो जाते हैं।

वात और कफके प्रधानत्वमें सम्मिलित विकारोंके रोगोंमें सुरभि मुद्राका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये। इससे लाभ यदि नहीं होता तो हानि अवश्य होती है। न्यूनाधिक मात्रामें विकार सम्मिलित होनेपर ही हानि और खतरा उपस्थित होता है। पित्तप्रधान रोगोंके लिये सुरभि मुद्रका प्रयोग बिल्कुल नहीं है। केवल मात्र पित्तरोगोंमें सुरभि मुद्रामें यदि बायें हाथके अङ्गुष्ठसे दायें हाथके अंगूठेको दबाये तो अग्नि मन्द पड़कर जलका संतुलन बिगड़ जाता है और पृथ्वी-तत्त्वके प्रधानत्वमें कफके विकार अधिक बढ़ जाते हैं। अतः पित्तविकारमें इसका प्रयोग वर्जनीय है। योगीके लिये सुरभि मुद्रामें अग्नि-तत्त्वको बिल्कुल पृथक् रक्खा गया है; क्योंकि योगी शकट मुद्राके द्वारा पहले ही पित्त अर्थात् क्रोधको जीत लेता है। सांसारिक मनुष्यों और योगीमें बहुत अन्तर है; क्योंकि योगी समस्त मुद्राओंके अभ्याससे पहले ही अपनी देहको सम कर लेता है। उसके लिये किसी विकारको शमन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। बीच-बीचमें निर्धारित समाधिको बार-बार तोड़नेसे या सांसारिक पदार्थोंको अधिक देखनेसे तपस्वियों या योगियोंमें पित्तकी अभिवृद्धि होकर क्रोधका कारण बन जाती है। ऐसी स्थितिमें इसकी भयानकता

बड़ी विकराल हो जाती है ; क्योंकि इस स्थितिमें दोनों गतियोंका चक्रभेदन होता है और विकारका शमन न होकर अवरोधन होता है । अतः अवकाश पाकर बड़ी तीव्रगतिसे विस्फोटका कारण होता है । पित्त-विकारमें सुरभिद्वारा अग्निको शमन करनेसे अन्य सभी विकार अपना संतुलन खो देते हैं । सांसारिक घटनासे वायुके गत्यावरोधका कारण और सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है । क्रोधके उपकरण प्रस्तुत होनेपर ऐसे व्यक्तिको क्रोधका विकास गतिकी त्वरता और मादकताकी तन्त्रीके आधारपर होता है । इस स्थितिमें क्रोधी हाँफने लगता है । परिणाम निकलता है कि कफ-प्रवृत्ति और वायु-प्रवृत्ति दोनों अवरोध होकर उल्टी गतिको प्राप्त करती हैं, तब वायु तीव्र हो जाती है और फुत्फुस यन्त्रकी सीमाका भेदन कर श्वासकी गतिको तीव्र कर डालती है । कफका अवरोध होनेसे उल्टी गति प्राप्त होकर देहमें निर्बलता लाती है । शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल होकर रक्तकी साधारण गर्मीको भी चौपट कर देती है । यदि इस क्रियाका शीघ्र शमन न किया जाय तो हृदयकी गति बंद होनेमें आश्चर्य नहीं होता । व्यक्तिका हार्टफेल भी हो जाता है । प्रयोगकर्ताको स्मरण रखना चाहिये कि पित्तमें अग्नि और जल दोनोंके विकार सम्मिलित हैं । इसलिये केवल अग्निको शमन करनेसे उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर अन्तका कारण बन जाते हैं; क्योंकि सुरभि मुद्रामें जल-तत्त्व पृथ्वीसे सम्मिलित होकर अपनी गतिको अतिरेक देता है और वायुतत्त्व शून्यसे सम्मिलित होकर स्वच्छन्दगतिको प्राप्त कर लेता है । ऐसी स्थितिमें प्रयोगकर्ताके लिये पूर्ण निदानद्वारा सचेत होना अत्यावश्यक हो जाता है । पित्तविकारके मूत्र-रोगोंमें अग्निका जलके मूलमें सम्मिलित करना तो सुरभि मुद्रामें लाभदायक है; क्योंकि अग्नि उसमें स्वयं अवरुद्ध नहीं होती, पर बढ़कर जलतत्त्वका पृथ्वीके साथ शमन करती है और ऐसा ही वह पृथ्वीतत्त्वके साथ करती है, पर पित्तके अन्य रोगोंमें इसका प्रयोग नहीं होता ।

सुरभि मुद्रा योगीके लिये केवल ब्रह्मचक्रको भेदनेके लिये ही सहायक होती है । ब्रह्मचक्रका भेदन तभी सम्भव होता है जब पाचन क्रियाके रोग दूर हो जाते हैं । इसलिये सुरभि मुद्रा पाचन क्रियाके रोगोंको मिटाकर ब्रह्मचक्रको स्थिर करती है । योगीको अपने विकारोंको सम करनेकी आवश्यकता नहीं होती । पाचन क्रियाके रोग निश्चित नहीं होते हैं । क्षण-क्षणमें पाचन क्रियाका व्यतिरेक चलता है, नियमित व्यक्ति या कठोर संयमीकी पाचन क्रिया भी तत्त्वोंके प्रत्यावर्तनसे कुछ अंशोंमें विकृत होती रहती है । गलती हो जानेसे समाधिस्थ अभ्यासी मृत्युको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पाचन क्रियाके तनिकसे विकृत होनेसे षट्-कमलका खुलना कठिन-सा हो जाता है । इसके द्वार अधिक हैं किस तरह खुले ? और केवल सुषुम्नाको छोड़कर अन्य ओर किसी द्वारसे भी खुलनेपर या थोड़ा-सा लीक होनेपर भी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है । अतः आचार्योंने सुरभि मुद्राका निर्माण इसी विज्ञानके आधारपर पृथ्वी और जलके सम्मिलित वेगसे पाचन क्रियाको अनुगामी बनाकर निर्णयात्मक किया है ।

रोगी और भोगी दोनों ही अपने विकारोंमें ग्रस्त होते हैं इसलिये उनके विकारोंकी प्रधानता जानकर पित्त और कफमें अग्नितत्त्वका उद्रेक दे दिया जा सकता है, शमन नहीं किया जा सकता । निश्चित निदानके पश्चात् ही इस मुद्राका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है । पित्तप्रधान, कफ-प्रधान, वातप्रधान अथवा अलग-अलग प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रत्यावर्तनवाले रोगीके लिये सुरभि मुद्रामें प्रयोग नहीं किया जाता अर्थात् प्रधानत्वमें या प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रवर्तनमें इस मुद्राका प्रयोग नहीं किया जा सकता । जब वात और कफ इन दोनोंमेंसे कोई भी प्रधान न हों और न पित्त प्रधान हो और दोनोंका वेग समान हो एक दूसरा अधिक या कम वेगवाला न हो तब साधारण सुरभि मुद्रा प्रयोगमें लायी जा सकती है । अग्निका उद्रेक उस समय न तो वायुमें ही देना चाहिये और न जलमें ही । यदि कुछ अंशमें ही पित्त ऊपरके सम विकारोंमें प्रत्यावर्तन करता है तो जिस विकारमें प्रत्यावर्तन होता है उससे विपरीत विकार अर्थात् कफका उलटा वात और वातका उलटा कफसे अग्निका सम्बन्ध कर देना चाहिये पर वातका सम्बन्ध करते समय उतनी ही देर रखना चाहिये जितनी देर पित्तका प्रत्यावर्तन बंद न हो । इसलिये प्रयोग-कर्त्ता रोगीका नाड़ीद्वारा निदान करता जाय और देखता जाय कि पित्तका प्रत्यावर्तन बंद हो गया है । बंद होते ही फौरन सम्बन्ध हटा देना चाहिये; क्योंकि उससे अधिक देर रखनेसे उपर्युक्त विकार (उत्पात) शीघ्र उत्पन्न हो जाया करते हैं । स्मरण रहे कि पित्तका प्रत्यावर्तन समाप्त होनेपर सुरभि मुद्राकी क्रियाकी अवधिमें पित्त सम रहता है, विकृत कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जल और पृथ्वी, एवं वायु और शून्य अपनी गति पकड़ लेते हैं । तब पित्त स्वयमेव जलके साथ

होनेसे अनुपात गति पकड़ लेता है। कफ और वातके विकारोंके परिणामस्वरूप जिन तत्त्वोंका विघटन या प्रत्यावर्तन हो गया है, वे सभी तत्त्व सुरभिमुद्राद्वारा विपरीत क्रियामें संलग्न हो जाते हैं, जैसे यदि वायु विघटित हो गयी है तो उसका प्रत्यावर्तन हो गया या जल यदि अभिवृद्ध हो गया है तो उसका घटन प्रारम्भ हो जायगा।

जबतक इस स्थितिमें विकृत तत्त्व समताको प्राप्त होते हैं, ऐसे रोग शान्त हो जाते हैं; किंतु विषम तत्त्वोंका देहमें अधिक देरतक अभ्यास निषिद्ध है। अवधि केवल पौन या एक घंटेकी है। इससे अधिक करनेसे देहमें तत्त्वपरिवर्तनके चक्रमें बाधा पड़ जाती है। करीब एक घंटेसे कम समयमें ही तत्त्वोंका प्रत्यावर्तन हो जाता है और दूसरे प्रधान तत्त्वकी बारी आ जाती है। सूक्ष्म तत्त्वोंके प्रवर्तनका इस क्रियापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि उनमें इतना वेग नहीं होता जितना किसी समयविशेषमें प्रधान तत्त्वका होता है। सूक्ष्म तत्त्व तो उस समय प्रधान तत्त्वसे प्रभावित रहते हैं और उनकी गति उस प्रधान तत्त्वके द्वारा संचालित होती है। जैसे अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें लगभग सभी अन्य तत्त्वोंकी गति तीव्र होती है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सूक्ष्म तत्त्व अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें जल्दी चलना प्रारम्भ हो जाते हैं अथवा समयकी अवधि कम लेते हैं पर उनका वेग तीव्र हो जाता है। उनकी तीव्रताको अग्नितत्त्व क्षीण अवश्य करता है, पर अग्नितत्त्वका प्रभाव पाकर विपरीत परिणाम प्राप्त करते हैं, इधर अग्नि उन्हें क्षीण करता है और उधर वे तीव्रता प्राप्त करते हैं। यही संघर्ष मनुष्यके जीवनमें रात और दिनमें लगभग पाँच बार प्राप्त होता है। वैसे किस तत्त्वके प्रधानत्वमें कौन-सा सूक्ष्म तत्त्व कैसी गति प्राप्त करता है, यह आगेका विषय है जिसपर फिर कभी लिखा जायगा।

यह समझना बड़ी भूल होगी कि मेरे इस अंकनसे पाठक यह समझ लें कि सुरभिमुद्राका समस्त रहस्योद्घाटन हो गया। अनुभूति और प्रयोगसे आगे भी ये मुद्रा, पता नहीं क्या सूचना देती रहेंगी। उसे भी लिपिबद्ध करते रहनेका प्रयत्न किया जायगा, पर इससे क्रमभेदमें दोष अवश्य आयेगा। मैं तो क्रम-भेदकी परवा न कर केवल अनुभूति और प्रयोगमें लगकर जो-जो वाञ्छनीय होगा, उसे लिखता रहूँगा। क्रम-भेदके दोषको मिटाना भारतीय सिद्धहस्त आचार्योंका कार्य होगा, जिसके लिये मैं उनसे अभीसे ही क्षमा माँग लेता हूँ।

भेंट

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

आज इस क्षण-क्षणमें अधिकाधिक अन्धकाराच्छन्न हुए आते, अर्ध-रातके सन्नाटेमें, सबको झटक, मैं तेरे द्वारपर आ खड़ा हुआ हूँ।

मैं!—दीन, हीन, मलिन !!

× × ×

सुना है, तू सम्राटोंका सम्राट् है।

होगा!—पर भेंट दिये बिना तो तेरे यहाँ भी पहुँच नहीं! और भेंटके लिये मुझ तुच्छ नाकुछके पास धरा ही क्या है?

× × ×

हाँ! भली याद आयी। एक वस्तु है यदि तू स्वीकार कर ले!

वह है चित्त-चाञ्चल्य!—जन्म-जन्मान्तरकी अर्जित-संचित—अकिञ्चनकी एकमात्र सम्पत्ति! समझा?

× × ×

भेंट देते मैं संकोचसे मरा जा रहा हूँ—यह भी क्या कहना होगा?—मेरे राजा!

स्वीकार-अस्वीकार, जो भी करना हो, शीघ्र कर, त्रिशंकु-दशामें तो न छोड़ मुझे कम-से-कम मेरे सर्वस्व!

पर निर्णय करते हुए इतना याद अवश्य रखना—जो भी, जैसा भी हूँ, तेरा, एकमात्र केवल तेरा ही हूँ।

आर्यजातिकी दिनचर्यामें चार विभाग

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शास्त्री)

हिंदू-त्योहारके व्रत, उत्सव, जयन्ती तथा पर्वोंकी संक्षिप्त चर्चा

आर्योंके प्रत्येक घड़ी, दिन, तिथि, मास और वर्षोंके विभिन्न देवी-देवता अधिष्ठाता हैं। वे सब चेतनाधिष्ठित हैं। इसीलिये काल-निर्णयपर बहुत बड़े अनुसंधान हैं तथा कठोर प्रयासपूर्ण 'निर्णयसिन्धु' आदि विविध बृहत् ग्रन्थ लिखे गये हैं। अतएव भारतीय ज्योतिषशास्त्रकी समस्त साधना और सिद्धियोंके क्षेत्र कालपर ही निर्भर है। परंतु इस प्रस्तुत लेखका विषय केवल व्रत, उत्सव, जयन्ती और पर्वोंपर ही विचार करना है। हमारी जीवनभरकी सारी क्रियाओं एवं व्यवहारोंका लक्ष्य लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्तिके साथ-साथ परमार्थसाधन और अध्यात्मकी ओर गतिशील बनना है। अतएव सर्वप्रथम व्रतोंके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति भोगोंकी दासतासे छूटनेका अभ्यास करे और संयम-नियमोंके अनुष्ठानद्वारा त्याग, तितिक्षा और तपकी ओर बढ़ता चले, जिससे देह, इन्द्रिय और मनकी शुद्धिको सिद्ध कर स्वस्थ, सुप्रसन्न एवं सफल होता हुआ आध्यात्मिक लाभ उठानेका अधिकार प्राप्त कर सके। इन व्रतोंसे इष्टसिद्धि और देवताके अभिमुख होकर मनुष्य दैवीगुण-सम्पन्न हो सकता है। ये व्रत हैं—रविवार-मंगलवारसे लेकर एकादशी-श्रीसत्यनारायण और वैदिक चान्द्रायण आदि सहस्रों। इनमेंसे यथारुचि आर्य नर-नारी एक-न-एक व्रत करते ही रहते हैं और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षमेंसे कोई एक या एकाधिक लक्ष्य रखते हैं। मास-माहात्म्योंमें प्रायः इनके विशद वर्णन मिलते हैं।

दूसरा अनुष्ठान है—सामूहिक उत्सव—दीपावलि, वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, श्रावणी और विजयादशमी आदि। ये भी अनेकों देवी-देवताओंकी पूजासे पूर्ण हैं। इससे जातिका प्रत्येक दल आमोद-प्रमोदके साथ अध्यात्मकी ओर प्रवृत्त हो उठता है। इन अवसरोंपर नयी-नयी भावनाओंके जाग्रत् होनेसे जाति सबल एवं श्रीसम्पन्न हो उठती है तथा परिवार एवं समाजके आबालवनितावृद्ध पारस्परिक सम्पर्कमें आकर अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं। साथ ही सब लोग एक पूजा, एक विधि और एक उद्देश्य आदि एक-सी प्रवृत्तियोंमें निमग्न दृष्टिगोचर होते हैं। सुतरां वर्ण-सम्प्रदायसे निर्विशेष सांस्कृतिक और सामूहिक एकताकी पराकाष्ठा भी इन महोत्सवोंका एक मुख्य माहात्म्य और देन है।

तीसरा अनुष्ठान है जयन्ती—

मत्स्यजयन्तीसे लेकर रामजयन्ती, कृष्णजयन्ती, बुद्धजयन्ती, शंकरजयन्ती आदि। सृष्टिकी स्थिति, रक्षा और पालनके लिये जगदीश्वर और इनकी विभूतियोंकी अवतार-तिथियाँ इनमें सम्मिलित हैं। ये जयन्तियाँ भगवान्‌की सत्ताके प्रति अनन्त आशा और विश्वासको स्थिर कर जातिमें शक्ति, साहस और उत्साह भर देती हैं। अनन्त दुर्घटनाओंसे आर्यजातिको बचानेके लिये विभिन्न प्रकारके चरित्र और प्रकाश प्रदान करती हैं एवं क्रान्तिकारी इतिहासोंको स्मरण कराकर किंकर्तव्यविमूढ़ताका नाश कर जातिको सजीव, सप्राण तथा पुनः ऐश्वर्यस्थापनके लिये कर्तव्यनिष्ठ बना देती हैं। आजकल प्रायः सभी महापुरुषोंकी जयन्तियाँ मनायी जाने लगी हैं, यह शुभ लक्षण है।

मानवसमाजके लिये यह सबसे बड़ा सौभाग्य है कि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीके दिन गीताजयन्ती-महोत्सवका भी देशव्यापी प्रचार और प्रसार हो रहा है।

लोकप्रतिनिधि अर्जुनको सम्मुख रखकर समस्त वेदादि सत्-शास्त्रोंकी एकत्र समवेत ज्ञानराशि गीताके रूपमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे आविर्भूत हुई। मानो गोपालने अपने जातिस्वभावके अनुसार मोहके भयानक रोगसे ग्रस्त प्रकम्पित अर्जुनको गीता-दुग्धामृत पिलाकर स्वस्थ कर दिया। अतः सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान्‌का साक्षात् मूर्तरूप गीता है। इनकी शरणागतिमें मानवसमाज जीवित और जाग्रत् रहकर अपने-आपको रक्षित, पालित और ऐश्वर्यसम्पन्न बना सकता है। गीता अनन्त तीर्थमयी त्रिवेणी है, जिसमें समस्त पाप-ताप और कलिमलोंका प्रक्षालन हो जाता है। भयानक भवसागरमें विचरण करनेवाले मानवके लिये अभेद्य, अच्छेद्य जहाज गीता है। किंकर्त्तव्यविमूढोंके लिये मूर्तिमान् सद्गुरु है। संसारके युद्धमय क्षेत्रमें योद्धाओंके लिये यह अभेद्य कवच है। मानवके मानस-जगत्‌के लिये गीता सनातन प्रकाश देनेवाला सूर्य है। नाना संसार-संताप-संतप्त मानवके लिये

षोडशकला-सम्पन्न शीतांशु चन्द्रमा है। संसारके दुर्गन्धमय वातावरणको विशुद्ध करनेके लिये गीता सदा प्रस्फुटित भारत-पङ्कज है। सुतरां प्रत्येक नर-नारी गीताको सदा साथ रखकर मनन-चिन्तनद्वारा पूर्णमनोरथ होते हैं। गीताका अध्ययन भौतिक जड जगत्‌को अध्यात्मपूर्ण बना देता है, अनात्मभावको नाशकर आत्मप्रतिष्ठा करता हुआ जगदीश्वरमें जोड़ देता है। नानात्वको मिटाकर एक ही अनादि अनन्त परब्रह्मकी अनुभूतिद्वारा मर्त्यको स्वर्ग बना देता है। अतएव पथ-भ्रान्तिसे बचने और परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये गीताका अध्ययन और प्रचार-प्रसार नितान्त आवश्यक और कर्त्तव्य है।

चौथा अनुष्ठान है—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, कुम्भ, वारुणी एवं प्रत्येक सूर्य-संक्रमण तथा अमावस-पूर्णिमा आदि। इन पर्वोंपर अनुष्ठित पूजा चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति आदि लोक-नायकोंके प्रति हमारे सम्मानके प्रमाण हैं। लोकवादी आर्योंकी दृष्टिमें ये ग्रह नक्षत्रोंके रूपमें विचरनेवाले सर्वज्ञ और शक्तिमान् देवता हमारे सनातन सम्बन्धी हैं। ज्ञाताज्ञात प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न हमारे मानव-समाजसे इन लोकों और लोक-नायकोंका अखण्ड सम्बन्ध है। हमारे पूर्वज यहाँसे संचित पुण्योंके बलसे इन लोकोंके अधिनायक बने हुए हैं और पुण्योंके फल भोग रहे हैं। आर्योंमें क्षत्रियवंशके तो ये सनातन वंशधर हैं। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश एवं गोत्रप्रवर्त्तक वशिष्ठ आदि नामोंसे विख्यात होना इसका उज्ज्वल प्रमाण है।

पुराणोंकी दृष्टिमें तो ये हमारे परम कल्याणकारी, समस्त दुःखोंके मिटानेमें प्रयत्नशील तथा सुखोंकी प्राप्तिमें सहयोग भी देनेवाले हैं। देवासुर-संग्रामोंकी पौराणिक कथाओंमें बराबर परस्पर एक दूसरेका साथ देनेवाले हैं। राक्षसोंसे पीड़ित गौरूपा वसुन्धराके ये सनातन सहायक हैं और प्रजापति, शिव और विष्णुलोक तक जाकर यात्राको सफल बना देते हैं। यथासमय जीवोंके दुःखदलनके लिये श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण प्रभुको साथ देनेके लिये मनुष्यरूपमें ये भी भारतधरापर उतर आते हैं। इनकी सारी गतिविधि हमारे सुख-दुःखोंसे ओतप्रोत हैं। इनके नाम-मन्त्रोंके जप आदि अनुष्ठानद्वारा हम दुःखोंको मिटाकर सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

हम तो इन्हें अपने अनुरूप, परं च अमानव देवता मानते हैं, भले ही इनके भौतिक देह विज्ञानवादियोंकी दृष्टिमें अग्नि-जलादिके गोले भासते हों। सुतरां आर्योंका इन पर्वोंपर दान, पुण्य, जप आदि उत्सर्ग करके महोत्सव करना सार्थक अतएव कर्त्तव्य है और आर्यजातिका व्यावहारिकरूपमें आदान-प्रदान-द्वारा मानव-समाजका देवताओंसे सनातन-सम्बन्ध-परम्परा अक्षुण्ण रखना स्वधर्मनिष्ठाकी पराकाष्ठा है। अतएव समस्त आर्योंके कृत्योंके पूर्व ये पूजाके देव हैं। इसीलिये विवाहकालमें भी वर-वधू अरुन्धती-वशिष्ठ या ध्रुव अथवा सूर्यके सम्मुख खड़े होकर उपस्थान करते हैं। आर्योंकी श्राद्धक्रिया समाप्त होनेपर भी इनकी अन्तिम पूजा कर यजमान इनके आशीर्वादसे अपनेको सफल मानता और समझता है। अतएव हमें व्रत, उत्सव, जयन्तियाँ और पर्वोंको मनाकर व्यक्तिगत, समाजगत और जातिमें समस्त शक्तियोंको संचय करते हुए सर्वशक्तिमान् बनना चाहिये तथा परस्परमें अभिन्नता अनुभव करते हुए स्व-स्वरूपप्राप्तिरूप चरम लक्ष्य लाभ करना चाहिये।

अनन्यता

(लेखक—श्रीत्यागराज भारती)

मेरो मन अनत कहाँ टिक पाये।
श्रीहरि ! हरि ! तव सुंदरता इन आँखोंमें छा जाये॥
कानोंमें तव मधुर कथामृत भर भर कर लहराये।
पावन नाम प्रभो ! मेरे मुँह मुखरित हो नित भाये॥
मेरी दृष्टि जहाँ भी जाये, तव दर्शन ही पाये।
मैं तव भक्त, यही मति मेरी निश्छल रति उपजाये॥
मेरी योग-तपस्याका फल तू ही बन आ जाये।
दिनमणिवंश-पयोधि-सुधाकर 'त्यागराज'*नित गाये॥

(रूपान्तरकार—पाण्डुरंग 'मुरली' एम्० ए०)

* त्याग।

स्वामी श्रीस्वरूपानन्दकी अखण्ड वाणी

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

साधना ही सिद्धिका सोपान है। बिना साधना सिद्धि नहीं मिलती। साधनाके लिये बहुत बड़े त्यागकी आवश्यकता होती है। निवृत्ति-जीवनमें वह अधिक सुलभ होती है; क्योंकि अनेक प्रवृत्तियोंमें जहाँतक मन, वचन, काया लगी रहती है वहाँतक साधनाके उपयुक्त एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती और बिना एकाग्रताके साधना बलवती एवं इच्छित फलदात्री नहीं हो सकती। इसीलिये त्यागमय साधुजीवनको साधनाके लिये अधिक उपयुक्त माना गया है। गृहस्थ जीवनमें अनेकों जिम्मेवारियाँ होती हैं, अपने परिवारके भरण-पोषण और लोक-व्यवहार एवं सामाजिक नियमोंको सुव्यवस्थित संचालित करनेके लिये विविध प्रवृत्तियोंमें व्यस्त रहना पड़ता है। साधु-जीवनमें आवश्यकताएँ और बाहरी जिम्मेवारियाँ बहुत कम हो जाती हैं। इसलिये साधनामें पूरा समय और शक्ति लगायी जा सकती है। एक तरहसे साधुजीवन साधनामय ही होता है। लक्ष्यको स्थिर करके निरन्तर उस ओर अग्रसर होते रहना साधुजीवनमें ही अधिक सम्भव है।

भारतीय समाजमें साधुजीवनकी प्रतिष्ठा बहुत अच्छी है। आत्मोत्कर्ष एवं लोकसेवामें भारतीय साधुओंने अपने जीवनको पूर्णतया खपा दिया, जिसके फलस्वरूप आध्यात्मिक उपलब्धि सर्वोच्चरूपमें हो सकी और जनताके जीवनको भी बहुत अच्छे स्तरपर ऊँचा उठाया जा सका। नाना मत और सम्प्रदायोंमें लाखों संत-महात्मा आदर्शके रूपमें पूज्य बने और आज भी हजारों उल्लेखनीय संतपुरुष भारतके कोने-कोनेमें अपनी अनुभूतियोंसे जनताको प्रेरणा दे रहे हैं।

लाखों व्यक्तियोंमें सभी एक समान ऊँचे स्तरके नहीं हो सकते। अपनी-अपनी परिस्थिति एवं योग्यताके अनुसार ही मनुष्य विकास—प्रगति कर सकता है। इधर कुछ समयसे साधुजीवनमें शिथिलता आ गयी। अनेकों ढोंगी एवं विलासी व्यक्ति साधु-मण्डलीमें सम्मिलित हो गये। इसलिये जनताकी पूर्वकालीन श्रद्धापर आघात लगना स्वाभाविक ही है। आजके नवयुवकोंके लिये तो धर्म और साधु सर्वथा उपेक्षणीय बन गये हैं। यह स्थिति आध्यात्मिक गौरवके लिये प्रसिद्ध भारतके लिये अच्छी नहीं कही जा सकती। अतएव धार्मिक रूढ़ियों और साधुओंके कुत्सित जीवनमें क्रान्ति लाना आवश्यक है। वास्तविक धर्म और सच्चे साधुओंकी प्रतिष्ठा तो सर्वत्र एवं सार्वकालिक रहेगी ही।

भारतके अन्य प्रान्तोंके साधुओंकी अपेक्षा बंगाल-आसामके साधुओंका अपना वैशिष्ट्य है। स्वामी रामकृष्ण परमहंसके प्रभावने यहाँके साधुओंमें एक नयी क्रान्ति कर दी है। साधनाके साथ-साथ उनका जीवन सेवामय भी है—यह उल्लेखनीय है। साथ ही बंगालमें शिक्षाका प्रचार अच्छा होनेसे यहाँके साधुओंमें ज्ञानका प्रसार भी बहुत अच्छा है। भक्तिमार्ग तो बंगालका प्रधान साधना-मार्ग है ही, अतः ज्ञान, भक्ति और सेवा इस त्रिपुटीके सम्मेलनसे बंगाल-आसामके साधुओंका जीवन अपना वैशिष्ट्य रखने लगा है।

बंगाल-आसाममें अनेक जगहोंपर उपर्युक्त गुणत्रयसम्पन्न साधुओंके मठ और आश्रम हैं और उनके हजारों-लाखों अनुयायी पाये जाते हैं। उनके भक्तोंमेंसे भी कई-एक बहुत अच्छे साधक हैं, जो उन संत-महंतोंकी सेवा करनेके साथ-साथ अपने जीवनको उच्च स्तरपर ले जाते हुए उनकी वाणीके प्रसारमें भी प्रयत्नशील हैं।

ऐसे ही एक संतकी वाणीका परिचय करीब डेढ़ वर्ष पूर्व सिलचरमें मिला। इन संतपुरुषका नाम है स्वामी स्वरूपानन्द परमहंस। बंगाल-आसामके अतिरिक्त बनारसमें भी इनका 'अयाचक' नामक आश्रम है। वहींसे आपके वाणी और कार्योंका प्रचार 'प्रतिध्वनि' नामक एक मासिकपत्रिका द्वारा हो रहा है। इसके विगत अग्रहायणके अङ्कमें स्वामीजीकी वाणीके अस्सी उपदेशोंका संकलन प्रकाशित हुआ है। इस संकलनके कुछ चुने हुए वाक्योंका सार प्रस्तुत लेखमें उपस्थित किया जा रहा है। जिससे उनकी अनुभूतिप्रधान और प्रेरणादायक वाणीका कुछ परिचय पाठकोंको मिल जायगा।

(१) हमारा ऋण

व्यक्तिगत रूपसे मैं अनुभव करता हूँ कि मैं अपने पूर्वपुरुषोंका आपादमस्तक ऋणी हूँ। केशाग्रसे लगाकर पदनखाग्रतकके मेरे शरीरके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गके प्रत्येक अणु-परमाणु एक-न-एक महाभावको वहन कर रहे हैं। वे

सब महाभाव मुझे दूसरोंसे ही प्राप्त हुए हैं। एक महापुरुषने कहा 'झूठ बोलना पाप है।' दूसरेने कहा 'परनिन्दा पाप है।' तीसरेने 'पराये धनकी ओर दृष्टि देना पाप बताया' और चौथेने 'परानिष्टचिन्तन करना बुरा बतलाया।' इस तरह एक-एक व्यक्तिकी एक-एक बातने मेरे कर्म, वाक्य, चिन्तन और जीवनको गठित किया। मैं उन सब शिक्षादाताओंका ऋण कैसे भूल सकता हूँ ? साधारणतया रास्तेमें खड़े हुए एक दीन मजदूरके साथ भी एक मिनट भी बात की जाती है, उससे भी कोई-न-कोई अज्ञात बात प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार एक व्यक्तिके, जो कुछ भी नहीं बोलता है, चेहरेकी ओर स्थिर चित्तसे दो मिनट भी देखा जाय तो उसके आन्तरिक भावोंकी उपलब्धि होने लगती है। उससे सम्बन्धित अनेक ज्ञानकी किरणोंका प्रकाश हमारे हृदयमें प्रकट हो जाता है। हमारी इच्छा हो, न हो, पर दसों दिशाओंसे हर समय हमें कुछ-न-कुछ नयी जानकारी और अनुभूति मिलती ही रहती है। इस तरह हम जो कुछ बन पाते हैं, वह दूसरोंसे प्राप्त अनुभूतियोंके द्वारा ही और इस नाते हम असंख्य वस्तुओं और प्राणियोंके ऋणी हैं ही। जगत्‌की समस्त वस्तुएँ, घटनाएँ और प्राणीगण हमारे लिये एक Loan आफिस ही समझिये। जिनके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें हमें प्रतिफल मिल रही हैं। जिस ओर भी जायँ, जहाँ कहीं भी रहें, हम निरन्तर दूसरोंसे कुछ-न-कुछ पाते ही रहते हैं। प्रत्येक श्वासोच्छ्वासके साथ हम यह ऋण ग्रहण कर रहे हैं और बढ़ा रहे हैं।

(२) ऋण-परिशोधके लिये सेवा

जब तुम समस्त विश्वके आकण्ठ ऋणी हो तो जगत्‌की सेवाके द्वारा इस ऋणका परिशोध करते रहना तुम्हारा कर्त्तव्य हो जाता है। निष्कपट और निरहंकार मनसे तुम्हें जगत्‌की सेवामें अपनी समग्र शक्ति, बुद्धि और प्रतिभाको नियोजित कर देना चाहिये। यदि तुम किसीकी सेवा नहीं करते; उपकार नहीं करते, केवल अपना ही स्वार्थ-साधन कर रहे हो तो तुम्हारा ऋण कभी भी नहीं उतरेगा। किसीकी सेवा करके तुम उसका उपकार नहीं कर रहे हो; ऋणमुक्त होनेके रूपमें अपना ही उपकार कर रहे हो, इस बातको कभी न भूलकर जगत्‌की सेवामें अपनेको समर्पित कर दो।

(३) पुरुषार्थ

सेवाका मार्ग विकट है। उसके लिये प्रचण्ड उत्साहकी आवश्यकता है। भय और कष्टोंसे हताश होनेसे काम नहीं चलेगा। अदृष्टके ऊपर निर्भर न रहकर अपनी शक्तिपर विश्वास रक्खो। अच्छे कार्य करनेसे भविष्य उज्ज्वल है ही। हमारी भावीके निर्माता हम स्वयं हैं। अपने पुरुषार्थसे हम उसे बदल सकते हैं, जैसा चाहें बना सकते हैं, मृत्युको अमृतमें रूपान्तरित कर सकते हैं।

(४) उपासना-प्रार्थना कामनारहित हो

जब ईश्वर हमारे सुख और दुःख सभी बातोंको जाननेवाले हैं, तब हमें उनके समक्ष 'धन-दौलत दो, दुःख दूर करो' इत्यादि प्रार्थनाएँ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। हम जिस समय जो प्राप्त करनेके अधिकारी हैं, हमें वह निरन्तर मिल ही रहा है। हमें अपनी योग्यताको बढ़ाना चाहिये। जो चाहते हैं, उसके योग्य बन जानेपर वह स्वयं मिल जायगा, इसलिये हमें कामनारहित होकर उपासना करनी चाहिये। साधनाके बलपर ही हम जो चाहें प्राप्त कर सकेंगे।

(५) सेवककी सेवा

जिन व्यक्तियों और वस्तुओंको हम निम्न श्रेणीका मानते हैं, वे भी हमारी अनेक प्रकारकी सेवाएँ कर रही हैं। चमड़ेको हम अस्पृश्य मानते हैं और उसके द्वारा जूता बनानेवाले चमारको भी अस्पृश्य समझते हैं। पर वह चमड़ा हमारे पैरोंकी रक्षा करता है, स्वयं क्षत और आघात सहता है पर हमारे पैरोंको बचाता है। उस चमड़ेको पैरोंकी रक्षा करनेके उपयुक्त बनानेवाला वह चमार भी हमारी कितनी सेवा करता है। **हमारे पैरके नापसे चमड़ेको इस तरह सिलाई करता है कि जिससे उस चमड़ेकी सेवाकी क्षमता बढ़ जाती है। जो दूसरेकी सेवा करता है उसकी सेवा करना भी कम सौभाग्यकी बात नहीं है।** महापुरुषगण समस्त पृथ्वीके लाखों प्राणियोंकी सेवा करते हैं, जो साधारण व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं, पर वह साधारण व्यक्ति उस महामना पुरुषकी सेवा करके उनके सेवा-कार्यमें तो सहयोग दे ही सकता है। उसकी सेवाके द्वारा महापुरुषकी सेवाकी क्षमता बढ़ती है। वे जगत्‌का अधिक उपकार कर सकते हैं। इस तरह प्रत्यक्ष रूपमें जगत्‌की सेवा न करनेपर भी वह साधारणजन परोक्ष रूपमें जगत्‌के सेवककी सेवा करके जगत्‌की सेवाका ही भागीदार हो सकता है। अतः सेवानिरत व्यक्तिकी सेवा करो, उसे सहयोग दो। यह महान् लाभप्रद है।

(६) युवक वही, जिसमें उत्साह भरा हो

उम्रमें युवा होनेपर भी जिसका मन उत्साहसे भरा न हो, कार्य करनेमें उत्साह न हो तो वह युवा नहीं कहा जा सकता । तरुण व्यक्ति विघ्नोंको पारकर उन्नति-पथपर अग्रसर होता है । वह दूसरोंकी उन्नति देखकर ईर्ष्या नहीं करता । दूसरोंके पथमें रोड़े नहीं अटकाता । जो मनुष्य स्वयं स्वाधीन होना चाहता है, वह दूसरोंको पराधीन करना नहीं चाहेगा । तुम स्वयं सुखी–उन्नत बनो; पर दूसरे वैसे नहीं बन सकें; ऐसी इच्छा और प्रयत्न अन्याय है, अनाचार है । अपने विचारोंका प्रचार करते हुए दूसरेके विचारोंको प्रकाशित न होने देना उचित नहीं है । किसीकी स्वाधीनता-स्वतन्त्रतामें बाधक न बने ।

(७) साधनाके शत्रु

साधनाकी प्राथमिक अवस्थाका शत्रु है—'आलस्य' और परिणतावस्थाका शत्रु है—'अहङ्कार' । आलस्यसे साधनामें प्रवृत्ति ही नहीं होती और अहङ्कार आगे बढ़नेमें रुकावट डालता है । अभिमानके द्वारा उच्च स्थितिसे पतन हो जाता है । वह कहाँ जाकर गिरेगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहता ।

आलस्यके दमनका उपाय है उच्च आकाङ्क्षाको प्रबल करते रहना । इसी जीवनमें चरम उत्कर्ष और परम सत्य प्राप्त करना है, ऐसा दृढ़ संकल्प करनेसे आलस्य भाग जायगा; क्योंकि आलसी व्यक्तिके लिये उस संकल्पकी सिद्धि सम्भव नहीं । निरन्तर पुरुषार्थ करते रहनेसे ही वह उच्च आकाङ्क्षा पूर्ण हो सकेगी ।

अहङ्कारके दमनका उपाय है अपनेसे अधिक उन्नत व्यक्तियोंका ध्यान । साधारणतया हम जब अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक उल्लेखनीय विशेषता देखते हैं, तभी हमारेमें अहङ्कार आता है । जब हम अपनेसे अधिक गुणी व्यक्तियोंके जीवनपर दृष्टि डालेंगे, तभी हमारी अवनत स्थितिका सही भान होगा, अपने दोष और कमजोरियोंके सामने आते ही हमारा अभिमान चूर्ण हो जायगा । अभी हमें बहुत आगे बढ़ना है, उन महापुरुषोंकी तुलनामें हम बहुत ही नीचे हैं, अतः हमें उनके मार्गका अनुसरण कर अपनी कमजोरियोंको हटाना है । ऐसा अनुभव होगा ।

(८) नाम-जप

प्रतिदिन नियत समयपर की गयी जप-साधना अधिक लाभप्रद होती है । नाम-स्मरणके समय हमारा मन यह अनुभव करने लगे कि मैं जिनका नाम-स्मरण कर रहा हूँ, वे मेरे पास ही उपस्थित हैं । व्याकुल होकर आकुल प्राणसे उनके चरणोंमें समर्पित हो जाओ । नामके साथ रूपका अटूट सम्बन्ध है । रूपके भीतर नामका समावेश है और नामके भीतर रूपका । फिर भी नाम-स्मरणरूप जपका महत्त्व अधिक माना गया है ।

नाम-जपके समय मनको एकाग्र करनेके लिये भ्रूमध्यमें दृष्टि और चित्तको लगाओ । कानोंको नाम-जपकी ध्वनिमें एकाग्र कर दो, इसे बाहरकी और कोई ध्वनि सुनायी न दे । बुद्धिको लगाओ, जिसका नाम स्मरण कर रहे हो उसके अर्थचिन्तनमें । इससे संकल्प-विकल्प घटकर एकाग्रता प्राप्त होगी । तन्मयताके द्वारा ही रसानुभूति होती है ।

(९)

मनको हर समय भ्रूमध्यमें लगाये रक्खो । अन्य ओर जानेपर मनको पुनः टानकर फिर भ्रूमध्यमें स्थिर कर अविराम इष्ट नामका जप करना होगा । इष्ट नामकी उज्ज्वल मूर्तिका, कल्पना नेत्रसे भ्रूमध्यमें दर्शन करनेकी चेष्टा करो । क्रमशः तुम देखोगे कि तुम कल्पना ही नहीं कर रहे हो । उस अनिर्वचनीय रूपका प्रकाश होगा । हतोत्साह मत होओ । अभ्यासके द्वारा मन वशमें आ जायेगा । तब भ्रूमध्यमें देदीप्यमान ब्रह्मज्योति प्रकट होगी । भूत, भविष्य, वर्तमान तुम्हारे लिये करामलकवत् भासित होंगे ।

(१०) सत्सङ्ग

वर्तमानयुगके ब्रह्मचर्यको स्मरण रखना होगा । एक ओरसे भगवान्के साथ योग रखना होगा, दूसरी ओर भगवान्के द्वारा सृष्ट जीव-जगत्के साथ सेव्य-सेवक सम्बन्ध अटूटभावसे रखना होगा । भगवान्की पूजाके साथ पूजाके भगवान्के जीवोंको नहीं भूलना चाहिये । उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

परमात्मपरायणताका लक्षण है अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंको परमात्माकी ओर आकर्षित किया जाय । सत्संग ही भक्तिमार्गका सबसे बड़ा पाथेय है । सत्पुरुषोंकी कृपासे परम मङ्गल होता है ।

(११) ममताका विस्तार करो

जो माया-ममता आज आपको एक व्यक्तिके साथ

बाँध रही है, उस ममताको विस्तार करते जाइये । जब वह सब जीवोंके साथ फैल जायगी, तब वह बन्धन न होकर मुक्तिरूप हो जायगी ।

मैं केवल तुम्हारी ही मङ्गल कामना नहीं करता, तुम्हारे पड़ोसियोंकी भी सर्वाङ्गीण कुशलकामना आकुल प्राणसे करता हूँ । जिसके पड़ोसी सुखी नहीं, उसका सुख अत्यन्त क्षणस्थायी और दुर्बल है ।

तुम दुःख और सुखमें, सम्पद् और विपद्में, जय और पराजयमें, लाभ और हानिमें सदा सब अवस्थाओंमें अपनेको मनुष्यरूपमें परिचय देनेमें समर्थ होओ ।

(१२)

भावके लिये ही भाषा है । भाषाके लिये भाव नहीं । किसी भावको चाहे किसी भी भाषामें व्यक्त किया जाय, वहाँ भाषाकी प्रधानता नहीं, भावकी ही प्रधानता है । भाव अच्छा होना चाहिये । भाव सुन्दर होनेसे निकृष्ट भाषा भी उत्कृष्ट बन जाती है । ग्रामीण भाषामें अनुभूतिपूर्ण बातें कही जानेपर वे मन्त्रसे भी अधिक कार्यकारी होती हैं ।

मनुष्य यदि अकृतज्ञ नहीं होता तो अधिकांश संसारमें जो अशान्तिकी ज्वाला धधक रही है, वह नहीं पायी जाती; किंतु अहंमें प्रमत्त मनुष्यके लिये कृतज्ञताकी शिक्षा कौन दे ।

प्रशंसा, समर्थन, उत्साह, सहानुभूति, समवेदना आदि दूसरोंसे प्राप्त करनेकी आशा न कर तुम्हें अपने कर्तव्यमें ही आत्मप्रसादरूप संतोषका अनुभव करना चाहिये । यदि मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया और दूसरोंने प्रशंसा आदि नहीं की तो उसकी इच्छा मत करो । अनासक्त चित्तसे कर्तव्य पालन करते जाओ ।

देशका नामकरण

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अपने देशका नामकरण (भारतवर्ष) कैसे हुआ । वस्तुतः इसमें तनिक भी विवादका अवकाश नहीं है । स्वायम्भुव मनुसे ही मानवी सृष्टि प्रारम्भ हुई—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥

इनके ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत । उन्होंने रातमें भी प्रकाश रखनेकी इच्छासे ज्योतिर्मय रथद्वारा सात बार वसुधा-तलकी परिक्रमा की । इससे जो परिखाएँ बनीं, वे ही सप्तसिन्धु हुए । फिर उनके अन्तवर्ती क्षेत्र सात महाद्वीप हुए । ये क्रमसे पूर्व-पूर्वके द्विगुणित परिमाणके हैं । ये जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर नामसे प्रसिद्ध हैं तथा क्रमशः क्षारोद, इक्षुरस आदिसे घिरे हैं । परिमाणको देखते तथा क्षार समुद्रसे ही आवेष्टित होनेके कारण आजका पूर्ण भूगोल जम्बूद्वीप ही है । प्रियव्रतके दस[1] पुत्रोंमेंसे कवि, सवन और महावीर—इन तीनके विरक्त हो जानेके कारण शेष सात इन सात द्वीपोंके अधिपति हुए । इनमेंसे आग्नीध्र जम्बूद्वीपके, इध्मजिह्व प्लक्षके, यज्ञबाहु शाल्मलिद्वीपके, हिरण्यरेता कुशद्वीपके, घृतपृष्ठ क्रौञ्चद्वीपके, मेधातिथि शाकद्वीपके और वीतिहोत्र पुष्करद्वीपके अधिपति हुए । (देखिये देवीभागवत ८ । ४ । १–२८; श्रीमद्भा० ५ । १ । ३३; मार्कण्डेयपुराण ५३ । १५–१९; वायुपुराण ३३ । ३-७; वाराहपुराण ७४ ; कूर्मपुराण अ० ८, अ० ४० । ३०–४०; शिवपुराण, ज्ञानसंहिता ४७, स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड अ० ३१)

जम्बूद्वीपाधिपति आग्नीध्रके नौ पुत्र हुए । ये थे नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल । सम विभागके लिये जम्बू द्वीपको नौ भागोंमें बाँट दिया गया और इनके नामपर ही तत्तद्विभागोंके नामकरण हुए—

'आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बुद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ।'

(श्रीमद्भा० ५ । २ । २१, मार्कण्डेयपुराण ५३ । ३१–३५, वायुपुराण ३३ । ब्रह्माण्ड, कूर्मपुराण आदिके उपर्युक्त स्थल)

आठ वर्षोंके नाम तो किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष आदि ही पड़े, किंतु ज्येष्ठ पुत्रका भाग 'नाभि' से अजनाभ हुआ । नाभिके एक ही पुत्र ऋषभदेव थे, जो जैनधर्मके आदि तीर्थंकर माने जाते हैं । ऋषभदेवके एक सौ पुत्र हुए, जिनमें गुणोंमें श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ थे भरत । उनकी अत्यन्त लोकप्रियता तथा सद्गुणशालिताके कारण 'अजनाभवर्ष' से 'भारतवर्ष' चल पड़ा । इस सम्बन्धमें निम्न प्रमाण हैं ।

'अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।'

(श्रीमद्भा० ५ । ७ । ३)

१. प्रियव्रतकी तीन स्त्रियाँ थीं । ये दस पुत्र विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मती नामकी स्त्रीसे थे ।

'भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं
वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।'
(श्रीमद्भा० ५ । ४ । ९)

'तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥'
(श्रीमद्भा० ११ । २ । १७)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
(विष्णुपुराण २ । १ । २८;३२)

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात् तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।'
(वायुपुराण ३३ । ५२, ब्रह्माण्डपुराण २ । १४ । ६२)

ऋषभो मेरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ॥
(अग्निपुराण १०७ । ११-१२)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।
(मार्कण्डेयपुराण ५३ । ३८-४०)

नाभेः पुत्रात्तु ऋषभाद् भरतो चाभवत् ततः ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥
(नारसिंहपुराण ३०)

आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठ भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते ॥
(बृहन्नारदीयपुराण पूर्वभाग ४८ ।)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
भरताय यतः पित्रा दत्ता प्रातिष्ठता वनम् ।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
(कूर्मपुराण, ब्राह्मीसंहिता पूर्व० ४० । ४१)

दुष्यन्तपुत्र भरतके नामपर देशका नामकरण हुआ, यह पाश्चात्त्य अनुसंधान है । दुष्यन्तपुत्र भरत ६ मन्वन्तर ४२६ दिव्य युगोंके बाद हुए । इसके वर्ष पूर्व ही देशका नाम 'भारत' हो चुका था । हाँ, उनके नामपर क्षत्रियोंकी एक शाखा भरतवंशी अवश्य ख्यात हुई जिससे अर्जुन आदिको 'भारत' कहा गया है और वायुपुराणके तथा महाभारतके—

'......येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥
(आदि० ७४ । १३१)

—से स्पष्ट है । 'भारताः' शब्द बहुवचन है, अतएव बहुत मनुष्योंका वाचक है । कुल तो स्पष्ट है ही । अभिज्ञानशाकुन्तल या अन्य ग्रन्थमें भी शकुन्तलापुत्रपर देशका नामकरण होनेकी बात नहीं आयी । अतएव उपर्युक्त मत सर्वथा निर्विवाद है ।

भूल

(लेखक—श्रीव्रजलालरामजी चंदा राणा)

शहरमें एक बड़ी फर्मके मालिककी दूकानपर एक साधारण ग्रामीण व्यापारी आया । दूकानके मालिकने उसे गाँवसे आठ सेर असली घी भेज देनेको कहा और हाथपेटी खोलकर थैलीमेंसे दस-दस रुपयेके चार नोट देते हुए फिर कहा कि—'ये लो चालीस रुपये, कम-ज्यादा लगेगा तो फिर देख लिया जायगा ।' वह भाई बिना ही गिने नोटोंको जेबमें रखकर चला गया ।

लगभग बीस मिनट बाद उसने लौटकर दूकानके मालिकसे कहा—'बाबूजी ! दस रुपये कम हैं, ये तीस रुपये हैं । यहाँ मैंने नोट गिने नहीं, बाजारमें जरूरत पड़नेपर गिने तो दस रुपये कम हुए, आप जल्दीमें भूल गये ।'

दूकानमालिकने चश्मेके अंदरसे ऊपरकी ओर देखा तथा रोष एवं ऊबसे भरे शब्दोंमें कहा—'अरे भाई ! तुम्हारी भूल हुई होगी । कहीं नोट गिर पड़ा होगा । मेरे हाथसे शामतक हजारों रुपये आते-जाते हैं, कभी गिनतीमें भूल नहीं होती ।'

उसने कहा—'बाबूजी ! भूल तो हरेकसे होती है । गिनकर देख लीजिये न ।' यों कहकर उसने नोटवाला हाथ दूकानमालिकके सामने फैलाया ।

दूकान-मालिकका मिजाज काबूसे बाहर हो गया । उसने ग्रामीण व्यापारी भाईको नीचे उतारते हुए कहा—'अब गिनकर क्या करूँ ? अब तो तीस ही रुपये होंगे । मुझे बनाकर दस रुपये ऐंठना चाहते हो, यह नहीं होगा । चाहिये तो माँगकर ले जाओ ।'

क्या सचमुच बाबूजी आपसे भूल नहीं होती ? यों कहकर उसने स्वयं ही नोटोंके बीचसे तह किया हुआ दस रुपयेका एक नोट निकालकर दूकान-मालिकको देते हुए कहा—'लीजिये बाबूजी, आपकी भूल'.......,

दूकान-मालिक क्या बोलता ? देखता रह गया ।

—'अखण्ड आनन्द'

'मन नहीं लगता' क्यों ?

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

'भगवत्-भक्तिमें मन नहीं लगता'—यह अधिकांश साधकोंकी शिकायत है। यह अनुभव असत्य हो—ऐसी बात नहीं है। जिस समय भी हम कभी संध्या-उपासना-भजन करने बैठते हैं, उस समय मनकी चञ्चलता प्रतिक्षण बाधा डालती है। अर्जुन-जैसा शिष्य, साधक और भगवान्‌का प्रिय मनकी इस अस्थिरतासे बड़ा दुखी था। उसके सामने भी यह समस्या थी। इसीलिये गीतामें उसने भी यही प्रश्न किया—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् श्रीकृष्ण! मन बड़ा चञ्चल, बलवान्, मथ डालनेवाला और मजबूत है। ऐसे मनको वायुके बाँधनेके समान वशमें करना कठिन है।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनको संयमित किया जा सकता है।

अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें भी मनको संयमित करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यको ही साधनरूपसे कहा गया है। पर इन दोनों साधनोंका प्रयोग करनेसे पूर्व मनका स्वरूप और लक्षण जानना आवश्यक है, क्योंकि जबतक रोगका निदान और लक्षण पता न हो, तबतक चिकित्सा नहीं हो सकती। न्यायदर्शनमें मनका लक्षण किया गया है—

'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'

एक समयमें एक ही प्रकारके ज्ञानको प्राप्त कर सकना—यही मनका स्वरूप है। अब यह स्पष्ट हो गया कि यदि हम मनको काबूमें करना चाहते हैं तो उससे एक समयमें एक ही काम लेनेकी आदत डालें। इसीका नाम अभ्यास है। योगदर्शनमें अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।' (१।३२)

जिस समय मन इधर-उधर भटकने लगे, तब उसे किसी एक वस्तुपर—जो हमें अत्यन्त प्रिय और आह्लादजनक हो—टिकानेकी कोशिश करना चाहिये। प्रारम्भमें यह वस्तु भले ही कोई भौतिक और स्थूल हो, उसीपर अपने चित्तकी वृत्तियोंको केन्द्रित करना चाहिये। धीमे-धीमे और दैनिक अभ्याससे मनको भौतिकसे अभौतिक और स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वोंपर लगाना चाहिये।

इसके लिये वैराग्यकी भावनाको धारण और प्रबुद्ध करना चाहिये। योगदर्शनमें वैराग्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥' (१।१५)

ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा हम जिन विषयोंको जानते अथवा अनुभव करते हैं, उनमें किसी प्रकार भी तृष्णाकी भावनाका न होना और उनपर नियन्त्रण करना—इसीका नाम वैराग्य है। योगदर्शनमें कहा गया है कि इन उपायोंका अवलम्बन करनेमें तीन साधनोंका प्रयोग करना चाहिये—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' (१।१४)

भक्ति, उपासना और साधनाके अभ्यासकी भूमिको दृढ़ करनेके लिये जिन साधनोंका अवलम्बन किया जाय, वे लंबे-से-लंबे समयतक चलनेवाले हों, उनमें कभी नागा अथवा अवकाश न हो—लगातार चलनेवाले हों और तीसरी बात यह कि उपासक और साधककी उनमें सच्ची श्रद्धा हो। श्रद्धाकी भावना सर्वथा अनुपेक्षणीय है। श्रद्धासे साधकको अपनी साधनामें बल मिलता है, हृदयमें उत्साह आता है और आत्मामें आनन्दका अनुभव होता है। श्रद्धा होनेपर साधना अन्तर्मनसे होती है, समयको पूरा नहीं किया जाता या बला नहीं टाली जाती।

नौ अन्तराय

मनकी चञ्चलताको बढ़ानेवाले कुछ अन्य भी कारण हैं, जिन्हें योगदर्शनमें 'अन्तराय' नामसे कहा गया है। इनकी संख्या नौ है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ (१।३०)

१—व्याधि—शारीरिक रोग।

२—स्त्यान—साधनासे लाभ देखकर भी उस मार्गका अवलम्बन न कर सकना।

३–संशय—मनका सन्देहोंसे आवृत रहना ।

४–प्रमाद—लापरवाही

५–आलस्य—सुस्ती

६–अविरति—साधनोंमें प्रीति न करना ।

७–भ्रान्तिदर्शन—प्रतिकूल ज्ञान प्राप्त करना।

८–अलब्धभूमिकत्व—किसी लक्ष्य तक पहुँच न सकना ।

९–अनवस्थितचित्तत्व—किसी भी केन्द्रपर चित्तका न टिक सकना और उसका ढल जाना

चार सहायक अन्तराय

इन नौ अन्तरायोंके साथ चार अन्तराय और हैं, जिन्हें सहायक अन्तराय कहा गया है—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥

१–दुःख—मानसिक क्लेश ।

२–दौर्मनस्य—किसी इच्छाके पूरा न होनेपर चित्तमें क्षोभका होना ।

३–अङ्गमेजयत्व—अङ्गोंका हिलना-डुलना।

४–श्वासप्रश्वास—प्राणकी गतिका अव्यवस्थित रूपसे चलना ।

प्रतिपक्षभावनम्

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदिकी वृत्तियाँ चञ्चल मनमें उसी प्रकार लगातार उठती रहती हैं, जिस प्रकार सरोवरमें पत्थर फेंकनेसे लहरोंका चक्र चलता रहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तब इनमेंसे कोई एक वृत्ति जागकर बार-बार चित्तमें चाञ्चल्य पैदा करती है। हम उसे जितना ही दबाते हैं, वह उतनी ही अन्य मार्गोंसे भर आती है। इस प्रकारकी अवस्था होनेपर साधक घबरा जाता है और अपनेको पराजित और परेशान अनुभव करता है। उस समय चित्तको संयमित करनेका क्या उपाय है ? साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये, कभी अपनेको पराजित अनुभव नहीं करना चाहिये । इस प्रकारकी भावनासे तो कभी भी मनपर नियन्त्रण नहीं हो सकेगा ।

इस वृत्तिके निराकरणका उपाय क्या है ! योगदर्शनमें इसके लिये 'प्रतिपक्षभावनम्'—विपरीत चिन्तनका मार्ग बताया गया है। आजके मनोवैज्ञानिक इसे 'उलटा सोचना' (Opposite thinking) कहते हैं। यदि कामकी वृत्ति मनपर अधिकार किये बैठी है तो ऐसे किसी महापुरुषका चिन्तन करो, जिसने कामपर सर्वथा विजय प्राप्त की हो। क्रोधकी वृत्तिके भड़कनेपर किसी शान्त और अक्रोधी क्षमाशील महापुरुषका ध्यान करना चाहिये । इस प्रकारके विपरीत चिन्तनसे चित्तकी चञ्चलता अवश्य ही दूर होगी और मन एकाग्र होगा । यह अनुभवसिद्ध और कई साधकोंद्वारा व्यवहृत उपाय है ।

पञ्चदशीके चार उपाय

वेदान्तकी प्रसिद्ध पुस्तक पञ्चदशीमें मनोनिग्रहके सम्बन्धमें बड़े सुन्दर ढंगसे विचार किया गया है । द्वैतविवेक-प्रकरणमें निम्नाङ्कित श्लोक आता है, जिसमें चार उपाय बताये गये हैं—

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विधीयते ॥

आत्मज्ञानके मार्गको दोषरहित बुद्धिसे, एकान्त निवास करनेसे और अधिक-से-अधिक समय तक प्रणव 'ओंकार'का जप करनेसे मनपर संयम हो जाता है ।

इसी पञ्चदशीमें आगे कहा गया है—

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥

आचार्य वसिष्ठने श्रीरामको उपदेश देते हुए यह बताया कि इस प्रकार जब चित्त चञ्चलताप्रेरक वृत्तियोंसे रहित हो जाता है, तब मन गूँगेके समान शान्त हो जाता है और आत्मा आनन्दका अनुभव करता है ।

अन्न और मन

मनकी चञ्चलतामें अन्नका बड़ा प्रभाव होता है। हमारे शरीरमें पाँच कोष माने गये हैं (१) अन्नमय कोष, (२) मनोमय कोष, (३) प्राणमय कोष, (४) विज्ञानमय कोष और (५) आनन्दमय कोष। अन्नका प्रभाव मनपर तत्काल पड़ता है। इसलिये यदि हम चञ्चल और उद्धत मनकी भाग-दौड़से बचना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले अपने भोजनपर नियन्त्रण और संयम करना चाहिये। इसीलिये गाँधीजी प्रायः पाँच यमोंके साथ एक छठा यम 'रसनानिग्रह' जोड़ा करते थे और कहा करते थे कि बिना रसना-निग्रहके ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं हो सकता । साधकका भोजन जहाँ शुद्ध सात्त्विक

और संयमित हो, वहाँ साथ ही स्वल्प भी हो। लड्डू बैलकी तरह थालियाँ भर-भरकर तले हुए पक्वान्न और मिर्च-मसालोंसे युक्त गरिष्ठ, उत्तेजक और मद्य-मांसादिका सेवन करनेवाले चटोरे सात जन्ममें भी साधनाके मार्गके अधिकारी नहीं बन सकते। इसीलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहारकी शुद्धिसे मनकी शुद्धि प्राप्त होती है।

आजके तथाकथित सामाजिक जीवनमें आहारकी शुद्धि, सात्त्विकता और स्वल्पतापर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इन नियमोंका पालन करनेवालोंको ढोंगी, बेवकूफ, असभ्य और असामाजिक समझा जाता है। साधकको 'दुनिया क्या कहती है?' इसकी चिन्ता न करते हुए पूर्ण निष्ठा और सतत भावसे अपने साधनमार्गपर आरूढ़ रहना चाहिये। प्रभु-अनुकम्पासे उसे अवश्य सफलता मिलेगी।

योगिनीकी यात्रा

(लेखक—श्रीरघुनन्दनजी पालीवाल)

बहुत दिनोंतक धूनी रमाते और अपने इष्ट-देवकी आराधना करते योगिनी अकुला उठी। प्रत्येक दिवस चित्तको एकाग्रकर आसन लगाकर बैठती—घंटों अपनी दुःख-कहानी बखानती, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी करुणगिरा प्राणनाथके कानोंतक नहीं पहुँची, उसके प्रेमकी अग्निसे उनका हृदय नहीं पसीजा।

योगिनी उठ खड़ी हुई। न यह पता कि कहाँ जाना है, न यह सुधि कि मार्गमें किन-किन वस्तुओं-की आवश्यकता होगी। तनपर एक भगवा मोटी धोती, जिसके एक कोनेमें थोड़े-से फूल बँधे हुए, हाथमें जल-का भरा हुआ लोटा! सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व अपनी कुटीकी सब वस्तुओंको उसी प्रकार छोड़ नंगे पाँव वह चल पड़ी। पहर भर दिन चढ़ते-चढ़ते बहुत दूर पहुँच गयी। जब एक गाँवके पास पहुँची, तब एक मनुष्यने, जो सामनेसे जा रहा था, झुककर प्रणाम किया और पूछा—

माईजी! आज कहाँ जानेका विचार है?

योगिनी—भाई! मैं प्राणनाथके मन्दिरमें फूल और जल चढ़ाने जा रही हूँ।

मनुष्य—यह किस स्थानका पवित्र जल है?

योगिनी—चक्षु-धामके पास प्रेमाश्रु-सरोवर है, यह जल उसीका है।

मनुष्य—और ये सुगन्धमय पुष्प?

योगिनी—हृदय-ग्रामके पास एक बड़ा प्राचीन वृक्ष है, उसे प्रेम-पादप कहते हैं; ये उसीके कुछ मधुरगन्ध पुष्प हैं।

मनुष्य—और माई! आपके उन प्राणनाथका मन्दिर कहाँ है? मेरा सविनय निवेदन है कि आप मुझे भी अपने साथ ले चलें।

योगिनी—मुझे स्वयं पता नहीं वह मन्दिर कहाँ है। इतना अवश्य सुना है कि उसका रास्ता इतना कठिन और भयंकर है कि कोई पुरुष वहाँ नहीं जा सकता।

मनुष्य—अच्छा माई! यहींसे तुम्हारे लिये प्रार्थना करूँगा।

योगिनी आगे चल पड़ी। रास्ता एक घने जंगलमें चला गया था, थोड़ी दूर जाकर एक संकुचित पगडंडी ही रह गयी। दोनों ओर काँटोंकी बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ थीं, जिनके काँटे टूट-टूटकर राहमें बिखर गये थे। आगे चलकर मार्गमें भी छोटी-छोटी झाड़ियाँ आने लगी। योगिनी बराबर चली जा रही थी। काँटे पद-पदपर उसके पाँवमें चुभे जाते थे। जब पीड़ाके कारण चला न जाता, तब योगिनी बैठ जाती और जितने काँटे निकाल सकती, निकाल देती और फिर आगे चल

पड़ती थी। रात-दिन इसी प्रकार चलती रही। पाँव छिदकर चलनी हो गये, प्रत्येक पदमें भूमिपर रक्तकी छाप लगने लगी। काँटे आप ही लगने और निकलने लगे। योगिनी अपनी धुनकी पक्की थी। उसको प्राणनाथ-के मन्दिरमें जाना था। कई दिन-रात इसी प्रकार चलती रही। खानेके नाम एक खील भी मुँहमें नहीं गयी। प्यास बुझानेके हेतु एक जलबिंदु भी मुखमें नहीं पड़ा। केवल एक आशा-लताके सहारे बेचारी काँटोंसे छिदे हुए पैरोंको उठाये आगे बढ़ी जा रही थी। प्रकृति देवी-का ऋणी कबतक चल सकता है ? प्याससे व्याकुल हो उठी ! पैर उठाना असम्भव हो गया। पगडंडीके एक किनारे गिर पड़ी और प्रेम-पीड़ित हृदयको किसी प्रकार सँभालकर मृत्युकी राह देखने लगी।

मृत्यु न आयी ! बाट देखनेपर वह आया ही कब करती है ? वह तो उन्हींका पल्ला पकड़ती है जो उससे दूर भागते हैं। हाँ ! आया। कौन है ? सिरपर पानीका घड़ा रक्खे ? एक पुरुष ! योगिनीने उसे देखा और अपनी रही-सही चेतनाको सँभालकर उससे थोड़े-से जलके लिये प्रार्थना की। उस आदमीने पूछा—तू कौन है ? इस निर्जन स्थानमें अकेली किस लिये आयी है ?

योगिनी—भाई ! मैं यात्री हूँ। प्राणनाथके मन्दिर-को जा रही हूँ। प्याससे विकल हूँ, पैर नहीं उठता। यदि थोड़ा-सा जल दोगे तो तुम्हारा महान् कल्याण होगा।

पुरुष—तुम्हारे लोटेमें तो जल भरा है। उसमेंसे थोड़ा-सा क्यों नहीं पी लेती ?

योगिनी—वह जल तो मुझे मन्दिरमें चढ़ाना है। उसको अपने प्राण बचानेके लिये भी पीना महापाप है।

पुरुष—अरी पगली ! इन बातोंमें क्या रक्खा है ? और कहींसे लोटा भर लेना, प्राणनाथ क्या देखने आते हैं। यह जल और फूल मुझे दे दे, मैं तुझे पानी पीने-को दे दूँगा।

योगिनीके हृदयमें इस पुरुषकी ओरसे एक प्रकारकी घृणा उत्पन्न हो गयी। वह चुप हो गयी। योगिनीको चुप देखकर वह पुरुष बोला—'देख, मेरा कहना मान, नहीं तो मर जायगी।' योगिनी—'ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम अपना रास्ता लो। मुझे मर जाना स्वीकार है।' निर्मम पुरुष चला गया। योगिनीने आँखें बंद कर लीं और मृत्युकी प्रतीक्षा करने लगी। आकाशमें एक छोटा-सा बादलका टुकड़ा आया। उसका हृदय दयाके अमृतसे भरा था। प्राणनाथके यात्रीके साथ एक सांसारिक पुरुषका यह क्रूर बर्ताव देख उसका हृदय फट पड़ा, अमृत-वर्षा होने लगी। योगिनी फिर सजीव हो गयी और ईश्वरको धन्यवाद देती एवं प्रेमकी माला जपती हुई आगे बढ़ी। पाँच-छः दिन चलनेके पश्चात् वह जंगलके दूसरे किनारेपर पहुँच गयी। समझी थी कि जंगल समाप्त होनेपर मन्दिर दिखायी पड़ेगा, किंतु यहाँ उसका कोई चिह्न भी नहीं था। काँटेदार वन समाप्त हो गया, किंतु उसकी आशा-लतामें कली अङ्कुरित न हुई। रास्ता एक बड़े निर्जन तरुहीन रेतीले मैदानमें चला गया। योगिनी उसीपर हो ली। चारों ओर रेत-ही-रेत थी; धूप ऐसी कड़ाकेकी थी कि भूमि अंगारेके समान तप रही थी। छायाका कहीं पता नहीं था। हाँ ! यदि थोड़ी-सी कहीं थी तो रेतीले टीलोंकी जड़में। चर और अचर दोनों ही नहीं थे। योगिनी चली जा रही थी। तलवेके छाले पग-पगपर फूटने लगे। छालोंका पानी निकलकर जलती हुई रेतको ठंडा कर देता था। इन छालोंके पड़ने और फूटनेमें योगिनीको यही एक सुख था। कई दिन-रात इसी प्रकार चलते-चलते भूख और प्याससे आतुर होकर वह एक दिन दोपहरके समय एक रेतके टीलेकी आड़में बैठ गयी। थोड़ी देर भी विश्राम न कर पायी थी कि पाँच लंबे-चौड़े मनुष्योंने, जिनके हाथोंमें बड़ी-बड़ी भालेदार लाठियाँ थीं, आकर घेर लिया। आपसमें कहने लगे—'देखो यह स्त्री बिना कर दिये ही हमारे देशमें चली आयी।' योगिनी भौंचक्की-सी रह गयी।

एक मनुष्य–'क्यों री ! तूने कर क्यों नहीं दिया ?'

योगिनी–भाई ! मैं न कर जानती हूँ, न तुम्हें । तुम मुझ दुखियाके पीछे क्यों पड़े हो ? दूसरा मनुष्य—हम यमके दूत हैं । यह देश हमारा है । किसी स्त्रीको कर दिये बिना इस देशमें आनेकी आज्ञा नहीं है ।

योगिनी–भाई ! मेरे पास है ही क्या जो कर मैं दे दूँ ! हृदय भी अपना नहीं है, केवल एक दु:ख-रञ्जित और अश्रुसिञ्चित शरीर है, इसे तुम ले लो । तीसरा मनुष्य—और यह जल और फूल ?' योगिनी—ये तो प्राणनाथके मन्दिरमें चढ़ानेके लिये हैं । चौथा मनुष्य—'इन्हें करमें क्यों नहीं दे देती ?' योगिनी—'ऐसा कदापि नहीं हो सकता ।' पाँचवाँ मनुष्य—'तो हम तुझे यमराजके दरबारमें ले चलेंगे ।' योगिनी—'तुम्हारी इच्छा ।'

उन लोगोंने योगिनीको पकड़ लिया और यमराजके दरबारमें खींचते हुए ले गये । और भी बहुत-से अपराधी वहाँ उपस्थित थे । जब योगिनीकी बारी आयी, तब यमराजने दूतोंसे पूछा कि 'इसका क्या अपराध है ?' दूतोंने उत्तर दिया, 'महाराज ! इसने कर नहीं दिया ।' यमराजने योगिनीकी ओर देखकर पूछा—'क्या ये सत्य कहते हैं ?'

योगिनी–हाँ, महाराज ! सत्य कहते हैं । यमराजने क्रुद्ध होकर पूछा—'तेरा नाम ?' योगिनी—'प्रेमकी योगिनी ।' यम—'क्या काम करती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथकी खोजमें भटक रही हूँ; उनके पास पहुँचकर रहूँगी ।' यम—'क्या खाती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथके ध्यानका अमर फल !' यम—'क्या पीती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथकी स्मृति-सुधा !' यम—'तुम्हारे हाथके लोटेमें क्या है और ये सुगन्धित पुष्प कहाँके हैं ?' योगिनी—'जल प्रेमाश्रु-सरोवरका है और पुष्प प्रेम-विटपके ।' यमराज कुछ घबराये, पूछा—'योगिनी ! इनको क्या करेगी ?' योगिनी—'प्राणनाथके मन्दिरमें जाकर उनके चरणोंमें चढ़ाऊँगी !'

यमराज सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए । योगिनीको नमस्कार किया उन्होंने और उससे क्षमा माँगी । फिर अपने दूतोंकी ओर फिरकर कहा—'देखो ! अबसे यदि तुमने प्रभु-प्रेमके यात्रियोंसे कर माँगा या उनको किसी प्रकारका कष्ट दिया तो तुम्हारे प्राणोंकी आहुति दूँगा । जाओ, योगिनीको तुरंत मन्दिरके पास पहुँचा आओ ।'

दूतोंने भूमिपर सिर रखकर प्रणाम किया और बात-की-बातमें योगिनीको प्राणनाथके मन्दिरके समीप पहुँचा दिया ।

कैसा रमणीक स्थान था । चारों ओर शान्ति-ही-शान्ति थी । दिव्य वृक्षों और लताओंकी डालियाँ फूलों और फलोंके बोझसे झुकी पड़ती थीं, अनेक प्रकारकी मधुर मनोरम सुगन्ध वायुमण्डलमें फैल रही थी, रंग-बिरंगी चिड़ियाँ एक डालीसे दूसरी डालीपर और एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर उड़ रही थीं तथा अपनी मधुर स्वर-लहरीसे इस स्थानको स्वर्गसे बढ़कर बना रही थीं । सुखद सुगन्धमय समीर कलियों और हृदयोंको खिलाता हुआ बह रहा था । इस मनोरम स्थानके बीचमें एक सुन्दर दिव्य स्वर्णमन्दिर था । योगिनी अपने पैरोंकी पीड़ा, शरीरकी थकान, भूख और प्यास सब भूल गयी । बड़े उल्लाससे वह मन्दिरकी सीढ़ियों तक गयी । द्वार बंद था । पुजारीने कहा—'योगिनी ! अब विश्राम करो ! सायंकालको मन्दिरका द्वार खुलेगा ।'

योगिनीने पास बहती हुई सरितामें स्नान किया । फिर थकी हुई तो थी ही, एक घने वृक्षकी छायामें पड़कर सो गयी । जब आँख खुली, तब रात हो गयी थी । तारागण आकाशमण्डलमें चमक रहे थे । चन्द्रमा अस्त होनेवाले थे । योगिनी मन्दिरके द्वारपर गयी ।

पुजारीने कहा—'योगिनी ! द्वार खुला था, किंतु बंद हो गया । तुम देरसे आयी ।' योगिनी—'पुजारीजी ! अब कब खुलेगा ?'

पुजारी—कुछ पता नहीं कब और किस समय खुलेगा । यह महाराजकी इच्छापर अवलम्बित है ।

योगिनी लौट आयी । उसने एक पेड़के नीचे धूनी रमा दी । दिन-रात प्राणनाथके नामकी माला जपने लगी । प्रत्येक क्षण मन्दिरके द्वारपर ही दृष्टि टकराती थी । इसी प्रकार प्रतीक्षा करते-करते तीन दिन बीत गये । तीसरे दिवसका दो पहर ढल गया, धूप मध्यम पड़ गयी, ठण्डी शान्तिमय हवा चलने लगी । माला योगिनीके हाथसे गिर पड़ी । दृष्टि मन्दिरकी चौखटसे सिमटकर आँखोंमें समा गयी । ऊपरकी पलकें भारी होकर नीचेकी पलकोंपर आ गिरीं । यह दशा कितनी देर रही, इसका पता नहीं । हाँ, जब आँख खुली तो देखा कि पुजारी सीढ़ियोंसे नीचे उतर रहे थे । माथा ठनका, घबराकर पूछा—'पुजारीजी ! क्या समाचार है ?'

पुजारी—'द्वार खुला था । यात्रियोंने दर्शन किये फिर बंद हो गया । तुम सोती ही रही ।' योगिनी अकुला उठी । उसे वाटिकाके फूल काँटोंके समान आँखोंमें पड़ने लगे । पक्षियोंका राग हृदयमें अनिर्व[illegible] वेदना उत्पन्न करने लगा । मन्द-मन्द वायु [illegible] समान चुभने लगा । योगिनीने प्राणनाथसे कहा—[illegible] आकुलता, अभी अधूरी है, वही मुझे जिला रही [illegible] पर अब ऐसा नहीं है । अब तो आकुलता सी[illegible] पहुँच चुकी है । अब तो दर्शन देने ही होंगे ।'

बस यों, आकुल पुकार करते-करते सायंकाल [illegible] चला । वृद्ध सूर्य पश्चिमकी पहाड़ियोंकी आड़में [illegible] होने लगा । योगिनीका निस्तेज शरीर आशा-निरा[illegible] डोलने लगा । संध्यामें रात्रिका परिमाण अधिक [illegible] लगा । एक ठंडी हवाका झोंका मन्दिरकी ओरसे आ[illegible] तदनन्तर एक मधुर रागकी तान । मन्दिरका [illegible] खुला, योगिनीकी जानमें जान आयी । वह उठ [illegible] हुई । जल और फूल लिये हुए मन्दिरके अंदर ग[illegible] सब यात्रियोंके पश्चात् अश्रुजलसे प्राणनाथके [illegible] कमलोंको धोकर प्रेम-वृक्षके फूल चढ़ाये । प्राणना[illegible] समाधि टूटी । आँखें खुलीं और मधुर मुसकानकी [illegible] छा गयी । फिर तो योगिनी प्राणनाथके बाहुपाशमें [illegible] और उनके हृदयसे चिपटी थी । प्राणनाथ ! प्राणना[illegible] प्राण है कि प्राणनाथ, कुछ पता नहीं ।

हम लोगोंके हृदयमें तो

धन्यानां हृदि भासतां गिरिवरप्रत्यग्रकुञ्जौकसां सत्यानन्दरसं विकारविभवव्यावर्तमन्तर्महः ।
अस्माकं किल वल्लवीरतिरसो वृन्दाटवीलालसो गोपः कोऽपि महेन्द्रनीलरुचिरश्चित्ते मुहुः क्रीडतु ॥
ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा ।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरस्मेरवक्त्रारविन्दो मेघश्यामः कनकपरिधिपङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥

श्रेष्ठ पर्वतके विशुद्ध कुञ्जमें निवास करनेवाले धन्य पुरुषोंके हृदयमें विकार-विभव-रहित अन्तरका उत[illegible] सत्यानन्द-रस प्रकाशित हो । परंतु हम लोगोंके हृदयमें तो निश्चय ही गोपीरतिरसरूप वृन्दावनविलासी इन्द्रनीलकान्ति[illegible] कोई गोप (बालक) सदा सर्वदा खेलता रहे ।

जो ध्यानातीत परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयविवरमें शुद्ध चिन्मात्र आत्मा स्थित रहे, परंतु हम लो[illegible] हृदयमें तो वह स्वभावतः मधुर, मुसकानभरे मुखकमलवाले, घनश्याम, पीताम्बर कमलनयन आत्मा विराजित रहें ।

'आण्डाळ्' का 'तिरुप्पावै'

(लेखक—श्री पि० ह० शिवसुब्रह्मण्यम् 'तेनी')

भूमिका

विभूति-विस्तारका विश्लेषण करते हुए श्रीगीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'। सालके बारह महीनोंमें धनुर्मासकी प्रमुख विशेषता होती है। दक्षिण भारतके सभी वैष्णवमन्दिरोंमें इसी महीनेमें सायं-प्रातः विशेष पूजाएँ और उत्सव हुआ करते हैं। मनुष्यमात्रके निःश्रेयस्के हेतु भूदेवीने प्रसिद्ध विष्णुभक्ता 'आण्डाळ्' के रूपमें अवतार लिया था। उसने 'तिरुप्पावै' नामक माधुर्यभावपूर्ण उत्तम ग्रन्थकी रचना तमिळ् भाषामें की थी। मनुष्यजाति सन्मार्गका आश्रय ले और उसके द्वारा अपने जन्मकी सफलता प्राप्त करे, यही उसके इस ग्रन्थका लक्ष्य था। इस ग्रन्थरत्नमें तीस उत्तमोत्तम पद हैं। प्रत्येक पदमें माधुर्यभाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। आण्डाळ्ने श्रीरंगनाथजीको ही अपना पति चुन लिया था। उन्हें प्राप्त करनेकी उत्कट और उद्दाम इच्छा उसके नस-नसमें व्याप्त थी। गोकुलकी गोपकन्याओंने श्रीकृष्णचन्द्रको अपना पति मानते हुए अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त धनुर्मासमें कात्यायनी-व्रतका आचरण किया था, जिसका विवरण हमें श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकोंसे मिलता है—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥

(१० । २२ । १, ६, २, ५)

इसीसे मिलते-जुलते व्रतका विशद वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है। 'तिरु' शब्दका अर्थ है 'श्री' और वह यहाँ विशेषणार्थक है। 'श्रीमद्रामायणम्' की तरह भक्ति, आदर तथा श्रद्धाकी भावना प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त यह शब्द है। 'पावै' का मतलब 'व्रत' है जिसे तमिळभाषामें 'नोन्बु' भी कहते हैं। आण्डाळ् अपनेको वृष्णिकन्या, अपने जन्मस्थान 'श्रीविल्लिपुत्तूर' को गोकुल तथा श्रीरंगनाथजीको व्रजराज मानती हुई उपर्युक्त व्रतका आचरण करनेमें सन्नद्ध होती है। अपनी सखी-सहेलियोंको सम्बोधन करती हुई अपने प्रियतम श्रीमोहनचन्द्र नटवरका गुणगान इस ग्रन्थमें करती जाती है, जो पढ़ते और गाते ही बनता है।

आण्डाळ्की जीवनी

कलियुगका प्रारम्भ होते ही अधर्मका सिर उठने लगा और धर्मकी ग्लानि होने लगी। धर्मरक्षकको अपनी प्रतिज्ञा निभानेकी आवश्यकता पड़ी। अतः उसी जगद्रक्षकके शंख आदि बारह अंश* बारह आळ्वारोंके रूपमें

* आळ्वारोंका नाम	अवतारांश	दिव्यप्रबंधम् उनमें संकलित उनके पद
(१) पॉय्कै आळ्वार्	पांचजन्य	१००
(२) पूतत् ताळ्वार्	गदा	१००
(३) पेयाळ्वार्	खड्ग	१००
(४) तिरुमलिशै आळ्वार्	चक्र	२१६
(५) नम्माळ्वार्	सेनापति	१२९६

(वैष्णव-संतोंके रूपमें) प्रकट हुए । भूदेवी स्वयं आण्डाळ्के रूपमें अवतीर्ण हुई । इन सबका जन्मस्थान तमिळ्नाडु था । इन बारह आळ्वारोंमें 'पॅरियाळ्वार'का विशिष्ट स्थान है । मद्रास प्रान्तके श्रीविल्लिपुत्तूर क्षेत्रमें इनका आविर्भाव हुआ था । बचपनसे ही श्रीरंगनाथजीकी भक्ति तथा सेवा करनेमें ये अपने दिन बिताने लगे । कहते हैं कि इन्होंने वहाँ एक पुष्पवाटिका लगायी थी और प्रतिदिन सुन्दर सुगन्धयुक्त फूलोंकी माला गूँथकर उस क्षेत्रके विष्णु भगवान्‌को सजाते रहते थे । 'अलंकारप्रियो विष्णुः' । आषाढ़ महीनेकी पूर्वाफाल्गुनीके दिन प्रातःकाल ये अपनी वाटिकामें तुलसीके पौधोंको सींच रहे थे कि एकाएक अपने सामने इनको एक अत्यन्त तेजस्विनी सुकुमार शिशु-कन्या दिखायी पड़ी । इनके आनन्दकी सीमा न रही । उसी क्षण उस कन्याको अपनी गोदमें ले लिया । उस कन्याका नाम 'गोदा' (भूमिकी ओरसे दी हुई) रक्खा गया । व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे गोदा शब्द तमिळ् भाषामें मालार्थक भी है । सुन्दरता तथा मृदुतामें यह कन्या पुष्पमालाके समान थी । यही गोदा आगे चलकर प्रसिद्ध वैष्णव भक्ता 'आण्डाल्'के नामसे प्रख्यात हुई । अर्थात् 'श्रीरंगनाथजीके विशुद्ध प्रेममें तल्लीन हुई' अथवा 'जिसने अपनी एकाग्र तपस्याके बलपर उस परम पुरुषको वशीभूत कर लिया ।'

बचपनमें गोदा श्रीरंगनाथजीके अनुपम सौन्दर्यपर मुग्ध होती थी और भगवान् विष्णुके सभी अवतारोंकी कथाएँ तथा लीलाएँ श्रद्धापूर्वक सुना करती थी। श्रीकृष्णकी लीलाओंका उसके मनपर असाधारण प्रभाव पड़ा । वह वाटिकाके फूलोंकी माला गूँथती, अन्त में मोहनकी अर्चना करती तथा त्रिकर्णोंसे उसकी ... करती थी । आगे चलकर यही भक्तिविशुद्ध दाम्पत्य ... परिणत होने लगी । किशोरी गोदाका एकमात्र ... श्रीरंगनाथजीको अपना पति बनाना था । मीराँकी ... इसका प्रेम अटल और सर्वाङ्गीण था । श्रीरंगनाथजी ... गुणगान और उनकी गरिमाका सतत चिन्तन और कीर्तन ही उसकी दिनचर्या हो गयी ।

> 'संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई।
> अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई ॥'

यही हाल गोदाका भी था । गोदाके मनमें कभी-कभी यह ख्याल आया करता था कि मैं उस 'मोहिनि मूरति साँवरि सूरति' और 'वनमाली' की उपयुक्त प्रेयसी ... नहीं हूँ । वह अपनी सुन्दरता आँकनेके लिये ... मालाको पहनकर अपना सौन्दर्य निहारती थी, जिसे उसके पिता श्रीरंगनाथजीको समर्पित करनेके लिये गूँथकर रखते थे । एक दिन यह घटना पॅरियाळ्वारने देख ली। वे बड़े दुखी हुए । इस अनजान अपचारके लिये ... सच्चे हृदयसे श्रीरंगनाथकी क्षमा-प्रार्थना करने लगे। किंतु 'हम भक्तनके, भक्त हमारे' वाले भगवान्‌के लिये यही क्रिया विशेष आनन्दजनक थी । शबरीके बेरोंका स्वाद भूला न था । अतएव पॅरियाळ्वार्को ...

(६) कुलशेखराळ्वार्	कौस्तुभ	१०५
(७) पॅरियाळ्वार	गरुड	४७३
(८) तॉण्डवडिप्पॉडियाळ्वार्	वनमाला	५५
(९) तिरुप्पाणाळ्वार्	श्रीवत्स	१०
(१०) तिरुमङ्गैयाळ्वार्	सारङ्ग	१२५३
(११) मधुरकवि आळ्वार्	वैनतेय	११
(१२) आण्डाळ्	भूदेवी	१७३

नालायिर दिव्यप्रबन्धम्‌के कुल पद ४०००

दर्शन देकर भगवान्ने सान्त्वना दी और कहा कि 'गोदाकी पहनी हुई माला मुझे बहुत प्यारी लगती है ।' इसी कारण गोदा 'चूडिक्कॉडुत्त् नाचियार' (जिस देवीने स्वयं पहनी हुई माला परम पुरुषको पहनायी थी) के नामसे प्रसिद्ध हुई ।

चढ़ती जवानीमें गोदाके प्रेमने तीव्र और एकाग्र रूप धारण कर लिया । उसका पक्का इरादा हो गया कि जिस तरह गोपिकाओंने सब कुछ त्यागकर श्रीकृष्णचन्द्रके ध्यान और रास-लीलामें अपना जीवन लगा दिया, उसी तरह मुझे भी तन्मय हो जाना चाहिये, तभी अपने जीवनका उद्देश्य सफल हो सकता है । वह स्वयं अपनेको गोपिका मानती और उन्हीं रासलीलाओंकी यादमें पुलकित होती और सुध-बुध खो बैठती थी । उसके मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गयी कि गोपिकाओंने कात्यायनी-व्रतका आचरण किया था और वेणुगोपालको पतिके रूपमें पाया था । गोदाने भी उसी व्रतका आचरण और फल-प्राप्तिका वर्णन करते हुए 'तिरुप्पावै' की रचना कर डाली ।

कुछ दिनोंके उपरान्त जब पॅरियाळ्वार् गोदाके विवाहकी चिन्ता करने लगे, तब उसने स्पष्टतः अपने मनकी बात कह दी कि मैं नश्वर मनुष्यकी पत्नी नहीं बन सकती, मैंने तो उस 'अविनाशी' को ही वर लिया है और 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' । उसी दिन रातको श्रीरंगनाथजीने स्वप्नमें पॅरियाळ्वार्को यह आदेश दिया कि तुम गोदाको लेकर श्रीरंगम् (यह प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्र तिरुच्चिरापल्लीके पास कावेरी नदीके तटपर बसा हुआ है) पहुँच जाओ और वहीं हम गोदासे विवाह कर लेंगे ।' कहा जाता है कि तदनुसार पॅरियाळ्वार् गोदाको लेकर श्रीरंगम्के मन्दिरमें जा पहुँचे और वहीं श्रीरंगनाथजीके साथ गोदाका पाणिग्रहण भी सम्पन्न हुआ । आज भी दक्षिणके सभी वैष्णव मन्दिरोंमें धनुर्मासके तीसवें दिन आण्डाळ्-श्रीरंगनाथ-विवाहोत्सव बड़ी धूम-धामसे मनाया जाता है ।

श्रीभट्टजी, जो एक पहुँचे हुए वैष्णव संत हो गये हैं, आण्डाळ्के प्रति अपनी श्रद्धा यों व्यक्त करते हैं—

नीळातुंगस्तनगिरितटीसुप्तमुद्बोध्य कृष्णं
पारार्थ्यं स्वं श्रुतिशतशिरस्सिद्धमध्यापयन्ती।
स्वोच्छिष्टायां स्रजि निगलितं या बलात्कृत्य भुङ्क्ते
गोदा तस्यै नम इदमिदं भूय एवास्तु भूयः॥

तिरुप्पावैकी सारगर्भिता तथा तत्त्वार्थपूर्णतापर प्रकाश डालते हुए विष्णुभक्त श्रीउय्यक्कॉण्डार्का यह पद भी ध्यान देने योग्य है—

'अन्नवयर् पुदुवै याण्डा ळरङ्गरकुप्
पन्नु तिरुपपावैप् पल पतिकम्—
इन्निशैयाल पाडिक् कॉडुत्ताळ् नर्पामालै
पूमालै चूडिक कॉडुत्ताळैच चॉल ॥

भावार्थ—**भक्तिपूर्वक** उस गोदा देवीका नाम जपा करो, जिसने हंससंचारके योग्य हरे-भरे क्षेत्रोंसे परिवृत श्रीविल्लीपुत्तूरमें जन्म लिया था, जिसने गूढार्थपूर्ण रागिनीरञ्जित त्रिंशत्पद्योंके 'तिरुप्पावै, ग्रन्थकी रचना की थी तथा जिसने अपने गलेकी वनमालाकी उतरन श्रीरंगनाथजीको पहनायी थी । (क्रमशः)

[**संकेतसूची—**

र् = यह रेफका महाप्राण है। इसका उच्चारण करीब-करीब 'ट्र'के समान होता है ।
ळ = मराठी और संस्कृतके इस अक्षरका उपयोग तमिळ् भाषामें होता है । वही उच्चारण है ।
ऴ = यह वर्त्स्य वर्ण तमिळ् भाषाका अपना विलक्षण अक्षर है । इसका उच्चारण 'ळ' और 'ष'के बीचका है ।
ॲ; ऑ = ये दोनों क्रमशः एकार और ओकारके ह्रस्व रूप हैं ।
इसके अतिरिक्त तमिळ भाषामें संयुक्त व्यञ्जनोंका प्रयोग नहीं है । ऐसी जगह व्यञ्जनोंसे ही काम चल जाता है । आगेके पदोंमें ऐसा ही प्रयोग हिंदीके उल्थेमें किया जा रहा है । ले०]

सती दाड़ल दे

(लेखक—श्रीआणंदजी कालीदास बाघेला)

लगभग छ: सौ वर्ष पहलेकी बात है । उस समय सौराष्ट्र—मोरवीके राज्यासनपर राजा रावत रणसिंह आसीन थे । मोरवीमें एक अन्त्यज-दम्पति रहते थे । पतिका नाम था खीमरा और पत्नीका नाम था दाड़ल । ये दोनों बड़े ही सात्त्विक स्वभावके तथा संत-शीलका पालन करनेवाले थे । संसारके प्रपञ्चसे प्रायः अलग रहकर भगवद्भजनमें ही ये अपना जीवननिर्वाह करते थे । दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था । दाड़लका पातिव्रत बड़ा विलक्षण था ।

एक दिन प्रातःकाल राजा रणसिंह घोड़ेपर सवार होकर शहरमें घूमने निकले । वे एक कूएँके पास जा पहुँचे । कुछ स्त्रियाँ जल भर रही थीं । कोई पुरुष पास न होनेसे उन्होंने अपने घूँघट उठा रक्खे थे । राजाकी दृष्टि उनमेंसे एक तरुणी स्त्रीपर पड़ी और वह वहीं ठहर गयी । उन्होंने मन-ही-मन उस रूपसीके सौन्दर्यकी प्रशंसा की । मनमें विकार आ गया । तरुणीने लज्जासे घूँघट निकाल लिया और वह घड़ा उठाकर चल दी । राजाकी बुद्धि मारी गयी थी । उन्होंने भी अपना घोड़ा उसके पीछे लगा दिया । एक जगह युवतीके पास घोड़ा रोककर राजाने अपने हाथसे युवतीका घूँघट उठा दिया और उसकी ओर लुभावनी दृष्टिसे देखा ।

युवतीका शरीर राजाके स्पर्शसे मानो जल उठा, उसने बड़े दुःख और रोषभरे शब्दोंमें लज्जासे सिर नीचा करके कहा—'राजा ! तुम प्रजाका पालन करनेवाले पिता कहलाते हो । मैं तुम्हारी कन्याके समान हूँ, तुम्हें जरा भी शर्म नहीं आयी—मेरा स्पर्श करते और घूँघट उठाते । मैं लाजसे मरी जाती हूँ—पर तुम इतने निर्लज्ज हो गये, जो एक निर्दोष अबलापर ऐसा अत्याचार कर बैठे । तुमने बड़ी भूल की ।

'मैं एक नीची जातिकी लड़की हूँ । लोग हमलोगोंको अस्पृश्य मानते हैं और हमसे दूर रहते हैं, परंतु तुम्हारे जैसे कामके गुलाम मनुष्य तो अत्यन्त अधम तथा सर्वथा अस्पृश्य हैं । तुमने मुझको छूकर मुझे सर्वथा अपवित्र बना दिया है ।'

लोग आसपास इकट्ठे हो गये थे । राजा सिर नीचा करके महलकी ओर चले गये ।

इसी बीच उसके साथकी और स्त्रियाँ भी वहाँ आ पहुँची थीं । दाड़ल सती थी । उसने अपने पड़ोसकी एक लड़कीसे कहा—'बहिन ! तुम कृपा करके मेरे पतिके पास जाकर उनसे कह दो कि दाड़लका शरीर अपवित्र हो गया है, किसी परपुरुषने स्पर्श करके उसके सतीत्वको दूषित कर दिया है । अतएव वह उस शरीरको अब नहीं रखना चाहती । वह पृथ्वीमें समाधि लेगी । आपको तुरंत बुलाया है ।'

उसने खीमराके पास जाकर यह संदेश सुना दिया । वह तो सुनते ही हक्का-बक्का-सा रह गया । दौड़कर दाड़लके पास आया और अपलक नेत्रोंसे उसकी ओर देखता हुआ बोला— 'दाड़ल, सती ! बताओ, मुझसे क्या गलती हो गयी है ?'

दाड़लने नम्रतासे कहा—'स्वामी ! आपसे कुछ भी गलती नहीं हुई, होनहारकी बात है । मैं जलका घड़ा लिये अपने रास्ते जा रही थी । राजा रणसिंहने हाथसे स्पर्श करके मेरे शरीरको अपवित्र कर दिया । उसने मेरी ओर कुदृष्टिसे देखा भी । सम्भव है कि बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण वह और भी निर्दोष अबलाओंको पापदृष्टिसे देखे । अतः मैं अपना शरीर नष्ट करके राजाके इस पाप-मार्गमें बाधा दूँगी ।'

खीमरा—सती ! मनुष्य भूलसे भरा प्राणी है। राजाकी भूल हुई, उसे माफ कर दो। इसमें तुम्हारा क्या दोष है? राजा तो प्रजाका पालन करनेवाला माना जाता है।

दाड़ल—इसीलिये तो मैं अपने इस अपवित्र शरीरको नष्ट करके राजाको पापसे बचाना और उसे प्रजापालक बनाना चाहती हूँ। मैं अब इस शरीरको नहीं रख सकती। आप जल्दी करें।

खीमराने समझ लिया कि सत्यप्रतिज्ञ दाड़ल अपनी बातको कभी नहीं छोड़ेगी, वह कुछ बोल नहीं सका, आँसूभरी आँखोंसे उसकी ओर देखने लगा। तब पतिकी ओर करुण-दृष्टिसे देखकर दाड़लने कहा—'मेरे नाथ! मुझे भी आपका वियोग बहुत असह्य है, परंतु यह अपवित्र शरीर अब आपका स्पर्श करने लायक नहीं रहा। आपकी सेवासे वञ्चित रहकर मैं जीना नहीं चाहती। आप मुझे रोकें नहीं। अब तो मैं निश्चय ही प्रभुकी शरणमें जाऊँगी। प्रभु आपका कल्याण करेंगे। आपकी शुभ भावनाको अचल रक्खेंगे। आप मेरे अपराधोंको क्षमा करें।'

दाड़लके वचन सुनकर खीमरा चुप हो गया। उसने अपने हृदयको दृढ़ बनाया। कुछ दूर एकान्तमें जाकर पृथ्वी माताको प्रणाम किया और सतीकी जीवित समाधिके लिये जमीन खोदकर तैयार कर दी।

सती दाड़लने स्नान किया, स्वच्छ-सुन्दर वस्त्र पहने, गलेमें तुलसीकी माला धारण की। ललाटपर कुंकुमका तिलक लगाया और मुखसे भगवान्‌के नामका उच्चारण आरम्भ कर दिया। उस समय दाड़लके रूपमें सब लोगोंको साक्षात् माता भगवतीके दर्शन होने लगे।

बिजलीकी तरह सारे शहरमें यह समाचार फैल गया। सतीके दर्शनार्थ जनसमूह एकत्र हो गया। लोग आरती उतारने लगे। शंख, घण्टा, घड़ियालकी ध्वनिसे चारों ओर सात्त्विक वातावरण छा गया। मानो पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आया हो। राजाको भी समाचार मिला। उन्हें अपनी भूल प्रत्यक्ष दिखायी दी और सर्वथा निर्मल सतीकी समाधिमें अपनेको कारण समझकर राजाका मन पश्चात्तापकी आगसे जल उठा। पश्चात्तापकी प्रचण्ड अग्निने राजाके हृदयके दोषरूपी कूड़ेको जला दिया। उनका हृदय पलटा और वे नंगे सिर, नंगे पैर दौड़-कर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ सती दाड़ल समाधिमें प्रवेश करनेको तैयार थी। राजाका श्वास जोर-जोरसे चल रहा था, आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी थी। राजा सहसा आकर सतीके चरणोंमें गिर पड़े और रुँधे कण्ठसे कहने लगे—'देवी! मैं महापापी हूँ, मेरे अपराधको क्षमा कर दो।' दाड़ल—'राजा! मैं क्या क्षमा कर दूँ। तुम्हारा यह सच्चा पश्चात्ताप ही यथार्थ क्षमा है। मैं तो प्रायश्चित्तके लिये ही समाधि ले रही हूँ। सर्वेश्वर प्रभु सबका कल्याण करते हैं। जब मनुष्य अपनी भूलको समझकर प्रभुके सामने सच्चे हृदयसे रो पड़ता है, तब प्रभु उसे क्षमा कर देते हैं। राजन्! मनुष्यकी जब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, तब वह प्रभुको भूलकर विषयोंका दास बन जाता है और तभी उससे ऐसी भूल होती है।'

राजाने गिड़गिड़ाकर अपनेद्वारा बने हुए इस महान् अपराधसे मुक्ति पानेका उपाय पूछा। तब दाड़लने कहा—

'राजा! सच्चा पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है। पश्चात्तापभरे हृदयसे भगवान्‌से करुण-प्रार्थना करो और भविष्यमें पवित्र रहनेकी प्रतिज्ञा करो।'

राजा—'सती! मेरे जीवनका अन्तिम समय सुधर जाय, ऐसा उपदेश करो।' दाड़ल—'जीवनके शेष समयको तथा अन्तकालको सुधारनेके लिये प्रभुकी शरणागति ही परम साधन है। संतोंका संग,

भगवन्नामका जप तथा श्रद्धा-भक्तियुक्त हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लेना चाहिये। ऐसा करनेपर सारे अनिष्टोंसे मुक्ति पाकर मनुष्य प्रभु-कृपाका अधिकारी हो जाता है। अतएव तुम अपने मनकी सारी आसक्ति, कामना, ममता, अहंकारको प्रभुके समर्पित करके उनके शरण हो जाओ और जीवनका शेष समय उनके नाम-स्मरणमें लगा दो। तुम्हें अन्तमें निश्चय ही शान्ति मिल जायगी।

'जो ऐसा करते हैं' उनको शान्ति मिलती ही है और जो भगवान्‌को भूलकर भोगोंसे ही सुख-प्राप्तिकी आशा रखते हैं, उनको तो जन्म-जन्मान्तरमें निराशा ही प्राप्त होती है।'

राजाने सती दाड़लके उपदेशको शिरोधार्य करके उनसे प्रार्थना की—'देवी! मैं समीपस्थ संतसमाजको निमन्त्रण भेजकर बुला रहा हूँ, तबतक आप समाधिमें प्रवेश न करें।' राजाकी बात दाड़लने मान ली और उसने राजाको आश्वासन दिया।

राजाका निमन्त्रण पाकर उस समयके संत—संत श्रीजेसलजी, सती तोरण दे, संत रामदेवजी, संत कुम्भाजी, सती मालदे, महारानी सती रूपा दे, भक्त ढाँगाजी बनवीर, भक्त साराजी और भक्त सूराजी आदिने पधारकर सुव्यवस्थित रीतिसे भगवन्नामामृतकी सुरसरि-धारा बहाकर सतीकी सराहना की और राजा रणसिंहके प्रायश्चित्तकी पूर्ति तथा पापमुक्तिके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना की। ऐसा लगा, मानो संतोंकी प्रार्थना सुनकर प्रभुने राजाका अपराध क्षमा कर दिया। राजाका श्याम वदन उज्ज्वलता धारण करके चमक उठा। संत-समाजके प्रेमभरे आशीर्वादसे राजाके दृष्टिदोषका भी सदाके लिये निवारण हो गया। उनका भूत-वर्तमान-भविष्य बन गया। राजाको सत्यका अनुभव हो गया और उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया कि मानसिक पाप तथा दृष्टिदोषसे देवदुर्लभ मानव-जीवनका कितना अकल्याण होता है और संत-कृपासे किस प्रकार तुरंत कल्याण हो जाता है।

संत-समाजने सती दाड़लके स्वामी भक्त खीमराको सनातनमार्गीय समाजके कोतवालके पदपर नियुक्त किया।

सती दाड़ल दे समस्त संत-समाजसे जय जयराम, जय सीताराम कहकर समाधिमें प्रवेश करनेको उठ खड़ी हुई और राजाको क्षमादान देकर समाधिमें उतर गयी। दाड़ल देने समस्त संत समाजको, भक्तोंको, आबाल-वृद्ध ग्रामनिवासियोंको नमस्कार किया और अपने पतिदेवके चरणोंकी धूलको मस्तकपर रखकर शान्तचित्त और सुप्रसन्न मुखमुद्रासे वह समाधिमें बैठ गयीं। उपस्थित नर-नारी—विराट् जनसमुदाय भगवन्नामका गगनभेदी जय-घोष करने लगे। माता पृथ्वीने बड़े प्यारके साथ अपनी प्यारी पुत्रीको गोदमें बैठाकर अपने अंदर छिपा लिया।

सती दाड़ल देके आश्चर्यजनक सतीत्वके प्रभावने राजा रणसिंहके हृदयको सदाके लिये पवित्र बनाकर उन्हें भगवान्‌का सच्चा भक्त बना दिया।

आजकी स्वच्छन्द नारियाँ इस पवित्रहृदया हरिजन-नारीके सतीत्वगौरवसे शिक्षा ग्रहण करें।

'बोलो सती, संत तथा सत्यकी जय।'

हरिमिलन

नारायण अति कठिन है, हरि मिलिबेकी बाट। या मारग जो पगु धरै सीस प्रथम दै काट॥
नारायण प्रीतम निकट सोई पहुँचन हार। गैंद बनावै सीस की खेलै बीच बजार॥

—नारायण स्वामी

भगवत्प्राप्ति

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मनुष्य-जीवन मिला ही भगवान्‌को पानेके लिये है। संसारके भोग तो दूसरी योनियोंमें भी मिल सकते हैं। मनुष्यमें भोगोंको भोगनेकी उतनी शक्ति नहीं जितनी दूसरे प्राणियोंमें है!' वक्ताकी वाणीमें शक्ति थी। उनकी बातें शास्त्रसंगत थीं, तर्कसम्मत थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्दको सजीव बनाये दे रहा था। 'भगवान्‌को पाना है—इसी जीवनमें पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गयी तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।'

प्रवचन समाप्त हुआ। लोगोंने हाथ जोड़े, सिर झुकाया और एक-एक करके जाने लगे। सबको अपने-अपने काम हैं और वे आवश्यक हैं। यही क्या कम है जो वे प्रतिदिन एक घंटे भगवच्चर्चा भी सुनने आ बैठते हैं। परंतु अवधेश अभी युवक था, भावुक था। उसे पता नहीं था कि कथा पल्लाझाड़ भी सुनी जाती है। वह प्रवचनमें आज आया था और उसका हृदय एक ही दिनके प्रवचनने झकझोर दिया था।

सब लोगोंके चले जानेके बाद उसने वक्तासे कहा—'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है, उपाय बतलाइये।' वक्ता बोले—'वत्स, भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, फिर घरके सारे काम भगवान्‌की पूजा बन जायँगे।' उसने कहा—'महाराज! घरमें रहकर भजन नहीं हो सकता। आप मुझे स्नेहवश रोक रहे हैं, पर मैं नहीं रुकूँगा।' इतना कहकर वक्ताको कुछ भी उत्तर देनेका अवसर दिये बिना ही युवक तुरंत चल दिया।

'भगवान्‌को पाना है—इसी जीवनमें पाना है।' सात्त्विक कुलमें जन्म हुआ था। पिताने बचपनसे स्तोत्रपाठादिके संस्कार दिये थे। यज्ञोपवीत होते ही त्रिकाल-संध्या प्रारम्भ हो गयी, भले पिताके भयसे प्रारम्भ हुई हो। ब्राह्मणके बालकको संस्कृत पढ़ना चाहिये, पिताके इस निर्णयके कारण कालेजकी वायु लग नहीं सकी। इस प्रकार सात्त्विक क्षेत्र प्रस्तुत था। आजके प्रवचनने उसमें बीज वपन कर दिया! अवधेशको आज न भोजन रुचा, न अध्ययनमें मन लगा। उसे सबसे बड़ी चिन्ता थी—उसका विवाह होनेवाला है। सब बातें निश्चित हो चुकी हैं। तिलक चढ़ चुका है। अब वह अस्वीकार करे भी तो कैसे और—'भगवान्‌को पाना है' इस बन्धनमें पड़ा तो पता नहीं क्या होगा।

दिन बीता, रात्रि आयी। पिताने, माताने तथा अन्य कईने कई बार टोका—'अवधेश! आज तुम खिन्न कैसे हो?' परंतु वह, किसीसे कहे क्या। रात्रिमें कहीं चिन्तातुरको निद्रा आती है। अन्तमें जब सारा संसार घोर निद्रामें सो रहा था, अवधेश उठा। उसने माता-पिताके चरणोंमें दूरसे प्रणाम किया। नेत्रोंमें अश्रु थे; किंतु घरसे वह निकल गया।

'अवधेशका स्वास्थ्य कैसा है?' प्रातः जब पुत्र नित्यकी भाँति प्रणाम करने नहीं आया, तब पिताको चिन्ता हुई।

'वह रात बाहर नहीं सोया था?' माता व्याकुल हुई। उन्होंने तो समझा था कि अधिक गरमीके कारण वह बाहर पिताके समीप सोया होगा।

पुत्रका मोह—कहीं वह स्वस्थ, सुन्दर, सुशील और गुणवान् हो; मोह तो माता-पिताको कुरूप, कुपुत्र, दुर्व्यसनी पुत्रका भी होता है। विद्या-विनयसम्पन्न युवक पुत्र जिसका चला जाय, उस माता-पिताकी व्यथाका वर्णन कैसे किया जाय। केवल एक पत्र मिला था—'इस कुपुत्रको क्षमा कर दें! आशीर्वाद दें कि इसी जीवनमें भगवत्प्राप्ति कर सकूँ।'

× × × ×

'आपने यहाँ अग्नि क्यों जलायी?' वनका रक्षक रुष्ट था—'एक चिनगारी यहाँ सारे वनको भस्म कर सकती है।'

'रात्रिमें वन-पशु न आवें इसलिये!' अवधेश—अनुभवहीन युवक, वह सीधे चित्रकूट गया और वहाँसे आगे वनमें चला गया। उसे क्या पता था कि पहले ही प्रातःकाल उसे डाँट सुननी पड़ेगी। अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा उसने—'मैं सावधानीसे अग्नि बुझा दूँगा।'

'बिना आज्ञाके यहाँ अग्नि जलाना अपराध है!' वनके रक्षकने थोड़ी देरमें ही अवधेशको बता दिया कि भारतके

सब वन सरकारी वन-विभागद्वारा रक्षित हैं। वहाँ अग्नि जलानेकी अनुमति नहीं है। वहाँके फल-कन्द सरकारी सम्पत्ति हैं और बेचे जाते हैं। वनसे बिना अनुमति कुछ लकड़ियाँ लेना भी चोरी है।

'हे भगवान्!' बड़ा निराश हुआ अवधेश। वनमें आकर उसने देखा था कि उसे केवल जंगली बेर और जंगली भिंडी मिल सकती है। वह समझ गया था कि ये भी कुछ ही दिन मिलेंगे; किंतु वैराग्य नवीन था। वह पत्ते खाकर जीवन व्यतीत करनेको उद्यत था, परंतु वनमें तो रहनेके लिये भी अनुमति आवश्यक है। आज कहीं तपोवन नहीं हैं।

'आप मुझे क्षमा करें! मैं आज ही चला जाऊँगा।' वन-रक्षकसे उसने प्रार्थना की। वैसे भी जंगली भिंडी और जंगली बेरके फलके आहारने उसे एक ही दिनमें अस्वस्थ बना दिया था। उसके पेट और मस्तकमें तीव्र पीड़ा थी। लगता था कि उसे ज्वर आनेवाला है।

'आप मेरे यहाँ चलें!' वन-रक्षकको इस युवकपर दया आ रही थी। यह भोला बालक तपस्या करने आया था—कहीं यह तपस्याका युग है। 'आज मेरी झोपड़ीको पवित्र करें।'

अवधेश अस्वीकार नहीं कर सका। उसका शरीर किसीकी सहायता चाहता था। उसके लिये अकेले पैदल वनसे चित्रकूट बस्तीतक जाना आज सम्भव नहीं रह गया था। 'यदि ज्वर रुक गया—कौन कह सकता है कि वह नहीं रुकेगा।' अवधेश तो कल्पनासे ही घबरा गया। उसने सोचा ही नहीं था कि वनमें जाकर वह बीमार भी पड़ सकता है।

× × × ×

'आप मुझे अपनी शरणमें ले लें।' बढ़े केश, फटी-सी धोती, एक कई स्थानोंसे पिचका लोटा—युवक गौरवर्ण है, बड़े-बड़े नेत्र हैं; किंतु अत्यन्त दुर्बल है। सम्भ्रान्त कुलका होनेपर भी लगता है कि निराश्रित हो रहा है। उसने 'महात्माके चरण पकड़ लिये और उनपर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगा।'

'मुझे और सारे विश्वको जो सदा शरणमें रखता है, वही तुम्हें भी शरणमें रख सकता है।' ये महात्माजी प्रज्ञाचक्षु हैं। गङ्गाजीमें नौकापर ही रहते हैं। काशीके बड़े-से-बड़े विद्वान् भी बड़ी श्रद्धासे नाम लेते हैं इनका। इन्होंने युवकको पहचाना या नहीं, पता नहीं किंतु आश्वासन दिया—'तुम पहले गङ्गास्नान करो और भगवत्प्रसाद लो फिर तुम्हारी बात सुनूँगा।'

'आप मुझे अपना लें! मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है!' युवक फूट-फूटकर रो रहा था—'मुझे नहीं सूझता कि मुझे कैसे भगवत्प्राप्ति होगी।'

'तुम पहले स्नान-भोजन करो।' महात्माने बड़े स्नेहसे युवककी पीठपर हाथ फेरा—'जो भगवान्को पाना चाहता है, भगवान् स्वयं उसे पाना चाहते हैं। वह तो भगवान्को पायेगा ही।'

युवकने स्नान किया और थोड़ा-सा प्रसाद शीघ्रतापूर्वक मुखमें डालकर गङ्गाजल पी लिया। उसे भोजन-स्नानकी पड़ी नहीं थी। वैराग्य सच्चा था और लगनमें प्राण थे। कुछ मिनटोंमें ही महात्माजीके चरणोंको पकड़कर उनके समीप बैठ गया।

'पहले तुम यह बताओ कि तुमने अबतक किया क्या?' महात्माजीने तनिक स्मितके साथ पूछा।

'बड़ा लंबा पुराण है!' अवधेश—हाँ, वह युवक अवधेश ही है—यह आपने समझ लिया होगा। उसने अपनी बात प्रारम्भ की। उसने बताया कि वह खूब भटका है इधर चार वर्षोंमें। उसे एक योगीने नेती, धोती, न्यौली, ब्रह्मदाँतौन तथा अन्य अनेक योगकी क्रियाएँ करायीं। उन क्रियाओंके मध्य ही उसके मस्तकमें भयंकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनाईसे एक वृद्ध संतकी कृपासे वह ठीक हुआ। उन वृद्ध संतने योगकी क्रियाएँ सर्वथा छोड़ देनेको कह दिया।

'ये मूर्ख!' महात्माजी कुछ रुष्ट हुए—'ये योगकी कुछ क्रियाएँ सीखकर अपने अधूरे ज्ञानसे युवकोंका स्वास्थ्य नष्ट करते फिरते हैं। आज कहाँ हैं अष्टाङ्गयोगके ज्ञाता! यम-नियमकी प्रतिष्ठा हुई नहीं जीवनमें और चल पड़े आसन तथा मुद्राएँ कराने। असाध्य रोगके अतिरिक्त और क्या मिलता है इस व्यायामके दूषित प्रयत्नमें।'

'मुझे एकने कान बंद करके शब्द सुननेका उपदेश दिया।' अवधेशने महात्माजीके चुप हो जानेपर बताया—'एक कुण्डलिनी योगके आचार्य भी मिले। मुझे मनमें

भी सुनायी पड़ा और कुण्डलिनी-जागरणके जो लक्षण वे बताते थे, वे भी मुझे अपनेमें दीखे। नेत्र बंद करके मैं अद्भुत दृश्य देखता था; किंतु मेरा संतोष नहीं हुआ। मुझे भगवान् नहीं मिले—मिला एक विचित्र झमेला।'

'अधिकारीके अधिकारको जाने बिना चाहे जिस साधनमें उसे जोत दिया जाय—वह पशु तो नहीं है।' महात्माजीने कहा—'धारणा, ध्यान, समाधि—चाहे शब्दयोगसे हो या लययोगसे; किंतु जीवनमें चाञ्चल्य बना रहेगा और समाधि कुछ क्रियामात्रसे मिल जायगी, ऐसी दुराशा करनेवालोंको कहा क्या जाय। जो भगवद्दर्शन चाहता है उसे सिखाया जाता है योग''! भगवान्‌की कृपा है तुमपर। उन्होंने तुम्हें कहीं अटकने नहीं दिया।'

'मैं सम्मान्य धार्मिक अग्रणियोंके समीप रहा और विश्रुत आश्रमोंमें। कुछ प्रख्यात पुरुषोंने भी मुझपर कृपा करनी चाही।' अवधेशमें व्यङ्ग नहीं, केवल खिन्नता थी—'जो अपने आश्रम-धर्मका निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने-चाँदीका सेवन और सत्कार है, जो अनेक युक्तियाँ देकर शिष्योंका धन और शिष्याओंका धर्म अपहरण करनेका प्रयत्न करते हैं, वहाँ परमार्थ और अध्यात्म भी है, यह मेरी बुद्धिने स्वीकार नहीं किया।'

'कलियुगका प्रभाव—धर्मकी आड़में ही अधर्म पनप रहा है!' महात्माजीमें भी खिन्नता आयी—'जहाँ संग्रह है, विशाल सौध हैं, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, इन्द्रियतृप्ति है, वहाँसे भगवान् या आत्मज्ञान बहुत दूर है। परंतु इतनी सीधी बात लोगोंकी समझमें नहीं आती। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े, कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभसे जो चलेगा वह ठगा तो जायगा ही। आज धन और नारीका धर्म जिनके लिये प्रलोभन हैं, ऐसे वेशधारियोंका बाहुल्य इसीलिये है। ऐसे दम्भी लोग सच्चे साधु-महात्माओंका भी नाम बदनाम करते हैं।

'मैं करनेको उद्यत हूँ।' अवधेशने चरणोंपर मस्तक रक्खा—'मुझे क्या करना है, यह ठीक मार्ग आप बतानेकी कृपा करें।'

'घर लौटो और माता-पिताको अपनी सेवासे संतुष्ट करो।' महात्माजीने कहा—'वे चाहते हैं तो विवाह करो।' घरके सारे काम भगवान्‌की पूजा समझकर करो—यही तो उस वक्तने तुमसे कहा था।

'देव!' अवधेश रो उठा।

'अच्छा, आज अभी रुको।' महात्माजी कुछ सोचने लगे।

× × × ×

'ये पुष्प अञ्जलिमें लो और विश्वनाथजीको चढ़ा आओ!' प्रातः स्नान करके जब अवधेशने महात्माजीके चरणोंमें मस्तक रक्खा, तब महात्माजीने पास रक्खी पुष्पोंकी डलिया खींच ली। टटोलकर वे अवधेशकी अञ्जलिमें पुष्प देने लगे। बड़े-बड़े सुन्दर कमलपुष्प—थोड़े ही पुष्पोंसे अञ्जलि पूर्ण हो गयी। महात्माजीने खूब ऊपरतक भर दिये पुष्प।

असीघाटसे अञ्जलिमें पुष्प लेकर नौकासे उतरना और उसी प्रकार तीन मील दूर विश्वनाथजी आना सरल नहीं है। परंतु अवधेशने इस कठिनाईकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह पुष्पोंसे भरी अञ्जलि लिये उठा।

'कोई पुष्प गिरा तो नहीं?' महात्माजीने भरी अञ्जलिसे नौकामें पुष्प गिरनेका शब्द सुन लिया।

'एक गिर गया।' अवधेशका स्वर ऐसा था जैसे उससे कोई बड़ा अपराध हो गया हो।

'कहाँ गिरा, गङ्गाजीमें?' फिर प्रश्न हुआ।

'नौकामें' अवधेश खिन्न होकर बोला—'मैं सम्हाल नहीं सका।'

'न विश्वनाथको चढ़ सका, न गङ्गाजीको।' महात्माजीने कहा—'अच्छा, अपनी अञ्जलिके पुष्प मुझे दे दो!'

अवधेशने महात्माजीकी फैली अञ्जलिमें अपनी अञ्जलिके पुष्प भर दिये। महात्माजीने कहा—'बाबा विश्वनाथ!' और सब पुष्प वहीं नौकामें गिरा दिये।

'भैया, ये पुष्प विश्वनाथजीको चढ़ गये?' पूछा महात्माजीने।

'चढ़ गये भगवन्!' अवधेशने मस्तक झुकाया।

'बच्चे! तू जहाँ है, भगवान् तेरे पास ही हैं। वहीं तू उनके श्रीचरणोंपर मस्तक रख!' महात्माजीने अबकी कुछ ऐसी बात कही जो भली प्रकार समझमें नहीं आयी।

'वहाँ किनारे एक कोढ़ी बैठता है!' साधु होते ही विचित्र हैं। पता नहीं कहाँसे कहाँकी बात ले बैठे महात्माजी।

'वह बैठा तो है।' इङ्गित की गयी दिशामें अवधेशने देखकर उत्तर दिया।

'देख, वह न नेती-धोती कर सकता, न कान बंद कर सकता और न माला पकड़ सकता ।' महात्माजी समझाने लगे—'वह पढ़ा-लिखा है नहीं, इसलिये ज्ञानकी बात क्या जाने। परंतु वह मनुष्य है। मनुष्य-जन्म मिलता है भगवत्प्राप्तिके लिये ही। भगवान्ने उसे मनुष्य बनाया, इस स्थितिमें रक्खा। इसका अर्थ है कि वह इस स्थितिमें भी भगवान्को तो पा ही सकता है।'

'निश्चय पा सकता है।' अवधेशने दृढ़तापूर्वक कहा।

'तब तुम्हें यह क्यों सूझा कि भगवान् घरसे भागकर वनमें ही जानेपर मिलते हैं।' महात्माजीने हाथ पकड़कर अवधेशको पास बैठाया—'क्यों समझते हो कि गृहस्थ होकर तुम भगवान्से दूर हो जाओगे। जो सब कहीं है, उससे दूर कोई हो कैसे सकता है।'

'मैं आज्ञा पालन करूँगा।' अवधेशने मस्तक रक्खा संतके चरणोंपर। उसका स्वर कह रहा था कि वह कुछ और सुनना चाहता है—कोई साधन।

'भगवान् साधनसे नहीं मिलते।' महात्माजी बोले 'साधन करके थक जानेपर मिलते हैं। जो जहाँ थककर पुकारता है—'प्रभो! अब मैं हार गया,' वहीं उसे मिल जाते हैं। या फिर मिलते उसे हैं जो अपनेको उनका बनाकर उन्हें अपना मान लेता है।'

'अपना मान लेता है?' अवधेशने पूछा।

'संसारके सारे सम्बन्ध मान लेनेके ही तो हैं।' महात्माजी ने कहा—'कोई लड़की सगाई होते ही तुम्हें पति मान लेगी और तुम उसके पति हो जाओगे। भगवान् तो हैं सदा अपने। उन्हें अपना नहीं जानते, यह भ्रम है। वे तुम्हारे अपने ही तो हैं।'

'वे मेरे हैं—मेरे भगवान्!' पता नहीं क्या हुआ अवधेशको। वह वहीं नौकामें बैठ गया—बैठा रहा दिन। लोग कहते हैं—कहते तो महात्माजी भी हैं कि अवधेशको एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति हो गयी थी।

भगवान्का मङ्गल-विधान

[मिलन-मुहूर्त]

(लेखक—प्राध्यापक श्रीशिवप्रसादजी शुक्ल 'शास्त्री' एम्० ए०, साहित्यरत्न)

दिनकरकी प्रखर रश्मिमालासे प्रतप्त होकर चरवाहे भागीरथीके पुण्यतोयमें स्नानार्थ प्रविष्ट हो गये। गोसमुदायने सुखद तरु-छायाके नीचे बैठकर जुगाली करना प्रारम्भ कर दिया। भैंसें तो ग्वालोंसे भी पूर्व जलकेलि-सुखका अनुभव करनेके लिये जलमें प्रवेश कर चुकी थीं। जाह्नवीकी धारा अविरल गतिसे प्रवाहित हो रही थी। अकस्मात् एक चरवाहेकी दृष्टि एक बहती हुई वस्तुपर पड़ी, उसके बतानेपर दूसरेने, जो कुछ आयुमें बड़ा था, कहा—'अरे, यह तो शव है, इसमें क्या आश्चर्य!' तीसरेने कहा—'लाओ इसे निकालें' 'व्यर्थ, क्या लाभ!' परंतु बहुमतसे शव निकालना ही निश्चित हुआ। एकने तैरकर शव पकड़ लिया, निकालकर बाहर ले आया। 'अरे कोई युवती है, बेचारी असमयमें ही भगवान्के यहाँ बुला ली गयी।' इसके पेटमें पानी भर गया है, 'यह तो हाथ हिला रही है—शायद अभी चेतना है।' सहीमें ही विधिकी इच्छा, कुछ उपचार करनेपर वह षोडशवर्षीया तरुणी उठकर बैठ गयी, इधर-उधर आश्चर्यचकित होकर देखने लगी, कुछ देर बाद रोना प्रारम्भ कर दिया उसने।

परम सुन्दरी बालिकाको देखकर सभी ग्वाले 'इसे मैं अपनी स्त्री बनाऊँगा' कहकर परस्पर झगड़ने लगे। वर्षोंसे एक साथ मिलकर रहनेका भाव समाप्त हो गया, रोटी बाँटकर खानेवाले ग्वाले मायासे विमोहित होकर संसारके इस भ्रम-जालमें फँसकर एक दूसरेके प्राणोंके घातक बनने के लिये आतुर हो उठे। ठीक, इसी समय एक महात्मा उपस्थित हो गये, सौम्य-स्वरूपने गम्भीर स्वरमें कहा—'अरे भले आदमियो, भगवान्से डरो, जिसे तुमने बचाया, वह तुम्हारी बहिन है, तुम, तुम...' इसके आगे वे कुछ कहें कि ग्वाले वहाँसे भग गये। बालिका उठकर महात्माके चरणोंमें गिर पड़ी। उन्होंने कहा—'बेटी! उठो, चिन्ता न करो, तुम हमारी कुटियापर चलकर रहो, स्वस्थ हो जानेपर स्वेच्छासे जहाँ चाहोगी, तुम चली जाना।' लड़कीको धैर्य बँधा, सान्त्वनापूर्ण शब्दोंने एक बार फिर उसकी पलकोंको गीला कर दिया। महात्माने आँख मूँदकर एक क्षण प्रभुका ध्यान किया, फिर एक ओर चल दिये। बालिका भी उनके पीछे-पीछे हो ली। मुनिवर अपनी ईश्वर-भक्तिमें लगे रहते। बालिका सदैव घूँघट निकाले रहती। अभी उ

दुःखोंका अन्त न हुआ था। एक दिन महात्माने बड़े प्यारसे कहा—'बेटी! तुम यदि अपने घर जाना चाहो तो तुम्हें छोड़ आऊँ?' बालिकाने कहा—'इस नश्वर संसार-में है ही क्या? मेरे माता-पिता और छोटी बहिन भी मेरे साथ ही बह गयी थीं, अब तो मुझे अपने ही चरणोंमें आश्रय दीजिये। अब आप मेरे पिता हैं। मैं कहीं नहीं जाना चाहती। हाँ, मेरे एक भाई विदेश पढ़ने गये थे, अब पता नहीं कहाँ होंगे! मेरा पाणिग्रहण भी हो गया था, परंतु वे अब मुझसे स्नेह करते हुए भी दूर हैं।' मायापाशविमुक्त महात्मा उठकर बिना कुछ बोले आँखें बंद किये ही ध्यानके लिये चल पड़े।

उन्नाव जिलेके रायपुर ग्रामके समीप ही ये दोनों रहा करते थे। बाबाके बागमें उनका सुन्दर आश्रम था। एक दिन आखेट करते हुए एक ताल्लुकेदार अपने दल-बलके साथ वहाँ पधारे, उनकी दृष्टि बालिकाको देखकर कुदृष्टिमें बदल गयी। उन्होंने महात्माको प्रलोभन देकर उस बालिकाको प्राप्त करना चाहा, किंतु महात्माजीके चरित्रने रईस महोदयको कुपित कर दिया। उन्होंने षड्यन्त्र रच दिया। एक दम्पतिसे उन्होंने न्यायालयमें दावा करवा दिया कि 'यह हमारी लड़की है। यह दुष्ट साधु भिक्षा माँगने आया करता था और इसे बहकाकर भगा लाया। इसका विवाह हमने अमुक रईसके साथ करनेका वचन दे दिया था।' पुलिसने दोनोंको पकड़कर कारागारमें बंद कर दिया। यथा-समय न्यायाधीशके सम्मुख उपस्थित होकर महात्माने बालिका-के प्राप्त होनेकी सच्ची कहानी सुना दी, साथ ही उन्होंने यह भी कहा—'ईश्वर जानता है, कुदृष्टि तो दूर रही, मैंने आजतक इस लड़कीका मुखतक नहीं देखा।' लड़की भी घूँघट निकाले खड़ी थी। सरकारी वकील और न्यायाधीश दोनों ही विचित्र स्थितिमें थे। कहानी इस प्रकार गढ़ी गयी थी कि अविश्वास करना कठिन हो रहा था। पुलिस-वाले भी उत्कोचके प्रलोभनसे रईसका ही साथ दे रहे थे।

'अच्छा बेटी! तुम ठीक-ठीक बताओ क्या बात है?' न्यायाधीशने कहा। लड़की हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगी। अत्यधिक धीरज बँधानेके बाद उसने कहा—'मैं क्या बताऊँ? मेरे ऊपर तो ईश्वर ही नाराज है। मैं मुजफ्फरनगर जिलेके सुप्रसिद्ध वकील स्वर्गीय शंकरप्रसादजीकी लड़की हूँ—' न्यायाधीशकी आँखें खुली-की-खुली रह गयीं? लक्ष्मी! लक्ष्मी! हे ईश्वर! मैं क्या देख रहा हूँ, मेरी बहिन लक्ष्मी? उसने अपने भाईका स्वर पहचानकर घूँघट खोल दिया। 'मैं ही हूँ हतभागिनी भाई साहेब! तुम इंग्लैंडसे कब आये?' महात्माकी आँखोंसे भी अश्रुधारा बह रही थी, भाई और बहिन न्यायालयमें गले मिल रहे थे। न्यायाधीश अमरनाथ महात्माके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌की बड़ी कृपा है। तुमने हमारी इज्जत रख ली। महात्माने कहा—'मैं भी तुम्हारा बड़ा भाई काशीनाथ हूँ, जिसे पिताजीने अयोग्य होनेके कारण घरसे निकाल दिया था, मुझे अपने कर्मोंके लिये पश्चात्ताप था, परंतु अब नहीं।' पार्श्वस्थित सरकारी वकील मोहनलालकी भावभंगिमा दर्शनीय थी। वे इस लड़कीके पति थे। उन्हें यह नहीं मालूम था कि एक दिन वकालत घरमें ही करनी पड़ेगी। न्यायाधीशने केवल एक बार मोहनलालकी ओर देखा, फिर अपने बड़े भाईसे कहा—'ये हैं लक्ष्मीके पति।' महात्माने दोनोंका हाथ लेकर एक दूसरेको पकड़ा दिया। तीनों ही हाथ जोड़े खड़े थे। महात्माने कहा—'आज मेरी साधना सफल हो गयी। इतना अवश्य ध्यान रखना! इन निरीह ताल्लुकेदार-जैसे पापियोंको तुम कोई दण्ड न देना। ईश्वर स्वयं इनके कियेका फल देगा। अच्छा मैं जा रहा हूँ।' इस मिलन-मुहूर्तपर सभी दर्शक उत्फुल्ललोचन थे।

महात्माके चरण शीघ्र-शीघ्र पड़ रहे थे। लक्ष्मी अपने पति और भाईके साथ अपलक दृष्टिसे महात्माके चरण देख रही थी। भावोंका सागर उमड़ रहा था।*

भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥ (श्रीहनूमतः)

जिस मुक्तिमें आप प्रभु हैं और मैं दास हूँ, यह भाव विलुप्त हो जाता है, भवबन्धनके छेदनके लिये मैं उस मुक्तिकी इच्छा नहीं करता।

* कहा जाता है कि कहानीमें लिखित घटना सच्ची है। केवल नाम-जाति आदि बदले हुए हैं।

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[भाग ३०, सं० ६, पृष्ठ १०१४ से आगे]

(३)

धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा, जर-जमीन, माल-मिलकियतका मोह तो इतना जबर्दस्त है कि कुछ न पूछिये ।

मकानकी एक-एक ईंटसे मोह होता है ।

दमड़ी-दमड़ी, छदाम-छदामतककी चीजोंके लिये हम कट मरते हैं। कोई ले तो जाय, हम उसका खून पी लें !

हमारी सम्पत्ति, फिर वह फटी-गुदड़ी, फूटा कमण्डलु, टूटा तवा अथवा फूटी छानी ही क्यों न हो, हमारे भयंकर मोहका कारण रहती है । वह हमारी है, हम उससे चिपटे बैठे रहते हैं ।

सम्पत्ति हमारी है। उसपर 'हमारी', 'मेरी', 'अपनी' का ठप्पा लगा है । मजाल क्या कि कोई उसकी ओर ताक तो जाय ।

× × ×

सेठजी सोते हैं तो भी उन्हें चिन्ता रहती है कि अमुक कम्पनीके शेयर गिर रहे हैं, अमुकके चढ़ रहे हैं, अलसीमें घाटा आ रहा है, रूईमें मुनाफा हो रहा है । कल बम्बईकी हुंडी सिकारनी है, परसों कलकत्तेकी । इस बैंकमें इतना बैलेंस है, उसमें इतना। इस मिलको खरीद लूँ तो सालाना कई लाखकी आमदनी बढ़ जाय । उस बँगलेको उठा दूँ तो इतना रुपया आने लगे !····

रात-दिन उन्हें रुपयेकी ही चाट लगी रहती है । दिनमें सैकड़ों बार खुश होते हैं, सैकड़ों बार दुखी !

कौन जाने मरनेके बाद भी वे अपनी जायदादपर नाग बनकर न आ बैठें ।

× × ×

परिग्रहका मोह किसे नहीं होता ।

अपरिग्रहका दम भरनेवाले भी परिग्रहके मोहमें फँसे दीख पड़ते हैं ।

नागा बाबा हैं और सवार हैं हाथीपर !

कहते हैं कि एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वतीके पास दो लंगोटियाँ थीं ।

स्नानसे निवृत्त हो ध्यान करने बैठते तो बराबर यह मोह सताता कि बंदर आकर दूसरी लँगोटी उठा न ले जाय !

परेशानी बहुत बढ़ी तो दूसरी लँगोटी उठाकर गङ्गामें फेंक दी ।

× × ×

पर अब, दूसरी समस्या आ खड़ी हुई ।

एक लँगोटी शिष्टता और शालीनताका ध्यान ।

दिनमें अब स्नान करें तो कैसे ?

दूसरे दिनसे उन्होंने इतने तड़के नहाना शुरू किया कि सूर्योदयके पहले ही भींगी लँगोटी सूख जाय ।

अन्य संन्यासियोंने सुना तो उन्हें यह बात जँची ही नहीं ।

सोचने लगे कि इतने तड़के हरद्वारकी इस कड़ाकेकी सर्दीमें दयानन्द नहाता तो क्या होगा, बहाना बनाता है !

दूसरोंका भंडा फोड़नेके लिये हमारे मलिन मन आकुल रहते ही हैं, भले ही उसके लिये कुछ कष्ट भी उठाना पड़े !

एकाध साधुने असलियतका पता लगानेका बीड़ा उठाया ।

× × ×

बात सही निकली तो लोगोंने दाँतोंतले उँगली दबायी ।

पूछा—दयानन्द ! तुझे सर्दी नहीं लगती ? हम तो इतने कपड़े कसे रहते हैं, फिर भी ठिठुरते रहते हैं ।

स्वामीजी बोले—'मैंने इसका अभ्यास कर लिया है। आप कड़ी सर्दीमें भी मुँह खुला रखते हैं । मुँहके कोमल चमड़ेपर आपको सर्दी नहीं लगती । मैंने सारे शरीरको ऐसा बना रक्खा है !'

× × ×

इस मोहके चलते कितने ही त्यागी और महात्मा जंगलमें जाकर भी फँस जाते हैं ।

साम्राज्यत्यागी, परम ज्ञानी भरतमुनिको इस मोहके ही कारण मृगयोनिमें जन्म लेना पड़ा !

जंगलमें पहले 'तरुतल वासा' रहता है, फिर झोंपड़ी पड़ती है, फिर गाय आती है, फिर धीरे-धीरे आश्रम 'मठ' बन जाता है । बड़े-बड़े महलोंके नाम होते हैं—साधन-कुटीर, त्यागाश्रम आदि-आदि ।

अपरिग्रहके नामपर परिग्रहकी होड़ लग जाती है !

आवश्यक और अनावश्यक असंख्य वस्तुएँ हम रोज जुटाते चलते हैं ! मोह दिन-दिन बढ़ता चलता है ।

× × ×

कुर्सी ? कुर्सीका मोह तो बड़े-बड़ोंसे पानी भराता है !

अङ्ग-अङ्ग जवाब दे रहा है, स्मरणशक्ति ढीली पड़ रही है, कार्यक्षमता घट रही है पर हम हैं कि कुर्सीसे चिपके बैठे हैं ।

हमसे कहीं अधिक योग्य, दक्ष, कुशल, कर्मठ व्यक्ति मैदानमें हैं, मौका मिले तो वे हमसे भी अधिक जिम्मेदारीसे हमारा काम सँभाल लें, परंतु हम उन्हें मौका ही नहीं दे सकते ।

हमें लगता है कि हमने इन्हें मौका दिया कि हमारी बधिया बैठी । फिर तो कोई भूलकर भी हमारा नाम न लेगा । हमारी सारी शान धूलमें मिल जायगी !

अब या तो मौत ही हमें खींचकर कुर्सीसे उठा ले जाय या विद्रोही नया खून हमारी कुर्सी उलट दे, तभी हम कुर्सी छोड़ेंगे ।

प्रेमसे, दूसरोंको आगे बढ़ानेके लिये, देश, समाज और संस्थाके हितकी दृष्टिसे कभी हम सोचना भी नहीं चाहते कि हमारा कर्तव्य क्या है !

मोहकी कैसी मोटी पट्टी है यह !

× × ×

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह किसे नहीं सताता ?

लोग हमारा आदर करें, हमारे चरणोंमें नतमस्तक हों, बड़े-बड़े लोग हमसे मिलनेके लिये लालायित रहें, प्रतिष्ठापूर्ण उपाधियाँ हमारे नामके साथ जुड़ जायँ, जनता हमें साधारण श्रेणीसे ऊपरका आदमी समझे—इस प्रकारके छिछले भाव हमसे क्या नहीं कराते ?

× × ×

मान-प्रतिष्ठाके लिये हम निन्द्य-से-निन्द्य कर्म करनेमें नहीं झिझकते !

इसके लिये मौका पड़े तो हम छल-प्रपञ्च, झूठ-बेईमानी, अन्याय-अत्याचार—कुछ भी करनेसे बाज नहीं आते ।

इसके लिये हम चुनावमें फर्जी वोट डलवाते हैं, चाँदीकी जूतीसे मतदाताओंको खरीदते हैं, साम-दान-दण्ड-भेद—सबका प्रयोग करते हैं, रिश्वत देते हैं, डालियाँ भेजते हैं, खुशामद करते हैं !

मोहका कैसा बीभत्स और घृणित रूप !

× × ×

गरीब और साधनहीन व्यक्ति महत्त्वाकाङ्क्षाके फेरमें पड़कर यदि इस तरह गन्दे-हथकंडे काममें लायें तो कोई बात भी है, पर ऐसा नहीं है । बड़े-बड़े साधनसम्पन्न

व्यक्ति भी मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाके मोहमें पड़कर इतने नीचे उतर जाते हैं।

इसके चलते दलबन्दियाँ चलती हैं, प्रतिद्वन्द्विताएँ चलती हैं, विरोधियोंको पछाड़नेके लिये गन्दे-से-गन्दे तरीके काममें लाये जाते हैं।

मजेकी बात तो यह कि बड़े-बड़े साधु-संन्यासी, भक्त-महात्मा, विरक्त और ज्ञानी कहानेवाले और देशके लिये सर्वस्व अर्पण कर देनेवाले बलिदानी नेता भी इसके अपवाद नहीं।

तभी तो तुलसी बाबाको कहना पड़ा था—

कैसे दउँ नाथहिं खोरि ?
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि ॥

× × ×

नामका मोह किसे नहीं ?

जिन्हें कुछ न चाहिये, उन्हें भी नाम तो चाहिये !

रुपया-पैसा, धन-दौलत—कुछ न मिले, पर नाम मिले। इसके लिये लोगोंमें जैसी बेचैनी देखनेमें आती है, वैसी शायद ही और किसी बातके लिये हो।

× × ×

नामके लिये लोग दान करते हैं।

बाग-बगीचा लगाते हैं।

कुआँ-बावली खुदवाते हैं।

प्याऊ-पोसरा बैठाते हैं।

धर्मशाला, मन्दिर, स्कूल, कालेज, अस्पताल बनवाते हैं।

नामके लिये पचपन सालके बुढ़ऊ सिरपर मौर सजाते हैं। बेटे होंगे, पोते होंगे—नाम चलेगा !

रुपया-पैसा, धन-दौलत है, पर आँगन सूना है, कलेजा मुँहको आता है। यह देख लोग दूसरेका लड़का गोद लेते हैं, सीधे नहीं मिलता तो अस्पतालसे लड़केकी चोरी कराते हैं या अनाथालयसे उठा लाते हैं !

कैसे भी हो, नाम तो चले !

× × ×

अभी एक पुस्तक मेरी नजरसे गुजरी।

लिखी किसीने, नाम था उसपर किसीका। पुस्तकमें लेखकका कहीं भूलसे भी उल्लेख नहीं !

लेखककी पत्नी मेरे सामने थी।

मैंने चुटकी ली—इसमें तो भूमिका तकमें जिक्र नहीं।

बोलीं—हमलोग तो गुप्त 'दानी' हैं ! 'बधाई है'—मैंने कहा।

× × ×

नामके लिये लोग तस्वीरें खिंचाते हैं, अखबार निकालते हैं, किताबें छपाते हैं, वक्तव्य निकालते हैं।

नामके लिये लोग हिमालयपर चढ़ाई करते हैं, आकाशमें उड़ते हैं, समुद्रकी तलीमें घुसते हैं, ध्रुवकी खोज करते हैं। और क्या नहीं करते ?

× × ×

एक नेताजी हैं। बड़े त्यागी, बड़े देशभक्त।

एक राज्यके मुख्य मन्त्री रह चुके हैं।

पर नामकी हविस बुढ़ौतीमें भी पीछा नहीं छोड़ती।

कोई पत्रकार पैर छूकर उन्हें प्रणाम करे तो बड़े खुश होते हैं। मिलते ही कहेंगे—'तुमने फलां जगह की मेरी स्पीच तो ठीकसे छापी, पर ब्लाक नहीं दिया। अबकी दफा ख्याल रखना ! है कोई, जरा नाश्ता तो लाओ इनके लिये।'

× × ×

और तो और, मरकर भी नामका मोह रहता है।

'है संगे मजारपर भी तेरा नाम रवां,
मर कर भी उमेदे जिन्दगानी न गयी।'

तभी तो ताजमहल देखकर भगवतीचरण वर्मा कहते हैं—

'ओ रज-कणके ढेर, तुम्हारा है विचित्र इतिहास !'

× × ×

भोगके बाद त्याग
[भोगो, फिर भागो]

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

यह जीवन स्वार्थप्रधान कहा जाता है। लोग स्वार्थवश ही सब कुछ करते हैं। झूठ, चोरी, कपट, डाका, हत्या और राष्ट्रोंके स्वार्थमें बाधा पड़नेसे महायुद्ध, सर्वनाशी युद्ध हो जाता है। सारा इतिहास स्वार्थ-संघर्षकी परम्परासे लहूलुहान है।

जब घरमें, गाँवमें पेट नहीं भरता तो व्यक्ति घर-गाँव छोड़कर देश और परदेश चला जाता है। भारतको गजनवी और गोरीने लूटा। मुगलोंने अपना पेट पालनेके लिये यहाँ राज्य जमाया और अंग्रेजोंने भी, परंतु अब दोनों नहीं हैं।

स्वार्थका भी अन्त होता है। पेट भर जानेपर भूख शान्त हो जाती है, परंतु ग्रहण किये हुएका त्याग अनिवार्य होता है। जो लोग दिनभर अंट-शंट चीजें स्वादवश या वासनावश खाते-पीते, पेटको भरते रहते हैं और उसे त्याग करने, शौच करनेका समय टालते रहते हैं, उन्हें कब्ज हो जाता है, उनकी आँतें सतत फैली रहनेके कारण, संकोचकी शक्ति खो बैठती हैं, जिससे मल-त्यागमें अधिक समय लगता है और यहाँ संचित विकार अनेक अङ्गोंमें ऊर्ध्वगत होकर अनेक रोग उत्पन्न करता है।

सुस्वादु भोजन करने और पेट भरनेसे जो शान्ति मिलती है, उससे भी अधिक शान्ति मल-त्यागके पश्चात् होती है; क्योंकि वह त्यागकी शान्ति है। जो अनावश्यक है, त्याज्य है, उसे रोका जाय, न त्यागा जाय, तो वह एक दिन इतना भयंकर हो जायगा कि जान ले बैठेगा। संसारमें अल्पायुमें ही बूढ़े और रोगी होकर लोग क्यों मर जाते हैं ? व्यसन-वासनाओंमें फँसे रहनेके कारण उनके भीतर इतना विष-विकार संचित हो जाता है, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) एकत्रित हो जाते हैं कि प्राण-संचारके लिये शुद्ध स्थान नहीं रह जाता। यह स्वार्थकी पराकाष्ठाका परिणाम है।

स्वार्थकी भी सीमा होती है, उसका अन्त होता है। ग्रहण किये हुएको त्यागना एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक कर्म है। स्वार्थ तो जीवनका एक साधन है, परंतु त्याग स्वयं जीवन है। यहाँतक कि उपवासके द्वारा भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीता रहता है और उपवास-कालमें शरीरसे रोज मल (स्वार्थवश संचित द्रव्यका विकार) निकलता रहता है।

जीनेके लिये त्याग परम आवश्यक है; शारीरिक, मानसिक और सम्पत्तिका त्याग भी।

शारीरिक त्यागकी बात हो चुकी।

मानसिक त्यागमें निर्लोभवृत्ति, आत्मभाव और सेवावृत्ति विशेष है। केवल अपने लिये ही जीना कोई जीवन नहीं। प्राणि-मात्र समाजप्रिय है, खासकर मानवकी तो अकेलेकी कहीं गुजर नहीं, सभ्य दशामें, अकेले वह अपने लिये सब कुछ कर सकनेका सामर्थ्य नहीं रखता। किसी विशाल एकान्त प्रान्त अथवा द्वीपमें उसे खाने-पीनेका साधन और आराम होते हुए भी वह कुछ समयमें सूखकर मर जायगा। जीवन-की शृङ्खला संघटनमय है। लोग यद्यपि कहते हैं कि संसारमें सब कुछ आचार, सदाचार और दुराचार स्वार्थवश होता है, वास्तवमें स्वार्थ है कहाँ ? यहाँ तो सब व्यवहार-व्यापार परस्परके लिये परस्परके द्वारा होता है। पेड़ उगते, बढ़ते, फूलते और फलते हैं। वे मानवमात्रको फल देते हैं, छाया देते हैं, सूखकर मरकर भी लकड़ी देते हैं, जिससे मनुष्य मकान बनाता है, भोजन बनाता है और नदी, झील, सागरको पार करनेके लिये नौकाएँ बनाता है। पेड़का अस्तित्व स्वयं अपने हित किस कामका ? सोना, चाँदी, हीरा, मोती स्वयं अपने किस कामके ! मानव भी अकेले स्वयं किस कामका ! और स्त्री स्वयं अकेले अपने किस कामकी ! परस्पर सहयोगसे दोनों संसार चलाते हैं। माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रीके हित सब परिश्रम और स्वार्थ-संग्रह करते हैं और उनके जीवनकी सीमा पूरी हो जानेपर चल बसते हैं। पुत्र-पुत्री भी उसीके अनुसार अपना-अपना संसार चलाकर चल बसते हैं। संग्रहीत सम्पत्ति और प्रिय सम्बन्धी यहीं रह जाते हैं। कोई स्थिर नहीं।

इस अस्थिरता और नश्वरताके अनुभव और भावनासे विवेकी पुरुषोंमें निर्लोभवृत्ति, सर्वात्मभाव और सेवावृत्ति उत्पन्न होती है। वे बड़े-बड़े काम कर शरीरके मर जानेपर भी अमर बन जाते हैं। उस मनुष्यकी मृत्युपर उसकी अमरताका इतिहास है, जिसने त्याग किया।

स्वार्थके भ्रममें बहुतसे अनाचार हुए हैं और होते हैं। लोगोंने प्रभुता बढ़ानेके लिये बड़े-बड़े देशोंपर आक्रमणकर

अपना आधिपत्य जमाया, धन-वैभव संग्रह किया, अपने लिये पक्के महल-किले बनाये, परंतु अपना कच्चा शरीर कायम न रख सके और श्मशानमें सो गये, भस्म हो गये, राख-मिट्टी हो गये। अब वहाँ उनकी धूल, हड्डियोंका भी पता नहीं। स्थानको लोग रौंदते हैं। वहाँ घास उगती है या वह ऊसर भूमि है।

इस विषयमें जितना भी कहा-सुना जाय, सब थोड़ा है और ऐसे मरे हुओंकी चर्चा व्यर्थ है। इन्होंने संसारमें अपना कौन-सा सत्कर्म छोड़ा? क्या प्रेरणा दी? केवल अपना दूषित चरित्र!

संसारमें बहुतसे लोगोंने बड़े-बड़े साहसके काम किये हैं, बड़े-बड़े विचित्र वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, कलात्मक कार्य किये हैं, अनुभवपूर्ण उपदेश दिये हैं, अपनी अपार सम्पत्ति दानमें दी है, अपना जीवन समर्पण किया है। नाम गिनानेके लिये न तो यहाँ समय है, न लिखनेको स्थान। आत्मभावको बिखेरनेके लिये गृहस्थ भोगकर, भागकर वानप्रस्थ और संन्यासकी व्यवस्था हमारे धर्मके अन्तर्गत जीवनकी व्यवस्थाका उत्तरार्ध इसी निमित्त सुरक्षित है। केवल अपने घरको घर समझनेकी संकीर्ण भावनासे मुक्त होकर व्यक्ति तब विस्तृत आत्मभाव लेकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूप बन जाता है।

स्वार्थ क्या है और कहाँ है?

जार्ज ईस्टमैन, अमेरिकन, फोटोग्राफ फिल्म और कोडक केमराके आविष्कारक थे। इन्होंने अपने जीवनमें लगभग अस्सी करोड़ रुपया शिक्षा और चालीस करोड़ रुपये रोगियोंकी चिकित्साके निमित्त दान दिया।

इंग्लैंडमें ग्यारहवीं शताब्दीमें एक (लार्ड) जागीरदार-की पत्नीने तो आत्मभाव-सेवावृत्तिमें अपनी लज्जातक त्याग दी। इतिहासमें ऐसा किसी स्त्रीने न किया होगा। लार्डने प्रजापर कुछ विशेष प्रकारके 'कर' लगा रखे थे। उसकी पत्नी सर्वसुन्दरी थी, साथ ही भक्त और परोपकारी चित्तकी थी। अतएव जनप्रिय थी। उसने प्रजापरसे कुछ 'कर' उठा लेनेके लिये पतिसे अनुरोध किया। पतिने कहा—तुम बिल्कुल नग्न होकर शहरमें निकलो, तभी यह टैक्स माफ कर सकता हूँ।

और प्रजाके हित वह महिला सचमुच नग्न होकर शहरमें घूम गयी।

स्वीडनके इंजीनियर, डॉ० एलफ्रेड नोबेलकी मृत्युके पश्चात् अब भी उनकी छोड़ी हुई समर्पित सम्पत्तिसे प्रतिवर्ष विश्वके महान् कलाकारों, लेखकों और आविष्कारकोंको इनाम मिलता रहता है और मिलता रहेगा।

अमेरिकाके विश्वविख्यात तैलव्यवसायी जान राकफेलर गरीबीसे उठकर परिश्रम और उद्योगसे अपार सम्पत्तिशाली हो गये हैं, संसारके सर्वश्रेष्ठ धनी थे और उन्होंने दो अरब रुपयेसे अधिक शिक्षा-प्रचार, चिकित्सा आदिके लिये दान दिया।

डायोजिनीस ग्रीस देशका दार्शनिक था, जो संसारकी गरीबी और दुःख देखकर इतना निःस्पृही हो गया था कि उसने अपने लिये कभी कुछ संग्रह नहीं किया। कोई झोपड़ी भी नहीं बनायी थी। मोटा चिथड़ा पहनता, रूखा भोजन करता था, पानी पीनेको एक कठौता (काठका बर्तन) रखता था, परंतु उसे एक ऐसा आदमी मिला जिसके पास पानी पीनेको कोई बर्तन न था, उसीको अपना कठौता दे डाला।

यह तो हुई विदेशी दानियोंकी बात।

महात्मा गाँधीने अपना सर्वस्व त्यागकर भारतको हजार वर्षकी गुलामीसे मुक्त किया, देशमें नया खून, नया तेज जगाया। हमारे देशके अनेकों उदार धनियोंने सर्वस्व दान कर दिया। यह हुई गृहस्थोंकी बात।

अपना आधा जीवन गृहस्थमें व्यय करके भारतमें यत्र तत्र सर्वत्र पुरातन सनातन-परम्परागत साधु-संन्यासी लोक-कल्याणहित अपना अनुभवपूर्ण साधनामय दिव्य ज्ञान निःस्पृह होकर जनतामें बिखेरते रहते हैं।

विचार कीजिये—निश्चय कीजिये, आप जो कुछ कर रहे हैं उसका क्या हेतु है, क्या मूल्य है, क्या सार्थकता है, कैसी स्थिरता है, कितनी व्यापकता है और कितना श्रेय है—इत्यादि।

आपका यह अमूल्य किंतु अस्थिर जीवन कितना और क्या ग्रहण करता और त्यागता है? आपने अबतक क्या कमाया और क्या दिया है? और अपने पश्चात् संसारको क्या कुछ दे जायँगे? और उससे संसारका क्या हित होगा? यह शरीर भी जब त्याज्य है, फिर क्या ग्राह्य है? इसीलिये भोगो, फिर भागो, त्यागो।

त्यागादनन्तरं शान्तिः— (गीता

त्यागके अनन्तर ही शान्ति मिलती है।

चित्राङ्कन

श्रीमती मूरति अंकित करती ।
मधुर तूलिका कोमल करमें लै नाना रँग भरती ॥

विविध भाँति अति मधुर मनोहर रूप बनाती जाती ।
तन्मय मन, दृग-दृष्टि-अचञ्चल, उमँग न हृदै समाती ॥

नव-नीरद-सुचि-नील-स्याम तनु उज्ज्वल आभा आँकी ।
भाल विसाल तिलक मृग-मदके, भ्रकुटि मनोहर बाँकी ॥

सरस नयन सोभाके आकर मोहन आँजे अंजन ।
अतिसय चपल चोर चित-वितके सुर-ऋषि-मुनि-मन रंजन ॥

मुख मुसुक्यान, नासिका नीकी, कानन कुंडल झलकैं ।
केस कृष्नघन घूँघरवारे, इत उत बिथुरीं अलकैं ॥

मनिमय मुकुट मयूर-पिच्छ-जुत सुंदर सिर पै साजै ।
कंबु कंठ वनमाल बिराजै रतन-हार उर राजै ॥

पीत बसन दमकत दामिनि-सो कटि किंकिनि अति सोहै ।
निरखि निरखि निज अंकित मूरति भामिनि निज मन मोहै ॥

लई तूलिका खींचि अचानक भई ससंकित भारी ।
चरन उभय आँके नहिं पियके गहरी बात बिचारी ॥

भाजि जायँ जीवनधन पाछैं जो चरननके पाये ।
तौ फिर कहा बनैगो मेरो यहै सोच उर छाये ॥

ठाढ़े, निरखि, रहे मनमोहन प्रीति-रीति अति पावन ।
प्रगट भये, बिहँसे, पुलकित तनु भई देखि मनभावन ॥

—अकिंचन

निवेदन

भारत धर्मप्रधान देश है, यह संतों-महात्माओंकी पवित्र लीला-भूमि है, भगवत्प्राप्तिके साधक विभिन्न सम्प्रदायोंके द्वारा इस देशमें चिरकालसे पवित्र भगवद्भावोंका प्रचार होता आया है। महान् दार्शनिक ब्रह्मनिष्ठ परम विद्वान् आदर्श चरित्र आचार्योंके द्वारा इन सम्प्रदायोंका प्रवर्तन और संचालन होता आ रहा है, इनके द्वारा प्रवर्तित विभिन्न सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी विशिष्ट उपासना-पद्धति चली आती है और उन-उन सम्प्रदायोंके अनुयायी लोग बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे अपने सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिके अनुसार उपासना करके अपने जीवनको पवित्र करते आये हैं। वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रचलित सभी सम्प्रदाय पवित्र सनातन-धर्मके अन्तर्गत हैं, सभी महत्त्वपूर्ण हैं और इनसे जगत्का महान् उपकार हुआ था तथा हो रहा है। इनमें प्राचीन पद्धतिके अनुसार प्रचलित मन्त्र-दीक्षा, भगवत्प्रसाद आदिके प्रति हमारा कोई भी विरोध या आक्षेप नहीं है तथा जगत्का उपकार करनेवाले ऐसे सभी सुयोग्य आदर्श चरित्र संत-महात्माओंको, आचार्योंको हम पूज्य-दृष्टिसे देखते हैं और अपनेको उनका दास समझते हैं।

रही गुरुके सम्बन्धकी बात, सो संसारमें छोटा-सा-छोटा कार्य भी बिना गुरुके सम्पन्न नहीं होता, प्रत्येक कार्यको सीखनेके लिये अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, फिर परमार्थके या आत्मकल्याणके मार्गमें गुरुकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा मानना और कहना कभी युक्तिसंगत नहीं है, गुरु तो सभी जगह चाहिये, पर इतना अवश्य विचारणीय है कि परमार्थमार्गका गुरु वही होता है जो शिष्यके अज्ञानान्धकारको हरकर ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रदान करे और भगवत्प्राप्तिके पावन पथपर अग्रसर करनेमें समर्थ हो।

पिछले दिनों 'कल्याण' में 'स्त्रीदीक्षा' के सम्बन्धमें एक लेख प्रकाशित हुआ था और कुछ ऐसी घटनाएँ भी छपी थीं, जिनमें उन धूर्तोंकी काली करतूतोंका वर्णन था, जो संत न होते हुए ही संतोंके नामसे दुराचार करके उनको बदनाम करते हैं। इन लोगोंसे जनताको सावधान किया गया था। ऐसे लोग संत-महात्मा या आचार्य हैं ही नहीं, अतः इसमें हमारा उद्देश्य संत-महात्मा और आचार्योंको लाञ्छन लगाने या उन्हें बदनाम करनेका कदापि नहीं था। हमारा उद्देश्य तो संत-महात्मा बने हुए, संत-महात्माओंकी वेश-भूषा धारणकर अपना नीच स्वार्थ सिद्ध करनेवाले इन लोगोंसे जनताको सावधान करनेका था। न वह पवित्र संत-समाज या गुरु-समाजपर आक्षेप था, न उनपर आक्षेप करनेकी हमारी कल्पना ही थी। तथापि हमारे उन घटना-प्रकाशनसम्बन्धी तथा स्त्रीदीक्षा-सम्बन्धी लेखसे अनुमान होता है कि कुछ संतों और गुरुजनोंको क्षोभ हुआ है। ऐसा हमें एक आचार्य महानुभावके तथा अन्य कुछ सज्जनोंके पत्रोंसे मालूम हुआ है। उन लोगोंने इसे हमारी भूल बताकर क्षोभ प्रकट किया है, अतः हमारे किसी कार्यसे यदि संत-समाज और गुरुजनोंके चित्तमें कष्ट पहुँचा हो तो हम उसके लिये उनसे सविनय क्षमा-प्रार्थना करते हैं और हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि पवित्र संत-समाज या पवित्र गुरुसमाजसे हमारा न कोई विरोध था, न है। हम उनको सदा ही परम पूज्य तथा सनातनधर्मका रक्षक मानते हैं और सादर प्रणाम करते हैं।

इस स्थितिमें हम आज यही उचित समझते हैं कि ईश्वरकी गुणमयी सृष्टिमें इस समय प्रायः सभी जगह त्रुटि और दोष देखे जाते हैं। भगवान्की कृपासे ही इन त्रुटियों तथा दोषोंका नाश हो सकता है। अतः हमको तो यही चाहिये कि हम अन्य किसीके दोषोंको न देखकर अपने दोषोंको देखें और उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करें, इसीके अनुसार करनेका हमारा विचार भी है। यदि कभी किसी ऐसे प्रसङ्गको प्रकाशित करना परम आवश्यक ही समझा जायगा तो हम यथासाध्य नम्रतापूर्ण ऐसा ही प्रयत्न करेंगे कि जिससे उसकी भाषा संत-समाजको कष्ट पहुँचानेवाली न हो। हम पुनः क्षमा-याचना करते हैं।

सम्पादक-**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

क्षमा-प्रार्थना

मेरा एक लेख 'कल्याण' वर्ष २९ संख्या १२ में 'स्त्रियोंको गुरु बनाना आवश्यक नहीं' इस शीर्षकसे निकला था। यद्यपि उसके प्रकाशनमें साधु-समाजके प्रति मेरा कोई दुर्भाव नहीं था और न है तथापि उस लेखको पढ़कर कुछ ऐसे महानुभावोंके हृदयपर भी चोट पहुँची है, जिनको मैं हृदयसे पूज्य और श्रेष्ठ मानता हूँ। इस कारण अपनी गलतीका अनुभव करते हुए उन महानुभाव आचार्योंसे क्षमा माँगता हूँ, जिनको मेरे लेखसे कुछ भी कष्ट हुआ है। साथ ही यह भी निवेदन करता हूँ कि भविष्यमें कोई भी ऐसा काम, जिसके द्वारा किसीका अहित होना सम्भव हो, न करनेकी मुझे अन्तरात्मासे प्रेरणा मिली है।

कृपाभिलाषी—**हरिकृष्णदास गोयन्दका**

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह
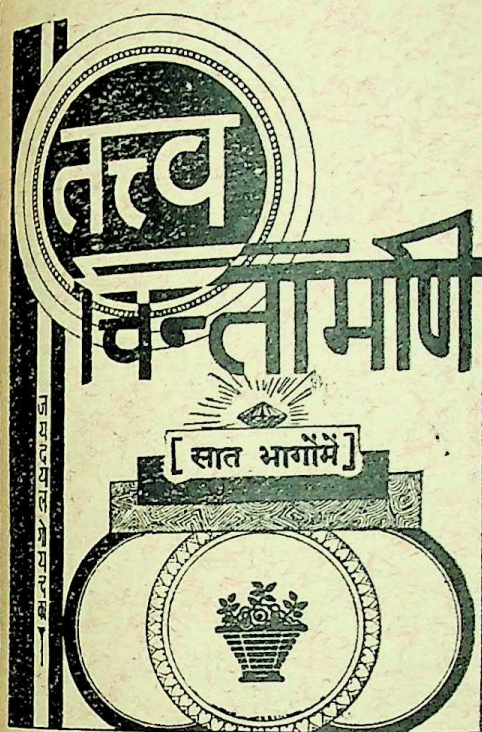
भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥=), सजिल्द ... १)

भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥।=), सजिल्द ... १।)

भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य ॥≡), सजिल्द ... १-)

भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य ॥।-), सजिल्द ... १≡)

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य ॥।-), सजिल्द ... १≡)

भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य १), सजिल्द ... १।=)

भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य १=), सजिल्द ... १॥)

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १५, सातोंका मूल्य ५॥≡) सजिल्द ८॥-), डाकखर्च अजिल्दका ३॥), सजिल्दका ४)।

भाग १ से ५ तकके छोटे आकारके गुटका संस्करण भी मिलते हैं।

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचोंका मूल्य १॥।), सजिल्द २॥।), डाकखर्च अजिल्दका १॥।=), सजिल्दका २=)।

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

हमारी पुस्तकें प्रायः छपे दामोंपर ही विक्रेतागण बेचते हैं, अतः पुस्तकें यहाँसे मँगवानेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपको भारी डाकख र्च की बचत होगी।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कृपालु लेखकोंसे प्रार्थना

'कल्याण'में प्रकाशित तीर्थाङ्ककी सूचनाको पढ़कर बहुत-से लेखकोंने अनेक लम्बे-लम्बे लेख भेजनेकी कृपा की है। उनके इस कृपापूर्ण परिश्रमके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। 'कल्याण'के इस तीर्थाङ्कमें भारतवर्षके प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थोंका परिचय देनेका विचार है। तीर्थ इतने अधिक हैं और उनके माहात्म्यादि इतने विस्तृत हैं कि यदि पूरा विवरण दिया जाय तो पाँच-सात तीर्थोंमें ही विशेषाङ्कका सारा कलेवर भर जाता है। इस दृष्टिसे यह सोचा गया कि लेख तो प्रायः इसमें रहेंगे ही नहीं। तीर्थोंके वर्णन भी परिचयात्मक रहेंगे, विस्तारसे नहीं। इसलिये जो अधिक विस्तारसे लिखे हुए लेख हैं, उनका सार ही इसमें दिया जायगा। इसके लिये लेखक महोदय परिस्थिति समझकर कृपापूर्वक क्षमा करें।

यह प्रार्थना की गयी थी कि जूनके अन्ततक ही 'तीर्थ-परिचय' मिलना चाहिये। पर हमारे कृपालु लेखक, जो 'कल्याण'को अपना ही समझते हैं, कृपापूर्वक अबतक लेख भेजे जा रहे हैं। लेख इतने अधिक आ गये हैं कि उनके छापनेकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतएव लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि अब और लेख न भेजें; क्योंकि उनका उपयोग होना बड़ा कठिन है। अपनी परिस्थितिके लिये मैं पुनः करबद्ध क्षमा चाहता हूँ।

'सम्पादक'—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ९

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन सं० २०१३, सितम्बर १९५६

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर आश्विन २०१३, सितम्बर १९५६ | संख्या ९ पूर्ण संख्या ३५८

अद्भुत बालक

नीलश्याम अद्भुत तेजोमय बालक कमलनयन भुज चार ।
चक्र-गदा दक्षिण-कर शोभित, वाम शंख-पंकजको धार ॥
कौस्तुभमणि श्रीवत्स वक्षपर उरमें रत्न-कुसुमके हार ।
अति सुन्दर पीताम्बर कटिमें करधनि मणिमय शोभा सार ॥
मणिवैदूर्य-महार्घ-विनिर्मित मुकुट शीश घुँघराले केश ।
चमक रहे अति सूर्य-रश्मि-से पाकर कुण्डल-कान्ति विशेष ॥
भुज अंगद राजत, कर कङ्कण, रत्नाभरण सुशोभित वेश ।
परम मनोहर रूप-माधुरी सुन्दरताकी सीमा-शेष ॥

याद रक्खो—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति तुम्हारे मनकी कल्पना है। वही परिस्थिति एक मनुष्यको अनुकूल दीखती है, दूसरेको प्रतिकूल। तुमको ही एक समय जो परिस्थिति अनुकूल लगती है, वही दूसरे समय प्रतिकूल लग सकती है। तुम्हारे मनके राग-द्वेषके कारण ही तुम्हें अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दिखायी देती है।

याद रक्खो—परिस्थितिके सम्बन्धमें तुम्हारे मनकी कल्पना तो है ही, पर यदि वे आती भी हैं, तो तुम्हारे लाभके लिये ही आती हैं। तुमको चाहिये कि तुम न तो अनुकूल परिस्थितिकी इच्छा करो, न प्रतिकूल परिस्थितिसे भय करो। जो भी परिस्थिति आ जाय, उसीसे लाभ उठाओ। विचार तथा क्रियाके द्वारा उसका सदुपयोग करके उसे अपने साधनमें सहायक बना लो।

याद रक्खो—संसारमें जिन वस्तुओंको तुम चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको, तथा जिनको नहीं चाहते उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको प्रतिकूल परिस्थिति मानते हो और जिन वस्तुओंको नहीं चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको तथा जिनको चाहते हो उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको अनुकूल परिस्थिति मानते हो। असलमें दोनों ही तुम्हारी कामनाके आधारपर कल्पित मान्यता हैं। तथापि तुम्हारी बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इन दोनोंको ही अपने कार्यकी सफलतामें साधन बना लो।

याद रक्खो—तुम जिसको नहीं चाहते, उसके मिलनेका नाम तुम्हारी भाषामें दुःख है और जिसको चाहते हो, उसके मिल जानेका नाम सुख है। यह तो जानते-मानते ही हो कि दुःख पापका फल है और सुख पुण्यका। अतएव जब दुःख आवे तब तुम यह निश्चय करो कि दुःखरूपी फल भुगताकर मेरा पाप नष्ट किया जा रहा है—मैं पवित्र हो रहा हूँ, अतएव मेरे लिये यह दुःख पापनाशक होनेके कारण सुखरूप है। ऐसा निश्चय करना उस दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग करना है।

दूसरा यह निश्चय करो कि दुःख मेरे अपने ही किये हुए पापका फल है और बड़ा क्लेशदायक है। मुझे यह ज्ञान हो गया—अतः अब मैं इस जीवनमें कभी पाप करूँगा ही नहीं, जिससे भविष्य-जीवनमें मुझे दुःख प्राप्त होगा ही नहीं'। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

तीसरा यह निश्चय करो कि दुःखमें मुझे कितना भारी कष्ट होता है, इस अवस्थामें मैं सबसे सहायता और सहानुभूतिकी आशा करता हूँ; चाहता हूँ—कोई अपना सुख देकर मेरा दुःख मिटा दे। इसी प्रकार जिन लोगोंपर दुःख आया हुआ है, वे भी दुःखमें सहायता-सहानुभूति चाहते हैं, इस दुःखने मुझे यह सत्य दिखला दिया है। अतः अब मैं अपनी सुखकी स्थितिमें उस सुखको दुखियोंमें बाँट-बाँटकर उनके साथ सच्ची सहानुभूति दिखाकर उनके दुःखका हरण करके सुखी बनूँगा। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

चौथा यह निश्चय करो कि दुःखमें भगवान्‌की याद आती है तथा संसारसे विरक्ति-सी होती है, इसलिये भगवान्‌की याद दिलानेवाला तथा वैराग्य करानेवाला होनेके कारण यह दुःख मेरे लिये बड़ा ही मङ्गलमय है। इस दुःखकी स्थितिमें मैं भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका खूब स्मरण करूँ और अपना जीवन उनके अर्पण कर दूँ—इस प्रकार निश्चय करके भगवत्स्मरण करना और भगवान्‌के

शरणागत हो जाना—दु:खकी परिस्थितिका बहुत सुन्दर सदुपयोग है ।

याद रक्खो–इसी प्रकार सुखकी परिस्थितिमें हर्ष तथा अभिमानमें न भरकर—प्रमाद न करके उसका सदुपयोग करो । ऐसा निश्चय करो कि सुख पुण्यका फल है, पुण्य पूरा होते ही यह सुख भी समाप्त हो जायगा । अत: मैं बराबर पुण्य कर्म ही करूँगा । यह निश्चय उस सुखका सदुपयोग है ।

दूसरा यह निश्चय करो कि मेरे पास जो सुख है, यह दुखियोंकी अपेक्षासे ही है, अत: यह उन्हींकी सम्पत्ति है, अत: इस सुखको मैं उन्हींमें बाँटा करूँगा । यह निश्चय करके अपने सुखको दुखियोंमें बाँटकर उनको सुखी बनाओ । यह सुखका सदुपयोग है ।

तीसरा यह निश्चय करो कि मैं इस सुखमें प्रमाद-वश सत्कर्म करना छोड़कर तथा भगवान्‌को भूलकर सुखोपभोगमें लग जाऊँगा तो—पुण्य क्षीण होते ही यह सुख तो चला ही जायगा । पर मैंने जो सुखोपभोगकी इच्छा तथा क्रियामें पाप कमाया, उसका बुरा फल अगले जन्मोंमें मुझे भोगना पड़ेगा तथा भगवान्‌के भूलनेसे मानवजीवन जो व्यर्थ गया, यह महान् हानि होगी । अत: मैं इस सुखको भगवान्‌की स्मृतिमें साधन बनानेके लिये इसे भगवान्‌के अर्पण करता रहूँगा तथा उन्हें सदा याद रक्खूँगा और जो पुण्यकर्म करूँगा, वह भी निष्काम-भावसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही । यह भी सुखका बहुत सुन्दर सदुपयोग है ।

चौथा यह निश्चय करो कि भगवान्‌ने अपना परम विश्वासपात्र, ईमानदार और क्रियाकुशल जन समझकर मुझे अपनी सेवामें नियुक्त किया है और यह सुखरूप अपनी चीजें यथायोग्य सेवा करनेके लिये सौंपी हैं । वस्तु उनकी है, शक्ति उनकी है, प्रेरणा उनकी है और विश्वके जीवमात्रके रूपमें प्रकट भी वही हैं । मुझे तो केवल उन्होंने निमित्त बनाकर सेवकपदका गौरव दिया है । अतएव मैं इस सुखसामग्रीको भगवान्‌की वस्तु मानकर निरन्तर ईमानदारीके साथ परिश्रमपूर्वक यथायोग्य सावधानीसे उनकी सेवामें लगाता हुआ अपनेको धन्य समझूँगा । और यों करने लग जाओ । यह सुखकी परिस्थितिका बहुत श्रेष्ठ सदुपयोग है ।

याद रक्खो–इस प्रकार सुख-दु:खका—अनुकूल-और प्रतिकूल परिस्थितिका सावधानीसे सदुपयोग करोगे तो वे तुम्हारे जीवनके असली उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो जायँगी । अतएव न किसी खास परिस्थिति-की इच्छा करो, न किसी प्राप्त परिस्थितिको बदलना चाहो । जो भी परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उससे लाभ उठाओ ।

याद रक्खो–प्रत्येक परिस्थितिको—उसे अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर परमात्माकी माया समझो, उसे केवल देखते रहो और किसी भी परिस्थितिसे जरा भी प्रभावित न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित रहो, यह भी इनका श्रेष्ठ सदुपयोग है और अवश्य होता है, यह निश्चित है । फिर, मानना न मानना तो अपने अधिकारकी बात है ।

...बातें बनाना और शास्त्रोंकी ...अपना काम समझते हैं । उनमें मुमुक्षा तो ...भी नहीं होती, उसका दम्भ अवश्य होता है ।

...र-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर प्राप्ति होनेमें देर ...ी नहीं । सत्य बात तो यह है कि मनुष्यको ...क्षात्कारकी इच्छा ही नहीं होती; और वह कहता है ...ई ! यह इतना कठिन काम है कि इसका हो सकना ...हीं है ।' इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको धोखा

अब एक बात समझ लेनेकी है । अपने शास्त्रोंमें अधिकारके अनुसार विभिन्न साधनप्रणालियाँ बतलायी गयी हैं और इसीलिये पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार किया जाता है। 'ईश्वर-साक्षात्कार', 'आत्मसाक्षात्कार', 'आत्मा-परमात्माका मिलन', 'भगवत्प्राप्ति', 'भगवद्दर्शन', 'आत्मज्ञान' आदि विभिन्न शब्दोंका प्रयोग एक ही स्थितिको बतानेके लिये होता है । एक गीतामें ही देखिये तो

क्या ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया ।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम् ॥
साक्षात् कृत्वापरिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम् ।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय ॥
(८२-८३)

'तत्त्वोपदेश' नामक ग्रन्थमें श्रीशङ्कराचार्य अपने शिष्यको साक्षात्कार—ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकी विधि बतलाते हुए सब बातें समझाकर उपसंहारमें कहते हैं—'शिष्य ! इस प्रकार साक्षात्कारके सम्बन्धमें श्रुतियोंके सिद्धान्तको साररूपमें मैंने तुमको बतलाया । अब इसी प्रकार अपनी बुद्धिके द्वारा यथार्थ निश्चय करके निदिध्यासन करो, उसको जीवनमें उतारो । फिर जिसमें द्वैतभावका सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसे अपने आनन्दरूप अविनाशी परब्रह्मका साक्षात्कार करके तुम स्वयं इसी जीवनमें—इस शरीरमें रहते हुए ही भलीभाँति मुक्त हो जाओ तथा विश्रान्तिको प्राप्त करके शान्तिका आश्रय करो—जीवन्मुक्त होकर विचरो ।'

इस प्रकार 'ईश्वर-साक्षात्कार' एक सत्य तत्त्व है । इतनेपर भी मनुष्योंको उसपर शंका हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि जीवोंका यह स्वभाव है, उनको ऐसा विचार हुआ ही करता है कि क्या सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार होता है ? अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तो कहते हैं कि 'यह 'स्वयंविमोहन' (Auto-hypnotism) के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह तो अपने-आपको धोखा देनेके समान है ।' इस स्थितिमें आज हमलोग इस विषयपर विचार करेंगे ।

... श्रोत्रिय तथा ...

हूँ कि ईश्वरका साक्षात्कार किसीको हो सकता भी है या क्या केवल मनका भ्रममात्र है (अंग्रेजीमें—Self-deception, आत्म-प्रतारणा है) ?

उत्तर—भाई ! आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया । मैं आपको स्पष्ट शब्दोंमें जनाता हूँ कि मुझको ईश्वरका साक्षात्कार हो गया है और सदा-सर्वदा सर्वत्र मुझे उसीके दर्शन होते रहते हैं ।

प्रश्न—परंतु महाराज ! आपको सचमुच ही साक्षात्कार हुआ है, या साक्षात्कारका केवल आपका मानसिक भ्रम है ? इसका निश्चय कैसे हो ?

उत्तर—मानना न मानना तो आपकी इच्छापर निर्भर है, परंतु मुझे तो इतना निश्चय है कि इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भ्रम होना सम्भव है; क्योंकि वहाँ हमें अपने सीमित-मर्यादित शक्तिवाले साधनोंसे असीम, अनन्त और अपार ब्रह्माण्डका ज्ञान प्राप्त करना है; उदाहरणके लिये—अमेरिकाकी सुप्रसिद्ध 'श्मीट' दूरबीनसे प्राप्त ज्ञानमें भ्रमका रहना सम्भव है । कारण, आज यह दूरबीन सर्वोपरि मानी जाती है; परंतु भविष्यमें इससे भी अधिक शक्तिवाली दूरबीनका बनना और उसके द्वारा देखनेपर आजके ज्ञानका भ्रमयुक्त सिद्ध होना सम्भव है ।* परंतु ईश्वरके साक्षात्कारमें भ्रम होनेकी सम्भावना ही नहीं है । आप यहाँ मेरे सामने बैठे हुए जितने प्रत्यक्ष हैं, मेरे लिये इससे भी अधिक प्रत्यक्ष ईश्वर है । इसका कारण यह है कि आप शरीरसे दूर बैठे हैं; परंतु ईश्वरका अनुभव तो शरीरके रोम-रोममें होता रहता है । इससे बढ़कर स्पष्टीकरण और क्या होगा ?

असलमें दोनों ही तुम्हारी कामनाके आधारपर कल्पित मान्यता हैं । तथापि तुम्हारी बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इन दोनोंको ही अपने कार्यकी सफलतामें साधन बना लो ।

याद रक्खो—तुम जिसको नहीं चाहते, उसके मिलनेका नाम तुम्हारी भाषामें दुःख है और जिसको चाहते हो, उसके मिल जानेका नाम सुख है । यह तो जानते-मानते ही हो कि दुःख पापका फल है और सुख

चौथा यह निश्चय करो कि दुः[ख] ... है तथा संसारसे विरक्ति-सी होती है, इस[लिये] ... याद दिलानेवाला तथा वैराग्य करानेवाला हो[नेसे] यह दुःख मेरे लिये बड़ा ही मङ्गलमय है । इ[स] स्थितिमें मैं भगवान्के शरणापन्न होकर उनका स्[मरण] करूँ और अपना जीवन उनके अर्पण कर[ूँ] ... प्रकार निश्चय करके भगवत्स्मरण करना और ...

प्रश्न—परंतु महाराज ! श्रुति तो कहती है कि 'अविज्ञातं विजानताम्' यानी जो यह कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार हो चुका है' उनको तो वह हुआ ही नहीं, इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इस श्रुतिवाक्यको मैं जानता हूँ और जाननेपर भी यह कहता हूँ कि मुझे सर्वत्र ईश्वरके ही दर्शन होते हैं। आप इस श्रुतिवाक्यका तात्पर्य नहीं समझते, इसीसे आपको इसमें विरोध भास रहा है, बस, इतनी ही बात है।

प्रश्न—तब क्या महाराज ! मेरे-जैसा मनुष्य भी सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है ?

उत्तर—अवश्य, ईश्वरका साक्षात्कार करनेमें अमुक वर्णका ही अधिकार है, ऐसी बात नहीं है। अमुक आश्रमका अधिकार है, ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार पुरुष साक्षात्कार कर सकता है, स्त्री नहीं कर सकती, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। वहाँ तो सबका समान अधिकार है; फिर आप क्यों नहीं कर सकते ?

बहुत-से लोग तो स्वयं ही अपनेको धोखा देते हैं। वे मुँहसे तो ऐसा कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार करना है, पर साथ ही यह भी कहते हैं कि यह बड़ी कठिन बात है।' परंतु मेरा अनुभव तो यह कहता है कि मनमाने विषयोंकी प्राप्ति करना जितना कठिन है, उतना कठिन काम ईश्वरकी प्राप्तिका नहीं है। विषयोंकी प्राप्तिके लिये जितना परिश्रम मनुष्य करता है, उसका दशांश परिश्रम भी ईश्वरकी प्राप्तिके लिये नहीं करना पड़ता। सच बात तो यह है कि मनुष्यको जितनी इच्छा विषयप्राप्तिकी है, उससे आधी जिज्ञासा भी ईश्वर-प्राप्तिके लिये नहीं है। 'बोधसार' में ठीक ही कहा है—

मुमुक्षा दम्भमात्रं ते न ते तीव्रा मुमुक्षुता।
तीव्रा यदि मुमुक्षा स्यान्न विलम्बो भवेदिह॥

साधारण मनुष्य तो केवल बातें बनाना और शास्त्रोंकी निन्दा करना ही अपना काम समझते हैं। उनमें मुमुक्षा तो नाममात्रको भी नहीं होती, उसका दम्भ अवश्य होता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर प्राप्ति होनेमें देर लगती ही नहीं। सत्य बात तो यह है कि मनुष्यको ईश्वर-साक्षात्कारकी इच्छा ही नहीं होती; और वह कहता है कि 'भाई ! यह इतना कठिन काम है कि इसका हो सकना सम्भव नहीं है।' इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको धोखा देता है और या तो ईश्वर-प्राप्तिको अत्यन्त कठिन बतलाता है, अथवा तो 'यह एक भ्रम है—मनकी एक कल्पनामात्र है', यों जगत्में कहता-फिरता है। जगत्में बहुत-से लोग इस प्रकारके मनुष्योंकी बातोंको सच मानकर अपनी मंद जिज्ञासाको भी गँवा बैठते हैं।

पर, ईश्वर-साक्षात्कार तो बहुतोंको हुआ है। आज भी होता है और साधना करनेपर भविष्यमें भी हुए बिना नहीं रहेगा। जो लोग कहते हैं कि 'ईश्वर-साक्षात्कार होता ही नहीं है, अथवा तो वह केवल मानसिक भ्रममात्र है,' वे कुछ भी परिश्रम न करके केवल बकवाद ही करनेवाले हैं।

मेवाड़में मीराँबाईको, दक्षिणमें तुकारामको, सौराष्ट्रमें नरसी मेहताको और बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसको ईश्वर-साक्षात्कार होनेकी बात सभी मानते हैं। जैसे दो प्राकृत मनुष्य परस्पर बातें करते हैं, वैसे ही ये लोग अपने-अपने इष्टदेवके साथ प्रत्यक्ष बातचीत किया करते थे, यह जनसाधारणको भी अच्छी तरह विदित है। भक्त बोडाणाके लिये तो भगवान्ने अपने अर्चाविग्रहको चेतन बनाकर उसकी गाड़ी हाँकी और देखते-ही-देखते क्षणोंमें उसे द्वारकासे डाकोर पहुँचा दिया था। श्रीचैतन्यमहाप्रभु तो चौबीसों घंटे ईश्वरके भावावेशमें ही रहते। स्वामी रामतीर्थको हुए अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं। वे भाषण देते-देते, अथवा ओंकारका गुंजार करते-करते आत्मभावमें लीन हो जाते और थोड़ी देरके बाद वृत्तिके बहिर्मुख होनेपर पुनः भाषण चालू करते। श्रीरमण महर्षिको ब्रह्मलीन हुए अभी एक दशक भी नहीं बीता है। वे भी भावसमाधिमें ही रहते। इस बातको बहुत-से देशी-विदेशी तथा अन्यधर्मी पुरुषोंने भी आँखों देखा है। इस समय भी ईश्वर-साक्षात्कारको प्राप्त पुरुष हैं। इस प्रकार ईश्वर-साक्षात्कार होता है, हुआ है और अवश्य होता है, यह निश्चित है। फिर, मानना न मानना तो अपने अधिकारकी बात है।

अब एक बात समझ लेनेकी है। अपने शास्त्रोंमें अधिकारके अनुसार विभिन्न साधनप्रणालियाँ बतलायी गयी हैं और इसीलिये पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार किया जाता है। 'ईश्वर-साक्षात्कार', 'आत्मसाक्षात्कार', 'आत्मा-परमात्माका मिलन', 'भगवत्प्राप्ति', 'भगवद्दर्शन', 'आत्मज्ञान' आदि विभिन्न शब्दोंका प्रयोग एक ही स्थितिको बतानेके लिये होता है। एक गीतामें ही देखिये तो

इसके लिये भिन्न-भिन्न कई शब्दोंका प्रयोग मिलेगा । यहाँ शब्दोंमें विभिन्नता होनेपर भी तात्पर्य एक ही है और विभिन्न शब्दोंके प्रयोगका कारण साधनप्रणालियोंका भेद है ।

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः ।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः ॥

उस परमतत्त्वको भक्त भगवान् कहते हैं, अष्टाङ्गयोगी परमात्मा, वेदान्ती ब्रह्म और ज्ञानयोगी ज्ञान—ज्ञानस्वरूप कहते हैं ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(श्रीमद्भागवत १ । २ । ११)

एक ही अद्वयज्ञानतत्त्वको तत्त्ववेत्तागण 'ब्रह्म' कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं तो कोई भगवान् कहते हैं । नाम पृथक्-पृथक् हैं, वस्तुतत्त्व एक ही है ।

इतना स्पष्टीकरण करनेमें हमारा हेतु यह है कि आजकल लोग गुरुके समीप रहकर शास्त्राभ्यास तो करते नहीं, अपने-आप ही ग्रन्थ पढ़ने लगते हैं । ग्रन्थोंमें प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग देखकर उनको विरोध दिखायी देता है और वे 'स्वयं नहीं समझते' ऐसा न मानकर 'यह सब मिथ्या है' यों कह देते हैं ।

फिर, कुछ लोग यह पूछा करते हैं कि 'क्यों तो इतनी साधनप्रणालियाँ बतायी गयीं और क्यों इतने शब्दोंका ही प्रयोग किया गया ?' इस प्रश्नका उत्तर एक स्थूल दृष्टान्तसे समझिये । विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले कई मनुष्योंको बंबई जाना है । सौराष्ट्रमें रहनेवाला पूर्वकी ओर होकर दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है । मलाबारसे जानेवाला उत्तरकी ओर यात्रा करके वहाँ पहुँचता है और बंगालसे आनेवाला मनुष्य पश्चिमकी ओर होता हुआ दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है । यों प्रत्येकके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग अनिवार्य हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न दिशाओंके प्रदेशोंसे बंबई जाते हैं । इसी प्रकार किन्हीं भी दो मनुष्योंकी बुद्धिपर स्थित संस्कार एक-से नहीं होते । इसका कारण पूर्वजन्मके कर्म हैं । यों समस्त साधकोंको पहुँचना तो है उस एक ही मुकामपर—एक ही परमात्मामें, परंतु संस्कार-भेदके कारण सबका अधिकार एक-सा नहीं होता । इसीलिये भिन्न-भिन्न साधनमार्गोंका होना अनिवार्य है । संक्षेपमें इतना ही समझ लेना है कि चेतन सत्ता एक ही है और वही अनेक नामोंसे पुकारी जाती है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।' सद्वस्तु एक ही है, चेतन एक ही है; परंतु अधिकारभेदसे विद्वानोंने उसका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है ।

इस बातको शास्त्रने यों समझाया है—

मणिर्यथाविभागेन नीलपीतादिभिर्युता ।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः ॥

एक स्फटिक मणि रक्खी हो और उसके चारों ओर नीले, पीले, लाल, काले पुष्प पड़े हों । इससे पृथक्-पृथक् दिशाओंसे देखनेपर मणि पृथक्-पृथक् रंगोंकी दिखायी देगी । परंतु मणि तो शुद्ध-श्वेत ही है, केवल पुष्पोंका रंग उसमें प्रतिबिम्बित होता है । इसी प्रकार परमात्मा स्वरूपतः एक ही है, तथापि साधनप्रणालियोंके भेदसे उसको भिन्न-भिन्न प्रकारसे साधकगण भजते हैं और बुद्धिके संस्कारभेदके कारण भिन्न-भिन्न साधनप्रणालियोंका होना अनिवार्य है ।

फिर, यदि ईश्वरीयसाक्षात्कार न होनेकी बात होती, वह केवल बुद्धिका भ्रम ही होता, तो जीवन्मुक्तकी स्थितिका वर्णन, जो अनादिकालसे चला आता है, न चलता । झूठी बात सदा नहीं निभ सकती । एक मनुष्यको बहुत कालतक भ्रममें रक्खा जा सकता है, सब लोगोंको थोड़े दिनोंके लिये भ्रममें रक्खा जा सकता है, परंतु सारे जगत्को सदाके लिये भ्रममें रखना नहीं बन सकता । ईश्वर-साक्षात्कार यदि बुद्धिका भ्रम ही होता तो कोई भी विचारशील पुरुष उसके लिये अथक परिश्रम नहीं करता और आज भी शास्त्ररीतिके अनुसार यदि कोई मुमुक्षु साधना करता है तो उसको ईश्वर-साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता । जबतक ईश्वर है, तबतक ईश्वरका साक्षात्कार होगा ही और ईश्वर सदा-सर्वदा रहेगा ही । उसका अभाव कभी सम्भव ही नहीं ।

दूसरी तरहसे देखें तो न्यायदर्शन कहता है—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।'

कोई भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो तो एक बुद्धिहीन मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता, तो फिर शास्त्रोंको ऐसा क्या प्रयोजन था कि वे मनुष्योंको भ्रममें डालते ! वेद तो ईश्वरप्रणीत हैं, उपनिषद् साक्षात्कार प्राप्त किये हुए ऋषियोंकी प्रसादी हैं, स्मृतिग्रन्थ और पुराण भी तपःपूत ऋषियोंके द्वारा लिखित हैं । इन ऋषियोंमें कोई भी ईषणा नहीं थी । वे अरण्यमें त्यागप्रधान तपस्वी जीवन बिताते थे । उनको लोककल्याणके सिवा दूसरी कोई कामना ही नहीं

थी । ऐसी स्थितिमें उनको एक भ्रममूलक सिद्धान्तको उपस्थित करनेमें क्या प्रयोजन हो सकता है ? सच बात तो यह है कि मानव-जीवनकी चरितार्थताही है—ईश्वर-साक्षात्कार कर लेनेमें । विषय-भोग तो सभी योनियोंमें बिना परिश्रम ही प्राप्त हैं । इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनका बतलाया हुआ सिद्धान्त यथार्थ ही है और वह लोक-कल्याणके लिये ही है ।

एक वैज्ञानिकने कहा—दो भाग 'हाइड्रोजन' और एक भाग 'ऑक्सीजन' मिलानेपर जल बन जाता है । यह सुनकर एक सज्जन कहने लगे कि 'तुम्हारी यह बात झूठ है; हवासे जल बन जाता है, ऐसी असम्भव बात हम नहीं मान सकते ।' पर यों कहना उचित नहीं है । इस बातको झूठ वही बता सकता है जो साधन-सम्पन्न होकर 'हाइड्रोजन' और 'ऑक्सीजन'को पहचानता हो और प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करके सिद्ध कर दे कि इनसे जल नहीं बना । इतना किये बिना इस सिद्धान्तको झूठा बताना मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है ।

ऐसी ही बात आध्यात्मिक सत्यकी है । पद्धतिके अनुसार अभ्यास करके, यम-नियमादि साधन करके, षट्सम्पत्तिका अनुशीलन करके, विवेकयुक्त तीव्र वैराग्य धारण करके, अन्तःकरणके मल और विक्षेप-दोषका कर्म तथा उपासनाके द्वारा निराकरण करके कोई तीव्र मुमुक्षावाला साधक ईश्वर-साक्षात्कारके लिये गुरुके सामने रहकर साधन करे और उसे ईश्वरका साक्षात्कार न हो, तो वह कह सकता है कि—ईश्वरका साक्षात्कार मनका एक भ्रममात्र है । परंतु ऐसे साधन-सम्पन्न पुरुषको साक्षात्कार हुए बिना रहता ही नहीं । ईश्वरके ऐसे ही वचन हैं और वेद भी उसीकी साक्षी देता है ।

अब एक बात और कहनी रह गयी । विज्ञानका भौतिक प्रयोग करते समय भी 'इस प्रयोगका अमुक परिणाम आवेगा' ऐसी श्रद्धासे ही प्रयोगका प्रारम्भ होता है । परंतु इसमें कुछ अंशमें कुतूहल-वृत्ति भी होती है कि 'देखें तो सही क्या होता है ?' पर अध्यात्म-साधनामें तो ऐसी बात चलती ही नहीं; वहाँ तो सम्पूर्ण श्रद्धा चाहिये । कुतूहल वृत्तिका लेशमात्र भी वहाँ नहीं रहता । श्रद्धाके बिना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाता है । यह बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
> असदित्युच्यते पार्थ न तत्प्रेत्य नो इह ॥
> (गीता १७ । २८)

अश्रद्धासे किया हुआ यज्ञ, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप—अभिप्राय यह कि अश्रद्धासे किया गया कोई भी कर्म हे पार्थ ! व्यर्थ ही जाता है । उसका फल न तो इस लोकमें मिलता है, न परलोकमें ही ।

तब अध्यात्म-साधनामें क्या आवश्यक है ? यह प्रश्न सहज ही होता है और इसका उत्तर भी भगवान्‌ने पहलेसे दे रक्खा है—

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
> (गीता ४ । ३९)

तात्पर्य यह कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—ईश्वरका साक्षात्कार करनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है श्रद्धा-की । श्रद्धाकी कमी होगी तो साधना भाव और प्रेमसे होगी ही नहीं और अध्यात्ममार्गमें उसका होना अनिवार्य है । इसके बाद साधनामें 'तत्परता' चाहिये । दो दिन करें और चार दिन न करें, इससे काम नहीं चलता । साधना तो सतत और आलस्य-प्रमादसे रहित होनी चाहिये और सबसे अधिक आवश्यक है 'इन्द्रियनिग्रह' । इन्द्रियोंका संयम न होगा तो जैसे छेदवाले घड़ेसे जल निकलता जाता है, इसी प्रकार साधनाका बल भी घटता चला जाता है । ये तीनों बातें होती हैं तो ज्ञान होता है और ज्ञान होते ही तत्काल शान्ति मिल जाती है । इसीका नाम है—ईश्वर-साक्षात्कार ।

> हरिका मार्ग शूर-वीरोंका कायरका नहिं काम भाई ।
> सबसे पहले मस्तक देकर पीछे लेना नाम भाई ॥

भक्तकी रीति

> **प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति ।**
> **तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ॥**

—गोस्वामी तुलसीदास

तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमारा मन वहीं लगता है, जहाँ हमारी अभिलषित वस्तु होती है, जहाँ हमें अपनी रुचिके अनुकूल सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिखायी देते हैं। विचार करके देखनेसे पता लगता है कि जगत्में हम जो प्रिय वस्तु, सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि देखते हैं, उन सभीका पूर्ण अमित अनन्त भण्डार श्रीभगवान् हैं। समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त सुख-सौन्दर्य भगवान्के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं। हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती। अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्में देखना चाहिये। फिर हम कभी भगवान्से अलग नहीं होंगे और भगवान् हमसे अलग नहीं होंगे; क्योंकि सब कुछ भगवान्से, भगवान्में है तथा भगवत्स्वरूप ही है—भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

'जो मुझको सबमें देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता। भाव यह कि वह मुझे देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।'

इसीके साथ हमें अपनेको ऐसा बनाना चाहिये जो भगवान्को अत्यन्त प्रिय हो। गीता बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(गीता १२ । २०)

'जो मेरे परायण हुए श्रद्धालु भक्त ऊपर बताये हुए इस धर्ममय अमृतकी भलीभाँति उपासना करते हैं अर्थात् उस प्रकारका अपना जीवन बनानेमें तत्पर होते हैं, वे मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसलिये हमें अपनेमें उन सब भावोंकी दृढ़ स्थापना करनी चाहिये जो भगवान्को प्रिय हैं। ऐसा होनेपर जब भगवान् हमसे प्रेम करने लगेंगे, उनका मन हममें लगा रहेगा—(प्रेम तो वे अब भी करते हैं; परंतु हमें उसका अनुभव नहीं होता, उनके अनुकूल आचरण करनेसे अर्थात् उन सब प्रिय गुणोंको जीवनमें उतारनेसे हमें भगवान्के प्रेमका अनुभव होने लगेगा) तब हमारा मन भी उनमें लगा रहेगा। हमें तो बस, विनोदपूर्वक भगवान्से यही भाव रखना चाहिये और यही मन-ही-मन कहना चाहिये कि 'प्रभो! न तो मैं दूसरेको देखूँगा और न आपको देखने दूँगा।

आवहु मेरे नयनमैं पलक बंद करि लेउँ ।
ना मैं देखौं और कौं ना तोहि देखन देउँ ॥
नारायन जाके हृदै सुंदर स्याम समाय ।
फूल-पात-फल-डार मैं ताकौं वही दिखाय ॥

विद्याका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

कहते हैं कोई आधुनिक बहुविद्याविद् किसी नावसे कहीं जा रहा था । बीच नदीमें जानेपर उसने मल्लाहसे आकाशकी ओर देखकर पूछा—'अरे भाई ! तुम नक्षत्र-विद्या पढ़े हो या नहीं ?' केवटने कहा—'बाबूजी ! मैं तो उसका नाम भी नहीं जानता ।' इसपर तथाकथित बहुविद्याविद्ने कहा—'भइया ! तब तो तुम्हारा एक चौथाई जीवन व्यर्थ गया ।' फिर थोड़ी देर बाद उसने कहा—'अच्छा गणित जानते हो ?' केवट बोला—'नहीं बाबू ।' 'ओह ! तब तो तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ गया; और [illegible] शास्त्र ?' केवटने कहा—'बाबू ! मैं शासतर-वासतर क्या जानूँ ।' इसपर शिक्षाविद् बोला—'अरे ! तब तो तुम्हारा तीन चतुर्थांश जीवन ही चौपट हो गया ।' [illegible] हो रही थीं कि बड़े जोरोंकी आँधी आयी [illegible] डगमगाने लगी । वैज्ञानिक बोला—'भइया ! अब [illegible] होगा ?' मल्लाहने कहा—'अब कोई चारा नहीं है—नाव डूबेगी, तुम तैरना जानते हो या नहीं ?' वैज्ञानिकने कहा—'नहीं भाई ! मैं तैरना तो नहीं जानता, फिर मेरा क्या होगा ?' मल्लाहने कहा—'बस, तब डूब मरो, तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनकी जो सार्थकता थी, वह अब तुम्हारे सामने है । तुमने सारी विद्याएँ पढ़ीं, पर तैरना नहीं जाना, अब वह सब व्यर्थ हुआ । अब बस, भगवान्का नाम लो । तुमने संसारसागरसे पार ले जानेवाली भगवान्की आराधनारूपी विद्या नहीं सीखी, इसीलिये तुम्हारे सामने ऐसा अवसर उपस्थित हुआ । वही सच्ची विद्या है, उसे न पढ़कर जो केवल लौकिक, भौतिक, प्रापञ्चिक विद्याओंके पण्डित बनकर गर्व करते हैं, उन्हें तो एक दिन यों ही डूबना पड़ता है ।'

सचमुच एक दिन यही होना है । गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

वह ज्ञान नहीं कुज्ञान है, जहाँ भगवत्प्रेम प्रधान न हो क्योंकि एक दिन निश्चय ही यही तमाशा उन ज्ञानियोंके भी सामने आनेको है—

'जोगु कुजोगु ग्यान अग्यानू । जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥'

'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू । करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥'

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।' [illegible]

[illegible] मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥

'जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें । तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें ॥'

'मैं यह पावन चरित सुहावा । रघुपति कृपा जथामति गावा ॥'

वस्तुतः तुलसीकी एक-एक पंक्ति, एक-एक मात्रपर सारे जड संसारको न्योछावर किया जा सकता है । रीझनेके लिये आज हम भले जडविज्ञानपर रीझकर बलिदान हो जायँ, पर इससे हमें जडताके अतिरिक्त दूसरी वस्तु हाथ न लगेगी । सुखके रूपमें बेचैनी, अशान्ति तथा निरवच्छिन्न पाप-ताप ही प्राप्त होंगे । वहाँ [illegible] मृगमरीचिकावत् ही है । हमें यह आज

बिधुबदनी सब भाँति सवाँरी ।

[illegible] महर्घता बढ़ जाने- [illegible]पर, थोड़ी और

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥
श्रीमद्भा० १ । ५ । १०)

'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।'
'तदेव सत्य तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥'
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४९-४८)

श्रीचैतन्यने भगवन्नाम, भगवदीयवार्ताको 'विद्यावधू-का जीवन' कहा है—

'श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।'

'विद्या धर्मेण शोभते' का भी भाव यही है । सत्तत्त्ववेत्ता, संतकुलकमलदिवाकर, मानसकारका तो यहाँतक कहना है कि साक्षात् शारदा भी भगवद्‌यशसे तृप्त, प्रसन्न तथा परम सुखी हो जाती हैं। जब कोई व्यक्ति काव्यरचनाकी सहायताके लिये उनका ध्यान करता है, तब वे दौड़कर ब्रह्मलोकसे आती हैं, उनकी वह थकान बिना रामचरित्रमानस-सरोवरमें स्नान किये मिटती नहीं । इतनेपर भी यदि वह व्यक्ति प्राकृत जनका गुणगान करता है या कोई अनाप-शनाप जड़वाद-का भाका पूच करता है तो सरस्वती सिर धुन-धुनकर समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त ... के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं । उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं । हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्‌में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती । अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्‌में देखना चाहिये । फिर हम कभी भगवान्‌से अलग नहीं होंगे और भगवान् हसता च भार्यां कुछ भगवान्‌से, ईं पराधीनमसत्प्रजां च ।

...तीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । १९-२०)

वास्तवमें विद्याकी सफलता भगवत्सम्बन्धी ज्ञान तथा भगवत्प्राप्तिमें ही है । विद्या कोई खेलवाड़ या हँसी-मजाक नहीं है । वह दुस्साध्य होनेके साथ महत्त्वपूर्ण भी है । उसके द्वारा विश्वकी सर्वोपरि वस्तु अमरत्व तथा प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है । 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' । भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेपर भला क्या अवशेष रह जाता है । उनकी तनिक-सी प्रसन्नतासे विश्वकी दुर्लभ वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं—

'तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

ऐसी दशामें यह ठीक ही है कि विद्याकी प्राप्ति भी बड़ी क्लिष्ट साधनासे किंवा भगवत्कृपासे ही सम्भव है। तुलसीदासजीने बड़े रम्य ढंगसे लिखा है—शारदा (विद्याधिष्ठातृदेवी) तो कठपुतली-जैसी हैं, भगवान् जिसपर जन जानकर प्रसन्न हो गये, वे उसके हृदय-प्राङ्गणमें उन्हें नचा डालते हैं, भगवत्कृपासे विद्याका नृत्य भगवद्भक्तके हृदय-प्राङ्गणमें प्रारम्भ हो जाता है—

...रुनारि सम स्वामी । रामु सूत्रधर अंतरजामी ॥
'जो...पा करहिं जनु जानी । कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥

इस धर्ममय **...मयी नारी नृत्यते कुहकेच्छया।**
उस प्रकारको **...या ब्राह्मी कवीन्द्रहृदयाङ्गणे ॥**
(पद्मपुराण)

मुझको अति... ...तके 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' तथा-इस...

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥
(२ । ४ । २२)

—आदि श्लोकोंका भी यही भाव है । सच्ची बात तो यह है कि भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादसे ही वास्तविक विद्याकी उपलब्धि सम्भव है, अन्य स्वतन्त्र साधनाओंसे नहीं। इस सम्बन्धमें भगवती लक्ष्मीकी बड़ी सुन्दर सूक्ति है। वे कहती हैं—'प्रभो ! मुझे प्राप्त करनेके लिये इन्द्र, अज, ईश, सुर, असुर सभी उग्र-से-उग्र तप किया करते हैं; किंतु मुझे आपके पदकमलमें अनुरक्त प्राणीको छोड़कर कोई भी प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि मैं आपकी चेरी हूँ, आपके हृदयमें जो हूँ'—

१. वस्तुतः लक्ष्मी, सरस्वती या सभी देवताओं तथा समस्त सद्‌गुणोंको प्राप्त करनेका उपाय भी भगवत्प्रसादावलम्बन ही है—

मत्प्राप्तये ऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद् धृदया यतोऽजित ॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। २२)

महर्षि वाल्मीकि, शुकदेव, आचार्य शंकर, कवि-कुलतिलक कालिदास, तुलसीदासजी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनकी दिव्य प्रतिभा तथा लोकोत्तर विद्या भगवान्‌की भास्वती भगवती अनुकम्पाकी ही प्रसूति है। इन्हें हमें साधारण नहीं समझना चाहिये। इनकी वाणीमें लेशमात्रका आडम्बर नहीं, अपितु शुद्ध सच्चिदानन्दमय तत्त्व है। इसे सरल हृदयसे ध्यान कर जाना जा सकता है। पर यह सौभाग्य किसी मात्सर्यग्रस्त, मोहान्ध अविद्याच्छन्न जीवको होना दुर्घट है। वाल्मीकि दस्युका कार्य करते थे, विद्याके पूरे शत्रु थे। पर 'मरा मरा'का (रामका उल्टा) अनन्त कालतक जप करनेपर भगवत्कृपासे उनके हृदयमें साक्षात् दिव्य तेजोमयी सरस्वती प्रवृत्त हुई और उन्होंने आदिकाव्यकी रचना कर डाली।

'मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती'
(वाल्मी० १। २। ३१)

वैसी ही शुकदेवजीकी भी समाधि-भाषा निरुपम है। वह काव्य-रचना तथा उच्चतम पवित्र भाव क्षण-भरके लिये सच्चिदानन्दलक्षण परमतत्त्वकी झाँकी कराने-की क्षमता रखता ही है। उस संतवाणीमें वह शक्ति है कि निर्विकार हृदयको आनन्दान्दोलित कर धन्य-धन्य बना देती है, उसमें एक विचित्र भगवद्भाव भर देती है। आजका पण्डितम्मन्य, दुस्तर अविवेक कलंक-पंक-मग्न प्राणी भले ही तुलसीको गालियाँ दिया करे और उनकी लाख तिरस्क्रिया या अवहेलना करे, पर है कोई आजका डिप्लोमाधारी माईका लाल जो एक भी मानस-सा ग्रन्थ-रत्न दे सके। आज प्रेसके कूड़ेखानेमें लाखों टन कागज संसार छापता है, पर कौन-सा नया ग्रन्थरत्न मानसकी जोड़ीका प्रकट हुआ है? हो कैसे? वह भगवत्कृपाका प्रतीक जो ठहरा। स्वयं कवि ही निश्छल (ढोंग नहीं सच्चे) भावसे बोल रहा है—

'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
'जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें॥'
'मैं यह पावन चरित सुहावा। रघुपति कृपा जथामति गावा॥'

वस्तुतः तुलसीकी एक-एक पंक्ति, एक-एक भावपर सारे जड संसारको न्योछावर किया जा सकता है। रीझनेके लिये आज हम भले जडविज्ञानपर रीझकर बलिदान हो जायँ, पर इससे हमें जडताके अतिरिक्त दूसरी वस्तु हाथ न लगेगी। सुखके रूपमें बेचैनी, अशान्ति तथा निरवच्छिन्न पाप-ताप ही प्राप्त होंगे। वहाँ विद्याकी भ्रान्ति मृगमरीचिकावत् ही है। हमें यह आज भले न समझ आये पर थोड़ी और महर्घता बढ़ जाने-पर, थोड़े और अधिक टैक्स लग जानेपर, थोड़ी और अधिक डकैती आदि दुष्काण्डों एवं अनाचारोंके बढ़ जानेपर या अणु हाइड्रोजन बमोंके फूट पड़नेपर पता लग ही जायगा। भगवान् ही बचायें इस महामोहमय अन्धाधुन्ध आकर्षणसे। भगवान् ही पार लगायें इस विद्या-सी प्रतीत होनेवाली घोर अविद्याके दुस्तर अपार वारिधिसे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः। एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ (श्रीमद्भा० ४। ८। ४१)

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय। रहिमन मूलहिं सींचिये फूलै फलै अघाय॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्तिका मार्ग अनादिकालसे हृदयस्थ शङ्काओंको मिटानेके लिये ही अपनाया जाता है । अतः छिपी हुई शङ्काएँ सामने आती रहती हैं और समाधान होनेपर शान्त हो जाती हैं । इस दृष्टिसे शङ्काओंका होना लाभप्रद है, पर जो स्वयं तो विवेकद्वारा समझता नहीं और समझानेवालेपर श्रद्धा नहीं करता, उसके लिये शङ्का हानिकर हो जाती है । जबतक भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक शङ्काओंका समूल नाश नहीं होता ।

(२) गायत्रीमन्त्रका जप सायंकाल बैठकर और प्रातःकाल खड़े होकर भी किया जा सकता है । जिस प्रकार जापक अधिक समयतक सुखपूर्वक स्थिर रह सके और जिस प्रकार करनेपर उसका मन स्थिर हो सके, वही उसके लिये श्रेष्ठ है । सबके लिये किसी एक ही प्रकारको ठीक बताना मुझे ठीक नहीं जँचता ।

(३) जिसका इष्ट गायत्री है, उसे जप उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उसका मन अधिक-से-अधिक प्रसन्नतापूर्वक जपमें लगा रहे ।

(४) जप करते समय ध्यान उसका करना चाहिये, जो साधकका इष्ट हो, जिसको वह सर्वोत्तम, सर्वशक्तिमान् मानता हो, जिससे बढ़कर किसी अन्यको न मानता हो । स्वरूपके विषयमें यह बात है कि जो स्वरूप उसके प्रेम और आकर्षणको बढ़ानेवाला हो, जिसके ध्यानमें उसका मन अनायास लगता हो, जिसपर उसका दृढ़ विश्वास हो, जिस स्वरूपका ध्यान वह कर सकता हो ।

(५) जपके विषयमें शास्त्रोंका कथन है कि वाणीद्वारा किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना श्रेष्ठ है और उससे भी मानस दसगुना श्रेष्ठ है । पर यह साधारण नियम हो सकता है । वास्तवमें जो जिसका अधिकारी है, उसके लिये वही अधिक श्रेष्ठ है ।

यदि वाणीद्वारा जप करनेसे उसमें मन लगता हो, रुचि बढ़ती हो, करनेमें सुगमता प्रतीत होती हो एवं मानसिक जप करते समय जपमें भूल होती हो, मनमें दूसरे संकल्प अधिक उठते हों, उत्साह और प्रीति न बढ़ती हो, मनमें उकताहट या आलस्य आता हो तो उसके लिये वाणीसे जप करना अच्छा है ।

ध्यानके लिये स्थान हृदयाकाश उत्तम माना जाता है । इसमें भी साधकको अपनी रुचि, प्रीति, श्रद्धा और योग्यतापर विचार करके ही निर्णय करना चाहिये ।

(६) गायत्रीपुरश्चरणके विषयमें मेरी अधिक जानकारी नहीं है । मैंने इसका विधिवत् अनुष्ठान कभी नहीं किया । अतः आप इसके विषयमें किसी विशेषज्ञसे पूछें तो अच्छा होगा ।

(७) मनको वशमें करनेके उपाय भगवान्‌ने दो बताये हैं—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य । केवल अभ्याससे मन वशमें नहीं होता, क्योंकि वैराग्यकी प्रधानता है (गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय ६ के २५-२६ वें और ३५-३६ वें श्लोक देखें) ।

(८) त्यागने योग्य संकल्प वही है, जो व्यर्थ हो, जिसमें किसीकी अहितकी भावना हो, जो भोगकामना तथा पापसे युक्त हो । आसक्तिपूर्वक होनेवाली सांसारिक स्मृतिको संकल्प कहते हैं ।

(९) 'सत्यम्' परमेश्वर सत्य है, 'शिवम्' वह

कल्याणमय है, 'सुन्दरम्' वह सब प्रकारसे सुखप्रद और आनन्दस्वरूप है । यह तीनोंका शब्दार्थ है । तीनों ही भगवान्‌के नाम हैं, अतः जब जिस मौकेपर आवश्यक हों, बोले जा सकते हैं ।

(१०) 'ॐ' यह भगवान् परब्रह्म परमेश्वरका नाम है । इसके द्वारा परमेश्वरकी ही उपासना, स्मरण और ध्यान किया जाता है । नाम और नामीकी एकता है । इस दृष्टिसे नामको भी अक्षरब्रह्म कहा जाता है और प्रभुके स्वरूपकी ही भाँति उनके नामका भी ध्यान किया जा सकता है । ॐकार भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंका वाचक है । अतः दोनों ही प्रकारके उपासक इसके द्वारा उपासना कर सकते हैं ।

(११) रामचरितमानसके पाठमें सम्पुट उस चौपाईका लगाया जाता है, जिसमें पाठककी कामना स्पष्ट व्यक्त होती हो । यदि सकाम न हो तो उसका लगाया जाता है, जो साधकको अधिक प्रिय हो, जिसके बार-बार बोलनेमें उसको अधिक प्रेम उमड़ता हो या भावकी जागृति होती हो और भगवान्‌की स्मृति होती हो । सम्पुट लगाये जानेसे वह कार्य सिद्ध होता है या नहीं, यह तो पाठककी श्रद्धा या प्रीतिपर तथा फलदाता ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है ।

(१२) गीता और रामायणका कितना पाठ करना चाहिये, इसकी सीमा नहीं होती । पाठ करनेवाला जितना कर सके, जहाँतक उसको कोई अड़चन या थकावटका अनुभव न हो, उत्साहमें कमी न आवे, भाव बढ़ता रहे, वहाँतक अवकाशके अनुसार करते रहना अच्छा है ।

(१३) पितर चाहे जिस योनिमें गया हो, उसके निमित्तसे किया हुआ श्राद्ध आदि पुण्यका फल उसे हरेक योनिमें समयपर मिलता रहता है । जैसे पुरुषको अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलता है, उसी प्रकार उसके निमित्त दूसरोंके द्वारा दिये जानेपर भी उसे मिलता है । जैसे बैंकमें कोई भी चाहे जिसके नामपर रुपया जमा कर सकता है, पर वापस नहीं ले सकता ।

(१४) ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदयसे तीन घंटे पहलेका समय माना गया है । गायत्रीमन्त्रका जप वैसे तो जब भी पवित्र होकर किया जाय तभी अच्छा है । पर सूर्योदयसे पहलेका समय अधिक उत्तम है, क्योंकि उस समय चित्त शान्त रहता है ।

(१५) आत्माको पहचाननेका तरीका है—नित्य और अनित्यका विवेचन और समझमें आयी हुई बातपर दृढ़ विश्वास ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पोस्टकार्ड मिला । समाचार मालूम हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है--

(१) भगवान् सब कुछ कर सकते हैं । यदि ऐसा न हो तो उनकी भगवत्ता ही कैसी ? प्रभुकी कृपासे जो काम होता है उसमें भी कारण तो भगवान् ही हैं । अतः उनकी कृपासे होना और उनके द्वारा किया जाना दो बात नहीं है । पर भगवान् ऐसा कब और क्यों करते हैं यह दूसरा कोई नहीं बता सकता । अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार सब कहते हैं पर असली कारण और रहस्य भगवान् स्वयं ही जानते हैं ।

(२) प्रारब्धका भोग अमिट अवश्य है, पर वहींतक अमिट है, जहाँतक मनुष्यकी सामर्थ्यका विषय है । प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिये कोई काम असम्भव नहीं कहा जा सकता । वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । भगवान्‌ने जो यह कहा है कि—

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाही । आए सरन तजौं नहिं ताही ॥'

यह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि आप शरणागतवत्सल ठहरे। अतः तुलसीदासजीका लिखना सर्वथा ठीक है।

(३) प्रह्लादकी रक्षामें उसका प्रारब्ध कारण नहीं है, उसमें तो एकमात्र भगवान्की उस महती कृपाका ही महत्त्व है, जो कि अडिग निष्ठा और विश्वास-के कारण कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार अपना प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट करती है।

(४) भगवान्का भक्त भगवान्से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिके लिये याचना करे तो भी भगवान् नाराज नहीं होते। यदि उचित समझते हैं तो उसकी कामनाको पूरी भी कर देते हैं। पर जो भगवान्के प्रेमी भक्त हैं, जिनका एकमात्र प्रभुमें ही प्रेम है, उनके मनमें कामनाका संकल्प ही नहीं उठता। उनके विचारमें जगत्की कोई भी वस्तु या परिस्थिति आवश्यक ही नहीं रहती। वे तो जो कुछ करते हैं भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं और जो कुछ होता है उसे भगवान्की अहैतुकी कृपा मानते हैं; इसलिये उनके लिये कामना या याचनाका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

दण्डकवनके ऋषि-मुनि और अन्य संत, जो दानवी और भौतिक शक्तिसे मारे गये, उनकी रक्षा करनेमें भगवान्की कृपाशक्ति असमर्थ थी, ऐसी बात नहीं है; उनके शरीरोंका नाश उस प्रकार कराना ही भगवान्को अभीष्ट था, इसलिये रक्षा नहीं की। जिनकी रक्षा करना आवश्यक था, उनकी रक्षा कर ली। भगवान्की कृपा कौन-सा काम क्यों करती है और क्यों नहीं करती, इसका अनुमान मनुष्य कैसे करे ?

(५) भौतिक या आसुरी शक्तियोंको परास्त करनेका सर्वोत्तम उपाय निष्काम सेवायुक्त जीवन है। जिसको इस भौतिक जगतसे कुछ लेना नहीं है, केवल भगवान्के नाते उसके आज्ञानुसार उन्हींकी कृपासे मिली हुई शक्तिसे जगत्की सेवा-ही-सेवा करता है, वह समस्त भौतिक और आसुरी शक्तियोंको अनायास परास्त कर सकता है। प्रह्लाद भी भगवान्का निष्कामी और परम विश्वासी एकनिष्ठ भक्त था। ऐसे भक्तसे भगवान् स्वयं मिलते हैं, छिप नहीं सकते।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपने अपने मनकी गतिका अध्ययन किया यह तो अच्छी बात है, पर अध्ययनका परिणाम ऐसा निकलना चाहिये, जिससे अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बने और मान्यताके अनुसार आचरण हो।

धार्मिक पुस्तकोंका पढ़ना कोई बुरी बात नहीं है, पर वह व्यसनके रूपमें न होकर उनके द्वारा समझी हुई बातोंको काममें लानेके लिये ही हो, यही उत्तम है। कालेजकी पढ़ाई, यदि उसे पिताका आदेश मानकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्त्तव्यपालनके रूपमें की जाय, तो वह भी साधन ही है; क्योंकि आप अपनेको विद्यार्थी मानते हैं तो मान्यताके अनुकूल आचार-व्यवहार भी होना ही चाहिये।

गीताजीका यह श्लोक—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ..................॥

—बहुत ही उत्तम है। आप यदि एकमात्र प्रभुका ही चिन्तन करना चाहते हैं तो बड़ी अच्छी बात है; ऐसा तो करना ही चाहिये। जिसके मनमें यह चाह वास्तवमें जाग्रत् हो जाती है, उसके मनमेंसे अन्य सब प्रकारकी इच्छाओंका अन्त हो जाता है, फिर उसका मन चञ्चल कैसे रह सकता है। अतः आपको चाहिये कि आप इस चाहको प्रबल और दृढ़ बनावें। इसका उपाय एकमात्र भगवद्विश्वास और भगवान्के नित्य सम्बन्धका अनुभव है। प्रेम होनेपर निरन्तर स्मरण हो सकता है।

आपका लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति है तो बहुत ही उत्तम है। लक्ष्यपूर्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त

सामर्थ्यका विवेकके प्रकाशमें लक्ष्यपूर्तिके लिये उपयोग करते रहना चाहिये। भोगवासनासे रहित होनेपर ही लक्ष्यकी पूर्ति शीघ्र हो सकती है।

विद्यार्थियोंके पालन करनेयोग्य नियम मैंने सम्भवत: पहले लिखे हैं। तत्त्वचिन्तामणिमें उनको देखना चाहिये।

लड़कोंके साथ लड़कियोंका कालेजमें पढ़ना मेरी समझसे सदाचारके लिये बड़ा ही घातक है। लड़कियों-को लड़कोंके साथ पढ़ते समय कैसे रहना चाहिये यह तो तब बताया जाय जब कि उनका कार्य किसी भी अंशमें आवश्यक और उचित समझमें आवे।

आपने लिखा कि प्रभुकी अनन्त कृपाका आभास मुझे अनेक रूपसे हो रहा है, जहाँ देखता हूँ, वहाँ प्रभुकी कृपाके ही दर्शन अधिकांशमें होते हैं—सो ऐसा होना बहुत ही उत्तम है। पर जिस साधकको प्रभुकी कृपाका इस प्रकार दर्शन होने लगता है वह उनके प्रेममें डूब जाया करता है। उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है, अत: उसमें प्रेमकी गङ्गा लहराने लगती है। वह भला प्रभुको कैसे भूल सकता है?

(४)

सादर हरिस्मरण!

आपका पोस्टकार्ड मिला, समाचार माल्रम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आप चिकित्साकार्य वृत्तिके लिये करते हैं तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है। आप वृत्तिके लिये करते हुए भी अपने कामसे जगत्-जनार्दनकी सेवा कर सकते हैं। जीविकाके लिये दूसरा काम खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें तो आप जो कुछ करते हैं और कर सकते हैं, जो काम करनेकी आपमें योग्यता है, वह सभी सेवा बन जाय—यही ठीक होगा। जीवन-निर्वाह तथा बाल-बच्चोंका भरण-पोषण भी तो प्रकारान्तरसे सेवा ही है। अपने शरीर और बाल-बच्चों-को यदि आप अपने न मानकर उस प्रभुके ही समझें और सबकी सेवाके साथ उनकी सेवाको मिला दें तो क्या सब-का-सब काम सेवा नहीं बन जायगा?

मेरी समझमें आपको साझेदारीके झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। दूसरेकी मेहनतसे होनेवाली कमाई चाहे वह कितनी ही अच्छी हो, आपके लिये हितकर नहीं होगी; क्योंकि आपको उसके अधीन बना देगी।

(५)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार माल्रम हुए। आपने करीब डेढ़ सालसे भगवान्‌के दर्शनोंकी इच्छासे साधन आरम्भ कर दिया यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपने अपने साधनका प्रकार लिखा और उसपर मेरी सम्मति माँगी, उसका उत्तर क्रमश: इस प्रकार है—

(१) भगवान् रामचन्द्रजीके चित्रपटको सामने रखकर उनके मुखारविन्दपर दृष्टि जमानेकी बात माल्रम हुई। पर इसमें इतना सुधार आवश्यक है कि आपको सामने रक्खे हुए जड चित्रका ध्यान नहीं करना है। वह चित्र जिनका है उनका ध्यान करना है। चित्रपट तो केवल उनकी आकृति समझानेका ही काम कर सकता है। जैसे आपके एक प्रिय मित्रका चित्र देखनेसे आपको वह याद आने लग जाता है और उसका वास्तविक ध्यान होने लगता है वैसे ही होना चाहिये। चित्रपट ही भगवान् नहीं है, पर वह जिसका है वह भगवान् है।

ध्यान करते हुए मानसिक पूजन करते हैं यह भी ठीक है तथा उसके बाद 'हरे राम' मन्त्रका जप करते हैं वह भी ठीक है। जप करते समय बीचमें दूसरे संकल्प न उठें तो और भी अच्छा हो।

जपके समय जीभ और होठ चलते रहें तो कोई बुराई नहीं है।

'जै सियाराम' का कीर्तन करना भी अच्छा ही है। भगवान्‌के चित्रके सामने धूप-दीप करना भी ठीक ही है।

श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करते समय और दृष्टि जमाते समय जोर-जोरसे हरे राम मन्त्रका भजन करते रहनेपर ध्यान स्थित होनेमें विघ्न पड़ता होगा; इसपर फिरसे विचार करना चाहिये।

कोलाहल, बोलचालकी आवाज जहाँ न आती हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानका साधन करना अच्छा रहेगा। कोलाहलसे बचनेका उपाय जोरसे भजन करना कैसे हो सकता है? क्योंकि उसकी तरफ मन जायगा तो ध्यानमें विघ्न पड़ेगा ही।

नेत्र बंद करके भगवान्‌के मस्तकपर मन्त्र लिखा हुआ मानकर मनसे जप करना ध्यानके प्रतिकूल नहीं पड़ेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

ध्यानका साधन समाप्त करनेके बाद कीर्तन करना साधनके विपरीत नहीं है, पर कीर्तनके साथ-साथ जिसके नामका कीर्तन किया जाता है, उस प्रभुकी स्मृति भी रहे तो और भी अच्छा है।

आँखें खोलकर दृष्टि जमानेका साधन करते समय और आँखें बंद करके ध्यान करते समय भी मनसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। ऐसा होगा तो मनको विषयोंकी ओर जानेका समय ही नहीं मिलेगा।

कान बंद करके अंदरकी आवाज़में भगवान्‌के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है। यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है, क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।

दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना ही असली फल है।

भगवान्‌को गुरु मानकर चलना बहुत ही उत्तम है।

(६)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) राम सबके अन्तर्यामी हैं। जैसे नट बंदरको नचाता है वैसे ही वे सबको नचाते हैं और कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं। यह सभी बातें ठीक हैं, पर राम जो उनको नचाते हैं वह उनके पूर्वकर्मके संस्कारके अनुसार ही नचाते हैं, जैसे कठपुतलीको नचानेवाला भी एक विधान सामने रखकर ही उनको नचाता है नहीं तो उसका खेल ही बिगड़ जाय।

जीवको विधि-निषेधका बन्धन तो उसी हालतमें है जब वह स्वयं कर्ता बनकर अपने सुखभोगके लिये कामनासे प्रेरित होकर कर्म करता है। पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप जो क्रिया उसके द्वारा अपने आप होती है उसमें विधि-निषेधका उपभोग नहीं है। उसी प्रकार जो उसके कर्मानुसार फल मिलता है उसमें भी उसे कुछ नहीं करना है। पर भगवान्‌ने जो उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, सामग्री और विवेक दिया है उसका भगवान्‌के विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग कर देना उसका काम है, यही विधि है। उसका दुरुपयोग करना ही निषिद्ध है।

(२) मनुष्यका शरीर भगवान् इस प्राणीको बिना ही कारण दया करके देते हैं। इसमें मनुष्य उस प्रभुको प्राप्त कर सकता है, पर वह प्राप्त विवेकका आदर न करके यदि विधानके विपरीत चले तो भगवान् उसे बलपूर्वक नहीं रोकते, क्योंकि यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की दी हुई है। वे अपने विधानका उल्लङ्घन क्यों करें। अतः जीवकी इच्छा ईश्वरेच्छासे बलवती सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि उसे किये हुए कर्मका फल उसके इच्छानुसार

नहीं मिलता, ईश्वरीय विधानके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है।

(३) वर्तमान जन्ममें फलभोगके अनन्तर भविष्यमें होनेवाले जन्मोंके विषयमें भगवान्‌ने मनुष्यके लिये यह छूट दे रखी है कि वह इस जन्ममें चाहे तो समस्त कर्मबन्धनको काटकर मुझे प्राप्त कर सकता है अथवा जैसा चाहे अपना निर्माण कर सकता है। इसलिये वे मनुष्यके भविष्यका निर्माण पहलेसे नहीं करते, अत: उनकी जानकारी भी यही है कि इसका भविष्य पीछेसे रचा जायगा। अत: उनके ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है, उनके किये हुए विधानके अनुसार ही सब काम होते हैं।

(४) ऐसे मनुष्य भी बहुत हैं जो किसीके कहनेपर भूत-प्रेतकी बात नहीं मानते और ऐसे भी हैं जो शास्त्र और महापुरुषोंकी बात मानकर भगवान्‌को सर्वव्यापी मानते हैं। इस दुनियामें सभी तरहके प्राणी हैं, मान्यताके लिये सब स्वतन्त्र हैं। अत: कोई ऐसा क्यों मानता है और ऐसा क्यों नहीं मानता, यह प्रश्न नहीं बनता।

(५) जिस प्रकार पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये प्रारब्ध बनता है, उसी प्रकार वर्तमानमें किये हुए नये कर्मोंका प्रारब्ध भी तत्काल बन सकता है; क्योंकि किस कर्मका फल कब दिया जाय, यह फलदाताकी इच्छापर निर्भर है। माता-पिता आदिका जो कर्त्तव्य बताया गया है, उस विधानके अनुसार ही उनको अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये। उनको जो दोष या पाप लगता है, वह तो विधानका उल्लङ्घन करनेके कारण लगता है। विवाह किसके साथ हुआ, लड़कीको सुख हुआ या दु:ख, इस कारणसे पिताको पाप नहीं लगता; क्योंकि वे यदि शास्त्र-आज्ञानुसार ठीक सोच-समझकर विवाह करते हैं, उसपर भी यदि सम्बन्ध प्रतिकूल हो जाता है तो उनको पाप नहीं लगता।

(६) राग-द्वेषसे मुक्त होनेका उपाय पूछा सो कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

(क) अपने अधिकारका त्याग और कर्तव्यका पालन करना।

(ख) दूसरेके दोषोंको नहीं देखना, अपनी भूलोंको देखना और उनको पुन: न करनेकी दृढ़ धारणा करना।

(ग) अपने सुख-दु:खका कारण किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थितिको न मानना।

(घ) किसी भी व्यक्ति या देवता आदिसे अपने सुखभोगके लिये किसी प्रकारकी चाह न करना।

(ङ) भगवान्‌के दिये हुए विवेकका आदर करना।

(च) प्राप्त बल, बुद्धि और वस्तुओंका अपनी जानकारीके प्रकाशमें ठीक-ठीक उपयोग करना।

इसी प्रकार और भी अनेक उपाय हो सकते हैं, पत्रमें कहाँतक लिखा जाय?

(७) रीति-रिवाजको धर्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि रीति-रिवाज बहुत कारणोंसे प्रचलित होते रहते हैं और बदलते भी रहते हैं। हाँ, कुछ रीति-रिवाज धर्मानुकूल भी होते हैं; अत: अच्छे रीति-रिवाज जो शास्त्रानुकूल हो, वह तो धर्मका ही अङ्ग है; पर शास्त्रविरुद्ध रीति-रिवाज धर्म नहीं, अधर्म है।

सामान्य धर्म तो सभी मनुष्योंके लिये एक-सा होता है और विशेष धर्म वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और भावके अनुसार विभिन्न भी होता है। जैसे माताका धर्म, स्त्रीका धर्म, पुत्रका धर्म, पिताका धर्म, पतिका धर्म, ब्राह्मणका धर्म, क्षत्रियका धर्म, बालकका धर्म, बूढ़ेका

धर्म, धनवान्‌का धर्म, निर्धनका धर्म, आपत्तिमें पड़े हुएका धर्म इत्यादि अनेक भेद हो सकते हैं।

(८) गुरुद्वारा प्राप्त मन्त्रका जप तो गुरुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये। उनके बताये हुए विधानका ही पालन करना चाहिये। इसमें अपनी मनमौजीसे काम नहीं लेना चाहिये।

(९) स्त्रीकी दीक्षाका विधान नहीं है; क्योंकि विवाह-संस्कार ही उसकी दीक्षा मानी गयी है। पति ही उसका गुरु है, पतिकी दीक्षासे ही स्त्री दीक्षित मानी जाती है, अतः पतिसे अलग उसकी दीक्षा नहीं होनी चाहिये।

(१०) अमुक लोग गीताधर्मानुसार समदर्शनसे संतुष्ट नहीं होते, ऐसी बात नहीं है। असल बात तो यह है कि अपनेको ऊँचा माननेवालोंमें समदर्शनका अभाव है। वास्तवमें तो सभी समदर्शन ही चाहते हैं, समवर्तन नहीं; क्योंकि व्यवहारमें तो समता कोई कर ही नहीं सकता। माँके साथ माँके जैसा, स्त्रीके साथ स्त्रीके जैसा, पुत्रके साथ पुत्रके जैसा व्यवहार तो सबको करना ही पड़ता है। व्यवहारका भेद किसी भी देशमें कोई भी नहीं मिटा सकता। प्रीतिका भेद मिटाया जा सकता है, सबको समानभावसे अपना माना जा सकता है। हर प्रकारसे एक मनुष्य दूसरेके हित करनेके भाव समानभावसे रख सकता है, पर व्यवहारका भेद तो रखना ही चाहिये और रखना ही पड़ेगा।

(११) वर्ण-व्यवस्था बुरी चीज नहीं है। उसमें जो बुराइयाँ और कमी दिखायी दे रही हैं, वह व्यवस्थाके बिगड़नेके कारण ही है। वर्णोंका विभाजन तो नहीं मिट सकता, वर्तमान प्रणाली बदल सकती है। वास्तवमें मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर तो शास्त्रानुसार वर्णोंके विभाजनको सुदृढ़ और सुव्यवस्थित रखना ही है, नये पंथकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह श्रेयस्कर नहीं हो सकता। पर यह किसी एकके कहने-सुननेसे होनेवाला काम नहीं है।

(१२) 'कोटवार, दरवान' यह मेरी समझमें पहरा देनेके काम करनेवालेका बोधक है, किसी वर्णका बोधक नहीं माल्रम होता। राजपूत घरानोंमें यह काम पहले दासीपुत्र किया करते थे, ऐसा सुना गया है; इनका श्राद्धादि करनेका अधिकार है या नहीं, यह मैं निर्णय नहीं दे सकता; क्योंकि मुझे पता नहीं है कि ये लोग द्विज हैं या नहीं।

ब्राह्मणोंके खान-पान और गुरुमन्त्रके विषयमें भी उपर्युक्त उत्तर ही समझ लेना चाहिये।

कन्हैया, तेरी जय हो !

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

जीवन की ज्योति जगती पै जगती हो सदा ,
हीन हृदयों में आशा-रवि का उदय हो।
कर्मवीरता के सत्य संगर में कूद पड़ें ,
शत्रुओं को मारें, मरने में भी न भय हो ॥
गीता-ज्ञान-गायक, सुनीति-नय-नायक ,
प्रबोध-बोध-दायक, सहायक सदय हो।
देवकी के छैया, बलदाऊजी के भैया ,
क्रूर कंस के हनैया, हे कन्हैया ! तेरी जय हो ॥

लङ्काका राजा बननेकी है। इसमें कोई भी भूल या भ्रम नहीं था; क्योंकि श्रीराम स्वयं ही यह बात एक प्रकारसे स्वीकार कर लेते हैं। वे स्वयं कहते हैं—'राज्याकाङ्क्षी च राक्षसः' (काण्ड ६, सर्ग १८, श्लोक १३)। 'इसमें उन्हें भी संदेह नहीं है कि यह राक्षस विभीषण राज्य पानेका ही आकाङ्क्षी है।' युद्धके एक संकटकालमें, जब कि युद्ध आरम्भ हुआ ही था और श्रीराम एवं उनके पक्षका भाग्य बहुत ही मन्द दीख रहा था, श्रीराम यहाँतक कह गये कि यदि लक्ष्मण पुनरुज्जीवित नहीं होता और रणक्षेत्रमें प्राण त्याग देता है तो वे भी अपना जीवन उसी क्षण वहीं-का-वहीं समाप्त कर देंगे। उन्होंने अपने सब जनोंसे विदा भी ले ली। विचारोंमें श्रीराम अन्तके इतने निकट पहुँच गये थे; उन्हें ही एक बात खल रही थी। वह यह थी कि जब विभीषण रक्षा माँगता हुआ उनके पास आया, वे उसका प्रतीकरूप राज्याभिषेक करनेको बड़े उतावले थे। यथार्थ राज्याभिषेक उसका अभीतक नहीं हुआ था और वह होगा भी नहीं—ऐसा अब प्रतीत नहीं हो रहा था। श्रीराम स्वयं कहते हैं—

तच्च मिथ्याप्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।

निःसंदेह ही मुझे मेरा वह अपूर्ण वचन, जो मैंने विभीषणको दिया था, दुःख देता है—

यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः।

(६। ४९। २२)*

—कि मैं अपने दिये हुए वचनके अनुसार विभीषणको राक्षसोंका राजा अभीतक नहीं बना सका हूँ।

विभीषण भी यह देखकर कि नाटक अब प्रायः समाप्त हो रहा है, अपनी दशापर शोक करता है और अन्य अनेक बातोंके साथ-साथ यह भी कहता है—जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि 'यद्यपि जीवित हूँ, 'फिर भी मैं बड़े ही संकटमें हूँ।' प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः—'जो आशा मैंने बाँध रखी थी, अब राजा बननेकी वह आशा भी मुझे नहीं रही।'

प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः॥

(६। ५०। १९)

* सर्वत्र पहला अङ्क काण्डका, दूसरा सर्गका और तीसरा अङ्क श्लोकोंका समझा जाय।

सबसे बुरी बात यह थी कि 'रावणकी इच्छाएँ एक-एक कर सभी पूर्ण हो गयी हैं।'

युद्धकाण्डका एक अद्भुत वाक्य भी इस सम्बन्धमें हमारा ध्यान आकर्षित करता है। अयोध्याका राज्य भरतने श्रीरामके स्थानमें प्रन्यासीरूपसे स्वीकार किया था और चौदह वर्षतक अपने नायककी खड़ाऊँके निर्देशनमें उसे चलाया था। उसके लिये यह राज्य एक पवित्र थाती थी। वनवासकी समाप्तिपर जब राम लौटे, तब भरतने यह कहते हुए उनका स्वागत किया था कि उसकी महत्तम इच्छा आज पूर्ण हो गयी है, आज महत्-प्रत्यास्थापन हो जायगा और सर्वोपरि तो यह कि उस थातीको आज वह सम्हला देगा, जिसका उत्तरदायित्व लेकर उसने आजतक शासन किया था। पहली बात जो उसने की, वह श्रीरामको पादुका फिरसे पहननेकी प्रार्थना थी—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥

(६। १३०। ५२-५३)

उसने स्वयं श्रीरामके चरणोंके नीचे उन्हें रख दिया—

अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।
एतत् ते रक्षितं राजन् राज्यं निर्यातितं मया॥

(६। १३०। ५३-५४)

—और कहा कि 'मैं आपको वह थाती जो आपने मुझे सौंपी थी, सम्पूर्ण-की-सम्पूर्ण लौटा रहा हूँ।'

अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।

(६। १३०। ५४)

'मेरा जन्म आज सफल हो गया। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया।'

यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्।

(६। १३०। ५५)

मैंने आपको चौदह वर्ष पहले ही राजा बनानेका प्रयत्न किया था। तब आप लौटने और राज्य लेनेको राजी ही नहीं हुए। आज वह लंबा समय भी बीत गया है और आप लौट आये हैं। मैं यह देखनेको जीवित रहूँगा कि और भी अधिकतम सुख मेरे लिये क्या सम्भव है।

अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं पुरं बलम्।

(६। १३०। ५५)

अब पधारिये और कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारका निरीक्षण कीजिये ।

भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दश गुणं मया ।

(६ । १३० । ५६)

आपकी इन चरणपादुकाओंके गूढतम गुणोंसे या प्रसादसे और उनसे प्राप्त प्रोत्साहनसे मैं इस अवधिमें सभीमें—कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारमें दसगुनी वृद्धि करनेमें सफल हो सका हूँ ।'

इसके बाद वह अत्यन्त अनोखी घटना घटती है जिसे सुग्रीव, विभीषण और सभी बड़े-बड़े वानर चारों ओर खड़े हुए दोनों भाइयोंके वार्तालापरूपमें बड़े मनोयोगके साथ सुन रहे हैं । एक भाई तो महान् युद्ध जीतकर अपनी पत्नीका एवं प्रतिष्ठाका उद्धार करके राज्य लेनेको लौटता है और दूसरा उसे सभी ओरसे दसगुना बढ़ाकर हृदयकी भरपूर प्रसन्नतासे लौटाता है । यह दृश्य उन सब लोगोंके लिये सहनकी पराकाष्ठाका था, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंको जाग्रत् करनेवाला था । इसीलिये कवि कहते हैं कि वे सब इस अद्भुत दृश्यको देखकर हर्षाश्रु बहा रहे थे—

तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम् ।
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः ॥

(६ । १३० । ५६-५७)

चाहे वानरभाव हो और चाहे राक्षसभाव, परंतु सब इस दृश्यमें गल गये थे । सभी रो रहे थे । मैं यह ठीक-ठीक जाननेको बड़ा उत्सुक हूँ कि उस समय विभीषण और सुग्रीवके मनमें क्या भाव उठ रहे थे । वे अपने बड़े भाईसे कितने डरते थे ? उसके प्रति उनके क्या भाव थे ? उन्होंने कैसी योजनाएँ बनायीं, षड्यन्त्र किये, युद्ध किया और उसकी मृत्युके लिये कितनी प्रार्थनाएँ कीं ? उसके पश्चात् राज्य लेकर वे कितने प्रसन्न थे । जब इसकी तुलना उस दृश्यसे उन्होंने की, जिसे वे सामने देख रहे थे, क्या आश्चर्य है कि वे रोने न लगे हों । उनकी शक्तिसे परेकी भावनाओंका वह दृश्य था । वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि किन्हीं दो भाइयोंमें परस्पर इतना त्याग, प्रेम और श्रद्धा कभी सम्भव है ।

भरतके चरित्रकी विशिष्टताएँ

भरत, सुग्रीव और विभीषण—इन तीनों व्यक्तियोंमेंसे भरत निःसंदेह अपने निराले स्थानपर प्रकाशमान है । उसके वक्तव्योंको पढ़ने एवं उसके किये हुए आचरणका विचार करनेपर यह भास होता है कि उसमें दृढ इच्छा और तत्परता प्रचुर थी । इनका कुछ प्रमाण तो हमें उस समय मिला ही था जब कि उसने बड़े भाईके प्रति इनका प्रयोग किया था या करनेका प्रयत्न किया था । वह बड़े भाई ही संकल्पमें, महत्ताके पालनके निश्चयमें उससे आगे बढ़ सका था । उसीके सामने भरतको कुछ नवना भी पड़ा । दूसरोंके सामने तो वह, जैसा कि हमने देखा है, अटल ही रहा । उसके कथन सभी दृढ निश्चयात्मक और शब्द छलरहित हैं । उनमें कोई शिथिलता नहीं है । अस्थायित्व नहीं है । धुँधलापन नहीं है । ऐसा भास होता है कि अपने नाना और मामाके साथ अधिक सहवासके कारण मानो वह कुछ विकृत शिशु-सा हो गया था; क्योंकि वह सिवा श्रीरामके और किसीसे कभी भय नहीं करता था । वह क्यों किसीसे डरे ? हम उसे उजड्ड भी कह दे सकते हैं । लक्ष्मण इन्हीं परिस्थितियोंमें किस प्रकारका व्यवहार करते, इसकी तनिक-सी कल्पना ही हमें गुदगुदाती है । दोनों भाइयोंमें कितना बड़ा व्यतिरेक । समान उदात्त, उच्चाशयी और स्वार्थत्यागी; फिर भी परस्पर इतने भिन्न कि आप उन्हें पहचाननेमें कभी भूल नहीं कर सकेंगे । यदि श्रीराम लक्ष्मणसे कहते कि 'यह करो, वह करो' तो वह अवसन्न होकर तत्क्षण मुनि हो जाता । वह और ही कुछ सोचता हो, उसकी यह धारणा भी हो कि श्रीराम, जिसे वह पसंद नहीं करता, ऐसा कुछ अनुचित या कठोर कर रहे हैं, यदि प्रतिवादमें वह एक शब्द ही कहनेका प्रयास कर रहा हो, तो भी ज्यों ही श्रीरामने पैर ठपकाया कि उसका सारा प्रतिवाद समाप्त; क्योंकि जहाँ बड़े भाईका सम्बन्ध हो, वहाँ लक्ष्मण स्वतः अपनेको विलय करनेमें ही प्रसन्न था । वह तो निरा सेवक भर था, एक महान् व्यक्तिके कार्यको पूरा करनेका निमित्तमात्र । इससे अधिक कुछ भी नहीं । वह एक प्राणमय निमित्त था और कभी-कभी उसके अपने विचार भी थे । परंतु वे सब श्रीरामके सामने भूमिगत थे । पक्षान्तरमें भरत बिल्कुल ही भिन्न था । जब वह श्रीरामसे भिन्न मत रखता, तब वह कहता—'पूज्य भाईसाहब, मुझे कुछ कहनेके लिये क्षमा करें ।' इस तरह विनम्रतासे प्रारम्भ करते हुए भी जैसा वह विचारता, बिना झिझकके कह ही देता । यह भी कहा जा सकता है कि उसका अपना व्यक्तित्व

था, दृढ़ व्यक्तित्व और वह उसको इस प्रकार प्रकट भी कर देता कि आप भरतका बड़ा सम्मान ही करें। जिस उच्चाशयसे वह अपने बड़े भाईके समक्ष आचरण करता, उसकी आप प्रशंसा ही करेंगे। आप उसके लक्ष्यके दृढ़ संकल्पकी सराहना ही करेंगे। आपने बड़े भाईको अपने विचारोंके अनुकूल बनानेके उपयुक्त ही कौशल दिखानेकी उसकी प्रत्युत्पन्न मतिको भी सराहेंगे। यह सब कुछ करते हुए भी, मुझे संदेह है कि आप लक्ष्मणके प्रति जितना स्नेह करते हों, उतना भरतके प्रति भी कर सकेंगे। आप अपने समस्त हृदयसे लक्ष्मणको चिपटा लेंगे परंतु भरतको आप शीश झुकाकर अभिवादन करते हुए यही कहेंगे—'हाँ, आप महान् हैं। आप बड़े संत हैं।' मान और प्रशंसा दोनों ही मेरे हृदयसे भरतके लिये निकलती हैं, परंतु लक्ष्मणके प्रति तो मेरा सारा स्नेह ही झरता है। मैं नहीं कह सकता कि ऐसा ही आप सबको अथवा आपमेंसे अधिकांशको भी होता है या नहीं। मेरे तो इन महान् पात्रोंके प्रति विचार ये ही हैं। और भी देखिये। जब वशिष्ठने, पिता दशरथकी अन्तक्रिया करनेके उपरान्त भरतको राज्य लेने और अभिषेक करानेको कहा, तब भरतने यही तो उत्तर दिया था—'नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।' यहाँ कवि वाल्मीकि तो यहाँतक कहते हैं—

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥

(२।८२।१०)

सारी सभाके समक्ष ही वह रो पड़ा और साथ ही उस बड़ी परिषद्में उसने अपने वयोवृद्ध गुरुकी निन्दा करनेका भी साहस किया। उसने उनकी निन्दा की और कहा कि 'मुझे आश्चर्य है कि आप-जैसे बुद्धिमान् वयोवृद्ध, वह राज्य जो कि इक्ष्वाकुवंशकी परम्पराके अनुसार मेरे बड़े भाईका है, लेनेके लिये मुझसे कह रहे हैं। आप राज्य लेनेको मुझे कैसे कह सकते हैं ? मैं नहीं लूँगा। मैं बड़े भाईके पास जाऊँगा और यह उसका राज्य उसे सौंप दूँगा।' भरत-जैसे नवयुवकका भरी परिषद्में एक वयोवृद्ध और कुलगुरुकी निन्दा करना बड़े ही साहस, बड़े ही आत्मविश्वासका द्योतक है। इस बातको जाने दें तो कहना होगा कि वह बड़ा ही सज्जन था। जब उसको कौसल्याने बुलाया और वह उसके समक्ष उपस्थित हुआ तब उस महिषीने, सहज ही सोचा कि कैकेयीका षड्यन्त्र उसके पुत्रको भी रुचिकर था और इसीलिये ज्यों ही वह पहुँचा, वह उबल पड़ी—

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।

(२।७५।११)

दुर्भाग्यसे तब उसने ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग किया कि जो भरतके लिये छातीमें छुरा भोंकने-जैसे ही थे। भरतको राज्य लेना बिल्कुल ही सम्मत नहीं था। वह उसे लौटा देना चाहता था। उसका निश्चय था कि उसकी माता कैकेयीने बहुत बुरा किया है। परंतु कौसल्याने तो उसके लिये 'राज्यकाम' शब्दका ही प्रयोग कर दिया और कहा कि 'तुम मेरे पुत्रसे राज्य लेनेको प्रत्यक्ष ही चिन्तित हो।'

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना ॥

(२।७५।१७)

उसे ऐसा ही लगा कि उसके घावमें तीक्ष्ण सूई भोंक दी गयी है और अधिक दुःख देनेकी गरजसे उसे इधर-उधर घुमाया भी जा रहा है। इतना कहना ही कदाचित् पर्याप्त नहीं था, इसलिये कौसल्याने और भी निष्ठुर शब्द कहे। हम इस वार्तालापका मर्म समझ सकें, इसके लिये कदाचित् यह स्मरण कर लेना भी हमारे लिये आवश्यक है कि जब दशरथने यह जाना कि राज्य रामसे छीनकर भरतको दिया जा रहा है, तब उन्होंने व्यथामें कितनी ही बातें कह डाली थीं, जिनमेंसे एक यह भी थी कि 'यदि भरत निःसंदेह ही अपनी माताके दुर्व्यवहारका लाभ उठाना चाहता है और राज्य ले लेता है अथवा यदि उसका हृदय उसी दिशामें झुकता है तो मैं उसे त्याग दूँगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे मरनेपर मेरी आत्माकी परितुष्टिके लिये वह कुछ भी करे।' जब हम बहुत क्रोधमें होते हैं, तब बहुत बार इस तरह कह देते हैं। जब हम अपने किसी सम्बन्धीसे बहुत क्रोधित हो जाते हैं, तब कहते हैं कि 'जब मैं मरूँ, तब हे मेरे प्रियबन्धु ! तुम स्नान भी मत करना, तुम कुछ भी मत करना।' मानो यह एक पुत्रके लिये सम्भव ही है। चाहे पिता-पुत्रके सम्बन्ध कितने ही बिगड़े हुए क्यों न हों, पुत्रको वह सब करना ही होता है। फिर भी जब हम पुत्रको पसंद नहीं करते, सामान्यतः हम यही कहा करते हैं। हम यही चाहते भी हैं कि वह तब कुछ भी न करे। ऐसे ही दशरथने भी कहा था—

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्येदमव्ययम् ।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मां मा तद्दत्तमागमत् ॥
(२ । ४२ । ९)

'जो कुछ वह मुझे दे, वह मुझे प्राप्त न हो । मैं नहीं चाहता कि वह मुझे प्राप्त हो ।' दूसरे शब्दोंमें यह कि 'मैं नहीं चाहता कि वह मेरी अन्त्येष्टि-संस्कारका कोई भी कर्म करे ।' दशरथने यह कहा था और कौसल्याको वह स्मरण था । इसलिये भरतको इतना कहकर ही कि तू राज्यकाम है, उसने संतोष नहीं किया अपितु एक पद आगे बढ़कर कहा—हे भरत ! अब मुझे और सुमित्राको इस स्थानसे वहाँ जाने दे, जहाँ राम है । हम चित्रकूट जायँगी । मैं अपने साथ अग्निहोत्र ही ले जाऊँगी कि जिससे क्रिया-कर्म उचित रीतिसे तू कर ही न सके ।' वह पटरानी थी । उसीका राजाके साथ अभिषेक हुआ था । इसलिये अग्निहोत्र भी उसीके अधिकारमें था । इसीलिये उसने उसे ले जानेका भय भरतको दिखाया ।

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥
(२ । ७५ । १४)

मृत पूर्वजोंके लिये किये गये तर्पणकी प्रभावकता मृत और जीवितके मध्य वर्तमान स्नेहपर अधिकांशमें निर्भर करती है, यह एकमात्र विश्वास है और इसीका रामायणमें परोक्ष निर्देशन भी किया गया है । गोविन्दराज और तिलक दोनों भाष्यकार भी इसका यह कहकर समर्थन करते हैं—

'अग्निहोत्रमिति राजदेहस्याप्युपलक्षणम् ॥'

भरत कहते हैं कि 'जब वह वनमें श्रीरामसे मिलेंगे, तब कहेंगे कि हमारे पिता देवलोकको प्राप्त हुए हैं । मैंने उनका प्रत्येक क्रिया-कर्म कर दिया है । परंतु तुम्हें भी कुछ करना है और वह तुम करो । यथार्थ तो यह है कि जो कुछ हमारे पिताकी आत्मा या प्रेतका तुम तर्पण करोगे, वह, जो कुछ मैंने किया है उससे कहीं अधिक उन्हें प्रिय होगा ।'

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
(२ । १०१ । ८)

ऐसा कहा जाता है कि वह कमी बिनाका होगा ।

अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥
(२ । १०१ । ८)

और तुम हमारे पिताके अत्यन्त लाड़ले थे । क्या नहीं थे !

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप राजा ॥
(२ । १०१ । ९)

'दशरथ चले गये हैं । उनकी अन्तिम चिन्ता तुम ही थे । वे तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहे । वे तुम्हें देखना चाहते थे । उनकी समस्त आकाङ्क्षा तुममें स्थिर थी । जब तुम चले गये, उनके चित्तका शोक जरा भी शान्त नहीं हुआ । वे निरन्तर तुम्हारा ही स्मरण करते थे । वे दिवंगत हुए और अब जो कुछ भी तुम उन्हें तर्पण करोगे, वह मेरे तर्पणसे उन्हें अत्यधिक प्रिय और संतोषकारक होगा ।'

जब कौसल्याने भरतको राज्यकामनाका लाञ्छन लगाया और अग्निहोत्र लेकर चले जानेका डर भी दिखाया कि जिससे अन्तिम क्रिया-कर्म करनेके साधनसे भी वह वञ्चित हो जाय, तब भरतका हृदय मानो टुकड़े-टुकड़े ही हो गया। उसके शोक और संतापका कोई ओर-छोर ही नहीं था । उसने इसका परिचय लोकोंकी जिस परम्परामें दिया वे अति प्रसिद्ध हैं । एक सम्पूर्ण सर्ग ही इनसे भरा है । इनमें वह शपथपूर्वक कहता है कि उसने श्रीरामका राज्य छोड़कर वन जाना कभी भी नहीं चाहा और यदि उसने ऐसा चाहा हो तो वह अपने ऊपर शापोंकी नदीका ही आह्वान कर लेता है । सारे सर्गके प्रत्येक श्लोकका अन्त इसीलिये 'यस्यार्योऽनुमते गतः' से होता है । इस वाक्यकी अनेक बार पुनरुक्ति होती है । उन सब श्लोकोंको यहाँ दुहराना सम्भव नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः भरतने तब ये सब नहीं कहे होंगे । कविने ही इस व्याजसे मानवधर्म और गुणोंका वर्णन करनेका विचार कर लिया था । इसीलिये वे सारी बातें इन श्लोकोंमें ले आये और उन्हें भरतके मुखमें भी रख दिया और उससे कहलाया कि 'इस धर्मसे चूकने या उस बुराईके करनेवाले व्यक्तिके पाप मुझे लगें' आदि-आदि । भाष्यकार तो यह कहते ही हैं कि कविका ध्येय ही मानवधर्म और गुणोंका पूर्ण वर्णन भरतके मुँहमें रख देनेका था । दो श्लोकोंमें तो ध्वनिका आश्चर्यजनक सम्मिश्रण हुआ है । मुझे तो उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि संस्कृत सीखनेवालोंकी यह परीक्षा

करनेके लिये कि वह स्पष्ट उच्चारण करना सीख गया है या नहीं, इनकी रचना महाकविने की है। देखिये तो—

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥

(२ । ७५ । २३, २५)

—यह श्लोकार्द्ध कितना सरल है। परंतु इसमें इतने 'सकार' हैं कि इसे उच्चारण करनेवाला लड़खड़ा जा सकता है। इनका बार-बार एक साथ उच्चारण स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

जब भरतद्वारा इस प्रकार सशपथ त्याग समाप्त हो गया, तब कौसल्याका हृदय भी उसके प्रति द्रवित हो गया और वह बोली ही तो—'नहीं, नहीं, मैं दुखी हूँ कि मैंने तुमसे ऐसा कहा।'

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥

(२ । ७५ । ६२)

'तुम तो लक्ष्मणके समान हो, मैं यह भूल ही गयी थी। तुम बड़े अच्छे लड़के हो। सत्यप्रतिज्ञ हो। अपना कहा अक्षरशः तुम पूरा करोगे। सब सज्जन पुरुष जहाँ पहुँचते हैं, उस निर्वाणको तुम अवश्य ही प्राप्त करोगे।' यों कहकर भ्रातृवत्सल भरतको खींचकर माताने अपनी गोदमें ले लिया और वह रोने लगी।

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं मातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥

(२ । ७५ । ६३)

उधर भरतने ऐसा किया कि—

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥

(२ । ७५ । ६५)

—सारी रात वह भूमिपर लोटता और रामका नाम रटते और सिसकियाँ भरते रोता रहा, कभी सचेत और कभी अचेत। फिर उसने क्रिया-कर्म समाप्तकर, जहाँ राम थे वहाँ जाने और उन्हें लौटा लानेका निश्चय किया। जब रामसे वह प्रत्यक्ष मिला, तब उसने कहा—'देखिये श्रीराम! यदि परिवारमें किसी एकको वनवास भोगना ही है तो वह मुझे भोगने दीजिये। आप लौट जाइये। मैं आपका स्थान ले लूँगा।' श्रीरामने तब उत्तरमें यह कहा कि 'भरत! यह प्रतिनिधि (Proxy) प्रबन्ध किये जानेवाला काम नहीं है। प्रत्येकको अपना कार्य आप ही करना चाहिये।'

रामायण काव्यमें यह विचार बहुत पहले ही प्रकट हो गया है कि भरत श्रीरामके स्थानमें वनवासी हों। चित्रकूटमें यकायक भरतको ऐसा विचार आया हो सो बात नहीं है। अपनी माताके साथ इस दुःखद प्रसङ्गपर बात करते हुए भरतको यह विचार आया था, ऐसा प्रतीत होता है। बातके प्रारम्भमें ही उसने मातासे कह दिया था कि वन जाकर, भाईको वापस लाकर, दासरूपमें संतुष्टचित्तसे उसकी सेवा करते हुए वह उसके (माताके) इरादोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देगा—उसे दुःख देनेके लिये नहीं, अपितु स्वयं अपने ही सुखके लिये।

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥

(२ । ७३ । २७)

वह और भी इससे तब आगे बढ़ा था और उसने कहा था कि वह वनमें रामका स्थान लेकर प्रायश्चित्त करेगा।

आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥

(२ । ७४ । ३१)

अपने भाईको लौटाकर और उसका राज्याभिषेक करके मैं स्वयं ही वनमें चला जाऊँगा और मुनियोंके साथ रहूँगा।

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥

(२ । ७४ । ८)

'जो चौदह वर्ष वनवास श्रीराम रहते, वही उनके बदले मैं रहूँगा।' इस सबका तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि 'मेरी माँका, जो नामकी ही मेरी माँ है, ध्येय सिद्ध नहीं होना चाहिये।'

न सकामां करिष्यामि स्वमिमां मातृगन्धिनीम् ।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ॥

(२ । ७९ । १२)

'मैं वनमें रहूँगा।' इस प्रकार अपनी माँसे वह प्रतिवैर साधना चाहता था। 'तुम मुझे राजा बनाना चाहती थी

और उसे वनवासी। तुम्हें अधिकतम दण्ड मिले, इसलिये हम दोनों भाई अपना-अपना कार्य पलट लेंगे। मैं वन चला जाऊँगा और जितना सम्भव हो, उतना तुम्हें दुखी करूँगा।' यही उसका अभिप्राय है। आपको मालूम ही होगा कि जब वह (भरत) वनमें जाता है, तब गङ्गाके इस पार उसकी गुह (निषादराज) से भेंट होती है। पहले-पहल तो गुह उसको अविश्वाससे देखता है; क्योंकि वह श्रीरामका घनिष्ठ मित्र है। उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रीरामके वनवास दिये जानेके इतने शीघ्र ही भरत इतनी बड़ी सेना और सारे राजमहलको लेकर क्यों उनके पास जा रहा है। इसमें क्या रहस्य है? वह सोचता है अवश्य ही इसमें रामका कोई भला नहीं है। अतः वह भरतसे स्पष्ट ही पूछ लेता है कि 'कहिये, आपका क्या अभिप्राय है?' और ज्यों ही भरत अपना अभिप्राय उससे कह देता है, गुहको पूर्ण संतोष हो जाता है जैसा कि वह कहता है—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
प्रयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
(२। ८५। १२)

'ओह! तुम कितने महान् हो। तुम्हारा-सा दूसरा मुझे कोई नहीं मिलेगा। बिना किसी भी प्रयत्नके तुम्हें इतना बड़ा राज्य मिल गया था। तुम उसे सम्पूर्ण पद-प्रतिष्ठाके साथ ले भी सकते थे। यदि तुम लेते तो इसके लिये तुम्हें कोई भी बुरा नहीं कह सकता। फिर भी तुम उसको, एक ऐसे ध्येयके लिये जिसे तुम एक महान् धर्म मानते हो, छोड़ दे रहे हो। तुम इतने महान् हो कि मैं तुम्हारे समकक्ष कहीं किसीको देख पाऊँगा, यही मुझे संदेह है।'

और फिर यह सुनकर कि श्रीराम और उनके साथी इस किनारेपर एक रात विश्राम कर चुके थे, भरत दुःख और विषादसे विषम हो जाता है और गुहसे पूछता है कि क्या यही वह स्थान है, जहाँ मेरे भाई और भौजाईने वे सब वैभव परित्याग कर दिये थे कि जिनके वे अधिकारी थे। यहाँ घासपर वे बैठे थे। यहाँ उन्होंने वैभवका सारा सम्भार उतार फेंका था। वे यहाँ केवल मानवमात्र रह गये थे। मित्र! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि कहाँ मेरे भाई सोये थे। कहाँ भौजाई सोयीं थीं और उन्होंने कहाँ क्या-क्या किया था। गुहका कोई भी वृत्त उसे संतुष्ट करे, इतना पूर्ण न था। रातभर वह सुनता रहा और गुहने यह भी कह दिया कि रामने क्यों कोई भोजन नहीं किया और केवल पानी पीकर ही, जिसे कि लक्ष्मण लाये थे, संतोष किया। फिर गुह अपने स्थानको लौट गया, भरतने अपने आहत हृदयपर हाथ रखे उन सभी स्थलोंका निरीक्षण किया; क्योंकि वे उन्हें भी उतने ही पवित्र थे जितने कि गुहको। जहाँ सीता सोयीं थीं, वहाँ जाकर भरतने कहा—

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयने शुभा।

'मुझे लगता है कि भौजाई यहाँ आभूषण पहने ही सोयीं थीं। सोते समय उन्होंने उन्हें उतार नहीं दिया था'—

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः॥
(२। ८८। १४)

'क्योंकि मैं यहाँ-वहाँ सोनेके कण देख रहा हूँ।' आभूषण कठोर भूमिसे रगड़ खा गये थे और उस रगड़से उनका सोना थोड़ा बहुत खिर गया था। बहुत दिन भी इसको नहीं हुए थे। इसलिये कुछ अवशेष चिह्न अवतक दीख रहे थे, जैसा कि भरतने कहा था कि 'मैं सोनेके कण यहाँ-वहाँ चौंटे देख रहा हूँ।'

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा।

फिर भरतने कहा 'ओहो, यहाँ उनका रेशमका उत्तरीय भी छिटका होगा।'

तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः॥
(२। ८८। १५)

'क्योंकि उसके तन्तु भी तो कुछ यहाँ पड़े दीख रहे हैं।'

फिर भरतने वह स्थान देखा जहाँ कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने सारे वैभवको त्यागकर नितान्त आवश्यक वस्तुएँ रख ली थीं। उसे देखकर वह कहता है—

अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।

'मैं भी यही करनेवाला हूँ। आजसे मैं भी गुदगुदे गद्दों पर नहीं सोऊँगा। न मैं पलंगका ही उपयोग करूँगा। मैं नग्न भूमिपर सोऊँगा या घासके बिछौनेपर।'

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन्॥
(२। ८८। २६)

'मैं कन्द-मूल-फल ही खाऊँगा और वल्कल ही शरीरपर धारण करूँगा। मैं जटा भी रखूँगा।'

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति॥

(२।८८।२७)

'जो मेरे भाईने प्रण किया है, वह पूर्ण होगा। मैं उनके प्रणका भङ्ग नहीं होने दूँगा। उनका प्रण यही तो है कि कोई एक वनवास करे। वह कोई मैं ही होऊँगा। उस प्रणका इस प्रकार प्रतिपालन हो जायगा।'

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति॥

(२।८८।२८)

'जब मैं यहाँ वनमें रहूँगा, तब शत्रुघ्न मेरे साथ रहेगा। लक्ष्मण रामके साथ अयोध्या चला जायगा और राज-काज करेगा।'

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम्॥

(२।८८।२९)

'उन्हें जाने दो और ब्राह्मणोंको उनका वहाँ अभिषेक करने और उन्हें राजा बनाने दो। दैव मेरे इस मनोरथको पूर्ण करे।'

जब भरत श्रीरामसे मिलने गये थे, तब उन्होंने रूक्ष वल्कल पहना था और जटा भी रख ली थी।

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।

(२।१००।१)

इस वेशमें वे रामसे मिलने गये थे। श्रीरामतक पहुँचनेके पहले उन्हें बहुत-सा मार्ग पार करना था और उसे पार करते समय उन्होंने शत्रुघ्नसे, जो उनके साथ-साथ ही चल रहे थे, अपना हृदय खोल दिया था। उस समय भी उन्होंने आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था 'न मे शान्तिर्भविष्यति।' प्रत्येक श्लोक इसी वाक्यमें समाप्त होता है कि 'मेरी आत्माको उस समयतक जरा भी शान्ति नहीं मिलेगी, जबतक ऐसा नहीं हो जायगा।'

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।६)

'जबतक मैं प्रत्येकको देख नहीं लूँगा—श्रीरामको, लक्ष्मणको और वैदेहीको, मुझे शान्ति नहीं है।'

यावन्न चन्द्रसंकाशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।७)

'जबतक मैं अपने भाईका पूर्ण चन्द्रके, विकसित कमलके समान देदीप्यमान मुख नहीं देखता, मुझे शान्ति नहीं है।'

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति॥

(२।९८।१०)

'लक्ष्मण बड़ा ही भाग्यवान् है। मुझे उससे कितनी ईर्ष्या होती है! वह सदा मेरे बड़े भाईके पास ही है। वह सदा उनकी ओर देखता है और उसी मुखकी आभासे उसे प्रेरणा मिलती है।'

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
प्रग्रहीष्यामि शिरसा न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।८)

'जबतक मैं भाईको देखकर उनके पैरोंमें नहीं पड़ जाऊँ और उनके चरणयुगल अपने हाथोंमें नहीं ग्रहण करूँ और उन पैरोंमें राजाके स्पष्ट चिह्न नहीं देख लूँ, मुझे शान्ति नहीं होगी।'

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।९)

'जबतक वे अयोध्या नहीं चले जाते, जबतक कि भिन्न-भिन्न समुद्रों और भिन्न-भिन्न नदियोंके पावन जलका अभिषेक उनके मस्तकपर नहीं चढ़ता और वे राजाका पद एवं वैभव नहीं प्राप्त कर लेते, मुझे शान्ति नहीं है।'

(अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

(शेष आगे)

आस्तिक होनेकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीमोहनसिंहजी कोठारी)

संसारके सब प्राणी निरन्तर प्रवृत्तिमें रत रहते हैं। इस प्रवृत्तिका उद्देश्य क्या है? वे ऐसा क्यों करते हैं? जो कुछ हम करते हैं, उसका कारण यह है कि हम कुछ चाहते हैं। मूलतः सब प्राणी सुख चाहते हैं—आइये, आज सुखकी खोज करें।

सुख एक आन्तरिक अवस्थाका नाम है। यह मानना भूल है कि सुख बाह्य अवस्थाओं या भौतिक संयोगोंपर ही निर्भर करता है। उदाहरण लीजिये—कड़कड़ाती धूपमें परिश्रम करता हुआ मजदूर महलोंमें बैठे श्रीमान्से अधिक सुखी हो सकता है। अथवा एक ही अवस्थामें दो व्यक्ति रख दिये जायँ तो उनमेंसे एक सुखी और दूसरा दुखी हो सकता है। तो सुख एक आन्तरिक अवस्था है और निर्भर करती है शान्तिपर। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है। अब सुखके लिये हमें शान्ति, सच्ची शान्तिका मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

पुरातन कालसे ही शान्ति प्राप्त करनेके विविध मार्ग विविध व्यक्तियोंद्वारा बताये गये। कुछ लोगोंने शान्ति प्राप्त करनेके ऐसे मार्ग बताये, जिनसे और अशान्ति हुई। भगवान्ने इस अन्धकारमें सच्चा मार्ग दिखाया है—संसारमें सामान्य विचरण करनेवाले व्यक्तिके लिये निष्काम और अनासक्त भावोंसे कर्म करते रहनेपर शान्ति मिल सकती है। जहाँ फल और भोगमें आसक्ति रहती है, वहाँ कामना रहती है और कामनामें विघ्न पड़ते ही घोर दुःख होता है। बिना आसक्त हुए विचरना और कर्म करते रहना, पर फिर भी फलकी इच्छा नहीं करना आवश्यक है। इस अवस्थाकी प्राप्ति सरल नहीं—इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कर्मोंको किसी शक्तिके आगे समर्पण कर दिया जाय और फिर उस समर्पणके निमित्त उत्तम कर्म करते रहें।

ऐसी महान् शक्ति, जिसमें संसारभरके सब प्राणियोंके असंख्य कर्मोंका समर्पण स्वीकार करनेकी सामर्थ्य हो, ईश्वरके सिवा और कौन हो सकती है? इसके अनुक्रमसे यह स्पष्ट हुआ कि जीवनमें सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिये ईश्वरमें पूर्ण विश्वास आवश्यक है। ईश्वरमें विश्वास होनेपर ही हम आत्मसमर्पण कर सकेंगे—

यही आस्तिक होनेकी आवश्यकता है।

मन की पीर हरो

(रचयिता—श्रीगोविन्दजी, बी०-एस्० सी०)

देवता, मन की पीर हरो।

उर मंथित, विश्वास अपरिचित,
स्नेह बिन्दु, करुणा से वञ्चित,
शरण भरण तुम, सुधाबिन्दु से,
मन-मरु क्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

चञ्चल मन, इन्द्रियासक्त तन,
काम, क्रोध विषयादि प्रभञ्जन,
महादृष्टि तुम, अलख नयन से,
अविरत भ्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

पंथ मोदमय शून्य विवर्द्धित,
जीवन की गति रही अलक्षित,
पंथ दीप तुम, किरण कणोंसे,
मन का तम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

अगम, अनन्त, अपार कर्म-पथ,
चरण थकित, निष्प्राण शब्द श्लथ,
अचल भाग तुम, कर-स्पर्श से,
जीवन-श्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

महान् विभूति बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित नैष्ठिक बालब्रह्मचारी, महान् संस्कृतज्ञ, तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराज, कुलपति-संस्थापक, श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय, नरवरका पुण्य-संस्मरण सबको पवित्र करनेवाला है, इसीलिये उनका संक्षिप्त चरित्र यहाँ लिखा जा रहा है। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

जन्म, जाति, स्थान

आप जातिके पूज्य ब्राह्मण थे। आपका जन्म आश्विन शुक्ला ४, संवत् १९३४ विक्रमीमें अलीगढ़में हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका शुभ नाम पं० श्रीरामप्रसादजी महाराज था, जो बड़े ही कुलीन, परम तपस्वी ब्राह्मण थे और वैद्यकका कार्य करते थे तथा बरौलीके रावसाहब करणसिंहजीके राजपुरोहित थे। आप अपने पिताकी एक ही संतान थे। एक बार जब कि आप केवल पाँच वर्षके ही थे अलीगढ़में स्वामी दयानन्द सरस्वती पधारे। आपके पूज्य पिता पं० श्रीरामप्रसादजी (उपनाम रम्मूजी) आपको अपने साथ दयानन्दजीके पास ले गये। स्वामीजीने आपको आदेश दिया कि आप अपने इस बालकको आर्षग्रन्थ पढ़ाना और इसका पचीस वर्षसे पूर्व विवाह न करना। आपने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और ऐसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की। सर्वप्रथम आपको पं० श्रीजीपालालजीके पास पढ़ने भेजा गया और पूज्य पं० श्रीबद्रीप्रसादजी शुक्लके द्वारा आपका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया गया तथा उन्हींके द्वारा गायत्रीमन्त्रकी दीक्षा भी दी गयी। बादमें आपको सुप्रसिद्ध महान् विद्वान् सनातनधर्मकेसरी वेदभाष्यकार पूज्य पं० श्रीभीमसेनशर्मा शास्त्रीजी महाराजके पास इटावा विद्याध्ययन करने भेज दिया गया। श्रीशर्माजी महाराजसे आपने अष्टाध्यायी, महाभाष्यकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। आपने पूर्णरूपेण शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् यह निर्णय किया कि सनातनधर्म ही एकमात्र सत्य धर्म है और सनातनधर्मकी शरणमें रहनेसे ही जीवका कल्याण हो सकता है; आजके मनमाने मनुष्यकृत पंथ, मत, समाज, मज़हबोंके चक्करमें फँसकर सनातनधर्मसे विमुख होनेसे कोई लाभ नहीं।

आजन्म बालब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा

आपके पूज्य पिताजीने सोचा कि अब आप पूर्ण विद्वान् हो गये हैं और इधर आपकी आयु भी पचीस वर्षकी हो गयी है, इसलिये अब आपका विवाह कर देना चाहिये। चारों ओरसे सम्बन्धवाले भी आने-जाने लगे और जब पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजको यह मालूम हुआ कि पिताजी विवाह-बन्धनमें बाँधकर मुझे संसारके मायाजालमें फाँसने जा रहे हैं, तब आपको बड़ा दुःख हुआ। आपने अपने पूज्य पिताजीसे स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन किया—पूज्य पिताजी! मैं अपना विवाह नहीं कराऊँगा, मैं आजन्म नैष्ठिक बालब्रह्मचारी रहूँगा और अपना सारा जीवन गायत्रीके जपमें, भजन-पूजनमें, शास्त्राध्ययनमें और देववाणी संस्कृतविद्याका प्रचार करनेमें और सत्य-सनातनधर्मकी, वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करनेमें व्यतीत करूँगा। पण्डित जीवनदत्तजीके मनमें सनातनधर्मकी दुर्दशा देखकर बड़ी पीड़ा हो रही थी। अतएव उन्होंने कहा—पिताजी! सोचिये तो जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, जगन्नियन्ता साक्षात्परब्रह्म परमात्मा भी भगवान् श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर उसकी रक्षा करते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं, जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्य, जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य विरोधियोंसे टक्कर लेते हैं, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी घासकी रोटियाँ खाते तथा वन-वन भटकते हैं, आज वही मेरा प्राणप्यारा सत्य सनातनधर्म मिटने जा रहा है। क्या यह उचित है कि मैं सनातनधर्मको मिटता देखूँ और विवाह करके विलासी जीवन बिताऊँ? मैं सनातनधर्मकी रक्षा करना चाहता हूँ और सनातनधर्मकी रक्षा तभी होगी जब कि मेरे धर्म-प्राण भारतके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालक अपनी देववाणी संस्कृतविद्या पढ़ेंगे, अपने वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करेंगे, शास्त्रानुसार अपना जीवन बनायेंगे तथा ब्रह्मचारी, सदाचारी, त्यागी, तपस्वी बनेंगे। यह सब कुछ तभी होगा जब कि मैं स्वयं एक आदर्श तपस्वी बाल-ब्रह्मचारी बनकर सच्चे रूपमें जगत्के सामने आऊँगा। तभी मैं दूसरोंपर भी अपना प्रभाव डाल सकूँगा और सच्चे रूपमें संस्कृतविद्याका प्रचार तथा सनातनधर्मकी रक्षा कर सकूँगा। जबतक कथनी और करनी एक नहीं होती, तबतक कुछ भी नहीं होता।

पूज्य पिताजीने यह बात सुनी तो आप बड़े ही प्रसन्न हुए; पर आप ही उनकी एकमात्र संतान थे, दूसरा कोई भाई नहीं था। इसलिये जब आपके सामने पिताजीने यह प्रश्न रक्खा कि आगेको वंश कैसे चलेगा, तब पं०श्रीजीवनदत्तजी महाराजने अपने पूज्य पिताजीको समझाते हुए कहा—'पिताजी ! यदि मैं विवाह कर लूँगा तो मुझे गृहस्थके निर्वाहके लिये वृत्तिके निमित्त विद्या-विक्रय करना पड़ेगा। सो क्या ब्राह्मणकुलमें पैदा होनेपर विद्या-विक्रय करना उचित होगा?' यह सुनकर पिताजीने सहर्ष अपना आग्रह छोड़ दिया।

बरौलीके परित्यागकी घटना

आप परम त्यागी, तपस्वी, महान् विद्वान् ब्राह्मण थे और बरौली जि० अलीगढ़में रहते थे। बरौलीके राजा उस समय परम तेजस्वी क्षत्रियकुलभूषण राजा राव करणसिंहजी महाराज थे। आप उनके राजपुरोहित थे। बरौलीका आपने किस प्रकार परित्याग किया, यह घटना हमें राजा करणसिंहजीके दत्तक पुत्र स्वर्गीय बरौलीनरेश राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल० ए० ने सुनायी थी, जो इस प्रकार है। राजा करणसिंहजी बड़े ही कट्टर सनातनधर्मी राजा थे और श्रीरामानुजसम्प्रदायके श्रीवृन्दावनके श्रीरङ्गाचार्यजी महाराजके शिष्य श्रीवैष्णव थे। परंतु किसी कारणवश एक बार किसी बातको लेकर उनकी पं० श्रीजीवनदत्तजीके पिता पं० श्रीरामप्रसादजीसे कुछ बातमें खटपट हो गयी। पूज्य पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजको एक क्षत्रियके द्वारा अपने पूज्य पिताका अपमान सहन नहीं हुआ। उसी समय आपने बरौलीका परित्याग कर दिया और अपने पूज्य पिताजीको साथ लेकर चले गये। राजा साहबने आपसे करबद्ध क्षमा माँगी; पर आप लौटकर नहीं आये।

देशपर चारों ओर दृष्टि डालकर क्या देखा ?

अब आपने यह पूरा-पूरा निश्चय कर लिया कि मैं आजन्म बालब्रह्मचारी रहूँगा और विवाहका नाम नहीं लूँगा। आपने अपने देशकी ओर दृष्टि डालकर देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि चारों ओर प्राचीन संस्कृतकी पाठशालाएँ तो एक-एक करके टूटती चली जा रही हैं और उनकी जगह धर्मप्राण भारतमें गाँव-गाँवमें, कस्बे-कस्बेमें, शहर-शहरमें अँग्रेज़ीके स्कूल-पर-स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटियाँ खुलती चली जा रही हैं, जिनमें लाखों लड़के पढ़-पढ़कर धर्मभ्रष्ट होते चले जा रहे हैं। जिस चोटी-जनेऊकी रक्षाके लिये श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके लड़के, वीर हकीकत और लाखों भारतीय अपने प्राणोंपर खेल गये, जिन्होंने जालिम औरंगज़ेबकी चमचमाती खूनी तलवारसे भी भय नहीं माना, वही चुटिया-जनेऊ आज बात-की-बातमें अँग्रेज़ी पढ़ते ही हिंदू लड़के अपने आप उतारकर फेंक देते हैं। न किसीके सिरपर चोटी है, न गलेमें जनेऊ और न माथेपर तिलक है। कोरे उद्दण्ड, उच्छृङ्खल, खड़े मूतनेवाले, बीड़ी-सिगरेटके धूँए उड़ानेवाले, मक्खीकी जूँठी चायकी प्यालियाँ चाटनेवाले, कोट, बूट, टोप, नकटाई डाटनेवाले और ईश्वर, वेद-शास्त्र, धर्म-कर्मकी खिल्ली उड़ानेवाले, दिन-रात विलासिताके चक्करमें घूमनेवाले घोर नास्तिक बनकर निकल रहे हैं। आपका हृदय रो पड़ा। आपसे ऋषिसंतानकी दुर्दशा नहीं देखी गयी। आपने यह निश्चय किया कि मैं स्वयं एक आदर्श परम त्यागी तपस्वी विद्वान् ब्रह्मचारी बनूँगा और अपने-जैसे इस प्रकारके हजारों ब्राह्मणोंको बनाकर निकालूँगा, जिनके सिरोंपर लंबी शिखाएँ होंगी, गलेमें पवित्र यज्ञोपवीत होंगे और माथे पर तिलक होंगे और वेद-ध्वनि करते हुए वे कलियुगमें सत्य-युगका अद्भुत दृश्य उपस्थित करते होंगे। मैं इस प्रकार देववाणी संस्कृतकी, वेद-शास्त्रोंकी और सत्य सनातन-धर्मकी सेवा करके जीवनको सफल करूँगा।

संवत् १९६० में आप अपने साथ अपने पूज्य पिताजीको लेकर नरवर (जिला बुलन्दशहर) चले आये। नरवर उस समय एक निर्जन स्थान था। चारों ओर घोर जंगल-ही-जंगल था। आपने उस निर्जन स्थानमें देखा कि एक टूटा-फूटा भगवान् श्रीशङ्करजी महाराजका मन्दिर है और सामने पतित-पावनी, कलिमलहारिणी जगज्जननी श्रीश्रीगङ्गाजी महारानी बह रही हैं। बस, इसे ऋषि-भूमि समझकर और पाँच छात्रोंको लेकर 'विश्वविश्वेश्वरी' पाठशाला, नरवरके नामसे पाठशाला आपने प्रारम्भ कर दी। फूसकी झोंपड़ियाँ डाल लीं और उन्हींमें रहकर इस महर्षिने घोर तपस्या, निरन्तर गायत्रीका जप, त्रिकाल-संध्या, त्रिकाल श्रीगङ्गाका स्नान, ध्यान, भजन-पूजन और भगवान् श्रीशङ्करका भजन-पूजन करना प्रारम्भ कर दिया। आप न तो किसी स्त्रीका मुख देखते, न बातें करते और न स्त्रीके हाथका बना भोजन ही करते थे। स्वयं भोजन बनाकर खाते थे। न किसीसे कुछ माँगना और न किसीसे कुछ कहना। बस, श्रीभगवदिच्छासे बिना माँगे जो कुछ मिल गया, उसे स्वयं अपने हाथोंसे बनाना, भगवान्‌को भोग लगाकर पहले पूज्य पिताजीको भोजन कराना और फिर जो बच गया, उसे पा लेना—यह नियम हो गया। प्रातःकाल

ब्राह्ममुहूर्तमें उठते और शौच आदिसे निवृत्त होकर पतित-पावनी श्रीगङ्गाजी महारानीके स्नानको जाते और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे श्रीगङ्गाजीका स्नान, पूजन, संध्या-वन्दन करके अपनी कुटियामें आकर ग्यारह बजेतक गायत्रीका जप करते, किसीसे भी नहीं बोलते। कभी यदि बोलना भी पड़ जाता तो संस्कृतमें ही बातें करते और फिर दोपहरको श्रीगङ्गा-स्नान और मध्याह्नकी संध्या करते। मन्दिरपर आकर श्रीशङ्करजीका दर्शन करते और फिर अपने हाथों भोजन बनाते। दिनमें छात्रोंको पढ़ाते और संध्याको फिर स्नान-संध्या करते और रात्रिको दस बजेतक गायत्रीका जप करते तथा महाभारतकी, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंकी कथाएँ सुनते। इस प्रकार इस महर्षिका सारा समय पवित्र ब्राह्मणोचित तपस्यामें व्यतीत होने लगा।

धीरे-धीरे पाँच छात्रोंसे बढ़कर पंद्रह छात्र हो गये और कुटियाएँ भी बढ़ने लगीं और भारतके कोने-कोनेसे विद्यार्थियों-का, छात्रोंका आना प्रारम्भ हो गया। श्रीगङ्गा, गायत्री और भगवान् श्रीआशुतोष शङ्करजी महाराजकी ऐसी अद्भुत कृपा हुई कि जंगलमें मङ्गल होने लगा। फूसकी कुटियाओंकी जगह धीरे-धीरे पक्की कुटियाएँ बनने लगीं। वेदभवन बन गया, श्रीशङ्करजीका मन्दिर फिरसे बड़ा सुन्दर बन गया। सैकड़ों विद्यार्थी लंबी-लंबी चोटी लटकाये, गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये और माथेपर तिलक लगाये वेदध्वनि करते, श्रीगङ्गा-तटपर बैठे संध्या-वन्दन करते, श्रीशङ्कर-मन्दिरपर एक साथ उच्च स्वरसे श्रीशङ्कर-स्तोत्रके पाठ करते और रुद्रीका पाठ करते हुए सत्ययुगी दृश्य उपस्थित करने लगे। अब तो वह पाठशाला श्रीसाङ्गवेद-महाविद्यालयके नामसे भारतके कोने-कोनेमें विख्यात हो गयी। खुर्जाके परम भक्त स्वर्गीय सेठ सूरजमलजी आपके परम भक्त बन गये और धनद्वारा विद्यालयकी सेवा करने लगे। बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्री, आचार्योंको बुला-बुलाकर अध्यापक रक्खा गया। इस प्रकार विद्यालय दिनोंदिन उन्नति करने लगा। बड़े-बड़े धनी, अधिकारी, राजा, महाराजा, धर्माचार्य, विद्वान् विद्यालयकी ख्याति सुनकर दर्शनार्थ आने लगे और अद्भुत सत्ययुगी दृश्य देखकर और कुटियामें बैठे घोर तपस्या करते, गायत्री-का जप करते महर्षिको देखकर प्रभावित होने लगे।

महात्माओंका शुभागमन

एक बहुत ही उच्च कोटिके महान् धुरन्धर विद्वान् परम त्यागी तपस्वी संन्यासी प्रातःस्मरणीय अनन्त श्रीदण्डी स्वामी श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजने इस विद्यालयकी ख्याति सुनी और इधर पूज्यपाद ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराजने भी आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी। पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजकी प्रार्थनापर आप विद्यालयमें पधारे और साक्षात् ऋषि-आश्रम देखकर यहींपर निवास करने लगे। इधर भारतकी महान् विभूति परम पूज्यपाद अनन्त-श्रीस्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती श्रीकरपात्रीजी महाराज जब घर-बारका परित्याग करके घरसे निकले, तब आपने किसीसे नरवर-विद्यालयका नाम सुना। फिर क्या था; आप सीधे नरवर चले आये। आपने इस ऋषि-आश्रमकी एक कुटिया-में बालब्रह्मचारी ब्राह्मणश्रेष्ठको गायत्री-जप और घोर तपस्या-में तल्लीन देखा और दूसरी कुटियामें उच्च कोटिके वीतराग ब्रह्मनिष्ठ सर्वशास्त्रनिष्णात दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजके दर्शन किये और चारों ओर वेद-ध्वनिका पवित्र गुंजार सुना। बस, आपने यहीं रहकर विद्याध्ययन करने और घोर तपस्या करनेका निश्चय कर लिया। आप पूज्यपाद श्रीस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराजसे विद्याध्ययन करने लगे। आपका घोर त्याग, तपस्यामय जीवन देखकर विद्यालयकी ख्याति और भी फैल गयी। जिस विद्यालयसे पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे महापुरुष निकलें, उसकी महत्ताको कोई क्या कह या लिख सकता है ? जब जगद्गुरु शंकराचार्य शृङ्गेरी पीठाधीश्वरजी महाराजको पता लगा, तब आप भी कृपाकर पधारे और चार महीने ठहरे। जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर, जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठा-धीश्वर श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज-जैसे बड़े-बड़े धर्माचार्य और पूज्यपाद श्रीस्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ उड़िया-बाबाजी महाराज-जैसे संत महीनों आकर ठहरने लगे।

ऐतिहासिक यज्ञके यजमान

जिस समय पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराजने दिल्लीका ऐतिहासिक श्रीशतकुण्डी महायज्ञ कराया, तब आपको उसका यजमान बनाया गया। जिस समय आप यज्ञमें पधारे और भारतके कोने-कोनेसे वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मणोंने आपकी ख्याति सुनी, तब सभी आपके दर्शनोंके लिये टूट पड़े। परम तपस्वी विशालकाय महान् तेजस्वी बालब्रह्मचारीको एक हाथमें कुशा लिये और दूसरेमें माला लिये गायत्रीका जप करते देखकर सबके मस्तक श्रद्धासे आपके श्रीचरणोंमें झुक गये। बड़े-बड़े अंग्रेजतक आपके दर्शन करके और वृद्धावस्थामें भी आपके

इस प्रकारके महान् तेजस्वी शरीरको देखकर दंग रह गये। आप कैसे घोर तपस्वी और तेजस्वी हैं और बड़े-बड़े संत-महात्मा आपको किस प्रकार श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं, यह हमने उस समय देखा कि जिस समय एक बार मेरठमें पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजने एक बहुत बड़ा यज्ञ कराया तथा सबसे पहले आपको बुलाया और स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि जिस यज्ञमें ऐसे परम तपस्वी महर्षि पधारे हैं, इस यज्ञकी सफलतामें क्या संदेह है। पूज्य श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने अपने श्रीवृन्दावनके श्रीकृष्णाश्रमके उत्सवमें जबतक आपको नहीं बुला लिया चैन नहीं लिया।

साक्षात् दयाकी मूर्ति

आप साक्षात् दया-मूर्ति थे। किसीपर कभी क्रोध करना तो आप जानते ही नहीं थे। किसीको भी दुखी नहीं देख सकते थे। जो भी दुखिया आपके सामने आ गया, उसीके दुःख दूर करनेका भरसक प्रयत्न करते थे। जहाँ आपने अपने आश्रमसे हजारों बड़े-बड़े शास्त्री, आचार्य, वेदपाठी बना-बनाकर निकाले, वहाँ आपने हजारों दीन-दुखियोंको नौकरी दिलाकर, रोगियोंको मन्त्र-जप आदि करना बताकर उनकी सहायता की। हजारों, लाखों मनुष्योंको कट्टर सनातनधर्मी, परम आस्तिक, सदाचारी बनाया और हजारोंसे बीड़ी-सिगरेट, चाय-तम्बाकू, शराब-कबाब, मांस-मछली, प्याज-लहसुन, सलजम आदि खाना छुड़ाकर उनके जीवनको पवित्र बनाया।

राजा साहबपर कृपा

आपने बरौलीके राव करणसिंहजीसे अप्रसन्न होकर बरौलीका परित्याग कर दिया था, यह बात राव करणसिंहजीके दत्तकपुत्र राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल्० ए० को बराबर खटका करती थी और वे चाहते थे कि महाराज हमें किसी प्रकार क्षमा करें और हमारे राजमहलमें पधारें। आप एक दिन श्रीरामानुजसम्प्रदायके पण्डित श्रीभूदेवशर्माजीके साथ श्रीमहाराजजीके पास पहुँचे और श्रीचरणोंमें जाकर बैठ गये। तदनन्तर महाराजजीसे करबद्ध प्रार्थना की कि 'महाराजजी! अपराध क्षमा कीजिये और किसी प्रकार महलोंमें पधारकर अपनी श्रीचरणरजसे उसे पवित्र कीजिये। महाराजजीका हृदय पिघल गया। आपने कहा—'अच्छा, जाओ; बरौलीमें कोई यज्ञ आदि शुभ काम करो, जिसमें हम भी आयेंगे।' राजा साहबने ऐसा ही किया। उसमें महाराज पधारे। दस-बारह दिन ठहरकर खूब धार्मिक जागृति पैदा की। महाराजजीकी [illegible] असीम कृपाको राजासाहब जीवनपर्यन्त मानते रहे।

धन छूना पाप

आप त्याग-तपस्याकी ऐसी साक्षात् मूर्ति थे कि कभी भूलकर भी रुपये-पैसेका स्पर्श तक नहीं करते थे। कोई कुछ भी दे, आप उसपर हाथ नहीं लगाते थे। आश्रमका दूसरा अध्यापक या विद्यार्थी ही उसे उठाता था। कई बार ऐसा भी देखा गया कि कई बड़े-बड़े सेठ आपके दर्शनार्थ आये और आपके श्रीचरणोंमें पाँच-पाँच सौ रुपयेके नोट रखकर चले गये; पर आपने उनकी ओर ताका तक नहीं और जब कोई आश्रमका आदमी आया, तब उसने उठाया, नहीं तो यों-ही पड़े रहे। यों ही पड़े छोड़कर आप अपने जप-ध्यानमें तल्लीन हो जाते। कोई उठाकर ले जाय या छोड़ जाय, कोई चिन्ता नहीं। किसीसे भी आप कभी एक पाईकी भी याचना नहीं करते थे। जो भी भगवदिच्छासे आ गया, उसीसे निर्वाह करते थे। विद्यालयके निमित्त जो भी आता था, उसमेंसे आप अपने लिये एक पाई भी नहीं लेते थे। वह सब अध्यापकोंमें, विद्यार्थियोंमें खर्च होता था। अपने लिये जो शिष्योंसे आता था, उसीसे निर्वाह करते थे। वर्षमें जो खर्च से बच जाता था, उस सबका भंडारा कर विद्यार्थियोंमें वितरण कर देते थे। अगले वर्षके लिये एक पाई भी नहीं रहने देते थे।

शास्त्रानुसार श्राद्ध

आप प्रतिवर्ष शास्त्रानुसार बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे अपने पूज्य माता-पिताका श्राद्ध किया करते थे, जिसमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे ब्राह्मण विद्यार्थियोंको पूज्य मानकर उनका पूजन करके उन्हें भोजन कराते तथा उन्हें प्रसन्न करते थे। सब कार्य शास्त्रानुसार करते थे। आपने कभी यह अभिमान नहीं किया कि मैं घोर तपस्वी हूँ, मुझे अब श्राद्धादि करनेकी क्या आवश्यकता है। आप समय-समयपर सभी कार्य शास्त्रानुसार सनातनधर्मानुसार स्वयं श्रद्धापूर्वक करते थे तथा औरोंको भी करनेको कहते थे।

भक्तका काम भगवान् बनाते हैं, इसकी सत्य घटना

श्रीसाङ्ग-वेदविद्यालयमें हमें एक पुराने विद्यार्थी शास्त्रीजीने अपनी आँखों देखी एक आश्चर्यजनक सत्य घटना सुनायी, जो इस प्रकार है—

एक बार विद्यालयमें विद्यार्थियोंके लिये खाने-पीनेका कुछ सामान नहीं रहा और सामान लानेके लिये पैसा भी किसीके पास नहीं बचा। विद्यार्थी और अध्यापक सभी भूखे थे और लगभग दस-ग्यारह बज रहे थे। पूज्य महाराजजी उस समय पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीजीके परम पवित्र तटपर झोंपड़ीमें बैठे गायत्रीके जपमें तल्लीन थे। एक अध्यापकने जाकर प्रार्थना की कि 'श्रीमहाराजजी! आज तो विद्यालयमें अन्नका एक दाना भी नहीं है। सभी विद्यार्थी भूखे हैं, क्या किया जाय?' यह सुनकर परम तपस्वी महाराजजी तनिक भी विचलित नहीं हुए और अपने श्रीमद्भगवद्गीताका यह श्लोक कहा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

और पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीकी ओर संकेत करते हुए कहा कि 'क्या श्रीगङ्गा माताको हमारी चिन्ता नहीं है?' ऐसा कहकर ज्यों ही आप आगेको चले तो क्या देखते हैं कि श्रीगङ्गामें एक नौका चली आ रही है और उसमें खाने-पीनेका कचौड़ी-पूड़ी, साग आदि सब सामान है। नौका आकर वहीं ठहर गयी और सब सामान ले जाकर विद्यार्थियोंको खूब छककर भोजन कराया गया। किसी भक्त सेठने यह सब सामान बिना कहे भिजवाया था। इस घटनाको देखकर सब चकित हो गये और श्रीगङ्गाजीकी कृपाको यादकर गद्गद हो गये।

कीर्तनके साथ शास्त्रीय कर्म भी आवश्यक

कुछ लोग भ्रमसे कहने लगे थे कि महाराजजी कीर्तनका विरोध करते हैं; पर ऐसा कहना अज्ञानताका परिचय देना है। हमारे प्रश्न करनेपर स्वयं महाराजजीने बताया था कि 'हम कलिकालमें संकीर्तनको एक मात्र उद्धारका मार्ग मानते हैं; पर साथ ही कीर्तनकी आड़में वर्णाश्रमधर्मका विध्वंस करना, जात-पाँतको मेटना, सबके हाथका खाना-पीना, चोटी-जनेऊ उतार फेंकना और संध्या-वन्दन नित्यकर्म न करना इसे भी घोर पाप मानते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शास्त्रानुसार अपना यज्ञोपवीत करायें, संध्या-वन्दन करें और श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन भी करें तो बहुत शीघ्र कल्याण हो। सब कार्य शास्त्रानुसार, सनातनधर्मानुसार और मर्यादानुसार ही होने चाहिये, तभी कल्याण होगा। मनमानी करनेसे तो लाभके बदले हानि ही होती है।

जीवनभर किसी भी स्त्रीके हाथका भोजन नहीं किया

आप जहाँ अखण्ड नैष्ठिक बालब्रह्मचारी थे, वहाँ आप पचासों वर्षतक अपने हाथोंसे ही भोजन बनाकर पाते रहे और किसी स्त्रीके हाथका बना भोजन तो आपने कभी पाया ही नहीं। अब आपकी पचासी वर्षकी आयु हो गयी थी और बड़े वृद्ध हो गये थे, इसलिये अब कुछ दिनोंसे आपका भोजन आपका एक ब्राह्मण विद्यार्थी बनाने लगा था। बाजारकी बनी तो आपने कभी भी न कोई चीज खायी और न छूयी। बड़े ही आचार-विचारका पालन करनेवाले थे और स्त्रियोंसे दूर रहनेमें ही कल्याण मानते थे। आप श्रीश्री-मारुतिनन्दन भगवान् श्रीहनुमंतलालजी महाराजके अनन्य प्रेमी थे। नित्य श्रीहनुमान्‌जी महाराजके चित्रका चन्दनादिसे पूजन करते थे। आपने साठ वर्षोंतक निरन्तर गायत्रीका जप किया, त्रिकाल संध्या की, श्रीगङ्गास्नान किया और बहुत बड़ी संख्यामें बड़े-बड़े यज्ञ-अनुष्ठान और दुर्गापाठ कराये और हजारों बड़े-बड़े वेदपाठी शास्त्री, आचार्य, कर्म-काण्डी विद्वान् बनाये, जो भारतके कोने-कोनेमें फैलकर सर्वत्र सनातनधर्मका प्रचार कर रहे हैं। पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आपके विद्यालयकी महान् दिव्य विभूति हैं। पं० श्रीसुदर्शनाचार्यजी महाराज, पं० श्रीपातीराम शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पूज्य आचार्य विजय-प्रकाशजी महाराज, पं० श्रीश्यामलाल शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पं० श्रीनवनिधि शर्माजी, पं० श्रीबाँकेलाल शास्त्रीजी, पं० श्री-सत्यव्रत शास्त्रीजी आदि बड़े-बड़े विद्वान् आपके विद्यालयसे प्रसूत रत्न हैं।

एक ज्योतिषीद्वारा पंद्रह वर्ष पूर्व ब्रह्मलोकप्रयाणकी तिथि बतानेकी आश्चर्यजनक सत्य घटना

आपके पास पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व एक पं० श्रीरामस्वरूप नामक ज्योतिषी पधारे, जो त्रिकालदर्शी माने जाते थे। उन्होंने आपके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करते हुए अपने हाथसे लिखकर दिया था कि 'आपका ब्रह्मलोकप्रयाण चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ को प्रातःकाल ८॥ बजे होगा। उस समय आपके पास प्रातः आपकी कुटियामें एक एकाक्ष (काना) साधु आकर आपके दर्शन करेंगे। उनको देखते ही आप ॐका उच्चारण करके अपना शरीर छोड़ देंगे।' यह लिखा हुआ कागज अभीतक विद्यालयमें रक्खा हुआ है।

एकाक्ष साधुका आना और श्रीमहाराजजीका ब्रह्मलोकप्रयाण करना

भाद्र शुक्ला १४ संवत् २०१२ को अकस्मात् आपको शीतज्वर हो गया, जो फाल्गुन कृष्णा ३० तक बीच-बीचमें आता रहा। आपने किसी भी प्रकार नित्यकर्म करना नहीं छोड़ा, इसलिये दुर्बलता बहुत बढ़ गयी। बहुत-से बड़े-बड़े योग्य वैद्य बुलाये गये और उनकी ओषधि चलती रही। विशेष लाभ कुछ भी नहीं हुआ और दुर्दैवविपाकसे दिनों-दिन अवस्था क्षीण होती गयी। इधर त्रिकालदर्शी ज्योतिषी-जी महाराजका बताया समय भी निकट आ पहुँचा। किसीको क्या पता था कि भारतके महान् संस्कृतज्ञ धुरन्धर विद्वान् सनातनधर्मके महान् सूर्यका अस्त होने जा रहा है? शरीर छोड़नेसे ठीक एक दिन पूर्व एक एकाक्ष (काना) साधु फर्रुखाबादसे नरवरके श्रीमहाराजजीकी किसीसे प्रशंसा सुनकर दर्शनके लिये चले और रात्रिमें नरौरा आकर ठहर गये। प्रातःकाल नरवर आकर श्रीगङ्गास्नान करके वे श्रीमहाराजजीके दर्शनोंके लिये चले। इधर श्रीमहाराजजीको गीताका दूसरा अध्याय सुनाया जा रहा था। वह पूरा हुआ। झटसे एकाक्ष (काना) साधु कुटियामें घुसे और उन्होंने ज्यों ही महाराजजीको प्रणाम किया, त्यों ही महाराजजीने उन्हें देखते ही हरिॐका उच्चारणकर ब्रह्मलोकको प्रयाण कर दिया। ठीक वही चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ का प्रातःकाल ८॥ का समय था। एकाक्ष साधुको देखनेके लिये जनता उमड़ पड़ी और उनके छायाचित्र लिये गये।

भारतभरमें शोक

इस प्रकार हमारे परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय वीतराग ब्रह्मनिष्ठ नैष्ठिक बालब्रह्मचारी तमोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजका ब्रह्मलोकप्रयाग हो गया। इससे सारे भारतमें एकदम शोककी लहर दौड़ गयी और जगह-जगहसे [illegible] आने लगे। हजारों स्त्री-पुरुष अन्तिम दर्शनोंके लिये [illegible] पड़े। तुरंत जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर [illegible] श्रीविभूषित १००८ श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजको सूचना दी गयी और इधर खुर्जासे आपके परम भक्त [illegible] श्रीसूरजमल बाबूरामजीने अपनी ओरसे आठ-नौ मन चन्दन, घी, मेवा आदि सामान भेजा, जिससे आपका श्रीगङ्गातटपर अन्तिम दाह-संस्कार किया गया। जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराजने श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए आपको एक विरक्त महान् विभूति बताया और कहा कि 'आज भारतके महान् तपस्वी ब्राह्मणरूप सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया। श्रीहरिद्वार कुम्भसे पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी महाराज भी मोटरद्वारा पधारे और एक घंटा ठहरकर श्रद्धाञ्जलि भेंटकर काशीको प्रस्थान कर गये। सारे भारतके कोने-कोनेसे तार-चिट्ठियाँ आने लगीं और जगह-जगह स्मृति-सभाएँ हुईं। चैत्र शुक्ला [illegible] दिन भौमवारको ब्रह्मभोज हुआ, जिसमें कई हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया। पूज्य शास्त्रार्थमहारथी कविरत्न पं० श्री-अखिलानन्दजी महाराज, सुप्रसिद्ध आहिताग्नि पं० श्री-बालकरामजी शर्मा अग्निहोत्री ऋषिकेश, श्रीस्वामी देवेन्द्रतीर्थ-जी महाराज आदि बड़े-बड़े महानुभाव पधारे और सबने विराट सभामें आपको अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण कीं। अन्तमें हम भक्तिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए आपके शिष्योंसे करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि जिस सनातनधर्मकी, जिस संस्कृतविद्याकी, हिंदू-सभ्यता-संस्कृतिकी, शास्त्रोंकी रक्षाकी चिन्ता महाराजजी करते रहे, उसी प्रकार रक्षा करना आप भी अपना प्रधान परम कर्तव्य समझकर लगे रहें और इन्हें जिस प्रकार भी हो बचानेका पूरा-पूरा प्राणपणसे प्रयत्न करें।

बोलो सनातनधर्मकी जय

भक्तिसे परमशुद्धि

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः। यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥

(श्रीमद्भागवत ६। ३। ३२)

जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती।

हमारी पद-यात्रा भगवत्-प्रार्थनामात्र है

(प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी)

(श्रीविनोबा)

आज हमको एक भाईने पूछा, 'आपने दिनमें दो दफा पद-यात्रा शुरू की है* पर उससे गाँवमें काम कैसे होगा ? घूमनेका ही काम मुख्य हो जायगा, शरीरको तकलीफ दे-देकर लोगोंपर क्या आप असर डालना चाहते हैं ?' मैंने कहा—'जिसको आप घूमना कहते हैं, वह हमारी प्रार्थना है । श्रुतिकी आज्ञा है कि 'घूमते रहो' इसीलिये हम घूमते रहते हैं । वैसे घूमते रहनेसे ही कार्य होता है, सो बात नहीं, बैठे-बैठे भी काम हो सकता है, लेकिन हमको चलनेकी प्रेरणा हुई । लोगोंके पास हम जाते हैं, तो हमें अच्छा लगता है और लोगोंको भी अच्छा लगता है ।' उन भाईने फिर कहा—'दो-दो दफा चला करेंगे तो फिर गाँवमें जाकर झाड़ू लगाना, बातें करना आदि काम आप नहीं कर सकेंगे ।' हम कहना चाहते हैं कि ऐसे बाह्य कार्योंपर हमारा बहुत ज्यादा विश्वास भी नहीं है । ये काम गलत तो नहीं हैं, परंतु उनकी शक्ति सीमित है । मुख्य शक्ति जो है वह अन्तरकी है, भगवद्भक्तिकी है ।

हमारी यात्रा भगवत्-प्रार्थनाके तौरपर चल रही है और उससे हमारे हृदयको प्रसन्नता होती है । हम नहीं समझते हैं कि लोगोंके साथ बहुत ज्यादा चर्चा करेंगे, तो उसका ही असर होगा । लोक-सम्पर्क होना चाहिये सो तो वह हो ही रहा है । बाकी कार्य भगवत्-प्रार्थनासे होते हैं । वैसे तो प्रार्थना बैठकर भी हो सकती है, परंतु हम चलकर प्रार्थना करना पसंद करते हैं; क्योंकि इसमें आलस्यकी कोई सम्भावना नहीं रहती, सब लोगोंके दर्शन भी होते हैं । हिंदुस्तानके लोगोंमें दर्शन लेनेका जो एक पागलपन है, वह हममें भी है । वे समझते हैं कि दर्शनसे उन्हें कुछ मिलता है । मेरा भी वैसा ही विश्वास है । लोगोंके दर्शन होते हैं तो उससे मेरा कार्य होगा । तात्पर्य यह कि बाहरकी कृतियोंसे ज्यादा काम नहीं होगा, अन्तरकी प्रेरणासे होगा ।

हमारा ध्यान इस तरफ रहता है कि हम कितने लोगोंको प्रेमसे खींच सकते हैं । हमारा अनुभव है कि कुछ-न-कुछ तो खींचे जाते हैं । यह 'हम' करते हैं सो बात नहीं । वह तो करनेवाला करता है । परंतु हम घूमते हैं तो हमारे लिये एक सिद्धि होती है, हमको एक साधना मिल जाती है, एक निमित्तमात्र कार्य हो जाता है । परंतु हमारा बोलना, बोलना नहीं है; हमारी चर्चा, चर्चा नहीं है और हमारा घूमना, घूमना नहीं है । ये सब कुछ भगवत्-प्रार्थना मात्र हैं । (ओलिंडियम पट्टू, द० अरकाट ता० ६-७-५६)

त्रिभुवनके दीप कौन हैं ?

सधन सगुन सधरम सगन सबल सुसाइँ महीप । तुलसी जे अभिमान बिनु ते तिभुवन के दीप ॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि जो पुरुष धनवान्, गुणवान्, धर्मात्मा, सेवकोंसे युक्त, बलवान् और सुयोग्य स्वामी तथा राजा होते हुए भी अभिमानरहित होते हैं, वे ही तीनों लोकोंके उजागर होते हैं ।'

—गोस्वामी तुलसीदास

---

* विनोबाजीने ३ जुलाईसे दिनमें दो बार पद-यात्रा शुरू कर दी है । पहले वे केवल सुबहके वक्त ही पद-यात्रा करते थे, अब शामको भी पद-यात्रा करते हैं ।

परायी निन्दा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आज, भारतमें ही नहीं, विश्वमें शायद ही कोई ऐसा स्थान होगा, जहाँ कोई किसी की निन्दा नहीं करता हो। सम्भव है इस लोकके उस पार ही जानेपर ऐसा स्थान मिले। आज किसी भी स्थानपर चले जाइये, किसी भी देशमें जाइयें, आपको ऐसा व्यक्ति बिरला ही मिलेगा जो दूसरेकी निन्दा करनेमें, दूसरेका अवगुण देखनेमें आन्तरिक सुखका अनुभव न करता हो। कोई भी समाचारपत्र उठा लीजिये, उसमें कालम-के-कालम दूसरोंकी निन्दासे भरे होंगे। यदि आप किसीकी निन्दा कभी न भी सुनना चाहें तो वह सुननेके लिये समाज आपको बाध्य करेगा।

गली-कूचे, राह चलते, दूसरेकी आलोचना सुनते-सुनते कान भले ही थक जायँ, पर ऐसा स्थान मिलना बड़ा ही कठिन है, जहाँ मनुष्य शान्तिके साथ बैठकर केवल अपने ही दिलको टटोलता रहे; केवल भगवान्में ध्यान लगाता रहे। हरद्वारमें गङ्गाके पवित्र तटपर स्नान करते समय, ऋषिकेशके पवित्र काननमें पद-यात्रा करते समय, काश्मीरसे लेकर दक्षिण भारतके पवित्र मन्दिरोंमें दर्शन करते समय या अपने ही नगर काशीमें गङ्गातट-पर भी मुझे राम-नामके साथ-साथ किसी-न-किसीकी आलोचना ही सुननी पड़ी। कुछ न हुआ तो सास अपनी पड़ोसिनसे बहूकी निन्दा कर रही होगी, बहू अपने सासकी चीर-फाड़ कर रही होगी, पिता पुत्रका अपयश बखान रहा होगा, या यदि कोई न मिला तो आलोचनाके लिये सबसे सरल और सुलभ विषय देशकी सरकार अथवा उसके नेतावृन्द तो हैं ही। समाचारपत्र सार्वजनिक रुचिका ध्यान न रक्खें तो बिक्रीपर असर पड़ जाय। इसलिये वे स्तुतिको ताकपर रखकर हरेकके दरवाजेपर निन्दाकी कहानियाँ बटोरने जाया करते हैं।

निन्दा तथा आलोचनाका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। मनोविज्ञानका कहना है कि जब मनुष्यको अपनेमें कुछ कमीका आभास होता है, तब वह इस कमीको दूर न करके दूसरेमें उसी कमीकी खोज करता है और इससे उसको शान्ति मिलती है। पर एक बार दूसरेकी कमी-का पता चल जानेपर वह अपने मनके भीतर छिपी उस भावनाको प्रकट करता है, जिसे वह ठीकसे स्वतः समझ नहीं पाया था। उसे अपनी दुर्बलताएँ बुरी लगती हैं। उसके भीतरकी आत्मा उसे उन दुर्बलताओंसे खींच लाना चाहती है, पर नहीं ला सकती। इसलिये वह मनुष्य दूसरोंकी उन्हीं दुर्बलताओंको पुकार-पुकारकर सबके सामने रखकर एक प्रकारसे अपनी रक्षा करना चाहता है। इसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और है। समाजके बन्धनके कारण मनुष्य बहुतसे पाप करना भी चाहता है, पर उसका साहस नहीं होता। विधानके भयसे भी वह अपनी अनेक वासनाओंको दबाये रहता है। पर जब उसे दूसरोंद्वारा किये गये उन्हीं कुकृत्योंकी जानकारी होती है, तब उसकी वासना-बुद्धिको केवल सुनकर या जानकर एक कामुक शान्ति, एक पैशाचिक संतोष प्राप्त होता है। अतृप्त वासनाओंका ऐसा पैशाचिक संतोष इंगलैंड, फ्रांस आदिके समाचारपत्रोंको देखनेसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है। एक दिन मैंने लन्दनमें बैठकर वहाँसे कुछ समाचारपत्रोंका संवाद छाँटना शुरू किया। किन्हीं समाचारपत्रोंमें २४ कालममेंसे दस कालम ऐसे मिले जिनमें केवल दुराचार, भ्रष्टाचार, हत्या, चोरी आदिके संवाद थे। छः सात कालममें विज्ञापन थे और शेष सात कालमोंमें देश-विदेशके अन्य समाचार थे। धार्मिक या सांस्कृतिक ढंगका एक भी समाचार नहीं था। ऐसे समाचारोंका जनसमूहपर क्या

प्रभाव पड़ता है तथा उसकी बुद्धिपर कितनी गंदी छाप पड़ती है, इसका विवेचन शायद आवश्यक नहीं है ।

कानपुरमें एक बहुत ही प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी सज्जन श्रीसेन थे । अपने ७९वें वर्षकी अवस्थामें उन्होंने मुझसे सन् १९४० में कहा था कि 'मैंने २५ वर्षसे कोई समाचारपत्र नहीं पढ़ा है और इसलिये नहीं पढ़ा कि उनके पढ़नेसे मनपर अनायास असांस्कृतिक तथा वासनामय बोझ ही पड़ता है, कोई लाभ नहीं होता।' श्रीसेन किसी सार्वजनिक सभामें तभी जाते थे, जब उनको यह विश्वास हो जाता था कि वहाँ केवल समाज-कल्याणकी ही बातें होंगी ।

आज वातावरण इतना भ्रष्ट हो गया है कि मानवता भी भयभीत हो उठी है । एक ओर विज्ञानकी पराकाष्ठा हो रही है । वैज्ञानिक कल्पना कर रहे हैं और एक पुस्तकमें तो इस आधारपर भावी समाजकी रूपरेखा बना दी गयी है, कि सन् २०८६ में किसी महान् विदेशी शक्तिकी एक प्रयोगशाला तथा छोटी-सी पल्टन चन्द्रमापर रहेगी और दूसरी सूर्यमण्डलके अति निकट किसी व्योम-भूमिपर । विज्ञानका हौसला इतना बढ़ गया है कि वहाँ कोई राष्ट्र स्वर्गलोकपर भी आधिपत्यका सपना देख रहा है । वैज्ञानिक कल्पना तथा पुरातन युगके राक्षसी संकल्पोंमें भेद मिटता जा रहा है । वृत्रासुर, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, हिरण्यकशिपु, रावण—सभीने तो यही चाहा था कि नवग्रहको अपना सेवक बना लें । इन्द्रपुरीपर आधिपत्य कर लें । इनका जिस प्रकार संहार हुआ, वही इतिहास पुनः लिखा जानेवाला है । पर, आज मनुष्यके लिये जीवनकी दौड़, जीवनका संघर्ष ही सब कुछ है । वह उलटकर पीछे नहीं देख सकता, सँभलकर आगे नहीं चल सकता । एक वेग है, एक प्रवाह है, जो ढकेले लिये चला जा रहा है । आगे पहुँचनेकी इतनी जल्दी है कि अवकाश नहीं है कि भगवान्‌का नाम लिया जाय । आगे बढ़ना है तो बिना दूसरेको धक्का दिये आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता । आगे बढ़ना हो तो दूसरेकी छातीपर पैर रखकर, उसे रौंदकर आगे बढ़ो !

ऐसी दूषित भावना जब समाजमें व्याप्त हो जाती है, तब उसका वास्तविक विकास तथा उसकी वास्तविक प्रगति समाप्त समझिये । आज हम जिसे विकास कहते हैं उसे विकासकी व्याख्यामें भी लाना अनुचित है । जिस समाजमें पिता-पुत्र, पति-पत्नीका सम्बन्ध—केवल शिष्टाचारकी सीमातक भी न हो, जिस समाजमें वयोवृद्धोंका आदर न हो जिस समाजमें गुरुजनोंका सम्मान न हो, और जिस समाजमें केवल दूसरेका अवगुण ही देखा जाता हो, वह समाज मानवसमाज नहीं कहा जा सकता ।

आधुनिक युग आवश्यकताओंका युग है । मनुष्य नित्य नयी-नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और उनके पीछे पागलकी तरह घूमता है । केवल खुली हवा तथा स्वस्थ भोजन और अवकाशके समय भगवान्‌का चिन्तन, इतनी थोड़ी आवश्यकतासे मानव-जीवन नीरस समझा जाता है । प्रमोद तथा विनोदके लिये केवल मोटरकार, बिजली, रेडियो या रेफ्रिजरेटर तक ही सीमा नहीं बनती । पुराने युगमें विदेशमें भूखे शेरके सामने निस्सहाय आदमीको छोड़ देते थे और जब शेर उस अभागेको चीरकर खाता था, तब जनतामें करतल-ध्वनि होती थी और अट्टहास होता था । मैंने इटलीकी राजधानी रोममें वह विशाल खुला थियेटरहॉल देखा, जहाँ दो हजार आदमी बैठकर यह नृशंस नाटक देखते थे । वह स्थान खँडहर हो रहा है, पर उसके ईंट-पत्थर उस युगकी साक्षी दे रहे हैं । पर शेरके पेटमें जाते समयकी उस अभागेकी चीत्कारने रोमन साम्राज्यको नष्ट कर दिया और रोमकी कोमल स्त्रियाँ

तथा बच्चे बर्बरोंके जंगली खेमोंमें दास बनकर भूखों मरने लगे ! आज ऐसे नये वैज्ञानिक खेल निकले हैं, जिनमें आदमीका दम घुट-घुटकर निकलता है । प्रयोगके लिये, परीक्षाके लिये छोड़े गये अणुबमसे कितने प्राणी अंधे हो जाते हैं, कितने भयानक रोगोंके शिकार होकर मरते हैं, इसके आँकड़े रूस तथा अमेरिका दोनों छिपा रहे हैं ।

आजकी दुनियाका क्या होगा, यह तो भगवान् जानें । पर हम भारतीय जो संसारकी सबसे प्राचीन सभ्यता, दर्शन तथा इतिहास लिये बैठे हैं, वे क्या कर रहे हैं इस संसारको बचानेके लिये ? संसारकी बात न सोचिये तो अपनेको ही बचानेके लिये क्या कर रहे हैं ? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रामायणका पाठ तो काफी होता है; पर किसीने उनकी इस उक्तिको भी ध्यानमें रखा कि 'परनिन्दा सम अघ न गरीसा ।' आजका समाजशास्त्र इतना अभिमानी हो गया है कि पाप-पुण्यकी व्याख्या करना भी दोष समझा जाता है । नैतिकताकी नयी व्याख्या बन गयी है । मैंने लंदनमें एक व्याख्यानमें कहा था कि चारों ओर लाख प्रयत्न करनेपर भी चोरी-डकैती आदि जो अपराध बढ़ गये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि समाजमेंसे पाप-पुण्यकी भावना लुप्त होती जा रही है । पहले हम एक छिपकिलीकी दुमपर छड़ी चलानेके समय यह सोचकर रुक जाते थे कि यदि दुम कट गयी तो पाप होगा । अब यह सोचकर छड़ी चला देते हैं कि छिपकिलीकी दुम विज्ञानके अनुसार कुछ विशेष कामकी नहीं होती, उसके कटनेके दुःखसे हमसे कोई सरोकार नहीं है ।

यदि हमें समाजको सही मार्गपर लाना है तो सबसे पहले आत्मसमीक्षा करना सीखना होगा । दूसरेका ऐब देखनेके पहले हमको अपना दोष भी देखना होगा । एक विद्वान् मनोवैज्ञानिकने कुछ लोगोंकी परीक्षा लेनेके लिये स्याहपट्टीपर एक सफेद चौकोर खींचकर उसे सफेद खड़ियासे रंग भर दिया, बीचमें काला बिन्दु लगा दी । फिर लोगोंसे पूछा कि तुमको क्या दिखायी देता है । लोगोंने एक स्वरसे कहा कि 'काला बिन्दु' । तब उस विद्वान्ने पूछा, 'और सफेद रंग क्यों नहीं ?'

यही दशा हमारी भी है । हम काला बिन्दु ही देख पाते हैं । सफेद चौड़ा फैला रंग नहीं । जरा-सा ऐब पहाड़-ऐसा दिखायी देता है ।

'आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो ।'

पर दूसरेका गुण, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, दिखायी ही नहीं देता । बड़े-बड़े महापुरुष, बड़ी-बड़ी विभूतियाँ हमको आदिकालसे यही उपदेश देती आयी हैं—'आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति'

अपना-आप ही दूसरेका मापदंड होना चाहिये । अपनी ही उपमासे पुरुष दूसरेके सम्बन्धमें सोचे । जो कुछ बुरा लगे, दूसरोंमें जो दोष दिखायी पड़े, उन्हें देखकर यह सोचना चाहिये कि उस परिस्थितिमें हम होते तो क्या करते । दूसरेकी निन्दा सुनना पाप इसलिये है कि हमारे कान अपनी निन्दा नहीं सुन सकते । हमारा यही दुर्भाग्य है । जरा हृदयके आइनेमें अपना मुँह तो देखना ही चाहिये । ऋषियोंने कहा है—'जो-जो बातें तुम्हें अपने लिये बुरी लगें, दूसरोंके साथ उनको मत करो'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'

आज हम स्वतन्त्र हैं । हमारा देश स्वतन्त्र है । हमें आगे बढ़ना है । पर यह बढ़ना दूसरेको गिराकर नहीं, स्वयं अपने पुरुषार्थसे बढ़ना है । अथर्ववेदकी उक्ति है—

'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।'

यदि पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है तो विजय बायें हाथमें है ।

जो इस प्रकारकी भावना लेकर जीवनमें आगे बढ़ता है, वही जीवनमें सफल होता है, आगे चलकर अपने

सफलताका सुख भी भोग सकता है। चित्तकी शान्ति संसारके सभी वैभवोंसे बड़ी है। चित्तकी वास्तविक शान्तिके लिये सीधे सच्चे मार्गसे चलना होगा। असफलता हो, ठेस लगे, परेशानियाँ हों। पर वह जीवन कैसा, जिसके साथ ये विपत्तियाँ न लगी हों। ये सब तो शरीरके धर्मके साथ हैं।

'अगर आसानियाँ हों, जिंदगी दुश्वार हो जाये'

पर शान्ति और सुख भगवान्‌के चरणोंमें प्राप्त होता है। शरीर नष्ट हो जाता है, जीवन समाप्त हो जाता है, पर यश बना रहता है और क्षितिजके उस पार, परलोकमें भी आत्माकी शान्ति इस संसारके समूचे वैभवसे कहीं अधिक मूल्यवान् है।

गोवध अवश्य बंद होना चाहिये

(श्रीजयप्रकाशनारायणजीका वक्तव्य)

[गत जुलाई १९५६को कलकत्तेमें श्रीजयप्रकाश-नारायणजीने पश्चिमी बंगगोरक्षापरिषद्‌द्वारा प्राप्त एक स्मरणपत्रके उत्तरमें एक वक्तव्य देते हुए कहा—]

गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाने या गोरक्षा करनेके प्रश्नको आम तौरसे धार्मिक दृष्टिकोणसे उपस्थित किया जाता है। नतीजा यह होता है जो लोग इस विचारसे सहमत नहीं होते, वे इस प्रश्नको वर्तमान बुद्धिवादी युगके लिये संकीर्ण तथा अविचारणीय बताकर टाल देते हैं। मेरे ख्यालसे किसी भी सभ्यताकी दृष्टिसे यह उचित नहीं है कि धार्मिक भावनाओं तथा जनताकी रुचिको पूर्णतः अमान्य कर दिया जाय। यदि ये भावनाएँ गलत ढंगपर आधारित हैं तो शिक्षा और विवेकके द्वारा इनका सुधार किया जाना चाहिये; किंतु जबतक ऐसी भावनाएँ मौजूद हैं, तबतक अन्य धर्मावलम्बियोंद्वारा ही नहीं बल्कि देशके कानूनके द्वारा भी इनका सम्मान होना चाहिये। धार्मिक भावनाओंके संघर्षसे समस्या जटिल हो सकती है, किंतु मेरा ख्याल है कि इस विशेष प्रश्नपर कोई भी धर्म अपनी सहमति नहीं देगा कि पूजा और धार्मिक समारोहके लिये गायकी हत्या होनी चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें यदि कानूनद्वारा गोहत्या-पर प्रतिबन्ध लगा ही दिया जाता है तो इससे किसी भी धर्मके लोगोंकी धार्मिक भावना और विश्वासको किसी प्रकार आघात नहीं पहुँचना चाहिये।

× × ×

क्या यह कहा जा सकता है कि गोवधपर प्रतिबन्धसे किसी मानवीय मूल्यपर आघात पहुँचता है? वस्तुतः स्थिति ठीक इसके विपरीत है, यानी गोवधपर प्रतिबन्ध स्वयं एक महान् मानवीय मूल्यका अनुमोदन है।

गायके सम्बन्धमें हिंदुओंके विचार, मिथ्याविश्वास, अन्धविश्वास अथवा प्राचीन निषेधोंके परिणाम नहीं है।

मानवीय भावना एवं मानव-संस्कृतिके क्रमिक विकासकी विधिसे होकर हमारे पूर्वज अहिंसाके उच्च विचारतक पहुँचे, जो सिर्फ मानव-जातिके लिये ही नहीं, बल्कि समस्त जीवोंके लिये लागू था। सभी जीवोंके साथ क्रमिक तादात्म्य-स्थापनका यह महान् क्रम था। मेरी समझसे ऐसे पशुके रूपमें जिसे चोट नहीं पहुँचायी जानी चाहिये, गायका चुनाव मानवीय भावनाके विकास एवं सभी जीवोंके साथ आत्माके तादात्म्यका प्रतीक था। हमारे जीवनका यह उच्च दर्शन सर्वसाधारण-द्वारा उपयोग एवं हमारे पतनकालमें सम्भव है अन्धविश्वास बन गया हो; पर कोई कारण नहीं कि प्रबुद्ध जन भी इस उच्च विचारको तिलाञ्जलि दे दें।

इस मानवीय एवं नैतिक पहलूके अतिरिक्त गोसंरक्षणका आर्थिक पहलू भी खास एवं आवश्यक महत्त्व रखता है। यहाँ यह भी मैं पूर्ण विनम्रतापूर्वक कहूँगा कि हमारे देशका तथाकथित या आधुनिक जनमत छिछला है। गौ तथा गोवंश, उसका मल-मूत्र, उसकी मृत्युके उपरान्त उसका अवशिष्ट अंश हमारी कृषिप्रधान एवं ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाके अभिन्न अङ्ग-स्वरूप हैं।

जो मशीन एवं तथाकथित वैज्ञानिक तरीकोंसे खेतीका स्वप्न देखते हैं, वे पूर्णतः अवास्तविक संसारमें रहते हैं, जिसका इस देशकी परिस्थितियोंसे कोई ताल्लुक नहीं है। हमारी कृषि तथा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाका भविष्य गाय और बैलपर मुख्यतः निर्भर है। इन आर्थिक पहलुओंके कारण गोसंरक्षण तथा पशुओंका नस्ल-सुधार सर्वोच्च कोटिके राष्ट्रिय दायित्व रूप ग्रहण कर लेता है। अतः यह बड़े खेदकी बात है कि पश्चिम बंगालसरकार गोवधकी समस्याके प्रति इतनी उदासीन रही है। यह सत्य है कि गोरक्षण तथा पशुओंके नस्लसुधारका प्रश्न गोहत्यापर प्रतिबन्धसे ही प्रारम्भ और समाप्त नहीं होता। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि गोवधपर प्रतिबन्ध सम्पूर्ण समस्याके समाधानके लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और गोवधके इस मुख्य सवालको इस समस्यासे सम्बन्धित अन्य प्रश्न उठाकर टालना ठीक नहीं है।

पश्चिमीय बंग-गोरक्षा-परिषद्के स्मृतिपत्रमें यह भी कहा गया है कि पश्चिम बंगालमें इस प्रश्नपर वामपंथी जनमत कांग्रेसी जनमतसे अधिक उदासीन है। दुःखकी बात है कि वामपंथी विचारधारा सहानुभूति-प्रदर्शनमें बहुधा अञ्चलविशेषतक सीमित नहीं रहती, पर इसके सोचनेके ढंग संकीर्ण हैं। देशकी जनता—जिसका ८० प्रतिशत ग्रामीण अञ्चलोंमें निवास करती है—के जीवन एवं समस्याओंके अधिक सम्पर्कमें आनेपर वामपंथी विचारधारा अपनी संकीर्णतासे मुक्त हो सकेगी। वामपंथियोंको अपनी विवेकशीलता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणका भी गौरव है। मुझे लगता है कि भारतकी जैसी स्थिति है, उसमें गोवधपर प्रतिबन्धसे बढ़कर कोई अन्य चीज अधिक वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण नहीं हो सकती।

अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पूर्व मैं अवश्य कहूँगा कि गोवधके प्रश्नको राजनीतिसे पृथक् रक्खा जाय।

मनको सीख

मन, तोसों कोटिक बार कही।
समुझि न चरन गहे गोबिंदके, उर अघ सूल सही॥
सुमिरन, ध्यान, कथा हरिजू की, यह एकौ न रही।
लोभी, लंपट, बिषयिनि सौं हित, यौं तेरी निबही॥
छाँड़ि कनक-मनि रतन अमोलक, काँच की किरच गही।
ऐसौ तू है चतुर बिबेकी, पय तजि पियत मही॥
ब्रह्मादिक, रुद्रादिक, रबि-ससि देखे सुर सबही।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, सुख तिहुँ लोक नहीं॥

—सूरदास

मेरा परिचय

मैं हूँ--भूलोंसे भरा, गुनाहोंका खज़ाना,
कमजोरियोंका पूरा भंडार।
अभिमानका पुतला, मान-बड़ाईका
अति लोभी, भोगवासनाओंका शिकार ॥
मैं हूँ--शरीरका पुजारी, काम-क्रोध-
लोभादिका सेवक, भोगोंका गुलाम।
सदा चिन्ताओंमें डूबा हुआ,
अन्तर्ज्वालासे विदग्ध, वेदनाओंका धाम ॥

इतनेपर भी—

मैं भगवान् हूँ

क्योंकि कुछ भोले लोग मुझे भगवान् बताते हैं, मानते हैं। मेरी भीतर-बाहरसे पूजा करते हैं और मैं—ना-ना करता हुआ भी, कभी-कभी उनका तिरस्कार तथा खण्डन करता हुआ भी, उसे स्वीकार कर लेता हूँ—बड़ी मीठी अमृत-घूँटकी तरह !

मैं महापुरुष हूँ

क्योंकि बहुत-से नर-नारी—पढ़े-लिखे, अधिकारी पुरुष भी मुझे महापुरुष मानते हैं, कहते हैं और बड़ी निष्ठासे प्रचार करते हैं। मैं अपनेमें महापुरुषत्वका अपलाप करता हुआ भी महापुरुषोंकी अनन्त महिमाका बखान करते हुए प्रकारान्तरसे उस महिमाका अपनेमें पूर्णरूपसे होना सिद्ध करता हूँ और बड़े सुखका अनुभव होता है मुझे महापुरुष कहलानेमें।

मैं संत हूँ

क्योंकि बहुत-से लोग मुझे पहुँचा हुआ संत मानते हैं, कहते हैं और प्रचार करते हैं। कभी-कभी कुछ खीझ-सी प्रकट करके, कभी-कभी अपने संत होनेका खण्डन करके और कभी-कभी तनिक-सा मुसकराकर मैं इसे स्वीकार कर लेता हूँ।

मैं प्रेमी हूँ

क्योंकि लोगोंके मन मेरे श्रीमुखसे निकली हुई प्रेम-सलिलधारामें बहकर मुझको असली प्रेमी माननेको बाध्य हैं। जब किसी प्रेम-प्रसङ्गपर बोलते समय मेरी बोली लड़खड़ा जाती है, आँखोंमें दो बूँद आँसू आ जाते हैं और मैं उन्हें रूमालसे पोंछने लगता हूँ या कभी-कभी जब मैं आँखें मूँदकर चुप हो जाता हूँ या मेरा शरीर आसनसे लुढ़क पड़ता है, तब तो चारों ओर आनन्दकी लहर दौड़ जाती है। मेरा 'प्रेम' रूप होना सिद्ध हो जाता है। स्त्री-पुरुष सभी मेरी ओर आकर्षित हो जाते हैं और मेरी कृपासे भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं। अहा ! मैं मूर्तिमान् प्रेम हूँ !

मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ

क्योंकि जब मैं अजातवाद या विवर्तवादकी व्याख्या करते समय बड़े युक्ति-तर्कोंके साथ जगत्की सत्ताका सर्वथा अभाव अथवा रज्जुमें सर्पभ्रम या स्वप्न-प्रपञ्चकी भाँति जगत्को मिथ्या सिद्ध करता हूँ, तब लोग मुझे सर्वथा राग-द्वेषशून्य ब्रह्मनिष्ठ महात्मा मान लेते हैं और चारों ओरसे मेरी पूजा होने लगती है। नाम-रूपका सर्वथा अभाव सिद्ध करनेवाले मुझको अपने नाम-रूपकी वह पूजा प्यारी तो बहुत लगती है, परंतु मैं प्रकटमें यही कहता हूँ कि जगत् कभी बना ही नहीं।

मैं मस्ताना फकीर हूँ

जब मैं एक मात्र कौपीन पहने, नंगे छरहरे बदन, सिरकी लटें बिखेरकर, गरदन टेढ़ी करके चश्मेके अंदर दृष्टि स्थिर करके कुछ-कुछ गुनगुनाने लगता हूँ या बाँसुरीके स्वरोंमें उमर खयामकी रुबाइयाँ गाकर मस्त-सा हो जाता हूँ, उस समय लोग मेरी भावभङ्गिमा देखकर चकित हो जाते हैं और यही समझते हैं कि ऐसे मस्त औलिया फकीर तो बस ये ही हैं। और जब मैं मेरी कदमबोसीके लिये उमड़े हुए नर-नारियोंसे अपनेको बचाकर ठहाका मारता हुआ, छलाँग मारकर भाग छूटता हूँ और कुछ दूर जाकर विजयीकी भाँति बाँसुरी बजाने लगता हूँ, तब तो मेरी वह मस्ती सभीको मेरे कदमोंमें बरबस झुका देती है !

—एक कथित मस्त फकीर

मानसके रामकी झाँकी

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

अध्यात्मरहस्यके परम ज्ञाता, कुशल कलाकार और सनातन वैष्णव महात्मा तुलसीदासमें मानवचरित्र-चित्रणकी पूर्ण क्षमता तो थी ही; फिर जिन रामको उन्होंने अपना आराध्यदेव माना, उनमें मानव और दैव गुणोंको किस प्रकार पाया और सजाया, यह थोड़ा विचार करने योग्य विषय है। कालधर्मकी प्रेरणासे जहाँ पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका स्थान कुछ नीचा होने लगा था और शंकरका अद्वैतवाद चल रहा था, इन परिव्राजक, गुप्त प्रचारक और नीति-निर्धारक महात्माका आविर्भाव हुआ। धर्मके द्वन्द्व-कालमें, तर्कमें नीति, भावना और आस्थाका पुट सम्हालकर देना होता है; पर ज्ञान बिना तर्कमें तथ्य कहाँ। उनका आदि गुरु कौन था, यह तो नीचे बताया जायगा; पर बाबा नरहरिदासके द्वारा उनको ज्ञान हुआ मनोजका, महेशका, रमेशका, महावीरका, शिवा और सीताका। सरस्वती-सिद्ध बालक वेद, पुराण और शास्त्रोंकी विजन-मनोरम वीथिकाओंमें विचरण करने लगा। कुशाग्र बुद्धि तर्ककी कसौटीपर कसकर मँज गयी। उन्होंने जान लिया कि महेश और रमेशका और उनके साथ-साथ महावीरका सम्बन्ध अतीव सगा है। यदि महेश रमेशमें रमे हैं तो रमापति गिरिजापतिके अनन्य भक्त हैं। अपनी भक्ति, प्रेम और सेवाकी भावनाएँ उन्होंने बजरंग, विभीषण, केवट, जटायु, लक्ष्मण, जनक और भरतद्वारा लक्षित कर डालीं और अमर कथानक रामचरितमानसका निर्माण किया। तर्क और नीतिसे भरा यह ग्रन्थ भारतीकी अमरनिधि है।

कहना अयुक्त न होगा कि गोस्वामीजीका मन कोमल और भावुक था। मानवसे मानवीमें उनकी श्रद्धा आदिम थी। उनकी जैसी आत्माएँ क्रिया कहीं करती हैं और सोचती कहीं हैं। मातृप्रेमसे वञ्चित बालक मानवद्वारा पालित हुआ और गुरुके श्रीचरणोंमें जा बैठा। गुरुद्वारा आदिशक्ति जगजननी जगदम्बाका आभास मिला कि जिनके बिना आदिदेवका कार्यकलाप भी असम्भव है। बालकके सहज हृदयमें जननी और मानवीने अपना स्थान बनाया। पर जननीका मूर्तरूप तो कहीं-ही-कहीं मिला; हाँ एक बार, अनेक बार और सदाके लिये छाप छोड़ जानेवाला, मानवी रूप मिला उनको अपनी प्रेयसी रत्नावलीमें। आसक्ति भी योगकी क्रिया है और गोस्वामीजी भी अपनी रमणीमें सर्वस्व दे रम गये। यहाँतक कि शवको नौकारूप और सर्पको रस्सीरूप देखा। वही रत्नावली उनकी आदि गुरु थी, आदिशक्ति थी, ज्ञान-गरिमा थी और वैराग्य-संदीपनी थी। प्रभाव यह होता है वह 'जोगी जटिल अकाम' शिवको शिवासे बाँध देते हैं और भगवान् रामको सीतासे तथा लक्ष्मणको रामकी भक्ति-क्रिया बना देते हैं।

अब अपने विषयपर आ जायँ, जो रामका नाम और स्वरूप है और नर-नारायण-मिश्रित चरित्र है। नारायण-मिश्रित चरित्र केवल उनके लिये है, जो रहस्यके ज्ञाता हैं; पर अहैतुक कौतुकी जहाँ-तहाँ अपनी लीलाएँ और मायाका प्रसार दिखा ही देते थे। पहले बात हम शंकरकी करेंगे; क्योंकि रामनामकी महिमा उन्हींके द्वारा प्रसारित हुई। जो संसार-संहारकर्ता होते हुए भी लोक-कल्याणके विधायक हुए, उन शंकरका स्वरूप देखिये—

एक रूप तो यह है—

'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।'

सिवहि संभु गन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा॥
कुंडल कंकन पहिरें ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिव धाम कृपाला॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा॥

तथा

बरु बौराह बसहँ असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥
तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥

यह हुआ अशिव और भयंकर वेश। पर ऐसा वेश क्यों कर सुन्दर, सुखद और महाकल्याणकर हो गया? किसने कौन-सा जादू कर दिया? कहाँसे जगत्-तारणके गुण और जगद्वन्द्यकी उपाधि श्रीशंकरको प्राप्त हुई? देखिये, शंकरजी स्वयं कहते हैं—

'जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपि जेइँ पिय संग भवानी ॥

रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।

सहस्र नाम तातुल्यं रामनाम वरानने ॥

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा । साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा ॥
अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥
बंदउँ राम नाम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई । भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा । चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना । राम भगत समरथ भगवाना ॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनँग आराती ॥
हर हियँ राम चरित सब आए । प्रेम पुलक लोचन जल छाए ॥

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ॥

बंदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥
मंगल भवन अमंगल हारी । द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥

चिदानंद सुख धाम सिव, बिगत मोह मद काम ।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम ॥

सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु ।
हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु ॥

नाम प्रभाउ जान सिव नीको । कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
को बड़ छोट कहत अपराधू ।
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें ।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सत कोटि महुँ लिअ महेस जियँ जानि ॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ॥

अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि राम-नामसे अमङ्गलका नाश हो जाता है, अशिव शिव हो जाता है और जापकमें (भक्तमें) मुक्ति देनेकी (भगवान्‌की) सामर्थ्य आ जाती है—

'राम भगत समरथ भगवाना ।'

यही नहीं, यदि भक्त प्रेमसे भगवान्‌का नाम लेकर प्रसादरूपसे विष भी पिये तो वह अमृत हो जाता है—

'कालकूट फलु दीन्ह अमी को ।'

इस चिरंतन राम-नामके जापसे शंकर भगवान्‌को क्या प्राप्त हुआ ? एक बार नहीं उनके अनेक बार दर्शन हुए, जो—

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

इतना ही नहीं, और सब तो इस प्रकार कहने लगे—

'सुंदर सुखद सकल गुन रासी ।
ए दोउ बंधु (श्रीराम और श्रीलक्ष्मण) संभु उर बासी ।'

'जनक-सुकृत मूरति बैदेही । दसरथ-सुकृत रामु धरें देही ॥
इन्ह सम काहुँ न सिव अवराधे । काहुँ न इन्ह समान फल लाधे ॥
'राम करौं केहि भाँति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानस हंसा ॥
'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई ।
तिमि जनक सिय रामहि समरपी बिस्व कल कीरति नई ॥

पर स्वयं भगवान् राम यों कहते हैं—

जपहु जाइ संकर सत नामा । होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें । अस परतीति तजहु जनि भोरें ॥
'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥

अब यह तो अपने-आप विचार लेनेकी बात है कि कौन भक्त है और कौन भगवान् । जब श्रीभगवान् रामने अपनी समस्त भक्तिका फल श्रीशंकरजीके अधीन कर दिया, तब उनके पास रह क्या गया ?

अब तो भगवान् शंकरको सब कुछ प्राप्त हो गया । तब उनका स्वरूप क्या हो गया ? और संसारमें उनको क्या स्थान प्राप्त हो गया ? प्रत्येक संसारी जीव तो वह स्थान पा ही कैसे सकता है । अंग्रेजीमें कहते हैं'—First deserve, then

desire.') शंकर भगवान् आदि गुरु हैं, अजन्मा हैं और भोगरहित हैं। महात्मा तुलसीदासमें जो बड़ा गुण था वह यह कि हृदयस्थलमें जैसा जिसका चित्र स्थापित करते थे, उसको उसी प्रकारसे अनेक स्थलोंपर अङ्कित करते चले जाते थे। भूल-चूकसे दूर थे।

'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्तिसिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।
प्रभु समरथ सरबग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलप तरु नाम॥
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥

उनका (शिवजीका) तप-मँजा-स्वरूप यह था—

निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला।
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा॥
तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबि हारी॥
जटा मुकुट सुर सरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नील कंठ लावन्य निधि सोह बाल बिधु भाल॥
चिदानंद सुख धाम सिव बिगत मोह मद काम।
बिचरहिं महि धरि हृदयँ हरि सकल लोक अभिराम॥

रामचरितमानसकी कथा तो श्रीशंकरजीके हृदयमें स्वतः प्रवहमाण है। श्रीराम भगवान् शंकरके इष्टदेव हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव काक भुसुंडिहि दीन्हा।
कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥
रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥

ऊपर तीन संकेत किये जा चुके हैं। एक राम-सीताका कि महात्मा तुलसीदासने आदिदेव और आदिशक्तिको साथ बाँधा है। दूसरा राम-लक्ष्मणका कि रामकी भक्ति-क्रिया लक्ष्मण थे। और तीसरा कि शिवजीको रामका बालरूप प्रिय था। महात्मा तुलसीदास आरम्भमें ही कहते हैं—'भवानी शंकरौ वन्दे' 'उमा रमन' 'भवानी शंकर' इत्यादि और—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं।
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

अर्थात् वे ही सिया-राम हैं, अकेले राम नहीं। लक्ष्मणके विषयमें कहा जा चुका है।

ए दोउ बंधु संभु उर बासी।

और भी देखिये—

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥
पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥

तथा—

'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥

और—

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

रामके बालरूपके विषयमें कहा जा चुका है—

बंदौं बाल रूप सोइ रामू।

पर जब भक्तकी सहायताका बाना (स्वरूप) होता था तब 'धनु सायक' वाला स्वरूप ही सामने आता है, अर्थात् पूर्ण प्रस्फुटितरूप गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं।

प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

तथा—

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

यहींपर भगवान् रामका स्वरूप (पूर्ण प्रस्फुटितरूप) देखिये—

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
..............................॥

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥

उर श्रीवत्स रुचिर बन माला । पदिक हार भूषन मनि जाला ॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुज दंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥
तडित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि ॥
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
बाम भाग सोभित अनुकूला । आदि सक्ति छबि निधि जग मूला॥

तथा—

ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी । चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥
सोइ सरबग्य राम भगवाना ।
राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

अब इतना और देख लिया जाय कि वह बालरूप कौन-सा था, जिसपर 'अकाम' भगवान् शंकर रीझ गये थे ?—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलनि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जान जिन देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनि हार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
पीत झगुलिआ तन पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा । सो जानहिं सपनेहुँ जिन्ह देखा॥

यह थे वे 'नररूप हरि' 'मंगल भवन अमंगल हारी' और 'सहस्रनामतातुल्यम्', जिनको शंकरजी हृदयमें लिये फिरते हैं और जिनको शंकरसे प्यारा अन्य कोई नहीं ।

अनधिकारी

निज सुख-लेश-वासनाका जिनके मनमें अत्यन्ताभाव ।
केवल कृष्ण-सुखेच्छा-जीवन यह पवित्र श्रीगोपीभाव ॥
सोचा था—इन गोप-देवियोंके समान कर सब कुछ दान ।
सुख पहुँचाऊँगा सुखसागरको, कर निज सुखका बलिदान ॥
मन, प्रति इन्द्रिय, रोम-रोम उनकी सेवा कर होंगे धन्य ।
दुर्लभ ब्रह्मस्पर्श प्राप्तकर सुखसागरके सेवाजन्य ॥
सखी-भाव अलभ्य पाकर मैं, पाकर नित सेवा-अधिकार ।
दिव्य धाममें वास करूँगा, तरकर मायासिंधु अपार ॥
पर जब मनमें घुस देखा तो दीखे भरे अनन्त विकार ।
भोग-वासना नाच रहीं सब, कृष्णप्रेमका बाना धार ॥
कहाँ कामनाग्रस्त नीच मैं काम, मोहका क्रीत गुलाम ।
कहाँ वेद-ऋषि-वाञ्छित पावन श्रीगोपीपद अति अभिराम ॥
कुत्सित काम-वासना मनमें लेकर गोपीपदका नाम ।
अपने काले कर्मोंसे मैं करने चला उसे बदनाम ॥
जो आगे बढ़ता तो झुलसा जाता, पाता दुःख अपार ।
भीषण नरकयन्त्रणा पाता सहज पहुँचकर नरकागार ॥
बचा लिया पर प्रभुने अपनी सहज दयाका कर विस्तार ।
सिद्ध कर दिया—'कामी जनका नहीं प्रेमपथमें अधिकार ॥'

जपका रहस्य

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

लोगोंको 'जप' शब्दसे सहसा मालाका स्मरण होता है। उनके मनमें यह जमा हुआ है कि इष्टदेवका नाम या मन्त्रजप केवल माला लेकर उच्चारण करते हुए बैठकर निश्चित संख्या पूरी कर लेना है। इस रीतिसे आजकल इस भारत-भूमिमें करोड़ोंकी संख्यामें जप हो रहे हैं। प्राचीन साहित्य भी इसका समर्थन करता है—अमुक मन्त्र या नाम-जपसे अमुक लाभ होता है। यथा—

'गायत्रीजपकृद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।'

—आदि वाक्य शास्त्रोंमें कहे गये हैं। यद्यपि इन वाक्योंपर संदेह करना अनुचित है, तथापि इनपर विचार करना सर्वथा वाञ्छनीय है।

जपके सम्बन्धमें सूत्रकार कहता है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'। जिस इष्टदेवके नामका या मन्त्रका जप किया जाय, उसके आशय, हेतु या प्रयोजनका भी विचार किया जाय। माला लेकर मन्त्रका या नामका निश्चित संख्यामें उच्चारण करना एकाङ्गी जप है।

सम्भव है, इस विधिसे कालान्तरमें चित्त एकाग्र होकर विचारमग्न होने लगे। इस प्रकार निर्मल विचारसे चित्तका शुद्ध होना सहज है। शुद्ध चित्तमें इष्टदेवका ध्यान सुगम हो जाता है। ध्यानद्वारा इष्टदेवकी कृपा पाना सम्भव है। यदि जप करते समय अर्थकी (हेतु, आशय, प्रयोजनकी) भावना नहीं रही तो बहुत देरसे फल होता है। इस भावनापर चित्तको जमाना ही यथार्थ ढंग है। यह सात्त्विक कार्य है और सत्त्वगुणप्रधान वृत्तिवाले ही कर सकते हैं। अधिकांश मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हैं। अतः उनका किया हुआ जप यथार्थ फल नहीं देता।

तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥

युगके प्रभावसे मनुष्योंका काम अनधिकार चेष्टाकी कोटिका हो रहा है। इसीसे जप करनेके उपरान्त भी मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्योंने जपकी तीन विधियाँ बतायी हैं। जब बुद्धिसे अक्षरश्रेणी और स्वरयुक्त पदका उच्चारण करके अर्थकी भावना रक्खी जाती है, तब 'मानसजप' कहलाता है। जब जिह्वा-ओष्ठको किंचित् चलाकर, मनमें इष्टदेवका ध्यान रखकर किंचित् श्रवणयोग्य उच्चारण होता है, तब 'उपांशु जप' कहलाता है और जब वैखरी वाचासे उच्चारण किया जाता है, तब वह 'वाचिक जप' कहलाता है। इस तरह 'वाचिक' से 'उपांशु' और 'उपांशु' से मानसिक जप अधिक श्रेष्ठ बताया जाता है।

यह परम्परागत रूढ़ि है। इसमें अधिकांश जनता फँसी हुई है। कहा गया है—'गतानुगतिको लोकः।' संसार ही भेड़िया-धसानका काम करता है। बहिरङ्गवालोंका अनुकरण-प्रिय होना सहज है, इसलिये अधिकांश जनता मनमानी करने लग जाती है। उनको विचार करना कठिन जान पड़ता है।

यहाँ नवीन ढंगसे जपपर विचार किया जाता है। 'जप' शब्दका विश्लेषण करनेसे 'ज' से जन्मजात और 'प' से पालन करना प्रतीत होता है। अतः जपका हेतु अपने जन्मजात वस्तुका पालन करना है। शरीरनिर्माणमें जठराग्नि, वीर्याग्नि और ज्ञानाग्नि (चेतना) का आश्रय हुआ है। वेदमन्त्रमें कहा है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।'

'मैं यज्ञके (जीवनके) ऋतु अनुसार काम करनेके पूर्व ही रक्खे हुए (स्थित) अग्निदेवकी स्तुति या पूजा करता हूँ। वह आवश्यक सामग्री (आहुति) डालनेवाला और रत्न (श्रेष्ठ वस्तु) धारण करनेवालोंमें सर्वोत्कृष्ट है। हमारे शरीरोंमें अग्निदेव तीन रूपोंमें पूर्व ही स्थित है।'

आयुर्वेदानुसार खान-पानको शुद्ध रखकर जठराग्निका, संयम, नियम या ब्रह्मचर्यसे वीर्याग्निका और ईश्वरार्चन, ध्यान या स्वाध्याय (वेदपाठ आदि) से ज्ञानाग्निका संरक्षण करना चाहिये। इनका यथोचित संरक्षण करना ही 'जप' का ठीक ढंग होगा। जपमें निरन्तर स्मरण करते रहना आवश्यक है और भावनाके प्रतिकूल कामोंको सर्वथा छोड़ देना। यदि बालकोंको कुछ वस्तु (पुस्तक, कलम, पट्टी, कापी, कुर्ता, चप्पल आदि) लानेका वचन दे दो तो वे उस वस्तुका निरन्तर स्मरण करते और माता-पिताको टोका किया करते हैं। उनको तो उस वस्तुकी लौ लग जाती है, मानो वे उस वस्तुका जप करते हैं। यद्यपि यह निकृष्ट जप है, तथापि विधि ठीक है। इसी लौसे हमको अपनी पूर्व स्थित तीनों अग्नियोंका संरक्षण करनेमें सचेत रहना चाहिये।

इन अग्नियोंके सिवा शरीर-रचनामें पञ्च महाभूत (तत्त्व) भी उपस्थित रहते हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने गुणका अधिष्ठान है। पृथ्वीमें क्षमा, जलमें नम्रता, शीतलता, अग्निमें शुद्धता, वायुमें अनासक्ति, गतिशीलता, आकाशमें निर्लेपता है। ये सब हमारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए हैं। नहीं, इनका मिश्रण ही हमारा शरीर है। अतः इन गुणोंका विकास करना आवश्यक है। विषयोंमें फँसकर इन गुणोंको दबा देना ही दुःखों और व्याधिका कारण हो जाता है। इनका संतुलन रखनेसे मनुष्यका मन स्थिर होकर काम करता है। इन्हीं तत्त्वोंसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका आविर्भाव हुआ है। इन तत्त्वोंका संतुलन रखनेसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। इन्द्रियोंके संयमसे मनमें प्रसन्नता आती है। प्रसन्नतासे सब दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्न चित्तसे बुद्धि स्थिर होती है और मनुष्य सुखी होता है। जपमें अर्थकी भावनाहीन मनुष्यका मन अशान्त रहता है। अशान्त कभी सुखी नहीं हो सकता। तीनों अग्नियोंका संरक्षण करके पञ्च-तत्त्वोंका संतुलन रखकर जीवन-निर्वाहार्थ काम करते रहना जीवनोपयोगी जप है, जो निरन्तर करनेका है।

आनन्दकी खोज !

[पुराणकालकी एक चिरस्मरणीय मर्मस्पर्शी घटना]

(लेखक—पं० श्रीराजकुमारजी शर्मा एम्० ए०, प्रभाकर, साहित्यरत्न)

महाराज श्रीपालकी कन्या राजकुमारी सुवासिनीके अलौकिक सौन्दर्यकी कीर्ति दूर-दूरतक फैल गयी थी। देश-विदेशके अनेक सम्राट् उसे पानेके लिये लालायित थे। सुवासिनी उछलते हुए यौवनके सोपानोंपर धीरे-धीरे चढ़ती जा रही थी। अतः महाराज चाहते थे कि सुवासिनी अपने मनोऽनुकूल पतिका वरण करके संसारमें प्रवेश करे।

एतदर्थ महाराजने स्वयंवरकी आयोजना की। लगभग सभी देशोंके नरेश सुवासिनीके स्वयंवरमें उत्सुकतासे निमन्त्रित होकर आये। महाराजने सादर अभ्यर्थना करके, उचित स्थान दे, सभीको सम्मानित किया।

नियत समयपर प्रतिहारीने सभामें राजकुमारी सुवासिनी-के आनेकी घोषणा की। सभी नरेश अपने-अपने आसनोंपर भलीभाँति बैठ अपने-अपने सुसज्जित अङ्गोंका सूक्ष्म निरीक्षण करने लगे। उसी समय कञ्चुकीने विधिवत् दण्डावनत हो कहा—महाराज ! यदि आज्ञा हो तो आगत सज्जनोंके सम्मुख सुवासिनी अपना अभिलषित प्रकट करें !

महाराजने अनुज्ञा दी। सुवासिनी कञ्चुकीके साथ एक उच्च आसनपर आकर खड़ी हो गयी। कञ्चुकीने निवेदन आरम्भ किया—

'मान्य अतिथिगण !

आप सभी नरेश अनेक देशोंके स्वामी, सभी प्रकारके वैभव और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। सभी प्रकारकी क्षमता भगवान्ने आपको प्रदान की है और आप सभी नरेश सुवासिनीको अर्द्धाङ्गिनी बनानेको उत्सुक हैं, इसीलिये महाराजके निमन्त्रणपर यहाँ पधारे हैं। राजकुमारी आनन्द और स्वतन्त्रताकी खोजमें व्यग्र हैं। यदि आपलोगोंमेंसे किसीने इनको प्राप्त किया हो तो बतायें ! जिसने आनन्द खोज लिया हो, जो अपने जीवनका आप स्वामी हो, वही भाग्यशाली राजकुमारी सुवासिनीका पाणिग्रहण करेगा।'

सभी नरेश उठकर खड़े हो गये। अभिमानसे उनके मस्तक ऊपर उठ रहे थे। उन्होंने एक साथ कहा—'कञ्चुकी ! राजकुमारीसे कहो, हम सभी नरेश हैं। ऐश्वर्य अहर्निश हमारे चरणोंमें लुढ़कता है, दीन होकर खड़ा रहता है। अधिकार सदा आदेशकी प्रतीक्षामें अवनत रहता है। हम अन्नदाता—याचक-प्रभु हैं। स्वामित्व हमारा अधिकार है। ऐश्वर्य, वैभव और अधिकारके साथ ही आनन्दका उद्भव होता है।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—माननीय नरेशोंका स्वामित्व उनका अपना कहाँ है। वह तो प्रजासे प्राप्त है। उनका सारा जीवन शासनके कठोर नियमोंके अधीन संचालित होता है। अधिकार और ऐश्वर्य राजाओंको निजत्वसे नहीं, प्रतिनिधित्वसे प्राप्त होता है। दूसरोंकी दी हुई वस्तुमें आनन्द कहाँ रहता है।

सभी नरेश अप्रतिभ थे, अधोमुख और निरुत्तर !

सभामें सन्नाटा था । कञ्चुकीने पुनः घोषणा की—अब कोई भी व्यक्ति, जो राजकुमारी सुवासिनीके अभिलषित-को पूरा करे, राजकुमारीका पाणिग्रहण कर सकता है ।

पथ खुल गया था ।

सम्मानित व्यापारियोंका दल सामने आया । कञ्चुकीने पूछा—आप क्या कहते हैं ?

'देवीसे निवेदन करो'—व्यापारियोंने कहा—'हम स्वतन्त्र हैं और अपने स्वामी भी । हम किसीके अधीन होकर व्यापार नहीं करते । स्वाधीन बुद्धिबल ही हमारा जीवन है । लक्ष्मी हमारी सहचरी है और लक्ष्मीके साथ ही आनन्दका संयोग होता है ।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—तुमलोग अपने जीवनके स्वामी कहाँ हो ? तुम्हारा जीवन तो धनकी अधीनतामें बीतता है । तुम्हारी स्वाधीन बुद्धि और तुम्हारा आनन्द भी धनके हानि-लाभके साथ बनता-बिगड़ता है ।

बात सच थी । व्यापारी हार मानकर बैठ गये ।

सेनानियोंके वक्षःस्थल सदा विजयसे फूले रहते हैं । उन्होंने आगे बढ़कर कहा—'राजकुमारी ! हमारी स्वाधीन असियाँ विद्युत्‌की तरह एक बार चमककर जब शत्रुओंके उन्नत वक्षःस्थलोंको चीरकर विजय-माल हमारी कण्ठमें धारण कराती हैं, हमारा मन आनन्दके पारावारमें डूब जाता है ।'

पर सुवासिनीने कहा—'वह सब तो क्षणिक है, सेनानी ! क्षणभर बाद ही जब वह उन्माद ढल जाता है, तब निरपराध मानवोंकी हत्याका अनुपात हृदयमें दुःखकी ज्वाला धधकाकर सिसक उठता है ।'

इस सत्यका प्रतिवाद कठिन था । सेनानी मौन थे और सभा नीरव ।

अब सभाके पण्डितलोग उठ रहे थे । वे आचार्य थे । उनकी विद्या और उनका पाण्डित्य जगत्प्रसिद्ध था ।

राजकुमारीने प्रश्न किया—'पूज्यवर, आप ?

'कुमारी !'—पण्डितोंने उत्तर दिया—'हमलोग पण्डित हैं । आत्मज्ञान ही हमारा जीवन है । उसीका प्रकाश हम अहर्निश जन-साधारणको दिया करते हैं । कारण, एकमात्र हमींलोग ज्ञानके स्वामी हैं । हमारे इस व्यवसायमें कहीं भी पराधीनता नहीं । अज्ञान दुःखका मूल है और ज्ञान आनन्दप्राप्तिका साधन ।'

'सत्य है, पूज्यवर !' राजकुमारीने उत्तर दिया—'पर आप भी तो अपने जीवनके स्वामी नहीं, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं । आपके जीवनमें आनन्द कहाँ ? राग-द्वेष, मान-अपमानका आप लोगोंपर सदा आधिपत्य रहता है । आपकी विषयासक्त बुद्धि रज्जुमें सर्पके भ्रमकी तरह आनन्दका आभास पाती है, आनन्द नहीं । आपकी कायाने आजतक कषायोंपर कभी विजय नहीं पायी ।'

पण्डितगण मौन थे । उनका गर्व चूर-चूर हो गया था ।

महाराज उत्साहहीन होकर उठ गये । कञ्चुकीने तत्काल स्वयंवरसभा भङ्ग होनेकी घोषणा कर दी ।

× × ×

महाराज श्रीपाल अब निरानन्द और अनमने रहने लगे । एक दिन राजसभाके प्रधानमन्त्रीने निवेदन किया—महाराज ! तपोधन महर्षि अगस्त्यके आश्रमसे एक ब्रह्मचारी आया है महाराजको सपरिवार आश्रममें पधारनेका निमन्त्रण देनेके लिये……। तपोवनमें गये महाराजको अधिक समय हो गया है ?

'हाँ, ठीक कहते हो अमात्य ! तपोवन गये मुझे कई वर्ष बीत गये ।' महाराजने कहा । 'तुम ब्रह्मचारीसे कहो, मैं सूर्योदयके साथ ही तपोवनकी यात्रा करूँगा ! राजकुमारी सुवासिनी भी मेरे साथ चलेगी ।'

× × ×

दूसरे दिन महाराज श्रीपाल सुवासिनीके साथ महर्षि अगस्त्यके अतिथि हुए । आश्रमवासियोंने महाराजकी अभ्यर्थना करके उन्हें महर्षिके सम्मुख उपस्थित कर दिया ।

महर्षि अगस्त्य तपके तेजसे प्रकाशमान, ज्ञानके बलसे महान् और आत्मनिरीक्षणसे आनन्दमय दीख रहे थे ।

राजकुमारीने अवनत हो प्रणाम किया । महर्षि अगस्त्यने महाराजसे पूछा—राजन् ! सम्मेलन……।

'निष्फल हुआ महाराज !' महाराज श्रीपालने उत्तर दिया । 'सुवासिनीका अभिलषित पूर्ण नहीं हुआ ।'

'तो क्या ?' महर्षिने पूछा—'इतने बृहत् समागमसे कोई व्यक्ति वैसा नहीं मिला ?'

'ना महाराज !' खिन्नतासे महाराज बोले ।

'तो अब ?'

'यही तो चिन्ता है महाराज !'

'सुवासिनी !' मुनिराजने राजकुमारीको अन्तर्भेदी दृष्टिसे देखा ।

'देव !' सुवासिनीने करबद्ध होकर कहा ।

'तुम अपने जीवनकी स्वयं स्वामिनी हो ? क्या तुम्हारा जीवन तुम्हारे अधिकारमें है ?' मुनिराजने प्रश्न किया । 'तो क्या मैं अपने जीवनकी अधिकारिणी नहीं हूँ'—राजकुमारी कहते-कहते रुक-सी गयी । उसके अपने जीवनमें, अपना क्या है ? वह भीतर-भीतर खोजने लगी ।

'तुम्हारा इस सुन्दर शरीरपर, दया, ममता, राग, द्वेष, अहंकार, क्रोध, अभिलाषा—इन सबपर पूर्ण अधिकार है' देवि !' महर्षिने दूसरा प्रश्न किया ।

राजकुमारी सोते-से जाग गयी । वह सोच रही थी—मेरा अपना यह सुन्दर शरीर मेरे अपने अधिकारमें कहाँ है ? शरीरके दुःख-सुख, कष्ट-आनन्द, सभी तो किसी अज्ञात शक्तिद्वारा समय-समयपर प्रेरित होते हैं । मैं उनका मनचाहा निवारण करनेमें कब समर्थ हुई हूँ ? शैशव, यौवन, जराको मनुष्य कब अपने अधीन कर सका है ?

उसके अन्तरने चीखकर उसके प्रश्नका उत्तर दिया—'कभी नहीं !'

उसने अधीर होकर कहा—'मेरा जीवन अपना नहीं । मैं उसकी स्वामिनी भी नहीं हूँ, देव !'

'जिस प्रकार तुम्हारा अपने जीवनपर अधिकार नहीं,'—महर्षि कहने लगे—'उसी प्रकार संसारमें किसी प्राणीका अपने जीवनपर अधिकार नहीं हो सकता । सभी प्राणी भोगमें परतन्त्र और कर्ममें स्वतन्त्र होते हैं ।'

'पूर्ण स्वतन्त्रता कब प्राप्त होती है, महर्षि !'—राजकुमारीने जिज्ञासा प्रकट की ।

जब प्राणी कर्म-निर्जरा करके मुक्त होता है । कर्म ही प्राणिमात्रको फल भोगनेको विवश करता है । जब कर्म नष्ट हो जाता है, तब भोग बनता ही नहीं; और जब भोग नहीं बनता, तब सुख-दुःख, पुण्य-पाप—कुछ भी शेष नहीं रह जाता । तब वह 'स्व'में स्थित होता है । 'स्व' का वरण ही, 'स्व'की रति ही, परम आनन्दको देनेवाली है । वही सत्य है, वही शिव है, वही सुन्दर है ।

'देव ! उसकी प्राप्तिका साधन ?'—राजकुमारीने तीव्र जिज्ञासा प्रकट की ।

'केवल तप ! सम्पूर्ण इच्छाओंका सर्वथा त्याग !'

राजकुमारीने क्षणभर महर्षिकी ओर देखकर कहा—

'देव ! सम्राट्से कहिये—मैंने अपना अभिलषित पा लिया है । मेरा अभिलषित तपोवनके इस आश्रममें अनायास ही प्राप्त हो गया है, राजधानीके राजभवनोंमें बहुत-बहुत ढूँढ़नेपर भी वह नहीं मिल सका था । मैंने आनन्द खोज लिया है । मैं अब यहीं वास करूँगी ।'

राजकुमारी सुवासिनी, महर्षि अगस्त्यके सम्मुख अपने अलौकिक सुन्दर देहसे राजकीय आमरण उतार-उतारकर महाराज श्रीपालको सौंप रही थी और सम्राट् आतुर विकल नयनोंसे, दीन होकर एकटक महर्षि अगस्त्यकी ओर देख रहे थे । महर्षि आँखें मूँदे बैठे थे । उनके मुखपर एक स्वर्गीय आभा झलक रही थी ।

भक्तकी चेतावनी

कहा-कहा नहिं सहत सरीर ।
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न,
जनम-मरन की पीर ॥ १ ॥
करुनावंत साधु-संगति बिनु,
मनहि देय को धीर ।
भगति भागवत बिनु को मेटै,
सुख दै दुख की भीर ॥ २ ॥

बिनु अपराध चहूँ दिसि बरषत,
पिसुन-बचन अति तीर ।
कृष्ण-कृपा-कवची तें उबरै,
पावै तबहीं सीर ॥ ३ ॥
चेतहु भैया, बेगि बढ़ी कलि-
काल-नदी गंभीर ।
ब्यास-बचन बलि बृंदावन बसि,
सेवहु कुंज कुटीर ॥ ४ ॥

धर्मके स्तम्भ

(लेखक--श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

अक्रोध

क्रोधादि दोषोंको छोड़कर शान्त्यादि गुणोंको ग्रहण करना अक्रोध कहलाता है। क्रोध मनके उन विकारोंमेंसे है, जो मनुष्यको धर्ममार्गसे च्युत कर देते हैं।

क्रोधके अभिशाप

एक स्त्रीने एक नेवला पाल रक्खा था, जिसे वह बहुत प्यार करती थी। एक दिन वह अपने बच्चेको पालनेमें सुलाकर और उसे नेवलेकी देख-रेखमें छोड़कर कुएँसे पानी लेने गयी। इसी बीचमें एक भयंकर साँप कमरेमें आ निकला। ज्यों ही उसने बच्चेको खाना चाहा, त्यों ही नेवलेने उसपर हमला कर दिया। दोनोंमें देरतक लड़ाई हुई और अन्तमें नेवला विजयी रहा। उसने साँपको मारकर उसके कई टुकड़े कर डाले। जब वह स्त्री पानी भरकर लौटी और नेवलेको लहूलुहान पाया, तब उसने सोचा कि नेवलेने उसके बच्चेको मार डाला है। क्रोधमें आकर उसने नेवलेको घड़ा दे मारा और वह तत्काल मर गया। नेवलेको मारकर जब वह स्त्री कमरेमें घुसी, बच्चेके पालनेके पास साँपके टुकड़े देखे और अपने बच्चेको ठीक पाया, तब उसे अपनी भूल ज्ञात हुई और वह फूट-फूटकर रोने लगी। निश्चय ही क्रोधका आरम्भ मूर्खता और अन्त पश्चात्तापके साथ हुआ करता है। क्रोधकी अवस्थामें मनुष्यका विवेक जाता रहता है और मनुष्य स्वयं ऐसी अवस्था उत्पन्न कर लेता है जब कि वह क्रोधके पात्रके स्थानमें स्वयं अपनेपर क्रोध करने लग जाता है। अत: क्रोध आ जानेपर मनुष्यको रुककर पहले उसके परिणामोंपर विचार कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति विवेकके द्वारा अपने क्रोधपर विजय प्राप्त करते हैं, वे मनुष्योंमें उत्तम माने जाते हैं।

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है, जो मनुष्यके आभ्यन्तरको मनुष्यसे तो छिपाता, परंतु दूसरोंपर प्रकट कर देता है। क्रोधी जन अपनी आत्माका विकास करनेमें न केवल असमर्थ ही रहते प्रत्युत अपनी आत्माके विनाशका कारण बनकर दु:ख पाते हैं। गीताकारने ठीक ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थात् काम, क्रोध तथा लोभ—ये आत्मनाशक तथा नरक (दु:खमयी गति) के तीन प्रकारके द्वार हैं, इसलिये मनुष्य इन तीनोंका त्याग करे।

क्रोध स्वास्थ्यविनाशक है

क्रोधका मनुष्यके स्वास्थ्यपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, शरीरकी शोभा नष्ट होती और आयु क्षीण होती है। क्रोधसे पराभूत हुआ सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्ति भी असुन्दर देख पड़ता है।

क्रोध ही अपना शत्रु होता है

काम और लोभकी भाँति क्रोध भी मनुष्यका शत्रु होता है, जिसके कारण मनुष्यके अमित्रोंकी संख्या बढ़ती और मित्रोंकी संख्या घटती जाती है; परिणामस्वरूप मनुष्यका सामाजिक एवं वैयक्तिक विकास कुण्ठित हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने भी पराये होकर मनुष्यके अनिष्टका कारण बन जाते हैं। रावणके क्रोधने विभीषणको पराया बनाकर उसके सर्वनाशकी भूमि तैयार कर दी थी। रावणने अहंकार, कामुकता, पशुबल और क्रोधके वशीभूत होकर जो आग जलायी, उससे बचनेके लिये महात्मा विभीषणने सत्प्रयत्न किया, परंतु रावणको अपनी जलायी हुई आगमें जलकर नष्ट

होना था और वह नष्ट होकर रहा। वालीने क्रोध और अनीतिका आश्रय लेकर अपने सहोदर भाई सुग्रीवपर ज्यादती की, जिसका परिणाम प्राय: सभी जानते हैं। यदि सुग्रीवके साथ अन्याय न हुआ होता और वाली उसके उद्बोधनको मानकर अनीतिका मार्ग त्याग देता तो वह रामके हाथों न मारा जाता। विभीषण और सुग्रीव रावण और वालीके शत्रु न थे, अपितु इन दोनोंका पशुबल और क्रोध ही उनके शत्रु थे।

क्रोधसे उत्पन्न आठ दुर्गुण

चुगली करना, बलात्कार करना, वैर रखना, ईर्ष्या करना, गुणोंमें दोषारोपण करना, अधर्मयुक्त बुरे कामोंमें धनादि व्यय करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराधके कड़ा वचन बोलना या विशेष दण्ड देना—ये आठ दुर्गुण क्रोधसे उत्पन्न होते हैं।

चुगली करना, पीठ पीछे किसीकी बुराई करना और कड़वे वचन बोलना—ये दुर्गुण वाणीके विष समझे जाते हैं। कल्याणके अभिलाषियोंको इस विषसे बचना चाहिये। चुगली करना या पीठ पीछे बुराई करना कायरता है। जिन लोगोंमें नैतिक बल नहीं होता, वे ही इस प्रकारके निन्दनीय व्यापारमें रत होते हैं। जिन व्यक्तियोंसे किसीकी चुगली या निन्दा की जाती है, यदि वे समझदार हों तो उनकी दृष्टिमें चुगली या निन्दा करनेवालोंका कोई मूल्य नहीं होता। निर्बुद्धि व्यक्ति ही चुगलियों और परनिन्दासे प्रभावित होकर अपना अहित कर बैठते हैं। ईर्ष्या और वैरकी आगमें दूसरोंको जलानेके बजाय मनुष्य स्वयं जलता और अपना विनाश उपस्थित करता है। कठोर वचनोंके प्रयोगसे मनुष्य शान्त व्यक्तियोंके पुण्यमें और अपने पापमें वृद्धि कर देता है। हम ऐसे व्यक्तियोंको जानते हैं, जिनमें आपसमें बड़ा प्रेम था। दुर्भाग्यसे किसी बातपर उनमें मनमुटाव हुआ और तीखे एवं कड़वे वचनोंके प्रयोगने उन्हें एक दूसरेसे ऐसा अलग कर दिया मानो उनमें कभी प्रेम रहा ही न था। तभी कहा जाता है कि तलवारका घाव भर सकता है, परंतु वाणीका घाव कभी नहीं भरता।

क्रोधका स्वभाव मत बनाओ

क्रोध छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े प्राय: सब प्राणियोंमें होता है। बहुत-से व्यक्ति जरा-जरा-सी बातपर क्रोध कर बैठते हैं। बहुत-से व्यक्तियोंको छोटी बातोंपर क्रोध नहीं आता और आता भी है तो बहुत कम। बहुत-से व्यक्तियोंको बहुत देरमें क्रोध आता है। जरा-जरा-सी बातपर अकारण क्रोध करना लड़कपन होता है। क्रोधमें आपेसे बाहर होकर भयानक रूप धारण करना पाशविक माना जाता है। क्रोधको निरन्तर बनाये रखना राक्षसोंका स्वभाव और व्यवहार होता है। छोटी-छोटी बातोंपर आवेशमें आ जानेसे क्रोधका स्वभाव बन जाया करता है, जिसका अन्त प्राय: कटुता और शत्रुतामें होता है। बढ़ते हुए क्रोधको दबा लेना बुद्धिमत्ता और गौरवपूर्ण होता है और ऐसे व्यक्ति वीर और दिव्य होते हैं। क्रोधको दबाना अच्छा और क्रोधको रोकना उससे भी अच्छा होता है। गुणवान् और वीर पुरुष हीन गुणवालोंपर क्रोध नहीं किया करते। ऐसे ही व्यक्तियोंको बहुत कम क्रोध आता है। प्रसन्नचित्त, बुद्धिमान् और तबीअतमें लापरवाह व्यक्तियोंका क्रोध विवेकपूर्ण हुआ करता है और वह बहुत देरमें आता और बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। निर्बुद्धि और कायर व्यक्ति जब भूल करता और उस भूलको स्वीकार नहीं करता, तब वह सदा तैशमें आ जाता है। वह अपनी बुद्धिकी कमीको क्रोधके द्वारा पूरा करनेका विफल प्रयत्न करता है। बुद्धिमान् व्यक्तियोंके क्रोधका गुब्बार निकल जानेपर वह क्षमाका रूप ग्रहण कर लेता है, परंतु क्रोधको छिपानेसे वह प्राय: बदलेकी भावनामें परिणत हो जाता है। क्रोधको मनमें रखकर उसे पी लेनेसे कम समझदार

व्यक्ति मन-ही-मन कुढ़ता है, जिससे उसके स्वास्थ्यपर घातक प्रभाव पड़ता है। क्रोधको पी जाना अच्छा है, परंतु यह अत्यन्त समझदार और सज्जन पुरुषोंका काम होता है। वे इस बातसे प्रभावित होते हैं कि मनुष्यको शत्रुता मोल लेने और दूसरोंकी गलतियों एवं अपराधोंका लेखा रखनेके लिये ही जीवन प्रदान नहीं किया जाता।

क्रोध कब आवश्यक होता है?

सुधार और नियन्त्रणके लिये क्रोध आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होता है। उस अवस्थामें वह विकारोंसे नहीं, अपितु उच्च भावनाओंसे अर्थात् हितभावनासे प्रेरित और शासित रहता है। हितभावनासे किये जानेवाले क्रोधमें अन्तर्दाह—हृदयमें जलन नहीं होती। यही उसकी पहचान है। वैर, द्वेष, बदलेकी भावना और अन्य निम्न विकारोंसे प्रेरित होनेपर वह दोषपूर्ण बन जाता है। सुधार और हितसे प्रेरित सकारण क्रोधमें पूर्ण सामर्थ्यका होना आवश्यक है। तभी उसकी उपादेयता होती है। इसके लिये क्रोध गुणोंसे तेजोमय बनना चाहिये।

क्रोध किन-किनसे न करना चाहिये?

क्रोध तो किसीपर भी नहीं करना चाहिये; परंतु निर्बलों, असहायों, रोगियों, गुरुजनों, बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियोंपर तो क्रोध करनेसे सदा ही बचना चाहिये। वास्तवमें तो क्रोधको पूर्ण नियन्त्रणमें रखना चाहिये।

वालिवधके पश्चात् राज्य पा लेनेपर सुग्रीव भोगविलासमें निमग्न होकर सीताजीकी खोजके कार्यको भूल गया। लक्ष्मण उसकी कृतघ्नताका दण्ड देनेके लिये किष्किन्धापुरीमें गये। जब सुग्रीवको अपने भृत्योंसे यह पता लगा कि लक्ष्मणने रौद्ररूप धारण कर रक्खा है तो वह बहुत डरा और लक्ष्मणके सामने जानेका उसे साहस न हुआ। उसने पास बुलाकर ताराको लक्ष्मणका क्रोध शान्त करनेके लिये प्रेरणा की। पहले वह भी लक्ष्मणके सामने जाते हुए डरी और जब वह जानेसे इन्कार करने लगी, तब सुग्रीवने कहा—'डरो मत, लक्ष्मण महान् पुरुष हैं।' वे स्त्रियोंपर क्रोध नहीं किया करते।* तारा गयी और ताराके सामने होते ही लक्ष्मणका क्रोध शान्त हो गया।

बहुत-से व्यक्ति अपनेसे निर्बल व्यक्तियोंपर अपना क्रोध निकाला करते हैं। यह उनकी दुर्बलता तथा बड़ी भारी भूल है।

सहनशील व्यक्तिके क्रोधसे सावधान रहो

सहनशील व्यक्तिको बहुत कम और बहुत देरसे क्रोध आता है। ऐसे व्यक्तियोंके क्रोधसे बहुत सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह क्रोध भयंकर होनेके साथ-साथ बहुत देरमें शान्त होता है। सहनशीलताका दुरुपयोग होनेपर वह कभी-कभी बड़ी भयावनी आँधीका रूप ग्रहण कर लेती है।

अंग्रेजोंने महारानी लक्ष्मीबाईके दत्तक पुत्रको राज्याधिकारसे वञ्चित किया। महारानी इस अन्यायको सहन कर गयी। इतना होनेपर भी डलहौजीने रानीका राज्य अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया। इस अत्याचारपर भी वे मौन रहीं। महारानीने अपने दत्तक पुत्रके उपनयन-संस्कारके लिये उसके लिये सुरक्षित छः लाख रुपयेमेंसे एक लाख रुपयेकी माँग की। दुष्ट अंग्रेज शासकोंने इस राशिको भी देनेसे इन्कार कर दिया। रानीने आग्रह किया तो उस राशिको देनेकी यह शर्त रक्खी गयी कि यदि कोई महाजन अपनी जमानत देनेको उद्यत हो तो यह राशि दी जा सकती है। रानीने अपमानकी यह घूँट भी शान्तिपूर्वक पी ली।

---

* त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥
(वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड)

जमानत दी गयी और रानीने राशि प्राप्त करके अपने प्यारे पुत्रका उपनयन-संस्कार किया। रानी उस समयतक भी अपनी सहनशीलताका परिचय देती हुई अंग्रेजोंके प्रति निष्ठावान् रहीं। परंतु जब कुचक्रियोंके षड्यन्त्र और शासकोंकी अदूरदर्शिताके कारण वह देवी राजविद्रोही घोषित कर दी गयीं, जिन्होंने अंग्रेज स्त्री-बच्चोंको अपने महलमें शरण देकर उनकी प्राण-रक्षा की थी, तब उनकी सहनशीलताका बाँध टूटते देर न लगी और उन्होंने जो भयंकर रूप धारण किया, वह इतिहासके प्रत्येक विद्यार्थीको ज्ञात है। जिन महापुरुषों और वीराङ्गनाओंने अंग्रेजी दासतासे भारतको मुक्त करनेके सत्प्रयत्न एवं अपने रक्तसे स्वराज्य-भवनकी नींव पक्की की, उनमें लक्ष्मीबाईका नाम मूर्द्धन्य स्थान रखता है।

क्रोधको शान्त करनेके उपाय

क्रोधका सामना क्रोधसे नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्रोध शान्त होनेके स्थानमें बढ़ता है, घटता नहीं। मीठे और कोमल शब्दोंसे क्रोध सहज ही शान्त हो जाता है। कहावत है कि कोमल वचन पत्थरको भी पिघला देते हैं। विलम्ब क्रोधकी सर्वोत्तम दवा मानी जाती है। जब मनुष्य स्वयं क्रोधका शिकार होने लगे, तब उसे ठंडा पानी पीना चाहिये या दसतक गिनती गिन लेनी चाहिये। यदि क्रोध चढ़ता जाय तो १०० तक गिनती गिन लेनेसे क्रोध शान्त होने लगता है। क्रोधसे पागल हो जानेपर मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि मेरे क्षणभरके क्रोधसे मेरा पूरा दिन, पूरा सप्ताह या इससे अधिक समय अशान्त बना रह सकता है। मेरा जीवन क्षणभङ्गुर है। परमात्मा मेरे इस अवाञ्छनीय व्यवहारको देख रहा है, जो मुझसे रुष्ट हो जायगा।

उदाहरण

आर्यसमाजके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द जब गुरु विरजानन्दजीके यहाँ पढ़ते थे, तब एक दिन वे किसी अपराधपर दयानन्दसे रुष्ट होकर उन्हें पीटने लगे। विद्यार्थी दयानन्दने गुरुदेवके क्रोधको शान्त करनेके लिये कहा—'महाराज! क्षमा करें, मुझे पीटते हुए आपके हाथोंको कष्ट हो रहा होगा।' ज्यों ही दयानन्दके मुखसे ये शब्द निकले, त्यों ही गुरुदेवका क्रोध पानी-पानी हो गया।

नादिरशाहकी क्रोधाग्निमें देहली जल रही थी। बड़े भयंकररूपमें कत्ले-आम जारी था। हतहतोंके करुण क्रन्दन और चीत्कारसे आकाश भी रो रहा था। नादिरशाहके खूनी सैनिक लोगोंके रक्तसे दिल खोलकर फाग खेल रहे थे। निस्सहाय मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह रनवासमें पड़ा अपनी बेबसीका मरसिया पढ़ रहा था। नादिरशाहके हुक्मपर वह बाहर लाया गया और वह सिर झुकाकर नादिरशाहके पास बैठ गया। हरमसरामें विलास करनेवाले बादशाहको नादिरशाहकी अविनयपूर्ण बातें सुननेको मिलीं; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जानके लाले पड़े थे। पीड़ित प्रजाकी रक्षा कौन करे। वह सोचता था मेरे मुँहसें कुछ निकले और वह मुझीको डाँट बैठे तो?

अन्तको जब सेनाकी पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठाको पहुँच गयी, बादशाहके वजीरसे न रहा गया। वह जान-पर खेलकर नादिरशाहके सामने पहुँचा और उसने यह शेर पढ़ा—

कसे न मांद कि दीगर बतेगे नाज कुशी।
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा ब बाज कुशी॥

अर्थात् तेरी निगाहोंकी तलवारसे कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दोंको फिर जिलाकर कत्ल कर।

शेरने दिलपर चोट की। पत्थरमें भी सुराख होते हैं। पहाड़ोंमें भी हरियाली होती है। पाषाण-हृदयोंमें भी रस होता है। इस शेरने पत्थरको पिघला दिया। नादिरशाहने सेनापतिको बुलाकर कत्ले-आम बंद करनेका हुक्म

दिया। एकदम तलवारें म्यानमें चली गयीं। कातिलोंके उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

उपसंहार

संसारमें लोगोंके दिलोंपर शान्ति और अक्रोधका शासन हुआ करता है। शान्त और चरित्रवान् व्यक्तियोंको ही सुख और आदर प्राप्त होता है। वे व्यक्ति धन्य हैं, जो क्रोधको रोककर शान्तिका प्रसाद देते हैं। ऐसे ही महाभागोंको महात्माओंकी पदवी मिलती है। मानव-जीवनकी सफलता और सुन्दरता समाजमें भय और आतङ्क व्याप्त करनेमें नहीं, अपितु शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित करनेमें निहित है। जो व्यक्ति संसारमें भय, आतङ्क और अत्याचार व्याप्त करते हैं, लोग उनके नामपर थूकते और वे अपने ही पापसे विनष्ट हो जाते हैं।

भक्त श्रीरामचरित्रप्रसाद

[एक कर्मयोगी भगवद्भक्तका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त]

(लेखक—श्री'माधव'जी)

इस लेखके द्वारा 'कल्याण'के पाठकोंको मैं एक आदर्श कर्मयोगी भगवद्भक्तका परिचय कराना चाहता हूँ। श्रीरामचरित्रप्रसादजीका जन्म सन् १८८९ ई० में हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीठाकुरप्रसादजी था। वे छपरा कचहरीमें सरकारी नौकरी करते थे। गङ्गा-स्नानसे आपको अतिशय प्रेम था। जब छपरासे गङ्गाजी तीन-चार मील दूर दक्षिण हट जाती थीं, तब भी प्रतिदिन गङ्गा-स्नानका नियम उनका भङ्ग नहीं होता था। श्रीरामचरणदासकृत टीकाके साथ वे नित्यप्रति तुलसीदासकृत रामचरितमानसका पाठ करते थे। पिताकी पितृभक्ति पूर्णरूपसे विरासतके रूपमें रामचरित्रप्रसादजीको मिली थी। परंतु यदि उनके पितामें धर्मके साथ उसका तेजस्वी रूप भी यदा-कदा सात्त्विक क्रोधके रूपमें व्यक्त होता था तो पुत्रमें भी सर्वदा ईश्वरभक्तिका सर्वतोभावेन निर्मलकारी शान्त स्निग्धरूप ही प्रकाशित होता था।

पढ़नेके समयसे ही मानसके पाठका अभ्यास रामचरित्रप्रसादजीको हो गया। आपने छपरा जिला स्कूलसे द्वितीय श्रेणीमें १९०९ ई० में एन्ट्रेन्सकी परीक्षा पास की। जिस समय आप स्कूलमें पढ़ते थे, उस समय एक बार भीषण प्लेग आ गया। आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादने सारे परिवारके लोगोंका ग्रामसे एक मील दूर खैरा नामक स्थानपर डेरा डलवाया। उस समय आप प्रतिदिन छः मील दूर स्कूल जाते थे और छः मील लौटकर आते थे। कालेजमें आप आदर्श छात्रोंमें गिने जाते थे। पटना कालेजमें श्रीयदुनाथ सरकार, महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा आदि आपके अध्यापकोंमें थे। आप मिंटो हिंदू छात्रावासमें रहते थे, जिसके अध्यक्ष श्रीरामावतार शर्माजी थे। शर्माजीका आपपर बड़ा स्नेह था और उन्होंने आपको छात्रावासका प्रिफेक्ट (Prefect) भी बनाया था। कालेजमें आप हाकी (Hockey) के अच्छे खिलाड़ी समझे जाते थे। पटनाकालेजमें पढ़ते समय भी आप प्रतिदिन गङ्गास्नानके नियमका सर्वदा पालन करते थे।

१९१४ ई० में आपने बी० ए० की परीक्षा पास की और स्कूलोंके निरीक्षकके पदपर आपकी नियुक्ति हुई। उसी समय आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादजीका बदरिकाश्रमकी यात्रामें देहावसान हो गया। इस घटनाका आपके जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १९१८

ई० में रामचरित्रप्रसादजी भीषणरूपसे बीमार पड़े। आपको प्रायः एक वर्ष रुग्ण रहना पड़ा। जीवनकी कुछ भी आशा न रही। आपकी मृत्युकी प्रतीक्षामें हिंदू-प्रथाके अनुसार भूमि-शय्या दी गयी। उस समय आपको पत्नीके अतिरिक्त तीन कन्याएँ थीं। किंतु इस दारुण वज्रपातके समय अशरणशरण भगवान्‌ने अपने भक्तकी रक्षा की। आपको थोड़ा बुखार आ गया और भूमिशय्यासे हटाकर बिछावनपर लिटाया गया। कुछ महीनोंमें आप पूर्ण चंगे हो गये।

इस भीषण बीमारीसे रक्षा होनेके फलस्वरूप रामचरित्रप्रसादके जीवनमें महान् रूपान्तर हो गया। अबतक आप एक साधारण गृहस्थ थे, जिसकी ईश्वरमें बड़ी निष्ठा थी। किंतु अब आप एक क्रियात्मक संत हो गये। गीतामें कहे गये अनासक्तिपूर्ण कर्मयोगका आप अभ्यास करने लगे। आपने भगवान्‌के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। तिलक महाराजविरचित 'गीता-रहस्य' का आप स्वाध्याय करने लगे।

सन् १९३२ ई० में आपने 'कल्याण' को मँगाना प्रारम्भ कर दिया। 'कल्याण'में आप भक्तोंके आदर्श चरितका सर्वदा पाठ करते थे। गीताके अध्ययनने आपमें ज्ञानकी धारा प्रवाहित की। भक्त-चरितों और रामचरितमानसके अध्ययनसे आपमें भक्तिका निर्मल स्रोत भी उमड़ पड़ा। 'कल्याण' का पाठ आप बराबर करते थे। जब १९४५ ई० में चम्पारण जिलेके स्कूलोंके बड़े निरीक्षकके पदपरसे आपने अवकाश ग्रहण किया, तबसे आप अधिक समय धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनमें देने लगे। जब-जब आपपर कष्ट आते थे, तब-तब 'कल्याण' में लिखित भक्तचरितोंके पाठसे आपको बड़ी शान्ति मिलती थी। अवकाश-प्राप्तिकी अवस्थामें जब कभी आप अपने खेत आदिका निरीक्षण करते थे अथवा अन्नकी दौनी (बैलोंद्वारा) का खलिहानमें निरीक्षण करते थे, उस समय भी कल्याणकी नयी प्रति आपके हाथमें रहती थी। 'कल्याण' ने आपके परिवारमें धार्मिक वातावरणके प्रसारणमें बड़ी मदद की। मृत्युके कुछ महीने पूर्व आपने बड़े पुत्रसे कहा था कि मैं जीवनपर्यन्त 'कल्याण' मँगाऊँगा। मृत्युके कुछ सप्ताह पूर्व आपने बड़े पुत्रको आदेश दिया कि "मेरे न रहनेपर भी 'कल्याण' को तुम अवश्य मँगाना।"

सन् १९१४ से सन् १९४५ तक आपने शिक्षा-विभागमें नौकरी की। किंतु वहाँपर भी आपने सर्वदा अपने व्यक्तित्वद्वारा समाज-सेवाकी ही चेष्टा की। शिक्षा-विभागमें ऊँचे पदोंपर काम करते हुए भी आप सर्वदा निरभिमान रहे। किसी प्रकारकी रिश्वत अथवा अन्य वस्तु किसीसे ले लेना आपने कभी जाना ही न था। आप अत्यन्त उदार, कर्मठ, निष्कपट और पक्षपातहीन आचरण करनेवाले अफसर थे। नौकरी करते समय कई प्रकारके प्रलोभन और भय आपके सामने आये। किंतु एक आदर्श भगवद्भक्तके समान आपने दोनोंकी समान भावसे उपेक्षा की। आप प्रतिदिन दो घंटे गीता और रामचरितमानसका पाठ करते थे। सायंकाल आधे घंटेतक प्रार्थना करते थे। गीताके निम्नलिखित श्लोकमें आपका दृढ़, अटूट विश्वास था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

१९४२ ई०के आन्दोलनमें स्वराज्यका कार्य करनेके कारण आपके बड़े पुत्रको कालेजछात्रावाससे हटा दिया गया और अंग्रेजी शासकोंकी ओरसे कुछ अन्य धमकियाँ भी दी गयीं। वे घबरा गये और भविष्यकी कष्टपूर्ण आशङ्कामें आपसे इसका जिक्र किया। आपने कहा—

'यह अर्जुनमोह तुम्हें क्यों उपस्थित हो गया? तुम दृढ़तापूर्वक स्वधर्मका पालन करो।'

आप भारतीय कुलधर्मकी मर्यादाका पालन करते थे। इसी कारण आपने यावज्जीवन अपने चचेरे भाइयों और

अपने चाचाकी पूरी सहायता की। आपके निकट परिवार-वालोंने कई बार इस उदारताके लिये आपको उलाहना भी दिया, किंतु उनपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि गीताकी इस उक्तिमें उनका विश्वास था कि कल्याण कर्म करनेवाला कदापि दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।

सन् १९५४ ई० से ही आप रुग्ण रहने लगे। जीवनके अन्तिमकालमें ही आपके निकट सम्बन्धियोंको भी इसका भान हो सका कि आपने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है। सन् १९५५ ई० में आप अत्यन्त भीषण रोगसे पीड़ित थे। बहुमूत्रकी पुरानी बीमारी थी ही, उसके बाद खूनका जोरोंसे दौरा शुरू हो गया था। किंतु जब सारा परिवार आतङ्कित था और पटनेके बड़े-बड़े डाक्टरोंने भी निराशा प्रकट कर दी थी, उस समय भी श्रीरामचरित्रप्रसादजीके चेहरेपर जरा भी सिकुड़न नहीं आयी। आप पूर्ण विश्रान्त और निश्चिन्त थे। सिर्फ आपने एक बार यही कहा 'अब समय आ गया है।' किंतु ईशकृपासे आप फिर चंगे हो गये।

३ फरवरी १९५६ ई० को आप गीताका पाठ कर रहे थे। डाक्टरने खूनकी बीमारीके दौरेके कारण लेटे रहनेका आदेश दिया था, किंतु आप आसनस्थ हो गीता और रामायणका पाठ बराबर करते थे। डाक्टरने स्नान करनेकी मनाही कर दी थी, किंतु आदर्श आचारवान् हिंदू होकर बिना स्नान किये भोजन करना आपको कदापि स्वीकार नहीं था। ३ फरवरीको आपने स्नान किया और गीताका पाठ किया। करीब साढ़े तीन बजे दिनमें आप डेरेके पास ही शिव-मन्दिरमें गये। वह शिवमन्दिर गङ्गाकिनारे रानीघाट मुहल्लेमें है। डाक्टरोंके आदेशके विरोधमें आप मन्दिरमें चले गये। मन्दिरमें आपने प्रायः दस मिनटतक खड़े रहकर शिवजीकी स्तुति और प्रार्थना की। प्रार्थनाके बाद ज्यों ही आप आगे बढ़े कि आपके पैर लड़खड़ा गये और शिवजीके ध्यानमें ही आप बेहोश हो गये। शीघ्र आप अस्पताल ले जाये गये, जहाँ पटनाके बड़े-बड़े विशेषज्ञोंके रहते भी बारह घंटेके भीतर आपका प्राणान्त हो गया। जितने लोग उपस्थित थे और जिसने भी इस घटनाके बारेमें सुना, सभीने कहा—श्रीरामचरित्रप्रसादजी साक्षात् शिवलोकको गये हैं। जब आपकी मृत्युका समाचार आपके ग्राममें पहुँचा, सारा ग्राम रो पड़ा। आस-पासके ग्रामके लोग भी रो पड़े। सबोंने एक स्वरसे कहा—'श्रीरामचरित्रप्रसाद साक्षात् महर्षि थे। गङ्गाके किनारे, माघ महीनेमें शिवमन्दिरमें शरीर त्याग करना—यह एक महर्षिके अतिरिक्त कौन कर सकता है।'

हमारे ठाकुर

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा-सरबदा हम जिनके हैं, जनम-जनम घरजाए चाकर ॥ १ ॥
चूक परैं परिहरैं न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमें, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर ॥ २ ॥

महान् उपहार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'दादा ! कल कन्हाईको क्या देगा तू ?' व्रज-बालकोंमें सबसे छोटे, श्यामके सबसे प्रिय तोकने श्रीबलरामसे पूछा ।

कल श्रीकृष्णचन्द्रकी वर्षगाँठ है । व्रजमें सभी कल उसे कुछ-न-कुछ उपहार देंगे । सबकी एकान्त अभिलाषा है कि वह ऐसा कोई उपहार दे, जिसे पाकर श्यामसुन्दर सर्वाधिक प्रसन्न हो । सप्ताहोंसे नहीं, महीनोंसे सबके चिन्तनका विषय यही रहा है—'इस वर्षगाँठपर क्या दें नन्दनन्दनको ?' अब कल ही वर्षगाँठ है । आज तोक दाऊसे पूछने बैठा है । दाऊ क्या देगा, यह पता लग जाय तो तोक भी कुछ निश्चय कर ले ।

'मैं क्या दूँगा, बताऊँ ?' मधुमङ्गलने बीचमें ही छेड़ लिया ।

'रहने दे !' तोकने तनिक घूमकर देखा उधर । 'तू देगा आशीर्वाद ।'

'ब्राह्मणका आशीर्वाद यों ही नहीं मिला करता ।' गम्भीरताका अभिनय किया मधुमङ्गलने—'आशीर्वाद तो तब मिलेगा, जब यह मुझे दक्षिणा देकर प्रणाम करेगा ।'

'नहीं तो !' इस बार कन्हाई बोला ।

'हूँ !' घूसा दिखाया मधुमङ्गलने ।

'तो तू कल यही देना !' श्याम हतप्रभ हो नहीं सकता । वह हँस उठा । सचमुच कन्हाई ही ऐसा है, जो उपहारमें मीठी चपत या घूसा भी लेकर प्रसन्न हो सकता है । भीष्मके शराघातका उपहार जो स्वीकार कर सके, असुरोंके उन्मद आक्रमणको जो अर्चन मान-कर उन्हें सधाम दे सके—कुछ अटपटा तो नहीं है इसके लिये यह उपहार भी ।

'दादा ! बता न, तू क्या देगा ?' तोकने दाऊका कंधा पकड़कर हिला दिया ।

'मैं ऊँ बताऊँ ?' श्यामने उत्तरकी अपेक्षा किये बिना बताया—'दादा देगा यह आजका अपना पुष्पमाल्य ।'

दाऊ क्या बताये ? उसका या व्रजमें किसीका ऐसा है क्या, जो श्यामका नहीं है । किंतु श्याम है ही ऐसा कि उसे तो कल कोई उसीका पटुका या उसीकी मुरली उठाकर दे दे तो उसे महान् उपहार मानकर खिल उठेगा । वह अभीसे अपने बड़े भाईकी उतारी पुष्पमाला माँगने लगा है । नित्य लोग उसे उसीकी वस्तुएँ तो भेंट करते हैं । ऐसी वस्तु कहाँसे आयेगी जो उसकी न हो ।

'तू क्या लेगा ?' दाऊ बतलाता नहीं तो तोक श्यामसे ही क्यों न पूछ ले ।

'मैं तुझे लूँगा ।' कन्हाईने झटसे बिना सोचे उत्तर दे दिया ।

'चल !' तोकको ऐसी बात रुची नहीं । ये सब बड़े वैसे हैं—कोई उसे सहायता नहीं देता कि वह कलका उपहार चुन सके । कन्हाईका वह कब नहीं है —वह तो सदासे श्यामका छोटा भाई है । उसे लेनेकी नयी बातका क्या अर्थ हो सकता है ।

× × ×

'कौन हो तुम ?' कटिमें फटा-सा मैला चिथड़ा, मस्तकपर रूखे धूलिभरे उलझे केश, कपोलोंपर अश्रुकी सूखी चमकती रेखा, इतना दुर्बल, इतना विषण्ण, इतना हतप्रभ बालक यह कौन है ? व्रजमें ऐसा बालक ! नन्हे तोकको आश्चर्य हुआ तो बड़ी बात क्या हुई । वह दौड़ गया और हाथ पकड़कर उसने बालकसे पूछा ।

'तुम कहाँसे आये ?' तोकने हाथ झकझोर दिया उस बालकका । यह बोलता क्यों नहीं ? यह तो स्वप्नसे सहसा जाग्रत् हुएकी भाँति इधर-उधर बड़े आश्चर्यसे केवल देख रहा है ।

'तुम किस गाँवके हो ? गूँगे हो तुम ? तुम्हें किसने मारा है ?' तोकको अद्भुत लग रहा है यह बालक । यह इतना उदास और कंगाल क्यों दीखता है ? व्रजमें तो कोई भिक्षुक भी ऐसा नहीं होता ।

कंसके अनुचरोंका अत्याचार चल रहा है चारों ओर । उसके क्रूर राक्षस गाँवोंको जला देते हैं, हरे वृक्षोंको काट देते हैं । मानवका रक्त—उनके लिये तो वह एक विनोद उत्पन्न करनेकी वस्तु है । कल जिसका घर असुरोंने भस्म कर दिया, जिसके स्वजन आततायियोंके द्वारा मार दिये गये, जो किसी प्रकार प्राण बचाकर भागा और पूरी रात्रि उन्मत्तकी भाँति भागता रहा बिना किसी लक्ष्यके, वह क्या कहे ? क्या बताये ?

वह बालक—वह आपत्तिका मारा, यमराजके अनुचरों-जैसे दानवोंके आतङ्कसे अर्धमूर्छित बालक और वह आ कहाँ गया—यह सुषमा-सार-सर्वस्व व्रजधरा, ये कल्पपादपनिन्दक तरु-वल्लरियाँ और ये नर-नारी यदि मानव हैं तो देवता कौन होंगे ? इतना सौन्दर्य, इतना वैभव, इतनी प्रफुल्लता—बालक तो विमूढ़ हो रहा है ।

सबसे बड़ी बात—यह नवघन-सुन्दर, पीत-वस्त्र, सौकुमार्यकी मूर्ति नन्हा चपल शिशु—जिसने बालकका हाथ सहसा पकड़ लिया है—बालक केवल देख रहा है तोककी ओर । उसकी वाणी असमर्थ है । उसके नेत्र झरने लगे हैं । वह केवल देख रहा है ।

'तुम मेरे साथ आओ ! भूख लगी है तुम्हें ? रोओ मत, मैं तुमको मक्खन दूँगा ।' तोक आतुर हो उठा है । वह इस बालककी पीड़ा कैसे दूर कर दे ?

'क ँ ! कनूँ ! देख तो !' तोकने दूरसे ही पुकार लिया । तोक पुकारे और श्याम दौड़ न आये.......

'यह तेरा उपहार है !' नवीन बालक पता नहीं क्यों श्यामके चरणोंपर गिरने झुका और कन्हाईने उठाकर भर लिया उसे दोनों भुजाओंमें । अपने साथ आये बड़े भाईकी ओर देखता मोहन कह रहा था—'दादा ! यह तोकका उपहार—आजका सबसे महान् उपहार है न ?'*

दर्शनके लिये प्रार्थना

जसुमति-सुत, मोहि दीजै दरसन ।
तन-मन-प्रान तपत हैं निसिदिन, छिन एक होत बराबर बरसन ॥ १ ॥
सियरौ होतौ पहलैं हृदयौ अब तो अँखियाँ लागीं तरसन ।
रसिक प्रीतम बिनती चित धरिए तुमसे सरस कहाँ लगे अरसन ॥ २ ॥

* मत पूछिये कि यह घटना कहाँ किस पुराणमें लिखी है । यह कहानी है और कहानी सत्य घटना नहीं हुआ करती । घटना तो कहानीका सौन्दर्यमात्र है । कहानीका सत्य है उसकी प्रेरणा और शिवत्व है उसका वह प्रभाव, जो आपपर (पाठकपर) पड़ता है । श्याम सदा आतुर है अपनानेके लिये—सबको, जीवमात्रको अपनानेके लिये । वह जीवका नित्य-सखा—उसके लिये महान् उपहार है अपने-आपको उसे दे देना । इस कहानीका सत्य यही है और यह नित्य-सत्य नहीं है, ऐसा आप कैसे कहेंगे । —लेखक

अपना समाजवाद

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

अपने यहाँ शाश्वत समाजवादमें यह माना गया है कि लक्ष्मीदेवी जगज्जननी हैं—हमें उनकी गोदमें बैठकर अर्थका दूध पीना चाहिये, जिससे हम सत्कर्मोंका पालन करनेमें समर्थ बन सकें। वे जगज्जननी भगवान् विष्णुकी पत्नी हैं, उनपर व्यापक तत्त्वका अधिकार है—यदि हमने उनपर अपना स्वामित्व समझा तो निश्चित है कि दुनियाके सम्पूर्ण दुःखोंको निमन्त्रण मिल गया।

हम श्रीमन्नारायणके उपासक हैं अर्थात् लक्ष्मीसहित नारायणकी भक्ति ही हमारे जीवनका भूषण है। भगवान् नारायण धर्म और मोक्षस्वरूप हैं और भगवती लक्ष्मी अर्थ और कामस्वरूप अर्थ। कामको धर्म-मोक्षके अनुशासनमें चलना है।

धर्म मूल है, अर्थ-काम पत्र-पुष्प हैं और मोक्ष फल है। भगवत्प्रेम रस है। यह समझकर जो जीवन धारण करता है, वही हमारे समाजका घटक है।

स्थायी शान्तिका व्यवहार ऐसे ही समाजमें हो सकता है।

हमारे समाजमें भगवान् ऋषभदेवको परम गुरु, भगवान् दत्तात्रयको सद्गुरु, भगवान् व्यासको जगद्गुरु और भगवान् कपिलको सिद्धश्रेष्ठ माना गया है।

परमहंस-ज्ञान अर्थात् मोक्ष-संहिताका उपदेश प्रभु ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको किया था, जिन्होंने विदेह राजा निमिको शान्ति प्रदान की। इतना ही नहीं, भगवान् वासुदेवके पिता जब चिन्तित थे, तब देवर्षि नारदने यही ज्ञान उन्हें सुनाया, जिससे देवकीनाथको परम विवेक प्राप्त हुआ। जो ज्ञान विदेहको भी शान्ति दे और दैवी-सम्पत्तिके स्वामी वसुदेवको भीं परम विवेक प्रदान करे, उस ज्ञानको देनेवाले भगवान् ऋषभदेव हमारे परम गुरु क्यों न कहलायेंगे। उनका चिह्न ही ऋषभ है—बैल, जो धर्मका पूर्णस्वरूप है और यही हमारे समाजका आधार है। इसकी उपासना छोड़कर ट्रैक्टरोंके फंदेमें पड़े कि फँसे—समझ लो—मैं तो संकेत कर रहा हूँ।

दूसरे सद्गुरु 'दत्तात्रय'के स्वरूपका भी चिन्तन कीजिये। लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती—तीनों शक्तियाँ यदि परस्पर असूया करें तो देवर्षि नारद कहते हैं अनसूया ही हमारे समाजमें सद्गुरुत्वको उत्पन्न कर सकती है; क्योंकि वे त्रिगुणकी शक्ति नहीं, त्रिगुणातीत महर्षि अत्रिकी शक्ति हैं। इसीलिये भगवान् श्रीरामने भरतजीको 'अत्रि-कूप'में स्नान करनेका आदेश दिया था और जगज्जननी सीतादेवी भी "अनसुइयाके पद गहि"के अशोकवनमें शोकरहित रह सकीं। अनसूया और अत्रि-द्वारा दत्त गुरुतत्त्व ही सद्गुरु है। जिस समाजमें असूयारहित शक्तियाँ कार्य करती हैं, वही समाज स्थायी शान्तिका प्रचारक हो सकता है।

प्रकृति-तत्त्वके सिद्ध करनेमें परम पटु भगवान् कपिलने कर्दम-शक्ति देवहूतिको अपनी माता बनाकर उद्धार किया। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' सभी श्रेणियों-के—सभी विषयोंके वैज्ञानिकोंको उनके सांख्य-तत्त्वोंका आधार लेकर ही आगे बढ़ना पड़ता है।

भगवान् व्यासके विषयमें क्या कहें? महाभारत या अपने देशके समाज-विस्तारके वे ही मूल कारण हैं। महाभारत ही क्या, 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' सारा जगत् ही उनके ज्ञानका उच्छिष्ट खाकर जी रहा है। आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी मुरली और वसुदेव-सुत देव—कंस-चाणूर-मर्दन—देवकीनन्दन श्रीकृष्ण-की वाणीको हमतक पहुँचानेका श्रेय भी उन्हींको है।

दूसरोंके राष्ट्रोंको अन्यायसे धृत (हड़प) करनेवाले अंधे धृतराष्ट्रोंको यह समझ लेना चाहिये कि उनके

दु:शासन और दुर्योधन कभी बच नहीं सकते। दुष्टतासे शासन करनेका या दुष्टतासे युद्ध करनेका फल बहुत बुरा होता है। जिसके पक्षमें न्याय और सत्य होता है, उसीके पक्षमें भगवान् हैं। ऐसे ही पुरुष धर्मराज—युधिष्ठिर—युद्धमें स्थिर होते हैं। इसलिये वे 'अनन्त विजय' का शङ्ख बजाते हैं। 'यतो धर्मस्ततो जय:।' अर्जुनकी अर्जन करनेवाली ऋजु शक्ति और भीमकी भयंकर प्रबल शक्तिके साथ नकुल और सहदेवका भी उन्हें सहयोग प्राप्त होता है। छोटे-मोटे पद-दलित सभी राष्ट्र उनके सहदेवा बन जाते हैं और यह निश्चित है कि सभी शक्तियोंका धर्मके अनुशासनमें भगवान् योगेश्वर योग करते हैं, तब समाजकी सनातन शाश्वत [illegible] होती है:—

"तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीति:"

वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य आदि सब [illegible] उपस्थित होते हैं।

प्रार्थना है कि हम इधर-उधर न भटककर [illegible] शाश्वत समाजवादका मर्म ऋषि-महर्षियोंके [illegible] बैठकर समझें—स्वत: भी शान्ति और शक्ति प्राप्त [illegible] और दुनियाको भी वास्तविक समता और [illegible] स्थायी सुखकी ओर बढ़ानेमें सहायक बनें।

शिव-भक्त नीलांकर

(लेखक—श्रीविजय 'निर्बाध')

'महान् पाप! तुमने इसे अपवित्र करनेका साहस कैसे किया? क्या शिवलिङ्गपर थूकनेके अतिरिक्त स्थितिपर काबू पानेका कोई दूसरा तरीका नहीं था? शापित नारी! क्या तुम अपने अपवित्र मुखसे निकले हुए थूकको गङ्गाजल-जैसा पावन समझती हो? मेरी दृष्टिसे दूर हो जाओ, मैं इसी क्षण तुम्हारा परित्याग करता हूँ।'

नीलांकरका क्रोध पराकाष्ठाको पहुँच चुका था और किसी हदतक वह था भी ठीक।

वह कावेरीके तटपर बसे हुए एक सुन्दर ग्राम 'सथामंगई'का निवासी था। पक्का ब्राह्मण होनेके साथ-साथ वह वेदों और पुराणोंका दृढ़ विश्वासी और भगवान् शिवका अनन्य भक्त था। शिवलिङ्ग-पूजा और शिवभक्तों-को सुरुचिपूर्ण भोजन कराना ही उसके जीवनका एक-मात्र ध्येय था।

त्रयोदशीके पवित्र दिन नीलांकर अवन्तीके मन्दिरमें जाकर 'शिवलिङ्ग'-पूजामें संलग्न हो गया। उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी भी पास ही खड़ी सामग्री दे-देकर पूजामें उसकी सहायता कर रही थी। वह वास्तवमें एक आदर्श हिंदू-नारी थी, जिसने अपने आपको पूर्णतया अपने स्वामी और उनके इष्टदेवमें एक-रूप कर दिया था। पूजासे प्राप्त अपार आनन्दमें विभोर वह अपनी सुधितक खो बैठी। नीलांकरने यद्यपि विधिवत् पूजा समाप्त कर ली थी, फिर भी उसे बराबर एक मानसिक अशान्तिका अनुभव हो रहा था—अकारण ही वह परेशान था; अत: उसने शिवलिङ्गकी परिक्रमा की और बैठकर उसी संकटहारी नामका जप आरम्भ कर दिया।

अचानक छतपरसे एक मकड़ी गिरी और शिवलिङ्गपर आ पड़ी। यह एक साधारण प्रथा है कि जब मकड़ी किसी बच्चेपर आ गिरे तो माँ तुरंत ही फूँक मारकर उस स्थानपर थूककर उसे मसल देती है जिससे कि बदनपर दाने न पड़ जायँ। नीलांकरकी पत्नीने एक क्षणके लिये भी यह नहीं सोचा कि लिङ्ग पत्थरका बना हुआ है और उसपर मकड़ीके गिरनेका कोई कुप्रभाव नहीं होगा। उसे तो उस समय केवल एक ही ध्यान था और वह यह कि इस घटनासे उसके देवताको कितना कष्ट होगा। मातृसुलभ स्नेहके वशीभूत उसने शिवलिङ्गपर, जहाँ

मकड़ी गिरी थी, थूककर अँगुलीसे मसलना आरम्भ कर दिया।

नीलांकरके लिये यह देख सकना तक असहनीय था—उसने घृणासे आँखें मूँद लीं और चिल्लाया, 'यह तुम कर क्या रही हो ?' लेकिन शान्त स्वरमें उत्तर मिला, यही मकड़ी गिरनेपर साधारण उपचार है।

बेचारा नीलांकर मातृ-स्नेह और अपनी पत्नीके हृदय-की भक्तिकी थाह नहीं पा सका; उसे विश्वास था कि जो कुछ भी हुआ, वह एक महान् पाप था। उस शिवलिङ्गको, जिसकी कि वह अभी पूजा कर रहा था, उसकी पत्नीने अपने थूकसे अपवित्र कर दिया। उसकी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी थी और परिणामस्वरूप उसी मुखसे, जिससे कुछ क्षण पहले भगवान्के पावन नामका जप हो रहा था, क्रोधभरे अपशब्द अपनी पत्नीके प्रति निकलने आरम्भ हो गये। प्रिय पाठकवृन्द ! भावावेशकी इसी घटनाके साथ इस कथाका श्रीगणेश होता है।

नीलांकरकी पत्नी पाषाणवत् खड़ी थी और उसका पति किसी भी अवस्थामें उसे क्षमा करनेके लिये तैयार नहीं था; क्रोधमें ही वह घर भी चला गया। बेचारी अबला उसी मूर्तिके आगे जा खड़ी हुई, जिसपर कुछ क्षण पहले ही उसने मातृस्नेहकी वर्षा अपने मुखके थूकसे की थी। सूर्यास्त होनेपर भी वह पूजामें खड़ी रही—उस रात संसार सोया, वह नहीं।

नीलांकर गहरी नींदमें सोया हुआ था, अचानक उसे एक दिव्य प्रकाशका अनुभव हुआ, जिसके बीचोबीच उसने मङ्गलमूर्ति भगवान् शिवके दर्शन किये। भगवान् बोले, 'देखो नीलांकर ! मेरे शरीरकी ओर देखो ! उस स्थानके अतिरिक्त जिसपर कि तुम्हारी स्त्रीने थूका था दाने-दाने हो गये हैं।' नीलांकरके आश्चर्यकी सीमा न रही। उधर वह अलौकिक स्वरूप इतना कहकर अन्तर्धान हो गया। स्वप्नावस्थासे निवृत्ति पाकर नीलांकर उठा, उसने देखा कि भगवान् उसकी अपेक्षा उसकी पत्नीसे अधिक प्रसन्न हैं। वह मन्दिरकी ओर दौड़ा, जहाँ उस-की पत्नी आँख मूँदे भगवान्से प्रार्थना कर रही थी कि वे उसका पति उसे पुनः प्रदान करनेकी कृपा करें। नीलांकर सपत्नीक घर लौटा, जीवनमें पहली बार उसने वास्तविक प्रेमकी गहराई एवं औपचारिकताके खोखलेपनको देखा था।

महान् शैव संत 'सम्बन्दर'के आगमनके कारण सम्पूर्ण नगरमें चहल-पहल थी और तमाम सड़कें सजी हुई थीं। उन्हींके साथ 'नीलाकंतर' भी थे, जिनका जन्म यद्यपि कुम्हार जातिसे था, फिर भी जो दिव्य स्वरूपके दर्शन कर चुके थे। नीलांकरने दोनोंका ही हार्दिक स्वागत किया। रात पड़नेपर संत 'सम्बन्दर' ने नीलांकरसे 'नीलाकंतर'को भी अपने यहाँ ठहरानेकी बात कही। शिवलिङ्गकी घटनासे यदि उसका हृदय परिवर्तन न हो चुका होता तो निश्चित ही वह ब्राह्मण होते हुए उस निम्नजाति (कुम्हार) के व्यक्तिको अपने घरके पासतक न फटकने देता; लेकिन तब पत्नीके पावन प्रेमसे पराजित नीलांकरने नीलाकंतरको वही कमरा दे दिया, जिसमें कि पुनीत अग्नि प्रज्वलित रहती थी। ज्यों ही नीलाकंतरकी आँख लगी अग्निने अलौकिक रूप धारण करके नीलांकरके निर्मल प्रेमका प्रदर्शन और सुषुप्त संतके हृदयकी निर्मलताकी घोषणा आरम्भ कर दी।

सम्बन्दरने 'अवन्ती' नामके प्रति गाये हुए अपने पदोंमें नीलांकरके इस गरिमाशाली कार्यकी भी सराहना की है। कहते हैं संत सम्बन्दरके विवाहके समय एक महान् ज्योतिके दर्शन हुए और नीलांकर, जो उस समय वहीं उपस्थित था, उसी ज्योतिमें विलीन होकर अपने आराध्यसे एक-रूप हो गया।

दक्षिणके शैव आज भी नीलांकरको एक संतके रूपमें पूजते हैं; लेकिन मैं अकसर सोचता हूँ कि क्या उसकी पत्नी वास्तवमें उससे बड़ी नहीं थी।

दही और स्वास्थ्य

(लेखक—डॉ० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी)

स्मरणातीत कालसे मनुष्यकी खाद्य-तालिकामें दहीने एक विशिष्ट स्थान अधिकार कर लिया है। भारतवर्ष, तुर्क, मिश्र, अरमेनिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया, रूस तथा मध्य यूरोपमें काफी समयसे दही एक पुष्टिकर खाद्यके रूपमें माना जाता है। विगत अर्ध-शताब्दीसे पश्चिम यूरोप एवं अमेरिकामें भी इसका प्रचलन क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

साधारणतः यूरोप एवं अमेरिकामें गायका दूध ही दही जमानेके लिये व्यवहार किया जाता है। भारतवर्षमें गायके दूधके साथ भैंसका दूध भी व्यापकरूपसे व्यवहृत होता है। रूसमें भेड़, बकरी एवं गधेके दूधके द्वारा अत्यधिक परिमाणमें दही तैयार किया जाता है।

दही एक अति प्रयोजनीय दुग्धजात पदार्थ है एवं अतिशय पुष्टिकर खाद्य है। केवल चीनीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान इसमें अविकृत रह जाते हैं। दूधकी इसी चीनीका दो तृतीयांश ही लैक्टोबेसिसद्वारा लैक्टिक एसिडमें परिणत हो जाता है।

दूधसे यदि मक्खन न निकाला जाय तो दहीमें ५ प्रतिशतसे लेकर ८ प्रतिशततक चर्बी, ३·२ से ३·४ भाग प्रोटीन, ४·६ से ५·२ भाग लैक्टोज, ०·५ से १·१ भाग लैक्टिक एसिड, ०·७० से ०·७५ भाग धातव लवण, ०·१२ से ०·१४ भाग कैलसियम, ०·०९ से ०·११ भाग फासफोरस एवं ०·३ भाग लोहा पाया जाता है। दहीमें ८५ प्रतिशतसे ८८ प्रतिशत भागतक जल होता है।

दहीके भीतर हर सौ ग्रामके पीछे ३० मिलिग्राम राइबोफ्लाविन भी पाया जाता है तथा इसके भीतर विटामिन 'ए' भी किंचित् परिमाणमें वर्तमान रहता है। यह देखा गया है इसका राइबोफ्लाविन (एक श्रेणीका विटामिन 'बी') अंश दही जमनेके समय अपने-आप बढ़ता है। अधिकतर आश्चर्यका विषय यही है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर 'बी' विटामिन उत्पन्न करता है। एवं वहाँसे वह शरीरमें शोषित हो जाता है।

दही अत्यन्त सरलतासे पच जानेवाला खाद्य है। यह दूधसे भी शीघ्र हजम हो जाता है। दहीके लैक्टिक एसिड द्वारा उसका प्रोटीन आंशिकरूपमें हज़म होता है एवं कैलसियम भी अंशतः द्रवीभूत हो जाता है। इसीलिये ये सभी पदार्थ बड़ी सरलतासे शरीरमें शोषित हो जाते हैं एवं शरीरके काममें आते हैं। डॉ० विलियम मैकिनन मैरियट एम्० डी० का कहना है कि 'दही दूधकी अपेक्षा सरलतासे पच जाता है। दहीका अम्लरस पित्त, क्लोमयन्त्र तथा आँतोंके रसस्रावमें सहायता करता है। फलस्वरूप ये पाचकरस सरलतासे इसके भीतर प्रवेश कर सकते हैं तथा दूध पीनेके बाद साधारणतः जो बृहत् आकारका छेना पाकस्थलीमें उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा अति शीघ्र ही यह पाकस्थली त्याग कर देता है। दहीका अम्लरस भी सहजमें ही शरीरके काममें आता है।

दही इसीलिये अत्यन्त आवश्यकीय माना गया है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर स्थित रोग-जीवाणुओंको नष्ट कर वहाँपर शरीरके लिये हितकर जीवाणुओंकी उत्पत्ति करता है।

मनुष्य-शरीरके आँतके भीतर स्वभावतः ही लैक्टोबैसिलस तथा एसिडोफिलस जीवाणु देखनेको मिलता है। दिनपर दिन जब पर्याप्त परिमाणमें दही ग्रहण किया जाता है तब आँतके भीतर इन हितकर जीवाणुओंका एक उपनिवेश सा गठित होता है। ये सभी जीवाणु आँतके भीतर खाद्य पदार्थको सड़ने नहीं देते एवं जिन सभी अहितकर जीवाणुओंके कारण पेटके भीतर खाद्य विकृत हो उठता है ये क्रमशः उनका स्थान दखल करके अन्तमें उन्हें सम्पूर्ण रूपसे आँतसे निकालकर बाहर करते हैं।

मानव-शरीरके लिये हानिकारक जीवाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति जो दहीमें है, वह कई एक परीक्षाओंद्वारा सम्पूर्णरूपसे प्रमाणित हो गयी है। आमाशय, टायफायड एवं हैजेके जीवाणुको अत्यधिक संख्यामें दहीमें मिलाकर देखा गया कि ये सभी जीवाणु बहुत शीघ्र मर गये तथा केवल तीन घंटेके बाद उन्हें पृथक् करना असम्भव हो गया।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दही केवल शरीरके भीतर अनिष्टकारी जीवाणुओंकी वृद्धि ही नहीं रोकता, वरं उन सभी जीवाणुओंसे जो कि विष उत्पन्न होता है, उसे भी नष्ट कर डालता है।

अनुसंधान-कर्ताओंके एक दलने पता लगाया है कि नियमित दधि-भोजन त्याग करनेपर ११ से १८ महीनेके बाद भी आँतोंके भीतर दही-जीवाणु सक्रिय रहते हैं। दीर्घ गवेषणाके फलस्वरूप उनके मनमें यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, पुराना आमाशय तथा क्षतसंयुक्त ग्रहणी रोगमें दही अत्यन्त लाभदायक खाद्य है।

परीक्षामूलक रूपसे ही टी० बी०के कुछ रोगियोंको दही दिया गया। उन्हें प्रतिदिन २४० से १००० मिलिमीटर दही खानेको दिया जाता था। फलस्वरूप उनके शरीरमें आरोग्यके लक्षण स्पष्ट हो उठे।

चिकित्सा-सम्बन्धी विस्तृत गवेषणाके फलस्वरूप यह निस्संदेह प्रमाणित हो चुका है कि नियमित रूपसे दही सेवन करनेपर आँतोंका स्वास्थ्य यथेष्ट रूपसे उन्नति लाभ करता है।

रूसके विख्यात गवेषणाकारी अध्यापक मेचनीकफका अटल विश्वास था कि प्रतिदिन यथेष्ट परिमाणमें दही खानेपर अकालपक्वता (शीघ्र ही बूढ़ा हो जाना) एवं दैहिक क्षतिको रोका जा सकता है। जो जीवाणु मनुष्यको शीघ्र वृद्ध बना देते हैं, उनका विचार था कि वे बड़ी आँतमें ही रहते हैं। वृद्धोंके मलसे उन्होंने एक प्रकारका सीरम तैयार किया एवं उसे कई एक बंदरोंके शरीरमें प्रवेश कराकर वे उन्हें वृद्ध बनानेमें समर्थ हुए। बादमें पुनः दहीसे दही-जीवाणु लेकर उसे बंदरोंके शरीरमें प्रवेश करा दिया। फलस्वरूप वे पुनः स्वास्थ्यवान् हो पहिले-जैसे हो गये।

बहुतोंका यह विश्वास है कि यदि प्रतिदिन एक बार अथवा सम्भव होनेपर एकसे अधिक बार दहीका सेवन किया जाय, तो दीर्घजीवन लाभ हो सकता है। इस विषयमें बलगेरियावासियोंकी बात प्रायः ही उल्लेख की जाती है। वे पृथ्वीके अन्यान्य बहुत-सी जातियोंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें दही भोजन करते हैं। इसीलिये बलगेरियामें शतायु लोगोंकी संख्या अधिक है।

बाजारमें सर्वदा दही खरीदा जा सकता है, किंतु दूधके दहीका जावन (वह थोड़ा दही जिसे लेकर दूधके बर्तनमें लगानेपर दही जम जाता है) मिलाकर अनायास ही घरपर दही जमाया जा सकता है।

दही जमानेके लिये सर्वदा खाँटी तथा सर्वोत्तम दूध व्यवहार करना उचित है। दूधमें जावन देनेसे पूर्व उसे दस मिनटतक गरम करना चाहिये। बादमें जब वह कुछ गरम हो जाय, तो उसमें ताजे दहीका जावन भलीभाँति मिलाना आवश्यक है। साधारणतया प्रति आध सेर दूधके लिये चायके चम्मचसे एक चम्मच जावन ही यथेष्ट है।

जो जावन व्यवहार किया जाता है, उसके ऊपर ही दही-का गुण-अवगुण अधिकांशरूपमें निर्भर करता है। जावन जितना अच्छा होगा, दही उतना ही सुगन्धयुक्त होगा तथा वह उतना ही घना होकर जमेगा। पुराना अथवा खराब जावन व्यवहार करनेपर बढ़िया दही तैयार करना असम्भव है।

गर्मीके दिनोंमें थोड़े ही यत्नद्वारा दूध जमकर दही हो जाता है। किंतु शीत ऋतुमें उसे कम्बल आदिके द्वारा भलीभाँति ढँककर गरम स्थानमें रखना जरूरी है।

गरमीके दिनोंमें दही जमानेमें पाँचसे छः घंटेतकका समय लगता है, किंतु शीतऋतुमें इसके लिये अत्यधिक समयकी आवश्यकता होती है।

तथापि चेष्टा करनेपर जिस किसी भी ऋतु एवं समयमें केवल दो घंटेके भीतर दही जमाया जा सकता है। इसके लिये जावनका कुछ भाग पात्रके भीतर लेपकर तथा शेष भाग दूधके साथ मिला देना चाहिये। बादमें इसे कम्बल इत्यादि-के द्वारा ढँककर धूपमें रख देना उचित है। ऐसा करनेपर केवल दो घंटेके भीतर ही दूध घना होकर जम जाता है। यदि सूर्य बादलसे ढँका हो अथवा सूर्यका ताप तीव्र हो तो दूसरे एक और गरम जलके पात्रमें दहीका पात्र रख देना उचित है। इससे थोड़े ही समयमें दही तैयार हो जाता है।

इस प्रकार जमाया हुआ दही कुछ देरतक थोड़ा गरम रहता है। जब यह सम्पूर्ण रूपसे ठंढा हो जाय, तभी इसे व्यवहार करना उचित है।

साधारणतः दही घना जमानेके लिये दूधको खूब गरम किया जाता है। इससे दही दुष्पाच्य हो उठता है, अर्थात् दही काफी देरसे पचता है। किंतु अति उत्कृष्ट श्रेणीका दही जमाया जाता है, दूध गरम करनेके पहले उसमें दूधका पाउडर डालकर। दूधका पाउडर यदि विशुद्ध हो तो वह मक्खन निकाला होनेपर भी कोई नुकसान नहीं होता। कारण उसके भीतर एक चर्बीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान वर्तमान रहते हैं। दूधकी बुकनी मिलनेपर दही

इतना ठोस होता है कि दहीका पात्र उलटनेपर भी वह नहीं गिरता।

दही उत्कृष्ट श्रेणीका बना है अथवा नहीं, यह जाननेके लिये कई एक लक्षण हैं। अच्छा दही बिल्कुल घना होकर जमता है। उसमें पानी नहीं होता, बुलबुले नहीं उठते, फटा चिह्न अथवा छिद्र नहीं रहता तथा दहीके ऊपर एक छाली-सी पड़ जाती है। दहीके ऊपरी भागकी छालीमें ४९ प्रतिशत चर्बी-जातीय पदार्थ होता है, द्वितीय स्तरमें २३.५ प्रतिशत, तृतीय स्तरमें १९.९ प्रतिशत तथा सर्व-निम्न स्तरमें चर्बीका केवल ७.६ प्रतिशत ही रहता है। इसीलिये दहीका पहिला भाग सभीके लिये अत्यन्त प्रिय है।

दही ग्रहण करनेके बहुत-से उपाय हैं। साधारणतः पात्रसे चम्मचद्वारा उठाकर इसे खाया जाता है। भातके सहित मिलाकर भी इसे ग्रहण किया जाता है। दक्षिण भारतके बहुत-से स्थानोंमें लोग इसे इसी तरह खाते हैं।

फल अथवा सब्जीके सलादके साथ भी दही खाया जा सकता है। दही मिलानेपर सलादका स्वाद काफी बढ़ जाता है एवं स्वास्थ्य और खाद्यके मूल्यकी दृष्टिसे भी यह उन्नति लाभ करता है।

दहीके साथ २५ से ५० प्रतिशत पानी मिलाकर इसका घोल बनाया जाता है। सारे भारतवर्षमें लोग इसे बड़े चावसे पीते हैं तथा यह दहीकी भी अपेक्षा शीघ्र पच जाता है। कभी-कभी इसमेंसे मक्खन निकाल लिया जाता है, उस समय यह और भी सुपाच्य हो उठता है।

चर्बी-वर्जित पुष्टिकर खाद्यके रूपमें यकृत्, कमला अथवा पीलिया तथा स्प्रू आदि रोगोंमें इसका व्यवहार व्यापक रूपसे किया जाता है।

दहीके साथ पानी, नमक, चीनी तथा कागजी नींबू मिलाकर उत्तम शर्बत तैयार किया जाता है। यह अत्यन्त जनप्रिय खाद्य है। विशेषतः ग्रीष्मकालमें सर्वसाधारणके लिये खाद्यके रूपमें यह समादर लाभ करता है। यदि पानीके बदले इसमें फलका रस अथवा कच्चे नारियलका पानी मिलाकर शर्बत तैयार किया जाय तो स्वाद एवं पुष्टिकी दृष्टिसे इसका मूल्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है।

कई बार दहीमेंसे पानी निकालकर उसे छेनेमें परिणत किया जाता है। पतले कपड़ेमें बाँधकर कुछ समयतक झुला रखनेसे इसमेंका सारा पानी झर जाता है। यह अत्यन्त सुस्वादु होता है तथा भारतवर्षके बहुत-से स्थानोंमें पर स्वादिष्ट तथा पुष्टिकर खाद्यके रूपमें ग्रहण किया जाता है। किंतु साधारण अवस्थामें दहीका पानी कभी भी फेंक देना उचित नहीं। यद्यपि दहीके जलमें नाममात्रका प्रोटीन और चर्बी होती है, तथापि इसमें दहीके कैलसियमका अंश एवं चीनीका पूरा भाग पाया जाता है।

यूरोपमें भी दहीके साथ चीनी और क्रीम मिलाकर उसे बादमें उसे सुगन्धितकर खाया जाता है। वहाँ इसे जंकेट कहते हैं। यह अत्यन्त स्वादिष्ट एवं जनप्रिय खाद्य है।

यद्यपि शरीररक्षात्मक खाद्योंमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है, फिर भी यह सबके द्वारा सह्य नहीं होता। मलेरिया, अंबल, पुरानी सर्दी, खाँसी अथवा वातकी बीमारियोंके रोगियोंको दही देनेपर इससे बीमारी और भी बढ़ती है। किंतु इन सभी रोगोंमें थोड़े समयमें जमा हुआ ताजा दही खानेपर विशेष किसी हानिकी सम्भावना नहीं रहती।

गोकुलके लोचन

आवत हैं गोकुलके लोचन।
नंदकिसोर जसोदा नंदन मदन-गुपाल बिरह-दुख-मोचन ॥ १ ॥
गोपबृंदमें ऐसे शोभित ज्यों नछत्रमें पूरन चंद।
बनज धातु गुंजामनि सेली भेष बन्यो हरि अनँदकंद ॥ २ ॥
बरहा मुकुट कंठ मनि-माला अद्भुत नटवर बेष जु काछें।
कुंडल लोल कपोल बिराजत मोहन बेनु बजावत आछें ॥ ३ ॥
भक्तबृंद पावन जस गावत यह बिध ब्रज प्रबेस हरि कीनो।
परमानँद-प्रभु चलत ललित गति जसुमति धाय उछँग गहि लीनो ॥ ४ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३।।।), दो चित्रावलियों-का पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६।।।=), तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०।।।)

साइज १०×७।। नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

इसमें १०×७।। साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्री-रघुनाथजी, ६-प्यारका बन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्री-शंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७।। नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम। बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पकविमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्जी, १७-लक्ष्मीनारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७।। नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी, ३-त्रिभुवनमोहन राम, ४-दूल्हा ..., ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके [illegible]तिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीरामच..., ९-भगवान् बालकृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-... लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्ला... शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७।। साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २≡), दो चित्रावलि... का पैकिंग और डाकखर्चसहित ३।।=) एवं तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित ५=)

विशेष सूचना—१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ तथा १०×७।। की तीनों—कुल छः प्रतियाँ एक ... लेनेपर उनके दाम १२≡), बाद कमीशन ।।।), बाकी ११।≡) पैकिंग-डाकखर्च २।।।≡), कुल १४।=) भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस (चित्रावली-विक्रय-विभाग), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थना

यद्यपि वर्तमानमें ऐसी कोई बीमारी नहीं दीखती, जिससे प्राण छूटनेकी सम्भावना हो, तथा... बिना बीमारी भी प्राण चले जा सकते हैं। शरीर अभी जाय या बरसों बाद, इससे कोई मत... नहीं; मैं चाहता हूँ कि मृत्युसे पूर्व सभी लोगोंसे क्षमा प्राप्त कर लूँ। अतः मैं 'कल्याण'... लेखक विद्वान् महात्मा आचार्य साधु-संतोंसे, नये-पुराने सभी ग्राहक-ग्राहिकाओं तथा पाठ... पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जानमें या अनजानमें मुझसे जो भूलें हुई हैं ... किसीके प्रति कोई अपराध बना है, उन सबके लिये वे मुझे कृपापूर्वक क्षमा करें और ... आशीर्वाद या सद्भावना दें, जिससे शेष जीवनमें कभी किसीका अपराध न बने और जीवनके अन्ति... क्षणमें मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगा रहे।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

सूचना

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कई दिनोंसे अस्वस्थ रहनेके कारण उनके नाम आये हुए पत्रोंका उ... नहीं दिया जा सका है, पत्र-लेखक महानुभाव कृपया क्षमा करें। —चिम्मनलाल गोस्...

निवेदन

कुछ समय पहले एक बहिनने कोटाके समीप किन्हीं महात्माके आश्रमकी बातें लिखी थीं, उ... आश्रमका तथा उन महात्माका वर्तमान पता कई लोग जानना चाहते हैं, वह बहिन या अन्य कोई सज्ज... जानते हों तो लिखनेकी कृपा करें। सम्पादक—'कल्याण', गोरख...

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिका स्थान-परिवर्तन

सूचित किया जाता है कि दिनाङ्क १ सितम्बर १९५६ को समितिका कार्यालय गोरखपुरसे स्वर्गा... पो० ऋषिकेश (देहरादून) जानेवाला है, अतः आगेसे पत्रव्यवहारका यही पता होगा। —व्यव...

कल्याण
भगवान
वर्ष ३०
अङ्क १०

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक सं० २०१३, अक्टूबर १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१३, अक्टूबर १९५६ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ३५९

वरण

देव-दानवोंने मथा मिलकर उदधि अपार ।
निकला विष, जलने लगा उससे सब संसार ॥
विकल देख जग, पी गये शंकर करुणागार ।
मन्थन करने लगे फिर, कर सब जय-जयकार ॥
निकले रत्न विविध, हुआ श्रीका आविर्भाव ।
दिव्य वसन-भूषण सजे, मनमें अतिशय चाव ॥
जा पहुँचीं हरिके निकट, हाथ लिये वरमाल ।
वरा नित्यपतिको पुनः लक्ष्मी हुई निहाल ॥

(श्रीमद्भागवत, अष्टम स्कन्ध)

याद रक्खो—भगवान्, सत्यतत्त्व एक ही हैं। वे ही ब्रह्म हैं, वे ही परमात्मा हैं। वे ही निराकार-निर्विशेष-निर्गुण, वे ही साकार-सविशेष-सगुण हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं, 'नाम-रूपरहित' भी एक नाम-रूप ही है। वे सभीमें एक हैं, नित्य परिपूर्ण हैं। विश्वाकार, विश्वाधार, विश्वातीत वे ही हैं।

याद रक्खो—वे एक ही परम तत्त्व परमात्मा विभिन्न साधकोंके द्वारा विभिन्न नाम-रूपोंसे उपासित होकर उन्हें अपने स्वरूपका दर्शन करानेके लिये विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त हो रहे हैं। वे ही भगवान् श्रीनारायण, श्रीशङ्कर, श्रीदुर्गा, श्रीसूर्य, श्रीगणेश और इन पाँचोंके विभिन्न अनन्त स्वरूप हैं; इनके अतिरिक्त अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके जो विभिन्न इष्ट हैं, वे भी वे ही हैं। यहाँतक कि नास्तिकोंका 'नहीं है' भी वे ही हैं।

याद रक्खो—साध्य तत्त्वमें किसी प्रकारका कभी भेद न होनेपर भी साधनके भेदसे उनमें भेद है। साध्यका स्वरूप तथा साधन-प्रणाली रुचि, भाव, अधिकारके अनुसार विभिन्न प्रकारकी हुआ करती हैं और होनी चाहिये। सारी साधन-प्रणालियोंको एक करनेकी चेष्टा तो व्यर्थ प्रयास या पागलपन है। कोई कहे कि दक्षिणके कन्याकुमारी, उत्तरके बदरिकाश्रम, पूर्वके आसाम-प्रान्तीय शिवसागर और पश्चिमके काश्मीर—सभी जगहके लोगोंको काशी आनेके लिये शुरूसे एक ही मार्ग ग्रहण करना चाहिये, तो वह जैसे पागल है, वैसे ही सब साधन-प्रणालियोंको—साधन-मार्गोंको एक करनेकी कहनेवाला भी समझदार नहीं है।

याद रक्खो—सौम्य प्रकृतिवाला पुरुष कभी कराली काली, छिन्नमस्ता, भगवान् नृसिंह, प्रलयंकर शंकर आदिकी उपासना नहीं कर सकता और क्रूर प्रकृतिवाला व्यक्ति मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर, हंसवाहना सरस्वती, शान्त सदाशिवकी उपासना नहीं कर सकता। उपासकोंके प्रकृति और रुचिभेदके अनुसार ही उपासनाका स्वरूप होता है। परमात्मा एक ही है, इसीसे किसी भी नाम-रूपसे सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि, सर्वरूप, सर्वातीत सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेवाला एक ही सत्यतत्त्वकी उपासना करता है।

याद रक्खो—जो मनुष्य अपनी प्रकृति तथा रुचिके विरुद्ध दूसरे इष्ट या साधन-प्रणालीको स्वीकार करता है, वह सफल नहीं होता और जो लोग किसी एक साधनपथपर चलनेवाले व्यक्तिको उस पथसे हटाकर उसकी पद्धतिके विपरीत दूसरे पथपर घसीटनेका प्रयास करते हैं, वे उसका अहित ही करते हैं। इससे वह पथभ्रष्ट हो जाता है, नये पथपर चल नहीं सकता और अकर्मण्य होकर जीवन नष्ट कर देता है। अतएव अपने-अपने पथपर चलते रहो और दूसरे-दूसरे पथों-पर चलनेवालोंके लिये भी यही समझो कि ये सभी पृथक्-पृथक् मार्गोंसे हमारे ही प्रभुके धामकी ओर जा रहे हैं। न किसीसे घृणा-द्वेष करो, न किसीको नीचा समझो, न किसीको उसके सन्मार्गसे हटानेका यत्न करो और न स्वयं ही किसी दूसरे मार्गकी ओर लुभाकर अपने मार्गको छोड़ो।

याद रक्खो—विभिन्नतामें ही प्रभुके संसारकी शोभा है। विभिन्नता कभी मिट नहीं सकती। अपने-अपने साधनपथपर चलकर इस विभिन्नतामें नित्य एकताको देखने और सारी विभिन्नताओंके आत्मा—मूल एक परमात्माको प्राप्त करनेमें ही मानव-जीवनकी चरम और परम सफलता है।

'शिव'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपने अपने जीवनका हाल लिखा और अपने पिताजीके कठोर स्वभावकी बातें लिखीं, सो सब बातें मालूम हुईं । इस परिस्थितिमें आपने अपना कर्तव्य पूछा, सो अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे लिख रहा हूँ ।

मनुष्यको चाहिये कि किसीके अवगुण और कर्तव्य-पालन न करनेकी ओर न देखे, अपना कर्तव्य-पालन करता रहे और दूसरेसे किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा न करे । ऐसा करनेसे वह अपने साथियोंके मनको भी बदल सकता है और सबका प्रेम प्राप्त कर सकता है । अतः आपको चाहिये कि आप अपने पिताजीके दोष न देखें । ऐसा समझें कि यह परिस्थिति मुझे भगवान्‌की कृपासे संसारमें वैराग्य उत्पन्न करने और घरवालोंसे मोह छुड़ानेके लिये मिली है, अतः मुझे पिताजीपर क्रोध या घृणा नहीं करनी चाहिये । नित्यप्रति उनको प्रणाम करना चाहिये । उनकी आज्ञाका पालन और सेवा करनी चाहिये । हर प्रकारसे उनको सुख देना चाहिये । वे क्रोध करें, कठोर वचन कहें तो उनको सहन करना चाहिये तथा बड़े नम्र शब्दोंमें उनसे प्रार्थना करनी चाहिये । उनके क्रोधके कारणको जानकर भविष्यमें उनके क्रोधका कारण नहीं बनना चाहिये । जिस प्रकार उनके क्रोधका नाश हो, उनको शान्ति मिले, वैसी ही चेष्टा करनी चाहिये । पुरानी घटनाओंको याद नहीं करना चाहिये । उन घटनाओंका चिन्तन करनेसे मनमें विकार उत्पन्न होगा, लाभ कुछ भी नहीं होगा; अतः उनको भुला देना चाहिये ।

(२)

सप्रेम राम-राम । आपका पत्र मिला । हमने आपके पत्रका उत्तर विस्तारसे दिया, इससे आपको बहुत ही संतोष तथा आनन्द प्राप्त हुआ, सो आपके प्रेम और भावकी बात है ।

आपने लिखा कि मेरा पूर्वसंचित कर्म पापमय ही रहा है, इसी कारण भगवान्‌ने बचपनसे ही रोग दे दिया । सो अवश्य ही ऐसा रोग पूर्वकृत कर्मका ही फल है । पर इससे तो कर्मका ऋण ही उतर रहा है, यह अच्छा ही हो रहा है । आपने यह भी लिखा कि मेरे क्रियमाणमें भी खोटे ही कर्म अधिक बने हैं, और भी बन रहे हैं; सो अब खोटे कर्मोंको नहीं बनने देना चाहिये । पहले जो खोटे कर्म बन चुके हैं, उनके लिये भगवान्‌से रो-रोकर क्षमा माँग लेनी चाहिये एवं भविष्यमें खोटे कर्म बिल्कुल न करनेका दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये । साथ ही अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये उनके भजन-ध्यानमें तत्परतासे लग जाना चाहिये । पहले किसीसे चाहे बड़े-से-बड़ा पाप क्यों न बन चुका हो, परंतु जो भविष्यमें पाप न करनेका निश्चय करके भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर हो जाता है, वह उस पापसे रहित होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है । गीता-तत्त्वाङ्क (तत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ९, श्लोक ३० और ३१ की व्याख्या देखनी चाहिये । भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें ही सब बातें बतायी हैं । अतः आपको आशावादी होकर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये ।

आपने आगे जाकर लिखा कि 'आपके सत्सङ्गकी बातें सुनकर अच्छी राहकी ओर चलनेका प्रयत्न करता

हूँ, किंतु पूर्वके संस्कार बाधा डालते हैं, सो ठीक है। इसके लिये आपको हठपूर्वक नित्य-निरन्तर श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावसे जप-ध्यान करते रहना चाहिये। इस प्रकार करते-करते पूर्वके संस्कार धीरे-धीरे बिल्कुल समाप्त हो सकते हैं।

सत्सङ्गसे भगवान्‌को प्राप्त करना ही मुख्य काम समझकर साधनोपयोगी साहित्यका संग्रह करके आपने अपने मनसे ही साधन करना शुरू कर दिया, सो अच्छा ही किया। इस समयकी साधनसम्बन्धी स्थिति यह लिखी कि न तो ठीक साधनका ही निर्माण हुआ और न इन्द्रिय तथा मन ही वशमें हुए, सो इन्द्रिय तथा मन वशमें न होनेके कारण ही साधनके होनेमें कमी रह रही है। अतः गीता (अ० ६ श्लोक ३५) के अनुसार इन्द्रिय एवं मनको अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये। भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक पदार्थमें मन-इन्द्रियाँ जायँ तो उसको नाशवान्—क्षणभङ्गुर समझकर उसमें रमण नहीं करना चाहिये। (गीता अ० ५ श्लोक २२ देखें) भगवान्‌के सिवा सब वस्तुओंमें रागके अभावका नाम ही 'वैराग्य' और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जप-ध्यानकी सतत चेष्टाका नाम ही 'अभ्यास' है।

भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर आपको विश्वास है, सो बहुत ही उत्तम बात है। आपने यह भी लिखा कि 'भगवान् कृपा तो करेंगे ही, अतः मैं मनमानी कर लिया करता हूँ', सो आपको मनके वशमें होकर मनमानी क्रिया नहीं करनी चाहिये। यही पतनमें हेतु है। मनको अपने वशमें करके भगवान्‌के आदेशानुसार साधन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

आपने लिखा कि मैं सोचता तो बहुत हूँ, किंतु कुछ भी कर नहीं पाता, सो इसमें आपके श्रद्धा और विश्वासकी कमी है; अतः श्रद्धा-विश्वास बढ़ाना चाहिये। श्रद्धा-विश्वास बढ़नेपर साधनमें तीव्रता हो सकती है।

आपने लिखा कि मेरी वासनाएँ अभी शान्त नहीं हुई हैं, सो इसके लिये संसारके पदार्थोंमें दुःखबुद्धि, अनित्यबुद्धि एवं त्याज्यबुद्धि करके उनसे वैराग्य करना चाहिये।

आप दिन तथा रातके समय नींदके सिवा सदा भगवान्‌के नामका जप करते रहते हैं, सो उत्तम बात है। उस समय आपका मन इधर-उधर भटकता रहता है, सो भगवान्‌का नाम लेनेमें रसानुभूति करनी चाहिये। जब जप करनेमें एक प्रकारका रस आने लग जायगा, तब अपने-आप ही इस काममें मन लग सकता है।

जप किस मन्त्रका किया जाय, इस बातको लेकर आपके मनमें जो भिन्न-भिन्न शङ्काएँ उठती हैं, सो ऐसा होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मन्त्र-दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा, सो दीक्षा देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मेरा अधिकार ही है। हाँ! मित्रता एवं प्रेमके नाते मैं आपको सलाह दे सकता हूँ। कलियुगमें षोडश नाम-मन्त्रकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा आती है।

अतः आपको—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस षोडश नाम-मन्त्रका जप अधिक-से-अधिक संख्यामें करना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें रामनामकी विशेष महिमा गायी है। आपकी श्रद्धा एवं रुचि रामनामपर हो तो केवल 'राम' नामका जप कर सकते हैं।

'आप किस मन्त्रका जप करते थे' पूछा, सो ठीक है, किंतु यह व्यक्तिगत बात है। अपना जप-मन्त्र गुप्त ही रखना चाहिये; अतः लिखनेमें असमर्थता है। आपके लिये षोडश नाम-मन्त्र या रामनाम ही ठीक है। आप इनमेंसे किसीका जप कर सकते हैं।

आपने अपनेमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति आदि सबका

अभाव लिखा, साथ ही भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा भी लिखी, सो यह इच्छा करना बहुत उत्तम है। इस इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये। जब भगवान्‌के मिले बिना रहा ही न जाता, तब अविलम्ब ही भगवान् प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दे सकते हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। केवल भगवान्‌को प्राप्त करनेकी सच्चे मनसे तीव्र इच्छा होनी चाहिये; फिर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम अपने-आप ही हो जाते हैं।

वेद, उपनिषद् और यज्ञमें यज्ञोपवीतधारी द्विजातिका ही अधिकार है। इनमें शूद्र और स्त्रियोंका अधिकार नहीं है।

आप क्षत्रिय हैं, आपके अभीतक यज्ञोपवीत नहीं हुआ है तो यज्ञोपवीत-संस्कार करा लेना चाहिये।

xxx यह आपका लिखना ठीक ही है कि सत्सङ्गके बिना शिथिलता आ जाती है। इसीलिये वर्षमें चार मास ऋषिकेशमें सत्सङ्गका आयोजन किया जाता है।

आपने अपनेपर कृपा करनेके लिये लिखा, सो हमारेमें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ? कृपा तो भक्तवत्सल, कृपानिधान भगवान् ही कर सकते हैं और उनकी कृपा सबपर है ही। जो अपनेपर जितनी कृपा माने, वह उतना ही लाभ उठा सकता है; अतः अपनेपर उनकी अधिक-से-अधिक कृपा माननी चाहिये। भगवान्‌की कृपाका वर्णन करते हुए आपने स्वयं लिखा कि अत्यन्त पापी होते हुए भी मुझे भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया और इसपर भी कृपा करके सत्सङ्ग प्राप्त करा दिया, मोक्षकी इच्छा भी जाग्रत् कर दी तथा साधन भी मालूम करा दिये एवं रात-दिन कृपाकी वर्षा करते ही रहते हैं, सो आपका इस प्रकार मानना बहुत ही उत्तम है। अबतक इतना होते हुए भी ठीक रास्तेपर न आ सकनेका कारण पूछा, सो कारण तो श्रद्धाकी कमी ही है। भगवान्‌की कृपाविषयक जो बातें आपने लिखी हैं और मैंने उद्धृत की हैं, उन बातोंपर आपका दृढ़ विश्वास होना चाहिये। श्रद्धा और विश्वास होनेपर सारी कमियोंकी पूर्ति हो सकती है। भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका हेतु अश्रद्धा ही है। इसके लिये शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरण लेकर उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे साधनमें लग जाना चाहिये; फिर उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

(३)

सादर हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। कीर्तनमण्डलियोंका तो एकमात्र उद्देश्य भगवन्नामप्रचार होना चाहिये, उसमें वाद-विवादको स्थान कहाँ? वाद-विवाद तो वहीं होता है जहाँ प्रचारका उद्देश्य अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना हो या लोगोंको रिझाकर उनसे कुछ प्राप्त करना हो। जिस मण्डलीका ऐसा उद्देश्य है, वह कहनेके लिये कीर्तन-मण्डली भले ही हो, पर वास्तवमें उसे सङ्गीत-मण्डली कहना चाहिये।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) कीर्तन देवालयमें न होकर घरमें हो तो भी कोई हर्ज नहीं है। कीर्तनके साथ मानसकी चौपाइयोंका बोलना भी उत्तम है, पर चौपाई भावपूर्ण हों। चौपाईके साथ कजली आदिकी तुक न लगाकर 'जय सीताराम' आदि भगवन्नामकी तुक लगानी चाहिये; क्योंकि कीर्तन तो वास्तवमें भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका ही करना है। राग-रागिनी मात्रका नाम कीर्तन थोड़े ही है, उसका नाम तो संगीत है।

(२) रामायण बोलते-बोलते थक जानेपर विश्राम लेना तो कोई बुरी बात नहीं है, पर विश्रामके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ही चर्चा होनी चाहिये, व्यर्थ बातों या बाजोंकी धुनमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये। रामायणकी जिन चौपाइयोंको बोला जाय, उनके अर्थपर विचार-विमर्श हो तो वह और भी अच्छा है।

(३) रामायण और कीर्तनके समय यदि पेशाबकी

हाजत हो जाय तो बाहर जाकर पेशाब कर आना कोई बुरी बात नहीं है । धूम्रपान तो वस्तुतः तामसी ही है, उसका तो त्याग ही उत्तम है । बाहर जाते समय सभ्यतापूर्वक चुपकेसे जाना और आना चाहिये, जिससे बैठे हुए लोगोंमेंसे किसीको भी न तो कष्ट हो और न किसीका अपमान ही हो ।

(४) कीर्तनके साथ सिनेमाके गानेका सम्बन्ध कतई नहीं जोड़ना चाहिये । जिस मण्डलीका उद्देश्य भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका कीर्तन करना है, उसे विषयवासनाको बढ़ानेवाले गाने और रागोंकी क्या जरूरत ? उसे तो भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेवाले भावपूर्ण गाने गाना चाहिये । वे यदि पूर्वके संतोंके द्वारा रचे हुए हों तब तो बहुत ही ठीक है और यदि किसी वर्तमान अनुभवी संतके बनाये हुए हों तो भी अच्छा ही है । विषयासक्त लोगोंके कहने या दबाव डालनेपर अपने उद्देश्यके विपरीत गाना गानेकी कोई जरूरत नहीं है ।

(५) कीर्तनके बीचमें यदि कोई दूसरा व्यक्ति सिनेमाका गाना आरम्भ कर दे तो उसे नम्रतापूर्वक अवश्य रोक देना चाहिये । साँवलियाका अर्थ श्रीकृष्ण लगाना कोई अनुचित नहीं है, पर गानेका भाव दूषित और कामोत्तेजक हो तो नहीं गाना चाहिये ।

(६) कीर्तनसमाजके सदस्यका कीर्तन समाप्त होनेके पहले बीचमें सिनेमाका गाना आरम्भ कर देनेवाले-को रोकना अनुचित नहीं है । पर वह रोकना सभ्यता, विनय और प्रेमके साथ शान्तिपूर्वक होना चाहिये, अपमानपूर्वक या द्वेषकी भावनाको लेकर नहीं ।

(७) शास्त्रीय इतिहासके आधारपर किसी भक्तकी गाथा गीतके रूपमें रची गयी हो और उसका भाव भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेमें सहायक हो तो उसका गाना अनुचित नहीं है । उसको कीर्तनका रूप भी दिया जा सकता है, यदि उसमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और गुण-प्रभावका वर्णन हो ।

(४)

आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आगे पत्रके अन्तमें लिखा है कि इस पत्रका उत्तर जयदयालजी गोयन्दका ही दें, इसलिये आपको ज्ञात कराया जाता है कि मैं पत्रका उत्तर स्वयं नहीं लिख सकता, मेरी आँखें कमजोर हैं और समय भी कम मिलता है । उत्तर दूसरोंसे लिखवाकर उसे सुन लिया करता हूँ, अतः इसीसे आप-को संतोष करना चाहिये ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

पुराणोंमें देवताओं और अन्य महान् व्यक्तियोंके जन्म तथा चरित्रोंमें उनकी कथाओंमें बहुत हेर-फेर आता है, यह बिल्कुल ठीक है तथा आलोचकोंने मनुष्य-जातिको नास्तिकताकी ओर खींचनेका प्रयत्न किया, यह भी ठीक है । भगवान्‌की माया दुस्तर है, यह भी आपका कहना ठीक है । कुछ महानुभावोंने जो इसका उत्तर कल्पभेद-से बताया, उनका कहना भी निराधार नहीं है ।

आपने इस विषयमें यह शङ्का की कि यदि कल्प और युगका भेद है तो उनके पूर्वजों एवं अन्य परिजनों-में भेद क्यों नहीं हुआ, सो उन सबमें भी भेद हुआ है, नामभेद कम है, पर व्यक्तिभेद बहुत है । रामका अवतार प्रत्येक त्रेतायुगमें हो यह कोई निश्चित नहीं है, परंतु बहुत-से त्रेतायुगोंमें रामका अवतार हुआ हो और उनकी कथाओंका मिश्रण हो गया हो, इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । तुलसीदासजीने तो स्पष्ट ही कहा है कि मैंने यह कथा भिन्न-भिन्न पुराणोंमेंसे संकलित करके लिखी है, अतः इसे सुनकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये ।

इसी प्रकार अपनी-अपनी रुचिके अनुसार पूर्वके कवियोंने ये कथाप्रसंग लिखे हों और रुचिभेदके अनुसार कथाभेद हो गया हो तो ऐसा होना भी असम्भव नहीं है ।

भागवतमें चौबीस अवतारोंके वर्णनमें व्यासावतारका वर्णन तो कृष्णावतारके समय आता है और शान्तनु-की स्त्री सत्यवतीकी कुमारी-अवस्थामें, जब उसका नाम मत्स्यगन्धा था, पराशरजीके सकाशसे वेदव्यासजीका जन्म हुआ था। रामावतारसे पहले जो यह कथा आती है कि व्यासजीके भेजे हुए शुकदेवजी जनकके यहाँ गये हैं, वहाँ व्यास-जन्मकी कथा किस प्रकार आती है आपको मालूम हो तो लिखें। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि त्रेताके और द्वापरके व्यासजी अलग-अलग थे।

महाभारतमें जो परशुरामद्वारा सर्वस्व-दानकी कथा है वह किस कालकी और कहाँकी है, यह देखना चाहिये। महाभारत, वनपर्वमें तो रामावतारकी भी कथा आती है, वह त्रेतायुगमें प्रकट हुए रामचन्द्रजीकी ही है, द्वापरकालका चरित्र नहीं है, त्रेतायुगकी घटनाका वर्णन है।

गुरु द्रोणाचार्यने परशुरामजीसे बाणविद्या सीखी, भीष्मजीने भी उनसे बाणविद्या सीखी, यह तो ठीक है; पर इससे उन्होंने जो बहुत पहले इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया था और पृथ्वीको दानमें दे दिया था, उससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने जो कश्यपजी-को पृथ्वीका दान किया था, यह घटना रामावतारके भी पहलेकी है। उसका उल्लेख महाभारतमें होनेसे वह द्वापरकी घटना नहीं हो जाती।

भगवान् रामके विवाहके बाद परशुरामजी तपके लिये महेन्द्राचलपर चले गये थे, इसमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि उनके सर्वस्व-दानवाली घटना तो उसके भी पहलेकी है।

रामचरितमानसमें जो सतीके सीताका रूप बनानेकी कथा है, वह बहुत पुरानी कथा है—यह वहाँके वर्णनसे ही स्पष्ट है। वर्तमान कलियुगके पहले जो द्वापर और त्रेतायुग हुए हैं, उनकी वह कथा नहीं है; क्योंकि उसके बाद तो शिवजीकी समाधि बहुत कालतक रही। फिर सतीका जन्म पार्वतीके रूपमें हुआ, शिवजीसे उसका विवाह हुआ। उसके बाद काकभुशुण्डिका प्रसङ्ग आरम्भ करके शिवजीने रामकथा पार्वतीको सुनायी। काकभुशुण्डिको कितने कल्प बीत चुके, इन सब बातोंसे सतीका दग्ध सत्ययुगमें होना विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि त्रेताके बाद द्वापर, कलियुग व्यतीत होनेपर जो सत्ययुग आया उसमें सती-दग्ध हुआ है, यह भी वहाँके प्रसंगसे स्पष्ट होता है।

अन्तमें आपने लिखा कि वर्तमान युगमें कई ऐसे भक्त हो चुके हैं तथा अभी भी मौजूद हैं जिनको भगवान्के दर्शनोंका अवसर प्राप्त हुआ है तो क्या वे लोग इन प्रश्नोंका सही उत्तर उनसे प्राप्त नहीं कर सकते? सो इसका उत्तर कौन दे? मेरी समझमें यह आता है कि जिनको भगवान्की मधुर-मूर्तिका दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाय, वे तो उनके प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते हैं कि उनके मनमें तो ऐसी शंकाएँ पैदा ही नहीं होतीं, फिर पूछे कौन?

जो लोग ऐसा दावा करते हैं कि अमुक देवताको मैंने वशमें कर लिया है, उनमें अधिक लोग तो ठग होते हैं, जो भोले भाइयोंको भ्रममें डालकर ठगते रहते हैं। इसके सिवा जो देवता मनुष्यके वशमें हो जाता है, वह बेचारा इन प्रश्नोंका उत्तर ही क्या देगा? उसको पता ही क्या? क्योंकि वह सर्वज्ञ तो होता ही नहीं; पितरोंकी सामर्थ्य तो बहुत कम होती है।

(५)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, सो किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये।

(१) मनुष्य-शरीर मिलना बड़ा कठिन है। यह आपका लिखना ठीक है। इस बातको समझकर मनुष्यको चाहिये कि इस अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे।

(२) आपकी परिस्थिति, अवस्था आदि सभी बातें मालूम हुईं। यदि आपको घरका झगड़ा मिटाना है, सबके साथ प्रेम करना है तो आपको चाहिये कि किसीसे भी अपने मनकी बात पूरी करनेकी आशा न रक्खें। किसी-पर भी अपना कोई अधिकार न मानें। घरवालोंके जो मनकी बात धर्मानुकूल हो, जिसको आप कर सकते हों, उसे पूरी करनेमें गलती न करें। बड़े उत्साह, प्रेम और परिश्रमके साथ उनके मनकी बात पूरी करते रहें। दूसरा कोई अपना कर्तव्य पालन करता है या नहीं, उसकी ओर न देखें। किसीके भी दोष न देखें। जो कोई आपके प्रतिकूल व्यवहार करे उसे भगवान्‌का कृपायुक्त मङ्गलमय विधान मानें, दूसरे किसीका भी दोष न समझें। अपना कर्तव्य पालन करनेमें न तो आलस्य करें, न प्रमाद करें। ऐसा करनेसे सबसे आपका प्रेम हो सकता है। आसक्ति और ममता मिट सकती है। परम शान्ति और परम सुख भी मिल सकते हैं।

(३) यदि आप अपना उद्धार चाहते हैं तो एकमात्र प्रभुको ही अपना मानना चाहिये। भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना परम सुहृद् मानकर उनपर निर्भर हो जाना चाहिये तथा निरन्तर उनका ही भजन-स्मरण करना चाहिये एवं जो कुछ करे उसे उनका ही काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

(४) पण्डितजीने आपको जो एक श्लोक लिखकर दिया है वह भी ठीक है। शिवकी उपासना करनेके लिये चल सकता है पर साथ ही यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि शिवजी ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं।

(५) आप कल्याणके ग्राहक हैं, रोज पढ़ते हैं सो अच्छी बात है। उसमें लिखी हुई बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, जिनपर आपका विश्वास हो, जिनमें रुचि हो, जिन्हें आप पालन कर सकें उन्हें काममें लावें और अपना जीवन साधनयुक्त बनावें। तभी मनुष्यजीवन सार्थक हो सकता है।

(६) भगवान्‌का भजन ध्रुवकी भाँति वनमें जाकर ही करना पड़े, ऐसी बात नहीं है। प्रह्लादकी भाँति कठिन गृहस्थमें रहकर भी भजन किया जा सकता है। भगवान्‌पर विश्वास हो और भजन करनेकी तीव्र इच्छा हो तो अम्बरीषकी भाँति घरमें रहकर भजन बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

(७) सत्सङ्ग करनेके लिये पिताजीकी आज्ञा न मिलनेके कारण ऋषिकेश न आ सके, तो कोई बात नहीं। इसके लिये विचार नहीं करना चाहिये। जब उनकी आज्ञा मिले तभी आना चाहिये। नहीं तो, वहीं रहकर 'कल्याण' और अच्छी पुस्तकोंद्वारा ही सत्सङ्गका लाभ उठाना चाहिये।

(८) गया हुआ समय लौटकर नहीं आता, यह सर्वथा सत्य है।

(९) अपनेको नीचा समझना, किसी प्रकारके गुणका अभिमान न करना बहुत अच्छा है।

(१०) भगवान्‌की कृपा तो सदैव सबपर है, जो जितनी मानता है उतना लाभ उठा लेता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् न हों।

(११) नाम-जप करते हुए भी भगवान्‌में प्रेम न होनेके कारण उनमें श्रद्धा तथा अपनत्व नहीं-जैसा है। आप उनके अतिरिक्त संसारको और शरीरको अपना मानते हैं, इसी कारण उनमें आसक्ति हो रही है। प्रेम बहुत जगह बँट गया है।

(१२) व्यर्थ स्वप्न न आवे, इसके लिये शयन करते समय भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए शयन करना बहुत अच्छा है।

(१३) गीता-पाठ, रामायणपाठ आदि सभी नित्य

कर्म मन लगाकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करना चाहिये, जिससे उसकी अवहेलना न हो।

(१४) आपको तीर्थ-भ्रमणसे शान्ति नहीं मिली, इसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि एक तो आप घरवालोंसे पूछकर नहीं गये, दूसरे तीर्थोंमें उतनी श्रद्धा नहीं रही। भगवान्का भजन-स्मरण विश्वासपूर्वक किया जाय और माता-पिताकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक की जाय, बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारकी कामना न की जाय तो शान्ति मिल सकती है।

(१५) हिमालय जानेपर भी आपका मन तो आपके साथ ही रहेगा। वहाँ भी सब बात आपके मनकी हो और कोई आपको नहीं सताये, ऐसी बात नहीं है। प्रतिकूलता सब जगह रहेगी ही।

(१६) आपने फोटो मँगवाया, सो मैं न तो फोटो उतरवाया ही करता हूँ और न किसीको भेजता ही हूँ; अतः इसके लिये कृपापूर्वक क्षमा ही करनेकी कृपा करें।

(१७) भगवान्के दर्शन होनेमें विलम्ब हो रहा है, इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा-प्रेमकी कमी। भगवान्के गुण-प्रभाव, तत्त्व-रहस्य-लीला-धामकी बातें सुनने और उनका मनन करनेसे ही भगवान्में प्रेम हो सकता है। प्रेमसे ही भगवान् प्रकट होते हैं।

हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

भगवान्के जबतक दर्शन नहीं होते, तबतक कमी-ही-कमी है। भगवान्के दर्शन न हों तो हृदयमें व्याकुलता हो जानी चाहिये। जिस क्षण ऐसी स्थिति हो जायगी कि भगवान्के बिना रहा नहीं जा सकेगा, उसी क्षण भगवान्के दर्शन हो सकते हैं।

(१८) प्रतिदिन क्या दान करना चाहिये— सो अपनी सामर्थ्यके अनुसार दान किया जा सकता है। गरीबों-अनाथों आदिकी निष्कामभावसे सेवा करना ही सबसे बड़ा दान है।

सबसे हरिस्मरण !

प्रेम-द्वादशी

मैं काकौं जानौं नहीं, ना मोहि जानै कोय।
तुम सों प्रीति लगी रहै, हम तुम जानैं दोय॥
प्रेम हृदै कौ गुपुत धन, परम अमोलक सोय।
विविध जतन करि राखिये ताहि हृदै महँ गोय॥
प्रेम अनन्य बिसुद्ध अति नित्य अखंड असेष।
प्रतिपल बढ़िबो ही करै अनुभव-रूप बिसेष॥
गोपन अति गति प्रेम की हिय महँ रहै सुभाय।
ज्यौं व्यापक सर्वत्र हरि बाहेर कछु न जनाय॥
प्रेम अगाध उदधि सरिस अतिसय तल गंभीर।
बिरलै पहुँचै अतल तल, ठाढ़ रहैं सब तीर॥
प्रेमोदधि के अतल तल, जे जन पहुँचे जाय।
ते नहिं उछलत कबहुँ फिरि रहत निमग्न सदाय॥

छुद्र सरित तनि पाइ जल उमगत बढ़त गुमान।
सब सरितन कौं नीर भरि बढ़त न जलधि अमान॥
छलकै मुलकै प्रीति जो ताकी हलकी जाति।
उच्च प्रेम गंभीर अति अमित उदधि की भाँति॥
अति पवित्र अति ही विमल विषय-बासना-हीन।
मोह-मैल नहिं रहत तहँ करि पावत न मलीन॥
विषय-बासना जो बसी आइ हृदै के बीच।
तहाँ प्रेम नहिं जानिये, रह्यो काम-अरि नीच॥
जोगसिद्धि अरु ब्रह्म-पद गति न चहै निर्बान।
इंद्रिय-सुख कौं गनै को तम जिमि उदये भान॥
विषय-बासना अंधतम जहँ न अमा निसि होत।
परम समुज्ज्वल प्रेम-रबि तेहि घट परगट होत॥

श्रीश्रीपुरुषोत्तम

(लेखक—आचार्य श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन कहीं-कहीं श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' नामसे सम्बोधित करते हैं। इस सम्बोधनका कोई अर्थ है ? कोई विशेष उद्देश्य है ? अथवा नाम लेना है तो कोई नाम ले लिया ? श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इसका अर्थ है; गीतामें एक भी शब्द व्यर्थके लिये नहीं व्यवहार किया गया है।

यह शब्द गीतामें सबसे पहले प्रयोग किया गया है अष्टम अध्यायके प्रथम श्लोकमें, जहाँ अर्जुन कहते हैं—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

इस पदकी व्याख्यामें मधुसूदन लिखते हैं—जिस ब्रह्मको 'ज्ञेय' कहकर निर्देश किया गया है वे कैसे हैं—सोपाधिक या निरुपाधिक ? आत्मा अर्थात् देहको अवलम्बनकर उसी देहरूप अधिष्ठानमें जो रहता है वह अध्यात्म क्या है ? 'अध्यात्म' कहनेसे श्रोत्रप्रभृति इन्द्रियसमुदाय समझा जाय, या प्रत्यक्-चैतन्य (जीवात्मा) समझा जाय। 'अखिल कर्म'से इस जगहपर किस कर्मका उद्देश्य है, वह यज्ञ है या और कुछ ?—इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान् कहीं यह न कह दें कि 'तुम जैसे हो मैं भी तो वैसा ही हूँ, तो तुम मुझसे क्यों प्रश्न करते हो ?' ऐसी शङ्काको दूर करनेके लिये अर्जुन पहले ही कहते हैं—'हे पुरुषोत्तम !' इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि 'आप सब पुरुषोंसे उत्तम हैं, श्रेष्ठ हैं, सुतरां आप सर्वज्ञ हैं, आप न जानते हों ऐसी कोई बात ही नहीं है।'

फिर यह शब्द आता है अध्याय १० श्लोक १५ में—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

मधुसूदन इसका अर्थ लिखते हैं—सोपाधिक और निरुपाधिक उभय प्रकारका जो आपका स्वरूप है, उसे आप स्वयं ही जानते हैं। दूसरा कोई—न देव, न दानव आपके स्वरूपको जान सकता है। श्रीकृष्ण पूछ सकते हैं कि 'दूसरेके लिये जिसका जानना असम्भव है, मैं उसे कैसे जान सकता हूँ ?' ऐसा प्रश्न उठनेके पहले ही अर्जुन कहते हैं—'हे पुरुषोत्तम !' अर्थात् सब ही आपसे निकृष्ट हैं, उनके लिये आपको जानना असम्भव है; परंतु आप सर्वोत्तम हैं, इसलिये आपका जानना अवश्य सम्भव है। श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं—इस बातका समर्थन करनेके लिये उनको और चार पदोंसे सम्बोधित करते हैं—'हे सब भूतोंके पिता ! सब प्राणियोंके नियन्ता ! सब देवताओंके आराध्य ! समस्त संसारके पालन-कर्ता पति !'—इन सब विशेषणोंसे विशिष्ट जो आप हैं, सो आप ही पुरुषोत्तम हैं।

इसके पश्चात् यह शब्द आता है अध्याय ११ श्लोक ३ में, वहाँ अर्जुन कहते हैं—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप अपनेको जिस प्रकार ऐश्वर्ययुक्त कह रहे हैं वह बात वैसी ही है। यद्यपि आपकी बातमें अविश्वासकी कोई आशंकातक नहीं है, तथापि हे पुरुषोत्तम ! मै स्वयं कृतकृत्य होनेके लिये आपका जो ऐश्वर रूप है, अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसम्पन्न जो रूप है उसे देखना चाहता हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और पुरुषोत्तम हैं। अर्जुनके कहनेका यह तात्पर्य है कि ऐश्वर्य वही दिखा सकते हैं जो परमेश्वर हैं; और पुरुषोत्तम कहनेसे यह सूचित होता है कि 'आपके वाक्योंका मुझे अविश्वास नहीं है और आपके ऐश्वर रूपके दर्शनका आग्रह है—यह तो आप जानते ही हैं; क्योंकि आप पुरुषोत्तम हैं।

अर्थात् सर्वज्ञ हैं ।'

इसके अनन्तर पञ्चदश अध्यायमें भगवान् 'पुरुषोत्तम-योग' की व्याख्या करते हैं, जिसमें 'पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' प्रधान विषय हैं । गीताशास्त्रमें पञ्चदश अध्याय 'गुह्यतम' शास्त्र है । पञ्चदश अध्याय गीता-ग्रन्थ-का मुकुटमणि है । इस अध्यायके प्रथम श्लोकके प्रथम शब्दमें इसके विषयका उपक्रम है । श्रीकृष्ण पहले ही कहते हैं 'ऊर्ध्व' अर्थात् उत्तम, यहाँपर तात्पर्य है उत्तम पुरुष, क्योंकि अव्यय अश्वत्थ वृक्षका मूल है पुरुषोत्तम । और उपसंहारमें है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

पुरुषोंमें जो उत्तम पुरुष हैं उनका परिचय देते हुए भगवान् अपना नाम 'पुरुषोत्तम'की निरुक्ति समझाते हैं और कहते हैं कि 'जो ज्ञानवान् मनुष्य उनको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ है; क्योंकि उनको जानना ही सब कुछ जानना है—

एके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।

इस अध्यायमें तीन पुरुषोंका उल्लेख आया है—

(१) क्षर पुरुष—जिन पदार्थोंका क्षय होता है उनको 'क्षर' पुरुष कहा है, जो विनश्वर और अनित्य हैं, नष्ट हो जानेवाले हैं । भगवान्ने अध्याय ८, श्लोक ४ में कहा है—'अधिभूतं क्षरो भावः' और यहाँ श्लोक १६ में कहा है—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' अर्थात् भौतिक पदार्थ समस्त भूतवर्ग 'क्षर' हैं । श्रीधर-स्वामी कहते हैं—'ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि' ।

(२) अक्षर पुरुष—जिस वस्तुका क्षय नहीं होता, जो अविनाशी है, वह 'अक्षर' पुरुष है । भगवान्ने इस-को 'कूटस्थ' कहा है, अर्थात् जिसमें कोई विकार नहीं होता, जो अपरिवर्तनशील है । यही क्षर पुरुषका उत्पत्तिस्थान है, इसमें उसका बीज निहित है, जिसका प्रवाह अनन्त होनेके कारण यह 'अक्षर' है । सो एक दृष्टिसे क्षर-पुरुष कार्य है और अक्षर-पुरुष कारण है ।

सप्तम अध्यायमें भगवान्ने दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है—एक 'अपरा' दूसरी 'परा' । यहाँ दो पुरुषों-का उल्लेख है—एक 'क्षर' दूसरा 'अक्षर' । एक दृष्टिकोणसे जो प्रकृति है, दूसरे दृष्टिकोणसे वही पुरुष है । भगवान्की शक्तिके जड और चेतनरूपमें अभिव्यक्ति-को 'प्रकृति' कहा है तथा विनाशी और अविनाशी पदार्थोंके दो विभागोंको 'पुरुष' शब्दसे अभिहित किया है । दोनों भगवान्की उपाधियाँ हैं । भगवान् दिव्य पुरुष हैं, उनकी उपाधियोंको भी पुरुष कहा है । एक 'क्षर पुरुष' जिनमें समस्त विनाशशील, अनित्य पदार्थ हैं, जो विकारसम्पन्न हैं; दूसरे 'अक्षर पुरुष' जो अविनाशी हैं, नित्य पदार्थ हैं ।

त्रयोदश अध्यायमें इन्हींका नाम 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' है । शरीरको क्षेत्र कहा है और यही क्षर पुरुष है तथा अक्षर पुरुष क्षेत्रज्ञ है, अर्थात् जीवात्मा है । कहनेके लिये तो जीवात्मा परमात्माका एक अंश है, परंतु परमात्मा अखण्ड चैतन्य सत्ता हैं, उनका अंश हो ही नहीं सकता । यह अंश उनकी माया-शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा हुआ है, जैसे महाकाशका अंश घटाकाश होता है । इसलिये 'कूटस्थ' का अर्थ 'मायामें स्थित' लिया जा सकता है ।

(३) उत्तम पुरुष—श्रीकृष्ण कहते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५ । १७)

अर्थात् उक्त कार्य और कारण स्वरूप दो पुरुषोंसे सम्पूर्ण विलक्षण और एक पुरुष हैं, जो 'उत्तम पुरुष' कहे जाते हैं। वे नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव चैतन्यस्वरूप हैं और 'परमात्मा' कहलाते हैं। वे भूः, भुवः, स्वः नामक त्रिलोकमें अनुप्रविष्ट होकर क्षेत्रज्ञरूपसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सबका नियमन और संरक्षण करते हैं; वे अव्यय हैं—सर्वविकारशून्य हैं; और ईश्वर हैं—सबके नियन्ता नारायण हैं ।

ये उत्तम पुरुषके लक्षण हैं; और उनके सत्यस्वरूप हैं स्वयं भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण । उन्होंने कहा है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५ । १८)

क्योंकि मैं नाशवान् भूतवर्ग क्षेत्र या अश्वत्थ नामक मायामय संसार-वृक्षसे सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी क्षेत्रज्ञ या मायामें स्थित जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये त्रिलोकमें और वेदमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ।

इस प्रकार अपने नाम पुरुषोत्तमका निर्वचन समझाकर उनके इस नामके ज्ञानसे क्या लाभ होता है सो दिखाते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(१५ । १९)

हे भारत ! जो मनुष्य असंशयचित्त होकर इस प्रकार तत्त्वसे मुझको पुरुषोंमें उत्तम—परब्रह्म—जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब भावसे—प्रेमलक्षणा भक्तियोगेन—मेरी आराधना करता है ।

'सब भावसे' भजन करनेका परिणाम आगे अ० १८ में श्रीकृष्णने सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

हे भारत ! उस परमात्मा पुरुषोत्तमकी ही स्वभावसे मनसा, कर्मणा, वाचा—अनन्य शरणको प्राप्त हो; उसके ही अनुग्रहसे परम शान्ति और नित्य धाम परम पदको प्राप्त होगा ।

उक्त तीन पुरुषोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें और एक पुरुषकी महिमा प्रकाश की गयी है । इस संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको वैराग्यरूप शस्त्रसे काटकर उस पुरुषकी खोज करना परम साधन है, क्योंकि इसी साधनसे मनुष्य पुनरावृत्तिसे छुटकारा पाता है । यह पुरुष संसारका निमित्तकारण है, इसलिये यह 'आदि पुरुष' है; और इसीकी किरणोंमें अव्यय अश्वत्थ वृक्ष फलता-फूलता—समृद्धिशाली होता है । भगवान्का उपदेश है कि साधन-तत्पर मनुष्यको संकल्पके सहित कहना चाहिये—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
(१५ । ४)

उसी आदिपुरुषके मैं शरणापन्न होता हूँ जिससे यह पुरातन संसारवृक्षकी उत्पत्ति और अभ्युदयका प्रवाह चला है । यह आदिपुरुष परम पद, परम धाम है; मनुष्यका प्राप्तव्य अव्यय पद है । भगवान् इसकी खोजके लिये कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥
(१५ । ४)

उसके उपरान्त—अर्थात् वैराग्यसे संसार-बन्धनको छिन्न करनेके उपरान्त, उस परम पदको अच्छी प्रकार—श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा खोजना चाहिये; क्योंकि उपनिषद्में कहा है—'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'—उसको खोजना है, उसको विशेषरूपसे जानना है । उस पदमें ज्ञानप्रभावसे प्रविष्ट होनेपर फिर 'पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्' नहीं प्राप्त होता है । अर्थात् वही 'शाश्वतम् पदमव्ययम्' लाभ होता है, जो पुरुषोत्तमके सर्वभावेन पूजनसे प्राप्त है । अतः आदि-पुरुष ही पुरुषोत्तम है ।

और एक महोदयके विचारके अनुसार विनाश या क्षरणभावात्मक जीव और क्षरण-हानि-भावात्मक सगुण-ब्रह्म या अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुषोंसे एकान्त विलक्षण, सर्वभावातीत परम तत्त्व पुरुषोत्तम हैं, ये ईश्वरके ईश्वर हैं, एवं परमात्मा नामसे प्रसिद्ध हैं । इन्हींके विषयमें उपनिषद्का प्रवचन है—

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।

सङ्गका प्रभाव

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

प्रभाव उसका पड़ता है, जिसका मूल्य अधिक बढ़ा दिया जाता है। मूल्य उसका बढ़ाया जाता है, जो अपने-आपको रुचिकर, प्रिय और सुखद प्रतीत होता है। इन्द्रियोंके माध्यमसे जो रुचिकर, प्रिय और सुखद लगता है, बुद्धिद्वारा विचार करनेपर वही अरुचिकर, अप्रिय और दुःखद सिद्ध हो सकता है। बुद्धिमान् पुरुष अपने ऊपर विवेक-बलद्वारा किसी भी विषय-सुख, वस्तु अथवा व्यक्तिका प्रभाव नहीं पड़ने देता; इसलिये वह किसीकी दासतामें नहीं बँधता। किसी भी मनुष्यपर जहाँतक सांसारिक सुख, वस्तु या व्यक्तिका प्रभाव पड़ चुका है, वहाँतक वह निस्संदेह लोभी, मोही तथा अभिमानी बन चुका है। इस तरहके प्रभावको मिटानेके लिये सद्गुरु महापुरुषका सत्सङ्ग करना चाहिये। महात्मा अथवा श्रद्धेय सद्गुरुका सत्सङ्ग करनेवालेको विचारपूर्वक देखना चाहिये कि यदि उसपर उनके बाह्य रूप तथा सुमधुर वाणीका प्रभाव है तो उनके दर्शनकी उसे बार-बार रुचि होगी; फलतः उनके शरीरसे उसका मोह होगा। चमत्कारों, वैभव अथवा विशाल आश्रमका प्रभाव पड़नेपर लोभकी पुष्टि होगी। बड़े-बड़े धनी-मानी शिष्योंको देखकर प्रभाव पड़ा है तो इससे अभिमान बढ़ेगा। वास्तवमें संत-महापुरुषोंके सत्सङ्गसे उनके तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमका प्रभाव पड़ना श्रेयस्कर है। सद्गुरु अथवा महात्माके सत्सङ्गसे यदि कोई तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी और निष्काम प्रेमी नहीं बन पाता तो समझना चाहिये कि उसे सद्गुरु, संत-महात्माका सत्सङ्ग मिला ही नहीं। महात्मा या गुरुके बाहरी रूप या बाह्य वेष तथा बाहरी बातोंसे मोहित होकर लोभी, मोही और अभिमानी बने रहनेवाले सहस्रों श्रद्धालु दीख पड़ते हैं; पर उनके तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमको महत्त्व देने और अपनानेवाले बिरले ही विवेकी पुरुष हैं। जो व्यक्ति महात्मा अथवा गुरुदेवके तपसे मुग्ध होगा वह अपने जीवनको अवश्य ही तपस्वी बनायेगा। तपकी पूर्णताके लिये वह सुखोपभोगमें अनुरक्त न होकर दूसरोंकी सेवा तथा स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहिष्णु बनेगा। त्यागसे मुग्ध होनेवाला शिष्य अपने जीवनको त्यागमय बनानेके लिये राग-द्वेष और क्रोध-मोह आदि दोषोंको छोड़ देगा और प्रेमी, उदार, दयालु, विनम्र और शान्त होता जायगा। ज्ञान और प्रेमका मूल्य बढ़ाकर गुरुभक्त बननेवाला शिष्य असत् भोग-सुखोंसे विरक्त रहकर केवल सत्यको देखेगा और उसीका प्रेमी बनेगा।

जिससे लोभ, मोह, अभिमान और ईर्ष्या-द्वेषादि विकार बढ़ते हैं वही असत् सङ्ग है। जिससे राग-द्वेष मिटते जायँ; दया, उदारता, निरभिमानता, निर्मोहता, सरलता, निर्भयता, निश्चिन्तता और निरपेक्षता बढ़ती जाय, वही उत्तम अथवा सत् सङ्ग है। जितनी अधिकतासे कोई सम्मानका रस लेता है, मायाके संग्रहसे संतुष्ट होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है, उतनी ही अधिक उसकी बुद्धि मलिन समझनी चाहिये। जितना अधिक तप तथा पुण्योंका योग है, उतना ही उत्कृष्ट भोग भी हो सकता है। यदि किसीको तप या पुण्यके फलसे अधिक धन-वैभव मिल गया और उसे उसके सदुपयोगका विवेक नहीं है तो उसका पतन दरिद्रता तथा विपत्तिकी ओर ही होगा। जो मनुष्य देखनेमें धनहीन है पर भीतर सद्गुणसम्पन्न—विवेकी है, वही वास्तवमें धनी है।

वही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करता है, जो तपस्या, त्याग और सेवाको शक्ति, अधिकार तथा कर्तव्य समझता है। वही मनुष्य सद्गुण अथवा दैवी सम्पत्तिका धनी है, जो दोषीके सामने पराजित नहीं होता—अपने सद्गुणयुक्त व्यवहारसे विचलित नहीं होता। जो

मनको संयममें रखता है—जिसके मनमें काम, क्रोध, लोभ आदिविषयक दुर्बलताएँ नहीं रहतीं वही मनुष्य बलवान् है। जिसके लिये दया तथा क्षमा करना सदा सहज स्वभाव बन गया है और प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्नता जिसका साथ नहीं छोड़ती, वही मनुष्य सच्चा प्रेमी है।

अनुभूतिके गहरे तलपर उतरकर इसी निश्चयपर पहुँचना पड़ता है कि असत् सङ्ग—दुर्गुण सर्वथा त्याज्य है; सत् सङ्ग—सद्‌गुण सर्वथा ग्राह्य है। तप, त्याग, क्षमा और प्रेमकी पूर्णताका प्राण सत्सङ्ग ही है; प्रत्येक क्षण जीवनपर सत्सङ्गका ही प्रभाव पड़ने देना चाहिये; यही श्रेय अथवा अपने कल्याणका सुगम और सहज मार्ग है।

सहानुभूतिके दो मीठे शब्द !

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

एक समय एक कवि (Charles Mackay) बहुत उदास था, कारण यह कि उसे रुपयोंकी बहुत आवश्यकता थी। एक धनी व्यक्तिको ज्ञात हुआ कि कवि बहुत आर्थिक संकटमें है। उसे अपने धनका बहुत गर्व था। अतः उसने अपने धनद्वारा कविकी सहायता की; पर उसने जो मदद की, वह असहानुभूतिपूर्ण और बिना मीठे शब्दोंके बोले हुए थी। आर्थिक संकट टलनेपर कविने उसे बहुत धन्यवाद दिया और रुपया वापस लौटा दिया। इस प्रकार वह धनी व्यक्तिकी उदारताके अहसानसे मुक्त हुआ।

कुछ समय पश्चात् वही कवि बीमार हुआ। उसके शरीरमें भयंकर पीड़ा थी, सिर दर्दसे फटा पड़ता था। वह शारीरिक और मानसिक पीड़ासे कराह रहा था। संयोगवश उसकी झोपड़ीके पाससे एक निर्धन व्यक्ति निकला। उसे कविकी बीमार अवस्थापर दया आ गयी। उसने उसके सिरको बाँधा, दबाया, प्यारसे दवा लगायी। रात-दिन रोगीकी शय्याके सिरहाने बैठकर सेवा-शुश्रूषा की। सहानुभूतिभरे मीठे-मीठे शब्द बोलकर पीड़ा कम की। उसके इस मधुर व्यवहार और सहानुभूतिपूर्ण प्रेम-चिकित्सा-से कवि स्वस्थ हो गया। कवि कहता है, 'प्रथम धनी व्यक्तिको रुपया वापस करके मैं उसके अहसानसे मुक्त हो गया था, पर इस दूसरे उदार निर्धन व्यक्तिके सहानुभूतिपूर्ण मीठे-मीठे शब्दोंका अहसान मैं कैसे चुकाऊँ? रुपया, सोना, हीरे, मोती बहुमूल्य हैं, परंतु ईश्वरकी देनके रूपमें मनुष्यके हृदयमें रहनेवाली यह दैवी सहानुभूति रुपये-पैसोंकी अपेक्षा कहीं महान् और प्रभावोत्पादक है। मानसिक रोगोंकी अमोघ औषध है।'

सहानुभूति वास्तवमें महान् दैवी औषध है। यह देनेवालेको और जिसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाता है, दोनोंको ही लाभ पहुँचानेवाली है। मनुष्यके गुप्त दुःखों, दलित इच्छाओं और मानसिक जटिलताओंका अन्त करनेवाली है।

वास्तवमें मानसिक क्षेत्रकी जटिलता, दुराव-छिपावसे बननेवाली मानसिक ग्रन्थियाँ और गुप्त दुःख ही हमारी निराशाके कारण हैं। हम दुखी इसीलिये रहते हैं कि मनमें व्यथाका भार छिपाये हुए हैं। हम अपनी परेशानियोंको जितना अधिक दूसरोंसे, समाजसे, अपने बड़े-बूढ़ों, बुजुर्गों, अफसरोंसे छिपाते हैं, उतनी ही जटिलता हमारे मानसिक क्षेत्रमें उत्पन्न होती जाती है। जैसे किसी वस्तुको छिपाकर अँधेरी कोठरीमें रखनेसे उसमें बदबू आने लगती है और वह सड़-गलकर नष्ट हो जाती है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, उसी प्रकार जिन गंदे विचारों, वासनाओं, ईर्ष्या, तृष्णा, द्रोह, चिन्ता, भय आदि विकारोंको आप छिपाकर रखते हैं, वे मानसिक जटिलता उत्पन्न करते हैं। दुराव-छिपाव मानसिक रोगोंको उत्पन्न करता

है। इसके विपरीत जो युग-युगसे छिपे मनके दुरावको दूसरोंके समक्ष खोल देता है, वह उतनी ही मानसिक शान्ति प्राप्त करता है। उसकी विचारधारा उतनी ही स्पष्ट और स्वस्थ होती जाती है।

मनुष्य अपने कुचिन्तन और दुरावद्वारा मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करता है। वास्तवमें जो बात छिपायी जाती है, वह स्वयं पापमय होती है। हम उसे छिपाते ही इसलिये हैं कि वह नीच है, झूठ है, पापमय है, दुष्कर्मोंसे संयुक्त है। हमारी अन्तरात्मा हमसे कहती है कि उसका फल दु:खदायी होगा। मनमें किसीके प्रति कटुभाव रखना एक खतरा है। चिन्ताके समान कोई अग्नि नहीं, द्वेषके समान कोई विष नहीं, क्रोधके समान कोई शूल नहीं, लोभके समान कोई जाल नहीं। ये दोष मनमें इकट्ठे होनेपर मनुष्य कुछ ही समयमें पापपङ्कमें डूब जाता है।

यदि मनुष्य अपने हृदयकी व्यथाको दूसरोंके समक्ष खोलकर रख दे और उनसे अपने कष्टोंके लिये थोड़ी-सी सहानुभूति पा ले तो उसे मानसिक शान्ति मिलती है। मित्र उसे दूषित भावनाओंसे बचाते हैं। कुचिन्तनकी शृङ्खला टूट जाती है और व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। जबतक मनुष्य अपनी मानसिक कठिनाइयोंको दूसरोंके समक्ष प्रकट करता रहता है, मित्रोंसे बातचीत करके सान्त्वना पाता रहता है, अपने-आपको समाजमें मिलाये रहता है, तबतक वे मानसिक जटिलता और परेशानीका कारण नहीं बनतीं; किंतु हम अपनी सभी भावनाओंको अपने मित्रोंके समक्ष प्रकट नहीं कर सकते; क्योंकि वे घृणित होती हैं। हमारी अन्तरात्मा कहती है कि वे उन्हें सुनते ही हमसे घृणा करने लगेंगे। इसी प्रकार हम अपने किये हुए गंदे कार्योंको दूसरोंसे कहते हुए डरते हैं। हम उन्हें दूसरोंके समक्ष स्वीकार करके हृदयका भार हलका कर सकते हैं; पर ऐसा उसीसे कर सकते हैं, जो हमारे साथ सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करे।

सहानुभूतिका अद्भुत कार्य ऐसे मानसिक रोगियोंमें स्वास्थ्य उत्पन्न करनेमें देखा जाता है। जो मानसिक चिकित्सक अपने मानसिक रोगियोंसे जितनी अधिक सहानुभूति दिखाता है, वह उतना ही उनका विश्वास प्राप्त कर लेता है और उसपर वे उतना ही अपना गुप्त पाप या दु:ख प्रकट कर देते हैं। चिकित्सक अपने मीठे-मीठे सहानुभूतिपूर्ण शब्दों और व्यवहारोंसे उन्हें दुश्चिन्तनसे हटाकर शुभ चिन्तनमें निमग्न करता है।

महात्मा बुद्धने एक बड़े पतेकी बात कही है, जिसको आप सहानुभूतिसे ही कार्यरूपमें परिणत कर सकते हैं। वे कहते हैं—

'ढके हुएको खोल दो, छिपे हुएको स्पष्ट कर दो, तो तुम अपने पापोंसे मुक्त हो जाओगे; क्योंकि छिपानेसे ही पाप लगता है, उघड़ा हुआ पाप नहीं लगता।'

मनुष्य अपनी गुप्त बातें तभी प्रकट करता है, जब वह यह जान लेता है कि अमुक व्यक्ति मुझसे सच्ची सहानुभूति दिखायेगा। सहानुभूतिके दो मीठे शब्द पाते ही रोगी व्यक्ति अपने जटिल भाव अपने-आप प्रकाशित करने लगता है। सहानुभूतिका मृदु अवलम्ब पाते ही चेतना इनका अपना प्रकाशन नहीं रोक सकती। छिपे हुए दु:ख तथा मानसिक ग्रन्थियाँ टूक-टूक होकर दूर हो जाती हैं। यदि हमारे बड़े लोग बच्चोंसे और अफसर अपने मातहतोंसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने लगें, तो सदा मानसिक आरोग्य बना रहेगा। सहानुभूति आन्तरिक गुलामीके बन्धन काट डालती है। जिन गुप्त भयों या पापोंसे मनुष्य बँधा रहता है, उनके बन्धन टूटते ही वह मुक्त गगनमें विहार करनेवाले पक्षीके समान सर्वतोमुख आनन्द प्राप्त करता है।

इस प्रसङ्गमें एक मनोविज्ञानविशारद सत्य ही लिखते हैं—मानसिक विकारको बाहर निकालनेमें सहानुभूतिका भाव बहुत ही लाभकारी होता है। रोगी उससे सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तिके सामने अपने मनके छिपे भाव प्रकाशित कर सकता है। जो व्यक्ति रोगीसे घृणा

करता है अथवा उससे तटस्थ रहता है, उसके समक्ष रोगी अपने भाव कैसे प्रकाशित कर सकता है। पागलसे घृणा करनेवाले व्यक्तिको देखकर पागलका रोग और भी बढ़ जाता है। इसके प्रतिकूल सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तिके समक्ष पागलका उन्माद कम हो जाता है। डॉ० होमरलेन ऐसे अनेक शेलशामके रोगियोंको चंगा कर सके, जो डॉ० फ्रायडकी विधिसे चंगे न हो सके थे। इसका प्रधान कारण डॉ० होमरलेनका रोगियोंके प्रति सहानुभूतिका भाव था। जहाँ डॉ० फ्रायड मनुष्यके मौलिक स्वभावको स्वार्थी और पाशविक मानते थे, डॉ० होमरलेन उसे दैविक मानते थे। इसलिये उन्हें रोगीके साथ सहानुभूति स्थापित करना आसान होता था। इस सहानुभूतिके कारण रोगी खुलकर अपने मनकी गाँठें और परेशानियाँ डॉ० होमरलेनके समक्ष खोल सकता था। रोगीके मनमें अन्तर्द्वन्द्व होनेके कारण ही रोगकी उपस्थिति होती है। जब उस अन्तर्द्वन्द्वका अन्त हो जाता है, तब रोगका भी अन्त हो जाता है। अन्तर्द्वन्द्व जबतक भीतर ही रहता है, तबतक रोगके बाहरी लक्षण नहीं दिखायी देते और जब वह बाहर आने लगता है, तब मानसिक रोगकी उपस्थिति होती है। जब चिकित्सक रोगीकी छिपी भावनाओंके प्रति सहानुभूति दिखलाता है, तब वे धीरे-धीरे अपने-आप बाहर आने लगती हैं। उनके बाहर आनेपर उसके चेतन और अचेतन मनमें एकता स्थापित होना सरल हो जाता है। वास्तवमें चिकित्सकके समक्ष अपने गुप्त भाव प्रकाशित करने और उसके द्वारा सहानुभूति प्राप्त करनेसे ही रोग-निवारण हो जाता है।

सहानुभूति ऐसी ही अमोघ औषध है; पर खेद है हम अपने दैनिक जीवन और व्यवहारमें इस दैवी भावका प्रयोग नहीं करते। जब मनोवैज्ञानिक चिकित्सक इसके प्रयोगसे पागलतकको अच्छा कर सकते हैं, तब तो हम अपने दैनिक जीवनमें इर्द-गिर्द आनेवाले व्यक्तिको इसके प्रयोगसे क्यों नहीं अपना बना सकते? हमें चाहिये कि उदारतासे सहानुभूतिका प्रयोग करें और व्यथित पीड़ित मानवताके दुःख-दर्दको कम करते रहें।

कठोर व्यवहारसे मित्र भी शत्रु हो जाते हैं; पर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और वातावरणसे पत्थर-हृदय भी पिघल उठते हैं। कठोरतासे अच्छा आदमी भी आपके विरुद्ध विद्रोह करनेको उतारू हो जाता है, पर सहानुभूतिसे गुप्त शत्रुताके भाव भी दूर हो जाते हैं। सहानुभूति एक दैवी गुण है। इसे विकसित कीजिये।

महान् पुरुषोंके पास पैसा नहीं होता, न वे इसकी इच्छा ही करते हैं; क्योंकि उनका दया और सच्ची सहानुभूतिसे लबालब भरा हृदय उनके पास कुबेरके भंडारकी तरह मौजूद रहता है।

कहते हैं इस दुनियामें गरीबका कोई ठिकाना नहीं। यह बात गलत है; क्योंकि गरीबी मानवता और सच्ची सहानुभूतिके दिव्य गुणोंको विकसित करनेवाली है। एक गरीब दूसरेके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखा सकता है। ईश्वरके दर्शन कौन करेगा? वही जिसके पास सहानुभूतिपूर्ण संवेदनशील हृदय है, जो दूसरोंके दुःख-दर्दमें काम आता है। कठोर व्यक्ति तो अपाहिज है; वह अपने समाजके इर्द-गिर्द रहनेवाले व्यक्तियोंतकसे प्रेम नहीं कर सकेगा। कोई उसके रंजो-गममें शामिल नहीं होगा।

जिनके हृदयमें दया और सहानुभूति है, वे कभी बिना मित्रोंके नहीं रहेंगे। इसलिये देखो और अपने मनमें सहानुभूतिको प्रथम स्थान दो, दूसरोंके प्रति प्रेम, दया और सहानुभूतिका व्यवहार करो।

तुम्हारे जीवनके जो क्षण व्यतीत हो रहे हैं, उनको मीठे प्रेममय सुन्दर और दूसरोंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण विचारोंसे भरो।

दुखी और त्रस्त व्यक्तिको देनेके लिये यदि तुम्हारे पास रुपया नहीं है तो सहानुभूतिके दो मीठे शब्द उसे दो; वह तुम्हारा हो जायगा।

वाल्मीकि-रामायणमें श्रीभरतका चरित्र

(लेखक—परम सम्माननीय स्वर्गीय श्रीश्रीनिवासजी शास्त्री)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

श्रीरामका भरतमें अखण्ड विश्वास

श्रीरामका भरतमें अखण्ड विश्वास था। वनवासके लिये नगरसे निकलते समय जब प्रजागण उनके पीछे-पीछे आते रहे और रो-रोकर यह भी चिल्लाते रहे कि 'तुम्हीं एक हमारे आश्रय हो। लौट आओ। हमें किसी अन्यके आश्रयमें न छोड़ो।' आदि-आदि, तब श्रीराम उनकी ओर मुड़कर उनसे कहते हैं—

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम्॥

(२। ४५। ६)

'जो प्रेम और सम्मान तुम्हारा मेरे प्रति है, जो स्नेह तुम मुझपर बरसा रहे हो, उससे अधिक स्नेह और आदर तुम मेरी प्रसन्नताके लिये भाई भरतको दो।'

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च॥

(२। ४५। ७)

'कैकेयीके आनन्दको बढ़ानेवाला वह बड़ा सज्जन है। वह बड़ा पवित्रचरित्र है। वह सब कुछ अच्छी प्रकार करेगा। तुम्हें जो पसंद होगा और जो तुम्हारे लिये हितकर होगा, वही वह करेगा।'

क्या आपने कभी किसी राज-पाट छोड़कर जानेवाले राजाके मुखसे अपने उत्तराधिकारीके प्रति इस प्रकारके वचन सुने हैं?

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।

'संसारके ज्ञानकी दृष्टिसे वह वयोवृद्ध है, चाहे अवस्थामें वह कम ही हो। वह पराक्रमी होनेके साथ-साथ कोमल भी है।' क्या यह आश्चर्य नहीं है कि श्रीराम जो भरतसे केवल एक दिन ही वयमें बड़े हैं, उसे 'बाल' रूपमें सम्बोधन करें।

अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥

(२। ४५। ८)

'वह तुम्हारे सब दुःखों और कष्टोंको दूर करेगा तथा तुम्हारे योग्य स्वामी सिद्ध होगा।'

फिर श्रीराम जब लक्ष्मणसे बात करते हैं, तब कहते हैं—'क्या तुम यह सोच रहे हो कि हमारे माता-पिताको, जिन्हें हम पीछे छोड़ आये हैं, कठिन समय देखना पड़ेगा? नहीं! नहीं!'

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति॥

(२। ४६। ७)

'भरत बड़ा धर्मात्मा है। वह माता-पिताको धर्म, अर्थ एवं कामके अनुकूल वचनोंसे ढाढस बँधायेगा।' लक्ष्मण! तुम किसी भी प्रकारकी चिन्ता न करो। वे पूर्ण सुरक्षित हाथोंमें हैं।

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण॥

(२। ४६। ८)

'लक्ष्मण! जब मैं भरतकी कोमलताका ध्यान करता हूँ, तब माता-पिताके विषयमें सर्वथा निश्चिन्त हो जाता हूँ।' भरत भी उनकी उसी प्रकार देख-भाल करेगा जैसी कि मैं और तुम वहाँ होते तो करते।

अरण्यकाण्डमें जब लक्ष्मण कैकेयीके सम्बन्धमें कुछ कटु-कठोर शब्द कहते हैं, तब श्रीराम उन्हें एकदम रोक देते हैं और कहते हैं—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

(३। १६। ३७)

'अरे भले आदमी! तुम भरतके विषयमें बात करो। कैकेयीकी तुम्हें कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये।'

निश्चितापि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।

(३। १६। ३८)

'मैं वनमें चौदह वर्ष रहनेके लिये दृढ़व्रती और निश्चित-संकल्प हूँ।' पर जब मैं अपने बन्धु (भरत) का विचार करता हूँ, तब मेरा वह दृढ़व्रत भी कुछ शिथिल हो जाता है।

मैं उसके पास जाना और उससे मिलना चाहता हूँ ।

भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥

(३ । १६ । ३८)

'भरतके स्नेहसे तपायी जाकर मेरी बुद्धि मूढ़ हो जाती है ।' तुम्हें स्मरण होगा कि जब हम पर्णकुटीमें थे, तब भरतने कैसे मीठे, सौहार्दपूर्ण और स्नेहयुक्त वचन हमें कहे थे । मैं तो उन्हें भूल ही नहीं सकता ।

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥

(३ । १६ । ३९)

'भरतके प्रिय, मधुर, अमृततुल्य एवं मनको आह्लादित करनेवाले वचन मुझे अच्छी तरह याद हैं ।' क्या-क्या उसने कहा था—

कदा त्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना ।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥

(३ । १६ । ४०)

'ये वनवासके चौदह वर्ष कब समाप्त होंगे ? और क्या हम सब फिर एक बार एक परिवारकी तरह मिलेंगे ?'

अब जरा युद्धकाण्डपर भी दृष्टि डालिये । रावण मारा जा चुका है । विभीषणका लङ्काधिपतिरूपसे राज्याभिषेक हो चुका है । सीतासम्बन्धी भी अन्तिम दृश्य समाप्त हो गया है । श्रीराम अयोध्या लौटनेकी तैयारी कर रहे हैं । विभीषण उनसे एक या दो दिन और ठहरनेकी प्रार्थना कर रहा है । वह कहता है—'इतनी लम्बी दूर आने और मुझे इस राज्य-प्राप्तिमें सहायता करनेपर भी क्या आप मुझे कुछ घड़ियोंके लिये भी अपना आतिथ्य करनेका समय दिये बिना ही लौट जायँगे ? यह तो उचित नहीं है ।' श्रीराम उत्तर देते हैं—

पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन परंतप ॥
सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च ।

(६ । १२४ । १७-१८)

'आपने मुझे बहुत सम्मान दिया है । आपने अपनी अपूर्व मित्रताद्वारा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सभी बातोंमें सहायता-कर मेरी पर्याप्त श्रद्धा भी की है । इतना ही मेरे लिये पर्याप्त है । मुझे और अधिक आतिथ्य नहीं चाहिये ।'

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर ॥

(६ । १२४ । १८)

'मैं ऐसा क्यों कहता हूँ ? हे राक्षसाधिपति ! क्या आप यह सोच रहे हैं कि मैं आपके प्रति सद्भाव नहीं रखता ! आपके प्रति उदार नहीं हूँ ? आपका निमन्त्रण मुझे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये । इसे अस्वीकार करते देखकर मुझे आप असभ्य या उजड्ड न समझें । बात इतनी ही है कि मैं अब अधिक विलम्ब नहीं कर सकता ।'

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ।
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः ॥
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया ।

(६ । १२४ । १९-२०)

'वह बेचारा भरत सारे राजमहल, प्रजागण और सेना-सहित मेरे पीछे-पीछे दौड़ा आया था और मुझसे जितनी भी वह कर सकता था, प्रार्थना भी की थी; परंतु मेरे हृदयकी कठोरता और संकल्पकी दृढ़ताके कारण मुझे उसे चित्रकूटमें 'नहीं' कहना पड़ा था । यही बात अब मुझे कष्ट दे रही है । मैं उससे मिलनेके लिये आतुर हो रहा हूँ ।'

भरतका माताके प्रति अनादर

अब मैं भरत-चरित्रके उस अंशका विचार करूँगा, जो श्रीरामके भाईके रूपमें उसका विचार करते हुए कभी भुलाया नहीं जा सकता । यह दृष्टि ऐसी है, जिसपर विचार करना सुखद नहीं है । न तो टीकाके रूपमें और न एक महान् चरित्रकी महत्ताको नष्ट करनेकी ही दृष्टिसे मैं उसका वर्णन करना चाहता हूँ । उसे वर्णन करते समय मेरा लक्ष्य बस, इतना बताना ही होगा कि कैसे कुछ व्यक्तियोंके मनमें की हुई बुराई या भलाईकी बात इतनी घृणा उत्पन्न कर देती है कि उनके सारे चरित्रकी समरागता ही उससे गड़बड़ा जाती है । मैं यह कहना चाहता हूँ कि भरतमें उस गुणका पूरा अभाव था, जिसका हम एक आज्ञाकारी पुत्रमें होना आवश्यक एवं अनिवार्य मानते हैं । यह सत्य है कि अपने पिताके प्रति उसकी पूर्ण भक्ति और आदर था । अपनी वृद्धावस्थामें उन-का कैकेयीके इस प्रकार वशमें हो जाना ही उसे अच्छा नहीं लग रहा था और यह उसने कठोरतम शब्दोंमें व्यक्त भी किया था । परंतु मैं तो इस समय इसका नहीं, अपितु उसका अपनी माताके प्रति किये गये व्यवहारकी बात ही सोच रहा हूँ । हमें स्मरण रखना चाहिये कि कैकेयीके प्रति हिंदुओंकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी घृणा और अप्रसन्नताका भाव व्यक्त करती आयी है । अपने पापका फल भी उसने खूब पा लिया ।

अपने जीवनमें भी उसे दुतकार-फटकार मिलनेमें कोई भी कसर नहीं रही थी। परंतु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि राजकीय षड्यन्त्र कोई अनोखी या असाधारण बात नहीं है। एक रानीका अपने ही पुत्रके लिये राज्य प्राप्त करनेका षड्यन्त्र करना बिल्कुल असाधारण नहीं है। यह खेदकी बात अवश्य है कि ऐसा षड्यन्त्र इक्ष्वाकुकुलमें हुआ और उसके प्रधान लक्ष्य श्रीराम हुए। परंतु यह भी तो आप जानते हैं कि कैकेयी पहले कितनी साध्वी थी। श्रीराम और भरत दोनों ही उसे बड़े एवं समान लाडिले थे। परंतु उसे एक चतुर षड्यन्त्रकारिणीने भ्रमित कर दिया। अयोध्याके राजमहलमें घटी घटनाका विवरण या परिचय मिलनेके पहले ही भरतने, जब कि वह अपनी ननिहालमें था, उस दूतसे, जो संदेश देने उसके पास आया था, कौसल्या, राम, लक्ष्मण आदि परिवारजनोंकी पूछ-ताछ की। ध्यान रहे कि उस दूतने भरतको सत्य घटनाका संकेत तक नहीं किया था। इतना भर कहा था कि 'चलिये, आपका वहाँ काम है।' और रवाना होनेके पहले ही जब उनका कुशल-क्षेम पूछा, तब भरतने प्रत्येकका सुन्दर शब्दोंमें ही स्मरण किया। कौसल्या और सुमित्राका उसने 'धर्मज्ञा' (२ । ७० । ८-९) कहकर स्मरण किया। परंतु अपनी जन्मदात्रीकी कुशल-क्षेम पूछते हुए यद्यपि तबतक उसे उसकी करतूतका कोई संकेत भी नहीं मिला था, उसने उसके लिये उन शब्दोंका प्रयोग किया—

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥
(२ । ७० । १०)

'आत्मकामा अर्थात् अत्यन्त स्वार्थिनी, जरा-जरा-सी बातपर क्रोध करनेवाली, अपने-आपको बड़ी प्राज्ञ समझनेवाली, ऐसी मेरी माताने क्या कहा है ?' अब मैं आप सबसे पूछता हूँ कि चाहे आपकी माँ कैसी भी बुरी हो, चाहे आप उसके विषयमें कितने ही हल्के विचार रखते हों, फिर भी क्या आप उसके पाससे आनेवाले चर, दूत या संदेशवाहकसे उसके विषयमें इस प्रकार पूछेंगे ? आप निःसंदेह ही इस प्रकार बात नहीं करेंगे। दूसरोंके विषयमें सत्य कथन करनेके लिये किसीको भी बाध्य नहीं किया जा सकता। अपनी माताके विषयमें सत्य बात कहना भी किसीके लिये आवश्यक नहीं है। बिना पूछे-ताछे कहना तो कदापि नहीं। इसलिये मैं तो इसे भरतकी एक चूक या भूल ही कहूँगा और इसके लिये मैं उसे क्षमा भी नहीं कर सकूँगा। चाहे कितनी भी दुष्टा माँ हो, उसके पुत्रको इस प्रकारका उसके प्रति बर्ताव कभी नहीं करना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि वह जगह-जगह उसकी निरर्थक ही प्रशंसा करता फिरे और वह भी झूठे मनसे। ऐसा वह अवश्य ही न करे। यदि कोई उसके प्रति बुरा-भला कहे तो वह चुप रह जाय, एक शब्द भी न बोले। परंतु आगे होकर उसके विरुद्ध जेहाद करना तो एकदम बुरी बात है।

घर लौटने और वहाँ उसके प्रति किये गये माताके कार्यका परिचय पानेपर वह उसका अक्षम्य शब्दोंमें तिरस्कार करता है। मैं यहाँ वे थोड़े-से श्लोक उद्धृत करूँगा, जो मुझे विशेषरूपसे खटके हैं।

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥
(२ । ७४ । ६)

'तुम्हारे ही कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई। रामको भी वनवास हुआ। तुमने मेरे नामपर सदा-सर्वदाके लिये कलंकका टीका लगा दिया।'

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥
(२ । ७४ । ७)

'तुम माताके रूपमें मेरी शत्रु हो, निर्दय हो, राज्यकी कामना रखती हो। ओ पतिहत्यारी ! मुझसे अब अधिक बात मत करो।'

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः ।

'तुम अश्वपतिकी कन्या नहीं हो। तुमने अपने पिताके परिवारके शुभ्र नामको भी नष्ट कर दिया है।'

राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥
(२ । ७४ । ९)

'तुम राक्षसी हो। भूलसे उस परिवारमें तुम्हारा जन्म हो गया।'

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान् विश ।

'तुम अग्निमें गिरकर क्यों नहीं अपने-आपको नष्ट कर देती हो ? अथवा स्वयं दण्डकवनमें क्यों नहीं चली जाती ?'

रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥
(२ । ७४ । ३३)

'या गलेमें रस्सीका फंदा डाल लो। तुम्हारे लिये और कोई मार्ग नहीं है।'

अहमप्यवनिं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥
(२ । ७४ । ३४)

'अब मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उनको पृथ्वीका राज्य दे दूँगा, तभी मेरा कर्तव्य पूरा होगा । इसी रीतिसे वह दाग जो तुमने मुझे, मेरे अच्छे नामपर लगा दिया है, मैं छुड़ाऊँगा ।'

इसीके कुछ आगे ही फिर एक अभूतपूर्व घटना घटती है । मन्थरा, जिसे कैकेयीने उसकी सेवाके उपलक्षमें शरीरके प्रत्येक अङ्गपर पहने जानेवाले अपने आभूषण भेंट दे दिये थे, उन्हीं आभूषणोंको पहने हुए वहाँ उपस्थित होती है जहाँ कि शत्रुघ्न थे । द्वारपालने शत्रुघ्नको उसकी उपस्थिति-की सूचना दी । मन्थरा अपने आभूषणोंका, जो उसे अपनी दुर्बुद्धिके उपहारमें मिले थे, प्रदर्शन कर रही है । इसी समय यह दृश्य उत्पन्न होता है कि जो क्रोधावेशका परिणाम है, जिसमें मनुष्य अपने-आपको नियन्त्रण करना नहीं जानता । शत्रुघ्न स्वयं मन्थराके पास जाते हैं और उसकी चोटी पकड़कर उसे घसीटते हैं, उसके आभूषणादि रगड़ते हुए भूमिपर चारों ओर सुवर्णचिह्न कर देते हैं ।

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद् व्यशीर्यत ॥
(२ । ७८ । १७)

तेन भाण्डेन संकीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥
(२ । ७८ । १८)

मन्थराके शरीरपर सौ, दो सौ गहने होने चाहिये । नहीं तो, उनके गिरनेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि तारोंभरे आकाशका टुकड़ा ही मानो टूटकर आ गिरा । मन्थराको छुड़ानेके लिये उसके साथी दौड़कर कैकेयीके पास गये और उससे प्रार्थना की । घटनास्थलपर तत्क्षण पहुँचकर कैकेयी मन्थराका यह कष्ट निवारण करनेका प्रयास कर रही थी । कैकेयीकी ओर देखे बिना ही उस समय भरत शत्रुघ्न-से कह रहे थे—

अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ।
(२ । ७८ । २१)

'अरे इसे क्षमा कर दो । पृथ्वीके समस्त प्राणियोंमें स्त्रीको कभी नहीं सताना चाहिये ।' कैकेयी भी प्रतिवाद करती खड़ी थी और भरत शत्रुघ्नसे कहते जा रहे थे—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥
(२ । ७८ । २२)

'इस दुष्टा कैकेयीको मारकर तो मैं भी प्रसन्न होता, यदि मुझे विश्वास हो जाता कि भाई श्रीराम माताको मारनेके कारण मुझसे घृणा नहीं करेंगे, भाई अप्रसन्न नहीं होंगे, यह मुझे भरोसा हो जाय तो मैं इसी स्थानपर इसका वध कर डालूँ ।' निःसंदेह एक श्रद्धावान् पुत्र माताके लिये ऐसे शब्द प्रयोग नहीं कर सकता ।

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥
(२ । ७८ । २३)

'यदि श्रीरामको यह मालूम हो जाय कि तुमने इस कुब्जाका वध कर दिया है तो वे जीवनभर तुमसे या मुझसे एक शब्द भी नहीं बोलेंगे ।'

जब भरत भरद्वाज ऋषिके पास पहुँचते हैं, तब वे क्या करते हैं—यह भी देखिये । उन ऋषिको भी पहले भरतके आशयके प्रति संदेह होता है; परंतु भरतके आश्वासन देनेपर वे प्रसन्न होकर कहते हैं 'बहुत अच्छा ! मैं तो अब तुम सबसे विदा लेता हूँ ।' दूसरे दिन भरत, शत्रुघ्न और सारा स्त्रीवर्ग ऋषिके चारों ओर खड़ा हो जाता है । एक-एक करके सभी भरद्वाजको वन्दन-नमन करते हैं । वहाँ भरद्वाज भरतसे पूछते हैं—'बताओ भरत ! इन स्त्रियोंमें कौन-कौन हैं ?' भरत कौसल्या एवं सुमित्राका बड़े सम्मानपूर्ण शब्दोंमें बारी-बारीसे ऋषिको परिचय कराते हैं, परंतु जब अपनी माता कैकेयीकी बारी आती है, तब कहिये क्या उसको इन शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये—

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥
(२ । ९२ । २५)

'जिसके कारण—जिसके दुराचरणसे नरव्याघ्र अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण जीवन-शेषतक पहुँच गये हैं, पिता दशरथ अपने प्रिय पुत्रसे वञ्चित कर दिये गये हैं और उस शोकको सहन न कर सकनेके कारण जिनकी मृत्यु भी हो

गयी है, यह वही है जिसके कारण ये सब दुर्घटनाएँ हुई हैं।'

क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम्।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्॥
(२ । ९२ । २६)

'मेरी माँ कैकेयी क्रोधी स्वभावकी, मूर्खा, अभिमानिनी, ऐश्वर्यकी लोलुप तथा देखनेमें भली होनेपर भी दुष्टा है।'

ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम्।
यतो मूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः॥
(२ । ९२ । २७)

'मेरी इस माँको निर्दय एवं पापपूर्ण निश्चयवाली जानिये। केवल इसीके कारण मेरे दुःखोंका अन्त नहीं हो रहा है।'

भरद्वाज पुत्रद्वारा माताका इस प्रकार परिचय पाकर स्वभावतः स्तम्भित रह जाते हैं। परंतु भविष्य ज्ञाताकी बुद्धिमत्तासे उसे कहते हैं 'वत्स ! इसकी बुराई मत करो। तुम्हें ज्ञात नहीं है कि इसने क्या किया है। इसने विश्वकी भलाईका ही काम किया है। जो कुछ इसने किया है, उससे हम सबका कल्याण होनेवाला है। इसलिये इसके विषयमें इस प्रकार मत बोलो।' परंतु फिर भी भरत अपने मतमें कोई संशोधन नहीं करते, यद्यपि कैकेयीने अपने सुधारका प्रत्यक्ष परिचय भी दे दिया था। अब वह कैकेयी नहीं थी, जिसने राजा दशरथको अपने वैभवके उच्चासनसे दुःखोंके अंध कूपमें ला गिराया था। एक यह बात हो कि वह सबके साथ आर्या कौसल्या और सुमित्राके साथ एकही रथमें, जैसा कि कविने विशेषरूपसे कहा है, बैठी थी, इसका पर्याप्त प्रमाण है कि वह भी श्रीरामका पुनरावर्तन चाहती थी। इतना सब होते हुए भी भरतका हृदय किंचित् भी उसके प्रति नरम नहीं हुआ। इसीलिये श्रीरामके साथ महत्त्वपूर्ण बातें कहते हुए भी वह यह कह सका—

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम्।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम॥
(२ । १०६ । ८)

'जब मैं प्रवासमें था, मेरी उस नीचाशयी माँने मेरे लिये पाप किया है, विपदा ढहा दी है। इसके लिये मुझे क्षमा करें। मैं इसके लिये उत्तरदायी नहीं हूँ।'

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्॥
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्।
(२ । १०६ । ९-१०)

'मैं अपने कर्तव्यसे, धर्मसे, हर तरह बँधा हूँ। इसीलिये अपनी इस पापिनी एवं सर्वथा दण्ड देने योग्य जननीका वध नहीं करता।'

ऐसी बात भरत स्वयं श्रीरामसे ही कहता है। इतना कह जानेपर और सब बातोंकी चर्चा कर लेनेपर फिर वह कहता है कि 'मेरी माताके कृत्योंसे आप किसी भी प्रकार परिचालित नहीं हों। भाई साहब ! उन बातोंको आप अपने मनसे एकदम निकाल दें। मेरी माँ दुष्टा थी, पापिनी थी। उसने षड्यन्त्र रचा और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मैं उसको मार ही डालता पर धर्मसे डरता हूँ।'

श्रीराम एक बार और अपनी महत्ताका परिचय यहाँ देते हैं। वे कैकेयीके सम्बन्धमें पूर्ण आन्तरिकतासे बोलते हैं। आपको स्मरण होगा कि मैंने कुछ श्लोक आपको सुनाये थे, जिनके अन्तमें श्रीरामने यह कहा था—'कैकेयीको कोई हानि मत पहुँचाना। सीता और मेरे नामकी मैं तुम्हें गम्भीर शपथ दिवाता हूँ कि तुम न तो उनको बुरा-भला कहना, न सताना और न उनका किसी भी प्रकार निरादर करना।'

श्रीरामके द्वारा कैकेयीका समर्थन

अब हम उस अन्तिम दृश्यपर विचार करें कि जब अपने अर्धसफल अभिमानके पश्चात् मैं उसे असफल कहना अच्छा नहीं समझता —भरत अयोध्याको लौट रहा है। उस दृश्यका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः॥
(२ । ११२ । ३१)

तीनों माताओंको भी लौटना था। इसलिये वे रामसे बिदा माँगना चाह रही थीं। परंतु दुःख-शोकसे वे इतनी अभिभूत थीं कि कण्ठमें शब्द ही अटक गये थे और वे बोल नहीं पा रही थीं। श्रीरामसे विदा माँगनेमें वे अशक्त थीं। और उधर श्रीरामकी क्या दशा थी ? क्या वे उनसे अधिक धैर्यका परिचय दे रहे थे ? नहीं, वे भी मुँहसे एक शब्दतक उच्चारण नहीं कर पा रहे थे। वे भी रो पड़े और सबको यथायोग्य प्रणाम-नमस्कार कर लेनेपर एकदम पर्णकुटीमें घुस गये।

भाष्यकार विशेषरूपसे 'मातॄः' शब्दके साथ 'सर्वाः' शब्द जोड़ते हैं। कवि स्वयं भी विशेषरूपसे यह क्यों कहते हैं कि श्रीरामने कैकेयीको भी पूर्ण श्रद्धासे प्रणाम किया था। परंतु

भाष्यकार तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। नहीं तो वे यह क्यों कहते—

अनेन कैकेय्या दोषराहित्यं सूचितम् ।

इससे कैकेयीकी निर्दोषता प्रकट होती है ।

राम तो इतने महान् हैं कि यदि कैकेयीका कलङ्क किंचिन्मात्र भी शेष रह जाता, तो भी वे उसे प्रणाम करनेमें कभी नहीं चूकते। कैकेयी भी अन्य माताओं-जैसी उनकी माता थी। उसके प्रति अपना कर्तव्य या धर्म वे कभी नहीं भूले थे। कौसल्या और सुमित्राके प्रति जैसा मान-सम्मान उन्होंने दिखाया था, उतना ही कैकेयीके लिये दिखानेमें उन्होंने कभी भूल नहीं की। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। मैंने कहा ही है कि स्वयं कैकेयी भी पश्चात्ताप कर रही थी। फिर कवि क्यों 'सर्वाः' कहता है और भाष्यकारको यह कहनेका अवसर देता है कि कैकेयी पश्चात्ताप कर रही थी? जहाँतक मैं समझ सका हूँ—भाष्यकार यह नहीं कह रहे हैं, मैं ही कह रहा हूँ और मैं समझता हूँ कि ऐसा कहते हुए मैं मार्गसे बाहर नहीं जा रहा हूँ कि राम भरतको आदर्श पाठ पढ़ा रहे थे। भरतने कैकेयीके प्रति अपना धर्म सर्वथा भूलकर अनुचित रीतिसे उसकी आलोचना की और श्रीरामने उसको औरोंकी भाँति ही प्रणाम कर भरतको प्रत्यक्ष प्रमाण दे दिया कि एक पुत्रका माताके प्रति क्या कर्तव्य होता है।

भाष्यकार इस देशमें किस प्रकार भाष्य किया करते हैं, इसे स्पष्ट दिखानेवाला यह एक शब्द है। परंतु यह श[illegible] अनुपयुक्त है। क्या मैंने आपको यह नहीं सुनाया—

'रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ।'

'आँखोंमें आँसू भरे राम कुटीमें घुस गये।' इतना ही [illegible] कहा है। बस, इतनेसे ही संतुष्ट क्यों नहीं हो [illegible] चाहिये। यह भी तो सरस भाव है। इससे रामके प्रति ह[illegible] श्रद्धा और प्रेम उमड़ आते हैं। फिर भी भाष्यकार '[illegible]' अर्थात् 'रोनेका बहाना करते' इसलिये कहना चाहते हैं कि श्रीराम भगवान् थे, अवतार थे और उन्हें रोना न[illegible] चाहिये था; फिर भी वे मनुष्यकी भाँति रो पड़े। [illegible] हम तो श्रीरामको अपने-जैसा ही आचरण करते देखना प[illegible] करते हैं। उनका वही तो गुण मानवोचित है। इसलिये मैं तो 'रुदन्'का शब्दार्थ यही लूँगा कि श्रीराम अपने हृद[illegible] पवित्रताके कारण माताओं और भाइयोंसे, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और जिनसे वे चौदह वर्षके लि[illegible] बिछुड़ रहे थे, बिदा लेनेके अन्तिम क्षणोंमें इतने भाव[illegible] हो गये थे कि रो ही पड़े। कौन जाने क्या-क्या घटनाएँ उ[illegible] अवधिमें घटेंगी। दिन-प्रतिदिन उस कालमें क्या-क्या दुःख देखने होंगे? कुछ भी तो स्पष्ट नहीं था। उस क्षण [illegible] अन्धकार था। यदि श्रीराम रोये तो हम यह क्यों नहीं वि[illegible] करें कि वे हृदयसे और यथार्थतः ही रोये थे। मैं तो फि[illegible] कहूँगा कि वे सचमुच ही रोये थे।

(अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

मुरलीका प्रभाव

जा दिन तैं मुरलीधुनि मेरे श्रवननि आइ समानी री।
ता दिन तैं हौं भई बावरी पिय के हाथ बिकानी री॥
कछु न सुहावै, भावै मो कूँ, ना कछु घर कौ सोच री।
जस-अपजस कौ मोहि न डर कछु, भइ मति अति ही पोच री॥
रात-दिनाँ बिरमत मो मन मैं, वा मुरली कौ राग री।
हौं तो मिलि मुरलीवारे सौं पायों सहज सुहाग री॥
सब बिधि सौं हौं भई अकिंचन, कछु नहिं मेरे पास री।
मोहन मुरलीधर माधो सौं लगी प्रेम की फाँस री॥

—अकिञ्चन

श्राद्धकी महत्ता तथा उसके कुछ आवश्यक अङ्ग

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्राद्धकी परिभाषा

श्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण ही मुख्यतः इसका नाम श्राद्ध है। 'श्राद्धतत्त्व'में पुलस्त्यके वचनसे कहा गया है कि श्राद्धमें संस्कृत व्यञ्जनादि पक्वान्नोंको दूध, दही, घी आदिके साथ श्रद्धापूर्वक देनेके कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा—

संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन प्रकीर्तितम् ॥

'श्राद्धकल्पलता'कार नन्द पण्डितका कहना है कि पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धा एवं आस्तिकतापूर्वक पदार्थ-त्यागका नाम श्राद्ध है—

पित्र्युद्देश्येन श्रद्धया त्यक्तस्य द्रव्यस्य ब्राह्मणैर्यत्स्वीकरणं तच्छ्राद्धम् ।

'श्राद्धविवेक'कार महामहोपाध्याय श्रीरुद्रधर पण्डितका कहना है कि वेदोक्त पात्रालम्भनपूर्वक पित्रादिकोंके उद्देश्यसे द्रव्यत्यागात्मक कर्म ही श्राद्ध है—

श्राद्धं नाम वेदबोधितपात्रालम्भनपूर्वकप्रमीतपित्रादि-देवतोद्देश्यको द्रव्यत्यागविशेषः ।

'गौडीय श्राद्धप्रकाश'कार श्रीचतुर्थीलालजीका मत है कि देश-काल-पात्रमें पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न, तिल, कुश, जल आदिका त्याग—दान श्राद्ध है—

देशकालपात्रेषु पित्र्युद्देश्येन हविस्तिलदर्भमन्त्रश्रद्धादि-भिर्दानं श्राद्धम् ।

दर्शनकाननपञ्चानन श्रीवाचस्पति मिश्रका भी यही मत है। 'पृथ्वीचन्द्रोदय'कारने भी मरीचिके वचनसे कहा है—

प्रेतं पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः ।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम् ॥

'ब्रह्मपुराण'की भी प्रायः यही सम्मति है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत् ।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम् ॥

(अ० १३०)

पराशरजी भी अपनी स्मृतिमें यही कहते हैं—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत् ।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम् ॥

'वीरमित्रोदय'कार श्रीवीरमिश्र अपने श्राद्धप्रकाशमें बृहस्पतिके वचनसे यही कहते हैं—

('संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च' आदि 'श्राद्धतत्त्व'का प्रथमोक्त वचन)

श्राद्धकी वस्तुएँ पितरोंको कैसे मिलती हैं ?

शङ्का हो सकती है कि ये वस्तुएँ पितरोंको कैसे पहुँचती हैं ? इसका सुस्पष्ट उत्तर यह है कि नामगोत्रोंके सहारे विश्वेदेव एवं अग्निष्वात्त आदि दिव्य पितर हव्य-कव्यको पितरोंको प्राप्त करा देते हैं। यदि पिता देवयोनिको प्राप्त हो गया हो तो यहाँ दिया गया अन्न उसे अमृत होकर प्राप्त होता है। मनुष्ययोनि अथवा पशुयोनिमें भी उसे अभीष्ट अन्न-तृणके रूपमें वह हव्य-कव्य प्राप्त होता है। नागादि योनियोंमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें पानरूपसे तथा अन्य योनियोंमें भी श्राद्धवस्तु उसे भोगजनक तृप्तिकर पदार्थोंके रूपमें मिलकर अवश्य तृप्त करता है[1]। जिस प्रकार गोशालामें भूली माताको बछड़ा किसी-न-किसी प्रकार ढूँढ ही लेता है, उसी प्रकार मन्त्र तत्तद्वस्तुजातको प्राणीके पास किसी-न-किसी प्रकार पहुँचा ही देता है। नाम, गोत्र, हृदयकी भक्ति एवं देश-कालादिके सहारे दिये हुए पदार्थोंको भक्तिसे उच्चारित मन्त्र उनके पास पहुँचा देता है। जीव चाहे सैकड़ों योनियोंको भी पार क्यों न

---

१. नाममन्त्रास्तथादेशा भवान्तरगतानपि ।
प्राणिनः प्रीणयन्त्येते तदाहारत्वमागतान् ॥
देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
मर्त्यत्वे ह्यन्नरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठति ॥
पानं भवति यक्षत्वे नानाभोगकरं तथा ।
(मार्कण्डेयपुराण; वायुपुराण श्राद्धकल्पलता)

कर गया हो, तृप्ति तो उसके पास पहुँच ही जाती है[1]। जिन महर्षि याज्ञवल्क्यके लिये तुलसीदासजीने—

'जानहिं तीनि कालु निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥'

(बालकाण्ड २९। ७)

—ऐसा लिखा है, उन्हींका कहना है कि पितरलोग श्राद्धसे तृप्त होकर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य एवं अन्य सभी सुख भी देते हैं[2]। 'श्राद्धचन्द्रिका'में तो कूर्मपुराणके वचनसे कहा गया है कि श्राद्धसे बढ़कर और कोई कल्याणकर वस्तु है ही नहीं, इसलिये चतुर मनुष्यको सारे प्रयत्नोंसे श्राद्धका अनुष्ठान करना चाहिये[3]। पितृपति यमराजका भी यही डिण्डिमघोष है—

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

(यमस्मृति, श्राद्धप्रकाश)

विष्णुपुराणका कहना है कि श्रद्धालुको सभी वस्तुओंके अभावमें वनमें जाकर अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर कह देना चाहिये कि मेरे पास श्राद्धके योग्य न धन है और न दूसरी वस्तु; अतः मैं अपने पितरोंको प्रणाम करता हूँ।

---

१. (क) यथा गोष्ठे प्रणष्टां वै वत्सो विन्देत मातरम्।
तथा तं नयते मन्त्रो जन्तुर्यत्रावतिष्ठते॥
नाम गोत्रं च मन्त्रश्च दत्तमन्नं नयन्ति तम्।
अपि योनिशतं प्राप्तांस्तृप्तिस्ताननुगच्छति॥
(वायुपु० उपोद्घात पा० ८३। ११९–२०)

(ख) नामगोत्रं पितॄणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः।
श्राद्धस्य मन्त्रतस्तत्त्वमुपलभ्येत भक्तितः॥
अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः।
नामगोत्रास्तथादेशा भवन्त्युद्भवतामपि॥
प्राणिनः प्रीणयन्त्येतदर्हणं समुपागतम्।
(पद्मपुराण सृष्टिखं० १०। ३८–३९)

२. आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नॄणां पितामहाः॥
(याज्ञ० स्मृ० १। २७०)

३. श्राद्धात् परतरं नास्ति श्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः॥
(श्राद्धचन्द्रिका, कूर्मपुराण)

वे मेरी भक्तिसे ही तृप्ति-लाभ करें[1]। ब्रह्मपुराणका तो कहना है कि मनुष्यके पास यदि कुछ भी न हो तो केवल शाकसे ही श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करना चाहिये। अकिंचन ऋषियोंके पास क्या रहता था?—श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करनेवालेके कुलमें कोई क्लेश नहीं पाता[2]। वीरमित्रोदयकार तो यमस्मृतिके वचनसे पितरोंकी पूजाको साक्षात् विष्णुकी ही पूजा बतलाते हैं[3]। ब्रह्मपुराणके वचनसे यह भी कहा गया है कि विधिपूर्वक श्राद्ध करनेवाले आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत्को तृप्त कर देते हैं[4]।

स्कन्दपुराण नागरखण्डके वचनसे वहीं कहा गया है कि श्राद्धकी तनिक भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती, अतएव श्राद्ध अवश्य करना चाहिये[5]।

श्राद्ध न करनेसे हानि

जो यह समझकर कि 'देवता पितर हैं ही कहाँ'—श्राद्ध नहीं करता, पितरलोग लाचार होकर उसका रक्तपान करते हैं[6]। जो उचित तिथिपर जलसे अथवा शाकसे भी

---

१. न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्यच्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन् नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥
(विष्णु० पु० ३। १४। ३०)

२. तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥
(ब्रह्मपुराण)

३. ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान्।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥
(वीर० श्राद्धप्र० यमस्मृ०)

४. यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् प्रीणाति मानवः॥

५. श्राद्धे तु क्रियमाणे वै न किंचिद् व्यर्थतां व्रजेत्।
उच्छिष्टमपि राजेन्द्र तस्माच्छ्राद्धं समाचरेत्॥
(वी० मि० श्रा० प्रका०)

६. न सन्ति पितरश्चेत् तत् कृत्वा मनसि वर्तते।
श्राद्धं न कुरुते यस्तु तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥
(श्राद्धकल्पलता, श्राद्धप्रकाश, श्राद्धविवेक, हेमाद्रि आदित्यपुराणके वचनसे)

श्राद्ध नहीं करता, पितर उसे शाप देकर लौट जाते हैं[1]। मार्कण्डेयपुराणका कहना है कि जिस देश अथवा कुलमें श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वीर, नीरोग, शतायु पुरुष नहीं उत्पन्न होते। जहाँ श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वास्तविक कल्याण नहीं होता[2]।

श्राद्धके बारह भेद—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि (नान्दी), सपिण्डन, पार्वण, गोष्ठी, शुद्धि, कर्माङ्ग, दैविक, यात्रा एवं पुष्टिश्राद्ध—ये श्राद्धके बारह भेद हैं। (विश्वामित्र-स्मृति, भविष्यपुराण)

श्राद्धके अधिकारी—पिताका श्राद्ध पुत्रको ही करना चाहिये। पुत्र न हो तो स्त्री श्राद्ध करे। पत्नीके भी अभावमें सहोदर भाई और उसके भी अभावमें सपिण्डोंको श्राद्ध करना चाहिये। जामाता एवं दौहित्र भी श्राद्धके अधिकारी हैं। सभीके अभावमें राजाको मृत व्यक्तिके धनसे उसका श्राद्ध कराना चाहिये; क्योंकि वह सभीका बान्धव कहा जाता है[3]। दत्तकपुत्र तथा अनुपवीत (चूडासंस्कृत) पुत्र भी श्राद्धका अधिकारी है।

श्राद्धमें ब्राह्मण-संख्या—श्राद्धमें अधिक ब्राह्मणोंका निमन्त्रण ठीक नहीं। देवकार्यमें दो तथा पितृकार्यमें तीन ब्राह्मण पर्याप्त हैं, अथवा उभयत्र एक-एक ब्राह्मण ही आमन्त्रित करें; क्योंकि ब्राह्मणोंका विस्तार उचित सत्कार आदिमें बाधक बन जाता है, जिससे निस्संदेह महान् अकल्याण होता है[1]।

पूर्व, मध्यम, उत्तर कर्म—प्रेतक्रियाको पूर्वकर्म, एकादशाहसे सपिण्डनके पूर्वतक मध्यमकर्म तथा सपिण्डनके बादकी सारी क्रियाएँ उत्तरक्रिया कहलाती हैं। माताका श्राद्ध सर्वत्र पिताके साथ ही किया जाता है, पर मरनेके बाद, महैकोद्दिष्ट, अष्टकाश्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध, तथा गयाश्राद्ध पृथक् करना चाहिये[2]।

श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र तीन प्रयोजनीय—कुतप नामका मुहूर्त[3] (दोपहरके बाद कुल २४ मिनटका समय), तिल, दौहित्र[4]—इन तीन वस्तुओंको मनुने श्राद्धमें

---

१. जलेनापि च न श्राद्धं शाकेनापि करोति यः।
अमायां पितरस्तस्य शापं दत्त्वा प्रयान्ति च॥
(श्रा० क० कूर्मपुराण)

२. न तत्र वीरा जायन्ते नारोग्यं न शतायुषः।
न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्॥

३. (क) पितुः पुत्रेण कर्त्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पत्न्यभावे तु सोदरः॥
(हेमाद्रि श्राद्ध० शंखस्मृ० श्रा० क० नि० सिं०)

(ख) पुत्रः पौत्रश्च तत्पुत्रः पुत्रिकापुत्र एव च।
पत्नी भ्राता च तज्जश्च पिता माता स्नुषा तथा॥
भगिनी भागिनेयश्च सपिण्डः सोदकस्तथा।
असंनिधाने पूर्वेषामुत्तरे पिण्डदाः स्मृताः॥
(स्मृतिसंग्रह, श्राद्ध० क०)

(ग) सर्वाभावे तु नृपतिः कारयेत् तस्य रिक्थतः।
तज्जातीयेन वै सम्यग् दाहाद्याः सकलाः क्रियाः॥
सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्यतः।
(मार्कण्डेयपुराण; श्रा० कल्पलता)

१. द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥
(मनु० ३। १२५-२६; विष्णुपुरा० ३। १५। १५; पद्मपुराण सृ० खं० अ० ९।)

२. अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेऽहनि।
मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥
(वायुपुराण ११०। १७)

३. अह्नो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा।
तस्याष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः॥
(मत्स्यपुराण)

'पंद्रह मुहूर्तोंमें विभक्त दिनमानके अष्टम भागको 'कुतप' कहते हैं।

४. (क) वृद्धशातातपस्मृति 'दौहित्र'का अर्थ गैंड़ेके सींगका बना पात्र बतलाती है। यथा—
दुहित्रं खड्गमृगस्य ललाटे यत् प्रदिश्यते।
तस्य शृङ्गस्य यत् पात्रं दौहित्रमिति कीर्तितम्॥
(वृ० शा० स्मृ०)

(ख) स्मृत्यन्तरमें 'दौहित्र' शब्दका अर्थ शुक्लप्रतिपत्का गोदुग्ध कहा गया है।
अमावस्यां गते सोमे या तु खादति गौस्तृणम्।
तस्या गोर्यद् भवेद् क्षीरं तद् दौहित्रमुदाहृतम्॥

(ग) सामान्य अर्थ 'दुहितुः पुत्रः' नाती भी होता है। पर उसे उपनीत होना चाहिये।

अत्यन्त पवित्र कहा है[1]।

श्राद्धमें प्रशंसनीय तीन गुण—पवित्रता, अक्रोध और अचापल्य (जल्दीबाजी नहीं करना)—ये तीन श्राद्धमें प्रशंसनीय गुण हैं[2]।

श्राद्धमें महत्त्वके सात प्रयोजनीय—गङ्गाजल, दूध, मधु, तसरका कपड़ा, दौहित्र, कुतप और तिल—ये सात श्राद्धमें बड़े महत्त्वके प्रयोजनीय हैं[3]।

श्राद्धमें आठ दुर्लभ प्रयोजनीय—मध्याह्नोत्तरकाल, खड्गपात्र, नेपाली कम्बल, चाँदी, कुश, तिल, शाक और दौहित्र—ये आठ प्रयोजनीय श्राद्धमें बड़े दुर्लभ हैं।[4]

श्राद्धमें तुलसीकी महामहिमा—तुलसीकी गन्धसे पितृगण प्रसन्न होकर गरुड़पर आरूढ़ हो विष्णुलोकको चले जाते हैं। तुलसीसे पिण्डार्चन किये जानेपर पितरलोग प्रलय-पर्यन्त तृप्त रहते हैं।

श्राद्धकर्ताके लिये वर्ज्य सात चीजें—

दन्तधावन, ताम्बूल, तैलमर्दन, उपवास, स्त्रीसम्भोग, औषध तथा परान्नभक्षण—ये सात चीजें श्राद्धकर्ताके लिये वर्जित हैं।[6] यदि भूलसे दतुवन कर ले तो वह सौ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित पवित्र जल पीकर शुद्ध होता है।[1]

श्राद्धभोक्ताके लिये वर्ज्य आठ वस्तुएँ[2]—पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, मैथुन, दान लेना, हवन करना, परिश्रम करना और हिंसा करना—ये आठ चीजें श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मणको छोड़ देनी चाहिये।

ताम्रकी प्रशंसा और लोहेके पात्रका सर्वथा निषेध—श्राद्धमें ताम्रपात्रका बड़ा महत्त्व है। लोहेके पात्रका श्राद्धमें कभी उपयोग नहीं करना चाहिये। भोजनालय या पाकशालामें भी उसका कोई उपयोग नहीं होता। केवल शाक-फलादि काटनेमें उसका उपयोग कर सकते हैं।[3]

---

१. त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
(मनु० ३। २३५)

२. त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्।
(मनु० ३। २३५)

३. उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वान्तं च मृतकर्पटम्।
श्राद्धे सप्त पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः॥
(हेमाद्रि, श्राद्धकल्प०)

उच्छिष्टं=पयः। शिवनिर्माल्यं=गङ्गोदकम्। वान्तं=मधु। मृतकर्पटं=तसरीतन्तुनिर्मितं वासः।

४. मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलम्।
रौप्यं दर्भास्तिलाः शाकं दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः॥
(वाचस्पत्यकोश)

५. (क) तुलसीगन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः।
प्रयान्ति गरुडारूढास्तत्पदं चक्रपाणिनः॥
(प्रयोगपारिजात; क०)

(ख) पितृपिण्डार्चनं श्राद्धे यैः कृतं तुलसीदलैः।
प्रीणिताः पितरस्तेन यावच्चन्द्रार्कमेदिनी॥

६. दन्तधावनताम्बूलं तैलाभ्यङ्गमभोजनम्।
रत्यौषधं परान्नं च श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत्॥
(महा० शा०; श्राद्धकल्प०)

१. श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम्।
गायत्र्या शतसम्पूतमम्बु प्राश्य विशुध्यति॥
(विष्णुरहस्य)

२. (क) पुनर्भोजनमध्वानं भारमायासमैथुनम्।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धभुक् त्वष्ट वर्जयेत्॥
(विष्णुरह०; यमस्मृ०; श्राद्धकल्प०)

(ख) ब्रह्महत्यामवाप्नोति यदि स्त्रीगमनं चरेत्।
(धर्मसारसुधानिधि)

यस्तयोर्जायते गर्भो दत्त्वा भुक्त्वा च पैतृकम्।
न स विद्यामवाप्नोति क्षीणायुश्चैव जायते॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा वाप्यध्वानं यदि गच्छति।
पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते पांसुभोजनाः॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च भारमुद्वहते द्विजः।
पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते भारपीडिताः॥
वनस्पतिगते सोमे यस्तु हिंस्याद् वनस्पतिम्।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
(वसिष्ठस्मृ०)

३. (क) पचमानस्तु भाण्डेषु भक्त्या ताम्रमयेषु च।
समुद्धरति वै घोरान् पितॄन् दुःखमहार्णवात्॥
(स्कन्द० नाग० ख०)

(ख) न कदाचित् पचेदन्नमयःस्थालीषु पैतृकम्।
अयसो दर्शनादेव पितरो विद्रवन्ति हि॥
कालायसं विशेषेण निन्दन्ति पितृकर्मणि।
फलानां चैव शाकानां छेदनार्थानि यानि तु॥
महानसेऽपि शस्तानि तेषामेव हि संनिधिः।
(चमत्कारखण्ड, श्रा० क० लता)

श्राद्धमें प्रशस्त अन्न-फलादि–काली उड़द, तिल, जौ, साँवाँ, चावल, गेहूँ, दूध, दूधके बने सभी पदार्थ, मधु, चीनी, कपूर, गूमा, महाशाक, बेल, आँवला, अंगूर, कटहल, आमड़ा, अनार, अखरोट, कसेरू, नारियल, तेन्द, खजूर, नारंगी, बेर, सुपारी, अदरक, जामुन, परवल, गुड़, कमलगट्टा, नीबू, पीपल, मरिच तथा हुरहुर, चौपत्ती आदिके शाक श्राद्धमें प्रशस्त कहे गये हैं।[1]

श्राद्धमें मांसकी निन्दा–बृहत्पाराशरमें कहा गया है कि श्राद्धमें मांस देनेवाला व्यक्ति मानो चन्दनकी लकड़ी जलाकर उसका कोयला बेचता है। वह तो वैसा मूर्ख है जैसा कोई बालक अगाध कूएँमें अपनी वस्तु डालकर फिर उसे पानेकी इच्छा करता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि न तो कभी मांस खाना चाहिये, न श्राद्धमें ही देना चाहिये। सात्त्विक अन्न-फलोंसे पितरोंकी सर्वोत्तम तृप्ति होती है। मनुका कहना है कि मांस न खानेवालेकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह जो कुछ सोचता है, जो कुछ चाहता है, जो कुछ कहता है, सब सत्य हो जाता है।[2]

श्राद्धके ७२ अवसर–वर्षभरमें ७२ श्राद्धके अवसर आते हैं। १२ अमावस्याएँ, १२ संक्रान्तियाँ, १४ मन्वादि एवं ४ युगादि तिथियाँ; ४ अवन्तिकाएँ (आषाढ़ी-आषाढ़में उत्तराषाढ़ानक्षत्रका योग; कार्तिकी; माघी, वैशाखी), १६ अष्टकाएँ (अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन दोनों पक्षोंकी सप्तमी-अष्टमी तिथियाँ हैं), ६ अन्वष्टकाएँ (पूस, माघ, फाल्गुनकी अष्टकाके पीछेवाली नवमी तिथियाँ), दो निधन-तिथियाँ एवं दो अयनयोग (उत्तरायण, दक्षिणायन)–ये ७२ श्राद्धके अवसर हैं।[1]

श्राद्धमें पाठ्य प्रसङ्ग–श्राद्धमें श्रीसूक्त, सौपर्णाख्यान, मैत्रावरुणाख्यान, पारिप्लवनाख्यान, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण उपवीती होकर कुशासनपर बैठकर, हाथमें कुश लेकर ब्राह्मणोंको सामनेसे सुनाना चाहिये।[2]

साथ ही पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्त, ऐन्द्रसूक्त, सोमसूक्त, सप्तार्चिस्तव, पावमानी, मधुमती, अन्नवती आदि सूक्त एवं ऋचाएँ भी श्लाघ्य हैं। (वी० श्राद्धप्र०)

शास्त्रमें प्रशस्त कुश–समूलाग्र हरित (जड़से अन्ततक हरे), श्राद्धके दिन उखाड़े हुए, गोकर्णमात्र परिमाणके कुश उत्तम कहे गये हैं।

कुश उखाड़नेका मन्त्र–पृथ्वीको खनतीसे कुछ कोड़कर प्रत्येक कुशको उखाड़ते समय 'ॐ हुं फट्' कहते जाना चाहिये। कुशोंको पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये।

कुशके भेद–विना फूल आये कुशको दर्भ कहते हैं। फूल आ जानेपर उन्हींका नाम कुश होता है। समूल कुशका नाम कुतप होता है। अग्रभाग काट देनेपर वे तृण कहे

---

१. कृष्णमाषतिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः।
तिलाः श्यामाकनीवाराः गोधूमा व्रीहयो यवाः॥
महायवा व्रीहियवास्तथैव च मधूलिकाः।
कालशाकं महाशाकं द्रोणशाकं तथार्द्रकम्॥
बिल्वामलकमृद्वीकाः पनसाम्रातदाडिमम्।
चव्यं पालेवताक्षोटं खर्जूरं च कसेरुकम्॥
कोविदारश्च कन्दश्च पटोलं बृहतीफलम्।
सर्वव्यविकाराणि प्रशस्तानि च पैतृके॥
मधूकं रामठं चैव कर्पूरं मरिचं गुडम्।
श्राद्धकर्मणि शस्तानि सैन्धवं त्रपुसं तथा॥
(वायु० पुरा०, हेमा०, श्राद्धचन्द्रि०, श्राद्धविवेक०, श्राद्धप्रका०, श्राद्धकल्प०)

२. यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन्।
सोऽविद्वांश्चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गारविक्रयम्॥
क्षिप्त्वा कूपे यथा किंचिद् बालः प्राप्तुं तदिच्छति।
पतत्यज्ञानतः सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा॥
न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥
(बृह० पारा०; श्रीमद्भा० ७। १५। ७८; हेमाद्रि, कालमा०; मदनरत्न; पृथ्वीचं०; स्मृतिरत्ना०; स्मृतिचन्द्रि०; दिवोदा० प्रका० दीपिकानिवर०, श्राद्धकल्प० आदि)

१. अमावस्या द्वादशैव क्षयाहद्वितये तथा।
षोडशापरपक्षस्य अष्टकान्वष्टकाश्च षट्॥
संक्रान्त्यो द्वादश तथा अयने द्वे च कीर्तिते।
चतुर्दश च मन्वादेर्युगादेश्च चतुष्टयम्॥
अवन्तिकाश्चतस्रश्च श्राद्धान्येवं द्विसप्ततिः।
(श्राद्धकमलाकर)

२. (क) स्वाध्यायं श्रावयेत् पैत्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(मनु० ३। २३२; पद्मपु० स० ९)

(ख) कुशपाणिः कुशासीन उपवीती जपेत् ततः।
वेदोक्तानि पवित्राणि पुराणानि खिलानि च॥
(वीर० श्राद्धप्र०; ब्रह्माण्डपुरा०)

जाते हैं। इन्हें पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये।[1] तीन कुशोंको लेकर बीचमें पेंच देनेका नाम 'मोटक' है। इनका केवल पितृकार्यमें प्रयोग होता है, प्रेतकार्यमें नहीं।

पितृतीर्थ—अँगूठे और प्रदेशिनी (तर्जनी) अँगुलीके बीचका स्थान पितृतीर्थ कहा जाता है।[2] इससे आचमन नहीं करना चाहिये। पितृकृत्यके लिये यह उत्तम है।

प्रजापतितीर्थ—कनिष्ठिका अँगुलीके पासका स्थान प्रजापतितीर्थ कहा जाता है।

दैवतीर्थ—अँगुलियोंके आगेका भाग दैव या देवतीर्थ कहलाता है।

ब्राह्मतीर्थ—हाथके अँगूठेके पासके भागको ब्राह्मतीर्थ कहा जाता है।[3]

श्राद्धमें निषिद्ध कुश—चितापर बिछाये हुए, रास्तेमें पड़े हुए, पितृ-तर्पण एवं ब्रह्मयज्ञमें उपयोगमें लिये हुए, बिछौने, गंदगीसे[4] तथा आसनमेंसे निकाले हुए, पिण्डोंके नीचे रक्खे हुए तथा अपवित्र हुए कुश निषिद्ध समझे जाते हैं।

श्राद्धमें वर्ज्य गन्ध—पुरानी लकड़ियोंको चन्दनके कार्यमें नहीं लेना चाहिये। निर्गन्ध काष्ठोंका भी उपयोग नहीं होना चाहिये। कपूर, केसर, अगर, खस आदि मिश्रित चन्दन श्राद्धकार्यमें प्रशस्त हैं। कस्तूरी, रक्तचन्दन, गोरोचन, सल्लक, पूतिक आदि वर्ज्य हैं। चन्दन लगानेके समय, विशेषकर ब्राह्मणोंको चन्दन लगाते समय पवित्र (कुश) हाथसे

१. अप्रसूताः स्मृता दर्भाः प्रसूतास्तु कुशाः स्मृताः।
समूलाः कुतपाः प्रोक्ताश्छिन्नाग्रास्तृणसंज्ञकाः॥
रत्निमात्रप्रमाणाः स्युः पितृतीर्थेन संस्कृताः।

२. (क) अन्तराङ्गुष्ठदेशिन्योः पितॄणां तीर्थमुत्तमम्।
(कूर्मपु० ११)
(ख) न पित्र्येण कदाचन। (मनु० २। ५८)

३. अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥
(मनु० २।५९)

४. चितादर्भाः पथिदर्भा ये दर्भा यज्ञभूमिषु।
स्तरणासनपिण्डेषु षट् कुशान् परिवर्जयेत्॥
ब्रह्मयज्ञे च ये दर्भा ये दर्भाः पितृतर्पणे।
हता मूत्रपुरीषाभ्यां तेषां त्यागो विधीयते॥
(श्राद्धसंग्रह, श्राद्धवि०, श्राद्धकल्पल०)

अवश्य निकाल देना चाहिये; अन्यथा पितृगण निराश होकर लौट जाते हैं।[1]

श्राद्धमें ग्राह्य पुष्प—श्राद्धमें कमल, मालती, जूही, चम्पा, प्रायः सभी सुगन्धित श्वेत पुष्प तथा तुलसी और भृङ्गराज अति प्रशस्त हैं।[2]

श्राद्धमें त्याज्य पुष्प—कदम्ब, केवड़ा, मौलसिरी, बेलपत्र, करवीर, लाल तथा काले रंगके सभी फूल तथा उग्र गन्धवाले फूल—ये सभी श्राद्धकार्यमें वर्जित हैं। पितृगण इन्हें देखते ही निराश होकर लौट जाते हैं।[3] मत्स्यपुराणमें—'पद्मबिल्वार्कधत्तूरपारिभद्राटरूषकाः। न देयाः पितृकार्येषु पय आजिकं तथा' से पद्मादिका भी वर्जन कहा है। पर हेमाद्रिने इससे स्थलजात पुष्प 'गुलाब' कहा है; क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र कमलको श्राद्धमें बड़ा प्रशंसनीय बतलाया गया है।

निषिद्ध धूप—अग्निपर दूषित गुग्गुल अथवा बुरा गोंद अथवा केवल घी डालना निषिद्ध है।[4]

भोजन-पात्र—सोने, चाँदी, काँसे और ताँबेके पात्र पूर्व-पूर्व उत्तमोत्तम हैं। इनके अभावमें पत्तलसे काम लेना चाहिये, पर केलेके पत्तेमें श्राद्ध-भोजन सर्वथा निषिद्ध है।[5]

१.(क)श्राद्धेषु विनियोक्तव्या न गन्धा देवदारुजाः।
कल्कीभावं समासाद्य न गन्धा देवदारुजाः॥
पूतिकं मृगनाभिं च रोचनं रक्तचन्दनम्।
कालीयं जोङ्गकं चैव तुरुष्कं चापि वर्जयेत्॥
(मरीचिस्मृ०,श्राद्धप्र०, श्राद्ध० कल्प०)
(ख) पवित्रं तु करे कृत्वा यः समालभते द्विजः।
राक्षसानां भवेच्छ्राद्धं निराशाः पितरो गताः॥
(व्यासस्मृ०, वृद्धशाता०, कल्पलता०)

२. शुक्लाः सुमनसः श्रेष्ठास्तथा पद्मोत्पलानि च।
गन्धरूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कृत्स्नशः॥

३. कदम्बं बिल्वपत्रं च केतकी बकुलं तथा।
बर्बरी कृष्णपुष्पाणि श्राद्धकाले न दापयेत्॥
पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च।
(शङ्खस्मृ०, प्रयोग०, मत्स्य०, ब्रह्माण्ड०,श्राद्ध० प्र०)

४. घृतं न केवलं दद्याद् दुष्टं वा तृणगुग्गुलम्।
(मदनरत्न, श्राद्धचन्द्रिका, श्रा० प्र०, श्रा० कल्प०)

५. कदलीपत्रं नैव ग्राह्यं यतो हि—
असुराणां कुले जाता रम्भा पूर्वपरिग्रहे।
तस्या दर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः॥
(श्राद्धचन्द्रिका कल्पलता०)

प्रशस्त आसन—रेशमी, नेपाली कम्बल, ऊन, काष्ठ, तृण, पर्ण, कुश आदिके आसन श्रेष्ठ हैं। काष्ठासनोंमें भी शमी, काश्मरी, शल्ल, कदम्ब, जामुन, आम, मौलसिरी एवं वरुणके आसन श्रेष्ठ हैं। इनमें भी लोहेकी कील नहीं होनी चाहिये।[१]

निषिद्ध आसन—पलाश, वट, पीपल, गूलर, महुआ आदिके आसन निषिद्ध हैं। साल, नीम, मौलसिरी एवं कचनारके भी आसन गर्हित हैं।[२]

पलाशका ६ स्थानोंमें प्रयोग निषिद्ध—पलाश यज्ञिय वृक्ष है; अतः आसन, शयन, सवारी, खड़ाऊँ, दँतुअन एवं पाद-पीठके लिये उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।[३]

श्राद्धमें प्रशस्त ब्राह्मण—शील, शौच एवं प्रज्ञा देखकर ब्राह्मणको श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये। श्राद्धमें अपने इष्टमित्रों तथा गोत्रवाले ब्राह्मणोंको खिलाकर संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। श्राद्धमें कम-से-कम छः पुरुषोंसे अलग हटे हुए गोत्रको तथा असमान गोत्रवालोंको ही भोजन करानेकी प्रशंसा है। योगीकी श्राद्धमें बड़ी महत्ता है।

श्राद्धमें पाद प्रक्षालन-विधि—श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बैठाकर पैर धोना चाहिये। पत्नीको दाहिने रहकर जल गिराना चाहिये, बाँयें नहीं।[४]

श्राद्धमें निषिद्ध ब्राह्मण—श्राद्धमें चोर, पतित, नास्तिक, मूर्ख, धूर्त, मांसविक्रयी, व्यापारी, नौकर, कुनखी, काले दाँतवाले, गुरुद्वेषी, शूद्रापति, भृतकाध्यापक-भृतकाध्यापित (शुल्कसे पढ़ाने या पढ़नेवाला), काना, जुआरी, अंधा, कुश्ती सिखानेवाला, नपुंसक इत्यादि अधम ब्राह्मणोंको त्याग देना चाहिये। (मनु०, विष्णु०, ब्रह्माण्ड०, मत्स्य०, वायु०, कूर्मपुराण)

श्राद्धमें निषिद्ध अन्न—कोदों, चना, मसूर, बड़ी उड़द, कुलथी, सत्तू, तीसी, रेंड़, मूली, काला जीरा, करीर (टेंटी), कचनार, कैथ, खीरा, काली उड़द, काला नमक, लौकी, कुम्हड़ा, बड़ी सरसों, काली सरसोंकी पत्ती, शतपुष्पी और कोई भी बासी, गला, सड़ा, कच्चा, अपवित्र फल या अन्न निषिद्ध है।[१]

श्राद्धमें भोजनके समय मौन आवश्यक—श्राद्धमें भोजनके समय मौन रहना चाहिये। माँगने या प्रतिषेध करनेका इशारा हाथसे करना चाहिये। जल पीते हुए उसमेंसे यदि कुछ भोजनपात्रमें भी गिर जाय तो वह अन्न अभोज्य हो जाता है। उसे खाकर चान्द्रायण करना पड़ता है। भोजन करते समय ब्राह्मणसे 'अन्न कैसा है?' यह नहीं पूछना चाहिये, अन्यथा पितर निराश चले जाते हैं।[२]

तर्पण-सम्बन्धी कुछ विशेष नियम

साधारण नित्य तर्पण दोनों हाथोंसे करना चाहिये,

---

१. क्षौमं दुकूलं नेपालमाविकं दारुजं तथा।
तार्णं पार्णं बृसी चैव विष्टरादि प्रविन्यसेत्॥
शमी च काश्मरी शल्लः कदम्बो वरुणस्तथा।
पञ्चासनानि शस्तानि श्राद्धे देवार्चने तथा॥
अयःशङ्कुमयं पीठं प्रदेयं नोपवेशनम्।
(श्राद्धकल्पलता)

२. पालाशवटवृक्षोत्थमश्वत्थं शालवृक्षकम्।
वृत्तिकोदुम्बरं पीठं माधुकं च विवर्जयेत्।
(पुलस्त्यस्मृ०)

३. (क) आसनं शयनं यानं पादुके दन्तधावनम्।
वर्जयेद् भूतिकामस्तु पालाशं नित्यमात्मवान्॥
(यमस्मृ०, कृत्यकल्प०, आपा०)
(ख) न पालाशे पादुके पादपीठे आसनं
शयनं यानं दन्तधावनं वा कुर्यात्।
(आपस्तम्बधर्म०)

४. पादप्रक्षालनं प्रोक्तमुपवेश्यासने द्विजान्।
तिष्ठतां क्षालनं कुर्यान्निराशाः पितरो गताः॥
श्राद्धकाले यदा पत्नी वामे नीरं प्रदापयेत्।
आसुरं तद् भवेच्छ्राद्धं पितॄणां नोपतिष्ठते।
(स्मृत्यन्तर, आ० क०)

१. कोद्रवा राजमाषाश्च मसूराश्च कुलत्थकाः।
सक्तवश्चाढकी कृष्णजीरकं काञ्चनालकम्॥
कुसुम्भमतसी चैव विडाललवणं तथा।
एरण्डकाः कृष्णमाषा आविकं माहिषं तथा॥
गन्धारिका मर्कटी च महासर्षपमूलकम्।
कृष्णसर्षपपत्रं च करीरं काञ्चनालकम्॥
अलाबु शतपुष्पी च कूष्माण्डं पूतिगन्धि च।
सर्वं पर्युषितं चैव आच्छ्रान्तं वावधूनितम्।
परिदग्धमदग्धं वा वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि।
चणका राजमाषाश्च घ्नन्ति श्राद्धं न संशयः॥
(विश्वा० स्मृ०, श्राद्धकल्प०)

२. न वदेन्न च हुंकुर्यादतृप्तौ विरमेन्न च।
याचनं प्रतिषेधो वा कर्तव्यो हस्तसंज्ञया॥
पिबतः पतितं तोयं यदा भोजनभाजने।
अभोज्यं तद् भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
(श्राद्धदीपि०, श्रा० क०)

किंतु श्राद्धका तर्पण केवल दाहिने हाथसे करना चाहिये[1]। तर्पण स्थलपर स्थित होकर स्थलमें तथा जलमें स्थित होकर जलमें ही करना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे वह निरर्थक होता है[2]। स्नानाङ्ग तर्पण, ग्रहण, महालय, तीर्थ-विशेष एवं गयादिमें तो तिलसे तर्पणका कोई निषेध नहीं है[3], पर तदतिरिक्त तर्पणके लिये शुक्रवार, रविवार, गजच्छायायोग, संक्रान्ति, युगादि, मन्वादि तिथियोंमें तिलका तर्पण निषिद्ध है। तिल-तर्पण खुले हाथसे देना चाहिये। तिलोंको रोओंमें अथवा हस्तमूलमें लगे नहीं रहना चाहिये[4]।

पिण्डकी अष्टाङ्गता—अन्न, तिल, जल, दूध, घी, मधु, धूप और दीप—ये पिण्डके आठ अङ्ग हैं।

पिण्डका प्रमाण—एकोद्दिष्ट तथा सपिण्डनमें कैथ (कपित्थ) के फलके बराबर, मासिक तथा वार्षिक श्राद्धमें नारियलके बराबर, तीर्थमें मुर्गेके अण्डेके बराबर तथा गया एवं पितृपक्ष-में आँवलेके बराबर पिण्ड देना चाहिये। महालय, गयाश्राद्ध, प्रेतश्राद्धमें 'पिण्ड' शब्द तथा अन्यत्र सभी श्राद्धोंमें पिण्डके स्थानमें 'अन्न' शब्दका प्रयोग करना चाहिये[1]।

श्राद्ध-मन्त्रोंमें ऋषि, देवता, छन्द-स्मरण अनावश्यक—तर्पण, श्राद्ध, यज्ञ एवं श्रौत होममें ऋष्यादिका स्मरण अनावश्यक एवं वर्जित है[2]। 'ओंकार' भी श्राद्धमन्त्रोंमें नहीं उच्चारण करना चाहिये।

श्राद्धभोजनके लिये प्रायश्चित्त

पार्वण आदि श्राद्धोंमें भोजनके लिये प्रायश्चित्त—पार्वण श्राद्धमें भोजन करनेपर छः प्राणायाम करने चाहिये। त्रैमासिक एवं वार्षिक श्राद्धोंमें भोजन करनेपर उपवासकी आज्ञा है। मृतकश्राद्धमें भोजन करनेपर प्राजापत्य व्रत करके शुद्ध होता है। पापियोंके षोडश श्राद्धोंमेंसे किसी भी श्राद्धमें भोजन करनेपर चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि होती है। क्षत्रियके श्राद्धमें इससे दूना, वैश्यके श्राद्धमें तिगुना और शूद्रके श्राद्धमें चौगुना व्रत करना पड़ेगा[3]।

---

१. श्राद्धकाले विवाहे च पाणिनैकेन दीयते।
तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष सनातनः॥
(कार्ष्णाजिनि, व्याघ्रपाद, श्राद्धसं०, श्रा० क० ल०)

२. स्थले स्थित्वा जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः।
नोपतिष्ठति तद् वारि पितॄणां तन्निरर्थकम्॥
(गोभिलस्मृति०)

३. संक्रान्त्यादिनिमित्ते तु स्नानाङ्गे तर्पणे द्विजः।
तिथिवारनिषेधेऽपि तिलैस्तर्पणमादिशेत्॥
उपरागे पितुः श्राद्धे पातेऽमायां च संक्रमे।
निषिद्धेऽपि हि सर्वत्र तिलैस्तर्पणमाचरेत्॥
तीर्थे तीर्थविशेषे च गयायां प्रेतपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात् तर्पणं तिलमिश्रितम्॥
(वृद्धमनु०, श्रा० क० ल०)

४. हस्तमूले तिलान् क्षिप्त्वा यः कुर्यात् तिलतर्पणम्।
तज्जलं रुधिरं ज्ञेयं ते तिलाः कृमिसंज्ञिताः॥
रोमसंस्थांस्तिलान् कृत्वा यस्तु तर्पयते पितॄन्।
पितरस्तर्पिता तेन रुधिरेण मलेन वा॥
(श्राद्धसं०, गोभिल स्मृ०)

१. (क) एकोद्दिष्टे सपिण्डे च कपित्थं तु विधीयते।
नारिकेलप्रमाणं तु प्रत्यब्दे मासिके तथा॥
तीर्थदेशे च सम्प्राप्ते कुक्कुटाण्डप्रमाणतः।
महालये गयाश्राद्धे कुर्यादामलकोपमम्॥
(ख) महालये गयाश्राद्धे प्रेतश्राद्धे दशाहिके।
पिण्डशब्दप्रयोगः स्यादन्नमन्यत्र कीर्तयेत्॥
(श्राद्धसंग्रह)

२. न स्मरेदृषिदैवं च श्राद्धे वैतानिके मखे।
ब्रह्मयज्ञे च वै तद्वत् तथोंङ्कारं च नोच्चरेत्॥
(श्राद्धसंग्रह)

सर्वत्रोंङ्कारमुच्चार्य श्राद्धमन्त्रेषु नोच्चरेत्।
आर्षच्छन्दांसि वै तद्वत् यज्ञतर्पणकर्मणि॥
(बृ० वसि०)

३. भुक्तं चेत् पार्वणे श्राद्धे प्राणायामान् षडाचरेत्।
उपवासस्त्रिमासादौ वासरान्तं प्रकीर्तितः॥
प्राणायामत्रयं वृद्धावहोरात्रं सपिण्डने।
प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके॥
पापिनां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः।
द्विगुणं क्षत्रियस्यैतत् त्रिगुणं वैश्यभोजने॥
साक्षाच्चतुर्गुणं ह्येतद् स्मृतं शूद्रस्य भोजने।
(भरद्वाजसं०, शंखस्मृ०, श्रा० क० ल०)

श्राद्धके कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द

१. **अग्नौकरण**–अग्निहोत्री हो तो अग्निहोत्रकी अग्निमें तथा अन्य जनोंके द्वारा एक दोनेमें ही।

(१) अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, इदमग्नये न मम।

(२) ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा, इदं सोमाय पितृमते न मम।

इस मन्त्रसे दो आहुतियाँ देनेका नाम अग्नौकरण है।

२. **परिवेषण**–पित्रादिकोंके लिये भोजन परोसना ही परिवेषण है।

३. **उर्जकरण**–सूत्रदानके बाद जल गिराना ही 'उर्जकरण' है। ('उर्ज्जमित्यपो निषिञ्चति' कात्यायन-श्रौतसूत्र ४। १। १९)।

४. **पर्युक्षण**–हवनके बाद ईशानकोणसे आरम्भ करके अग्निकोणतक चारों ओर जल गिराना।

५. **अवनेजल**–दाहिने हाथके पितृतीर्थसे थोड़ा जल कुशोंके मध्यमें गिराना।

६. **क्षणदान**–थोड़ी देरतक चुप, शान्त रहना।

७. **अपसव्य या प्राचीनावीती होना**–जनेऊको दाहिने कंधेपर डालकर बायें हाथके बीच कर लेना।

८. **सव्य या उपवीती**–जनेऊको बायें कंधेके ऊपर तथा दाहिने हाथके नीचे रखना।

९. **निवीती या माल्यवत्**–जनेऊको गलेमें मालाकी तरह कर लेना।

१०. **अर्घ्यपात्र**–श्राद्धके अर्घ्यपात्ररूपमें मिट्टी, काँसे, पीतल, राँगे, सीसे अथवा लोहेके किसी पात्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये[1]।

११. **चन्दन-दानमें विशेष**–पितरोंको चन्दन सर्वदा केवल तर्जनी अँगुलीसे ही देना चाहिये[2]।

श्राद्धसारसर्वस्व सप्तार्चिस्तोत्र

अमूर्तानां समूर्तानां पितृणां दीप्ततेजसाम्।
नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां योगचक्षुषाम्॥
इन्द्रादीनां जनयितारो दक्षमारीचयोस्तथा।
सप्तर्षीणां पितृणां च तान्नमस्यामि कामदान्॥
मन्वादीनां सुरेशानां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा।
तान्नमस्यामि सर्वान् वै पितृनप्स्वर्णवेषु च॥
नक्षत्राणां ग्रहाणां च वाय्वग्निपितरस्तथा।
द्यावापृथिव्योश्च सदा नमस्ये तान् पितामहान्॥
देवर्षीणां जनयितॄंश्च सर्वलोकनमस्कृतान्।
अभयस्य सदा दातॄन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च।
योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
पितृगणेभ्यः सप्तभ्यो नमो लोकेषु सप्तसु।
स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ब्रह्मणे लोकचक्षुषे॥
एतदुक्तं च सप्तर्षिब्रह्मर्षिगणपूजितम्।
पवित्रं परमं ह्येतच्छ्रीमद् रक्षोविनाशनम्॥
एतेन विधिना युक्तस्त्रीन् वराँल्लभते नरः।
अन्नमायुः सुतांश्चैव ददते पितरो भुवि॥
भक्त्या परमया युक्तः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
सप्तार्चिषं जपेद् यस्तु नित्यमेव समाहितः॥
सप्तद्वीपसमुद्रायां पृथिव्यामेकराड् भवेत्।

(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड; ब्रह्माण्डपु०, गरुड़पुराण पूर्वख० ८९। ५२। ६९; श्रीविष्णुधर्मोत्तर० १। १४१। ७८–८४, वायुपु० ७४। २०–३०, मार्कण्डेयपु० ९६)

('कर्मकाण्डदर्पण' नामक अप्रकाशित पुस्तकसे)

गुलाबजल और गङ्गाजल

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

क्यारिन में सूलन की डारिन पै वास तेरो, पायो इन ऊँचो पद बिसनु पदी को है।
अनल तपायो तोहि, बोतल समायो, यह भूतल पै छायो, जल संभू-जटनी को है॥
याके अंग लागत ही पाप झरि जात, तव लागत अनंग-बस अंग सबही को है।
नैन-पीर मेटत तू केवल गुलाब जल, भव-पीर मेटन को गङ्गाजल नीको है॥

१. मृत्स्नाभवं तथा कांस्यमारकूटादिसम्भवम्। त्रपुशीशकलोहानामर्घपात्रं विवर्जयेत्॥

२. पितॄणामर्पयेद् गन्धं तर्जन्या च सदैव हि।

किसका ध्यान करूँ ?

[आरण्यक-शाण्डिल्य-संवाद]

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

महर्षि आरण्यकको तपस्या करते कई वर्ष बीत गये। उनका आश्रम विन्ध्य पर्वतके नीचे एक घने जंगलमें था। चारों ओर हिंस्र पशुओंका निवास था, पर ऋषिवर निर्भीक होकर तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। आश्रमके द्वारपर गौएँ बँधी रहती थीं। दिनमें वे निर्भय घास चरती थीं। किसी हिंसक पशुका इतना साहस नहीं होता था कि वह गौकी ओर तिरछी नजरसे देख भी सके।

शरीर-रक्षाके लिये महात्मा आरण्यक केवल दूध और फल ही ग्रहण करते। मासमें एक सप्ताह जल और वायुपर ही निर्भर रहते। जब समाधिस्थ होते, तब ब्रह्मानन्दमें इतने विलीन हो जाते कि सम्पूर्ण इन्द्रियजन्य व्यापार शिथिल हो जाते और क्षुत्-पिपासापर भी नियन्त्रण हो जाता। ऋषिवर इस प्रकार एकान्तभावनासे कृच्छ्र तपके मार्गपर निर्विघ्न अग्रसर हो रहे थे। शरीर तो शुष्क, कण्टकवत् और अस्थिमात्र रह गया था।

मुनिवरका बाह्य जगत्से सम्पर्क विच्छिन्न ही रहता था। सारा समय जप-तप, ध्यान-समाधि और मौनावलम्बन-में ही व्यतीत होता। कभी कोई जिज्ञासु आ जाता तो उनकी शङ्काओंका उत्तर संक्षेपमें ही दे देते।

ऐसा ही प्रसङ्ग एक दिन आया। नर्मदा नदीके किनारे भास्वान् आचार्यका आश्रम था। वहाँ गुरुकुलमें कई ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रत्येक छात्रको आचार्य-श्रीकी सेवामें रहते हुए न्यूनतम पचीस वर्षकी आयुतक ब्रह्मचर्यका व्रत पालन करना होता था। संसारके उतार-चढ़ावसे असम्बद्ध रहते हुए गुरु-चरण-सेवा, विद्याभ्यास और अध्यात्मचिन्तन बस, ये ही जीवनके लक्ष्य थे।

आचार्य भास्वान्का एक शिष्य शाण्डिल्य ब्रह्मचर्य-काल समाप्त करके घर वापस जा रहा था। मार्गमें ही महर्षि आरण्यकका आश्रम था। शाण्डिल्यने ऋषिचरणोंके दर्शनसे अपनेको पुनीत करनेका संकल्प किया। उसके हृदयमें कई शङ्काएँ थीं। उनका निवारण भी वह करना चाहता था।

प्रातःकालकी प्रशान्त बेला थी। उपत्यकास्थित कुटी-में ऋषि आरण्यक ध्यानमग्न थे। सामने सरोवरके शान्त जलको हंस और सारस उद्वेलित कर रहे थे। त्रिविध कमलपुष्प-पराग-कण-सिक्त पवन मन्द-मन्द गतिसे बह रहा था। सरोवर-तटके एक ओर सिंह और दूसरी ओर मृग-शावक अपनी थकान मिटानेके लिये अर्द्ध-निद्रालु हो मक्खी-मच्छरोंसे, निश्चिन्त भावसे, संघर्ष कर रहे थे।

ब्रह्मचारी शाण्डिल्य निःशब्द हो विनय भावसे ऋषि-आसनसे तनिक दूर भूमिपर बैठ गये। कई घंटोंकी समाधिके बाद तपःपूत महर्षिने नेत्र खोले। कुशाग्रसे प्रवाहित ज्योति और तेजोराशि कुटीरमें सर्वत्र व्याप्त थी। आध्यात्मिक शान्ति और ब्रह्मदर्शनोद्भव आनन्द मुनिके मुखपर विराजमान था। ब्रह्मचारीने तत्काल साष्टाङ्ग प्रणाम किया और श्रद्धासे अञ्जलि बाँधकर विनीत भावसे बैठ गया। युवकके मुखकी ओर दृष्टिपात करते हुए महर्षि बोले-

'वत्स ! किस उद्देश्यसे इधर आना हुआ ?'

शाण्डिल्यने विनयपूर्ण शब्दोंमें अपने आचार्यकुलका परिचय दिया और कहा—भगवन् ! शिक्षा समाप्तकर वापस घर जा रहा हूँ। कुछ शङ्काएँ हैं। इनके निवारणके लिये ही आज आपकी चरणधूलि लेने आया हूँ।

आरण्यक—ब्रह्मचारी ! कहो क्या शङ्का है ?

शाण्डिल्य—पापभावनासे निवृत्त होनेके लिये सतत सचेष्ट रहता हूँ पर सफल नहीं हो पाता। कोई सहज उपाय बतानेकी अनुकम्पा करें।

आरण्यक—पाप-निवृत्तिका कोई भी मार्ग सहज नहीं हो सकता। प्रत्येक उपाय प्रयत्नसाध्य और समयसापेक्ष है।

शाण्डिल्य—पर ऋषिवर ! प्रारम्भिक पग क्या हो-जो मुझ-सदृश एक सामान्य व्यक्तिके लिये सम्भव हो—यह तो कुछ निर्देश करें।

आरण्यक—सौम्य ! तुम्हारा यह प्रश्न युक्तिसंगत है। प्रारम्भसे ही ब्रह्मका ध्यान साधकके लिये कठिन होता है और

बिना किसी उच्च और परम पवित्र शक्तिका ध्यान किये पाप-मोचन नहीं हो सकता ।

शाण्डिल्य—तब हृदयशुद्धिके लिये किस पवित्र और उच्च शक्तिका ध्यान करूँ ?

आरण्यक—इस दिशामें सर्वपापनाशक और इष्ट-साधक पुनीत शक्ति श्रीरामजी हैं । भगवान् श्रीरामके अनवरत चिन्तनसे मुमुक्षुके अन्तस्तलमें प्रसुप्त पाप-संस्कार और प्रकट-में आ रहे पर्वत-सदृश पाप-पुञ्ज, कुछ समय बाद ही उपशमित हो जाते हैं ।

शाण्डिल्य—ऋषिवर ! श्रीरामका किस रूपमें ध्यान करूँ?

आरण्यक—श्रीराम अद्वितीय, पूर्णपुरुष, निष्पाप, निष्कलङ्क, उज्ज्वलचरित्र, दीनवत्सल, भवभञ्जक, भय-त्राता और षोडशकलापूर्ण अवतार हैं । उनकी इसी स्नेह-मयी, ममतापूर्ण और वात्सल्यमयी मूर्तिका अहर्निश चिन्तन पापके गरजते मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देगा और तुम्हारे हृदया-काशको स्वच्छ, निर्मल बना देगा । श्रीराम अद्भुत और अति मानवीय गुणोंके पुञ्ज हैं । मानव-जातिका कल्याण ही नहीं, प्राणिमात्रके हितके लिये उन्होंने पृथ्वीपर अवतार लिया । भगवान् श्रीरामको इस भवसागरके पार करनेमें परम सहायक मानकर ही तुम अपने मानस-पटलको निष्पाप और पवित्र कर सकते हो ।

शाण्डिल्य—महर्षे ! आपके इन श्रीवचनोंसे मेरे मनका संताप निवृत्त हो गया । पर एक शङ्का और है । आज्ञा करें तो उपस्थित करूँ ।

आरण्यक—वत्स ! निःसंकोचभावसे पूछो ।

शाण्डिल्य—श्रीरामके किस विग्रहको सम्मुख रखकर मुझे एकाग्रचित्त होना चाहिये ?

आरण्यक—अपनी रुचि, भावना और स्थितिके अनुसार श्रीरामकी विभिन्न झाँकियाँ हैं, जो ध्यानके लिये उपयुक्त हो सकती हैं । जैसे कौसल्यानन्दन राम, भरतके साथ राम, लक्ष्मण-सीताके मध्य राम, हनुमान्द्वारा सेवित श्रीराम और प्रजा-रञ्जक राम । पर साधना प्रारम्भ करनेके लिये श्रीरामकी मधुर, मनोमोहक और बालसुलभ मूर्तिका ही चिन्तन करना श्रेयस्कर होगा ।

शाण्डिल्य—धन्य हैं, भगवन् ! संशय और शङ्काओंके सब मेघ छिन्न-भिन्न हो गये । अवश्य इस पथपर दृढ़ताके साथ अग्रसर होऊँगा । आपकी शुभाशिषकी कामना करता हूँ ।

ऋषि-चरणोंमें विनयावनत हो शाण्डिल्य बड़ी प्रसन्न-मुद्राके साथ वहाँसे विदा हुआ ।

(पद्मपुराणके एक प्रसङ्गके आधारपर)

भगवान् अनन्त प्रेमस्वरूप हैं

भक्तिकी तुलना एक त्रिकोणके साथ की जा सकती है । इस त्रिकोणका पहला कोण यह है कि भक्ति या प्रेम कोई प्रतिदान नहीं चाहता । प्रेममें भय नहीं है, यह उसका दूसरा कोण है । पुरस्कार या प्रतिदान पानेके उद्देश्यसे प्रेम करना भिखारीका धर्म है—व्यवसायीका धर्म है, यथार्थ धर्मके साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध है । कोई भिक्षुक न बने, क्योंकि वैसा होना नास्तिकताका चिह्न है । 'जो आदमी रहता है गङ्गाके तीरपर, किंतु पानी पीनेके लिये कुआ खोदता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है ?'—जड वस्तुकी प्राप्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना करना भी ठीक वैसा ही है । भक्तको भगवान्से सदा इस प्रकार कहनेके लिये तैयार रहना चाहिये—'प्रभो ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता । मैं तुम्हारे लिये अपना सब कुछ अर्पित करनेके लिये तैयार हूँ ।'

× × × × ×

अब इस त्रिकोणका तीसरा कोण यह है कि प्रेम ही प्रेमका लक्ष्य है । अन्तमें भक्त इसी भावपर आ पहुँचते हैं कि प्रेम ही सत् है और बाकी सब कुछ असत् है । भगवान्का अस्तित्व प्रमाणित करनेके लिये मनुष्यको अब और कहाँ जाना होगा ? इस प्रत्यक्ष संसारमें जो कुछ भी पदार्थ हैं, उन सबके अंदर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखायी देनेवाले तो भगवान् ही हैं । वे ही वह शक्ति हैं, जो सूर्य, चन्द्र और तारोंको घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री-पुरुषोंमें, सभी जीवोंमें, सभी वस्तुओंमें प्रकाशित हो रही है । जड शक्तिके राज्यमें, मध्याकर्षण शक्तिके रूपमें वे ही विद्यमान हैं । प्रत्येक स्थानमें, प्रत्येक परमाणुमें वे ही वर्तमान हैं—सर्वत्र उनकी ज्योति छिटकी हुई है । वे ही अनन्त प्रेमस्वरूप हैं, संसारकी एकमात्र संचालिनी शक्ति हैं और वे ही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं ।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्मराज्य-वाद

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

श्रीभगवान्‌को अपनी माताके उदरमें अपनी रक्षा करते हुए देखनेवाले महान् जीवात्मा, जिनकी परीक्षा जन्मके बाद प्रभुको खोजनेमें, राज्य करते समय प्रभुको भजनेमें, शिकार करने जाते समय ब्रह्मतेजकी अवहेलनामें और महाप्रयाणके समय श्रीभगवत्-कथामृतमें तल्लीन होनेमें हुई थी, उन महाराज परीक्षित्‌ने जब परम भागवत मुनि श्रीशुकदेवजीसे दुनियाभरके प्रश्न जीवोंके परम कल्याणके लिये पूछे, तब तत्त्वको हस्तामलकवत् देखनेवाले और तत्त्वचिन्तनके बिना 'सब मिथ्या है' यह जाननेवाले उन महामुनिने पहले ही श्लोकमें सारे ज्ञानका, उपासनाका और क्रियाका सार इस प्रकार कह दिया—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥

'राजन् ! तुझे मैं क्या उत्तर दूँ ? आत्मा जो केवल अनुभवसे ही जाना जाता है, उसका पदार्थके साथ सम्बन्ध ही उसकी अपनी लीलाके सिवा साक्षात्‌रूपमें घट नहीं सकता, उसी प्रकार जैसे स्वप्न देखनेवालेका स्वप्नके पदार्थोंके साथ सम्बन्ध मायिक ही होता है ।'

परम तत्त्वज्ञ शुकदेवजीका यह उत्तर परीक्षित्‌के लिये ही नहीं था, बल्कि सारी दुनियाके लिये था, है और रहेगा । इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इस मायिक जगत्‌में अखण्ड आनन्दरूप परमात्माको कुछ लेना-देना नहीं है । यह तो सब माया है, इन्द्रजाल है । द्वैतमात्र मिथ्या है, समस्त संसार ही स्वप्न है और संसारके सभी पदार्थ स्वप्नकी सामग्री हैं । फिर इनके लिये माथापच्ची क्यों करे ? इसमें जीव लिप्त क्यों हो, इसमें फिर सुधार क्या किया जाय और यदि इसमें तत्त्वचिन्तक लिप्त होता है, जीव फँस जाता है अथवा दुनियाको सच मानकर उसमें गोता खाता है तो उसको क्या कहें ? जैसे अमृतका छींटा पड़ते ही मृतदेह सजीव हो जाता है या स्पर्शमणिको छूते ही लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार इस तत्त्वका प्रकाश होते ही संसारका अज्ञानान्धकार सदाके लिये विलीन हो जाता है । जब संसार ही असत् है, तब उसमें समाज, राज्य और राज्यके लिये चिन्ता कैसी ? इनके लिये इतनी विडम्बना क्यों ? और इसके लिये सिरतोड़ प्रयत्न क्यों ? इस तत्त्वका ज्ञान ही शान्तिकी, सुखकी, मिथ्या प्रयत्नोंको समाप्त करनेकी और समझदारको समझानेकी, समस्त वादोंको जीतनेकी और सत्यका साम्राज्य सिद्ध करनेकी, चतुरको चेतानेकी और चालाकीको चतुराई माननेवालोंकी आँखें खोलनेकी चाबी है तथा इसी पद्धतिसे सत्य विजयी होता है ।

परम सत्यकी प्राप्ति कैसे हो ?

परंतु मायामें फँसा हुआ जीव कहता है—'भाई साहब ! यह सब मिथ्या है ? यह बात तो मनमें कुछ बैठती नहीं । प्रभुकी माया होगी, परंतु हमारे लिये तो यह सत्य ही सिद्ध हो रही है और आने-जानेवाले सुख-दुःखोंको सत्य दिखला रही है । ये सब अनेक रूप मायाके होंगे, परंतु इसीमें हमको तो जैसे 'मैंपन' और 'मेरापन' दीख रहा है और इसीमें हम रमण करने लगे हैं ।' इसीके उत्तरमें भगवान्‌ने ब्रह्माको चार श्लोकोंमें समस्त भागवतका ज्ञान कहा । इसमें बात यही है कि परम सत्य देश-काल-वस्तुसे बाधित नहीं होता । इस सत्यकी अनुभूति कैसे होती है ?—संयमरूप तपश्चर्यासे, संशुद्धिपूर्ण उपासनासे और सर्वज्ञके अनुग्रहसंयुक्त ज्ञानसे । इन तीनोंका महान् समन्वय ही यज्ञ है । यह यज्ञ देवोंने—जीवात्माओंने पहले किया और वह यज्ञरूप भगवान्‌के शरीरके द्वारा, यज्ञरूप भगवान्‌की यजन-क्रियाके द्वारा, इस समस्त संसार-लीलाके मायिक सर्जन-विसर्जनके द्वारा देवताओंने किया और वह जीवोंका प्रथम धर्म हुआ । जीवोंकी सृष्टिके साथ ही जीवोंके धर्मका सृजन हुआ और उस धर्मने ही प्रजाको उसकी स्थितिमें धारण कर रक्खा है । एकसे ही अपनी मायाके द्वारा अनेक हुए अथवा अनेक रूपोंमें दिखायी देनेवाले समस्त व्यक्तियोंके सत्कर्म, सदुपासना और सत्-ज्ञान—ये सामान्य धर्म हैं, और वे सबके विशिष्टरूपमें फिर विशिष्ट धर्म भी हैं । बालकके जन्मनेके साथ ही माताके स्तनमें प्रभु जो दूधका झरना भर देते हैं, उन्हीं प्रभुने जीवात्माकी उत्पत्तिके साथ ही उसे उन धर्मोंका ज्ञान दे दिया, जो श्रुति अथवा वेदके रूपमें विख्यात है और इसीसे वेदमें कथित इस जीवनके महामार्गको धर्म कहते हैं । इस वेदकी समय-क्रमसे अनेकों शाखाएँ-प्रशाखाएँ हो

गयी। इसी प्रकार जीवोंकी अनेक प्रकारकी मतियोंसे उसमें अनेक प्रकारके भेद हो गये तथा अनेक सम्प्रदाय, पंथ और मार्ग बन गये । उनमें ज्ञानप्रधान सात्त्विक, क्रिया-प्रधान राजसी और प्रमादप्रधान तामसिक मार्ग भी अस्तित्वमें आये । यह गुणोंका तारतम्य भी कैसा ? पाँच वर्षके राजकुमार ध्रुवमें इतनी श्रद्धा थी कि जब नारदजीने उसको डराया—'भैया ! तू जंगलमें तप करने जा रहा है। वहाँ तेरे खाने-पीने और रहनेकी क्या व्यवस्था होगी ?' तब ध्रुवजीने इस प्रश्नका बड़ा सीधा-सा उत्तर दिया—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स मे वृत्तिं विधास्यति ॥

'नारदजी ! आप मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं ? हंसको जिसने श्वेत बनाया, तोतेको हरा बनाया तथा मोरको जिसने विभिन्न रंगोंसे चित्रित किया, वही मेरे निर्वाहकी व्यवस्था करेगा।' नारदजी प्रसन्न हो गये । बच्चा परीक्षामें पास हो गया और आनन्दित होकर उन्होंने उसको परम सत्यका मन्त्र दिया। प्रह्लादजी भी परीक्षामें सफल निकले । नास्तिकोंका शोर-गुल कोई आज नया नहीं है । उसके पिता हिरण्यकशिपुने अपने भाईको मारनेवाले विष्णुको बदला लेनेके लिये बहुत खोजा । भगवान्‌ने देखा कि यह मूढ़ अन्तरमें नहीं देखता, इसलिये उसके हृदयाकाशमें वे छिप गये । हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा—'तेरा भगवान् कहाँ है ? मुझे तो कहीं मिलता नहीं ।' प्रह्लादने कहा—'पिताजी ! मुझे तो वह सब जगह दीखता है, आपको क्यों नहीं दिखलायी देता ?' देखनेवालेको उससे रहित कोई खाली स्थान नहीं दीखता और न देखनेवालेको वह कहीं मिलता ही नहीं । बात तो यह है न कि सत्यके नेत्र प्रभु खोलते हैं, तब खुलते हैं। कहते हैं कि बिल्लीके बच्चोंकी आँखें सातवें दिन खुलती हैं । कितने ही लोगोंकी आँखें सौ वर्ष भी नहीं खुलतीं । इस उदाहरणसे कर्म, उपासना और ज्ञानकी सारी समस्याओंका समाधान हो जाता है । ईश्वर जगत्‌का नियन्ता है, उसके रचे हुए इस विश्वका विधान अद्भुत, अप्रमेय तथा अलङ्घनीय है । उसके विधि-निषेधोंका अनुसरण करनेसे पुरुषार्थमात्रकी सिद्धि तथा उसके विरुद्ध आचरण करनेसे दण्ड और विफलता भी निश्चित है ।

विश्वका इतिहास-दर्शन—शास्त्रदृष्टिसे

विश्वकी मायिकता हमने बतलायी, तथापि यह विश्व हमारी माया नहीं है, यह ईश्वरकी माया है; इसलिये यह अघटन-घटनापटीयसी, अप्रमेय और अनिर्वचनीय है यानी सदसद्रूपा है । वह जबतक दीखती है, उतने कालके लिये उसे सत् ही कहना पड़ता है । पीछे वह विलीन हो जाती है, बदल जाती है, इसलिये उसको असत् भी मानना पड़ता है । इस मायासे यह विश्व रचा गया है और वह ठहरी सदसद्रूप या अनिर्वचनीय और इस कारण उसके सारे निराकरण—खण्डन वस्तुतः काल्पनिक या मायिक हैं । परंतु उस सर्वज्ञ ईश्वर या उसके अवतारोंकी अव्यवहित दृष्टिसे किये गये वे निराकरण स्वयं उसके द्वारा निर्णीत विधि-निषेधोंकी भाँति ही हमारे लिये उपकारक हैं । ये निराकरण ऐतिहासिक दृष्टिसे क्या हैं, इसपर जरा ध्यान दीजिये—

(१) सृष्टि अनादिकालसे, अगणित वर्षोंसे चलती आयी है और उसके अनन्त जीवनमें कोई भी आश्चर्य या असम्भवता नहीं है ।

(२) सृष्टि-चक्रमें प्रथम सात्त्विकताका युग आता है । पीछे क्रमशः सत्त्वका धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है तथा रजोगुण एवं तमोगुणकी वृद्धि चारों युगोंतक होती आती है; फिर अन्तमें वैसा ही सत्ययुग आता है और यह चक्र चला करता है । आजकल कलि*युग—चौथा युग है, इससे लड़ाइयाँ अधिक दिखलायी देती हैं ।

(३) यह विश्व परम सम्राट् ईश्वरका साम्राज्य है । हमारी दुनियाँमें भी असंख्य वर्षोंसे राज्य और साम्राज्य राजाओं तथा सम्राटोंद्वारा ही संचालित होते आये हैं और अधिकांशमें वे अच्छे ही चले हैं । उन्होंने धर्मका अवलम्बन करके राज्य किया, इससे उनकी व्यवस्था भी ठीक रही ।

(४) दुनियाँकी प्राचीन-से-प्राचीन भाषा संस्कृत है, जो सभी भाषाओंसे बढ़कर विशाल, व्यवस्थित, वैज्ञानिक और पूर्ण है तथा वही वेदकी एवं दुनियाँके सबसे महान् ग्रन्थ महाभारत, रामायण और पुराणोंकी भाषा है ।

(५) कर्म, उपासना, ज्ञानके—विद्या, कला तथा साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थ आर्योंके साहित्यमें हैं । उसीमेंसे सब मनुष्योंने परम्परासे प्रसादी (जूठन) प्राप्त की है । आर्य अर्थात् सुसंस्कारी जनोंकी भाषा संस्कृत, उनका साहित्य आर्यसाहित्य तथा उनके शास्त्रीय ग्रन्थ (गणित, ज्यौतिष,

*'कलि' का अर्थ है कलह ।

वैद्यक, व्याकरण, न्याय, तत्त्वदर्शन इत्यादि विषयक) सर्वोपरि हैं और प्राचीनतम हैं ।

(६) आर्योंका धर्म सबसे प्राचीन है और भगवान् मनुके कहे हुए मानवधर्म-शास्त्रके रूपमें वेदोंके आधारपर ही व्यवस्थाबद्ध हुआ है तथा इतिहास, पुराण और स्मृतियाँ—ये इन्हीं वेदोंपर किये हुए विविध प्रकारके भाष्य या उदाहरण-ग्रन्थ हैं ।

(७) प्राचीन आर्य-मानवोंका धर्म ईश्वरोदित है, उसका कोई खास नाम नहीं; उसके वेद-स्मृति आदि अनेकों ग्रन्थ हैं, जिनका संरक्षण हजारों वर्षोंसे ब्राह्मणोंने किया है । उनके विधि-निषेध बहुत योग्य, स्वाभाविक तथा लाभदायक और उन्नतिजनक हैं । उनकी उत्तमता इसीसे देखी जा सकती है कि उनका अनुसरण करनेवाली आर्य प्रजा-जैसी दीर्घजीवी दूसरी कोई प्रजा नहीं रही ।

(८) भारतदेशमें जो धर्मराज्यकी प्रणाली चली आ रही है, वह पुराने और नये राज्यरोगोंके लिये रामबाण औषध है । उसमें वंशपरम्परासे दीक्षित सदाचारी राजा, तटस्थ महात्मा, गुरु—ये मानवनेता, अष्ट-प्रधानोंका तन्त्र, राज्यसे स्वतन्त्र विद्या, शिक्षा, वर्णाश्रमकी समाज-व्यवस्था, माण्डलिक राजाओंका समवाय-तन्त्र, राज्योंकी परस्पर सहयोगिता, सस्ता और शीघ्र मिलनेवाला न्याय, वैश्योंके हस्तगत व्यापार, लघुयन्त्रका व्यापक उद्योग और धर्मानुकूल कानून आदि लोकहितकारी अमोघ तत्त्वोंका समावेश है ।

(९) मानवकुलका समाजतन्त्र भी ईश्वरोक्त सनातन धर्मके ऊपर अवलम्बित है । मनुष्योंके द्वारा मनुष्यको लूटे जानेसे बचानेके लिये जैसे प्रभुने राजाका सृजन किया; उसी प्रकार मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार उन्नत होनेके लिये चार वर्ण और चार आश्रम, उनके आचार तथा उनकी आजीविका आदिका सृजन—निश्चय किया । ईश्वरके द्वारा नियत किये हुए विधानको 'समाजतन्त्र' कहते हैं ।

(१०) भगवान् मनु ईश्वरके अवताररूप थे, जिनको कुछ लोग आदिसूर्यरूप तथा कुछ लोग आदिदेव-मानवरूप मानते हैं । उन्होंने पहले विशेष धर्म, विशेष समाज, विशिष्ट राज्य और विशिष्ट सृष्टिकी रचना की । वे मानव-इतिहासकी ईश्वरोक्त आदि रचनाएँ हैं । इसलिये वे सबके ग्रहण करने योग्य, सबका मूलरूप तथा सर्वोत्तम, सर्वविधायक तथा समस्त क्रियाओंका नियामक हैं । सभी धर्म, सम्प्रदाय और पन्थ उसीमेंसे महापुरुषोंद्वारा देश-काल-वस्तु-स्थितिको लेकर आविर्भूत हुए हैं । उनमें कुछ सात्त्विक, कुछ राजसी और कुछ तामसी हैं, जिनका अपने-अपने स्वभावके अनुसार जीव अनुसरण करते हैं । शास्त्र इन सारी व्यवस्थाओंका विस्तृत साहित्य है ।

(११) इस समस्त विश्वका सम्यग् दर्शन सात्त्विक बुद्धिको पूर्णरूपसे होता है । दूषित आहार करनेवाले, दोषयुक्त मद्यपान आदि करनेवाले, जातीय दुराचार करनेवाले, दुष्ट जीवनमें रचे-पचे, ईश्वरमें श्रद्धाहीन, पाप और पतनके मार्गमें चलनेवाले तथा अभिशप्त आसुरी जीवोंको इतिहासका सत्य दर्शन नहीं होता और वे मिथ्या कल्पनाओंमें भटकते रहते हैं । ईश्वरकी भक्ति, कृपा और अनुग्रहसे इस ज्ञानके द्वार खुलते हैं ।

विश्वके इतिहासका विपरीत दर्शन

पहले कहा गया है, उसके अनुसार राज्य, ईश्वर, धर्म और सत्यके विरुद्ध फ्रांसमें सन् १७८९ ई० में एक विद्रोह खड़ा हुआ । उसके फलस्वरूप पहले जो धर्मदृष्टि थी, उसकी उलटी ही दृष्टि चालू हो गयी । ईश्वरकी नियतिके नियम तो कार्य करते ही चले जाते हैं । इस प्रकार फ्रांसमें तो इस विद्रोहके कारण भीतर-ही-भीतर यादवस्थली हो गयी । नेपो-लियन सम्राट्‌के रूपमें आ पहुँचा । वहाँके लाखों मनुष्य जिन्होंने हाँ-में हाँ मिलाकर विद्रोहको बढ़ाया था, यूरोपके नेपो-लियनकी लड़ाईमें कट मरे । समाजका पतन और अराजकता अधोगति हो गयी । फ्रांसमें कितने ही राज्य-विधान बदले गये, परंतु अबतक एकका भी ठिकाना न लगा और इस कथित 'महाराज्य' ने जर्मनीसे कितनी ही हार खायी और उसकी तावेदारी की । 'अबतक तुम्हें समझ नहीं आयी' मानो इस प्रकार प्रकृति देवी कहती हों । साथ ही, नास्तिकोंको उड़ाती हुई कैथोलिक—आस्तिक-सम्प्रदायकी—सत्ताधीशता भी अबतक रह-रहकर आती रहती है । इस देशके पश्चात् लोकतन्त्र का प्रवर्तन करनेवाले दो महान् देशों—इंग्लैंड और अमेरिका की भी दशा देखिये । धर्म-श्रद्धाके विरोधी बेकनके विज्ञानवाद, डार्विनके उत्क्रान्तिवाद और मिलके स्वच्छन्दवादने इंग्लैंडकी बुद्धिको विपरीत कर डाला । उस देशमें भी 'सिविल वार' तो राजाके विरुद्ध हो ही चुकी थी । एक राजाको फांसीपर चढ़ाया गया और दूसरेको धर्मकी रक्षा करते समय निर्वासित कर दिया गया; परंतु ईश्वरने इतनी अच्छी बुद्धि दी कि उसके जानेके बाद दूसरा राजा ही आया । परंतु १८३२ के बाद लोकशाही आ गयी । नशा अधिक चढ़ा । भारत आदि देशोंमें

खूब लूटा गया। इसका फल भी देखनेमें आया। पहले युद्धमें देश खूब नष्ट-भ्रष्ट हुआ, किंतु उस बार उसको संरक्षकोंने ही बचाया। दूसरे विश्वयुद्धमें भी लिबरल दलमेंसे संरक्षक बने हुए पक्के अनुभवी महानीतिज्ञ चर्चिलने ही बचाया। केवल देश ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुआ, बल्कि विपरीत बुद्धिवाले लोगोंने ऐसे महान् उपकारकके आधिपत्यको छीन लिया। अस्थिर बुद्धिवाली लोकशाहीने अपने ऐश्वर्य, अन्ताराष्ट्रिय नेतृत्व और भारतदेश सभीको गँवा दिया। फिर बुद्धि आने-पर उसी चर्चिलको वापस लाया गया, तब कहीं कुछ ठिकाना लगा। यूनाइटेड स्टेटकी तो बात ही निराली है। वहाँ सिविल वार भी हो चुकी है। बहुतेरे प्रेसिडेंट और उच्च अधिकारियोंके खून हो गये। दिन-दहाड़े बड़े-बड़े शहरोंमें लूट-मार हुई। हालीवुडके नाइट क्लबोंकी प्रवृत्तियाँ धड़ल्लेसे चलती रहीं, करोंकी अधिकता और महँगाई असाधारण रीतिसे वहाँ बढ़ गयी और मनुष्योंके ऊपर अणुबम फेंकनेका दुनियाँमें बड़े-से-बड़ा मानवापराध उसने किया। अब वह डालरकी मदद देकर खोयी इज्जत पुनः प्राप्त करना चाहता है, परंतु 'बूँदसे बिगड़ी हौजसे सुधरती नहीं है।' और उसने दूसरोंके मामलेमें दखल न करनेका सिद्धान्त छोड़ दिया है, इसी प्रकार इंग्लैंडने कदम फूँक-फूँक बनाया हुआ मुक्त व्यापारका सिद्धान्त छोड़ दिया है। फ्रांसके विद्रोहके सिद्धान्तोंने बड़े-बड़े देशोंमें जब ऐसी स्थिति पैदा कर दी, तब दूसरे अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है? जर्मनीमें कैसरने अपने राजारूपी रूपमें न रहकर, कुलमुख्तार बनने जाकर साम्राज्यको सर्वथा खो दिया और हिटलरके अधिनायक-तन्त्रने वैज्ञानिक जर्मनीको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। यही हालत राजाको रखते हुए भी लोकतन्त्रकी नकाबमें अधिनायकतन्त्र चलानेवाले और वाणिज्यव्यवसायमें दक्ष इटलीकी हुई। रूसने जारको उखाड़ फेंका, कुलमुख्तारी और लाल झंडा देशमें आ गया; दुनियाँको डरा देनेवाली त्रासपद्धतियाँ तथा एकचक्र राज्य चलाना शुरू किया। अभी उसे पचास वर्ष भी नहीं होने पाये कि दुनियाँ घबरा उठी। कहते हैं कि रूसमें अराजकतावाद, अनार्किज्म, निहीलिज्म, अनीश्वरवादका जोर बहुत था। प्रकृतिका ध्वजदण्ड किसीसे नहीं टूटा, प्रकृतिको हमने जीत लिया है—यों कहनेवालोंको जगदम्बा मन्द-मन्द मुसकराती हुई उलटा व्याकुल कर रही है!

उपसंहार

धर्म, जिसकी अतर्क्य, अमोघ और अप्रतिहत शक्ति विश्वको रमा रही है, उसीके द्वारा सर्वतः नियन्त्रित धर्म-राज्य ही वर्तमान तथा भविष्यके दुःख, परिताप तथा दुर्बुद्धिके नाशके लिये अमोघ उपाय है। इसके अनेकों ग्रन्थ तथा अनेकों तत्त्वज्ञानी हैं। प्रत्येक देशके पवित्र ग्रन्थोंने इस ओर अंगुलि-निर्देश किया है, तथापि विज्ञान और व्यवहारके विद्वानोंको मान्य भविष्यकी सुनिश्चितता और भवितव्यता ऐसी है कि जैसा होना होता है वैसी ही भावी सूझ पड़ती है। इस समय मनुष्य-को बम-वैराग्य हो गया है और भयकी पराकाष्ठामें वे सुलह-शान्तिका शोरगुल मचा रहे हैं। परंतु इन सबका मौलिक उपाय सत्य, दया, तप, शौच, ईश्वरभक्ति तथा औपनिषद ज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। भगवान् वेद-व्यास कहते हैं कि मैं पुकारकर कहता हूँ —

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ?

'धर्मसे अर्थ और काम दोनोंकी प्राप्ति होती है, फिर लोग इसका सेवन क्यों नहीं करते?' परम सेव्य क्या है, इसका ज्ञान और प्रेरणा देनेवाला व्यासके समान कौन होगा? मैंने अपने 'राजर्षि रन्तिदेव' काव्यमें दूसरे देशोंके इतिहासके साथ भारतीय राजाओंके इतिहासका एक सामान्य पृष्ठ अश्रुप्रवाहके साथ गाया है। वह चित्र इस प्रकार है—

'वहाँ कुत्तोंसे घिरा हुआ एक अतिथि आया, उसने कहा—हे राजन्! मैं और ये कुत्ते, सब भूखे हैं।

स्वामीसे सती बोली, 'आज यह हमारे पूर्वपुण्यके फलसे सौभाग्यवश नये अतिथि घर आये हैं।' उसने सारा अन्न उनको दे दिया और सबको बड़े भाव—आदर-सत्कारपूर्वक प्रेमसे प्रणाम किया। जो सबके अंदर बस रहा है वह इस सारी लीलाको देख रहा था, वह हँसकर स्नेहपूर्वक धैर्यको देखने लगा। अमृतकी वर्षा हो रही थी।'

उसके अखण्ड राज्यमें अन्धकार नहीं है। दुःख नहीं है, शोक नहीं है। इस राज्यकी ओर प्रगति करनेके लिये सारे राज्य, महाराज्य और साम्राज्य हैं। इसके विषयमें ऋषि-मुनिप्रणीत दुनियाँमें फैले हुए पुष्कल साधन और साहित्य ग्रन्थ हैं। मेरे-जैसा जगदम्बाका एक नन्हा-सा बालक क्या कहे, सुन और समझा सकता है? यह तो विराट् प्रभुसे प्रार्थना और आँखोंसे अश्रु-प्रवाह करते हुए कहता है—

नयणां म्हारां नीतर कोई ल्यो नयणांनो धार।'

यानी आँखें मेरी नितर रही हैं; कोई इस अश्रुप्रवाहको ले ले।

दो वृद्धाएँ

(लेखक—श्रीरमणलाल सोनी)

गाँवके आखिरी कोनेमें दो वृद्धाएँ रहती थीं, दोनोंके घरकी दीवाल एक थी। घरके सामने छोटे-से टीलेपर साधु-संतोंका एक आश्रम था। दोनों बुढ़िया आश्रममें काम करने जातीं। संतोंकी कृपासे उन्हें कभी अन्न-वस्त्रका अभाव न हुआ।

एक साथ रहतीं, एक साथ काम करतीं, फिर भी दोनों-के स्वभावमें जमीन-आसमानका अन्तर था। एक उदार थी, देने योग्य तो उसके पास नहींके बराबर ही था, परंतु अपने-जैसे गरीबोंको समय-समयपर कुछ-न-कुछ जरूर दिया करती थी। दूसरी कंजूस थी, देने योग्य उसके पास बहुत कुछ एकत्रित हुआ था, परंतु कभी किसीको कुछ भी नहीं देती थी।

एक संध्याको गगनमें बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी और आँधी आरम्भ हुई। वृक्ष और मनुष्य, पशु और पक्षी, जीव और निर्जीव सभी काँपने लगे। मूसलाधार जल-वृष्टि आरम्भ हुई। दोनों बुढ़िया अपने-अपने घरोंमें घुस चुकी थीं। अचानक कंजूस बुढ़ियाके दरवाजेपर टिकोरे सुनायी दिये। बुढ़िया ब्यालू करने बैठी थी। शायद कोई तूफानमें फँसा हुआ मुसाफिर होगा, जो ब्यालूमें हिस्सा चाहेगा। ऐसा सोचकर बुढ़ियाने जल्दी-जल्दी जितना खा सकती थी, खा लिया। जो बचा उसको ढक दिया और तब निवृत्त होकर दरवाजा खोला। खोलते-खोलते बोली—रात-दिन न जाने कहाँसे ऐसी आफत चली आती है, पलभर भी आरामतक नहीं करने देती।

परंतु ज्यों ही उसने दरवाजा खोला—एक सौम्य शान्त साधुकी मूर्ति उसे दिखायी पड़ी। बुढ़िया स्तब्ध हो गयी। साधुने आँधीसे बचनेके लिये सिरपर एक मोटी बोरी डाल रक्खी थी। भीगी बोरीसे पानीकी बूँदें टपक रही थीं। रोटीका एक टुकड़ा मिलेगा मैया? साधुने मौन तोड़ा। बुढ़िया जानती थी कि ऐसे साधु-संत जरा-सी सेवाके बदले बहुत कुछ दे जाते हैं, इसलिये उसने तुरंत ही भोजनकी थाली हाजिर की। बदलेमें बहुत मिलनेकी आशा हो, तब थोड़ा-सा दे देनेमें बुढ़िया भला क्यों हिचकिचाने लगी?

साधु भोजन करने बैठे। वृद्धा साधुके मुँहकी ओर देखती ही रही। साधुके चेहरेपर एक अद्वितीय तेज झलक रहा था। आश्रमके सभी साधुओंको वह पहचानती थी, पर इनको कभी न देखा था। इनके चेहरेपर ऐसी सुकोमल नम्रता और पवित्रता थी कि प्रथम दृष्टिमें ही इनके अन्तस्तलका आरपार देखा जा सकता था। पर वृद्धाको यह देखनेका अवकाश कहाँ? साधु कौन है? उससे अधिक साधु क्या लाया है? यह जाननेके लिये वह आतुर थी! 'कितना भयंकर तूफान है'—साधु बोले। धनवानोंकी तो चिन्ता नहीं, पर बेचारे निरीह निर्धनोंका क्या होगा? अनाथोंका कौन? यदि संसारमें साधु-संतों-की कृपादृष्टि न होती तो मुझ-जैसी गरीबकी क्या दशा होती भगवन्!' वृद्धाने कहा। 'इसीलिये तो मैया! मैं तेरे दरवाजेपर आया हूँ। जो भूखेको अन्न और वस्त्रहीनको वस्त्र देता है, वह धन्य है, स्वर्गकी सभी सीढ़ियाँ उसके पास हैं' साधुने कहा—उनके मुँहपर दीप्ति दिखी।

'क्या कहते हैं उसके भाग्यको?' साधु उदारतासे कुछ दे जायगा, इस आशामें हर्षित हो बुढ़िया बोली।

'माँ! तेरे भाग्यकी बलिहारी है, तुझसे भी अधिक गरीब और दुखी लोगोंके लिये मदद माँगने मैं यहाँ आया हूँ। दो अपरिचित महिलाएँ आश्रममें आश्रय-हेतु आयी हैं, बिजली गिरनेसे दोनोंके घर गिरकर ढेर हो गये हैं। घरका सब कुछ स्वाहा हो गया है। बेचारी निष्किंचन और निराधार बुढ़िया····आश्रमके सभी खाद्य ऐं

ही निराश्रितोंसे भर गये हैं। फिर भी हमने उन्हें आश्रय दिया है, परंतु पहनने-ओढ़नेका हमारे पास कुछ भी तो नहीं है····तुम यदि आजकी रातभरके लिये कुछ ओढ़ने-बिछानेको दे दो तो सुबह जब कुछ लोग चले जायँगे, हम तुम्हें लौटा देंगे। तुम्हारे तो सुरक्षित घर है, इसलिये कुछ-न-कुछ जरूर दे सकोगी।' साधुने मदद माँगी, बुढ़िया निराश हो गयी, उसकी आवाज मंद हो गयी—'महाराज! कुछ दूर पधारते तो धनवानोंकी कहाँ कमी थी, मुझ गरीबका ही घर आपको मिला, मेरी हालत ही दान लेने-जैसी है, इसका भी तो ख्याल किया होता।'

'एक कम्बल भी नहीं दे सकोगी माई? वे बेचारी ठंडसे काँप रही हैं।' बुढ़िया चौंकी, अभी थोड़े ही दिनों पहले उसे एक सुन्दर गरम कम्बल मिला था, वह कमरेमें गयी और सोचने लगी। 'नया कम्बल तो कैसे दे दिया जाय।' उसने पुराना कम्बल उठाया और उसे भी तह लगाकर रख दिया। पुराने कम्बलके भी उसे अनेक गुण याद आ रहे थे,—'पूरे सात सालसे इसका उपयोग करती हूँ, फिर भी अभी वैसा ही है, वे भटकती बुढ़िया न जाने कहाँसे आयी होंगी, नींदमें लातें मारकर मेरे कम्बलको न जाने कैसा कर डालेंगीं? भटकनेवालोंको क्या भान रहेगा? जिंदगीमें कभी कम्बल देखा हो तब न····वे तो बोरियोंपर सोनेवाली····।'

ज्यों-ज्यों वह सोचती गयी, त्यों-त्यों उसे अपना अनुमान सच्चा प्रतीत होने लगा। अचानक उसे याद आया ऐसे लोगोंमें बहुत-से रोगी होते हैं, उनके लिये कम्बल कैसे दिया जाय? दो साल पहले कुछ रोगी आये थे, उन्होंने जिन वस्तुओंका उपयोग किया था, उन्हें जला डालना पड़ा था। कहीं मेरे कम्बलकी भी वही दशा हो तो! इतना सुन्दर कम्बल कैसे जला डाला जाय, अभी तो यह दस साल और काम दे सकेगा। फिर एक पतली रजाई उठायी, परंतु तुरंत ही न····न····न यह तो मेरे बापके घरकी है, कहकर रख दी। एक पुरानी जीर्ण चद्दरको जो दीवालपर लटक रही थी, लेकर समेटने लगी। परंतु फिर सोचा ऐरे-गैरे दिनोंमें यही चद्दर कम्बलका काम देती है, इसे कैसे दे दूँ? दुःखित हृदयसे एक दूसरी जीर्ण चादर लेकर वह बाहर आयी। 'आज यह ऐसी दीखती है, पर जब खरीदी उस समय बहुत ही सुन्दर थी, आठ आनेसे तो कम नहीं लगे होंगे।'

'इससे अधिक आप कुछ भी नहीं दे सकतीं?' साधुने चादरको कंधेपर डालते हुए पूछा। 'हाय-हाय मेरे घरमें देने योग्य क्या है? अब क्या दूँ? सारी रात मुझे भी तो अब ठंडमें ठिठुर-ठिठुरकर काटनी पड़ेगी।'

'बेचारी औरतें ठंडीमें ठिठुरती हैं। तुम्हारी तरह ही वृद्धा हैं। सब कुछ गवाँ बैठी हैं। कुछ तो दे दो।'

किंतु बुढ़ियाके पत्थर-दिलपर कोई प्रभाव न पड़ा। साधु वहाँसे निकल पासकी दूसरी बुढ़ियाके घर गया। यहाँ भी उसने वही बात कही। निराधार वृद्धाओंकी हालत सुनकर वृद्धाका हृदय भर आया। ठीक ही है, 'घायलकी गति घायल जाने।' वह बोली—'भगवान्‌की दयासे मुझे अभी ही यह नया कम्बल मिला है, लीजिये, ले जाइये' और उसने कम्बल दे दिया। तुरंत ही बोली—'यह पुराना भी लेते जाइये, काम आयेगा, यह रजाई भी और यह चादर भी यहाँ किस काम आयेंगी? एक रात तो मैं किसी तरह भी काट लूँगी, बेचारी वे औरतें ठंडसे ठिठुर रही होंगी। मेरे कपड़े भी उनके काम आयँगे, इन्हें भी ले जाइये।'

बुढ़ियाने जितना दिया उतना साधुने चुपचाप ले लिया। उसके मुखपर उज्ज्वल-स्मित लहरा रहा था।

'लीजिये, यह भी ले जाइये और यह भी, रातमें बेचारा और कोई भूला-भटका आ जायगा तो काम आयेगा। मैं तो बोरीपर ही रात काट लूँगी।' बुढ़ियाने करीब-करीब घरका सब कुछ दे दिया।

साधुके जानेके बाद आँधी अधीर हो उठी, नभमें

भयंकर गर्जना होने लगी, प्रलयंकारी पवन चलने लगा, वृक्ष धड़ाधड़ गिरने लगे। अचानक एक भयंकर कोड़े-की तरह बिजली चमकी और उन दोनों वृद्धाओंके मकानोंपर गिरकर जमीनमें उतर गयी। वृद्धाएँ बच गयीं, परंतु दोनोंके घर और घरका सब कुछ स्वाहा हो गया।

दुःखसे बिलखती दोनों वृद्धाएँ तूफानमें ठोकरें खाने लगीं। 'इधर चलिये वहाँ मेरे आश्रममें'—उसी साधुकी सुमधुर वाणी सुन पड़ी। दोनोंका हाथ पकड़कर साधु उनको आश्रममें ले आया। दीवालके पास छप्परके नीचे उदार वृद्धाकी दी हुई सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों रक्खी हुई थीं। 'यह तेरा है और तुझे वापस मिलता है, माई!' साधुने कहा! 'तूने जो दान दिया वह खुदको ही दिया है।' 'परंतु उन दोनों वृद्धाओंका क्या हुआ?' उदार वृद्धाने चिन्तित हो पूछा।

'वे दोनों तुम ही हो, तुमने उदार बनकर निराश्रितों के लिये जो कुछ बचाया, वही परमात्माने तुम्हारे लिये बचाया है।'—साधु बोले।

फिर दूसरी वृद्धाकी ओर देखकर उन्होंने जीर्ण चादर देते हुए कहा—'तेरा सब कुछ नष्ट हो गया, सिर्फ इतना ही बचा है; क्योंकि इतना ही तूने बचाया था। आज ऐसी दीखती है, जब ली थी तब बहुत सुन्दर थी, आठ आनेसे कम नहीं लगा होगा।' कंजूस बुढ़िया कुछ न बोली। सिर्फ मुँह नीचा किये रही।

साधु सिर्फ धीरेसे हँसे, बिजलीकी एक चमकने रात्रिके अन्धकारमें साधुकी सारी कायाको तेजोमय बना डाला।

[अनुवादक—श्रीजयशंकर पंड्या]

ममता तू न गयी मेरे मन तें!

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[भाग ३०, सं० ८, पृष्ठ ११४८ से आगे]

(४)

मैं बी० ए० पास कर लूँ।
मैं एम्० ए० पास कर लूँ।
मैं डाक्टर बन जाऊँ।
मैं आचार्य बन जाऊँ।
मैं साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, विद्यावाचस्पति बन जाऊँ।

यह डिग्रियोंका मोह, विद्वान् कहलानेका मोह, भाषाशास्त्री, भाषाविद्, सर्वज्ञ बननेका मोह कितना थोथा है—इसका पता तभी चलता है, जब ऊँट पहाड़के नीचे पहुँचता है।

× × ×

बड़े-बड़े डिग्रीयाफ्ता लोगोंसे मिलने, बात करनेका सौभाग्य मुझे मिला है, मिलता है; पर सबसे मिलकर एक ही अनुभव होता है—

जाना था कि इल्म से कुछ जानेंगे!
जाना तो यही जाना कि कुछ भी नहीं जाना!!

बड़ी से-बड़ी डिग्रियाँ पा लेना और बात है, विषयका ज्ञान प्राप्त कर लेना और। बी० ए०, एम्० ए०, आचार्य बन जानेसे कोई किसी विषयमें पारङ्गत हो जायगा—ऐसा सोचना ही गलत है।

तभी तो भर्तृहरिने कहा था—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

ज्ञानका एक कण मिला कि आदमी बौराया! फिर तो वह अपनेको तीसमारखाँ समझने ही लगता है; पर जब

यह ज्ञानियोंके सम्पर्कमें आता है, तब ज्ञानका, विद्याका नशा उतरते देर नहीं !

× × ×

पर हम हैं कि डिग्रियोंके पीछे पागल हैं !

हमारी नस-नसमें डिग्रियोंका मोह घुसा बैठा है।

कैसा थोथा है यह मोह !

कहाँतक कोई पढ़ेगा, कहाँतक ज्ञान प्राप्त करेगा ! कितना ही पढ़िये, कितनी ही विद्या प्राप्त कीजिये, कमी बनी ही रहेगी। न्यूटनने कुछ ग़लत थोड़े ही कहा था—

"Alas ! I am only like a child picking up pebbles on the shore of the Giant Ocean of truth."

'ज्ञानका, सत्यका अनन्त सागर मेरे आगे लहरा रहा है, मैं तो केवल बच्चेकी तरह उसके किनारेके कंकड़ चुन रहा हूँ !'

चुनिये कंकड़ !

कंकड़ भी आप कितने चुन पायँगे ?

× × ×

कहते हैं कि एक ठाकुर और एक सेठमें होड़ लगी।

मूँछोंकी होड़।

ठाकुर तो ठाकुर।

भूखे प्राण भले तजैं केहरि खरु नहिं खाहिं।
चातक प्यासे ही रहैं, बिन स्वाती न अवाहिं॥

ठाकुर साहबने मूँछें सतर रखनेके लिये सैकड़ों रुपयोंपर हँसते-हँसते पानी फिर जाने दिया।

पर सेठजीका नंबर आया तो उन्होंने खटसे मूँछें नीची कर दीं। बोले—अजी, इसमें रक्खा ही क्या है ! मूँछोंकी शानके लिये सैकड़ों रुपयोंपर पानी फेरना बेवकूफी है, सरासर बेवकूफी !

× × ×

हम आप इन सेठजीपर हँसते हैं, ठाकुर साहबकी पीठ ठोंकते हैं—वाह पट्ठे ! खूब किया। पैसा गया तो गया, शान तो रही !

पर सच पूछिये तो शान कुछ नहीं, अहंकारका एक विकृत रूपमात्र है।

न उसमें कोई जड़, न उसमें कोई दम !

× × ×

और जाति, कुल, परम्परा, संस्कृति ?

इन सबका मोह कौन किसीसे कम है ? इन सब मान्यताओंके मोहमें फँसकर मनुष्य दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मानता है, अपने ही विकास और विस्तारकी बात सोचता है और पक्षपातका चश्मा लगाकर सत्यका हनन करनेको भी तैयार हो जाता है।

× × ×

जाति, कुल, परम्परा, संस्कृतिके ऐसे मोह लोगोंकी अक्लपर पर्दा डाल देते हैं। इनके चलते साम्प्रदायिकताका विषवृक्ष पनपता है, युद्ध होते हैं, लड़ाइयाँ ठनती हैं। इन्हींके कारण अयोग्य व्यक्ति उच्च पदोंपर बैठा दिये जाते हैं, मूर्खोंको विद्वान् बता दिया जाता है और समाज तथा देशको पतनकी ओर घसीटा जाता है !

× × ×

मोह तो स्थानका भी होता है।

प्रान्तोंकी नयी सीमा-निर्धारणके प्रश्नको लेकर इतनी मारकाट क्यों हुई ? इसीलिये न ? वर्ना, जमीनका कोई टुकड़ा इधर या उधर। क्या बनता-बिगड़ता है उससे ?

प्रसिद्ध है—

चना चबेना गंगजल जो पुरवै करतार।
कासी कबहुँ न छाड़िये, विश्वनाथ दरबार॥

तीर्थोंका मोह, बाप-दादोंकी जमीनका मोह, घरका मोह, प्रान्तका मोह, देशका मोह हमें खूब सताता है। कबीरकी तरह बिरले ही कह पाते हैं—

'जो 'कबिरा' कासी मरै, रामहिं कौन निहोर !'

× × ×

कल्पित धारणाओंका मोह !

किसी विषयमें, किसीके प्रति हमने अपने मनमें कोई धारणा बना ली। बस, अब मैं उसीको कसके पकड़े बैठा हूँ। भले ही उसमें कोई दम न हो, कोई तथ्य न हो, कोई असलियत न हो, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। बँदरियाका बच्चा अपनी माँसे जितने जोरसे चिपटता है, उससे भी अधिक जोरसे हम इन कल्पित धारणाओंसे चिपट जाते हैं।

इन धारणाओंके प्रति हमारा मोह इतना बढ़ जाता है कि गलत होनेपर भी हम उनसे बिलग नहीं होना चाहते।

× × ×

और तो और, सेवा और त्यागतकका मोह होता है ! आज सौ रोगियोंकी सेवा की, कल दो सौकी सेवा करूँ,

आज दो संस्थाओंकी सेवा करता हूँ, कल पचासकी सेवा कर सकूँ--इस तरहके मोहमें फँसकर कभी-कभी मनुष्य कुछ भी नहीं कर पाता। अपनी सीमित शक्तिको इधर-उधर बिखेरकर वह अपनी सारी सेवा व्यर्थ कर डालता है !

त्यागके मोहमें पड़कर मनुष्य कभी-कभी दम्भ और आडम्बरपर भी कमर कस लेता है और यह तो है ही कि मिथ्याचारी कभी आत्मोन्नति कर नहीं सकता।

× × ×

संस्थाका मोह कौन किसीसे कम है !

अभी हालमें एक सेठजीके साथ मैं गया था एक व्यापारिक संस्थामें। उसके संचालक बहुत गिड़गिड़ाकर बोले सेठजीसे—'सेठजी ! किसी तरह इस संस्थाको पैरोंपर खड़ा कर दीजिये।'

एक जमाना था जब ये संचालक महोदय जमीनपर नहीं, आसमानपर चलते थे। अपने आगे किसीको कुछ न गिनते। एक अन्य संस्थाके कर्णधार थे। स्याहको सफेद और सफेदको स्याह करना इनके हाथमें था। तभी कुछ ऐसा संयोग घटा कि ये वहाँसे दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेंके गये। जिस संस्थाको खून-पसीना एककर पुष्ट किया, वहींसे बुरी तरह ठुकरा दिये गये !

पर, 'बैठा बनिया क्या करे, इस कोठीका धान उस कोठी भरे।' आपने दूसरी संस्था खड़ी की। पूरा जोर मारा उसे चलानेका, परंतु सितारा बुलंदीपर था नहीं। बछिया बैठने-बैठनेको हुई, पर उन्होंने कंधा नहीं डाला। आज भी वे वही सपना देख रहे हैं,--'काश, हमारी संस्था एक बार फिर उठ खड़ी हो !'

× × ×

लोग जीवनके दस-दस पंद्रह-पंद्रह साल देकर कोई संस्था खड़ी करते हैं। फिर उसे विकसित करनेके मोहमें इतना फँस जाते हैं कि नीति-अनीतिको उठाकर ताकपर रख देते हैं।

एक संस्थाको, धर्मार्थ रजिस्ट्रीशुदा संस्थाको युद्धकालमें कुछ चीजोंकी बिक्रीका एकाधिकार मिल गया।

लाभका कोई पार न रहा।

जहाँ लाभ, वहाँ लोभ !

मेरे एक परिचित सज्जन उस संस्थाके एक डाइरेक्टर बना दिये गये। किसलिये ?

पान-पत्तेके लिये उन्हें कुछ देकर हजारों रुपयेके झूठे वाउचरोंपर उनसे दस्तखत करा लिये जाते !

मुझे पता लगा तो मैंने दाँतोंतले उँगली दबायी—धर्मके नामपर ऐसा अधर्म। संस्थाके विकासका ऐसा झूठा मोह !

× × ×

कुछ लोग स्वयं अपने लिये छल-प्रपञ्च न करेंगे, पर अपनी संस्थाके लिये बेईमानी, अन्याय, शोषण करनेमें बाज न आयेंगे ! सेवा और त्यागकी दुहाई देनेवाली कितनी ही संस्थाओंमें देशसेवाके नामपर कार्यकर्ताओंकी सुख-सुविधाओं-का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। परंतु दूसरोंको त्यागका उपदेश देनेवाले स्वयं अपनी संस्थाका पैसा अलल्ले-तलल्ले उड़ाते हैं !

कैसा थोथा मोह !

× × ×

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका भी मोह होता है।

धर्म क्या है, यह तो बिरले ही जानते हैं; पर हर व्यक्तिने अपना कुछ धर्म मान रक्खा है और उस मान्यताके मोहमें पड़कर वह न जाने क्या-क्या करता है।

× × ×

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'जो चीज मुझे खलती है, बुरी लगती है, कष्ट देती है वह दूसरोंको भी खलेगी। इसलिये उसे न किया जाय।'

धर्मके इस 'सर्वस्व' को हम भुला बैठे हैं।

पर धर्मके नामपर हम रात-दिन ऐसी असंख्य बातें करते रहते हैं, जिनसे दूसरोंको कष्ट होता है।

मन्दिरमें जाकर 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'-जैसे पदोंको जोर-जोरसे गा लेना उत्तम है, पर यही धर्म नहीं है। धर्मका तत्त्व अत्यन्त गहन है। उसमें तो पग-पगपर विवेककी आवश्यकता है और धर्मके तत्त्वको जीवनमें उतारनेकी आवश्यकता है। बाह्याचारोंमें ही हमने धर्म मान रक्खा है। अन्तरकी साधनापर हम जोर नहीं देते। पर हमें सोचना चाहिये कि अष्टाङ्गयोगमें क्यों यमका स्थान पहला है, नियमका दूसरा। इसीसे कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको हम पहले अपने जीवनका अङ्ग बना लें, तब शौचादिपर जोर दें।

पर हमें तो बाह्य धार्मिकताका मोह सता रहा है।

× × ×

अर्थ तो हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठा है।

येन केन प्रकारेण, चोरी और बेईमानीसे, शोषण और अत्याचारसे हमें धन मिलना चाहिये ।

अर्थकी शुचिताकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता । अर्थके मोहमें पड़कर हम दुनिया भरके पाप करते हैं । 'जहाँ नेकी, तहाँ बरकत'—की बात तो हमने सर्वथा ही भुला दी है।

हमें याद रखना चाहिये कि 'योऽर्थशुचिः स शुचिः !'

× × ×

काम हमारे धर्मका तीसरा पाया ठहरा ।

उसका मोह तो हमारे रोम-रोममें घुसा बैठा है ।

विकारोंका शमन करते-करते, आत्मशुद्धिद्वारा हमें परमेश्वरको पहचानना है । कामके इस लक्ष्यको तो हमने उठाकर ताकपर रख दिया है और विषय-भोगोंको उसका पर्याय मान लिया है ।

कैसी विडम्बना है कामकी !

× × ×

—और मोक्ष ?

उसका सब्जबाग कौन कम आकर्षक है !

सारा जीवन चाहे जैसा बिताते रहते हैं; पर हम सोच लेते हैं कि अन्तिम प्रहरमें थोड़ा-सा दान-पुण्य, पूजा-पाठ कर लेनेसे, कसाईके खूँटेपर जानेके लिये तैयार मरियल बछियाकी पूँछ पकड़कर हम वैतरणी पार कर लेंगे, मोक्ष प्राप्त कर लेंगे !

> ऐरनकी चोरी करै, करै सुई को दान ।
> ऊँचे चढ़कर देखते, कब आसी बिमान ॥

भला, ऐसे भी कहीं मोक्ष मिलता है ?

मोक्षके लिये तो जीवनका क्षण-क्षण पवित्र होना चाहिये ।

× × ×

जीवन और जगत्‌का मोह जबतक हमारे भीतर भरा पड़ा है, विषयोंमें जबतक आसक्ति बनी है, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर-जैसे विकार हमपर हावी हैं, तबतक उद्धार कहाँ ?

इन असंख्य बन्धनोंके रहते मुक्तिकी कल्पना झूठी है ।

> एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु ब्याधि ।
> पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि ॥

कर्मफलके आश्रयका त्याग

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

इस वर्षके दूसरे अङ्कमें मैंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना की थी कि गीताके श्लोकोंका हमें इस दृष्टिसे मनन करना चाहिये कि किस श्लोकका हमारे जीवनके साथ क्या सम्बन्ध है, हम वर्तमानमें ही किस प्रकार अपने जीवनको भगवान्‌के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं । इसके साथ-साथ मैंने पाठकोंके सामने विचार-विनिमयके रूपमें गीता अध्याय १८, श्लोक ३० पर अपने विचार भी रक्खे थे । सम्भव है, सुज्ञ पाठकोंने उनपर विचार करनेकी कृपा की होगी । मुझे अपने कुछ मित्रोंकी ओरसे यह प्रेरणा मिली कि मैं समय-समयपर अन्य श्लोकोंपर भी अपने विचार प्रकट किया करूँ । अतः इस लेखमें छठे अध्यायके प्रथम श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ । आशा है कि विज्ञ पाठकगण पहलेकी भाँति ही इस लेखको भी अपने विचारका विषय बनायेंगे और मेरी भूलोंका सुधार करनेके लिये मुझे सूचना देनेकी कृपा करेंगे ।

श्लोक इस प्रकार है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

'जो मनुष्य कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी है और योगी भी है । अग्निका त्याग कर देनेवाला (यदि कर्मफलका आश्रय लेनेवाला है तो वह संन्यासी और योगी) नहीं है तथा क्रियाका त्याग कर देनेवाला भी (यदि कर्मफलका आश्रय लेनेवाला है तो वह संन्यासी और योगी) नहीं है ।'

इस श्लोकके पूर्वार्धमें दो साधन बताये गये हैं—एक तो कर्मफलका आश्रय न लेना, जो भावात्मक है, दूसरा करने योग्य कर्मोंको करना, जो क्रियात्मक है । उत्तरार्धमें उक्त साधनसे युक्त पुरुषकी महिमाका

वर्णन है। अतः इस श्लोकके अनुसार साधनयुक्त जीवन बनानेके लिये प्रथम साधनके विषयमें यह समझना परम आवश्यक हो जाता है कि कर्मफल क्या है, उसका आश्रय लेनेका क्या स्वरूप है और न लेनेका क्या स्वरूप है?

विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियों और पञ्च महाभूतोंका समूह यह मनुष्य-शरीर तथा अन्य व्यक्ति, पदार्थ, अवस्था और परिस्थिति आदि जो कुछ भी मनुष्यको प्राप्त है एवं जो कुछ भी इस लोक या परलोकमें प्राप्त हो सकते हैं अथवा जिनके प्राप्त होनेकी सम्भावना की जा सकती है, वे सभी कर्मफलके अन्तर्गत हैं। इस दृष्टिसे इनमेंसे किसीको भी अपना मानना; इनके सम्बन्धसे अपनेमें बलवान्, शक्तिशाली, बुद्धिमान्, मननशील, कुलीन, बड़ा, छोटा, धनी, दरिद्र आदि भावोंकी स्थापना कर लेना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करना; किसी प्रकारके पद या अधिकार आदिकी लालसा रखना तथा अन्य किसी प्रकारके सुखभोगकी या दुःख-निवृत्तिकी आशा करना आदि सब कर्मफलका आश्रय लेना है।

इस विषयको भलीभाँति स्पष्ट समझनेके लिये इसे निम्नलिखित प्रकारसे चार भागोंमें बाँटकर समझना चाहिये—

(१) प्रारब्ध कर्म-फलके रूपमें जो यह मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका समूह वर्तमान मनुष्य-शरीर मिला है तथा जो कुछ भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति एवं धन, सम्पत्ति, जाति, वर्ण, पद, अधिकार आदि वर्तमानमें प्राप्त है, यह तो प्राप्त कर्मफल है।

(२) प्रारब्ध कर्म-फलके रूपमें अबसे आगे मृत्यु-पर्यन्त जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समय-समयपर मिलती और बदलती रहेंगी तथा जिनके मिलनेकी मनुष्य कल्पना कर सकता है, वह सब अप्राप्त कर्म-फलका समुदाय है।

(३) वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मों का फल, जो कर्मके बाद तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ प्रतीत होता है—जैसे भोजन करनेपर स्वादका सुख-दुःख यह कर्मका दृष्ट फल-समुदाय है।

(४) वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका वह फल जो भविष्यमें प्राप्त होनेवाला बताया जाता है, जिसके भोगका विधान अभी नहीं बना है, वह कर्मफलका अदृष्ट समुदाय है।

इन चार भागोंमें विभक्त कर्मफलका आश्रय लेना क्या है तथा साधकको उस आश्रयका किस प्रकार त्याग करना चाहिये, यह बात क्रमशः निम्नलिखित प्रकारसे समझनी चाहिये—

१. प्राप्त कर्मफलके समुदायमेंसे शरीरको अपना स्वरूप मानकर उसमें अहंभाव करना या उसमें ममता करना कि यह मेरा है अर्थात् यह मान लेना कि मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, शरीरमें जो बल है, वह मेरा है, इन सबके द्वारा मैं अमुक-अमुक प्रकारका सुख-भोग कर रहा हूँ या कर सकता हूँ—इस प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध स्थापित करके नाना प्रकारकी आशाओंके जालमें फँस जाना एवं इस शरीरसे सम्बन्धित जितने व्यक्ति और पदार्थ हैं, उन सबसे ममता और आसक्तिपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करके यह मान लेना कि यह मेरा पिता है, यह माता है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरे देशका है, यह मेरे गाँवका है, यह मेरे मुहल्लेका है इत्यादि; तथा यह मेरा मकान है, यह मेरा धन है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी भोगसामग्री है—इस प्रकारकी जितनी भी मान्यताएँ और स्वीकृतियाँ हैं, वे सभी प्राप्त कर्मफलका आश्रय लेनेके अन्तर्गत हैं। अतः मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके समूह इस शरीरमें अहंता, ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना अर्थात् इसमें न तो यह भाव स्वीकार करना कि यह मैं हूँ और न यही स्वीकार करना कि यह मेरा है; अपनेको इस समुदाय-

से सर्वथा भिन्न, सर्वथा असङ्ग, इसका ज्ञाता और उदासीन समझना तथा शरीरसे सम्बन्धित व्यक्तियों और पदार्थोंको या किसी प्रकारकी परिस्थितिको भी अपनी न मानना, दृढ़भावसे यह निश्चय रखना कि ये सब उसी परम सत्यस्वरूप सर्वाधार अनन्तके हैं, जिसका यह समस्त विश्व है—इस प्रकार प्राप्त कर्म-फलके सम्बन्धका त्याग ही उसका आश्रय न लेना है।

२. अप्राप्त कर्मफल उसे कहते हैं जो वर्तमान कालमें प्राप्त नहीं है, किंतु इस जीवनकालमें ही जो समय-समयपर प्राप्त हो सकता है, जिसके मिलनेकी सम्भावना की जा सकती है। अमुक व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है, उससे मेरा यह नाता है, अतः उससे मुझे अमुक सुख या दुःख मिलेगा या मिल सकता है; अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, वह मर जाय या उसका अमुक प्रकारसे अनिष्ट हो जाय तो बड़ा अच्छा हो; यदि उसका बल बढ़ जायगा तो मैं संकटमें पड़ जाऊँगा। मुझे अमुक प्रकारसे धन-सम्पत्ति मिल जायगी, तब मैं अमुक प्रकारसे उसका उपभोग करूँगा—इस प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंकी आशा-कामना और चिन्तन करते रहना यह अप्राप्त कर्मफलका आश्रय लेना है। इसके विपरीत किसी प्रकारकी अप्राप्त परिस्थितिकी न तो आशा करना, न उसका चिन्तन ही करना, सब प्रकारसे अनुकूलताके लालच और प्रतिकूलताके भयका त्याग करके पूर्णतया निश्चिन्त और निर्भय हो जाना—यह अप्राप्त कर्मफलका आश्रय न लेना है।

३. वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका दृष्ट फल वह है जो क्रियाके साथ-साथ उपभोगरूपमें मिलता हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणके लिये सुमधुर गान, गाली और कर्कश स्वर तथा बड़ाई, प्यारके वचन और कठोर वचन आदि शब्दोंके श्रवण करनेमें; शीत, उष्ण, नरम और कठोर वस्तुओंका स्पर्श करनेमें; सुन्दर रूप और कुरूपको देखनेमें; सब प्रकारके रसोंका आस्वादन करनेमें तथा सुगन्ध और दुर्गन्धको सूँघनेमें अनुकूलता और प्रतिकूलताके कारण जो सुख-दुःखका उपभोग होता रहता है, वही हमारे नवीन कर्मोंका दृष्ट फल है। इस प्रकार प्राप्त अनुकूलताको सुरक्षित रखनेके लिये या प्रतिकूलताको दूर करनेके लिये तथा अप्राप्त अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिके लिये या अप्राप्त प्रतिकूलताके प्राप्त होनेकी आशङ्कासे उसे टालनेके लिये स्वेच्छापूर्वक नये कर्म करना—अर्थात् व्यापार आदिमें सफलता मिलनेकी आशासे, धन अथवा किसी पदार्थके मिलनेकी आशासे, रोगमुक्त होनेकी आशासे, नीरोगता सुरक्षित बनी रहे—इस आशासे या किसी कार्यके बिगड़नेके भयसे भयभीत होकर जो प्राप्त योग्यता, बल, पदार्थ और परिस्थिति आदिका उपयोग करना है—यही नवीन कर्मोंके दृष्ट-फलका आश्रय लेना है। इसलिये साधकद्वारा जो कर्तव्यरूपसे प्राप्त नये कर्म किये जायँ, उन सबको करनेमें किसी प्रकारके दृष्ट-फलसे अपना कोई सम्बन्ध न जोड़ना अर्थात् उसके बदलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अधिकार, पद और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करनेकी या प्रतिकूल परिस्थितिको दूर करनेकी किसी प्रकारकी भी कामना या आशा न रखना—यही नये कर्मोंके दृष्ट फलका आश्रय न लेना है।

४. वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले कर्मोंका जो भी फल कालान्तरमें, इस लोकमें या परलोकमें मिलनेवाला है या जिसके मिलनेका विश्वास है, उसकी प्राप्तिकी आशा या कामना करके अर्थात् इस लोकमें यश, मान, प्रतिष्ठा, पुत्र, धन, पदार्थ आदि अनुकूल

परिस्थिति भविष्यमें मिलेगी या किसी प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थिति जिसके मिलनेका उपक्रम दिखायी देता हो, वह टल जायगी—इस प्रकारकी आशा या कामना करके अथवा परलोकमें स्वर्गादिके सुखभोगकी या दुःख-निवृत्तिकी कामना करके जो नये कर्मोंका करना है वह नवीन कर्मोंके अदृष्ट-फलका आश्रय लेना है। अतएव कर्तव्यपालनरूप नये कर्मोंके बदलेमें ऐसी आशा या कामनाका न करना, जिसका सम्बन्ध इस लोक या परलोकमें कहीं भी भविष्यमें मिलनेवाले किसी प्रकारके सुखभोग या दुःखनिवृत्तिसे हो—यही नवीन कर्मोंके अदृष्ट-फलका आश्रय न लेना है।

इस प्रकार जो साधक न तो प्राप्त कर्मफलका अभिमान या उपभोग करता है, न उसके प्रति ममता या आसक्ति रखता है, न अप्राप्त कर्मफलकी आशा, कामना या उसका चिन्तन ही करता है, न वर्तमान कर्तव्यपालनरूप कर्मोंके दृष्ट-फलमें ममता और आसक्ति करके उससे किसी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ता है तथा न उसके अदृष्ट-फलमें आसक्त होकर उसके मिलनेकी लालसा ही रखता है, वह सर्वथा कर्मफलका आश्रय न लेनेवाला कहा जा सकता है।

दूसरे साधनके विषयमें यह समझना आवश्यक है कि कौन-कौन-से कर्म करने योग्य हैं और उनको किस प्रकार और किस भावसे करना चाहिये। विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, योग्यता, पद, अधिकार आदिके अनुरूप जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका करना उचित है, जिसके करनेमें कभी किसीका भी किसी प्रकारका अहित न तो है और न उसकी कोई सम्भावना ही है अपितु जिसके करनेकी आवश्यकता है, जिसके करनेमें दूसरोंके अधिकारकी पूर्ति या रक्षा है, जिसको प्राप्त-शक्तिके द्वारा सहज-भावसे किया जा सकता है, जिसके करनेका विधान है, जिसमें अपने विवेकका या शास्त्रका विरोध नहीं है, वे करने योग्य कर्म हैं।

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मनुष्यको जो विवेक मिला है, वह किसी कर्मका फल नहीं है। अतः विवेक-का आश्रय लेना कर्मफलका आश्रय लेना नहीं है, वह तो प्रभुकी कृपाका ही आश्रय है। विवेकके प्रकाश-में यह निर्णय करना कि कौन-सा कर्म तो करने योग्य है और कौन-सा करने योग्य नहीं है। यही विवेकका आश्रय लेना है। गीता अध्याय १६, श्लोक २४ में भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि करनेयोग्य और न करनेयोग्य कर्मकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण है, उसका विवेकसे विरोध नहीं है; क्योंकि विशुद्ध अन्तःकरणवाले महापुरुषोंके विवेकमें ही शास्त्रोंका प्राकट्य होता है। कामनायुक्त मनुष्योंका विवेक छिपा रहता है, इस कारण उनके लिये शास्त्र ही विवेकका काम देता है।

उक्त प्रकारसे शास्त्रविधान और विवेकके प्रकाशमें करनेयोग्य कर्मका निर्णय करके जो कुछ वस्तु, व्यक्ति, बल, योग्यता और परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग करना ही करनेयोग्य कर्मका करना है, जिसका वर्णन पहले वाक्यमें किया गया है।

जब विवेकके प्रकाशमें निर्णय हो जाय कि अमुक कर्म इस समय मेरा कर्तव्य है, मुझे यह करना चाहिये, तब उस कामको बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर धैर्य और उत्साहपूर्वक जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार पूरा करके, कर्म करनेकी वासना और आसक्ति-का नाश करके संकल्परहित होता रहे, उसके कर्तापनका अभिमान न करे। अपने मनमें उस कर्मके विषयमें किसी प्रकारका महत्त्व अङ्कित न करे। जगत्‌से जो कुछ मिला है, उसे लौटाकर अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्तिके द्वारा आवश्यक सेवा करके जगत्‌से उऋण होता रहे। किसी प्रकारके सुखके बदलेमें किसीसे कुछ चाहे नहीं।

भोगकी इच्छा न करे। अर्थात् नया ऋण न ले। इस भाव और प्रकारसे किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता। (गीता १८। १०)

जो मनुष्य कर्मफलका आश्रय लेकर कर्म करता है, वह तो ऐसा कर्म भी कर बैठता है, जो उसे नहीं करना चाहिये तथा जिसमें उसका अपना और दूसरोंका भी अहित भरा रहता है। जैसे स्वादके सुखभोगका आश्रय लेकर भोजन करनेवाला ऐसी वस्तु भी खा लेता है, जिससे शरीरका अहित होता है तथा जो दूसरोंको दुःख देकर प्राप्त की गयी है, इस कारण उसमें दूसरोंका भी अहित निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मके विषयमें समझ लेना चाहिये। परंतु कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करनेवाला साधक ऐसा कोई काम नहीं करता जो उसे नहीं करना चाहिये अर्थात् जो उसका कर्तव्य नहीं है तथा जिससे किसीका भी किंचिन्मात्र भी अहित होता हो। उसकी प्रत्येक क्रिया सर्वहितकारी, स्वार्थरहित, त्यागपूर्ण, अभिमान और ममतासे शून्य होती है। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले किसी भी कर्मसे किसी प्रकारका लगाव न रहनेके कारण वे कर्म उसे बन्धनमें डालनेवाले नहीं होते; प्रत्युत प्राक्तन कर्म-संस्कारोंका नाश करके क्रियाशक्तिके वेगको और कर्म करनेकी आसक्तिको मिटा देते हैं। साधारण मनुष्य जिस कर्मासक्तिके और प्रवृत्तिके वेगके कारण कुछ किये बिना रह नहीं सकता, वह वेग उसके मनमें शान्त होता चला जाता है।

कर्मफलका आश्रय लेनेवाला चाहयुक्त व्यक्ति ही अपनेमें सद्गुण और सदाचारका आरोप करके उसके बदलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अधिकार और पद-प्राप्तिकी आशा करता रहता है तथा अपने आंशिक सदाचारको बढ़ा-चढ़ाकर लोगोंमें प्रदर्शित करता रहता है। साथ ही वह दूसरोंमें भाँति-भाँतिके दोषोंकी कल्पना और जल्पना भी करता रहता है और इस प्रकार उनमें घृणा और द्वेष करके अपने चित्तको अशुद्ध बना लेता है, परंतु जो साधक सद्गुण और सदाचारको अपना कर्तव्य मानकर उनका पालन करता है, समस्त भोग-सामग्री और मान-प्रतिष्ठा आदिकी अपेक्षा उनका महत्त्व अधिक समझता है, मान-बड़ाई आदिके बदलेमें अपने जीवनको नहीं बेचता उसमें किसी प्रकारके गुण और सदाचार-का अभिमान नहीं होता। सद्गुण और सदाचार उसके स्वाभाविक जीवन बन जाते हैं। वह अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका आरोप या दर्शन नहीं करता, इस कारण उसके स्वभावमें परदोषदर्शनके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अतः उसका चित्त सर्वथा स्वस्थ, शुद्ध, निर्विकार और शान्त हो जाता है।

कर्मफलके रूपमें मिलनेवाले सुख-भोगको चाहनेवाला विषयासक्त व्यक्ति काम, लोभ, क्रोध और भयसे आक्रान्त रहता है। कर्मफलकी कामनासे उसकी विवेकशक्ति ढक जाती है, लुप्तप्राय हो जाती है; अतः वह इस रहस्य-को भी नहीं समझ सकता कि किस कर्मके करनेमें मेरा और दूसरोंका हित है, किसके करनेमें अहित है, दूसरोंके हितमें ही मेरा हित भरा है और दूसरोंके अहितमें साथ-साथ मेरा भी अहित हो रहा है। वह तो बिना सोचे-समझे ही ऐसे कर्ममें उत्साहपूर्वक लग जाता है, जो सर्वथा अकर्तव्य है, जिसके करनेमें उसका अपना और दूसरोंका भी अहित है, जो सर्वथा निन्द्य है। परंतु कर्मफलका आश्रय न लेनेवाले साधकसे ऐसी भूल कभी नहीं होती। उसका विवेक सदैव जाग्रत् रहता है; उसपर काम, क्रोध, लोभ, मोह और भयका आवरण स्वप्नमें नहीं आता; उसका चित्त काम, क्रोध और भय आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हो जाता है; अतएव उसका प्रत्येक कार्य सर्वहितकारी और आदर्श होता है।

जिस समय उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं होता, उस निवृत्तिकालमें उसका विशुद्ध चित्त स्वतः शान्त हो जाता है। उसमें व्यर्थ और बुरे संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। उसके चित्तमें या तो प्रियतमकी मधुर स्मृतिका प्रवाह चलता है या वह अपने प्रियतमके प्रेममें निमग्न रहता है या उसकी सर्वथा

निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। भावके भेदसे इस प्रकारका भेद होना स्वाभाविक है। इसीलिये इस श्लोकमें उस साधककी महिमाका वर्णन करते हुए उत्तरार्धमें यह कहा गया है कि वह संन्यासी है और योगी भी है।

जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, उसको सभी चाहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है, इस कारण वह किसीके लिये भयप्रद नहीं होता। वह किसीसे वैर या द्वेष नहीं करता, इस कारण कोई भी प्राणी उससे वैर या द्वेष नहीं करता। सबके साथ उसका स्वाभाविक समतायुक्त प्रेम हो जाता है। वह किसीसे भी अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा नहीं करता, इस कारण उसके मनमें क्रोधके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

उक्त श्लोकके अनुरूप जिस साधकका जीवन बन जाता है, वह स्वभावसे ही आलस्य और प्रमादसे रहित एवं कर्तव्यपरायण होता है। उसमें यह भाव नहीं रहता कि मैं तो कर्मफलके आश्रयका त्यागी और कर्तव्यपरायण हूँ तथा दूसरे ऐसे नहीं हैं।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और सांख्ययोग आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिके साधन गीतामें बताये गये हैं, उनमेंसे किसीमें भी साधककी तबतक प्रगति नहीं होती, जबतक वह कर्मफलरूप वस्तु और परिस्थिति आदिके आश्रयका त्याग नहीं कर देता। इसीलिये भगवान्‌ने अगले श्लोकमें यह बात कही है कि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग वही कर सकता है, जो सब प्रकारकी कामनासे सर्वथा रहित हो जाता है। कामनाके रहते हुए संकल्पोंका अभाव नहीं हो सकता। एक-एक कामनाकी पूर्तिके लिये अनेक संकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अतः कामनायुक्त व्यक्ति संकल्पोंके जालमें फँसा रहता है। उसके जीवनका अधिकांश समय अप्राप्त परिस्थितियोंके मिलनेकी आशामें और उनके चिन्तनमें ही बीत जाता है। अतः हरेक साधकको चाहिये कि कभी किसी भी प्राप्त वस्तु आदिमें आसक्त न हो और अप्राप्तके मिलनेकी आशा या उसका चिन्तन न करे। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करता रहे।

जो साधक उपर्युक्त प्रकारसे कर्मफलरूप समस्त वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति आदिके आश्रयका त्याग करके सबसे सर्वथा निराश्रय और निराश हो जाता है, उसे उस अनन्तका आश्रय अपने-आप मिल जाता है, जो सबका सब कुछ है। फिर उसके जीवनमें किसी प्रकारका अभाव नहीं रहता।

जो मनुष्य कर्मफलके आश्रयका त्याग नहीं करता, किंतु पूजा और सम्मान पानेके लिये या शारीरिक परिश्रमसे बचनेके लिये अथवा अन्य किसी प्रकारकी अनुकूलताके प्रलोभनसे या प्रतिकूलताके भयसे करने योग्य कर्मोंको नहीं करता, कर्मोंके साधनरूप अग्निका त्याग कर देता है तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा और जीविकाके लिये विहित कर्मोंको भी त्याग देता है एवं जो न तो शरीर-इन्द्रिय आदिसे असङ्ग हुआ है और न वासनारहित ही हुआ है, प्रत्युत त्यागके बदलेमें भी किसी-न-किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा और कामना करता रहता है, वह अग्निरहित और अक्रिय होनेपर भी न तो संन्यासी है और न योगी ही है; क्योंकि संन्यासका फल कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाना और योगकी सिद्धि सर्व-संकल्पोंसे रहित निर्विकल्प और निर्बीज समाधि अर्थात् कैवल्य-अवस्था—ये दोनों ही उसे नहीं मिलते।

गीता अध्याय ४ श्लोक १८ से २४ तक, अध्याय १८ श्लोक ७ से ११ तक तथा अन्य अध्यायोंमें भी जगह-जगह इस श्लोकमें कहे हुए कर्म-रहस्यका विस्तृत विवेचन भगवान्‌ने किया है। उन सबका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर विचारशील साधक इस विषयको भली-भाँति समझ सकता है।

सबमें भगवान्

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'हम कहाँ जा रहे हैं ?' सभीके मनमें यही प्रश्न था। सभीके मुख सूख गये थे। वे दुर्दान्त, निसर्गतः क्रूर दस्यु, जिन्होंने कभी किसीकी करुण प्रार्थना एवं आर्त चीत्कारपर दया नहीं दिखायी, आज इस समय बार-बार पुकार रहे थे—'या खुदा ! या अल्ला !'

दस्युपोत था वह। उन्होंने रात्रिके अन्धकारमें सौराष्ट्रके एक छोटे ग्रामपर आक्रमण किया। बड़ी निराशा हुई उन्हें। पता नहीं कैसे उनके आक्रमणका अनुमान ग्रामवासियोंने कर लिया था। पूरा ग्राम जनशून्य था। भवनोंके द्वार खुले पड़े थे। न सामग्री हाथ लगी, न पशु और न मनुष्य ही। अपनी असफलताके कारण दस्यु चिढ़ उठे। बार-बार वे हाथ-पैर पटकते और दाँतोंसे होठ काटते थे—'ये काफिर...' व्यर्थ था उनका रोष।

'कोई बड़ा 'मगर' आ रहा है !' एक दस्यु, जो पोतपर निरीक्षणके लिये था, दौड़ा आया। 'मगर' यह उनका सांकेतिक शब्द था। इसका अर्थ था कि उनके पोतको नष्ट करनेमें समर्थ कोई युद्धपोत आ रहा है।

'मगर !' दस्युओंमें भय फैला। बड़ी-बड़ी काली दाढ़ी भयंकर नेत्र, वे यमदूत-से दस्यु—किंतु जो जितना क्रूर है, उतना ही भीरु होता है। समाचार इतना ही था—'दूर लहरोंमें एक बड़ी रोशनी इधर आती लगती है।' परंतु दस्यु भाग रहे थे।

'फूँक दो ये मकान !' एकने मशाल उठायी।

'बेवकूफी मत कर !' सरदारने डाँटा—'इनकी रोशनी समंदरमें दूरतक हमलेगोंको रौशन करती रहेगी और जानता नहीं क्या कि सोरठी मगर कितने खूँख़ार होते हैं।'

'रणछोड़रायकी जय !' दस्यु जब भागे जा रहे थे, ग्रामके बाहर एक झोंपड़ीमेंसे उन्हें यह ध्वनि सुनायी पड़ी। रात्रिके अन्धकारमें यह झोंपड़ी उन्हें दीखी नहीं थी।

'एक केंकड़ा ही सही।' दो-चार एक साथ घुस पड़े झोंपड़ीमें। केवल एक अधेड़ साधु मिले उनको। साधुकी झोंपड़ीमें तूँबा-कौपीन छोड़कर और होना ही क्या था। दस्युओंने ठोकर मारकर जलका घड़ा लुढ़का दिया। पटककर तूँबा फोड़ दिया और साधुको घसीट ले चले।

अपने पोतमें दस्युओंने साधुको पटक दिया था। क्रोधके आवेगमें और सच कहा जाय तो युद्धपोतके आ धमकनेके भयके कारण वे सोच नहीं सके थे कि इस साधुको वे क्यों लिये जा रहे हैं और उसका क्या करेंगे। वे सब-के-सब डाँड़ सम्हालकर बैठ गये थे। उन्हें यथाशीघ्र युद्धपोतके आनेसे पूर्व दूर निकल जाना था।

जल-दस्यु समुद्रमें मार्ग नहीं भूला करते। परंतु 'आसमानी आफत' का कोई रास्ता उनके पास नहीं था। वे तटसे दूर समुद्रमें पहुँचे और तूफानकी भयंकर हरहराहट उनके कानोंमें पड़ी।

'तूफान !' दस्यु इस आफतकी कल्पना भी नहीं कर सके थे। समुद्रमें तूफान आता तो है; किंतु ऐसे आ पड़ेगा ! क्षणोंमें दस्युपोत नियन्त्रणसे बाहर हो गया। पल-पलपर लगता था कि वह अब डूबा, तब डूबा। घोर अन्धकारमें कुछ सूझता नहीं था। लहरोंके थपेड़े—सबके वस्त्र भीग चुके थे। सबके दिल धड़क रहे थे। पोत पता नहीं किधर लहरोंपर उड़ा जा रहा था।

'हम कहाँ हैं ?' मुखपर आकर भी यह प्रश्न बाहर नहीं आता था। इससे भी बड़ा प्रश्न—'हम बचेंगे आज ?' लेकिन इस अन्धकारमें कोई एक दूसरेका मुखतक देख नहीं पाता था।

× × ×

'श्रीरणछोड़रायकी जय !' अरुणोदयके झुटपुटेमें दस्युओंने देखा कि वे जिसे पकड़ लाये हैं, वह भारतीय साधु हिलते-कूदते पोतमें एक तख्तेपर तलीमें शान्त बैठा था। वह इतना स्थिर, इतना शान्त था कि पोतमें वह है, यह बात ही दस्यु भूल चुके थे। अब वह हिला है और उठकर लहरोंसे एक चुल्लू पानी लेनेकी फिराकमें है।

'काफिर !' एक दस्युने अपना भाला उठाया।

'ठहरो !' सरदारने रोका उसे। हम उसे फिर जिबह कर सकते हैं। क्या करता है यह, देखने दो !'

'श्रीरणछोड़रायकी जय !' साधुको इसकी कोई चिन्ता

नहीं जान पड़ती थी कि वह यमदूतोंके मध्यमें है। पोत अब भी बुरी तरह उछल रहा है, इसकी भी उसे चिन्ता नहीं थी। उसके मुखपर न भयके चिह्न थे और न खेदके। उसने एक हाथसे पोतका एक किनारा पकड़ लिया था, दूसरे हाथसे उत्ताल तरङ्गोंसे एक-एक चुल्लू जल लेकर मुख धो रहा था।

'यह इतना थोड़ा पानी क्यों पीता है ?' साधुको समुद्रके जलसे आचमन करते देख दस्युओंको कुतूहल हुआ।

'समंदरका पानी वह ढेर-सा पी कैसे सकता है।' दूसरेने समाधान कर लिया अपनी समझके अनुसार।

साधुने संध्या की और सागरकी लहरोंसे उठते भगवान् भास्करको अर्घ्य अर्पित किया। पोतमें खड़े होना सम्भव नहीं था। बैठकर वे प्रार्थना करने लगे—'विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव ·····।'

'यह तो इबादत कर रहा है—खुदाकी इबादत !' सरदारने साथियोंकी ओर देखा।

'काफिर !' दूसरा दस्यु चिढ़ उठा—'आफ़ताब है इसका खुदा !' और भाला उठाया उसने।

'तुम मेरे सामने हथियार उठानेकी जुर्रत करते हो ?' सरदार चिढ़ उठा। उसके नेत्र जलने लगे। अपनी भारी तलवार उसने खींची—'रातको कहाँ था आफताब ? वह पूरी रात परस्तिश करता रहा है और कौन जानता है कि ख़ुदाने उसीकी दुआ कुबूल करके हमें बचाया नहीं है।'

'एक काफिरके हकमें शमशेर उठाना अच्छा नहीं है !' दूसरे दस्यु भी झगड़ेको उद्यत हो गये। 'हम इसे गवारा नहीं कर सकते। भले हमारे सरदारकी ही यह हरकत हो।'

'मैं नहीं चाहता कि वह क़तल किया जाय।' सरदारने स्वरको नरम करके कहा—'कुल घंटे भरमें हम मौतके जजीरेके पास पहुँच रहे हैं। वहाँ इसे उतार देंगे।'

'एक ही बात, काफिरको मरना है। हम रहमदिलीसे मारते, जजीरेके जंगली पत्थरोंसे मारेंगे।' सरदारके साथी दस्यु खुश हो गये। 'कोई बात नहीं, इसके क़ब्रपर एक दिन उन्हें दावत उड़ा लेने दिया जाय।'

× × ×

महाद्वीप अफ्रिकाके समीपका वह घने वनोंसे आच्छादित द्वीप। जलदस्युओंने ही नहीं, सभी परिचित माझियोंने उसका नाम 'मृत्युद्वीप' रख छोड़ा था। जलपोत उसके तटसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करते थे। उसपर रहनेवाले वन्यमानव इतने भायनक थे कि उनका दर्शन न होना ही ठीक। चुटकी बजाते वे बिलमेंसे चींटियोंके समान वनमेंसे ढेर-के-ढेर निकल पड़ते हैं। अपनी वृक्ष नौकायें वे पाँच-सात हाथोंपर उठाये दौड़े आते हैं और समुद्रमें एक बार उनकी नौका छूट गयी—दो-चार मील भरका क्षेत्र तो उनके लिये भूमिपर दौड़ते-जैसा ही है। उनके अचूक निशाने—उनके हाथके फेंके भाले कभी चूकना जानते ही नहीं। आरब्य सुपुष्टकाय, दैत्याकार दस्यु भी इन कौपीनधारी, कज्जलवर्ग, मोटे होष्ठ और रूखे घुँघराले केशोंवाले वन्यमानवोंसे दूर ही रहनेमें कुशल मानते हैं।

दस्युपोत महाद्वीपके पास नहीं गया। उपद्वीपसे थोड़ी दूर ही घूमता रहा। वह जैसे कुछ प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा उस उपद्वीपकी हरियालीमें हलचल हुई। कुछ आकृतियाँ रेंगती दिखायी पड़ीं और फिर तो चिचियारीका कोलाहल समुद्रकी लहरोंपर गूँजने लगा।

'जल्दी फेंक दो इसे। वे आ रहे हैं। पास आ गये तो समझो क़यामत आ गयी।' दस्यु-सरदारने लहरोंके ऊपर दूर तैरती काली-काली नौकाएँ देख ली थीं। जैसे बड़े-बड़े मगर मुख फाड़े बढ़े आ रहे हों।

'मेहरबान ! अब इन लोगोंका मेहमान बनना है आप को।' दो दस्युओंने पकड़कर उठाया साधुको और अट्टहास करके फेंक दिया समुद्रमें।

'या खुदा !' सरदारने सिरपर हाथ दे मारा। इधर नौकाएँ एक बड़ी लहरके पीछेसे ऊपर उठ आयीं एक साथ। अब उनपर खड़े चीत्कार करते वन्यमानव स्पष्ट देखे जा रहे थे। चिल्लाया सरदार—'फुर्ती ! डाँड़ उठाओ ! मौत दौड़ी आ रही है ! मौत !'

एक, दो, चार—पचीसों नौकाएँ बढ़ी आ रही थीं। पोत इन नौकाओंके समान शीघ्रगामी कैसे हो सकता है और समुद्र अभी शान्त हुआ नहीं है। दस्यु प्राणपर खेलकर डाँड़ चला रहे थे।

'ओह !' सबसे आगेकी नौकापर खड़े एक काले पुरुषने हाथ उठाया। एक भाला 'खप्' करता आकर एक दस्युके कंधेमें घुस गया। लुढ़क गया दस्यु।

'खप्, खट्, खट्' बराबर भाले दस्युओंपर या पोतपर पड़ने लगे थे। नौकाओंने उन्हें घेर लिया था।

दस्यु-सरदारने देखा कि अब भागनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है। वह पोतसे कूद पड़ा सागरके जलमें। इतने वन्य-मानवोंसे युद्धकी तो बात सोचना ही व्यर्थ है।

× × ×

'आप यहाँ कैसे पहुँचे ?' सरदारने आँखें खोलीं तो देखा कि साधु उसके ऊपर झुके कुछ पूछ रहे थे। परंतु अभी वह कुछ बोल सके, ऐसी दशामें नहीं था। मस्तकमें भयंकर पीड़ा हो रही थी। तनिक सिर घुमाकर वह उलटी करने लगा। पेटमेंसे समुद्रका पानी निकल जानेपर उसे कुछ शान्ति मिली।

'बहुत थोड़ी चोट लगी है। सिर चट्टानसे टकरा गया लगता है; परंतु रक्त अब बंद हो गया है।' साधु पास बैठे दस्युपतिका सिर सहला रहे थे।

'हुज़ूरकी मेहरबानी !' दस्यु अत्यन्त दीनस्वरमें बोला। उसके नेत्रोंसे आँसू बह चले—'मुझे हुज़ूर माफ़ कर दें। खुदाके बंदे हैं हुज़ूर !'

'आप घबराइये मत ! मुझे भी लहरोंने आपके ही समान यहाँ किनारे फेंक दिया। अन्तर इतना है कि मुझे चोट नहीं लगी और मैंने समुद्रका पानी नहीं पिया ! भगवान् सबका मङ्गल करते हैं।' साधु स्नेहपूर्वक हाथ फेरते रहे—'धूप तीव्र है, आप खिसक सकें तो हमलोग कुछ दूर चलकर छायामें बैठें !'

'हम मौतके जजीरेपर हैं ?' दस्यु-सरदार उठ बैठा। उसका पुष्ट शरीर—उसकी जीवनी शक्ति इस विपत्तिमें इतनी क्षीण नहीं हुई थी कि वह उठ न सके; किंतु इधर-उधर देखकर वह हतप्रभ हो उठा। 'वह दूरसे आवाज आ रही है। वे लोग मेरे साथियोंको बाँधकर उनके चारों ओर नाचते-कूदते, चिल्लाते होंगे। वे उन्हें पत्थरोंसे मारकर समाप्त कर डालेंगे और टुकड़े करके उनका कबाब खा जायँगे।'

'मृत्यु दो बार नहीं आती और जब आनेको होती है, उससे पहले भी नहीं आती।' साधुका तत्त्वज्ञान दस्युकी समझमें आये, इसकी आशा नहीं थी; साधुने भी इसे झट अनुभव कर लिया। वे प्रसङ्ग बदलकर बोले—'मेरे गुरुदेवने बताया है कि 'जो सम्मुख आये, उसे भगवद्रूप मानो और उसके अनुरूप उसकी सेवा करो। संसारकी चिन्तामें पड़ना तुम्हारा काम नहीं है।' आप क्या छायातक चल सकेंगे ?'

'आपका हुक्म मानूँगा।' दस्युको सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वह भी देख रहा था कि अब समुद्रमें भागनेका कोई मार्ग नहीं और धूपमें देरतक बैठा नहीं जा सकता। दोनोंमें ही दूरतक जानेकी शक्ति नहीं थी। तटके सबसे समीपके वृक्षतक वे जा सके और बैठ गये। लहरोंके थपेड़ोंने उनके अङ्ग-अङ्ग चूर कर दिये थे।

'आइये, भगवन् !' विपत्ति अकेली नहीं आती। छायामें बैठे आधा घंटे भी नहीं हुआ था कि सामनेकी झाड़ीमें दो नेत्र चमक उठे। साधुसे पहले दस्युकी दृष्टि उधर गयी। वह भयसे पीला पड़ गया। उसने बिना बोले उधर संकेत किया। परंतु साधु तो अद्भुत पुरुष हैं। उसने तो ऐसे बुलाया जैसे किसी सामान्य अतिथिको बुला रहा हो—'आप संकोचपूर्वक छिप क्यों रहे हैं ? पधारिये !'

सचमुच झाड़ीमेंसे सिंह निकला और अपनी स्थिर मन्द-गतिसे आगे बढ़ आया।

'आप विराजें ! कोई आसन मेरे पास नहीं है।' साधुने खड़े होकर दोनों हाथ जोड़े 'हम कंगाल कोई भी अभ्यर्थना करनेयोग्य नहीं, देव !'

सिंह बैठ गया और जब उसके पास साधु बैठ गये, तब अपना मुख उसने उनके पैरोंपर रख दिया। एक पालतू कुत्तेके समान अपनी पूँछ वह हिला रहा था और उसके नेत्र अधमुँदे हो चुके थे।

'हुज़ूर करिश्मा कर सकते हैं !' दस्युको आश्चर्य हो रहा था कि एक आदमी इस तरह जंगलमें खूँखार शेरका सिर थपथपा सकता है।

'भगवान्ने कहा है कि वे पशुओंमें सिंह हैं।' साधुका स्वर श्रद्धापूर्ण था।

'हुज़ूर आफ़तावकी इबादत करते थे और अब शेरको खुदा कह रहे हैं !' दस्युकी समझमें कुछ नहीं आया था; परंतु उसका भय दूर हो गया था।

'तो आप समझते हैं कि खुदा हर जगह और हर वस्तुमें नहीं है ?' साधुने देखा दस्युकी ओर।

'वे आ गये—उनमें भी खुदा ......।' दस्युका स्वर भयसे बंद हो गया। झाड़ियोंके पीछे कुछ काली आकृतियाँ उसने देख ली थीं, जो इधर-उधर हिल रही थीं।

पता नहीं क्या हुआ—एक चिचियारी गूँजी और शान्ति फैल गयी। कुछ क्षण ऐसा लगा कि वन्य-मानवोंका समूह घने वनमें, लताओंके पीछे चुपचाप एकत्र हो रहा है और

तब तीन-चार सुपुष्ट व्यक्ति धीरे-धीरे एक ओरसे बाहर आये।

'आइये, भगवन् !' साधुने उनकी ओर देखा और सिंहने भी सिर उठाकर देखा; किंतु वे भागें, इससे पूर्व ही सिंहने मुख साधुके पैरोंपर फिर रख लिया।

कुछ पुकारकर कहा उन लोगोंने—एक साथ पूरी भीड़ वनके पीछेसे निकल आयी। वन्य-मानव भूमिपर लेट-कर साधुको प्रणाम करते थे।

'ये कहते हैं कि आप वनके देवता हैं या उनके दूत ?' दस्युने अधर हिलाकर बिना शब्द किये एक वृद्धसे संकेतोंकी भाषामें बातें प्रारम्भ कर दीं।

'देवताओंका आराधक !' साधुका उत्तर सुनकर वे वन्य-मानव नृत्य करने लगे। सिंहकी उपस्थिति वे भूल ही गये। उन्होंने साधुसे प्रार्थना की कि वे उनके ग्रामको पधारकर पवित्र करें। वहीं निश्चय हो गया कि दस्युपोत वे साधुको दे देंगे भारत जानेके लिये और दस्युको तो वे साधुका सेवक ही समझ रहे थे। सचमुच अब दस्यु साधु-सेवक हो चुका था।

सत्यकी खोज

(लेखक—श्रीअमरसिंहजी महता)

स्कन्दपुराणके अनुसार 'विश्व सत्यमें लिपटा हुआ है, धर्म सत्यमें समाया हुआ है; यह केवल सत्य ही है जिसके कारण सागर अपनी सीमाओंमें बँधा हुआ है। प्रत्येक धर्म, प्रत्येक संत, प्रत्येक उपदेश और प्रत्येक महापुरुष प्रत्येक कालमें प्रत्येक स्थानपर सत्यपर ही बल देते आये हैं। सत्यकी ही विस्तृत सीमामें सब नैतिक बन्धनोंको बाँधा गया है। ढाई अक्षरके 'सत्य' शब्दमें वह असीम शक्ति विद्यमान है, जिसे प्राप्तकर मानवता दानवताको त्याग कल्याणमय मार्गपर अग्रसर हुई है।'

शास्त्रोंका तो मूल सिद्धान्त ही यह है कि 'सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है' **'न हि सत्यात् परो धर्मः'**।* अथर्ववेदमें लिखा है कि 'महान् सत्य, कठोर नैतिक संज्ञा, व्रत-पालन, आत्म-ज्ञान, त्याग—इनके कारण ही पृथ्वी स्थित है।' (**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा, तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ··**) इसमें भी सत्यको प्रथम स्थान दिया गया है तथा इसका महत्त्व स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे 'महान्' (बृहत्) विशेषणका प्रयोग किया गया है। आर्य-संस्कृतिके मूल समस्त धार्मिक एवं पौराणिक ग्रन्थोंमें सत्यकी महत्तम महिमा गायी गयी है तथा उस अकाट्य तथ्यको भूल जानेके भयसे बार-बार दुहराया गया है।

वाल्मीकि-रामायण तो सत्यकी महत्ता सिद्ध करनेमें सभी वेद-पुराणोंसे आगे बढ़ गया है। इसमें लिखा है कि 'ईश्वर केवल सत्य है और समस्त गुण सत्यका ही अनुगमन करते हैं। प्रत्येक सुन्दर वस्तु सत्यसे ही आती है और सत्यसे बढ़-कर कोई वस्तु नहीं है।' भर्तृहरिने 'सबसे अधिक शान्ति कहाँ है ?' प्रश्नके उत्तरमें 'सत्य'की ओर संकेत किया है। सत्यके लिये किया गया संकेतात्मक—किंतु साहसिक उत्तर वस्तुतः सत्य है। सत्यके अभावमें शान्तिका अस्तित्व ही नहीं रहता। मध्यकालमें तुलसीने भी सत्यकी महिमामें कहा है—

साँच बराबर तप नहीं झूँठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

जिस सत्यकी इतनी महिमा गायी गयी है, जिस सत्यका उद्गम सृष्टिके आरम्भसे है और अन्त सृष्टिके साथ है, वह सत्य आखिर है क्या ? क्यों इसे प्रधानता दी जाती रही है! क्या सचमुच इसके अभावमें सृष्टिका अन्त हो जायगा ! क्या सत्यका प्रयोग हर समयके लिये सही एवं उपयोगी है, आदि-आदि अनेक प्रश्न हैं। ये कोरे काल्पनिक भावुक प्रश्न ही नहीं—किंतु मानव-मनमें सहज उठनेवाली स्वाभाविक जिज्ञासाएँ हैं, जिनकी पूर्ति करना आवश्यक है। इस छोटेसे लेखमें हम इसी 'सत्यकी खोज' करनेका तुच्छ प्रयास करेंगे।

सत्य शब्दका उद्भव संस्कृतके सत् शब्दसे है, जिसके अर्थ हैं—'होना', 'स्थित होना', 'जीवित रहना' आदि। सत्यके अतिरिक्त वास्तवमें न कोई वस्तु है और न कोई उसकी स्थिति ही है। सत्य अन्तर्धान, निर्विकार एवं निर्गुण है। सत्य परम ब्रह्म है। इसीलिये महात्मा गाँधीने कहा था, 'सत्य ईश्वर है।' यद्यपि उन्होंने कोई नयी बात नहीं कही, किंतु अवश्य ही इस छिपे सत्यको प्रकट करनेका गुरुतर श्रेय उनको प्राप्त है। 'राम-नाम सत्य है' इसी तथ्यका लौकिक प्रतिरूप है।

* There is no religion higher than truth.

जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान (चित्) है, जहाँ प्रकाश है वहाँ आनन्द है। इसीसे हम ईश्वरको 'सत्-चित्-आनन्द'से परिपूर्ण स्थितिमें मान उसे 'सच्चिदानन्द' की संज्ञासे विभूषित करते हैं। यह वह महान् शक्ति है जिसमें सत्य, ज्ञान और आनन्द तीनोंका संयुक्त धन समानरूपसे विद्यमान है।

सत्य ही ईश्वर है। ईश्वरकी सत्ताको भले ही कोई मना करे, परंतु सत्यको मना करनेकी क्षमता किसीमें नहीं है। अज्ञानीसे-अज्ञानी और असभ्यसे असभ्य व्यक्तिमें भी सत्यका कुछ अंश अवश्य रहता है। यदि वह अंश ही लुप्त हो जाय तो व्यक्तिका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

सभ्यता और संस्कृतिका विकास मानववादकी सत्यमार्गका अवलम्बन करते हुए की गयी प्रगति है। सत्यकी शक्ति असीम है। इस शक्तिका प्रयोग सदा संहारात्मक प्रवृत्तियोंसे हटकर सृजनात्मक कृतियोंकी ओर हुआ है। सत्य स्वयं ज्ञान है और ज्ञान ही सभी प्रगतियोंका मूल स्रोत है। सत्य जीवन है—पूर्ण जीवन, प्रफुल्लित जीवन, उमंगों भरा, आशाभरा, छलकता-सा, महकता-सा। सत्यवादी व्यक्तिमें साहस, शक्ति, धैर्य, विवेक और चरित्रका समानुपात होता है। यही समानुपात उसके आनन्दमय जीवनका कारण है।

सत्यमें स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं, मिथ्या आडम्बर नहीं। सत्यकी राह दुर्गम होते हुए भी झूठी दुर्गन्धसे भरे विषैले कीटोंसे सनी हुई नहीं है। निर्भीक जीवनमें सत्यही-की अदृश्य शक्ति छिपी रहती है, जो निरन्तर कर्तव्यपथपर आगे बढ़नेकी प्रेरणा देती रहती है। सत्य सदा स्वच्छ और निर्मल होता है। उसमें तनिक-सी भी दुर्गन्ध लगनेपर रंग फीका प्रतीत होने लगता है। सत्य जितना सुकोमल है उतना ही कठोर भी। इसीलिये कहते हैं—'साँचको आँच नहीं।' जिस प्रकार सोनेको ज्यों-ज्यों गरम करते जाते हैं त्यों-त्यों उसकी चमक बढ़ती जाती है, उसी प्रकार सत्यवादी व्यक्ति जितना सताया जाता है, उतना ही उसका आत्म-विकास बढ़ता जाता है, घटता नहीं। अधिक सताये जानेपर वह उसी सत्यरूपी परमब्रह्ममें लीन हो जाता है, जिसकी खोजके लिये उसे सताया गया था। प्रभु ईसामसीह इसी सत्यके शोधक थे, जिन्हें क्रॉसपर सुलाया गया था।

सत्यका न शोषण किया जा सकता है और न उसकी अवहेलना ही की जा सकती है। सत्यको छिपाया भी नहीं जा सकता। वह तो स्वयं ही काल और स्थानकी सीमाको लाँघकर उपयुक्त अवसरपर प्रकट हो जाता है।

सत्य सनातन है। यह न कभी पुरातन हुआ और न कभी भविष्यमें परिमार्जनकी आवश्यकता ही रखता है। अर्वाचीन तो वह है ही। सत्य स्वयं एक कला है और बहुत बड़ी कला होनेपर भी कठिन नहीं है। यह एक सर्वसाधारण-की कला होनेसे सुस्पष्ट, सरल और स्वाभाविक है। वस्तुतः सत्य जीवनकी अनुपम निधि और उत्कृष्टतम कला है। सत्यका कलाकार संसारका सर्वश्रेष्ठ कलाकार है।

सत्य एक विज्ञान भी है अपनेमें पूर्ण। सत्य और विज्ञान दोनों एक-दूसरेमें अन्तर्निहित हैं, जिन्हें पृथक् करना असम्भव है। सच्चे हृदय, सच्ची लगन और सच्चे ध्येयके लिये अनवरत कार्य करनेवाला ही सच्चा वैज्ञानिक है। कहा भी उचित ही गया है कि 'वैज्ञानिक सत्यके मन्दिरका पुजारी है।' वह प्रकृतिमें छिपे सत्यका ही तो रहस्योद्घाटन करता है और इसी रहस्यमयी खोजके सृजनात्मक परिणामोंको वह मानव-कल्याणमें लगा देता है।

सत्य स्वयं राजनीति है, दर्शन है, तर्क है। प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र सत्यको ही लक्ष्य रखकर अपनी नीतियाँ निर्धारित करता है। सत्यकी नीति सदा स्पष्ट और उलझन-हीन होती है। उसके पालन करनेमें न उलझनोंका ही सामना करना पड़ता है और न उसे पेचीदा ही बनाना पड़ता है। राष्ट्रका उत्थान-पतन सत्यके मार्ग अपनाने और उससे हटनेपर निर्भर करता है। इतिहास साक्षी है जिसने भी इस अकाट्य तथ्यकी उपेक्षा की, वहीं उसका पतन भी हुआ। विश्वके बड़े-बड़े साम्राज्य इसी प्रकार बने और बिगड़े, उठे और मिटे।

संसारके सभी प्रसिद्ध महापुरुष सत्यकी ही खोजमें अपना जीवन व्यतीत करते हुए, उपदेश देते हुए महामानव बन गये।

आधुनिक कालमें महात्मा गाँधीका पावन मार्ग भी सत्यकी खोज ही है। अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त भारत गौरव 'पंचशील' सिद्धान्त सत्यपर ही आधारित है। इस सिद्धान्तकी सफलता सत्यकी ही सफलता है।

हमारा धर्म, राज्य और सामाजिक व्यवहार तीनों एक साथ चलें

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

प्राणिमात्रका कल्याण इसीमें है कि धर्म, राज्य और सामाजिक व्यवहार—ये तीनों मेल-जोलसे रहें, मेल-जोलसे चलें। धर्मानुकूल राज्य रहे, धर्मानुकूल सामाजिक व्यवहार चलें, तब कल्याण हो। इसीलिये राजा-प्रजा दोनों एक धर्मके ही हों तो बड़ा सुख मिल सकता है, मनुष्य एक समाजका प्राणी है, वह अकेला कभी नहीं रह सकता। वह है, उसके कुटुम्बी हैं, उसके पड़ोसी हैं, उसका ग्राम है, नगर है, जिला है, देश है, प्रदेश है। उसके व्यक्तिगत विशेष कर्तव्य हैं और अन्योंके साथ सम्बन्ध रहनेसे अन्योंके प्रति भी उसके विशेष कर्तव्य रह अथवा बन जाते हैं।

किसको क्या खाना चाहिये, कितना खाना चाहिये, कैसे खाना चाहिये, घरमें कैसे बर्तना चाहिये, कैसे कपड़े पहनने चाहिये, कौन-सा धंधा करना चाहिये, कितना दान-धर्म करना चाहिये, कौन-से खेल खेलने चाहिये, कैसा व्यायाम करना चाहिये—इत्यादि बातोंमें एक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है और होना भी चाहिये।

किंतु

इसके विपरीत जब उसका सम्बन्ध और व्यवहार अन्योंसे पड़े, तब उसका विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने वचनपर स्थित रहे। जहाँतक सम्भव हो दूसरोंको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुँचाये। सच बोलना चाहिये, परोपकार करते रहना चाहिये। राज्यके नियम पालने चाहिये। इस प्रकार एक प्रकारके कर्तव्य तो केवल अपनेसे सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे प्रकारके कर्तव्य अन्योंसे सम्बन्ध रखते हैं।

जब

हमारे पुण्य, पवित्र भारतमें, हमारा ही धर्म चतुष्पाद् होकर पूर्णरूपसे विचरता रहा, तब राज्य और समाज ठीक-ठीक चलता रहा और राजा और प्रजा दोनों सुखपूर्वक चलते रहे। सच पूछिये तो राज्यकी अपेक्षा—

'धर्मः शास्ति प्रजाः सर्वाः' (मनु)

—धर्म ही विशेषरूपसे प्रजा-पालन करता रहता था। राजा साक्षीमात्र था और वह यही देखता रहता था कि कहीं मर्यादा तो नहीं टूट रही है।

कुछ सहस्र वर्षोंसे

यह स्थिति बदल गयी। विदेशियोंसे सम्पर्क रहने लगा। विदेशी और विधर्मियोंके आक्रमणोंने भारतवर्षकी काया-पलट कर दी और विदेशी—विधर्मी राज्य सिरपर आ गया—इस प्रकार धर्म तो अपना रहा, किंतु राज्य विदेशी हो गया और संसर्ग-दोषके कारण हमारा समाज विस्खलित हो गया। इतना विस्खलित हो गया कि आज उसके व्यवहारको देखा जाय तो उसमें भारतीय धर्म, भारतीय राज्य, भारतीय व्यवहार कितना शेष रह गया है, कितने रूपमें शेष रह गया है, यह पहचानना ही कठिन है।

धर्म

उपनिषद्के कथनानुसार धर्मके तीन अङ्ग हैं। अथवा यों कहिये कि धर्मरूपी महावृक्षके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन, दान।

यज्ञ

यज्ञोंकी प्रथा प्रायः लुप्त है। कहीं-कहीं याज्ञिक पण्डितोंके घरोंमें परम्परासे कोई-कोई यज्ञ चला आता है। पर ऊपर मर्यादापालक आर्यराज्यके न रहनेसे वे यज्ञ लुप्त-प्राय हैं। जो कुछ बच रहा है वह एक ढर्रेके रूपमें है। हमारे देशकी ख्याति थी—भारत यज्ञीय देश है। पर आज कहाँ है। एक स्कन्धकी तो यह दशा हुई।

अध्ययन

हमारे भारतकी एक अपनी अध्ययन-परम्परा थी। विदेशी-विधर्मी राज्य-सम्पर्कमें आकर अध्ययन ही बदल गया और—

'वेद एव परो धर्मः' (मनु०)

'वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्'

—वेद ही परम धर्म है, वेदमें ही सब कुछ है, यह भावना जाती रही। यवनोंके समय किसी प्रकार बची हुई वेदशास्त्र-परम्परा अंग्रेजोंके समयमें शिथिल पड़ गयी और आज भारतकी ब्राह्मण-जाति, जो वेदशास्त्र सँभाले बैठी थी, वेदोंको छोड़ बैठी है।

दान

हाँ,-दान-प्रणाली चल रही है, सम्भवतः—

'दानमेकं कलौ युगे'

(मनु०)

—कलियुगमें दान-प्रणालीसे ही हम कुछ-कुछ बच सके हैं। अवश्य ही उसका भी रूप विकृत हो गया है।

युग-ह्रास

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्याहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

सत्ययुग तपःप्रधान रहता है अथवा जिस युगमें तप प्रधान रहता है वह सत्ययुग है। जिस युगमें ज्ञान प्रधान रहे वह त्रेतायुग। जिस युगमें यज्ञोंका प्राधान्य रहे वह द्वापर और कलियुगमें दानकी प्रधानता रहती है।

अब जब कि

धर्मके तीन स्कन्धोंकी यह दशा बन गयी है और राज्यप्रणाली धर्मनिरपेक्ष हो गयी है, तब प्रजाके सामाजिक व्यवहार रूढिरूपमें धार्मिक, व्यवहाररूपमें वैदेशिक होते जा रहे हैं। इस तरह धर्म, राज्य और समाजव्यवहार परस्पर भिन्न ही नहीं, अपि तु परस्परविरोधी बन गये हैं।

तब सुख-शान्ति कहाँ ?

नयी धर्मनिरपेक्ष राज्यप्रणाली नया अस्वाभाविक समाज बनाना चाहती है और ऐसे नये समाजवादकी घोषणा भी हो चुकी है जिसका स्वयं घोषणा करनेवालोंको पता नहीं कि वह क्या है। इस समाजवादमें—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता)

चातुर्वर्ण्यका, गुण, कर्म, स्वभावका लेशमात्र भी सार नहीं है। कहते हैं कि सौ वर्ष पीछेके मार्क्सवादपर चलनेमें कल्याण नहीं है। इस वर्तमान समयमें मार्क्सवाद नहीं चल सकता। कहते हैं कि समाजवाद लानेमें हम रूसका अनुसरण नहीं करेंगे। हम अमरीकाके पिछलग्गू नहीं बनेंगे। हम पाश्चात्योंका अनुसरण नहीं करेंगे।

फिर

समझमें नहीं आ रहा है कि सबको सम-समान बना डालनेवाला (यह निश्चय है कि वर्तमान राज्यप्रणाली इस प्रकारकी समाज-व्यवस्थाकी स्थापनामें सर्वथा अनुत्तीर्ण होगी, बुरी तरह फेल हो जायगी।) समाजवाद किस रूपका अथवा उसका क्या स्वरूप होगा। यह भी कहते हैं कि हम अपने देशकी अवस्था और व्यवस्था देखकर ही समाजवादकी स्थापना करेंगे।

भारतकी अपनी समाज-व्यवस्था है

भारतवर्षकी अपनी ही, अपने ढंगकी, अनोखी समाज-व्यवस्था है, पर वह समाजव्यवस्था उसी प्रकारके आर्यराज्यकी व्यवस्था हो तो तब चल सकती है। तब पाश्चात्त्य धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र-प्रणालीके सिरपर रहते वह प्राचीन आर्य-समाजवाद तो नहीं पनप सकता।

हमारी अपनी भारतीय राज्यव्यवस्था भी है

हमारे वेद-शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि इस बातके साक्षी हैं कि हमारी अपनी एक विशिष्ट राज्य-पद्धति है और थी, पर उसके विषयमें यह सोचनेमें कि वह पुनः आयगी, प्रस्थापित होगी और हमारा धर्म, हमारा राज्य, हमारा समाजव्यवहार समीप भविष्यमें प्रचलित होकर मेल-जोलसे चलेगा और संसारमें सुख-शान्तिका साम्राज्य होगा, ऐसा माननेमें मन संकोच कर रहा है। वैसे तो हम यही विश्वास रखते हैं कि यदि कोई धर्म संसारको सुख-शान्तिका मार्ग बतलाने और उसपर चलनेमें समर्थ है तो वह हमारा आर्य अथवा हिंदू-धर्म ही है, जिसमें इतने अधिक उदात्ततत्त्व, नीतितत्त्व भरे हैं कि जो अन्यत्र धर्माभास धर्मोंमें नहीं मिल सकते।

हमें तो आश्चर्य इसी बातका है

हमें तो आश्चर्य इसी बातका है कि इस सुदीर्घकालीन दासता तथा विदेशी एवं विधर्मियोंके संसर्गमें हम बचे ही कैसे ?

चाहे

बाह्यरूपमें हमारा धर्म रूढिरूपमें रहा, किंतु हमारा धर्म प्राचीन परम्परासे हमारी जातिके रक्तमें बराबर संचरित रहा, यही कारण है कि—

हम जीवित रह सके

अब भगवान् करुणानिधानके करुणारससे हमारी दासता जाती रही, हम स्वतन्त्र हो गये किंतु यह प्राप्त स्वराज्य हमारे स्वधर्मसे मेल नहीं खा रहा है और हमारे सामाजिक व्यवहार विस्खलित होते जा रहे हैं—यही एक निगूढ चिन्ताका प्रश्न है !

यह तो स्पष्ट ही है

कि वर्तमान पाश्चात्त्य प्रजातन्त्र हमारे धर्मकी पुष्टि कभी नहीं करेगा । हमारे धर्मकी रक्षा पूर्णरूपसे कभी न कर सकेगा । इस पचमेल राज्य-पद्धतिमें वह ऐसा न करनेमें स्वतन्त्र नहीं है ।

यह विचित्र राज्यपद्धति

यह विचित्र राज्यपद्धति भारतके गले पड़ी है । ऐसी विचित्र पद्धति कि जिसका आभास हमारे पूर्वजोंको कभी नहीं मिला था ।

यहाँ तो

पक्ष-विपक्ष-पद्धतिमें सत्यको भी हार खानी पड़ रही है । जिधर सत्य उधर ही हाथ यह बात नहीं है । पर जिधर हाथोंकी संख्या अधिक वही सत्य—इस प्रकारकी पक्षनिष्ठा चल पड़ी है ।

हमारी राज्यसभाएँ

अथवा विधानसभाएँ—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

'वह सभा नहीं जहाँ वृद्ध न हों । वे वृद्ध नहीं जो धर्म न कहते हों । वह धर्म नहीं जहाँ सत्य न हो । वह सत्य नहीं जिसमें छल-प्रपञ्च मिला हो ।' इस तत्त्वका अनुसरण नहीं कर रही हैं । पदे-पदे सत्यका अपलाप, छल-प्रपञ्च आदि चलता ही रहता है । पक्षनिष्ठतासे काम चलता है, इसलिये इस प्रकारके छल-प्रपञ्च, अपलाप चलेंगे ही ।

ऐसा प्रतीत हो रहा है

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि दो संस्कृतियोंकी टक्कर हो रही है । घोर टक्कर हो रही है । किसी आंग्ल कविका कथन था—

भावानुवाद-

पूर्व पूर्व ही है ।
और पश्चिम पश्चिम ॥
इन दोनोंका मेल,
कभी नहीं होगा । कभी नहीं होगा ।

अंग्रेजोंके समयमें इन दोनोंका पूर्व-पश्चिमका मेल तो हुआ, पर टिक न सका, कुछ इधरके गुण उधर गये, संसर्ग-दोषसे उधरके गुण इधर आ बैठे, पर पूरा-पूरा मेल न हो सका ।

दूसरे एक आंग्ल कविने कहा—

पूर्व और पश्चिमका मेल कभी नहीं होगा, ऐसा मत कहो ।

भावानुवाद—'एक दिन आनेवाला है ।
पूर्व-पश्चिम दोनों मिलेंगे ॥
ऐसे मिलेंगे कि दोनोंके प्रकाशसे, एक
ऐसा सुन्दर प्रकाश बढ़ेगा जिसकी कोई
अवधि नहीं है अथवा नहीं होगी।

समझमें नहीं आ रहा है कि पहिले कविकी बात मान लें कि दूसरे कविकी ।

पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है । दोनोंका स्थान निश्चित है । दोनोंमें अन्तर भी अत्यधिक है । दोनों एक आकर एक दूसरेको मिटानेमें समर्थ होंगे क्या ? अथवा दोनों किसी समय ऐसे मिल जायँगे क्या, एक रूप हो जायँगे क्या जिसमें यह पहचान ही न हो सके कि यह पूर्व है कि पश्चिम ही है कि दोनों मिलकर एक तीसरी अवर्णनीय वस्तु बन गये हैं ।

हम कोई भविष्यवादी व्यक्ति नहीं हैं । हम जब भूतको वर्तमानसे मिलाते हैं, अथवा भूतसे भविष्यत्‌का विचार करते हैं, तब चञ्चल वर्तमानपर विश्वास भी तो नहीं बैठता।

हम तो इसी निर्णयपर पहुँचते हैं

कोई धर्म हो, कोई राज्य हो, सामाजिक व्यवहार किसी प्रकारके भी क्यों न हों, यदि ये मेलसे रहेंगे, परस्परका ध्यान रखकर रहेंगे, परस्परके रक्षक रहेंगे, तभी हम सुख-शान्तिपूर्वक रह सकेंगे । ये तीनों पृथक्-पृथक् रहें तो भी संसारकी हानि, इन तीनोंमें दो एक साथ रहें, तीसरेने साथ न दिया तो संसारकी हानि । इनका मेल न बैठनेसे हानि-ही-हानि है ।

इसलिये सत्य तत्त्व क्या है

इसीकी खोज होनी चाहिये । संसार, लोग कहते हैं, दो ठोकोंमें विभक्त हो गया है एक ओर रूस आदि, दूसरी ओर अमरीका, इंग्लैंड आदि । हम कहते हैं इस प्रकार विभाग

न कीजिये। विभाग यों कीजिये—

(१) एक ओर अध्यात्मशून्य भौतिकवाद और उसका सहायक वर्तमान विज्ञान।

(२) दूसरी ओर भारतवर्षका अध्यात्मवाद।

अथवा यों कहिये

(१) एक ओर पाश्चात्त्योंकी आसुरीसम्पद् (२) दूसरी ओर भारतीयोंकी दैवीसम्पद्। इन दोनोंमें संघर्ष चल रहा है। और देखना है, क्या होता है, कैसे होता है।

पर

लक्षणोंसे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अन्तमें जाकर दैवी-सम्पद्की ही विजय होगी। दैवीसम्पद्की विजय—भारतवर्षकी ही विजय होगी।

आकाशवाणी कहती है—'ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा।'

हमारा देश किधर जा रहा है

रामके चित्र जलाये जानेका आयोजन तथा गीताका कथित अपमान

कुछ लोगोंका ऐसा निश्चय है कि संसार उन्नति कर रहा है। विज्ञानजनित साधन इसके प्रमाण हैं; परंतु वास्तवमें देखा जाय तो संसार अवनतिके गर्तमें ही जा रहा है। भौतिक सुविधाएँ बढ़ी हैं; परंतु आन्तरिक संताप बहुत अधिक बढ़ रहा है। राग-द्वेष और कामना-वासनाका विस्तार बहुत बड़े परिमाणमें तथा सभी क्षेत्रोंमें हो रहा है। सारा संसार इस समय भयभीत, त्रस्त और उद्विग्न है। भारतमें भी इसका विस्तार हो रहा है। इसमें 'राजनीतिक निमित्त' तो है ही, पर उसका भी मूल कारण भौतिक सुख तथा अधिकारके लिये राग-द्वेषकी वृद्धि ही है। सारे जगत्के समस्त जड-चेतन प्राणियोंको आत्मरूप देखने तथा समझनेवाले भारतीयोंने राग-द्वेषवश तथा राजनीतिक कारणोंसे भारतके टुकड़े करवाये और अब प्रान्त, भाषा आदिको लेकर परस्पर यादवस्थली मचा रक्खी है!

समग्र भारत एक महादेश था और है। उसमें दक्षिण-उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं था, दक्षिणनिवासी भी भारतीय थे और उत्तरनिवासी भी। सुदूर दक्षिणके लोग उत्तरकी सीमा बदरिकाश्रमकी यात्रा भक्ति-श्रद्धापूर्वक करते थे और उत्तरके लोग सुदूर रामेश्वरम्, श्रीरंगम् तथा कन्याकुमारीकी यात्रा करते थे। अब भी वैसे ही करते हैं। अबकी बार बदरिकाश्रमकी यात्रामें बहुत अधिक लोग गये और ऐसा पता लगा है कि उनमें दक्षिणके यात्रियोंकी संख्या अधिक थी। अभी कुछ ही समय पूर्व गीताप्रेसकी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन तीर्थोंमें गयी थी। उसमें लगभग साढ़े छः सौ यात्री थे, जिनमें दक्षिणनिवासी तो नगण्य संख्यामें थे; परंतु उनको दक्षिणमें जो विलक्षण और आदर्श सत्कार, प्रेम, सौजन्य तथा आत्मीयता प्राप्त हुई, वह उनके लिये चिर-स्मरणीय रहेगी। वहाँके बड़े-बड़े सम्भ्रान्त विद्वान् पुरुषोंने पब्लिक सभाओंमें कहा कि हमारी जनतामें दक्षिण-उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं है। यह राजनीतिक मस्तिष्ककी उपज है और राजनीतिक लोगोंके द्वारा ही यह विद्वेषकी बेल बोयी और सींची जा रही है।

पाकिस्तान न बनता तो अलग राज्य बनानेकी कल्पना ही नहीं होती, पर पाकिस्तान बन गया, इसीलिये सिखिस्तान, द्रविडस्तान आदिकी तथा भाषावार प्रान्तोंकी विषभरी कल्पनाएँ उत्पन्न हो गयीं, जिनका भीषण परिणाम सामने आ रहा है।

रावणपक्ष और रामपक्ष

पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने अपनी कल्पनासे भारतीय इतिहासमें कई प्रकारकी अनर्गल भेदकी बातें भरीं; जिनके परिणामस्वरूप आर्य, अनार्यकी कल्पना सुदृढ़ हुई। फिर राजनीतिक लोलुपताने रामपक्ष और रावणपक्षका निर्माण किया। इसीके परिणामस्वरूप सुना जाता है कि कुछ लोगोंने मद्रासमें रावणका एक मंदिर बनवाया है और अपनेको रावणवंशीय बताकर वे रामका विरोध करते हैं। पिछले दिनों उस रावणदलके नेताओंने रामके चित्र जलानेका आयोजन किया था और तदनुसार छः सौ चित्र श्रीरामके ता० १ अगस्तको जलाये जानेवाले थे; परंतु मद्रास सरकारने बड़ी मुस्तैदीसे काम लिया। नेताओंको गिरफ्तार कर लिया और चित्र तथा दियासलाई आदि जप्त कर लिये। तमाम

भारतमें—दक्षिणमें भी करोड़ों नर-नारियोंके द्वारा साक्षात् भगवान् माने हुए श्रीरामके चित्र कहीं जलाये जाते तो पता नहीं, क्या कुपरिणाम होता। भगवान्‌ने सुबुद्धि दी, मद्रास सरकारने ठीक समयपर बुद्धिमानीपूर्ण उचित कार्यवाही की, जिससे एक बहुत बड़ी विपत्ति टल गयी। परंतु इस सम्बन्धमें मद्रास सरकारको अब भी विशेष सावधान रहना चाहिये और भविष्यमें ऐसी कोई भी अप्रिय चेष्टा न होने पाये, इसकी सुनिश्चित तथा सुदृढ़ व्यवस्था कर देनी चाहिये। साथ ही मद्रास प्रान्तमें अन्य प्रान्तीय धर्मप्रचारकोंको जाकर स्थान-स्थानपर व्याख्याके साथ रामायणका मर्म वहाँके निवासियोंको समझाना चाहिये कि रामायण जैसी उत्तर भारतकी अपनी पवित्र वस्तु है, वैसी ही दक्षिण भारतकी है। इसी प्रकार 'राम' भी सभीके पूर्वपुरुष हैं तथा साक्षात् भगवान् हैं। वास्तवमें ऐसी ही बात है भी। रामायणकी रावण-राम-युद्धकी घटनाको यदि उत्तर भारतका दक्षिण भारतपर आक्रमण समझा जाता तो दक्षिण भारतमें न राम-पूजा होती, न विशाल राम-मन्दिर बनते, न रामायणोंका निर्माण होता। संत श्रीविनोबाजीने ठीक ही कहा है कि "तमिळकी कम्बन रामायणसे अधिक अत्युत्तम कृति शायद ही कोई और होगी ········तथा मलयालममें 'एलुबचन' की रामायण सर्वोत्तम कृति मानी जाती है। अगर वह उत्तर भारतके दक्षिण भारतपर आक्रमणके रूपमें होती तो उस आक्रमणका दक्षिण भारतवाले गौरव क्यों करते? रामायणका यही आदर और यही कल्पना कर्णाटक और आंध्रमें भी है।" अतएव राजनीतिक कारणोंसे निर्मित इस कुकल्पनाको तथा इसके प्रयासको जरा भी पनपने न देकर जड़से उखाड़ देना चाहिये। इसीमें सरकारकी तथा बुद्धिमान् जननायकोंकी बुद्धिमानीका परिचय मिलेगा।

रामायणमें परिवर्तन

इसी प्रसंगमें संत विनोबाजीने रामायणमें परिवर्तन करनेकी बात कही है। उन्होंने जिस शुद्ध हेतुसे और जिस सद्भावनासे रामायणमें परिवर्तनकी यह बात कही है, उस हेतु और भावनाका विरोध नहीं है; परंतु 'रामायण इतिहास नहीं है, इसलिये उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है' उनके ये विचार उनकी दृष्टिमें उचित हो सकते हैं, पर इन विचारोंसे असंख्य व्यक्तियोंके हृदयपर चोट पहुँची है। रामायणके राम जहाँ परात्पर पूर्णपुरुषोत्तम परमात्मा हैं वहाँ वे दशरथनन्दन सीतापति कोसलराज श्रीरामभद्र भी हैं। 'जय सगुन निर्गुनरूप राम अनूप भूपसिरोमने।' इसी प्रकार जहाँ रामायण चित्त-शुद्धि करनेवाला महान् धर्मग्रन्थ व आचारशास्त्र है, वहाँ वह सच्चा गौरवमय इतिहास भी है। कल्पभेदसे कथाभेद है। रामायणका प्रचार बाइबल व कुरानकी भाँति केवल धर्म-ग्रन्थके नाते नहीं है, उसके सर्वोत्कृष्ट आदर्श ऐतिहासिक कथाभागके कारण है। भारतीय इतिहासमेंसे यदि रामायणके श्रीराम और महाभारत तथा श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण निकाल दिये जायँ तो भारतीय इतिहास सर्वथा अचेतन, आत्मारहित और प्राणशून्य हो जायगा।

इतिहासकी जो प्राचीन भारतीय व्याख्या है, उसके अनुसार तो रामायण सर्वथा इतिहास है—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
> पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

इस लक्षणके अनुसार रामायण आर्य-जातिका सच्चा इतिहास है। संत विनोबाजी-सरीखे आदर्श पुरुषको किसी ऐसे विषयपर अपने विचार प्रकट करते समय, जिसका करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध है, विशेषरूपसे विचार करना चाहिये। यह हमारी उनसे सादर प्रार्थना है।

किताबकाण्ड और गीताका कथित अपमान

इधर एक उपद्रव देशमें और आरम्भ हुआ है। अमेरिकामें वर्षों पहले एक पुस्तक निकली थी, जिसका नाम था धार्मिक नेता (Living biographies of Religious Leaders), प्रकाशकका नाम है 'Blue Ribbon Books' Garden city, Newyork और लेखक हैं श्री Henry Thomas and Dani Lee Thomas.

यह पुस्तक दुनियामें सर्वत्र बिक रही थी, भारतमें भी बिकती थी। अब उसका भारतीय संस्करण 'भारतीय विद्याभवन' बम्बईने ज्यों-का-त्यों निकाला। इस पुस्तकमें मुसल्मानोंके पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहेबका चरित्र भी है। उस चरित्रमें यदि कहीं कोई ऐसे शब्द हैं जो मुसल्मानोंके चित्तपर चोट पहुँचानेवाले हैं तो वह बुरी बात है। किसी भी सम्मान्य पुरुषके सम्बन्धमें अनुचित बात नहीं लिखी जानी चाहिये। पर इसका उत्तरदायित्व पुस्तकके मूल लेखक और प्रकाशकपर है। उनको आजतक किसीने कोई आपत्तिकी बात नहीं कही। अब भी न्याय यही था कि यहाँके मुसल्मान पाकिस्तानके अमेरिकन राजदूत, भारतके अमेरिकन राजदूतको घोर प्रतिवादात्मक पत्र लिखकर उनसे अनुरोध करते कि अमेरिका सरकार इस पुस्तकको जब्त

कर ले। अमेरिकन सरकारको ऐसा करनेके लिये वे बाध्य करते। पर यह सब कुछ भी न करके—अमेरिकन सरकार-से, पुस्तकके लेखक-प्रकाशकसे कुछ भी न कहकर वे 'भारतीय विद्याभवन'के संस्थापक साधु-चरित्र उत्तरप्रदेशके राज्यपाल श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीपर उबल पड़े। समाचार-पत्रोंमें, सभाओंमें उन्हें खुलेआम गालियाँ दी गयीं। उनका पुतला जलाया गया। उन्हें हर तरह अपमानित किया गया। यह भी उस अवस्थामें, जब कि पहले ही 'भारतीय विद्याभवन' ने उस पुस्तककी बिक्री बंद कर दी और उसमें प्रकाशित शब्दोंको दोषयुक्त मान लिया। 'भारतीय विद्याभवन' ने दोषयुक्त स्वीकार करनेमें यद्यपि जल्दी की; क्योंकि कहते हैं कि उस पुस्तकमें वही बातें थीं, जो इतिहासप्रसिद्ध हैं। पर इतनेपर भी मुसल्मान भाइयोंने जो जगह-जगह उग्र प्रदर्शन, हिंसात्मक उपद्रव तथा उद्दण्ड व्यवहार किया, 'हिंदुस्तान मुर्दाबाद,' 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद'के नारे लगाये, यह सर्वथा अनुचित और अशोभन है! किताबके भारतीय संस्करणके लिये ही इतना हिंसात्मक उपद्रव क्यों किया गया? क्या हजरत मुहम्मद-का अपमान भारतीय संस्करणसे ही हुआ? मूल प्रकाशनसे क्या उनका अपमान नहीं हुआ? इससे भारतीय मुसल्मानों-की दूषित मनोवृत्तिका पता लगता है*। पता नहीं इस दूषित मनोवृत्तिका कैसा भयंकर कुपरिणाम होगा। सुना जाता है कि अलीगढ़में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का अपमान किया गया। यदि ऐसा हुआ हो तो वह सर्वथा अक्षम्य है। किसी भी धर्मकी धर्म-पुस्तकका अपमान नहीं होना चाहिये। पर श्रीमद्भगवद्गीता तो समस्त जगत्को शान्ति और समन्वयका संदेश देनेवाला सार्वभौम सर्वमान्य ग्रन्थ है। दुनियाभरके बड़े-बड़े विद्वानोंने इससे लाभ उठाया है और इसकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। बहुत-से मुसलमान सज्जनोंने गीतापर लिखा है और गीताको सर्वमान्य ग्रन्थ माना है। गीता मानवमात्रका धर्म-ग्रन्थ है। गीताका अपमान विश्वमानवताका अपमान है। यद्यपि सरकारी वक्तव्यमें गीता जलानेकी बातको निराधार बतलाया गया है। गीता जलायी न गयी होगी तो दूसरे रूपमें उसका अपमान किया गया होगा; क्योंकि हिंदू महासभाके श्रीदेशपाण्डेने जाँच करके गीताके अपमानकी घटनाको सत्य बतलाया है। अतः इसकी जाँच होनी चाहिये और यदि घटना सत्य हो तो पुनः ऐसी घटना न हो, इसकी निश्चित व्यवस्था होनी चाहिये।

उपर्युक्त दूषित कार्योंसे अनुमान किया जा सकता है कि इस समय जगत् तथा भारत किस ओर जा रहा है; और शासकोंकी तथा जन-साधारणकी ओरसे उचित प्रयत्न नहीं हुआ तो इसका कितना भयंकर परिणाम होगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

पुकार सुनी जा चुकी थी !

(एक सच्ची घटना)

मिलिटरी सूबेदारने कोई अपराध किया था। अंग्रेज अफ़सर तहकीकातको आया। आना भी था। उस दिन प्रातःकाल सूबेदारने जीवनकी प्रगाढ़तम प्रार्थना की। वह दहाड़ मारकर भगवान्के सामने रो पड़ा!

जब वह अंग्रेज हाकिमके सामने आवश्यक कागजातके साथ पेश हुआ, तब भयके मारे अपना अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना करना ही चाहता था और इसके लिये कुछ शब्द मुखसे उच्चारित कर भी चुका था, किंतु तत्काल ही बीचमें अंग्रेज हाकिमने रजिस्टरके पन्ने पलटते हुए बड़े तपाकसे कहना प्रारम्भ किया—'ऑल राइट! तुम्हारा काम बिल्कुल दुरुस्त है! किस पाजीने तुम्हारी शिकायत हमारे पास भेजी? झूठ भेजी, तुम्हें बदनाम किया और हमें भी बदनाम करना चाहा कि हमारा मातहत गंदा है! शाबास, तुम बेकसूर है।'

सूबेदार भगवान्के प्रति कृतज्ञ था। उसकी पुकार सुनी जा चुकी थी !!

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

---

* उस दिन उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्दजीने कहा था कि 'हमारे कानूनी सलाहकारकी रायमें किसी भी हालतमें किताबपर कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लग सकता।' फिर भी कहा गया है कि बिहार सरकारने पूरी पुस्तकको जब्त कर लिया है जिसमें ईसा, मूसा और गाँधीजीकी जीवनी भी है। बिहार सरकारकी इस कमजोरीका कारण वोटकी चिन्ता है या और कुछ, भगवान् ही जानें। पर इससे उपद्रवियोंका हौसला बढ़ना तो सम्भव है।

काम और भक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जगत् और जीवन दोनोंके मूलमें काम है, ऐसा ऋग्वेदके नासदीय सूक्त तथा अथर्व० १९ । ५२ । १ में कहा गया है[1] । प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नमें जब कत्य-ऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने महर्षि पिप्पलादसे प्रजाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब उन्होंने प्रजापतिको सर्वप्रथम 'प्रजाकाम' अर्थात् प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा-वाला ही कहा है । प्रश्नोपनिषद्के अन्तिम प्रश्नमें भी जिन षोडश कलाओंका वर्णन है, उनका मूल इच्छा है । ऐतरेय १ । १ । १ तथा १ । ३ । १ में इसे 'ईक्षण' कहा गया है । तैत्तिरीय-उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्लीके षष्ठ अनुवाकमें 'सोऽकामयत' कहकर इसे कामका ही नाम दिया गया है । जो जिसका पूर्वज है, जनक है, वह अपनी संततिमें आश्रय पाता ही है । काम भी सबका मूल होकर सबमें समाया हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है । इसकी यह व्याप्ति इसके प्रभविष्णुरूपको प्रकट कर रही है ।

जो काम सृष्टिके मूलमें है, उसे प्रश्नोपनिषद् ईक्षणका नाम देती है । प्रकृतिकी प्रथम विकृतिमें आते ही इसकी संज्ञा काम हो जाती है और मनके विकारतक पहुँचकर यह तीन दिशाओंमें विभाजित हो जाता है । मनमें कुछ जाननेकी इच्छा 'मनीषा' कहलाती है, संवेदन-क्षेत्रमें यही 'जूति' और क्रिया-क्षेत्रमें 'वश'के नामसे प्रख्यात है । इन तीनोंका एकीकरण बुद्धिमें है, परंतु मनमें आते ही क्षेत्र अलग-अलग हो जाते हैं । मनके पश्चात् इन्द्रियाँ आती हैं । मनका त्रिविध काम दस इन्द्रियोंमें दस प्रकार धारण कर लेता है । कामके प्रिय और अप्रिय दो रूप हैं । इन्हीं दो रूपोंमें मन जगत्के सूक्ष्म तथा स्थूल रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि और प्रपञ्चकी विविध दृश्यावलि एवं व्यापारोंको विभाजित कर लेता है । इस प्रकार काम नाना इच्छाओं और वासनाओंमें प्रकट होने लगता है । प्रथम विकृतिमें निहित कामका सूक्ष्मतम रूप क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे स्थूलतर होता जाता है । बुद्धितत्त्वमें निहित कामको समझना कठिन है, पर मनकी ज्ञान, भाव और कर्मकी इच्छाएँ समझमें आ जाती हैं । साधारण संस्कृत मानवकी भी पहुँच वहाँतक सम्भव है । अतः कामको हम मनोभव—मनसे उत्पन्न हुआ कहा करते हैं । वस्तुतः काम मनसे उत्पन्न नहीं होता । वह मनका भी बीज है ।

अथर्ववेद काण्ड १९ के सूक्त ५२ का ऋषि कामका निरूपण करते हुए कहता है कि मूल काम अपने संतति-स्वरूप बृहत्, फैले हुए कामके साथ सयोनि बना हुआ विविध रूपोंमें (विभुर्विभावा) प्रकट होता है । सम्पत्ति, पोषण, उग्रता, ओज, स्वर्ग आदि इसके अनेक क्रियाक्षेत्र हैं । कामकी विशेषता बतलाते हुए मनु लिखते हैं—

> काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥
> संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।
> व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥
> अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
> यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥
>
> (मनुस्मृति २ । २-४)

वेदका ज्ञान और वैदिक कर्मयोगका अनुष्ठान दोनों ही कामना करनेके योग्य हैं । काम समस्त संकल्पोंका मूल है । यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न हुआ है । व्रत और यम-नियमादि धर्म सभी संकल्पप्रसूत हैं । अकाम, कामनाशून्य व्यक्तिकी कोई भी क्रिया यहाँ दिखायी

---

१. कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । (ऋ० ८ । ७ । १७ तथा अथर्व० १९ । ५२ । १)

नहीं देती, जो कुछ यहाँ किया जाता है, वह कामकी चेष्टाका ही परिणाम है।

कामका मूल रूप हिंदीके अमर कलाकार स्वर्गीय 'प्रसाद'जीके शब्दोंमें मङ्गलसे मण्डित और श्रेयस्कर है। सृष्टिके मूलमें यही कार्य कर रहा है।[1] जो काम मङ्गलसे मण्डित और कल्याणका निकेतन है, जिससे आनन्दकी प्राप्ति होती है, वह प्रपञ्चसे सम्बद्ध होकर लौकिक वासनाओंसे विकृत, अमङ्गलजनक और दुःखका कारण भी बनता है। मानवकी निम्नगा प्रवृत्ति कामके विशुद्ध स्वरूपको कलुषित कर देती है। उसकी महनीय महत्ता, श्रेयस्कर स्थिति नष्ट हो जाती है।

मानवकी यह निम्नगा प्रवृत्ति क्या है? मुझे भूख लगती है। भूखसे कष्ट होता है। मैं इस कष्टका निवारण करना चाहता हूँ और उसके लिये रोटी, चावल, दाल, दूध, दही, पकवान जो कुछ मिल जाता है, उसे उदरस्थ कर लेता हूँ। ऐसा करनेसे मुझे बुभुक्षाजन्य कष्टसे त्राण मिल जाता है। इस त्राणसे मुझे सुख होता है। एक इच्छाकी पूर्ति होती है। पर, इच्छा एक नहीं, अनेक हैं। उनमेंसे सब तृप्तिको प्राप्त नहीं होतीं। इच्छाओंकी पूर्तिके लिये साधन चाहिये। ये साधन सबके पास नहीं हैं। साधनोंके अभावमें इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं और मानसिक ग्रन्थियोंको जन्म देती हैं। मनकी उलझन जीवनके प्राप्त सुखको भी किरकिरा कर देती है। इस उलझनको सुलझानेके लिये मैं उचित-अनुचित-का विचार छोड़ देता हूँ और ऐसे कार्य करने लगता हूँ जिनसे समाज उलझनमें पड़ जाता है और मेरी उलझन सुलझने-के स्थानपर और भी अधिक उलझ जाती है। इसके साथ, एक इच्छा तृप्त होनेके पश्चात् पुनः अपनी पूर्तिके लिये अग्रसर होती है। इसपर भी ध्यान देना चाहिये। मैंने एक बार दूध पी लिया, परंतु कुछ समय पश्चात् फिर दूसरी बार दूध चाहिये। हिटलरने पोलैंड हस्तगत कर लिया, अब आस्ट्रिया या रूमानिया या यूक्रैन भी उसके आधिपत्यमें आने चाहिये। एक इच्छाका अन्त नहीं हो पाता कि दूसरी इच्छा अपनेको पूर्ण करनेके लिये खड़ी हो जाती है और पूर्ण न होनेपर मनमें (व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही रूपोंमें) वैसी ग्रन्थियाँ उत्पन्न करती हैं। मानव-जीवन इच्छाओंके इसी पुञ्जमें, तृप्तिसे सुख और अतृप्तिसे दुःख प्राप्त करता हुआ, उलझा रहता है। उसे इच्छा-तृप्तिके साधन जुटानेमें ही संलग्न रहना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

'डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयौ।'

'बिछौना बिछाते-ही-बिछाते जीवनरूपी रात्रिका अवसान हो जाता है। प्रगाढ़ निद्राका सुख क्षणभरके लिये भी प्राप्त नहीं हो पाता।'

इच्छाओंका बढ़ाना, उनकी पूर्तिके लिये उचित-अनुचित सभी साधनोंका जुटाना न केवल मेरे क्लेशका कारण बनता है, प्रत्युत उस समाजको भी क्लेशमें डालता है, जिसमें मैं रहता हूँ। बढ़ी हुई इच्छाओंकी पूर्ति और उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्रीका संचय मेरे वश-के बाहर है। मैं बाहर चलता हूँ, अपने सुखके लिये समाजको और परिस्थितियोंको झकझोरता हूँ। कभी उनकी अनुकूलता मुझे प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं। अनुकूल होनेपर जब कभी उनका अहं अंदरसे तड़पता है, तब उनकी प्रतिकूलता और प्रतिक्रिया मुझे झकझोर देती है। परिस्थितियोंके साथ मेरे इसी संघर्षका परिणाम दुःख है।

मानवको जो कुछ प्राप्त है, उसीसे संतुष्ट होकर यदि वह अपनी अधीनस्थ शक्तियोंके विकासमें जुटे तो वह अपने-आपको क्लेशोंसे बहुत कुछ दूर कर सकता है। अधीनस्थ शक्तियाँ मेरे अंदर हैं, पर उनकी चिन्ता

[1] काम मङ्गलसे मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छाका है परिणाम। (कामायनी, सप्तम संस्करण, सर्ग श्रद्धा, पृ० ५३)

मुझे कब होती है ? मेरी चिन्ताका प्रधान लक्ष्य मुझसे बाहर रक्खी हुई वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छा है, जो सदैव अतृप्त रहती है। अतः अंदरसे बाहर भागना ही मानवकी निम्नगा प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सुख-दुःख-से समन्वित रहती है। अनुकूल परिस्थिति सुख और प्रतिकूल परिस्थिति दुःखका हेतु है।

सुख और दुःखसे ऊपर आनन्दकी अवस्था है। मानवके अंदर निहित कामका मूल रूप उसीके लिये लालायित रहता है। मानव जो बाहरकी ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें पहुँचकर भी संतुष्ट नहीं होता, उसका यही कारण है। वह तृप्ति चाहता है, आत्मतृप्ति, आत्मसंतुष्टि, यह उसे बाहरकी वस्तुओंमें नहीं मिलती। जब मानव बाहरसे हटकर अंदरकी ओर चलता है, तब उसे तृप्ति-का अनुभव होने लगता है। एक कलाकार, संगीतज्ञ या कवि अपनी कलाको जन्म देकर जितनी तृप्ति प्राप्त करता है, उतनी एक साम्राज्यका सम्राट् नहीं। एक दार्शनिक अपने मनन, चिन्तन और निदिध्यासनमें उससे भी बढ़कर तृप्ति प्राप्त करता है। बाहरकी सुख-दुःख-सम्मिश्रित अतृप्ति अंदर जाकर तृप्तिकी अनुभूतिमें परिणत हो जाती है, पर पूर्ण तृप्ति वहाँ भी नहीं। काम जबतक अपने मूल रूपके साथ संयुक्त न हो जाय, तबतक पूर्ण तृप्ति कहाँ ? कोई कलाकार अपनी रचनाको कलाकी पराकाष्ठा नहीं कह सकता। कोई दार्शनिक अन्तिम सत्यकी उपलब्धिका दावा नहीं कर सकता। पूर्ण तृप्ति तो पुण्यकी पराकाष्ठा, निखिल कलाओंके स्रोत, अन्तिम सत्यके साथ है, जो कामका मूलाधार है, ईक्षणका केन्द्रबिन्दु है। वेद इसी हेतु कहता है—

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥
(अथर्व० १०।८।३२)

जीवात्मा अपने समीप स्थित प्रकृतिको छोड़ता नहीं, उसके साथ बँधा हुआ है और अपने समीप विराजमान परमेश्वरको देखता नहीं; उसकी अनुभूतिसे अलग है। इसी कारण वह आनन्दसे वञ्चित और दुखी है। उसने आनन्दकी प्राप्तिमें अपना कामना-जाल बाहर फैला रक्खा है, जहाँ आनन्दका लवलेश भी नहीं है। इस जालको बाहरसे समेटकर उसे अपनी समस्त कामना परमात्मामें केन्द्रित कर देनी चाहिये, जो आनन्दका धाम है; कामनाओं-का यही ऊर्जस्वीकरण है। कामका यह योग ईश्वरके साथ कैसे हो ? जीव अपनी इच्छाओंको पुत्र, वित्त और यशसे हटाकर प्रभुकी ओर कैसे उन्मुख करे ? काम अपने मनोभव और विषय-वासनागत रूपका परित्याग करके अपने स्रोतकी ओर किस प्रकार प्रयाण करे ? इस समस्याने ही मानवके विकास-पथमें अनेक विघ्न उपस्थित किये हैं।

भारतीय मनीषाने इस समस्याका समाधान ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनत्रयद्वारा किया है। पर जैसे ही साधक ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है, उसकी संवेदन-शक्ति उसे भावनाओंके भवँर-जालमें फाँस लेती है और बेचारा ज्ञान अपना-सा मुख लिये एक ओर उदासीन बना खड़ा रहता है। यदि जीव भावनाओंके जालसे किसी प्रकार निकल आया तो कर्म जीवन-यापनकी सामग्री जुटानेके लिये उसे आकर्षित कर लेता है। त्याग और वैराग्यकी ओर प्रयाण करते ही संसारके वैभव-विलास उसे अपनी ओर खींचते हैं। इस प्रकार प्रत्येक साधन-पथ उसे प्रत्यूहोंसे ओतप्रोत प्रतीत होने लगता है। इसका एक प्रबल कारण भी है। आधुनिक जीव-शास्त्रके विद्वान् हमें बताते हैं कि जर्म प्लाज्म (Germ Plasm) या शुक्र-कीट मानवकी समस्त जातिगत या वंशगत प्रवृत्तियों एवं परम्पराओंका संचित कोष है। जो प्रवृत्ति उसके आधारपर एक बार बन गयी, वह अपनी समकक्ष एवं सहयोगिनी प्रवृत्तियोंको समेटती हुई वासनागत संस्कारोंके रूपमें आगे बढ़ती चली जाती है। साधक उसकी विपरीत दिशामें चलने-का प्रयत्न करता है, पर पग-पगपर इन प्रवृत्तियोंकी प्रबलता

ठोकर मारकर उसे पथसे विचलित करती रहती है। कोई भी साधन-पथ इस प्रकारके अन्तरायोंसे आक्रान्त हुए बिना नहीं रहता। साधक सुख-दु:खके द्वन्द्वोंमें पड़ा हुआ कभी प्रवृत्तिके प्रपञ्चकी ओर अर्थात् कर्मव्यापार-जालकी ओर देखता है, कभी चितिसम्बन्धी ज्ञान-गुत्थियोंकी ओर। कभी शरीरको सम्हालता है, कभी मनको। द्वन्द्वके घेरेसे निकलना उसके लिये दुष्कर हो जाता है।

जैसा संकेत किया जा चुका है, आनन्द न सत्‌के प्रसार अर्थात् प्रकृतिके प्रपञ्चमें है और न चित् अर्थात् जीवके ज्ञान-प्रयत्नमें। वह सत् और चित् दोनोंसे पृथक् आनन्दरूप परमेश्वरमें है। आनन्दका स्थान न शरीर है, न प्राण, न इन्द्रिय और न मन तथा बुद्धि। कामके मूल रूपका स्थान भी इनमेंसे कोई नहीं है। इसी हेतु उसकी पूर्तिमें बाधाएँ पड़ती हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मनके नाना रूप ही मार्गमें विघ्न बनकर खड़े हो जाते हैं। वर्षा, आँधी, शत्रुता, प्रारब्ध, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, प्रिय-वियोगादि आकर मानवकी सहनशक्तिको झकझोर देते हैं। साधक पथसे विचलित होकर अपनी असहाय अवस्थासे क्षुब्ध हो उठता है। उसके अंदरसे चीत्कार निकलती है और किसी सहायककी ओर वह सकरुण नेत्रोंसे देखने लगता है। क्या भाई, पुत्र, पिता, पत्नी, पति या अन्य सम्बन्धी उसकी सहायता कर सकते हैं? नहीं, वे स्वयं उसी ज्वलित ज्वालामें, विवशताकी वह्निमें जल रहे हैं। जिस दाहकतासे साधक निकलना चाहता है, वह उसे अपने चतुर्दिक्, सबके अंदर फैली हुई दिखायी देती है। ज्वालासे बचनेके लिये प्रच्छाय, जलीय, शीतल स्थान चाहिये। दु:खसे त्राण पानेके लिये आनन्दका निकेतन चाहिये। आनन्दका यह निकेतन ईश्वर है, सच्चिदानन्द परमात्मा है। सत् और चित् दोनोंका विश्रामस्थल वही है। साधकको समस्त संसार धोखा दे दे और देता ही है, परंतु परमात्मा कभी धोखा नहीं देता। इसलिये दु:खसे बचनेका साधन, द्वन्द्वके सिन्धुसे संतरण पानेका अवलम्बन, साधनोंका साधन, अवलम्बनोंका अवलम्बन, आश्रयोंका आश्रय एकमात्र आनन्दस्वरूप ईश्वर है। इसीके साथ रहना, इसीके गुण गाना, इससे हटकर अन्यत्र कहीं भी न जाना, इसीमें तल्लीन और मग्न होकर निर्द्वन्द्व विचरण करना आनन्द है। यही भक्तिमार्ग है। साधकोंने परीक्षण और अनुभव करके इसे ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनोंसे ऊर्ध्व स्थान दिया है।

मानव इस मार्गमें पहुँचकर सृष्टिकी सकारणता एवं उसके उद्देश्यको हृदयङ्गम कर लेता है। उसे समस्त क्रियाएँ उसी परम सत्तासे अनुप्रेरित तथा समस्त शक्ति उसी प्राणस्रोत प्रभुसे अनुप्राणित होती प्रतीत होती हैं। अतएव इन सबके सुख-दु:खमूलक होनेकी ओरसे वह निरपेक्ष हो जाता है। द्वन्द्व उसे फिर संतप्त नहीं कर सकते। वह आनन्दधाम परमात्माकी गोदमें बैठकर आनन्दमय बन जाता है।

भक्तिमार्ग इसी हेतु प्रेमका मार्ग है। प्रेम कामका ही ऊर्जस्वित रूप है। काम इस क्षेत्रमें पहुँचकर अपने मूल रूपके साथ सम्बद्ध हो जाता है। इस मार्गमें कामकी निम्नगा प्रवृत्तियोंका निरोध और उसके वास्तविक स्वरूपका विकास होता है। वेदके शब्दोंमें भौतिक तथा आन्तरिक सिद्धियों, समृद्धियोंके स्थानपर भक्तकी कामना भगवान्‌के साथ सदैव संयुक्त रहनेकी बन जाती है। जिसने इस मूलको पकड़ लिया, उसे शाखाओं और पत्तोंसे क्या प्रयोजन? वे तो स्वयं हाथ बाँधे सामने खड़े रहते हैं। पर भक्त? भक्त उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। भगवान्‌के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिये।

हिंदू साधु-संन्यासियोंका नियन्त्रण

पिछले दिनों भारतीय लोकसभामें एक विधेयक प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक साधु या संन्यासीको रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस प्राप्त करना होगा। इस विधेयकके अनुसार—

'साधु' अथवा 'संन्यासी'से तात्पर्य उस व्यक्तिसे है जो अपनेको किसी ऐसी धार्मिक संस्था, समाज या मठका सदस्य घोषित करता है जिसकी स्थापना या निर्वाहका उद्देश्य हिंदुओंके किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभागके सिद्धान्तों अथवा परम्पराओंकी रक्षा या संवर्धन हो।

बिना सविधि कानूनी रजिस्ट्री कराये और लाइसेंस देनेवाले अधिकारीको प्रार्थना-पत्र देकर लाइसेंस प्राप्त किये कोई भी न तो अपनेको साधु अथवा संन्यासी नामसे विभूषित कर सकेगा, न घोषित ही कर सकेगा।

किसी व्यक्तिको साधु या संन्यासी होते ही तुरंत लाइसेंस देनेवाले अधिकारीके पास जाकर अपनी रजिस्ट्री करा लेनी होगी और एक लाइसेंस प्राप्त कर लेना होगा।

लाइसेंस देनेवाला अधिकारी किसी लाइसेंसको स्थगित या रद्द भी कर सकता है।

लाइसेंस न लेकर अपनेको साधु या संन्यासी कहनेवाला ५००) तक जुर्माने, दो वर्षतकके कारावास तथा दोनोंके दण्डका भागी हो सकता है।

लाइसेंस लेकर भी विधानके नियमोंको न मानकर शर्तोंके विरुद्ध आचरण करनेवाला साधु या संन्यासी पाँच सौ रुपये जुर्मानेके दण्डका भागी होगा और उसका लाइसेंस भी रद्द कर दिया जायगा।

विधेयकका कारण यह बताया गया है कि 'साधु-संन्यासियोंमें पापाचारी, भिखमंगे तथा समाज-विरोधी आचरण करनेवाले लोग बढ़ रहे हैं, उनका नियन्त्रण इससे हो जायगा। जिससे सच्चे साधु बदनामीसे बचेंगे।'

यह सत्य है कि आज बहुत-से दुराचारी, ठग साधु-संन्यासीका बाना पहनकर समाजके निरीह नर-नारियोंको ठग रहे हैं और धर्म तथा परमार्थके नामपर समाजमें दुराचार फैला रहे हैं। ऐसे 'साधु' नामको कलंकित करनेवाले धूर्तोंका नियन्त्रण आवश्यक भी है; परंतु इस विधेयकके कानून बन जानेपर उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, वे तो तिकड़म भिड़ाकर अपने नामकी रजिस्ट्री करवाकर साधुओंकी सूचीमें आ ही जायँगे। सच्चे साधु-संन्यासी, जिनका न तो किसी ऐसे कानूनी बन्धनमें रहना शास्त्रदृष्टिसे संगत है और न वे रहना ही चाहेंगे। साधु-संन्यासी तो सनातनधर्मके पवित्र चतुर्थाश्रमी हैं। वे देशके गौरव हैं, वे संसारके समस्त भोगोंको त्यागकर भगवान्‌के साथ एकात्मताका पावन जीवन बिताते हैं। ऐसे महात्माओंको घसीटकर कानूनी नियन्त्रणमें लाना तथा व्यापारियोंकी भाँति रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेनेके लिये कहना सनातनधर्मकी एक महान् संस्थाका घोर अपमान करना है। भारतीय संस्कृतिमें साधु-संन्यासीका जो स्थान है, वह किसीका नहीं है। सुदूर अतीत कालसे बड़े-बड़े सम्राटोंसे लेकर छोटे दीन-हीन पुरुष साधु-संन्यासियोंके चरणोंमें पहुँचकर अपने जीवनका असली प्रकाश पाते रहे हैं। ऐसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, संसारकी मायासे मुक्त अथवा उसके लिये साधनामें प्रवृत्त साधुओंको 'साधु-संन्यासी' कहलानेके लिये लाइसेंस लेना पड़े, यह सोचना भी सर्वथा अनुचित है। इस प्रकारका विधेयक उपस्थित करनेमें जरा विचार करना चाहिये था। अब भी हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि इस विधेयकको तुरंत वापस ले लिया जाय।

त्यागी महात्मा चाहे किसी भी देश-जातिके हों, सभी पूज्य हैं, पर यह विधेयक तो केवल हिंदू साधु-संन्यासीके लिये ही है। तो क्या पापाचारी और समाज-हितके विरोधी साधु हिंदुओंमें ही हैं? मुसलमान फकीर याँ अन्यधर्मी सभी साधु दूधके धोये शुद्ध महात्मा हैं? विधेयकके निर्माताने इसका विचार न करके तो हिंदू-आदर्श और हिंदू-धर्मका भी अपमान किया है!

श्रीहरिः

...चार नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

व्रत-परिचय

लेखक—स्व० पं० श्रीहनूमान शर्मा

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० ४८०, मू० १।।।), सजिल्द २=), डाकखर्च १-) ।

व्रत हिंदू-संस्कृति एवं धर्मके प्राण हैं । व्रतोंपर वेद, धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा वेदाङ्गोंमें बहुत कुछ कहा गया है । व्रतराज, व्रतार्क, व्रत-कौस्तुभ, जयसिंहकल्पद्रुम, मूक्तकसंग्रह, हेमाद्रिव्रतखण्ड आदि बीसों ग्रन्थ व्रतोंपर ही लिखे हुए हैं । लगभग पंद्रह साल पहले 'व्रत-परिचय'के नामसे कल्याणमें वर्षोंतक धारावाहिक रूपसे एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ था; तभीसे ही इसे पुस्तकरूपमें अलगसे प्रकाशित करनेके लिये प्रेमी पाठकोंका आग्रह था; परंतु कई कारणोंसे अबतक यह कार्य हो न पाया । अब उसे संशोधित तथा परिवर्द्धित करके प्रकाशित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें चैत्रके कृष्णपक्षके १२, शुक्लपक्षके ३१, वैशाख कृष्णके ६, शुक्लपक्षके १४, ज्येष्ठ कृष्णके ५, शुक्लपक्षके १३, आषाढ़ कृष्णके ३, शुक्लके १६, श्रावणके कुल २१, भाद्रपदके ३६, आश्विनके ३३, कार्तिकके ४४, मार्गशीर्षके ३३, पौषके १६, माघके ३४ और फाल्गुनके १९ व्रतोंका परिचय है। परिशिष्टमें अधिमासके ६, संक्रान्तिके ११, अयनव्रत २, पक्षव्रत २, वारव्रत २१, तिथि-वारादि पञ्चाङ्गव्रत २८, प्रायश्चित्तव्रत ४१, रोग तथा कष्टहारीव्रत १००, पुत्रप्रदव्रत ५ तथा अन्तमें वटसावित्री, मङ्गलागौरी, शिवरात्रि, ऋषिपञ्चमी, अनन्तव्रत आदिकी आठ संस्कृत मूल कथाएँ भी दी गयी हैं ।

मानसिक दक्षता

लेखक—श्रीराजेन्द्रविहारीलालजी एम्० एस्-सी०

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० ३४४, मू० १), बढ़िया जिल्द १।।), डाकखर्च ।।।≡)

संसारमें सुख, सफलता और समृद्धि पानेके लिये मानसिक बल और कार्यक्षमताकी आवश्यकता होती है । मानसिक दक्षता केवल भौतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें ही नहीं वरं धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंके लिये भी अत्यन्त आवश्यक है । प्रस्तुत पुस्तकमें मानसिक दक्षताका महत्त्व, मनकी यन्त्र-रचना, मानसिक दक्षताका रहस्य, सीखनेकी कला, एकाग्रता, स्मृति और उसका विकास, सोचनेकी कला, कल्पना और मौलिकता तथा नये विचारोंका बनना आदि प्रकरणोंपर सुन्दर विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया है । विद्वान् लेखकने इस विषयके सुप्रसिद्ध विदेशी लेखकोंके २३ ग्रन्थोंका इस पुस्तकमें उपयोग किया है ।

एक महात्माका प्रसाद

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० २९२, मू० ।।।), डाकखर्च ।।।=) ।

यह ग्रन्थ यथार्थ मानव-जीवनके निर्माण, जीवनमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति तथा जीवनके चरम और परम उद्देश्यकी सिद्धिके सफल साधन बतानेवाला है । इसकी भूमिकामें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार लिखते हैं—'मेरा विश्वास है कि इसको मन लगाकर पढ़ने और तदनुसार जीवन बनानेका प्रयत्न करनेसे महान् लाभ होगा ।......।'

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५७ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया ॥।) ।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, प्रार्थना, उपदेशामृत, सात अनमोल बोल, गीता सुगीता कर्तव्या, शीघ्र चेतें, दो बड़ी भूलें, विनम्र संदेश शीर्षक लेख तथा आरतीके साथ-साथ रेल, तार, डाक, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर तथा हिंदू उत्तराधिकारमें नया परिवर्तन आदि सूचनाएँ और माप-तौलकी सूची, घरेलू ओषधियाँ तथा स्वास्थ्यरक्षाके साधन दिये गये हैं ।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १।=), दोके लिये २≶), तीनके लिये ३), छःके लिये ५।≶) तथा बारहके लिये १०≶) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १॥-) दोके लिये २॥-), तीनके लिये ३॥), छःके लिये ६।=) और बारहके लिये १२=) भेजना चाहिये ।

उपर्युक्त चारों पुस्तकोंका एक साथ मूल्य ४=), डाकखर्च १॥।=), कुल ६) । इनमें तीन पुस्तकें सजिल्द लेनेपर चारोंका मूल्य ५=), डाकखर्च २), कुल ७=) ।

गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है । यहाँ आर्डर देनेके पहले सभी पुस्तकें अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपका समय और पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क ‘तीर्थाङ्क’

‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क ‘तीर्थाङ्क’ निकलेगा । इसमें तीर्थोंके सम्बन्धमें यथासाध्य सब प्रकारका संक्षिप्त वर्णन रहेगा । विशेषाङ्ककी सामग्री प्रेसमें दी जा चुकी है । इस अङ्कमें क्या-क्या विशेषताएँ होंगी, इसकी सूचना अगले अङ्कमें दी जायगी ।

सम्पादक—‘कल्याण’ पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

कृतज्ञता-प्रकाश

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका स्वास्थ्य भगवत्कृपासे क्रमशः सुधर रहा है। आशा है शीघ्र ही वे पूर्ण स्वस्थ हो जायँगे। इस बीचमें सहस्रों महानुभावोंके और माता-बहनोंके जो सच्ची प्रीतिसे भरे तार-पत्र आये हैं, इसके लिये वे हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करते हैं । अलग-अलग सबका उत्तर लिखनेमें असमर्थ हैं, इसके लिये वे क्षमा चाहते हैं । इसके सिवा, उनके नाम आये हुए उन हजारों पत्रोंका, जिनका उत्तर उन्हें स्वयं लिखना-लिखवाना चाहिये, उनकी अस्वस्थतावश नहीं लिखा गया है। पत्र-लेखक महानुभाव क्षमा करें।

निवेदक—चिम्मनलाल गोस्वामी

कल्याण

वर्ष ३०] * [अङ्क ११

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष सं० २०१३, नवम्बर १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≋)
विदेशमें ॥–)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ

नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मैं हूँ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१३, नवम्बर १९५६ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ३६०

भगवान्‌की विशेष विभूति

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं ।
ऐसा कोई भाव नहीं है, जिसमें श्रीभगवान नहीं ॥

सबमें सदा पूर्ण रहते वे, उनसे कुछ भी भिन्न नहीं ।
जानकार जन इस रहस्यका कभी न होता खिन्न कहीं ॥

जो विशेष श्रीयुत, विभूतियुत, बलयुत होते हैं सद्भाव ।
हरिके तेज-अंशसे सम्भव उनमें हरिका खास प्रभाव ॥

वर्णन कर विभूतियोंका फिर, कहने लगे स्वयं भगवान ।
नक्षत्रोंमें शशि मैं ही हूँ, ज्योतिपुंजमें सूर्य महान ॥

कल्याण

याद रक्खो—श्रीभगवान् 'हैं,' वे सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे सर्वथा भ्रम-प्रमादरहित हैं और ऐसे भगवान् तुम्हारे सुहृद् हैं, तुमपर सदा अहैतुकी कृपा रखते हैं। इस बातको न जानने और इसपर विश्वास न करनेके कारण ही तुम अशान्ति तथा दुःख भोग रहे हो।

याद रक्खो—जो सर्वशक्तिमान् हैं, उनमें सब कुछ करनेकी सामर्थ्य है। वे जो चाहे कर सकते हैं, उनकी शक्ति कहीं परास्त नहीं होती, उनकी शक्तिकी क्रियाको कोई भी रोक नहीं सकता।

याद रक्खो—जो सर्वज्ञ हैं, वे भूत, भविष्य, वर्तमानकी सभी बातोंको जानते हैं। तुम्हारे मनमें क्या है, तुम्हारी क्या यथार्थ आवश्यकताएँ हैं, तुम्हारा किस बातमें वास्तविक हित है, किसमें अहित है, इसका उन्हें पूरा पता है।

याद रक्खो—जो सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे सबके शासक हैं, प्रकृतिका सारा साम्राज्य उनके अधीन है, वे सारे लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं, उनके संकल्पमात्रसे अनन्त विश्वोंका निर्माण और संहार होता रहता है।

याद रक्खो—जो भ्रम-प्रमादरहित हैं, उनसे कभी न तो भूल हो सकती है, न प्रमाद हो सकता है। उनकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानसम्पन्न, भूलरहित और प्रमादशून्य होती है।

याद रक्खो—ऐसे भगवान् तुम्हारे सहज सुहृद् हैं, इसलिये नहीं कि तुम उनकी भक्ति करते हो। तुम भक्ति करो या न करो, तुम सेवा करो या न करो। तुम एक जीव हो और वे जीवमात्रके सहज बन्धु हैं। बिना ही हेतु प्रेम करते हैं तथा सदा-सर्वदा तुम्हारा हित करनेके लिये प्रस्तुत हैं।

याद रक्खो—भगवान्की यह प्रीति, यह कृपा अनन्त है, अपार है, सर्वथा अमृतमयी है, सर्वथा मङ्गलमयी है और बिना ही किसी कारण सहज ही सबपर नित्य बरसती रहती है; पर जो इसपर विश्वास न करके इससे विमुख होकर अपनेको सदा अवैध तथा अबाध विषय-सेवनकी काल-कोठरीमें बंद रखते हैं, वे इससे वञ्चित रह जाते हैं, इसीसे वे सदा अशान्त और दुखी रहते हैं।

याद रक्खो—संसारमें ऐसा दूसरा कौन है जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोकमहेश्वर तथा नित्य भ्रम-प्रमादरहित होते हुए भी तुम-जैसे नगण्य तुच्छ प्राणीको कभी न भूलकर तुमपर अकारण ही स्नेह करता हो और तुम्हारा मङ्गल करना चाहता हो।

याद रक्खो—तुमको जब संसारके किसी साधारण अधिकारीसे, साधारण धनीसे, साधारण समर्थ पुरुषसे और साधारण विवेकशीलसे आश्वासन मिल जाता है, तब तुम अपनेको निश्चिन्त मान लेते हो और उनके कृतज्ञ हो जाते हो।

याद रक्खो—संसारमें सभीकी शक्ति सीमित है, जो है वह भी अनित्य है और सभीसे भूल भी होती है। साथ ही वे तुम्हारे अहैतुक सुहृद् नहीं हैं, उनके सौहार्द तथा प्रेममें कोई-न-कोई हेतु होता है; पर भगवान् तो इससे सर्वथा विलक्षण हैं। वे स्वयं कहते हैं कि जो मुझको ऐसा जान लेते हैं, उन्हें शान्ति मिल जाती है।

याद रक्खो—भगवान्की इतनी सहज कृपा होते हुए भी यदि तुम उसपर विश्वास न करके वञ्चित रह जाते हो, उसपर बिना किसी शर्तके अपनेको सर्वथा छोड़कर जीवनको सफल नहीं बना लेते हो, उसपर निर्भर करके जीवनकी परम साधको पूरी नहीं कर लेते हो तो तुम बड़े ही अभागे हो।

याद रक्खो—मानव-जीवनका ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं मिलता। अतएव भगवान्पर, उनके सौहार्दपर विश्वास करके सफलजीवन बन जाओ। न प्रमाद करो, न विलम्ब करो। यह मानव-जीवनका अवसर हाथसे निकल गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके कुछ भी नहीं रह जायगा।

'शिव'

तत्त्वमसि

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

एक बार एक सज्जन मेरे पास आये और कुछ दूसरी साधनसम्बन्धी बातें करके बोले—

"एक मासिकपत्रमें एक लेखक लिखते हैं कि 'जिस देशमें 'तत्त्वमसि' अद्वैत ज्ञानका उपदेश दिया जाता है, उस देशमें स्पृश्यास्पृश्यका विवेक सिखलाया जाय और 'मैं ऊँचा, वह नीचा' तथा 'एकको छूनेसे दूसरा भ्रष्ट हो जाता है और एकके साथ खानेसे दूसरा धर्मच्युत हो जाता है'—इत्यादि भ्रामक सिद्धान्त प्रचलित हों तो यह कितने आश्चर्यकी बात हो जाती है। ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं, और इसका अर्थ यही होता है कि उपदेश देनेका ज्ञान और है तथा आचारमें लानेका ज्ञान दूसरा है। जैसे हाथीके खानेके दाँत अलग और दिखानेके दाँत अलग होते हैं; वही बात भारतके तत्त्वज्ञानकी है।

"फिर, जहाँ शङ्कराचार्य-जैसे समर्थ आचार्य हो गये हैं, जिन्होंने सारे देशमें दिग्विजय किया, उनके ध्यानमें भी यह विचार और आचारका भेद नहीं आया और उन्होंने भी यह भेद दूर नहीं किया। उनके पीछे भी कितने ही महान् आचार्य हुए। उनकी दृष्टिमें भी यह भेद न दीख पड़ा। अन्तमें स्वामीनारायण-सम्प्रदायके संस्थापक स्वामी श्रीसहजानन्दको भी यह नहीं दिखायी दिया, अतएव उनसे भी यह भेद दूर नहीं हुआ और वह अबतक ज्यों-का-त्यों चलता आ रहा है।

"भारतके सद्भाग्यसे गान्धीजीकी दृष्टि इस अन्यायकी ओर गयी और उन्होंने अस्पृश्यता-निवारणका भागीरथ कार्य हाथमें लिया; परंतु इसको पूरा करनेके पहले ही उनका देहान्त हो गया और अब उनका अधूरा कार्य उनके अनुयायी प्रबल वेगसे पूरा कर रहे हैं। यदि गान्धीजीकी दृष्टि इसपर न पड़ी होती तो यह कलङ्क कभी दूर होता ही नहीं।"

विज्ञ पाठक! आपने इस प्रवचनको चुपचाप सुन लिया। अब आइये हम इसपर तटस्थ दृष्टिसे विचार करें।

'तत्त्वमसि' यह वाक्य शरीरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। ऐसा होता तो इसका अर्थ यह होता कि तुम्हारा शरीर मेरा शरीर है और मेरा शरीर तुम्हारा शरीर है। यदि ऐसा होता तो एक शरीरमें फोड़ा होनेपर उसकी वेदना दूसरे शरीरमें भी होती तथा एक शरीर भोजनसे तृप्त होता तो दूसरे शरीरको तृप्तिका अनुभव होता; परंतु ऐसी घटना कहीं देखनेमें नहीं आती। अतएव 'तत्त्वमसि' शरीरके लिये कहा गया है, ऐसा मानना तो प्रत्यक्षके विरुद्ध है; इसलिये यह बात प्रमाणित नहीं होती।

यहाँ एक बात समझने योग्य है। (१) स्पर्श होता है एक शरीरका दूसरे शरीरसे, (२) उच्च-नीचका जो भेद होता है, वह भी शरीरसम्बन्धी ही है, (३) एक शरीरसे दूसरा शरीर छू जाता है, इससे उस शरीरमें विकार होता है, (४) एकके साथ दूसरेके भोजन करनेसे उसका असर भी शरीरपर ही होता है। इससे आत्माका किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा स्वरूपसे असङ्ग है, इस कारण शरीरका कोई धर्म उसका स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार स्पर्श्या-स्पर्श्य आदि समस्त विवेक शारीरिक दृष्टिसे ही है, इसी कारण व्यवहारमें इनका होना अनिवार्य है।

'तत्त्वमसि' यह महावाक्य माना जाता है, इसको छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुसे कहा है। इसी उपनिषद्में पुनर्जन्मके सिद्धान्तको बतलाते हुए ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा'। (५ । १० । ७)

'इन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें शुभ आचरणवाले होते हैं, वे अवश्य उत्तम योनिमें जन्म धारण करते हैं—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त होते हैं तथा जो इस लोकमें अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे अधम योनिमें जन्म धारण करते हैं—कुत्ते, सूअर अथवा चाण्डालयोनिको प्राप्त होते हैं।'

इस अवतरणसे भी यह सिद्ध होता है कि 'तत्त्वमसि' वाक्यका प्रयोग शरीरोंकी एकता बतलानेके लिये नहीं हुआ है; क्योंकि एक ही ग्रन्थमें दो परस्पर-विरोधी बातें नहीं हो सकतीं।

'तत्त्वमसि' वाक्यका उपयोग तो आत्मा और परमात्माका ऐक्य समझानेके लिये हुआ है (शरीरकी तो वहाँ बात ही नहीं है)। जो चेतन तत्त्व अपने व्यापक स्वरूपमें 'परमात्मा' कहलाता है, वही चेतन तत्त्व जब शरीरमें प्रकट होता है, तब 'आत्मा' कहलाता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा—इन दोनोंमें अभेद है, यह समझानेके लिये ही इस वाक्यका उपयोग हुआ है। मनुष्य-जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष है, अतएव आत्मा-परमात्माका अभेद समझना मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है; क्योंकि यह समझे बिना मुक्ति नहीं होती।

आजके मुद्रण-यन्त्रके वैज्ञानिक युगमें तत्त्वज्ञानकी पुस्तकें ढेर-की-ढेर छपती हैं। जिसके पास पैसेकी सुविधा है और बाँचनेकी कुशलता होती है, वह मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार पुस्तकें खरीदकर पढ़ लेता है तथा वाचनके प्रमाणसे छोटा-बड़ा तत्त्ववेत्ता प्रसिद्ध हो जाता है। यदि सारे संसारमें प्रसिद्धि प्राप्त करनी हो तो इसके बाद यूरोपके तत्त्ववेत्ताओंकी पुस्तकोंको भी पढ़ डालता है और दोनोंका सम्मिश्रण करके एक व्याख्यान तैयार करता है। इस प्रकार विश्वविख्यात तत्त्ववेत्ता बन जाता है।

इस प्रकारकी पढ़ाईसे मनुष्य तत्त्ववेत्ता अवश्य हो जाता है तथा यश और समृद्धि भी उसे प्राप्त होती है; परंतु वह 'तत्त्वज्ञानी' नहीं बन पाता। जैसे माध्यमिक विद्यालयमें जानेके लिये प्राथमिक विद्यालयका ज्ञान आवश्यक है, जैसे कालेजमें जानेके लिये माध्यमिक विद्यालयका पूरा ज्ञान आवश्यक है, जैसे 'पोस्ट-ग्रेजुएट' की पढ़ाईके लिये कालेजका पूरा ज्ञान जरूरी है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके लिये भी एक विशेष प्रकारकी योग्यता प्राप्त करना जरूरी है। इस योग्यताकी पद्धति इस प्रकार है—पहले तो विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षता सम्पादन करनी चाहिये। इतना अधिकार हुए बिना शास्त्रका मर्म समझमें नहीं आता और इससे बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है। साथ-ही-साथ निष्कामकर्म और उपासनासे चित्तके मल और विक्षेप दोषोंको दूर करना चाहिये। जबतक ऐसा न होगा तबतक ज्ञान स्थिर नहीं होगा। इतना अधिकार प्राप्त करके कोई भी साधक, जो गुरुके पास रहकर शास्त्र श्रवण करता है, फिर उसपर खूब मनन करता है और ऐसा करते हुए निदिध्यासन करता है, उसको ज्ञानप्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। ऐसा पुरुष 'तत्त्वज्ञानी' कहलाता है।

आत्मदृष्टिसे अद्वैत ही है। इस भावका कथन गीतामें तथा पुराणोंमें भी है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे शरीरोंकी एकता है, इसलिये एक-सा व्यवहार सब शरीरोंके साथ नहीं करना चाहिये। गीताका प्रसिद्ध श्लोक है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥५।१८॥

भाव यह है कि विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डालको ज्ञानी पुरुष समान दृष्टिसे देखता है। यहाँ 'समवर्तिनः' शब्द न होकर 'समदर्शिनः' शब्द है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मदृष्टिसे सभी प्राणी एक ही कोटिके हैं, क्योंकि एक ही आत्मा सब शरीरोंको चेतनता प्रदान कर रहा है; परंतु व्यवहारकालमें तो प्रत्येक प्राणीके साथ उसके स्वभाव और गुण-दोषके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। सवारी करनी होती है तो हाथीके ऊपर ही बैठा जाता है, गाय या कुत्तेके ऊपर कोई नहीं बैठता। दूध चाहिये तो गायका दूध ही काम देता है, कोई कुतियाको दुहने नहीं बैठता। खेतकी चौकी करनी हो तो वहाँ कुत्तेकी जरूरत पड़ती है, गाय या हाथीसे काम नहीं चलता। शास्त्रीय पठन-पाठन करना हो तो उसमें विद्वान् शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण ही चाहिये, श्वपचसे काम नहीं चलता। इस प्रकार आत्मदृष्टिमें ये पाँचों प्राणी समान हैं, परंतु शरीर-दृष्टिसे कोई भी समानता नहीं है। इसलिये शरीरकी बात हो तो प्रत्येकको पृथक्-पृथक् समझकर उनके गुण-दोषके अनुसार उनके साथ व्यवहार करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें भी इस भावका एक श्लोक है—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥

भाव यह है कि हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, सर्पादि पेटसे चलनेवाले प्राणी, पक्षी तथा मक्खी-जैसे क्षुद्र जन्तुओंको भी अपने पुत्रके समान जानना चाहिये; क्योंकि आत्मदृष्टिसे अपने पुत्र तथा इन प्राणियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। यहाँ भी 'पश्येत्' शब्द है और 'आचरेत्' या इस प्रकारका समान व्यवहारसूचक कोई शब्द नहीं है।

दोनों श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि सभी प्राणी ईश्वरके बालक हैं। यद्यपि उनके शरीर विभिन्न स्वभाववाले तथा पृथक्-पृथक् हैं तथापि एक ही अन्तर्यामी ईश्वर उन सबमें आत्मरूपसे विराजित है। इसलिये उन सबका आदर करना चाहिये, सबको यथाशक्ति सुख पहुँचाना चाहिये। उनमें किसीको भी कभी दुःख तो दे ही नहीं, ऐसा कोई भी काम न करे जिससे उनको पीड़ा पहुँचे। परंतु उनके साथ व्यवहारका प्रसङ्ग आनेपर व्यवहार वही करना चाहिये, जो उनके शरीरके साथ करना उचित हो।

यह बहुत ही महत्त्वका विषय है। इसलिये एक घरेलू दृष्टान्तसे इसको समझना चाहिये। एक गृहस्थ बाहरसे आया है। दीवानखानेमें उसकी माँ, बहिन, लड़की, भौजाई तथा उसकी पत्नी बैठी-बैठी बातें कर रही हैं। वे सभी स्त्रियाँ हैं। सबके शरीर समान हैं और सब शरीरमें एक ही आत्मा है; इतना साम्य होनेपर भी क्या वह गृहस्थ सभी स्त्रियोंके साथ एक-सा व्यवहार करेगा? यदि करता है तो वह मनुष्य ही नहीं कहलाता, उसकी गणना पशुमें ही होती है। यों जहाँ शारीरिक समानता होती है, वहाँ भी व्यवहार तो यथायोग्य ही करना पड़ता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस इस बातपर बहुत जोर दिया करते थे कि अद्वैतदृष्टि भावमें होती है, क्रियामें की ही नहीं जाती। वे दृष्टान्त देकर समझाते थे कि ज्ञान-दृष्टिमें गाय और बाघ नारायणके ही स्वरूप हैं; परंतु व्यवहारमें बाघ अपने स्वभावके अनुसार गायको खा जाता है। गायको अपने घर रक्खो तो वह अपने स्वभावके अनुसार दूध देती है और बाघ मिलनेपर खा जाता है। अग्नि और सर्प दोनों नारायणस्वरूप ही हैं; परंतु अग्निका उपयोग उष्णता-प्राप्तिके लिये ही किया जाता है। देवताका स्वरूप जानकर आलिङ्गन करनेसे तो वह जला ही देगी। इसी प्रकार सर्पको भी दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये, भेंटने जाओगे तो वह डँसकर जरूर प्राण ले लेगा।

अपनी स्त्री तथा समस्त नारीसमाजको वे माताका ही स्वरूप मानते थे और फिर भी साधक तथा सिद्धको

कामिनी तथा काञ्चनसे दूर ही रहनेके लिये कहते थे। इससे स्त्री-समानाधिकारके हिमायती लोगोंको दुःख भी होता था। कामिनीसे दूर रहनेका उपदेश देनेमें उनका यह जरा भी हेतु नहीं था कि नारीजगत्के प्रति तिरस्कारकी भावना उत्पन्न हो, बल्कि उनके कथनका तात्पर्य इतना ही था कि स्त्री-जातीय आकर्षणसे दूर रहा जाय; क्योंकि वह आकर्षण सबसे बलवान् होता है।

क्रियामें अद्वैत न बरतनेका एक शास्त्रीय दृष्टान्त इस प्रकार है। एक गुरुजी पाठशालामें वेदान्तकी शिक्षा देते हुए कहते थे—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' एक ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। विद्यार्थियोंने यह बात कण्ठस्थ कर ली। दो-चार दिनोंके बाद एक बार राजमार्गसे एक पागल हाथी दौड़ता हुआ आ रहा था। गुरुजी ठीक उसी समय उस मार्गकी ओर जा रहे थे। जब उनको वस्तुस्थितिका पता लगा, तब वे कोई सुरक्षित स्थान खोजनेके लिये दौड़े। उसी समय उनका एक शिष्य अपने सुरक्षित स्थानसे चिल्लाकर कहने लगा—'गुरो! गजो मिथ्या'—'गुरुजी, दौड़ते क्यों हैं! आपने ही तो पढ़ाया है कि गज मिथ्या है!'

भागते हुए ही गुरुजीने उत्तर दिया—'पलायनमपि मिथ्या।' 'यह मेरा दौड़ना भी तो मिथ्या ही है।'

यहाँ देखो, गुरुजी तत्त्वज्ञानी थे, इसलिये उन्होंने ठीक जवाब दिया और बतलाया कि जिस दृष्टिसे हाथी मिथ्या है, उस दृष्टिसे इस शरीरके दौड़नेकी क्रिया भी मिथ्या ही है। व्यवहारमें तो हाथीको सत्य मानकर उससे शरीरका रक्षण करना आवश्यक है। इतना अन्तर है तत्त्वज्ञानमें और रटे हुए ज्ञानमें।

विज्ञ पाठक! इस छोटेसे निबन्धमें हमने देख लिया कि सिंह-हाथी, सर्प-नेवला, गाय-बाघ, बिल्ली-चूहा, हरिन-सिंह, घोड़ा-गधा, साँप-बिच्छू, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि क्षुद्र जन्तुओं तथा मनुष्योंके शरीर एक ही मिट्टीसे बने हुए हैं। प्राणियोंका आकार और स्वभाव पृथक्-पृथक् है; परंतु वे बने हुए हैं एक ही मिट्टीसे और एक ही ईश्वर उन सबमें अखण्ड रूपसे विराज रहा है, जैसे एक ही सूत मालाकी सारी मनिकाओंमें रहता है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे तो द्वैत है ही नहीं, सर्वत्र एक-रस समानता है। तथापि हमने यह भी देख लिया कि व्यवहारकालमें सब प्राणियोंके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये प्राणियोंके बीच व्यवहार-भेद रहना अनिवार्य है।

तात्त्विक दृष्टिसे एकरस समानता होनेपर भी व्यवहार क्यों पृथक्-पृथक् करना पड़ता है, इस विषयपर कभी विचार किया है? इसके समाधानमें शास्त्र यह कहते हैं कि यह जो आँखसे दीख पड़ता है, इस शरीरके भीतर एक दूसरा शरीर और है। यह बात सुनकर शायद आप चमक उठें; परंतु इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है। शास्त्रावलोकन करनेसे सब बातें बहुत आसानीसे समझमें आ जायँगी। इस भीतरी शरीरको 'लिङ्गदेह' कहते हैं और इसीके कारण व्यवहारमें विषमता रहती है। ऊपरका शरीर समान होनेपर भी किसी भी दो प्राणियोंके लिङ्ग-देह समान संस्कारवाले नहीं होते। इसका कारण जन्मोंकी परम्परा है। जब किन्हीं भी दो देहोंमें समानता नहीं होती, तब इसीलिये व्यवहारमें भिन्नता अनिवार्य है, समानता सम्भावित नहीं है।

फिर हमने यह भी देख लिया कि 'तत्त्वमसि' महावाक्यका तात्पर्य समझनेके लिये एक प्रकारका अधिकार आवश्यक है। उतना अधिकार प्राप्त करनेके पहले तत्त्वज्ञानकी पुस्तकें पढ़नेका भी किसीको अधिकार नहीं है, ऐसा हमारे शास्त्र-ग्रन्थ प्रारम्भमें ही कहते हैं।

इतना होनेपर भी विज्ञ पाठको! इस वाक्यका रहस्य जाननेकी तीव्र जिज्ञासा हो तो 'तत्त्वमसि' समझनेके

लिये ही श्रीशङ्कराचार्यने एक प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम 'तत्त्वोपदेश' है। वह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है, परंतु इस महावाक्यको कैसे सिद्ध किया जाय, इसे बहुत ही विस्तारपूर्वक एक दृष्टान्त देकर समझाया है। इस ग्रन्थको किसी विद्वान्के पास बैठकर पढ़ेंगे तो कुछ अंशमें बोध हुए विना न रहेगा। इस ग्रन्थका अन्तिम श्लोक बहुत महत्त्वका होनेके कारण उसे यहाँ उद्धृत करके लेख समाप्त किया जाता है।

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

भावमें अर्थात् ज्ञान-दृष्टिमें तो अद्वैत सिद्ध ही है। इसलिये सभी प्राणियोंमें एक ही ईश्वरका वास है, ऐसा भाव रखकर सबका आदर करना चाहिये। सबको सुख पहुँचाना चाहिये, किसीको कष्ट तो देना ही नहीं चाहिये; परंतु व्यवहारकालमें तो प्रत्येक प्राणीके साथ उसके शरीर तथा स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करना चाहिये। इतना विवेक यदि मनुष्य न रक्खे तो वह मनुष्य ही न कहलाये। इस प्रकार व्यवहारमें विषमता होनेपर भी भावनामें तीनों लोकोंमें समानता रखनी चाहिये; परंतु गुरुके साथ तो भावनामें भी समानता नहीं रखनी चाहिये। गुरु-शिष्य दोनों जीवन्मुक्त हों तो भी जबतक शरीर है तबतक गुरुके शरीरको पूजनीय और वन्दनीय समझना चाहिये। शिष्यको अपने शरीरसे गुरुकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार गुरु-शिष्य दोनोंमें देहावसानपर्यन्त सेव्य-सेवकभाव ही रहना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे एकरस समानता होनेपर भी व्यवहारमें ध्यान रक्खे विना नहीं चलता; क्योंकि व्यवहारमें विषमता न रहेगी तो परिणाममें अवश्य विषमता आयेगी। परमात्मा सबको सन्मति दें।

जीवन-मोह

(रचयिता—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

मुझको जीवनका मोह नहीं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(१)

पा स्वस्थ, सुदृढ़, सुन्दर शरीर,
क्यों रहूँ क्रूर, कायर, अधीर,
बन कर्म-केसरी, धर्मवीर,
भव-सागरसे तर जाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(२)

भूखे-प्यासोंकी आहोंमें,
दुखियोंके कष्ट कराहोंमें,
व्यथितोंके अन्तर्दाहोंमें,
बनकर सुख-शान्ति समाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(३)

यह विश्व बृहत् परिवार बनें,
मानवता प्रेमाधार बनें,
जन-सेवा ही हिय-हार बनें,
जग-जीवोंको अपनाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(४)

दुर्भाव-दम्भ-दल-बाधक बन,
कर्तव्य कर्म सत् साधक बन,
भगवान्-भक्त आराधक बन,
निशि-दिन निज आयु बिताऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरणपूर्वक प्रणाम ! आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें समयाभावके कारण विलम्ब हो गया, सो आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पत्रको पढ़कर आपको जो प्रसन्नता होती है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। आपके प्रेमभाव और प्रभुकी कृपासे ही ऐसा होता है। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

पूर्वजन्मोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक 'संचित' दूसरे 'प्रारब्ध'। 'संचित कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनका फल वर्तमान जन्मके लिये निश्चित नहीं हुआ है, अतः उनका नाश करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। विवेकपूर्वक अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका नाश बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

'प्रारब्ध कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनके फलस्वरूप वर्तमान शरीर मिला है एवं जिनके अनुसार जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्तियों और परिस्थितियों-का संयोग-वियोग निश्चित कर दिया गया है। इस विषयमें उनकी अवश्य ही प्रधानता है। वर्तमानमें हम जो अच्छे या बुरे कर्म करेंगे उनमेंसे कोई-कोई उग्र कर्म तो तत्काल प्रारब्ध बनकर प्रारब्धमें सम्मिलित हो जाता है। शेष सब संचित कर्मोंके साथ सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार यह कर्मचक्र चलता रहता है।

भगवान्‌का भजन-स्मरण इसलिये करना चाहिये कि हमारे संचित कर्म भस्म किये जायँ, फिर इस दुःखमय संसारमें न आना पड़े। नहीं तो, मरनेके बाद शूकर-कूकर आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा।

वर्तमान जन्ममें भजन-स्मरणसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि घरमें दरिद्रता, वस्तुओंका अभाव, शरीरमें बीमारी, अपमान, निन्दा आदि प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त होनेपर भी वे हमारी शान्तिको भंग नहीं कर सकेंगी। हमारे लिये अनुकूलता और प्रतिकूलता बराबर हो सकती है। ऐसा हो जानेपर हमें कर्मके फलको बदलनेकी कोई जरूरत नहीं रहती, हमारा हृदय निरन्तर प्रभुके प्रेमसे भरा रह सकता है। इससे बढ़कर इस मनुष्य-जीवनका और लाभ हो ही क्या सकता है।

निष्काम कर्म और ईश्वरभक्ति कभी भी बन्धनकारक नहीं होते। निष्कामभावसे केवल भगवान्‌के आज्ञा-पालनके रूपमें, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जो दूसरे देवताओंकी पूजा की जाती है और उसके बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारके फलकी आशा नहीं की जाती। वह तो भगवान्‌की ही पूजा है, उसका फल तो वही होगा जो भगवान्‌की पूजा-भक्तिका होता है।

'भगवान्‌की शरणागति किसको कहते हैं?' इसका विस्तारयुक्त लेख मेरे द्वारा लिखित तत्त्व-चिन्तामणि नामक पुस्तकमें देख सकते हैं। पत्रमें कहाँतक लिखा जाय। ईश्वरकी शरण हो जानेवाला न तो किसी भी परिस्थितिमें घबराता है, न संसारी लोगोंसे मदद माँगता है, वह तो सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

दस हजार राजा मिलकर उस धनुषको तोड़ सकें, ऐसा होना सम्भव ही नहीं था, तब राजा जनक क्या करते? यह प्रश्न ही नहीं उठता। बहुत लोग मिलकर धनुष तोड़ें, यह विधान भी नहीं था। विधान तोड़कर अपने इच्छानुसार वह प्रयोग करना उन राजाओंकी भूल थी।

श्रीहनुमान्‌जीको भरतजीने कुमारी कन्याएँ पुरस्कारमें दीं, ऐसी बात तुलसीकृत रामायणमें नहीं है। ......ने

यह बात कैसे लिख दी ? इसका क्या सदुपयोग है ? यह तो उन्हींसे पूछना चाहिये ।

किसी आदमीकी मृत्यु ग्रामदोषसे नहीं होती । मर जानेवाले व्यक्तिके ही प्रारब्धकर्मके फलरूपमें होती है । अतः कोई घबरानेवाली बात नहीं है । जो उन्नत होते हैं वे मर जाते हों, ऐसी बात भी नहीं है । जो उन्नत नहीं होते, वे भी तो मरते ही हैं ।

भगवान्‌की कृपा सबपर अपार है । उनकी कृपासे ही मनुष्यशरीर और विवेक मिला है । जो उनकी कृपाको मानता है, उसका आदर करता है, उसपर वह कृपा विशेष प्रकट होती है——

सबसे हरिस्मरण !

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है——

(१) जीव और आत्मामें कोई वास्तविक भेद नहीं है । बद्ध-अवस्थामें उसे 'जीव' कहते हैं और मुक्तावस्थामें वह 'आत्मा' कहा जाता है । आत्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन ज्ञानस्वरूप हैं । जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो और अन्यको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो, उसे 'चेतन' कहते हैं ।

(२) समाधि लगानेके अनेक प्रकार हैं, इसका विस्तार योगदर्शनमें देखना चाहिये । बहुत लम्बा विषय है, पत्रद्वारा नहीं बताया जा सकता ।

(३) समाधिमें शरीर चेष्टारहित होनेपर भी उसमें प्राण, जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरके तत्त्व विद्यमान रहते हैं, इसलिये शरीर नहीं सड़ता ।

(४) मानसिक पूजामें समस्त सामग्री और पूजनकी क्रिया आदि मनसे संकल्पद्वारा ही की जाती है, यह तो सबकी ही समझमें आता है । इसमें पूछना क्या है, कुछ समझमें नहीं आया ।

(५) आप सद्‌बुद्धि और सिद्धि चाहते हैं तथा जीवनमें ही प्रभुदर्शन चाहते हैं, सो अच्छी बात है । सिद्धि भी दुखियोंका दुःख हरनेके लिये चाहते हैं, यह भी अच्छी बात है, आप जैसा बनना चाहते हैं उसके अनुसार साधन कीजिये, तब सब कुछ हो सकता है ।

आप शान्तिपूर्वक विचार करें कि आप अपनी चाह पूरी करनेके लिये क्या कर सकते हैं और क्या कर रहे हैं एवं चाह पूरी न होनेकी आपके मनमें वेदना है या नहीं । अगर है तो कितनी और किस दर्जेकी है । विचार करनेपर पता चलेगा कि आप मिली हुई शक्तिका प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक-ठीक और पूरा नहीं करते । इसी कारण आपकी चाह पूरी होनेमें विलम्ब हो रहा है । मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसीको आशीर्वाद देकर उसकी चाहको पूरी कर दूँ । मैं तो समझता हूँ कि चाहरहित होना ही परम सिद्धिका और भगवान्‌के दर्शन प्राप्त करनेका अमोघ उपाय है, जिसके करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं ।

(६) आठ सिद्धियाँ इस प्रकार सुनी गयी हैं—— अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व । पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व——इस प्रकार ये नौ निधियोंके नाम सुने गये हैं । इनका विस्तार समझाना बहुत कठिन है ।

(७) आपके पिताजी आपको गीतापाठ नहीं करने देते और पूजा आदि साधनमें समय लगानेपर भी क्रोध करते हैं । इस विषयमें आपको सोचना चाहिये कि इसका कारण क्या है ? पिताजी आपका भला ही चाहते होंगे बुरा नहीं; पिता तो आखिर पिता ही ठहरे । वे अपने पुत्रका अहित क्यों चाहेंगे ? सम्भव है आप उनकी सेवा न करते हों या उनको इस बातका संदेह हो कि इधर लग जानेसे यह घर छोड़कर भाग न जाय, या व्यापार वगैरहसे और घरके कामसे मन न

चुराने लगे । इस प्रकारकी शङ्का यदि उनके मनमें हो तो बातचीत करके तथा अपने व्यवहार और आचरण-द्वारा उसे दूर कर देना चाहिये । ऐसा करनेपर उनका मन बदल सकता है ।

वे जो आपको झूठ बोलने, धोखाबाजी, बेईमानी और छल-कपट करनेके लिये बाध्य करते हैं तो बड़ी नम्रताके साथ विनयपूर्वक उनसे क्षमा माँगकर कहना चाहिये कि 'ऐसा करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है । मेरी समझमें ऐसा करनेमें न तो आपका हित है न मेरा ही; अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करें जो इस विषयमें मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं करता ।' इसपर यदि वे बुरी-भली जबान कहें, गालियाँ दें, अपमान करें तो मनमें जरा भी क्रोध या दुःख नहीं करना चाहिये, हर्षपूर्वक सबको सहन करते जाना चाहिये । भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ रहना चाहिये । पिताजीकी शारीरिक सेवा तथा जो धर्म और साधनके प्रतिकूल न हो, ऐसी आज्ञाका पालन बड़े आदर, प्रेम और प्रसन्नताके साथ करते रहना चाहिये । ऐसा करनेसे मेरा विश्वास है कि आपके पिताजीका स्वभाव बदल सकता है ।

आप घरसे निकलकर न तो अपना ही सुधार कर सकेंगे और न अपने पिताजीका ही । मोह तो आपके अन्तःकरणमें है । वह तो आपके साथ, जहाँ आप जायँगे, वहीं रहेगा । घर छोड़नेसे तो मोहकी बेड़ी कटेगी नहीं और घरमें रहनेके कारण मजबूत नहीं होगी । उसका टूटना और मजबूत होना तो आपके साधनपर निर्भर है ।

(८) यदि मनुष्य अपनी वस्तु किसी दुखीकी सहायतामें लगानेका संकल्प कर ले, परंतु उसके पहले ही उस दुखीकी जरूरत पूरी हो जाय, उसे उसकी आवश्यकता न रहे तो वह उस वस्तुका उपयोग दूसरे वैसे ही अभावग्रस्त दुखीके हितमें कर सकता है जिसे उसकी आवश्यकता हो, इसमें कोई हानि नहीं है । हाँ, जिसको देनेका पूर्वमें संकल्प किया गया था, उसे भी इसकी सूचना दे देनी चाहिये ।

(९) हरेक प्राणीमें प्रभुका निवास समझना तो भाव और प्रेमकी बात है और सबके साथ वर्ण-आश्रमके अनुसार आचरण करना यह व्यावहारिक क्रियाकी बात है । प्रेम और तात्त्विक दर्शनमें ही समता हो सकती है । व्यवहारमें अर्थात् क्रियामें भेद तो सबको करना ही पड़ता है, क्योंकि यह अनिवार्य और आवश्यक है । अपने शरीरके सब अङ्गोंके साथ हम समताका आचरण नहीं कर सकते, यद्यपि उसमें सर्वत्र हमारा आत्मा, प्राण और प्रेम समान है, पर वस्तुको ग्रहण हाथसे करेंगे, शरीरपर कोई संकट पड़ेगा तो रक्षाका काम हाथसे करेंगे, खानेका काम मुखसे करेंगे, देखनेका काम आँखसे करेंगे, मल-त्यागका काम गुदासे करेंगे इत्यादि । सभी कामोंमें भेद करना ही पड़ेगा, इस भेदको कोई मिटा नहीं सकता ।

(१०) यज्ञोपवीतके बिना वैदिक मन्त्र और प्रणव-के जपका अधिकार नहीं है । भगवान्‌के नामका जप किया जा सकता है; उसी प्रकार ॐकारको भी भगवान्‌का नाम मानकर कोई जप करे तो दूसरी बात है, शास्त्रीय ढंगसे तो अधिकार नहीं है ।

(११) नित्य-प्रति स्नान तो करना ही चाहिये, कपड़े भी धो लिये जायँ तो अच्छा ही है; क्योंकि सफाई भी पवित्रताका ही अङ्ग है । कम-से-कम धोती तो धोयी ही जानी चाहिये ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिल गया था, समय कम मिलनेके कारण उत्तरमें विलम्ब प्रायः हो ही जाता है ।

आपने अपने पुत्रके स्वभाव, आचरण और पढ़ाई वगैरहके समाचार लिखे, उनको पढ़ लिया, पर मैं ऐसा कोई भी मन्त्र, तन्त्र या ओषधि नहीं जानता जिसके प्रयोगसे आपके लड़केका स्वभाव बदल दिया जा सके।

अतः मेरी समझमें उसके लिये चिन्ता और दुःख करनेमें तो कोई लाभ नहीं है। उसमें जो आपलोगोंका मोह है, उसे हटा लेना चाहिये और उसे अपना न मानकर भगवान्‌का मानना चाहिये तथा उसके सुधारका भार भी विश्वासपूर्वक भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये। ऐसा करनेपर आपलोगोंका और उसका भी हित हो सकता है। यह प्राकृतिक नियम मालूम होता है। इसके अतिरिक्त आपलोग और कर ही क्या सकते हैं?

आपने पूरी गीताजी याद कर ली, यह तो बहुत ही अच्छी बात है। अब उसमेंसे जो श्लोक आपको रुचिकर हों और जिनके अनुसार जीवन बनाना आपको सुगम प्रतीत होता हो, ऐसे श्लोकोंको चुनकर उनके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा प्रेम और विश्वासपूर्वक करनी चाहिये।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपने अपना परिचय दिया और वर्तमान परिस्थितिका वर्णन किया, वह भी ज्ञात हुआ। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

यह सत्य है कि असंख्य भोग-योनियोंके बाद प्रभुकी कृपासे यह मनुष्य-शरीर उनका भजन-स्मरण करनेके लिये मिला है। इसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

केवल गृहस्थाश्रममें ही तरह-तरहकी उपाधियाँ आती रहती हैं, ऐसी बात नहीं है। उपाधियाँ तो मनुष्यके मनमें रहती हैं, वे हरेक आश्रममें उसके साथ रहती हैं। अतः किसी भी आश्रमको बुरा समझना या दूसरे किसीमें सुख समझकर फँसना, यह साधनके लिये आवश्यक नहीं है। स्त्री बेड़ी तो उसके लिये है जो उससे सेवा लेना चाहता है, उसे इन्द्रिय-सुखभोगकी सामग्री बनाना चाहता है। जो उसे सुख देना चाहता है, उसका हित करना चाहता है, उसे साधन-सामग्री समझता है, उसके लिये वह बेड़ी नहीं है।

अन्य आश्रमावलम्बियोंकी सेवा करनेके लिये तो गृहस्थ-आश्रम साधनरूप है। स्वतन्त्रता भी अन्य आश्रमोंकी अपेक्षा गृहस्थमें ही अधिक है। दूसरोंसे आशा रखनेवाला प्राणी सदैव पराधीन रहता है। कोई भी आश्रम न तो आनन्द देनेमें समर्थ है और न दुःख देनेमें ही समर्थ है।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बहुत है। आप ब्रह्मचर्य पालन करना चाहते हैं, यह बहुत अच्छी बात है। ब्रह्मचर्यका पालन तो करना ही चाहिये, पर जब विवेकके द्वारा कामवासनाका संयम नहीं किया जा सके, तब बुरे रास्तेसे बचनेके लिये गृहस्थ-धर्मका आचरण करना बड़ा उपयोगी है। अपनी धर्मपत्नीके साथ अधिक-से-अधिक एक बार या दो बार ऋतुकालमें सहवास करनेवाला गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही माना गया है। हठपूर्वक भोग—भोग-प्रवृत्तिको दबानेकी अपेक्षा धर्मकी मर्यादाके साथ भोग भोगकर उसकी बुराइयोंका अनुभव करके उसे मिटा देना अधिक हितकर होता है।

आपके भाई-भौजाई आदि आपके हितैषी लोग जो आपको विवाह कर लेनेके लिये कहते हैं, वे कोई बुरी बात नहीं कहते। उनका कहना तो उचित ही है। अब आपको यह निश्चय करना है कि आप आजीवन विशुद्ध-भावसे जीवन-यापन कर सकेंगे या नहीं। किसी स्त्रीको देखकर या स्त्रीकी चर्चासे आपके मनमें विकार होता है या नहीं, यदि विकार होता हो तो आपको अवश्य विवाह कर लेना चाहिये। इसमें हठ करनेमें कोई लाभ नहीं है। अभिमानमें हित नहीं होता।

आपके कुटुम्बके नियमानुसार आपके छोटे भाई और भतीजीका हित सोचकर भी विवाह करना आपके लिये उचित जान पड़ता है।

अब आपके दूसरे प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१–निरन्तर परमात्मामें मन लगा रहनेके लिये परमात्मामें अनन्य प्रेम होना आवश्यक है।

२–त्रिगुणातीत परब्रह्म परमेश्वरके साथ विश्वासपूर्वक सम्बन्ध जोड़ लेनेसे तथा त्रिगुणात्मिका मायासे किसी प्रकारके सुखभोगकी कामना न करके उसके द्वारा सबकी सेवा करके उसके ऋणसे मुक्त हो जानेपर मनुष्य बड़ी सुगमतासे मायासे छूट सकता है।

३–नवधा भक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌में विश्वास और उनसे अनन्य सम्बन्ध होना आवश्यक है; क्योंकि सम्बन्ध हो जानेसे उसके विषयकी बात सुनने और कहनेमें रुचि हो ही जाती है, उसका स्मरण-चिन्तन भी होने लगता है। अपने कर्तव्य-पालनद्वारा सेवा भी होने लगती है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'। सबमें प्रभुको देखते हुए उनका आदर-सत्कार करना यही वास्तविक पूजा है। सबमें अपने स्वामीको देखते हुए मन-ही-मन उनको नमस्कार करना, सबमें मित्र-भाव रखना और अपने-आपको प्रभुके समर्पण कर देना—यह सम्पूर्ण नवधा भक्ति प्रभुको विश्वासपूर्वक अपना मान लेनेपर सुगमतासे हो सकती है।

४–गृहस्थाश्रममें पड़ना बुरा नहीं है। यह पहले भी समझा दिया है। उसमें जो बुराई आती है वह स्वार्थ-परायणतासे आती है। वह दोष आश्रमका नहीं है। गृहस्थमें भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जा सकता है। सब बातें पहले लिखी ही जा चुकी हैं।

तुलसीदासजीके कथनका समर्थन तो मैं कर ही चुका हूँ। आपके मनमें जो स्त्रीसे सहायता लेनेकी और बुढ़ापेमें सेवा करानेकी बात आती है, इसे भी निकाल देना चाहिये; क्योंकि किसीसे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध करनेकी भावना ही पराधीनता है, यह साधन नहीं है। विवाह करना ईश्वरकी मर्यादाका पालन और अपने बड़े भाई आदि गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करके उनको प्रसन्न रखनेके लिये तथा स्त्रीको मित्र-भावसे सुख पहुँचानेके लिये उचित कहा जा सकता है।

(५)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार लिखे सो अवगत किये। आपने हमारे नामके आगे परम पूज्य श्रीश्री आदि लिखा एवं पत्रमें जगह-जगह प्रशंसाके शब्द लिखे, सो इस प्रकार लिखकर संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो साधारण आदमी हूँ। परम पूज्य एवं प्रशंसाके लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे ही श्रद्धाके योग्य हैं।

आप 'तत्त्व-चिन्तामणि'का प्रेमसे पाठ करते हैं, सो आपके भावकी बात है। आप स्थूल बुद्धिके कारण उसे समझ नहीं पाते, सो जो बात आपके समझमें नहीं आवे उसे बार-बार पढ़ना चाहिये। इस प्रकार करनेसे समझमें आ सकती है। उसमें जो बातें हैं उनको समझकर काममें भी लानेकी कोशिश करनी चाहिये।

आपने मुझे दया करके संसारसागरसे पार करनेके लिये लिखा, सो यह मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की दयासे ही संसारसागरसे पार उतरा जा सकता है। भगवान्‌की दया सबपर है ही। बस, माननेभरकी देर है। उनकी दया मानकर उनके शरण हो जाना चाहिये।

आपने गलती क्षमा करनेके लिये लिखा, सो हमारी समझमें तो आपकी कोई गलती नहीं है। जब गलती है ही नहीं, तब फिर क्षमा करनेकी कोई बात ही नहीं उठती। आपने लिखा कि कभी भगवत्कृपा होगी तो लिखूँगा सो ठीक है। आप जब चाहें, तब लिख सकते हैं।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

×××जहाँ पूजा और मान-बड़ाईसे सम्बन्ध है वहाँ खतरा ही समझना चाहिये। गुरु बनाये बिना मुक्ति होती ही न हो, ऐसी कोई बात नहीं है। बिना गुरुके भी मुक्ति हो सकती है। आजकल अच्छे और असली गुरु मिलने बहुत ही कठिन हैं। यदि सौभाग्य-वश मिल भी जायँ तो उनकी पहचान करना बड़ा ही कठिन है। सबसे उत्तम तो यही है कि भगवान्‌को परम गुरु मानकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-ध्यान और पूजा-पाठ करना चाहिये। वे स्वयं ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। यदि कोई अच्छे गुरु मिलें तो उन्हें अवश्य ही गुरु बना लेना चाहिये। महाभारतमें एकलव्य भीलकी कथा आती है। उसने द्रोणाचार्यजीको गुरु मानकर उनकी मूर्तिसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या प्राप्त की थी, उसी प्रकार आप भी किसी योग्य पुरुषको गुरु मानकर या बनाकर मुक्तिका साधन कर सकते हैं।

दोनों समय संध्या और गायत्री-मन्त्रका जप आप-को अवश्य करना चाहिये। आप संस्कृत नहीं जानते हैं सो तो ठीक है। संध्याके तो थोड़े-से मन्त्र हैं, किसी जानकार विद्वान्‌से उच्चारण सीखकर याद कर लेने चाहिये। संस्कृत न पढ़े रहनेके कारण मामूली गलती भी हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। निष्काम-भावसे करनेवालोंके लिये कोई हानिकी बात नहीं है। अशुद्ध उच्चारण करनेपर हानि तो उनको होती है, जो सकामभावसे करते हैं। निष्कामभाववालोंके लिये कोई डरकी बात नहीं है। भगवान्‌के लिये हृदयमें रोना तो बहुत ही अच्छा है। भगवान्‌के सामने करुणा-भावसे रो-रोकर उनसे अपने उद्धारकी बात पूछनी चाहिये। इस प्रकार पूछनेसे भगवान् हृदयमें प्रेरणा कर दिया करते हैं। उसीको आदेश मानकर करना चाहिये। नित्यकर्ममें संध्याके साथ गीता-पाठ करना बहुत अच्छा है। संस्कृतके श्लोक न पढ़ सकें तो केवल भाषा ही पढ़ सकते हैं। रामायण (रामचरितमानस) तो हिंदीमें ही है। उसके दोहे-चौपाइयोंका पाठ कर लेना चाहिये। रामायणके दोहा-चौपाई आप न पढ़ सकें तो अर्थ ही पढ़ लेना चाहिये।

आपने चाय-दूध आदिकी दूकान कर रक्खी है और सबेरे पाँच बजेसे रातको बारह बजेतक दूकान खोलते हैं, सो इतने समयतक दूकान खोलना ठीक नहीं है। दूकान करनेवालोंके लिये सबसे खास बात यह है कि सबके साथ समानता और सत्यतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये। आपके घरवाले तामसी भोजन करते हैं और नास्तिक हैं, उन लोगोंने आपको अलग कर दिया, सो इसे भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये जो आपको बुरे संगसे बचा लिया, नहीं तो, पता नहीं, आप-की क्या दशा होती? इतना समझनेपर भी उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अपनी ओरसे तो ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे उनका भी सुधार होकर उद्धार हो सके। दूकानमें काम थोड़ा ही होनेके कारण नौकर न रखकर आप स्वयं ही जूँठे गिलास आदि अपने हाथोंसे साफ करते हैं, सो बहुत ही उत्तम बात है। यह भी भगवान्‌की बड़ी कृपा है जो आपको ऐसा सेवा-का काम दिया है। दूकानको भगवान्‌की दूकान समझकर एवं अपनेको उनका सेवक समझकर भगवान्‌की दूकानमें जैसा काम होना चाहिये, वैसा ही सत्यता और समताका व्यवहार रखना चाहिये। इस प्रकार करनेसे काम भी साधन ही बन सकता है। काम अधिक बढ़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जितना काम है उससे जनताकी अधिकाधिक सेवा करनेकी कोशिश रखनी चाहिये।

दिनमें आपको पुस्तक पढ़नेका समय भी मिल जाता है, सो बहुत उत्तम है। उस समय गीताप्रेसकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। आपके भगवान् श्रीकृष्णका इष्ट है एवं भजन-कीर्तनमें रुचि है, सो अच्छी बात है। आपको—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

—इसका कीर्तन करना चाहिये । यही आपके लिये सर्वोत्तम है ।

आपके सिरपर ऋण है, इसकी चिन्ता रहनेके कारण भगवच्चिन्तन आप नहीं कर पाते हैं, सो अवगत किया । चिन्ता तो नहीं करनी चाहिये; खर्च कम-से-कम करके ऋण उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये । खर्च करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, आयमें ही परतन्त्र है ।

कीर्तन और सत्सङ्गमें जानेका आपको समय नहीं मिलता तो इसके लिये दु:ख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । गीताप्रेसकी तथा और भी धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन भी सत्सङ्ग ही है । कीर्तन आप अपनी इच्छा-के अनुसार घरमें भी कर सकते हैं ।

आप अष्टमीका व्रत करते हैं, सो बहुत अच्छी बात है । व्रतके दिन फल-दूध आदि जो भी लिया जाय, वह एक समय ही लिया जाय तो और भी ठीक है ।

प्रभुमें प्रेमभरी भक्ति हो एवं उनकी प्राप्ति हो, इसका उपाय आपने पूछा सो बहुत अच्छी बात है । इस इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये । भगवान्‌की प्राप्तिके बिना एक क्षण भी रहा न जा सके तो भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है । भगवान् तो भक्तोंसे मिलनेके लिये सर्वथा उत्सुक हैं । उनसे मिलनेकी इच्छा करनेवालों-की ही कमी है । सबसे यथायोग्य ।

(६)

सविनय प्रणाम । आपका पत्र मिला । आपने मेरे लिये श्रद्धेय एवं अपने लिये अकिंचन दास आदि शब्दोंका प्रयोग किया, सो इस प्रकार लिखकर मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहिये । आप ब्राह्मण होनेके नाते हमारे लिये पूज्य हैं । मैं तो साधारण मनुष्य हूँ ।

आपका परिचय मालूम हुआ । गंदे उपन्यास, नाटक तथा कहानी आदिकी पुस्तकें पढ़नेसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि नुकसान-ही-नुकसान है; अत: ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़नी चाहिये । आप 'कल्याण' में प्रकाशित परमार्थ-पत्रावली तथा 'शिव' की बातोंको पढ़ते हैं, सो बहुत अच्छी बात है । अच्छी पुस्तकें पढ़कर सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेकी आपकी इच्छा बहुत ही अच्छी है । इसके लिये 'तत्त्व-चिन्तामणि' सातों भाग, तत्त्व-विवेचनी तथा और भी गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त-गाथाओंकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये ? एवं उनमें लिखी बातोंके अनुसार जीवन बनानेकी कोशिश करनी चाहिये ।

आपने मनको वशमें न कर सकनेकी बात लिखी, सो ठीक है । 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी गीताप्रेससे प्रकाशित है । उसे मँगाकर पढ़ना चाहिये और उसमेंसे जो साधन आपको रुचिकर हो, उसे करना चाहिये । उससे आपको लाभ हो सकता है । आपको अपने मनकी प्रेरणाके अनुसार नहीं चलना चाहिये, अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये ।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और॥

मनकी प्रेरणा तो पतन करनेवाली है । मनको वशमें करनेके लिये गीता अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की तत्त्व-विवेचनी टीका पढ़कर उसके अनुसार अभ्यास और वैराग्यका साधन करना चाहिये । साधनके समय मन उपद्रव करता है, ध्यान नहीं करने देता, सो अवगत किया । जहाँ-जहाँ भी मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार उसको भगवान्‌के ध्यानमें लगाना चाहिये । दूसरा उपाय यह भी है कि मन जहाँ भी जाय, वहाँ भगवान्‌के ही दर्शन करने चाहियें । संसारमें आसक्ति और प्रेम होनेके कारण ही संसारमें मन जाता है । संसारको दु:खरूप क्षणभङ्गुर अनित्य समझकर उससे वैराग्य एवं भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये । अभ्यास और वैराग्य ही मनको वशमें करनेके उपाय

हैं। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌के ध्यानमें मन लग सकता है। यह जो आप समझते हैं कि मनको वशमें किये बिना काम-क्रोध-मद-लोभको जीतना सम्भव नहीं, सो ठीक है। भगवान्‌की शरण लेनेसे ये सभी जीते जा सकते हैं। अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये और किसी भी बातकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। यह शरणका ही एक प्रधान अङ्ग है।

धीरे-धीरे मन दुष्कर्मोंको छोड़ दे, इसके लिये आपने किये जानेवाले दुर्गुणोंको डायरीमें नोट करना शुरू कर दिया, सो ठीक है। जो दुर्गुण आपकी शक्ति और सामर्थ्यसे समाप्त न हो सकें, उनके लिये रो-रोकर करुणभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। मन वशमें हो एवं भगवान्‌में ध्यान लगे, इसके लिये भी भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। चोरी-व्यभिचार आप नहीं करते, सो अच्छी बात है। मन उनका चिन्तन करता है, यह भी ठीक नहीं है। भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये; फिर सब दुर्गुण अपने-आप ही छूट सकते हैं। आपको गीता अध्याय ६ श्लोक २४, २५, २६ के अनुसार साधन करना चाहिये।

प्रत्येक पत्रका उत्तर देनेकी हमारी चेष्टा रहती है, अतः कोई बात पूछनी हो तो संकोच नहीं करना चाहिये। हमारे पास पत्र बहुत आते हैं। अब विस्तृत पत्रोंका उत्तर देनेमें विलम्ब हो जाया करता है। इसलिये सार-सार बातें ही पूछनी चाहिये। सबसे यथायोग्य।

(७)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१—आपने अपनेमें क्रोध आने तथा उससे होनेवाले परिणामकी बात लिखी, सो मालूम की। क्रोध न आवे, इसके लिये ये उपाय हैं—

(क) अनिच्छा या परेच्छासे अपने मनके प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर ही प्रायः क्रोध आया करता है, इसलिये जो कुछ भी आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान समझ लेना चाहिये या—

(ख) जिसपर क्रोध आवे, उसमें भगवद्‌बुद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे भी क्रोध नहीं आ सकता।

क्रोध शान्त होनेपर हृदयमें शोक और पश्चात्ताप होता है, सो अच्छी बात है। जिसपर क्रोध आवे, उससे क्षमा-प्रार्थना करना भी बहुत उत्तम है। भविष्यके लिये किसी भी प्राणीपर क्रोध न करनेका भी दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे क्रोध आनेका स्वभाव बदल सकता है।

२—भगवान्‌का भजन सूर्योदयके पूर्व और सूर्यास्तके पूर्व प्रतिदिन नियमितरूपसे अवश्य करना चाहिये। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये। रातको शयन करते समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए ही सोना चाहिये। इस प्रकार करनेसे शयनकाल भी साधनकाल ही हो सकता है।

सुबह-शाम भजन करनेसे पूर्व स्नान करना और कपड़े बदलना अच्छा है। सुबह तो अवश्य ही स्नान करना चाहिये। शामको हाथ-पैर-मुँह धोकर भी काम चलाया जा सकता है। केवल शुद्धिकी दृष्टिसे ही नहीं, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी शरीरके लिये यह बहुत ही लाभदायक है। भगवान्‌की आराधना हर अवस्था एवं हर परिस्थितिमें की जा सकती है, यह भी मानना ठीक-ठीक है।

३—संसारके वातावरणसे घृणा होना तो अच्छा ही है, किंतु संसारके मनुष्योंसे घृणा करना या उनमें

दोष-बुद्धि करना अच्छा नहीं है । अपनेको बुरे संसर्गसे बचाना चाहिये । संसारमें रहकर संसारसे आसक्त नहीं होना चाहिये । आसक्तिका अभाव करना चाहिये । दूसरे, जो आपके भाई हैं उनमें घृणा या द्वेषबुद्धि करनेसे आपको और उनको क्या लाभ हुआ ? जिनमें आपको बुराइयाँ प्रतीत होती हैं, वे भी आपके भाई ही तो हैं । उन लोगोंका सुधार हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये । जैसे अपने घरमें कोई प्लेग या हैजेका रोगी होता है, तो उसके इलाजके लिये हम या तो वैद्य-डाक्टरोंको घरपर बुलाते हैं या रोगीको वैद्य-डाक्टरोंके पास ले जाते हैं और वह ठीक हो जाय, इसके लिये उपाय करते हैं । उसी प्रकार संसारमें फँसे हुए लोगोंके उद्धार-की कोशिश करनी चाहिये । इनके लिये वैद्य-डाक्टर हैं——महापुरुष । उन लोगोंको या तो सत्सङ्गमें ले जाना चाहिये अथवा महापुरुषोंसे प्रार्थना करके उनको उनके पास ले जाकर भेंट करा देनी चाहिये । उन भाइयोंसे घृणा करनेमें तो नुकसान-ही-नुकसान है ।

धार्मिक पुस्तकोंके पढ़नेमें आपका मन लगता है, यह भगवान्की विशेष कृपा है । गीताप्रेसकी पुस्तकें प्रायः सभी धार्मिक ही हैं, उनका अध्ययन करना चाहिये ।

आपने पूछा कि 'किस-किसको झूठ बोलकर या दम्भसे खुश करूँ ?' सो ठीक है । किसीको भी दम्भ करके या झूठ बोलकर खुश करनेकी आवश्यकता नहीं है । सबको न्याययुक्त चेष्टासे एवं नम्रतापूर्वक व्यवहार करके ही खुश करनेकी कोशिश करनी चाहिये । झूठ बोलना और दम्भ करना तो महापाप है ।

आपके घरवाले आपको वर्तमानमें कही जानेवाली भोग-सामग्रीयुक्त उन्नतिमें देखना चाहते हैं, किंतु आपको सादगीसे प्रेम है । सो भीतरमें तो सादगी ही रखनी चाहिये; परंतु अपनी इच्छा किसीके सामने प्रकट नहीं करनी चाहिये ।

आपके गुमाश्ते आपको धोखा देकर धन लूटना चाहते हैं तो उनसे आपको खूब सावधान रहना चाहिये। आपको प्रारब्धपर विश्वास है यानी आपको जो मिलना है वह तो मिलकर रहेगा ही, इसपर विश्वास है—यह आपकी मान्यता बहुत ठीक है; किंतु जो आपको प्राप्त है उसकी रक्षा करना भी तो आपका कर्तव्य है । कोई मनुष्य आपको धोखा दे तो उससे बचना ही चाहिये।

आप कल्याणके ग्राहक हैं सो अच्छी बात है । औरों-को भी ग्राहक बनाना चाहिये । सबसे यथायोग्य ।

रघुनन्दनकी छवि

जय जय रघुनंद-चंद रसिकराज प्यारे !
अंग-अंग-छवि अनंग कोटि वारि डारे ॥
विहरत नित सरजु-तीर, संग सोहैं सखिन-भीर ,
सिया-अंस भुजा डारि अवधके दुलारे ।
कोई सखि छत्र लिएँ, ब्यजन लिएँ कोई ,
जुगल सखी चौंर लिएँ करत प्रान वारे ॥
सुंदर सुकुमार गात, पुष्पमाल सकुचि जात ,
परसत भयभीत होत रूपके उजारे ।
नखसिख भूषन अनूप, जथाजोग जथारूप ,
कोटि चंद, कोटि भानु निरखत दुति हारे ॥
मंद मंद मुसकरात, प्यारी-सँग करत बात ,
देखि देखि 'अग्रअली' तन मन धन वारे ॥

—अग्रअलीजी

सुख कहाँ है ?

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल भाई देसाई)

प्राणिमात्र दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। बहुत प्रयत्न करनेपर भी दुःख नहीं टलता और सच्चा सुख नहीं मिलता। संसारमें बहुत शक्तिशाली पुरुष हो गये हैं और हैं। उन सबने दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिके लिये जी-तोड़ परिश्रम किया और कर रहे हैं; परंतु विरले ही किसीको इच्छित वस्तु प्राप्त हुई है। इसका कारण क्या है? जगत्में जितनी वस्तुएँ तथा जितने प्राणी हैं, उन सबका स्वभाव है। जिस प्रकार तिलमें तेल है, जैसे पुष्पमें सुगन्ध है, जैसे अग्निमें तेज है, उसी प्रकार सब प्राणियोंमें जन्मसे ही कोई-न-कोई स्वभाव है। प्राणी जड पदार्थसे दुखी नहीं होते; क्योंकि जड पदार्थ दुःख देने नहीं आते। उनका संसर्ग होनेपर दुःख-सुख होता है।

जैसे जड पदार्थका स्वभाव अपनेसे नहीं बदलता, फिर भी हम उन पदार्थोंसे नाराज नहीं होते; क्योंकि हम जानते हैं कि जगत्की सारी वस्तुएँ किसी-न-किसी कामकी हैं। हमें जरूरत हो तो हम उनको ग्रहण करें, न जरूरत हो तो वे भले ही जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहें। वर्षामें हम भीगते हैं, फिर भी वर्षाको हम दोष नहीं देते। पर अपनी रक्षा आप ही छत्ते आदिसे करते हैं। गरमीसे तपनेपर सूर्यको दोष नहीं देते, हम स्वयं ही शीतलताके लिये उपाय करते हैं। कंकड़ और काँटोंसे बचनेके लिये हम स्वयं जूते पहनते हैं; परंतु इनको दोष नहीं देते। किसी जड वस्तुके साथ हम युद्ध नहीं करते; क्योंकि हम जानते हैं कि उनका स्वभाव नहीं बदलता। हाँ, क्रियासे वस्तुका स्वभाव तो बदलता है, परंतु जब स्वभाव बदलता है, तब वह वस्तु ही नहीं रहती। ग्रीष्ममें पकनेवाले देशी आमको बारहमासी बनाना हो तो उससे कलम करना होगा, परंतु वह मूलमें जैसा आम था, वैसा न रहेगा। आम रहेगा। फलमें या पेड़में कुछ भी परिवर्तन न हो और वह बारहमासी बन जाय, ऐसा नहीं हो सकता।

सारांश यह है कि स्वभाव बदलनेके साथ वस्तुका स्वरूप बदल जाता है। वस्तुका स्वरूप बदले बिना स्वभाव नहीं बदलता। जगत्में सुख-दुःखदाता वस्तुका स्वभाव है, वस्तु नहीं।

जो हमको पीड़ित करता है, वह है स्वभाव। परिवारके आदमी जो एक दूसरेसे संतप्त होते हैं, सो केवल एक दूसरेके स्वभावसे ही। खूबी यह है कि जैसे दर्पणमें रूप देखकर सब लोग अपने स्वरूपसे संतुष्ट होते हैं, वैसे ही सब अपने स्वभावसे भी प्रसन्न हैं। आपकी जो किसीके साथ बनती नहीं है तो उसकी इन्द्रियाँ या शरीरके कारण न बनती हो ऐसी बात नहीं, बल्कि उसके खोटे स्वभावके कारण नहीं बनती है।

इस संसारमें ज्ञानीके सिवा दूसरे किसीको भी पराया स्वभाव सर्वांशमें पसंद नहीं होता। अपना स्वभाव अच्छा लगता है और दूसरेके स्वभावमें कोई-न-कोई दोष दीख पड़ता है। जिस परिमाणमें पराये स्वभावमें दोष दीखता है, उसी परिमाणमें उससे उसको दुःख होता है।

जगत्में जैसे पूरी एक समान आकृतिके दो मनुष्य नहीं मिलते, उसी प्रकार जगत्में सर्वांशमें एक समान स्वभावके दो मनुष्य नहीं हैं। जैसे शरीर पृथक् होता है, वैसे मन पृथक् होता है और वैसे ही स्वभाव पृथक होता है। जितने अंशमें स्वभावकी अनुकूलता दीख पड़ती है, उतने ही अंशमें उससे सुख मिलता है।

जितने अंशमें प्रतिकूलता दीख पड़ती है, उतना ही दुःख प्रतीत होता है ।

हम सारी जिंदगीमें अनेकों जड-चेतनके प्रसङ्गमें आते हैं, उन सबके अनुकूल हमारा स्वभाव हो, ऐसा हम अपनेको नहीं बना सकते । फिर वे सब हमारे अनुकूल नहीं होते, इससे यदि हम दुखी बननेकी आदत रक्खें तो हम कभी सुखी हो ही नहीं सकते । हमसे प्रतिकूल स्वभाववाले जितने लोग हैं, उन सबका सामना करनेकी यदि हम आदत रक्खेंगे तो हमारा यह युद्ध कभी बंद होनेवाला नहीं है । जैसे समुद्रकी तरङ्गोंका छोर नहीं है, अन्त नहीं है, उसी प्रकार प्रतिकूल स्वभावके प्राणी-पदार्थोंका जगत्में अन्त नहीं है ।

हमको बुरा लगनेवाला हमारा स्वभाव भी जब हमारे प्रयत्नसे नहीं टलता, तब दूसरेको जो स्वभाव अच्छा लगता है और हमको बुरा लगता है, वह स्वभाव हमारे प्रयत्नसे भला कैसे बदल सकता है ?

जगत्में खूबी यह है कि जहाँ विरोधीके स्वभावसे हम जैसे-जैसे द्वेष करते हैं, जैसे-जैसे उसपर हम क्रोध, घृणा करते हैं, वैसे-वैसे ही विरोधी भी हमारे प्रति अपने स्वभावके कारण वैसी ही मनोवृत्ति धारण करता जाता है और जैसे-जैसे हम-विरोधीके स्वभावके प्रति प्रेम, दया और सम्मानकी धारणा करते जाते हैं, वैसे-वैसे ही विरोधी हमारे लिये भी उसी प्रकारकी धारणा करता जाता है ।

जैसे आरम्भमें कहा जा चुका है कि हम जड पदार्थके स्वभावका सामना करनेकी इच्छा नहीं करते, बल्कि जिस स्वभावसे जब काम पड़ता है तब उसका कुछ परिहारके साथ सेवन करके हम उससे लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार प्राणिमात्रके स्वभावका विरोध न करके जब-जब जिस-जिस स्वभावके प्राणीसे हमको काम पड़े, तब-तब जो-जो स्वभाव हमें अपने अनुकूल लगें, उनका सेवन करके हम सुख उठा सकते हैं । दूसरोंके स्वभावका विरोध करके उसका नाश करनेमें सुख नहीं है और न दूसरोंके स्वभावसे द्वेष करनेमें है ।

जगत्में स्वभावका युद्ध चला ही करता है, यह जगत् एक युद्धभूमि है । जैसे युद्धमें उतरा हुआ योद्धा दूसरोंके आघातसे चलायमान हो जाता है और फिर भाग छूटता है तो उसको हारा हुआ माना जाता है, वैसे ही दूसरेके स्वभावसे जब हमारा स्वभाव अकुलाता है और फिर क्षीण होने लगता है, तब हम हार गये, ऐसा समझना चाहिये ।

जगत्में वही योद्धा अजेय है जिसका स्वभाव किसी भी प्राणी-पदार्थके स्वभावसे अपने शान्त-स्थिर चित्तके स्वभावको चलायमान नहीं होने देता, अकुलाने नहीं देता । अक्षत रहते हुए भी जो डिगता नहीं है और जिसके विरोधी अन्यथा स्वभावके होनेपर भी चलायमान होकर शरणमें आते हैं, वह अजेय योद्धा है । युद्धमें अनेकोंको मारनेवाला वीर नहीं, परंतु जिसका स्वभाव दूसरोंके स्वभावसे चलायमान नहीं होता, वह वीर है ।

जगत्के प्राणी-पदार्थोंके प्रसङ्गमें इन्द्रियोंके द्वारा जिसके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह निर्बल है ।

अपने स्वभावको डिगाना नहीं यानी स्वयं अपने स्वभावको बदलना नहीं, ऐसी बात नहीं है । चित्तका मूल स्वभाव शान्त है । आत्मा आनन्दमय है । चित्तके मूल स्वभावपर अशान्तिका स्वभाव जम गया है, उसको निकालकर मूल स्वभावमें आ जाना और उससे विचलित न होना, इसका नाम 'अजित स्वभाव' है ।

जिस प्रकार शत्रु जब किलेपर घेरा डालकर आक्रमण करता है, तब राजा अपने किलेकी निर्बलता दूर करके उसे मजबूत बनाता है । वैसे ही जगत्में जीवन व्यतीत करते हुए मुमुक्षु पुरुष अपने स्वभावकी त्रुटियोंको निकालकर उसे मजबूत बनाता है । जो किसीके कैसे भी स्वभावसे क्षुब्ध नहीं होता और जो

अपने स्वभावको नित्य शान्तिमें ही रहनेकी व्यवस्था कर ले, वही सुखी होता है । चित्तकी आत्यन्तिक शान्ति ही सुख है । चित्तकी आत्यन्तिक शान्तिका नाम ही आनन्द है, यही मुक्ति है ।

प्राणी पदार्थोंके विचित्र स्वभावका नाम ही जगत् है । विचित्र स्वभाव न हो तो यह जगत् ही न बने । हमसे प्रतिकूल स्वभावके जितने हैं, उनका नाश करनेकी अपनेमें सामर्थ्य हो और हम उनका नाश करने लगें तो इस जगत्में एक भी वस्तु बाकी नहीं रह सकती । स्वयं हमारा मन भी किसी समय हमें प्रतिकूल लग सकता है । यानी हमको सर्वथा अनुकूल तो अपना आप ही लगता है । इसलिये जो उससे प्रतिकूल हों उन सबसे द्वेष और उनके नाशकी जो इच्छा करता है, वह कभी सुख पाता ही नहीं ।

विरोधीका जो बुरा चाहता है, उसके सोचनेसे पहले ही उसका अपना बुरा हो जाता है ।

संसारमें सहन न होने योग्य स्वभावसे जब भेंट होती है, तब मुमुक्षुको इस प्रकार कहना चाहिये कि 'हे भगवन् ! इसका भला करना । इसको सद्बुद्धि देना ।' फिर भी यदि विशेष आकुलता हो तो यों कहे कि 'हे प्रभु ! मेरे स्वभावको शान्त कर, मजबूत कर, कभी क्षुब्ध न हो सके ऐसा बना दे ।' विरोधीका बुरा करनेमें, बुरा चाहनेमें अपना कोई भी लाभ नहीं होता, उलटी हानि होती है । संसारमें कोई न हो और हम अकेले ही रहें तो एक सेकंड भी जी नहीं सकते । प्राणी-पदार्थ हैं । इसीसे जगत् रम्य लगता है, नहीं तो, भयंकर श्मशान लगता । जगत्में हम अकेले ही सुखी, समृद्धिमान् और साधनसम्पन्न होंगे और शेष सब लोग कंगाल होंगे तो हम एक सेकंड भी न सो सकेंगे, न कुछ खा सकेंगे, न कोई आराम, सुख या आनन्द ही भोग सकेंगे । जगत्के प्राणियोंकी भूख हमें खा जायगी !

संसारमें जैसे सज्जनकी आवश्यकता है, वैसे ही दुर्जनकी भी है । दूधकी जैसे जरूरत है, वैसे ही जहरकी है । जिस परिमाणमें जिसकी, जहाँ जरूरत है, उसी परिमाणमें ईश्वर उसको वहाँ रखता है । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि हमें जगत्में दुर्जनोंका सुधार नहीं करना है । बात यह है कि उनसे अपने स्वभावको दुखी नहीं करना है । हमको तो वह काम करना है जिससे हमारा चित्त चलायमान न हो । अकुलाहट ही दुःख है और शान्ति ही सुख है । एक आदमी अपने घरसे दूसरे गाँव जानेके लिये निकला, वह यदि रास्तेमें जो प्राणी या पदार्थ उसको मिलें, सबका सामना करता यानी सबसे भिड़ता हुआ ही जायगा तो गन्तव्य स्थानपर कैसे पहुँचेगा । रास्तेमें सामने कोई मिले तो उसके लिये रास्ता छोड़ दे या वह रास्ता दे दे, तभी रास्ता कट सकता है । जीवात्माका ध्येय परमात्मा है । उसको प्राप्त करनेके मार्गमें जो प्राणी या पदार्थ मिलें, उन सबसे भिड़ता ही रहेगा तो उसे परमात्मा कैसे मिलेगा ? इसीलिये जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि परमात्माको लक्ष्य रखकर बाधा न पड़े, इस दृष्टिसे पल-पल मार्गपर अग्रसर होता चला जाय । यदि बीचमें किसीका विरोध करनेमें लग गये तो बस, फँस गये । सबके स्वभावको अपने स्वभावके अनुकूल बनानेकी एक ही कुंजी है और वह यह है कि विरोधीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा कभी न रक्खे । प्राणी और पदार्थ सुख देंगे तब मैं सुखी होऊँगा, यह आशा छोड़ दे । हम स्वयं सुखी हैं । दूसरे लोगोंसे सुखकी आशा करनेसे ही दुखी होते हैं । आशा ही दुःखका मूल है । आशाके ही कारण विरोधीका स्वभाव हमें अच्छा नहीं लगता । विषम जान पड़नेवाले स्वभावकी भी जगत्में जरूरत है । जिस वस्तुकी हमें जरूरत नहीं है, उसकी जरूरत जगत्में किसीको न होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता । हम अपने जीवनमें कभी अफीम नहीं खाते, इससे यह नहीं कह सकते कि अफीमकी जरूरत जगत्में नहीं है ।

इसलिये इसी प्रमाणसे जीवित प्राणियोंके साथ भी मेल करना चाहिये ।

जिसकी सबके साथ बनती है, जो सबके साथ आनन्दसे रह सकता है और अविकारी रहता है, उसका ही नाम 'जीवन्मुक्त' है । ज्ञान, ध्यान, तप, भक्ति, व्रत, जप, तीर्थयात्रा, दान, सेवा, कर्म—इन सबके द्वारा प्राप्त यही करना है कि चाहे-जैसे स्वभावके प्राणी-पदार्थसे भी सम्बन्ध हो, पर अपने आनन्द और शान्तिमें जरा भी कमी न आने पाये। चित्त चलायमान हो ही नहीं। चित्तको परमात्माके ध्यानसे छुड़ानेमें जब जगत्के प्राणी-पदार्थोंका स्वभाव निमित्त न हो, तभी समझना चाहिये कि ज्ञानका उदय हुआ है । जो बहुत घबराता है, वह निर्बल है । जिसको शीघ्र विकार होता है वह हारता है । जिसके चित्तको काम, क्रोध, भय, चिन्ता आदि कभी चलायमान नहीं करते, वह मुक्त है ।

जड-चेतन सृष्टि परमात्माकी लीला है। जीवके विहारके लिये है, आनन्दके लिये है । फिर भी इसमें ममता और आसक्ति करनेसे, इससे सुखकी इच्छा रखनेसे जीव दुखी होता है ।

हर हालतमें, प्रत्येक संयोगमें जिसका आनन्द, जिसकी शान्ति कभी क्षोभको प्राप्त नहीं होती, उसीका नाम 'मुक्त' है ।

हरिः ॐ तत्सत्

कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ?

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

एक महोदय लिखते हैं, 'मैंने आपके अनेक लेख और पुस्तकें पढ़ी हैं, पर एक चीज मेरे दिलमें हमेशा यह खटकती रहती है कि बेईमानी क्यों फलती-फूलती है । आप कहते हैं—'लक्ष्मी उसीकी दासी है, जो ईमानदारीसे व्यापार या सच्चे मनसे परिश्रम करते हैं ।' मैं परिश्रम करता हूँ, सदा ईमानदार रहता हूँ पर इन दोनोंके बावजूद न मुझे लक्ष्मी मिली है और न शान्ति ही, सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं हुई । आखिर बतलाइये मैं अब क्या करूँ ? ईमानदारीके रास्तेमें भूख, विवशता, गरीबी है । परिश्रम और ईमानदारीसे काम कर-करके मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया और साथ ही लक्ष्मीकी कृपा भी ! अब प्रार्थना यह है कि मेरी गुत्थी सुलझा दें कि चोरी, बेईमानी, कालाबाज़ार, रिश्वत, घूसखोरी और दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेसे क्यों महल खड़े होते जाते हैं और इसके विपरीत सच्चे मजदूर, नेकनीयत इन्सान और ईमानदारको क्यों दाने-दानेके लिये तरसना पड़ता है ? किसको सच्चा मानूँ ? आपके लेखोंको या समाजके इस उत्थान-पतनको ?'

ईमानका सम्बन्ध मनुष्यके गुप्त मनसे है। हमारी अन्तरात्मा जिस कार्यको उचित कहती है या स्वीकार करती है, उस आचरणको करनेवाला ईमानदार कहलाता है। ईमानदारीसे कार्य करनेमें हमें अंदरसे ही एक गुप्त शान्ति और संतोषका अनुभव होता है । इसके विपरीत आत्माका हनन कर बेईमानीसे कार्य करनेपर हमारा गुप्त मन हमें अंदर-ही-अंदर कचोटता रहता है । हमें शान्ति नहीं मिलती । हमेशा यह गुप्त भय रहता है कि हमारी बेईमानी या चोरी किसीको किसी दिन किसी भी अवसरपर प्रकट न हो जाय । जैसे जलसे शरीर शुद्ध होता है, सत्याचरणसे मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं ।

हनन की हुई आत्मा ही हमें बेईमानीकी ओर जाने देती है और दुष्कर्म कराती है । असत्य या बेईमानीके कार्यद्वारा असत्य कार्य करने, रिश्वत, घूस, चोरबाजार आदि चोरियाँ करनेसे धीरे-धीरे हमारी अन्तरात्मा मर जाती है । हनन की हुई आत्मामें सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता । अतः बहुत-से व्यक्ति चोरी करते हुए भी बाहरसे संतुष्ट-से प्रतीत होते

हैं, पर बुरे कार्योंकी सूक्ष्म रेखाएँ अन्तश्चेतनाके ऊपर अंकित होती रहती हैं और मनपर सदा आघात करती हैं। एक-न-एक दिन पाप प्रकट होता ही है और करनी-का फल मिलता ही है।

ईमानदारीके मार्गके साथ आपको आत्माकी दैवी शक्तियोंका भी सहयोग मिलता रहेगा। सच्चे व्यक्तिको कभी किसी गुप्त भेदके प्रकट होनेका कोई भय नहीं रहता। वह तो खरा है। चाहे किसी कसौटीपर चढ़ा लीजिये, सदैव चमकता ही रहेगा। सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप आत्मा इसीलिये इस भूमण्डलपर भेजा गया है कि वह सत्यका ही व्यवहार करे, असत्य या झूठके अन्धकारसे बचा रहे। जो व्यक्ति यह समझता है कि बेईमानीसे लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर बढ़ता रहेगा, वह वास्तवमें बड़ी भूल करता है। बेईमानी, चोरी, रिश्वत तो एक प्रकारकी अग्नि है। वह कब छिपती है ? उसे चाहे सौ कपड़ोंमें लपेटकर रक्खा जाय, एक-न-एक समय कपड़ोंको जलाकर प्रकट हो ही जाती है। ईश्वरने आपको 'सत्यं शिवं सुन्दरं'से युक्त आत्मा (अर्थात् अपना दिव्य अंश) इसीलिये दिया है कि आप असत्यसे बच-कर सत्यके, ईमानदारीके, प्रकाशके मार्गको ही ग्रहण करें।

बेईमानी चार दिन ही फलती-फूलती-सी दीखती है। वास्तवमें वह अवनतिका ही रूप होती है। दीपक जब बुझनेको होता है, तब तेजीसे चमककर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार बेईमानकी दौलतसे, रिश्वतके धनसे घर-परिवार क्षणभरके लिये समृद्ध प्रतीत होते हैं; पर चोरीके प्रकट होते ही वे ऐसे गहरे खड्डेमें गिर पड़ते हैं जिससे निकलना असम्भव हो जाता है। वे दीर्घकाल-तक असत्यके अन्धकारमें भटकते रहते हैं। अतः पहलेसे ही ईमानपर टिके रहनेका व्रत ले लेना चाहिये।

बेईमानीकी दौलत उसीके साथ नष्ट हो जाती है। क्या आपने किसी बेईमानकी संतानको फलते-फूलते देखा है ? अगर बेईमान फलते-फूलते रहते, तो इस संसारमें सभी बेईमानी, ठगी और चोरीपर आ जाते। सत्य संसारसे लुप्त हो जाता, केवल पाप ही रहते। चोरों, ठगों, डकैतों और राक्षसोंका नित्य राज्य हो जाता। हमारा समाज निठल्ले कामचोरोंसे भर जाता। पर ईश्वरका नियम ही कुछ ऐसा है कि सच्चे और ईमानदार गरीब होकर भी पूजे जाते हैं; झूठे और बेईमान अमीर होकर भी तिरस्कृत होते हैं। चोरकी झोपड़ीपर कभी फूँसतक नहीं रहता।

ईमानदारीके एक पैसेमें बेईमानीके लाख रुपयेसे अधिक बल है; क्योंकि वह स्थायी है। उस पैसेके साथ सत्कर्मका गौरव जुड़ा हुआ है।

आप सत्यके यात्री हैं। सत्य-स्वरूप आत्मा हैं। झूठ और मिथ्याचारके सुहावने दीखनेवाले भयानक जंगलों-में मत भटकिये। ईमानदारीकी सूखी रोटियाँ खाते रहिये, तो स्वस्थ रहेंगे। बेईमानीका हलुआ-पूरी आपका स्वास्थ्य नष्ट कर देगा। अधर्मसे धन जमा करके सम्पत्तिशाली बननेकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मनुष्य सत्य आचरण करता हुआ गरीब बना रहे। जो पैसा दूसरेको रुलाते हुए हड़प लिया जाता है, वह लेनेवालेको नष्ट करके ही विदा होता है।

सत्यता और ईमानदारी धर्मात्मा मनुष्यके भूषण हैं। ये ईश्वरकी सत्ताके द्योतक हैं। प्राणान्त होनेपर भी इन दिव्य गुणोंका ह्रास मत होने दीजिये।

यदि हमारी आजीविका झूठ, अन्याय, छल, कपटसे कमायी हुई है, तो उसपर पलनेवाली हमारी संतान भी उसका उपयोग करनेपर अधिकाधिक अन्याय, झूठ और धूर्तताकी ओर प्रवृत्त होती जायगी और हमारी आनेवाली पीढ़ीको भी दुखी बना डालेगी। अतएव सत्य आचरण और खरे पसीनेकी कमाईसे ही शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। जिसे कमाते और खाते दुनियाके किसी व्यक्तिके सामने आँखें

नीची न करनी पड़ें, वही ईमानदारीकी कमाई है। यह हमें आत्मनिर्भर रहना सिखाती है और स्वाभिमानकी वृद्धि करती है।

एक विद्वान्‌के ये वचन सदा स्मरण रखने योग्य हैं, 'तुम्हारा मन जब ईमानदारीको छोड़कर बेईमानीकी ओर चलने लगे, तब समझना चाहिये कि अब तुम्हारा सर्वनाश निकट आनेवाला है। बेईमानीसे पैसा मिल सकता है, पर देखो, सावधान रहना। उस पैसेको छूना मत! क्योंकि वह आगकी तरह चमकीला तो है, पर छूनेपर जलाये बिना नहीं रहता। ईमानदारीसे चाहे थोड़ी ही सम्पत्ति भले ही कमायी जाय, पर वह पीढ़ियोंतक कायम रहेगी और बढ़ती रहेगी, जब कि बेईमानीके विशाल वृक्ष एक ही झोंकेमें उखड़कर गिर जाते हैं। एक दिन वह अवश्य उन्नति करेगा, जो दूसरोंके लाभको अपने ही लाभकी तरह देखेगा। यह मत समझो कि ईमानदारको भोंदू और अकर्मण्य समझा जायगा। मूर्ख ही ऐसा ख्याल कर सकते हैं। विवेकवानोंकी दृष्टिमें न्यायशील और ईमानदार आदमी ही बड़ा समझा जायगा, फिर चाहे वह गरीब ही क्यों न हो।'

सहज सनेही श्रीराम

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रेमका स्वरूप

कहा जाता है—शुद्ध प्रेम साक्षात् परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥

अर्थात्—शुद्धरसरूप परमानन्दकन्द परमात्मा ही भावुकके द्रवीभूत हृदयपर अभिव्यक्त होकर प्रेम पदसे निर्दिष्ट होता है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार भी कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वलहरी ४।१)

श्रीराघवचैतन्यने भगवान् श्रीकृष्णको पुञ्जीभूत (गोपियोंका) प्रेम कहा है—'पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानाम्।'

इसी कारण नारदजीने प्रेमके स्वरूपको अनिर्वचनीय बतलाया है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूम्।' (नारदभक्तिसूत्र ५१)

अपनी 'प्रेमवटिका'में रसखानने भी प्रेमको भगवान्‌का ही रूप कहा है—

प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेम **स्वरूप**।
एक होय दोउ यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥

कवि सत्यनारायण कहते हैं—

परमेसुरमय प्रेम, प्रेममय नित परमेसुर।

प्रेमका लक्षण

नीतिग्रन्थोंमें देना, लेना, गुप्त बातें कहना, पूछना भोजन करना, भोजन कराना—ये अनुरागके, प्रेमके छः लक्षण बतलाये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

(हितो० पंच० २। ५१, ४। १३)

किंतु ये लौकिक अनुरागके बाह्य लक्षण हैं। लोकोत्तर प्रीतिके लक्षण बतलाते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि वह तो गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्द्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर और केवल अनुभवरूप होता है—

'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।' (नारदभक्ति० ५४)

किसीने मानो इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए कहा है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतां लाघवम्॥

'जिस प्रेमदेवताने उत्पन्न होनेके समय अल्प कारणकी भी अपेक्षा नहीं की (अर्थात् जो अकारण, बिना किसी गुण-दर्शन या उपकारादि किये ही उत्पन्न हुआ), जो प्रेमास्पदके सहस्रों अपराधोंसे भी तनिक न्यून नहीं हुआ, जिसमें कभी भी शिथिलता नहीं आयी अपितु जो प्रतिपल बढ़ता ही गया, प्रेमीके

सैकड़ों नमस्कार करनेसे भी जिसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वृद्धि आदिकी कोई बात नहीं होती, जो अमृतसे भी अधिक मधुर तथा त्रिलोकीके संकटोंको दूर भगानेवाला है, उस परम महान् प्रेमदेवताको जीभपर लाकर, अपने मुँहसे प्रकट कर उसकी लघुता क्यों करूँ ?'

एक दूसरा कवि तो यहाँतक कहता है कि जो प्रेम मुँहपर लाया जायगा, वह लघु होनेके साथ समाप्त भी हो सकता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति ।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति ॥

इसीलिये नारदजी इसे मुँहसे कहनेकी नहीं गूँगेके गुड़की तरह, मन-ही-मन स्वाद लेनेकी वस्तु बतलाया है—

स तु मूकास्वादनवत् ।

प्रेमका परिणाम

कहते हैं, जब प्रेमदेवताकी भावुकके हृदयपर अभिव्यक्ति होती है, तब जो दशा जन्मभर भोगसाधनामें तल्लीन प्राणीकी नहीं होती, जो चित्तैकाग्र्य, समाधियोगारूढको सुलभ नहीं, वह अनिर्वचनीय सिद्धि न चाहते हुए भी प्रेमीको मिल जाती है—लाख निकालनेपर भी वह वस्तु हृदयसे नहीं निकलती । कवि कर्णपूर गोस्वामी कहते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षसे ॥

(आनन्दवृन्दा० चम्पू)

लाख सिर मारकर विषयोंसे मन हटाकर भोगी क्षणभरके लिये भी जिसे अपने हृदयमें देखना चाहता है, यह मुग्धा बाला उसीको जीसे निकालनेके लिये ताबरतोड़ प्रयत्न कर रही है !

मधुसूदन स्वामी भी इसीसे तंग आ रहे हैं—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात्स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

क्लेशे क्रमात् पञ्च विधे क्षयंगते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥
अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

परिणामतः उसे सारे विश्वमें अद्वैतका ही दर्शन होता है; दशों दिशाओंमें, वन, पर्वत-शिखर, नदी, नद, समुद्र एवं आकाशमें, आगे-पीछे, सर्वत्र उसे एकमात्र अपना प्रियतम ही दिखलायी पड़ता है । न दूसरी उसे चिन्ता होती है, न वह चेष्टा करनेपर भी अपने शरीरके उपकरणोंको ही सँभाल सकता है । उसका नशा तो मदिरामदान्धको भी मात कर देता है —

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥

(श्रीमद्भा० १ । ६ । १८)

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

प्रेमका अवस्थान

पर प्रेमतत्त्ववेत्ताओंका कहना है कि इस मानुष लोकमें कैतवरहित निश्छल प्रेमका अवस्थान असम्भव है । यदि वह होता तो वियोग सम्भव नहीं था; क्योंकि अतिशय प्रेममें तो प्रेमीको प्रेमास्पदके साथ रहनेमें भी उसके वियोगका भान होता है और यदि वियुक्त हो जाय तो जीवन-धारण कैसे हो सकता है—

कैतवरहितं प्रेम न भवति मानुषे लोके ।
यदि स्यात् कस्य विरहः सति विरहे को जीवति ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार तो यहाँके लोग मक्खी (गंदे विषयोंमें लिपटे हुए), काक (परनिन्दारूपी मलभोजी), उल्लू (भगवान्‌की ओरसे नेत्र मूँदे), बगुला (दम्भी) और मेढक-जैसे (अपसिद्धान्तोंकी रट लगानेवाले

तथा व्यर्थका बकवाद करनेवाले) ही हैं, विशेषकर कलियुगमें तो अधिकांश ऐसे ही हैं और जो भले कहे जाते हैं, वे भी तोते (अच्छे पर पलमें प्रेम तोड़कर भाग जानेवाले), कोयल (बोलनेमें मधुर, पर स्वार्थी) तथा मोरके सदृश (देखनेमें सुन्दर, पर हृदय बड़ा कठोर—खाहिं महा अहि हृदय कठोरा—) हैं । सारांश इनमेंसे कोई भी प्रेमके योग्य नहीं है । मित्र, कलत्र, पुत्रोंका प्रेम भी क्षणिक तथा स्वार्थमय ही है, अन्तमें ये भी छोड़ देते हैं—'अंतहु तोहिं तजेंगे पामर ।' और जन्मांन्तरोंमें तो न जाने कितनी अलग-अलग पत्नियाँ, पुत्र, मित्र आदि होते हैं । (जब वे इसी जन्ममें कोई साथ नहीं देते, तब जन्मान्तरका कैसा प्रश्न ? अब तो तलाक कानून पास हो जानेसे यहीं बीसों परिवर्तन हो सकेंगे ।)

'कति नाम सुता न लालिताः
कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क नु ते क नु ताः क वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः ॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य मे कस्य वा वयम् ॥

(महा० शां० २८ । २८; वारा० पु० १८८ । ९८)

गृह, बनिता, सुत, बंधु भए बहु, मातु-पिता जिन्ह जायो ॥

(विनय० १९९)

'जननी-जनकादि हितू भए भूरि, बहोरि भई उर की जरनी ॥

(कवि० उत्तर० ३२)

अतएव इन परम स्वार्थी, तुच्छाशय, अल्पसत्त्व, चलच्चित्त, कलत्र-मित्रोंको तो महाकुसमाज एवं दयाका ही पात्र समझना चाहिये—

सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे ।

प्रेमियोंका उत्कर्ष

अतः भगवान् प्रेमका समुचित अवस्थान भगवान्में ही देखा जाता है । भगवान् शङ्करने अपनेको अर्धनारीश्वरका ही रूप दे दिया । पराम्बा सतीने शङ्करजीके प्रेममें अन्तर देख अपने प्रेमको शुद्ध करनेके लिये उस देहको तुरंत छोड़ दिया और वर माँगा कि मैं जहाँ कहीं भी जनमूँ, त्र्यम्बककी ही पत्नी होऊँ ।

येनाहमपदेहा वै पुनर्देहेन भास्वता ।
तत्राप्यहमसम्मूढा सम्भूता धार्मिकी पुनः ॥
गच्छेयं धर्मपत्नीत्वं त्र्यम्बकस्यैव धीमतः ॥

(ब्रह्मपुराण ३४ । २३)

सती मरत हरि सन बर माँगा । जनम जनम सिव पद अनुरागा ॥
जनम कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु न त रहौं कुआँरी ॥

वैसे ही पराम्बा सीताका प्रेम भगवान् राममें देखा गया है—

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ॥

वे कहती हैं कि आपके साथ रहना ही स्वर्ग तथा आपका वियोग ही घोर नरक है—

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।

(वाल्मीकि० २ । ३९ । १८)

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाकिशोरीकी प्रीति अचिन्त्य है । श्रीराधिकाके उष्णदुग्धपानसे श्रीकृष्णके पदतलोंमें फफोले उठ आते हैं । तात्पर्य यह कि प्रेमकी पूर्ण अभिव्यक्ति इन परा शक्तियों तथा शक्तिमानोंमें ही होती है ।

राघवेन्द्रका स्नेह

पूज्य गोस्वामीजीके शब्दोंमें विशुद्ध पवित्र स्वाभाविक स्नेहकी प्रतिष्ठा भगवान् राघवेन्द्रमें ही हुई है । वे कहते हैं—एकमात्र कोसलपाल राघवेन्द्र श्रीरामभद्रजी महाराज ही सच्चे स्नेही हैं—

'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल ।'

(विनय० १९१)

प्रीतिकी रीति, प्रेमका अद्भुत रहस्य जाननेवाला तथा उसे पालन करनेवाला उनके समान अन्य कोई कहीं नहीं—

'प्रेम कनोड़ो राम सो नहिं दूसरो दयालु ।'
'जानत प्रीति रीति रघुराई'
राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है ।

प्रेमका ठीक-ठीक निर्वाह करनेवाला, अनुदिन विधिपूर्वक रक्षण-वर्द्धन करनेवाला श्रीराजराजेन्द्र रामभद्रके सदृश दूसरा कदापि कथमपि कहीं नहीं है—

कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार ।

(विनय० १९० । ४)

कहा जाता है स्नेह-निर्वाहमें महाराज दशरथजीका भी नाम बहुत आगे है । उन्होंने श्रीरामभद्रके स्नेहमें पड़कर विरह-व्यथासे प्राणोंका ही विसर्जन कर दिया—'तनु परिहरेउ

प्रेम बिरहागी ।' इस तरह प्रेमियोंके इतिहासमें उनकी कीर्ति अचल अमिट हो गयी—

नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।

तथापि भगवान् तो प्रेमीके सामने सारे सम्बन्धियोंको भूल जाते हैं, उनको ससीम कर देते हैं। घर, ससुराल, मित्रों, सम्बन्धियोंके प्रीति-भोजोंकी एक बार भी प्रशंसा न की। सर्वत्र शबरीके बेरोंके स्वादकी ही प्रशंसा की—

घर गुरु गृह प्रियसदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई ।
तहँ तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥

इसी प्रकार गीधराज जटायुने जब स्नेहके कारण सीता-रक्षणमें प्राणोंका विसर्जन कर दिया, तब ये कहने लगे—

सुनहु लखन खगपतिहिं मिले बन, मैं पितु मरन न जान्यौ ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यौ ॥
(गीता०)

और उसकी पितातुल्य विधिवत् दाह-श्राद्धादि क्रियाएँ कीं। रामायण-चम्पूकार भोजराज लिखते हैं, नयनाश्रु-मिश्रित श्रीरामके हाथोंका दिया हुआ पितृ-तर्पणसम्बन्धी जल जो महाराज दशरथको भी दुर्लभ रहा, गृध्रराजने प्राप्त किया। उन्हें शरभंग-जैसी गति मिली—

स्वयमपि शरभङ्गस्वीकृतां भङ्गहीनां
सपदि गतिमवाप्तः संहृतायुर्जटायुः ।
नयनसलिलमिश्रं रामहस्तेन दत्तं
दशरथदुरवापं प्राप नैवापमम्भः ॥
(चम्पूरामायणम्, अरण्य० ८४)

जिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी ।
जनक-समान क्रिया ताकी करि नहिं कुल जाति बिचारी ॥
(विनय० १६६)

गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यौ हिंसा सानि ।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥
(विनय २१५)

मोसे कूर कायर कपूत कौड़ी आध के ।
किये बहुमोल तैं करैया गीध-स्राध के ॥
(विनय० १७९)

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ।
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥
(वाल्मीकि० अरण्य० ६८ । ६५)

ज्ञात्वा तं योजयामास वह्निना जीवितक्षये ।
तत्तुष्ट्यर्थं वन्यमांसं क्षिप्त्वा स्नात्वा रघूत्तमः ॥
(आनन्दरामा० सार ७ । ३६)

लक्ष्मणेन समानाय्य काष्ठानि प्रददाह तम् ॥
स्नात्वा दुःखेन रामोऽपि लक्ष्मणेन समन्वितः ।
.................तृप्तो भवतु पक्षिराट् ॥
(अध्यात्म० अरण्य० ३७ । ४०)

यद्यपि रघुनन्दन पितृभक्तिमें सबसे आगे हैं और उन्होंने कहा था—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
(वा० २ । १८ । २८)

'मैं पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता, विष खा सकता तथा समुद्रमें भी गिर सकता हूँ', तथापि गीधके प्रति तो उन्होंने विचित्र ही स्नेह-पालन किया—

'दशरथदुरवापं प्राप नैवापमम्भः ।'

ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ।

उसकी अपनी हाथों क्रिया की और मोक्ष भी दे दिया।

भला, जो एक गीधके साथ इस तरह प्रेमका निर्वाह कर सकता है, वह अन्य मित्रोंकी उपेक्षा क्यों करेगा ? सुग्रीवकी दीन दशा देखकर आप अपना पत्नीवियोग भूल गये, तुरंत उन्हें राज्यारूढ़ किया और उनकी सारी सुख-सुविधाएँ लौटा कर ही दम लिया । युद्धस्थलमें जब लक्ष्मणजी मूर्च्छित पड़े हुए थे, तब विभीषणके लिये जो भाव आपने व्यक्त किये, वे उनके प्रति अद्भुत दृढ़ सौहार्दके परिचायक हैं—आश्चर्य! लक्ष्मण, सीता, सारी सेना तथा अपनेसे अधिक विभीषणकी ही चिन्ता है।

गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती ।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती ॥
(गीता० लंका ७ । ३)

भाई को न मोहु, छोहु सीय को न तुलसीस,
कहैं मैं बिभीषन को कछु न सबील की ।
(कविता० लंका० ५२)

तात को सोच न मात को सोच रु सोच नहीं मोहि औध तजे को,
सोच नहीं बनवास भयो, किन सोच नहीं मोहि सीय हरे को ।
लछिमन भूमि परयौ नहिं सोच, न सोच कछू मोहि लंक जरे को,
सोच भयो तुलसी इक मो कहँ भक्त बिभीषन-बाँह गहे को ॥

अधिक क्या, केवटके भी उपकारोंको वे भूल न सके, उसे मित्र कहकर पुकारनेमें उन्हें सुखका अनुभव होता रहा । वानरोंको भी अपना मित्र बतलाया, भोजोंमें उन्हें साथ बिठलाया—

'केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ।'
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहि सुमिरत हानि ।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि ॥
(विनय० २१५ । ६)

तैर्यद् विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥
(श्रीमद्भा० ५ । १९ । ७)

ये कपि सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर सागर कहँ बेरे ॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे । भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ॥

हनुमान्‌जीके तो 'रिनियाँ' ही बन गये—

'शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ।'
(वाल्मीकि० उत्तर० ४० । २३, अध्यात्म० ५ । ५ । ६०)

सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं । करि बिचारि देखेउँ मन माहीं ॥

'तेरो रिनी' हौं कह्यौ कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ।
कपि-सेवा-बस भये कनोड़े, कह्यौ पवनसुत आउ ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ ॥
(विनय० १०० । ७)

अयोध्यावासी मित्र तो उनके इतने अनुरागी हो गये कि जन्म-जन्ममें उनका साथ तथा स्नेह चाहते हैं—

बालसखा सुनि हिय हरषाहीं । मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं ॥
को रघुबीर सरिस संसारा । सील सनेहु निबाहनिहारा ॥
जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं । तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं ॥
सेवक हम स्वामी सिय नाहू । होउ नात यह ओर निबाहू ॥

जनकपुरके भी किशोर बालक तुरंत प्रभावित होकर इनसे मैत्री जोड़ लेते हैं । इन्हें छू-छूकर, अपना घर दिखा-दिखाकर अचिन्त्य, अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना । सादर प्रभुहि देखावहिं रचना ॥

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात ।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात ॥

सिसु सब राम प्रेमबस जाने । प्रीति समेत निकेत बखाने ॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई । सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ॥

लव निमेष महँ भुवन निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥
भगति हेतु सोइ दीनदयाला । चितवत चकित धनुष मख साला ॥

किंतु भगवान् रामकी प्रीति शुद्ध तथा पहली कोटिकी इसलिये कही जाती है कि वे दीनोंसे, नारकी जीवोंसे, [illegible] संकटग्रस्तोंसे भी अपार प्रेम करते हैं—

'दास तुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति ।'
(विनय० २१६)

'श्रीरघुबीर की यह बानि ।
नीचहू सों करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि ॥'
(विनय० २१५)

इधरके लोग स्वार्थके मित्र हैं, वे तो दुखियोंसे किनारे ही रहते हैं । वे लाख गिड़गिड़ायें, रोयें, पर कौन सुनता है—

..............................स्वारथहि के मीत ।
कबहु काहु न राख लियो कोउ सरन गयउ समीत ॥
(विनय० २१६)

विपत्तियोंकी जड़

सुतरां ऐसे कृपालुसे, प्रेम-परवशसे जो प्रेम न कर संसारी, अल्पसत्त्व, चलचित्तोंसे प्रेम करेगा, उसे भव-भाजन होना, संसृति-यातनामें पड़ना, घोर घाटेमें जाना क्या आश्चर्यकर है ?

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह ।
तातें भव भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह ॥

स्वार्थके ये कलत्र, पुत्र, मित्रादि साथी तो [illegible] खली छोड़कर केवल रस ही निकालेंगे......।

'ये मातु पिता सुत नारि...खरि परिहरि रस लेत ।'

विवेकके नेत्रोंसे देखनेपर तो प्रभु ही एकमात्र हितैषी हैं—

—'तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिय की आँखिन हेरि ।'

और मनुष्यदेहकी प्रशंसा तो केवल उतने ही अंशोंतक है, जितने अंशोंमें श्रीरघुनाथजीसे प्रीति है—

'मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के ।'

यदि वह नहीं है तो संत, देवताओंकी नजरमें मनुष्य शरीर भी खर, कूकर, शूकरवत् ही है—

जो अनुराग न राम सनेही सों । तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों ॥
'तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं ॥'

सारी विपत्तियाँ केवल इसीलिये हैं कि सहज सनेही राजराजेन्द्र राघवेन्द्रमें प्रीति नहीं है—

नाहि न चरन रति ताहि तें सहौं बिपति,
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर ।

'मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति स्रुति संदेह निबेरो ।'

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य ।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुः.......................... ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १५ । २८)

'नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।'
(श्रीमद्भा० ४ । ८ । २३)

'तुलसीदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ ।'

अवनि, रमणी, मित्र, धन, धामको अपनानेकी बहुतोंने चेष्टा की; पर ये किसके-किसके साथ गये ? सभीने खूब धोखा खाया—

अवनि-रवनि-धन-धाम-सुहृद-सुत को न इनहि अपनायो?
काके भए, गये सँग काके, सब सनेह छल-छायो ॥
(विनय० २००)

उपसंहार

तथापि प्रभो ! इन सब बातोंको जानते, पढ़ते, मनन करते हुए भी जन्म-जन्मके दुस्स्वभाववश आपकी सच्ची प्रीति नहीं मिली । तौलनेपर संसारी जनोंका ही स्नेह भारी होता है । जितना यह मन सहज ही तत्-तद् वस्तुओं तथा व्यक्तियोंमें आसक्त है, उसका शतांश भी आपमें लगा होता तो भी एक बात थी और यदि वैसा ही सहज अनुराग होता, तब तो जन्म ही सफल हो जाता, आप प्रसन्न ही हो जाते ।

जो मन लागै राम चरन अस ।
देह, गेह, सुत, बित, कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥
द्वन्द्वरहित गतमान ग्यानरत बिषय-बिरत खटाइ नाना कस ।
सुख-निधान, सुजान, कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस॥

नाथ ! आपमें, आपके चरणोंमें मेरी प्रीति नहीं है । इसका प्रबल प्रमाण तो यही है कि स्वप्नमें भी मेरे मनमें वैराग्य नहीं आता, भोगोंकी सरसता नहीं हटती और यह तो सीधी बात है कि जिनकी आपमें प्रीति होती है, वे भोगोंको रोगकी तरह छोड़ देते हैं, वमन समझकर मुँह फेर लेते हैं—

जे रघुबीर चरन अनुरागे । तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे ॥
(विनय० १२७ । २)

तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु ।
मुनि मनसहु ते लीन तपहिं लायेउ मनु ॥
(पार्वतीमंगल)

राम चरन पंकज रति जिनही । बिषय भोग बस करइ कि तिन्हही॥
रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बमन जिमि नर बड़भागी॥

पर यहाँ तो कृपामय ! बात सर्वथा विपरीत है । अनङ्ग-रूपी भुजङ्गद्वारा डँसे जानेके कारण भोगरूपी नीम कड़वी नहीं लगती । परिणाम सोचकर सोच अवश्य बढ़ रहा है । पर दयासिन्धो ! उपाय कुछ नहीं सूझता । अब तो प्रभो ! एक ही बात हो सकती है । वह यह कि आप स्वयं अपने वारिज-नेत्रोंसे शोकाश्रुसागरविशोषण, घोर त्रयतापोपशामक कृपावलोकनसे एक बार पूरी तरह इधर अवलोकन करें ।

असमंजस अस हृदय बिचारी । बढ़त सोच नित नूतन भारी ॥
जब तब राम कृपा दुख जाई । तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥

सद्वचन

(प्रेषक—'बन्धु')

एक बहिनने कहा—'मैं प्रार्थना करती थी; अब छोड़ दी है ।' मैंने पूछा—'क्यों ?' उसने उत्तर दिया—'क्योंकि मैं दिलको धोखा देती थी ।' उत्तर तो ठीक ही है; लेकिन धोखा देना छोड़े, प्रार्थना क्यों छोड़े ?

—महात्मा गाँधी

रूपदर्शन

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०)

माया और ब्रह्म—इन दोनोंका भेदाभेद-सम्बन्ध-तत्त्व सभी दार्शनिकोंकी मूल भित्ति है। पाश्चात्त्य दार्शनिक इस तत्त्वको कभी परिस्फुट रूपसे धारणा नहीं कर सके, ग्रहण नहीं कर सके। नाना दिशाओंमें भटककर अन्तमें इस द्वैताद्वैत-माया ब्रह्मके मण्डलपथकी ओर अग्रसर होनेके लिये ही सब बाध्य हुए। स्पाइनोजा, लिबनिज, कांट, हेगेल, बर्कले—सभीकी यही दशा है। वेदान्तकी माया सांख्यकी प्रकृति है। वेदान्तका अद्वितीय ब्रह्म सांख्यमें अन्तर्हित होकर असंख्य पुरुषरूपमें प्रकाशित है। गीतामें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम—इन तीनका उल्लेख है। क्षर पुरुष सर्वभूतसमष्टिका भावनात्मक नाम है। अक्षर पुरुष वेदान्तका निर्विशेष ब्रह्म है। पुरुषोत्तम, पुराणके परमपुरुष परमेश्वर ब्रह्मण्यदेव श्रीभगवान् हैं। गीताकी भाषामें वे—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

—पुरुषोत्तम सर्वस्वरूप, सर्वमय, सर्वैश्वर्य, सर्वशक्ति तथा सर्वरसपूर्ण हैं। छान्दोग्यश्रुतिकी भाषामें—'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' हैं। पुरुषोत्तम अखण्ड वस्तु हैं। भेदके बिना ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न नहीं होता। इसी कारण भेद-कल्पना करनी पड़ती है, विभाग-भावना करनी पड़ती है। पुरुषोत्तम स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति, मायाशक्ति हैं। स्वरूप-शक्तिमें वे सर्वाश्रय स्वयंरूप हैं। जीवशक्तिमें वे ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त अनन्त कोटि विश्वजीव हैं। मायाशक्तिके द्वारा वे विश्वविधान तथा जीवोंके संसारका अर्थात् जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखमय जीवनका विधान करते हैं। पुरुषोत्तमके और भी दो विभाव विश्लेषण दृष्टिसे आविष्कृत होते हैं—कालशक्ति और कर्मशक्ति। परब्रह्म प्रकृत पक्षमें पञ्च व्यूह हैं—स्वयंब्रह्म, माया, जीव, काल और कर्म। कर्मका ही नाम दैव और अदृष्ट है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।—

इसके बाद तुरंत ही फिर कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ...

इसका तात्पर्य हम 'वेदान्तसूत्र'में पाते हैं—'आत्म-कृतेः परिणामात्' (१ । ४ । २६)।

इसका प्राञ्जल निम्बार्कभाष्य—

'ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं च। कुतः? तदाऽऽत्मानं स्वयम-कुरुत इत्यात्मकृतेः × × परिणामात् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य अव्या-कृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणाममेव भवति।'

ब्रह्म ही जगत्‌का सृष्टिकर्ता है और वह स्वयं ही जगत्‌की उपादान सामग्री है। श्रुतिमें यही बात कही गयी है। वे स्वयं अपनेको सृजन करते हैं, वे अपनेको जगत्‌रूपमें परिणमित करते हैं। वे अपने शक्ति-विक्षेपके द्वारा जगत्‌के आकारको प्राप्त होते हैं, स्वरूपविक्षेपके द्वारा नहीं। वे सदा ही अव्याकृत, अविकृत रहते हैं। श्रीरूप गोस्वामीकी भाषामें 'सदास्वरूपसम्प्राप्त' रहते हैं। स्वरूपसे वे नित्य-निर्विकार हैं। मायाशक्तिके प्रभावसे अपनेको जगद्रूपमें प्रभासित करते हैं। भागवतमें है—

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु ....॥

(१० । १६ । ४७)

परब्रह्म 'विश्व' रूपमें विद्यमान हैं, 'विश्वके अन्तर्यामि'रूप में विद्यमान हैं। 'विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे'। इसके सिवा वे 'विश्वातीत'रूपमें विराजमान हैं—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

वे मायामय होकर भी मायातीत हैं, गुणातीत हैं, ब्रह्माण्डातीत हैं। श्रुति उनको अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध इत्यादि रूपमें घोषणा करके ही फिर कहती है—**'सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।'**

कठोपनिषद्‌में है—'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्' इत्यादि श्रुतिवचनोंका तात्पर्य गुणातीत परमेश्वर है, 'निखिल-कल्याणगुणरत्नाकर' भगवान् हैं। भागवत कहता है कि परमेश्वर जिस राज्यमें रहते हैं, उस राज्यमें माया नहीं—

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे
..............................॥

(२ । ९ । १०)

सत्त्व, रज, तम आदि प्राकृतिक गुणोंका कोई प्रभाव नहीं, वहाँ कालका विक्रम नहीं है।

विश्व ईश्वरका अर्थात् मायाशक्ति ब्रह्मका प्रकाशरूप है। विश्व दृश्यमान है, परंतु यही ब्रह्मका एकमात्र प्रकाश नहीं है। ब्रह्मका एक विश्वातीत प्रकाश भी है। विश्व आकाशमें अवस्थित है। ब्रह्मका अन्य प्रकाश कहाँ है? 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमामें है। इस महिमाका नाम ही परव्योम या ब्रह्मधाम है। यह तमोमयी मायाके द्वारा अस्पृष्टज्योति, अनाच्छन्न, अविद्धवर्च्चस्, अनावृतप्रकाश है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' (माण्डूक्योपनिषद् २। २)। ब्रह्माण्डसृष्टिके पूर्व स्वयं भगवान्‌ने यह आनन्दरूपमय, अमृतमय राज्य ब्रह्माको दिखलाया था।

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
संदर्शयामास परं च यत्परम्॥

यह राज्य कल्पना नहीं है, सत्य है। 'सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रम्'। छान्दोग्य-उपनिषद्के अन्तमें इस परमधामको ब्रह्मलोक कहा गया है—

'चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि।' (छा० ८। १३)।

और तैत्तिरीयोपनिषद्में है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' (२। १)।

सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ सर्वप्रकारकी काम्य वस्तुओंका उपभोग करता है वह ब्रह्मविद् भाग्यवान् व्यक्ति या भाग्यवती। सो कहाँ? निश्चय ही इस ब्रह्मलोकमें। क्योंकि ब्रह्मलोकका नाम शबल अर्थात् विचित्र काम्यपरिपूर्ण है। फिर छान्दोग्यमें है—

'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ········ तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः।' (८। १२)।

भागवतमें यह ब्रह्मलोक नारायणका 'स्वलोक' अर्थात् वैकुण्ठलोकके रूपमें पुनः-पुनः वर्णित हुआ है। २। ९०, ३। ८, ३। १५ अध्यायमें अति अपूर्व मनोरम वर्णन है। उसमें कवित्वकी पराकाष्ठा है। पाश्चात्त्य कवि जो कहते हैं कि 'सत्य ही सुन्दर है और सुन्दर ही सत्य है' इसका वह मनोज्ञ प्रमाण है। इस वर्णनमें निरुपम रूपका राज्य प्रकाशित हुआ है। किंतु इस राज्यका जो राजाधिराज अधीश्वर है, उसीके रूप, उसीके स्वरूपके विषयमें हम आगे विचार करेंगे।

परंतु उससे पहले एक बात और कहनी है। हमारा पृथिवी लोक है और प्राकृतविभावमें चन्द्र, सूर्य; नक्षत्रादि लोक सभी भूलोकके अन्तर्गत हैं। क्षितितत्त्वप्रधान है। भूलोकके बाद उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और सुरम्यतर और भी छः लोक हैं—भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। ये सभी लोक मायिक हैं अर्थात् प्राकृत ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं, अप्राकृत नहीं हैं, परव्योमके अन्तर्गत नहीं है, चिन्मय नहीं हैं। किंतु दिव्य ज्योतिर्मय हैं। देव, ऋषि, मुनि, योगीन्द्र इनमें निवास करते हैं। अप्राकृत, ब्रह्मलोक वैकुण्ठादि लोककी प्राप्तिके लिये साधना करनी पड़ती है। हम उसी आनन्द-चिन्मयलोकके विषयमें कुछ विचार करेंगे। किंतु 'ईक्षते चिन्तामयमेतमीश्वरम्'—उस चिन्तामय ईश्वरके विषयमें आगे चिन्तन करेंगे। जो 'महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः' विराजमान हैं, वे कैसे हैं?—केवल अनुभवानन्दस्वरूप है, इसका क्या अर्थ है?

वेदोपनिषद्में ब्रह्मदर्शनकी बात बार-बार कही गयी है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। ××× मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।'

(बृहदारण्यक २। ४। ५)

श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है—

'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।'

एवं,

'आत्माऽऽमनि गृह्यतेऽसौ। सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।'

(१। १४। १५)

कठोपनिषद्में है—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः।' (२। २। १३)

ब्रह्मोपनिषद्में इस बातकी नाना प्रकारसे पुनरावृत्ति हुई है। अतएव ब्रह्म निश्चय ही दर्शनीय है। जब दर्शनीय है, तब दर्शनीयतम है। यही दर्शन सब दर्शनोंका सार है।

'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।'

(श्रीमद्भा० १०। २१। ७)

श्रुति कहती है—

'सत्येनैनं तपसा अनुपश्यति।'

सत्यमें प्रतिष्ठित मनुष्य तपश्चर्याके प्रभावसे उनको देख पाता है। पुनः कहते हैं—

'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।'

(श्वेताश्वतर २। १५)

अर्थात् आत्मतत्त्व ज्ञानप्रदीपके प्रकाशसे अन्तरकी अप्राकृत दृष्टिसे ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित होता है। 'युक्तः प्रपश्येत्।' अर्थात् योगीके सिवा दूसरा कोई दर्शन नहीं कर सकता। यह योगी भक्तियोगी है; क्योंकि 'भक्त्या मामभिजानाति।' (गी० १८ । ५५) और—

'प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः××विलोकयन्ति'
(ब्रह्मसंहिता)

गीता कहती है—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'। (७ । २५)

अतएव सत्य, तप, योग और भक्ति अथवा केवल भक्तिके द्वारा आत्मा परमात्म-परब्रह्मको जान सकता है तथा देख सकता है। भागवतमें भगवान् कहते हैं—

'अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।'
(११ । ६ । २२)

चित्तवृत्तिप्रबल भक्तिहीन पुरुष मुझको नहीं देख सकता। कठोपनिषद्में एक अपूर्व सुन्दर प्रसङ्ग है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।'　　(१ । २ । २३)

प्रथम 'वृणुते'का अर्थ है, प्रार्थना करता है। 'वृणुते'का दूसरा अर्थ है, प्रकाश करता है। एषः—यह साधक जिनकी प्रार्थना करता है, उन परब्रह्म (की कृपा)के द्वारा ही साधक उनको प्राप्त करता है। परमेश्वरकी कृपाके बिना कोई उनको प्राप्त नहीं कर सकता। साधक जब उनको प्राप्त करता है, तब वे (करुणावश) अपने तनुको अर्थात् 'गोपन'रूपको उस भक्तके नयनोंमें अनावृत कर देते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि मैं सबके सामने प्रकाशित नहीं होता, परंतु भक्तको दर्शन देता हूँ 'तस्याहं न प्रणश्यामि' अर्थात् मैं उसकी दृष्टिके बहिर्भूत नहीं होता।

इस प्रकार हम उपनिषद्-साहित्यमें सर्वत्र रूपदर्शनके शुभ सूक्तोंको प्राप्त करते हैं। रामतापिनी, गोपालतापिनी, नारायण, कृष्ण, रामरहस्य आदि उपनिषदोंका मैंने नाम भी नहीं लिया है। श्रीशङ्कराचार्यके द्वारा स्वीकृत प्राचीन और प्रधान उपनिषदोंसे ही प्रमाण दिये हैं। पूर्व प्रबन्धोंमें भी यही किया है। परब्रह्म रूपवान् है, इसके शत-शत श्रुतिप्रमाण हैं। ब्रह्मसूत्र और वेदान्त जो बादरायणविरचित हैं, ये ही वेदोपनिषद्के विज्ञानतन्त्र हैं। इस विज्ञानमें ब्रह्मके रूपकी बात पुनः-पुनः उल्लिखित हुई है। नाना भावोंमें तथा नाना प्रकारसे—'रूपोपन्यासाच्च' (१ । २ । २४) ब्रह्मके विश्वरूपकी बात है। विराट् पुरुषका रूप (मुण्डक २ । १ । ४) (श्रीमद्भा० २ । १ । २६-३७)। 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' (ब्रह्मसूत्र १ । २ । ३०), इसी सूत्रका तात्पर्य भागवतमें व्यक्त हुआ है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।
(३ । ९ । ११)

भगवान् भक्तकी भावना और अनुरागके अनुरूप मनोज्ञ रूपसम्पत् प्रकट करके भक्तके ऊपर अनुग्रह करते हैं। उपर्युक्त सूत्रका भाष्य करते हुए आचार्य निम्बार्क कहते हैं—

'उपासकानामनन्यानामनुग्रहायानन्तोऽपि परमात्मा तत्तदनुरूपतया अभिव्यज्यते।'

'तदव्यक्तमाह हि'　　(३ । २ । २३)

इस सूत्रके बाद ही कहते हैं—

'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।'
(३ । २ । २४)

परब्रह्म अव्यक्तरूपमें वर्णित है, परंतु वह विशुद्ध अन्तःकरणवाले प्रसन्नचित्त भक्तयोगीकी ध्यानदृष्टिमें अभिव्यक्त होता है।

'तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।'

उसके पश्चात्—

'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्'　　(३ । २ । २५)

जैसे मेघके हटनेसे सूर्यका प्रकाश होता है, जैसे चकमक पत्थरकी रगड़से अग्निका प्रकाश होता है, वैसे ही उपर्युक्त साधनके द्वारा परमात्माका रूप प्रकाशित होता है—इत्यादि वेदान्त-सूत्रोंमें हम पुनः-पुनः ब्रह्मरूपकी स्वीकृति प्राप्त करते हैं।

निर्विशेष और निराकार भावनामें बहुतोंका अत्यन्त उग्र आग्रह होता है। ब्रह्मतत्त्वको आकाशकी अन्तहीन शून्य महिमामें मिलाकर चिन्तन करने और समझनेमें ही चित्तकी गति और प्रीति रखनेवाले पुरुष संसारमें अनेक हैं। इसके विपरीत स्वभाववाले व्यक्ति भी जगत्में अनेक हैं। वे केवल दिव्य रूपसे प्रेम करते हैं तथा उसकी कामना करते हैं। इतना ही नहीं, उनका विश्वास है कि रूपके सिवा और कुछ सत्य नहीं है। जो सत्य है, तत्त्व है, वह निश्चय ही रूपसम्पन्न है। रूप ही शुष्क विज्ञान (Scientific abstraction) में अरूप भावना,

सत्तामात्रमें पर्यवसित होता है । अरूप कल्पनामात्र है । चित्तकी चिद्वस्तु-ग्रहणकी असमर्थताका परिचायक है । वास्तविक तत्त्ववस्तुके ग्रहण करनेमें, दिव्य द्रव्यस्फुरणके अवबोधमें विशेष मानसिक शक्तिकी आवश्यकता है । प्रफुल्ल प्राणशीलता आवश्यक है । निर्मल अनुरागावेगकी आवश्यकता है । ये सब असाधारण गुण सबमें नहीं होते । शुष्क ज्ञानभावना ही बहुतोंकी चित्तवृत्तिकी मूल नीति होती है । उनके लिये रूप नहीं है, सौन्दर्य नहीं है—है केवल सत्ता । अरूप सत्ता असत्प्राय है । श्रुतिने अव्याकृत आत्मतत्त्वको भी पुनः-पुनः 'असत्' कहकर उल्लेख किया है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (श्वेताश्वतर० २।७) इत्यादि। 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।' जो व्यक्ति ब्रह्मको अरूप मानकर असत् बना डालता है, वह स्वयं असत् हो जाता है। रूपके ऊपर ही सत्ता निर्भर करती है, रूप-सम्भावनाहीन सत्ता नहीं। जो विशुद्ध-सत्त्व दीप्तप्राणवान् पुरुष हैं, वे कभी रूपानुध्यानहीन होकर रहनेकी इच्छा नहीं करते। जबतक वे ध्यान-धारणामयी साधनाके द्वारा दिव्य रूपका प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते, तबतक अन्तरके अनुराग-रससे ही प्रफुल्लरूपकी रचना कर डालते हैं । इसीसे ब्रह्मविद् महाकवि रवीन्द्रनाथ गाते हैं—

> आमि आपन मनेर माधुरी मिशाये
> तोमारे करेछि रचना ।××
> मम असीम गगनविहारी
> तुमि आमारि ये तुमि आमारि ॥
> मम हृदय रक्तरञ्जने तव
> चरण दिये छि राँगिया
> तव अधर एँकेछे सुधाविषेमिशे
> मम सुखदुःख भाँगिया ।

अर्थात् मैंने अपने मनके माधुर्यको मिलाकर तुम्हारी रचना की है । मेरे असीम गगनमें विहार करनेवाले तुम मेरे हो, तुम मेरे हो । अपने हृदयके रक्त-रञ्जनसे मैंने तुम्हारे चरणोंको रँग दिया है । तुम्हारे अधर-सुधाविंदुसे मिलकर मेरे-सुख-दुःख नष्ट हो जाते हैं ।

भागवतमें इस तत्त्वका अति मनोहर आभास है । श्रीभगवान्‌के साक्षात् रूप-वर्णनमें सनकादि मुनि कह रहे हैं—

स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
(३ । १५ । ४२)

भगवान्‌के जो निज जन हैं, उनकी सुनिर्मल धीवृत्ति भगवान्‌के रूपके सम्बन्धमें जो धारणा कल्पना करती है, वह मिथ्या नहीं है। वे अपनी कल्पित सौन्दर्यलेखाको यथासमय भगवान्‌के अङ्गमें देख पाते हैं।

उपनिषद्की रूपतत्त्वावतारणाकी किंचित् जानकारी हुई। पुराण तो रूपका साम्राज्य है। उपनिषद्की तरुण कल्पतरु-लताका पूर्ण विकास ही पुराण हैं। इसको जो अस्वीकार करते हैं वे भारतीय अध्यात्म-साधनाको ठीक नहीं समझते। श्रीमद्भागवतके रूप-विज्ञानका एक आभास यहाँ देता हूँ—ठीक उपनिषद्की व्यञ्जना-पद्धति देवकी देवीकी स्तुति है—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥
(१० । ३ । २४)

अर्थात् जो (प्रकृत-पक्षमें) रूप है उसीको (दार्शनिक लोग) अव्यक्तादि रूपमें घोषणा करते हैं। वे उसी रूपको अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, निरीह, सत्तामात्र नामसे पुकारते हैं। उसी प्रत्यक्ष प्रकट रूपवान् अपूर्व बालकाकृति ब्रह्मतत्व-माहात्म्यको सम्बोधन करके देवकी देवी कहती हैं कि 'तुम वही तत्त्व हो। तुम्हीं वह परब्रह्म हो। तुम्हीं साक्षात् विष्णु हो । तुम्हीं विश्वके अध्यात्मदीप हो।' एक बात मैं पूर्वप्रबन्धमें कह चुका हूँ। द्वितीय पुरुषावतार प्रद्युम्नके सुमनोरम नवघनश्याम रूपको देखकर ब्रह्मा प्रजापति स्तुति करते हैं—

> **नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-**
> **मानन्दरूपमविकल्पमविद्धवर्चः ।**
> **पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्**
> **भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥**
> (३ । ९ । ३)

ब्रह्मा कहते हैं—हे परम पुरुष ! यह जो तुम्हारा श्याम-सुन्दर कमनीय किशोर रूप है, यही तुम्हारा परमतम तत्त्व है। इससे ऊपर इसकी अपेक्षा निगूढ़ और कोई तत्त्व नहीं है। यह रूप ही तुम्हारा स्वरूप है । तुम आनन्दमात्र हो, तुम आनन्दमूर्ति हो, तुम अविकल्प हो, सर्वभेदविहीन, अखण्ड ज्ञानतत्त्व हो, तुम स्वयंप्रकाश हो, अनावृत-ज्योति हो, यह जो तुम्हारा सुचारु, सुरम्य रूप है, इस रूपमें ही तुम ये सब तत्त्व हो। तुमने विश्वसृजन किया है, तुम विश्वातीत हो, तुम शुद्ध आत्मा हो, तुम जीवोंकी बुद्धि-इन्द्रियादिके परम कारण हो। तुम्हीं समस्त विभावोंमें इस अनिन्द्य शोभनरूपमें हो । मैंने इस रूपका ही आश्रय

लिया है। इस रूपके अन्तर्गत तुम्हारी निखिल शक्ति है। रूपके बिना और कुछ नहीं है। जो इस रूपका अनादर करते हैं, उनका मङ्गल नहीं होता—'नरकभागभिरनाहत-मसत्प्रसङ्गैः'।

इसकी अपेक्षा भी गम्भीरतर बात भागवत कहता है। दशम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें गर्भगत विष्णुकी ब्रह्मादि-कृत स्तुति—

सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥
(१०।२।३५)

विज्ञान अज्ञानका विनाश करता है, अज्ञानका भेद करता है, विज्ञान फिर विगलित होकर विलीन हो जाता है, जिसका विज्ञान होता है उसके साक्षात् दर्शनके आलोकके आघातसे। जिस विज्ञानके प्रकाशसे सब अज्ञान दूर होता है, वही विज्ञानका प्रकाश विज्ञानके प्राणस्वरूप, विज्ञानघनतनु श्रीभगवान्के मनोज्ञ रूपकी अमृत किरणोंमें मिलकर राग-रसायनको प्राप्त होता है। यह रूप-दर्शन ही जीवका परम पुरुषार्थ है। सृष्टिके पूर्व श्रीनारायणने ब्रह्मासे कहा था—

ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः॥
(२।९।२०)

दर्शन होनेपर सारी साधन-चेष्टा पूर्ण हो जाती है, सफल हो जाती है। दिव्य रूपके प्राकट्यसे पूर्व, अमृतमूर्ति प्रकट होनेके पूर्व भगवद्विषयमें केवल अनुमान होता है। पण्डितोंने, दार्शनिकोंने सहस्रों अनुमानोंका, अनुभावनाओं-का जाल गाँथ दिया है और वे गाँथते ही जा रहे हैं। उस जालसे वे स्वयं ही बँध गये हैं। उस जालमें परमेश्वर कभी नहीं आते। 'य एको जालवान् ईशते ईशनीभिः', उसको क्या ज्ञानके जालमें फँसाया जा सकता है? 'अपि संराधने'—सम्यक् आराधनाके आकर्षणसे, प्रेम-महामन्त्रकी शक्तिके प्रभावसे वे जालको फाड़कर स्वयं ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। जैसे ध्रुवकी आराधनासे आये थे। जगजीवन-यात्रामें सर्वत्र शक्तिकी क्रिया दृष्ट होती है। ज्ञानका व्यापार, अति-सूक्ष्म बुद्धिका निगूढ़ प्रभाव विश्वमें चारों ओर लक्षित होता है। ज्ञान-बुद्धि-विचार, दूर-दृष्टि, उद्देश्यपूर्वक कार्य, शिल्प-कला-कौशल आदिके निदर्शन प्रकृतिके राज्यमें अगणित हैं। जीव-देह-रचनामें जिस अद्भुत कला-कौशल, जिस अचिन्तनीय बुद्धि-वृत्तिकी कार्य-साधन-पद्धति वैज्ञानिकोंने आविष्कार की है उसकी तुलना मनुष्यके शिल्प-राज्यमें कहाँ है? इन्हीं सबसे अनन्त ज्ञानमय, अव्याहत चैतन्यमय, असीम निर्माणशक्तिशाली, परमपुरुष भगवान्‌की विश्व-व्यापी विद्यमानताका अनुमान, अनुधारणा आदि होती है। प्रकृति ज्ञानहीन, चैतन्यहीन है। पुरुष पूर्ण चैतन्य है। पुरुषके संसर्गसे, पुरुषके द्वारा प्रकृतिके प्राणमें ज्ञानका संचार होता है। पुरुष ही सृष्टि करता है। प्रकृति उपादान-मात्र है। पुरुषकी शक्ति है। वेदान्तसूत्रकारने 'ईक्षतेर्ना-शब्दम्' इस सूत्रमें इसी सत्यकी घोषणा की है। विश्व-व्यापारमें ज्ञान-चैतन्यका विचित्र निदर्शन देखकर हम चित्-शक्तिकी सत्ताका अनुमान करते हैं। 'गुणप्रकाशैरनु-मीयते भवान्' इत्यादि वाक्योंसे भागवतने भी इस सत्यकी सुगम्भीर व्यञ्जना की है।

इस तत्त्वको थोड़ा अनुसंधानपूर्वक समझना चाहिये। ज्ञान प्रधानतः पाँच प्रकारका हो सकता है—(१) बाह्य-विषय-ज्ञान, (२) बाह्यविषय-तत्त्वज्ञान अथवा तत्तत्-नियम-ज्ञान, (३) नीति-धर्मज्ञान, (४) अध्यात्मज्ञान, (५) ब्रह्म-ज्ञान या भगवत्-तत्त्वज्ञान। श्रीशङ्कराचार्य बाह्यविषय नियम-ज्ञानको 'प्राकृतविषयविकारविज्ञानम्' बतलाते हैं। परमा-र्थ-तत्त्ववस्तुको 'विषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नम्' तथा 'विषमे अनेकार्थशंकटे तिष्ठति' कहा है। प्रकृतिकी भूमिसे प्राकृत विज्ञान-पथमें हम ब्रह्मतत्त्वकी ओर चाहे कितना ही अग्रसर क्यों न हों, अनुमानके सिवा हमारे लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट आदि अनुमान हैं। Induction, Deduction, Syllogism, Hypothetical, Categorical इत्यादि। श्रीशङ्करा-चार्यने इनके समुदायको 'स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्र' कहकर अश्रद्धा प्रकट की है।

यह सब परोक्षज्ञान हैं, शून्यज्ञान कल्पना-प्रणाली हैं, Speculation है; philosophy दर्शन नहीं है, विज्ञान नहीं है। कांट, हेगेल, फिक्टे आदिसे आरम्भ करके शुद्ध शून्याद्वैतपथमें शून्यसिद्धान्तमें अवसानपर्यन्त सभी परोक्ष-ज्ञानका Speculation जान पड़ता है, यह जो विश्वमय ज्ञान-प्रचेष्टा है, इसमें देवगण बड़ा कौतुक उपभोग करते हैं, क्योंकि 'परोक्षप्रिया हि देवाः'—अर्थात् देवता 'लुकाचोरी'को पसंद करते हैं। अपरोक्षज्ञान और दर्शन एक ही बात है। साक्षात् ज्ञानका नाम ही विज्ञान है।

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
(श्रीमद्भा० २।९।३०)

यही प्रश्न है। ब्रह्म वस्तु यदि है, तो उसका प्रत्यक्ष दर्शन भी है। विश्वमें ब्रह्मदर्शनकी इच्छा नहीं है, यह कोई नहीं कह सकता। ब्रह्मदर्शनकी इच्छा सर्वजनसाधारण है। सब कामनाओंसे श्रेष्ठ कामना है ब्रह्मदर्शनकी कामना। छान्दोग्य श्रुति (८।३।१) कहती है कि परब्रह्मका विज्ञान प्राप्त होनेपर (आत्मानमनुविद्य) सकल कामना सत्य होकर (ते इमे सत्याः कामाः) पूर्ण हो जाती है। जो कुछ प्रार्थनीय या वाञ्छनीय है, सभी 'ब्रह्मविद् दर्शनाय लभते'। परब्रह्मके अनुग्रहसे ही सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं और जो पुण्यतम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वापेक्षा स्वाभाविक कामना है, वही पूर्ण न हो, यह असम्भव है।

परब्रह्म निश्चय ही दर्शनीय है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह श्रुतिवाक्य ध्रुव सत्य है। ज्ञानके द्वारा दर्शनसौभाग्य सम्पादित नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान प्रत्याख्यानपरायण है। ज्ञान तत्त्व वस्तुको वस्तुहीन भावनामात्रमें परिणत करके परिहार करता है। ज्ञान परिणत अवस्थामें गणित मात्र है। वस्तु सत्यका अङ्कतन्त्र मात्र है। ज्ञानका परिणाम निर्विशेष, निर्वितर्क्य ब्रह्मविद्या है। वह ब्रह्मतत्त्वको शून्य आकाशमें मिलाकर स्वयं भी शून्यमें मिल जाती है। अतएव इस ज्ञानमें ब्रह्मदर्शन नहीं है। ज्ञान जब ब्रह्म-वस्तु समनुसंधानपरायण होता है, तब वह विज्ञान होकर, भक्ति होकर प्रेम बन जाता है। प्रेम ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञानकी पराकाष्ठा है। 'भक्त्या मामभिजानाति'—अर्थात् भक्ति ही परविज्ञान है, जिसके द्वारा ब्रह्म-विज्ञान अर्थात् ब्रह्मदर्शन होता है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें पुनः-पुनः शुष्कज्ञान, शून्य ब्रह्मज्ञान तिरस्कृत हुआ है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(१०।१४।४)

ज्ञानकी सिद्धि विज्ञान है। विज्ञानकी सिद्धि भक्ति है। भक्तिकी सिद्धि दिव्यरूप-दर्शन तथा चिदानन्दरस-रूपराज्यमें प्रवेश है—'विशते तदनन्तरम्'। उस रूपराज्यमें भक्त प्रवेश करता है। 'अनन्तरम्' का अर्थ तत्पश्चात् नहीं है। इसका अर्थ है अन्तरहीन होकर अर्थात् ज्ञानके व्यवधानसे रहित होकर। कोई अन्तर या दूरत्व नहीं रहता। अतएव भगवद्दर्शनकी इच्छा विश्वमयी (Universal) है तथा सत्य अर्थात् पारमार्थिकी है। इस इच्छाकी सिद्धि निश्चय ही है। वेद-उपनिषद्-पुराणादि सारे शास्त्र सहस्रों प्रमाण देते हैं; सहस्रों योगी, ऋषि, मुनि ब्रह्मदर्शनके साक्षीके रूपमें विद्यमान हैं। अब प्रश्न यह होता है कि वह दर्शनीय रूपमूर्ति कैसी है? इसका प्रतिप्रश्न यह है कि वह नराकृतिके सिवा और क्या हो सकती है? मनुष्यकी उज्ज्वल और उद्दाम प्रीतिके अनुकूल और अनुरूप जो रूप प्रकाशित होगा, जिसके दर्शनसे प्राणकी सारी कामना, सारी आकाङ्क्षाएँ सफल होंगी, वह चिरकाम्य रूप मानव-भाव-रूपके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। और कुछ कल्पना करना असम्भव है। हमारे प्राण सुधासुरम्य नररूपके सिवा और कुछ नहीं चाहते। फूलके समान रूप, फुल्ल कमलके समान? पक्षीके समान रूप? पीत पक्षी? शुकपक्षी? मयूर? हरिण-शिशु? सुधांशु? इन्द्र-धनु?—इनमेंसे किसीसे मानव-प्राणकी तृप्ति नहीं हो सकती। 'अद्वैतमचिन्त्यमनादिमनन्तरूपम्'—इससे हमारा क्या! इससे क्या प्राणकी आकाङ्क्षा पूर्ण हुई? 'आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च'—से चित्त नाच उठा।

"वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षम्। ×× कन्दर्पकोटि-कमनीयविशेषशोभम्। ××आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्य-वंशीरत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।× श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशम्"—से प्राण-मन मत्त हो गये। जान पड़ा कि यही चिरवाञ्छित रूप है। बोल उठे—केवल यही, और कुछ नहीं चाहिये।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२)

—दर्शन करके हृदयगत शत-शतजन्मोंकी कामनाकी ज्वाला उपशमित हो गयी। प्राण अमृतायमान हो गया। वासनाका अवसान हो गया।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।

ज्ञानके अगण्य आवागमनकी उपच्छाया प्रकाशमें परिणत हो गयी। प्रकाशमें दिव्य प्रकाशरूप प्रकट हो गया। परिपूर्ण आनन्दमूर्ति! 'आकाशशरीरं ब्रह्म' 'विकाशविलासशरीरं ब्रह्म' बन गया। 'सत्यात्मप्राणारामम्' 'मनआनन्दनम्' हो गया। ज्ञान विज्ञान हो गया, भक्ति हो गया, प्रेम बन गया, सौन्दर्य बन गया। तत्त्व रूपायमान, रसायमान हो गया। अमृतमूर्ति हो गया। ज्ञान भक्ति होकर रूपसम्पादन करके ही धन्य होता है। 'नरवपु उसका स्वरूप है'—ज्ञान-विज्ञानके द्वारा यह मन्त्रसाधन करना आवश्यक है।

भगवान्‌का भरोसा

(लेखक––पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

(१)

संसारमें मनुष्य सदा सफलताका ही इच्छुक रहता है। वह रात-दिन घनघोर परिश्रम करता रहता है कि विजय-श्रीकी मञ्जुल मुसकानको वह अपनी आँखोंसे निरखे; परंतु संसार बड़ा विचित्र है। उद्योगके साथ-ही-साथ भाग्यका भी इतना प्रभाव रहता है कि उद्योग धूलमें मिल जाता है, सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, बड़े-से-बड़ा भी सहायक असफलताके गर्तमें गिरनेसे बचा नहीं सकता। तब स्वभावतः मनुष्यका चित्त दुखी ही नहीं, उद्विग्न हो उठता है। आगे सिवा घोर अन्धकारके कुछ सूझता ही नहीं। तिसपर परिवारके लोगोंका उपहास तथा परिहास, निन्दा और शिकायत, क्रूर तथा कटु वचन हृदयमें शूलकी तरह चुभने लगते हैं। तब एक बार निश्चय ही मन उस करुणावरुणालयकी ओर अग्रसर होता है, जिसकी कृपाके बलपर पङ्गु भी उच्चतर हिमाचल-की चोटीको पार कर जाता है तथा पाषाण भी तरल समुद्रकी सतहपर तैरने लगता है; परंतु चित्तकी भावना ही स्थिर नहीं रहती। वह स्वयं चञ्चल जो ठहरा, तब उसमें उदित भाव तथा भावनाके टिकनेका ठिकाना कहाँ ? कभी भगवान्-में चित्त रम जाता है तो दूसरे ही क्षण वह उस भव्य मन्दिरसे नीचे उतर आता है और फिर उसी काम-कीचमें, प्रपञ्चके पचड़ेमें उतर जाता है। करे भी तो क्या करे।

मानव है परतन्त्रताका एक दृश्यमान बंडल। वह शरीरसे रोगोंका शिकार है और मनसे सदा परिवर्तनशील जगत्के चिन्तनमें व्यस्त है। फलतः वह उभयतः परतन्त्र है, शरीरसे और मनसे वह एकदम पराधीन है। उसके भीतर भी वही चैतन्यकी चिनगारी जलती है। वह स्वयं चैतन्यका अधिष्ठान ठहरा, परंतु वह तो इसकी खबर ही नहीं रखता। 'बूझि-बूझि बुझि जात।' वह समझ-समझकर भी फिर बुझ जाता है—ठीक दीपकके समान, जिसे जलाया तो जाता है अनेक बार, परंतु जो तनिक-सी हवाका झोंका आते ही एकदम बुझ जाता है सदाके लिये। तृष्णा ही वह हवाका झोंका है जो शान्त चित्तको एक बार ही झकझोर देता है। हृदयको तो मणिदीप-के समान निश्चयमें अटल, विश्वासमें निश्चल तथा श्रद्धामें अशान्त बने रहना चाहिये। तब तो किसी प्रकारका झोंका भले ही प्रचण्डरूपमें बहता रहे, परंतु वह मणिदीपको बुझानेमें कथमपि समर्थ नहीं होता; परंतु चित्तदर्पणमें इतनी धूल लगी हुई है, चमकता दर्पण इतना मलिन हो गया है कि उसके भीतर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति ही शेष नहीं रही। तब उस प्रियतमका वह सुन्दर मुखड़ा कहाँसे दिखलायी पड़े। इसीलिये, हे भगवन्! आपसे निरन्तर प्रार्थना है कि अपनी कृपाकी कोरसे इस दीन जनको ऐसे निरखिये कि वह धन्य हो जाय, जीवनकी सफलता पा जाय तथा संसारके थपेड़ोंसे अपनेको बचा सके।

हम अपनेको आस्तिक मानते हैं। भगवान्‌की सत्ता, उनका अस्तित्व माननेवाले लोगोंकी संख्या इस संसारमें सबसे अधिक है। भगवान्‌को न माननेवाले व्यक्तियोंकी अर्थात् नास्तिकोंकी संख्या इस जगतीतलपर दालमें नमककी मात्रासे भी कम है। आजका संसार बहुमतका पक्षपाती है। राजनीतिक मामलोंमें बहुमत जिधर होता है, उधर ही सत्यता-की लकीर खिंच जाती है। इसी तथ्यको धार्मिक मामलोंके निर्णय करनेमें भी लगाइये। जबसे यह संसार चला है, आस्तिकोंकी ही संख्या अधिक रही है। नास्तिक सदा नगण्य रहे हैं। वर्तमान समयमें भी यह सिद्धान्त ठीक है। धार्मिक आचार-व्यवहार तथा कर्मकाण्डके विषयमें लोकरुचि भिन्न हो सकती है और है भी, परंतु जगत्के मूलमें एक सर्वशक्ति-मान् चेतनकी सत्ताका प्रतिवाद कोई नहीं करता—न दार्शनिक और न वैज्ञानिक। बहुमतका खण्डन कभी-न-कभी अवश्य होता यदि वह सच्ची बातको संकेतित नहीं करता, परंतु आजतक वह बना हुआ है। उसका पूर्ण तिरस्कार, पूर्ण अवहेलना, सामूहिक अपवाद कभी नहीं हुआ। इसे ईश्वरकी सत्ताका एक व्यावहारिक प्रमाण मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

और भी विचार कीजिये। एक नया प्रमाण रखा जाता है। भगवान्‌की सत्ताका अनुभव कहाँ नहीं होता ? जिसको गौरसे देखो, वही उसकी सत्ताको प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है। मुझको सबसे अधिक उसकी ईश्वरता और समर्थता प्रकट करनेके लिये उपयुक्त वस्तु जान पड़ती है मानवशिशुका जन्म। शिशु केवल मांसपिण्ड है, जिसमें कुछ हड्डियोंका ढाँचा बना हुआ है। कितने आश्चर्यकी बात है इस मांसपिण्डका गर्भमें पोषण और भरण। माताका

गर्भस्थान विशेष सँकरी जगह है । उतने ही स्थानमें निवास । पोषणके लिये नाभि-कमलके द्वारा माताके भोजनरसका ग्रहण करना । शरीरको बाह्य आघातोंसे बचानेके लिये उसपर कई तहोंका जमाव । इस विषयमें जितना विचार करता हूँ, उतनी सब आश्चर्योंकी परम्परा किसको चकित और चमत्कृत करनेके लिये पर्याप्त नहीं है । संसारके लोग कभी-कभी विचित्र और अलोकसामान्य घटनाको देखकर सहसा पुकार उठते हैं कि हमने एक नया अचरज देखा । पर सच तो यह है कि अचरजकी घटनाएँ सदा हुआ करती हैं । आँख रहते भी हम उनका उपयोग इनके समझने और देखनेके लिये नहीं करते । करते होते तो शिशुसे बढ़कर किसी अचंभेको देखनेके लिये कभी लालायित नहीं होते । पर आश्चर्योंमें चूड़ास्थानीय इस घटनाको देखकर मुझे तो इसमें भगवान्‌का हाथ स्पष्ट दिखलायी पड़ता है ।

भरण, पोषण, उत्पादन, गर्भसे बहिर्गमन—इन सब कार्योंमें भगवान्‌का रक्षक हस्त काम नहीं कर रहा है तो कौन कर रहा है ? आप इसे प्रकृति या निसर्ग कहकर टाल देंगे; पर वास्तवमें अंधी प्रकृति काम ही क्या कर सकती है, जबतक उसे राह दिखानेके लिये कोई चेतन पदार्थ न हो । अतः मैं तो इसे अंधी प्रकृतिका ही कार्य मानना उचित नहीं समझता। हम इसमें किसी चेतनके हाथको काम करते पाते हैं । फिर भी विशेषता यह है कि माता-पिताके गुण पुत्रमें हूबहू आ जाते हैं । पिताके पैरके टेढ़े होनेकी आशङ्का भी किसीको न थी, पर पुत्रके टेढ़े-मेढ़े विकृत पदने पिताके दोषका उद्घाटन कर दिया । माताकी ठुड्डीके गढ़ोंकी सूचना लड़केके तत्तत् स्थानपर होनेवाले चिह्नने दे दी । पिताकी खल्वाटता पुत्रके माथेपर झलकने लगती है । इस प्रकार कार्यकी कारण-प्रवणता भी एक अचूक नियम-सा है, पर इस अचूक नियमके भीतर भी नियन्ताकी असीम शक्तिका पता चलता है । नियमितको देख नियन्ताका अनुमान असम्भव नहीं है । जहाँ भी देखिये नियन्ताकी सूचना मिले बिना नहीं रहती । परम सत्यकी सूचना सर्वत्र मिला करती है ।

इस परम सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—पूर्ण भरोसा, पूरा आसरा । भगवान्‌की दयाका भिखारी कौन किस समय नहीं है ? कर्मफलकी आशासे जीवन बिताना एक दुरूह व्यापार है । शुभ कर्मका फल अवश्य मिलेगा, यह तो निश्चित है; परंतु अभीष्ट फल-साधनके लिये कितने शुभ-कर्मकी आवश्यकता पड़ती है, इसका निर्णय कैसे हो सकता है । हममें इतना स्वावलम्बन भी नहीं है कि हमारा काम सदा शुद्ध ही निकलेगा, फलप्रद अवश्य ही होगा । यह तो वही कर सकता है, जिसमें अपने कृतित्वपर गाढ़ अभिमान है—पूरा भरोसा है । यहाँ तो उसका सर्वथा अभाव-ही-अभाव है । ऐसी स्थितिमें अपने कर्मोंका विश्वास कौन करे ? उनकी फल-सम्पत्ति पानेका मन-मोदक खाकर कौन खाटपर सोया रहे ? इसीसे मुझे तो कर्मके भरोसे रहनेका विचार नहीं होता । भगवान्‌के पास अपनी अशक्तता दिखलाते हुए उनकी दयाको पानेकी आवश्यकता है । यदि उनकी कृपा हो गयी तो अपना तो पौ बारह है । दया होगी क्यों नहीं ? वे तो दयासागर ठहरे । सागरसे यदि कोई दो-चार बूँद ले ले तो इससे समुद्रका क्या होगा । क्या उसमें कोई कमी होगी ? पर बूँद लेनेकी जरूरत नहीं । आकाशमें राकेशका अवलोकन कर वारीशका वारि स्वयमेव बाँसों ऊपर उछलने लगता है ।

भक्तके हृदयमें भक्ति-चन्द्रिकाके उदयसे दयासिन्धुमें लहरीका उठना स्वाभाविक है । भक्तके पास यदि प्रेमा-भक्ति विद्यमान है तो भगवान्‌को बरबस अपनी अनुकम्पाका मुँह खोलना पड़ेगा—उसपर लगी मुहरको तोड़ना पड़ेगा । किंतु अपने पास विमल भक्ति-सम्पत्ति हो तब । कर्म और भक्तिके तारतम्य तथा भक्तिकी विशिष्टताका पता लोकस्वभावसे भी हो सकता है । काम करनेवाला मजदूर शामको अपनी मेहनतके अनुसार ही मजदूरी पायेगा । जितना काम, उतनी प्राप्ति । अपने नियमित कार्यसे असीम फल पानेकी सम्भावना नहीं; परंतु यदि किसी मजदूरपर मालिककी दया हो जाय तो उसे मालामाल कर देनेमें उसको कितनी देर लगेगी । पहलेका मजदूर कृपाके भरोसे दूसरे दिन मालिकका हिस्सेदार बन सकता है । इसी प्रकार भगवान्‌के दरवाजेपर बैठकर हमलोग अपने कर्मोंकी परवा न करते हुए केवल उनकी दयाके भिखारी हैं । दरवाजा खटखटा रहे हैं । हल्ला मचा रहे हैं । कभी तो हमारी करुणध्वनि उनके कानों पड़ेगी । कभी तो उनके हृदयमें दयाका संचार होगा । यदि सौ जन्मके बाद भी ऐसा हो तो इतने दिनोंतक कर्मके पचड़ेमें पच मरनेवालोंसे हम अच्छे न होंगे ? इसी आशासे तो भगवान्‌से कहते हैं—'जरा इधर भी रुख फेरिये । कृपा-सुधाकी धारासे मुझे सिक्त कर दीजिये । अबसे सूखे जीवनमें सरसताका सम्पादन कीजिये ! व्यर्थ जीवनको सार्थक बनाइये ।' हमारा प्रेम सच्चा है, हमारी विनय हृदयसे है । वे जरूर सुनेंगे और दया दिखलायेंगे । यही तो अपने जीवनका सिद्धान्त है ।

इसीलिये तो सूरदासने अपने जीवनके लक्ष्यको अपने अन्तिम समयमें इसी भरोसेपर आश्रित रक्खा है—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख-चंद्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ॥१॥
साधन और कछू ना जानैं जातें होय निबेरो ॥२॥
'सूर' कहा कहौं द्विविध आँधरो बिना मोलको चेरो ॥३॥

बोलो दयासागर भगवान्‌की जय !
अशरण-शरण करुणावरुणालयकी जय !

श्रीराधाभावकी 'एक' झाँकी

(श्रीराधाष्टमीके महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका लिखित प्रवचन)

[१ दिनमें]

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश और अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। वे सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वग, अनन्त, विभु हैं। वे सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान् हैं। वे अनन्त शक्तियोंके परमाधार और एकाधार हैं। वे सगुण, निर्गुण, निराकार और साकार हैं। वे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं; वे ही आश्रयतत्त्व हैं; श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'।

वे ही द्विभुज मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर नराकृति परब्रह्म, लीलामय, लीलापुरुषोत्तम, भुवनमोहन श्रीविग्रह हैं। वे विरुद्ध-धर्माश्रय और अपार करुणामय हैं। वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं। वे आनन्द-चिन्मय-रस-समुद्र, रसस्वरूप, आस्वाद्य और आस्वादक, रसिकशेखर हैं। वे अपने असमोर्द्ध नित्य परिवर्द्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा विश्वविमोहन सर्वचित्ता-कर्षक हैं, सर्वचित्तहर हैं, यहाँतक कि अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर स्वयं ही मुग्ध हो जाते हैं—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।
(श्रीमद्भा० ३ । २ । १२)

अपने ही इस नित्य सौन्दर्य-माधुर्य-रसका समास्वादन करनेके लिये वे स्वयं अपनी ह्लादिनी शक्तिको अथवा आनन्द-स्वरूपको सदा-सर्वदा श्रीराधारूपमें अभिव्यक्त किये हुए हैं। श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णकी ही स्वरूपाशक्ति हैं। वे श्रीकृष्णकी ही अभिन्न स्वरूपा हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीराधाके अभिन्न स्वरूप हैं। इनकी यह रसमधुरलीला सत्य और नित्य है। वस्तुतः लीला तथा लीलामय भी अभिन्न ही हैं। तत्त्व और लीला एक ही स्वरूपकी दो दिशाएँ हैं। तत्त्वमें जो अव्यक्त है, वही लीलामें परिस्फुट है। तत्त्वमें जो बीज है, वही लीलामें विशाल विशद वृक्ष है। दूसरे शब्दोंमें, तत्त्व लीलारूप अक्षय सरोवरका एक जलबिन्दु है। लीला तत्त्वका प्रकट विग्रहरूप है, तत्त्वकी समग्रता ही लीला है। लीलाका निगूढ रहस्य ही तत्त्व है। एक ही परम नित्यानन्द रसब्रह्म तत्त्व नित्य अखण्ड रहकर ही आस्वाद्य और आस्वादक रूपसे दो रूपोंमें अभिव्यक्त होकर लीलायमान है—एक व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और दूसरी वृषभानुदुलारी श्रीराधा। श्रीकृष्ण रसमय हैं और श्रीराधा भावमयी हैं।

रतिकी दृष्टिसे श्रीराधारानी अविरूढ़ महाभावरूपा या मधुरा रतिकी मूर्तिमान् सजीव प्रतिमा हैं। मदीया रति यानी 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' यह रति ही गोपीभाव है। इसी भावकी चरम परिणति महाभावस्वरूपिणी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा-रानी हैं। मदीया रतिकी इस चरम और परम पूर्णतम परिणतिमें शक्तिमान् श्रीकृष्ण निजस्वरूपाशक्ति श्रीराधारानीके प्रति सोल्लास आत्मसमर्पण करते हैं—'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'। कायव्यूहा—शक्तिरूपिणी व्रजदेवियोंके सहित शक्ति और शक्तिमान्‌का यह नित्य मधुर लीलाविलास ही नित्य महारास है। इस मधुरातिमधुर अनन्त विचित्र महारासकी आत्मा अखिल आनन्द-चिन्मय-रसामृतरूपिणी श्रीराधारानी हैं।

श्रीराधाभावकी साधना जगत्‌के कामराज्यकी वस्तु तो है ही नहीं, उसकी अत्यन्त विरोधिनी है। श्रीराधारानीके स्वरूप-तत्त्वका अध्ययन और श्रीराधाभावका साधन कामके कलुष-को सदाके लिये धो डालनेवाला है। इतना होनेपर भी, यह शुष्क नहीं है, नीरस नहीं है, चित्तमें खिन्नता उत्पन्न करनेवाला नहीं है, निदारुण निर्वेदजनक नहीं है। यह रसमय है, आनन्दमय है, छविमय है, मधुरिमामय है और मोक्षतिरस्कारी दिव्य भगवद्भावको प्राप्त करानेवाला है। इसमें आत्यन्तिक विषय-विराग है, पर वह भी एक मधुर राग है। प्रेमी साधक इस रागके रसिक होते हैं। महात्मा गोकर्णजीने इसी ओर संकेत करते हुए—'वैराग्यराग-

रसिको भव' कहा है। अन्धकाररूप कामका प्रभाव वहींतक है, जहाँतक दिव्य गोपीभाव या राधाभावका निर्मल भास्कर उदय नहीं होता। राधाभावके परमोज्ज्वल रस-साम्राज्यमें कलङ्की कामका प्रवेश ही नहीं है। अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्य-राशि, रोम-रोम-मधुर श्रीकृष्ण जब अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर विस्मित और विमुग्ध होते हैं, उस समय उस मुग्धता-से उनकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य श्रीराधारानीमें ही है। इसीसे श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहेऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

ये श्रीराधारानी अनादि हैं, इनका प्राकट्य स्वयं भगवान्‌के प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य रूपमें हुआ करता है। आज इन्हीं सच्चिदानन्दविग्रहा आनन्दांशघनीभूता, आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविता, ह्लादिनीमूर्ति वृषभानुदुलारी श्री-श्रीराधारानीका प्राकट्य-महोत्सव है। यह न कौतुक है, न तमाशा है, न यह मनोरञ्जनकी वस्तु है, न यह काव्यकलाके कल्पना-काननके किसी सुगन्धित सुमनकी कल्पित छाया है। यद्यपि श्रीराधारानी सकल कलाओंकी प्रसविनी हैं, निखिल ललित कलामयी हैं, निर्मल संगीत-सौन्दर्य, कलाविलासकी मूर्तिमान् प्रतिमा हैं, अनन्त विश्वब्रह्माण्डके 'समष्टि मन' रूप भगवान् श्रीकृष्णके मनको मोहित तथा रञ्जित करनेवाली हैं, परम कौतुकमयी हैं, पर इनका यह सभी कुछ दिव्य है। श्रीराधा-रानीके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेवाले परम भाग्यवान् लोग ही इसका अनुभव कर सकते हैं। श्रीराधारानी, उनकी कायव्यूह-रूपा किन्हीं व्रजदेवी अथवा श्रीराधारानीके अभिन्नस्वरूप, उनके नित्य आराध्य और नित्य आराधक श्रीकृष्णकी कृपा-से ही उसमें प्रवेश पाया जा सकता है और उनकी कृपासे ही अनुभूति भी हो सकती है।

राधारानी कौन थीं? उनके साथ श्रीकृष्णका लौकिक-रूपसे क्या सम्बन्ध था, विवाह हुआ था या नहीं—इन सब बातोंपर बहुत आलोचना हो चुकी है और इस विचार-में कोई लाभ भी नहीं है।

आज इस प्राकट्य-महोत्सवके दिन हम सब श्रीवृषभानु-दुलारी कीर्तिदाकुमारीके पावन चरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्त प्रणिपात करके उनसे उनके पवित्र प्रेमकी भिक्षा माँगते हैं।

बोलो श्रीवृषभानुदुलारी श्रीकीर्तिदाकुमारीकी जय!

[२ रात्रिमें]

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

समस्त संसारके प्राणी भोग-सुखकी कामना करते हैं। सभीके मन सदा भोग-लालसासे भरे रहते हैं। मनुष्य दिन-रात इसी चिन्तानलमें जलते रहते हैं कि उनकी भोग-लालसा पूरी हो। इस भोग-कामको लेकर ही जगत्‌के प्राणी निरन्तर दुःखसागरमें डूबते-उतराते रहते हैं। यह भोगकाम मनुष्यके ज्ञानको ढके रखता है। मनुष्य भूलसे भोग-कामको ही प्रेम मान लेते हैं और कामके कलुषित गरल कुण्डमें निमग्न रहकर प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित करते हैं। वस्तुतः काम और प्रेममें महान् अन्तर है। जैसे काँच और हीरा देखनेमें एक-से दिखायी देते हैं, पर दोनोंमें महान् भेद होता है। अनुभवी जौहरी ही असली हीरेको और उसके मूल्यको पहचानते-जानते हैं, इसी प्रकार प्रेमकी पहचान भी किन्हीं विरले भोग-काम-लेश-शून्य प्रेमी महानुभावोंको ही होती है। काम अन्धतम है, प्रेम निर्मल भास्कर है। अंधा मनुष्य अपनेको ही जानता है, दूसरेको नहीं; परंतु कामान्ध पुरुष तो अपना हित भी नहीं देखता। इसीसे कामको 'अन्धतम' कहा गया है। कामका उदय होनेपर विद्वान्‌की विद्वत्ता, त्यागीका त्याग, तपस्वीकी तपस्या, साधुकी साधुता और वैरागीका वैराग्य सभी हवा हो जाते हैं। कामान्ध मनुष्य अपना कल्याण ही नहीं नष्ट करता; सर्वनाश कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है, अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी ओर, और प्रेमका लक्ष्य रहता है ऊर्ध्वतम भगवान्‌के आनन्द-विधानकी ओर। कामसे आत्माका अधःपात होता है और प्रेमसे दिव्य भगवदानन्दका दुर्लभ आस्वादन मिलता है। अतएव काम तथा प्रेम परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। 'काम' और 'प्रेम'का भेद बतलाते हुए श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्णसुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्वत्याग करय, करे कृष्णेर भजन,
कृष्णसुखहेतु करे प्रेमेर सेवन।

अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर ॥

मनुष्यकी कामना जब शरीरमें केन्द्रित होती है, तब उसका नाम होता है 'काम' और जब श्रीकृष्णमें केन्द्रित होती है, तब वही 'प्रेम' बन जाती है।

यह निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा, भोग-सुखकामना जिसकी जितनी कम है, वह उतना ही महान् है; जो निज-भोग-सुखको सर्वथा भूलकर सर्वथा पर-सुखपरायण हो जाते हैं, वे सच्चे महापुरुष हैं और जिनका आत्मसुख सदा-सर्वदा सर्वथा श्रीकृष्णसुखमें परिणत हो जाता है, वे तो महापुरुषोंके द्वारा भी परम वन्दनीय हैं। उनकी तुलना जगत्में कहीं किसीसे होती ही नहीं। श्रीगोपाङ्गनाएँ ऐसी ही कृष्णसुख-प्राणा और सहज कृष्ण-सुख-स्वभावा थीं। वे ही सच्ची प्रेमिकाएँ थीं। इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, स्वजन, आर्यपथ—यों 'सर्वत्याग' करके सदा श्रीकृष्णका सहज भजन करती थीं। जबतक मनमें जरा भी लोक-परलोक, भोग-मोक्ष आदिकी कामना रहती है, तबतक 'सर्वत्याग' हो ही नहीं सकता। 'श्रीकृष्ण-सुखके लिये सर्वत्याग' यही गोपीकी विशेषता है। निज-सुखके लिये लोग बहुत-कुछ त्याग करते हैं, परंतु केवल कृष्णसुखके लिये 'सर्वत्याग' करना केवल गोपीमें ही सम्भव है। वस्तुतः यह 'कृष्णसुख' गोपीप्रेमका स्वरूप लक्षण है और 'सर्वत्याग' तटस्थ लक्षण है।

निज-सुख-कामनाको प्रीतिरसकी 'उपाधि' कहा गया है। गोपीप्रेममें यह उपाधि नहीं है, इसीसे गोपीप्रेमको 'निरुपाधि' प्रेम कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि तो क्या श्रीकृष्णके दर्शनकी भी गोपीजनोंको इच्छा नहीं है? और क्या उनका दर्शन प्राप्त करके भी वे सुखी नहीं होतीं? इसका उत्तर यह है कि निश्चय ही श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णदर्शनके लिये नित्य-नित्य समुत्सुका रहती हैं और निश्चय ही श्रीकृष्णके दर्शनसे उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती है। इतना अधिक सुख उन्हें होता है कि उससे उनके मुखमण्डलपर, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, उनके रोम-रोममें प्रफुल्लताकी बाढ़ आ जाती है। पर यह सब इसी कारण होता है कि इससे प्रियतम श्रीकृष्णको अपार सुख मिलता है, उनका हृदय एक अभिनव महान् उल्लाससे भर जाता है। 'मुझे देखकर श्रीकृष्णको कितना महान् सुख प्राप्त हो रहा है'—इस अनुभूतिसे प्रत्येक गोपीका सुख-समुद्र उमड़ उठता है और उससे उसके प्रत्येक अङ्गकी और मुखकी कान्ति और भी समुज्ज्वल, सुमधुर हो जाती है। गोपीकी इस परम मधुर आनन्दज्योतिप्रसरित मुखश्रीपर श्यामसुन्दरके नेत्र निर्निमेष होकर गड़ जाते हैं और उनके अन्तरके सुख-समुद्रमें विपुल रूपमें आनन्दकी तरंगें लहराने लगती हैं। श्रीकृष्णका यह परम सुख गोपियोंको पुनः-पुनः श्रीकृष्णके सुख-दर्शनके लिये प्रेरित करता है। 'श्रीकृष्ण-सुखत्वे गोपीसुखत्वं तत्सुखत्वेन पुनः श्रीकृष्णसुखत्वम्।' वस्तुतः श्रीकृष्णसुख ही गोपीका सुख है, स्वतन्त्र सुखानुसंधानकी उसमें कल्पना भी नहीं है। श्रीकृष्ण-आस्वादनजनित सुख भी उसको स्व-तन्त्ररूपसे नहीं होता; कृष्णसुख-परतन्त्र ही होता है।

गोपीका वस्त्राभूषण धारण करना, शृङ्गार करना, खाना-पीना, जीवन धारण करना—सभी सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये हैं। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'अर्जुन! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी रक्षा या देख-भाल इसीलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है।'

गोपी अपने देहकी रक्षा, सार-सँभाल तथा शृङ्गार-सज्जा करती हैं, यह सत्य है। अवश्य ही यह साधन-राज्यमें एक नयी बात है। सभी साधन-क्षेत्रोंमें शरीरकी इतनी देख-भाल साधनमें बाधक मानी जाती है। सभी देहको तुच्छ समझकर देहकी सेवा छोड़ देनेकी सम्मति देते हैं। यह अनोखी प्रणाली तो गोपी-भजनकी ही है, जिसमें देहकी सेवा भी भजनमें सहायक होती है। पुजारी प्रतिदिन पूजाके प्रत्येक पात्रको माँजकर उज्ज्वल करता है और सजाता है। गोपियोंका यह विश्वास तथा अनुभव है कि श्रीकृष्णकी सेवामें जिन-जिन उपचारोंकी आवश्यकता है, उनमें उनका शरीर भी एक आवश्यक उपचार है, इसलिये वे शरीररूप इस पात्रको नित्य उज्ज्वल करके श्रीकृष्ण-पूजाके लिये सुसज्जित करती हैं। पूजाका उपचार वस्तुतः पुजारीकी सम्पत्ति नहीं होती, वह तो भगवान्की ही सम्पत्ति है। पुजारी तो उसकी देख-रेख सँभाल-सजावट करनेवाला है। इसी प्रकार गोपियोंके शरीर श्रीकृष्णकी सम्पत्ति है, गोपियोंके ऊपर तो उनके यथायोग्य यत्नपूर्वक सँभाल करनेका भार है। गोपियोंके तन-मन सभीके स्वामी श्रीकृष्ण हैं! शरीरको

धो-पोंछकर वस्त्राभूषणोंसे सजानेपर उसे देखकर श्रीकृष्ण सुखी होंगे, इस कृष्ण-सुख-कामनाको लेकर ही ये प्रातः-स्मरणीया व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णके सेवोपचारके रूपमें अपने शरीरोंकी सावधानीके साथ सेवा करती हैं। यह शरीर-सेवा श्रीकृष्ण-सेवाके लिये ही है। अतः यह भी परम साधन है, प्रेमका एक लक्षण है।

अपने पृथक् सुखसे तो गोपियोंकी सहज ही विरक्ति है। एक दिन एक गोपी श्रीकृष्णकी सेवामें लगी थी, इससे उसे बड़ा आनन्द मिला और उस आनन्दके कारण उसमें प्रेमके विकार अश्रुपात, कम्पन, जडता आदि उत्पन्न हो गये। इस प्रेमानन्दसे क्षणकालके लिये सेवानन्दमें बाधा आ गयी। बस, गोपीको बड़ा क्रोध आ गया। आनन्दपर क्रोध ! यहाँ यह क्रोध वस्तुतः उस सेवानन्दजनित प्रेमानन्दपर नहीं है, यह आनन्दजनित विकारपर है; क्योंकि इस प्रेमविकारने सेवानन्दमें बाधा उपस्थित कर दी।

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूर्वाभिवर्षणम् ।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना ॥

कमलनयना गोपियोंने आँसू बरसानेवाले प्रेमानन्दकी उच्चस्वरसे निन्दा की।

गोपीगीतमें श्रीगोपियाँ गाती हैं—

यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं, उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर बहुत डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर वनमें भटक रहे हो। कंकड़-पत्थर आदिके आघातसे उनमें क्या पीड़ा नहीं होती ? हमें तो इसकी सम्भावना मात्रसे ही चक्कर आ रहा है। श्रीकृष्ण ! हमारे श्यामसुन्दर ! प्राणप्रियतम ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये ही जी रही हैं, हम तुम्हारी ही हैं।

इस श्लोकमें आये हुए शब्दोंपर गहराईसे ध्यान देनेपर तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. गोपियाँ अपनी विरह-व्यथासे जितनी व्यथित हैं, उससे कहीं बहुत अधिक पीड़ा उनको इस विचारसे हो रही है कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलको चोट लगेगी।

२. गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णका चरणस्पर्श प्राप्त करके महान् सुखको प्राप्त होती हैं, परंतु उस सुखमें प्रियतमके सुखको नहीं भूल जातीं; गोपियोंको अपने सुखका विरोधी भय लगा रहता है, इसीसे वे डरती-डरती धीरे-धीरे हृदयपर धारण करती हैं।

३. गोपियोंके हृदयोंपर चरण रखनेसे श्रीकृष्णको भी सुख ही होता है, पर उस सुखमें भी गोपियोंको यह शंका हो जाती है कि कहीं कोमल चरणकमलोंको चोट न लग जाय।

गोपियोंमें इसीलिये सहज ही निज सुखका अनुसंधान नहीं है। उनकी शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और संकल्प श्रीकृष्णसुखके लिये ही होते हैं, इसीसे उनका 'सर्वत्याग' स्वाभाविक है। गोपियोंमें 'सर्वत्याग'की भी विचार-बुद्धि नहीं है। 'हमारे सर्वत्यागसे श्रीकृष्ण सुखी होंगे'—इस प्रकारके विचारसे वे सर्वत्याग नहीं करतीं। उनमें श्रीकृष्णसुखकामनाकी कर्त्तव्य-बुद्धि भी नहीं है। श्रीकृष्णके प्रति सहज अनुराग ही यह सर्वत्याग कराता है, यह तो गोपियोंका सहज स्वभाव है, उनका स्वरूपभूत लक्षण है। उनकी प्रत्येक क्रिया सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २१)

'गोपियो ! इसमें संदेह नहीं कि तुमलोगोंने 'मदर्थ—मेरे लिये' लोकमर्यादा, वेद-मार्ग और अपने स्वजनोंका भी त्याग कर दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न चली जाय, मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये परोक्षरूपमें तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं यहीं छिप गया था।'

भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ॥

'मेरा मन ही गोपियोंका मन है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं और 'मदर्थ—मेरे लिये' उन्होंने देहके सारे लौकिक कार्य त्याग दिये हैं।'

इसी प्रकार गोपियोंको अपने दुःखका भी अनुसंधान नहीं है। उनका महान् दुःख भी, यदि श्रीकृष्णके सुखका

साधन है तो उनके लिये ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर सुखरूप है। श्रीकृष्ण थोड़ी ही दूरपर मथुरामें रहे, पर उनकी इच्छाके प्रतिकूल गोपियोंके मनमें कभी मथुरा जाकर श्रीकृष्णसे मिलनेकी कल्पना भी नहीं आयी। असह्य दुःखमें भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना वे कैसे करती हैं—इसका एक उदाहरण देखिये। व्रजसे मथुरा जाते समय श्रीराधाने हँसकर उद्धवसे कहा—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

'उद्धव! यद्यपि श्रीकृष्णके गोष्ठमें पधारनेसे हमें बड़ा सुख होता है, परंतु यदि इसमें उनकी जरा भी क्षति हो तो वे कभी न पधारें और मथुरा नगरीसे यहाँ न आनेसे यद्यपि हमें बड़ी भारी पीड़ा होती है, परंतु यदि इसमें उनके चित्तमें सुखका उदय होता हो तो वे सदा वहीं निवास करें।'

इससे सिद्ध है कि गोपीमें 'निज-सुख-काम' का सर्वथा सहज ही अभाव है। श्रीकृष्ण-सुख ही उनका सर्वस्व है, स्वभाव है, जीवन है।

इसीसे श्रीकृष्ण गोपियोंके नित्य ऋणी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह सिद्धान्त घोषित किया है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' 'जो मुझको जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।' इसका यह तात्पर्य समझा जाता है कि भक्त जिस प्रकारसे तथा जिस परिमाणके फलको दृष्टिमें रखकर भजन करता है, भगवान् उसको उसी प्रकार तथा उसी परिमाणमें फल देकर उसका भजन करते हैं—सकाम, निष्काम (मुक्तिकाम), शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य आदिकी जिस प्रकारकी कामना-भावना भक्तकी होती है, भगवान् उसे वही वस्तु प्रदान करते हैं; परंतु यहाँ गोपियोंके सम्बन्धमें भगवान्‌के इस सिद्धान्त-वाक्यकी रक्षा नहीं हो सकी। इसके प्रधान कारण तीन हैं—१. गोपीके कोई भी कामना नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण उसे क्या दें। २. गोपीके कामना है केवल श्रीकृष्णसुखकी, श्रीकृष्ण इस कामनाकी पूर्ति करने जाते हैं तो उनको स्वयं अधिक सुखी होना पड़ता है। अतः इस दानसे ऋण और भी बढ़ता है। ३. जहाँ गोपियोंने सर्वत्याग करके केवल श्रीकृष्णके प्रति ही अपनेको समर्पित कर दिया है, वहाँ श्रीकृष्णका अपना चित्त बहुत जगह बहुतसे भक्तोंके प्रति प्रेमयुक्त है। अतएव गोपी-प्रेम अनन्य और अखण्ड है, कृष्णप्रेम विभक्त और खण्डित है। इसीसे गोपीके भजनका बदला उसी रूपमें श्रीकृष्ण दे नहीं दे सकते और इसीसे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

गोपियो! तुमने मेरे लिये घरकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं सदा तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही, प्रेमसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

प्रेममार्गी भक्तको चाहिये कि वह अपनी समझसे तन, मन, वचनसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको श्रीकृष्णसुखके लिये ही करे। जब-जब मनके प्रतिकूल स्थिति प्राप्त हो, तब-तब उसे श्रीकृष्णकी सुखेच्छाजनित स्थिति समझकर परम सुखका अनुभव करे। यों करते-करते जब प्रेमी भक्तका केवल श्रीकृष्ण-सुख-काम अनन्यतापर पहुँच जाता है, तब श्रीकृष्णके मनकी बात भी उसे मालूम होने लगती है। गोपियोंके 'श्रीकृष्णानुकूल जीवन' में यह प्रत्यक्ष है। उनके जीवनको श्रीकृष्ण अपना सब कुछ बना लेते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'गोपियाँ मेरी सहाय, गुरु, शिष्या, भोग्या, बान्धव, स्त्री हैं। अर्जुन! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं अर्थात् सब कुछ हैं। अर्जुन! मेरी महिमाको, मेरी सेवाको, मेरी श्रद्धाको और मेरे मनके भीतरी भावोंको गोपियाँ ही जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।'

श्रीकृष्णसुखगतजीवना, श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णपरिनिष्ठित-मति गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य ।
कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य ॥
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार ।
कृष्ण-सुख हेतु करे संगम-विहार ॥
आत्मसुखदुःख गोपी ना करे विचार ।
कृष्ण-सुख हेतु करे सब व्यवहार ॥
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग ।
कृष्णसुखहेतु करे शुद्ध अनुराग ॥

यह गोपीस्वरूपकी एक छोटी-सी झाँकीकी छायामात्र है। इन गोपियोंमें सर्वशिरोमणि हैं वृषभानुदुलारी श्रीराधाजी। गोपियाँ श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं। गोपियोंका परम आदर्श और परम सेव्य श्रीराधामें ही निहित है। श्रीराधारूपी दर्पणमें ही श्रीकृष्णका पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है और वह दर्शन भी श्रीकृष्णको ही होता है। दर्पणका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है; क्योंकि दर्पण केवल प्रतिविम्बको—छायाको ग्रहण करता है, परंतु प्रेमीका प्रेमभरा हृदय तो विम्बको—मूल वस्तुको ही ग्रहण करता है। प्रेमीके हृदयमें परम प्रियतम श्रीकृष्णके रूपकी छाया नहीं पड़ती, वहाँ तो वे स्वयं सदा सुखपूर्वक निवास करते हैं। वाल्मीकिजीने स्थाननिर्देश करते हुए भगवान् श्रीरामको उनके नित्य निवासके लिये निज घर बतलाया था—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

प्रेमका रूप बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद् भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

ध्वंसका कारण समुपस्थित होनेपर भी जो ध्वंस नहीं होता, जो कभी रुकता, घटता और मिटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेमकी ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता होती है, त्यों-त्यों उसमें नये-नये रूपोंका आविर्भाव होता रहता है। रसशास्त्रमें उन्हींको विभिन्न नामोंसे बतलाया है। प्रेम प्रगाढ़ होते-होते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावका स्वरूप प्राप्त करता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरा रतिमें भी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्णता है। मधुरा रति अत्युत्कृष्ट है। इसमें अनुरागकी बड़ी वृद्धि होती है। यही अनुराग प्रगाढ़ होकर 'भाव' तथा 'महाभाव' बन जाता है। जैसे मधुरा रतिमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य चारों रतियोंका समावेश रहता है, वैसे ही 'महाभाव' में भी स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव सम्मिलित रहते हैं।

'राग' की स्थितिमें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी सम्भावना होनेपर असीम और भयंकर-से-भयंकर दुःखमें भी सुखकी प्रतीति होती है। तीव्र प्रेम-पिपासाके कारण इष्ट वस्तुमें होनेवाली परमाविष्टताका नाम ही 'राग' है। इसी रागकी परिपक्वता होनेपर 'अनुराग' होता है। अनुरागमें श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिक्षण नया-नया दिखायी देता है। जितना ही देखा-सुना जाता है, उतना ही अनुराग बढ़ता है और जितना अनुराग बढ़ता है, उतनी ही रूपकी नव-नवरूपता बढ़ती चली जाती है।

श्यामसुन्दरमें नित्य नव-सौन्दर्यका दर्शन करनेवाली एक गोपी दूसरी नयी गोपीसे कहती है—

सखी री ! यह अनुभवकी बात ।
प्रतिपल दीखत नित नव सुंदर, नित नव मधुर लखात ॥
छिन छिन बढ़त रूप गुन माधुरि, छिन छिन नूतन रंग ।
छिन छिन नित नव आनँद धारा, छिन छिन नयी उमंग ॥
नित नव अलकनि की छवि निरखत अलि-कुल नित नव लाजै ।
नित नव सुकुमारता मनोहर अंग अंग प्रति राजै ॥
नित नव अंग सुगंध मधुर अति मनहिं मत्त करि डारत ।
नित नव दृष्टि सुधामयि जनके ताप असेष निवारत ॥
नित नव अरुनाई अधरनि की नित नूतन मुसुक्यान ।
नित नूतन रस-सुधा-प्रवाहिनि मधु मुरली की तान ॥
नित नूतन तारुन्य, ललित लावन्य नित्य नव बिकसै ।
नित नव आभा बिबिध बरन की पिय के तनु तें निकसै ॥
कछुव होत न बासी कबहूँ नित नूतन रस बरसत ।
देखत देखत जनम सिरान्यो, तऊ नैन नित तरसत ॥

अनुरागकी पूर्ण परिणति या निःसीमता महाभावकी समीपवर्तिनी प्रेमकी स्थितिका नाम 'भाव' है। भावकी पराकाष्ठा ही 'महाभाव' है। महाभाव सूर्यके सदृश है। सूर्य-के दो स्वभाव हैं—जिसके साथ सूर्यका सम्पर्क होता है, उसके अन्धकारका नाश कर देना और अपनी शुभ किरण-मालासे उसे स्नान करा देना। इसी प्रकार 'महाभाव' भी भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे जिसके हृदयमें उदित हो जाता है, उसके हृदयमें अनादिकालसे स्थित 'स्वसुखतात्पर्य' रूप अन्धकारको वह सदाके लिये हर लेता

है और निज सम्बन्धी जनमात्रके भीतर-बाहरको नित्य परमानुरागमय बना देता है।

महाभावकी 'रूढ़' और 'अधिरूढ़' दो अवस्थाएँ हैं। महाभावकी जिस अवस्थामें सात्त्विक भाव उदीप्त हो उठते हैं, उसे 'रूढ़' महाभाव कहते हैं। गोपी-प्रेममें इस रूढ़ भावकी अभिव्यक्ति होती है। यह 'रूढ़ महाभाव' श्रीकृष्णकी पटरानियोंके लिये अति दुर्लभ है। यह तो केवल व्रजदेवियोंके द्वारा ही संवेद्य है, व्रजसुन्दरियोंमें ही सम्भव है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः ।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ॥

जिसमें रूढ़ भावोक्त समस्त अनुभावोंसे सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उसे 'अधिरूढ़' महाभाव कहते हैं। श्रीराधा इस अधिरूढ़ महाभावकी घनीभूत प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। श्रीराधाके प्रेमका नाम ही 'अधिरूढ़ महाभाव' है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णके मिलन और विरहजनित सुख और दुःखोंका साथ-ही-साथ अतुलनीय रूपमें उदय होता है।

इस 'अधिरूढ़ महाभाव' के दो प्रकार हैं—'मोदन' और 'मादन'। 'मोदन' महाभाव श्रीकृष्णमें भी होता है। श्रीराधारानीकी विरह-व्याकुल स्थितिको भी 'मोदन' या 'मोहन' कहते हैं। 'मोहन' अवस्थाको दिव्योन्माद भी कहा जाता है। 'मादन' महाभाव श्रीराधाकी ही एकमात्र सम्पत्ति है। ह्लादिनी शक्तिकी परिपूर्ण परिणति ही 'मादन' है। इसमें श्रीराधारानी नित्य अनवच्छिन्न मिलनानन्दका अनुभव करती हैं।

श्रीकृष्णके नित्य नवीन माधुर्यके प्रादुर्भावका कारण श्रीराधा ही हैं। श्रीराधाका दुर्लभ प्रेम श्रीकृष्णकी अप्रतिम माधुर्यराशिको सर्वतोभावसे केवल ग्रहण ही नहीं करता, ग्रहण करके वह उस माधुर्यको और भी विशेषरूपसे उज्ज्वल तथा अनवरत उज्ज्वलतर करता रहता है। श्रीकृष्ण-माधुर्यके नित्य नवीनत्वकी प्रकाशभूमि है श्रीराधाकी नित्य-वर्धनशील उत्कण्ठा। श्रीराधाका प्रेम विभु होकर भी नित्य वर्धनशील है और श्रीकृष्णका माधुर्य नित्य वस्तु होकर भी नित्य नवायमान है। श्रीकृष्णका सांनिध्य ही श्रीराधा-प्रेमकी वर्धनशीलता है और श्रीराधाका सांनिध्य ही श्रीकृष्ण-मधुरिमाकी नित्य नवायमानता है। यह महाभावकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है। श्रीकृष्णनिष्ठ मधुरिमा और श्रीराधानिष्ठ उत्कण्ठा दोनों ही असीम और अनन्त हैं। श्रीराधारानी श्रीकृष्ण-माधुरीका आस्वादन नित्य निरन्तर सम्पूर्णरूपसे करती रहती हैं, तो भी उस माधुर्यका कहीं अन्त तो आता ही नहीं। वह उत्तरोत्तर अपने मधुर स्वरूपमें तथा परिमाणमें बढ़ता ही रहता है और श्रीराधाकी माधुर्यास्वादनकी पिपासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

यह 'राधाकृष्ण' का नित्य विहार अनादिसे अनन्तकालतक नित्य निरन्तर चलता ही रहता है। श्रीराधाभाव दिव्यातिदिव्य प्रेम-माधुर्य-सुधा-रसका एक अगाध अनन्त असीम महासमुद्र है। उसमें नित्य नयी-नयी अनन्त दिव्य अमृतमयी मधुरिमा तथा महिमामयी अनन्त वैचित्र्यमय महातरंगें उठती रहती हैं। यह आजका राधाभावका दिग्दर्शन भी राधाभाव-महासागरकी किसी एक तरंगका सीकर मात्र है। प्रातः स्मरणीय आचार्यों तथा प्रेमी महात्माओंने उनके जो विभिन्न रूपोंके दर्शन और वर्णन किये हैं, वे सभी सत्य हैं। श्रीराधाके असीम तथा अनन्त महिमामय स्वरूप तथा तत्त्वकी, उनके आनन्द और प्रेमकी, उनके श्रीकृष्णमिलन और विरहकी व्याख्या मुझ-सरीखा तुच्छ जीव कैसे कर सकता है ? उनकी एक-एक तरंगमें अनन्तकालतक निवास तथा विचरण किया जा सकता है।

यों श्रीराधा कृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान्‌का आनन्द-स्वरूप ही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं, श्रीराधा कृष्णकी आराधिका हैं, उनकी भक्ता हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी हैं, विश्वमयी हैं, विश्वस्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमाया हैं, दैवी माया हैं, निजमाया हैं। श्रीराधा कृष्णकी शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा कवियोंकी काव्य-सामग्री हैं। श्रीराधा सबकी आराध्या हैं, श्रीराधा अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं।

मेरे एक राधा नाम अधार ॥
कोउ देखत 'निज रूप' ब्रह्मपर निराकार अविकार।
कोउ करि निज तादात्म्य आत्म महँ जो सम सर्वाधार॥

कोउ द्रष्टा देखत प्रपंच जिमि मिथ्या स्वप्न-विकार ।
कोउ निरखत नित दिव्य ज्योति हिय परम तत्व साकार ॥
कोउ कुंडलिनी कौं जाग्रत करि षट्चक्रनि करि पार ।
पहुँचत सिखर सहस दल ऊपर जोग सिद्धि को सार ॥
कोउ अनहद धुनि सुनत दिवस निसि अजपा जाप सँभार ।
कोउ निष्काम कर्म रत जोगी, कोउ नित करत विचार ॥

कोउ कमलापति, कोउ गिरिजापति नाम रूप उर धार ।
भक्त-कल्पतरु राम कृष्ण कोउ सेवत अति सत्कार ॥
हौं जड़मति अति मूढ़ हठीलो नटखट निपट गँवार ।
राधे राधे रटौं निरंतर मानि सार को सार ॥
बोलो श्रीवृषभानुदुलारी कीर्तिदाकुमारीकी जय !

भारतीय अर्थशास्त्रकी आधारभित्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्दजी सरस्वती, एम्० ए०)

अर्थ्यते-प्रार्थ्यते काम्यते लोकसुखविवृद्धया इति अर्थः— लोक-सुख-विवृद्धिके लिये जिसकी कामना की जाती है, उसे अर्थ-संज्ञा दी जाती है। 'शास्यतेऽनेनेति शास्त्रम्, शासनाच्छास्त्रं वा' —जिससे शासन किया जाय, वह शास्त्र; अथवा शासन करनेवाला होनेसे 'शास्त्र' कहलाता है।

अर्थशास्त्र मानव-समाजकी व्यष्टि-समष्टिगत उन चेष्टाओं-का पर्यालोचन करता है, जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धि और उपभोगसे है। एतावता अर्थशास्त्र धन और तद्विषयक मानवीय वासनाओं, संकल्पों और उद्योगों आदिका अध्ययन करता है। धनका अभिप्राय व्यक्त करनेवाला लोकप्रचलित शब्द 'सम्पत्ति' भी है। 'सम्पद्यत इति सम्पत्तिः'—जो प्राप्त की जाती है, वह सम्पत्ति है। यह इसका प्रकृति-प्रत्ययजन्य अर्थ हुआ। अर्थ-शास्त्र अपनी सीमामें आनेवाले मानवीय संकल्पोंकी सूक्ष्म आलोचना किये बिना कोई उपयोगी नियम निर्धारित नहीं कर सकता; क्योंकि मनुष्यकी लक्ष्यनिष्ठ सभी चेष्टाओंका उद्गमस्थान संकल्प है। 'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते'—जैसा संकल्प होता है, मनुष्य वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। चेष्टाकी संकल्प-मूलकता लोकसिद्ध है। उक्त श्रुतिने उसका अनुवादमात्र किया है।

समष्टिगत चेष्टाएँ समाजके द्वारा ही सम्भव हैं, अतः अंशतः सामाजिक संकल्प भी अर्थशास्त्रके लिये विचारणीय बन जाते हैं। 'समाज' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'अज्' धातुसे घञ्-प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। तात्पर्य—'वीतिः गतिः प्रगतिः उन्नतिः सम्यग्रूपेण क्रियते जनैर्यस्मिन् स समाजः।' जिसमें रहकर मनुष्य सम्यक् रूपसे अपनी प्रगति अर्थात् उन्नति करते हैं, उसे समाज कहते हैं। लगभग इस अर्थमें 'समुदाय' शब्दका भी प्रयोग कर सकते हैं। यह 'सम्' और 'उत्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'इण्' धातुसे घञ्-प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्तिसे 'समुदाय' शब्दका अर्थ हुआ ऊपर उठनेका साधन। समाजका व्यापक अध्ययन अर्थशास्त्रका विषय नहीं; पर इतनी बात अवश्य है कि 'शास्त्र' संज्ञा सार्थक करनेके लिये अर्थशास्त्रके लिये समाजके मुख्य प्रयोजनसे अविरुद्ध आर्थिक नियमोंका अनुसंधान करना अभीष्ट होगा।

प्राणी—विशेषतः मनुष्य जिस मूल प्रेरणासे अनन्त प्रकारकी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होता है, वह है दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति। अतः सुख और दुःखके स्वरूप और विशेषताओंको भी संक्षेपसे समझ लेना उपयोगी होगा। प्रथम अवलोकनपर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख और दुःखको उत्पन्न करनेवाले अनन्त पदार्थ हैं, परंतु उनके पारस्परिक विभेदोंसे तज्जन्य सुख या दुःखमें कोई तात्त्विक भेद उत्पन्न नहीं हो जाता। अर्थात् सुख या दुःख चाहे जिस हेतुसे उत्पन्न हों, हेतुकी विलक्षणतासे उनमें कोई वैलक्षण्य उत्पन्न नहीं होता। सुख-दुःखकी मात्रामें तारतम्य हो सकता है, पर स्वरूपमें भेद सम्भव नहीं। इसलिये लोक-व्यवहारमें भी 'अधिक दुःख', 'दुःखलेश', 'अपार सुख', 'लवमात्र सुख' इत्यादि मात्राकी न्यूनाधिकता व्यक्त करनेवाले शब्द ही पाये जाते हैं—स्वरूप-भेद-द्योतक शब्द नहीं। तैत्तिरीयोपनिषद् और बृहदारण्यकमें मर्त्यलोकके सुखसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सुखमें मात्राभेदका दिग्दर्शन कराकर आत्मसुखका लक्ष्य करानेके लिये कहा गया है कि उस आनन्दसिन्धुके एक बिन्दुमें ही ब्रह्मलोकपर्यन्तके सब सुख हैं।

सुख-दुःखकी यह भी विशेषता है कि ये स्वयं तो किसी-न-किसीके विषय हैं पर इनका विषय कोई नहीं। जैसे सुख इच्छाका विषय और दुःख द्वेषका विषय है, पर सुख-दुःखका विषय कोई इतर पदार्थ नहीं। फिर भी पुरुषका सुखमें राग और दुःखमें द्वेष स्वभावसिद्ध है। लोकके जितने व्यवहार हैं, वे सब सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारके लिये ही हैं। अतः प्राप्ति और परिहारविषयक प्रवृत्ति निर्हेतुक प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति हेतुमूलक है, वह हेतुका अपनयन करके रोकी जा सकती है; पर निर्हेतुक प्रवृत्ति प्रवृत्तके अस्तित्वको समाप्त किये बिना नहीं रोकी जा सकती। ऐसी स्थितिमें उस प्रवृत्तिकी धाराको सर्वकल्याणकारी मार्गसे प्रवाहित होने देना ही सर्वथा उचित है। अन्यथा उच्छृङ्खल प्रवाह प्रथम दूसरोंको और अन्ततोगत्वा अपने प्रवर्तकको ही पीड़ित करेगा।

सुख-दुःखकी मात्रामें तारतम्य है, यह बात ऊपर कह चुके हैं। अधिक मात्रामें सुख और कम मात्रामें सुख—इन दोके बीचमें यदि मनुष्यको एकका चुनाव करना हो तो अन्य परिस्थितियोंके समान रहते हुए मनुष्य अधिक मात्रा-वाला सुख ही पसंद करेगा। इसी प्रकार अधिक मात्रामें दुःख और कम मात्रामें दुःख, इन दोमेंसे एक-न-एकको स्वीकार करना अनिवार्य हो तो अन्य परिस्थितियोंके समान रहते हुए मनुष्य कम मात्रावाला दुःख ही स्वीकार करेगा। एक प्रकारका साधन अपनानेसे यदि सुखोपलब्धि अधिक मात्रामें होती है और दूसरे प्रकारका साधन अपनानेसे कम मात्रामें, तो ऐसी स्थितिमें दोनों साधनोंको अपनानेका अधिकार और योग्यता रहते हुए प्रभावशालिनी बाधाके अभावमें मनुष्य अधिक सुखके साधनका ही अवलम्बन करेगा। परंतु यदि अधिक सुखके साधनकी प्राप्ति उद्योग करनेपर भी तत्काल या निकट भविष्यमें उसके लिये शक्य न हो और कम सुखके साधनको अपनानेमें उसके नैतिक विचारोंका प्रबल विरोध न हो तो वह अधिक सुखके साधनको छोड़कर अल्प सुखके साधनमें अवश्य ही प्रवृत्त हो जायगा।

अपने अस्तित्वमें सुख-बुद्धि और विनाशमें दुःखबुद्धि सभी प्राणियोंमें तुल्य है। अतः अस्तित्वकी साधकसामग्रियोंकी उपलब्धि भी सुखनिमित्तक ही है। विनाश रोकनेके लिये जो उपाय किये जाते हैं, वे दुःखके परिहारके लिये ही हैं।

विभिन्न पदार्थों और प्राणियोंकी चेष्टाओंमें अन्य-अन्य दृष्टियोंसे चाहे अगणित भेद क्यों न हों, पर सुख-दुःखके उत्पादकके रूपमें वे केवल न्यूनाधिक मात्राएँ ही हैं। अर्थात् सभी पदार्थ और चेष्टाएँ भोक्तृगत वैलक्षण्यके अनुसार सुख या दुःखमें परिणत होकर भिन्न परिमाणरूप ही हैं।

सभी चेष्टाएँ संकल्पमूलक ही हुआ करती हैं। मनुका स्पष्ट वचन है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

इसलिये किसी भी प्रकारकी चेष्टाओंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उनके मूल संकल्पोंका अध्ययन करना अनिवार्य है। विचार करके देखा जाय तो मनुष्यका एक ही मूल संकल्प है, जो देश-कालके भेदसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी पड़ता है। वह संकल्प है—दुःखका मूलोच्छेद और सुखकी अबाध उपलब्धि करना।

अर्थशास्त्र एकाकी इस संकल्पकी पूर्ति करानेमें असमर्थ है। वह इसकी पूर्तिके सकल साधनोंपर विचार न करके केवल आर्थिक साधनोंपर ही विचार करता है। अन्य सब शास्त्र भी इसी संकल्पकी पूर्तिके साधनोंपर प्रकाश डालनेमें तत्पर हैं; अतः अर्थशास्त्र उनका विरोधी न बनकर उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अपनेको अधिकतम उपयोगी बना सकता है। यदि यह बात सत्य है तो अर्थशास्त्रको अन्य शास्त्रोंद्वारा सुनिर्णीत सिद्धान्तों और नियमोंका भरपूर उपयोग करना पड़ेगा। भारतीय अर्थशास्त्रकी यही विशेषता है कि यह धर्मके साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अग्रसर होता है।

अमुक पदार्थ सुखद है या दुःखद है, व्यवहारमें इसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग पाया जाता है। पर विचारकी कसौटीपर कसकर देखा जाय तो वस्तु या चेष्टा साक्षात् सुखद या दुःखद नहीं। भोक्ताकी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करनेपर ही वह सुखद कही जा सकती है। दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सकता है कि वासनाका उपशम होनेपर स्वतःसिद्ध सुखका जो अनुभव होता है, उसका सम्बन्ध उस वस्तुसे मान लिया जाता है। इसी प्रकार कोई वस्तु या चेष्टा साक्षात् दुःखद भी नहीं है। अवाञ्छित फल उत्पन्न करने अथवा वाञ्छित फलमें बाधा डालनेपर ही वह दुःखद मानी जाती है। आवश्यकताएँ—चाहे वे शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी कोटिकी हों—

परिवर्तनशील हैं। शिक्षा, आदर्श, रहन-सहन, जीविकोपार्जनकी प्रणाली आदि बातोंमें परिवर्तन आनेपर आवश्यकताओंमें भी परिवर्तन हो जाता है। पुरानी आवश्यकताएँ आवश्यकताओंकी कोटिसे बाहर हो जाती हैं। एतावता उनकी पूर्ति करनेवाले पदार्थ भी सुखद नहीं रह जाते। सुखके साधन होनेके नाते ही पदार्थोंकी चाह की जाती है। जब मनुष्य अपने अनुभव और बुद्धिके आधारपर उनमें सुखसाधनता नहीं समझता, तब उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता। इसीलिये जो वस्तु किसी कालमें बहुमूल्य मानी जाती है, कालान्तरमें परिस्थिति बदल जानेके कारण वही अकिंचित्कर हो जाती है।

शारीरिक आवश्यकताएँ प्रायः सीमित हैं और सुविधापूर्वक पूरी की जा सकती हैं। संकोच-विकासशीलता (Elasticity) उनमें अति न्यून है। परंतु मानसिक आवश्यकताएँ अत्यन्त संकोच-विकासशील और निस्सीम हैं।

आवश्यकताके प्रति एक दृष्टिकोण और हो सकता है। अभावकी अनुभूतिसे भिन्न आवश्यकता नामका कोई पदार्थ नहीं। किसी वस्तुकी प्राप्तिकी चाह होना ही उसकी आवश्यकता है। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी चाह ही सम्भव है। प्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी चाह तो एक असंगत शब्द-योजना है। वस्तुका अप्राप्त होना ही उसका अभाव है। ज्ञात अभाव ही अभावकी अनुभूति है। अतः कहा जा सकता है कि अभावकी अनुभूति और आवश्यकता दोनों एक ही पदार्थ हैं।

अभाव वासना-सापेक्ष ही संगत कहा जा सकता है। अर्थात् कोई वासना हो और यत्पदार्थविषयक वह वासना है, उसकी उपलब्धि जिस कालमें न हो, उसी कालमें यह कथन संगत हो सकता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है या उसका अभाव है। जिसकी वासना ही नहीं, उसका भावाभाव दोनों निरर्थक हैं। अभावकी अनुभूतिको सरलताके लिये अभाव ही कह लें। आवश्यकता या अभाव वासनाके समकाल ही हुआ करते हैं।

जीवनोपयोगी—न्यूनतम वस्तु-सम्बन्धी वासनाओंको छोड़कर शेष सभी वासनाएँ अध्यात्मज्ञानसे भली प्रकार शान्त की जा सकती हैं। वासनाकी शान्तिमें ही सुख है, यह दिखाया जा चुका है। अभीप्सित पदार्थके उपभोगसे भी वासनाकी शान्ति होती है और अध्यात्मज्ञानसे भी। अन्तर यह है कि पदार्थके उपभोगसे क्षणिक शान्ति होती है, कालान्तरमें वह वासना पुनः जाग्रत् होती है। ज्ञानसे शान्त हुई वासना सर्वदाके लिये शान्त हो जाती है। उपभोगकी एक विशेषता यह है कि उससे अन्तःकरणमें भोगके संस्कार पड़ते हैं और ये संस्कार भोग-वासनाको और बलवती बनाते हैं। भोग-वासना जितनी बलवती होगी, अतृप्त रहनेपर वह उतनी ही अधिक मात्रामें व्यक्तिको दुखी करेगी। अधिकांश यही देखा जाता है कि जितना-जितना भोग किया जाता है, भोग-तृष्णा उतनी-ही-उतनी बढ़ती जाती है और एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि भोग्य पदार्थकी उपलब्धिमें थोड़ा भी विलम्ब असह्य हो जाता है। अतः भोगजन्य सुख क्षणिक और अनेक दोषदूषित होता है। इसी अभिप्रायसे परम दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥

'जो इन सब विषयोंको प्राप्त कर लेता है और जो इन सबका त्याग कर देता है; उनमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवालेकी अपेक्षा त्याग करनेवाला ही उत्तम है।'

इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके लिये शारीरिक या बौद्धिक श्रम और अपेक्षित समय अवश्य ही लगाने पड़ेंगे। अकस्मात् उपलब्ध पदार्थ इसका अपवाद अवश्य है, पर इससे उक्त नियममें कोई दोष नहीं आता। अभीष्ट पदार्थके भोगद्वारा सुखानुभूति करनेमें दो प्रधान दोष हैं—प्रथम तो यह कि भोगसे क्षणिक तृप्ति तो चाहे हो जाय, पर भोग-लालसा उसी प्रकार वृद्धिंगत होती है जैसे वह्निकी ज्वाला घृताहुतियोंसे। भोग-लालसा जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-ही-वैसे अशान्ति, अतृप्ति और मानसिक वेदना भी बढ़ती जाती है। इसलिये अनियन्त्रित दशामें भोग-मार्ग अपने प्राथमिक प्रयोजनको ही नष्ट कर देता है। भोगमार्गका द्वितीय प्रधान दोष यह है कि भोग-सुख-सम्पन्न जनोंके प्रति भोग-सुख-विरहित जनोंके अन्तःकरणोंमें यह प्रायः विद्वेषाग्नि प्रज्वलित करता है। इस प्रसङ्गमें भोगका अर्थ विलासिता समझना चाहिये। शास्त्रोक्तरीत्या शारीरिक, बौद्धिक श्रम और समयका सदुपयोग करके मनुष्य विषय-वासनाको भी क्षीण कर सकता है। ज्ञानके साधनोंको अपनाकर ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। शरीर-मन-बुद्धिकी चेष्टा और अपेक्षित समय चाहिये दोनोंके लिये—पदार्थकी प्राप्तिके लिये भी और ज्ञाननिष्ठाके लिये भी। ये सब मनुष्यको प्रकृतिसे ही प्राप्त हैं। अतः जो इन प्रकृतिदत्त साधनोंसे क्षणिक और अनेक-

दोष-दूषित भोग-सुखका त्याग करके वासना-क्षयरूप निर्मल निष्कलङ्क शाश्वत सुखकी प्राप्ति करता है, वह उत्तम क्यों न माना जाय ?

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धिकी अपेक्षा वासना-क्षयके मार्गमें सुख अधिक है। अधिक सुखकी ओर व्यक्तिकी रागतः प्रवृत्ति है। अतः न्यायतः पुरुषकी प्रवृत्ति भौतिक सुख-साधन-संग्रहकी ओर न होकर ज्ञानप्राप्तिकी ओर होनी चाहिये। परंतु ऐसा देखा नहीं जाता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

'कहीं सहस्रोंमें कोई एक ज्ञानप्राप्तिके लिये यत्न करता है।' नहीं तो ९९९ सुखके भौतिक साधनोंकी प्राप्तिके लिये व्यग्र दिखायी देते हैं। इसका कारण क्या है ? यह बात हम कह चुके हैं कि यदि अधिक सुख-साधनकी उपलब्धि उद्योग करनेपर भी तत्काल या निकट भविष्यमें शक्य न दिखायी देती हो और न्यून सुखके साधनोंको अपनानेमें अपने नैतिक विचारोंका प्रबल विरोध न हो तो उसीमें व्यक्तिकी प्रवृत्ति हो जायगी। ज्ञानके साधन अति कठिन होनेके कारण सहस्रोंमें किसी बिरलेको ही आकृष्ट कर पाते हैं। भौतिक सुख-साधन अपेक्षाकृत सुलभ होनेके कारण पूर्वापेक्षा आकर्षक होते हैं।

इस प्रसङ्गमें यह भी स्मरणीय है कि सभी प्रकारकी प्रवृत्तियोंके मूलमें उनके सजातीय संस्कार होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके आकर्षण-केन्द्र भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। इस भिन्नताका हेतु उनके संस्कारोंकी भिन्नता ही है। मनुष्योंके संस्कारोंका विश्लेषण करके देखा जाय तो पता चलेगा कि अधिकांश जनोंके अन्तःकरण त्यागकी अपेक्षा भोगके संस्कारोंसे ही अधिक संस्कारित हैं। संस्कारोंके अनुरूप मार्गसे चलनेमें स्वाभाविक ही सुगमता जान पड़ती है। इसीलिये मानव-समाजकी बहुत बड़ी संख्या आत्मसुखकी अपेक्षा अकिञ्चित्कर होनेपर भी भौतिक सुखके पीछे ही दौड़ रही है। यह दौड़ रोकी नहीं जा सकती। इसी रहस्यमें अर्थ-शास्त्रकी उपादेयता संनिहित है।

त्याग और भोग तेज-तिमिरवत् परस्पर विरुद्ध हैं। पर विशेषता यह है कि दोनों ही सुखोपलब्धिके हेतु हैं। प्रत्येकसे प्राप्त होनेवाले सुखोंमें तारतम्य भले ही हो पर प्रकार-भेद नहीं है। मनुष्यके सामने यदि विवशता न हो तो वह नित्य-निरतिशय सुखसे कम किसी भी स्थितिको स्वीकार नहीं कर सकता। अल्पमात्रिक और अल्पकालिक सुखकी अपेक्षा अधिकमात्रिक और चिरकालिक सुख मनुष्य पसंद करता है, यदि अन्य परिस्थितियाँ समान हों। यह सर्वसाधारणका अनुभव है और इसी अनुभवसिद्ध नियमका युक्तियुक्त निष्कर्ष है कि मनुष्यकी अन्तिम अभिलाषा नित्य-निरतिशय सुख प्राप्त करनेकी है। भोगजन्य सुख अनित्य और सातिशय ही देखा जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि अर्थशास्त्र चाहे कितनी भी पूर्णता प्राप्त कर ले, वह मनुष्यकी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

दूसरी ओर त्याग-मार्गसे यदि वासनाक्षय सम्भव है तो वासनाजालसे मुक्त होनेपर नित्य-निरतिशय सुखकी प्राप्ति युक्तिसंगत दिखायी देती है; क्योंकि वासनाका अतृप्त रहना ही दुःख है और उसका उपशम सुख। अनुभवका विश्लेषण करके देखा जाय तो प्रत्येक बार सुखका आविर्भाव वासनाके तिरोधानका समकालिक होता है। अर्थात् जितने कालतक वासना तिरोहित रहती है, उतने ही कालतक सुखकी अनुभूति होती रहती है। यदि किन्हीं प्रतिबन्धोंसे अभिलषित वस्तुका उपभोग करनेपर भी वासना तिरोहित न हो तो अतृप्ति और सुखाभावकी चेतना उपस्थित रहती है। निष्कर्ष यह निकला कि सुख और वासना परस्पर विपरीत स्थितिवाले हैं। यदि वासना उपस्थित है तो सुख अनुपस्थित है और सुख उपस्थित हुआ है तो वासना अनुपस्थित है। इसलिये यदि सर्वकालके लिये वासना-जाल किसी भी उपायसे छिन्न-भिन्न किया जा सके तो उसी उपायसे नित्य-निरतिशय सुख प्राप्त किया जा सकता है। अध्यात्मशास्त्रोंके वचन और ज्ञानीजनोंके अनुभव यह विश्वास दिलाते हैं कि शास्त्रोक्त विधिना निवृत्तिमार्गके अनुशासनका यथावत् पालन करते हुए वासना-जालसे छुटकारा हो सकता है।

निवृत्तिपरक शास्त्र मनुष्यकी जिस अभीष्ट सिद्धिका विश्वास दिलाते हैं, वह अर्थशास्त्रद्वारा सम्भव नहीं—यह सोपपत्ति कह चुके हैं। जीवन-सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताओंको छोड़कर सुखके लिये मनुष्यकी शेष चेष्टाएँ अर्थशास्त्रके अध्ययनक्षेत्रमें तभी अवतरित होती हैं, जब वह आध्यात्मिक उपायोंका अवलम्बन करनेमें अपनेको असमर्थ देखता है। यदि उस मार्गपर चलनेकी सामर्थ्य उसे प्राप्त हो सके तो वह इसे अपने जीवनकी सफलता मानेगा और इस सफलतापर प्रसन्न होगा। यदि यह सत्य है तो अर्थशास्त्रकी अधिकतम

उपादेयता भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धि और उपभोगका ऐसा मार्ग प्रशस्त करनेमें है, जिसपर चलता हुआ मनुष्य सुखेन नित्य-निरतिशय सुखके साधनोंकी योग्यता सम्पादन कर सके। भारतीय अर्थशास्त्रकी यही विशेषता है।

चिरंतन सुख प्राप्त करानेका दावा अर्थशास्त्र नहीं करता और चिरंतन सुखोपलब्धि ही मनुष्यका मुख्य इष्ट है। मुख्य इष्टका हनन करके अवान्तर इष्ट प्राप्त करानेवाला कोई भी उपाय मनुष्य विचारपूर्वक ग्रहण नहीं कर सकता। अतः कोई भी अर्थशास्त्र जो ऐसे नियम-उपनियम प्रस्तुत करता है जो मुख्य इष्टका घात करनेवाले हैं, चाहे वह कितना ही आपात-रमणीय हो, निष्पक्ष विचार करनेपर ग्रहणीय सिद्ध नहीं होता। तब जिस उपायसे चिरंतन सुख प्राप्त किया जा सकता है उसके साथ अर्थशास्त्रको सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ेगा। धर्मचिन्तन सुखको प्राप्त करा देनेका दावा करता है। यदि उसका दावा मानने योग्य है तो धर्मके साथ अर्थ-शास्त्रका समन्वय हो जाना सर्वथा उचित ही है। धर्मके सम्बन्धमें प्रधान दो मत प्रचलित हैं। एक मत आस्तिकोंका है और दूसरा नास्तिकोंका। आस्तिकोंका विश्वास है कि अधर्म-परिवर्जनपूर्वक धर्मानुष्ठानका जो फल धर्मशास्त्रोंमें बतलाया गया है, वह किसी भी प्रकार असत्य नहीं हो सकता। नास्तिकोंका कथन है कि धर्म ढकोसला है। मार्क्सके मतानुसार तो वह अफीमकी गोली है, जो तथाकथित शोषित-वर्गको अचेतनताकी अवस्थामें रखकर शोषण-तन्त्रको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये है। दोनों पक्षोंसे अपने-अपने समर्थनमें प्रभूत युक्तियाँ और उपपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पर इतना स्पष्ट है कि धर्मके अस्तित्व और शक्तिका खण्डन करनेवाले नास्तिकोंके तर्क और प्रमाण असंदिग्ध एवं अकाट्य नहीं हैं।

नास्तिकोंके सारे तर्क दृष्टिमें रखते हुए भट्टवार्तिक, न्यायकुसुमाञ्जलि आदि आस्तिक ग्रन्थोंका मनन करनेसे उक्त कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

अर्थशास्त्रको दोमेंसे एक मार्ग अवश्य चुनना है। या तो वह धर्मानुकूल मार्ग अपनाये या धर्मका अतिक्रमण करता हुआ चले। ऐसी स्थितिमें लोक-न्यायसे भी अर्थशास्त्रको धर्मके साथ समन्वय करते हुए चलना लाभप्रद होगा।

एक दृष्टान्त देकर सुस्पष्ट करें। मान लीजिये आप एक अपरिचित देशमें पहुँच गये। वहाँ एक व्यक्ति आपसे कहता है कि यदि आप यहाँपर अमुक प्रकारका आचरण करेंगे तो इस देशके नियमानुसार दण्डके भागी होंगे और परिणामतः चिरकालतक भीषण यातना भोगनी पड़ेगी। वहीं खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'यह धूर्त है, झूठ बोलता है; इसकी बात मत मानो।' तब आप क्या करेंगे? सम्भावित और बुद्धिमत्ताका मार्ग यही होगा कि आप प्रथम व्यक्तिके कथनानुसार चलें। इस प्रकार चलनेसे आपको न केवल यातनासे छुटकारा मिलेगा अपितु विपुल लाभ भी होगा।

इसीलिये भारतीय अर्थशास्त्र धर्मद्वारा निषिद्ध क्षेत्रोंमें पादक्षेप नहीं करता। 'अर्थशास्त्राद्धि बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः'—अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् है। याज्ञवल्क्यस्मृतिका यह निर्णय भारतीय अर्थशास्त्रीको मान्य है। प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री कौटिल्यने भी इस सिद्धान्तको अपने अर्थशास्त्रका आधार बनाया है। आगे हम इस बातपर प्रकाश डालेंगे। धार्मिक निर्णयोंको अपनी सीमा स्वीकार करना ही भारतीय अर्थशास्त्रकी सबसे बड़ी विशेषता है।

कहा जा चुका है कि वासनाकी शान्तिमें ही सुख है और वासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति बिना आत्मज्ञानके हो नहीं सकती। इसलिये बिना आत्मज्ञानके दुःखकी यथार्थ निवृत्ति कथमपि सम्भव नहीं। श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌की एक श्रुति विशिष्ट शैलीसे इसी अभिप्रायको व्यक्त करती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

जब मनुष्य चर्मवत् आकाशका वेष्टन करनेमें समर्थ होंगे, तभी आत्मतत्त्वके विज्ञानके बिना भी दुःखोंका अन्त हो जायगा। अतः शाश्वत सुखका मार्ग संक्षेपसे यह हो सकता है कि जीवनका लक्ष्य विषय-भोगको न बनाकर धर्माचरण-पुरस्सर तत्त्व-जिज्ञासाको बनाना चाहिये। स्वस्थ और संतुष्ट जीवन उसकी अनिवार्य पूर्वस्थिति (Imperative Precondition) है। इसलिये जीवन-रक्षा, स्वास्थ्य और न्याय एवं चित्तप्रसादके लिये धर्माविरुद्ध विषयोंका सेवन करना चाहिये। विषयोंकी उपलब्धिके लिये अर्थ अपेक्षित है। अतः उचित और आवश्यक समय धर्माविरुद्ध अर्थोपार्जनमें भी लगाना चाहिये।

यहाँ एक विरोध दिखायी देता है, जिसका परिहार आवश्यक है। जीवनकी स्वाभाविक गति विषयोंकी ओर है और तत्त्वज्ञान विषयोंसे मुख मोड़े बिना खपुष्पसे देवाराधन

करनेके तुल्य अशक्य है। तो क्या जीवनकी स्वाभाविक गतिमें बाँध लगाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करना सम्भव है? जीवनकी इस प्रातीतिक स्वाभाविक गति और तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके बीचकी खाईको पाटनेके लिये धर्म सेतुका काम करता है, जिसका अवलम्बन करके व्यक्ति इस किनारेसे उस किनारेपर पहुँच सकता है। धर्मका विरोध न भोगसे है न तत्त्वज्ञानसे प्रत्युत दोनोंके साथ उसका सामञ्जस्य है। धर्म भोगका बहिष्कार नहीं करता, केवल उसे मर्यादित करता है। अमर्यादित भोग भोक्ताके लिये हितकर भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'भोगे रोगभयम्'—लोककी सुनिश्चित अनुभूति है। तब यदि मर्यादा माननी ही है तो धर्मकी ही मर्यादा क्यों न स्वीकार कर ली जाय? निष्काम धर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञानकी क्षमता आती है और यह क्षमता आते ही अभी जो विषयोंकी ओरसे मुख मोड़ना असम्भव-सा दिखायी देता है, फिर अनायास शक्य हो जाता है। इसलिये चिरंतन सुखके मार्गके साथ यदि अर्थशास्त्रको समन्वय करना अभीष्ट है तो धर्मको अपनानेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। भारतीय अर्थशास्त्रके धर्म-नियन्त्रित होनेका यही हेतु है।

शङ्का की जा सकती है कि भारतीय अर्थशास्त्रके सम्बन्धमें इतना विचार-विमर्श किया जा रहा है तो क्या वस्तुतः भारतीय अर्थशास्त्र-जैसी कोई वस्तु है भी या लेखकके मनकी कल्पनामात्र है? अर्थशास्त्रके नामपर केवल कौटिल्यका ही ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसे आधुनिक युगकी दृष्टिसे अर्थशास्त्र कहना तो अधिक समीचीन न होगा। उस ग्रन्थसे वर्तमान आर्थिक समस्याओंका समाधान भी नहीं होता। तब हम आर्थिक क्षेत्रमें निरर्थक भारतीयताका राग क्यों अलापें? पाश्चात्त्य मनीषियोंद्वारा सम्यक् विचारपूर्वक सुनिबद्ध अर्थशास्त्रको ही क्यों न अपना लें, जिससे आजकी सभी समस्याओंका हल भी निकल आता है?

यह सत्य है कि पाश्चात्त्य विचारकोंने सामाजिक विज्ञान (Sociology) की एक शाखाके रूपमें अर्थशास्त्रको जिस प्रकार एक क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें उपस्थापित किया है, उस प्रकार भारतीय विचारकोंने इस दिशामें कोई प्रयास नहीं किया। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसा कोई प्रयास करनेके लिये यहाँ आधार नहीं। सर्वविदित है कि भारतीय जीवन चार पुरुषार्थोंकी प्राप्तिमें ही पूर्णता मानता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके स्वरूप और साधनोंपर प्रकाश डालनेमें तत्पर कहा जाता है। इसी अभिप्रायसे महाभारत, शान्तिपर्वमें धर्मराज युधिष्ठिर बाण-शय्यापर पड़े हुए गाङ्गेय भीष्मसे हितकी बात जाननेके लिये कहते हैं—

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत। 'भरतश्रेष्ठ! वेद धर्म, अर्थ और कामका ही कथन करते हैं।' यद्यपि मोक्ष भी वेदोंमें विहित है, फिर भी 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्यायके अनुसार अधिकांश श्रुतियाँ धर्म-अर्थ-कामपरक होनेके कारण वैसा कहा गया है—इतिहास-पुराणके कर्ता महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास स्वयं ही कहते हैं कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

'इतिहास और पुराणोंके द्वारा वेदका ही उपोद्बलन किया गया है।' तो जैसे वेद बाहुल्येन धर्म-अर्थ-कामका ही व्यपदेश करते हैं, वैसे ही इतिहास और पुराण भी अधिकांशमें इन्हींपर प्रकाश डालते हैं। शुक्र, बृहस्पति, नारद, कणिक, कामन्दक आदिके नीतिग्रन्थोंमें भी इसकी पर्याप्त सामग्री है। अतः पाश्चात्त्य ढंगके क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें भारतीय अर्थशास्त्र भले ही उपलब्ध न हो, पर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, इतिहासों और नीतिग्रन्थोंमें भी इसकी पर्याप्त सामग्री है। अतः पाश्चात्त्य ढंगके क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें भारतीय अर्थशास्त्र भले ही उपलब्ध न हो पर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, इतिहासों और नीतिग्रन्थोंमें भी तद्विषयक प्रभूत सामग्री इतस्ततः विकीर्ण है। कौटिल्यने भी इसी आधारभित्तिपर अपने कालकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओंका हल उपस्थित किया है। उसी आधारभित्तिपर हम अपने समयकी समस्याओंका हल ढूँढ़ सकते हैं।

अर्थविषयक इतनी पुष्कल सामग्री भारतीय शास्त्रोंमें विद्यमान है कि उसे भारतीय अर्थशास्त्रकी संज्ञा देना कथमपि अनुपयुक्त नहीं। जो यह कहा गया है कि पाश्चात्त्य मनीषियोंद्वारा सम्यक् विचारपूर्वक सुनिबद्ध अर्थशास्त्र ही हम क्यों न अपना लें, जिससे आजकी सभी समस्याओंका हल भी निकल आता है, तो इसका उत्तर यह है कि उपयोगी कोई भी पदार्थ अपनानेमें हमें हिचक नहीं—यदि वह धार्मिक मर्यादाओंके ढाँचेमें सटीक बैठ जाता है; क्योंकि यह पूर्व ही दर्शाया जा चुका है कि अर्थशास्त्रकी अधिकतम उपादेयता धर्मके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेमें है। यदि आर्थिक समस्याओंके अभारतीय हलोंका धर्मके साथ असामञ्जस्य है तो उन्हें अपनानेकी अपेक्षा उक्त आधारभित्तिपर नवीन हल ढूँढ निकालना अधिक उपयुक्त होगा। प्रायः अभारतीय हल भारतके लिये ज्यों-के-त्यों अपनाने योग्य नहीं हैं, इसलिये और भी विशेष रूपसे भारतीय अर्थशास्त्रकी आधार गम्भीर भित्तिका विवेचन अनिवार्य हो गया है।

भारतीय ईमानदारी

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'हमें सम्राट्के दर्शन होंगे ?' यात्रीका प्रश्न उचित था। उसके अपने देशमें सम्राट्का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। सामान्य जनकी तो बात ही दूर, मध्यवित्त पुरुषके लिये भी वे भेंटें एकत्र कर लेना सरल नहीं जो सम्राट्के सम्मुख पहुँचनेवाले प्रत्येक नवीन व्यक्तिको, जो सम्राट्से पहले-पहल मिल रहा हो, ले जानी आवश्यक हैं। 'मेरे पास केवल ये दो माणिक्य और एक पद्मराग है।'

'आप निश्चिन्त रहें ! भारतके सम्राट्का दर्शन अलभ्य कभी नहीं रहा है।' जो मार्गदर्शक साथ था उसने बतलाया—'वे प्रजाके पिता हैं और प्रत्येक प्रजाजन उनसे उसी सरलतासे मिल सकता है जैसे पुत्र अपने पितासे। आप तो अतिथि हैं। आपने सुना नहीं कि अतिथि भारतमें पूज्य होता है—सम्राट्के लिये भी पूज्य।'

'लेकिन मेरी भेंट········!' यात्रीको विश्वास नहीं हो रहा था। उसके अविश्वासका कारण था। वह चीन-का निवासी है; किंतु अपने सम्राट्के दर्शन उसे अब हुए—केवल इसलिये हुए कि वह भारतकी यात्रा करने जा रहा था। उसके सम्राट्ने उसका सम्मान किया इसलिये कि वह भारतके सम्राट्का दर्शन कर सकेगा। भारतका सम्राट्—जिसका नाम लेकर चीनका राजराजेश्वर तीन बार घुटनोंके बल झुक पड़ा—कितना महान् होगा वह।

'आप भेंटकी बात क्यों सोचते हैं ? भारतको अतिथिका सौहार्द अपेक्षित है, उपहार नहीं।' परंतु सहसा मार्गदर्शक गम्भीर हो गया—'हम भारत पहुँच पायेंगे या नहीं, प्रश्न इतना ही है।'

'क्यों ?' यात्रीने भी पथ-प्रदर्शकके साथ आकाशकी ओर देखा। उसने एक दीर्घ श्वास ली। आकाश एक कोनेसे कपोतकर्बुर मेघोंसे ढकता जा रहा था। इसका अर्थ था कि हिमपात प्रारम्भ होनेवाला है।

'हम आशा नहीं कर सकते कि और तीन दिन हिमपात नहीं होगा !' पथ-प्रदर्शकने हताश भावसे कहा—'आगे बढ़नेका अर्थ आप समझ सकते हैं। यदि आप आज्ञा दें तो हमारे घोड़ोंमें अभी इतनी शक्ति है कि हम पिछले मठतक लौट जायँ। मार्ग इतना देखा है कि हिमपात प्रारम्भ भी हो गया तो हम भटकेंगे नहीं। शीतकाल हमें अब इस प्रदेशमें ही व्यतीत करना है।'

यात्री बिना कोई उत्तर दिये घोड़ेसे उतर पड़ा। उसने इधर-उधर देखा और समीपकी एक पहाड़ीपर चढ़ गया। मार्गदर्शकने केवल इतना देखा कि ऊपर जाकर वह घुटनोंके बल झुक गया है और बार-बार भारत-की ओर मुख किये अभिवादन कर रहा है।

'सर्वदर्शी तथागत साक्षी हैं, मैं भारत-सम्राट्का उपहार भारतीय सीमामें रख आया हूँ।' यात्री थोड़ी ही देरमें लौट आया—'अब हम लौट सकते हैं। भाग्य अनुकूल रहा तो मैं अवश्य भारत जाऊँगा; किंतु सम्राट्-के उपहार लेकर मैं लौटूँ और मठमें········नहीं, यह मुझसे नहीं हो सकता।'

'आपका अनुमान सत्य है। यह पहाड़ी भारतीय सीमामें है।' मार्गदर्शकने बतलाया—'हिम यदि अपने साथ न ले जाय तो कोई मनुष्य आपके उपहारोंको स्पर्श भी नहीं करेगा। भारतीय सम्पत्ति छूनेका साहस सुदूर मरुभूमिके दस्युओंमें भी नहीं है।'

× × ×

'देव ! मैं इस योग्य नहीं हूँ।' उत्तरापथके वणिक्-प्रधान उपस्थित हुए थे आज स्थाण्वीश्वरमें। उन्होंने

इस बार केवल कुछ शैलेय, कस्तूरिका और उत्तम मृग-चर्म सम्राट्के सम्मुख उपहारमें रक्खे, इससे सभासदोंको आश्चर्य हुआ। ये मणियोंका अम्बार लगा देनेवाले उत्तरापथ-प्रधान—किंतु उससे अधिक आश्चर्य तब सभासदोंको हुआ जब सर्वथा अप्रत्याशित भावसे सम्राट्ने उठकर वह उपहार स्वयं स्वीकार किया और प्रधान मन्त्रीको न देकर पार्श्वरक्षकको आदेश दे दिया कि ये वस्तुएँ उनके पूजा-कक्षमें रख दी जायँ। किसीका उपहार आराध्यकी सेवामें अर्पित करें सम्राट्, इतना सम्मान पहिली बार दिया उन्होंने इनको और अब तो आश्चर्यकी सीमा हो गयी सभासदोंकी। ये प्रधान महोदय सम्राट्के संकेत करनेपर भी अपने सदाके निश्चित आसनको स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

'आप मेरी भूल क्षमा करें। सचमुच आप उस हीन आसनके योग्य नहीं हैं।' सम्राट् खड़े हुए और उन्होंने हाथ पकड़कर उत्तरापथके प्रधानको अपने सिंहासनके समीप—देशके गौरवभूत सम्मान्य जनोंके लिये निश्चित आसनोंमेंसे एकपर बैठा दिया।

'श्रीमान् मेरी प्रार्थना·······!' प्रधानके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे। वे गद्गद कण्ठसे बोलते उठने लगे आसनसे।

'प्रार्थना पीछे सुनी जायगी। पहले आप इस अपने सम्राट्को क्षमा कर दें।' सम्राट्ने उन्हें न उठने दिया और न बोलने ही दिया। 'उत्तरापथमें भयानक हिमपात हुआ। वहाँके प्रजाजन गृहहीन हो गये। उनके पशु आखेट हो गये हिमके। उनकी अपार क्षति हुई और अपनेको क्षत्रिय कहलानेवाला, देशकी रक्षाका उत्तरदायित्व लेनेवाला वहाँ पहुँचतक नहीं सका। क्या हो गया जो आरण्य-दस्युओंका उसे प्रतिरोध करना था। देशकी विस्तृत सीमाको वह एक साथ सम्हाल नहीं सकता तो उसे सिंहासनपर बैठे रहनेका अधिकार क्या है? उत्तरापथकी प्रजाकी उपेक्षा करनेवाला वहाँका सम्राट् कैसे कहला सकता है?'

'श्रीमान्की प्रजा निरुपद्रव है। स्थाण्वीश्वरका प्रजा प्रकृतिके कोपपर भी विजयी है।' प्रधानने सम्राट्को हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'प्रजाका ऐसा कोई जन नहीं जिसकी क्षति-पूर्ति न कर दी गयी हो। सबके गृह पूर्ववत् आमोदपूर्ण हैं और उत्तरापथका प्रत्येक जन पशुओंको वनमें ले जानेसे पूर्व श्रीमान्की मङ्गल-कामना करता है।'

'यह सब जिसकी कृपासे हुआ, जिसने सम्राट्के लिये अपना सर्वस्व लुटा दिया, वह आज कंगाल है।' सम्राट्का स्वर भरा हुआ था—'वह महीनोंसे वन्य कन्दमूलपर अपने शिशुओंको और अपनेको निर्भर रखता है। सम्राट्ने उसकी कोई सुधि नहीं ली और उसे विवश होकर निर्लज्ज सम्राट्के समीप स्थाण्वीश्वर उपस्थित होना पड़ा।'

'सम्राट्! सम्राट्!' चिल्ला उठा उत्तरापथका वह वृद्ध-केसरी—'मैं और नहीं सुन सकूँगा!' उसके गौर ललाटपर पसीनेकी बूँदें चमकीं और नेत्रोंकी धारा तो चल ही रही थी।

'आप पहले मुझे क्षमा करें!' सम्मुख खड़े होकर सम्राट्ने हाथ जोड़े।

'किसीको—आपको भी अधिकार नहीं है कि स्थाण्वीश्वरके सिंहासनकी मर्यादा नष्ट करें! आप विराजमान हों!' सुपुष्ट दीर्घदेह पर्वतीय प्रधानने सम्राट्को सिंहासनपर बैठनेके लिये बाध्य किया। 'मैंने ऐसा कुछ नहीं किया जो स्तुत्य हो। हिमपातसे पशु मरे, गृह नष्ट हुए। प्रकृतिके कोपको सह लेनेके अतिरिक्त उपाय क्या था। मेरे पास जो कुछ था, वह मेरे भाइयोंके पाससे ही आया था। आकाशसे तो मेरे घर स्वर्ण गिरता नहीं था। जिनका द्रव्य था, अवसरपर उनकी सेवामें लगा देनेकी सद्बुद्धि मुझमें आयी, यह हमारे पुण्यकीर्ति सम्राट्का प्रताप।'

'श्रीमान् ! मुझे मेरी बात कह लेने दें !' सम्राट् कुछ कहते जा रहे थे, उन्हें प्रधानने रोक दिया। पर्वतीय जीवन ही कन्द-मूलपर व्यतीत करनेका जीवन है, किंतु मेरी जो आर्थिक स्थिति है, उसमें उत्तरापथका वणिक्-प्रधानपद स्थाण्वीश्वरके गौरवको देखते मेरे अनुरूप नहीं है। मेरे निश्चित आसनपर अब कौन बैठेगा, यह स्थाण्वीश्वरके सम्मान्य सभासद् निर्णय करेंगे; किंतु मैं एक प्रार्थना लेकर आया हूँ।'

'आपका आसन आपके कुमार भूषित करेंगे अबसे !' सम्राट्के महामात्यने तनिक हँसकर घोषणा कर दी। सभासदोंका समर्थन मिल गया एक हर्षोन्मत्त जयध्वनि-से। 'आपको सम्राट्ने जो आसन दिया है, उसपर आपकी प्रार्थना नहीं की जा सकती—आदेश दिया जा सकता है।'

'हिमपात प्रारम्भ हो गया था। मैं त्रिविष्टप सीमान्त जा नहीं सका। अब पता लगा है कि सीमान्तके अरुणा शिखरपर कोई यात्री अपने दो माणिक्य और एक पद्मराग छोड़ गया है।' प्रधानने अपनी बात सुनायी—'वह जीवित है या नहीं, पता नहीं है। रत्न वहाँसे हटा दिये और वह आवे तो निराश लौट सकता है। वहाँ पड़े रहने दें तो गलते हुए हिम, वन्यपशु आदि उन्हें रक्षित रहने देंगे—संदिग्ध है।'

'आप उन रत्नोंकी रक्षाके लिये अपने दो कुमार उस निर्जन, वनस्पतिशून्य प्रदेशमें छोड़ आये हैं।' सम्राट्को अपने इतने विस्तृत देशके सुदूर प्रान्तकी इस छोटी-सी बातका भी पता है, यह जानकर वृद्ध प्रधान चौंक पड़े। किंतु सम्राट्ने कहा—'आप उन कुमारोंको स्थाण्वीश्वर भेज दें। वहाँ एक बड़ा पाषाण-खण्ड गड़वा दें यह शिला-लेख अङ्कित करके कि जिनके रत्न हैं, वे स्थाण्वीश्वर पधारनेकी कृपा करें। रत्न सुरक्षित हैं।'

'मैं मुक्त हुआ—श्रीमान्की कृपा !' पर्वतीय प्रधानने हाथ जोड़े।

'आप स्थाण्वीश्वरसे इच्छानुसार प्रस्थान करनेके लिये भी मुक्त हैं।' सम्राट्के अधरोंपर स्मित आया—'किंतु स्थाण्वीश्वरके महामान्य सभासदोंके गौरव-रक्षणकी जो व्यवस्था राज्य करे, उसमें बाधा उपस्थित करनेके लिये आपको कोई स्वतन्त्रता कभी नहीं रहेगी।'

इसके साथ सम्राट्ने महामन्त्रीकी ओर देखा। यह आदेश था—'आज उत्तरापथके वणिक्-प्रधान स्थाण्वीश्वर-के महामान्य सभासद् बना दिये गये हैं। उनके गौरवके उपयुक्त वस्त्र, आभरण, वाहन तथा उनके गृहपर भेजनेके लिये उपयुक्त द्रव्यकी व्यवस्था हो जानी चाहिये।' महामन्त्रीने भी केवल मस्तक झुकाकर मूक स्वीकृति सूचित कर दी थी।

× × ×

'ऊपर आओ ऊपर !' चीनी यात्री ग्रीष्मके मध्यमें लौटा। वह सीमान्तपर पहुँचकर रुका और मार्गदर्शकको नीचे छोड़कर पहाड़ीके ऊपर चढ़ गया, किंतु ऊपर पहुँचकर वह पुकारने लगा मार्गदर्शकको।

'यह क्या है ? क्या लिखा है इसपर ? मैंने ठीक यहीं अपने तीनों रत्न छोड़े थे।' मार्गदर्शकको पुकार-कर उसने बताया, यद्यपि मार्गदर्शक इतने पास आ गया था कि धीरेसे बोलना ही पर्याप्त था।

'यह शिला-लेख है।' मार्गदर्शकने पढ़ा शिला-लेख—'तुम्हारे रत्न स्थाण्वीश्वरके कोषमें सुरक्षित हैं। भारतके देवोपम सम्राट्ने इस शिलालेखमें प्रार्थना की है कि तुम अवश्य उनके अतिथि बनो।'

'वे मुझे जानते हैं ! सम्राट् मुझे जानते हैं !' चीनी-यात्री तो हक्का-बक्का हो रहा।

'यह भारतभूमि है। इसमें तुम्हारे रत्न रह गये तो उन्हें सम्राट्तक पहुँचना ही था और अब यदि तुम

सम्राट्से मिलना न भी चाहो तो वे तुमसे मिल लेंगे ।' मार्गदर्शकने श्रद्धाभरे स्वरमें कहा—'मैं नहीं जानता कि सम्राट् सर्वज्ञ हैं या नहीं; किंतु तुम शीघ्र देख लोगे कि उन्हें ज्ञात हो जायगा कि उनकी भूमिमें चुपचाप रत्न रख जानेवाला उनकी सीमामें आ गया है ।'

मार्गदर्शक अत्युक्ति नहीं कर रहा था । प्रथम भारतीय जनपदमें पहुँचनेसे पूर्व ही उत्तरापथके वणिक्-प्रधानने अपने कुछ साथियोंके साथ आगे बढ़कर यात्रीकी अभ्यर्थना की—'सम्भवत: आपने पहले वर्ष भी भारत पधारनेका प्रयास किया था । यों तो आप भारतभूमिमें स्वच्छन्द यात्रा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं; किंतु सम्राट् कृतज्ञ होंगे यदि आप स्थाण्वीश्वर पधारें ।'

यात्री अवाक् हो गया इस प्रथम स्वागतकी भव्यता और विनम्रतासे ही । उसका आश्चर्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया । अनेक बार उसने मार्गदर्शकसे कहा—'मुझे पता नहीं था कि भारतमें सचमुच आकाशके देवता रहते हैं । हमारे पुरोहित यह बात हमसे कहते हैं तो हमलोग मुख घुमाकर हँसते हैं । कितने मूर्ख हैं हमलोग ।'

'आप निर्विघ्न पहुँच सके ? कोई कष्ट तो नहीं हुआ आपको भारतीय सीमामें ?' स्थाण्वीश्वरमें स्वागत-सत्कारके पश्चात् स्वयं सम्राट्ने अतिथिके आवासपर पदार्पण किया ।

'भगवान् तथागत !' चीनी अतिथि तो पृथ्वीपर लेट गया प्रणिपात करता हुआ । उसके कण्ठसे शब्द ही नहीं निकलता था ।

'मैं भगवान् बुद्धका एक तुच्छ श्रद्धालु जन हूँ ।' सम्राट्ने अतिथिका भाव समझ लिया—'परंतु यह ठीक है कि आप तथागतके पवित्र देशमें हैं । यदि आपने विश्राम कर लिया है तो मेरे साथ पधारें ।'

'ये आपके तीनों रत्न !' सम्राट्ने रत्नागारमें ही ले जाकर अतिथिको खड़ा कर दिया । उसके तीनों रत्न उसके हाथपर रख दिये । 'आपके रत्न हमारी सीमामें इतने कालतक पड़े रहे, हम आपतक सूचना भी नहीं पहुँचा सके—अत: हमपर अनुग्रह करके आप कोई तीन रत्न और स्वीकार कर लें ।'

चीनी अतिथि देख रहा था कि रत्नागारके रत्नोंके साथ रखनेयोग्य भी उसके रत्न नहीं हैं; परंतु अब वह सावधान हो चुका था । उसे भारतभूमिके वायुमण्डलमें पर्याप्त रहना पड़ा था । उसने कहा—'ये रत्न आप तथागतके सिंहासनमें जड़ित करनेको अर्पित कर दें । मुझे तो केवल अनुमति चाहिये आपकी इस दिव्यधरामें अपने आराध्यके पदोंसे अङ्कित पावन तीर्थोंके दर्शनकी ।'

'उसपर तो कभी प्रतिबन्ध नहीं था भद्र !' सम्राट् यात्रीको लेकर लौटे—'किसी तीर्थयात्रीकी यात्रा-व्यवस्थाका पुण्य हमें प्राप्त हो, यह हमारा सौभाग्य है ।'

रुकूँगा नहीं; डिगूँगा नहीं

अपनोंके दिग्भ्रमसे मैं खीझ उठता हूँ, पीड़ित हो उठता हूँ, पर डगमगाता नहीं ।
निश्चित राहमें मेरी आस्था है । लँगड़ा-लँगड़ाकर भी उसपर चलता रहूँगा जरूर, बढ़ता रहूँगा जरूर ।
कितना अच्छा होता, यदि अपनोंका साथ रहता, संबल रहता !
पर इसके अभावमें—
रुकूँगा नहीं, डिगूँगा नहीं । राहपर तो चलना ही है, बढ़ना ही है ।
अमृत पीकर तो सभी जीवित रहते हैं । शिवको विष पीकर ही जीवित रहना है ।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रेमीकी अनन्यता

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथातथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥
(श्रीचैतन्यमहाप्रभु)

(लावनी)

दूर करो, ठुकराओ चाहे, प्यारे ! घरसे निकलवाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ॥

सदा चाहती मिले रहो तुम, पर जो तुम्हें यह चाह नहीं ।
कभी मत मिलो, दूर रहो, मुझको इसकी परवाह नहीं ॥
सुखसे सदा रहो तुम प्यारे ! इसके सिवा कुछ चाह नहीं ।
दुख देते जाओ चुपके-से रखने भी दो गवाह नहीं ॥
चाहे जैसे रखो मुझे, पर मनसे कभी न भूल जाओ ॥ खूब०

नहीं चाहती सुखमें हिस्सा, नहीं चाहती धनमें भाग ।
नहीं चाहती राय सुनो तुम, नहीं चाहती मैं अनुराग ॥
नहीं चाहती आदर दो तुम, नहीं चाहती प्रेम-पराग ।
यही चाहती भूलो मत, तुम सुखसे रहो, बस यही सुहाग ॥
अपनी चीजको चाहे जैसे बरतो, कभी मत सकुचाओ ॥ खूब०

यही सुहाग बड़ा भारी है, जो तुम नहीं भुलाते हो ।
सता सताकर निर्दयतासे मुझको सदा रुलाते हो ॥
दुःखोंके संदेश भेजकर बरबस पास बुलाते हो ।
ठुकराते, गिर पड़ती, तब तुम भुज भर स्वयं उठाते हो ॥
इसी तरह मेरी सुख-साधोंको पूरी करते जाओ ॥ खूब०

रुची तुम्हारी मेरी रुचि हो, चाह तुम्हारी मेरी चाह ।
हो चाहे प्रतिकूल सर्वथा, इसकी मुझे न कुछ परवाह ॥
चाहे दम घुट जाये, मुखसे कभी नहीं निकलेगी आह ।
तुम ही प्राण-प्राण हो मेरे, तुम ही सब चाहोंकी चाह ॥
मेरा भाव नहीं बदलेगा, भले बदलते तुम जाओ ॥ खूब०

अनन्यभक्तिका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

समय बहुत ही अमूल्य है, अतः एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करते-करते ही सोना चाहिये। इस प्रकार सोनेसे रातका शयनकाल भी साधनकाल बन जाता है।

दिनमें चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते जैसे गोपियाँ अपना समय बिताया करती थीं, उसी तरह समय बिताना चाहिये। वे गायें दुहते समय, दही मथते समय, झाड़ू देते समय, घर लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते और खिलाते समय—हर समय वाणीसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा मनसे भगवान्‌का ध्यान किया करती थीं।* उसी प्रकार हमलोगोंको भी करना चाहिये; इसमें जरा भी कमी नहीं रहनी चाहिये।

प्रातः और सायंकाल—दोनों कालोंमें साधनके लिये नियमितरूपसे भी हमें समय लगाना चाहिये। नियमितरूपसे हम जो समय लगावें, उसे भी बहुत ही मूल्यवान् बना लेना चाहिये। भगवान्‌के नाम-जपके साथ निम्नलिखित छः बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रक्खा जाय तो नाम-जप बहुत मूल्यवान् बन सकता है—

(१) नाम-जप हो सके तो मनसे, नहीं तो, श्वासके द्वारा करे; वह भी न हो सके तो जिह्वाके द्वारा ही किया जाय।

(२) नाम-जपके समय, जिसका नाम है, उस नामी (भगवान्) को याद रखना चाहिये।

(३) नाम-जप गुप्तरूपसे करे। किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ।

(४) नाम-जप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

(५) नाम-जप प्रेममें विह्वल होकर करना चाहिये।

(६) नाम-जप निष्कामभावसे करना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक भाव मूल्यवान् है। श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव—इनमेंसे तो एक भी साथ रहे तो उससे हमारा संसारसागरसे उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌का ध्यान करनेके समय ये छः बातें साथमें होनी चाहिये—

(१) भगवान्‌के नामका जप।

(२) संसारसे वैराग्य।

(३) भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाकी स्मृति।

(४) इन सबमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझना।

(५) निरन्तरता।

(६) निष्कामभाव।

इस प्रकार यदि ध्यान किया जाय और वह ध्यान यदि एक क्षण भी हो जाय तो उसके समान न तप है, न तीर्थ है, न व्रत है, न दान है, न यज्ञ है—कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अपने समयको मूल्यवान् बनाना चाहिये।

गीताका पाठ इस प्रकार करना चाहिये—एक मनुष्य अठारहों अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ करता है और दूसरा मनुष्य केवल एक अध्यायका ही अर्थ और भाव समझकर पाठ करता है तो पहलेवालेकी अपेक्षा वह एक अध्यायका पाठ करनेवाला श्रेष्ठ है। अर्थ और भावको समझकर हृदयमें धारण करे और फिर उसे कार्यान्वित करे यानी कार्यरूपमें परिणत करे तो वह सबसे उत्तम

---

* श्रीमद्भागवतमें कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१० । ४४ । १५)

है। यही बात रामायण आदिके पाठके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पूजा हमें मानसिक करनी चाहिये, मानो प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं। भगवान्‌का ध्यान करके पूजा करे, भोग लगाये, आरती करे, फिर स्तुति-प्रार्थना करे। ये सब भी भावसे मन्त्रोंका अर्थ समझते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे और प्रेममें विह्वल होकर करे। चित्रपट आदिके सहारे यदि ध्यान किया जाय तो उस-उस चित्रपट या मूर्तिका नहीं, साक्षात् भगवान्‌का ही ध्यान करे। चित्र तो उनके स्वरूपका लक्ष्य करा देता है। यह ध्यान और पूजा भी मूल्यवान् है; इस पूजामें दूसरी जगह मन जानेकी गुंजाइश नहीं। क्योंकि मानसिक पूजामें भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक ही होता है। जिस शरीरसे भगवान्‌की हम पूजा करते हैं, वह भी मानसिक होता है। उसकी सामग्री भी मानसिक होती है और जो क्रिया की जाती है, वह भी मानसिक ही होती है। इस प्रकारकी पूजामें मनके इधर-उधर जानेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना भी भावसहित, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक करे। भगवान्‌के सम्बन्धमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और मुझे भी मिलेंगे। इस प्रकार भगवान्‌के अस्तित्व एवं सुलभताके विषयमें विश्वास रखना चाहिये।

विवेकपूर्वक वैराग्य हो और वैराग्यपूर्वक उपरति हो तो शीघ्र संसारसे वृत्तियाँ हटकर परमात्मामें अपने-आप ही लग जाती हैं। चित्तकी प्रीति और चित्तकी वृत्ति—दोनों एक ही जगह रहती हैं। जहाँ हमारी प्रीति होगी वहाँ हमारे चित्तकी वृत्ति अपने-आप ही लग जायगी, अतः भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेममें प्रधान हेतु श्रद्धा है और श्रद्धामें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी शुद्धि है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धा भी साधारण नहीं, अतिशय—परम श्रद्धा होनी चाहिये। परम श्रद्धा उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर हो। कोई बात प्रत्यक्षमें तो नहीं दीखती, किंतु श्रद्धास्पदके वचनोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि वह वस्तु प्रत्यक्षसे भी बढ़कर स्पष्ट दीखने लगे। राजा द्रुपद और उनकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें ऐसी ही श्रद्धा थी। शिखण्डीके विषयमें श्रीशिवजीने उनसे कह रक्खा था कि वह प्रथम लड़कीके रूपमें उत्पन्न होकर फिर लड़का बन जायगा। फलतः राजा द्रुपदको लड़की हुई, किंतु उन्होंने उसे लड़का ही समझा और दूसरी लड़कीके साथ उसका विवाह भी कर दिया। प्रत्यक्ष लड़की रहते हुए भी उसे लड़का मान लिया। ऐसा ही विश्वास भगवान्‌के वचनोंमें तथा गीताके वचनोंमें होना चाहिये।

ज्ञान, वैराग्य, एकान्तवास, निष्कामभाव, नाम-जप, श्रद्धा और प्रेम—ये सभी बहुत मूल्यवान् हैं। इनके संयोगसे भगवान्‌का ध्यान अपने-आप होने लगता है; क्योंकि ये सब ध्यानमें सहायक हैं।

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्मसे तथा भगवान्‌के नामके जप और ध्यानसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होती है और श्रद्धा होनेसे प्रेम होता है—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'—प्रेमके बढ़नेपर मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको यथार्थरूपसे समझ जाता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य—सभी मूल्यवान् हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—इन सबमें गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका दर्शन किया जाय और गुण-प्रभावका भी तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो हृदयका भाव अपने-आप बढ़ जाता है तथा साधकका जीवन ही पलट जाता है, उसकी अवस्थामें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

ये सब बातें सुन-सुनकर चित्तमें हर्ष हो, प्रसन्नता हो, शान्ति मिले, आनन्दकी अनुभूति हो, भगवान्‌के मिलनेकी आशा हो जाय तो भी साधककी अवस्था बहुत शीघ्र बदल सकती है और मिनटोंमें भगवान् मिल सकते हैं।

जब चित्तकी अवस्था बदल जाती है, उस समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, नासिकासे भी जल बहने लगता है, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय—सबमें आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है।

ऐसी अवस्था न हो तो भगवान्‌के वियोगमें दुःख होना चाहिये और दुःखमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि भगवान्‌के बिना जीवन व्यर्थ है। विरहकी व्याकुलतामें उसकी वैसी ही दशा हो जानी चाहिये, जैसी भरतजी महाराजकी श्रीरामके विरहमें हुई थी। भरतजी-की दशाका चित्रण करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

इसके लिये हमलोगोंको सद्गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय इनका सेवन करना चाहिये और इनके विपरीत दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद, निद्रा और भोग—इन सबको साधनमें महान् विघ्न समझकर इनका स्वरूपसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; इन्हें क्षणभरके लिये भी आश्रय नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनेमें जो एक-एक क्षणका विलम्ब हो रहा है, वह युगके समान प्रतीत होना चाहिये। भरतजी जब भगवान्‌से मिलनेके लिये चित्रकूट जा रहे थे, उस समय वहाँ पहुँचनेमें जो विलम्ब हो रहा था, **वह उन्हें असह्य हो रहा था। वैसे ही हमलोगोंको** भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह असह्य होना चाहिये। जलके वियोगमें मछलीकी जैसी दशा होती है, जैसी तड़पन होती है, वैसी तड़पन भगवान्‌के विरहमें होने लगे तो फिर भगवान् मिलनेमें विशेष विलम्ब नहीं करते।

साथ ही हमलोगोंको एकनिष्ठ होना चाहिये। जैसे पपीहा एकनिष्ठ होता है, वह आकाशसे गिरी हुई बूँदको ही ग्रहण करता है, भूमिपर पड़ा जल नहीं पीता चाहे वह गङ्गाजल ही क्यों न हो, उसी प्रकार एक परमात्माके सिवा और कोई भी चीज हमारे काम-की नहीं होनी चाहिये।

ध्यानमें हमारी चकोर पक्षीकी तरह एकाग्रता होनी चाहिये। जब पूर्णिमाका चन्द्रमा उदय होता है, तब चकोर पक्षी उदय होनेसे लेकर अस्त होनेतक उसकी ओर देखता ही रहता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह उसे एकटक देखता ही रहता है, उसके अमृतमय स्वरूपका रसपान करता ही रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी रूप-माधुरीका रसपान करते रहना चाहिये।

रुक्मिणीकी तरह भगवान्‌के विरहमें हमारी व्याकुलता होनी चाहिये। हमें ऐसा निश्चय करना चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌को बाध्य होकर उस प्रेमीके पास पहुँचना ही पड़ता है। अतः ऐसी निष्ठा होनी चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो जीकर ही क्या करना है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिये; अपितु भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें हमारी ऐसी दशा हो जानी चाहिये कि हमारे प्राण निकलनेके लिये छटपटाने लगें।

श्रीभरतजी कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'अवधि बीत जानेपर भी भगवान् नहीं पहुँचें और फिर भी मैं जीता रहूँ तो संसारमें मेरे समान पापी कौन होगा ?'

अतः हमें चाहिये कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ से मनको हटाकर भगवान्में लगाते रहें। भगवान्ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे। अर्थात् जहाँ मन जाय वहाँसे वशमें करके परमात्मामें नियुक्त करे।'

अथवा जहाँ मन जाय, वहीं परमात्माको देखे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भक्त चार प्रकारके होते हैं—अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

इस प्रकार उक्त चारों भक्तोंमें ज्ञानीकी भगवान्ने विशेष प्रशंसा की है, एकनिष्ठ ज्ञानीको श्रेष्ठ और अपना अतिशय प्यारा कहा है; क्योंकि भगवान्का यह विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतः तन्मय होकर भगवान्को भजना चाहिये।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।' क्योंकि उसकी दृष्टिमें मेरे सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है। लोगोंकी दृष्टिमें तो वह संसारमें रहता हुआ सब काम करता है; पर वास्तवमें वह संसारमें स्थित नहीं है, मुझमें ही स्थित है।

इन सब बातोंको समझकर अपनी स्थिति ज्ञानी महात्माओंकी-जैसी बनानी चाहिये। उच्चकोटिके जो साधक ज्ञानी भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान्को भजते हैं;

अतः उनके लिये भगवान् सुलभ हैं । भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इसलिये भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

(गीता १० । ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ।'

किस प्रकारसे भजते हैं, इसका उत्तर भगवान्‌के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

इस प्रकार वे भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमसे भजते हुए मेरी कृपासे मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ७)

'अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ यानी केवट बनकर इस संसारसागरसे उसको पार कर देता हूँ, इसमें विलम्बका काम नहीं ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।' अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है । अर्थात् जहाँतक वे साधन कर चुके हैं, उसकी तो रक्षा करता हूँ और जो उनमें कमी है, उसकी पूर्ति करता हूँ । दूसरे शब्दोंमें आजतक जिस वस्तुकी—परम पदकी उन्हें प्राप्ति नहीं हुई, (उसके लिये भगवान् वादा करते हैं—कि) उसे मैं प्राप्त करा देता हूँ ।

भगवान्‌की इस घोषणापर ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसा ही बनना चाहिये । इस प्रकारकी अनन्यभक्तिसे मनुष्य जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है । भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

इसीका नाम एकनिष्ठ भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण, अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति है ।

ये सब बातें जो भगवान्‌ने कही हैं, इनके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन बनाना चाहिये । इस प्रकारका जीवन बनाकर ही संसारमें जीना धन्य है । संसारके सभी पदार्थ लोगोंकी दृष्टिमें संसारी हैं, अपनी दृष्टिमें नहीं। अपनी दृष्टिमें तो जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब भगवान्‌के हैं तथा मैं भगवान्‌का और भगवान् मेरे हैं, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही है—इस प्रकार समझकर सबको भगवान् देखे और सबमें भगवान्‌को देखता रहे । गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

"बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।"

अतएव या तो सबमें भगवान्‌को देखे, या सबको भगवान् समझता रहे और आनन्दमें मुग्ध होता रहे । इससे स्थिति नीची हो ही क्यों ?

संसारसे अपना प्रयोजन ही क्या है ? चाहे कुछ भी हो, अपने तो यही समझे कि सब भगवान्‌का है, मैं भगवान्‌का हूँ, सब भगवान्‌में है, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌की प्रेरणासे—उनकी आज्ञासे ही हो रही है, या मैं उनके लिये ही सब कुछ कर रहा हूँ, भगवान् जो करवा रहे हैं वही कर रहा हूँ । ये सब भाव भगवान्‌के दर्शनमें सहायक हैं । अतः इस प्रकार समझकर हर समय सर्वत्र भगवान्‌का अनुभव करे, उनको कभी न भूले ।

याचना

नाथ ! तुम्हारे पाद-पद्ममें मेरी मति स्थिर रहे निरन्तर ।
तेरी भक्ति-ज्योतिसे पूरित हो जाये मेरा यह अन्तर ॥
मलिन पङ्कको ओर हमारा मन जब आकर्षित हो जावे ।
तव प्रसादसे उसमें पङ्कजका सौन्दर्य फलित हो जावे ॥
माता-पिता, बंधु, भगिनी, भार्या—सब मुझे छोड़ हट जावें ।
प्राण-सखा, सङ्गी पुर-परिजनके अन्तर मुझसे फट जावें ॥
तब भी तेरा स्वर मेरे प्राणोंमें गूँजा करे दयामय !
प्रेमपूर्ण तव आवाहनमें विगलित हो जावें मम संशय ॥
जब जग-मगपर पग डगमग डगमग हों, मन विचलित हो जावे ।
विफल कामनाओंके कारण मेरा हृदय दलित हो जावे ॥
अन्ध-वासनाओंसे पूरित मन मम जब बन जाय अमावस ।
तेरी दया वहाँ बरसा दे पूर्णचन्द्र-ज्योतित-राका-रस ॥
जगके अमित प्रलोभ-प्रवञ्चित दिशा-भ्रमित कातर मम अन्तर ।
मानस-क्षितिज तमावृत कम्पित शिथिल चरण अस्फुट जीवन-स्वर ॥
ध्रुव बन उगो हमारा पथ ज्योतित, मन भी ज्योतिर्मय कर दो ।
सब कुछ मेरा बने, तुम्हारा रिक्त पात्र मेरा यह भर दो ॥
नाथ ! तुम्हारे पाद-पद्ममें मेरी मति स्थिर रहे निरन्तर ।
तेरी भक्ति-ज्योतिसे पूरित हो जाये मेरा यह अन्तर ॥

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

हिंदू साधु-संन्यासियोंके लिये कानून

गताङ्कमें इस विधेयकके सम्बन्धमें 'हिंदू साधु-संन्यासियोंका नियन्त्रण' शीर्षकमें कुछ लिखा गया था। अब यहाँ नीचे पूरा विधेयक दिया जाता है।

विधेयक

२७ जुलाई, १९५६ को निम्नलिखित विधेयक लोकसभामें उपस्थित किया गया—

१९५६ का विधेयक नं० ३७

भारतीय साधु-संन्यासियोंकी रजिस्ट्री एवं लाइसेंसका विधेयक

भारतीय प्रजातन्त्रके सप्तम वर्षमें संसद्के द्वारा निम्नलिखित कानून बनाया जाय—

१. (१) इस कानूनका नाम साधुओं तथा संन्यासियोंका रजिस्ट्रेशन एवं लाइसेंसिंग ऐक्ट, १९… होगा।

(२) यह समस्त भारतवर्षमें लागू होगा।

(३) यह तुरंत लागू हो जायगा।

२. इस कानूनमें जबतक कि प्रसङ्गसे दूसरे अर्थ न निकलते हों—

(१) 'लाइसेंसिंग अधिकारी' का तात्पर्य उस स्थानके जिलाधीशसे है, जिसमें कि साधु या संन्यासी दीक्षाके समय निवास करता हो।

(२) 'प्रेस्क्राइब्ड' का अर्थ है लाइसेंसिंग अधिकारी-द्वारा बनाये हुए नियमोंसे निर्दिष्ट।

(३) 'साधु' अथवा 'संन्यासी' से तात्पर्य उस व्यक्तिसे है, जो अपनेको किसी ऐसी धार्मिक संस्था, समाज या मठका सदस्य घोषित करता है, जिसकी स्थापना या निर्वाहका उद्देश्य हिंदुओंके किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभागके सिद्धान्तों अथवा परम्पराओंकी रक्षा या संवर्द्धन हो।

३. (१) बिना अपनी सविधि रजिस्ट्री कराये और लाइसेंस देनेवाले अधिकारीसे प्रार्थनापत्रके द्वारा लाइसेंस प्राप्त किये कोई भी न तो अपनेको साधु अथवा संन्यासी नामसे विभूषित कर सकता है और न घोषित।

(२) किसी व्यक्तिको साधु या संन्यासी होते ही तुरंत लाइसेंस देनेवाले अधिकारीके सम्मुख जाकर अपनी रजिस्ट्री करा लेनी होगी और एक लाइसेंस प्राप्त कर लेना होगा।

(३) प्रत्येक लाइसेंसिंग अधिकारी निर्दिष्ट रूपमें एक रजिस्टर रक्खेगा, जिसमें कि साधु अथवा संन्यासीके सम्बन्धमें निम्नलिखित विवरणका उल्लेख होगा।

क. उसका दीक्षाके पूर्व तथा उत्तर कालका नाम।

ख. उसकी अवस्था, उसका धर्म तथा वह स्त्री है या पुरुष।

ग. उसका स्थायी निवासस्थान।

घ. दीक्षाके पूर्व एवं बादमें उसका व्यवसाय और वृत्ति।

ङ. दीक्षित होनेका स्थान एवं तारीख।

च. उस संस्था, सम्प्रदाय या मठका नाम, जिसमें वह दीक्षित हुआ है।

(४) लाइसेंसिंग अधिकारी प्रतिवर्ष समस्त साधुओं तथा संन्यासियोंकी सूची उस प्रकार प्रकाशित करेगा जैसा कि निर्दिष्ट किया गया हो।

४. (१) साधु अथवा संन्यासीके रूपमें रजिस्ट्री करानेके लिये तथा धारा ३ के अनुसार लाइसेंस प्राप्त करनेके लिये लाइसेंस देनेवाले अधिकारीको लिखित प्रार्थनापत्र देना होगा और उसका रूप एवं उसमें दिये हुए विवरण पूर्व-निश्चित स्वरूपके अनुसार होंगे।

(२) उपधारा (१) के अनुसार प्रार्थनापत्र आनेपर लाइसेंसिंग अधिकारी आवश्यक जाँच करनेके पश्चात् निर्दिष्ट फार्मपर एक लाइसेंस देगा, जिसमें ऐसी शर्तें होंगी जिन्हें लाइसेंसिंग अधिकारी उचित समझेगा। लाइसेंसिंग अधिकारीको लिखित कारण देनेके पश्चात् यह अधिकार होगा कि वह किसी व्यक्तिको लाइसेंस न दे।

(३) उपधारा (२) के अनुसार प्राप्त लाइसेंस दस वर्षतक लागू रहेगा, यदि उसको फिरसे चालू, स्थगित या समाप्त न कर दिया जाय। लाइसेंस देनेवाला अधिकारी किसी लाइसेंसको स्थगित या समाप्त कर सकता है। यदि उसे इस बातका संतोषजनक प्रमाण मिल जाय कि अमुक साधु या संन्यासी असदाचारमय जीवन बिता रहा है या ऐसे कार्योंमें

…ता है जो शान्तिके लिये घातक हैं अथवा अपनी संस्था, …माज या मठसे अब उसका सम्बन्ध नहीं रहा।

५. (१) कोई व्यक्ति या साधु या संन्यासी जो धारा ३ और ४ के नियमोंके विरुद्ध आचरण करता अथवा …रवाता है, वह ऐसे दण्डका भागी बनेगा जिसमें ५००) …क जुर्माना हो सकता है और दो वर्षतककी कैद हो सकती है अथवा दोनों हो सकते हैं।

(२) इस विधानके नियमोंके द्वारा दिये हुए लाइसेंस-…की बातों तथा शर्तोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले साधु अथवा संन्यासीको पाँच सौ रुपयेतकके जुर्मानेका दण्ड तो मिलेगा ही, साथ ही उसका लाइसेंस भी रद्द कर दिया जायगा।

विधेयकके उद्देश्यों और कारणोंका उल्लेख

हमारे देशमें साधुओं एवं संन्यासियोंकी संख्या दिन-…तिदिन बढ़ती जा रही है। संत-समाजकी आड़में उनमेंसे …हुतसे पापाचारमें लीन हो जाते हैं, भीख माँगना तथा …से अन्य समाजविरोधी कर्मोंका आचरण करते हैं, जो …वाञ्छनीय हैं और जिन्हें यदि नहीं रोका गया तो अपराधोंकी …ख्या अनवरोध बढ़ चलेगी।

उक्त विधेयक प्रथमतः तो एक अखिल भारतीय …जिस्टर रखकर उनकी यथार्थ संस्थाका ज्ञान रखनेमें …हायक होगा।

इसके अतिरिक्त संत-समाजको यह अनावश्यक बदनामी …और अपना उल्लू सीधा करनेवालोंके हथकंडोंका शिकार …होनेसे बचायेगा तथा यह सरकारको उन बहुत-से …अपराधोंका पता लगानेमें सहायक होगा, जिनमें इन साधु …या संन्यासी नामधारियोंका हाथ रहता है।

(यहाँतक विधेयकका अनुवाद है।)

विधेयकके उपर्युक्त रूपको देखनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि इससे साधु-संन्यासी-समाजकी रक्षा नहीं होगी, वरं …ह उनकी जड़ काटनेमें ही सहायक होगा। प्राचीन कालकी …बात छोड़ दीजिये, अभी पिछले दिनों देशमें स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी सरस्वती, श्रीतैलंग स्वामी, स्वामी भास्करानन्दजी, स्वामी हरिहर बाबा आदि प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। रमण महर्षि भी साधु ही थे। भगवान् शङ्कराचार्यकी गद्दीपर बहुत बड़े-बड़े महात्मा हो चुके हैं। स्वामी रामानुजाचार्य तथा अन्यान्य मान्य सम्प्रदायोंमें भी बहुत महात्मा हो चुके हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस साधु ही थे। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानन्द आदि संन्यासी ही थे, जिन्होंने सुदूर अमेरिकामें जाकर भारतके अध्यात्मकी गौरव-पताका फहरायी थी। ऐसे अनेकों विरक्त महात्मा थे और अब भी हैं, जिनका अस्तित्व ही देशकी पवित्रताके लिये पर्याप्त प्रभाव रखता है। इस विधेयकमें साधु या संन्यासीकी जो परिभाषा की गयी है, उसमें ऐसे कोई भी आचार्य संत-महात्मा नहीं बच सकते। न किसी भी सम्प्रदायके कोई मठाधीश, मण्डलेश्वर, धर्माचार्य इससे छुटकारा पा सकते हैं।

आश्चर्यकी बात है कि इस विधेयकके अनुसार साधु-संन्यासीको अपना व्यवसाय या जीवन-निर्वाहका उपाय भी बताना पड़ेगा तथा नियम न मानने या रजिस्ट्री न करानेपर जुर्माना देना पड़ेगा। सर्वत्यागी साधु या संन्यासी न तो धर्मतः कोई व्यवसाय करते हैं और न धन ही रखते हैं। फिर वे क्या व्यवसाय बतायेंगे और जुर्मानाके रुपये कहाँसे देंगे। इस विधेयकके निर्माताको वस्तुतः हिंदू साधु-संन्यासीके रूपका ही पता नहीं है।

इस विधेयकके अनुसार किसी भी विरोधी संस्थाके कार्यकर्ता या प्रचारक साधु-संन्यासीको 'शान्तिके लिये घातक कार्य करनेवाला' (dangerous to peace) बतलाकर उसका लाइसेंस रद्द किया जा सकता है। यह विधेयक भारतके त्यागमूर्ति साधु-संन्यासियोंपर प्रत्यक्ष आक्रमण है और पवित्र वैराग्य तथा सर्वत्यागके सिद्धान्तपर कुठाराघात करनेवाला है।

हो सकता है कि यह विधेयक गैरसरकारी हो, पर सरकारका समर्थन प्राप्त होनेपर इसके पास होनेमें क्या कठिनता होगी।

रही दुराचारियों और समाजविरोधी कार्य करनेवालोंकी बात, सो बदमाश, लुच्चे-लफंगे कहाँ, किस समाज या किस क्षेत्रमें नहीं हैं? पर उनके रहनेसे सारे समाजको दूषित नहीं माना जा सकता और इस विधेयकसे ऐसे लोगोंका कुछ बिगड़ेगा भी नहीं। बिना त्याग-वैराग्यके केवल लाइसेंसके आधारपर साधु-संन्यासी बननेवाले स्वार्थीलोग तो बहुत निकल आयेंगे, जो अपनेको समाज-विरोधी काम न करनेवाले बताकर लाइसेंस लेकर साधुओंकी सूचीमें आ जायँगे और मनमानी करते रहेंगे। सच्चे साधु-संन्यासियोंके रूपको बेचारे मजिस्ट्रेट क्या समझेंगे।

वास्तवमें यह विधेयक हिंदूधर्मके एक प्रधानतम अङ्गपर आक्रमण करनेवाला है और इसलिये इसका घोर विरोध होना चाहिये। हमारी समझसे हमारे साधु-संन्यासीसमाजको तथा आस्तिक जनताको अभी इस घातक विधेयकका पता नहीं लगा होगा, इसीसे इसका घोर विरोध नहीं हो रहा है। अब उपर्युक्त विधेयकको पढ़कर सभी सम्प्रदायोंके साधु संन्यासियों, मठाधीशों, आचार्यों तथा मण्डलेश्वरोंको चाहिये कि अपनी साधु-उचित नीतिसे इसका घोर विरोध करके विधेयकके निर्माताको विधेयक वापस लेनेके लिये बाध्य करें।

राजस्थान हिंदू-पब्लिक ट्रस्टबिल

एक सज्जनने समाचारपत्रकी एक कटिंग भेजकर यह बतलाया है कि राजस्थानमें एक 'राजस्थान हिंदू-पब्लिक ट्रस्टबिल' उपस्थित किया गया है। उक्त समाचारपत्रमें प्रकाशित समाचारके अनुसार इस विधेयकके कानून बन जानेपर सभी मन्दिरों, धर्मशालाओं, मठों, सदाव्रतों, गोशालाओं, दयास्थलों, पिंजरापोलों, सरायोंके ट्रस्ट बनवाने पड़ेंगे, रजिस्ट्री करवानी पड़ेगी तथा आमदनीका दो आना प्रति रुपया सरकारको देना पड़ेगा और ऐसे धर्मादेके धन-जायदादपर सरकारका नियन्त्रण होगा। इस विधेयकका असली रूप हमारे सामने नहीं है, इससे हम विशेष कुछ नहीं कह सकते; पर इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हमारी सरकारें हिंदुओंके ही धर्मकार्योंपर इतनी कृपा क्यों कर रही हैं? राजस्थानमें सैकड़ों धर्मशालाएँ हैं, कुएँ हैं, सदाव्रत हैं, मन्दिर हैं, उन सबके बनवानेवालोंमेंसे बहुत-से रहे ही नहीं, उनके ट्रस्ट कौन बनायेगा, कैसे बनायेगा तथा धर्मादेकी रकम जिस कामके लिये निकाली गयी है, दाताके इच्छानुसार उसी काममें लगनी चाहिये। उसपर सरकारका अधिकार या उसमें सरकारका हिस्सा माँगना कदापि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। राजस्थाननिवासी लोगोंको तथा दाताओंको विधेयकके स्वरूपका पता लगाकर जो-जो बातें आपत्तिजनक हों, उनका घोर विरोध करना चाहिये और शान्तिपूर्ण उपायोंके द्वारा धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये विशेषरूपसे प्रयत्नशील होना चाहिये।

दृष्टि-दृष्टिका भेद

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

भिक्षुककी दृष्टिमें—

दाता महान् है। वह उसे उसकी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करता है। अथवा ताम्र-रजत आदिके सिक्के उसकी झोलीमें डालता है, जिससे वह अपने जीवनके अभावोंकी कुछ पूर्ति कर सके, अपने भिक्षुकत्वमें किंचित् न्यूनता ला सके।

दाताकी दृष्टिमें—

भिक्षुक महान् है—उससे भी अधिक दाता प्रदान करता है अन्न-जल-वस्त्रादि नित्यके जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ अथवा इसी हेतु ताम्र-रजत आदिके साधारण सिक्के घर बैठे-बैठे कभी प्रकट तो कभी मन-ही-मन गर्वसे फूल-फूलकर; परंतु भिक्षुक तो लुटाता है आत्म-सम्मानकी मुहरें दाताके द्वारपर खड़ा-खड़ा······'दीनता—आधीनताकी प्रतिमूर्ति बनकर और इस तरह प्रदान करता है दाताको भी दाता बननेका सुअवसर!

और यथार्थ दृष्टिके नाते—

कौन दाता है, कौन भिक्षुक? कौन लघु है, कौन महान्? एक लीलाभर हो रही है उस एककी। नाना नाम-रूपोंमें एकमेक हो रहा है—कर रहा है वह एक। हाँ—एकत्व-समुद्र लहरा रहा है स्वयंमें समाया-समाया। विचलित एवं भ्रमित-दृष्टि खा रहे हैं, खाते रहते हैं····· दुःख-सुखरूपी काल्पनिक लहरोंके थपेड़े; लेकिन जो स्थिर-दृष्टि हैं, उनकी और बात है। वे तो यथार्थताके दिशासूचक यन्त्रसे सुसज्जित स्वयंताके पोतमें बैठकर ही यह जीवनयात्रा करते हैं और फलस्वरूप सदा मंजिलपर पहुँच जाते हैं, पहुँच क्या जाते हैं, पहुँचे हुए ही होते हैं।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् । शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

'भगवान् श्रीहरिके नामकीर्तनसे शारीरिक, मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है, स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मसम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है ।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है । सभी श्रेणीके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं । इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रति-वर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें । यही परम हित है । खेद है कि कुछ विशेष कारणोंसे गतवर्षमें हुए नाम-जपकी संख्याका हिसाब अभीतक तैयार नहीं हो पाया है । इसके लिये हम कृपालु जपकर्ताओंसे हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हैं । जपकी संख्या तथा स्थानोंकी नामावली 'कल्याण' के अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है । गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है । नियमादि इस प्रकार है—

१-यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है ।

२-इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (१८ नवम्बर १९५६) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (१४ अप्रैल १९५७) तक रहेगा । जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१४को समझनी चाहिये । पाँच महीनेका समय है । उसके आगे भी जप किया जाय तब तो बहुत ही उत्तम है ।

३-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

४-एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये । अधिक कितना भी किया जा सकता है ।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है ।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठने के समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें; जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्री पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता-'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**

सम्पादक-'कल्याण', गोरखपुर

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

तीर्थाङ्क

(१) 'कल्याण'का यह ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। इसके बाद ३१वें वर्षका प्रथम अङ्क तीर्थाङ्कके रूपमें निकलेगा। तीर्थाङ्ककी सामग्री प्रायः संकलित हो चुकी है और प्रेसमें दी जा रही है। प्राचीन तीर्थोंके अतिरिक्त इसमें संततीर्थ, जैनतीर्थ, बौद्धतीर्थ एवं सिखतीर्थोंका भी संक्षिप्त वर्णन रहेगा। उसमें लगभग ७०० पृष्ठोंकी निम्नलिखित सामग्री रहेगी-

१-तीर्थोंका शास्त्रोक्त स्वरूप एवं माहात्म्य, तीर्थोंके प्रकार, तीर्थसेवनकी विधि, तीर्थोंमें पालनीय नियम आदि ।

२-समग्र भारतके प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध लगभग डेढ़ हजार तीर्थोंका संक्षिप्त विवरण; वहाँके दर्शनीय मन्दिरों, पवित्र सरोवरों, कूप, नदी, घाट आदिका वर्णन ।

३-मुख्य-मुख्य तीर्थोंका संक्षिप्त माहात्म्य, इतिहास तथा वहाँके पवित्र स्थानोंसे सम्बन्धित घटनाएँ ।

४-तीर्थोंमें या उनके आसपास अवस्थित प्राचीन आचार्यों एवं प्रसिद्ध संतोंकी बैठक, मठ या समाधिका विवरण ।

५-तीर्थके दर्शनीय स्थानोंकी परस्पर दूरी ।

६-तीर्थसे निकटतम स्टेशनका नाम और वहाँसे तीर्थके मुख्य स्थानका अन्तर, मार्ग तथा पहुँचनेके साधन ।

७-तीर्थमें यात्रियोंके ठहरनेके स्थान (धर्मशाला आदि) का विवरण ।

८-तीर्थके मुख्य उत्सव एवं मेलोंका विवरण ।

९-सप्त पुरियों, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों, वैष्णव दिव्यदेशों एवं शैव-क्षेत्रों तथा शक्ति-पीठोंका विवरण ।

१०-विविध भगवद्विग्रहोंके रंगीन चित्र तथा मन्दिरों, घाटों, सरोवरों एवं अन्य दर्शनीय स्थानोंके सैकड़ों चित्र ।

११-तीर्थोंका संस्थान-स्थान निर्देश करनेवाले अनेकों मानचित्र ।

(२) यह अङ्क बड़ा ही रोचक, आकर्षक एवं शिक्षाप्रद होगा। भारतकी किसी भी भाषामें इतना सुन्दर एवं उपयोगी संग्रह कदाचित् अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इस दृष्टिसे इसकी माँग बहुत अधिक हो सकती है। अतः जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये ७॥) तुरंत भेज दें। रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' अवश्य लिखनेकी कृपा करें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें और जहाँतक हो सके नये-नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये भिजवानेका सफल प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

(३) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न बनना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

(४) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा महाभारत-विभाग 'कल्याण'से सर्वथा अलग है। अतः 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी 'मैनेजर गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर महाभारत-विभाग, गीताप्रेस' के नामसे अलग भेजें।

(५) जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८।।।) भेजें। परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी देर होना सम्भव है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचना

भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार अभी स्वस्थ नहीं हुए हैं, सम्भवतः वे जलवायुपरिवर्तनार्थ शीघ्र अन्यत्र चले जायँ। वे पत्रोंको प्रायः न तो पढ़ते-पढ़ाते हैं, न प्रायः उनका उत्तर लिखते-लिखवाते हैं, ऐसी अवस्थामें उनके आत्मीय-स्वजनोंके सिवा अन्य महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे गीताप्रेस या कल्याण-सम्बन्धी पत्र उनके नाम कृपया न लिखें। उनके नाम आये हुए पत्रोंका उत्तर सम्पादनविभाग-की ओरसे यथासाध्य देनेकी चेष्टा की जा रही है। पर यदि किन्हींके पत्रोंके उत्तर न पहुँचें तो वे महानुभाव परिस्थिति समझकर क्षमा करें।

निवेदक—चिम्मनलाल गोस्वामी

दो नयी पुस्तकें

महत्त्वपूर्ण शिक्षा

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४७६, चार बहुरंगे चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च १)।

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रीगोयन्दकाजीने कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सदाचार, वैराग्य, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि सार्वजनिक शिक्षाके विषयोंको बहुत ही सरल और सुन्दर ढंगसे तथा अनेक कथा-कहानियोंद्वारा भी समझाया है। इसे पढ़कर काममें लानेवाले सभी स्त्री-पुरुषोंको विशेष लाभ हो सकता है।

महाभारत—मूलमात्र (प्रथम खण्ड)

(आदि, सभा और वनपर्व)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ८०४, तीन रंगीन चित्र, मूल्य ६) डाकखर्च २।≈) पूरे कपड़ेकी जिल्द।

गीताप्रेससे प्रकाशित बड़े आकारकी मूल भागवतकी तरह ही दो कालममें पूरे महाभारतका मूल-पाठ प्रकाशित करनेका विचार है। प्रथम तीन पर्व (आदि, सभा और वन) छप गये हैं। आगेके भी पर्व क्रमशः छप रहे हैं। जिन्हें लेना हो वे मँगवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण
गीता
वर्ष ३० अङ्क १२

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१३, दिसम्बर १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर पौष २०१३, दिसम्बर १९५६ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ३६१

श्रीकृष्णार्जुनका दिव्य प्रेम

संजय बोले—'नृपति ! आपका उन्हें सुनानेको संदेश । बड़े विनयसे मैंने उनके अन्तःपुरमें किया प्रवेश ॥
चकित दृष्टिसे श्रीकृष्णार्जुनका देखा जो प्रेम अनन्त । मैंने समझ लिया, निश्चय ही होगा अब कुरुकुलका अन्त ॥
जिन अर्जुनपर अखिल-शक्तिधर प्रभु रखते हैं इतना प्रेम । उनको कौन जीत सकता है, कौन बचा सकता निज क्षेम ॥
अर्जुनने प्रभुके दोनों चरणोंको रखकर अपनी गोद । उनको नित्य बनाकर अपने, बने धन्य जीवन अति मोद ॥
एक चरण अर्जुनका राज रहा रानी कृष्णाकी क्रोड । रक्खा गोद सत्यभामाने चरण दूसरा कर प्रिय होड ॥
उभय महापुरुषोंको ऐसे एक दिव्य आसनपर देख । सोच लिया अति दारुण है दुर्योधनके ललाटके लेख ॥

(महाभारत, उद्योगपर्व)

कल्याण

याद रक्खो—तुम शरीर नहीं हो, इसलिये तुम्हारा न जन्म होता है न मरण; जन्म-मृत्यु तो शरीरके होते हैं। तुम मन नहीं हो, इसलिये संसारके सुख-दु:ख तुमको नहीं सता सकते। तुम प्राण नहीं हो, इसलिये भूख-प्यास तुमको व्याकुल नहीं कर सकते। तुम तो नित्य मुक्त शुद्ध बुद्ध आत्मा हो। तुम यदि अपनेको रोग-दु:खादिसे युक्त तथा मरणधर्मा मानोगे तो इससे तुम्हारा अज्ञान ही दृढ़ होगा।

याद रक्खो—संसारके सुख-दु:ख, जन्म-मरण उसीको होते हैं जो 'प्रकृतिस्थ' है, जिसका प्रकृतिके परिणामके साथ तादात्म्यसम्बन्ध हो रहा है। वही वास्तवमें 'रोगी' है। तुम यथार्थमें प्रकृतिसे परे आत्मा हो, नित्य निरामय हो, अपने स्व-रूप आत्मामें स्थित हो जाओ—'स्व स्थ' हो जाओ। भवरोगकी सारी बाधाएँ मिट जायँगी। तुम्हारे लिये भवसागर सूख जायगा।

याद रक्खो—संसार यदि भगवान्‌की लीला है तो सृष्टि तथा प्रलय दोनों ही उनकी लीलाके दो दृश्य हैं। जन्म और मृत्यु—दोनों ही उनकी लीलाके दो अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रसूतिगृहके सुगन्धित मङ्गल प्रदीपकी ज्योति और श्मशानमें चिताकी चटकती दुर्गन्धमयी अग्निशिखा—दोनों ही भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला हैं। हृष्टपुष्ट-कलेवर शक्ति-ओज-सम्पन्न रूप-गुणयुक्त सबल शरीर और अस्थि-पञ्जर-सार कङ्कालमात्र क्षीणकाय सर्वथा अशक्त निर्बल रुग्णदेह—दोनों ही लीलानाट्यके दो पात्र हैं। दोनों ही मङ्गलमय हैं।

याद रक्खो—सांसारिक रोग-दु:ख तथा मरणसे वही डरता है, जो शरीरको ही आत्मा मानता है अथवा जिसका जगन्नाटकके सूत्रधार भगवान्‌की मङ्गलमयी लीलामें विश्वास नहीं है।

याद रक्खो—गहराईसे देखनेपर संसारके रोग-दु:ख आदि तो प्रत्येक दृष्टिसे मङ्गलमय तथा कल्याणकारी हैं। (१) रोगसे शरीरमें एकत्रित विकार निकलते हैं, इससे शरीरकी शुद्धि होती है। (२) रोग-दु:खादिसे अशुद्ध प्रारब्धकर्मका भोग होकर उसका नाश होता है, इससे कर्मकी शुद्धि होती है। (३) रोग-दु:खादिके समय मनुष्य विनम्र होता है, उसके मनमें वैराग्य आता है, दूसरोंके दु:खोंका अनुमान होता है, अभिमान गलता है, भगवान्‌की स्मृति होती है, इससे मनकी शुद्धि होती है। इस दृष्टिसे रोग-दु:खादि शरीर, कर्म तथा मनकी शुद्धि करते हैं।

याद रक्खो—रोग-दु:खादिको यदि भगवान्‌का मङ्गलविधान मान लिया जाय और इनमें उनकी कृपाके मङ्गल दर्शन किये जायँ तो सहज ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है।

याद रक्खो—रोग-दु:खादिके समय यह मान लिया जाय कि यह तप हो रहा है तो रोग-दु:खादिजनित मानस कष्ट नष्ट हो जाता है और सहज ही तपके फलकी प्राप्ति होती है। मृत्युको निर्वाण माननेसे मोक्षलाभ होता है।

याद रक्खो—रोग-दु:खादिमें ऐसी अनुभूति हो कि इससे हमारे प्रियतम प्रभु प्रसन्न हैं और उनकी प्रसन्नता ही हमारी परम प्रसन्नता है तो रोग-दु:खादि प्रियतम प्रभुके सुखके हेतु होनेके कारण उसी क्षण परम सुखदायक बन जाते हैं तथा प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति होती है।

याद रक्खो—यदि रोग-दु:खादि या मृत्युके रूपमें भगवान्‌के दर्शन किये जायँ, विश्वासपूर्वक यह माना जाय कि रोग-दु:खादि तथा मृत्युका साज सजकर प्रभु ही पधारे हैं तो उनके मधुर आलिङ्गन-सुखका सौभाग्य प्राप्त होता है।

याद रक्खो—रोग-दु:खादिके निवारणके लिये औषध आदि उपचार आश्रम तथा परिस्थितिके अनुसार कराने कर्तव्य हों तो उन्हें निष्कामभावपूर्वक केवल कर्तव्य-

बुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ कराना चाहिये, रोग-दु:खनाशकी आशा-कामनासे तथा शरीर एवं प्राणिपदार्थकी ममताको लेकर नहीं। जैसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि तुम आशारहित, ममतारहित तथा कामना-ज्वरसे मुक्त होकर युद्ध करो और सब कर्मोंका मुझमें निक्षेप कर दो। इसी प्रकार तुम्हारा प्रत्येक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ, भगवान्‌के आज्ञा-पालनके लिये अथवा भगवद्विधानकी पूर्णताके लिये हो, किसी अहंता, ममता, कामना, आसक्तिसे प्रेरित न हो।

'शिव'

जीव-तत्त्व

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो
मुखत्वात् पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

आठ वर्षकी छोटी उम्रमें वेदाभ्यास पूर्ण करके श्रीशङ्कराचार्यजी वेदान्तके अभ्यासके लिये नर्मदाके किनारे श्रीगोविन्दपादाचार्य गुरुके निकट जाकर खड़े हुए। गुरुने परिचय पूछा तो वे उत्तरमें बोले—'दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, परंतु उसकी मुखसे स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं होती। प्रतिबिम्ब तो केवल देखने मात्रतक ही है और दर्पणके सामने जबतक रहें तभीतक दीख पड़ता है, परंतु बिम्बरूप मुख तो सदा अपने स्वरूपमें ही रहता है। इसी प्रकार आत्माका प्रतिबिम्ब अन्तःकरण (धीषु) में पड़ता है, तो उसको हम जीव कहते हैं। ऊपरके दृष्टान्तके अनुसार जीवकी आत्मासे स्वतन्त्र कोई सत्ता ही नहीं। आत्मा त्रिकालाबाधित है और प्रतिबिम्ब तो जब अन्तःकरण सम्मुख होता है तभी उसमें दीखता है। इस प्रकार जो नित्यप्राप्त बिम्बरूप आत्मा है, वही मैं हूँ।'

आज अपने जीव-तत्त्वके विषयमें विचार करना है। जीवभाव यानी तात्त्विक दृष्टिसे जीवका स्वरूप क्या है। इसका विचार करना है। श्रीशङ्कराचार्यके कथनानुसार तो जीवका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं है और जिस वस्तुका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न हो, उसके स्वरूपका निर्णय भला कैसे किया जा सकता है?

देखिये, एक बहुत बड़ा दर्पण है, उसके सामने एक मनुष्य खड़ा है। दर्पणमें जो मनुष्य दीख पड़ता है, उसको हम उसका प्रतिबिम्ब कहते हैं और उस समय वह मनुष्य शास्त्रीय भाषामें बिम्ब कहलाता है। अब यदि वह मनुष्य अपनी एक आँख बंद करे तो प्रतिबिम्बकी भी एक आँख बंद हो जाय। दोनों आँखें बंद करे तो प्रतिबिम्बमें भी दोनों आँखें बंद हो जायँ। वह मनुष्य ललाटमें लाल तिलक करे तो प्रतिबिम्बमें भी लाल तिलक हो जाय और केसरका त्रिपुण्ड्र दे तो प्रतिबिम्बमें भी केसरका त्रिपुण्ड्र हो जाय। इस प्रकार प्रतिबिम्बका स्वरूप बिम्बके स्वरूपके साथ बदलता रहता है, फिर भला प्रतिबिम्बके स्वरूपका लक्षण किस प्रकारसे किया जाय?

गिरगिट नामका एक प्राणी होता है। एक सज्जन कहते हैं कि वह लाल रंगका होता है, दूसरे कहते हैं कि नहीं, वह पीला होता है और एक तीसरे सज्जन कहते हैं कि आप दोनों आदमी गलत कहते हैं, मैंने उसको नीले रंगका प्रत्यक्ष देखा है। इतनेमें ही एक कबाड़ी उधरसे निकलता है। उसको बुलाकर वे पूछते हैं कि 'भाई! तुम तो जंगलमें रोज ही जाते हो, बतलाओ कि गिरगिटका रंग कैसा होता है?' तब वह उत्तर देता है कि वह तो दिनभरमें बहुत-से रंग बदला करता है। इसलिये यह कैसे कहें कि वह अमुक रंगका ही होता है। लाल, पीला, नीला अनेक रंगोंका वह दीख पड़ता है।

प्रतिबिम्बके विषयमें भी यही कठिनाई है, तथापि उसका लक्षण करना ही हो तो एक रास्ता है—'बिम्बके स्वरूपके अनुसार उसका स्वरूप है'—इतना कहना ही पर्याप्त होगा। फिर बिम्बका स्वरूप जाननेके बाद प्रतिबिम्बका स्वरूप अपने-आप समझमें आ जायगा। जीवके विषयमें बिम्ब तो आत्मा है, इसलिये आत्माका स्वरूप

समझ लें तो जीवका स्वरूप अपने-आप ही समझमें आ जायगा; परंतु आत्माका स्वरूप जाननेके बाद तो जीवका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासा भी नहीं रहती ।

आत्माका स्वरूप भी झटपट समझमें आ जाय, ऐसी बात नहीं है । उसका समझना साधनसापेक्ष है, अर्थात् उसको समझनेके लिये अमुक अधिकार प्राप्त करना चाहिये । सामान्यतः इस अधिकारको साधनचतुष्टय नाम दिया जाता है । वे हैं—(१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) षट् सम्पत्ति—शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा—ये छः और (४) मुमुक्षुत्व ।

अन्यत्र अधिकारके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है—

ब्रह्मानुभवसम्पन्नाः शास्त्रज्ञाश्चानसूयवः ।
तात्पर्यरससारज्ञाः त एवात्राधिकारिणः ॥

जिन्होंने ब्रह्मका अनुभव किया है, जो शास्त्रके मर्मको जानते हैं, जिन्होंने आसुरी सम्पत्तिका त्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त कर ली है तथा जिन्हें तात्पर्य समझने योग्य सूक्ष्मबुद्धि प्राप्त है, उनका आत्मज्ञानमें अधिकार है ।

फिर, आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये पहले तो अमुक अंशमें जीवके स्वरूपको समझ लेना आवश्यक समझा जाता है । इससे आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार जीवके लिये पृथक्-पृथक् लक्षण बताये हैं, उनको पहले समझना चाहिये ।

(१) न्यायशास्त्रके मतके अनुसार आत्मा अनन्त और व्यापक है तथा चौदह गुणोंसे युक्त है । जीवमें ज्ञान तथा चेतन अंश तिरोहित होता है, इसलिये वह जड-जैसा प्रतीत होता है ।

(२) योग और सांख्यशास्त्रका मत लगभग एक-सा है । वे मानते हैं कि पुरुष (आत्मा) अनन्त, व्यापक और धर्मरहित है । अविद्याके कारण पुरुष अपनेको बद्ध मानता है और तभी वह जीव कहलाता है । प्रकृति-पुरुषके विवेकसे भ्रमकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है ।

(३) शाङ्करमतके अनुसार मायाविशिष्ट चेतन ईश्वर तथा अविद्याविशिष्ट चेतन जीव कहलाता है । जबतक अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक जीवभाव चालू रहता है और जीव अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर जन्म-मरण धर्मकी कल्पना अपनेमें कर लेता है । स्वरूपसे तो वह शुद्ध, बुद्ध और नित्य मुक्त ही है । मोक्षके लिये अविद्याका नाश करना कर्तव्य है ।

(४) दूसरे आचार्य जीवको अणुरूप मानते हैं और उनमेंसे कुछ लोग अनेक जीव भी मानते हैं । कुछ जीव-ईश्वरका भेद मानते हैं और कुछ अभेद भी मानते हैं ।

(५) जैन-मतके अनुसार जीव शरीर-जैसा परिमाणवाला होता है, इससे चींटीके शरीरमें छोटा और हाथीके शरीरमें बड़ा होता है । जैसा शरीर वैसा जीव । जीव पाप-पुण्यात्मक कर्मका कर्ता है, इसलिये उसका भोक्ता भी वही है । इस प्रकार उनका मत कर्मप्रधान है ।

(६) चार्वाक आदि नास्तिकोंके मतसे जीव शरीरके समान पञ्चमहाभूतोंका विकारमात्र है और शरीरके नाशके साथ उसका नाश हो जाता है । आजके भौतिकवादका मत भी कुछ ऐसा ही है ।

इस प्रकार जीवके विषयमें विभिन्न मतोंको जाननेसे केवल कुछ जानकारी हुई है । अब हमें जीवका स्वरूप जाननेका प्रयत्न करना चाहिये । जीव शब्दका व्यवहार लगभग शङ्कराचार्यके समयसे किया जाता है, परंतु उपनिषत्कालमें तो जीवके बदले हंस शब्दका प्रयोग होता था और वह बहुत ही अर्थसूचक भी था । जीवसे तो केवल 'मुझे जीना है'-यह अहङ्कारवृत्ति ही ध्वनित होती है । यह भाव प्राणिमात्रमें समानरूपसे होता है और मनुष्यके अतिरिक्त सारे प्राणियोंके जीवनका निर्वाह केवल अहङ्कारवृत्तिसे ही होता है । अपने मतके अनुसार तो जीवन अनन्त है, अतएव एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना जीव शब्दमें आरोपित होता है । इस प्रकार जीवका अर्थ 'जन्म-मरणके चक्रमें घूमनेवाला चेतन अंश' हुआ ।

अब 'हंस' शब्दको समझिये । हंसको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना हो तो वह उड़कर वहाँ पहुँच जाता है । सरोवरके एक किनारेसे दूसरे किनारे, अथवा पर्वतके एक शिखरसे दूसरे शिखरपर जाना हो तो उसे देर नहीं लगती, बल्कि उड़कर तुरंत पहुँच जाता है ।

इसी भावके अनुसार संन्यास-दीक्षामें भी जिस मनुष्यको ब्रह्मलोकमें जानेकी कामना होती है और भूलोकसे वहाँ जानेके लिये उड़ना आवश्यक होता है, इससे ऐसे संन्यासीको 'हंस' नामकी दीक्षा दी जाती है । जिसने यह निश्चय कर लिया है कि ब्रह्मलोक भी आवागमनवाला है, वह तो कैवल्य-मुक्तिकी इच्छा करता है और इस कारण वैसे संन्यासीको 'परमहंस' नामकी दीक्षा दी जाती है ।

इस प्रकार हंसके उड़नेके दृष्टान्तसे एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेकी बात तुरंत ही समझमें आ जाती है और इस कारण 'हंस' का अर्थ एक शरीरको छोड़कर दूसरा 'शरीर धारण करनेवाला चैतन्य अंश'—ऐसा अपने-आप ध्वनित होता है, इसके लिये कोई दूसरी कल्पना नहीं करनी पड़ती।

अब यह देखिये कि इस शरीरको छोड़कर इसमेंसे कौन उड़ जाता है। इस शरीरमें मूलतः दो विभाग दीख पड़ते हैं—एक तो चेतन अंश और दूसरा जडविभाग। आत्मा चेतन अंश है और शरीर जड अंश है। आत्मा तो सर्वव्यापक है, इस कारण वह एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें नहीं जा सकता; क्योंकि जाय तो वहाँ, जहाँ जगह खाली हो। आत्माके अतिरिक्त कोई जगह नहीं है, अतएव जहाँ देखो वहाँ आत्मा-ही-आत्मा है। इस बातको योगवासिष्ठमें इस प्रकार समझाया गया है—

इत आत्मा तथेहात्मा ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
स बाह्याभ्यन्तरे देहे नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥

यहाँ, वहाँ तथा जहाँ देखो वहाँ तथा ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और दसों दिशाओंमें, शरीरमें तथा उसके बाहर सर्वत्र आत्मा ही है। सारांश यह कि इस जगत्‌रूपमें जो दीख पड़ता है, वह आत्मा ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। दृष्टान्त देकर और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥

एक खाली घड़ा अवकाशमें पड़ा हो तो उसके भीतर तथा बाहर सर्वत्र आकाश ही रहता है तथा पानीसे भरा घड़ा समुद्रके जलमें डूबा हो तो उस घड़ेके भीतर और बाहर सर्वत्र पानी ही होता है, इसी प्रकार इस जगत्‌में सर्वत्र तथा इसके बाहर भी आत्मा ही है।

अब यह देखिये कि एक स्थलसे दूसरे स्थलमें जानेका भ्रम कैसे होता है। मिट्टीके एक पिण्डसे कुम्भकारने एक घड़ा बनाया। घड़ा उत्पन्न होते ही उसके अंदरकी पोलका नाम घटाकाश हो गया। घड़ा उत्पन्न होनेपर कोई आकाश उत्पन्न नहीं हुआ; परंतु घड़ेकी उपाधिके कारण उतने आकाशके अंशका घटाकाश नाममात्र पड़ा। आकाश भी आत्माके समान सर्वव्यापक है, इस कारण उसका अंश या विभाग नहीं होता। घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेसे कोई आकाश नहीं चलता, परंतु घड़ेके कारण जो घटाकाश उपाधि है उसके चलनेसे अंदरका आकाश एक जगहसे दूसरी जगह जाता है, ऐसी भ्रान्ति होती है।

इसी प्रकार आत्मा भी एक, अखण्ड और सर्वव्यापक तत्त्व है, इस कारण वह कहीं आ-जा नहीं सकता। भगवान्‌ने गीतामें यह बात बहुत सुन्दर ढंगसे समझायी है। ज्ञेय पदार्थका स्वरूप समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
(१३।१६)

अर्थात् भूत—प्राणी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनमें रहनेवाला आत्मा भी मानो भिन्न-भिन्न है, ऐसा भ्रम होता है। जैसे ऊपर घटाकाशके दृष्टान्तमें भ्रम दिखाया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा तो एक, अखण्ड और अविभक्त है, इसलिये वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा ही नहीं सकता।

अतएव अब इसकी विशेष खोज करनी है कि फिर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें कौन जाता है। आँखोंसे दीखनेवाले शरीरको प्राण निकल जानेके बाद हम जला या गाड़ देते हैं। अतएव उसके जानेकी बात प्रत्यक्षके विरुद्ध है। इसलिये वैसी कल्पना भी नहीं हो सकती। तब फिर कौन जाता है? यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि यह जो शरीर दीख पड़ता है, इसके भीतर एक दूसरा शरीर है और उसके भीतर एक तीसरा शरीर भी है। इन तीनों शरीरोंको क्रमसे 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'कारण' नाम दिया जाता है। हम आँखों देखते हैं कि यह शरीर तो प्रत्यक्ष ही है। इस स्थूल शरीरको छोड़कर जब प्राण चले जाते हैं (यह बात तो प्रत्यक्ष दीखती है), तब उसके साथ दूसरे ग्यारह पदार्थ भी चले जाते हैं। वे हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ अन्तःकरण। पाँच प्राणोंके साथ ये ग्यारह अर्थात् कुल सोलह पदार्थ जब शरीरको छोड़कर चले जाते हैं, तब शरीर मर गया कहलाता है। इन सोलह पदार्थोंके समूहको सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग देह नाम दिया जाता है। कारण-शरीरका प्रयोजन इस प्रसङ्गमें नहीं आता; इसलिये उसका विचार यहाँ नहीं किया जायगा।

यह सूक्ष्म शरीर आत्माका चैतन्य प्राप्त कर स्थूल शरीरके द्वारा सारा व्यवहार करता है। इसको देखना होता है तो आँखका उपयोग करता है, सूँघना होता है तो नाकका, इत्यादि। इसी प्रकार चलना हो तो पैरका उपयोग करता है और लेना-देना हो तो हाथका, इत्यादि। इस प्रकार कर्मका कर्ता यह सूक्ष्म शरीर है, इसलिये किये हुए कर्मका फल भी इसीको भोगना चाहिये। कर्मफल भोगनेके लिये

अनेक देह चाहिये, इसलिये यही (सूक्ष्म शरीर ही) एक शरीरका भोग समाप्त होनेके बाद उसको छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार एक शरीरके बाद दूसरा शरीर धारण करता जाता है और शरीरसे फिर नये कर्म भी करता रहता है। इससे इस चक्रका कहीं अन्त नहीं आता।

अब यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये। दर्पणको चाहे जिस स्थितिमें रक्खो उसमें प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा ही। जमीनके ऊपर उलटकर रक्खो तो भी जिस जमीनके ऊपर वह पड़ा होगा, उसका प्रतिबिम्ब उसमें होगा ही; भले वह हमको न दिखायी दे। इसी प्रकार अन्तःकरण भी जहाँ जाता है वहाँ उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब तो होता ही है और इस प्रतिबिम्बके कारण ही उसमें चेतन-शक्ति होती है, अन्यथा स्वभावसे तो वह जड ही है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि शरीरोंमें जो आवागमन होता है, वह प्रतिबिम्बका ही होता है; क्योंकि अन्तःकरण जहाँ जाता है वहाँ प्रतिबिम्बसहित ही जाता है, यह तो हमने देख ही लिया। आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिये जहाँ अन्तःकरण जाता है वहाँ तो वह होता ही है, इस कारण उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहता। इससे गमनागमन धर्मवाला जीव अर्थात् आत्माका आभास या प्रतिबिम्ब है, स्वयं आत्मा नहीं। इतना इस प्रसङ्गसे निश्चय हो गया। इस प्रसङ्गको श्रीअष्टावक्रमुनि इस प्रकार समझाते हैं—

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥

पञ्चमहाभूतोंका बना हुआ यह देह जन्मता है, जीता है और मृत्युको प्राप्त होता है। आत्मा न जन्मता है और न मरता है, अतएव उसके लिये खेद क्यों करना चाहिये? वह तो अजर, अमर और अविनाशी है।

यहाँ बहुत-से जिज्ञासु भी शङ्का करते हैं कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो वह मृत शरीरमें होता है या नहीं? और यदि होता है तो उसका प्रकाश क्यों नहीं दीखता? (इस प्रश्नका उत्तर आप अपने मनको दीजिये और फिर आगे पढ़िये) बिना अधिकारके साधन करनेवाले पुरुषको ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है तथा वह दोषका पात्र नहीं है। इसलिये यह बात समझने योग्य है।

आत्मा तो सर्वव्यापक है और इस कारण वह सत्तामात्र है। उसमें कोई क्रिया या गति नहीं होती। जो वस्तु सर्वव्यापक है उसके विषयमें यह कहना नहीं बनता कि वह कहाँ नहीं है; परंतु कहाँ है, इसका उत्तर तो यही होगा कि वह सर्वत्र है। इसलिये वह मुर्देमें भी है, उसे जलाइये तो उस अग्निमें भी है ही और उसके जल जानेके बाद उसके अवशेषमें भी रहता ही है।

उसका प्रकाश क्यों नहीं दिखलायी देता, इस बातको श्रीशङ्कराचार्य इस प्रकार समझाते हैं—

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेव।
तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

भाव यह है कि मुखके सामने दर्पण रक्खो तो उसमें उसका प्रतिबिम्ब दीख पड़ेगा। दर्पण हटा लो तो प्रतिबिम्ब दीखना बंद हो जायगा। इस प्रकार प्रतिबिम्ब न दीखनेपर कोई यह नहीं मानता कि मुखका नाश हो गया है, इसलिये प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। इसी प्रकार आत्माके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाला अन्तःकरण शरीरमेंसे चला गया है, (धीवियोगे) इस कारण उसका प्रतिबिम्ब नहीं दीखता, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ आत्मा है ही नहीं। इसलिये आत्मा सर्वव्यापक है और वह सर्वत्र है।

अब यही बात बिजलीके दृष्टान्तसे समझिये। जिससे यह ठीक-ठीक समझमें आकर दृढ़ हो जाय और संदेह न रहे। सत्तामात्र होनेसे बिजलीमें और आत्मामें आंशिक साम्य है। आत्मा जिस प्रकार स्वयं कुछ करता नहीं और उसकी सत्तामात्रसे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यवहार किये जाती हैं। इसी प्रकार बिजली भी स्वयं कुछ नहीं करती; परंतु जिस यन्त्रमें उसे लगाओ, उस यन्त्रको वह काम करनेमें शक्तिशाली बनाती है।

बिजलीका बल्ब तो सबने देखा ही है। इसके बाहरी भागमें जो काँचका बंद गोला होता है उसके भीतर एक गोल चक्र-जैसा होता है। बाहरी गोला तो केवल उसकी रक्षाके लिये ही होता है, वह बिजलीके प्रकाशको ग्रहण नहीं कर सकता। जब हम उस बल्बमें बिजली पहुँचा देते हैं, तब वह चक्र बिजलीके प्रकाशको लेकर स्वयं प्रकाशक बनकर उस प्रकाशको बाहरके गोलेमें फैलाता है और गोलेमेंसे होकर वह प्रकाश बाहरके पदार्थोंको प्रकाशित करता है। जब किसी कारणसे वह चक्र खराब हो जाता है, तब वह बल्ब प्रकाश नहीं दे सकता। बिजलीके अंदर प्रवेश करानेपर

बिजली तो वहाँ रहेगी; परंतु उसके प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामग्री (चक्र) वहाँ नहीं रहनेके कारण बिजलीका प्रकाश नहीं दीखेगा। बाहरके गोलेको फोड़कर चक्रके स्थानमें हाथ लगाओ तो वहाँ बिजलीके मौजूद होनेका अनुभव भी हो सकेगा।

इसी प्रकार मृत शरीरमें भी आत्मा तो है ही; परंतु उसके प्रकाशको ग्रहण करनेवाली सामग्री—अन्तःकरण वहाँ उपस्थित नहीं है, इसलिये आत्माका प्रकाश वहाँ दीखता नहीं।

अब दूसरे प्रकारसे जीवका स्वरूप देखिये। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः॥

आदिदेव नारायणने प्रकृतिका आश्रय लेकर पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि की और उसमें ब्रह्माण्ड नामकी विराट् पुरी तथा शरीर नामक व्यष्टि पुरीकी रचना की। पश्चात् उस देवताने जीव-रूपसे उसमें प्रवेश किया। इससे वे नारायणदेव पुरुष कहलाये।

अब इस पुरुषमें जीवभाव कैसे आता है, यह समझाते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

भाव यह है कि पुरुष स्वरूपसे तो नारायणदेव ही है। परंतु जब वह प्रकृतिस्थ बनता है, अर्थात् प्रकृतिके कार्यरूप इस शरीरको अपना स्वरूप मान बैठता है और इस कारण शरीरके कर्त्ता, भोक्ता तथा जन्म-मरण आदि धर्मोंको भी अपनेमें मान लेता है, तब वह जीव कहलाता है तथा ऊँची-नीची अनेक योनियोंमें जन्म धारण करता है; परंतु जब वही पुरुष 'स्वस्थ' बन जाता है अर्थात् अपने मूल स्वरूपको जान लेता है, तब वह नारायण तो है ही। जीव तो भ्रमके कारण होता है और इस भ्रमकी निवृत्ति होनेपर वह अपने मूलस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

इसी प्रसङ्गको श्रीयोगवासिष्ठ इस प्रकार समझाता है—

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः॥

भाव यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण शूद्र स्त्रीकी कामना होनेपर उसके साथ सम्भोग-सहवास आदि मलिन इच्छाओंके कारण अपने उचित, सात्त्विक ब्राह्मणधर्मको धीरे-धीरे भूल जाता है और आगे चलकर शूद्रप्राय बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा स्वयं ईश्वररूप है। फिर भी लिङ्ग शरीरका सङ्ग होनेके कारण विषय-भोगोंकी आशासे अपने शुद्ध स्वरूपको भूल जाता है और जीवभावको स्वीकार कर लेता है।

अब सृष्टिकी उत्पत्तिके द्वारा जीवके स्वरूपका विचार कीजिये। विश्वकी सृष्टिके पहले क्या स्थिति थी, यह समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

चतुर्मुख ब्रह्माको उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले केवल मैं ही था, दूसरा कुछ भी न था। उस समय मैं अकेला ही था और कोई क्रिया न थी। उस समय कोई सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था तथा असत् अर्थात् कारणात्मक सूक्ष्मभाव भी न था। यहाँतक कि दोनों भावोंका—कार्य-कारणभावोंका भी कारणरूप प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। प्रलयकालमें सब मुझमें लीन हो जाता है तो फिर मैं ही अकेला शेष रहता हूँ। अतएव मैं अनादि, अनन्त और परिपूर्ण हूँ।

निर्गुणं सगुणं जीवसंज्ञितं जगदात्मकम्।
एतच्चतुर्विधं ब्रह्म श्रीमद्भागवते स्फुटम्॥

निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार, जीव तथा जगत्—इस प्रकार चतुर्विध एक ब्रह्म ही है, ऐसा भागवत प्रतिपादन करता है।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि जब सब कुछ एक ब्रह्मका ही विलास है तो फिर जीव ब्रह्मसे भिन्न कैसे हो सकता है? केवल अविद्याके कारण जीव अपनेको ब्रह्मसे भिन्न मानता है और परकीय सुख-दुःखको भोगता है।

इस बातको एक दृष्टान्तसे समझिये। एक भगौना लो। उसमें छोटे-बड़े चार कटोरे रख दो। फिर उस भगौनेको पानीसे भर दो। अब सहज बुद्धिसे विचार करोगे तो ज्ञात होगा कि चारों ही कटोरोंमें एक ही पानी है, फिर भी वह अलग-अलग दीखता है। इसका कारण क्या है? कारण कटोरोंकी उपाधि ही है। यह उपाधि दूर हो जाय तो पानी अलग-अलग नहीं; बल्कि एक ही है, यह प्रत्यक्ष दीख

पड़ेगा। इसी रीतिसे एक ही ब्रह्म उपाधिभेदके कारण विविध रूपमें स्फुरित होता है। तब फिर जीव या जगत्, निर्गुण या सगुण ब्रह्मसे पृथक् कैसे हो सकते हैं ?

एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु। ॐ।

अब यह देखिये कि योगदर्शन जीवभावको कैसे समझाता है—'**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः**'। द्रष्टा अर्थात् आत्मा और उसका दृश्य अर्थात् शरीर और उसके साथ संयोग अर्थात् तादात्म्यभावसे बँध जाना—मैं शरीर हूँ, ऐसा दृढ़ अभिनिवेश हो जाना। यही जन्म-मरणरूप दुःखका कारण है। यह संयोग किस कारण होता है, यह समझाते हुए कहते हैं—'**तस्य हेतुरविद्या**'। इस तादात्म्य-सम्बन्धके होनेका कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है—'मैं कौन हूँ'—इसे भूल जाना, अपने स्वरूपका विस्मरण हो जाना ही है।

कारणकी निवृत्ति करनेपर कार्यकी निवृत्ति अपने-आप हो जाती है, इसलिये अविद्याके नाशसे संयोगका नाश हो जायगा, इसको समझाते हुए कहते हैं—

'तदभावात् (अविद्याया अभावात्) संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।'

अविद्याकी निवृत्ति होनेपर संयोग दूर हो जायगा और इस तादात्म्य-सम्बन्धका दूर हो जाना ही आत्माका कैवल्य है।

इसलिये योगदर्शन भी यही कहता है कि विशुद्ध आत्मा जब अपनेको शरीररूप मानता है, तब वह बद्धजीव कहलाता है और वह जब शरीरभाव—देहाध्यासको छोड़ देता है, तब आत्मा तो वह स्वयं है ही और इस कारण स्वरूपसे ही वह जन्म-मरणरहित तथा शुद्ध, बुद्ध और नित्य है। इस प्रकार देहाध्यासको जीवका पर्याय कह सकते हैं। इसके सिवा जीवका कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दीख पड़ता।

इस बातका शास्त्रीय अनुमोदन इस प्रकार प्राप्त होता है—

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः।
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥

चावलका दाना जबतक छिलकेके भीतर रहता है तबतक वह धान नामसे पुकारा जाता है और छिलका दूर करनेपर वह चावलके रूपमें दीखता है और उसका नाम चावल हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा जबतक देहसे बँधा रहता है अर्थात् जबतक अपनेको देहरूप मानता है तभीतक वह जीव कहलाता है; परंतु जिस क्षण गुरुकृपासे उसका निश्चय हो जाता है कि मैं तो देह नहीं, बल्कि उसका द्रष्टा हूँ, नियन्ता आत्मा हूँ, उसी क्षण वह अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है।

अब इस सम्बन्धमें गीता क्या कहती है, सो देखिये—

............प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७।५)

ऊपर जो कही गयी, वह तो मेरी अपरा प्रकृति—जड़ है, परंतु इससे विलक्षण मेरी जीवरूप चेतन प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगचक्र चालू रहता है। जीवभाव न हो तो जन्म कौन ले ? और मरे भी कौन ? अतएव जन्म-मरणरूप संसारके चालू रहनेमें यह 'जीव'भाव ही कारण है। यहाँ 'जीवभूतां' शब्द समझने योग्य है। इसका भाव यह है कि जो स्वरूपसे जीव न होनेपर भी जीव-जैसा आचरण करता है, वह जीवभूत कहलाता है। अर्थात् स्वरूपसे तो जीव मेरा अंश होनेके कारण मेरा स्वरूप ही है, परंतु अविद्याकी उपाधिके कारण मेरा ही चिदंश अपनेको मुझसे पृथक् समझकर देहरूप मानता है, इस कारण वह आवागमनधर्मवाला जीव कहलाता है।

फिर, दूसरे प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥

(गीता १५।७)

जीवलोकमें—इस मर्त्यलोकमें मेरा ही सनातन अंश जीव हो करके प्रकृतिमें रहनेवाली मनसहित छः इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित करता है। यहाँ भी ऊपरके समान भगवान्‌ने 'जीवभूत' शब्दका व्यवहार किया है। कहनेका तात्पर्य यह है कि मैं सनातन हूँ, इसलिये मेरा अंश भी सनातन ही है और इस कारणसे उसका जन्म-मरण नहीं होता है; परंतु अविद्याके कारण लिङ्गदेहके साथ प्रतिबिम्बका आवागमन होता है, उसको अपना आवागमन मानकर अपनेको जन्म-मरणधर्मवाला मानता है।*

---

* तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर तो प्रतिबिम्बका भी आवागमन नहीं होता; क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिये अन्तःकरण जहाँ जाता है, वहाँ प्रतिबिम्बसहित ही होता है। इस प्रकार अन्तःकरणके लिङ्गदेहके आवागमनसे प्रतिबिम्ब भी उसके साथ जाता है। यह भ्रान्ति होती है। घरमें उल्टा दर्पण घुमाओ तो छप्परका प्रतिबिम्ब चलता हुआ जान पड़ेगा; परंतु छप्पर सर्वत्र है, इसलिये दर्पण उसके प्रतिबिम्बके साथ ही घूमता रहता है। इस कारण प्रतिबिम्बके चलनेकी केवल भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार जीवभाव आत्मामें आगन्तुक है, स्वरूपगत नहीं है; क्योंकि हम देखते हैं कि स्वरूपसे तो जीव परमात्म-रूप ही है। इसलिये अब इस जीवभावकी निवृत्ति कैसे करनी चाहिये—यह देखना है। मनुष्य-जीवनका कर्तव्य यही है; क्योंकि अन्य योनियोंमें ज्ञान प्राप्त करनेकी सामग्री नहीं होती।

जीवभाव और घटाकाश—दोनोंके बीच बहुत ही समानता है। इसलिये इनका तुलनात्मक विवेचन करना चाहिये, इससे बात स्पष्ट हो जायगी। हम देखते हैं कि घड़ेके उत्पन्न होनेके बाद उसके अंदरकी पोल घटाकाश कहलाती है। स्वभावतः यह घटाकाश महाकाशरूप ही है, उससे तनिक भी पृथक् नहीं। परंतु यह घटाकाश भ्रमसे अपनेको घड़ारूप मान ले तो उस घड़ेके उत्पन्न होनेपर अपना जन्म हुआ मानेगा तथा घड़ेके फूट जानेपर अपनी मृत्यु हुई मानेगा। घड़ेके एक जगहसे दूसरी जगह ले जाये जानेपर वह अपनेको आवागमन धर्मवाला मानेगा। घड़ेमें मैला पदार्थ डालो तो वह अपनेको अपवित्र हुआ मानेगा और गङ्गाजल डालो तो अपनेको शुद्ध हुआ मानेगा। इस प्रकार अपने महाकाशस्वरूपको भूल जानेके कारण घड़ेके धर्मोंको अपनेमें कल्पित कर लेगा और अपनेमें जन्म-मरण, आवागमन या शुद्धि-अशुद्धि न होनेपर भी अपनेको उन धर्मोंवाला मानकर दूसरेके सुख-दुःखसे स्वयं सुखी-दुखी हो जायगा। अब इस सुख-दुःखसे घटाकाशको छूटना हो तो उसे अपने स्वरूपको समझना होगा और यह निश्चय करना होगा कि मैं तो महाकाशरूप ही हूँ तथा इस कारण असङ्ग हूँ, दूसरे किसीका धर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकता तथा सर्वव्यापक होनेके कारण मेरा आवागमन होता ही नहीं।

इसी प्रकार आत्माको भी शरीरका सङ्ग हो गया है। इस कारण वह अपने स्वरूपको भूलकर शरीरको ही अपना स्वरूप मान बैठा है। इसी कारण स्थूलशरीरका जन्म-मरण होनेपर वह स्वयं जन्म-मरणका दुःख भोगता है, सूक्ष्मशरीरके कर्ता-भोक्तापनको अपना मानता है और इससे अपनेको आवागमन धर्मवाला समझता है। प्राण भूख-प्याससे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं भूख-प्यासकी व्यथाका अनुभव करता है। चित्तमें शोक-मोहकी तरङ्गें उठती हैं, तब अपनेको शोक-मोह हो रहा है—यों समझता है। इस प्रकार अपनेमें स्थूल और सूक्ष्म शरीरके धर्मोंकी कल्पना करके जीवभावको प्राप्त होता है।

चेतन रोगी है रह्यो ग्रस्यो वहम आजार।
कबहुँ ऊर्ध्व कहुँ अधोगत, लाग्यो खान पजार॥
लाग्यो खान पजार रैन दिन करतो किस्सा।
हम अमुके, तुम अमुक अमुकमें मेरो हिस्सा॥
कह गिरिवर कविराय बुद्धि भइ नख सिख सोगी।
बिना पित्त कफ बाय भयो परमेस्वर रोगी॥

इस प्रकार जीव होनेका वहम न हो और स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो देहमें अध्यास हो ही नहीं। यहाँ रस्सी पड़ी है, इस बातका ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है। परंतु रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान हो तो सर्पकी भ्रान्ति क्योंकर हो? वह कभी न हो। भेड़ियोंके साथ पाले-पोसे गये मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि वह मनुष्य है; इसलिये वह अपनेको भेड़िया मानता है और भेड़िये-जैसा व्यवहार करता है। यदि उसको यह ज्ञान हो कि 'मैं मनुष्य हूँ' तो वह वैसा व्यवहार करे ही नहीं।

इसी प्रकार आत्माको देहका सङ्ग होनेके कारण अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है तथा सङ्ग अनादि कालसे होनेके कारण उसमें अध्यास बँध जाता है। इस प्रकार देहाध्यास अज्ञान-मूलक है, इसलिये उसकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है। इस आत्मज्ञान-के लिये एकान्तमें बैठकर, घीका दीप एवं सुवासित धूप जलाकर शान्तचित्तसे नीचे लिखे श्लोकका मनन करे। देहाध्यास अनादि कालसे है, अतएव उसको निवृत्त करनेका साधन भी दीर्घकालतक भाव और प्रेमके साथ करना चाहिये।

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम्॥

'मैं जन्म नहीं लेता, बड़ा भी नहीं होता तथा मृत्युको भी नहीं प्राप्त होता। जन्म आदि षड्विकार तो देहके धर्म हैं, इसलिये मुझ आत्माको उनके साथ कोई लेना-देना नहीं है। कर्ता-भोक्ता आदि धर्म तो अहङ्कारके हैं, इसलिये वे मुझमें नहीं घट सकते; क्योंकि मैं तो चेतनस्वरूप तथा शिवस्वरूप आत्मा हूँ।'

नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे
नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे॥

मैं अजन्मा हूँ, इसलिये मेरा जन्म तथा मरण नहीं होता। मैं प्राण नहीं हूँ, इस कारण उसके धर्म भूख-प्यास मुझको नहीं सता सकते। मैं चित्त नहीं हूँ, इसलिये उसके धर्म शोक-मोह मुझको व्याकुल नहीं कर सकते तथा मैं कर्त्ता नहीं हूँ, इसलिये उसके धर्म बन्धन और मुक्ति मुझको नहीं होते। जो कर्म करता है, उसीको उसका बन्धन होता है और जिसको बन्धन होता है, उसीको मोक्षकी अपेक्षा होती है; परंतु मैं तो अकर्त्ता हूँ, अतएव बन्धन अथवा मोक्षके साथ मेरा क्या सम्बन्ध? कुछ भी नहीं।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आपको जो इस बातपर शङ्का होती है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरके ही अवतार थे या नहीं, सो इस शङ्काके नाशका एकमात्र उपाय विश्वास है; क्योंकि इस बातको कोई भी मनुष्य अपनी तुच्छ बुद्धिद्वारा न तो समझ सकता है और न समझा ही सकता है । जो बात मन, वाणी और बुद्धिका विषय ही नहीं है, वह सांसारिक उदाहरणोंसे तर्कद्वारा कैसे समझायी जा सकती है । हाँ, यदि कोई मनुष्य सत्-शास्त्रों और सत्पुरुषोंकी वाणीपर विश्वास करके मान लेता है तो भगवान्की अहैतुकी कृपासे उसकी समझमें भी आ जाता है ।

'सो जानइ जेहि देहु जनाई'

(२) आपने लिखा कि ऐसा पता चलता है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण महापुरुष थे, साक्षात् ईश्वर नहीं; तो यह पता भी आपको किसीकी बात मान लेनेसे ही चला होगा । नहीं तो, आप ही बताइये कि श्रीराम और श्रीकृष्ण कोई ऐतिहासिक महापुरुष हुए थे या नहीं; इसका ही क्या प्रमाण है ? जिन ग्रन्थोंमें उनके चरित्रोंका वर्णन है, उनको यदि कपोलकल्पित मान लिया जाय, तो फिर उनको महापुरुष मानकर उनका अस्तित्व माननेके लिये भी तो कोई आधार नहीं रह जाता । ऐसा कोई भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ नहीं है, जिसमें उनके चरित्रका तो वर्णन हो और उनको ईश्वरका अवतार न माना हो । इस परिस्थितिमें यह कहना कि **'ईश्वर मनुष्यरूपमें अवतार लेते हैं, यह बात पूर्ण सत्य** नहीं है, एक साहसमात्र नहीं तो क्या है, जिसके लिये यह कहा जा सके कि वह अमुक काम नहीं कर सकता, वह ईश्वर ही कैसा ?

(३) आपने महात्मा गांधीके कथनको उद्धृत किया, सो उनका कहना किस अभिप्रायसे है, यह समझना कठिन है । साथ ही वे यह भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मुझे अभी सत्यकी उपलब्धि नहीं हुई है, मैं उसकी खोजमें हूँ । इस परिस्थितिमें हम उनकी ही बात मानें, तुलसीदासजी-जैसे संतोंकी बात न मानें, जिनको स्वयं गांधीजीने बड़े आदरके साथ माना है—यह कहाँतक उचित है, आप विचार करें ।

(४) कबीरपंथी कबीरजीको साक्षात् परब्रह्म मानते हैं, यह तो उनके विश्वासकी बात है; पर स्वयं कबीरजीने तो अपनी वाणीमें यह बात कहीं नहीं कही कि मैं ईश्वर हूँ, तुम मेरी पूजा करो इत्यादि ।

(५) आपने लिखा कि इसी प्रकार सनातन धर्ममें राम-कृष्णको ईश्वर और साक्षात् ब्रह्म मान लिया जाता है, पर ऐसी बात होती तो उस धर्मका नाम ही सनातन नहीं होता । सनातन उसे कहते हैं, जो अनादि हो, सदासे हो, अन्य मत-मतान्तरोंकी भाँति मनुष्यका चलाया हुआ न हो । फिर आपने श्रीराम और श्रीकृष्णको ईश्वर न मानकर महापुरुष किस आधारपर मान लिया, यह समझमें नहीं आया ।

(६) श्रीगांधीजीने जो यह लिखा कि मेरा राम दशरथनन्दन होते हुए भी साक्षात् ब्रह्म है, इसका भावार्थ आपने मनकी बातको पुष्ट करनेके लिये जो लगाया, वह ठीक नहीं । अर्थ जो उनकी मान्यतामें है, वही उनकी दृष्टिसे ठीक है ।

कोई यदि यह कहे कि गीताकी कथामें वर्णित घटना सच्ची घटना नहीं है, उपदेशके लिये लिखी गयी

है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें जो उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने दिया है, वह भी श्रीकृष्णकी वाणी नहीं है, किसी कविकी कल्पनामात्र है और वह कवि मिथ्यावादी है। इस परिस्थितिमें गीताके उपदेशका क्या महत्त्व रह जाता है, इसपर आप गम्भीरतासे विचार करें। क्या आप श्रीशङ्कराचार्यजीको भी मिथ्यावादी मानेंगे, जिन्होंने अपने भाष्यकी भूमिकामें स्पष्ट लिखा है कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और रक्षा करनेवाले स्वयं परमेश्वरने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश अर्जुनको दिया और सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यासजीने उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों ७०० श्लोकोंमें छन्दोबद्ध करके लोगोंके सामने रखा है।

(७) आपने लिखा कि पुराणोंकी कथामें मुझे कोई ऐतिहासिक सत्यता नहीं दिखायी पड़ती, सो हमलोगोंकी दृष्टि ही इतनी निर्मल और तीक्ष्ण कहाँ है, जिसके द्वारा हम पुराणोंकी कथाका रहस्य ठीक-ठीक समझ सकें। यह हो सकता है कि किसी तत्त्वको समझानेके लिये उसका वर्णन कथाके रूपमें किया गया हो। पर साथ ही यह बात भी है कि वह ऐतिहासिक घटना भी हो सकती है। पुराणोंकी कथाएँ बहुत ही प्राचीन हैं, स्मरणशक्तिके परिवर्तनसे उनमें हेर-फेर हुआ हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; पर उनको कपोल-कल्पित मानना तो सर्वथा अनुचित है।

(८) आपने इस विषयमें मेरे विचार प्रकट करनेके लिये लिखा, सो मेरी मान्यताके अनुसार भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरके ही अवतार थे। (गीता ४। ६ और १०। १२ में देखें) उनके चरित्रोंकी कथाएँ जो ऋषिप्रणीत आर्ष ग्रन्थोंमें हैं, सर्वथा सत्य हैं, कपोलकल्पित नहीं हैं; यदि कहीं उन कथाओंका भाव ठीक समझमें न आये, कोई बात धर्मके प्रतिकूल प्रतीत होती हो तो मैं यह मानकर उसे छोड़ देता हूँ कि यह बात मेरी समझमें नहीं आयी, इसका आशय कोई दूसरा होगा। शास्त्र तो समुद्र है, उसका समस्त जल किसी घड़ेमें कैसे भरा जा सकता है?

पुराणोंकी कथाओंके विषयमें भी ऐसी ही बात है, वे कपोलकल्पित नहीं हैं। अधिकांश कथाएँ वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थोंसे और वेदकी विभिन्न शाखाओंसे ही ली गयी हैं। पर सब जगह उनका आशय ठीक समझमें नहीं आता—यह मैं अपनी कमजोरी मानता हूँ। ग्रन्थोंको मिथ्या या कपोलकल्पित मानना तो मैं अपने लिये सर्वथा ही अनुचित समझता हूँ; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ।

(९) वोटमें तो वही बात कहनी चाहिये, जो सत्य हो; पर जिसका निर्णय नहीं हो सके, वहाँ यही कहना सत्य है कि मैं अभी इसका निर्णय नहीं कर सका, खोज कर रहा हूँ। यदि यह कहें कि राम-कृष्ण अवतार नहीं थे तो यह भी सत्य नहीं; क्योंकि आप सर्वज्ञ नहीं हैं। यदि यह कहें कि अवतार हैं तो इसलिये सत्य नहीं कि आपको स्वयं विश्वास नहीं।

(१०) रुपये उधार उस व्यक्तिको कदापि नहीं देना चाहिये, जो उनका दुरुपयोग करता हो। उसे न देना कोई शत्रुता नहीं है। यदि उसको दुःख या क्रोध होता है तो यह उसकी बेसमझी है। अतः इससे डरना नहीं चाहिये। साफ-साफ कह देना चाहिये कि हम आपको उधार नहीं दे सकते।

(२)

सादर हरिस्मरण और प्रणाम। आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) 'अवश्यमेव भोक्तव्यम्' यह उक्ति किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके विषयमें है, न कि नवीन कर्मोंके लिये। पशुवध तो नया कर्म है। अतः उसमें दोष बताना उचित ही है; क्योंकि वह कर्म हिंसामय है।

बिना इच्छाके स्पर्श किया हुआ अग्नि शरीरको जला देता है, उस प्रकार नाम भी संचित पापोंको जला देता

है—इतना ही सम्बन्ध है। प्रारब्ध-भोगके विषयमें यह बात लागू नहीं है, जैसे अग्नि भी जलसे भीगे हुए घास आदिको स्पर्शमात्रसे नहीं जला सकता।

(२) भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

—यह कथन नामका स्वाभाविक माहात्म्य बताता है और 'बिना भाव रीझे नहीं' यह भावयुक्त भजनकी विशेष महिमाका वर्णन है। अतः कोई विरोध नहीं है। जैसे सूर्यका प्रकाश समानभावसे सबको प्रकाशित करता है, पर सूर्यमुखी काँचमें सूर्यकी विशेष शक्तिका प्राकट्य हो जाता है—इसमें कोई विरोध नहीं है।

(३) वृक्ष आदिके छेदनमें दोष नहीं है—ऐसी बात नहीं है; पर उनको सुख-दुःखका ज्ञान कम होता है। वे जड हैं। इसलिये उनके छेदन आदिमें हिंसा यानी पाप कम माना गया है। विहित हिंसाका निर्णय करना इतनी सीधी बात नहीं है, जिसको चिट्ठीद्वारा समझाया जा सके। साधारणतया यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि जिसकी हिंसा की जाय, उसमें यदि उसका हित हो तो वह दोषयुक्त नहीं है।

(४) 'संशयात्मा विनश्यति' के साथ दो विशेषण और भी हैं। जो संशयात्मा अज्ञ यानी विवेकहीन और अश्रद्दधान यानी विश्वासहीन होता है, उसका नाश—पतन हो जाता है। जो विवेकी होता है, उसका संशय तो विवेकद्वारा वस्तुका बोध होनेपर नष्ट हो जाता है और जो विश्वासी होता है, उसका संशय शास्त्र और संतकी वाणीपर विश्वास करके उनकी बात मान लेनेसे नष्ट हो जाता है; इसलिये वह संशयात्मा नहीं रहता। पर जो विवेक न होनेके कारण स्वयं कोई निश्चय नहीं कर पाता और दूसरेकी बात मानता नहीं, उसका संशय-नाश होनेका कोई उपाय नहीं रहता; इसलिये वह नष्ट हो जाता है अर्थात् श्रेय-मार्गसे गिर जाता है—यही इसका भाव है। अतः संशयकी गणना सोलह तत्त्वोंमें हो तो कोई विरोध नहीं है। इस प्रकारका संशय तो अर्जुनमें भी था; पर उससे अर्जुनकी कोई हानि नहीं हुई, संशयका ही नाश हो गया।

(५) जीव ईश्वरका अंश है—यह होते हुए भी ईश्वर अखण्ड है। इसमें यह कारण है कि जैसे किसी स्थूल पदार्थके एक खण्डको उसका अंश कहा जाता है, ऐसा अंशांशिभाव जीव-ईश्वरका नहीं है। ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म है, उसके खण्ड नहीं हो सकते—जैसे आकाशके टुकड़े नहीं किये जा सकते। आकाशका सम्बन्ध तो देशविशेषसे दिखायी देता है, इसलिये उसमें उपाधिके कारण अंशांशिभावकी कल्पना की जा सकती है; पर ईश्वर तो देश-कालसे भी अतीत है। इसलिये जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव उपाधिके कारण भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि ईश्वरमें कोई उपाधि नहीं है। जीवात्मा ईश्वरकी ही चेतन परा प्रकृति है (गीता ७। ४) अर्थात् उसका स्वभाव है (गीता ८। ३), अतः ईश्वरका ही अंश है; उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु जीवात्मा नहीं है। ईश्वर और जीवके स्वरूप और सम्बन्धका जो तत्त्व है, वह मन-बुद्धि और वाणीका विषय नहीं है; अतः उसे कैसे समझाया जाय। यह तो भगवान्की अहैतुकी कृपासे ही समझमें आ सकता है, पहले तो विश्वासपूर्वक मानना ही पड़ता है; क्योंकि वैसा कोई उदाहरण नहीं है, जिसके द्वारा ईश्वर और जीवके स्वरूप और सम्बन्धको समझाया जा सके।

(३)

सादर प्रणाम। आपका पत्र समयपर मिल गया था, परंतु पत्र बड़ा होनेके कारण और समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ। आपने अपनी आयु तथा परिस्थिति लिखी सो ज्ञात हुई। आपने जो-जो बातें पूछी हैं, उनका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है।

आपको यदि इस बातकी चिन्ता है कि मृत्यु निकट है तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। भगवान्की प्राप्ति

करनेके लिये तो एक क्षण भी काफी है। भगवान्‌को बहुत समय और साधनकी आवश्यकता नहीं, उन्हें तो प्रेम और विश्वास चाहिये; वह जिस क्षण पूर्ण हो जायगा, उसी क्षण भगवान् प्रत्यक्ष हो जायँगे।

मान और अपमानको समान समझ लेनेपर अथवा भगवान्‌का विधान या कर्मोंका फल समझ लेनेपर अपमान-जनित दुःखोंसे छुटकारा मिल सकता है।

छोटे लड़केमें स्नेह होना स्वाभाविक-सा हो रहा है, यह मोहजाल है; आसक्ति न छोटेमें ही होनी अच्छी है और न बड़ेमें ही। स्नेह तो एकमात्र भगवान्‌में ही होना चाहिये। धन, परिवार और पुत्र-पौत्र आदिका स्नेह तो दुःखका ही कारण है।

दुःख-सुखके भोग ही भगवान्‌के विधानसे होते हैं; पापकर्म तो मनुष्य आसक्तिवश करता है, वह भगवान्‌का विधान नहीं है।

सच्चा वैष्णव तो वही है, जो भगवान् विष्णुका प्रेमी भक्त है। उसकी ही महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। आपने मन्त्र लिया, यह तो ठीक है; परंतु अब भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना चाहिये। सब जगहसे प्रेम हटाकर केवल भगवान्‌का सच्चा भक्त और सच्चा वैष्णव बनना चाहिये।

भगवान्‌के नाम-जपपर दृढ़ता अवश्य रखनी चाहिये। नाम-जप निरन्तर होता रहे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। नाम-जप बहुत ही उत्तम साधन है। मन तो एक ही है, परंतु इसकी शाखाएँ बहुत हैं; यह बड़ा चञ्चल है, एक ही क्षणमें अनेक विषयोंका चिन्तन कर लेता है। इसे सांसारिक चिन्तनसे हटाकर भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित उनके स्वरूपके चिन्तनमें लगाना चाहिये।

यह मन भोगोंमें आसक्ति होनेके कारण ही उनकी तरफ दौड़ता है, अतः उनको अनित्य और दुःखरूप समझकर उधरसे प्रेम हटाना चाहिये और भगवान्‌में प्रेमपूर्वक मनको लगाना चाहिये। यही इसकी शान्तिका उत्तम उपाय शास्त्रोंमें पाया जाता है।

भगवान्‌की भक्ति यदि निष्काम न हो सके तो सकाम भी अच्छी है। भगवान्‌में विश्वास और प्रेम बढ़नेपर निष्कामभाव अपने-आप ही आ सकता है।

तीर्थ, सत्सङ्ग और भगवान्‌के विषयके संकल्प करना अच्छा ही है। भोगोंकी बुराई जानते हुए भी जो मन उनमें लिप्त रहता है इसका कारण जन्म-जन्मान्तरमें सुखबुद्धिसे आसक्तिपूर्वक भोगोंको भोगनेका अभ्यास है और यह मोहजाल अच्छे अभ्याससे ही टूट सकता है, नाम-जप इसके लिये बहुत अच्छा उपाय है। भगवान् किसीको पतित समझकर नहीं छोड़ते, हमलोग ही भगवान्‌को छोड़ देते हैं।

गङ्गारज आप ऋषिकेश या हरिद्वारमें किसीको लिखकर मँगवा सकते हैं। यहाँ तो कोई गङ्गाजी नहीं हैं।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे चाय पीना न भी छूटे तो कोई हर्ज नहीं, पर उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

(४)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है——

ईश्वर सर्वशक्तिमान्, समस्त जगत्‌के नियामक और संचालक हैं——इसमें कोई संदेह नहीं है। उनकी इच्छाके और सत्ताके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता——यह भी ठीक है; पर साथमें यह भी समझ लेना चाहिये कि वे जीवोंके कर्मफल-भोगके अनुरूप ही सब कुछ करते हैं। उनकी इच्छा बिना किसी निमित्तके नहीं होती।

भगवान् शिवजीने रामचरितमानसमें जो यह कहा है कि रघुपति जिस समय जिसको जैसा करते हैं, वह तत्काल वैसा ही हो जाता है, इसमें भी वही रहस्य है कि वे उसके कर्मानुसार ही वैसा करते हैं, अन्यथा किसीको ज्ञानी और किसीको मूढ़ वे क्यों और कैसे बनावें?

इसलिये समझना चाहिये कि मनुष्ययोनिके अतिरिक्त अन्य सब जो भोग-योनियाँ हैं, उनमें तो पूर्वकृत कर्मोंके फलका उपभोग ही होता है, नये कर्म नहीं होते; इस कारण वे नये पुण्य-पापके भी भागी नहीं होते। परंतु हमपर विशेष कृपा करके भगवान्‌ने हमें यह मनुष्य-शरीर दिया है, इसमें नये कर्म करनेकी शक्ति, योग्यता भी प्रदान की है और उनका सदुपयोग करनेके लिये विधान भी बना दिया है। साथ ही हमें विवेक भी प्रदान किया है।

यदि ये सब न मिले होते तो मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता था। इसी कारण कहा जाता है कि सब कुछ ईश्वर ही करता है। पर यह कहते समय मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि प्रभुने जो विवेकशक्ति प्रदान की है, उसके द्वारा मुझे ईश्वरकी दी हुई शक्तियोंका सदुपयोग करना चाहिये, उस विवेककी अवहेलना करके ईश्वरकी कृपासे प्राप्त सामर्थ्य और पदार्थोंका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, मुझे प्रभुके आज्ञानुसार ही सब काम करना चाहिये, उसके विपरीत काम नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे मिले हुए विवेककी अवहेलना करके जब मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके वशीभूत हो जाता है और विषयभोगकी इच्छासे तथा दुःखके भयसे वह ऐसा काम करने लग जाता है जो उसे नहीं करना चाहिये, तब उसका फल उसे भोगना पड़ता है।

'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' इसके रहस्यको समझकर जो भक्तजन उनकी प्रेरणाका आदर करते हैं और उसीके अनुसार सब काम करते हैं, वे तो अवश्य ही संसार-बन्धनोंसे मुक्त होकर प्रभुको प्राप्त कर लेते हैं। दुःखका भोग तो उन्हींको ही करना पड़ता है, जो उनकी प्रेरणाकी अवहेलना करके अपनी मनमानी करते हैं।

चोरी और हिंसादिके लिये प्रभु किसीको प्रेरित नहीं करते, प्रत्युत उनके बुरे परिणामोंको दिखाकर उनसे रुकनेकी प्रेरणा देते हैं। तब भी मनुष्य कामना और आसक्तिके वशमें होकर अन्यायमें प्रवृत्त होता है। (गीता अध्याय ३ । ३६, ३७ देखें।)

शुभ कर्म और अशुभ कर्म—इन सभीका फल अवश्य भोगना पड़ता है; किस कर्मका फल कब मिलेगा इसका पता नहीं लगता। इसीसे यह संदेह होता है कि शुभ कर्मका फल नहीं मिलता; किंतु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

राजा प्रतापभानुने जितने शुभ कर्म किये थे, उन सबको उन्होंने भगवत्समर्पण कर दिया था यानी उनके फलका त्याग कर दिया था, इसी कारण वे दूसरे जन्ममें भगवान्‌के हाथसे मारे जाकर संसारसे मुक्त हो गये और भगवान्‌के परमधाममें चले गये।

जब उन्होंने लोभके वश होकर समस्त ब्राह्मणोंको अपने वशमें करनेका संकल्प किया, तब उनको राक्षसके जालमें फँसना पड़ा। यदि वे इस प्रकारका बुरा संकल्प नहीं करते तो उनपर न तो राक्षसकी माया ही चल सकती और न ब्राह्मणोंके शापसे उनका नाश ही होता।

इतनेपर भी उनका कोई वास्तविक अकल्याण नहीं हुआ। शुभ कर्मोंका फल यदि वे भोगना चाहते तो उनकी मुक्ति नहीं होती, स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती थी।

वर्तमानके उदाहरण भी जबतक उनपर सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तभीतक आपको अनुकूल प्रतीत होते हैं। विचार करनेपर ही वास्तविक बात समझमें आ सकती है। आप किसी भी घटनाको सामने रखकर उसपर गम्भीरतासे विचार करें।

भगवान्‌ने तो ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है, जिसमें कोई भी मनुष्य पाप न करे। इसके लिये उन्होंने प्रत्येक मनुष्यके कर्तव्यका विधान बना रक्खा है और उसे विवेक भी दे रक्खा है।

जितनी भी कठिनाई है, पापकर्म करनेमें ही है। उसे मनुष्य छिपकर करता है, डरता है; क्योंकि वह

जिसके लिये अहितकर होता है, उससे भय बना रहता है। उसके करनेमें शक्तिका क्षय होता है। मन सदैव अशान्त और व्यस्त रहता है।

शुभ कर्म करनेमें कोई भी कठिनाई नहीं है, क्योंकि मनुष्यको जो कुछ भी प्राप्त है, उसका भगवत्कृपासे प्राप्त विवेकके अनुसार सदुपयोग करना ही शुभ कर्म है। उसके करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। वह काम सबके सामने किया जा सकता है। करते समय भी शान्ति मिलती है, लोग भी उसपर प्रसन्न रहते हैं, उसे किसीसे भय भी नहीं रहता। चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है।

इतनेपर भी यह मानना कि 'पापकर्म करनेमें सुविधा है और अच्छे कर्म करनेमें असुविधा है' यह प्रमादके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। भगवान्‌ने तो सबको सुविधा और सामर्थ्य दे रक्खी है। जो भी उनका भक्त बनना चाहे, वह भक्त बन सकता है, पतितसे पतित प्राणीको भी वे अपनानेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इतनेपर भी कोई उनका बनकर रहना न चाहे, इसका क्या उपाय !

आप भक्तोंकी जीवनी देखें। धन-सम्पत्ति, आरोग्य, पुत्र-स्त्री, अधिकार और वैभव भगवान्‌की भक्तिके लिये आवश्यक नहीं हैं। जो भी कोई उनका भक्त बनना चाहे, बन सकता है। उसके लिये किसी भी प्रकारकी रुकावट नहीं है। उनका भक्त बननेके लिये जितनी और जैसी सुविधा आवश्यक है, मनुष्यमात्रको मिली हुई है। किसी भी वस्तुकी इच्छा करनेवाला और उसका चिन्तन करनेवाला मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकता।

(५)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपको मेरे पत्रद्वारा शान्ति मिली, इसमें प्रभुकी कृपा ही समझनी चाहिये।

अशान्तिका कारण धनका अभाव नहीं है। धनकी कामना एवं उसमें महत्त्व-बुद्धि ही अशान्तिका कारण है; अतः धनसे जो सुख मिला हुआ प्रतीत होता है, उसके उपभोगका त्याग करके धनकी कामनासे रहित हो जानेपर धनकी कमी दुःखद नहीं हो सकती। जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो, उसीमें संतोष करना ही शान्तिका उपाय है।

पतिदेवके साथ मतभेद तो आपको रखना ही नहीं चाहिये। उनके मनकी धर्मानुकूल बातको पूरी कर देना ही स्त्रीका मुख्य धर्म है, अतः आपको उनकी इच्छामें अपना मन मिला देना चाहिये। अपना कोई स्वतन्त्र मत नहीं रखना चाहिये। अपने कर्तव्यपालनद्वारा उनकी सेवा करते रहना चाहिये।

आपके पतिदेवका यह कहना बहुत ही उचित है कि जब सुविधा हो तब व्रत-त्यौहार या उत्सव मनाना चाहिये। इन सबका पतिसेवाकी तुलनामें कोई विशेष महत्त्व नहीं हैं। इस मतभेदके कारण जो अशान्ति रहती है, इसमें तो आपकी स्पष्ट ही भूल है; इसका सुधार कर लेना चाहिये।

स्त्रीके लिये तो पति ही सर्वोत्तम गुरु है। पतिसे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। विष्णुभगवान्‌की पूजा और एकादशीका व्रत—इन दोनोंमें तो कोई द्रव्यका खर्च है नहीं। अतः आपके पतिदेवका भी इनके करनेमें अनुमानतः कोई विरोध नहीं होगा। यह ध्यान आपको अवश्य रखना चाहिये कि उनकी सेवामें कमी न आये।

अपने पतिके दोषोंको देखना आपका काम नहीं है। किसी समय वे परामर्शके रूपमें पूछें तो जो बात उनके लिये हितकर हो कह दें। पर कहें बड़ी ही नम्रता और विनयके साथ। उसपर वे न मानें तो अपने मनमें किसी प्रकारका दुःख नहीं मानना चाहिये। प्रत्येक व्यवहारमें उनका आदर रहना चाहिये। हृदयमें उनके प्रति प्रेम रहना चाहिये। उनके अवगुणोंको देखकर उनमें तुच्छभाव करना और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान करना बहुत बुरा है।

आप पवित्रतासे बनाया हुआ प्रसाद पाती हैं, यह तो अच्छी बात है। इसे छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, पर इसके लिये दूसरोंको कष्ट नहीं देना चाहिये एवं अपनेमें इस गुणका अभिमान करके दूसरोंको तुच्छबुद्धिसे नहीं देखना चाहिये। सम्भव है ऐसा करनेसे आपके पतिदेव रुष्ट नहीं होंगे।

आप अपनी गलतियोंका सुधार कर लें तो शान्ति अवश्य मिल सकती है। अशान्तिका कारण दूसरा कोई नहीं होता—यह निश्चित सिद्धान्त है।

आपने अपनी दिनचर्या लिखी सो ठीक है; जप, पूजा, पाठ आदि करते समय अपने इष्टकी स्मृति अवश्य रखनी चाहिये। घरके कामको, पतिकी सेवाको और शारीरिक क्रियाको—सबको भगवान्‌का ही काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही करना चाहिये।

प्रभु सब कुछ सुनते हैं, उनसे कोई बात छिपी नहीं है—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। वे जो कुछ करते हैं, ठीक करते हैं। उसीमें सबका हित है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

आपके अन्य प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—प्रातः उठते ही जो दैनिक पानी पिया जाता है, वह व्रतके दिन पीनेमें कोई अड़चन नहीं है।

२—जो केला, कद्दू खाना छोड़ देते हैं, यह उनके लिये उचित ही होगा? छोड़नेमें कोई हानि तो होती ही नहीं। पर यह सबके लिये ही उचित हो, ऐसी बात भी नहीं है एवं छोड़ देनेमें कोई बड़ा भारी महत्त्व भी नहीं है।

३—डालडाकी बनी हुई वस्तु भगवान्‌के भोग न लगायी जाय तो अच्छा ही है।

४—पतिकी इच्छाकी पूर्तिके लिये उनकी विलासिताके भावको पूर्ण करे, किंतु स्वयं उसके सुखका भोग न करे तो इसमें हरिभजनमें कोई बाधा नहीं आ सकती।

५—स्त्रियाँ जब मासिक धर्मसे अपवित्र न हों उस समय मानसिक पूजन कर सकती हैं। वैदिक मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन या हवन आदि करनेमें स्त्रियोंका अधिकार नहीं है। दूध आदि पहले नहीं लेना चाहिये।

(६)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए।

मैंने जो आपसे यह निवेदन किया था कि कौन सिद्ध पुरुष है—मैं जानता नहीं, इसका यह अभिप्राय नहीं था कि जगत्‌में कोई सिद्ध महापुरुष हैं ही नहीं। मेरा अभिप्राय तो अपनी कमजोरी प्रकट करनेका था; क्योंकि मैं किसीकी पहचान करनेमें समर्थ नहीं हूँ। हो सकता है कि मैं जिनको सिद्ध महापुरुष नहीं मानता, उन्हींमेंसे कोई सच्चा सिद्ध महापुरुष हो या जिनको मैं सिद्ध महापुरुष मान लूँ, वे वास्तवमें वैसे न हों। इसके अतिरिक्त मेरा परिचय ही कितने लोगोंसे है! अतः आपको निराश नहीं होना चाहिये। आपको यदि अच्छे महात्मासे मिलनेकी सच्ची लगन होगी तो कोई-न-कोई अवश्य मिल सकते हैं।

× × ×

आपका कार्य चालू है और मिनट-मिनट विभाजित है, यह अच्छी बात है। समय और प्राप्त शक्तिका सदुपयोग ही सर्वोत्तम साधन है।

आपके द्वारा अनुष्ठित साधना गलत होगी, ऐसा संदेह अपने साधनके प्रति क्यों होना चाहिये? जिस साधनमें साधककी रुचि हो, जिसपर विश्वास हो और जो अनायास ही किया जा सके, वही उसके लिये उपयोगी हुआ करता है।

बातचीत होनेपर यदि आप मुझे अपनी परिस्थितिसे परिचित कर सकेंगे तो मैं अपनी समझके अनुरूप आपको सलाह देनेका विचार रखता हूँ।

किसी दिव्य विभूति और सिद्धिसम्पन्न व्यक्तिका दर्शन होनेपर सूचना देनेके लिये लिखा, सो इसके लिये मैं लाचार हूँ; क्योंकि मैं किसीको अच्छी तरह पहचान सकूँ, ऐसा नहीं मानता ।

(७)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं——

(१) आपने जो सतत भगवान्‌का भजन करनेवाले और चौबीसों घंटे जप करनेवाले महात्माओंको देखा, सो बड़े सौभाग्यकी बात है । ऐसे महात्माओंका होना जगत्‌के लिये बड़ा हितकर है, परंतु यह पता लगना बड़ा ही कठिन है कि मनमें भजन भगवान्‌का होता है या जगत्‌का । यह भी तो हो सकता है कि ऊपरसे तो भजन करते और जप करते हों, पर मन दूसरा काम करता हो ।

जमीनमें गड्ढा खोदकर ऊपरसे सीमेंट लगाकर समाधि लगानेवाले भी किसमें समाधि लगाते हैं, इसका पता नहीं । इस प्रकारकी समाधि दिखानेवालोंका भगवत्प्राप्तिसे प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषोंके लक्षण गीतामें दूसरे अध्यायके ५५ वें से ५८ वें श्लोकतक, बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १७ वें श्लोकतक एवं चौदहवें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक देखिये । इसके सिवा, पाँचवें अध्यायमें भी कितने ही श्लोक हैं तथा दूसरे-दूसरे अध्यायोंमें भी हैं; वहाँ भी देखना चाहिये ।

(२) भगवान्‌के भक्तोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, उनकी रुचिके अनुसार भगवान् भी अपने अनेक रूप धारण करते हैं । तामसी प्रकृति और रुचिवाले मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये भगवान् शिवने अपना वैसा ही स्वरूप बनाया है । अन्यथा वैसी प्रकृतिवाले लोग किसकी उपासना करते ? भगवान् परम दयालु हैं; इसलिये वे सभी मनुष्योंको अपनी ओर लगानेकी सुविधा प्रदान करते हैं ।

(३) कश्यपजी ऋषि थे, पर वे प्रजापति थे । अतः उनकी अनेक पत्नियाँ थीं । प्रजाकी वृद्धि करना ही उनका काम था । रावणकी माता राक्षसी थी, इस कारण उसके उदरसे रावण आदि राक्षस उत्पन्न हुए, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । रावणको पूर्वजन्ममें शाप भी हुआ था, इस कारण उसको राक्षसकी योनिमें आना पड़ा ।

(४) अपने साथ कोई अत्याचार या बलात्कार करे तो भी साधकको तो क्षमा ही करना चाहिये, उसका बदला लेने या क्रोध करनेमें कोई लाभ नहीं है; क्योंकि बदला लेनेकी भावनासे और क्रोध करनेसे न तो अत्याचारीका सुधार होता है और न क्रोध करनेवालेका ही कोई लाभ है । क्षमा करनेसे क्षमा करनेवालेको तो पूरा लाभ होगा ही; इसके अतिरिक्त अपराधीका हृदय भी परिवर्तित हो सकता है ।

(५) शरीरको कष्ट पहुँचानेवाले प्राणी जैसे चींटी, खटमल, मच्छर आदि हैं, उनका प्रतीकार इस प्रकार किया जा सकता है जिसमें शरीरकी भी रक्षा हो जाय और उनको भी किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे । चींटियोंको तो अन्यत्र उनके खानेकी वस्तु रखकर हटाया जा सकता है । मच्छरोंसे रक्षाके लिये मच्छरदानी लगायी जा सकती है । खटमल उत्पन्न होनेसे पहले सफाई रखकर और यदि उत्पन्न हो जायँ तो सावधानीके साथ उनको अन्यत्र सुरक्षित स्थानमें हटाया जा सकता है ।

इसी प्रकार खेतीमें नुकसान पहुँचानेवाले जानवरोंका प्रतीकार भी उनको कष्ट दिये बिना हो सके तो करना चाहिये । नहीं तो, यह समझना चाहिये कि सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं और प्राणी भी सब उनके हैं; जो वस्तु जिसको मिलनेवाली होती है उसको मिलती है; अतः

उन जीवोंकी हिंसा न करना ही साधकके लिये हितकर माल्रम होता है।

(६) गङ्गाजीको भगवान्‌का चरणोदक भी माना जाता है, पर साथ ही उनकी उत्पत्ति भगवान् शङ्करकी जटामेंसे हुई है—यह भी तो माना जाता है। भगवान् शङ्कर भगवान् विष्णुके पूज्य माने जाते हैं, इस दृष्टिसे भगवान् विष्णु और श्रीशालग्रामजीको उनमें स्नान कराया जाना अनुचित नहीं है।

(७) एकादशी भगवान्‌के व्रतका दिन है। अतः उस दिन मरनेवालेका संकल्प भगवान्‌के उत्सवका रहनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है। इसलिये उस दिन मरना श्रेष्ठ माना जाना ठीक ही है।

(८)

सविनय प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि शास्त्रोंका कथन है कि जीवमात्रको अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार पुण्य और पापोंके फल भोगने ही पड़ते हैं और स्वर्ग-नरकसम्बन्धी अनेक बातें पुराणोंमें कही भी गयी हैं। सो यह सब ठीक है।

जीवितावस्थामें ही सुख-दुःख-प्राप्तिको स्वर्ग-नरक मान लिया जाय—लिखा सो सुख-दुःखप्राप्तिको स्वर्ग-नरकके तुल्य मान सकते हैं। इस लोकमें जो सुख-दुःख मिलता है, उसमें पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख है, यह तो एक अंशमात्र है। संसारमें चौरासी लाख योनियाँ हैं। इस मनुष्ययोनिमें तो पुण्य-पापका फलरूप सुख-दुःख बहुत ही अल्प मिलता है। बाकी सब-का-सब दूसरी ही योनियोंमें भोगना पड़ता है।

स्वर्ग-नरकके दो भेद हैं—एक स्थानविशेष और एक योनिविशेष। स्वः, महः, जन, तप आदि स्थानविशेष स्वर्ग हैं। कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव, अन्धतामिस्र आदि स्थानविशेष नरक हैं तथा लता, गुल्म, वृक्ष आदि और सजीव पहाड़—ये स्थावर योनिविशेष नरक हैं। शूकर-कूकर आदि पशु, पक्षी, कीट-पतंग, सर्प, चींटी आदि जंगम योनिविशेष नरक हैं। सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, पितर, यक्ष, देवता आदि स्वर्गरूप योनियाँ हैं।

आपने पूछा कि शरीर तो यहाँ शान्त हो जाता है और आत्मा नित्य अविनाशी है, फिर भोक्ता कौन है? सो ठीक है। इसका उत्तर है कि 'भोक्ता तो जीवात्मा है। न तो शरीर ही भोक्ता है और न केवल आत्मा ही। आत्माके साथमें शरीरका जो सम्बन्ध है, उन दोनोंको मिलाकर जीव संज्ञा है। यह जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें किये गये पुण्य-पापके सुख-दुःखरूप फल स्वर्ग और नरकमें भोगता है। गीता अ० २ श्लोक २३, २४ और इसमें जो वर्णन किया है कि 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि०' आदि सो वह सब वर्णन केवल आत्माके विषयमें है। भोक्ता पुरुष जीवात्माके विषयमें नहीं।' भोक्ता पुरुष जीवके विषयमें देखना हो तो 'गीतातत्त्वाङ्क' या गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी'में अध्याय २ के श्लोक १३, २२ और अ० १३ श्लोक २१ तथा अध्याय १४ श्लोक १४ से १८ तक एवं अ० १५ श्लोक ७ से ११ तक आदि-आदि स्थलोंमें इसका वर्णन है। वहाँ देखनेसे आपको पता लग जायगा। अस्तु।

इस जीवके तीन शरीर होते हैं—१-स्थूल, २-सूक्ष्म और ३-कारण। यह जो मनुष्य आदिके शरीर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये तो आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पञ्च भूतोंसे बने हुए स्थूल शरीर हैं। जब जीवात्मा इस स्थूल शरीरको छोड़कर जाता है, तब भी इसके साथ सूक्ष्म और कारण—ये दो शरीर रहते हैं। जब महाप्रलय होता है, तब यह सूक्ष्म शरीर भी कारणमें विलीन हो जाता है। केवल कारण शरीर ही रहता है। फिर महासर्गके आदिमें प्रकृति और पुरुषके द्वारा सब जीवोंका नाना प्रकारकी योनियोंके सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप

शरीरोंके साथमें पूर्वकृत पुण्य और पापरूप कर्मोंके अनुसार सम्बन्ध करा दिया जाता है । इसका संक्षेपसे गीता अ० ९ श्लोक ७ से १० तक और अ० १४ श्लोक ३-४ में वर्णन किया गया है । गीतातत्त्वाङ्ककी टीका और टिप्पणीमें उक्त श्लोकोंका विस्तार देख सकते हैं ।

शेष कुशल, भगवान्‌के भजन-ध्यानकी पूरी चेष्टा रखनी चाहिये ।

(९)

सप्रेम राम राम ! आपने गीता अध्याय ९ श्लोक २२ के सम्बन्धमें शङ्का की, सो ज्ञात हुई । इस श्लोकमें आये हुए 'पर्युपासते' पदके 'परि' उपसर्गसे निष्कामभाव-का आश्रय लिया गया है । भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्त बतलाये हैं, वह ठीक है । उनमें अर्थार्थी और आर्त्त—ये दो भक्त तो लौकिक कामनावाले हैं तथा तीसरा जिज्ञासु भक्त आत्मकल्याणकी कामनावाला है और चौथा निष्काम ज्ञानी भक्त है । गीता ९ । २२ में जो बात कही गयी है, वह इस चौथी श्रेणीके निष्काम ज्ञानी भक्त-की बात कही गयी है । गीतामें सकामको भी स्थान दिया है, यह आपका लिखना बहुत ठीक है । गीताके ९ । २२की टीकामें सकामका योगक्षेम भी भगवान् वहन करते हैं, यह बात भी एक अलग प्रश्नोत्तर देकर स्पष्ट कर दी गयी है, जिसे आप गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें देख सकते हैं और उस श्लोककी टीकाको मननपूर्वक पढ़नेपर आपकी इस शङ्काका समाधान अच्छी तरह हो सकता है । इस श्लोकमें जो निष्कामभाव शब्द रक्खा गया है वह एक तो 'परि' का स्पष्ट अर्थ बतलानेके लिये है, दूसरे भगवान्‌की उपासना यदि निष्कामभावसे की जाय तो उससे शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है । अतः लोग शीघ्र भगवत्प्राप्ति करनेवाले मार्गको पकड़ें, इस उद्देश्यसे भी यह शब्द रक्खा गया है ।

आपने उपमन्युका उदाहरण दिया, सो ठीक है । भगवान् प्रायः सभी जगह अपने अनन्य भक्तका लौकिक योगक्षेम भी वहन करते हैं, किंतु यदि किसी जगह वे नहीं भी वहन करते तो वहाँ उस भक्तका योगक्षेम न करनेमें ही हित समझते हैं ।

आपको गीता ९ । २२ में निष्काम शब्दका व्यवहार करना ठीक नहीं लगा, सो ठीक है । भगवान्‌ने यहाँ तो निष्काम भक्तकी ही बात कही है; क्योंकि यहाँ एक 'अनन्याः' पद और पड़ा हुआ है । जबतक अन्य किसी भी पदार्थकी चाहना होगी, तबतक 'अनन्य' कहाँ हुआ, अनन्य होनेपर किसी भी वस्तुकी चाह नहीं रहेगी । अतः यह श्लोक निष्काम भक्तिके विषयका ही है; किंतु गीतामें जगह-जगह सकाम भक्तकी भी बात कही है (७।२३ और ९ । २५) । आप उसीको मान-कर उपासना कर सकते हैं ।

मैंने जो यह लिखा है कि भगवान् साधनके विघ्न-को मिटाते हैं । इसपर आपने पूछा कि 'क्या भक्तके सांसारिक कष्ट भगवान् नहीं दूर करते ?' तथा आपने इसके लिये १८।५८ के श्लोकका प्रमाण देकर द्रौपदीका संकट क्या साधनका विघ्न नहीं है लिखा, सो ठीक है । मैंने जो साधनविघ्नको भगवान् मिटाते हैं यह बात लिखी है उसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् सांसारिक कष्ट दूर करते ही नहीं । भगवान् तो सांसारिक तथा साधनके सभी संकट दूर करते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं । १८।५८ की टीकामें भी स्पष्ट लिखा है कि मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे । इसका अभिप्राय यही है कि इस लोकके सांसारिक दुःख तथा परलोकविषयक साधनके विघ्न सभी दूर हो जायँगे । द्रौपदीका संकट-निवारण भी सांसारिक दुःख-निवारण करना ही है । उसे आप साधनका विघ्न भी मानें तब भी कोई आपत्ति नहीं

है। हाँ, कहीं-कहीं भगवान् सांसारिक कष्ट या साधनके विघ्नोंका निवारण नहीं भी करते, वहाँ उसे न करनेमें ही भक्तका हित है, इसीलिये नहीं करते। निरन्तर भजन-ध्यान करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। समय बीता जा रहा है। अब शीघ्र चेतना चाहिये और अपने मानव-जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य काममें ही लगाना चाहिये। हर समय भगवान्‌का स्मरण करना यह सबसे बढ़कर अमूल्य कार्य है।
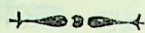
संत-तत्त्व-विवेचन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संतका दर्शन-मनन सत्यका दर्शन-मनन है। संतकी उपासना सत्यकी उपासना है। संतकी स्तुति सत्यकी स्तुति है। जिस मानवी मूर्तिमें उच्चतम ज्ञानके साथ उत्कृष्ट प्रेम और निर्लिप्तता, निर्द्वन्द्वता, निर्भयता तथा स्थिर शान्तिका दर्शन मिलता है, वही संत है। संत वही है जिसके शरीर, वाणी और मनमें पुण्य-पवित्रता प्रकाशित रहती हैं; संत नित्य प्रसन्न और आत्मतृप्त रहता है। उसके अन्तःकरणमें किसी भी प्रकारकी भोगलालसा नहीं उत्पन्न होती। क्षमा, दया, उदारता, वैराग्य, विवेक, शम, दम, तितिक्षा, सरलता, परोपकारिता, निरभिमानता ही उसकी सम्पत्ति है। संत सभी अवस्थाओं, परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर प्राणिमात्रसे प्रेम करता है। संत संसारको सत्य अथवा महत्तम गुण-ऐश्वर्यका ज्ञान कराता है; वह परमेश्वरके कृपा-अवतरणका पवित्रतम माध्यम है। संत-चरित्रका अध्ययन करते समय सावधानीके साथ अपना दृष्टिकोण ठीक रखना चाहिये; ऐसा करनेसे उचित प्रेरणा और प्रकाश लेनेमें भूल नहीं होती है। संत-चरित्रकी महत्ता किसी प्रकारकी आधिभौतिक सफलता अथवा उसके द्वारा नव रहस्य-निर्माणके कारण नहीं है, यह तो सत्य-आधार तथा परम शान्तिकी खोजमें सद्गुणोंके उच्चतम विकास तथा आत्माको पूर्ण बनानेवाली प्रगतिसे प्रकट होती है।

संतमें असाधारण त्याग, ज्ञान और प्रेमके कारण ही अलौकिक सौन्दर्य होता है। यह दिव्य सौन्दर्य प्रत्येक प्राणीको अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस दिव्यताके कारण ही संतकी समीपतामें अनिर्वचनीय शक्तिका अनुभव होता है। संसारमें सर्वसाधारण जीव अपने ही सुखकी प्राप्तिके लिये जन्म लेते रहते हैं, पर दूसरेके हितके लिये संत ही तत्पर रहता है। वह जगत्‌के कल्याणके लिये ही जन्म लेता है; वह जगत्‌में आकर माया, अभिमान और मोहसे बचकर अपने आध्यात्मिक उत्थान और जगत्‌के कल्याणके लिये पवित्र अनुष्ठानमें लगा रहता है। संत अपने व्यक्तित्वकी संकीर्ण परिधि पारकर सर्वात्मा-विश्वात्मासे अभिन्न परमात्मामय होनेकी साधना करता है और अन्तमें इसीमें सिद्धि देखी जाती है।

वास्तवमें उच्च कोटिके संतकी सत्य-अनुभूति एक-सी होती है, पर प्रत्येक संतकी रहनीमें अपना वैशिष्ट्य होता है।

मानव-समाजके संचित पुण्यसे संत साकार रूपसे जन्म लेते हैं और समाजके पापकी अधिकतासे क्रूरकर्मी दुष्ट पैदा होता है। संत मानवसमाजको पापसे पुण्य, परतन्त्रतासे स्वतन्त्रता, असत्‌से सत्य और विषयासक्तिसे विरक्तिकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा प्रदान करता है। वह पूर्ण परात्पर परमानन्द-तत्त्वका पवित्र तथा कल्याणकारी संदेश देता है। संत योगस्थ होनेका साधन प्रकाशित करता है; निस्संदेह उसकी समीपता बड़े ही सौभाग्यकी परिचायक है, दैवी वरदान है। प्रबल आध्यात्मिक सामर्थ्य रखनेवाले प्रशान्तचित्त तथा स्थिरबुद्धिवाले

संतका ध्यान करनेसे अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार किसी शक्तिसम्पन्न पदार्थसे दूसरे पदार्थका सम्बन्ध होते ही उसमें भी वही शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न संतका ध्यान करनेसे—मानसिक योग होनेसे उसकी शक्ति निरन्तर मिलती रहती है। संतके साथ तो उस समय भी ध्यान-द्वारा सम्पर्क हो जाता है जब किसी बहुत बड़े दुःखके दूर हो जानेकी संतसे आशा होती है; प्रगाढ़ प्रीतिकी अवस्थामें भी संतसे ध्यानयोग दृढ़ होता है।

सिद्ध संतके द्वारा ही संसारमें मानव-जातिको अपने भीतर ईश्वरीय ज्ञान तथा प्रेमकी अभिव्यक्तिका संदेश सुलभ होता है; संतकी ही प्रेरणासे दिव्यताकी प्राप्तिके लिये मानवता जाग्रत् होकर सत्योन्मुख होती रहती है। सिद्ध संतमें ही भगवान्‌का उच्चतम स्वभाव व्यक्त होता है। उसमें अलौकिक दया, उदारता और अनुकम्पा होती है। संतका ज्ञानमय जीवन विश्वकी स्वार्थहीन—निष्काम सेवाके लिये होता है। संत ईश्वर-भक्ति—आत्म-समर्पण अथवा परमात्मामें अहंको लीन रखने या सत्यसे अभिन्न हो जानेकी शिक्षा देता है। संत-जीवन संसारमें भगवान्‌की दिव्य विभूति है। उसका जीवन बुद्धि, ज्ञान और अनुभवसे संचालित होता है—इन्द्रियोंका उसमें प्रवेश ही नहीं है। संत अपने लिये स्वयं ही शास्त्र है; क्योंकि वह अहंता-ममताका त्याग कर देता है; शास्त्रीय नियन्त्रणके लिये संतमें कुछ रह ही नहीं जाता है। भगवान्‌की प्रीतिके लिये शास्त्रसम्मत सदाचरण उसका स्वभाव हो जाता है। संत असंग—नितान्त संगातीत रहता है।

गीता और काम

(ले०—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

गीताके तीसरे अध्यायके अन्तमें एक प्रश्न खड़ा किया गया है कि पुरुष किसके प्रयोगमें आकर पापाचरण करता है। पुरुष नहीं चाहता कि मैं पाप करूँ, पर जैसे कोई बलात् उसे पापकी ओर ढकेल रहा हो, ऐसी स्थिति पुरुषके सामने आ जाती है। इस स्थितिमें विवश होकर वह पापकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। उसका पैर फिसलता है और वह रपटता हुआ पापके भँवरमें डूबने-उतराने लगता है।

यह स्थिति कब आती है। गीताके शब्दोंमें यह कामके साथ उत्पन्न होती है। गीताने कामके साथ क्रोधका भी नाम लिया है, पर आगे वर्णन कामका ही किया है, क्रोधका नहीं। गीताके ही मतानुसार क्रोध कामसे उत्पन्न होता है। अतः पिता-पुत्र दोनोंका एक साथ नाम ले लिया है। पिता ही पुत्र है। पिताके वर्णनमें पुत्रका वर्णन आ ही गया, फिर दोनोंका नाम लेनेसे क्या लाभ? मेरी सम्मतिमें क्रोधका उल्लेख न किया जाता, तो भी कोई हानि नहीं थी।

काम रजोगुणसे उत्पन्न होता है। यह रजोगुण किसमें स्थित है? पुरुषमें? ऐसा तो गीता कहीं भी नहीं कहती। रजोगुण प्रकृतिके अंदर है। प्रकृतिके इस रजोगुणके साथ पुरुषका सम्पर्क होता है, तभी कामकी उत्पत्ति होती है। यह काम बड़ा भोगी है, बड़ा पापी है। यही पुरुषका शत्रु है। जबतक पुरुष इस शत्रुका वध नहीं करेगा, तबतक वह पापका भागी बनता रहेगा।

जैसे धुएँसे अग्नि घिर जाती है, मलसे दर्पण धूमिल हो जाता है और झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार यह काम पुरुषको आच्छादित कर लेता है। अन्धकारसे आवृत होनेपर जैसे कोई सत्ता न अपने-आपको देख पाती है और न उस अन्धकारको चीरकर दूसरोंको ही देख सकती है, वैसे ही पुरुष कामसे घिर-कर अपने स्वरूपको भूल जाता है, साथ ही अन्योंको पहचाननेमें भी असमर्थ हो जाता है।

काम ज्ञानपर पर्दा डाल देता है। यह ज्ञानीका नित्य शत्रु है। जहाँ ज्ञान होगा, वहाँ काम नहीं रह

सकेगा और जहाँ काम होगा, वहाँसे ज्ञान तिरोहित हो जायगा। काम सर्वभक्षी अग्नि है। इसके प्रज्वलित होते ही ज्ञान भस्म हो जाता है।

जैसे कोई सवार घोड़ेपर बैठकर घोड़ेको मनचाही चालसे चलाता है और जिधर चाहता है, उधर ही घोड़ेको ले जाता है, उसी प्रकार कामरूपी सवार बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके घोड़ोंपर बैठकर इन्हें अपनी गति प्रदान करता है। कामके वशीभूत बुद्धि बेचारी अपना-सा मुँह लिये रह जाती है, मनकी समस्त मननशक्ति कुण्ठित हो जाती है और इन्द्रियाँ कामके ही उद्वेगोंको खिलाने, पिलाने और नचानेमें संलग्न हो जाती हैं। काम इन्हीं तीनोंके द्वारा ज्ञानपर छाकर पुरुषको मोहमें डाल देता है।

गीताने आगे इस कामको मार डालनेका उपाय बताया है। जैसे कोई व्यक्ति अंगुलि पकड़कर पहुँचा पकड़ता है अथवा किसी घरके अन्तिम प्रदेशतक पहुँचनेके लिये पहले बाहरका द्वार खोलना या तोड़ना पड़ता है, इसी प्रकार कामके गढ़पर आक्रमण करनेके लिये सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये। यदि इन्द्रियोंपर नियन्त्रण हो गया तो ज्ञान-विज्ञानविनाशी कामकी मानो अंगुलि पकड़ ली गयी अथवा उसके गढ़का मानो सिंह-द्वार तोड़ दिया गया।

इन्द्रियोंको वशमें करना सरल नहीं है। ये बड़े-बड़े साधकोंतकके छक्के छुड़ा देती हैं, उनके चंगुलसे निकल भागती हैं। आँखोंको जहाँ रूप दिखायी दिये, कानोंको जहाँ शब्द सुनायी दिये कि ये साधककी साधना-को धता बताकर भागे और अपने प्रिय साथियोंके साथ एक हो गये। इन्द्रियाँ ऋषि हैं पर सङ्गमन करना इनको भी बड़ा प्रिय है। यदि पुचकारकर, इनके सङ्गमन-लोभसे भी बड़ा कोई लोभ दिखाकर, इन्हें अधीन कर लिया तो आगे मन इनका भी चचा है, उसको वशमें कर लेना बड़ी टेढ़ी खीर है। इन्द्रियोंके चुप हो जाने-पर भी यह सरपट दौड़ लगाता है और इन्द्रियोंके विषयोंमें ही विचरण करने लगता है। यह अंदरकी ज्योतिपर बाहरके पदार्थोंसे भेंट करता हुआ न जाने कहाँ-कहाँकी सैर करने लगता है। साधक कहता है—'प्यारे मन! क्यों भाग रहे हो? तुम्हारे अपने ही घरमें क्या कमी है? इसी खूँटेसे क्यों न बँधे रहो! अंदर ही क्यों न रमण करो? ये व्यर्थके संकल्प-विकल्प उठाकर क्यों दुनियामें भटक रहे हो? क्यों नहीं इन्हें विश्राम दे देते? कहींकी ईंट, कहींका रोड़ा जोड़कर क्यों भानमतीकी तरह कुनबा बढ़ा रहे हो? इससे तुम भी परेशान होते हो और परिणाममें मैं भी। इससे क्या लाभ?' यदि साधकने चेतावनी दे-देकर मनको समझा लिया और अपनी ओर कर लिया तो मानो कामके गढ़का उसने दूसरा द्वार तोड़ लिया। दूसरी ड्योढ़ी पार करते ही कामके अन्तःपुरके दर्शन होने लगते हैं। अन्तःपुरमें बैठी हुई बुद्धि महारानी काम राजाकी पत्नी बनकर अपने स्वरूपसे विस्मृत और कामकी हाँमें हाँ मिलाती हुई न जाने क्या-क्या अनाप-शनाप निर्णय करती रहती हैं। इनके निर्देश और आदेश भला साधकका क्या भला कर सकते हैं! इनको कामकी सङ्गतिसे पृथक् किया जाय, तब तो ये अपना बुरा-भला सोच सकें। सबसे बड़ा आक्रमण जो काम साधकके ऊपर कर सकता है, वह बुद्धिको भड़का देना है और उससे अपने अनुकूल काम कराना है। यह बुद्धिके साथ व्यभिचार करना है। सती साध्वी बुद्धि कामकी स्वकीया नहीं, परकीया पत्नी बनती है और आत्मासे पृथक् होती है! इसे कामसे छुड़ाने और आत्माके साथ युक्त करनेमें साधकको महान् परिश्रम करना पड़ता है, पर जब परिश्रम सफल होता है, तब साधकके पौ बारह हैं। अब बुद्धि कामके नहीं; पुरुषके आत्माके अधीन है। अब काम या तो गढ़ छोड़कर भागें या फाँसीपर चढ़ें। कामदेव बुद्धिके भी ऊपर सवार थे—अपने मूलरूपमें काम वैसे भी बुद्धिसे पूर्व

ही विद्यमान हैं—बुद्धिके परे होकर ही वे बुद्धिको अपना अधिष्ठान बना सके थे। अब बुद्धिके आत्म-वशीभूत हो जानेसे अपना अधिष्ठान खो बैठे। आश्रय-रहित होकर काम कहाँ रहेगा ? अपने मूलरूपमें—ईक्षणमें—परमात्म-शक्तिमें। यही उसका इधरसे मर जाना है। साधक इस प्रकार आत्मवशी बनकर, अपने साधनों और सहायकोंको अपने साथ लेकर, कामसे उन्हें छुड़ा-कर—पारतन्त्र्यसे मुक्ति दिलाकर—अन्तमें कामको मार डालता है। यह मरण कामराजाको राज्यसे पदच्युत कर देता है—उसकी शक्तियाँ छीनकर, उसे निःसङ्ग करके उसे अपने मूलरूपके साथ एक कर देता है। जिसके पास कोई शक्ति नहीं रही, वह शक्तिहीन मृतके ही तुल्य है। काम इन्द्रिय, मन और बुद्धिके बलपर ही इतनी छलाँगें भरता था, इतना उछलता-कूदता था। जब ये तीनों शक्तियाँ उसके हाथसे निकल गयीं, तब उसका उछलना-कूदना भी बंद हो गया।

गीताने इस प्रकार पुरुषको पापकी ओर प्रवृत्त करने-वाले कामका वर्णन किया है; उसे रजोगुणसे उत्पन्न कहा है और जिन अधिष्ठानोंके आश्रयसे वह पुरुषको विमोहित करता है, उन्हींके क्रमशः स्वतन्त्र होने तथा आत्माके नियन्त्रणमें आनेसे पुरुषको पापसे पृथक् करने-वाले मार्गका निरूपण किया है।

कामसे घिरी हुई आत्मा शनैः-शनैः इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर पड़े हुए आवरणोंको दूर करती हुई, स्वयं काम-जालसे स्वतन्त्र होती है। स्वतन्त्र अवस्थामें ही उसे आत्मस्वरूपका ज्ञान होता है और उस ज्ञान-प्रकाश-में वह प्रकृतिका परित्याग करके परमेश्वरके सांनिध्यका अनुभव करती तथा आनन्दित होती है।

भूलको स्वीकार करनेसे पाप-नाश

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम्॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते॥
यदि विप्राः कथयते विप्राणां धर्मवादिनाम्।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपराधात् प्रमुच्यते॥
यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते।
समाहितेन मनसा विमुञ्चति तथा तथा॥

(ब्रह्म० २१८। ४—७)

'ब्राह्मणो ! जो मोहवश अधर्मका आचरण कर लेने-पर उसके लिये पुनः सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है और मनको एकाग्र रखता है, वह पापका सेवन नहीं करता। ज्यों-ज्यों मनुष्यका मन पापकर्मकी निन्दा करता है, त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्मसे दूर होता जाता है। यदि धर्मवादी ब्राह्मणके सामने अपना पाप कह दिया जाय तो वह उस पापजनित अपराधसे शीघ्र मुक्त हो जाता है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने अधर्मकी बात बारबार प्रकट करता है, वैसे-वैसे वह एकाग्रचित्त होकर अधर्मको छोड़ता जाता है।'

अच्छे-बुरे, सच्चे और गलत कार्योंसे मनुष्यको संसारविषयक ज्ञान प्राप्त होता है। हम पग-पगपर गलती करते हैं और प्रकृति हमें प्रत्येक गलतीके लिये सजा देती है। प्रकृतिके दरबारमें कोई माफी नहीं। भूल की और तुरंत उसकी सजा मिली---यही विधान है। समाज तथा परिवारके क्षेत्रोंमें भी हमारी अल्पज्ञताके कारण भूलें, गलतियाँ, अशिष्टताएँ या अनैतिकताके कार्य हो जाना सहज स्वाभाविक बात है। अल्पज्ञ मनुष्यका जीवन ही भूलोंसे भरा है। कदाचित् ही ऐसा कोई मानव-प्राणी हो, जिसका जीवन भूलोंसे मुक्त रह सके। जाने-अनजानेमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्षरूपसे गलती हो ही जाती है। कभी-कभी तो ऐसी भयानक

गलतियाँ हो जाती हैं कि उनके लिये हमें जीवनपर्यन्त पछताना पड़ता है।

भूल छोटोंसे, अपढ़ और अशिक्षितोंसे ही हो सकती हो, सो बात नहीं है। समाजमें ऊँची पद-प्रतिष्ठा पाये हुए साधु, उपदेशक, पण्डित, नेता, विद्वान् आदिसे लेकर साधारण परिवारवाले गृहस्थ, मुंशी, क्लर्क, नौकर, व्यापारी, अफसर—सभी भूलें कर बैठते हैं। भूल एक मानसिक गलतीका दुष्परिणाम है। जिस समय हम भूल करते हैं, उस समय हमारा मन एक गलत दिशामें सोचा-विचारा करता है। हम वैसी ही क्रिया कर बैठते हैं। अतः बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी भूल कर बैठता है। बड़ेकी भूलकी हानि तथा बुरा प्रभाव दूर-दूरतक फैलता देखा गया है। राजा, शासक, नेता आदिकी भूलोंके दुष्परिणामस्वरूप कभी-कभी सारे देशको सजा भुगतनी पड़ती है; युद्ध ठन जाते हैं, प्रान्त कुचले जाते हैं, गोलियाँ चल जाती हैं और हिंसा, रक्तपाततकका अवसर आ जाता है। दूर-दूर तक यह दुष्परिणाम फैलता जाता है और बुरा वातावरण बना डालता है।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि जब कोई भूल हो जाती है, तब वह उसे छिपाये रखना चाहता है। एक झूठ, कपट, रिश्वत या बेईमानीको छिपाये रखनेके लिये दो-चार और झूठ बोलता है। अपनी की हुई गलतियों या अन्याय-को गुप्त रखनेके लिये बहुत व्यय करता है। पूँजी-पति विलासी व्यक्ति अपने धनका दुरुपयोग कर वासना-पूर्तिके साधन एकत्र करते हैं; फिर पापोंको गुप्त रखनेके लिये हजारों रुपये व्यय करते हैं। फिर भी देर-सबेर पाप प्रकट होकर ही रहता है। कहीं अग्नि भी घासमें छिपायी जा सकती है? रूई कबतक अंगारेको ढके रहेगी? अतः कभी-न-कभी कलई खुल ही जाती है और अप्रतिष्ठाका कारण बनती है। इससे उत्तम तो यही है कि हम स्वयं ही अपनी भूलको सब-के सामने स्वीकारकर पश्चात्ताप कर लें। भविष्यमें न करने-का प्रण करें।

स्मरण रखिये, छिपानेसे आपकी छोटी-सी भूल भी बड़ी बनती जाती है; क्योंकि उसमें एकके पश्चात् दो-चार और भी कपट मिलते और एकत्र होते रहते हैं। मामला और भी पेंचीदा होता जाता है। जैसे गंदी वस्तुको छिपाकर रखनेसे दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। फिर उसे स्वच्छ कर सूर्यकी रोशनी देनेसे दुर्गन्ध दूर होती है। नयी स्वच्छ हवा उस स्थानको स्वच्छ कर देती है, इसी प्रकार भूलरूपी गलतीको प्रकट कर देने-से आत्माका भार दूर हो जाता है। मानसिक उलझनें दूर हो जाती हैं।

प्रत्येक छिपाया हुआ पाप, भूल, कपट, मिथ्याचार, रिश्वत, झूठ, फरेब आपके मनके गुप्त प्रदेशमें छिपी रहकर जीवनको पेंचीदा और दम्भपूर्ण बनाती है। यह दुराव मनमें ग्रन्थियोंके रूपमें बराबर बना रहता है। स्वप्नोंमें प्रकट होता है। हमारे जीवनके विचित्र अनियन्त्रित व्यवहारोंका कारण बनता है। इससे अधिकांश मानसिक रोग—नासूर, भगंदर, दमा, बवासीर, खाँसी, संग्रहणी—इत्यादि हो जाते हैं। चिरस्थायी रोग प्रायः गोपनीय मनोवृत्तिके कारण उत्पन्न होते हैं।

पापकर्म क्या-क्या हैं?

महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १३ में उन पापमय वृत्तियोंका उल्लेख किया गया है, जिन्हें छोड़ देना चाहिये। हमारी भूलोंकी जड़में प्रायः ये ही दुष्ट आसुरी कुप्रवृत्तियाँ रहती हैं—

प्राणानिपातः स्तैन्यं च परदारा तथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्॥

पापमूल हिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन—यह तीन शरीरके पाप हैं। हमें नाना प्रलोभनों, भूलों, गलतियोंमें खींचनेवाले हैं। अतः इनको त्याग देना चाहिये।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥

व्यर्थका बकवाद, कटुभाषण, चुगलखोरी तथा झूठ बोलना—ये चार मनुष्यकी वाणीके पाप हैं । इनको त्याग देना चाहिये । इतना ही नहीं, मनसे इनका चिन्तन या कल्पनातक नहीं करनी चाहिये । इनसे भूल होनेकी सम्भावना बनी रहती है ।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणः फलमस्तीति त्रिविधं मानसाचरेत् ॥

दूसरेका धन लेनेकी इच्छा न करना, प्राणिमात्रका शुभ-चिन्तक होना, कर्मोंका फल अवश्य ही मिलता है—ऐसी भावना रखना—ये मनके तीन पुण्य हैं । इनके विपरीत पराये धनको चाहना, दूसरेका बुरा चाहना, नास्तिक-बुद्धि रखना त्यागने योग्य पाप हैं । जो उपर्युक्त पापोंको मन, वाणी, कर्म और बुद्धिसे नहीं करता, वही महात्मा है ।

दूसरोंकी भूलें देखनेकी प्रवृत्ति

मनुष्यमें एक कमजोरी यह है कि वह अपनी भूलों और गलतियोंकी ओर तो ध्यान नहीं देता, दूसरोंका दोष-दर्शन करता है । दूसरेके दोष निकालना एक ऐसी कमजोरी है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी कमजोरियोंपर पर्दा डाले रखना चाहता है । यदि हमसे कोई भूल हो भी जाती है तो भी हम उसका उत्तरदायित्व दूसरोंपर ही डाले रखना चाहते हैं । कभी अपनी भूलोंको ही उपयोगी या आवश्यक सिद्ध करनेका दुःसाहस करते हैं । ये सभी रूप घृणित हैं । विचारवान् वे हैं, जो दूसरोंकी भूलें न देखकर पहले स्वयं अपने दोष और दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं ।

थोड़े-से पाप, जरा-सी झूठ, तनिक-से मानसिक वासनामय चिन्तनतकको मनमें न आने दीजिये । एक-एक बूँदसे पापका घड़ा भर जाता है । थोड़ा-थोड़ा पापकी बात सोचनेसे ही मनुष्य कुछ समयमें पापके पङ्कमें डूब जाता है । सावधान ।

पुरानी भूलोंको लेकर अधिक पछताना, सारे दिन दुखी रहना, अपनेको पतित समझना छोड़ दीजिये । आप तो भविष्यमें ईमानदारीका जीवन व्यतीत करनेका संकल्प कीजिये । परिस्थितियोंके जालमें फँसकर यदि मनुष्य कोई अपराध कर बैठता है तो वह वास्तवमें पापी नहीं होता ।

पुरानी भूलोंके प्रति सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप कीजिये । सबके सामने पूरे साहससे भूलको स्वीकार कर लीजिये । वे उदारतापूर्वक आपको क्षमा कर देंगे । भूल स्वीकार करनेसे आत्मसंतोष मिलेगा । भविष्यमें आप उस मार्गसे न जायँगे । आगे बढ़नेवाले कभी पीछे फिरकर नहीं देखा करते ।

एक विद्वान्ने सत्य ही लिखा है, 'आप कठिनाइयोंसे बचना या छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने भीतरी दोषोंको ढूँढ़ डालिये और उन्हें नष्टकर बाहर निकालनेमें जुट जाइये । दुर्गुणरूपी काँटोंको हटाकर उनके स्थानपर अपने हृदय-उद्यानमें सद्गुणोंके पुष्पमय-पौधे लगाइये । जिस अनुपातमें आप यह कार्य कर सकेंगे, उसके अनुसार ही आप विपत्तिसे छूटकर स्थायी उन्नतिकी ओर अग्रसर होते जायँगे ।'

भगवान् करुणामय हैं । वे बड़े-से-बड़े पापीकी भूलोंतकको सहर्ष क्षमा कर देते हैं । यदि हम आर्त-भावसे सच्चे हृदयसे उनसे अपने पापोंकी क्षमा माँगें तो वे उदारतापूर्वक क्षमा कर देते हैं । पापी, दुरात्मा, वेश्याएँ, चोर—सभी सच्चे हृदयसे क्षमा माँगनेपर सद्गृहस्थका पवित्र जीवन प्रारम्भ कर सकते हैं । निष्कलुष जीवन व्यतीत करनेमें ही आत्मसंतोष प्राप्त होता है ।

सुखका सृजन करो

(प्रार्थनाके द्वारा कैन्सर रोगसे मुक्त हुए एक पिताका अपने पुत्रके नाम पत्र)

प्रिय पुत्र !

अबकी बार जबसे तुम थोड़े समयके लिये ही मुझसे मिले हो, तभीसे तुम एवं तुम्हारी समस्याओंका बराबर मुझे ध्यान है। तुम जो ईमानदारी और सचाईके साथ अपनी समस्याओंको सुलझाकर सुखी और सफल जीवन बिताना चाहते हो—मैं तुम्हारी इस सदिच्छासे बड़ा प्रसन्न हूँ। यदि तुम (नित्य) प्रसन्न रहनेकी आदत डाल लो तो निश्चय ही ऐसा कर सकोगे।

लोगोंकी मान्यताके अनुसार अब्राहम लिंकन कहा करते थे कि लोग अधिकांशमें उसी अंशतक सुखी हैं जिस अंशतक उनका मन प्रसन्न है। मैंने सुखके लिये बहुत दौड़-धूप की, पर अन्तमें जबतक मुझे यह नहीं बताया गया कि सुख जीवका एक स्वभाव है, जो कि जाग्रत् और पल्लवित किया जा सकता है, मुझे निराशा, चिन्ता और उसके सहयोगी साथी ही हाथ लगे।

यह हम सभीके लिये अनुभवसिद्ध बात है कि एक मनुष्य इसलिये सुखी नहीं है कि वह स्वस्थ है। वह स्वस्थ इसीलिये है कि वह प्रसन्न रहता है। वह प्रसन्न इसलिये नहीं है कि वह बहुत सम्पन्न है। वह सम्पन्न इसीलिये है कि वह सुखी है। वह सुखी इसलिये नहीं है कि वह लोगोंका प्रियपात्र है और सबको प्यार करता है। वह सुखी है, इसीलिये वह लोगोंका प्रियपात्र और स्नेही है। वह सुखी इसलिये नहीं है कि वह सुकृती है। वह सुकृती तो इसलिये है कि उसकी प्रत्येक क्रियामें उसका आन्तरिक सुख अभिव्याप्त है।

प्रसन्नता ही स्वास्थ्य, श्री, प्रेम और रचनात्मक आत्माभिव्यञ्जनकी पहली आवश्यकता और पहली शर्त है, न कि उसका फल। लगातारके चिन्तनसे जिस प्रकार मनुष्य एक बातका अभ्यासी हो जाता है, उसी तरह प्रसन्नता भी उसके प्रतिक्षण, प्रतिमिनट और प्रतिघंटेके चिन्तनका परिणाम है। यदि कोई मनुष्य दुखी है तो निश्चय ही उसने कुछ दिन पहलेसे ही दुखी रहनेका स्वभाव बनाना आरम्भ किया है, उसीके परिणामस्वरूप (अब) दुखी रहना ही उसकी आदत बन गयी। किसी भी पुरानी आदतको छुड़ानेके लिये एक नयी आदतको पनपाना पड़ता है। अतएव दुखी रहनेकी अपेक्षा सुखी रहनेका स्वभाव बनाओ।

तुमने लिखा कि मैंने आपमें बहुत बड़ा परिवर्तन देखा। इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि कैन्सरजनित भयंकर परिस्थितिके सुधारके साथ-साथ यह भी एक आश्चर्यजनक चमत्कार था। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि किसी प्रकारसे अब हम दुखी नहीं रह सकते। अपने अबतकके दुखी प्रौढ़ जीवनके आँकनेसे हमें अनुभव हुआ है कि यही दीर्घकाल यदि हम चाहते तो हमारी प्रत्येक अभिलाषाको पूर्ण कर सकता था। फलतः हमने निष्कर्ष निकाला कि यदि हम अबसे नित्य प्रसन्न रहें तो हम भगवान् और मनुष्यजातिके उपयोगमें आ सकते हैं और हमने प्रसन्न रहना ही जीवनका प्रमुख उद्देश्य बना लिया।

फिर हमने विश्वास किया कि अपनी आन्तरिक शक्तिके उपयोगसे ही हम अपने दुखी मनको सुखी बना सकते हैं—उस शक्तिको हम चाहे ईश्वर कह लें, चाहे आत्मा। हमने भय, विफलता और प्रतिकूलता—इन तीनों मलिन विचारोंको मिटानेके लिये निरन्तर इस शक्तिका उपयोग किया। हमारी सारी उलझनें इच्छाओंमें बदल गयीं। इसका फल यह हुआ कि

हमारी जो मनोवृत्ति अभावका चिन्तन कर रही थी, अब रचनात्मक विचारोंके स्तरपर विचरने लगी।

यदि प्रसन्न रहना ही तुम जीवनका उद्देश्य बना लो तो समस्त शुभ तुम्हारे हस्तगत हो जायँगे। तुम अपनी इच्छाओंको आशाओंमें बदल सकते हो और आशाओंको प्राप्तिमें—उन वस्तुओंकी प्राप्तिमें जो पहलेसे ही अपनी हैं। जो चीज तुम्हारे पास पहलेसे ही वर्तमान है, उसकी स्वीकृतिका यह अर्थ नहीं कि तुम कोई जादूई प्रयोग कर रहे हो। तुम तो केवल ईश्वरके इन वाक्योंपर विश्वास कर रहे हो—'जब तुमने अपनी आवश्यकताओंके लिये प्रार्थना की—उसी समय—प्रार्थना करते ही मान लो कि वे चीजें मुझे मिल गयीं और निश्चय ही वे वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो जायँगीं।' दूसरे शब्दोंमें ऐसा विश्वास कर सकते हो कि प्रार्थना करते ही तुम्हारी इच्छा—प्रार्थना पूर्ण हो गयी। धर्मशास्त्रोंमें स्वयं भगवान्‌को हम कहते हुए पाते हैं—'पुकारके पहले ही मैं पूरा कर दूँगा।' अतः प्रत्येक समस्याको इच्छामें, इच्छाको आशामें और आशाको स्वीकृतिमें बदल डालो और सफलताके लिये ईश्वरको धन्यवाद दो। भयके थपेड़े खाते हुए तुम कभी शुभको ग्रहण नहीं कर सकते। 'प्रेमकी पूर्णता भयको मिटा देती है।'

पता नहीं, आज प्रभु मेरे माध्यमसे किसे प्रेमदान करेंगे। किसे मेरे शब्दोंद्वारा प्रसन्न करेंगे, किसे मेरे कार्यद्वारा सुख पहुँचायेंगे। किसकी भग्न आशाओंको मेरे द्वारा पुनर्जीवित करेंगे। मुझसे मिलनेवालोंमेंसे कौन मेरे द्वारा सन्मार्गपर आरूढ़ होगा।

इस बातपर विश्वास करनेके लिये कि ईश्वरकी इच्छा ही पूर्ण होगी, मैं सबके साथ भगवत्प्रेमका पान करूँगा। (यूनिटी १५ जुलाई)

दुःख-सुख

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

दुखमें सुख, सुखमें दुख है—
इस मनका क्या समझाना।

विघ्नोंके पर्वत आएँ,
या संकट-घन घहराएँ,
व्याधा-बाघिन मुँह फाड़े,
चिन्ता-चुडैल चिंघाड़े,
सत्पथपर रखकर पैर,
भला, क्या कष्टोंसे घबराना-
इस मनका क्या समझाना।

भय तो कोरी कायरता,
कायर जीते जी मरता,
जो नहीं मृत्युसे डरता,
पाता है वही अमरता,
है धन्य महामानव,
जिसने जन-सेवाका प्रण ठाना-
इस मनका क्या समझाना।

यश हो या अपयश पाएँ,
जुग जिएँ, अभी मर जाएँ,
धन पाएँ या कि गँवाएँ,
सुख भोगें; कष्ट उठाएँ,
पर, विश्व-प्रेमकी भव्य भावना,
जन-जन तक पहुँचाना-
इस मनका क्या समझाना।

मन मानवताका बन्धन,
है यही मुक्तिका साधन,
सुखमें सरसाता है मन,
दुखमें घबराता है मन,
सुख-दुख-द्वन्द्वोंमें ,
समता भाव दिखाना—
इस मनका क्या समझाना।

इस युगका धर्म करुणा

(संत विनोबा)

चार सालसे भूदान-आन्दोलन चल रहा है । अब हमारी प्रवृत्ति ज्यादा बोलनेकी नहीं है । बोलनेसे जितना काम हो सकता था, उतना हो चुका है । अब तो हृदय-शुद्धि जितनी बढ़ेगी, उतना कार्य आगे बढ़ेगा; परंतु लोगोंको उनकी भाषामें हर-बात समझाना आवश्यक होता है । यह काम स्थानीय कार्यकर्ताओंको करना चाहिये । मनुष्य-जीवनका सार धर्म है । धर्मका अर्थ है 'धारणा' । मनुष्यने अपना शरीर जिस कामके लिये धारण किया, उसका नाम है 'धर्म' । जैसे 'पुत्रधर्म' कहते हैं । इसका अर्थ है, पुत्रके नाते उसके शरीरका उपयोग धर्मसे होना चाहिये । इस तरह 'पितृधर्म' भी होता है । सब मानवोंका जो धर्म है, वह 'मानव-धर्म' कहलाता है और जो धर्म सब कालके लिये लागू होता है, वह है 'सनातन धर्म' । यह सनातन धर्म और मानव-धर्म क्या है ?

शरीरका 'धर्म' क्या है ?

मनुष्यकी कई बातें, जैसे खाना-पीना इत्यादि, जानवरोंके समान होती हैं; परंतु खूबी यह है कि खाना-पीना मिल जाय, इतनेसे ही मनुष्यका समाधान नहीं होता । खाना-पीना शरीरके लिये जरूरी है, परंतु जैसे चरखेमें हम तेल डालते हैं, तो तेल चरखेके लिये होता है, परंतु चरखा सूत कातनेके लिये होता है, उसी तरह खाना शरीर-धारणके लिये है, शरीर-धारण खानेके लिये नहीं है । मानव-देहका उद्देश्य ही दूसरा है । अगर वह नहीं होता तो खाने-पीनेसे ही उसका समाधान हुआ होता । तो शरीर जिस बातके लिये है, वह काम है धर्मकी साधना ।

मनुष्यका धर्म है करुणा । इस सृष्टिमें उसके आस-पास अनेक प्राणी हैं, उन सबके लिये उसके मनमें करुणा होती है । अतः उसका धर्म है कि वह इन सबकी सेवा करे । सृष्टिकी सेवा, मनुष्यकी सेवा, प्राणीकी सेवा और भूतगणकी सेवा, इस तरह सेवा करनेसे ही मनुष्यका समाधान होता है । करुणाका कार्य करनेके लिये ही उसने शरीर-धारण किया है । जैसे मनुष्य पेड़ोंके फल खाता है, बंदर भी पेड़ोंके फल खाता है, परंतु मनुष्य पेड़ोंकी सेवा करता है, बंदर नहीं करता। वह खाता है, इसमें उसका दोष नहीं है, क्योंकि उसके हृदयमें करुणाका भाव ही नहीं है, वह अज्ञानी जीव है। पर मनुष्यके हृदयमें करुणा है, इसलिये आस-पासकी सृष्टिकी सेवा करना उसका धर्म है । वह सेवा शरीरके जरिये होती है, इसलिये वह शरीरको खिलाता है । अतः शरीरकी सार्थकता खानेमें नहीं, सेवामें है ।

भूदानका यही रहस्य है । सारी सृष्टिकी सेवा और करुणा ही मानवका धर्म है तथा आज जरूरत मानव-सेवा की है । कल वह पूरी हो जाय, तो हम दूसरे प्राणियोंकी सेवा करेंगे । इस तरह मनुष्य अपनी करुणाको दूरतक बढ़ाता जायगा । जैसे-जैसे आत्माका विकास होता जायगा, वैसे-वैसे सेवाका और करुणाका क्षेत्र बढ़ता जायगा । हिंदुस्थानमें गाय बूढ़ी होनेपर भी उसकी सेवा करेंगे और दूसरे देशके लोग उसके बूढ़ी होनेपर उसे मारते हैं । हमने तय किया कि हम उसकी सेवा आखिरतक करेंगे, यानी मानवकी करुणाका क्षेत्र हमने गायोंतक बढ़ा दिया है ।

इस तरह जैसे मानवकी शक्ति बढ़ेगी, वैसे-वैसे उसकी करुणाका क्षेत्र भी व्यापक होता जायगा । विज्ञानसे मानवकी करुणा-शक्ति खूब बढ़ेगी । एक जमाना ऐसा आयेगा, जब मानव-समाजमें दुःख नहीं रहेगा और तब वह सारे प्राणियोंकी सेवामें लगेगा । इस तरह वह

अपने शरीरको बोझ नहीं समझेगा, अपना अहंकार समूहमें समर्पण करके आत्माकी मुक्तिके मार्गपर चलेगा। बच्चा अपना खाना-पीना जानता है, पर वह दूसरोंका दुःख नहीं जानता। माताके स्तनको चूसता है और कभी उसे काटता भी है। पशु जैसा अज्ञानी रहता है, वैसा वह भी अज्ञानी रहता है। पर मनुष्यका बच्चा जब बढ़ता है, तब उसका ज्ञान और करुणा बढ़ती है। इस तरह मानवकी करुणा दिनों-दिन बढ़ती रहनी चाहिये।

इसलिये भूदान-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इस कालके लिये इससे बेहतर धर्म हम दूसरा नहीं देखते। जब लोगोंमें भूख है, दुःख है, बीमारी है, तब अपने पास जो कुछ है, वह समर्पण करना, इससे बेहतर धर्म दूसरा क्या हो सकता है ? अतः जिन मनुष्योंमें धर्म-बुद्धि विशेष है, उनका यह प्रथम कर्तव्य है कि वे अपनी शक्ति इस कार्यमें लगायें।

(वदाकुमारी, सेलम, २०–७–५६)

रामराज्यका आदर्श

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शुक्रका अपने नीतिसारमें कहना है कि संसारमें यद्यपि राजा एक-से-एक हुए, तथापि श्रीराम-सा आदर्श नीतिमान् धर्मात्मा राजा कोई नहीं हुआ—

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।
(शुक्रनी० ४। ६। १५६)

पुष्पेषु जाती नगरेषु काशी
नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः।
नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः
काव्येषु माघः कविकालिदासः॥

इस प्रकार एक प्राचीन परम्परासे विश्रुत श्लोक भी है, जिसमें राजाओंमें श्रीरामको सर्वोपरि कहा गया है। अतएव अब भी अत्युत्तम राज्यको रामराज्य कहकर प्रशंसा की जाती है। जब जनता अत्यन्त सुख-शान्ति, आनन्द-मङ्गल तथा निर्भयताका अनुभव करती है, तब कहा जाता है, 'यह तो रामराज्य है'।

राजा और राज्य

यद्यपि आज 'राजा' शब्द ही तिरस्कारका पात्र बन गया है और उसके उच्चारणमें भी लाजका अनुभव किया जाता है, तथापि विचारनेपर यह बात बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होती। जब राज्य, राज्यपाल आदि शब्द अबाध प्रचलित हैं, तब राजा शब्द ही क्यों उपेक्षित हो। यथार्थ बात तो यह है कि 'राज्य' आदि शब्दोंका मूल 'राजा' ही है। राजाके क्षेत्र, कर्म या भावको राज्य कहा जाता है। 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (५। १। १२८) इस सूत्र-द्वारा 'राजा' से इस गणपाठमें 'राज्ञो भावः कर्म वा' इस अर्थमें असमस्त पदमें यक् प्रत्यय होकर 'राज्य' शब्द बनता है। मीमांसा-भाष्यकार श्रीशबरस्वामीके मतसे भी व्यधिकरणमें 'कर्मणि ष्यञ्' से इसी अर्थमें 'राज्य' शब्द बनता है।

(द्रष्टव्य मा० धा० वृत्ति १। ८०७)

'राजा' शब्दका इतिहास

महाभारत-शान्तिपर्वके ५९वें अध्यायमें युधिष्ठिरद्वारा प्रश्न उठाया गया है कि 'यह राजा-शब्द कबसे तथा कैसे प्रचलित हुआ'—

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परंतप॥
(शां० प० राज० ५९। ५)

भीष्मने इसका उत्तर बड़े विस्तारसे दिया और अन्तमें बतलाया कि यह शब्द पृथुके समयसे चला। साक्षात् भगवान् विष्णु ही पृथुके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन महात्माने जी-जान-से धर्मकी अभिवृद्धि की और प्रजाका रञ्जन किया, तबसे वे राजा कहे जाने लगे। तभीसे इस 'राजा' शब्दकी उत्पत्ति हुई। बादमें यह परम्परा-सी चल पड़ी और कुछ दिनोंके बाद यह सभी शासक नरेशोंके लिये व्यवहृत होने लगा। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥
(महा० शा० प० रा० ५९। १२५)

रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । १६ । १५)

अग्निपुराण कहता है—'वैन्य पृथु राजसूयाभिषिक्त नरेशोंमें सर्वप्रथम थे। उन्होंने बड़े उत्तम ढंगसे प्रजाका रञ्जन, पालन करके उसे प्रसन्न किया था। इस जनरञ्जनके कारण ही उनकी ख्याति राजा-शब्दसे होने लग गयी'—

'राजाभूज्जनरञ्जनात् ।' (अग्निपुरा० १८ ।१६)

निम्नलिखित सभी वचन भी इसी प्रसङ्ग तथा अर्थमें महाराज पृथुको ही लक्ष्यकर कहे गये हैं—

जज्ञे महीपतिः पूर्वो राजाभूज्जनरञ्जनात् ।
(वि०पु० १ । १३ । ९३)

पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः ।
अनुरागात् ततस्तस्य नाम राजाभ्यजायत ॥
(पद्मपुराण, भूमिख० २७ । ६०; ब्रह्मपु० ४ । ५७)

ततः स रञ्जयामास धर्मेण पृथिवीं तदा ।
पित्रा विरञ्जिता तस्य तेन सा परिपालिता ॥
ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्या रञ्जनादभूत् ।
(वायुपुरा० ५७ । ५८)

कविकुलतिलक कालिदासने अपने रघुवंशमें महाराज रघुको लक्ष्यकर लिखा है कि जिस प्रकार सभीको आह्लादित करनेसे चन्द्रमाने अपना 'चन्द्र' नाम तथा प्रतपन करनेसे सूर्यने अपना 'तपन' नाम सार्थक किया है, उसी प्रकार रघुने प्रजा रञ्जनसे अपने 'राजा' नामको सार्थक बना दिया—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात् तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥
(रघुवंश ४ । १२)

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'राजा' शब्द प्रजारञ्जक, जनरञ्जक नरेशमें ही लक्ष्यान्वित है और बहुत बड़ी जिम्मेदारी तथा कर्त्तव्यका निर्देश करता है। तानाशाही या लोभ आदि दुर्गुणोंका तो इस शब्दमें गन्ध भी नहीं है। निरुक्त तथा अन्यान्य कोषों एवं व्याकरण-ग्रन्थोंमें—

राजा—राजते—दीप्यते ह्यसौ पञ्चानां लोकपालानां वपुषा (निरुक्त, नैघण्टुक काण्ड २ । १ । ५, दुर्गाचार्यकी व्याख्या), राजति, राजते वा राजेः कर्तरि 'कनिन्' 'युवृषितक्षिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उणा०) इति कनिनि परत्वादुपधादीर्घे, सुलोपे, नलोपे च राजा । 'राजा प्रभौ च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ । यक्षे शक्रे च पुंसि स्यात्' आदि स्थलोंपर जहाँ दीप्ति अर्थमें 'राजा' शब्द कहा गया है, वहाँ भी जनरञ्जनद्वारा ही दीप्त होना, प्रिय, सुखकर लगना आदि भाव समझना चाहिये। अतएव जिसमें यह स्वकर्तव्यपालन-रूप धर्म विराज रहा हो, वही राजा है—

यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते।
(म० शा० प० ६१)

रामराज्यका वैभव

यद्यपि प्राचीन पृथु, रघु आदि सभी राजाओंने प्रजारञ्जन तथा धर्मरक्षणके लिये जी-जानसे चेष्टा की थी, पर इसमें श्रीरामचन्द्रजी सबसे बाजी मार ले गये। धर्मके तो वे विग्रह ही कहे जाते हैं और प्रजारञ्जनके लिये उन्होंने प्राण-तुल्य, अग्निमें शुद्ध हुई श्रीसीता-जैसी गुणवती अपनी एकमात्र रानीका भी त्याग कर दिया। ऐसी दशामें 'राजा' रामकी अद्वितीयता ठीक ही है। वस्तुतः प्रजारञ्जनका मूल हेतु भी 'धर्म-पालन' ही है। कोई कितना भी प्रजारञ्जनकी भावना क्यों न रखता हो, यदि वह धर्मसे विद्वेष रखता है तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्रलयकारी दैवी आपत्तियोंसे प्रजा यों ही नष्ट हो जायगी और उसका प्रत्यवाय भी शासकको प्राप्त होगा ही। युधिष्ठिरादि धर्मात्मा राजाओंके राज्यमें केवल धर्मके ही पालनसे बड़ा सुभिक्ष था, पर्याप्त सुख-शान्ति तथा समृद्धि थी, किसीको किसी प्रकारका क्लेश न था—

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
अजातशत्रावभवञ्जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १० । ६)

पर रामराज्यमें तो धर्मराज्यकी सीमा थी, अतएव उनका राज्य आदर्श कहा जाता है। वे साक्षात् धर्मके मूर्तिमान् रूप थे—'रामो विग्रहवान् धर्मः' (वाल्मी० अरण्य० ३८।१३)। अतएव उनके समयमें किसीको आधि, व्याधि, जरा, ग्लानि, दुःख, शोक नहीं होता था; अधिक क्या किसीको अनचाही मृत्यु भी न आती थी—

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥
(श्रीमद्भा० ९।१०।५४)

उनके समयमें देवतालोग मनुष्योंके साथ प्रत्यक्ष होकर घूमते, फिरते तथा रहते थे। इसमें एकमात्र उनकी पुण्य-प्रियता ही हेतु थी—

ऋषीणां देवतानांच मनुष्याणां च सर्वशः ।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति ॥
(महा० द्रोण० षोडशराज० ५९।१२; ब्रह्मपुराण २१३।१५२)

धर्मातिशयताके कारण उनके राज्यमें न कोई पानीमें डूबता था, न कोई आगमें ही जलता था और न किसीको रोग आदिसे ही कोई भय था। सभी हजारों वर्षतक नीरोग रहकर सुखसे जीते थे। स्त्रियोंमें भी कभी विवाद नहीं होता था। पुरुषोंका युद्ध तो बड़ी दूरकी बात थी। सभी संतुष्ट, निर्भय, सत्यव्रती तथा स्वच्छन्दचारी थे। वृक्षोंमें फूल-फल सदा ही लगे रहते थे। गायें द्रोण (बत्तीस सेरका एक नाप) भर दूध देती थीं, किसी प्रकारका उपद्रव न था—

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत् ।
रुजा भयं न तत्रासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥
आसन् वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः ।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥
नान्योन्येन विवादोऽभूत् स्त्रीणामपि कुतो नृणाम् ।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥
संतुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः ।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥
नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः ।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥
(महा० शां० प० २८।५४—५८)

भगवान् रामके राज्यमें कभी विधवाका क्रन्दन नहीं सुना गया। सर्पों, लुटेरोंका या रोग आदिका भी कोई भय न था। उनके राज्यमें सभी हजारों वर्षकी आयु तथा हजारों पुत्रवाले, नीरोग तथा निशोक थे—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥
(वाल्मी० युद्ध० १३१।९८; अध्यात्म० ६।१६।३०)

आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया निशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥
(वा० रा० यु० १३१।१०१; हरिवंश० १।४१।१४७)

आनन्दरामायणका आलंकारिक वर्णन

महर्षि वाल्मीकिरचित आनन्दरामायणमें रामराज्यका बड़ा ही विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसमें (पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागोंमें) एक पूरा राज्यकाण्ड ही है। इसमें महर्षिने रामराज्यके वैभवका बड़ा ही आलंकारिक वर्णन किया है। उनके अनुसार रामराज्यमें चारों चरणसे धर्म विराज रहा था। फलतः उनके यहाँ सदम्भ (निर्मल स्वादुजलमयी) नदियाँ ही थीं, मनुष्य सदम्भ (पाखण्डी) नहीं थे। तमयुक्त रात्रियाँ ही थीं; रजयुक्त केवल स्त्रियाँ ही थीं, धर्मबहुल पुरुषोंमें तो रज-तमका लेश भी न था; विभ्रम (मद, रागजनित विपर्यास) केवल नारियोंमें ही था, विद्वानोंको कोई भ्रम न था। कुटिल गतिमती नदियाँ ही थीं, प्रजा नहीं। रामराज्यमें दण्ड केवल फरसा, कुदाल, छत्र, चँवर, पंखा आदिमें ही लगा दीखता था; किसी जीवधारीको कोई अपराध-जनित दण्ड नहीं मिलता था—

दण्डः परशुकुद्दालवालव्यजनराजिषु ।
आतपत्रेषु नान्यत्र क्वचित् क्रोधापराधजः ॥
(आन० रामा० राज्य० का० उत्तरा० १५।११)

परिदेवन (जुएका खेल) केवल जुआरियोंके ही बीच था, प्रजामें परिदेवन (विलाप, रुदन) की कोई कल्पना भी न थी। पाश (पासा) भी केवल जुआरियोंके ही हाथ था (व्याध आदि थे ही नहीं)। जडता केवल जल आदिमें ही रह गयी थी। क्षीणता केवल स्त्रियोंके कटि-प्रदेशमें ही मिलती थी। कठोर-हृदया वहाँकी गर्भवती स्त्रियाँ ही थीं, साधारण जनता नहीं। कुष्ठयोग औषधोंमें ही रह गया था। वेध रत्नादिकोंका ही सुना जाता था। शूल केवल प्रतिमाओंके हाथोंमें ही रह गया था। कम्प केवल सात्त्विक भावजन्यमात्र होता था, भय आदिसे नहीं। रामराज्यमें संज्वर केवल कामजन्य ही होता था, रोगजन्य नहीं। दरिद्रता भी केवल मलिनता (पाप-कपट) मात्रकी थी; धन, बल, विद्या आदिकी कहीं नहीं।

अन्यत्राक्षिकवृन्देभ्यः क्वचिन्न परिदेवनम् ।
आक्षिका एव दृश्यन्ते यत्र पाशैकपाणयः ॥
जाड्यवार्ता जलेष्वेव स्त्रीमध्या एव दुर्बलाः ।
कठोरहृदया यत्र सीमन्तिन्यो न मानवाः ॥
औषधेष्वेव यत्रास्ति कुष्ठयोगो न मानवे ।
वेधोऽभ्यन्तरस्सु रत्नेषु शूलं मूर्तिकरेषु च ॥
कम्पः सात्त्विकभावोत्थो न भयात् क्वापि कस्यचित् ।
संज्वरः कामजो यत्र दारिद्र्यं कलुषस्य च ॥
(आन० रामा० राज्य० उत्त० १५।११—१५)

अधिक क्या, उनका राज्य यद्यपि त्रेतामें था तथापि समय सर्वथा सत्ययुगका हो गया था—

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥
(श्रीमद्भा० ९।१०।५२)

'ससि संपन्न सदा रह धरनी । त्रेताँ भइ कृतजुग क करनी ॥'
(रा० मा०)

उपसंहार

रामराज्यके वर्णनसे भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। प्रसन्न राघवकार श्रीजयदेवने ठीक ही लिखा है कि भगवान् राघवेन्द्रको धर्म तथा सभी सद्गुणोंने आवास ही बना लिया था, अतएव सभी कवि उनका वर्णन करने लगें तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है—

कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ।

स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्डमें स्वयं भगवान्के लिखाये श्लोकोंकी चर्चा है, जिनमें उन्होंने कहा है कि धर्म ही सभी सुखों तथा ऐश्वर्योंका मूल एवं सभीका परम सुहृद् है, इसका विरोध कदापि नहीं करना चाहिये —

धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः ।

'हे भावी भूपालगण ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करके यह भिक्षा माँगता हूँ कि आप आपातरम्य विषयोंमें न भूलें, तृणाग्र-विन्दुवत् चपल प्राणोंके मोहमें न पड़ें, वायुमें उड़नेवाले क्षणभङ्गुर बादलके टुकड़ेके समान इस वसुधाधिपत्यके लोभमें आकर कभी कर्तव्यच्युत न हों'—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपाला
नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः ।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः ॥
वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः ॥[1]
(स्कन्द० ब्राह्म० धर्मारण्य० ३४ । ४०-४१)

आजकी दैवी आपत्तियोंपर प्रधान मन्त्रीको भी कहना पड़ता है कि इनपर हमारा वश नहीं। सचमुच ये विभीषिकाएँ अत्यन्त असाधारण हैं। उनका आभास किसी लेखक या पाठकको नहीं मिल सकता। वह तो कोई दर्शक या भुक्तभोगी ही अनुमान कर सकता है। किंतु क्या हमारे पूर्वजोंने इसके लिये कोई चेतावनी नहीं दी ? क्या यह हमारी धर्मोपेक्षा, धर्मनिरपेक्षताका परिणाम नहीं हो सकता ? क्या इससे भी अधिक कोई भयंकर प्राकृतिक विपत्ति नहीं आ सकती ? इन सब प्रश्नोंपर शुद्ध बुद्धिसे विचार न किया गया तो भगवान् ही जानें भविष्य कैसा होगा।

रामराज्यकी महिमा

राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास ।
तरु सुरतरु सुरधेनु महि अभिमत भोग बिलास ॥
खेती बनि बिद्या बनिज सेवा सिलिप सुकाज ।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम कें राज ॥
(दोहावली)

१. कहा जाता है कि श्रीरामभद्रका उपर्युक्त शासन दो करोड़ वर्षोंसे अभीतक अक्षुण्ण है। इसका कारण बतलाते हुए भगवान् व्यासका कहना है कि यद्यपि अनन्त युगोंतक उसकी अक्षुण्णता महान् आश्चर्यकर है, क्योंकि सुवर्णादि सभी धातुएँ जब क्षीण हो जाती हैं, तब वह ताम्र क्यों न क्षीण होगा ? किंतु नहीं, भगवान् रामकी दिव्यता इसमें हेतु है। भला, जिनके प्रतापसे पत्थर तर गये, मरा हुआ मुनिपुत्र जी उठा, जिनके स्पर्शसे अहल्याका पाषाणत्व दूर हो गया, उनका शासन अक्षुण्ण रहना ही चाहिये—

शृणु ताम्राश्रयं तत्र लिखितं धर्मशास्त्रतः । महदाश्चर्यकरं तत्र ह्यनेकयुगसंस्थितम् ॥
सर्वो धातुः क्षयं याति सुवर्णं क्षयमेति च । अविनाशो हि ताम्रस्य कारणं तत्र विद्यते ॥
यस्य प्रतापाद् दृषदस्तारिता जलमध्यतः । मुनिपुत्रं मृतं रामो यमलोकादुपानयत् ..... ॥
तस्येदं शासनं दत्तमक्षयं न कथं भवेत् ।
(स्क० ब्रा० धर्मार० ३४ । ११-१६)

सत्यकी कथा

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

आदिमानवमें सत्य स्वाभाविक था, असत्यका आकर्षण थोड़ा था और यह कह सकते हैं कि असत्य तुरंत ही दीख जाता था। सत्यका चालू अर्थमें, अर्थात् जैसा देखा-जाना हो वैसा कहे—इस प्रचलित अर्थमें भी सत्यकी पूर्ण मीमांसा नहीं होती। इसकी महाव्याख्या तो यह है कि देश, काल और वस्तुसे जो अबाधित हो ऐसा परम तत्त्व ही सत्य है। यहाँ सत्यका आत्माके साथ, परमात्माके साथ, परम सत्-शक्तिके साथ, केवल भाववाचक पदार्थोंके साथ ऐक्य हो जाता है। सत्य ही सबका अधिष्ठान बन जाता है। इसीलिये कहा है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

तथा—

आभ अद्धर धरी राखियुं महिने महाजळ पर धरी।
वळी एज कर्त्ता, एज भर्त्ता, एज हर्त्ता श्रीहरि॥

अर्थात् इसीने आकाशको अधरमें धारण कर रक्खा है और पृथ्वीको महाजलके ऊपर रक्खा है। फिर यही कर्ता, यही धर्त्ता और यही हर्त्ता श्रीहरि रूप है।

इस सत्यको परम सत्य कहिये या सनातन सत्य! इसके अनन्तर अवान्तर सत्य तीन प्रकारके कहे जा सकते हैं। भूतकालका सत्य इतिहास है, वर्तमान कालका सत्य विज्ञान है और भविष्य कालका सत्य भविष्य-ज्ञान अथवा भविष्य वाणी है। इतिहास विशेषतः शब्दजन्य, विज्ञान इन्द्रिय-जन्य अथवा प्रत्यक्षजन्य और भविष्य ज्ञान योगजन्य कहलाते हैं। सनातन सत्यको जाननेवाले शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान ये सब प्रमाण हैं। सत्य, ज्ञान, अनन्त—सत्-चित् और आनन्द परम तत्त्व है; ऐसा वेद कहता है। हमारी सारी इन्द्रियाँ निरन्तर इसी गङ्गा, यमुना और सरस्वतीके प्रवाहरूपमें अन्तर्मुख होकर देखती हैं और योगीलोग इसको ध्यानमें देखते हैं; परंतु इन तीनों प्रमाणों-से जो दीखता है वह यह नहीं है—इसके पार है। ये सब तो उसको शाखा-चन्द्र-न्याय मात्रसे बतलाते हैं। जैसे बालक-को उसकी माता, पतिको उसकी स्त्री, अथवा चन्द्रको देखनेवाला पथिकको बतलाया जाता है कि 'देखो, वह दूजका चाँद है, उस पेड़की डालीके ऊपर है।' परंतु क्या वह पेड़की डालीके ऊपर होता है? यदि वहाँ हो तो मानव-शक्तियाँ उसे तुरंत पकड़ लें। परंतु वह देखनेमें तो आता है, पर पकड़में नहीं आता। अथवा भक्तोंसे कदाचित् पकड़में भी आ जाय, यह ठीक है! एक भक्त कहते हैं—'हाँ, तुम मेरा हाथ छुड़ाकर सहसा चले गये, पर हृदयमेंसे जाओ तो तुम्हारा पराक्रम जानूँ!' ऐसे भक्तोंके विषयमें भगवान् कहते हैं कि 'मैं इनके पीछे-पीछे चलता हूँ तथा इनकी पादरजसे पवित्र होता हूँ!' कुछ भूमिकाओंमें मानो ज्ञान, भक्ति और कर्मके प्रदेश एक हो जाते हैं।

हमारी मानवजातिके आदि-आदेशदाताओंने जितनी सत्यपूजा, सत्यनिष्ठा, सत्यश्रद्धा, सत्यभक्ति और सत्यपरायणता दिखलायी है, वैसी शायद ही अन्यत्र किसीने दिखलायी होगी। उन्होंने कहा है—

सत्यान्नास्ति परो धर्मो नासत्यात् पातकं परम्।
श्रुतिः सत्यं हि धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥

सत्यसे महान् कोई धर्म नहीं, असत्यसे बड़ा कोई पातक (गिरानेवाला) नहीं, धर्मका भी सत्य श्रुतिमें अथवा वेदोंमें है, जो वेद परमात्मसत्यस्वरूपका श्वासरूप है। इसलिये सत्यका लोप न करे। यह बात है परमार्थकी और सांसारिक सत्यकी, इसलिये अपना कर्त्तव्य क्या है, प्राप्तव्य या उपासितव्य क्या है, ज्ञातव्य क्या है, इन सबका सत्य जाननेकी। इसीसे इसको अपरा विद्या कहते हैं। इस दृश्यमान विश्वमें—सर्वशरीरोंमें—देखने और जानने योग्य बहुत चीजें हैं। यह अथाह है, एकको देखिये तो दूसरी भूल जाय, परंतु कितना और क्या-क्या विशेष जानने योग्य है, करने योग्य है, अथवा भजने योग्य है, इसका ज्ञान तो इसके जानकार किसी सर्वज्ञको ही हो सकता है। ऐसा जानकार केवल वह परमेश्वर है और ऐसा विशिष्ट ज्ञान उसने आदिकालमें प्रथम पुरुषको प्रदान किया, वही श्रुति अर्थात् वेद है। वेदका अर्थ ही ज्ञान है। इसलिये यह ज्ञान परम श्रद्धाकी वस्तु है। इस ज्ञानका बीज ॐकार है। इसमेंसे पीछे वृक्षके मूल, कन्द, डालियाँ, टहनियाँ, पत्ते, फूल, फल आदि निकले। इनमें जिसको जिस डालीपर श्रद्धा हो,

उसका सेवन करे और उसमें जो फल हो और हाथ लगे उसे खाय। सारे शास्त्र, तन्त्र तथा विद्या और अविद्याएँ, इस मूल बीजसे ही निकली हैं। इसीको विद्वान् शब्दब्रह्म, प्रणव अथवा 'लोगास्' आदि शब्दोंसे पुकारते हैं। इस प्रकार वेदादि शास्त्रकी अपेक्षा या आवश्यकता इसीलिये है कि मनुष्यकी बुद्धि, चित्त, मन, अहङ्कार आदिके साथ सारे अन्तःकरणकी शक्तियाँ, इनके साधन और क्रिया इतने सीमित, चित्र-विचित्र, क्षण-परिणामी और त्रिगुणात्मक भेद दृष्टिवाले हैं कि बुद्धिमत्ताका मार्ग यही है कि अपनी मनुष्यबुद्धिकी उछल-कूदके ऊपर अपने जीवनका आश्रय न बाँधकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सबके कर्त्ता, संचालक, संहर्त्ता और नियामक प्रभुके आदेशको ही मुख्य मार्गदर्शक मानकर उसके अनुसार चले। यदि कोई विश्वरूप पदार्थ है तो उसका ईश्वर भी होना चाहिये और उसके धर्म भी उस ईश्वरके द्वारा निश्चित किये हुए होने चाहिये तथा तदनुसार उसमें साध्य, त्याज्य, असाध्य भी होने चाहिये। यही समझ सीधी-सादी और उत्तम समझ है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

इस अपार, अनिर्वचनीय तथा स्वप्नवत् संसारमें मनुष्यको गोता न खाना पड़े और अन्तमें पछताना न पड़े—इसके लिये उसे ईश्वरप्रोक्त शास्त्रोंके ज्ञानका आश्रय लेना चाहिये।

यह व्यवहार संसार-सम्बन्धी सत्य और व्यावहारिक सत्य कहलाता है। इसमें जिन कितनी ही बातोंको हम मौलिक सत्य मानते हैं, उनका भी समावेश हो जाता है। जैसे यह जगत् त्रिगुणात्मक है। कालमें सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग बारी-बारीसे आते रहते हैं। जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। जिस प्रकारकी जिसकी भावना होती है, उसी प्रकारकी उसकी सिद्धि होती है। आत्मा इस शरीरसे पृथक् और द्रष्टामात्र है। भूख-प्यास प्राणका स्वभाव है, शोक-मोह मनका स्वभाव है, जन्म-मृत्यु शरीरका स्वभाव है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, मनोनिग्रह और सर्वभूतोंके प्रिय हितकी इच्छा, यह सबके साधारण धर्म हैं। सदाचारसे सुख-शान्ति और समृद्धि प्राप्त होती है। सारे यम-नियमोंका उद्देश्य मनोनिग्रह है। सत्कर्मसे चित्तका मैल धुल जाता है। प्रभुभक्तिसे मन एकाग्र होता है और आत्मज्ञानसे संसारके आवरणकी निवृत्ति होती है—ये सारे ही सर्वस्वीकृत नियम हमको शास्त्रोंमें, धर्मग्रन्थोंमें मिलते हैं। साथ ही, पति ही नारीका परम देवता है, नारी सदा अपने आप्त जनोंके द्वारा रक्षणीय है। राजाको भगवान्ने प्रजाकी रक्षाके लिये और धर्मकी रक्षाके लिये सिरजा है। यज्ञ, दान और तप—ये मनीषियोंको पावन करनेवाले कर्म हैं। ऐसे-ऐसे जीवनको प्रकाशित करनेवाले सूत्र भी हमको आप्त ग्रन्थोंमें मिलते हैं तथा उनको प्राप्त या सिद्ध करनेके लिये सब प्रकारकी सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यवस्थाएँ भी उनमें प्राप्त होती हैं; परंतु इन सबको व्यावहारिक सत्यके अंदर ले सकते हैं। बुद्धिका मुख्य विनियोग यह है कि इन सबका तर्कके द्वारा भी अनुसधान करे और जहाँ बुद्धि शास्त्रसे विपरीत जाती हो, वहाँ समझना चाहिये कि कहीं अपनी कोई भूल हो रही है। शास्त्रीय ग्रन्थोंको समझना और उसको पचाना कठिन है और इसके लिये श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ तथा ज्ञानी गुरुकी शरण लेनी चाहिये। अनादि अविद्यासे युक्त मानवको रास्ता बतानेके लिये गुरुकी जरूरत है; क्योंकि स्वतः ज्ञान होनेकी सम्भावना कम होती है। वह बोलते-चालते, लिखते-पढ़ते और बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त करते हुए भी दूसरेसे सीखता है। शास्त्रोंमें भी अनेकों समस्याएँ, गुत्थियाँ, विचित्रताएँ ऐसी हैं कि जिनको गुरुके अनुग्रहसे ही सुलझाया जा सकता है। इसलिये सत्यके ज्ञानमें गुरुका भी प्रमुख स्थान है। जैसे मानवको, वैसे ही समाजको भी प्रकाशित करनेमें गुरुकी बड़ी आवश्यकता होनेके कारण प्रत्येक धर्ममार्गमें गुरुको प्रधान स्थान दिया गया है।

अब हम तीसरे प्रकारके सत्यको लेते हैं। अवश्य ही यह भी 'कहलानेवाला' सत्य है। एक या अधिक मनुष्य केवल अपनी बुद्धिके तर्कसे अथवा बहुमतसे मान लेते हैं कि यही सत्य है, इसको हम 'कल्पित सत्य' कहेंगे। यद्यपि ऐसा कहना वदतो-व्याघात-जैसा लगता है। जैसे मनुष्योंका कल्पनाके द्वारा गढ़कर बनाया हुआ हजारों वर्ष पहलेका इतिहास, सब मनुष्य एक-से हैं—यह भ्रामक तर्क सबको स्वेच्छानुसार मानने, बोलने-चलनेकी छूट होनी चाहिये, यह सबका मौलिक अधिकार है—ऐसी मान्यता, राज्यकार्यमें दखल नहीं देना चाहिये, राज्यको प्रजाकी प्रत्येक बातमें पड़नेका अधिकार है (या नहीं), शिक्षा ऐसी चाहिये या वैसी होनी चाहिये—इन विषयोंपर समय-समयपर चलने तथा पीछे रद्द हो जानेवाले तर्कों और सिद्धान्तोंका समावेश

इस 'कल्पित सत्य'में किया जा सकता है; इस कार्यसे मेरा, समाजका या सारी प्रजाका हित हो सकता है—ऐसा मान लेना भी इस कल्पित सत्यमें आता है और इसके लिये प्रयत्न, आग्रह अथवा भावाभिनिवेशको सत्याग्रह इत्यादि नाम भी दिये जाते हैं। इसमें दो या अधिक मत होते हैं और तदनुसार पक्ष-विपक्षका निर्माण भी हो जाता है। परिणाम-स्वरूप बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ, विग्रह अथवा बलवे खड़े होते हैं। कर्त्तव्य, प्राप्तव्य या ज्ञातव्य विषयोंमें 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' होनेके कारण अपनी बुद्धिको ही प्रमाणरूप मानने-वाले लोगोंमें इस प्रकारके बखेड़े बहुत अधिक जड़ जमा लेते हैं। धर्मोंमें भी बुद्धिका तर्क दौड़ानेसे और आप्तग्रन्थों तथा गुरुका आधार छोड़ देनेसे झगड़े तो होते हैं, परंतु वे अधर्मियोंके विद्रोह और युद्ध-जैसे व्यापक भयंकर और विषैले नहीं होते। आजकलके विश्वयुद्ध और तत्सम्बन्धी समाचारोंसे ये सारी बातें स्पष्ट हो जायँगी। संस्थाओंकी पद्धति चाहिये या नहीं, काला-गोरेका रंगभेद स्थिर रखना ठीक है या सबको मिला देना ठीक है, राज्य धर्मके अनुसार होना चाहिये या धर्म राज्यके अनुसार होना चाहिये, आजकलके ये सारे कूट प्रश्न भी कल्पित मान्यताओंमेंसे ही उत्पन्न होते हैं तथा स्वार्थबुद्धिके तर्कसे पोषित होते हैं। अपने पक्षके समर्थनके लिये नये-नये सिद्धान्तोंकी कल्पना की जाती है, इनको भी 'कल्पित सत्य'के भीतर ही रक्खा जा सकता है। इस प्रकार विविध मत-मतान्तरोंमें अधिकतर स्वार्थ, अधिकार-लोलुपता, धनलोभ, कामवेग और द्वेषभाव आदि बीजरूपसे रहते हैं और वे राजसी या तामसी बुद्धिसे बहुधा कर्मोंमें प्रवृत्त करते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धिके तर्कके द्वारा उनकी नींव डालता है और दूसरे मनुष्योंकी उसमें स्वीकृति मिलते ही उनमें और भी अधिक जोर डालता है, फिर गड्डलिका-प्रवाहके रूपमें हलचल शुरू हो जाती है। मनुष्य अपने चतुर्दिक् वातावरणसे अपने प्राण-वायुको ग्रहण करता है, इस कारण ये 'कल्पित सत्य' भी उसको न्यून या अधिक अंशमें अवश्य प्रभावित करते हैं। इन सारे कल्पित सत्यों-की हानिसे बचनेका मार्ग यही दीखता है कि मनुष्य धर्मके राजमार्गपर चलता रहे। वहाँ मतभेद तो रहेंगे, परंतु वे बहुत कम हो जायँगे और धर्मका प्राधान्य तथा धर्म-का आधार होनेके कारण मनुष्यके लिये काम, क्रोध, लोभ आदिका वेग तथा अतिरेक कम हो जायगा और वह सीमित रहेगा। 'अधिक-से-अधिक मनुष्योंका अधिक-से-अधिक हित' करनेकी इच्छासे धर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उसके द्वारा विकारोंको तथा राग-द्वेषको नियमनमें रखना सभी धर्म-मार्गोंका ध्येय होता है। ठीक-ठीक देखनेसे ज्ञात हो जायगा कि सारे धर्म-मार्ग दैवीसम्पत्तिकी ओर,—इस प्रकार प्रभुकी ओर अपने अनुयायियोंको चलानेकी भावना रखते हैं।

इस प्रकार हमने सत्यके तीन स्वरूपोंकी अर्थात् (१) परम सनातन सत्य, (२) विश्व-सम्बन्धी व्यावहारिक सत्य तथा (३) मानव-कल्पित सत्यके स्वरूपकी आलोचना की। अब हम वाणीके सत्यपर विचार करेंगे। हमने जैसा देखा, जाना या माना हो, उसको ठीक उसी रूपमें कह देना—इसे भी सत्य कहते हैं। जो हो गया हो उसमें ऋत (ऋ=हो जाना) शब्दका ऋषिगण प्रयोग करते हैं। जो ऋत न हो उसे अनृत कहते हैं। प्रिय शब्दका अर्थ है (प्रि=प्रसन्न करना) प्रसन्न करनेवाला अथवा प्रसन्न होनेवाला, ऐसा धातुके अर्थसे प्रकट होता है। भगवान् मनुने सत्यके लिये इन तीनों शब्दोंका प्रयोग करके नीचे लिखे अनुसार विधान किया है। ऐसा विधान कोई भी शास्त्रविधायक, इतनी विवेकपूर्ण रीतिसे शायद ही करता हुआ दीखता है। इसमें अनेक दृष्टियोंका समावेश है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

'सत्य बोलो' यों वे कहते हैं। तब वस्तुतः तो सत्-चिद्घन परमात्माका ही वाणीसे व्याख्यान करना—कहते हैं। यदि तुम्हें व्यावहारिक सत्य बोलना हो तो वह प्रिय लगे, इस रीतिसे बोलो। जैसे कि भगवान्‌की माया मायाविर्योको भी मोहित कर देती है और वह मोह प्रभुकृपा होनेपर ही छूटता है। अथवा कल्पित सत्य बोलना हो तो उसको भी ऐसा बोलो कि जो बरछीकी चोट न करके प्रिय लगे। 'जैसे, तुम मूर्ख हो, बात नहीं समझते हो'—ऐसा न कहकर कहे कि 'तुम्हारी समझमें कुछ भूल मालूम होती है।' इस प्रकार नम्रतासे अपनेको तथा दूसरोंको अच्छा लगे, ऐसी बात बोले। कुछ लोग 'सच्ची बात कहनेमें क्या डर ?' ऐसी बड़ाई हाँकते हुए कुल्हाड़ेकी चोट-जैसी बात कह डालते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। सत्य हो, पर अप्रिय हो तो वैसा नहीं बोलना चाहिये; क्योंकि हमें इस प्रकार बोलनेके लिये किसीने बाध्य नहीं किया है। यह बात याद

क्यों न रक्खी जाय ? राजनीतिसम्बन्धी बातें भी इस प्रकार मनमें रखनेसे ठीक हो जाती हैं। तब क्या प्रियताको ही मुख्यरूपसे देखना चाहिये ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि कोई बात विचारसे प्रिय लगनेवाली हो, परंतु अनृत हो अर्थात् बनावटी और कल्पित हो तो उसे भी नहीं बोलना चाहिये। जैसे, हाँ तो पाँच सौ और कहे कि हमारी सभामें दस हजार मनुष्य आये थे'—तो यह संख्या प्रसन्नता प्रदान करनेवाली लगेगी, परंतु अनृत होनेके कारण ऐसा नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार चतुर्विध विवेकयुक्त वाणी बोलना, अथवा उसको नियमनमें रखना इसको भगवान् मनु 'सनातन धर्म' कहते हैं। सुकरात, ईसामसीह, गेलीलिओ-जैसे महान् पुरुषोंको भी वाणीका इस प्रकार नियमन न कर सकनेके कारण हैरानी उठानी पड़ी। युधिष्ठिरने भी 'नरो वा कुञ्जरो वा'—ऐसा द्रोणाचार्यसे कहा और इसमें अनृतका अंश था, इसी कारण भलीभाँति उनका रथ नीचे गिरा—ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं।

ये समस्त विचार-विवेक मनुष्यको सत्यका मार्ग बतानेमें बहुत उपयोगी, आवश्यक और बुद्धिमानीसे भरे हुए हैं। तथापि प्राचीन आर्य, संस्कारी पुरुषों या ऋषि-मुनियों अथवा दयालु प्रभुने जो सत्य और परमात्मतत्त्वका ऐक्य, उसकी पूजा और उपयोगिता बतलायी है वैसा किसी दूसरे देशमें जाननेमें नहीं आता। भारतभरमें व्याप्त हमारी सत्यनारायणकी कथा तथा व्रत-पूजन, यह आर्योंकी एक महान् देन है। इसका प्रारम्भ ही देखिये। परोपकारके लिये तीनों लोकमें विचरण करते हुए नारद ऋषि मृत्युलोकमें जाकर लोगोंको दुःख भोगते हुए देखते हैं और उस दुःखके निवारणका सहज उपाय जाननेके लिये नारायण भगवान्के पास जाते हैं। मनुष्य अपने अटकली अनुभवसे खोजकर निकाल सके, ऐसे धन, धरा, धाम, यन्त्र, अस्त्र, शस्त्र या अणुबम आदि साधनोंको भगवान्ने नहीं बतलाया, बल्कि सत्यकी पूजा और व्रतको बतलाया। इसके बाद सत्यकी पूजाका सबको अधिकार है, यह लकड़हारेकी कथासे सत्यपूजा संतानादि व्यावहारिक फलको भी देती है, यह साधु और वणिक्के दृष्टान्तसे बतलाया। उनके प्रतिज्ञाभङ्गके परिणामसे (सत्यकी अवहेलनासे) हानि, सत्यदेवकी पूजाके दर्शनका फल, इसके बाद पत्नी भी पतिकी प्रतिज्ञा पाले तो पापका निराकरण तथा बाह्य जगत्में—राजदरबारमें भी प्रभाव, सत्य वचनके बदले झूठ बोलनेवालेकी हानि, पश्चात्ताप करनेसे तथा स्तुति करनेसे पुनः धनकी प्राप्ति, सत्यदेवका प्रसाद—लाक्षणिक तथा स्थूल त्याग करनेसे विपत्तियाँ, पुनः पूजा करनेसे पुत्रादिकी प्राप्ति, इस प्रकार सत्यकी प्रेरणासे शुरू करके उसकी इस विश्वमें अनन्त शक्तियोंका वर्णन सत्यनारायणकी कथामें बहुत ही मनोहर तथा बड़ी सादगीसे किया गया है। यह कथा सत्यपूजनके कारण तात्कालिक फलदात्री होनेसे बहुत ही लोकप्रिय, लोकमान्य तथा भारतव्यापी हो गयी है। इसके रूपक नाटक और सिनेमामें भी बनाये गये हैं। यह 'सत्य'देवका अप्रमेय माहात्म्य है। संसारके दुःखोंसे उद्धार पानेके लिये उसके सिरजनहारकी शरणको छोड़कर दूसरा अच्छा उपाय क्या हो सकता है ? जिसने वटके नन्हे-से बीजसे लाल टेटावाले सम्पूर्ण वटवृक्ष तथा बबूलके बीजमें काँटोंके सहित बबूलका वृक्ष डालकर उनको सुरक्षित रखनेकी योजना की है, उसके लिये क्या कठिन है ?

इस परम सत्यरूप भगवान्की स्तुति ब्रह्मादि देवोंने भी जब यह पृथ्वी आसुरी शक्तियोंसे घिर गयी थी, तब उसके निराकरणके लिये की थी। उसका पहला श्लोक श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

(१० । २ । २६)

उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप तथा इन सबका अधिष्ठानरूप सत्य ही है। परम सत्यरूप, अनिर्वाच्य सत्यरूप तथा कल्पित सत्यरूप भी वही है। यह सब उसकी मायाका विलास है, इसके उस पारमें भी अपार रूपमें वही विलसित है—सत्, चित् और आनन्दरूपमें। वही एक अनेक रूपमें हो गया है—हुआ दीखता है। जब उसकी इच्छा होती है तब जैसे प्रेमी पति अपनी पत्नीके साथ क्रीडा करता है, उसी प्रकार वह अपनी मनोहारिणी महामायाके साथ क्रीडा करता है। परंतु वे दोनों अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। इसीसे उनके संतान न होनेकी उत्प्रेक्षा की जाती है और योगीजन उनको सर्वभावसे सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्मके रूपमें ध्यानमें लानेकी प्रचेष्टा करते हैं।

दीन-प्रार्थना

(सोहनी)

हे दयामय ! दीनबन्धो ! दीनको अपनाइये ।
निराधार अनाथको प्रभु ! अब सनाथ बनाइये ।। टेक ।।

ज्ञान-भक्ति-विराग-योग न प्रेम मुझको छू गये ।
चित्त विषयविलास-रत अति, पाप करता नित नये ।।
अहं-मम, ईर्ष्या-असूया, काम-कर्दममें सना ।
क्रोध-लोभ, विमोह, राग-द्वेषका पुतला बना ।।
बँधा आशापाशमें कर छोह नाथ ! छुड़ाइये ।। हे दयामय०

भवनदीकी घोर धारामें विवश मैं बह रहा ।
नित तरंगोंके थपेड़े अति विकट मैं सह रहा ।।
भयजनक जल-जंतुओंने अंग क्षत-विक्षत किये ।
पर इसीमें मानता सुख भ्रान्त आशाको लिये ।।
पावन कृपाके पोतपर निज विरद समझ चढ़ाइये ।। हे दयामय०

अधम पामर पतितपर हे पतितपावन ! रीझिये ।
सहज शीलस्वभाववश हे सर्वसुहृद ! पसीजिये ।।
मिलै विषय-विराग, पद-अनुराग सत्य अनन्य जो ।
दिव्य तत्त्वज्ञानकी सुज्योतिसे यह धन्य हो ।।
नाथ ! स्वप्रिय सद्गुणोंसे इसे आप सजाइये ।। हे दयामय०

आयुका अधिकांश भाग अमूल्य मैंने खो दिया ।
सत्य मनसे स्मरण मैंने नहीं पल भर भी किया ।।
महापुरुष बना फिरा, पर हृदय छूँछा ही रहा ।
दयामय ! पर आपने मेरा उपद्रव सब सहा ।।
शेष जीवनके क्षणोंमें शुद्ध भजन कराइये ।। हे दयामय०

जन्मकी इस विफलतापर आज रोना आ रहा ।
याद कर करतूत काली नहीं धीरज पा रहा ।।
चाहता हूँ मिले आश्रय आपका अभयद अभी ।
पर नहीं होता शरण विश्वासपूर्वक मैं कभी ।।
महादीन अशक्तको अब स्वयं आप बचाइये ।। हे दयामय०

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी)

[पृष्ठ ८११ से आगे]

श्रीरामसखा निषादराजकी परीक्षण-विधि हम भलीभाँति देख चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि श्रीभरतलालने अपनी प्रेममयी भावनाके द्वारा कितनी मधुर-रीतिसे प्रेम-परीक्षकको सर्वथा अपने अनुकूल बना लिया ।

प्रस्तुत लेखमें हम संक्षेपतः यह विचार करेंगे कि प्रीति-परीक्षाके अनन्तर श्रीभरत-निषादका पारस्परिक प्रेम—श्रीराम-बन्धु और रामसखाका मधुर प्रेम—दो श्रीरामभक्तोंका सरस-स्नेह कहाँतक वृद्धिंगत हो सका ।

श्रीभरतका सफल वृक्षादपि विनम्र स्वभाव और मङ्गलमय श्रीराम-प्रेम देखकर श्रीनिषाद अपने देहकी सुधिका रक्षण करनेमें नितान्त अक्षम्य सिद्ध हुए—'भा निषाद तेहि समय बिदेहू' उनके मनमें विशाल संकोच हुआ—'इतनी मधुर स्नेहमयी भावनाका मैं प्रथम ही आदर न कर सका ! मैंने अपने प्रियतमके प्रेमपात्रको मारना चाहा ! मैं श्रीभरतलालका सहज-स्वरूप न समझ सका ! श्रीराघवेन्द्र जब शृंगवेरपुरमें पधारे थे, तब कितने प्रेमसे विह्वल होकर आदरपूर्वक उस रात्रिमें श्रीभरतके स्नेहकी सराहना करते थे—'तेहि रात पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी' इस प्रसंगकी सुधि मुझे प्रथम ही क्यों न आयी ?' इत्यादिका स्मरण करके संकोच तो हो ही रहा था कि अभी-अभीका व्यवहरित श्रीभरतका शीलमय व्यवहार मनमें स्नेहकी वृद्धि भी करने लगा और वे लगे सोचने—'कितना पवित्र तथा कैतवरहित व्यवहार था । कितना स्नेहमय प्रेमालिङ्गन था । मैं धन्य हो गया, इस मधुर आलिङ्गनसे आलिङ्गित होकर ।' आदि बातोंका स्मरण करके स्नेहकी वृद्धि तो हो ही रही थी कि श्रीभरतकी कमनीय कान्तिने श्रीगुहके नेत्रोंको बरबस आकृष्ट कर लिया अपनी ओर । कितना मोहक स्वरूप था । कितनी मधुर तथा मनोहारिणी मूर्ति थी । उस अनूप रूपको देखकर श्रीनिषादको महाप्रभु श्रीराघवका स्मरण हो आया, क्योंकि—

'भरत रामही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥'

अपने जीवनसर्वस्व प्रभुका स्मरण आते ही श्रीनिषादके मनमें आनन्दकी बाढ़-सी आ गयी और वे लगे एकटक अपलक निहारने, श्रीरामको नहीं अपितु उन्हींके समान वय-वपु-वर्ण-रूपधारी श्रीभरतलालको ।

'सकुच सनेह मोद मन बाढ़ा । भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा ॥'

श्रीगुहराज चित्र-लिखे-से देखते ही रहते श्रीभरतकी पावनी मूर्तिको, किंतु उन्हें सुधि हो आयी श्रीभरतके द्वारा प्रश्न किये गये कुशल-क्षेमसम्बन्धी प्रश्नोत्तरकी । उन्होंने धैर्य धारण किया । श्रीभरतकी चरणवन्दना की और लगे कहने विनयावनत वचनोंको ।

कुसल मूल पद पंकज पेखी । मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें । सहित कोटि कुल मंगल मोरें ॥
समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जियँ जोइ ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ ॥
कपटी कायर कुमति कुजाती । लोक बेद बाहेर सब भाँती ॥
राम कीन्ह आपन जबहीतें । भयउँ भुवन भूषन तबहीं तें ॥

'अनुरागमय ! सम्पूर्ण कुशलोंके स्रोत आपके पादारविन्द ही हैं । उन चरणोंका दर्शन करके मैंने त्रिकालमें अपने कुशलकी निश्चिति कर ली अर्थात् अब मैंने समझ लिया कि त्रिकालमें मेरा कुशल-ही कुशल है । हे प्रभो ! आपकी मङ्गलमयी कृपासे करोड़ों पीढ़ियोंके सहित मेरा मङ्गल सम्पन्न है । कहाँ मैं निकृष्ट कुलोत्पन्न और अधोगामिनी वृत्तिवाला और कहाँ प्रभु राघवकी अगाध महिमा । कितना वैषम्य है । फिर भी उन्होंने मुझे हृदयसे लगाया । यह भक्त-वत्सलता देखकर भी जिसका मन श्रीरघुश्रेष्ठ राघवके चरणोंकी ओर बरबस आकृष्ट नहीं होता, वह अभागा ब्रह्माके द्वारा ठगा ही गया है । मैं दुर्गुणोंका भण्डार था—कपटी, कायर, दुर्बुद्धि और नीच कुलोद्भव था । सभी भाँति लोक-वेदसे भी बाहर था, किंतु मेरे रामने जबसे मुझे अपनी शरणमें ले लिया—अपना लिया, तभीसे मैं जगत्‌में आभूषणस्वरूप हो गया हूँ ।'

कितना मनोहर कुशल-क्षेम प्रश्नोत्तर है । एक-एक शब्दमें दीनता आलोकित हो रही है । एक-एक पद प्रभुकी महिमासे ओतप्रोत है । महाप्रभुके चरणोंकी ओर आकृष्ट होनेका कितना मधुर शिक्षण है ।

श्रीनिषाद सबसे मिलकर, उन्हें साथमें लेकर शृंगवेरपुरकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं । उस परम पावन नगरको देख-

कर स्नेहाधिक्यके कारण श्रीभरतके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये। शिथिलताकी प्रबलता हो उठी। 'सिथिल अंग पग डगमग डोलहिं' की अवस्था हो गयी। आश्रयकी आवश्यकता प्रतीत हुई। श्रीनिषाद साथमें थे। आवश्यकताकी पूर्ति हो गयी। धन्य है श्रीनिषादके भाग्यको ! आज श्रीनिषाद श्रीभरतके आश्रय हैं। क्यों न हों ? विनयी व्यक्ति क्या नहीं कर सकता ? विनयावनत-व्यक्ति पाषाण-प्रतिमासे वास्तविक मूर्ति प्रकट कर सकता है। 'बिनय प्रेम बस भई भवानी' फिर श्रीनिषाद तो साक्षात् विनय रूप हैं।

सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥

शृंगवेरपुरमें जनसमूहने डेरा डाल दिया। श्रीभरतने उसका विधिवत् निरीक्षण किया—कोई प्रेमकी शिथिलताके कारण अथवा श्रीराम-वियोगसे क्षीणकाय होनेके कारण मार्गमें तो नहीं रह गया। कुशलतासे निरीक्षण करनेके उपरान्त वे नित्यकर्मसे निवृत्त हुए। माताओंकी चरण-सेवा करते-करते महाप्रभुके विश्रामस्थलकी स्मृति सबल हो उठी। वे सेवामें मन न लगा सके। उसी समय श्रीशत्रुघ्नको सेवाभार समर्पण करके स्वयं श्रीनिषादको बुलाकर उनसे कहने लगे—

'हे सखा ! वह मङ्गलमय स्थल कहाँ है, जहाँ सुखरूप श्रीराघव, स्नेहमय श्रीलखनलाल और सुकुमारी भगवती जानकीने रात्रि व्यतीत की थी ? उस परम पावन स्थलतक मुझे ले चलो। उस स्थानको देखकर मैं अपने विरहदग्ध नेत्रों और मनको कुछ शीतल कर सकूँगा।' इस प्रकार कहते-कहते श्रीभरतके युगल नेत्र-कोण अश्रुपरिपूरित हो गये।

पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥
जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए॥

यद्यपि नेत्रोंकी जरनि पूर्णरूपेण तो श्रीरघुनाथ-पद-दर्शनसे ही शीतल होगी—'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय की जरनि न जाय।' अन्तर्यामी महाप्रभु भी इस बातको जानते हैं, तभी तो विरही श्रीभरतसे मिलनेके पूर्व ही 'जिय की जरनि' हरनेके लिये विहँसन करते हुए दिखायी पड़ते हैं।

जब श्रीभरतने चित्रकूटमें श्रीसरकारकी पहली झाँकी की है, उस समय सरकारका कितना मङ्गलमय स्वरूप था। आइये, इस 'जिय जरनि हरनि' झाँकीका आनन्द पूज्य महाकविके शब्दोंमें ही लें।

बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा॥
लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंद।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंद॥

परम पुनीत सियनिर्मित विमल वेदिकापर महर्षियोंका समुदाय सुखासीन है। अम्बा जानकीके साथ रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र मध्यमें सुशोभित हो रहे हैं। अपनी सुकोमल देहपर वल्कल-वस्त्र परिधान किये हुए हैं— ऐसा परिज्ञात होता है कि मनोहर मन्मथ और रतिने ही मुनिवेष धारण कर लिया है। युगल करारविन्दोंसे धनुष-बाण फेर रहे हैं। एक बार जिसकी ओर सहासावलोकनिसे निहार देते हैं, उसका त्रितापजन्य-तापसे संतप्त हार्दिक ताप विनष्ट हो जाता है। वह धन्य हो जाता है। उसके नेत्र और मन शीतल हो जाते हैं।

श्रीराघवेन्द्र सरकारकी इस 'जिय जरनि हरनि' झाँकीको निहारकर श्रीभरतके नेत्र शीतल हो गये। उनका मन आनन्दार्णवमें हिलोरें लेने लगा। वे भूल गये सुख और दुःखके समूहको और भूल गये हर्ष एवं शोकके समुदायोंको।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥

हाँ, तो मैं कह रहा था कि श्रीभरतलाल श्रीनिषादसे कहते हैं—'यद्यपि मन और नेत्रोंकी 'जरनि' पूर्णरीत्या तो श्रीराम-पद-दर्शनसे ही शीतल होगी; फिर भी श्रीराघव-पावन-पाद-पद्म-चिह्न अथवा भगवदीय अन्य वस्तुओंको देखकर 'नेकु जरनि' अवश्य शान्त होगी।' अस्तु,

श्रीभरतके इन विरहकातर वचनोंको श्रवणकर श्रीनिषाद विषादसम्पन्न हो गये। वे कुछ बोल न सके और न विलम्ब ही कर सके। उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान कर दिया और चल पड़े वे श्रीमहाप्रभुके विश्राम-स्थलकी ओर। पहुँच भी गये। उस परम पावनी 'दर्भसाथरी'को देखकर श्रीभरतने प्रदक्षिणा की। तदनन्तर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया। महाप्रभुके चिरपरिचित एवं बहुकालवियोगित परमपावन चरण-चिह्नोंकी परम-पावनी धूलि आँखोंमें लगाते समय श्रीभरतकी प्रीति अवर्णनीय हो गयी। अम्बा सीताके 'कनक-बिंदु'—दर्शनने तो उनके हृदय और नेत्रोंको ग्लानि एवं वाष्पने अधिकृत कर लिया। और वे लगे कहने—

श्रीहत सीय बिरहँ दुति हीना। जथा अवध नर नारि मलीना॥

ये कनकबिंदु भी अवधके नर-नारियोंकी भाँति अम्बा सीताके विरहमें द्युतिहीन हो गये हैं।

इन कनकबिंदुओंका परित्याग श्रीकिशोरीजीने स्वयं किया है । 'सानुज प्रभु'को मुनिवेषमें परिवेष्टित देखकर श्रीसीताको ये 'कनकबिंदु' भारस्वरूप प्रतीत हुए और उन्होंने 'तापस वेष' श्रीरामके अनुकूल 'तापस तिय बेष'की रचना अविलम्ब की । मानसमें प्रमाण मिलता है; किंतु यहाँ नहीं, चित्रकूटमें । श्रीजनकजीने लाड़िली पुत्री सीताको देखा । उनका स्वरूप प्रेमवर्द्धक था । परितोषदायक था ।

तापस बेष जनक सिय देखी । भयउ पेमु परितोषु बिसेषी ॥

श्रीविदेहराज मुग्ध होकर लगे कहने—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ । सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ ॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तारी । गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे । एहिं किए साधु समाज घनेरे ॥

धन्य है श्रीमैथिलि ! आपके इस विमल पातिव्रत-धर्मको । श्रीभरतलाल भी श्रीकिशोरीजीके इस कार्यकी सरस सराहना करनेमें न चूके—

पति देवता सुतीय मनि सीय साँथरी देखि ।
बिहरत हृदय न हहरि हर पबि तें कठिन बिसेषि ॥

पतिधर्मा कुलाङ्गनाओंकी चूड़ामणिस्वरूपा भगवती सुकुमारी सीताकी इस 'कठोर दर्भशय्या'का अवलोकन कर हे प्रलयङ्कर शङ्कर ! मेरा यह वज्रादपि कठोर हृदय 'हा-हाकार' करके विदीर्ण क्यों नहीं हो जाता ! श्रीराघवेन्द्र सरकारकी 'कुससाथरी'को देखकर वे कहने लगे—

सुख स्वरूप रघुबंसमनि मंगल मोद निधान ।
ते सोवत कुस डासि महि बिधिगति अति बलवान ॥

राम सुना दुख कान न काऊ । जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती । जोगवहिं जननि सकल दिन राती ॥

'रघुपुङ्गव श्रीरामचन्द्र सुखके तो स्वरूप हैं, मङ्गल और आनन्दके भण्डार हैं । वे पृथ्वीपर कुशशय्या डसाकर शयन करते हैं । यह देखकर विधाताकी गतिकी प्रबलता प्रतीत होती है । श्रीरामने 'दुःख' शब्दको कभी कर्णगोचर नहीं किया । श्रीदशरथजी उन्हें सर्वदा 'जीवनवृक्ष' की भाँति सँजोते थे । समस्त माताएँ अहर्निश श्रीराघवके संरक्षण-कार्यमें उसी भाँति तल्लीन रहा करती थीं जिस भाँति पलक और सर्प नयन और मणिकी रक्षामें तत्पर रहते हैं । इस प्रकार यत्नसे संरक्षित एवं लालित श्रीराम पदत्राणरहित चरणोंके द्वारा कठोरातिकठोर कानन-मार्गमें कन्दमूल-फल-फूलभोजी होकर विचरण कर रहे हैं ।' श्रीराम, सीता, लक्ष्मणके दुःखसे दुखी होकर श्रीभरत माँके साथ अपनेको धिक्कार देने लगे ।

धिग कैकई अमंगल मूला । भइसि प्रान प्रियतम प्रतिकूला ॥
मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी । सबु उतपातु भयउ जेहि लागी ॥
कुल कलंक करि सृजेउ बिधाता । साइँ दोह मोहि कीन्ह कुमाता ॥

'अपने प्राण प्रियतम श्रीदशरथसे प्रतिकूल होनेवाली अमङ्गलमूला कैकेयीको धिक्कार है ! मुझ भाग्यविरहित पापार्णवको भी धिक्कार है ! ब्रह्माने मुझे कुलमें कलंक-स्वरूप उत्पन्न किया । यदि मैं न होता तो एक भी अनर्थ न होता । सारे अनर्थोंका मूल कारण तो मैं ही हूँ । मेरी कुमाताने मुझे 'स्वामिद्रोही' सिद्ध कर दिया ।'

श्रीभरतलालके इन विरहसंयुत वचनोंको सुननेकी सामर्थ्य किसमें है ? प्रेममयी स्थिति देखकर—दीनतासे परिपूर्ण वचनोंको सुनकर कौन-सा पाषाणहृदय न पिघल जायगा ? श्रीभरतकी व्यथाभरी, आँसुओंसे पूर्ण मुखाकृतिको देखकर कौन-से भाग्यविरहित नेत्र सूखे रह सकेंगे ? बड़े प्रेमसे लगे समझाने श्रीरामसखा निषादराज—

.... । नाथ करिअ कत बादि बिषादू ॥
राम तुम्हहि प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि । यह निरजोस दोस बिधि बामहि ॥

'प्रेममय ! तुम विषाद न करो । तुम्हें तो श्रीराघव प्रिय हैं ही, किंतु तुम श्रीराघवके भी प्रेमपात्र हो । मैं भी श्रीकैकेयीको बुद्धिहीना तथा कुटिला ही समझता था, किंतु तुम्हें देखकर मेरा समाधान हो गया । तुम्हारे सदृश प्रेमी पुत्रको उत्पन्न करनेवाली माँ कुमाता नहीं हो सकती । जिसकी सराहना महाप्रभु श्रीराम स्वयं श्रीमुखसे करें ऐसे भाग्यवान् भक्त पुत्रकी जननी कदापि 'अमङ्गलमूला' नहीं हो सकती ।' अवश्य ही—

बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी ।

× × ×

अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन ।
चलिअ करिअ बिश्रामु यह बिचारि दृढ़ आनि मन ॥

'हे नाथ ! श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र सर्वान्तर्यामी हैं । संकोच, प्रेम और कृपाके तो घर ही हैं । ऐसा विचारकर सुदृढ़मन होकर चलकर विश्राम करिये ।'

कितनी आत्मीयता है निषादके इन वचनोंमें !

कितना स्नेह है श्रीभरतलालके प्रति इनका ! जबसे मिले हैं, एक क्षण भी श्रीभरतका सङ्ग त्याग नहीं किया। करते भी कैसे। इनकी प्रीति-परीक्षामें श्रीभरत समुत्तीर्ण जो हो गये। अब तो ये सोचते हैं—'कहाँ मिलेगा ऐसा मूर्तिमान् प्रेम, जिसका सांनिध्य प्राप्त करके पुनरपि मुझे 'श्रीरामचन्द्र-मुखचन्द्रका चकोर' बननेका सौभाग्य मिलेगा !'

बड़ी मनोहर जोड़ी है श्रीभरत एवं श्रीनिषादकी। हम फिर स्मरण करा दें उस मङ्गलमयी अर्द्धालीको, जिसमें भावुक महाकविने अपनी उपमाके सुमनोंको समर्पित किया है इन युगल रामभक्तोंके पादपद्मोंमें—

सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥

धन्य है श्रीभरत-निषादके पारस्परिक मङ्गलमय स्नेहको।

मैंने अपने जीवनमें शास्त्रोंकी बातोंको अक्षर-अक्षर सत्य कैसे पाया ?

[एक उदासीन संतकी जबानी अपनी बीती सत्य कहानी]

बिल्कुल सत्य घटनाएँ

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

अभी पिछले दिनों हमारे स्थानपर सुप्रसिद्ध उदासीन संत अनन्त श्रीस्वामी श्रीरामेशचन्द्रजी महाराज पधारे थे। उन्होंने अपने सदुपदेशमें शास्त्रोंकी महत्तापर बोलते हुए अपने जीवनकी कुछ घटनाएँ सुनाकर शास्त्रीय आचारोंका समर्थन किया था। नीचे वे ही घटनाएँ दी जाती हैं—

(१) दूसरोंके वस्त्रोंको बिना विचारे काममें लानेसे कैसे हानि होती है ?

आजकल लोग कहते हैं कि चाहे जिसका खा लो, पी लो और चाहे जिसका वस्त्र पहन लो, कोई हानि नहीं है। पर ऐसी बात नहीं है—मेरे जीवनकी एक घटना है। सन् १९४६ की बात है कि मैं एक बार लायलपुर, पंजाबमें गया हुआ था। वहाँ मैं एक रात्रिको श्रीसनातनधर्मसभाके स्थानपर जाकर सोया। मैंने वहाँके चपरासीको बुलाकर उससे कहा कि 'मुझे रात्रिको यहींपर सोना है, इसलिये मुझे कोई बिल्कुल ही नया बिस्तरा लाकर दो।' चपरासीने मुझे एक बिल्कुल ही नया बिस्तरा लाकर दे दिया। मैं उस नये बिस्तरेको बिछाकर सो गया। सोनेके पश्चात् सारी रात मुझे श्मशानघाटके स्वप्न आते रहे और मुर्दे आते तथा जलते दिखलायी पड़ते रहे। प्रातःकाल उठनेपर मुझे बड़ी चिन्ता हुई कि आज ऐसे बुरे श्मशानघाटके स्वप्न क्यों मुझे दिखलायी पड़े। मैंने तुरंत ही उस चपरासीको अपने पास बुलाकर उससे पूछा—'भाई ! बताओ, तुम मेरे सोनेके लिये यह बिस्तरा कहाँसे लाये थे ?' उत्तरमें चपरासीने कहा कि 'महाराज एक सेठजीकी माता मर गयी थी, उन सेठजीने अपनी मरी हुई माताके निमित्त यह नया बिस्तरा दानमें दिया था, वही मैंने आपको लाकर दे दिया।' मैं समझ गया कि दान चूँकि प्रेतात्माके निमित्त दिया गया था, इसलिये उस दान किये हुए बिस्तरमें भी प्रेत-भावना प्रवेश कर गयी और इसीसे मुझे रातभर श्मशानघाटकी बातें दिखलायी पड़ती रहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो कर्म जिस भावनासे किये जाते हैं, उसके संस्कार उसमें जाग्रत् रहते हैं। इसलिये सबके हाथका खाना-पीना और सबके वस्त्रोंको काममें लेना कदापि उचित नहीं है।

(२) देश—स्थान या वातावरणका प्रभाव

वातावरणका और स्थानका भी मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस स्थानपर जैसा काम किया जाता है, वहाँपर वैसा ही वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इसका अपना अनुभव मेरा इस प्रकार है—

मैं एक बार ऋषिकेशमें गया था और वहाँ एक रातको एक आश्रममें जाकर ठहरा। सो जानेपर मुझे रातभर पटवारियोंके सम्बन्धके स्वप्न आते रहे और कभी जमाबंदीकी बातें तो कभी हिसाब-किताबकी बातें, जो पटवारी किया करते हैं, दिखलायी पड़ती रहीं। प्रातःकाल जागनेपर मैं उस आश्रमके प्रबन्धकके पास गया और मैंने उनसे पूछा कि आपके इस स्थानपर अबसे पहले कौन आकर रहते थे प्रबन्धकजीने बताया कि 'महाराज ! इस स्थानपर ५-६ दिनोंतक बराबर बहुत-से पटवारी आकर रहे थे और वे यहाँपर जमाबंदीका काम करते रहे थे।' मैं समझ गया कि बस, उन्हीं पटवारियोंके संस्कार इस कमरेमें रह गये थे, जो मुझे रातभर सताते रहे। जहाँ मनकी सूक्ष्मता

थी, वहीं उनका प्रभाव भी प्रकट हुआ । अतः हमारा मन चाहे जिस जगह बैठकर शुद्ध और स्थिर रह सकेगा, यह सोचना गलत है । सोच-समझकर और पवित्र वातावरणवाले स्थानमें रहकर भजन-पूजन करनेसे ही मन लगेगा और लाभ हो सकेगा । जहाँ मांसाहारी रहते हों, जहाँ मांस-मछली, अंडे-मुर्गे खाये जाते हों और जहाँ गो-भक्षक लोग रहते हों तथा जहाँ अश्लील-गंदे गाने गाये जाते हों, व्यभिचार होता हो, वहाँ भला मन शुद्ध कैसे रह सकता है और कैसे भजन बन सकता है ।

(३) परलोक, स्वर्ग, नरक, यमराज आदि सत्य हैं, गप नहीं ।

जो यह कहते हैं कि बस, यहींपर सब कुछ है, परलोक आदि कुछ नहीं है, न श्रीयमराज हैं, न यमदूत हैं और न स्वर्ग-नरक आदि हैं, वे वस्तुतः बड़े भ्रममें हैं । शास्त्रोंमें, पुराणोंमें जो परलोक, स्वर्ग, नरक, यमराज, यमदूत आदिकी बातें आती हैं, वे सब अक्षर-अक्षर सत्य हैं । मेरी एक आँखों देखी सत्य घटना इस प्रकार है—सन् १९४६ की बात है, हमारे पूज्य पिताजी, जिनका शुभ नाम श्रीरक्खामलजी है, उस समय श्रीननकानासाहबमें रहते थे । वहीं हमारा घर था । हम सब नित्यकी भाँति रात्रिमें सोये हुए थे और हमारे पूज्य पिताजी भी अपने पलंगपर सोये थे । पिताजी नित्य प्रातःकाल उठा करते थे, पर दूसरे दिन वे प्रातःकाल नहीं उठे । हमें बड़ी चिन्ता हुई । हमने जाकर देखा कि पिताजी पलंगपर पड़े हैं । हमने जोर-जोरसे आवाज दी, तो भी वे बोले नहीं । हमने देखा उनका शरीर बिल्कुल मुर्दे-जैसा हो रहा था । हम सब बहुत घबराये और उन्हें डाक्टरोंको दिखाया । डाक्टरोंने पिताजीको देखकर कहा कि 'इन्हें बहुत ही ज्यादा कमजोरी है ।' उनका सारा शरीर पसीनेसे भीगा हुआ था और वे एकदम पीले पड़ गये थे । कुछ देर पश्चात् जब पिताजीको होश हुआ, तब पिताजीने बताया कि ५ बजेके लगभग दो यमके दूत मुझे लेने आये थे और उन्होंने मुझसे कहा कि 'तुम हमारे साथ चलो ।' मैं उनके साथमें चला गया । दूर जानेपर मैंने देखा कि एक बहुत बड़ा मैदान है, वहाँ एक मनुष्य बैठा है । उसने दूतोंसे कहा कि 'इसे मत लाओ, हमने तुम्हें इसे लानेको कब कहा था । वह तो दूसरा रक्खामल अग्रवाल है, जो इनके पड़ोसमें ही रहता है; उसे लाओ और इसे तुरंत वापस छोड़ आओ ।' वे झटसे मुझे यहाँपर लाकर छोड़ गये, तबसे मेरे शरीरमें शक्ति नहीं रही ।

हमने यह बात कहाँतक सत्य है—यह जाननेके लिये जब अपने मोहल्लेके रक्खामल अग्रवालका पता लगाया, तब ज्ञात हुआ कि रक्खामल अग्रवाल रातको बिल्कुल ही अच्छे थे और अच्छी तरह खा-पीकर सोये थे । उनका ठीक ५½ बजे प्रातःकाल देहान्त हो गया । इस आँखों देखी और अपने घरमें घटी सत्य घटनासे यह सिद्ध होता है कि यमराज, यमके दूत, स्वर्ग, नरक आदि बिल्कुल सत्य हैं । हमें अपने जीवनमें ऐसा कोई भी पापकर्म नहीं करना चाहिये, जिससे हमें श्रीयमराजके यहाँ जाकर अपने पाप-कर्मोंके फलस्वरूप नरककी घोर यातनाएँ भोगनी पड़ें और यमदूतोंकी मार सहनी पड़े । किसीके यह कह देनेसे कि स्वर्ग-नरकका कोई भय नहीं है, चाहे सो पाप करो, काम नहीं चलेगा और अन्तमें हाथ मल-मलकर पछताना तथा रोना होगा । इसलिये हमें अपने परलोकको कभी भी नहीं बिगाड़ना चाहिये और सदा-सर्वदा पापोंसे बचते रहना चाहिये । इसीमें हमारा सच्चा हित है ।

(४) श्रीभगवत्-चरणामृत सब व्याधियोंका विनाश करता है ।

भगवच्चरणामृतके प्रभावकी यह एक सत्य घटना है । मैं १५ जुलाई सन् १९५२ को टाईफाइड ज्वरसे पीड़ित हो गया । रोग-निवारणके लिये उस समय जो भी सम्भव उपाय थे, सब किये गये; पर रोग-निवारण नहीं हुआ । बड़े-बड़े अंग्रेजी डाक्टरोंको दिखाया गया और उनके बताये अनुसार औषधियोंका सेवन किया गया और खूब रुपया-पैसा भी लुटाया गया । पर लाभ बिल्कुल नहीं हुआ । उल्टे रोग बढ़ता ही गया । अन्तमें १८ सितम्बरको सभी बड़े-बड़े डाक्टरोंने कह दिया कि 'अब हमारे बसकी बात नहीं है । हमें जो इलाज करना था, सब कर चुके । अब इनके बचनेकी और आराम होनेकी कोई आशा नहीं है । इसलिये इलाज कराना व्यर्थ है ।' यों जब सभी बड़े-बड़े डाक्टरोंने जवाब दे दिया और मेरे बचनेकी बिल्कुल ही आशा नहीं रही, तब मैंने—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

—इस आधारपर श्रीभगवत्-चरणामृतका सहारा लेना

ही उचित समझा। मैंने समस्त देशी और अंग्रेजी औषधों-को त्यागकर श्रीभगवत्-चरणामृतका पान करना प्रारम्भ कर दिया। नित्य आदमी श्रीभगवत्-मन्दिरमें भेजकर श्रीभगवत्-चरणामृत मँगाकर पीने लगा। श्रीभगवत्-चरणामृतको पहले दिन पीते ही मैंने उसमें ऐसा अद्भुत चमत्कार पाया कि मैं चकित हो गया। उसी दिनसे बुखार कम होना शुरू हो गया और एक सप्ताहके भीतर ही मेरा ज्वर बिल्कुल ही जाता रहा। यह श्रीभगवत्-चरणामृतका अद्भुत दिव्य चमत्कार देख सभी प्रेमी तथा मिलनेवाले आश्चर्य-चकित हो गये। मैंने तो इसी दृष्टिसे श्रीभगवत्-चरणामृत पीना प्रारम्भ किया था कि या तो अब मुझे इस श्रीभगवत्-चरणामृतसे आराम हो जायगा अथवा यदि आराम नहीं होगा तो कम-से-कम मेरी अधोगति तो अब कदापि नहीं होगी। इस श्रीभगवत्-चरणामृतमें बड़ी ही अद्भुत दिव्य शक्ति विद्यमान है। शास्त्रोंमें हमारे ऋषि-महर्षियोंने जो वर्णन किया है, वह बिल्कुल ही सत्य है। यदि वास्तवमें मनुष्यको चरणामृतमें श्रद्धा और विश्वास हो तो चरणामृतके प्रति-दिनके पानसे मनुष्यको दीर्घ आयु और स्वस्थ जीवन तथा सद्गति—तीनों ही प्राप्त हो सकती हैं।

इस प्रकार मेरे आराम होनेकी बात सुनकर डाक्टरोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे दौड़े-दौड़े मेरे पास आये और पूछने लगे कि 'महाराज! हमने तो आपके जीवनकी बिल्कुल ही आशा छोड़ दी थी, अब आपको कैसे आराम हो गया और आपने क्या औषध ली सो बताइये।' मैंने जब श्रीभगवत्-मन्दिरके चरणामृतका पान करनेकी बात सुनायी, तब वे दंग रह गये और दाँतों-तले अँगुली दबाने लगे। वे बोले 'महाराज! हमने जो आपको टाईफाइड बताया था, वह वास्तवमें टाईफाइड नहीं था; वह तो ऐसा भयानक ज्वर था कि उसमें कोई भी रोगी आजतक बचा ही नहीं। आपके इस श्रीभगवत्-मन्दिरके चरणामृतके अद्भुत चमत्कारने तो बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंको चुनौती दी है!

यह है श्रीभगवत्-चरणामृतका अद्भुत चमत्कार, जिसने मेरे प्राणोंको बचाया और जिसने मुझे बिल्कुल ही नीरोग बना दिया। हमारे पूज्य प्रातःस्मरणीय ऋषि-महर्षियोंने शास्त्रोंमें रत्न भर दिये हैं, जिनकी आज हम कदर नहीं करते—यह हमारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है। भाइयो! अब भी चेतो! और अपने सनातनधर्मका, वेद-शास्त्रोंका, पुराणोंका, अपने ऋषि-महर्षियोंका, गो-ब्राह्मणोंका मान-सम्मान और उनपर श्रद्धा करना सीखो; इसीमें सच्चा कल्याण है। बोलो सनातनधर्मकी जय!

प्रार्थना

(राग आसावरी)

करौ प्रभु! ऐसी कृपा महान।
छाँडि कपट-छल भजौं निरंतर सरल हृदै तजि मान॥
सत्य, बिरति, बिज्ञान, चरन-रति देहु दया करि दान।
जीवन अर्पित हो यथार्थ ही, मिटै मोह-अज्ञान॥
ममता रहै सदा प्रभु-पद महँ, रहै दास-अभिमान।
निज-पर, लाभ-हानि, सब महँ रह चितकी बृत्ति समान॥
सब महँ लखौं निरंतर तुम को, करौं सदा सम्मान।
जीव मात्र को करौं न कबहूँ अहित और अपमान॥
राग-द्वेष-रहित इंद्रिय-मन सेवा करैं अमान।
परम 'अकिंचन' सदा रहौं मैं तुमहि परम धन जान॥

(अकिञ्चन)

जहाँ प्रेम है, वहीं ईश्वर है

[टालस्टायकी एक कहानी]

(अनुवादक—श्रीजयन्तीप्रसादजी)

किसी नगरमें मार्टिन नामका एक मोची रहता था। उसकी कोठरीकी एक खिड़की सड़ककी ओर खुलती थी। पर उसमेंसे सड़कपर चलनेवालोंके केवल जूते ही देखे जा सकते थे। मार्टिन भी जूतोंसे ही लोगोंको पहचान लेता था। उसके पास-पड़ोसमें शायद ही कोई जूता होगा, जो किसी-न-किसी उपचारके लिये उसके हाथोंमेंसे न गुजरा हो। किसीकी सिलाई की थी तो किसीका तलवा लगाया था। कामकी उसके पास कमी नहीं थी; क्योंकि वह अच्छी मरम्मत करता था और सामान भी अच्छा लगाता था। वह दाम भी कम लेता था, झूठे वादे भी वह नहीं करता था।

वैसे तो मार्टिन सारे जीवन ही भला व्यक्ति रहा था; किंतु अपनी वृद्धावस्थामें उसने आत्मा और ईश्वरके बारेमें अधिक चिन्तन किया था। अपना निजी काम शुरू करनेसे पहले जब वह एक जगह नौकर था, तभी उसकी पत्नी चल बसी थी। तब मार्टिनका पुत्र केवल तीन वर्षका था। पहले तो मार्टिनने उसे अपनी बहिनके पास, जो गाँवमें रहती थी, भेजनेका निश्चय किया; किंतु फिर उसे अपनेसे अलग करते हुए उसे दुःख हुआ।

मार्टिनने नौकरी छोड़ दी और अपने नन्हे पुत्रके साथ इस कोठरीमें जाकर रहने लगा; परंतु उसके भाग्यमें संतानका सुख नहीं बदा था। उस आयुपर पहुँचकर जब वह अपने पिताकी कुछ सहायता करता, उसका बच्चा बीमार पड़ा और एक सप्ताहके तेज ज्वरके बाद चल बसा। मार्टिनने दुःखसे विकल होकर ईश्वरको खूब कोसा। तीव्र वेदनाके वश उसने कई बार चाहा कि मृत्यु उसे भी इसी प्रकार उठा ले। अपने प्रिय पुत्रके छीने जानेपर वह ईश्वरकी निन्दा करने लगा, उसने मन्दिर जाना भी छोड़ दिया।

एक दिन मार्टिनके गाँवका एक बूढ़ा धर्माचार्य तीर्थ-यात्रासे लौटते हुए उसके पास ठहरा। मार्टिनने अपना दुःख उससे कहा, 'मैं अब जीना नहीं चाहता। मैं तो ईश्वरसे यही चाहता हूँ कि मुझे मौत आ जाय, मेरे लिये अब संसारमें क्या रक्खा है !'

धर्माचार्यने कहा—'मार्टिन ! तुम्हें इस तरह कहनेका कोई अधिकार नहीं है, हम ईश्वरके न्यायको तौल नहीं सकते। हमारे लिये तर्क नहीं, वरं ईश्वरकी इच्छा श्रेष्ठ है। यदि तुम्हारे पुत्रकी मृत्युके पीछे ईश्वरकी इच्छा थी और यदि ईश्वर चाहता है कि तुम जिंदा रहो तो इसमें भलाई ही है। तुम्हारी निराशाका भेद तो यह है कि तुम केवल अपनी खुशीके लिये जीना चाहते हो।'

'मनुष्यको और किस हेतु जीना चाहिये ?' मार्टिनने पूछा।

'ईश्वरके लिये, मार्टिन !' धर्माचार्यने उत्तर दिया, 'तुम्हें उसके लिये जीना चाहिये। जब तुम उसके लिये जीना सीख जाओगे, तब तुम्हें जरा भी दुःख नहीं होगा और तुम्हारा मार्ग अत्यन्त सुगम हो जायगा !'

मार्टिन कुछ क्षण चुप रहा, फिर उसने पूछा—'पर कोई ईश्वरके लिये कैसे जी सकता है ?'

वृद्ध धर्माचार्यने उत्तर दिया—'ईश्वरके लिये जीनेका मार्ग प्रभु हमें दिखा गये हैं। यदि तुम पढ़ सकते हो तो उनके उपदेश पढ़ो, उनसे तुम्हारा पथ-प्रदर्शन होगा !'

ये शब्द मार्टिनके हृदयमें घर कर गये, उसी दिन उसने एक धर्मग्रन्थ खरीद लिया और उसका अध्ययन आरम्भ कर दिया।

पहले-पहले तो उसने केवल अवकाशके दिनोंमें उसे पढ़नेका निश्चय किया; किंतु एक बार पाठ करनेके उपरान्त जब उसे अपना मन हल्का हुआ जान पड़ा, तब वह प्रतिदिन उसे पढ़ने लगा। कभी-कभी तो वह उसके अध्ययनमें इतना लीन हो जाता कि उसे पढ़ते-पढ़ते लैम्पका तेल भी खतम हो जाता। ज्यों-ज्यों वह और पढ़ता गया, उसके मस्तिष्कमें ईश्वरका स्वरूप स्पष्ट होता गया। धीरे-धीरे वह अनुभव करने लगा कि ईश्वर उससे क्या चाहता है और उसे ईश्वरके लिये कैसे जीना चाहिये। पहले वह सोनेसे पहले अपने भारी हृदयसे अपने पुत्र कैपिटौनकी यादमें कराहा करता था; किंतु अब उसके मुखसे यह शब्द निकलते—'तुम्हीं सर्वशक्तिमान् हो, ईश्वर ! तुम्हीं तेजोमय हो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी !'

इसके बाद मार्टिनका जीवन ही बदल गया। पहले वह अवकाशके क्षणोंमें चाय पीने किसी होटलमें चला जाया

करता था और वहाँ कभी-कभी शराब भी पी लेता था। पर अब उसके जीवनमें ऐसी बातोंके लिये स्थान नहीं रहा था। उसका जीवन शान्ति और प्रसन्नतासे भर गया। वह प्रातः ही अपने काममें जुट जाता और जब वह समाप्त हो जाता, तब लैम्प जलाकर पढ़ने बैठ जाता। जितना ही अधिक वह पढ़ता गया, उतना ही अधिक स्पष्ट उसका अर्थ उसके मस्तिष्कमें पैठता गया और वह अधिकाधिक आत्मानुभूति प्राप्त करने लगा।

एक बार पढ़ते-पढ़ते मार्टिन पुस्तकके छठे अध्यायके निम्न पद्यपर रुक गया—

'जो तुम्हारे एक कपोलपर चपत लगाये, दूसरा भी उसके आगे कर दो; और उस व्यक्तिको जिसने तुम्हारा लबादा लिया है, उसे अपना कोट भी दे दो; और जिसने तुम्हारी कोई वस्तु ली है, उससे वापस मत माँगो; और जैसा व्यवहार तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें, वैसा ही तुम उनके साथ करो।'

उसने वह पद्य भी पढ़ा, जिसमें प्रभुने कहा है— "तुम मुझे 'प्रभु-प्रभु' कहकर क्यों पुकारते हो ? मेरे उपदेशोंका तो तुम अनुसरण नहीं करते। जो कोई मेरे पास आता है, मेरे वचन सुनता है और वचनोंपर अमल करता है, वह उस व्यक्तिके समान है, जिसने नींव गहरी खोदी और आधार-शिला चट्टानपर रखकर मकान बनाया और जब तूफान और बाढ़ आये और जब प्रचण्ड हवाएँ उसकी दीवारोंसे टकरायीं, तब वह उसे हिला न सकीं—क्योंकि वह चट्टानपर बनाया गया था; और वह जिसने मेरे वचन तो सुने, उनपर अमल नहीं किया, उस मनुष्यकी भाँति है, जिसने अपना घर बिना नींव खोदे बनाया, जिससे बाढ़ उसके साथ टकरायी और वह तुरंत ढह गया। उसकी बर्बादी भी भयानक थी!"

ये शब्द पढ़कर मार्टिनकी आत्मा प्रसन्न हो उठी। उसने आँखोंसे चश्मा उतार पुस्तकपर रख दिया और अपनी कुहनियाँ मेज़पर टेककर जो कुछ उसने पढ़ा था, उसका वह मनन करने लगा। अपने जीवनको इन वचनोंकी कसौटी-पर कसते हुए उसने अपने आपसे प्रश्न किया—'मेरा घर चट्टानपर खड़ा है या रेतपर ? मैं तो पापी हूँ ! हे प्रभु ! मुझे शक्ति दे।'

उसे नींद आ रही थी; पर पुस्तक छोड़ना उसे कठिन लगा, इसलिये वह सातवाँ अध्याय पढ़ने लगा। चौवालीसवें पदपर उसने पढ़ा—"वे उस स्त्रीकी ओर मुड़े और उन्होंने साइमनसे कहा—'देखो इस औरतकी तरफ, मैं तुम्हारे घर गया तो तुमने मेरे पैरोंको धोनेके लिये जल भी न दिया; किंतु इसने अपने आँसुओंसे मेरे पैर धोये और उन्हें अपने सिरके बालोंसे पोंछा। तुमने मुझे एक भी आदरवाक्य नहीं कहा; किंतु इस औरतने जबसे मैं आया हूँ निरन्तर मेरे पैरोंको मरहमसे स्निग्ध किया है।"

मार्टिन फिर मनन करने लगा।

'साइमन मेरे-जैसा ही होगा, मेरी ही तरह वह भी केवल अपने बारेमें ही सोचता होगा—अपने लिये चाय, आराम और ऐश। उसने अपने अतिथिका आदर नहीं किया, अपने अतिथिकी उसने चिन्ता नहीं की और वह अतिथि भी कौन था ? स्वयं प्रभु ही तो ! क्या मैं ऐसा व्यवहार कर सकूँगा ?'

सोचते-सोचते मार्टिन किताबपर ही सिर रखकर सो गया।

'मार्टिन !' उसके कानमें एक धीमा-सा शब्द हुआ।

सोये-सोये ही उसने पूछा—'कौन है ?'

'मार्टिन, मार्टिन ! कल सड़कपर देखना, मैं आऊँगा।'

मार्टिन नहीं समझ सका कि ये शब्द उसने स्वप्नमें सुने थे या जागरणमें। उसने लैम्प बुझा दिया और वह फिर सो गया।

अगले दिन वह सूर्योदयसे पहले ही जाग गया। प्रार्थना करनेके बाद उसने आग जलायी और बंद गोभीका शोरबा और दलिया तैयार किया। फिर लैम्प जलाकर और लबादा पहनकर खिड़कीके पास काम करने बैठ गया। वह रातकी घटनाके बारेमें सोचता रहा; कभी उसे वह स्वप्न प्रतीत होता और कभी उसे लगता कि जागरणमें ही उसने वे शब्द सुने थे। काममें उसका मन नहीं लग रहा था, वह बार-बार खिड़कीसे बाहर झाँककर देखता और जब कोई अपरिचित जूते देखता तो झुककर उसके स्वामीका चेहरा देखनेका प्रयास करता। एक चौकीदार नमदेके बूट पहने गुजरा। उसके बाद एक सिक्का, फिर पुराने राज्यका एक बूढ़ा सिपाही खिड़कीके पास आकर रुका। उसके हाथमें फावड़ा था, मार्टिनने उसे उसके बूटोंसे पहचान लिया, जिसके दाँत निकले हुए थे। इस व्यक्तिका नाम स्टैपैनिच था। मार्टिनके पड़ोसी एक व्यापारीने दया करके उसे नौकर रख लिया था। स्टैपैनिच मार्टिनके द्वारके सामनेसे बर्फ हटाने लगा। मार्टिनने उसे कुछ देर देखा और पुनः अपने काममें लग गया।

'मैं भी अजीब सनकी बनता जा रहा हूँ ।' मार्टिनने अपनी कल्पनापर हँसते हुए कहा। 'स्टैपैनिच तो बर्फ साफ करनेके लिये रोज ही आता है, मैं समझ रहा हूँ कि प्रभु मेरे पास आये हैं। मैं भी निरा मूर्ख हूँ।' फिर भी एक जूतेकी सिलाई करनेके बाद वह खिड़कीसे बाहर झाँकनेसे अपने आपको रोक नहीं सका। उसने देखा स्टैपैनिच दीवारसे लगकर ठंडसे बचनेका प्रयत्न कर रहा है; वह बूढ़ा और अस्वस्थ, बर्फ हटानेकी शक्ति उसमें नहीं थी।

'यदि मैं उसे बुलाकर थोड़ी चाय पिला दूँ तो कैसा रहे ?' मार्टिनके मनमें आया। 'केतलीका पानी बस उबलने-ही वाला है।' टेउका उचित स्थानपर रख वह उठा और चाय बनानेमें लग गया। अब उसने स्टैपैनिचको बुलाया—

'अंदर आ जाओ।' मार्टिनने कहा, 'और अपने आपको गरम कर लो, जरूर तुम्हें ठंड लग रही है।'

'ईश्वर तुम्हारा भला करे !' स्टैपैनिचने कहा। 'सच कहता हूँ कि दर्दके मारे हड्डियाँ जकड़ गयी हैं।' वह अंदर आया। पहले उसने अपने जूतेपर लगी बर्फको झाड़ा, कहीं फर्श गीला न हो जाय, इसलिये वह अपने गीले पैर पोंछने लगा; किंतु इस उपक्रममें वह लड़खड़ा गया और गिर पड़ा।

'फर्शकी चिन्ता मत करो, मित्र !' मार्टिनने कहा। 'आओ, थोड़ी चाय पियो।'

मार्टिनने एक प्याला उसे दिया और स्वयं तश्तरीमें चाय डाल फूँक मार-मारकर पीने लगा। चाय पीकर स्टैपैनिचने प्याला उल्टा करके रख दिया और चीनीके अतिरिक्त टुकड़े अलग रख दिये। उसने मार्टिनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की; किंतु यह स्पष्ट था कि उसे एक और प्यालेकी इच्छा थी।

'लो, और लो, मेरे मित्र !' मार्टिनने प्याला सीधा रखकर भर दिया। ऐसा करते हुए मार्टिन खिड़कीसे झाँक-झाँककर बाहर देखता रहा।

'शायद तुम किसीकी प्रतीक्षा कर रहे हो।' स्टैपैनिचने पूछा।

'प्रतीक्षा ! ओह ! नहीं, मुझे किसीकी प्रतीक्षा नहीं है; पर रातको मैंने कुछ ऐसी बात सुनी थी, जिसे मैं जल्दी नहीं भुला सकता। मैं नहीं कह सकता कि वह स्वप्न था या सजीव घटना। मैं प्रभुके बारेमें पढ़ रहा था, उन्होंने कैसे-कैसे कष्ट उठाये, कैसे उन्होंने इस धरापर भ्रमण किया, तुमने इस बारेमें जरूर सुना होगा।'

'हाँ, मैंने सुना ही है।' स्टैपैनिचने उत्तर दिया। 'मैं ठहरा गँवार, पढ़ तो सकता नहीं !'

'पढ़ते हुए मैं उस खण्डपर पहुँचा, जहाँ उनके साइमनके यहाँ ठहरनेका वर्णन है। उस यहूदीने उनका समुचित आदर नहीं किया था। मैंने सोचा यदि प्रभु मेरे यहाँ आयें तो क्या मैं वैसा व्यवहार कर सकूँगा ? मैंने सोचा, प्रभुके स्वागतमें मैं क्या नहीं करूँगा ? सोचते-सोचते मुझे झपकी आ गयी। मैं नहीं कह सकता कि कब मेरे कानोंमें वह आवाज पड़ी, जो मुझे पुकार रही थी। मुझे प्रतीत हुआ जैसे कोई मेरे कानमें हौले-हौले कुछ कह रहा है ! 'मेरी प्रतीक्षा करना, मैं कल आऊँगा।' ऐसे दो बार हो चुका है। सच कहता हूँ यह वहम मेरे दिमागमें बैठ गया है, मुझे अपने गुनाहोंपर शर्मिंदा होना चाहिये; पर मैं प्रभुकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ !'

स्टैपैनिचने शान्त मुद्रामें सिर हिला दिया और चाय पीकर प्याला उल्टा रख दिया; किंतु मार्टिनने उसे सीधा किया और फिर चायसे भर दिया।

'एक प्याला और पी लो, ईश्वर तुम्हारा भला करे।' वह बोला—''मैं सोच रहा था कि प्रभुने इस पृथ्वीपर किसीसे घृणा नहीं की और साधारण ग्रामवासियोंके बीच रहते रहे, भोले-भाले लोगोंके वे पास गये और हम-जैसोंको ही अपना शिष्य बनाया, हम जो मजदूर हैं और सदा पापोंमें लिप्त रहते हैं। प्रभुने कहा था, 'अभिमानीका पतन होगा और विनम्रका उद्धार होगा।' प्रभुने कहा था—'तुम मुझे कहते हो; किंतु मैं उसके चरण धोऊँगा, जो सर्वप्रथम तुममेंसे अपने आपको सबकी सेवामें अर्पित कर देगा, जो विनम्र है, निःसहाय है तथा दयालु है, धन्य है।'

स्टैपैनिच चाय पीना भूल गया। वह बूढ़ा था, उसका हृदय पिघल गया। उसके नेत्रोंसे आँसू उमड़ पड़े, वह बैठा रहा और सुनता रहा और अश्रु उसके कपोलोंपर बहते रहे।

'लो, थोड़ी और पियो।' मार्टिनने कहा।

'धन्यवाद, मार्टिन !' स्टैपैनिचने कहा और उसने तीन बार अपनेको क्रॉस किया। 'तुमने मेरे शरीर तथा आत्मा दोनोंको भोजन दिया।'

'तुम आते रहा करो, मुझे अतिथियोंकी सेवा करनेमें आनन्द मिलता है।' मार्टिनने कहा।

स्टैपैनिचके जानेके बाद मार्टिनने शेष चाय अपने प्याले-में उड़ेल ली और पीकर वह पुनः काममें जुट गया। जूता गाँठते वह बाहर सड़ककी ओर देखता रहता, उसकी आँखोंमें प्रतीक्षा भरी हुई थी, उसका मस्तिष्क उसी आवाजसे गूँज रहा था।

एक स्त्री, जो फटे हुए मोजे और गाँवके बने जूते पहने थी, उधर आयी और दीवारके साथ लगकर खड़ी हो गयी। मार्टिनने उसे देखा, वह उस स्थानमें अपरिचित-सी लग रही थी। उसकी बाँहोंमें एक बच्चा था। वह हवाकी ओर पीठ करके उसे ढाँपनेका निष्फल प्रयास कर रही थी। वह नाममात्रको ही वस्त्र पहने थी और वे वस्त्र भी ग्रीष्मऋतुके थे। मार्टिनने बच्चेके रोनेका शब्द सुना। उसकी माँ उसे चुमकार रही थी। परंतु वह उससे चुप नहीं हो रहा था। मार्टिनने द्वारसे बाहर जाकर औरतको बुलाया, 'सुनो! मैंने कहा, सुनो तो।'

वह स्त्री मार्टिनकी ओर मुड़ी।

'इस सर्दीमें तुम बच्चेको लिये वहाँ क्यों खड़ी हो? अंदर आ जाओ, यहाँ कमरा गरम है, यहाँ तुम सर्दीसे उसका बचाव कर सकोगी।'

लबादा पहने और चश्मा चढ़ाये हुए बूढ़े मार्टिनको इस प्रकार पुकारते देख उस स्त्रीको विस्मय हुआ, किंतु वह अंदर चली आयी।

मार्टिनने बिस्तरकी ओर संकेत करते हुए उससे कहा—'बेटी! अँगीठीके पास बैठकर अपने-आपको सेंक लो, बच्चेको दूध पिला दो।'

'मैंने सुबहसे कुछ नहीं खाया, मेरी छातीमें दूध कहाँ?' स्त्रीने कहा। फिर भी उसने बालकका मुख अपने स्तनसे लगा दिया।

मार्टिनने सहानुभूतिसे सिर हिलाया और एक कटोरी अँगीठीपर रखकर बंद गोभीका सूप गरम करने लगा। दलिया अभी तैयार नहीं हुआ था, इसलिये सूप और रोटी ही उसने मेजपर परोस दी।

'लो, तुम खाना खा लो; मैं बच्चेको हिलाता हूँ।' मार्टिनने कहा।

'मेरे भी चार बच्चे थे, मैं बच्चोंकी परवरिश करना जानता हूँ।'

स्त्रीने प्रभुसे प्रार्थना की और वह मेजपर बैठ गयी। मार्टिन बच्चेको बिस्तरपर लिटाकर उसके पास बैठ गया और उससे बातें करने लगा; किंतु बच्चा रोता ही रहा। मार्टिनने उसे बहलानेका बहुत प्रयास किया। अपनी अँगुली वह बच्चेके होठोंतक ले जाता और फिर तेजीसे पीछे हटा लेता, मोमसे काली हुई अँगुली वह उसके मुँहमें नहीं देता था। बच्चा पहले तो एकटक अँगुलीको देखता रहा, फिर किलकारियाँ मारकर हँस पड़ा; मार्टिनको खुशी हुई।

भोजन करते हुए वह स्त्री बता रही थी कि वह कौन है और कहाँसे आयी है। उसने कहा—'मैं एक सिपाहीकी पत्नी हूँ, आठ महीने हुए उसे कहीं दूर भेज दिया गया। मुझे उसका कोई पता नहीं। इस बालकके जन्मनेसे पहले मैं किसी घरमें रसोई बनानेका काम करती थी, किंतु बालकके साथ वे मुझे रखनेको तैयार नहीं हुए। पिछले तीन माससे मैं कामकी तलाश कर रही हूँ, पर कहीं काम नहीं मिला। जो कुछ मेरे पास था, वह सब बेचकर अपना और इस बच्चे-का पेट पाल सकी हूँ। आज एक व्यापारीकी पत्नीने मुझे अपने यहाँ रखनेका वचन दिया है; परंतु मुझे अगले सप्ताहसे पहले आनेको मना किया है। यहाँसे उसका घर बहुत दूर है। मैं थककर चूर हो गयी हूँ, मेरा बच्चा भूखसे व्याकुल है; प्रभुकी कृपा है। मेरा मकान-मालिक मुझपर दया करके मुझसे बिना कुछ लिये कोठरीमें रहने दे रहा है, नहीं तो भगवान् जानें कहाँ भटकती फिरती!'

मार्टिनको उसके प्रति सहानुभूति हुई, उसने कहा—'तुम्हारे पास गरम वस्त्र नहीं है?'

'मेरे पास गरम वस्त्र कैसे हो सकते हैं?' स्त्रीने उत्तर दिया। 'कल ही तो मैंने अपनी अन्तिम वस्तु—अपनी शाल छः पैसेमें गिरवी रख दी थी!' उसने बच्चेको गोदमें डाल लिया।

मार्टिनने दीवारपर टँगा एक लबादा उतारकर कहा—'यह है तो फटा-पुराना ही, पर बच्चेके ढाँपनेके काम तो आ ही सकता है।'

स्त्रीने लबादेकी ओर देखा, फिर मार्टिनकी ओर, उसकी आँखोंसे आँसू आ गये। उसने कहा—'ईश्वर तुम्हारा भला करे, अवश्य ही प्रभुकी प्रेरणासे मैं तुम्हारी खिड़कीपर आ सकी, नहीं तो यह बच्चा ठंडके मारे जम गया था। जरूर प्रभुने तुम्हें खिड़कीसे बाहर झाँकनेके लिये प्रेरणा दी होगी। मुझ अभागिनपर तुमने बहुत दया की है।'

मार्टिनने मुसकराकर कहा—'यह ठीक है ! प्रभु ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं। मेरा बाहर झाँकना कोई संयोग नहीं है।' मार्टिनने अपने स्वप्नके बारेमें उस स्त्रीको बताया।

'सब कुछ सम्भव है!' स्त्रीने कहा और लबादेको कंधोंपर डालकर अपनेको तथा बच्चेको उसमें लपेट लिया। फिर झुककर उसने मार्टिनको धन्यवाद दिया।

'ईश्वर तुम्हें प्रसन्न रखें।' मार्टिनने कहा, 'लो, यह और ले लो, इससे अपनी शाल छुड़ा लेना।' उसने छः पैसे उस स्त्रीके हाथपर रख दिये और वह स्त्री चली गयी।

उसके जानेके बाद मार्टिनने खाना खाया, मेजको साफ किया और फिर काम करने बैठ गया। बीच-बीचमें वह उचक-उचककर बाहर सड़कपर आने-जानेवालोंको देख लेता। परिचित और अपरिचित सभी गुजर रहे थे। पर मार्टिनको किसीमें विशेष रुचि नहीं हुई।

सेववाली एक बूढ़ी औरत उसकी खिड़कीके सामने आकर रुकी। उसके पास एक बड़ी टोकरी थी। पर उसमें अधिक सेव नहीं थे। उसकी पीठपर लकड़ियोंका गट्ठा था, जिसके भारसे उसकी कमर दुख रही थी। उसने गट्ठेको सड़कपर पटक दिया। वह शायद कंधा बदलना चाहती थी। सेवकी टोकरी उसने खंभेके पास रख दी।

इसी बीचमें एक लड़का दौड़ता हुआ आया और चुपकेसे टोकरीमेंसे सेव उठाकर खिसकने लगा, पर बुढ़ियाने आड़े हाथोंसे उसे आस्तीनसे पकड़ लिया। लड़का छुटनेके लिये हाथ-पाँव मारने लगा, पर बुढ़ियाने उसे दोनों हाथोंसे थाम रक्खा था। वह उसके बाल नोचने लगी, लड़का चिल्लाया और बुढ़ियाने उसे डाँटा।

मार्टिनने यह देखा तो काम छोड़कर भागा। रास्तेमें उसे ठोकर लगी, चश्मा उसकी आँखोंसे गिर पड़ा। पर वह उसकी परवा न करते हुए सड़कपर आ गया। बुढ़िया लड़केके बाल नोच रही थी और उसे पुलिसके हवाले करनेकी धमकी दे रही थी। लड़का उसका प्रतिरोध करते हुए कह रहा था—'छोड़ दो मुझे, छोड़ दो, मैंने कहाँ सेव उठाया है ? किसलिये मुझे पीट रही हो ?'

मार्टिनने छुड़ाया, 'जाने दो, दादी, उसे जाने दो ! फिर वह ऐसा नहीं करेगा, ईश्वरके लिये उसे जाने दो।'

'जाने दूँ ? मैं इसे ऐसा मजा चखाऊँगी जो सालभर याद रखे ! बदमाशको अभी पुलिसमें देती हूँ चलकर।'

मार्टिनने नम्रतापूर्वक कहा—'छोड़ो भी दादी, जाने दो न ! ईश्वरके लिये उसे छोड़ दो।'

बुढ़ियाने लड़केको छोड़ा तो वह भागनेको हुआ; पर मार्टिनने उसे पकड़ लिया। 'दादीसे क्षमा माँगो' उसने कहा। 'मैंने तुम्हें सेव उठाते हुए देखा था।'

लड़केने रोकर क्षमा माँग ली।

'शाबाश ! अब तुम यह सेव ले सकते हो।' मार्टिनने कहा और उसे एक सेव दे दिया। फिर बुढ़ियासे कहा—'अभी पैसे देता हूँ।'

'इस तरह बच्चे सिरपर चढ़ते हैं......चालाक, शैतान...' बुढ़ियाने कहा। 'तुम्हें तो कोड़े लगने चाहिये थे ! कुछ दिन तो मार याद रहती।'

'आह, दादी !' मार्टिनने कहा। 'यह हमारा तरीका है, ईश्वरका नहीं; यदि इसे एक सेब चुरानेके बदले कोड़े लगने चाहिये तो बताओ, हमारे घोर पापोंके लिये हमें दण्ड नहीं मिलना चाहिये ?'

बुढ़ियासे उत्तर नहीं बन पड़ा।

मार्टिनने उसे वह दृष्टान्त सुनाया जिसमें एक मालिकने अपने नौकरका सारा ऋण माफ कर दिया था, पर उस नौकरने अपने ऋणीका गला घोंट दिया। बुढ़ियाने मार्टिनकी बात ध्यानसे सुनी और उस लड़केने भी।

'यह सब ठीक है।' बुढ़ियाने सिर हिलाते हुए कहा। 'पर यह बहुत बिगड़ गया है।'

'ईश्वर हमें क्षमा कर देता है। मार्टिनने कहा। 'तुम भी हर-एकको क्षमा कर दो, इस अबोध बालकको तो अवश्य ही ! नहीं तो, हम भी क्षमा पानेयोग्य पात्र नहीं...।'

'यह सब ठीक है, पर यह बहुत बिगड़ चुका है।'

'तो हमें इसे सन्मार्गपर चलना सिखाना चाहिये।' मार्टिनने कहा।

'ठीक ! यही तो मैं भी कहती हूँ।' बुढ़िया बोली। 'मेरे भी सात बच्चे थे; पर अब तो बस, एक लड़की ही रह गयी है।' बुढ़ियाने बताया कि वह कहाँ और कैसे अपनी बेटीके साथ रहती है और उसके कितने धेवते हैं। 'अब तुम्हीं देखो, मुझमें जरा भी शक्ति नहीं रह गयी; पर इन

बच्चोंके लिये मैं कितना परिश्रम करती हूँ। वे बच्चे बड़े भोले हैं। मेरे साथ तो कोई नहीं खेलता, पर नन्हा, ऐसी तो मेरी गोदमेंसे उतरता ही नहीं, कहता रहेगा—नानी, प्यारी नानी, मेरी अच्छी नानी। बुढ़ियाकी आवाज जरा नरम होती गयी। 'हाँ, यह भी आखिर बच्चा ही तो है ईश्वर इसे सुबुद्धि दे।' उसने लड़केकी ओर देखा, फिर वह पीठपर लकड़ीका गट्ठा डालने लगी, पर लड़केने आगे बढ़कर कहा—

'लाओ, दादी, मुझे दे दो, मैं इसे ले चलूँगा। मैं भी इसी मार्गसे जा रहा हूँ।'

बुढ़ियाने आँखोंमें प्यार भरकर लड़केकी ओर देखा और गट्ठा उसकी पीठपर डाल दिया। दोनों साथ-साथ चल पड़े। वह मार्टिनसे सेबके पैसे लेना भी भूल गयी। मार्टिन कुछ देर खड़ा उन दोनोंको देखता रहा।

जब वे आँखोंसे ओझल हो गये, तब मार्टिन अंदर आ गया और औजार उठाकर काम करने लगा। पर काममें मन नहीं लगा। उसी समय उसने लैम्प जलानेवालेको लैम्प जलाते देखा। उसने भी लैम्प जला दिया। अपने औजारोंको समेटा और दूसरा सामान भी ठिकाने लगा दिया।

अब वह पढ़ने बैठा। वह उस अध्यायको पढ़ना चाहता था जो उसने तीन दिन पहले शुरू किया था। पर पुस्तक दूसरे पृष्ठपर खुली। मार्टिनको उस रातका स्वप्न याद आ गया।

तभी उसके कानोंमें ऐसी आवाज हुई मानो कोई उसके पीछे चल रहा है। मार्टिनने मुड़कर देखा। उसे ऐसा आभास हुआ मानो चारों कोनोंमें लोग खड़े हैं; परंतु वह यह नहीं जान सका कि वे कौन हैं। वे उसे दिखायी नहीं दिये। उसके कानोंमें फिर धीमी-धीमी एक आवाज आयी। 'मार्टिन, मार्टिन, मुझे जानते हो?'

'कौन, कौन बोल रहा है?' मार्टिन बड़बड़ाया।

'मार्टिन, आवाज आयी, और एक अँधेरे कोनेसे स्टैपैनिच प्रकट हुआ। वह मुसकराया और एक बादलकी तरह अदृश्य हो गया।

'और यह मैं हूँ मार्टिन,' पुनः एक आवाज सुनायी दी और दूसरे कोनेसे गोदमें बालक उठाये एक स्त्री निकली। वह स्त्री मुसकरायी। बच्चेने किलकारी भरी और वे दोनों भी अदृश्य हो गये।

'हमें पहचानते हो, मार्टिन? 'फिर एक आवाज आयी और अब बुढ़िया तथा हाथमें सेब लिये वह लड़का दोनों सामने आये। दोनों मुसकराये और वे भी अदृश्य हो गये।

मार्टिन पुलकित हो उठा। प्रभुको नमस्कार करते उसका मस्तक झुक गया। उसने चश्मा लगाकर उसी पृष्ठपर पढ़ना शुरू किया। जहाँ पुस्तक खुली थी। पहली पंक्तिमें लिखा था। 'मैं भूखा मर रहा था, तूने मुझे भोजन दिया। मैं प्यासा था, तूने मुझे पानी दिया, मैं अजनबी था, तूने मुझे आश्रय दिया।'

और पृष्ठकी अन्तिम पंक्तिमें लिखा था। 'और यह स्नेह जो तूने मेरे इन बन्धुओंके प्रति दिखाया, वह मेरे प्रति ही है।'

मार्टिन समझ गया कि प्रभु स्वयं ही उसके अतिथि बने थे। उसे संतोष हुआ कि उसने प्रभुका समुचित सम्मान किया।

भगवान्‌की पूजा

बिपद-पड़े असहाय दीनका जो करते मनसे सम्मान।
जो उनकी सेवामें समुदित तन-मन-धनका करते दान॥
उलटे फिर उपकार मानते करते नहीं तनिक अभिमान।
उनकी इस पूजासे उनपर अति प्रसन्न होते भगवान॥

—अकिञ्चन

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[भाग ३०, सं० १०, पृष्ठ १२५९ से आगे]

(५)

'दो बातनको भूल मत, जो चाहै कल्यान ।
'नारायन' इक मौतको दूजे श्री भगवान ॥'

हम तैयार हों, न हों, मौत आयेगी, जरूर आयेगी ।

और वह कब आ खड़ी होगी, इसका भी कोई ठिकाना नहीं ।

तब क्यों न हम हर घड़ी उसका सामना करनेके लिये तैयार रहें ?

× × ×

सोचनेकी बात है कि हम मौतसे डरते क्यों हैं ?

इसीलिये कि हमारे हाथ रक्तरंजित हैं !

हम दूसरोंको सताते हैं ।

दूसरोंका जी दुखाते हैं ।

बेईमानी करते हैं ।

धोखा देते हैं ।

छल-प्रपञ्च करते हैं ।

झूठ बोलते हैं । चोरी करते हैं ।

कभी जबानसे किसीका कलेजा चाक करते हैं, कभी छुरीसे ।

कभी किसीसे अनुचित काम लेते हैं, कभी किसीका शोषण करते हैं ।

कभी किसीकी बहू-बेटी ताकते हैं, कभी किसीपर अन्याय करते हैं ।

कभी किसीकी निन्दा करते हैं, कभी किसीपर ताना मारते हैं ।

अपनी इस नंगी तस्वीरपर जब कभी हमारी नजर पड़ती है तो हम काँप उठते हैं ।

पता नहीं यमराजके दरबारमें इन कुकर्मोंके लिये हमें कैसी यमयातना भुगतनी पड़े ।

× × ×

मौतके डरका एक बड़ा कारण यही है ।

जिसका जीवन पवित्र है, सरल है, निष्कलंक है, वह मौतसे क्यों डरने लगा ?

वह तो कबीरकी तरह साफ कह देगा—

'सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़िके मैली कीन्ही चदरिया ।
'दास कबीर' जतनतें ओढ़ी
ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया ॥'

'ले मालिक ! यह पड़ी है तेरी चादर । मैंने इसमें कोई दाग नहीं लगने दिया ।'

× × ×

कबीरके शब्दोंमें हमको यही भय खाये जा रहा है कि—

'सुन्दरसी सारी मोरी मैकेमें मलिन भई,
का लैके जइबे गवनवाँ हाय राम !
ना मोरे गुन ढंग, ना मोरे जोबना,
ना मोरे एकउ गहनवाँ हाय राम !
घूँघट खोलि पिया जब पुछिहैं,
करिबे तौ कौन बहनवाँ हाय राम ।'

उस समय कौन बहाना करना होगा ?

और यह मौका तो आनेहीवाला है—

'नदिया किनारे बलम मोर रसिया ।'
दीन्ह घुँघट पट टारी ।
थरथराय तन काँपन लागे,
काहू न दीख हमारी ।
आई गवनवाँकी सारी.......... ॥

× × ×

बात है दक्षिण अफ्रीकाकी ।

आँधी, वर्षा और तूफानमें गाँधीजी चले जा रहे थे कैलनबेकके साथ ।

तूफान इतना तेज कि कितने भी जोरकी आवाज न सुन पड़े ।

एक सड़क पार करने जा रहे थे कि इनके बिल्कुल पाससे एक कार गुजरी।

बाल-बाल बच गये दोनों।

और तभी बापू बोले—'कैसी शानदार होती हम लोगोंकी यह मौत ! इन दिनों हम अपने आदर्शोंके अनुकूल जीवन बितानेके लिये जी-जानसे सचेष्ट हैं और ऐसे समय किसीकी मौत आये तो उससे बढ़कर और होगा ही क्या ?'

× × ×

सचमुच, मौत तभी खतरनाक लगती है, भयावनी जान पड़ती है, दुःखद प्रतीत होती है जब हमारा जीवन हमारे पवित्र आदर्शोंके अनुकूल नहीं होता।

जिसका जीवन पवित्र होगा, निर्मल होगा, उसे मौतका डर सतायेगा ही क्यों ? तिनका तो चोरकी ही दाढ़ीमें रहता है।

× × ×

यह नश्वर शरीर छूटनेवाला ही है। सब जानते हैं कि—

'इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहूका नाहिं।
घरकी नारी को कहै तनकी नारी नाहिं ॥'

जिस शरीरके लिये यह सारा तूमतोमाड़ है—

'वह धूलधूसरित हो जायेगा
सोने सा सरीर तेरा।'

तब इस शरीरका मोह क्यों ?

× × ×

फिर इस शरीरके लिये हम दुनियाभरका पाप क्यों बटोरें !

घास-पात, कन्द-मूल खाकर भी जिस शरीरको जीवित रक्खा जा सकता है, उसके लिये इतना अनर्थ करनेकी जरूरत !

× × ×

नश्वर शरीरके लिये इतना मोह करनेकी आवश्यकता ही कौन-सी है ?

पर इसका मतलब यह भी नहीं कि हम शरीरको व्यर्थ ही सुखा डालें, गला डालें, जला डालें।

यह तो प्रभुकी थाती है। इसकी रक्षा, इसकी सार-सम्हाल हमारा परम पुनीत कर्तव्य है।

पर यह सोचकर नहीं कि यह 'हमारा' है।

'हमारा' माना कि ममता बढ़ी, आसक्ति आयी, मोह पनपा।

× × ×

यह देहासक्ति ही तो सारे अनर्थोंकी जड़ है।

इसीके चलते मनुष्य परिवारसे मोह करता है, जातिसे मोह करता है। एकसे राग करता है, दूसरेसे द्वेष।

एकको 'अपना' माना कि दूसरेसे विरोध शुरू।

देह 'अपनी', इसके सगे-सम्बन्धी 'अपने'।

इससे भिन्न सब 'पराये' !

मोहका विस्तार देहासक्तिसे ही होता है।

× × ×

आत्माका आवरण है शरीर।

बादामकी गिरी है आत्मा, छिलका है शरीर।

आमका गूदा है आत्मा, गुठली है शरीर।

शरीर कपड़ा है, छिलका है, गुठली है, ऊपरका आवरण है। वह बदलता रहता है। उसमें विकार आते रहते हैं। व्याधियाँ उसे सताती हैं। रोग उसपर हमला करते हैं। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि उसके स्वाभाविक गुण हैं।

पर आत्मा ठहरा निर्विकार।

उसे न आग जला सकती है, न पानी डुबा सकता है।

आत्मा अमर है, अजर है। उसका कभी नाश नहीं होता और शरीरका नाश होनेवाला ही है। मरणसे, मरणसे उसे कोई बचा नहीं सकता।

× × ×

तब इस शरीरका इतना मोह क्यों ?

ठीक कहा है 'बिस्मिल'ने—

'करता हूँ बयाँ सुनिये बयाने हस्ती,
कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं, शाने हस्ती !
इस साँसकी बुनियाद ही क्या अय 'बिस्मिल'
कंधे पै हवाके है मकाने हस्ती !!'

और हम हैं कि बालूकी इस भीतको संगमरमरकी चट्टान मान बैठे हैं !

× × ×

हम ऊपर-ऊपरसे न जाने कितनी बार कहते हैं—

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या !'

पर भीतर-भीतर हम मानते हैं इसका ठीक उल्टा; अर्थात् 'जगत् सत्यं ब्रह्म मिथ्या !'

× × ×

सोचनेकी बात है कि सत्य क्या है ?

स्पष्ट है कि—

सत्य वह, जिसका कभी नाश न हो।

असत्य वह, जो आज है, कल नहीं।

आत्मा सत्य है। उसका कभी नाश नहीं होता।

शरीर असत्य है। आज है, कल नहीं। आज जैसा है, कल वैसा नहीं। आज स्वस्थ है, कल अस्वस्थ। आज हट्टा-कट्टा है, कल रोगी और बीमार। आज बालक है, कल जवान। आज प्रौढ़ है, कल बूढ़ा। उसमें रोज परिवर्तन होता है। उसकी हालत पल-पल बदलती रहती है। तब उसे सत्य माना ही कैसे जा सकता है ?

× × ×

गीता कहती है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'

मोह कब होता है ?

जब ज्ञानपर अज्ञानका पर्दा पड़ जाता है।

और ज्ञान क्या है ?

जो अज्ञान नहीं, वह ज्ञान।

सत्यको सत्य जानना ज्ञान।

पर अज्ञान क्या है ?

असत्यको सत्य जानना अज्ञान।

जो जैसा है, जो है, वही दिखे तो ज्ञान।

जो जैसा है, जो है, वैसा न दिखे तो अज्ञान।

× × ×

रस्सी, रस्सी दिखे तो ज्ञान।

रस्सी सर्प दिखे तो अज्ञान।

यथार्थ स्वरूप दिखे तो ज्ञान।

अयथार्थ स्वरूप दिखे तो अज्ञान।

× × ×

अज्ञानके भेद अनन्त हैं।

उसकी श्रेणियाँ अनेक हैं।

जो 'मैं' है, उसे 'मैं' न मानना अज्ञान।

जो 'मैं' नहीं है, उसे 'मैं' मानना अज्ञान।

जो अपना स्वरूप है, उसे अपना स्वरूप न मानना अज्ञान।

जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वरूप मानना अज्ञान।

× × ×

जो स्वभावतः पवित्र है, उसे अपवित्र मानना अज्ञान।

जो स्वभावतः अपवित्र है, उसे पवित्र मानना अज्ञान।

जो अजन्मा है, उसे मरणशील मानना अज्ञान।

जो मरणशील है, उसे अजर-अमर मानना अज्ञान।

जो सदा आनन्दरूप है, उसे दुःखशोकमय मानना अज्ञान।

जो सदा दुःखरूप है, उसे आनन्दरूप मानना अज्ञान।

× × ×

शरीर 'मैं' नहीं है।

'मेरा शरीर' कहनेवाला शरीरसे भिन्न है ही।

शरीर स्वभावतः अपवित्र ठहरा।

चाहे जितना धोओ, मनों ही नहीं, टनों साबुन रगड़ डालो, उसकी अपवित्रता मिटनेवाली नहीं।

शरीर पैदा होनेवाला है, मरनेवाला है, निरन्तर क्षयशील है।

शरीर सदा दुःखरूप है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिसे कभी भी उसका छुटकारा नहीं।

× × ×

और आत्मा ?

आत्मा ठहरा स्वभावतः पवित्र।

आत्मा ठहरा अजर-अमर।

आत्मा ठहरा सदा आनन्द-स्वरूप।

आत्मा ठहरा सदा निर्विकार।

आत्मा ठहरा—सत्, चित्, आनन्द।

और 'सोऽहम्'।

वही मैं हूँ।

वही है मेरा यथार्थ स्वरूप ।
इस मूल तत्त्वको जानना है ज्ञान ।
इसके विपरीत जो है सो सब अज्ञान ।

× × ×

और जो आत्मा एक शरीरमें है, वही दूसरेमें । जो पण्डितमें, वही चाण्डालमें; जो छोटेमें, वही बड़ेमें; जो पशुमें, वही पक्षीमें । प्राणिमात्रमें, घट-घटमें वही आत्मा प्रकाशित हो रहा है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९)

ये नाम-रूपके भेद अस्थायी हैं । भीतर तो सर्वत्र एक ही आत्मा लहरा रहा है ।

समुद्रमें नाना तरंगें उठती हैं, थोड़ी देर अठखेलियाँ करती हैं, फिर उसीमें विलीन हो जाती हैं । जो वस्तु जहाँसे उठी, वहीं समा गयी ।

अब इस उठनेमें क्या खुशी ? इस मिटनेमें क्या गम ! इसके लिये क्या बाजा बजाना और क्या खोपड़ी पीटना !

× × ×

नश्वर शरीर टिकनेवाला नहीं ।

इस नश्वर शरीरके भीतर रमनेवाला अनश्वर आत्मा कभी मरता नहीं ।

× × ×

और परिवार !

उसका भी मोह कबतक !

'पलभर पहले जो कहता था, यह तन मेरा यह घर मेरा ।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥'

जबतक हमसे परिवारका स्वार्थ सधता है, तभीतक तो उससे हमारा सम्बन्ध है । स्वार्थ टूटा, शरीर छूटा कि सब खतम । फिर तो—

'माता कहे यह पुत्र हमारा बहिन कहे बिर मेरा ।
भाई कहे यह भुजा हमारी नारि कहे नर मेरा ॥
माथा पकरिके माता रोवै भुजा पकरिके भाई ।
लपटि झपटिके तिरिया रोवै हंस अकेला जाई ॥'

× × ×

मरनेपर तो परिवारका सम्बन्ध छूटता ही है, जीते-जी भी ऐसे मौके आ जाते हैं । स्वार्थ न सधनेपर 'अपने' 'अपने' नहीं रह जाते । निखट्टू पतिको बीबी जूते मारकर निकाल देती है । भाई ठोकर लगाकर चल देता है । बेटा घृणासे मुँह बिचकाकर अपना रास्ता पकड़ता है और बूढ़े अपाहिज माता-पिताकी नाकद्री तो घर-घर देखी जा सकती है । जिन बाल-बच्चोंके लिये असंख्य कष्ट भोगे, वे ही लड़के-बाले, वे ही नाती-पोते पास नहीं फटकते, बात नहीं पूछते, सेवा करना तो दरकिनार !

फिर भी हम हैं जो परिवारके मोहमें बावले बने घूमा करते हैं ।

× × ×

इस जगत्‌में कुछ भी तो टिकनेवाला नहीं ।
न रहेगा शरीर ।
न रहेगा परिवार ।
न रहेगा नाम ।
न रहेगा धन ।
न रहेगी सम्पत्ति ।
न रहेगा मान-सम्मान ।
न रहेगा पद-गौरव ।
न रहेगी शान-शौकत ।
न रहेगा जगत् ।
न रहेंगे जगत्‌के प्राणि-पदार्थ ।
तब किसका मोह ? किसका शोक ?
श्रीशंकराचार्यने तभी तो कहा है—

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं
हरति निमेषात् कालः सर्वम् ॥

'झोंका जो कभी मौतका आया 'बिस्मिल'
गुल हो गया दम भरमें चरागे हस्ती ।'

× × ×

कालचक्र पलभरमें सब कुछ साफ कर देता है ।

आग लगती है और देखते-देखते उसकी लपटोंमें सर्वस्व स्वाहा हो जाता है ।

बाढ़ आती है और सबपर पानी फेर देती है ।

भूकम्प आता है और सब कुछ धूलमें लोटने लगता है।

बुढ़ापा आता है और आदमी कलेजा मसोसकर कह उठता है—

'मये रंगीं था सादा पानी भी,
हाय क्या चीज थी जवानी भी !'

रोग आता है और हट्टे-कट्टे शरीरको खोखला बनाकर चल देता है ।

परिस्थितियाँ बिगड़ती हैं और लक्ष्मी महारानी रूठकर चल देती हैं दूसरेके घर ।

'पुरुष पुरातनकी वधू क्यों न चञ्चला होय !'

उन्हें सवारी करनेको दूसरा 'उल्लू' मिल जाता है ।

हम कलेजा पीटकर रह जाते हैं—हाय, 'हाय ! मेरा लाखका घर खाक हो गया !'

× × ×

और नाम ?

कितना थोथा है नामका मोह !

लोग कहते हैं—'नाम काल नहिं खाय !'

पर कितना भ्रामक है ऐसा सोचना !

कितने लोग आपका नाम जानते हैं ?

कितने दिन टिकते हैं, वे अखबार जिनमें आपका नाम छपता है !

कितने दिन चलती हैं वे किताबें, जिनमें आपका नाम छपा रहता है ?

कितने दिन टिकते हैं वे मन्दिर और मठ, कुंड और तालाब, विद्यालय और धर्मशाला, शिलालेख और स्मारक, जिनपर आपके नामका पत्थर लगा रहता है ?

कितने दिन चलता है वह फिल्म, जिसके पर्देपर आपका नाम लिखा रहता है ?

× × ×

और मान लीजिये—मरनेके बाद भी कुछ दिन तक आपका नाम चला तो इससे आपको क्या लाभ ? मरकर आप उसे देखने आते हैं ? जीते-जागते आपने बड़ा नाम कर लिया । सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों लोगोंने आपको जान ही लिया तो उससे क्या हो गया ? आपसे भी प्रतापी, आपसे भी नामवर लोग क्या इस संसारमें नहीं हो गये ! कौन जानता है आज उन्हें ?

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बलीते ।
'हम' 'हम' करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते ॥

आखिर तो जाना खाली ही हाथ है—

'सिकंदर जब चला दुनियासे दोनों हाथ खाली थे !'

और तभी तो एक भावुक हृदयकी पुकार है—

'नश्वर स्वरसे कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत !'

× × ×

बल हो शक्ति हो, रुपया हो पैसा हो, जर हो जमीन हो, स्त्री हो पुत्र हो, भाई हो बन्धु हो, मित्र हो सगा-सम्बन्धी हो, नाम हो यश हो, पद हो प्रतिष्ठा हो,—कुछ भी हो, इसमेंसे टिकनेवाला कुछ नहीं । जगत्के प्राणि-पदार्थोंमें, जगत्की वस्तुओंमें शाश्वत कुछ है ही नहीं। यह तो रेलवेका मुसाफिरखाना है । मौतकी ट्रेन आयी कि सारा खेल खतम !

यह सब बादलकी छाया है । मृगतृष्णाका जल है। नदी-नाव-संयोग है ।

'अबके बिछुरे कब मिलेंगे?'—कौन जाने ।

× × ×

दुनियाका यह तमाशा पल भरका है ।

इसमें सत्य है केवल—ईश्वर ।

टिकनेवाला है केवल—ब्रह्म ।

और तभी तो कहा गया है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या !'

× × ×

आप कहेंगे कि यह माना कि—

(१) जगत् नश्वर है ।

(२) जगत्के प्राणि-पदार्थ नश्वर हैं ।

(३) शरीर और है, आत्मा और ।

पर हम करें क्या ? मोहसे हम छुटकारा पायें कैसे ?

× × ×

उपाय उसका भी है ।

वह क्या ?

तुलसीबाबाके शब्दोंमें वह है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ॥
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किए जोग जप ग्यान बिरागा ॥

× × ×

मोह-निवारणके लिये सत्संग करना चाहिये ।

संतोंका, सज्जनोंका, सद्ग्रन्थोंका संग करना चाहिये ।

चिन्तन और मनन करना चाहिये ।

जगत्की नश्वरता, आत्माकी अमरताके तथ्यपर इतना मनन करना चाहिये कि ये तथ्य हमारे हृदयमें पक्के तौरपर बैठ जायँ ।

पर, एक-दो दिनमें ऐसा होनेवाला है नहीं ।

तब बहुकाल करिय सतसंगा । तब यह होइ मोह भ्रम भंगा ॥

× × ×

यह तो हुआ विचार ।

अब आचार क्या हो ?

विचार और आचार—दोनों मिलकर ही जीवनशास्त्र बनता है !

आचारसे ही जीवनशास्त्रमें पूर्णता आती है ।

× × ×

मोह-निरसनके लिये हमारे आचारमें होनी चाहिये—अनासक्ति, निष्कामता और स्थितप्रज्ञता ।

जगत्के किसी भी पदार्थमें हम आसक्त न हों ।

जगत्के किसी प्राणीमें हम आसक्त न हों ।

अपने कर्तव्यका हम निष्काम भावसे पालन करते रहें ।

और फिर—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

अथवा—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ॥

प्रभु जो दे दें, उसीमें हम खुश रहें ।

× × ×

मालिककी ही तो सारी सृष्टि है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।

मालिक जो दे दे हमें स्वीकार ।

'राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा है ।
याँ यों भी वाहवा है औ वों भी वाहवा है ।'

मालिक जो ले ले, लौटा ले, हमें मंजूर ।

'तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर ?

× × ×

शरीर हो, परिवार हो, बल हो, स्वास्थ्य हो, विद्या हो, बुद्धि हो, रुपया हो, पैसा हो, नाम हो, यश हो, पुत्र हो, स्त्री हो, पद हो, प्रतिष्ठा हो—है तो सब तेरा ही । मेरा इसमें क्या है ?

तू देता है तो ठीक ।

तू लेता है तो ठीक ।

तू देकर छीन लेता है तो ठीक ।

मोह तो तभी न होता है जब हम मालिककी इन चीजों-को 'अपनी' मान बैठते हैं ।

'यह सारा खेल मालिकका है'—यह भाव आया कि मोह भागा, ममता गयी, आसक्तिसे पाला छूटा । फिर तो हम रात-दिन आनन्दसागरमें ही मस्तीसे डुबकियाँ लगाते रहेंगे । हमारा रोम-रोम पुकारेगा—

'डूबनेका खौफ हमको हो तो फिर क्या खाक हो ।
हम तेरे, किश्ती तेरी, साहिल तेरा, दरिया तेरा ॥'

ममता तू न गयी मेरे मन तें !
पाके केस जनमके साथी, लाज गई लोकन तें ।
तन थाके, कर कंपन लागे, ज्योति गई नैनन तें ॥
सरवन बचन न सुनत काहु के, बल गये सब इंद्रिन तें ।
टूटे दसन बचन नहिं आवत सोभा गई मुखन तें ॥
कफ पित बात कंठपर बैठे सुतहिं बुलावत कर तें ।
भाइबंधु सब परम पियारे नारि निकारत घर तें ॥
जैसे ससि-मंडल बिच स्याही छुटै न कोटि जतन तें ।
तुलसिदास बलि जाउँ चरन तें लोभ पराये धन तें ॥

—तुलसीदासजी

भरोसा भगवान्‌का

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'वह देखो !' याककी पीठपरसे ही जो कुछ दिखायी पड़ा उसने उत्फुल्ल कर दिया । अभी दिनके दो बजे थे । हम सब चले थे तीर्थपुरीसे प्रातः सूर्योदय होते ही; किंतु गुरुच्यांगमें विश्राम-भोजन हो गया था और तिब्बतीय क्षेत्रमें वैसे भी भूख कम ही लगती है । परंतु जहाँ यात्री रात-दिन थका ही रहता हो, जहाँ वायुमें प्राणवायु (ऑक्सिजन) की कमीके कारण दस गज चलनेमें ही दम फूलने लगता हो और अपना बिस्तर समेटनेमें पूरा पसीना आ जाता हो, वहाँ याककी पीठपर ही सही, सोलह मीलकी यात्रा करके कोई ऊब जाय, यह स्वाभाविक है । कई बार हम पूछ चुके थे 'खिङ्-लुङ्' कितनी दूर है ? अब दो बज चुके थे और चार-पाँच बजेंतक हमें भोजनादिसे निवृत्त हो जाना चाहिये । तंबू भी खड़े करनेमें कुछ समय लगता है । सूर्यास्तसे पहले ही अत्यन्त शीतल तिब्बती वायु चलने लगती है । इन सब चिन्ताओंके मध्य एक इतना सुन्दर दृश्य दिखायी पड़े— सर्वथा अकल्पित, आप हमारी प्रसन्नताका अनुमान नहीं कर सकते ।

'ओह ! यह तो संगमरमरका फुहारा है ।' मेरे बंगाली मित्र भूल ही गये कि वे अर्धपालित पशु याकपर बैठे हैं । याक तनिकसा स्पर्श हो जानेसे चौंककर कूदने-भागने लगता है । उसपर बैठनेवालेको बराबर सावधान रहना पड़ता है । कुशल हुई—मेरे साथीका याक तनिक कूदकर ही फिर ठीक चलने लगा था । उसे साथ चलनेवाले पीछेके याकने सींगकी ठोकर दी थी, मेरे साथी सामने देखनेमें लगे होनेसे असावधान थे; किंतु गिरे नहीं बच गये ।

'संगमरमर नहीं है, गंधकका झरना है । गंधकके पानीने अपने-आप इसे बनाया है ।' 'हमारे साथके दुभाषिये दिलीपसिंहने हमें बताया । वह पैदल चल रहा था; किंतु प्रायः मेरे याकके साथ रहता था ।

'अपने आप बना है यह !' लगभग १५ फुट ऊँचाई, विशाल प्रफुल्ल कमलके समान चमकता गोल हौज जैसे रक्खा गया हो और उसके चारों ओर एकके बाद दूसरे क्रमसे एक दूसरेके नीचे न रखकर तनिक इधर-उधर नीचे चार फुटतक वैसे ही उज्ज्वल, कमलाकार, किंतु कुछ छोटे-बड़े हौज सजा दिये गये हों । बहुत ही कुशल कारीगर बहुत परिश्रम एवं रुचिपूर्वक सजावे तो ऐसा कमलोंके समान हौजोंका स्तम्भ बनेगा । इतनी व्यवस्था, इतनी सजावट और ऐसी सुचिक्कण कारीगरी थी कि विश्वास नहीं होता था कि यह मानव-कला नहीं है । सभी हौजोंमें निर्मल नीला जल दूरसे झिलमिल करता दीख रहा था ।

'झरना अपने आप बना है, परंतु यह फुहारा तो किसीने बनवाया है ।' मेरे बंगाली साथीने कहा—'यहाँ संगमरमर कहाँसे—कितनी दूरसे आया होगा ।' हमलोगोंको तिब्बतके इस क्षेत्रमें कहीं संगमरमर होनेकी आशा नहीं थी।

'वहाँ एक टुकड़ा भी संगमरमर नहीं । गंधकके पानीका यह कार्य है ।' दिलीपसिंहने हमें फिर समझाया; किंतु हम उसकी बात तो उस झरनेके पास ही जाकर समझ सके । गंधकका झरना है । उसके गरम जलमें बहुत अधिक गंधक है । वह गंधक बराबर पत्थरोंपर जमता रहता है। इससे संगमरमरके समान उज्ज्वल, बेल-बूटे बनी-जैसी तहें जमती जाती हैं । यह पूरा कमल-स्तम्भ इसी प्रकार बना था।

'वहाँ कोई है, कोई संन्यासी जान पड़ता है ।' गेरुए वस्त्र दीख पड़े एक दो पास पत्थरपर फैले । नीचेके छोटे हौजमें बैठा कोई स्नान कर रहा था । कुछ तिब्बतीलोग झरनेके पाससे अपनी भेड़ें हाँके लिये जा रहे थे ।

'ये वही संन्यासी हैं, जो हमलोगोंको उस दिन दरचिनमें मिले थे, जब हम कैलास-परिक्रमा करने जा रहे थे । लगता है कि ये भी आज ही तीर्थपुरीसे चले हैं ।' दिलीपसिंहमें दूरसे ही लोगोंको पहचान लेनेकी विचित्र शक्ति है । उसका अनुमान ठीक था । वे वही संन्यासी थे और तीर्थपुरीसे तो नहीं, पर आज गुरुच्याँगसे आ रहे थे ।

'अब तो आप मेरे साथ ही चलेंगे !' मैंने संन्यासीजीको आमन्त्रण दिया । मेरे बंगाली साथी 'नीती-घाटी' होकर जोशीमठ जाना चाहते हैं । उन्हें बदरीनाथ जाना है । यहाँ खिङ्-लुङ्से ही उनका मार्ग पृथक् होता है । अब मेरे साथ केवल दिलीपसिंह रह जायगा । एक साथी और हो जाय तो अच्छा, यह मैंने सोचा था ।

'जैसी आपकी इच्छा ! परंतु मैं आपके लिये भार सिद्ध होऊँगा। संन्यासी बड़े प्रसन्नमुख युवक हैं। उनकी बात ठव है। यहाँ तिब्बतमें मनुष्यके लिये अपना निर्वाह भी कठिन हो जाता है। भारतीय सीमासे अपने साथ लाया सामान ही काम देता है। यहाँ तो नमक, मट्ठा, दूध, दही, मक्खन कहीं-कहीं मिलता है। चेष्टा करनेपर एकाध सेर सत्तू और एकाध सेर आटा मिल जाता है तीन-चार रुपये सेर। भारतीय व्यापारी जब तिब्बतमें आ जाते हैं, तब कुछ सुविधा हो जाती है; किंतु हम पंद्रह-बीस दिन मौसिमसे पहले आ गये हैं। अभी व्यापारी आने नहीं लगे हैं। ऐसी अवस्थामें एक व्यक्तिकी भोजन-व्यवस्था और ले ली जाय तो वह भार तो बनेगी ही।'

'उस भारकी आप चिन्ता न करें।' मैंने हँसकर कहा। 'हमारे साथका सब सामान आज समाप्त हो जायगा। तिब्बतसे बाहर पहुँचनेमें अभी सात-आठ दिन लगेंगे। इतने समयका निर्वाह तो कैलासके अधिष्ठाताको ही करना है। उसे एक भारी नहीं लगेगा तो दो भी नहीं लगेंगे।'

'तुम भी मेरे-ही-जैसे हो।' खुलकर हँसे वे महात्मा। 'तुम्हारे साथ अवश्य चलूँगा। बड़ा आनन्द रहेगा। कोई चिन्ता मत करो।' यहाँ इतना और बता दूँ कि हमें अन्ततक चिन्ता नहीं करनी पड़ी। तिब्बतमें दाल और शाक तो मिलता नहीं था; किंतु हमें आटे और मक्खनका अभाव कभी नहीं रहा। आटा बराबर मिलता गया। मक्खन-रोटी या दही-रोटी ऐसा भोजन नहीं है कि उसकी कोई आलोचना की जाय।

× × × ×

'आप पहले भी इधर आ चुके हैं। हमलोग मानीथंगा और ढाँजा पीछे छोड़ चुके हैं। छिरचिनसे हमने आज प्रातःकाल ही प्रस्थान किया है। आज यदि कुंगरी-बिंगरी और जयन्तीके दर्रे पार कर सके तो ऊटा तथा जयन्तीके बीच रात्रि-विश्राम होगा। वहाँ एक होटल (तंबूमें) इन दिनों आ गया होगा। दूसरे दिन ऊटा धुरा (दर्रा) पार करके कल हम भारतीय सीमामें पहुँच जायँगे। ये बातें मुझे संन्यासीजीने बतायीं और इसीलिये मैंने उनसे प्रश्न किया। वैसे व्यक्तिगत परिचय करनेमें मेरी रुचि कम है, अन्ततक मैंने उन संन्यासीजीका नाम नहीं पूछा। उनकी कुटी कहीं है या नहीं, यह जाननेकी इच्छा मुझे नहीं हुई।

'मैं पिछले ही वर्ष यहाँ आया था; किंतु देरसे आया। लौटते समय मार्गमें हिमपात होने लगा। इच्छा होनेपर भी सौबार नहीं जा सका। अब इस वर्ष श्रीबदरीनाथजीके दर्शन करने आया तो वहाँसे इधर चला आया।' मुझे इस समय पता लगा कि ये स्वामीजी गर्ब्योगके रास्ते न आकर नीतिघाटीके मार्गसे आये थे और हमें जब दरचिनमें मिले थे, तब वहाँसे मानसरोवर चले गये थे। हमने तो समझा था कि वे हमारे समान मानसरोवर होकर कैलास आये होंगे। पैदल यात्री होनेके कारण उन्हें समय अधिक लगता होगा।

'हिमपात तो आज भी होता दीखता है। आगे कोई पड़ाव भी नहीं।' तिब्बतमें वर्षा कम ही होती है। इस अञ्चलमें जब मेघ आते हैं, तब पहले हिमशर्करा पड़ती है। चीनीके दानोंसे दुगुनी-चौगुनी हिम-कंकड़ियाँ। वस्तुतः वे जलकी बूँदें होती हैं जो शीताधिक्यके कारण जम गयी होती हैं। हिमपातकी वे पूर्वसूचना हैं। उनके पश्चात् हिमपात होता है। कद्दूकसमें कसे नारियलके अत्यन्त पतले आध इंचसे भी कुछ छोटे टुकड़ोंके समान हिम वायुमें तैरती गिरती है। असंख्य टुकड़े—लगता है कि रुईकी वर्षा हो रही है। सम्मुखका मार्ग नहीं दीखता। पृथ्वी उज्ज्वल हो जाती है। आज आकाशमें मेघ हैं, दो-चार हिमशर्कराकी कंकड़ियाँ मुझपर पड़ चुकी हैं। आज जब दो धुरे (दर्रे) पार करने हैं, तब उनपर चढ़ते समय हिमपातका सामना निश्चित है।

'यह हिमपात तो खेल है।' स्वामीजीने कहा। 'हिमपात तो मार्गशीर्षसे प्रारम्भ होता है। लगातार हिमवर्षा होती है और एक साथ दस-पंद्रह फुट हिम पड़ जाती है। उसमें मनुष्य चल नहीं सकता। मैं पिछले वर्ष दीपावलीपर दरचिन था और आपने कदाचित् सुना होगा कि पिछले वर्ष हिमपात कार्तिकमें ही प्रारम्भ हो गया था।'

'हम जिस दिन मानीथंगा पहुँचे थे, उसी दिन यह तिब्बती, जिसके तंबूके पास हम रुके थे, वह अपने फाँचे (भेड़ोंपर नमक आदि लादनेकी ऊनी थैलियाँ) लेकर लौटा था। पिछले हिमपातमें उसकी तीन सौ भेड़ें और दो नौकर मारे गये।' मैंने जो सुना था, वही सुना दिया। हम पैदल ही चल रहे थे। तीर्थपुरीसे जो याक मिले थे भाड़ेपर, वे केवल मानीथंगातकके लिये थे। वे लौट चुके थे। मौसमसे पूर्व आनेके कारण अभी मार्ग खुला नहीं था। हम पहले यात्री थे। हमारे साथ डेढ़-दो-सौ भेड़ें लेकर, उनपर

नमक लादकर चार तिब्बती चल रहे थे। वे भारतीय बस्ती मिलममें नमक देकर अन्न लेंगे और लौटेंगे। उनकी पाँच भेड़ोंपर मेरा सामान—तंबू आदि लदा था।

यहाँ इतना और बता दूँ कि कैलास-मानसरोवर अञ्चल-में न नगर हैं न ग्राम। दरचिन, तीर्थपुरी, खिङ्-लुङ्-जैसे कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर्वतोंमें बुद्ध-मन्दिर हैं। उनके पास ही बहुत-सी गुफाएँ हैं। इन गुफाओंमें यहाँके लोग अपना सामान रखते हैं। शीतकालमें उनमें अपने पशुओंके साथ रहते हैं। शेष समय वे तंबुओंमें घूमते हुए बिताते हैं। अपने याक और भेड़ें लिये वे घूमते रहते हैं। मानीथंगा, थिरचिन आदि ग्राम नहीं, इन चरवाहों तथा यात्रियोंके पड़ावके स्थान हैं। वे कभी सुनसान रहते हैं और कभी वहाँ तंबुओंके ग्राम बस जाते हैं।

'आपने ध्यान नहीं दिया, वह तिब्बती मुझे देखकर चौंका था। वह मेरे आनेसे संतुष्ट नहीं था। मैं उसकी भेड़ों-वाले दलके साथ ही पिछले वर्ष भारतके लिये चला था।' स्वामीजीने बताया।

'वह कहता था कि यह लामा अपशकुन है। इसके साथ मत जाओ।' दिलीपसिंहने हमें बताया। वहाँ मानीथंगा-में तिब्बती और दिलीपसिंहमें बातें बहुत हुईं; किंतु वहाँ हमें दिलीपसिंहने कुछ नहीं कहा था। तिब्बती भाषामें हम भला, क्या समझते। हमें तो वह तिब्बती भला लगा था। उसने हमारे तंबू खड़े करनेमें सहायता दी। हमारे यहाँ अग्नि जला दी और हमारे लिये मक्खन पड़ी नमकीन, तिब्बती चाय झटपट बनवा लाया था अपने तंबूमेंसे।

'आप बचे कैसे ?' कुछ रुककर दिलीपसिंहने फिर पूछा।

'कुछ आगे चलो !' पता नहीं स्वामीजी क्यों गम्भीर हो गये थे।

× × ×

'यह क्या है दिलीपसिंह ?' मैं ठिठककर खड़ा हो गया था। मार्गके पास ही थोड़ी-थोड़ी दूरपर बकरियों-भेड़ोंकी ठठरियाँ पड़ी थीं। उनमें अब केवल हड्डी थी। दो मनुष्य-कङ्काल भी दीखे। उनके आस-पास बहुतसे 'फाँचे' थे, कपड़े थे और स्थान-स्थानपर प्रायः बकरियोंके कङ्कालके पास ऊनकी बड़ी-बड़ी गोलियाँ थीं। वे कुछ चपटी थीं। उनके ढेर और उनकी यह गोल-चपटी आकृति······।

'बकरियाँ-भेड़ें हिममें दब गयीं। उनको जब कुछ भोजन नहीं मिला, तब उन्होंने समीपकी भेड़ या बकरीका ऊन खा लिया। वह ऊन उनकी आँतोंमें जाकर ऐसे गोले बन गया। अब मांस तथा आँतें तो गल गयीं, वन्य पशु-पक्षी खा गये, किंतु आँतोंसे निकले ये ऊनके गोले पड़े हैं।' दिलीपसिंहने जो कुछ बताया, उसका स्मरण आज भी रोमाञ्चित कर देता है। हम कुछ अधिक वेगसे चलने लगे। संयोगवश बादल हट गये थे। हिमपात कुछ समयके लिये तो टल गया था।

'उस दिन—उस भयंकर दिन मैं इस अभागे यूथके साथ था।' संन्यासीजीने कुछ आगे जाकर अपनी गम्भीरता तोड़ी। 'मानीथंगासे जब ये चरवाहे चले थे, तब इनके लामाने कहा था कि अभी बीस दिन हिमपात नहीं होगा। मैं तो अकस्मात् इनके साथ हो गया।'

दिलीपसिंह और पास आ गया था। मैं भी उत्सुक था संन्यासीजीकी बात सुननेके लिये। संन्यासीजी कह रहे थे—'जब हम छिरचिनसे चले, तभी घने बादल घिर आये थे। तिब्बती चरवाहे बराबर लामाका नाम लेते थे और कहते थे—उनका लामा पत्थरमें पंजे मारकर चिह्न बना देता है। वह वर्षा, आँधी, हिमपात—सबको रोक देता है। इन बादलोंको वह अवश्य भगा देगा। उन चरवाहोंमें एक अधूरी हिंदी बोल लेता था। मुझे वह पता नहीं क्यों मानता भी बहुत था। कई बार उसने मुझे अपनी 'छिरपी' (सूखे मट्ठेका खण्ड) खिलाया।'

एक बार संन्यासीजीने कैलासकी ओर मुड़कर देखा और बोले—'सहसा हिम-शर्करा प्रारम्भ हुई। बकरियाँ और भेड़ें चिल्लाने लगीं और चरवाहे भयातुर हो उठे। इसके पश्चात् हिमपात प्रारम्भ हो गया। हम देख भी नहीं सकते थे कि हमारे आगे दो फुटपर मनुष्य है या पर्वत। मेरे साथके लोगोंका क्या हुआ—मुझे पता नहीं।'

'आप बचे कैसे ?' दिलीपसिंहने पूछा।

'मुझे मारता कौन ?' संन्यासीने कहा। 'मुझे तो न कोई भय लगा न घबराहट हुई। मैं चल रहा था—चलता रहा। मार्ग दीख नहीं रहा था, मार्ग देखनेका प्रश्न भी नहीं था। जहाँ गड्ढेमें गिरता प्रतीत होता था या सिर टकराता था—जिधर मुड़ना सम्भव होता था मुड़ जाता था।'

'अद्भुत हैं आप।' मैंने कहा।

'इसमें अद्भुत बात क्या है ?' संन्यासीने सहज-भावसे कहा। 'जो भगवान् शंकर कैलासके अधिष्ठाता हैं, वे मैदानमें रक्षा करते हैं और पर्वतके हिमपातमें नहीं करते ? मैं उनके

आश्रमपर आया था—कैलास आया था मैं। उन देवेश्वरके दर्शनार्थीको मार कौन सकता था? हिमपात हुआ—होता रहा। मेरे पैर एक स्थानपर फिसले और पता नहीं मैं कितने नीचे लुढ़क गया। कई बार लुढ़का। कई बार हिममें लुढ़कनेपर ढक गया और उठा। बड़ा आनन्द आया उस दिन। पर्वतीय पिताका जाग्रत् स्वरूप और उनका क्रीड़ा-वैभव देखा मैंने।'

संन्यासीजीने अपनी बात समाप्त की—'जब मैं अन्तिम बार लुढ़का तो किसी जल-स्रोतमें पड़ गया। मेरी चेतना जलकी शीतलता और लहरोंने छीन ली। जब मुझे फिर शरीरका भान हुआ, तब कुछ भेड़वाले मुझे दुंगसे आगे अग्नि ज़लाकर सेंक रहे थे। उन्होंने मुझे धारासे निकाला था, उन्हें संदेह हो गया था कि मैं जीवित हूँ।'

ये संन्यासीजी केवल दुंगतक हमारे साथ आये। मिलमसे भी पूर्वमार्गमें ही वे हमसे पृथक् हो गये। परंतु उनकी एक बात स्मरण करने योग्य है। वे कहा करते थे—'मर्त्यका भरोसा क्या? भरोसा भगवान्का। उसका भरोसा, जो सदा है—सदा साथ है।'

सर्वोत्तम सत्सङ्गका स्वरूप और उसकी महिमा

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानके आधारपर)

सत्सङ्ग चार प्रकारका होता है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मुक्ति—इन दोनोंके सुखको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और दूसरे पलड़ेमें एक क्षणका सत्सङ्ग। तो एक क्षणके सत्सङ्गकी तुलनामें स्वर्ग और मुक्तिका सुख कुछ भी चीज नहीं।'

'सङ्ग' कहते हैं 'प्रीति'को तथा 'साथ'को। भगवान्का सङ्ग मिल जाना या उनके साथ रहना अथवा भगवान्में प्रेम हो जाना—यह सभी सत्सङ्ग है। परंतु भगवान्का प्रेमपूर्वक सङ्ग होना ही असली सत्सङ्ग है। बिना प्रेमके कोई विशेष मूल्य नहीं है। दुर्योधन आदिका भगवान् श्रीकृष्णमें न प्रेम था और न श्रद्धा ही। उनका भी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सङ्ग होता था, किंतु वह सङ्ग असली सत्सङ्ग नहीं है। इसके विपरीत जिसका प्रेम है, उससे यदि भगवान् दूर भी हैं तो वह भगवान्के निकट ही है। जैसे गोपियाँ वृन्दावनमें रहती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकामें रहते थे। इतनी दूर रहनेपर भी प्रेम होनेके कारण वे भगवान्के निकट ही थीं और उनके लिये वह भी सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग था। भगवान्का प्रेमपूर्वक सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्के साथ रहना हो, तब तो कहना ही, क्या; यदि दूर भी रहना पड़े किंतु भगवान्में प्रेम बना रहे, जैसे गोपियोंका प्रेम था, तो वह प्रथम श्रेणीका उत्तम सत्सङ्ग है।

उसके बादमें दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है—भगवत्सङ्गिसङ्ग। सङ्गोंमें उत्तम सङ्ग है भगवत्सङ्गी यानी भगवान्के प्रेमी भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग। भगवान्ने जिन महापुरुषोंको संसारके उद्धारके लिये अधिकार देकर भेजा है अथवा जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, जिनपर यहीं भगवान्ने उद्धारका भार दे दिया है, उन पुरुषोंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका होते हुए भी प्रथम श्रेणीके ही समान है। ऐसा सङ्ग बहुत ही ऊँचा है।

ऐसा सङ्ग भी न मिले तो तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग बताया जाता है। जिनको भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है यानी वे स्वयं तो भगवत्प्राप्त हैं पर दूसरोंका उद्धार करनेका अधिकार उन्हें भगवान्ने नहीं दिया है, उनमें श्रद्धा करके स्वयं उनसे अधिकारप्राप्त पुरुषके समान ही लाभ उठा सकते हैं। अर्थात् भगवत्प्राप्त पुरुषमें जिनका श्रद्धा-प्रेम है, वे अपने श्रद्धा-प्रेमके बलपर वैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जैसा अधिकारप्राप्त महापुरुषसे उठाया जाता है। यह तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है।

चौथी श्रेणीका सत्सङ्ग उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग है। जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन पुरुषोंमें भी श्रद्धा-प्रेम हो जाय तो हमको भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। और गौणीवृत्तिसे तो सत्पुरुषोंके अभावमें सत् शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है।

यहाँ प्रथम श्रेणीके सत्सङ्गकी बात चल रही है। ऐसे एक क्षणके सत्सङ्गकी ऐसी महिमा है कि उसकी तुलनामें मुक्ति भी कोई चीज नहीं—यह श्रीतुलसीदासजी महाराजका

कथन है, उनका सिद्धान्त है, उनकी मान्यता है। ऐसे पुरुषोंके एक क्षणके सत्सङ्गकी जो महिमा है, उसमें जो परम सुख है, उसको वास्तवमें तो श्रीतुलसीदासजी ही जानते हैं; पर अपने ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि भगवान्का और भगवान्का दिया हुआ अधिकार जिनको प्राप्त है, ऐसे महापुरुषोंका तो संसारमें विचरण ही परम धर्मरूप भक्ति है, अमृतमय भक्ति है; ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर उस भक्तिका—निष्काम धर्मका प्रचार करना, जिससे जीवोंका कल्याण हो जाय, यही असली सत्सङ्ग है और इसीके सुखकी महिमा श्रीतुलसीदासजीने कही है।

जैसे राजा कीर्तिमान् हुए । वे बहुत उच्चकोटिके पुरुष थे। उनकी कथा स्कन्दपुराणके वैशाखमास-माहात्म्यके ११ वें, १२ वें, १३ वें अध्यायोंमें मिलती है। उनका सङ्ग जिनको प्राप्त हो गया, उनका ही उद्धार हो गया। अतः यह मनमें रहना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका सङ्ग होता रहे, चाहे नरकमें ही क्यों न रहना पड़े। इस विषयमें एक राजाकी कथा आती है। पूरी तो याद नहीं, पर थोड़ी ऐसी याद है कि भगवान्के दूत किसी भक्तको भगवान्के परम धाममें ले जा रहे थे, रास्तेमें नरक आ गया। नरकके जीवोंका आर्तनाद सुनकर भक्तने पूछा—'यह किनका आर्त्तनाद है?' दूतोंने कहा—'यह नरक है। नारकीय जीव रो रहे हैं, वे बड़े दुःखसे आर्तनाद कर रहे हैं।' तब भक्त बोले—'चलो, हम भी देखें; रास्तेमें तो आ ही गया, उसका भी थोड़ा दर्शन कर लें।' ज्यों ही वे वहाँ गये उनके जानेसे, उनकी हवा लगनेसे ही उन नरकके जीवोंकी नरक-यातना बंद हो गयी, उसका अब कोई असर ही नहीं रह गया। नरक, अस्त्र-शस्त्र—जिनसे जीवोंको काटकर कष्ट दिया जाता है—सब विफल हो गये। उनमें धार ही नहीं रही, नरककी ज्वाला बिल्कुल शान्त हो गयी।

तब वे नारकीय जीव प्रार्थना करने लगे कि 'आपके आनेसे ही हमलोगोंको बड़ी भारी शान्ति मिल रही है और यहाँकी सब यन्त्रणा नष्ट हो गयी है; इसलिये आप यहाँ कुछ काल ठहरनेकी कृपा करें।' भक्तने सोचा—'जब मेरे रहनेसे इन जीवोंको इतनी शान्ति और सुख मिलता है, तब मुझको और करना ही क्या है; मुझको तो यहीं ठहरना चाहिये।' फिर वे दूत बोले—'भगवान्के परम धामको चलिये।' भक्तने कहा—'मैं तो भगवान्के धाममें नहीं जाऊँगा, यहीं रहूँगा।' दूतोंने पूछा—'क्यों?' भक्तने कहा—'ये बेचारे दुखी हैं और जब मेरे यहाँ रहनेसे इनको सुख मिलता है, तब मेरे लिये जैसा भगवान्का परमधाम है, वैसा ही यह नरक-धाम है।' दूतोंने पूछा—'हम वहाँ जाकर भगवान्से क्या कह दें?' भक्त बोले—'यह कहना चाहिये कि यदि मेरे साथ नरकके सब जीव आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ; नहीं तो मुझे यहीं आनन्द है।' फिर भक्तने नरकके सब जीवोंसे यह कहा 'कि तुम सब लोग जैसे पहले आर्त्तनाद करते थे, वैसे ही अब भगवान्के नामका कीर्तन करो।' तब वे सब मिलकर प्रेमपूर्वक कीर्तन करने लगे। कीर्तन करनेसे उनके पहलेके जितने संचित पाप थे, वे सब नष्ट हो गये और प्रारब्धरूपमें जो पाप यातना-भोगके लिये सम्मुख किये गये थे, वे भी सब नष्ट हो गये।

उधर दूतोंने जाकर भगवान्से कहा—'वह भक्त तो वहीं नरकमें रुक गया है और हमारे पूछनेपर उसने यह कहा है कि यदि ये सब नरकके जीव यहाँ आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ।' तब भगवान्ने आदेश दिया कि सबको ले आओ।

इधर वे सब नरकके जीव वहाँ जानेके लिये तैयार थे। अतः सब-के-सब भगवान्के परमधाममें चले गये। उस समय हजारों–लाखों विमान एक साथ भगवान्के धाममें इस प्रकार पहुँचे, जैसे अपने यहाँ कोई बारात एक साथ पहुँचे। हमें इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि ऐसे महापुरुषोंके साथ नरकमें भी रहना हो तो वहाँ रहना बहुत ही आनन्ददायक है। इसीलिये कहा है—

> तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
> तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

इस प्रकारका एक क्षणमात्रका भी सत्सङ्ग मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे उन भक्तके लिये वह नरकका वास भी मुक्ति और भगवत्प्राप्तिसे भी बढ़कर हो गया। उनको भगवान्के मिलनेकी भी कोई परवा नहीं रही। उनको परवा तो इस बातकी रही कि मेरे रहनेसे ये जीव कितने सुखी हो रहे हैं। यह बड़ा ऊँचा भाव है। ऐसा भाव हम-लोगोंका हो जाय तो फिर भगवान्के परमधाममें जानेके लिये हमलोगोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़े, प्रत्युत यहाँका स्थान ही हमारे लिये परम धाम हो जाय या स्वयं भगवान् आकर आमन्त्रित करके अपने परम धाममें हमें ले जायँ।

हमारा तो एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि दुखी जीवोंका किसी भी प्रकार कल्याण हो। हम इस बातका कई बार अनुभव करते हैं कि जब किसी दुखी आर्त्त गरीब आदमी-

के बुलानेपर उसके घरपर जाना होता है अथवा किसी धनी लखपति, करोड़पति बड़े आदमीके यहाँ जाना पड़ता है, तब उनमेंसे गरीबके यहाँ जानेपर जो एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, वह उस धनीके यहाँ नहीं मिलती; क्योंकि गरीब आदमीके चित्तमें हमारे जानेसे बड़ा ही उत्साह और प्रेम होता है तथा वह यह समझता है कि मैं एक तुच्छ आदमी और मेरे घरपर ये इतने बड़े आदमी आये तो आज मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है। जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र-जी वनसे अयोध्यामें लौटनेपर अनेक रूप धारण करके सबसे मिले—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

'एक क्षणमें अपरिमित रूप धारण करके भगवान् सबसे मिले; किंतु एक-दूसरेसे भगवान् मिल रहे हैं, इसका मर्म किसीने भी नहीं समझा।'

मर्म यह कि भगवान् अनन्त रूप धारण करके सभीसे मिल रहे थे और जिससे भगवान् मिलते थे, वह समझता था कि आज मेरा अहोभाग्य है जो सबसे प्रथम भगवान् मुझीसे मिल रहे हैं। कहाँ तो मैं तुच्छ मनुष्य और कहाँ भगवान्! इस प्रकार उसे बड़ा ही आश्चर्य होता था और साथ ही आनन्द भी होता था।

इसी प्रकार एक गरीब आदमीसे कोई महापुरुष मिले तो उसे भी बड़ा भारी आनन्द आता है। अतः उसके सुखसे सुखी होना—यही सबसे बढ़कर सिद्धान्त है।

एक तो भगवान्से मिलन हो और एक हमारे मिलनेसे उसको भगवान्के मिलनेके समान सुख हो तो हमारे लिये वह बात अधिक मूल्यवान् है; बल्कि भगवान्से मिलनेका जो सुख और आनन्द है, यह उससे कहीं बढ़कर है। उसके लिये तो हम ही भगवान् हो गये।

सबको आह्लादित करते हैं भगवान् और हम भगवान्को आह्लादित करते रहें, तो वह जैसे हमारे लिये आनन्दकी बात है, वैसे ही भगवान्के लिये भी यह आनन्दकी बात है कि वे अपने भक्तको आह्लादित करते रहें। भगवान् और भक्तके लिये इससे बढ़कर कोई आनन्दकी बात नहीं है। भक्तोंमें भी यदि कोई ऐसा भक्त है जो भगवान्का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, आह्लादित हो उठता है,—इतना ही नहीं, अपनी सेवाके द्वारा, अपनी चेष्टाके द्वारा, अपनी क्रियाके द्वारा, लीलाके द्वारा जो भगवान्को मुग्ध करता रहता है, तो यह उसके लिये श्रेयस्कर है। एक तो भगवान्का दर्शन करके हम आनन्दमें मग्न रहें और एक भगवान्को सुख पहुँचाकर आनन्दमें मग्न रहें; इनमें सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले, सबको आह्लादित करनेवाले भगवान्को आह्लादित करनेवाले हम बनें, और फिर भगवान् हमें आह्लादित करनेके लिये लीला करें तो यह हमारे लिये अत्यन्त सौभाग्य और गौरवकी बात है इसमें हमारे चरित्रका उद्देश्य तो भगवान्को आह्लादित करना है—हमारी चेष्टा भगवान्के लिये और भगवान्की चेष्टा हमारे लिये। हमारे इस प्रयत्नके मूल कारण भगवान् हैं। इस प्रकार हमारी चेष्टासे भगवान् मुग्ध होते रहे और भगवान्की चेष्टासे हम मुग्ध होते रहें तो यह परस्पर एक अलौकिक प्रेमका विषय है।

इसी प्रकार हम कहीं किसी मरणासन्न रोगीको भगवान्के नाम और गुण सुनानेके लिये जायँ और सुननेवाला मुग्ध हो, अर्थात् उसको होश हो, वह सुनना चाहता हो और उसकी उस इच्छाकी पूर्ति करनेवाले हम बनें तो हमारे लिये इससे बढ़कर और कोई सौभाग्यकी बात नहीं। उस मरणासन्न रोगीके लिये तो हम ही भगवान्के तुल्य हो गये। अतः जैसी प्रसन्नता उसको होती है, उससे बढ़कर प्रसन्नता हमें होनी चाहिये कि हमारे सङ्गसे वह आह्लादित हो रहा है। उसके दिलमें तो उस समय ऐसा भाव होना बहुत ही उत्तम है कि मैं अभी न मरकर भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातें सुनता ही रहूँ; क्योंकि इस प्रकारका जो मेरा जीवन है, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है। अतएव उस भक्तके साथ जो दूसरे भक्तका सङ्ग है—यानी एक जो मरणासन्न होकर सुननेवाला है और दूसरा जो सुनानेवाला है, दोनोंका परस्पर प्रेम और उनकी मुग्धता मुक्तिसे बढ़कर है, वह उत्तम सत्सङ्ग है। साक्षात् भगवान्के साथ सङ्ग हो, उसकी तो बात ही क्या; भगवान्की प्राप्तिके लिये परस्पर जो भगवान्के भक्तोंका सङ्ग है, वह भी उत्तम है। चाहे दोनों ही साधक हों या दोनोंमें एक भगवत्प्राप्त पुरुष और एक जिज्ञासु हो अर्थात् सुननेवाला मरणासन्न पुरुष तो जिज्ञासु हो और सुनानेवाला भगवान्का भक्त—भगवत्प्राप्त पुरुष हो तो उन दोनोंका जो सङ्ग है, वह भी उत्तम सत्सङ्ग है। उसको देखनेवाले भी धन्यवादके पात्र हैं। दर्शकोंके लिये ऐसी झाँकी भी कल्याणमें सहायक है; क्योंकि जो मरनेवाला प्राणी है, उसका वह एक क्षण ही है मुक्ति देनेके लिये। इस प्रकार उस सङ्गके प्रभावसे हजारोंकी मुक्ति होती रहे तो ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर, उनका सङ्ग करके हम जीवन बितायें—ऐसा सङ्ग हम करते रहे तो वह सत्सङ्ग हमारे लिये भी मुक्तिसे बढ़कर है। भगवान् मुक्त जीवोंको साथ लेकर संसारमें आते हैं, उन मुक्त जीवोंको ही हम

परिकर कहते हैं। वे भगवान्के साथी होकर भगवान्के साथ लीला करनेमें अपना समय लगाते और जीवोंका कल्याण करते हैं। अतः अपनी आत्माके कल्याणमें जो गौरव या महत्त्व है, उससे अधिक महत्त्व दूसरोंका कल्याण करनेमें है।

एक मनुष्य तो स्वयं भोजन करता है और दूसरा एक मनुष्य दुखी अनाथ मनुष्योंके लिये सदाव्रत लगाता है यानी दूसरोंको भोजन कराता है। इन दोनोंमें भोजन करनेवालेकी अपेक्षा दूसरोंको भोजन करानेवालेका विशेष महत्त्व है ही। इसी प्रकार अपना कल्याण करनेकी अपेक्षा दूसरोंका कल्याण करना विशेष महत्त्वकी बात है।

इसके सिवा जो भगवान्का उच्चकोटिका अनन्यप्रेमी भक्त होता है, वह 'मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने' अर्थात् अपनी मुक्तिका भी निरादर कर देता है और भक्तिकी लालसा करता है; क्योंकि मुक्ति तो ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही हो सकती है। अतः उसकी तुलनामें मुक्ति कोई चीज नहीं है। मुक्तिकी अपेक्षा ऐसे पुरुषोंके सङ्गका मूल्य अधिक है। इसलिये जो इस तत्त्वको जाननेवाले होते हैं, वे भी मुक्तिका निरादर करके उन पुरुषोंका सङ्ग ही करते हैं; क्योंकि भगवान्की अनन्य भक्तिकी भी इतनी महिमा है कि मुक्ति भी उसकी तुलनामें कोई चीज नहीं। भक्तिके मार्गपर चलनेवालोंकी यह दृष्टि है। भक्तिमार्गवालोंके लिये भगवान्की अनन्य भक्ति या अनन्य प्रेमके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। भगवान्की भक्ति तो है साधन और भगवान्की प्राप्ति है साध्य। इसी प्रकार मुक्ति भी साध्य है। पर भगवान्के भक्त भगवत्प्राप्ति और मुक्तिमें भी भेद करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिमें तो चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। इनमेंसे 'भगवान्के निकट रहना' उस सायुज्य-मुक्तिसे भी बढ़कर है, जिसमें भक्त भगवान्में विलीन हो जाता है; क्योंकि उसकी सायुज्य-मुक्ति तो धरोहरके रूपमें सदा ही मौजूद है, चाहे तभी ले ली जाय। वह भगवान्के समीप रहनेवाला पुरुष सायुज्य-मुक्ति तो दूसरोंको भी दे सकता है। अतः उसका पद भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें ऊँचा है। भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें तो अनन्यभक्ति या अनन्य-प्रेमसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है।

जहाँ अनन्य प्रेम हो जाता है, वहाँ भगवान्, भक्त और भक्ति—तीनों एक ही हो जाते हैं। यद्यपि ये स्वरूपसे तो अलग-अलग हैं, तो भी वास्तवमें धातुसे एक ही तत्त्व हैं अर्थात् पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही तत्त्व हैं। स्वयं भगवान् ही मानो तीन रूपोंमें पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं। या यों कहें कि चिन्मय भगवान्का चेतन प्रेम ही तीन रूपोंमें बँटा हुआ है। ऐसी जो भगवान्की प्राप्ति है, भगवान्से मिलन है, वह अद्भुत और अलौकिक है। भगवान्की सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित करनेके लिये और भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्को आह्लादित करनेके लिये हुआ करती हैं।

जैसे गोपियोंमें श्रीराधिकाजी सबसे बढ़कर हैं; उन श्रीराधिकाजीकी सारी चेष्टाएँ भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करनेके लिये होती हैं और भगवान् श्रीकृष्णकी सारी चेष्टाएँ श्रीराधिकाजीको आह्लादित करनेके लिये होती हैं। श्रीराधिकाजी क्या हैं? वे भगवान्की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। जैसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भगवान्की एक शक्ति तो माया है और दूसरी शक्ति अनन्य भक्ति है। उसे चाहे अनन्य भक्ति कह दें, अनन्य प्रेम कह दें या आह्लादिनी शक्ति कह दें, बात एक ही है। वह चेतन है। कहा जाता है कि उसीका अवतार श्रीराधिकाजी हैं। अतः भगवान् और श्रीराधिकाजीका जो सङ्ग है, वह उन दोनोंके लिये तो अलौकिक है ही, उनका तो वह नित्य सङ्ग है; किंतु दर्शकोंके लिये भी वह एक अलौकिक सङ्ग है, क्योंकि दर्शक उन्हें देखकर मन्त्रमुग्धकी भाँति हो जाते हैं, जैसे श्रीराधिकाजीकी अन्य सखियाँ उनके साथ रहकर और श्रीराधामाधवके प्रेममय सङ्गको देखकर मुग्ध हो जाया करती थीं। अतः भक्तिमार्गमें श्रीराधिकाजीका स्थान बहुत उच्च है।

किंतु ध्यान रखना चाहिये कि भगवान्के प्रेमकी यह गुप्त बात कोई वाणीसे कह नहीं सकता और जिसको यह बात प्राप्त हो जाय, वह अपने लिये डुग्गी नहीं पिटवाता कि मैं इस बातका अनुभव करता हूँ। जो पुरुष 'मैं अनुभव करता हूँ' इस प्रकार डुग्गी पिटवाता है, लोगोंसे कहता है, वह वस्तुतः उस स्थितिमें स्थित है ही नहीं, वह तो अपनी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये ही संसारको और अपनेको धोखा देता है। वास्तविक प्रेमको प्राप्त पुरुषको क्या गरज कि वह ऐसा कहेगा। ऐसा कहना या प्रकाशित करना तो भगवान्की भक्तिमें कलङ्क लगाना है।

जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीका ऐकान्तिक, अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, वहाँ दूसरे पुरुषकी तो बात ही क्या, दूसरी कोई सखी भी प्रवेश नहीं कर सकती। इसलिये वह श्रीराधा-माधवका प्रेम अलौकिक है।

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

श्रीशुकदेवजीने कहा–परीक्षित्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।

बड़े ही हर्षकी बात है कि 'कल्याण' में प्रकाशित प्रार्थनाके अनुसार भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने गतवर्ष बहुत ही उत्साहके साथ नाम-जप स्वयं करके तथा दूसरोंसे करवाकर महान् पुण्य सम्पादन किया है। उनके इस उत्साह-का पता इसीसे लगता है कि पिछले वर्ष जहाँ केवल १००७ स्थानोंसे जपकी सूचना आयी दर्ज हुई थी, वहाँ इस वर्ष ११६४ स्थानोंकी सूचना दर्ज हुई है और मन्त्र-जप जहाँ लगभग ३० करोड़ हुआ था, वहाँ इस वर्ष ४३ करोड़से कुछ ऊपर हुआ है (जो निम्नलिखित आँकड़ोंसे प्रकट है), यद्यपि हमने प्रार्थना केवल २० करोड़के लिये ही की थी। इसके लिये हम उन सबके हृदयसे ऋणी हैं।

(१) केवल भारतमें ही नहीं, बाहर विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(२) सोलह नामके महामन्त्रकी जप-संख्या जोड़ी गयी है। भगवान्के अन्यान्य नामोंका भी बहुत जप हुआ है, वह इस संख्यासे पृथक् है।

(३) बहुत-से भाई-बहिनोंने जप अधिक किया है, सूचना कम भेजी है और कुछ नाम-प्रेमियोंने तो केवल जपकी सूचना दी है। संख्या लिखी ही नहीं।

(४) बहुत-से भाई-बहिनोंने आजीवन नाम-जपका नियम लिया है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

(५) बहुत-से भाई-बहिनोंने केवल जप ही नहीं किया है, उत्साहवश नाम लिखे भी हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंके प्रकाशनकी उपयुक्त व्यवस्था नहीं है।

(६) स्थानोंके नाम दर्ज करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है; इसपर भी भूल होना, कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है। कुछ नाम रोमन या प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका हिंदी-रूपान्तर करनेमें भी भूल रह सकती है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

(७) सोलह नामोंके पूरे मन्त्रका जप हुआ है— ४३,००,५७,९००(तैंतालीस करोड़, सत्तावन हजार, नौ सौ)। इनकी नाम-संख्या होती है ६, ८८, ०९, २६, ४०० (छः अरब, अट्ठासी करोड़, नौ लाख, छब्बीस हजार, चार सौ)।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अंकलेश्वर, अंगढ़चौकी, अंचलगुमा, अंजनी, अएला, अक्कलकोट, अकबरपुर, अकोड़ा, अगौथा, अडविदेवलपल्लि, अचलजाम, अजनावर, अजमेर, अञ्चली (आसाम), अनन्तपुर, अम्बरनाथ, अम्बागढ़ चौकी, अम्बाटूर, अम्बामठ, अमझेरा, अमरवाड़ा, अमरावती, अमरसेंडा, अमलापुरम्, अमीनगर साय, अमृता, अर्थ, अरजुंदा, अरनोद, अरवल, अरेंडिल, अल्मोड़ा, अलवर, अलीगंज, अलीगढ़, अशोकनगर, अष्टा, असीनचक, अहमदनगर, अहमदाबाद, अहलपुर, अहिमलपुर, अहिरौलिया, अहिवारा, आँवलीकलाँ, आक्याकलाँ, आकूवा-इसरोली, आकोट, आगरा, आगानूर, आजमपकरिया, आनन्दपुरसाहिब, आदमपुर, आदेगाँव, आबू, आबू-माउन्ट, आबूरोड, आमला, आमली, आरा, आसनसोल, आसिफाबाद, आसीद्वारा, आसोप, इन्द्रगढ़, इंदौर, इकलगढ़ स्टेट, इटाढी, इटावा, इमादपुर, इलाम, इलाहाबाद, इस्माइलगंज, ईटों, ईडर, उकनीवा, उणियारा खुर्द, उद्यावर, उधना, उन्नाव, उपमन्युपुर, उमल्ला, उमेदपुर, उरई, उरण, उरदान, उरवाबजार, ऊँचा, ऊँनगर, ऊना, ऊमरपुर, ऊमरीकलाँ, ऋषिकेश, एकअंबा, एका, एकेश्वर, एकौनी, ए०पी०ओ०५६, एलण्डूर (मद्रास), औंगारी, औढ़ा, औरोताहरपुर, कंकराज, कंटागाँ, कंदेली, कंधार, कक्नाड (गोदावरी), ककठियाँ, कड़ा, कचर, कचनारिया, कचांदुर, कछवाकलाँ, कटक, कटघर, कटिहार, कडियाली, कण्डी, कणगलें, कन्ड्रामनिकन (रामनद), कन्नौज, कपासी, कमलापुर, कमासिनखुर्द, कर्पूरथला, करकेकीमहू, करकेन्दबाजार, करखोज, करमाल, करमलियापुरा, करमावा, करवाड़, कलंगपुर, कलकत्ता, कल्याण, कल्याणपुर, कसमार, कसावा, कसौंदा, काँटाभाँजी, काँदुल, कारिवला, कागेबस्ती,

काटूरीमन्ना (मालाबार), काठियावाड़, काटमांडू, कातर्कि, कादरगंज पठेरा, कान्हाचट्टी, कान्हीवाड़ा, कानगाँव, कानपुर, कानुर, कामटी, कामतामपट्टी, कामती, कापिलाण्डी, कानेगाँव, कालिम्पोङ्ग, कालियासेरी (मालाबार), काळूचक, कासरगोंड (कनाड़ा), किसनपुर, किरकी, किनरखेड़, किछा, कुंदापुर, कुंभार, कुड़ई, कुचामन सिटी, कुचैला, कुटौन्द, कुढावल, कुढ़ेंच (मेरुपाचा परमार), कुतवगढ़, कुतुबनगर, कुनघास, कुनधारा, कुम्हेर, कुम्हैला, कुमुटिपेटा, कुरनूल, कुरुंदवाड, कुरुद, कुरोली सिद्धेश्वर, कुलगाँव, कुलहा, कुलाकचरला, कुशलगंज, कुसहा, केनुआडीह कोलियारी, केण्टरी, केलवाड़ा, केवलारी, केशवनगर, कैरदा, कोइम्बतूर, कोटपुतली, कांचीन, कोटरी, कोटा, कोठगाँव, कोटीचाक, कोतागुडीयम, कोदरियाबजार, कोप्पल, कोमाखान, कोरगुड़ा, कोल्हापुर, कोलंग, कोलर, कोलिया, कोव्वुर (गोदावरी) कोहका, कोहड़ा, कौड़ियालाघाट, कौशानी, खंडवा, खंभात, खभालिया, ख्वाजगीपुर, खरबौद, खरगौन, खजूरी, खरगपुर, खरवंदि, खलेड़वाडी, खरीबबाजार, खापागुवारी, खाम्भोर, खामगाँव, खामतराई, खार, खिचरी, खीमेल, खीरयार, खेड़ावझेड़ा, खेडली, खेतिया, खेलारी, खैरघ, खैरघटा, खैरहा, खोपली, खोकरा, खौरी, गगटोक (सिक्किम), गंगाखेड, गंजम, गंधर्वपुरी, ग्वालियर, गजेन्द्रगढ़, गढ़गाँव, गदपुरा, गढ़वा, गढ़ी, गढ़ी उमरहट, गणियोंकी कोटड़ी, गदीसस, गण्टूर, गभाना, गम्हारिया, गया, गरचा, गरियाबंद, गरीबाटाला, गहाल, गाँधीनगर, गाड़ीविशनपुर, गाजणा, गाजिआबाद, गाटासणी, गाठा, गादीरास, गिरड, गुडरदेही, गुजरा, गुरंजघाट, गुरावड़ा, गुरुवायूर, गुलदासपुर, गुलिविण्डाडा (श्रीकाकुलम्), गेदाला, गैसड़ी, गोंडा, गोकुला, गोगरी, गंगावाँ, गोड़रिया, गोड्डुगुपेटा, गोण्डल, गोधरा, गोपालसमुद्रम्, गोपालपुर, गोपालपुर खुर्द, गोपालपुर चौधरी, गोपीगंज, गोरखपुर, गोसाईपुर, गौरी, घनोरा, घाँटाखेड़ी, घुघली, घुनवार, घोघा, चदनविरही, चंदा, चकना, चकपुरवा, चकौध, चाँदपुरा, चाँदा, चाँपा, चाणस्मा, चान्दूररेलवे, चारा-मंगलम् (क्वीलोन), चालीसगाँव, चास, चित्तलाञ्चेरी (मालाबार), चित्तूर (कोचिन), चित्रकोट, चितरावहरदी, चितरी, चिन अग्रहारम्, चिरगाँव, चिरपोटी, चिलवारिया, चीखलठाण, चीखली, चीरीमरी, चोरसड़ी, चौकी, चौकी (वनगवाटोला), चौलयारी, चौसा, छपरा, छपेटीकलाँ, छावनी, छिप, छिन्दवाड़ा, छिरहा, छोटी सादड़ी, जंघईबाजार, ज्वालानगर, जगजीवनपुर, जगतपुर, जगदीश, जबलपुर, जभिराकोटी, जम्मू, जम्होर, जमालपुर, जमी उस्मानिया, जयनगर, जयपालपट्टी, जयपुर, जयपुरा, जरिगुम्भा, जलगाँव, जलालपुर, जलसन, जवळ, जशपुरनगर, जसवन्तगढ़, जाँभोर, जागीर परमानपुर, जाजपुररोड, जाम, जामटी, जामूल, जाय, जालन्धरनगर, जावनी, जावरा, जाशमा, जींद, जुन्हैटा, जूनागढ़, जेतलपुर, जैतोलीतल्ली, जैसलमेर, जोगापुर, जोरावरडीह, जोशीमठ, जौनपुर, जोरीकला, झंदारा, झन्दाहा, झबरेड़ा, झरिया, झाँसडी, झाँसी, झारसोगड़ा, झालरापाटन, झालू, झालोद, झुरकी, टण्डन, टाकली, टिकारी, टिमणपुर, टिहरी, टुरदुरा, टेकसारी खुर्द, टठिया, डगवाशंकर, डरवी, डालमिआनगर, डिबरूगढ़, डेहरी आनसोन, डुंडेरा, डुब्बा, डेंगपदर, डेरापुर, डौंडी, डौली, ढ़ढ़नी, तंजौर, त्रिचनापल्ली, त्रिवेन्द्रम्, तखतपुर, तरड़गाँव, तलप, तलवाड़ा, तलाला, तितरोद, तिन्नानूर, तिर्वा, तिरुनेलवेली, तिरु वेङ्कनाथन कोइल, तिलईवाड़ी, तुंडी, तुनिहा, तेन्तुलिखुटि, तरंगा, तेलमुंगा, तोईगढ़, थानगढ़, थिम्भाराजुपेटा, थुरसीवनम्, दतोड़, दरभंगा, दरेकसा, दरवी, दवाईबीघा, दहणागाँ, दानेकेरा, दानोली, दारेसलाम (अफ्रिका), दावाविगहा, दिग्घी, दिगिगाँ, दिल्लाई, दिल्ली, दिलसर, दिलीपनगर, दिवरीखुर्द, दीपाईगुडा, दुदही, दूधवा खारा, दुमदुमा, दुल्लाखेडी, दुवराजपुर, देकुलीग्राम, देव, देवखोट, देवगना, देवगढ़ बारीआ, देवबद, देवरापोडिलम्, कारलम्देवरिया, देवरी, देवादा, देवापुर, देहरादून, देहूरोड, दोलारावासण, दोहद, दौदापुर, धोल, धनसोई, धनापुरा, धनियाकोट, धर्मज, धरोनिया, धामड़देवी, धामतरी, धामन्दा, धारवाड, धारसीखेड़ा, धारीवाल, धुलिया, धेनुवकोंडा (गण्टूर), धोकरहा, धोराजी, नंदग्राम, नंदाहाडी, नकहरा, नगदहा, नगलाडहैया, नगलाविधि, नगीना, नगुनूर, नजीमाबाद, नवाबगंज, नवीनगर, नयी दिल्ली, नरसिंहपुर, नरसैना, नरहन, नरहरपुर, नलगढ़, नवरंगपुर, नवलपुर, नवांशहर, नवागढ़, नवादा, नसीराबाद, नादिया, नांदुरा, नागपुर, नान्द्रापाचोरा, नान्देड़, नापासर, नामची (सिक्किम),

नामली, नारदीगंज, नारहट, नालागढ़, नासिक, नासिक रोड, निखवा, निजावतपुर, निपनिया, निमिया, निरौला, निलजी, निवान्या, निवोदिया, निसयापुर, नुवापटना, नेम्भिकुरु- (कृष्णा), नेमदारगंज, नेवा, नैगवा, नैनीताल, नैपालगंज, नैमिषारण्यक्षेत्र, नौधर, नौराजावाद, नौहर, पंचमढ़ी, पंचारुखिआ, पत्यूड़ी, प्रतापगढ़, प्रयागपुर नदौर, पचपेड़वा, पटना, पटेगना, पटोरी, पठराशिवलाल, पटाणा, पठारी, पतिया, पनवेल, पनसारा, पश्चीमिटकासवाड़ी (रत्नागिरि), परमानपुर, परमानपुर लवटोलिया, परपोड़ी, परसा, परिहारी, पलायनकोट्टाई (तिरुनेलवेली), पसूंद, पाटणवाव, पाटन, पाटवा, पाटेश्ना (पूर्णिया), पाडली, पाण्डुका, पाण्डेगाँव, पात्रपुर, पामगढ़, पारकल, पालमपुर, पाहाड़ी, पिंगुली, पिछोर, पिथोरा, पिपारियाकोडर, परकाल, पिलखुवा, पिलिवासिन, प्रीप्राले, पीरीबाजार, पीलीभीत, पुआरखेड़ा फार्म, पुण्डरी, पुन्नाथुर, पुन्हई, पुनेरी, पुरई, पुरैनी, पुलियुर, पुसद, पूना, पूलिपुर, पेंगुली, पेंडलवार, पेण्डरा, पेरिनकुलाम, पेसारा, पैडगुमल, पोंवुसोलर, पोखरी, पोखरैड़ा, पोटा, पोरथा, पोन्नेरी, पौसोल, फकोट, फतहावाद, फतेनगर, फतेहपुर तहसील, फफूंद, फरनाखेड़ी, फरवाही, फरह, फरेंदा शुक्ल, फागवाड़ा, फाजिलका, फिल्लौर, फुलवरिया, फुलैत, फेसर, फैजावाद, बंगलौर, बंगालर, बंगिनवाड़ी (गंजम्), ब्रह्मकयाल, ब्रह्मनडीह, बकाना, बकेवर, बकैना, बखेड़, बगड़िया, बगड़ी सज्जनपुर, बगलकोट, बगलीकलाँ, बड़गाँव, बड़नगर, बड़हिया, बड़ोद, बड़ौदा, बछरावा, बजेपुर, बडेरा, बढ़वानी, बथना, बदरा, बदायूँ, बदौली, बन्नापुर, बनगाँव, बनारस, बनुआँ, बनुड, बबुरी, बम्बई, बम्बोरी, बमनौली, बरखेड़ाहवेली, बरवा खुर्द, बरियामऊ, बरेंडा, बरेठ, बलरामपुर, बलवाड़ी, बलसार, बलुआ, बलौदी, बस्सी, बसडीहा खुर्द, बसमथनगर, बहड़, बहजोई, ब्राह्मणदेव बदला, बाँसवरौलिया, बागलीकलाँ, बाढ़, बाड़ी जंकशन, बाँदा, बाँदीकुई, बामौर कलाँ, बाराँ, बालंगर, बालाघाट, बालापुर, बाव, बावल, बारकपुर, बारसी, बाराबंकी, बारासात, बारिकपुर, बारेन्दा, बालसमूह, बासपुर, बासम, बासवनगुड़ी, बासोदा, बिघा, बिछवाँ, बिजनौर, बिजवार, बिलहरा, बिलासपुर, बीकापुरी, बीवापुर, बीवापुर, बीरपुर, बीलीमोरा, बुरहानपुर, बुरानपुर, बुसुआ, **बुलन्दशहर, बेंगलूर, बेंगूपुर, बेगुलसराय, बेतियागंज,**

बेनिया, बेनीगदापुर, बेनीपट्टी, बेल्लारी, बेलखरा, बेलगहना, बेलगाँव, बेलरी, बेलवाड़ी, बेलसर, बेलाउर, बेहटा- बुजुर्ग, बैकुंठपुर, बैतूल, बोलिया, भईगुनियाँ, भड़ेरा, भण्डारा, भद्राचलम् रोड, भद्रावती, भदरा, भदौल, भमरहा, भरड़, भरतपुर, भरथीपुर, भरावदा, भवानीपुर, भाँटागाँव, भाटा, भाटापारा, भातखेड़े, भावनगर, भिंड, भिलौंता, भिभड़ा, भीमड़ास, भुड्ली, भुसावल, भूलनवरारी कोलियरी, भृगुपुर, भैरूपुर, भोगाँव, भोपाल, भोरगढ़, भोरा, भोलाणे, मँगरोल, मऊरानीपुर, मकुरहिया, मखनी, मड़राही, मचौंद, मछरेहटा, मझौली, मठनपुरा, मडकिमाला स्टेट, मडराक, मथुरा, मद्रास, मदनेश्वर, मदनपुर, मदरा, मदुरा, मधेपुरा, मनावर, मनासगी, मनिआरी, मनीपुर दहीला, मनौना, मयूरम्, मल्लेश्वरम्, मलकाजगिरी, मलकापुर, मल्कापुर, मवाना, मवैया, मस्की, महमूदगंज, महरौनी, महाराजगंज, महाराजपुर, महारानीपेट्टा, महिनाम, महुआँव, महुआपुर, मांगरोल, माँडवला, माईखेड़ा, माड़िया, मोट, मानकसर, मानभूम, मानावदर, मारीपुर, मालीबाजार, मालमेठ, मालेरकोटला, मालोजीपट्टी, मावली, माहुर, माहोर, मिर्जापुर, मिरौना, मिलमसल्लाजोहार, मीनावदा, मीरपुरकलाँ, मीरपुरकुटी, मीलापुर, मुँडगाँव, मुंदेरा, मुंशीगंज (पूर्वी पाकिस्तान), मुकद्दम माधोपाली, मुकुन्दगढ़, मुड़खुसरा, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुजफराडीह, मुनीराबाद, मुरादाबाद, मुरार, मुरैना, मुल्कतपल्ली, मुलताई, मुहमदाबाद, मूँदी, मूगा, मेंगराग्राम, मेड़तारोड, मेणसिगी, मेरठ, मेलमपुड्डी, मेलानपेण्डी (गंटूर), मैनपुरी, मैरीटरा, मैलापुर, मैसूर, मोगरागहन, मोगा, मोटाबाजार, मोतीपुर, मोतिहारी, मोदीनगर, मोरसण्ड, मोहपा, मोहला, मौधिया, मौना, येंडली, रंगनाथपुरम्, रंजितपुर, रठैता, रत्नमनिया, रतनगढ़, रतनपुर, रतनवसई, रन्नोद, रफीगंज, रभौद, रमुवापुर-जगतराम, रविग्राम, रसिकपुर, रसूलाबाद, रसेना, रांग, रांची, राजकोट, राजाखेड़ा, राजोल, राणीक, रानीबाग, राजनाँदगाँव, राजपुर, राजापुरकोठी, राजाबाजार, राजमहेन्द्री, राधापुर, रानीला, रामगढ़ छावनी, रामनगर, रामगढ़वा, रामपुर, रामपुरी, रायगढ़, रायपुर, राया, रावलसेरी, राहिया, रिनाक, रियावन, रिसड़ा, रीवा, रुड़की, **रुदावल, रूपबास, रूपसागर, रेंका, रेंगाकठोरा, रेनवाल,**

क्र—

रेलाडीह, रैयाम फैक्टरी, रोहिणी, लक्ष्मणपुर, लखनऊ, लखीमपुर, लखीरी, लटूरीगेलोत, लडखी (यवतमाल), लल्लागुडा, लश्कर, लहरीतिवारीडीह, लहेरियासराय, लयाँ, लाखागुढ़ा, लालकुआ, लालगंज, लावन, लिंगसमुद्रम्, लुटानावाडीह, लुधियाना, लेडियारी, लोड़ी, लोधवे, लोहार्दा, लोहरदगा, लोहारा, लौंद, व्यावरा (हशंगाबाद), वडाल, वण्डालूर (मद्रास), वमनौली, वरमान, वलथर, वसडकर, वाँकानेर, वाडी, वारा, वाराणसी, वाराही, वासोग, विंजुगुडा, विक्टरीगंज, विजयपुर, विजयवाड़ा, विनैका, विरगाँव, विशाखापटनम्, विष्णुगढ़, विष्णुपुर, विसेवाँ, वीणवंका, वीरमगाम, वेरुली, वैकुंठपुर, वृद्धाचलम्, शंकरपल्ली, श्रीरामपुर, श्रीवैकुण्ठम्, शक्ति, शरफुद्दीनपुर, शहरना, शहापुर, शामली, शाहआलमनगर, शाहजहाँपुर, शाहपुर-मगरौना, शाहवानखूट, शिमला, शिरडी, शिराढ़ोण, शिलकोट, शिशुपुर, शिकारपुर, शेवपुरनरी, शोरम, शोरापुर, शोलापुर, संग्रामपुर, संडीला, सचीना, सढ़वारा, सणसोली, सत्तापुर, सतशाला, सतिगवाँ, सनसोली, सनावद, सबैया, सबौर, सम्बलपुर, सम्भल, समस्तीपुर, समापुर, समी, सरखेज, सरदारगढ़, सरवतखानी, सराँव, सराय मारूफ, सरावना, सरिया, सरुगुडा, सरेखा (बालाघाट), सरौली मझगाँवा, सलायागाँ, सलीपुर, सलेम, सवाडाँड, सवैला, सहसवान, सहादतगंज, सहार, सहारनपुर, साँखिनी, साँगली, साँतलपुर, साँवरेड़ी, साएलि टी०ई०, साकोली, सागर, साजा, सातकुण्डा, सातारा, सादड़ी, सादीपुर, सानगडी, सामाना, सारागाँव, साल्पाखेड़ी, सावरकुण्डला, सावरगाँव, सावतमंडी, साहपुरपट्टी, साहुगढ़, सिउनी, सिकन्दरपुर, सिगदोनी, सितोलाबाजार, सिनापालि, सिद्धग्राम, सिनोधा, सिरसिदा, सिलमपुर, सिलौड़ी, सिवनी, सिहोरा, सिहोरा रोड, सीतापुर, सीनी, सीवन, सुजानपुर, सुजानवन, सुन्दरनगर, सुनारखेड़ा, सुरडुंग, सुरहेड़ा, सुराडा, सुरेन्द्रनगर, सुल्तानपुरधोव, सुल्तानपुरपोखर, सुवनसरीमुख, सूरत, सूलिया, सेखुई, सेरुकट्टा, सेलोटपाट, सेहना, सैदुरचाड़ा, सोजतसिटी, सोडपुर, सोनगढ़, सोनसरसा बडकागाँव, सोनारपुरा, सोमठाणा, सोखण्डकलाँ, सोमेश्वर, सोलापुर, सोलवंक, सोहजनी, सोहाँस, सौमई, हंसकेर, हड़हा, हटवा, हडसन, हण्डालपुर, हथडीहा, हथवाँस, हरदिया, हरदोई, हरपुरबोचाहा, हरसूद, हरसूह, हरसौली, हरहिथा, हरामपुरा, हरिपुर वठेला, हरिहरपुर, हरीगढ़, हरीनगर, हनुमाननगर, हलद्वानी, हलवद, हवड़ा, हसनगंज, हाँगकाँग, हाटकुंगेरा, हाथरस, हालर, हिण्डोरिया, हिम्मतनगर, हिल्यागुडा, हिसार, हिसावा, हीराकुद, हीराभड़ोखर, हिरोजयली, हुंगनकर, हुगली, हुवली, हैदराबाद, होटगी, होनावर, होरम, होलागढ़, होशंगाबाद।

नाम-जप-विभाग-**'कल्याण'–कार्यालय, गोरखपुर**

मुरलीका आकर्षण

मुरलिया बाजी रे बाजी ।
जो जहँ जैसे रही, तहाँ ते तैसें उठि भाजी ॥
तन-मन, असन-वसन, पति-सुत-घर, सब की सुधि बिसराई ।
चली बेगि आतुर सरिता ज्यों स्याम-समुँद कौं धाई ॥
कोउ काऊ की बाट न जोई काउए संग न लीनी ।
खिंचि चलि गई लोह चुंबक ज्यौं भट्ट प्रेम-रँग भीनी ॥
जाइ मिली पिय सौं मन-भावनि बस्तु अलौकिक पाई ।
भुक्ति-मुक्ति, मैं-मेरी सगरी हरि महँ जाइ समाई ॥

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३०

सं० २०१२—२०१३ वि०

सन् १९५६ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ✻ [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिंग]

प्रतिसंख्या ।≡)

॥ श्रीहरिः ॥

सत्कथा-अङ्ककी विषय-सूची

निबन्ध-सूची

कहानी

सङ्कलित गद्य

पद्य

संकलित पद्य

चित्र-सूची

सुनहरे चित्र

रंगीन चित्र

दुरंगे चित्र

इकरंगे चित्र

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो ।

श्रीमद्भगवद्गीता सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वयोगमयी, सर्वसिद्धिमयी, सर्वमन्त्रमयी और सर्व-कल्याण-सिद्धान्तमयी है । इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग आदि समस्त साधनों-का संक्षेपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्णन है । किसी भी क्षेत्रका, किसी भी दुविधामें पड़ा हुआ, किसी भी देश, जाति, धर्मका मनुष्य गीतासे दिव्य प्रकाश प्राप्त कर सकता है । गीता सारी उलझनोंको सहज ही सुलझा देनेवाला सरल सिद्ध वाङ्मय है । इससे अन्धकारमें पड़े हुओंको प्रकाश, मार्ग भूले हुओंको सन्मार्ग, निराश प्राणियोंको निश्चित आशाकी ज्योति, शोकग्रस्तोंको उल्लासमय प्रसाद, कर्तव्यविमूढ़ोंको कर्तव्यज्ञान, पापियोंको पापनाशका सहज साधन, राजनीतिक कर्मियोंको दिव्य नीतिकी शिक्षा, कर्मप्रवण पुरुषोंको बन्धनसे मुक्त करनेवाले निष्कामकर्मकी प्रक्रिया, भक्तोंको उच्चतम भक्तिका स्वरूप, ज्ञानियोंको दिव्य ज्ञानका प्रकाश—कल्याणमय कल्पतरुकी भाँति जो जिस कल्याण-वस्तुको चाहता है, उसे वही मिलती है । गीतामाता स्नेहमयी जननीकी भाँति सभी संतानोंको नित्य कल्याण-मार्ग प्रदान करती है । वर्तमान विपत्तिग्रस्त, कलह-क्लेशसे त्रस्त और संदेह-अविश्वासके पाशमें आबद्ध प्राणिजगत्‌को यदि सर्वाङ्गीण मुक्तिका मार्ग मिल सकता है तो श्रीमद्भगवद्गीतासे ही । अतः गीतामाताकी ही सबको शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११, गुरुवार, तारीख १३ दिसंबरको श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बनानी चाहिये । पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीताग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण ।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीतातत्त्व और गीतामहत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि ।

(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा ।

(७) जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा ।

(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें ।

श्रीहरिः

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१—कल्याणका इस अङ्कके साथ तीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है। यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है। इस संख्याके साथ इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद इकतीसवें वर्षका प्रथम अङ्क तीर्थाङ्क (विशेषाङ्क) के रूपमें निकलेगा। इसकी सूचना पिछले अङ्कोंमें दी जा चुकी है।

भारतवर्ष पुण्यभूमि है। शास्त्रोंने इसकी बड़ी महिमा गायी है। देवतालोग भी इस भूमिमें जन्म लेनेके लिये लालायित रहते हैं। और तो और, स्वयं भगवान्—श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि आदि विविध मनोज्ञ रूपोंमें—अवतीर्ण होकर यहाँके भाग्यवान् नर-नारियोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये नाना प्रकारकी मनुष्योचित लीलाएँ करते हैं तथा असंख्य जीवोंका कल्याण करते हैं। यही नहीं, यहाँ वे विभिन्न अर्चा-विग्रहोंके रूपमें यत्र-तत्र प्रकट होकर भोग, मोक्ष एवं उनकी अपेक्षा भी अधिक वरणीय भक्तिका सुलभरूपमें दान करते हैं। अनादिकालसे अबतक इस पावन भूमिको अगणित भगवद्विभूतियों—ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, जीवन्मुक्तों एवं भक्तों, साधक एवं सिद्धकोटिके महापुरुषों तथा मातृभूमिपर न्यौछावर हो जानेवाले अनेकों वीर पुरुषों एवं वीर नारियोंने—अलंकृत किया है, जिनकी लोकोत्तर कीर्तिके स्मारकरूपमें आज अनेकों स्थल इस पवित्र भूमिके कोने-कोनेमें विद्यमान हैं और अपने दर्शन, स्पर्श एवं स्मरण-कीर्तनसे हमारे कलि-कलुषित हृदयोंको पवित्र करते हैं। यहाँके वन-उपवन, पर्वत एवं नदियाँ, समुद्र एवं सरोवर—यहाँतक कि यहाँकी रज भी पवित्र है और पवित्र स्मृतियोंसे जुड़ी हुई है। इन्हीं सबका सचित्र विवरण तीर्थाङ्कमें रहेगा—जिसे पढ़कर भारत-माताके वर्तमान एवं अतीत गौरवका यत्किंचित् परिचय हमारे पाठक-पाठिकाओंको प्राप्त हो सकेगा।

२—इन सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क अतिशय रोचक, आकर्षक, ज्ञानप्रद एवं स्फूर्तिदायक होगा। प्रत्येक स्वदेशप्रेमी एवं स्वधर्मप्रेमी भारतवासीके हृदयमें यह स्वाभाविक लालसा होती है कि कम-से-कम जीवनमें एक बार स्वर्गादपि गरीयसी अपनी इस विशाल मातृभूमिके ओर-छोरका, यहाँके पवित्र एवं ऐतिहासिक स्थानोंका—जिनमें युग-युगकी स्मृति संनिहित एवं सुरक्षित है—दर्शन करके, यहाँकी पवित्र नदियों एवं जलाशयोंमें अवगाहन करके पवित्रताका—कृतार्थताका अनुभव करे। इस पवित्र उद्देश्यमें तीर्थाङ्क प्रचुरमात्रामें सहायक होगा और इस दिशामें यह सभी श्रेणीके नर-नारियोंके लिये अतिशय उपयोगी एवं स्थायीरूपसे संग्रहणीय सिद्ध होगा।

३—इस अङ्कमें ७०० सौ पृष्ठ होंगे। विभिन्न भगवद्-विग्रहों तथा देवालयों, घाटों, मन्दिरों एवं अन्य दर्शनीय स्थानोंके सुनहरे, बहुरंगे तथा एकरंगे आर्टपेपरपर छपे हुए सैकड़ों सुन्दर चित्र रहेंगे।

४—तीर्थोंके विषयमें इतना विपुल, ठोस एवं प्रामाणिक संग्रह कदाचित् अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इस दृष्टिसे इसका प्रचार-प्रसार बहुत

अधिक तथा इसके द्वारा निश्चितरूपसे लाभ होना सम्भव है, अतएव जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये जिन्होंने अबतक चंदा नहीं भेजा है, वे ७॥) तुरंत भेजकर ग्राहक बन जानेकी कृपा करें।

रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' लिखना न भूलें। नाम पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें और जहाँतक हो सके, प्रत्येक पुराने ग्राहक प्रयत्न करके दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये भिजवानेका प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

५—ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जायगा। इससे विशेषाङ्क नये नंबरोंसे चला जायगा और पुराने नंबरसे वी० पी० द्वारा अङ्क दुबारा जायगा। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करके नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें।

६—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही कल्याण-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७—गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-विभाग' 'कल्याण'से सर्वथा अलग हैं अतः 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी 'मैनेजर, गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर, महाभारत-विभाग, गीताप्रेस'के नामसे अलग भेजें।

८—जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८॥।) भेजें, परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी देर होना सम्भव है।

९—किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्कमें ही वर्षका चंदा समाप्त हुआ समझना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका ही मूल्य ७॥) है।

१०—तीर्थाङ्कको समयपर निकालनेकी चेष्टा अपनी ओरसे पूरी हो रही है। फिर भी श्रीहनुमानप्रसादजीके अस्वस्थ एवं बाहर होनेके कारण अनिवार्य रूप कुछ विलम्ब होनेकी सम्भावना है। ऐसी स्थितिमें अङ्क कदाचित् जनवरी मध्यतक प्रकाशित हो सकेगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)